

स्व. पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिसे
स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा सस्थापित
एवं

उनकी धर्मपत्नी स्वर्गीय श्रीमती रमा जैन द्वारा संपोषित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें
उपलब्ध भागमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक
जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव
अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-मण्डारोंकी
सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य, विशिष्ट
विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन
साहित्य-ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें
प्रकाशित हो रहे हैं।

ग्रन्थमाला सम्पादक प्रथम संस्करण
डॉ. हीरालाल जैन, एम. ए., डी. लिट्.
डॉ. आ. ने. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

वर्तमान ग्रन्थमाला सम्पादक
सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री
डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय : १८, इन्सटीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-११०००३

यतीश चन्द्र जैन द्वारा दी इचरेका प्रिंटिंग वर्क्स प्रा. लि., वाराणसी में मुद्रित

बी टाइम्स रिसर्च फाउण्डेशन, बम्बई के सहयोग से सम्पादित - प्रकाशित

स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९, धीरे नि. २४७०, विक्रम सं. २०००, १८ फरवरी १९४९
सर्वाधिकार सुरक्षित

JAINENDRA SIDDHĀNTA KOŚA

[Part I]

by

Kshu. JINENDRA VARNĪ



BHĀRATĪYA JÑĀNPĪTH PUBLICATION

VĪRA NĪRṬYĀNA SAMVAT 2511 · V SAMVAT 2042 : A. D. 1985

Second Edition ; Price Rs 120/-

BHĀRATĪYA JÑĀNPĪTH
MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ
FOUNDED BY
LATE SĀHU SHANTI PĀSAD JAIN
IN MEMORY OF HIS LATE MOTHER SHRIMATĪ MURTIDEVĪ
AND
PROMOTED BY HIS BENEVOLENT WIFE
LATE SHRIMATĪ RAMA JAIN

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAINA ĀGAMIC, PHILOSOPHICAL
PURĀNIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS
AVAILABLE IN PRAKRIT, SANSKRIT, APABHRMŚA, HINDI,
KANNADA, TAMIL, ETC., ARE BEING PUBLISHED
IN THE RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR
TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES.
ALSO
BEING PUBLISHED ARE
CATALOGUES OF JAINA-BHANDĀRAS, INSCRIPTIONS, STUDIES
ON ART AND ARCHITECTURE BY COMPETENT SCHOLARS
AND ALSO POPULAR JAINA LITERATURE.

●

General Editors First Edition

Dr Hiralal Jain, M A , D Litt
Dr A N Upadhye, M A , D Litt

General Editors

Siddhantacharya Pt. Kailash Chandra Shastri
Dr. Jyoti Prasad Jain

●

Published by

Bharatiya Jnanpith

Head Office 18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110003

Printed by Yatish Chandra Jain at The Eureka Printing Works Pvt Ltd, Varanasi

●

Edited and Published with the help of THE TIMES RESEARCH FOUNDATION, BOMBAY

Founded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam 2470, Vikrama Sam, 2000, 18th Feb., 1
All Rights Reserved.

प्रकाशकोय प्रस्तुति

'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के प्रथम भागका यह दूसरा सम्स्करण प्रकाशित हो रहा है। पहला सम्स्करण लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था, अप्रैल १९७० में। जैन साहित्यका यह ऐसा गौरव ग्रन्थ है जो अपनी परिष्कार-पनामें, कोश-निर्माण कलाकी वैज्ञानिक पद्धतिमें, परिभाषित शब्दोंकी प्रस्तुति और उनके पूर्वापर आगामोंके संयोजनमें अनेक प्रासंग्ये अद्भुत और अद्वितीय है। उसके रचयिता और प्रायोगिक पूज्य धुल्लक ज़िनेन्द्र वर्णीजी आज हमारे बीच नहीं हैं। उनके जीवनकी उपलब्धियों का चरमोत्कर्ष था उनका समाधिग्रण जो ईगरीमें तीर्थराज सम्मेलन शिखरके पादमूलमें आचार्य विद्यानागर जी महाराजसे क्षीमा एवं मन्त्रापना घट ग्रहण करके श्री १०५ धुल्लक सिद्धास्तमागरके रूपमें २४ मई १९८३ को सम्पन्न हुआ। यह एक ज्योति पुजका तिरोहण था जिसने आजके युगको आलोकित करनेके लिए जैन जीवन और जिनवाणीकी प्रकाश-परम्पराको अक्षत रखा। उनके प्रति प्राग्भार नमन हमारी भावनाओंका परिष्करण है।

भारतीय ज्ञानपीठके स्थापक दम्पती स्व श्री साहू धातिप्रसाद जैन और उनकी धर्मपत्नी स्वर्गीया श्रीमती रमा जैने जैनेन्द्र सिद्धान्त कोशके प्रकाशनको अपना और ज्ञानपीठका गौभाग्य माना था। कोशका कृतित्व पूज्य वर्णीजी को बीस वर्षोंकी साधनाका सुफल था। मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके सम्पादक-द्वय स्व ग. हीरालाल जैन और डा. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्येने अपने प्रधान सम्पादकीयमें लिखा है—

“ जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश प्रस्तुत किया जा रहा है जो ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला मंरुत-सूरीजका ३८वां ग्रन्थ है। यह धुल्लक ज़िनेन्द्र वर्णी द्वारा संकलित व सम्पादित है। यद्यपि वे क्षीणकाय तथा अश्वस्थ हैं फिर भी वर्णीजीको सम्भीर अध्ययनमें अत्यन्त अनुराग है। इस प्रकाशनमें ज्ञानके क्षेत्रमें ग्रन्थमालाका गौरव और भी बढ़ गया है। ग्रन्थमालाके प्रधान सम्पादक, धु. ज़िनेन्द्र वर्णीके अत्यन्त आभारी हैं जो उन्होंने अपना यह विद्वत्पूर्ण ग्रन्थ इस ग्रन्थमालाको प्रकाशनार्थ उपहारमें दिया।”

उक्त 'प्रधान सम्पादकीय' को और पूज्य धु. ज़िनेन्द्र वर्णीके 'प्रास्ताविक' को हम ज्योंका त्यों इस दूसरे संस्करणमें भी प्रकाशित कर रहे हैं। अपने 'प्रास्ताविक' में वर्णीजीने कोशकी रचना प्रक्रिया और विषय-नियोजन तथा विवेचनकी पद्धति पर प्रकाश डाला है। ये दोनों लेख महत्त्वपूर्ण हैं और पठनीय हैं।

यह कोश पिछले अनेक वर्षोंमें अनुपलब्ध था। यह नया सम्स्करण पूज्य वर्णीजीने स्वयं अक्षर-अक्षर देगकर सशोधित और व्यवस्थित किया है। इस सशोधन काममें पूज्य वर्णीजीके कई वर्ष लग गये क्योंकि अनेक नये शब्द उन्होंने जोड़े हैं, कई स्थानोंपर तथ्यात्मक मशोधन, परिचर्चन, परिशुद्धन किये हैं। इतिहास तथा 'परिशिष्ट' के अन्तर्गत दिग्गम्य मूल ग्रन्थ, दिग्गम्य जैनभाषा ग्रन्थ, पट्टावली तथा गुर्वारलिपी, गवन्, गुणार आम्नाय, नन्दिग्रन्थ, आदि शीर्षकोंमें महत्त्वपूर्ण सामग्री जोड़ी है। इसी प्रकार आचार्योंके नामोंकी सूचीमें पच्चेस मात्र ३६० नाम थे जो अब बढ़कर ६१८ हो गये हैं। आगम ग्रन्थ सूचीमें पच्चे ५०८ ग्रन्थोंके नाम थे, अब यह संख्या ६५१ हो गयी है। आचार्य सूची और आगम सूचीका पदार्थ परिशुद्धन किया है। पूज्य वर्णीजीने यह सब किया, चारों भागोंका मशोधन किया और सर्वोपिष्ट महत्त्वपूर्ण बात यह कि कोशका पाठ्य भाग तैयार कर दिया जो चारों भागोंकी अनुक्रमजिता है।

इस कारण यह कोश सर्वगीण हो गया है। इसकी उपयोगिता और छात्राणात्मक मन्दर्भ सुविधा कई गुना बढ़ गयी है। इस प्रथम भागकी भाँति दोसरा भागोका भी दूसरा सम्स्करण शीघ्र ही ज्ञानपीठ

प्रकाशित कर रही है। इसी क्रममें नया पाँचवाँ भाग भी प्रकाशित होगा। कोशका प्रकाशन इतना अधिक व्यय-साध्य हो गया है कि सीमित संख्यामें ही प्रतियाँ छापी जा रही हैं। पाँचो भागोंकी संस्करण-प्रतियोंकी संख्या समान होगी। अतः सस्थाओं और पाठकोंके लिए यह लाभदायक और आश्वासनकारी होगा कि वह पाँचो भागोंके लिए सयुक्त आदेश भेज दें। पाँचो भागोंके सयुक्त मूल्यके लिये नियमोंकी जानकारी कृपया ज्ञानपीठ-कार्यालयसे मालूम कर लें।

ज्ञानपीठके अध्यक्ष श्री साहू श्रेयासप्रसाद जी और मैनेजिंग ट्रस्टी श्री साहू अशोक कुमार जैनका प्रयत्न है कि यह बहुमूल्य ग्रन्थ सस्थाओंको विशेष सुविधा नियमोंके अन्तर्गत उपलब्ध कराया जाये।

कोषके इस संस्करणके सम्पादन-प्रकाशनमें 'टाइम्स रिसर्च फाउण्डेशन', बम्बई ने जो सहयोग दिया है उसके लिए भारतीय ज्ञानपीठ उनका आभारी है।

प्रथम भागके इस संस्करणके मुद्रणमें डा. गुलाबचन्द्र जैनने दिल्ली कार्यालयमें और टाइम्स आफ इण्डिया, नयी दिल्लीके भूतपूर्व जाव प्रेस मैनेजर श्री यतीशचन्द्र जैनने वाराणसीमें बैठकर इसके मुद्रणमें जिस दायित्वका निर्वाह किया है, वह प्रशंसनीय है।

मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके सम्पादक द्वय—सिद्धान्ताचार्य प. कैलाशचन्द्रजी, वाराणसी और विद्यावारिधि डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊका मार्गदर्शन ज्ञानपीठको सदा उपलब्ध है। हम उनके कृतज्ञ हैं।

पूज्य वर्णोजीने यद्यपि कोशके इस पहले भागमें इस प्रकारका कोई उल्लेख नहीं किया था, किन्तु दूसरे भागके 'प्रास्ताविक'में ब्रह्मचारिणी कुमारी कौशलजीके सम्बन्धमें जो हार्दिक उद्गार व्यक्त किये उनके वह आशीर्वाद-चचन हम इस संस्करणमें भी विशेष रूपसे सम्मिलित कर रहे हैं।

महावीर जयन्ती

१ अप्रैल, १९८५

कृते भारतीय ज्ञानपीठ

लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रास्ताविक

[द्वितीय भाग के प्रथम संस्करण से]

जैनेन्द्र मिद्वान्त कोणके स्वर भाग (अ मे ओ तक) का प्रकाशन भाग १ के रूपमें ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके अन्तर्गत संस्कृत ग्रन्थांक ३८ के रूपमें पिछले वर्ष १९७० में हुआ था। उसके बाद एक वर्षके भीतर ही दूसरा भाग क से न तकका छपकर तैयार हो गया और उसी ग्रन्थमालाके चालीसवें ग्रंथके रूपमें प्रकाशित हो रहा है। सामग्रीके संचयन, सम्पादनसे लेकर मुद्रण प्रकाशन तकका सम्पूर्ण कार्य अत्यन्त श्रमसाध्य रहा है। इसमें जिस-जिसका भी योगायोग रहा है उन सबके प्रति मंगल कामना करता हूँ।

इस सन्दर्भमें पानीपत निवामिनी कुमारी कीशलका नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिसने इस ग्रन्थकी पाण्डुलिपि तैयार करनेमें सहायता ही नहीं दी, बल्कि गुरु-भक्ति वग अपनी मुध-बुध भूलकर इस कार्यकी तत्परताके रूपमें कठिन तपस्या की। प्रभु प्रदत्त इस अनुग्रहको प्राप्त करके मैं अपनेको धन्य समझता हूँ। और एकनिष्ठ गुरुभक्ता तपस्विनी व सत्यमाधिकाके लिए प्रभुमें प्रार्थना करना हूँ कि जगत्सम्राज्ञी माया रानीके विविध प्रपञ्चोंसे उसकी रक्षा करते हुए वे उसे निरन्तर सत्यपथ पर ही अग्रसर करते रहे, जिससे कि वह किसी दिन उसीमें इस प्रकार लीन हो जाये कि उन मायाका दर्शन करने के लिए उसे लौटकर आना न पड़े।

—जिनेन्द्र वर्णो



मूल प्रेरणा

दिव्यगता श्रीमती मूनिदेयो जी
मानुश्री माहृ श्रीराम प्रसाद जैन

मय

मय माहृ माहि प्रसाद जैन
सम्स्थापक भारतीय ज्ञानपीठ

GENERAL EDITORIAL

[First Edition]

Jaina Teachers and Authors have richly contributed to the various branches of Indian literature, in different languages. In their exposition of Jaina philosophy and logic, Jaina ontology and mythology and Jaina dogmatics and ethics—in fine, in their treatises primarily devoted to Jainism, they have used a large number of words and expressions with technical and specialised meaning, not ordinarily traced in Sanskrit and Prākṛit lexicons. Terms like *dharmadravya*, *puṭgala*, *astikāya*, *ksapakaśrenī* have, therefore, needed independent definitions and precise explanations. As long as Jaina works were studied in the traditional way and in sectarian schools, the understanding of such terms was more or less a hereditary equipment.

Lately, Jainism is being studied by students of comparative religion, Jaina literature is being viewed as a part of Indian literature, and Jaina contributions to humanistic ideas are being valued on a universal plane, with no special reference to time and place. Secondly, the methods of study are fast undergoing change, and the horizon of learning is also expanding day by day. Hence the need for Bibliographies, Source-books and reference works etc. is being felt by Teachers and Students at every stage in the pursuit of their studies.

When highly technical works like the *Gommaṭśāra* were taken up for study and teaching in the Pāṭhaśālās, the need of reference manuals was urgently felt, and, as far as we know, the late Pt GOPAL DASJI BARAIYA composed his *Jaina Siddhānta Pratiśīla* as early as 1909. The *Abhidhāna-Rajendra kośa* of VIJAYARAJENDRASURI was published from Ratlam, 1914 etc., in Seven Volumes. It is rather too all-pervasive in its expanse, still it is helpful in locating references and interpretations of a large number of Jaina technical terms. With the inauguration of the Sacred Books of the Jinas, eminent scholars like S C GHOSHIAL, A CHAKRAVARTI, J L JAINI and others prepared English Translations of some important Jaina works, and they were faced with the difficulty of rendering the Jaina technical terms in a proper manner. 'It struck them forcibly' that 'different translations might employ different English equivalents for the same Jaina word. This destroys uniformity and causes confusion in the mind of a non Jaina reader of the works. Therefore it was thought best to put together the most important Jaina technical terms and to try to attempt to give fixity to the meaning in which Jaina philosophy employs them. Of course it is idle to claim finality in an undertaking of this kind.' This is what J L JAINI said in his Introduction to the *Jaina Gem Dictionary* (Arrah 1918). It is a modest attempt to put together alphabetically Jaina technical terms and to give their meaning in English. It is interesting to note that the basis for this Dictionary is the *Jaina Siddhānta Pratiśīla* of GOPAL DAS BARAIYA, noted above. *An Illustrated Ardhamāgadhī Dictionary* (Ajmer-Bombay 1923-32) by RATNACHANDRAJI Śatāvadhāni, in Five (!) Volumes, is helpful in getting explanation of a limited number of technical terms. The *Bṛhat Jaina Śabdāraṇṇikā*, in Two Parts, started by Master BHUPAL JAIN and completed by SHITAL PRASADJI (in Hindi), Barabanki-Surat, 1921-34, is quite a helpful source book and really an achievement for an individual. There is also the *Aṅgaśāstra-siddhāntaśāstra śabda-kośa*, Part I (Surat 1951) of ANANADASAGARSURI which aims at fixing meanings in Hindi of some rare technical words of Jaina Siddhānta.

The range of Jaina literature and the specialised topics covered therein are pretty vast. Naturally a need is felt for topical source books, the excellent specimens of which we have in the *Leśyā-kośa* (Calcutta 1966) and *Kriyā-kośa* (Calcutta 1969) by Shri MOHANLAL BANTHIA and Shri SHRICHAND CHORADIA. They are exhaustive monographs with the topics arranged in a definite pattern.

A Dictionary of Prakrit Proper Names is in the press compiled at the L. D. Institute of Indology, Ahmedabad.

It is in the same line of the publications, noted above, that the *Jainendra Siddhanta Kośa* Part I, is presented here as No. 38 of the Sanskrit Series of the Jñāpīṭh Murtidevi Jaina Granthamālā. It is compiled by Kshu JINENDRA VARNI. Though frail in body and indifferent in health VARNIJI is a prodigy of learning, and his dedication to *śvādhyāya* is highly exemplary. The *Kośa* has grown out of his studies of important Jaina works like the *Dhavalā* etc., extending over the last twenty years. It is a source book of topics (alphabetically arranged) drawn from a large number of Jaina texts dealing with *dravya*-, *lagaṇa*-, *caraṇa*-, and *prathama-anuyoga*. The range of works consulted can be seen from the *Saṃketa* śūci. Extracts from the basic sources are given, so also their Hindi translations, with necessary references. There are added many important tables and charts which give the required details at a glance. For VARNIJI all this is a labour of love and devotion to study, and he has given to scholars a valuable source book of Jaina studies. The academic dignity of the *Granthamālā* is really heightened by this publication. The General Editors are highly obliged to Kshu JINENDRA VARNIJI for kindly placing this scholarly work at their disposal for publication in the *Granthamālā*.

The *Kośas*, listed above, are part attempts, and they do not cover the whole range of Jainological studies. Some of them may be having their limitations, if not defects. This is inevitable in all such individual efforts and that too at the early stages of Jainological studies which are still in their infancy. It is these and such other attempts, I am sure, will one day contribute their share to the institutionalised compilation of the *Encyclopaedia of Jainism*, something on the lines of the *Encyclopaedia of Buddhism* published by the Government of Ceylon.

Words are inadequate to express our sense of gratefulness to Shriman SAHU SHANTI PRASADAJI and his enlightened wife Smt RAMA JAIN. Their generosity in the cause of the neglected branches of Indian learning is unbounded, but for their patronage such works could never have seen the light of day. The scholars will ever remain obliged to them for their academic idealism in financing such learned works which have hardly any sale.

It was very kind of Kshu VARNIJI that he fully cooperated with the General Editors in fixing up the format and typography of the *Kośa*. Our special thanks are due to Shri L.C. JAIN who took personal interest in this work by securing special types etc. Dr GOKUL CHANDRA JAIN helped us in various ways by being on the spot where this work was printed. The Sanmati Mudranalaya has really earned a feather in its cap by carefully printing this complicated work.

—H. L. Jain

—A. N. Upadhye

Mahavira Jayanti
April 19, 1970

प्रधान सम्पादकीय

जैन आचार्यों और साहित्याचार्यों ने विभिन्न भाषाओं में भारतीय साहित्य की विविध विधाओं की अत्यधिक समृद्ध किया है। उन्होंने अपने जैन दर्शन और तर्क शास्त्र, जैन सत्त्वविद्या और गौरागिर कथा, जैन सिद्धांत व नीतिशास्त्र तथा अन्य प्रख्यात-वृत्तियों में मूल रूप से जैनधर्म का सुन्दर प्रतिपादन किया है। जैन सिद्धान्तों की इस प्रस्तुति में उन्होंने बहुगुण्य में ऐसे पारिभाषिक और विशेषार्थ गणित शब्दों का प्रयोग किया है जिन्हें प्रायः संस्कृत और प्राकृत शब्दकोशों में नहीं देखा-भोजा जा सकता। अतः एव इस स्थिति में समझव्य, पुद्गल, अस्तिभाव, क्षणकालेण आदि जैसे पारिभाषिक शब्दों की पूर्ण परिभाषाएं और यथार्थ व्याख्याएं उपस्थित करना आवश्यक हो गया है। जब तक जैन साहित्य का अध्ययन परम्परागुण्य और साम्प्रदायिक विद्यालयों में कराया गया, ऐसे पारिभाषिक शब्दों को समझ होना अधिक रूप में एक पैतृक सम्पत्ति की प्रति जंगी थी।

आज अद्यतामों द्वारा जैनधर्म का अध्ययन तुलनात्मक रूप में किया जा रहा है, जैन साहित्य को भारतीय साहित्य का एक अभिन्न अंग माना जा रहा है, तथा समय और स्थान के विशेष कारणों से निम्नतर मानवीय आदर्शों के क्षेत्र में विश्व आचार्य पर जैनधर्म के योगदानों को मापा जा रहा है। इसके अतिरिक्त अध्ययन की रीतियाँ शोधताम्य बदल रही हैं और ज्ञान का क्षेत्र भी अहर्निश विस्तृत होता जा रहा है। परिणाम स्वरूप प्राध्यापकों और विद्यार्थियों द्वारा अध्ययन की दिशा में पग-पग पर नए सूचियों, मूल गीत ग्रन्थों तथा सन्दर्भ ग्रन्थों की कमी का अनुभव किया जा रहा है।

जब पाठशालाओं में अध्ययन-अध्यापन के लिए गोमटसार जैसे पारिभाषिक लाक्षणिक ग्रन्थों को चुना जाता था, तब इस प्रकार के शब्दकोशों की आवश्यकता का अनुभव अधिक होता था। और जहाँ तक हमें ध्यान है, स्वर्गीय प० गोपालदास जी बरैयाने इसी अभाव की पूर्ति के लिए सन् १९०९ में जी सिद्धान्त प्रवेशिका की रचना की थी। सन् १९१४ में रत्नलामसे विजयराजेन्द्रसूरिका अभिराम राजेन्द्र कोन गात भाषा में प्रकाशित हुआ था। यद्यपि उसका विस्तार अत्यधिक है, फिर भी वह बहुत से जैन पारिभाषिक शब्दों के चन्द्रण तथा व्याख्याओं को रोजने में उपयोगी सिद्ध हुआ है। एम जी घोषाल, ए. चक्रवर्ती, जे एल जेनी प्रभृति प्रमुख विद्वानों ने सेक्रेट बुकम ऑफ द जेनाज की स्थापना की और उनके अंतर्गत कुछ महत्वपूर्ण जैन ग्रन्थों का आगलभाषा (अंगरेजी) में अनुवाद तैयार किया। उन्हें जैन पारिभाषिक शब्दों के गहरी अनुवादात्मक अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जे एल जेनी ने जैन जेम डिशनरी (आरा, १९१८) की प्रस्तावना में स्पष्ट इस बात को स्वीकारा है। उन्होंने कहा है—“यह उन्हें अनुभव हुआ कि एक ही जैन शब्द के विभिन्न अनुवादों में विभिन्न अंगरेजी पर्याय प्रयुक्त हो सकते हैं। इससे एकरूपता गमाव हो जाती है और ग्रन्थों के जेनेतर पाठकों के मन में भ्रम का कारण बन जाता है। इसलिए सबसे अच्छा उपाय सोचा गया कि अन्ततः महत्वपूर्ण जैन पारिभाषिक शब्दों को माय रखा जाय और जैन दर्शन के शालोक में गहरी अर्थ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाय। निश्चय ही इस तरह के राय को अन्तिम कहा उपयुक्त न होगा। यह उत्तम प्रयास है कि जैन पारिभाषिक शब्दों को वर्ण-क्रमानुसार नियोजित किया जाय और उनका अनुवाद जगन्नी में दिया जाय।” यह उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत शब्दकोश का आधार स्व० प० गोपालदास जी बरैयाने द्वारा रचित उपर्युक्त जी सिद्धान्त प्रवेशिका है। अजमेर-जम्बे सन् १९२३-२४ में प्रकाशित ‘रत्नलामजी शालाक्याती’ एन इलस्ट्रेटेड अर्धमागधी डिक्शनरी के पाँच (?) भाग गीमित ग्रन्थों में जैन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या पाने में सहायक होते हैं। सन् १९२४-२४ में दो भागों में आरारव की व सूरत में प्रकाशित बृहज्जैन शब्दार्थ (हिन्दी) जिसे प्रारम्भ किया था मास्टर विहारी लाल जैन ने और समाप्त किया था प्रह्लादी शीतल प्रसाद जी ने। यह भी काफी उपयोगी है और वस्तुतः एक व्यक्तिके लिए महत्वपूर्ण कार्य है। बालनन्दसामन्वितिका ‘अन्त-परिचित सिद्धान्तिक शब्दकोश’ भाग १ (सूरत १९५४) भी उपलब्ध है जिसका उद्देश्य कुछ जैन सिद्धान्तिक शब्दों का अर्थ हिन्दी भाषा में प्रस्तुत करना था है।

जैन साहित्य और उसमें आगत विशेष विषयोका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। स्वभावतः विषय विशेष पर आधार ग्रन्थोकी आवश्यकताका अनुभव किया जाता है। इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं लेख्या कोश (कलकत्ता, १९६६) और क्रिया कोश (कलकत्ता १९६९) जिनका सकलन व सम्पादन सर्व श्री मोहनलाल षाठिया तथा श्रीचन्द्र चौरडियाने किया है। ये एक निश्चित रीतिसे विषयवार व्यवस्थित ग्रन्थ हैं।

लालभाई दलपतभाई भारतीय विद्या मन्दिर, अहमदाबाद द्वारा 'ए डिक्शनरी ऑफ प्राकृत प्रापर नेम्स्' कोश तैयार कराया गया है जो मुद्रणमें है।

उपर्युक्त प्रकाशनोंकी तरह ही यहाँ जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १ प्रस्तुत किया जा रहा है, जो ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला मस्कृत सीरिजका ३८वाँ ग्रन्थ है। यह क्षुल्लक जैनेन्द्र वर्णों द्वारा मकलित व सम्पादित है। यद्यपि वे क्षीण काय तथा अस्वस्थ हैं फिर भी वर्णोंजीको गम्भीर अध्ययनसे अत्यन्त अनुराग है। स्वध्यायके प्रति उनका यह समर्पण उदाहरणीय है। लगभग बीस वर्षके उनके सतत अध्ययनका यह परिणाम है कि घबला आदि जैसे महत्वपूर्ण जैन ग्रन्थोपर आधारित यह कोश तैयार किया गया है। यह कोश द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा प्रथमानुयोगके विषयोका वर्ण-क्रमानुसार विवेचन करनेवाला ग्रन्थ है। सन्दर्भ ग्रन्थोको सकेत सूचीसे देखा जा सकता है। मूल ग्रन्थोके उद्धरण दिये गये हैं, उनके साथ हिन्दी अनुवाद भी है और उद्धृत ग्रन्थोके सकेत भी। इसमें अनेक महत्वपूर्ण सारणियाँ और रेखाचित्र भी जोड़ दिये गये हैं जिनके माध्यमसे विस्तृत विषयको एक ही दृष्टिमें देखा जा सकता है। वर्णोंजीका यह सब कार्य अध्ययनके प्रति स्नेह और भक्तिका प्रतीक है। इस प्रकाशनमें ज्ञानके क्षेत्रमें ग्रन्थमालाका गौरव और भी बढ़ गया है। ग्रन्थमालाके प्रधान सम्पादक क्षु जैनेन्द्र वर्णोंजीके अत्यन्त आभारी हैं जो उन्होंने अपना यह विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ इस ग्रन्थमालाको प्रकाशनार्थ उपहारमें दिया। आशा है कि आगेके भाग भी शीघ्र तैयार होंगे।

उपर्युक्त सभी कोश आशिक प्रयत्न हैं और उनमें जैनधर्ममें सम्बन्धित सभी विषय नहीं आ पाये। इनमेंसे कई एककी अपनी सीमाएँ रही हैं यदि कमियाँ नहीं तो। इस प्रकारक व्यक्तिगत प्रयत्नोंमें यह सब सम्भव है और वह भी उस अवस्थामें जब जैनधर्मका अध्ययन प्रारम्भिक स्थितिमें था, जो आज भी शैशवावस्थामें है। ये और इस प्रकारके अन्य प्रयत्न, विश्वास है कि एक दिन श्री लका सरकार द्वारा प्रकाशित इन्साइक्लोपिडिया ऑफ बुद्धिज्मकी तरह इनसाइक्लोपिडिया ऑफ जैनज्मके निर्माणमें अपना योगदान देंगे।

श्रीमान् साहू शान्तिप्रसाद जी व उनकी विदुषी पत्नी श्रीमती रमा जीनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करनेके लिए शब्द अपर्याप्त हैं। भारतीय विद्याकी उपेक्षित शाखाओंके उद्धारके प्रति उनकी उदारता असीमित है। अन्यथा इस प्रकारके साहित्यिक कार्योंका प्रकाशन सम्भव नहीं होता। विद्वन्मण्डल उनके इस पुनीत विद्यानुरागके प्रति चिर श्रेणी रहेगा कि उन्होंने कठिनाईसे विकने वाली इस पुस्तककी अर्थ व्यवस्था कर इसे प्रकाशित किया है।

क्षु वर्णोंजीकी बड़ी कृपा रही कि उन्होंने ग्रन्थमाला सम्पादकोको कोशके प्रकाशनमें पूर्ण सहयोग दिया। श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैन, हमारे विशेष धन्यवादके पात्र हैं जिन्होंने प्रस्तुत कार्यमें व्यक्तिगत रुचि लेकर विशेष टाइट्र आदि की व्यवस्था की है। डॉ॰ गोकुलचन्द्रजी जैनने मुद्रण स्थान पर उपस्थित रहकर हमें विविध प्रकार से सहयोग दिया है। सम्मति मुद्रणालयने इस पेचीदे कार्यको सावधानतापूर्वक मुद्रित कर विशेष कीर्ति अर्जित की है।

महावीर जयन्ती
१९ अप्रैल, १९७०

—हीरालाल जैन
—आ ने उपाध्ये

प्रास्ताविक [प्रथम संस्करण से]

लगभग सत्रह वर्षोंसे शास्त्र स्वाध्यायके समय विविष्ट ग्रन्थोंको निजी स्मृतिके लिए महज लिख कर रख लेता था। धीरे-धीरे यह सग्रह इतना बढ़ गया, कि विद्वानोंको इसकी सार्वजनीन व महती उपयोगिता प्रतीत होने लगी। उनकी प्रेरणामे तीन वर्षके सतत परिश्रममें इसे एक व्यवस्थित कोशका रूप दे दिया गया।

शब्दकोश या विषयकोशकी तुलनामें इसकी प्रकृति कुछ भिन्न होनेके कारण, इसे 'सिद्धान्त कोश' नाम दिया गया है। इसमें जैन तत्त्वज्ञान, आचारशास्त्र, कर्मसिद्धान्त, भूगोल, ऐतिहासिक तथा पौराणिक व्यक्ति, राजे तथा राजवंश, आगम, शास्त्र व शास्त्रकार, धार्मिक तथा दार्शनिक सम्प्रदाय आदिमें सम्बन्धित लगभग ६००० शब्दों तथा २१००० विषयोंका गणोपाग विवेचन किया गया है। सम्पूर्ण सामग्री समृद्ध, प्राकृत तथा अपभ्रंशमें लिखित प्राचीन जैन साहित्यके मौलिक अधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रन्थोंमें मूल मन्दर्भों, उद्धरणों तथा हिन्दी अनुवादके साथ संकलित की गयी है।

शब्द संकलन तथा विषय विवेचन

शब्द संकलन कोश ग्रन्थोंकी शैलीपर अकारादिने किया गया है तथा मूल शब्दोंके अन्तर्गत उसमें सम्बन्धित विभिन्न विषयोंका विवेचन किया गया है। ऐतिहासिक क्रममें मूल ग्रन्थोंके मन्दर्भों संकेत देकर विषयको इस रूपमें प्रस्तुत किया गया है कि विभिन्न ग्रन्थोंमें उपलब्ध उस विषयकी सम्पूर्ण सामग्री एक साथ उपलब्ध हो जाये और अनुगन्धता विद्वानों, स्वाध्याय प्रेमी, मनीषियों, साधारण पाठकों तथा शका समाधानोंके लिए एक विशिष्ट आकर ग्रन्थका काम दे।

शब्द संकलनमें पंचम वर्ण (इ, ज, ण, न, म) की जगह अनुस्वार ही रखा गया है और उसे सर्वप्रथम रथान दिया गया है। जैसे 'अक' शब्द 'अकपन' में पहले रखा गया।

विवेचनमें इस बातका ध्यान रखा गया है कि शब्द और विषयकी प्रकृतिके अनुसार, उनके अर्थ, लक्षण, भेद-प्रभेद, विषय विस्तार, शका-समाधान व गमन्य आदिमें जो जो जितना जितना अपेक्षित हो, वह सब दिया जाये।

जिन विषयोंका विस्तार बहुत अधिक है उनके पूर्व एक विषय सूची दे दी गयी है जिससे विषय महज ही दृष्टिमें आ जाता है।

संकलनमें निम्नलिखित कुछ और भी बातोंका ध्यान रखा गया है—

१ दो विरोधी विषयोंको प्रायः उनमेंसे एक प्रमुख विषयके अन्तर्गत संकलित किया गया है। जैसे हिंसाको अहिंसाके अन्तर्गत और अत्रहासको ब्रह्मचर्यके अन्तर्गत।

२ समानार्थी विभिन्न शब्दों और विषयोंका प्रधान नामवाले विषयके अन्तर्गत विवेचन किया गया है जैसे शीलका ब्रह्मचर्यके अन्तर्गत, वानप्रस्थ आश्रम व तृती गृहस्थका आश्रमके अन्तर्गत।

३ सिद्धान्तकी २० परूपाणाओं अर्थात् गुणस्थान, पर्वसि, प्राण, जीवसमान, मन्त्रा, उपयोग व १४ मार्गणाओंको पृथक्-पृथक् स्व-स्व नामोंके अनुसार स्वतन्त्र स्थान दिया गया है। और उन सम्बन्धी सर्व विभिन्न विषयोंमें 'देतो वह वह विषय' ऐसा नोट देकर छोड़ दिया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिए।

४ उपर्युक्त नम्बर ३ की भांति ही मत्त तत्त्व, तव गदाध, पट्द्रव्य, वन्य, उदय, मन्वादि १० कारण, सत् नानादि ८ अनुयोगद्वारा आदिके साथ भी समझना चाहिए, अर्थात् पृथक् पृथक् तत्त्वों व द्रव्यों आदिकों पृथक् पृथक् स्वतन्त्र विषय ग्रहण करने के संकलन किया गया है।

५ १४ मार्गणाओका सत्, सख्यादि ८ प्ररूपणाओकी अपेक्षा जो विस्तृत परिचय देनेमे आया है उसका ग्रहण उन उन मार्गणाओमे न करके सत् सख्यादि आठ अनुयोग द्वारोके नामोंके अन्तर्गत किया गया है ।

६ किसी भी विषयके अपने भेद-प्रभेदोंको भी उसी मूल विषयके अन्तर्गत ग्रहण किया गया है । जैसे उपशमादि सम्यक्दर्शनके भेदोंको 'सम्यग्दर्शनके अन्तर्गत' ।

७. कौन मार्गणा व गुणस्थानसे मरकर कौन मार्गणामे उत्पन्न होवे तथा कौन-कौन गुण धारण करनेकी योग्यता रहे, इस नियम व अपवाद सम्बन्धी विषयको 'जन्म' नामके अन्तर्गत ग्रहण किया गया है ।

८ जीव समासो, गुणस्थानो, मार्गणा स्थानो, प्राण तथा उपयोगादि २० प्ररूपणाओंके, स्वामित्वकी ओघ व आदेशके अनुसार सम्भावना व असम्भावना 'सत्' शीर्षकके अन्तर्गत ग्रहण की गयी है ।

९ अन्य अनेको विषय प्रयोग उस उस स्थानपर दिये गये नोटके द्वारा जाने जा सकते हैं ।

सारणियाँ एव चित्र

विषयके भेद-प्रभेदों, करणानुयोगके विभिन्न विषयो तथा भूगोलसे सम्बन्धित विषयोंको रेखाचित्रो, सारणियो तथा सादे एव रंगीन चित्रो द्वारा सरलतम रूपमे इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि विशालकाय ग्रन्थोंकी बहुमूल्य सामग्री सीमित स्थानमें चित्राकितकी तरह एक ही दृष्टिमे सामने आ जाती है । मार्गणा स्थान, गुणस्थान, जीवसमास, कर्मप्रकृतियाँ, ओघ और आदेश प्ररूपणाएँ, जीवोंकी अवगाहना, आयु आदिका विवरण, त्रैसठ शलाका पुरुषोंकी जीवनियोंका व्यौरे-वार विवरण, उत्कर्षण, अपकर्षण, अधकरण, अपूर्वकरण आदिका सूक्ष्म एव गूढ़ विवेचन, जैन मान्यतानुसार तीन लोकोका आकार, स्वर्ग और नरकके पटल, मध्यलोकके द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदियाँ आदिको लगभग तीन सौ सारणियो एव चित्रो द्वारा अत्यन्त सरल एव सुसूचितपूर्ण ढंगसे प्रस्तुत किया गया है ।

मुद्रण प्रस्तुति

अवतक प्रकाशित कोशो या विश्वकोशोंकी अपेक्षा इस कोशकी मुद्रण प्रस्तुति भी किञ्चित् विशिष्ट है । सब छह प्रकारके टाइपोका उपयोग इस तरह किया गया है कि मूल शब्द, विषयशीर्षक, उपशीर्षक, अन्तरशीर्षक, अन्तरान्तरशीर्षक तथा सन्दर्भ सकेत, उद्धरण और हिन्दी अर्थ एक ही दृष्टिमे स्वतन्त्र रूपमे स्पष्ट ज्ञात हो जाते हैं । सामग्रीका समायोजन भी वर्गीकृत रूपमे इस प्रकार प्रस्तुत है कि टाइपोका इतना वैभिन्न्य होते हुए भी मुद्रणका सौन्दर्य निखरा है ।

कृतज्ञता ज्ञापन

प्रस्तुत कोशकी रचनाका श्रेय वास्तवमे तो उन ऋषियो, आचार्योंको है, जिनके वाक्याश इसमे सङ्गृहीत हैं । मेरी तो इससे अज्ञता ही प्रकट होती है कि मैं इन्हे स्मृतिमे न सँजो सका इसलिए लिपिवद्ध करके रखा ।

शास्त्रोंके अथाह सागरका पूरा दोहन कौन कर सकता है ? जो कुछ भी गुरुकृपासे निकल पाया, वह सब स्व-पर उपकारार्थ साहित्य प्रेमियोंके समक्ष प्रस्तुत है । इसमे जो कुछ अच्छा है वह उन्हीं आचार्योंका है । जो त्रुटियाँ हैं, वे मेरी अल्पज्ञताके कारण हैं । 'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ।' आशा है विज्ञ जन उन्हे सुधारनेका कष्ट करेंगे ।

अत्यधिक धनराशि तथा प्रतिभापूर्ण असाधारण श्रमसापेक्ष इस महान् कृतिका प्रकाशन कोई सरल कार्य न था । प्रसन्नता व उत्साहपूर्वक 'भारतीय ज्ञानपीठ' ने इस भारको सँभालनेकी उदारता दर्शाकर, जैन सस्कृति व साहित्यिक जगत्की जो सेवा की है उसके लिए मानव समाज युग-युग तक इसका ऋणी रहेगा ।

प पु /
 प मु / /
 प प्र/मु / /
 पा पु /
 पु सि
 प्र सा /मु /
 प्रति सा /
 या अ
 मो पा /मु /
 घृ जं दा
 भ आ /मु / /
 भा पा /मु /
 म पु /
 म र्भ /५ /
 मूला
 मो प
 मो पा /मु /
 मो मा प्र / /
 यु अतु
 यो सा अ /
 यो सा यो
 र क आ
 र सा
 रा बा / / /
 रा बा हि / /
 ल सा /मु /
 ला स / /
 लि पा /मु /
 वसु आ
 वै द / / /
 शी पा /मु /
 श्लो बा / / / /

प त्व /|||/
 स भ त /
 स म / /
 स श /मु /
 स सा /मु / /
 स सा /आ /क
 स सि / /
 स स्तो
 सा ध /
 सा पा
 सि सा स /
 सि वि /मु / / /
 सु र स
 सू पा /मु /
 ह पु /

पद्मपुराण सर्ग/श्लोक स , भारतीय ज्ञानपीठ बनारस, प्र स , वि सं २०१६
 परोक्षमुख परिच्छेद स /सूत्र स /पृष्ठ सं स्थापना महाविद्यालय, काशी, प्र, म
 परमारमप्रकाश/मूल या टीका अधिकार स /गाथा सं /पृष्ठ स , राजचन्द्र ग्रन्थमाला, द्वि सं वि स २०१७
 पाण्डवपुराण सर्ग स /श्लोक स जीवराम ग्रन्थमाला, शालापुर, प्र सं , ई १६६२
 पुरुषाय सिद्धयुपाय श्लोक सं
 प्रधचनमार/मूल या टीका गाथा स /पृष्ठ स
 प्रतिष्ठामारोद्धार अध्याय स /श्लोक सं
 बारस अणुवेवला गाथा स
 बोधपाहुड़/मूल या टीका गाथा सं /पृष्ठ स माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र स , वि सं १६७७
 बृहत् जन शम्भानम/द्वितीय खंड/पृष्ठ सं , मूलचंद किशनदास कागदिया सूरत, प्र म , वि नि २४६०
 भगवतो आराधना/मूल या टीका गाथा सं /पृष्ठ सं /पक्ति सं , सखाराम दोशी, सोलापुर, प्र म , ई १६३५
 भाव पाहुड़/मूल या टीका गाथा सं /पृष्ठ सं , माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र सं , वि सं १६७७
 महापुराण सर्ग स /श्लोक सं , भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र स , ई. १६४१
 महाग्रन्थ पुस्तक स /९ प्रकरण सं /पृष्ठ सं , भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र सं , ई १६४१
 भूलाचार गाथा सं , अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, प्र सं , वि म १६७६
 मोक्ष पंचाशिका श्लोक स
 मोक्ष पाहुड़/मूल या टीका गाथा सं /पृष्ठ सं माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र म वि सं १६७७
 मोक्षमार्गप्रकाशक अधिकार सं /पृष्ठ सं /पक्ति सं , मस्ती ग्रन्थमाला, देहली, द्वि सं , वि सं २०१०
 युस्थनुशासन श्लोक सं वीरसेवा मन्दिर, सरसावा प्र सं , ई १६४१
 योगसार अमृतगति अधिकार स /श्लोक सं जैनमिष्ठान्त प्रकाशिनो सस्था कलकत्ता, ई सं १६१८
 योगसार योगेन्द्रवेव गाथा सं , परमारमप्रकाशके पीछे छपा
 रत्नकरण श्रावकाचार श्लोक स
 रघुणसार गाथा सं
 राजवास्तिक अध्याय स /सूत्र सं /पृष्ठ सं /पक्ति सं , भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र म , वि स २००८
 राजवास्तिक हिन्दी अध्याय स /पृष्ठ सं /पक्ति सं
 रत्नधरा/मूल या टीका गाथा स /पृष्ठ सं , जैन मिष्ठान्त प्रकाशिनो सस्था, कलकत्ता, प्र सं
 लाटी महिता अधिकार सं /श्लोक सं /पृष्ठ स
 लिंग पाहुड़/मूल या टीका गाथा स /पृष्ठ सं , माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र स , वि सं १६७७
 वसुनन्दि श्रावकाचार गाथा सं , भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र स , वि सं २००७
 नैशेपिक दर्शन/अध्याय स /आदिक/सूत्र स /पृष्ठ सं देहली पुस्तक भण्डार देहली, प्र स , वि सं २०१७
 शीत पाहुड़/मूल या टीका गाथा सं /पक्ति सं , माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र सं , वि स १६७७
 श्लोकवास्तिक पुस्तक सं /अध्याय स /सूत्र सं /वास्तिक सं /पृष्ठ सं , कुन्धुसागर ग्रन्थमाला शोलापुर, प्र सं ,
 ई १६४६-१६५६

पदखण्डागम पुस्तक स /खण्ड स , भाग, सूत्र/पृष्ठ सं
 सप्तमज्ञोत्तराश्रितो पृष्ठ स /पक्ति सं , परम श्रुत प्रभावक मण्डल, द्वि स , वि स १६७२
 स्थापनामण्डरी श्लोक स /पृष्ठ स /पक्ति सं , परम श्रुत प्रभावक मण्डल, प्र म १६६१
 समाधिदातक/मूल या टीका श्लाक स /पृष्ठ सं , इष्टोपदेश युक्त, वीर सेवा मन्दिर, देहली, प्र म , २०२१
 समयसार/मूल या टीका गाथा स /पृष्ठ सं /पक्ति सं , अहिमा मन्दिर प्रकाशन, देहली, प्र सं ३१ १२ १६५८
 समयसार/आत्मरन्यासि गाथा स /कलदा स
 सर्वार्थसिद्धि अध्याय स /सूत्र सं /पृष्ठ सं , भारतीय ज्ञानपीठ बनारस, प्र स ई १६५५
 स्वयम्भू स्तोत्र श्लोक सं , वीरसेवा मन्दिर सरसावा, प्र स , ई १६४१
 सागार धर्ममृत अधिकार स /श्लोक स
 सामायिक पाठ अमृतगति श्लोक स
 सिद्धान्तसार सप्तम अध्याय स /श्लोक म , जीवराम जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र स ई १६५७
 सिद्धि विनिरचय/मूल या टीका प्रस्ताव सं /श्लोक सं /पृष्ठ म /पक्ति सं , भारतीय ज्ञानपीठ, प्र स ई १६५१
 सुमापित रत्न सद्दोह ७ नोक सं (अमृतगति), जैन प्रकाशिनो सस्था, कलकत्ता, प्र स ई १६१७
 सूत्र पाहुड़/मूल या टीका गाथा स /पृष्ठ सं , मा णकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र सं , वि सं १६७७
 हरिनक्ष पुराण मग/श्लोक/म , भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस प्र स

नोट भिन्न-भिन्न कोष्ठकों व रेखा चित्रोंमें प्रयुक्त संकेतोंके अर्थ मसे उस उस स्थल पर ही दिये गये हैं।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

(क्षु० जिनेन्द्र वर्णों)

व्यापिनीं सर्वलोकेषु सर्वतत्त्वप्रकाशिनीम् ।

अनेकान्तनयोपेता पक्षपातविनाशिनीम् ॥ १ ॥

अज्ञानतमसह्यो मोहशोकनिवारिणीम् ।

देहद्वैतप्रभा मह्य विमलाभा सरस्वति । ॥ २ ॥

[अ]

अंक—१ (ध ४/४ २७) Number । २ सौधर्म वर्ण वा १७२१ पटन
य इन्द्रक—दे हरण ४/३ । ३ हचर परवर्तय एक वृट—दे लोक ४/१३ ।

४ मातृगोत्र १ पटन परवर्तय वृट—दे लोक ४/१० १२ ।

अंकगणना—(ध ४/४ २७) Numeration ।

अंकगणित—(ध ४/४ २७) Arithmetic ।

अकप्रभ—वृटनपरवर्तय वृट—दे लोक ४/१२ ।

अंकमय—पटनपरवर्तय एक वृट—दे लोक ४/३ ।

अकमुख—(ध ४/४ २७) एक चौड़ा ।

अकलेखर—(ध ४/४ २७ L) गुजरात देशस्थ भट्टीच जिनेका
एक वत मातृ गण ।

अकावली—३२ विदेहस्थ रम्या सेवकी मुग्ध नगरी—दे लोक ४/२ ।

अकुशित—नागोत्पत्ति एक अतिचार—दे व्युत्पत्ति १ ।

अंग—१ (म पृ २, ४६ / ५ पत्राज्ञान) मण्य देशका पूर्व भाग ।

अज्ञान गणयत्ना (भागमय) है । २ भारत क्षेत्र आर्य पण्डित
एक देश—दे मनुष्य ४/१ । ३ (म पृ १०/१२) सुपीनका बड़ा पुत्र ।
४ (ध ४/४ २७) Element । ५ प पृ ४/४३५ पक्ष्य य
मृगधातु शस्त्राधार्यवाचक ।—संज्ञा, गुण और अंग ये सब
एकार्यवाचक शब्द हैं ।

* अनुमानके पाँच अंग—दे अनुमान २ ।

* जल्प के चार अंग—दे जल्प ।

* सत्यदर्शन, ज्ञान य चारित्रिके अंग—दे यह यह नाम ।

* शरीरके अंग—दे अंगोपांग ।

अगज्ञान—१ भूतनाशक एक विषय—दे भूतनाश III ।

२ अज्ञान निमित्तता—दे निमित्त २ ।

अगद—(म पृ १०/१२) मृगोत्पत्ति द्वितीय पुत्र ।

अगपणक्ति—अज्ञान दुःख (दे १४६ (१४६) द्वारा विषय
एक शब्द—दे अगपण १ ।

अगार—१ आहार सम्बन्धी एक दोष—दे आहार II/२/२ ।

२ वसति सम्बन्धी एक दोष—दे वसति ।

अगारक—भरत क्षेत्रका एक देश—दे मनुष्य ४ ।

अगारिणी—एक विद्या—दे विद्या ।

अंगवर्त—विजगार्थकी दक्षिण प्रेक्षिका एक नगर—दे विद्याधर ।

अगुल—क्षेत्र प्रमाणका एक भेद—दे गणित II/१/३ ।

अगुलीचालन—नागोत्पत्ति एक अतिचार—दे व्युत्पत्ति १ ।

अगोपांग—म धि ८/११/१८६ मधुरवासक्षेत्रविषयक्षेत्रद्वारा
नाम ।—जिसके उदयमे अंगोपांगका भेद होता है वह अंगोपांग नाम
कर्म है ।

ध ६/१ ६-१८/४/२ जसस कम्म (संस्कृत) मधुरवासक्षेत्रद्वारा
होज्ज तम्म कम्मवत्तस्स मधुराजगोबन्धनात्तम् ।—जिस कर्म इन्द्रधनु
उदयमे शरीरके अंग और अंगोपांगकी निमित्तता होती है उस कर्म
स्वरूपका शरीरोपांगका यह नाम है । (ध १३/६ ६, १०१/११/२)
(गो जी / जी म ११/२६/६)

२. अंगोपांग नामकर्मके भेद

ध म ६/१ ६ १/मृ ३४/३२ अ शरीरअंगोपांगनामकर्म १० तिसिद्ध
ओराणिशरीरअंगोपांगनाम के उच्चिदशरीरअंगोपांगनाम, आहार-
शरीरअंगोपांगनाम धेदि । ३५ ।—अंगोपांग नामकर्म तीन प्रकारका
है—ओराणिशरीर अंगोपांग नामकर्म, वैश्विक शरीर अंगोपांग
नामकर्म और आहारशरीर अंगोपांग नामकर्म । (ध म १३/६ ६/
मृ १०६/३६६) (म मं वा ३/४/३) (स मि ८/११/१८६) (म
वा ८/११/४/३१/१८) (गो क / गो प २०/३२) (गो क / म
म ११/२६)

* अंगोपांग प्रकृतिकी घन्य, उदय, सत्य प्रकृतियों
य तत्त्वसम्बन्धी नियमादि—दे यह यह नाम ।

३ शरीरके अंगोपांगोंके नाम निर्देश

ध मं / वा ११/१६ मधुराजगु म लहा विषयद्वारा उदय म धो म प ।
उदय म धो म प देह—दे उदय ११० ।—अंगोपांग दो भाग हैं
१. निम्न (अगद के विषयका) पेट, दाँत, और शरीर
ये तीन भाग होते हैं । इनके निम्न अंग (अक मुख, अंग

आदि) उपांग होते हैं। (घ ६/१, ६-१, २८/गा १०/४४) (गो जी मू २८)
घ ६/१ २-१, २८/४४/७ शिरसि तावदुपादानि युद्धं करोति मस्तक ललाट-
शङ्ख भू-कर्ण-नामिका नयनाक्षिपूट हनु-कपोल-उत्तराधरोष्ठ-सूत्रवणी-
तालु जिह्वादीनि । —शिरमें मूर्धा, कपाल, मस्तक, सलाट, शाल, भौंह, कान नाक आँख, अक्षिपूट हनु (ठुडो), कपोल ऊपर और नीचे के ओष्ठ, सूत्रवणी (चाप), तालु और जोभ आदि उपांग होते हैं।

★ एकैन्द्रियोंमें अगोपाग नहीं होते व तत्सम्बन्धी शका—दे उदय ४।

★ हीनाधिक अगोपागवाला व्यक्ति प्रवज्याके अयोग्य है—दे प्रवज्या।

अजन—१ सानस्कृतार स्वर्गका प्रथम पटल व इन्द्रक—दे स्वर्ग ४/३। २ पूर्व विदेहस्थ एक वसति, उसका कूट व रसक देव—दे लोक ४/३। ३ पूर्व विदेहस्थ वैश्रवण वक्षारका एक कूट व उसका रसक देव—दे लोक ४/४। ४ रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे लोक ४/१३। ५ मानुषोत्तर पर्वतस्थ एक कूट—दे लोक ४/१०।

अजनगिरि—१ नन्दीश्वर द्वीपकी पूर्वादि दिशाओंमें ढासके आकारके (Cylindrical) चार पर्वत हैं। इनपर चार चैर्यालय हैं। काले रंगके होनेके कारण इनका नाम अजनगिरि है—दे लोक ४/४। २ रुचक पर्वतस्थ वर्द्धमान कूटका रसक एक दिग्गजेन्द्रदेव—दे लोक ४/१३।

अजनमूल—मानुषोत्तर पर्वतस्थ एक कूट—दे लोक ४/१०।

अजनमूलक—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे लोक ४/१३।

अजनवर—पद्मलोकके अन्तसे १२वीं सागर व द्वीप—दे लोक ४/१।

अजनशैल—विदेह क्षेत्रस्थ भद्रशाल वनमें एक दिग्गजेन्द्र पर्वत—दे लोक ४/३।

अजना—१ (प पृ १४/१६, ६१, ३०७) महेंद्रपुरके राजा महेंद्रकी पुत्री पवनलक्ष्मसे विवाही तथा हनुमान्की जन्ममाता। २ नरककी चौथी पृथिवी, पक्षप्रमाका अपर नाम है। —दे पक्षप्रमा। नरक ४/१।

अजसा—न्या बिंटी १/३/८७/१ तत्त्वत इत्यर्थ ।—तत्त्व रूपसे।

अड—म सि २/३३/१८६ यत्नवरवषटशमुपात्तकाठिन्यं शुक्रशोणित-
परिवरण परिमण्डल तदण्डम् । —जो नखकी रक्षाके समान कठिन है, गोल है, और जिसका आवरण शुक्र और शोणितसे बना है उसे अण्ड कहते हैं। (रा बा २/३३/२/१४३/३२) (गो जी/जी प्र ८४/२०७)

अडज जन्म—दे गर्भ।

अडर—घ १४/६, ६-६३/८६/६ "तेसि खंघानि वषएसहरो तेसि भवान्-
मवयवा वत्तुअकच्छउण्णवपुआवरभागसमाणा अडरं नाम ।" —जो उन स्कन्धों (मुली, धुआर आदि) के अवयव हैं और जो वत्तुअकच्छउण्णके पूर्वापर भागके समान हैं उन्हें अण्डर कहते हैं। (विशेष दे वनस्पति ३/७)।

घ १४/६, ६-६४/११२/६ न च रस रुहिर-मांससरुहणं खघावयवाण
ततो पुधभावेण अवहणमरिथ । —स्कन्धोंके अवयव स्वरूप रस, रुधिर तथा मांस रूप अण्डरोंका उससे पृथक् रूप (स्कन्धसे पृथक् रूप) अवस्थान नहीं पाया जाता।

अत'करण—दे मन।

अत कोटाकोटी—घ ६/१, ६-६, ३३/१७४/६ अंतोकोटिकादौए चि
उत्ते सागरोवमकोटाकोटिसोऽजकोटीहि खट्टिदएगखट्टं होदि चि
येत्तव्वं । —अन्त कोड़ाकोटी ऐसा कहनेपर एक कोड़ाकोटी सागरो-
पमको सम्यथा कोटियोंसे खट्टित करनेपर जो एक खण्ड होता है,
वह अन्त कोड़ाकोटीका अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

गो जी भाषा ४६०/१००३/६ कोटिके ऊपर और कोड़ाकोटिके नीचे
जो होइ ताकी अत'कोटाकोटी कहिए।

अत—रा बा २/२२/१/१४३/२६ अयमन्तशब्दोऽनेकार्थः । बवचिद-

वयवे, यथा वयान्त वयनान्त । बवचिरमामीप्ये, यथोदकान्त गत
उदकममीपे गत इति । बवचिदयमाने वर्तते यथा संसारान्त गत
संसारवसान गत इति । —अन्त शब्दके अनेक अर्थ हैं। १ कहीं तो
अवयवके अर्थमें प्रयोग होता है—जैसे वरके अन्त अर्थात् वरके अन्त-
यन । २ कहीं समीपताके अर्थमें प्रयोग होता है—जैसे 'उदकान्तगत'
अर्थात् जलके समीप पहुँचा हुआ । ३ कहीं समाप्तिके अर्थमें प्रयोग
होता है—जैसे 'संसारान्तगत' अर्थात् संसारकी समाप्ति की प्राप्ति।

न्या दी ३/७६/११७ अनेके अन्ता धर्मा सामान्यविशेषपर्यायगुणा
यस्येति सिद्धोऽनेकान्तः । १ अनेक अन्त अर्थात् धर्म (इस प्रकार
अन्त शब्द धर्मवाचक भी है) । २ गणितके अर्थमें भूमि अर्थात्
Last term or the last digit in numerical series—
दे गणित II/४/३।

अतकृत्—घ ६/१, ६-६, २९६/४६०/१ अतकर्मणामन्तं विनाश कुर्व-
न्तीति अन्तकृत् । अन्तकृतो धूरया सिक्कति सिद्धयन्ति निस्ति-
ष्ठन्ति निष्पद्यन्ते स्वरूपेणेत्यर्थः । वृत्कति त्रिकालगोचरानन्तार्थ-
व्यवहानपरिणामात्मकाद्येववस्तुत्तरव बुद्धयन्ति अवगच्छन्तीत्यर्थः ।
—जो आठ कर्मोंका अन्त अर्थात् विनाश करते हैं वे अन्तकृत्
कहलाते हैं। अन्तकृत् होकर सिद्ध होते हैं, निश्चित होते हैं व अपने
स्वरूपसे निष्पन्न होते हैं, ऐसा अर्थ जानना चाहिए। 'जानते हैं,
अर्थात् त्रिकालगोचर अनन्त अर्थ और व्यवहान पर्यायात्मक अद्योप
वस्तु उत्तरवको जानते व समझते हैं'।

अतकृत् केवली—घ १/१ १, २/१०२/२ संसारस्यान्त कृतो येस्तेऽ-
न्तकृत् (केवलिन) । —जिन्होंने संसारका अन्त कर दिया है उन्हें
अन्तकृत् केवली कहते हैं।

२ महाधीरके तीर्थके दस अन्तकृत् केवलियोंका निर्देश
घ १/१, १, २/१०३/२ नमि-मतङ्ग सोमिल-रामपुत्र-सुदर्शन-यमलीक-
वलीक-किष्किविल-पालम्पाष्टपुत्रा इति एते दश वर्द्धमानतीर्थकर-
तीर्थे। दारुणानुपसर्गाभिजित्यकृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतो । —वर्द्धमान
तीर्थकरके तीर्थमें नमि, मतङ्ग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक,
वलीक, किष्किविल, पालम्पा, अष्टपुत्र ये दश दारुण उपसर्गोंकी
जीतकर सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयसे अन्तकृत् केवली हुए।

अतकृद्दशग—द्वयः सन्धानका आठवाँ अंग—दे भुसन्धान III।

अतडी—१ औदारिक शरीरमें अन्तर्द्वियोंका प्रमाण—दे औदा-
रिक १/७। २ इनमें पट्काल कृत हानि वृद्धि—दे काल/४।

अतरग—★ अतरग परिग्रह आदि—दे वह यह विषय।

अतर—कोई एक कार्य विशेष हो चुकनेपर जितने काल पश्चात् उसका

पुन होना सम्भव हो उसे अन्तर काल कहते हैं। जीवोंकी गुणस्थान
प्राप्ति अथवा किन्हीं स्थान विशेषोंमें उसका जन्म-मरण अथवा कर्मोंके
बन्ध उदय आदि सर्व प्रकारोंमें इस अन्तर कालका विचार करना
ज्ञानकी विशदताके लिए आवश्यक है। इसी विषयका कथन इस
अधिकारमें किया गया है।

५८

- १ अन्तर प्रस्थाना सामा यथा लक्षण ३
- २ अन्तरके भेद ३
- ३ निक्षेप रूप अन्तरके लक्षण ३
- ४ स्थानान्तरका लक्षण ३

- | | | |
|---|---|---|
| १ | अन्तरप्रमणणा सम्बन्धी सामान्य नियम | ४ |
| २ | योग मार्गणामे अन्तर सम्बन्धी नियम | ४ |
| ३ | द्वितीयोपपन्न सम्बन्धित्वमे अन्तर सम्बन्धी नियम | ८ |
| ४ | सामान्यतः सम्बन्धित्वमे अन्तर सम्बन्धी नियम | ८ |
| ५ | सम्बन्धित्वमिदमे अन्तर सम्बन्धी नियम | ४ |
| ६ | प्रथमोपपन्न सम्बन्धित्वमे अन्तर सम्बन्धी नियम | ४ |

у

- | | | |
|---|--|----------|
| १ | गुणस्थान परिवर्तन-द्वारा अन्तर निकालना | ५ |
| २ | गति परिवर्तन-द्वारा अन्तर निकालना | ५ |
| ३ | निरन्तर घाल निकालना | ५ |
| ४ | 2×66 सामग्री अन्तर निकालना | ५ |
| ५ | एक समय अन्तर निकालना | ६ |
| ६ | घात/जा अन्तर निकालना | ६ |
| ७ | घाल व अन्तर्गमे अन्तर | दे काल/६ |
| ८ | अनन्तकाल अन्तर निकालना | ६ |

3

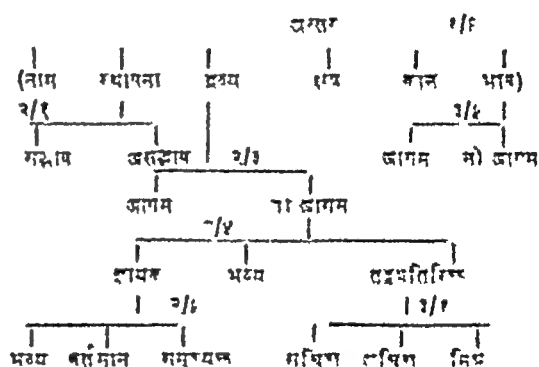
- १ नरक व देवगतिमे उपाद विषयक अन्तर प्ररूपणा ६
२ गार्ग्यीमे प्रयुक्त गद्येत्तोकी सूची ६
३ अन्तर विषयक ओघ प्ररूपणा ७
४ आदेश प्ररूपणा ८
५ कर्मोक्ति वाच, उदय, मत्त्व विषयक अन्तर प्ररूपणा २३
६ अन्य विषयो नम्वधा ओघ आदेश प्ररूपणाए २५
* काल व अन्तरानुयोगद्वारमे अन्तर दे काल/५

[illegible][illegible][illegible]

॥ वा. १८/८/२०११ ॥ अत्र हण्णीत्ययं द्वयस्य निमित्तमात्रं यमविषय
 पर्याप्तस्य स्वभावे नहि प्रानिमित्तान्तरस्य तस्य वात्तव्यवर्तमानस्य
 तदन्तरमित्युच्यते । — विष्णो वामं दृष्ट्वा विष्णो निमित्तोऽनुक्त
 पर्याप्तस्य स्वभावे होनेन निमित्तान्तरस्य तत्र तत्र तदवयवस्य पुन
 प्रत्यक्षं तस्य होतो तदवयवस्य कारणः अत्र च यत्ने ई ।

गी जो/जो प्र १९४३/४० की सं. नामांकीय विधिविधु-प्राप्त
 मार्गनाथान वा एवम्वा गुणवत्ता मार्गनाथानाथान वा एवम्वा
 पुनर्वाचनविधिविधुगुणवत्ता मार्गनाथान वा एवम्वा ताताताता
 प्रवत्ता नाम । -ताता जीवनिनी अवेम विवविधु गुणवत्ता वा
 मार्गनाथान नै एवेम अवेम हाई गुणवत्ता वा मार्गनाथाननै
 प्राप्त हाई बहुविध उम हो विवविधु गुणवत्ता वा मार्गनाथाननै
 वाता प्राप्त न हाई विम वाताता नाम अन्तर ही ।

E



यहूरी

प ११.६.१५ ३४ योगजन्मदृष्टि- दान्तरी पक्षिहृदि, दान्तरी-
वदित्वाभिरुचिना-मम ३४- दान्तरी ज्ञान-मम ३४- दान्तरी
प्रमाणानाम् प्रति-हृदये ३४- दान्तरी ज्ञान-मम ३४- दान्तरी
ज्ञान-मम ३४- दान्तरी ज्ञान-मम ३४- दान्तरी ज्ञान-मम ३४- दान्तरी

1992

[illegible]

२ अन्तर प्ररूपणा सम्बन्धी कुछ नियम—

१ अन्तर प्ररूपणा सम्बन्धी सामान्य नियम

घ १/१.६ १०४/६६/२ जोए मग्गणाए बहुगुणट्ठाणाणि अरिथ तीए त मग्गणच्छेदिय अण्णगुणेहि अतराविह अतरपरुवणा कादव्वा। जोए पुणमग्गणाए एवकं चेव गुणट्ठाण सत्थ अण्णमग्गणाए अतराविय अंतरपरुवणा कादव्वा इदि एसो मुत्ताभिप्पाओ। —जिस मार्गणामें बहुत गुणस्थान होते हैं, उस मार्गणको नहीं छोड़कर अन्य गुणस्थानों—से अन्तर कराकर अन्तर प्ररूपणा करनी चाहिए। परन्तु जिस मार्गणामें एक ही गुणस्थान होता है, वहाँपर अन्य मार्गणामें अन्तर करा करके अन्तर प्ररूपणा करनी चाहिए। इस प्रकार यहाँपर यह सूचका अभिप्राय है।

२ योग मार्गणामें अन्तर सम्बन्धी नियम

घ १/१.६ १३६/७/६ कधमेगजीवमासेज्ज अतराभावो। न ताव जोग तरगमणेत्तर सभवदि, मग्गणाए विणासापत्तोदो। न च अण्णगुण-गमणेण अतर सभवदि, गुणतर गदस्स जीवस्स जोगतरगमणेण विणा पुणो आगमणाभावादो। —प्रश्न एक जीवकी अपेक्षा अन्तरका अभाव कैसे कहा। उत्तर—सूत्रोक्त, गुणस्थानोंमें न तो अन्य योगमें गमन द्वारा अन्तर सम्भव है, क्योंकि, ऐसा माननेपर विवक्षित मार्गणके विनाशकी आपत्ति आवी है। और न अन्य गुणस्थानमें जानैसे भी अन्तर सम्भव है, क्योंकि दूसरे गुणस्थानको गये हुए जीवके अन्य योगको प्राप्त हुए बिना पुन आगमनका अभाव है।

३ द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अन्तर सम्बन्धी नियम

घ १/१.६ ३७६/१७०/२ हेट्ठा ओइणस्स वेदगसम्मत्तमपडिवज्जिय पुब्बुवसमसम्मतत्तुवसमसेवी समारूहेण सभवाभावादो। —उपशम श्रेणीसे नीचे उतरे हुए जीवके वेदकसम्यक्त्वको प्राप्त हुए बिना पहलेवाले उपशम सम्यक्त्वके द्वारा पुन उपशम श्रेणीपर समाराहणकी सम्भावनाका अभाव है।

४ सासादन सम्यक्त्वमें अन्तर सम्बन्धी नियम

घ ७/२.३ १३६/२३३/१ उवसमसेडोदो ओदिण्ण उवसमसम्माइट्ठो दोवारमेको न सासणगुण पडिवज्जदि त्ति। —उपशम श्रेणीसे उतरा हुआ उपशम सम्यग्दृष्टि एक जीव दोवार सासादन गुणस्थान-को प्राप्त नहीं होता।

५ सम्यग्मिध्यादृष्टिमें अन्तर सम्बन्धी नियम

घ १/१.६ ३६६/३१/२ जो जीवो सम्मादिट्ठो होवूण आउअं षधिय सम्मामिच्छत्त पडिवज्जदि, सो सम्मत्तेणव णिफिददि। अह मिच्छादिट्ठो होवूण आउअं षधिय जो सम्मामिच्छत्त पडिवज्जदि, सो मिच्छत्तेणव णिफिददि। —जो जीव सम्यग्दृष्टि होकर और आयुको बाँधकर सम्यग्मिध्यात्वको प्राप्त होता है, वह सम्यक्त्वके साथ ही उस गतिसे निकलता है। अथवा जो मिध्यादृष्टि होकर और आयुको बाँधकर सम्यग्मिध्यात्वको प्राप्त होता है, वह मिध्यात्व-के साथ ही निकलता है।

६ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनमें अन्तर सम्बन्धी नियम

घ ७/२.३/घ १३६/२३३ जहण्णेण पत्तिदोवमस्स असंखेज्जदि भागो। घ ७/२.३.१३६/२३३/३ कुदो। पढमसम्मत्त वेत्तूण ओतोमुहुत्तमच्छिय सासणगुणं गतूणहि करिय मिच्छत्त गंतूणतरिय सवजहण्णेण पत्तिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्तुव्वेल्लेणकालेण सम्मत्त सम्मा-मिच्छत्ताणं पढमसम्मत्तपाओगसागरोवमपुधत्तमेत्तट्ठिदसंतक्कम ठाविय तिण्णि वि करणाणि काउण पुणो पढमसम्मत्त वेत्तूण छावसि-यावसेसाए उवसम-सम्मत्तद्वाप सासणं गदस्स पत्तिदोवमस्स असंखे-ज्जदि भागमेत्तवरुवहंभादो। उवसमसेडोदो आयारिय सासणं गतूण ओतोमुहुत्तेण पुणो वि उवसमसेडि चडिम ओदरिदूण सासण

गदस्स ओतोमुहुत्तमेत्तमततर उवसम्भदे, एदमेथ किण्ण पस्विदं। न च उवसमसेडोदो ओदिण्णउवसमसम्माइट्ठो सासण (ण) गच्छत्ति त्ति णियमो अरिथ, 'आसाणं पि गच्छेज्ज' इदि कसायापहुठे पुण्णिमुत्तदसणादो। एत्थ परिहारी उच्चदे—उवसमसेडोदो ओदिण्ण उवसमसम्माइट्ठो दोवारमेको न सासणगुणं पडिवज्जदि त्ति। तस्मिं भवे सासण पडिवज्जिय उवसमसेडोदोसासणिय तत्ता ओदिण्णो वि ण सासणं पडिवज्जदि त्ति अहिप्पओ एदस्स सुत्तरस। तेण तो-मुहुत्तमेत्तं जहण्णतर णीवल्भदे।

घ १/१.६.७/१०/३ उवसमसम्मत पि अतामुहुत्तेण विण्ण पडि-वज्जदे। न उवसमसम्माविट्ठो मिच्छत्तं गतूण सम्मत सम्मा-मिच्छत्ताणि उव्वेल्लमाणा तेत्तिमतोकोठाकोठीमेत्तट्ठिदि धादिय सागरोवमादो सागरोवमपुधत्तादो वा जाव हेट्ठा न वरेदि ताम उवसमसम्मतगहणसंभवाभावा। ताणं टिट्ठोदो अतोमुहुत्तेण धादिय सागरोवमादो सागरोवमपुधत्तादो वा हेट्ठा किण्ण करेदि। न पत्तिदो-वमस्स असंखेज्जदिभागमेत्तायामेण अतोमुहुत्तवकीरणकांहेहि उव्वेल्लणखंडएहि धादिज्जमाणाए सम्मत सम्मामिच्छत्तट्ठोदो पत्तिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्तकालेण विणा सागरोवमरस वा सागरोवमपुधत्तस्स वा हेट्ठा पदणापुववत्तोदो।

घ १०/४.२.४.६६/२८८/१ एत्थ वेदगसम्मत्त चेव एसो पडिवज्जदि उव-समसम्मतत्तरकालस्स पत्तिदोवमस्स असंखेज्जदि भागस्स एत्थाणुव-लभादो। —सासादन सम्यग्दृष्टिमें अन्तर जघन्यसे पश्योपमके असं-ख्यातवें भाग मात्र है १३३।। क्योंकि, प्रथमोपशम सम्यक्त्वको ग्रहण कर और अन्तर्मुहूर्त रहकर सासादन गुणस्थानको प्राप्त हो, आदि करके पुन मिध्यात्वमें जाकर अन्तरको प्राप्त हो सर्व जघन्य पश्योपमके असंख्यातवें भाग मात्र उव्वेल्लना कालसे सम्यक्त्व व सम्यग्मिध्यात्व प्रकृतियोंके प्रथम सम्यक्त्वके योग्य सागरोपम पृथक्त्वमात्र स्थिति सबको स्थापित कर तीनहीं ही करणोंका करके पुन प्रथम सम्यक्त्व-को ग्रहण कर उपशम सम्यक्त्व कालमें छः आयुतियोंके दोप रहनेपर सासादनको प्राप्त हुए जीवके पश्योपमके असंख्यातवें भाग मात्र जघन्य अन्तर प्राप्त होता है। (घ १/१.६.६-७/७-११) (घ १/१.६. ३७६/१७०/६) प्रश्न—उपशम श्रेणीसे उतरकर सासादनको प्राप्त हो अन्तर्मुहूर्तसे फिर भी उपशम श्रेणीपर चढ़कर व उतरकर सासादनको प्राप्त हुए जीवके अन्तर्मुहूर्तमात्र अन्तर प्राप्त होता है, उसका यहाँ निरूपण क्यों नहीं किया। उत्तर—उपशमश्रेणीसे उतरा हुआ उपशम सम्यग्दृष्टि जीव सासादनको प्राप्त नहीं होता। क पा की अपेक्षा ऐसा सम्भव होने पर भी वहाँ एक ही जीव दो बार सासादन गुणस्थानको प्राप्त नहीं करता। प्रश्न—वही जीव उपशम सम्यक्त्वको भी अन्तर्मुहूर्त कालके पश्चात् ही क्यों नहीं प्राप्त होता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मिध्यात्वको प्राप्त होकर, सम्यक्प्रकृति और सम्यग्मिध्यात्व-प्रकृति-को उव्वेल्लना करता हुआ, उनकी अन्त कोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थितिको घात करके सागरोपमसे अथवा सागरोपम पृथक्त्वसे जघतक नीचे नहीं करता तथैव उपशम सम्यक्त्वका ग्रहण करना सम्भव ही नहीं है। प्रश्न—सम्यक्प्रकृति और सम्यग्मिध्यात्व प्रकृतिकी स्थितियोंको अन्तर्मुहूर्त कालमें घात करके सागरोपमसे, अथवा सागरोपम पृथक्त्व कालसे नीचे क्यों नहीं करता। उत्तर—नहीं, क्योंकि पश्योपमके असंख्यातवें भागमात्र आयामके द्वारा अन्तर्मुहूर्त उत्तरीकरण कालवाले उव्वेल्लना काण्डकोंसे घात की जानेवाली सम्यक् और सम्यग्मिध्यात्व प्रकृतिकी स्थितिका, पश्योपमके असंख्यातवें भाग मात्र कालके बिना सागरोपमके अथवा सागरोपमपृथक्त्वके नीचे पतन नहीं हो सकता है। (और भी दे सम्यग्दर्शन 1V/२/६) यहाँ यह (पूर्व कोटि तक सम्भवतः सहित संयम पालन करके अन्त समय मिध्यात्वको प्राप्त होकर मरने तथा हीन देवोंमें उत्पन्न होनेवाला जीव अन्तर्मुहूर्त पश्चात् यदि सम्यक्त्वको प्राप्त करता भी है तो)

अनेक गिद्वान्त कोण

सम्बन्धी आयुसे कम दोस सागरोपम आयुको स्थिति वाले आनस-प्राणत कश्योंके देवोंमें उत्पन्न होकर पुन यथाक्रमसे मनुष्यायुसे कम बाईस और चोबोस सागरोपमकी स्थितिवाले देवोंमें उत्पन्न होकर, अन्तर्मुहूत कम दो छयासठ सागरोपम कालके अन्तिम समयमें गिध्यात्वको प्राप्त हुआ। (१४ १+२२+३१+२०+२२+२४=२×६६ सागरोपम) यह ऊपर बताया गया उत्पत्तिका क्रम अश्वुरपन्न जनोंके समझानेके लिए कहा है। परमार्थसे तो जिस किसी भी प्रकारसे छयासठ सागरोपम काल पूरा किया जा सकता है।

५ एक समय अन्तर निकालना

नानाजीवापेक्षया—

[जा जीवोंको आदि करके पशयके असंख्यातवें भाग मात्र विकल्पसे उपशम सम्पददृष्टि जीव, जितना काल अवशेष रहनेपर सम्पदपशय छोड़ा या उतने काल प्रमाण सासादन गुणस्थानमें रहकर सम मिध्यात्वको प्राप्त हुए और तनोंमें लोकोंमें एक समयके लिए सासादन सम्पददृष्टियोंका अभाव हो गया। पुन द्वितीय समयमें कुछ उपशम सम्पददृष्टि जीव सासादन गुणस्थानको प्राप्त हुए। इस प्रकार सासादन गुणस्थानका (नानाजीवापेक्षया) एक समय रूप जघन्य अन्तर प्राप्त हुआ। बहुत से सम्पदगुमिध्यादृष्टि जीव अपने कालके क्षयसे सम्पदपशयको अपना मिध्यात्वको प्राप्त हुए और तनोंही लोकोंमें सम्पदगुमिध्यादृष्टि जीवोंका एक समयके लिए अभाव हो गया। पुन अनन्तर समयमें ही मिध्यादृष्टि अपना सम्पददृष्टि कुछ जीव सम्पदगुमिध्यात्वका प्राप्त हुए। इस प्रकारसे सम्पदगुमिध्यात्वका एक समय रूप जघन्य अन्तर प्राप्त हो गया] (विशेष दे — घ ६/१,६,४/७/६)।

६ पत्य/अस अन्तर निकालना

नानाजीवापेक्षया—

[इसकी प्ररूपणा भी जघन्य अन्तर एक समयवत् ही जानना। विशेष केवल इतना है कि यहाँपर एक समयके स्थानपर उत्कृष्ट अन्तर पशयका असंख्यातवें भाग मात्र कहा है] (विशेष दे घ ६/१,६,४/८/८)।

७ अनन्त काल अन्तर निकालना

एक जीवापेक्षया—

घ ६/४,१,६,६/३०/२ होयु एदमत्तर पंचिवियतिरिभवाण, ण तिरिभवाण, सेसतिगदीट्ठोप आण तियाभावादे । ण, अपिदपदजीव सेसतिगदीट्ठ हिहाविय अणपिदपदेण तिरिभवेसु पवेसिय तत्थ अणत्तकालमच्छिय गिप्पिदिदूण पुणे अपिदपदेण तिरिभवेसुवक्क-त्तस्स अणत्तत्तत्तत्तत्तभादे । —प्रश्न—यह अन्तर पंचेन्द्रिय तिर्यचोंका भले ही हो, किन्तु वह सामान्य तिर्यचोंका नहीं हो सकता, क्योंकि, शेष तीन गतियोंका काल अनन्त नहीं है। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि विवक्षित पद (कृति सचित आदि) वाले जीवको शेष तीन गतियोंमें घुमाकर तथा अविवक्षित पदसे तिर्यचोंमें प्रवेश कराकर वहाँ अनन्तकाल तक रहनेके बाद निकलकर अपित पदसे तिर्यचोंमें उत्पन्न होनेपर अनन्तकाल अन्तर पाया जाता है।

४ अन्तर विषयक प्ररूपणाएँ

१ नरक व देवगतिसे उपाव विषयक अन्तर प्ररूपणा

१ नरक गति—

प'स' मा १/२०६ पणयालीसघुहुत्ता पक्खो मासो य विणि चउमासा । छम्मास वरिसमेय च अंतरं होइ पुठवोण' २०६ । —रत्नप्रभादि सातों पृथिवियोंमें नारकियोंकी उत्पत्तिका अन्तरकाल क्रमशः ४६ 'मुहूर्त', एक पक्ष, एक मास, दो मास, चार मास, छह मास और एक वर्ष होता है।

ह पु ४/३७० ३७१ चत्वारिंशत्सहाष्टाभिर्घटिका प्रथमक्षितौ अन्तर ।

नरकोत्पत्तेरन्तरौ स्फुटीकृतम् ३७०॥ गताहरा गेय पक्ष स्यान्मासा मासौ यथावयवम् । चत्वारोऽपि च पणमासा विगृह्य पटु भूमिपु ३७१॥ —अन्तरके जाननेवाले आचार्यानि प्रथम पृथिवीमें नारकियोंकी उत्पत्तिका अन्तर ४८ घड़ी बतलाया है ३७०॥ और नीचकी ६ भूमियोंमें क्रमसे १ मासाह, १ पक्ष, १ मास, २ मास, ४ मास और ६ मासका विरह अर्थात् अन्तरकाल बताया है ३७१॥ नोट—(यह कथन नानाजीवापेक्षया जानना। वानों मान्यताओंमें कुछ अन्तर है जो ऊपरसे विदित होता है।

२ देवगति—

त्रि सा ६/२६-६३० कुसुदुसु तिषउवकेसु य गेमे जणनंतर तु चयने ग । सत्तदिणपक्कमासं दुगचदुहम्मासण होइ ६/२६॥ वरविगृह छम्मास इदमहादेविलोयमानाण । चउत्तेत्तीमगुणण तपुक्कसमाण परिमाण ६/३०॥ —दाय दोय तीन चतुष्क वेप इन विपे अनन्तर पर चयवने कहिये मरण विपे अन्तर सो सात दिन, पक्ष, मास, दो, चार पक्ष मास प्रमाण है। (अर्थात् सामान्य देवोंके जन्म व मरणका अन्तर उत्कृष्टपने सोधमार्गद्वय विमानवासी देवोंमें क्रमसे दो स्वर्गोंमें सात दिन आगेके दो स्वर्गोंमें एक पक्ष, आगे चार स्वर्गोंमें एक मास, आगे चार स्वर्गोंमें दो मास, आगे चार स्वर्गोंमें चार मास, अवशेष प्रवद-कादि विपे छ मास जानना) ६/२६॥ उत्कृष्टपने मरण भए पीछे तिसको जगह अन्य जीव आय यावत्त न अवतरै तिस वानका प्रमाण सो सर्व ही इन्द्र और इन्द्रकी महादेवी, अर लोकपाल, इनका तो विरह छ मास जानना। बहुतिर प्रार्थयिशा देव अर अवरत्नक अर सामानिक अर पारिवद इनका च्यार मास विरह बात जानना ६/३०॥

२ सारणीमें प्रयुक्त सकेतोंके अर्थ

संकेत	अर्थ	संकेत	अर्थ
अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त (जघन्य कोष्टकमें जघन्य व उत्कृष्टकोष्टकमें उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त)।	या	मादर
अप	अपमार्ग	भुजगार	भुजगार अक्षतर
अस	असंख्यात		अवस्थित अवतल्य
आ	आवसी	मा	मास
उप	उपशम	मिध्या	मिध्यात्व
एके या ए	एकेन्द्रिय	मनु	मनुष्य
औ	औदारिक	त अप	नधि अपमार्ग
२८/ज	२८प्रवृत्तियोंको सत्ता	यन	वनस्पति
	माता मिध्यादृष्टि जीव।	यिक्ते	विकल्पा
ज-उ	उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट जघन्य व अजघन्य बन्ध उदयादि।	वै	वैक्रियक
ति	तिर्यच	वृद्धि	बन्ध उदयादिमें पद-स्थान पठित वृद्धि
दि	दिन	वृद्धि आ पद	जघन्य उत्कृष्ट वृद्धि
न पु	नृसक	मम्य	मम्यवत्
नि	निगोद	सं	संख्यात
प	पयाग	सा	सागर व सामान्य
पंचे	पंचेन्द्रिय	सू	सूक्ष्म
पु परि	पुद्गल परिवर्तन	सासा	सासादनवत्
परि	परिवर्तन	सा वत्	सा वत्
पू को	पूर्वकोटी	स्थान	जैसे २४ प्रकृति बन्ध
पृ	पृथक्त्व		स्थान, २८ प्रकृति
		क्षप	बन्धका स्थान आदि।
		क्षप	क्षपक

[illegible]

४ आदेश प्ररूपणा — प्रमाण— १ प ल ७/१, ६/सूत्र सं टीका सहित, २ प ल ७/२, ३/सूत्र सं टीका सहित, ३ प ल ७/३, ६/सूत्र सं टीका सहित,
 घ पु १/५ २१-१०६ घ ७/५ १८७-२३६ घ ७/५ ४७८-४९४

मार्गना			नानाजीवापेक्षया				एक जीवापेक्षया				
मार्गना	गुण स्थान	प्रमाण १/३	अवस्थ	अपेक्षा	प्रमाण १/३	उत्कृष्ट	अवस्थ	अपेक्षा	प्रमाण १/२	उत्कृष्ट	अपेक्षा
१ गति मार्गणा-		सू			सू				सू		
१ नरकगति-		२			२	अन्तर्मुहूर्त	गति परिवर्तन		३	अस पु परि	गति परिवर्तन
नरक सामान्य		४			४	"	"		४	"	"
१-७ पृथिवी	१	२१	निरन्तर		२१	"	"		२३	३३ सा - अन्तर्मुहूर्त	२८/अ ७वीं पृथिवीमें ६ पर्याप्तियां पूर्ण कर वेदकसम्य हो भवके अन्तर्में मिथ्यात्व सहित चयकर तिर्यच हुआ। २८/अ ७वीं पृ १लेसे ४था वेदक, पुन १सा। आपुके अन्तर्में उपनाम सम्यक्त्व।
नरक सामान्य	४	२१	"		२१	"	"		२३	"	"
	२	२४	ओषधव		२६	परम/अस	ओषधव		२७	" -६"	"
	३	२४	"		२६	"	"		२७	" -६"	"
१-७ पृथिवी	१, ४	२८	निरन्तर		२८	अन्तर्मुहूर्त	"		३०	क्रमेण देशोभ १, ३, ७ १०, १७ २३, ३३ सा	"
	२	३१	ओषधव		३२	परम/अस	"		३४	"	"
	३	३१	"		३२	अन्तर्मुहूर्त	"		३४	"	"
२ तिर्यच गति-		६			६	सुद्र भव	ति से मनु हो तदतो घात कर पुन ति		७	१०० सा पृ	दोष अतिवर्धित गतिगोमें भ्रमण
तिर्यच सामान्य		६			६	"	"		१०	असं पु परि	"
५वे सा, ५, अप, योनिमति		६			६	"	"		१०	"	"
ल अप	१	६२	"		६३	अन्तर्मुहूर्त	पर्याय विच्छेद ओषधव		४४	३ परम-२ मास + सुहूर्त पृ	२८/अ वेदक हो आपुके अन्तर्में मिथ्या पुन सम्यक्त्व हो वेदोमें उत्पत्ति
तिर्यच सामान्य		३६	"		३६	"	"		४६	३ परम-२ मास + २ अन्तर्मुहूर्त	"
	२-६	३८	ओषधव		३८	ओषधव	"		४८	३ परम-६६ पू को योनिमतिमें ६६ के स्थानपर १६ पू को	३ अन्तर ३/२
५वे सा प योनिमति	१	३६	निरन्तर		३६	अन्तर्मुहूर्त	"		४९	"	"
	२	४२	ओषधव		४३	परम/अस	"		४६	"	" (सासा के सत पर मिम)
	३	४२	"		४३	"	"		४६	"	" (" " सम्य)
	४	४६	निरन्तर		४६	"	"		४८	"	"

मार्गणा		नाना जीवापेक्षया				एक जीवापेक्षया			
मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण १/३	अवस्थ	अपेक्षा	प्रमाण १/३	उपकृष्ट	अवस्थ	अपेक्षा	प्रमाण १/३
४ देवगति - देवसामान्य	१२	१२	निरन्तर		१२	अन्तर्मुहूर्त	देवसे गर्भज मनु या त्ति पुन देव	असं पु परि	१३
मवनात्रिक	१४	१४	"		१४	"	"	"	१४
सौधर्म ईशान	१४	१४	"		१४	"	"	"	१४
सानकुमार माहेन्द्र	१४	१४	"		१४	मुहूर्त पृथक्त्व	इस स्पर्श में मनु या त्ति को आयु इससे कम नहीं मन्वन्ती	"	१७
ब्रह्म-कापिष्ठ	१४	१४	"		१४	दिवस पृथक्त्व	"	"	२०
शुक्र-सहस्रार	१४	१४	"		१४	पक्ष पृथक्त्व	"	"	२३
आनत-अन्धुस	१४	१४	"		१४	मास पृथक्त्व	"	"	२६
नव प्रवेयक	१४	१४	"		१४	वर्ष पृथक्त्व	"	"	२६
नव अनुदिश	१४	१४	"		१४	"	"	"	३२
सर्वार्थसिद्धि	१४	१४	"		१४	अन्तर्मुहूर्त	वहाँसे आकर नियमसे मोक्ष	वहाँ से आकर नियम से मोक्ष	३४
देव सामान्य	२४	२४	"		२४	अन्तर्मुहूर्त	ओषधत्	द्रव्य सिंगी उपशम प्रवेयकमें जा सम्य ग्रहणकर भवके अन्तमें निध्यात्	३१ सा -४ अतर्मु
	२४	२४	"		२४	"	"	"	"
	२४	२४	"		२४	पक्ष/असं	"	"	"
	२४	२४	"		२४	अन्तर्मुहूर्त	"	"	"
भवनत्रिक व सौधर्म-सहस्रार	२४	२४	निरन्तर		२४	"	"	स्व आयु ४ अतर्मु	२३
	२४	२४	"		२४	"	"	"	"
	२४	२४	"		२४	देव सा वत्	"	देव सा वत्	२३
	२४	२४	"		२४	देव सा वत्	"	"	२४
आनत-उप. प्रवेयक	२४	२४	"		२४	"	"	"	२७
अनुदिश सर्वार्थसिद्धि	२४	२४	निरन्तर		२४	"	वहाँसे आकर नियम- से मोक्ष	वहाँसे आकर नियमसे मोक्ष	२८

सिमेंचों में भ्रमण

वहूँसे वय पूर्व कोटि वाला मनु हो,
वहूँसे सौधर्म ईशानमें जा, २ सा
परवात पुन पूर्व कोटिवाला मनु हो
सयम धार मरे और विवक्षित देव होय

वहाँ से आकर नियम से मोक्ष

द्रव्य सिंगी उपशम प्रवेयकमें जा सम्य
ग्रहणकर भवके अन्तमें निध्यात्

"

" परन्तु सासादन सहित उत्पत्ति
उपरोक्त जीव नव प्रवेयकमें नवीन
सम्य को प्राप्त हुआ
मि सहित उत्पत्ति, सम्य प्राप्ति,
अन्तमें च्युति

नोट—३१ सागरके स्थानपर स्व
आयु सिलना।

"

नाना जीवपेक्षया										एक जीवपेक्षया			
मार्गना	गुण स्थान	प्रमाण	अवस्थ	अपेक्षा	प्रमाण	उत्कृष्ट	अवस्थ	अपेक्षा	उत्कृष्ट	अवस्था			
		१	२	३	४	५	६	७	८	९			
३ काय मार्गना -													
चार स्थावर बा सु		१६		निरन्तर	१६		क्षुब्ध	अविश्रित पर्यायों में	अस पु परि	अविश्रित पर्यायों में भ्रमण			
प अप								आकर लीट					
वनस्पति साधारण निगो		१६		"	१६		"	"	अस लोक	पृथिवी आदि में भ्रमण			
वन नि बा सु प अप		१६		"	१६		"	"	२६ पु परि	"			
वन प्रत्येक बा प		१६		"	१६		"	"	अस पु परि	निगोवादि में भ्रमण			
वस सा प अप		१६		"	१६		"	"	"	वनस्पति आदि स्थावरों में भ्रमण			
वस ल अप				"			"	"	"	"			
चार स्थावर बा सु प	१	१३०		"	१३०		"	"	१३२	अविश्रित वनस्पति में भ्रमण			
अप				"			"	"					
वन नि सा बा सु	१	१३३		"	१३३		"	"	अस लोक	चार स्थावरों में भ्रमण			
प अप				"			"	"					
वन प्रत्येक सा प अप	१	१३६		"	१३६		"	"	२६ पु परि	निगोवादि में भ्रमण			
प्रस सा प	२	१४०		मूल औषध	१३६		"	"	—	मूल औषध			
				"	१४०		"	"	२००० सा + पु को पु	असंख्य पंच भव प्राप्त एक भवनिर्गक-			
									-आ/अस-६ अतर्मु	में उत्पन्न हो सासादन वाला हुआ। च्युत			
										हो वसों में भ्रमण कर अन्त में सासादन			
										कर स्थावर।			
	३	१४०		"	१४०		"	"	" १-२ अतर्मु	"			
	४	१४३		"	१४३		"	"	" १-१० अतर्मु	"			
	५	१४३		"	१४३		"	"	१-४८ दिन-१२ अतर्मु	"			
	६-७	१४३		"	१४३		"	"	" १-८० अतर्मु	"			
उपशमक	८-११	१४६		"	१४६		"	"	" १-८० अतर्मु	"			
				"			"	"		संज्ञी प्राप्त एक भवों पा गिरे। भ्रमण।			
सपक	८-१४	१४६		"	१४६		"	"		फिर संज्ञी पा भवों प्राप्त करे।			
वस ल अप	१	१४९		"	१४९		"	"		उपरोक्तवध परन्तु एक से मनु भव।			
				"			"	"		नोट-२० अतर्मु के स्थानपर क्रमशः			
				"			"	"		३०, २५, २६, २४ करे			
				"			"	"		मूल औषध			
				"			"	"		निरन्तर			
४ योग मार्गना -													
पाँचों मन वचन योग													
काययोग सा													
		२२		निरन्तर	२२		अन्तर्मुहूर्त	एक समय अन्तर	अस पु परि	काययोगियों में भ्रमण			
				"				सम्भन नहीं	अन्तर्मुहूर्त	योग परिवर्तन			
		२२		"	२२		१ समय	मरण परचाव भी पुन	६४				
				"				काय योग होता ही है।					

मार्गणा	नाना जीवापेक्षया				एक जीवापेक्षया			
	गुण स्थान	प्रमाण १ २ ३	जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण १ २ ३	उत्कृष्ट	जघन्य	अपेक्षा
५ वेद मार्गणा								
तोवेद सा		३१		निरन्तर	३१		सुद भव	उपशम श्रेणीसे उत्तरते
पुरुरवेद सा		३१		"	३१		१ समय	हुए मृत्यु
नगसकवेद सा		३१		"	३१		अन्तर्मुख	सुदभवसे भी नपू है।
अपगतवेद उप		३१		"	३१		"	उपशमसे उत्तरकर
" संपक		३१		"	३१		अन्तर्मुख	पुन आरोहण
१ स्त्रीवेद	१	१७८		"	१७८		अन्तर्मुख	पतनका अभाव
	२	१८१		मूलोच्चतर	१८१		परम/असं	गुणस्थान परिवर्तन
	३	१८१		"	१८१		अन्तर्मुख	मूल ओच्चतर
	४	१८४		"	१८४		"	"
	५	१८४		"	१८४		"	"
उपशमक	६-७	१८४		"	१८४		"	"
"	८	१८७		"	१८७		"	"
संपक	९	१८७		"	१८७		"	"
	८-९	१९०		"	१९०		"	"
२ पुरुरवेद	१	१९३		मूलोच्चतर	१९३		परम/असं	पतनका अभाव
	२	१९८		"	१९८		अन्तर्मुख	"
	३	१९८		"	१९८		अन्तर्मुख	"
	४	१९८		"	१९८		"	"
	५	१९८		"	१९८		"	"
	६-७	१९८		"	१९८		"	"
	८	२०१		"	२०१		"	"
उपशमक	९	२०१		"	२०१		"	"
"	८-९	२०४		"	२०४		"	"
संपक (द्वि १)		२०४		"	२०४		"	"
(द्वि २)		२०६		"	२०६		"	"

नपू वेदी एकेन्द्रियोमै भ्रमण

अविचलित वेदोमै भ्रमण

पतन का अभाव

२-ज पू वेदी मनु देवियोमै जा गुण-

स्थान परिवर्तन कर पुन मनुष्य

अन्य वेदी स्त्रीवेद सा में उपजा। च्युत

हो स्त्रीवेदियोमै भ्रमण। मत्वात्वेमै

सासादन हो देवोमै जन्म।

५ (परन्तु देवियोमै जन्म)

५ (स्त्रीवेदी सामान्यमै उत्पन्न कराना)

५ (स्त्रीवेदी मनुष्योमै उत्पन्न कराना)

५ (" ")

५ (" ")

५ (" ")

पतनका अभाव

मूनोपगत

स्त्रीवेदीमत् (परन्तु देवियोमै जन्म)

५ (" ")

५ (" ")

५ (" ")

५ (" ")

५ (" ")

५ (" ")

५ (" ")

५ (" ")

५ (" ")

५ (" ")

५ (" ")

५ (" ")

५ (" ")

मार्गणा		नानाजीवापेक्षया					एक जीवापेक्षया				
मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण १	अवस्थ	अपेक्षा	प्रमाण २	अवस्थ	अपेक्षा	प्रमाण ३	उत्कृष्ट	अवस्थ	
३ नपुंसक वेद	१	२०७	सू	निरन्तर	२०७	अन्तर्मुहूर्त	मूलोषवत्	२०८	३३ सा -६ अन्तर्मु	२८/ज ७ की पृथिवीमें उपज सम्यक्त्व पा भवके अन्तर्में पुन' मिथ्यादृष्टि	
उपशमक क्षपक	२ ७	२१०	सू	मूलोषवत्	२१०	—	"	२१०	—	मूलोषवत्	
अपगत वेद उप	८-६	२११	सू	खीवेदीवत्	२११	वर्ष पृ	पतनका अभाव	२१०	—	पतनका अभाव	
" क्षपक	६-१०	२१४	सू	मूलोषवत्	२१४	"	मूलोषवत्	२१३	अन्तर्मुहूर्त	गिरतेपर अपगत वेदी नहीं रहता इस स्थानमें वेदका उदय नहीं	
कथाय मार्गणा-क्रोय	११	२१८	सू	उपर चक्रकर गिरे	२१८	—	मूलोषवत्	२२०	—	मूलोषवत्	
मान माया लोभ	११	२२१	सू	मूलोषवत्	२२१	१ समय	कथाय परि कर मरे, नरकमें जन्म	२२१	अन्तर्मुहूर्त	किसीभी कथायकी स्थितिसे अधिक नहीं	
उपशान्त कथाय	११	२२४	सू	"	२२४	"	"मनु जन्म व्याघात नहीं	२४	६६	"	
क्षीण कथाय चारों कथाय	१-१०	२२३	सू	"	२२३	"	"वि जन्म व्याघात नहीं	२४	"	"	
उपशमक क्षपक	८-१०	२२३	सू	"	२२३	"	"रेवजन्म व्याघात नहीं	२४	"	"	
अकथाय	११	२२४	सू	उपशम श्रेणीके कारण	२२४	अन्तर्मुहूर्त	उपशम श्रेणीसे उत्तर पुन आरोहण	२४	कुछ कम अर्थ पु परि	"	
"	१२-१४	२२७	सू	मूलोषवत्	२२७	—	पतनका अभाव मनोयोगीवत्	२४	—	पतनका अभाव मनोयोगीवत्	
ज्ञान मार्गणा-मति, श्रुत अज्ञान	१ २	२२६	सू	निरन्तर	२२६	अन्तर्मुहूर्त	गुणस्थान परिवर्तन	२२३	१३२ सा	सम्यक्त्वके साथ ६६ सा रह सम्यग्मि में जा पुन सम्यक्त्वके साथ ६६ सा । फिर मिथ्या	
विभंग मति, श्रुत, अधिज्ञान मन परम केवल	१ २	२२६	सू	"	२२६	"	"	२२३	असं पु परि	अविश्रुत पर्यायोंमें भ्रमण सम्यक्त्वसे च्युत हो भ्रमण, पुन सम्य	
कुमति, कुश्रुत व विभंग	१ २	२२६	सू	पतनका अभाव निरन्तर	२२६	"	पतनका अभाव निरन्तर	२२३	"	पतनका अभाव निरन्तर	
		२३०	सू	मूलोषवत्	२३०	२३१	"	२३१	निरन्तर	भ्रमण स्थानमें अज्ञान ही, होता ज्ञान नहीं	

एक जीवप्रेममा

नाना जीवप्रेममा

मार्गणा

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण			जघन्य	प्रमाण			जघन्य	अपेक्षा	प्रमाण			उत्कृष्ट	अपेक्षा
		१	२	३		१	२	३			१	२	३		
यथावत्प्राप्त उप		४०	४०	४०	—	११२	११२	४०	अतर्मुहूर्त	सूक्ष्मसामान्य हो पुन यथा	११२	११२	४०	अर्ध पु परि - अतर्मुहूर्त	मिथ्याहृष्टिगोमि भ्रमण
क्षप		४०	४०	४०	—	११४	११४	४०	अतर्मुहूर्त	पतनका अभाव	११४	११४	४०	अर्ध पु परि	पतनका अभाव
संयत्तासंयत		४०	४०	४०	—	१०६	१०६	४०	अतर्मुहूर्त	असंयत हो पुन	१०६	१०६	४०	अर्ध पु परि	मिथ्याहृष्टिगोमि भ्रमण
असंयत		४०	४०	४०	—	११६	११६	४०	"	संयत्तासंयत हो पुन	११६	११६	४०	१ पु को - अतर्मु	संयत्तासंयत हो देवगतिमें उत्पत्ति
सामान्य न उप		२४८	२४८	२४८	—	२४८	२४८	२४८	—	असंयत	२४८	२४८	२४८	—	मन पर्यायज्ञानीवद्
क्षप		२४८	२४८	२४८	—	२४८	२४८	२४८	—	मन पर्याय-ज्ञानीवद्	२४८	२४८	२४८	—	मूलोषवत्
सामाधिक द्वेदो		२४८	२४८	२४८	—	२४८	२४८	२४८	—	मूलोषवत्	२४८	२४८	२४८	—	परस्पर गुणस्थान परिवर्तन
उपशमक		२४८	२४८	२४८	—	२४८	२४८	२४८	—	मूलोषवत्	२४८	२४८	२४८	—	श्रेणी चतु फिर प्रमत्त अप्रमत्त हो भवके अन्तमें पुन श्रेणी चतु नरे देव हो
क्षप		२४८	२४८	२४८	—	२४८	२४८	२४८	—	मूलोषवत्	२४८	२४८	२४८	—	मूलोषवत्
परिहार विमुक्ति		२४८	२४८	२४८	—	२४८	२४८	२४८	—	मूलोषवत्	२४८	२४८	२४८	—	परस्पर गुणस्थान परिवर्तन
सूक्ष्मसामान्य उप		२४८	२४८	२४८	—	२४८	२४८	२४८	—	मूलोषवत्	२४८	२४८	२४८	—	अन्य गुणस्थानमें सम्भव नहीं
क्षप		२४८	२४८	२४८	—	२४८	२४८	२४८	—	मूलोषवत्	२४८	२४८	२४८	—	मूलोषवत्
यथावत्प्राप्त उप		२४८	२४८	२४८	—	२४८	२४८	२४८	—	अकपायवत्	२४८	२४८	२४८	—	अकपायवत्
संयत्तासंयत		२४८	२४८	२४८	—	२४८	२४८	२४८	—	अन्य गुण सम्भव नहीं	२४८	२४८	२४८	—	अन्य गुणस्थान सम्भव नहीं
असंयत		२४८	२४८	२४८	—	२४८	२४८	२४८	—	इति व श्रेयमें गुण परि	२४८	२४८	२४८	—	अन्य गुणस्थान सम्भव नहीं
१ दर्शन मार्गण -		२४८	२४८	२४८	—	२४८	२४८	२४८	—	मूलोषवत्	२४८	२४८	२४८	—	अन्य गुणस्थान सम्भव नहीं
चक्षुदर्शन सा		४६	४६	४६	—	४६	४६	४६	—	संसार जीवको सदा रहता है	४६	४६	४६	—	अन्य गुणस्थान सम्भव नहीं
अचक्षुदर्शन सा		४६	४६	४६	—	४६	४६	४६	—	अवधिज्ञानवत्	४६	४६	४६	—	अन्य गुणस्थान सम्भव नहीं
अवधिदर्शन		४६	४६	४६	—	४६	४६	४६	—	अवधिज्ञानवत्	४६	४६	४६	—	अन्य गुणस्थान सम्भव नहीं
केवलदर्शन		४६	४६	४६	—	४६	४६	४६	—	केवलज्ञानवत्	४६	४६	४६	—	अन्य गुणस्थान सम्भव नहीं
चक्षुदर्शन		४६	४६	४६	—	४६	४६	४६	—	मूलोषवत्	४६	४६	४६	—	अन्य गुणस्थान सम्भव नहीं
		४६	४६	४६	—	४६	४६	४६	—	अचक्षुसे असंज्ञी वचे सासादन हो गिरा चक्षु दर्शनिगोमि भ्रमण । अतिम भवमें पुन सासादन	४६	४६	४६	—	अन्य गुणस्थान सम्भव नहीं

मार्गना		नामा जीवापेक्षया					एक जीवापेक्षया		
मार्गना	गुण स्थान	प्रमाण	अवस्थ	अपेक्षा	प्रमाण	उत्कृष्ट	प्रमाण	उत्कृष्ट	अपेक्षा
		१	२	३	४	५	१	२	३
नील	१	२६६	१ समय	निरन्तर	२६६	अन्तर्मुहूर्त	३५	१७ सा -४ अर्धमु	कृष्णवत्पर ७वींकी अपेक्षा १वीं पृ
	२	२६६	"	मूलोपवत्	२६६	पश्या/असं	२६८	"-४ "	"
	३	२६६	"	"	२६६	"	३०१	"-६ "	"
	४	२६६	"	"	२६६	अन्तर्मुहूर्त	२६८	"-६ "	"
कपास	१	२६६	१ समय	मूलोपवत्	२६६	पश्या/असं	३०१	७ सा -४ "	कृष्णवत्पर ७वींकी अपेक्षा १वीं पृ
	२	२६६	"	"	२६६	"	३०१	"-४ "	"
	३	२६६	"	"	२६६	अन्तर्मुहूर्त	३०१	"-६ "	"
	४	२६६	"	"	२६६	"	३०१	"-६ "	"
तेज	१	३०२	१ समय	निरन्तर	३०२	अन्तर्मुहूर्त	२६८	साधिक २ सा	२ सागर आयुवाले देवोंमें उत्पन्न
	२	३०२	"	"	३०२	"	३०४	-४ अर्धमु	मिथ्या सम्य धार, भवान्तरमें पुनः मिथ्या
	३	३०२	"	"	३०२	"	३०४	"-६ अर्धमु	"
	४	३०२	"	"	३०२	अन्तर्मुहूर्त	३०४	"-६ अर्धमु	"
पद्म	१	३०४	१ समय	मूलोपवत्	३०४	पश्या/असं	३०७	"-३ समय	"
	२	३०४	"	"	३०४	अन्तर्मुहूर्त	३०७	"-६ अर्धमु	"
	३	३०४	"	"	३०४	"	३०७	"-६ अर्धमु	"
	४	३०४	"	"	३०४	अन्तर्मुहूर्त	३०७	"-६ अर्धमु	"
पद्म व पद्म	१	३०४	१ समय	मूलोपवत्	३०४	पश्या/असं	३०७	साधिक १८ सा -	"
	२	३०४	"	"	३०४	अन्तर्मुहूर्त	३०७	४ अर्धमु	"
	३	३०४	"	"	३०४	"	३०७	"-३ समय	"
	४	३०४	"	"	३०४	अन्तर्मुहूर्त	३०७	"-६ अर्धमु	"
शुक्ल	१	३०४	१ समय	मूलोपवत्	३०४	पश्या/असं	३०७	"-६ अर्धमु	लेख्या कालसे गुणस्थानका काल अधिक है।
	२	३०४	"	"	३०४	अन्तर्मुहूर्त	३०७	"-६ अर्धमु	"
	३	३०४	"	"	३०४	"	३०७	"-६ अर्धमु	"
	४	३०४	"	"	३०४	अन्तर्मुहूर्त	३०७	"-६ अर्धमु	"
उपशमक	१	३०४	१ समय	मूलोपवत्	३०४	पश्या/असं	३०७	३१ सा -४ अर्धमु	द्रव्य विंगो उपरिम प्रवेयकमें जा सम्य धार भवके अन्तर्में पुन मिथ्या
	२	३०४	"	"	३०४	अन्तर्मुहूर्त	३०७	"-६ अर्धमु	"
	३	३०४	"	"	३०४	"	३०७	"-६ अर्धमु	"
	४	३०४	"	"	३०४	अन्तर्मुहूर्त	३०७	"-६ अर्धमु	"
सप्तक	१	३०४	१ समय	मूलोपवत्	३०४	पश्या/असं	३०७	अन्तर्मुहूर्त	उप श्रेणीसे उत्तरकर प्रसक्त हो पुन चड़े
	२	३०४	"	"	३०४	अन्तर्मुहूर्त	३०७	"-६ अर्धमु	"
	३	३०४	"	"	३०४	"	३०७	"-६ अर्धमु	"
	४	३०४	"	"	३०४	अन्तर्मुहूर्त	३०७	"-६ अर्धमु	"

मार्गणा	नाना जीवापिभया				एक जीवापिभया			
	मार्गणा	पुन स्थान	प्रमाण १ ३	अवस्थ	अपेक्षा	प्रमाण १ २	उत्कृष्ट	अपेक्षा
११ भवगत्य मार्गणा	मर्यादाव्य सा	१-१४	१२	निरन्तर	अन्योन्य परिवर्तनाभाव	१३२	—	अन्योन्य परिवर्तनका अभाव
	भय	३२८	३२८	मूलोचवत्	मूलोचवत्	३२८	—	मूलोचवत्
	अभय	३२८	३२८	निरन्तर	परिवर्तनका अभाव	३३०	—	परिवर्तनका अभाव
१२ सम्यक्त्व मार्गणा	सम्यक्त्व सा	१५	१५	निरन्तर	मिथ्यात्व हो पुन सम्य	१३५	कुछ कम अर्थ पु परि	भ्रमण
	साधिक सा	१५	१५	"	पतनका अभाव	१३७	कुछ कम अर्थ पु परि	पतनका अभाव
	प्रथमोपशम	१५	१५	समय	(हे उत्तर २५) उप श्रुतीसे उत्तर वेदक हो पुन' उप श्रुती	१३५	कुछ कम अर्थ पु परि	परिभ्रमण
	द्वितीयोपशम	१५	१५	समय	मिथ्यात्व हो पुन सम्य	१३५	"	"
वेदक	सासादन	१५	१५	निरन्तर	मूलोचवत्	१३५	"	"
	सम्यग्निमयारव	१५	१५	समय	मिथ्यात्व हो पुन' ३रा	१३५	"	"
	मिथ्यादर्शन	१५	१५	निरन्तर	मति अज्ञानवत्	१३५	"	"
	सम्यक्त्व सा	१५	१५	निरन्तर	मूलोचवत्	१३५	"	"
उपशमक	उपशमक	१५	१५	अवधिज्ञानवत्	अवधिज्ञानवत्	१३५	१३७ मागर	मिथ्यात्वसे ले जाकर बढ़ाना
	संप्र	१५	१५	"	"	१३५	पु को पु-४ अतर्मु	मति अज्ञानवत्
	संप्र	१५	१५	"	"	१३५	"	"
	संप्र	१५	१५	"	"	१३५	"	"
साधिक सम्यक्त्व	साधिक सम्यक्त्व	१५	१५	अवधिज्ञानवत्	अवधिज्ञानवत्	१३५	१३७ मागर	मिथ्यात्वसे ले जाकर बढ़ाना
	संप्र	१५	१५	"	"	१३५	पु को पु-४ अतर्मु	मति अज्ञानवत्
	संप्र	१५	१५	"	"	१३५	"	"
	संप्र	१५	१५	"	"	१३५	"	"
उपशमक	उपशमक	१५	१५	अवधिज्ञानवत्	अवधिज्ञानवत्	१३५	१३७ मागर	मिथ्यात्वसे ले जाकर बढ़ाना
	संप्र	१५	१५	"	"	१३५	पु को पु-४ अतर्मु	मति अज्ञानवत्
	संप्र	१५	१५	"	"	१३५	"	"
	संप्र	१५	१५	"	"	१३५	"	"
वेदक सम्यक्त्व	वेदक सम्यक्त्व	१५	१५	अवधिज्ञानवत्	अवधिज्ञानवत्	१३५	१३७ मागर	मिथ्यात्वसे ले जाकर बढ़ाना
	संप्र	१५	१५	"	"	१३५	पु को पु-४ अतर्मु	मति अज्ञानवत्
	संप्र	१५	१५	"	"	१३५	"	"
	संप्र	१५	१५	"	"	१३५	"	"

मार्गणा		नाना जीवोपदेश्या				एक जीवोपदेश्या			
मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण	जवन्म	अपेक्षा	प्रमाण	उत्कृष्ट	प्रमाण	उत्कृष्ट	अपेक्षा
		१	२		१	२	१	२	
वेदक सम्य	६-७	३६३	सू	निरन्तर	सू		सू	३३सा + पू को -क्रमशः ७ व = अत आर्ध पु परि अन्तमुद्धृत	संयत्तासंयतवत् पर १ भार भ्रमण (६६ में ७ अत और ७६ में ८ अत) सासादन मूलोपवत् श्रेणीसे उत्तर ४५.७.६ में जा पुन ४ था
प्रथमोपशम* (हे नीचे)	सामान्य								
उपशमसामान्य	४	३६६	सू	सासादनमूलोपवत् श्रेणीसे उत्तर ४ थे व १ वें में परिवर्तन	३६८		सू	३६६	सासादन मूलोपवत् श्रेणीसे उत्तर ४५.७.६ में जा पुन ४ था
	६	३६०	सू	१ समय	३६१		सू	३६३	" " ६.७.६४ में " ६ वें १
	६-७	३६४	सू	"	३६५		सू	३६७	" " ६.५.४.५.७ और फिर ६४
	८-१०	३६८	सू	"	३७०		सू	३७१	" " ७.६.४.५.६ " " ७ वें १
उपशमक	११	३७२	सू	मूलोपवत् " ;	३७३		सू	३७५	चक्रकर प्रथम नार उत्तरना श्रेणी से उत्तर पुन उसी सम्यवत्से ऊपर नहीं चढ़ता
सासादन	२	३७५	सू	"	३७६		सू	३७७	गुणस्थान परिवर्तन से मार्गणा नष्ट हो जाती है
सम्यग्मिथ्यास्व मिथ्यावर्शन	३	३७५	सू	"	३७६		सू	३७७	"
	१	३७८	सू	वि=दोषाभाव	३७८		सू	३७८	अन्य गुणस्थानमें संक्रमण नहीं होता
१३ सङ्गी मार्गणा									
सङ्गी सामान्य									
असङ्गी	१	६४	सू	निरन्तर	६४		सू	१४४	असंख्योर्ध्वे भ्रमण संख्योर्ध्वे भ्रमण
सङ्गी	२-७	३७६	सू	"	३७६		सू	३७६	मूलोपवत् पुरुषवत्
	८-११	३८०	सू	"	३८०		सू	३८०	पुरुषवत्
उपशमक	८-११	३८०	सू	"	३८०		सू	३८०	"
सपक	८-१२	३८१	सू	मूलोपवत्	३८१		सू	३८१	मूलोपवत्
असङ्गी	१	३८२	सू	निरन्तर	३८२		सू	३८२	गुणस्थान परिवर्तनका अभाव
१४ आहारक मार्गणा									
आहारक सा									
अनाहारक सा									
आहारक	१	३८४	सू	मूलोपवत्	३८४		सू	३८४	विग्रह गतिमें बिना मोड़को गतिसे भ्रमण

* नोट-ग ल १/६ में द्वितीयोपशमका कथन किया है, यथोक्त प्रथमोपशमसे मिथ्यावकी ओर ले जानेसे मार्गणा विनष्ट हो जाती है। इसके कथनके लिए देखो अंश २/६।

मार्गणा		नाना जीवापेक्षया					एक जीवापेक्षया				
मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण १	जवन्य	अपेक्षा	प्रमाण २	उत्कृष्ट	प्रमाण १	जवन्य	अपेक्षा	उत्कृष्ट	अपेक्षा
आहारक	२	३८५	१ समय	मूलोद्यवत्	३८५	पथ्य/अस	३८७	पथ्य/अस	मूलोद्यवत्	आहारक काल - २ समय या असरयालास उत् अवसरपिणी	२ समय स्थिति माला सासादन मरकर एक विग्रह से उत्पन्न होकर द्वितीय समय आहारक हो तृतीय समय मिथ्यात्वमै गया। परिभ्रमण कर आहारक कालके अन्तमें उप समय को प्राप्त हो आहारक कालका एक समय शेष रहनेपर पुन सासादन।
	३	३८५	१ समय	मूलोद्यवत्	३८५	पथ्य/अस	३८७	अन्तर्मुहूर्त	मूलोद्यवत्	आहारक काल- ६ अर्तुम्. या अस उत् अवसरपिणी	२८/ज वेवामें उत्पन्न हो समयमिथ्या को प्राप्तकर मिथ्यादृष्टि हो आहारक काल प्रमाण भ्रमण कर, उपशम पूर्वक समयमिथ्यात्व धार समय या मिथ्या होकर विग्रह गतिमै गया।
	४	३८८		निरन्तर	३८८	अन्तर्मुहूर्त	३९०	अन्तर्मुहूर्त	"	"-१ अर्तुम्	"
उपशमक	५	३८८		"	३८८	"	३९०	"	"	"	"
	६-७	३८८		"	३८८	"	३९०	"	"	"	"
	८-११	३८९		मूलोद्यवत्	३८९	अन्तर्मुहूर्त	३९३	अन्तर्मुहूर्त	मूलोद्यवत्	"-२ वर्ष-३ अर्तुम्	"
सपक अनाहारक	८-१३	३८९		"	३८९		३९३		"	"-२ वर्ष-क्रमशः (८वें में १२, ६वें में १०, १०वें में ६, ११वें में २)	"
	१२, १४, १३	३८९		कार्मण योगवत्	३८९		३९४		"	"	"
	१४	३८९		मूलोद्यवत्	३८९		३९७		मूलोद्यवत्	"	"

५. कर्मों के बन्ध उदय सख विषयक प्ररूपणा .—

नोट—उस उस विषयकी प्ररूपणाके लिए देखो संकेतित प्रमाण अर्थात् शास्त्रमें वह वह स्थल ।

स	विषय	मूल प्रकृतिकी ओष आवेश प्ररूपणा		उत्तर प्रकृतिकी ओष आवेश प्ररूपणा	
		नाना जीवापेक्षया	एक जीवापेक्षया	नाना जीवापेक्षया	एक जीवापेक्षया
(१)	अष्ट कम प्रकृति बन्धमें				
१	अन्तर —	(म घ पु/सु/पृ)			
१	ज उ	१/३६४-३६०/२५०-२५८	१/८४ १०२/६६-६४		
(२)	अष्ट कर्म स्थिति बन्धमें				
१	अन्तर —	(म घ पु/सु/पृ)			
१	ज उ	२/२०४ २२०/११८-१२६	२/६७-१२६/४६-७७	२/४४४-४६४/२५६-२६०	२/२१७-२६६/३६४-४३६
२	भुजगार	२/३२६-३३६/१६६-१७२	२/२८१-२६४/१५१-१५७	३/७६६-८०६/३८०-३८६	३/७३३-७६३/३३६-३६१
३	वृद्धि	२/४०३-४०४/२०२-२०३	२/३७०-३८२/१८८-१६४	ताड़ पत्र नष्ट हो गये	३/८८२-६१२/४१८-४४४
(३)	अष्ट कर्म अनुभाग बन्धमें				
१	अन्तर —	(म घ पु/सु/पृ)			
१	ज उ	४/२५४-२५८/११६-१२०	४/११८ १७६/४४-७४		
२	भुजगार	४/३०० ३०१/१३८	४/२७३-२८४/१२७-१३१		
३	वृद्धि	४/३३६/१६६	४/३३६/१६३		
(४)	अष्ट कर्म प्रदेश बन्धमें				
१	अन्तर —	(म घ पु/सु/पृ)			
१	ज उ	६/६५-६६/५०-५१	६/६० ६३/४५-४८		६/१४८-२६८/१५४
२	भुजगार	६/१४०-१४१/७६ ७७	६/१०७-१२४/५७ ६५		
३	वृद्धि				
(५)	अष्ट कर्म प्रकृति उदयमें				
१	अन्तर —	(घ पु/पृ)			
१	सामान्य	१५/२८५	१५/२८५	१५/२८८	१५/२८८
(६)	अष्ट कर्म स्थिति उदयमें				
१	अन्तर —	(घ पु/पृ)			
१	ज उ	१५/२६१	१५/२६१	१५/२६५	१५/२६५
२	भुजगार	१५/२६४	१५/२६४	"	"
३	वृद्धि	"	"	"	"
(७)	अष्ट कर्म अनुभाग उदय- में अन्तर —	(घ पु/पृ)			
१	ज उ	१५/२६६	१५/२६६	१५/२६६	१५/२६६
२	भुजगार	"	"	"	"
३	वृद्धि	"	"	"	"
(८)	अष्ट कर्म प्रदेश उदयमें				
१	अन्तर —	(घ पु/पृ)			
१	ज उ	१५/२६६	१५/२६६	१५/३०६	१५/३०६
२	भुजगार	"	"		१५/३२६
३	वृद्धि	"	"		
(९)	अष्ट कम प्रकृति सदीरणा- में अन्तर —	(घ पु/पृ)			
१	ज उ	१५-४६-५०	१५/४६-५०	१५/६८-६७	१५/६८-६७
२	भुजगार	१५/५१-५२	१५/५१-५२	१५/६७	१५/६७
३	वृद्धि				
(१०)	अष्ट कर्म स्थिति सदीरणा- में अन्तर —	(घ पु/पृ)			
१	ज उ	१५/१४१	१५/१३० १३७	१५/१४१	१५/१३०-१३६
२	भुजगार	१५/१६१-१६२	१५/१६१-१६२	१५/१६१-१६२	१५/१६१-१६२
३	वृद्धि				

स	विषय	मूल प्रकृतिकी ओष आदेश प्ररूपणा		उत्तर प्रकृतिकी ओष आवेदा प्ररूपणा	
		नाना जीवापेक्षया	एक जीवापेक्षया	नाना जीवापेक्षया	एक जीवापेक्षया
(११)	अष्ट कर्म अनुभाग उदी- रणामें अन्तर -	(घ पु/पृ)			
१	ज उ			१५/२०८-२१०	१५/१६६-२०३
२	भुजगार			१५/२३६	१५/२३३/२३४
३	वृद्धि				
(१२)	अष्ट कर्म प्रदेश उदीरणा- में अन्तर -	(घ पु/पृ)			
१	ज उ			१५/२६१	१५/२६१
२	भुजगार			१५/२७४	१५/२७४
३	वृद्धि			"	"
(१३)	अष्टकर्म अप्रशस्त उप- शमनामे अन्तर -	(घ पु/पृ)			
१	प्रकृतिके तीनों विकल्प	१५/२७७	१५/२७७	१५/२७८-२८०	१५/२७८-२८०
२	स्थितिके " "	१५/२८१	१५/२८१	१५/२८१	१५/२८१
३	अनुभाग " "	१५/२८२	१५/२८२	१५/२८२	१५/२८२
४	प्रदेश " "				
(१४)	अष्टकर्म सक्रमणमें अन्तर -	(घ पु/पृ)			
१	प्रकृतिके तीनों विकल्प	१५/२८३-२८४	१५/२८३-२८४	१५/२८३-२८४	१५/२८३-२८४
२	स्थितिके " "	"	"	"	"
३	अनुभाग " "	"	"	"	"
४	प्रदेश " "	"	"	"	"
(१५)	म हनीय प्रकृति सत्त्वमें अन्तर -	(क पा पु/वैरापृ/)			
१	राग व द्वेष	१/१३११/४०६-४०७	१/१३३५		
२	सामान्य		२/१६६४/४४	२/१६६४-१८५/१७३-१७५	२/१६६४-१८५/१७३-१७५
३	सत्त्व स्थान			२/१६६४-३८१/३४४-३४६	२/१६६४-३४५/१८१-२६२
४	भुजगार			२/१६६४-४६७/४१६-४२२	२/१६६४-४४२/३६७-४०८
५	वृद्धि			२/१६६४-५३१/४७५/४७८	२/१६६४-५०४/४४६-४५५
(१६)	मोहनीय स्थिति सत्त्वमें अन्तर -	(क पा पु/वैरापृ/)			
१	ज उ स्थिति	३/१८८-२२२/१२३-१२५	३/१८८-१६४/१०८-११०	३/१८८-१६३/८८-६३	३/१८८-६२/४७-५४
२	वृद्धि आदि पद	३/१८८-३४१/१८० १८५	३/१८८-२८६/१४६ १६०		
३	ज उ स्थिति स्वामित्व			३/६७३-७०६/४०६-४२४	३/६७३-४७२/३१६-३४५
४	भुजगार			४/१४३-१६१/७४-८२	४/१४३-१६१/४२ ५०
५	वृद्धि			४/१४३-३५७/२६०-२७४	४/३१५-३५७/१६१-२२१
(१७)	मोहनीय अनुभाग सत्त्वमें अन्तर -	(क पा पु/वैरापृ/)			
१	ज उ	५/११३१-१३७/८५-६०	५/११३०-८१/४३-५२	५/११३१-३१८/२४१-२४६	५/११३०-३२४/२०१-२१३
२	भुजगार	५/११३६/१०६	५/११३७-१५०/६७-६६	५/११३०-५०८/२६५-२६७	५/११३०-५०८/२६०-२६६
३	वृद्धि	५/११३३/१२३-१२४	५/११३७-१७६/११६/११८		
४	वृद्धि आदि पद			५/११३२-५६५/३२६-३२८	५/११३०-५४४/३१२-३१६

६ अन्य विषयों सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणाएँ —

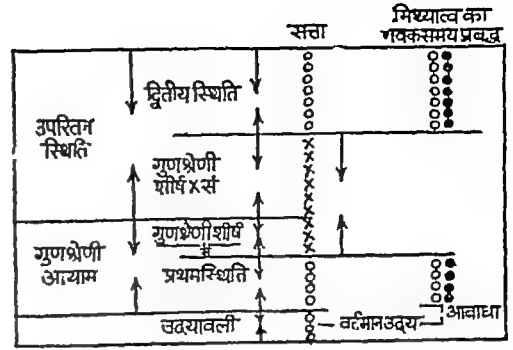
घ ६/४, १, ७१/३७०-४२८ पाँचों शरीरोंके याग्य पुद्गल स्कन्धोंकी उत्कृष्ट अनुकृष्ट जघन्य संघातन-परिशातन व तदुभय कृति सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणा ।

घ १२/४, २, ७, २०१/११४-१२७/१४ जीवसमासोंमें अनुभाग नन्ध स्थानोंके अन्तरका अणु-महुर ।

घ १३/४, ४, ३१/१३२-१७२ प्रयोग कर्म, समवधानकर्म, अध कर्म, तप-कर्म, ईर्यापथ कर्म, और क्रिया कर्ममें १४ मार्गणाओंकी अपेक्षा प्ररूपणा ।

घ १४/४, ६, ११६/१५०-१५१/६ तेह्स प्रकार वर्गणाओंका जघन्य उत्कृष्ट अन्तर ।

घ १४/४, ६ १६७/२८४-३०१/६ पाँचों शरीरोंके स्वामियोंके (२, ३, ४) भगोंका ओघ आदेशसे जघन्य उत्कृष्ट अन्तर ।



४ द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी अपेक्षा अन्तरकरण विधान

घ ६/१, ६-८, १४/२६०/३ तदो अतोमुहुत्त गत्तुण दसणमोहणीयस्स अतर करेदि । त जघा सम्मत्तस्स पढमद्विदिमतोमुहुत्तमेत्त मोत्तुण अंतर करेदि, मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्ताणमुदयावलीय मोत्तुण अतर करेदि । अतरमिह उक्कोरिज्जमाणपदेसग विदियद्विदिमिह ण सल्लहदि, बधाभावाद्दो सव्वमाणेदूण सम्मत्तपढमद्विदिमिह णिक्ख-वदि । सम्मत्तपदेसगमपणो पढमद्विदिमिह चेव सल्लहदि । मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्त-सम्मत्ताणं विदियद्विदिपदेसग आकाद्विदूण सम्मत्त-पढमद्विदिपदेदि, अणुक्कोरिज्जमाणामु द्विदिसु च वेदि । सम्मत्त-पढमद्विदिसमाणामु द्विदिसु द्विद-मिच्छत्त सम्मामिच्छत्तपदेसग सम्मत्तपढमद्विदिसु सकामेदि । जाव अंतरदुच्चरिमफाली पदेदि ताव इमो कमो होदि । पुणो चरिमफाली पदमाणे मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्ताणमतरद्विदिपदेसगं सव्वं सम्मत्तपढमद्विदिपदे सल्लहदि । एवं सम्मत्त-अतरद्विदिपदेस पि अपणो पढमद्विदिपदे वेदि । विदियद्विदिपदेसग पि ताव पढमद्विदिमेदि जाव आवलिय-पडिआवलियाओ पढमद्विदिपदे सेसाओ ति ।—इसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल जाकर दर्शनमोहनीयका अन्तर करता है । वह इस प्रकार है—सम्यक्त्वप्रकृतिकी अन्तर्मुहूर्त मात्र प्रथम-स्थितिकी छोड़कर अन्तर करता है । तथा मिथ्यात्व व सम्यग्-मिथ्यात्व प्रकृतियोंको उदयावलीको छोड़कर अन्तर करता है । इस अन्तरकरणमें उत्कीर्ण किये जानेवाले प्रदेशाग्रको द्वितीय स्थितिमें नहीं स्थापित करता है, किन्तु बन्धका अभाव होनेसे सबको लाकर सम्यक्त्वप्रकृतिकी प्रथमस्थितिमें स्थापित करता है । सम्यक्त्व-प्रकृतिके प्रदेशाग्रको अपनी प्रथम स्थितिमें ही स्थापित करता है । मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिके द्वितीय स्थिति सम्बन्धी प्रदेशाग्रका अपकर्षण करके सम्यक्त्वप्रकृतिकी प्रथम स्थितिमें देता है, और अनुरोक्तमाण (द्वितीय स्थितिकी) स्थितियोंमें भी देता है । सम्यक्त्वप्रकृतिकी प्रथम स्थितिके समान स्थितियोंमें स्थित मिथ्यात्व और सम्यग्-मिथ्यात्व प्रकृतियोंके प्रदेशाग्रको सम्यक्त्वप्रकृतिकी प्रथम स्थितियोंमें सङ्ग-न करता है । जबतक अन्तरकरणकालकी द्विचरम फासी प्राप्त होती है तबतक यही क्रम रहता है । पुन अन्तिम फासीके प्राप्त होनेपर मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियोंके सब अन्तरस्थिति-सम्बन्धी प्रदेशाग्रको, सम्यक्त्वप्रकृतिकी प्रथम स्थितिमें स्थापित करता है । इस प्रकार सम्यक्त्वप्रकृतिके अन्तरस्थिति सम्बन्धी प्रदेशाग्र भी अपनी प्रथम स्थितिमें ही देता है । द्वितीय स्थिति सम्बन्धी प्रदेशाग्र भी तबतक प्रथमस्थितिकी प्राप्त होता है जबतक कि प्रथम स्थितिमें आवली और प्रत्यावली शेष रहती है ।

अन्तरकरण—पूर्वोपार्जित कर्म यथा काल उदयमें आकर जीवके गुणोंका पराभव करनेमें कारण पड़ते रहते हैं । और इस प्रकार जीव उसके प्रभावसे कभी भी मुक्त नहीं हो पाता । परन्तु आध्यात्मिक साधनाओंके द्वारा उनमें कदाचित् अन्तर पड़ना सम्भव है । कुछ काल सम्बन्धी कर्म निपेक अपना स्थान छोड़कर आगे-पीछे हो जाते हैं । उस कालसे पूर्व भी कर्मोंका उदय रहता है और उस कालके पीछे भी । परन्तु उतने काल तक कर्म उदयमें नहीं आता । कर्मके इस प्रकार अन्तर उत्पन्न करनेको ही अन्तरकरण कहते हैं । इसी विषयका कथन इस अधिकांशके अन्तर्गत किया गया है ।

१. अन्तरकरण विधान

१ अन्तरकरणका लक्षण

ल सा/भाषा ८४/११६ विवक्षित कोई निपेकनिका सर्वं ब्रह्म कौ अन्य निपेकनिविर्षे निक्षेपण करि तिनि निपेकनिका जो अभाव करना सो अन्तरकरण कहिये ।

२. प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी अपेक्षा अन्तरकरण-विधान

घ ६/१, ६-८, १३१/१४/विशेषार्थ—अन्तरकरण प्रारम्भ करनेके समयसे पूर्व उदयमें आनेवाले मिथ्यात्व कर्मकी अन्तर्मुहूर्त प्रमित स्थितिकी उल्लेखन कर उससे ऊपरकी अन्तर्मुहूर्त प्रमित स्थितिके निपेकोंका उत्कीर्ण कर कुछ कर्म प्रदेशोंको प्रथम स्थितिमें क्षेपण करता है और कुछको द्वितीय स्थितिमें । अन्तरकरणसे नीचेकी अन्तर्मुहूर्त प्रमित स्थितिकी प्रथम स्थिति कहते हैं, और अन्तरकरणसे ऊपरकी स्थितिकी द्वितीयस्थिति कहते हैं । इस प्रकार प्रतिसमय अन्तरायाम सम्बन्धी कर्म प्रदेशोंको ऊपर नीचेकी स्थितियोंमें तबतक देता रहता है जबतक कि अन्तरायाम सम्बन्धी समस्त निपेकोंका अभाव नहीं हो जाता है । यह क्रिया एक अन्तर्मुहूर्त कालतक जारी रहती है । जब अन्तरायामके समस्त निपेक ऊपर या नीचेकी स्थितिमें दे दिये जाते हैं और अन्तरकाल मिथ्यात्व स्थितिके कर्म निपेकोंसे सर्वथा शून्य हो जाता है तब अन्तर कर दिया गया ऐसा समझना चाहिए । वि दे (घ. ६/१, ६-८, १३१/३), (ल सा/मू ८४-८६/११६-१२१)

३ प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी अपेक्षा अन्तरकरणकी

सदृष्टि व यन्त्र

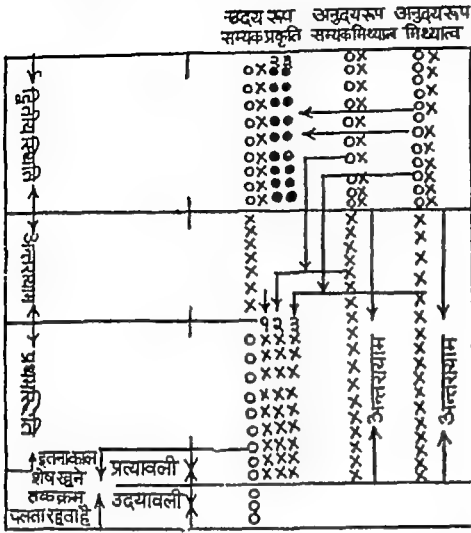
उदयागत निपेक—०

सत्तास्थित निपेक—०

उत्कीर्ण निपेक—×

निक्षिप्त निपेक—●

५ द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी अपेक्षा अन्तरकरणकी सद्दृष्टि व य



६ चारित्र्यमोहके उपशमकी अपेक्षा अन्तरकरण विधान

द्वितीयोपशमकी भाँति यहाँ भी दो प्रकारकी प्रकृतियों उपलब्ध हैं—उदयरूप, अनुदयरूप। इसके अतिरिक्त यहाँ एक विशेषता यह है कि यहाँ साथ-साथ चारित्र्य मोहकी किन्हीं प्रकृतियोंका नवीन बन्ध भी हो रहा है और किन्हींका नहीं भी हो रहा है।

हम देशघातो करणसे ऊपर सरम्भात हजार स्थितिबन्धके पश्चात् मोहनीयकी २१ प्रकृतियोंका अन्तरकरण करता है। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभमें कोई एकके, तथा तीनों वेदोंमें किसी एकके उदय सहित श्रेणी चढ़ता है। इन उदय रूप दो प्रकृतियोंको तो प्रथम स्थिति अन्तर्मुहूर्त स्थापित है और अनुदय रूप १६ प्रकृतियोंकी प्रथम स्थिति आवली मात्र (उदयावली) स्थापित है। इन प्रथम स्थिति प्रमाण निपेकोंको नीचे छोड़ ऊपरके निपेकोंका अन्तरकरण करता है ऐसा अर्थ जानना। क्रम बिलकुल द्वितीयोपशमके समान ही है।

अन्तरके अर्थ उत्कीर्ण किये द्रव्यका अन्तरायाममें नहीं देता है। फिर किसमें देता है उसे कहते हैं। जिनका उदय नहीं होता केवल बन्ध ही होता है उन प्रकृतियोंके द्रव्यको उत्कर्षण करके तत्काल बँधनेवाली अपनी प्रकृतिकी आभाधाको छोड़कर, द्वितीय स्थितिके प्रथम समयसे लगाकर यथायोग्य अन्तर्पणसे निक्षेपण करता है, और अपकर्षण करके उदय रूप जो अन्य कथाय उसकी प्रथम स्थितिमें निक्षेपण करता है।

जिन प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता केवल उदय ही होता है, उनके द्रव्यका अपकर्षण करके अपनी प्रथम स्थितिमें देता है। और उत्कर्षण करके, जहाँ अन्य कथाय बँधती हैं उनकी द्वितीय स्थितिमें देता है, तथा अपकर्षण द्वारा उदय रूप अन्य क्रोधादि कथायकी प्रथम स्थितिमें सक्रमण करके उदय प्रकृति रूप भी परिणमाता है।

जिन प्रकृतियोंका बन्ध भी है और उदय भी है, उनके 'अन्तर' सम्बन्धी द्रव्यको अपकर्षण करके उदय रूप प्रथम स्थितिमें देता है तथा अन्य प्रकृति परिणमने रूप सक्रमण भी होता है। और उत्कर्षण करके जहाँ अन्य प्रकृति बँधती हैं उनकी द्वितीय स्थितिमें देता है।

बन्ध और उदय रहित प्रकृतियोंके अन्तर सम्बन्धी द्रव्यको अपकर्षण करके उदय रूप प्रकृतिकी प्रथम स्थितिमें सक्रमण कराता है वा तद्रूप परिणमाता है। और उत्कर्षण करके अन्य बँधनेवाली प्रकृतियोंकी द्वितीय स्थिति रूप सक्रमण कराता है।

इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तकाल तक अन्तर करने रूप क्रियाकी समाप्ति होती है। जब उदयावलीका एक समय व्यतीत होता है, तब गुणश्रेणीका एक समय उदयावलीमें प्रवेश करता है, और तब ही अन्तरायामका एक-एक समय गुणश्रेणीमें मिलता है, और द्वितीय स्थितिका एक समय अन्तरायाममें मिलकर द्वितीय स्थिति घटती है। प्रथम स्थिति और अन्तरायाम उत्तनाका उत्तना ही रहता है। (विशेष दे—ल सा/मू व जी प्र २४१-२४७ / २६७-३०४)

७ चारित्र्यमोह क्षणकी अपेक्षा अन्तरकरण विधान

चारित्र्यमोह उपशम विधानवत् देशघातो करण तै परं २ त्वात् हजार स्थिति काण्डकी पश्चात् चार संज्वलन और नव नोयपायका अन्तर करता है। अन्तरकरण कालके प्रथम समयमें पूर्वसे अन्य प्रमाण लिये स्थितिकाण्डक अनुभाग काण्डक स्थिति बन्ध होता है। प्रथम समयमें उन निपेकोंके द्रव्यको अन्य निपेकोंमें निक्षेपण करता है।

संज्वलन चतुष्कमें से कोई एक, तीनों वेदोंमें से कोई एक ऐसे दो प्रकृतिकी तो अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थिति स्थापित है। इनके अतिरिक्त जिनका उदय नहीं ऐसी १६ प्रकृतियोंकी आवली मात्र स्थिति स्थापित है। वर्तमान सम्बन्धी निपेकसे लगाकर प्रथम स्थिति प्रमाण निपेकोंको नीचे छोड़ इनके ऊपरके निपेकोंका अन्तर करता है।

असम्पातगुणा क्रम लिये अन्तर्मुहूर्तमात्र फालियोंके द्वारा सर्व द्रव्य अन्य निपेकोंमें निक्षेपण करता है। अन्तर रूप निपेकोंमें क्षेपण नहीं करता। कहाँ निक्षेपण करता है उसे कहते हैं।

बन्ध उदय रहित वा केवल बन्ध सहित उदय रहित प्रकृतियोंके द्रव्यको अपकर्षण करके उदयरूप अन्य प्रकृतियोंकी प्रथम स्थितिमें सक्रमण रूप निक्षेपण करता है। बन्ध उदय रहित प्रकृतियोंके द्रव्यको द्वितीय श्रेणीमें निक्षेपण नहीं करता है क्योंकि बन्ध बिना उत्कर्षण होना सम्भव नहीं है। केवल बन्ध सहित प्रकृतियोंके द्रव्यका उत्कर्षण करके अपनी द्वितीय स्थितिमें देता है वा बँधनेवाली अन्य प्रकृतियोंकी द्वितीय स्थितिमें सक्रमण रूपसे देता है।

केवल उदय सहित प्रकृतियोंके द्रव्यको अपकर्षण करके प्रथम स्थितिमें देता है और अन्य प्रकृतियोंके द्रव्यको भी इनकी प्रथम स्थितिमें सक्रमण रूप निक्षेपण करता है। इनका द्रव्य है सो उत्कर्षण करके बन्धनेवाली अन्य प्रकृतियोंकी द्वितीय स्थितिमें निक्षेपण करता है। केवल उदयमान प्रकृतियोंका द्रव्य अपनी द्वितीय स्थितिमें निक्षेपण नहीं करता है।

बन्ध उदय सहित प्रकृतियोंके द्रव्यको प्रथम स्थितिमें वा बन्धती द्वितीय स्थितिमें निक्षेपण करता है। विशेष दे—ल सा भाषा ६३३-६३६/६१३)

२ अन्तरकरण सम्बन्धी नियम

१ अन्तरकरणकी निष्पत्ति अनिद्वैतिकरणके कालमें होती है

घ ६/१,६-८ ६/२१/३ कम्ह अन्तर करेदि। अणियट्टीअक्षार संखेज्जे भागे गत्तु। =शका—किसमें अर्थात् कहाँपर या किस करणके कालमें अन्तर करता है। उत्तर—अनिद्वैतिकरणके कालमें सरयात भाग जाकर अन्तर करता है। (ल सा मू ८४/११८)

२ अन्तरकरणका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है

ल सा मू ८६/११६ एयट्टिदिखड्डकीरणकाले अतरस्स निष्पत्ति। अतोयुहुत्तेत्ते अतरकरणस्स अद्वान ॥ ८६ ॥ =एक स्थिति तण्डो-स्कीरण काल विषे अन्तरकी निष्पत्ति हो है। एक स्थिति काण्डो-स्कीरणका जितना काल तितने काल करि अन्तर करे है। याकी अन्तरकरण काल कहिए है, सो यह अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

३ अन्तरायाम भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही होता है

ल सा/जी/प्र २४३/२६६ पर्वविधा तरायामप्रमाणं च ताम्हां धाम्मा-

मन्तुर्मुहूर्तविलमाप्नोम्यां प्रथमस्थिती साम्यां संख्यातगुणितमेव भवति । —बहुरि अन्तर्मुहूर्त वा आवलीमात्र जो उदय अनुदय प्रकृतिनिकी प्रथम स्थिति ताते सरयातगुणा ऐसा अन्तर्मुहूर्त मात्र अतरायाम है ।

४ अन्तर पूरण करण

च सा मू १०३/१३६ उवसमसम्मत्तुवरि दसनमोहं तुरत पूरेदि । उदयिल्लसुदयादो सेसाण उदयबाहिरक्षो ॥१०३॥ —उपशम सम्यक्सत्त्वके ऊपरि ताका अन्त समयके अनन्तरि दशन माहकी अन्तरायामके उपरिवर्ती जो द्वितीय स्थिति ताके निपेकनिका द्रव्य कौ अपकर्षण करि अतर कौ पूरे है ।

अतरकृष्टि—दे 'कृष्टि' ।

अतरद—एक ग्रह—दे 'ग्रह' ।

अतरात्मा—बाह्य विषयोंसे जीवकी दृष्टि हटकर जब अन्तरकी ओर झुक जाती है तब अन्तरात्मा कहलाता है ।

१ अन्तरात्मा सामान्यका लक्षण

मो पा मू ५ अक्खाणि बाहिरप्पा अतरअप्पा हु अप्पसकप्पो । —इन्द्रियनिकू बाह्य आत्मा कहिए । उसमें आत्मत्वका स्वरूप करे सो बहिरारामा है । बहुरि अन्तरारामा है सो अन्तर ग विषे आत्माका प्रगट अनुभवगोचर स्वरूप है । (द्र स टी १४/४६/८)

नि सा मू १४६-१५०/३०० आवागमण जुत्तो समणो सो हादि अतरगप्पा । ॥१४६॥ —जन्मेसु जो ण नट्टइ सो उच्चइ अतरगप्पा ॥१५०॥ —आवश्यक सहित भ्रमण वह अन्तरारामा है ॥१४६॥ जो जन्मोंमें नहीं बतता, वह अन्तरात्मा कहलाता है ॥१५०॥

र सा मू १४९ सिबिणे वि ण भुज्ज विसयाइ देहाइभिणभावमई । भुज्ज णियप्पवुवो सिवसुहरत्ता दू मज्झिमप्पो सो ॥१४९॥ —देहादिक-से अपनेको भिन्न समझनेवाला जो व्यक्ति स्वप्नमें भी विषयोंको नहीं भोगता, परन्तु निजआत्माको ही भोगता है, तणा शिव सुखमें रत रहता है वह अन्तरात्मा है ।

प प्र मू १४/२१/१३ वेह विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु गिएइ । परम-समाहि-परिड्डियउ पडिउ सो जि हवैइ ॥१४॥ —जो पुरुष परमात्माको शरीरसे जुदा केवलज्ञान कर पूर्ण जानता है, वही परम समाधिमें निष्ठता हुआ अन्तरारामा अर्थात् विवेकी है ।

घ १/१,१,२/१२०/५ अहु-कम्मभ्रतरो चि अतरप्पा । —आठ कर्मोंके भीतर रहता है इसलिए अन्तरात्मा है । (म पु २४/१०३,१०७)

झा सा ३१ धर्मध्यान ध्यायति दर्शनज्ञानयो परिणत नित्यम् । स भण्यते अन्तरारामा लक्षणे ज्ञानवद्वि ॥३१॥ —जो धर्मध्यानको ध्याता है, नित्य दर्शन व विज्ञानसे परिणत रहता है, उसको अन्तरारामा कहते हैं ।

का अ मू १६४ जे जिण-वयणे कुसला मेयं जाणति जीवदेहाण । जिज्जिय-पुट्टु-ममा अतरअप्पा य ते तिविहा ॥१६४॥ —जो जिन-वचनोंमें कुशल हैं, जीव और देहके भेदको जानते हैं, तथा जिन्होंने आठ पुट्ट मर्दोंको जीत लिया है वे अन्तरारामा हैं ।

२ अन्तरात्माके भेद

प्र स टी १४/४६ अविरतगुणस्थाने तथोग्याशुभलेश्यापरिणतो जघन्या-न्तरारामा क्षीणकषायगुणस्थाने पुनरुत्कृष्ट, अविरतक्षीणकषाययो-र्मध्ये मध्यम । —अविरत गुणस्थानमें उसके योग्य अशुभ लेश्यासे परिणत जघन्य अन्तरारामा है, और क्षीणकषाय गुणस्थानमें उत्कृष्ट अन्तरारामा है । अविरत और क्षीणकषाय गुणस्थानोंके बीचमें जो सात गुणस्थान हैं सो उनमें मध्यम अन्तरारामा है । (नि सा ता वृ १४६में 'मार्ग प्रकाश'से उद्धृत)

स श मा ४ अन्तरात्माके तीन भेद हैं—उत्तम अन्तरारामा, मध्यम अन्तरारामा, और जघन्य अन्तरारामा । अन्तर ग-बहिर ग परिग्रहका

रयाग करनेवाले, विषय कषायोंको जीतनेवाले और शुद्धोपयोगमें लीन होनेवाले तत्त्वज्ञानी योगीश्वर 'उत्तम अन्तरारामा' कहलाते हैं, देश-व्रतका पालन करनेवाले गृहस्थ तथा छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि 'मध्यम अन्तरारामा' कहे जाते हैं और तत्त्व श्रद्धाके साथ व्रतोंको न रखनेवाले अविरत सम्यग्दृष्टि जीव 'जघन्य अन्तरारामा' रूपसे निर्दिष्ट है ।

३ अन्तरात्माके भेदोंके लक्षण

का अ मू १६५-१६७ पच-महन्वय जुत्ता धम्मं सुवके वि सठिदा णिच्च । णिज्जिय-सयल-पमाया, उल्लिखिता अतरा होंति । सावयगुणेहि जुत्ता पमत्त-विरदा य मज्झिमा होंति । जिणहवणे अणुरत्ता उवसमसोला महासत्ता ॥१६६॥ अविरय-सम्मादिट्ठो होंति जहण्णा जिणिदपय-भत्ता । अप्पाणं णिदत्ता गुणगहणे सुट्ठु अणुरत्ता ॥१६७॥ —जा जीव पाँचों महावर्तोंसे युक्त होते हैं, धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यानमें सदा स्थित रहते हैं, तथा जो समस्त प्रमादोंको जीत लेते हैं वे उत्कृष्ट अन्तरारामा हैं ॥१६६॥ भावकके व्रतोंको पालनेवाले गृहस्थ और प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि 'मध्यम अन्तरारामा' होते हैं । ये जिनवचनमें अनुरक्त रहते हैं उपशमस्वभावी होते हैं और महापराक्रमी होते हैं ॥१६६॥ जो जीव अविरत सम्यग्दृष्टि हैं वे जघन्य अन्तरारामा हैं । वे जिन भगवाद्के शरणोंके भक्त होते हैं, अपनी निन्दा करते रहते हैं और गुणोंको ग्रहण करनेमें बड़े अनुरागी होते हैं ॥१६७॥

नि सा टी १४६ में 'मार्ग प्रकाश'से उद्धृत—जघन्यमध्यम उत्कृष्ट-भेदादविरत सुट्ठु । प्रथम क्षीणमोहोन्त्या मध्यमो मध्यमस्तयो । —अन्तरारामाके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे (तीन) भेद हैं । अविरत सम्यग्दृष्टि वह प्रथम (जघन्य) अन्तरारामा है । क्षीणमोह अन्तिम अर्थात् उत्कृष्ट अन्तरारामा है और उन दोके मध्यमें स्थित मध्यम अन्तरारामा है ।

द्र स टी १४/४६/२—दे ऊपरवाला शीर्षक स २ ।

* जीवको अन्तरात्मा कहनेकी विवक्षा—दे जीव १/३ ।

अतराय—अन्तराय नाम विघ्नका है । जो कर्म जीवके गुणोंमें बाधा डालता है, उसको अन्तराय कर्म कहते हैं । साधुओंकी आहारचर्यामें भी कदाचित् बाल या चोंटी आदि पड़ जानेके कारण जो बाधा आती है उसे अन्तराय कहते हैं । दोनों ही प्रकारके अन्तरायोंके भेद-प्रभेदोंका कथन इस अधिकारमें किया गया है ।

१ अन्तराय कर्म

१ अन्तराय कर्मका लक्षण

त सु ६/२७ विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥२७॥ —विघ्न करना अन्तराय-का कार्य है । (स सि ६/१०/३२७) (रा वा ६/१०/४/१७/१७) (घ १३/५/५,१३७/३६०/४) (गो क/जी प्र ८००/६७८/८) स सि ८/१३/३६४ दानादिपरिणामव्याघातहेतुत्वात्तद्व्यपदेश । —दानादि परिणामके व्याघातका कारण होनेसे यह अर्थात् अन्तराय सत्ता मिली है ।

घ १३/५/५,१३७/३६६/१२ अन्तरमेति गच्छतीत्यन्तराय । —जो अन्तर अर्थात् मध्यमें जाता है वह अन्तराय कर्म है ।

२ अन्तराय कर्मके भेद

च सु ८/१३ दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् । —दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इनके पाँच अन्तराय हैं । (द्र आ १३३४) (प सं प्रा २/४) (प ख ६/१,६-१/सु ४६/७८), (प ख १२/२४,१४/२२/४८५) (घ १३/५/५,१३७/३८६/६) (प सं २/३३४), (गो क/जी प्र ३३/२७/२)

३ दानादि अन्तराय कर्मोंके लक्षण

स सि ८/१३/३६४/६ यदुदयादादुत्कामोऽपि न प्रमच्छति, लभ्यु-कामोऽपि न लभते, भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते, उपभोक्तुमिवा-

छत्रापि नोत्पद्यते, उरसाहिनुत्तमोऽपि मोरसाहो।—जिनके उदगरो
वेनेकी इच्छा करता हुआ भी नहीं होता है, प्राण वगैरे की इच्छा
करता हुआ भी नहीं कर पाता है, भोगवी की इच्छा करता हुआ भी
नहीं भोग सकता है, और उरसाहित होगे की इच्छा रखता हुआ भी
उरसाहित नहीं होता है। (रा मा ८/१३/२/१८०/३२) (गो प /
जी प्र ३३/३०/१८)

४ अन्तराय कर्मका कार्य

मो मा प्र ५/५६ अन्तर्गत वर्ग उदगमे जीव चाही ना न होय ।

सहुरि तिगहोका भगोपशमनै किंविद्य गात्र बाहा भी होग ।

५ अन्तराय कर्मके बन्ध योग्य परिणाम

त सू ६/२७ विघ्नहरणमन्त्रागस्त्य ॥ २७ ॥ अदातादिमे विघ्न हानमा
अन्तराग कमका आतय है ।

तथा व ४/३९/१/३३१/१० तद्विस्तारस्तु विनियते - ह्यानप्रतिषेधनरागाग्रा
घ, त इना नामभोगाग्राभागेनोर्म्यतानातुषेवणनग्नमाग्राघाच ३५३ विष्णु
पणक्षयनासनभक्ष्यभाजयेयनह्यपरिभागविघ्नवरण - विभक्ष्यसमृद्धि -
विस्मय - द्रव्यापविरयाम - द्रव्या उपभोगसमर्थतावभावाच्चाद - देवता
निवेद्यानिवेद्यप्रण - निगृह्यानिगृह्यपरिवरयाम - गम्योपागृहण धर्मधमन
च्छेदनवरण - तुलनाचरणतापदिश्वगुरुरैरयपूजाठगाघात - प्रमजितवृण -
दोनानाथययवाप्रवसिधमप्रतिषेधक्रियायाग निरोधमन्धनग्राह्यग्राह्य -
कण - नासिक्तोष्ठयत पाणिघघादि । - उताग विग्राह इम प्रका
ह - ह्यानप्रतिषेध, मरगाराघघात, दाग, साग भाग, लाभाग और
वीर्य, स्नान अनुलेपन, गन्ध मास्य, आच्छादग धूपन शय्या, आभरा
भक्ष्य, भाज्य, पेय, लेह और परिभाग आदिमें विघ्न करना, विभक्ष
समृद्धिमें विस्मय करना, द्रव्यका रयाग न करना द्रव्यम उपयोगमें
समर्थनमें प्रमाद करना, अवगताद करना, देवतामें निष् निवेदित गा
अनिवेदित द्रव्यग्राह्य प्रण करता निर्दोष उपकरणोंका रयाग, दूषण-
को दाक्षिणा अपहरण, धर्म व्यवच्छेद करना वृक्षत पाग्रिप्रवा
तपस्त्रो, गुरु तथा चरमको पूजामें ठवाघात करता दीक्षित, वृष
कीन, अनाथको दिये जानेवाले वग पात्र, आश्रम आदिमें विघ्न
करना पर निरोध, मन्धन, गृह्य अगच्छेद, ताग ओठ आदिका
काट देना, प्राणिवध आदि अत्युग्रम कर्ममें आमयके कारण है ।
(त सा ४/४४ ४८) (गा क/जो पृ ८९०/८४४)

૨ આહાર સમ્બન્ધી અન્તરાય

१ आवश्यक सम्बन्धी पचेन्द्रियगत अन्तराय

१ सामान्य ६ भेद

सा म ६/२५० दर्शनाश्रयशानाच्चैव मनसि मग्नगणपि । श्रवणाह-
गन्धनाद्यापि रसनादन्तरागका ॥२४॥ — श्रावक के लिए भोजन के
अन्तराग कई प्रकार के हैं । कितने ही अन्तराग देखने से होते हैं,
कितने ही छूने से या स्पर्श करने से होते हैं, कितने ही मन में मग्न
कर देने मात्र से होते हैं, कितने ही सुनने से होते हैं, कितने ही स्मरण से
होते हैं और कितने ही अन्तराग चलने या स्नायु से भी अथवा
बाने मात्र से होते हैं ।

२ स्पर्शन मन्त्र वी अतगय

सा घ ४/३१ स्पृष्ट्वा रजस्वलाशुष्कचर्मास्थिशुनकादिवम् । ३१ । -
रजस्वला यो, सूखा चमड़ा, सूखी हड्डी, वृत्ता, गिल्ली और घाण्डाल
आदिका स्पर्श हो जानेपर आहार छोड़ देना चाहिए ।

सा सं ५/२४२.२४० शुद्धचर्मस्थितोमादिस्पर्शान्नायैव भोजयेत् । मृग
कादिपशुस्पर्शात्प्रेजेदाहारमग्नसा ॥२४२॥ — सुखा चमडा, सुखी हड्डी,
मालादिका स्पर्श हो जानेपर भोजन नहीं करना चाहिए । इसी
प्रकार चूहा, कुत्ता, मियाँ आदि शास्त्र चमड़ोंका स्पर्श हो जानेपर
शीघ्र ही भोजनका त्याग करना चाहिए ॥ २४२ ॥

नोट—और भी देवो आहारके १४ मल दोष—दे आहार II/४।

३ रम्या मन्त्र-गी आराम

[illegible][illegible]

४ गन्ध गन्ध ही जन्तुता

ना. म. ४/२३ गणनात्मक वित्त प्रणाली पर हलकों। अतः म. - म. - म. -
 च ना. न. भुजित दा. वि. १/२३। - भा. ग. अ. त. र. म. - म. - म. -
 को जानने के लिये दा. वि. १/२३। म. - म. - म. - म. - म. -
 म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. -
 म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. - म. -

५ दृष्टि गा दशनं मम्य यो अ तराव

मा भ ४/११ दृष्टादि चर्मादि,सुरमादि,साम्प्रदायिकप्रवृत्तयः ६११- गान्धा
चमडा, गीनी हड्डी, गडिग मात, मादू तथा पाषाणि परावर्ति
देवक्य उगी सम्य भाजन कोट्ट देना पाहिण । मा पट्टे गीग जाडे-
पय उगी भमय भोजन तकये मुद मास पडे जरना पाहिण
(मा भ ४/३४१) ।

पा पा टी २१/३१/१५ अष्टपुष्पगमामरतत्त्वमनमूमृतादिरतिता
 प्रमारागतागमेवाया शानादिदशोत्तरादिसदृशमन रुम ज्ञा ए उ ए
 - हृष्टी मय चमडा रस, पीय, मल, मूय मूतष मनुग इन पराधी-
 के दोख पड़ोपर तथा राग रि। हृष्ट असादिवा मया हो जोपर
 अया पाछाण आदिके दियाई के जोपर मा उमका सद्रु मानमे
 पड़ जावेपर भाजन त्याग दना चाहिए। कौमि मे सम दर्शन-
 प्रतिमाके अतिचार हिए।

६ श्रौत गम्वन्वी अन्तगय

सा ध ४/३२ भूता चर्मशास्त्रदिग्दर्शकगिरिरदन । ३६ । -

‘इसका मस्तक काटो इत्यादि रूप कठोर शब्दोंको, ‘हा हा’ इत्यादि रूप आतंस्वर वाले शब्दोंको और परचक्रके आगमनादि विषयक बिह्वरप्राय शब्दोंको सुन करके भाजन त्याग देना चाहिए।

चा पा टो २१/४३/१६ चाण्डालादिदर्शनात्तच्छब्दश्रवणाच्च भोजन त्यजेत् । = चाण्डालादिके दिखाई दे जानेपर, या उसका शब्द कानमें पड़ जानेपर आहार छोड़ देना चाहिए।

ला सं ४/२४८-२४९ श्रवणाद्विषयक शब्द मारयामीति शब्दवत् । दग्धो मृत स इत्यादि श्रुत्वा भोज्यं परित्यजेत् ॥ २४८ ॥ शाकाश्रित वच श्रुत्वा मोहाद्वा परिश्वेनम् । दोन भयानक श्रुत्वा भोजन स्वरितं त्यजेत् ॥ २४९ ॥ = मैं इसको मारता हूँ’ इस प्रकारके हिंसक शब्दोंको सुनकर भोजनका परित्याग कर देना चाहिए। अथवा शोकसे उत्पन्न होनेवाले वचनोंका सुनकर वा किसीके मोहसे अत्यन्त रौनेके शब्द सुनकर अथवा अत्यन्त दानताके वचन सुनकर वा अत्यन्त भयंकर शब्द सुनकर शीघ्र ही भोजन छोड़ देना चाहिए।

७ मन सम्बन्धी अन्तराय

सा घ ४/३३ । इदं मांसमिति वदसकृपे चाशर्त्तं त्यजेत् ॥ ३३ ॥ = यह पदार्थ (जैसे तरबूज) मांसके समान है अर्थात् वैसी ही आकृति-का है इस प्रकार भक्ष्य पदार्थमें भी मनके द्वारा सकृप हो जानेपर निस्सन्देह भोजन छोड़ दे।

सा सं ४/२५० उपमानोपमेयाभ्यां तद्विदं पिशितादिवत् । मन-स्मरणमात्रत्वात्कृत्स्नमन्नादिकं त्यजेत् ॥ २५० ॥ = यह भोजन मांसके समान है वा रुधिरके समान है’ इस प्रकार किसी भी उपमेय वा उपमानके द्वारा मनमें स्मरण हो जावे तो भी उसी समय समस्त जलपानादिका त्याग कर देना चाहिए ॥ २५० ॥

२ साधु सम्बन्धी अन्तराय

मू आ मू ४६५-५०० कागामेज्जा छद्दो रोहणं रुहिरं च अस्सुवाधं च । जण्हूहिट्टामरिसं जण्हुवरिं वदिसकमो चेव ॥ ४६५ ॥ पाणि अधो-णिग्गमणं पच्चिखयसेवणाय जत्तुवहो । कागादिपिण्डहरणं पाणीदो पिण्डपट्ठणं च ॥ ४६६ ॥ पाणीए जत्तुवहो मांसादीदसणे य उवसग्गो । पादतरम्मि जीवो सपादो भोयणाणं च ॥ ४६७ ॥ उच्चारं पस्सवणं अभोजजिह्वपवमणं तहा पट्ठणं । उवसेसणं सद्दंसं भूमिसफास-णिट्ठवणं ॥ ४६८ ॥ उदरक्किमिणिग्गमणं अदत्तगहणं पहारगामहाहो । पादेणं किंचिं गहणं करेण वा ज च भूमि ॥ ४६९ ॥ एदे अण्णे बहुगा कारणभूदा अभोयणसेह । सीहणलोगवुगछणसजमणिज्वेदणद्वं च ॥ ५०० ॥ = साधुके चलते समय वा खड़े रहते समय ऊपर जो कौआ आदि चोट करे तो वह काक नामा भाजनका अन्तराय है। अशुचि वस्तुसे चरण लिप्त हो जाना वह अमेध्य अन्तराय है। वमन होना छद्दि है। भोजनका निषेध करना रोध है, अपने या दूसरेके लोहू निकलता देखना रुधिर है। दु खसे आँसू निकलते देखना अश्रुपात है। पैरके नीचे हाथसे स्पर्श करना जान्वध परामर्श है। तथा घुटने प्रमाण काठके ऊपर उलट जाना वह जानुपरि व्यक्तिक्रम अन्तराय है। नाभिसे नीचा मस्तक कर निकलना वह नामधोनिर्गमन है। त्याग की गयी वस्तुका भक्षण करना प्रयात्यातसेवना है। जीव बध होना जन्तुबध है। कौआ ग्रास ले जाये वह काकादिपिण्डहरण है। पाणिपात्रसे पिण्डका गिर जाना पाणित पिण्डपतन है। पाणिपात्रमें किसी जन्तुका मर जाना पाणित जन्तुबध है। मांस आदिका दीखना मांसादि दर्शन है। देवादिकृत उपसर्गका होना उपसर्ग है। दोनों पैरोंके बीचमें कोई जीव गिर जाये वह जीवसपात है। भोजन देनेवालेके हाथसे भोजन गिर जाना वह भोजनसपात है। अपने उदरसे मल निकल जाये वह उच्चार है। मूत्रादि निकलना प्रसवण है। चाण्डालादि अभाज्यके घरमें प्रवेश हो जाना अभोज्यगृह प्रवेश है। दूधछादिसे आप गिर

जाना पतन है। घंटा जाना उपवेशन है। कुत्तादिका काटना संदश है। हाथसे भूमिको छूना भूमिस्पर्श है। बर्फ आदि मलका फेंकना निश्रीवन है। पेटसे कुमि अर्थात् कीड़ोंका निकलना उदरकुमिनिर्गमन है। मिना दिया किंचित् ग्रहण करना अदत्तग्रहण है। अपने व अन्यके तलब आदिसे प्रहार हो तो प्रहार है। ग्राम जले ता ग्रामदाह है। पाँव द्वारा भूमिसे कुछ उठा लेना वह पादेन किंचित् ग्रहण है। हाथ-द्वारा भूमिसे कुछ उठाना वह करेण किंचित् ग्रहण है। ये काकादि २२ अन्तराय तथा दूसरे भी चाण्डाल स्पर्शादि, कलह, श्टमरणादि बहुतसे भोजन त्यागके कारण जानना। तथा राजादिका भय होनेसे, लोकनिन्दा होनेसे, समयके लिए, वैराग्यके लिए, आहारका त्याग करना चाहिए ॥ ४६५-५०० ॥ (अन घ ४/४२ ६०/५१०)

३ भोजन त्याग योग्य अवसर

मू आ ४८० आवके उवसग्गे तिरक्खणे यमचेरगुत्तीओ । पाणिदया-तवहेऊ सरीरपरिहारवेच्छेदो । = व्याधिके अक्स्मात् हो जानेपर, देव मनुष्यादि कृत उपसर्ग हा जानेपर उत्तम ममा धारण करनेके समय, ब्रह्मचर्य रमण करनेके निमित्त, प्राणियोंकी दया पालनके निमित्त, अनशन तपके निमित्त, शरीरसे ममता छोड़नेके निमित्त इन छ कारणोंके होनेपर भोजनका त्याग कर देना चाहिए।

अन घ ४/६४/५५८ आवड्के उपसर्गे ब्रह्मचर्यस्य गुणये । काय-कार्यतप प्राणिदयाद्यर्थं चानाहरेत् ॥ ६४ ॥ = किसी भी आकस्मिक व्याधि-मारणान्तिक प’द्वाके उठ खड़े होनेपर, देवादिकके द्वारा किये उत्पातादिकके उपस्थित होनेपर, अथवा ब्रह्मचर्यको निर्मल बनाये रखनेके लिए यद्वा शरीरकी कृशता तपश्चरण और प्राणिरक्षा आदि धर्मोंकी सिद्धिके लिए भी साधुओंका भोजनका त्याग कर देना चाहिए।

४ एक स्थानसे उठकर अन्यत्र चले जाने योग्य अवसर

अन घ ६/६४/६२५ प्रसाख्यं वरी मोनेनान्यत्रार्थाद्द्विज्जेयदेवाद्यात् । चतुरङ्कुलान्तरसमक्रमं सहाज्जजिघ्रुस्तद्वेव भवेत् ॥ ६४ ॥ = भाजनके स्थानपर यदि कीड़ी आदि तुच्छ जीव-जन्तु चलते-फिरते अधिक नज़र पड़े, या ऐसा ही कोई दूसरा निमित्त उपस्थित हो जाये तो सर्वाभ्यासोंका हाथ धोकर वहाँसे दूसरी जगहके लिए आहारार्थ मोन पूर्वक चले जाना चाहिए। इसके सिवाय जिस समय वे अनगर श्रुति भोजन करें उसी समय उनको अपने दोनों पैरोंके नीचे चार अंगुलका अन्तर रखकर, समरूपमें स्थापित करने चाहिए तथा उसी समय दोनों हाथोंको अजलि भी बनानी चाहिए।

* अयोग्य वस्तु खाये जानेका प्रायश्चित्त—दे भक्ष्याभक्ष्य १।

अतराल—Interval—दे ज. प. प्र १०५।

अतरिक्ष निमित्त ज्ञान—दे निमित्त २।

अतरिक्ष लोक—दे ज्योतिषी २।

अतरोपनिधा—दे देणी १।

अतर्चित्प्रकाश—दे दर्शन।

अतर्जतीय विवाह—दे विवाह।

अतर्द्धनि ऋद्धि—दे ऋद्धि ६।

अतर्द्धीप—१ सागरोंमें स्थित छोटे-छोटे भूखण्ड, दे लोक ४/१।

२ लवण समुद्रमें ६८ अतर्द्धीप हैं जिनमें कुभाग भूमिज मनुष्य रहते हैं। (दे म्लेच्छ) ये द्वीप अन्य सागरोंमें नहीं हैं। दे लोक ४/१।

अतर्द्धीपजम्लेच्छ—दे० म्लेच्छ।

अतर्पणह्य—आर्यखण्डस्थ एक देश। दे० मनुष्य/४।

अकलंक भट्ट—१ (सि वि प्र ६/५ महेन्द्रकुमार)—लघुहृदय नृपतिके ज्येष्ठ पुत्र प्रसिद्ध आचार्य। आपने राजा हिम-शीतलकी सभामें एक बौद्ध साधुको परास्त किया था, जिसकी आर से तारा देवी शास्त्रार्थ किया करती थी। अकलंक देव आपका नाम था और भट्ट शास्त्रार्थ किया करती थी। अकलंक देव आपका नाम था और भट्ट आपका पद था। आपके शिष्यका नाम महोदेव भट्टारक था। आपने निम्नग्रन्थ रचे हैं—१ तत्त्वार्थ राजवार्तिक सभाष्य, २ अष्टशती, ३ लघोमध्यय सविवृत्ति, ४ न्यायविनिश्चय सविवृत्ति, ५ सिद्धि-विनिश्चय, ६ प्रमाणसंग्रह, ७ स्वरूप संबोधन, ८ बृहत्प्रथम, ९ न्याय वृत्तिका, १० अकलंक स्तोत्र। आपके कालके सम्बन्धमें चार धारणाएँ हैं—१ अकलंक चारित्र्यमें “विक्रमार्कशकाब्दीयाश-तसप्तप्रमाण्युपि। कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादी महानभूत्” ॥—विक्रम संवत् ७०० (ई ६४३) में बौद्धों के साथ श्री अकलंक भट्टका महाद्वन्द्व हुआ। २ वि हा ६ (सभाष्य तत्त्वार्थधिगम/प्र २/टिप्पणीमें श्री नाथूराम प्रेमो)। ३ ई ६२०-६८० (नरसिंहाचार्य, प्रो एस श्रीकण्ठ शास्त्री, प जुगलकिशोर, डॉ ए एन उपाध्ये, प कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, ज्योतिप्रसादजी)। ४ ई स ७२०-७८० (डॉ के सी पाठक, डॉ सतीशचन्द्र विद्याभूषण, डॉ आर जी भण्डारकर, पिटर्सन, लुइस राइस, डॉ विक्टरनिट्ज़, डॉ एफ डब्ल्यू थामस, डॉ ए बी कीथ, डॉ ए एस आन्तेकर, श्री नाथूराम प्रेमो, प सुखलाल, डॉ बी एन सालेतीर, महामहोपाध्याय प गोपीनाथ कविराज, प महेन्द्रकुमार) उपरोक्त चार धारणाओंमें से नं १ वाली धारणा अधिक प्रामाणिक होनेके कारण आपका समय ई ६२०-६८ के लगभग आता है। ४ शब्दानुशासनके वर्त (दे भट्टाकलंक)।

* जैन साधु सधमे आपका स्थान—(दे इतिहास ७/१)।

अकलंक स्तोत्र—आ अकलंक भट्ट (ई ६२०-६८०) द्वारा संस्कृत छन्दोंमें रचित जिन-स्तोत्र। इसमें कुल १६२ श्लोक हैं। इस पर पं सदासुखदास (ई १७६६-१८६६) ने भाषामें टीका लिखी है।

अकषाय—दे कषाय १।

अकषाय वेदनीय—दे मोहनीय १।

अकाम निर्जरा—दे ‘निर्जरा’।

अकाय—दे ‘काय’।

अकार्यकारण शक्ति—स सा/आ/परि शक्ति १४ अन्याक्रिय-माणान्याकारकैकद्रव्यात्मिका अकार्यकारणशक्ति।—अन्यसे न करने योग्य और अन्याका कारण नहीं ऐसा एक द्रव्य, उस स्वरूप अकार्यकारण चौदहवीं शक्ति है।

अकालनय—१ दे नय 1/५। २ काल व अकाल नयका समन्वय-दे नियति ६।

अकाल मृत्यु—दे मरण ४।

अकालवर्ष—मान्यखेटके राजा अमोघवर्षके पुत्र थे। कृष्ण द्वितीय इनकी उपाधि थी जो कृष्ण प्रथमके पुत्र धृतराजके राज्यपर आसीन होनेके कारण इन्हें प्राप्त थी। ये भी राष्ट्रकूटके राजा थे। राजा लोकादित्यके समकालीन थे। इनका समय ई ८७८ से ९१२ है। (विशेष दे इतिहास ३/५)। (ह पु ६६/५२-५३), (उत्तरपुराणकी प्रशस्ति), (जीवन्धर चम्पू / प्र ८ / A N Upadhye), (आ अनु प्र ७० / H L Jain), (म पु प्र ४२ / प पन्नालाल माकलीवाल)।

अकालाध्ययन—सम्यग्ज्ञानका एक दाप—दे ‘काल’।

अकिंचित्कर हेत्वाभास—प यु ३/३५-३६ सिद्धेप्रत्यक्षादि-

बाधिते च साध्ये हेतुकिंचित्कर।—जो साध्य स्वयं सिद्ध हो अथवा प्रत्यक्षादिसे बाधित हो उस साध्यकी सिद्धिके लिए यदि हेतुका प्रयोग किया जाता है तो वह हेतु अकिंचित्कर कहा जाता है।

न्या दो ३/६३/१०२ अप्रयोजको हेतुरकिंचित्कर।—जो हेतु साध्यकी सिद्धि करनेमें अप्रयोजक अर्थात् असमर्थ है उसे अकिंचित्कर हेत्वाभास कहते हैं।

२. अकिंचित्कर हेत्वाभासके भेद

न्या दो ३/६३/१०२ स द्विविध—सिद्धसाधनो बाधितविषय-श्चेति।—अकिंचित्कर हेत्वाभास दो प्रकारका है—सिद्धसाधन और बाधितविषय।

३. सिद्धसाधन अकिंचित्कर हेत्वाभासका लक्षण

प यु ३/३६-३७ सिद्ध आगव शब्द शब्दत्वात्। किंचिदकरणत्वात्।—शब्द कानसे सुना जाता है क्योंकि वह शब्द है। यहाँपर शब्दमें आगवशब्द स्वयं सिद्ध है इसलिए शब्दमें आगवशब्दकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त शब्दत्व हेतु कुछ नहीं करता (अतः सिद्धसाधन हेत्वाभास है)। स म / श्रुत प्रभावक मण्डल १२७ / १६ पूर्वसे ही सिद्ध है (ऐसी) सिद्धिको साधनेसे सिद्ध साधन दोष उपस्थित होता है।

न्या दो ३/६३/१०२ यथा शब्द आगवो भवितुमर्हति शब्दत्वादिति। अत्र आगवशब्दस्य साध्यस्य शब्दनिष्ठत्वेन सिद्धत्वाद्देतुर-किंचित्कर।—शब्द श्रोत्रेन्द्रियका विषय होना चाहिए, क्योंकि वह शब्द है। यहाँ श्रोत्रेन्द्रियकी विषयता रूप साध्य शब्दमें आगव प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है। अतः उसको सिद्ध करनेके लिए प्रयुक्त किया गया ‘शब्दपना’ हेतु सिद्धसाधन नामका अकिंचित्कर हेत्वाभास है।

* प्रत्यक्षबाधित आदि हेत्वाभास—दे ‘बाधित’।

* कालत्ययापदिष्ट हेत्वाभास—दे ‘कालात्ययापदिष्ट’।

अकृत—अभ्यागम दोष या हेत्वाभास। दे ‘कृतनाश’।

अकृतिधारा—दे गणित II/५/२।

अकृतिमातृकधारा—दे गणित II/५/२।

अक्रियावाद—

१ मिथ्या एकांतकी अपेक्षा—

घ ६/४, १, ४४ / २०७/४ सूत्रे अष्टाशिशिशतसहस्रवै ८८००००० पूर्वोक्तसर्वदृष्टयो निरूप्यन्ते अभ्यन्धक अलेपक अभोक्ता अकर्ता निर्गुण सर्वगत अद्वैत नास्ति जीवः समुदयजनिः सर्व नास्ति बाह्यार्थो नास्ति सर्व निरात्मक सर्व क्षणिक अक्षणिकमद्वैतमित्यादयो दर्शनभेदाश्च निरूप्यन्ते।—सूत्र अधिकारमें अठ्ठासी लाख ८८००००० पदों द्वारा पूर्वोक्त सप्त मतोंका निरूपण किया जाता है। इसके अतिरिक्त जीव अभ्यन्धक है, अलेपक है, अभोक्ता है, अकर्ता है, निर्गुण है व्यापक है अद्वैत है जीव नहीं है, जीव (पृथिवी आदि चार भूतोंके) समुदायसे उत्पन्न हुआ है सत्य नहीं है अर्थात् ध्वन्य है, बाह्य पदार्थ नहीं है, सब निरात्मक हैं सम क्षणिक हैं, सत्य अक्षणिक अर्थात् निरर्थक हैं, अद्वैत हैं इत्यादि दर्शन भेदोंका भी इसमें निरूपण किया जाता है। (घ १/१, १ २/११०/८)

गो क/भाषा/८८४/१०६८ अक्रियावादी वस्तु की नास्ति रूप मानि क्रियाका स्थापन नाहि करे है।

भा पा/भाषा/१३७ प जयचन्द—महुरि कई अक्रियावादी हैं तिन नैं जीवादिक पदार्थनि विषै क्रियाका अभाव मानि परस्पर विवाद करे हैं। कई कई हैं जीव जानें नाहीं हैं, कई कई हैं कष्ट करे नाहीं हैं, कई कई हैं भागवे नाहीं हैं कई कई हैं उपजे नाहीं हैं, कई कई हैं

विनसे नाही हे, केई कहे हैं गमन नाही करे है, केई कहे हैं तिष्ठे नाही है। इत्यादिक क्रियाके अभाव पक्षपात करि सर्वथा एकान्ती होय है तिनिके संक्षेप करि चौरासी भेद किये हैं।

२ सम्यक् एकान्तकी अपेक्षा—

का अ मृ /४१२ पुण्णोसाए ण पुण्ण जदी निरोहस्स पुण्ण सपत्तो । इय जाणिऊग जइणो पुण्णे वि म आयर कुणह ॥४१२॥—पुण्यको इच्छा करनेसे पुण्यमण्ड नहीं होता, व्यक्ति निरोह (इच्छा रहित) व्यक्तिको हो पुण्यकी प्राप्ति होती है। अतः ऐसा जानकर हे यतीधरो, पुण्यमें भी आदर भाव मत रखो।

प्र सा /त प्र /परि /नय न ३६ अकृतु नयेन स्वकर्मप्रवृत्तरज्जाध्यक्ष-वरकेवलमेव साभि ॥३६॥ आरम्भ द्रव्य अकृतुत्व नयसे केवल सांगी हो है (कर्ता नहीं), अपने कार्यमें प्रवृत्त रगरेजको देखनेवाले पुरुष (प्रेमक) को भीति।

प मृ /१/६५ ६६ अह वि कम्मइं सवुविहइं णव णव दोम वि जेण । सुद्धए एक्कवि अथि णवि सुण्ण वि मुचइ तेण ॥६६॥ बन्ध वि मोषतु वि सयल्लु जिय जोयह कम्म जणइ । अप्पा किं पि वि कुणइ णवि निच्छउ एल भणइ ॥६६॥—जिस कारण आठों ही अनेक भेद वाले कर्म अठारह ही दोष इनमें से एक भी शुद्धारामके नहीं हैं, इसलिए शून्य भी कहा जाता है ॥६६॥ हे जीव, बन्धको और मोक्षको समको जीवोंका कर्म ही करता है, आराम कुछ भी नहीं करता, निश्चय नय ऐसा कहता है।

३ अक्रियावादके ८४ भेद

ध १/१,१२/१०७/८ मरीचिकपिनोत्तूक गार्ग्य व्याघ्रभूतिवाहलिमाठर-माहृगश्यायनादीनामक्रियावाददृष्टीनां चतुरशीति । —मरीचि, कपिल उलूक गार्ग्य व्याघ्रभूति बाह्वलि माठर और मोहृगश्यायन आदि अक्रियावादियोंके ८४ मतोंका वर्णन और निराकरण किया गया है। (रा वा १/२०/१२/७४/८, ८/१/१०/६२२/४) (ध ६/४, १, ४४/२०३/४), (गा जी/जी प्र ३६०/७००/१२)

गो क मृ ८८४-८८५/१०६७ णथि सदी परदो वि य सत्तपयरथा य पुण्ण पाळणा । कालादियादि भंगा सत्तरि चतुर्षु ति सजादा ॥८८४॥ णथि य सत्त पदस्था नियदोदो कालदो तिपतिभवा । चोहस इदि णथित्ते अविहरियाणं च चुनसिदो ॥८८५॥—आगे अक्रियावादीनिके भंग कहे हैं—(नास्ति) × (स्वत परत) × (जीव, अजीव, आत्म, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष) × (काल, ईश्वर आरमा, नियति, स्वभाव) = १ × २ × ७ × ५ = ७० तथा (नास्ति) × (जीव, अजीव, आत्म, संवर, निर्जरा बन्ध, मोक्ष) × (नियति, काल) = १ × ७ × २ = १४ मिलकर अक्रियावादके (७० + १४ = ८४) चौरासी भेद हुए। (ह पु १०/६२-६३)

अक्रियवान—क्रियवान अक्रियवानकी अपेक्षा द्रव्योंका विभाग।

—दे द्रव्य ३।

अक्ष—१ म सि १/१२/१०३ अक्षोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा । —पहिचानता है वा बोध करता है, व्याप्त होता है, जानता है, ऐसा 'अक्ष' आत्मा है। (रा वा १/१२/२/३/११) (प्र सा /ता वृ / १/२२) (गा जी/जी प्र ३६६/७६६) २ पासा आदि दे निक्षेप ४। ३ भेद व भग—दे गणित II/३/१, २।

अक्षमृक्षण वृत्ति—भिसावृत्तिका एक भेद—दे भिक्षा १/७।

अक्षयनिधिघ्नत—वतविधान संग्रह / ८३ गणना—कुल समय १० वर्ष कुल उपवास २०, एकाशना २८०।

किशन सिंह क्रियाकोश। विधि—१० वर्ष तक प्रतिवर्षकी श्रावण शुक्ला दशमी व भाद्रपद कृष्ण १० को उपवास। इनके बीच २८ दिनमें एकाशन। मन्त्र—नमस्कार मन्त्रका प्रिकाल जाय।

अक्षयफल दशमी व्रत—वत विधान सं। ८६ गणना—कुल

समय १० वर्ष तक। विधि—प्रतिवर्ष श्रावण शु १० को उपवास। मन्त्र—“आ हौ धृगभजिनाय नम” इस मन्त्रका प्रिकाल जाय।

अक्षर—ध ६/१, ६-१, १४/२१/११ खरणभामा अवखरं केवलणान् । —

क्षरण अर्थात् विनाशका अभाव होनेसे केवलज्ञान अक्षर कहा जाता है।

गो जी/जी प्र ३३३/७२८/८ न भवतीत्यक्षर द्रव्यरूपतया विनाशा-भावात् । —द्रव्य रूपमें जिसका विनाश नहीं होता वह अक्षर है।

२ अक्षरके भेद

ध १३/६, ४, ४८/२६४/१० नद्धिअक्षरं निव्वत्तिअक्षरं न्ठाणअक्षरं चेदि सिविहमक्षरं । —अक्षरके तीन भेद हैं—नद्ध्यक्षर, निवृत्त्यक्षर, व संस्थानाक्षर। (गा जी/जी प्र ३३३/७२८/७)

३ लब्ध्यक्षरका लक्षण

ध १३/६, ४, ४८/२६४/११ सुहमणिपादअपज्जत्तप्पहुडि जाव सुद-केवलं त्ति ताव जे त्वजोवसमा तेसि नद्धिअक्षरंमिदं सण्णा । —सपहि नद्धिअक्षरं जहणं सुहमणिगोदनद्धिअपज्जत्तस्स होदि, उक्कम्म चोइसपुविस्स । —सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तिकसे लेकर धृत केवल तक जीवोंके जितने क्षयपशम होते हैं उन सभी लब्ध्यक्षर सहा है। जयन्य लब्ध्यक्षर सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तिकके होता है और उत्कृष्ट चौदह पूर्वधारीके होता है।

गो जी/जी प्र ३२२/६२४/४ सच्चिन्माभूतज्ञानावरणसंयोगशम अर्थग्रहणशक्तिर्वा, लब्ध्या अक्षर अविनश्वर लब्ध्यक्षर तावत् क्षयोप-शमस्य सदा विद्यमानत्वात् । —लब्धि कहिये श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम वा जानन शक्ति ताकरि अक्षर कहिए अविनाशी सो ऐसा पर्याय ज्ञान हो है, जाते इतना क्षयोपशम सदा वान विद्यमान रहे हैं।

गो जी/जी प्र ३३३/७०८/८ पर्यायज्ञानावरणप्रभृतिप्रभृतेकैवलज्ञानावरण-पर्यन्तक्षयोगशमादुद्भूतारमनोऽर्थग्रहणशक्तिर्निष्ठा भावेन्द्रिय, तद्रूपक्षरलब्ध्यक्षरं अक्षरज्ञानास्पत्तिहेतुत्वात् । —तहाँ पर्यायज्ञाना-वरण आदि श्रुतकेवलज्ञानावरण पर्यन्तके क्षयोपशममें उत्पन्न भई जो पदार्थ जाननेकी शक्ति सो लब्धि रूप भावेन्द्रिय सोहि स्वरूप जो अक्षर कहिये अविनाश सो लब्धि अक्षर कहिये जाते अक्षर ज्ञान उपजने की कारण है।

४. निवृत्त्यक्षर सामान्य विशेषका लक्षण

ध १३/६, ४, ४८/२६४/१ जीवाणं मुहादो णिममस्स सहस्स निव्वत्ति अवखरमिदि सण्णा । तं च निव्वत्तिअक्षरं दत्तमव्वत्त चेदि बुविह । तत्थ वत्तं सण्णिपच्चिदियपज्जत्तएसु होदि । अव्वत्त वेइदियप्पहुडि जाव सण्णिपच्चिदियपज्जत्तएसु होदि । निव्वत्ति अवखर जहण्यं वेइदियपज्जत्तादिस्सु, उक्कम्मसं चोइसपुविस्स । —जीवोंके मुखसे निनले हुए शब्दकी निवृत्त्यक्षर संज्ञा है। उस निवृत्त्यक्षरके व्यक्त और अव्यक्त ऐसे दो भेद हैं। उनमेंसे व्यक्त निवृत्त्यक्षर संज्ञो पचेन्द्रिय पर्याप्तिकके होता है, और अव्यक्त निवृत्त्यक्षर द्विन्द्रियसे लेकर सज्ञो पचेन्द्रिय पर्याप्तिक तक जीवोंके होता है। जयन्य निवृत्त्यक्षर द्विन्द्रिय पर्याप्तिक आदिक जीवोंके होता है और उत्कृष्ट चौदह पूर्वधारीके होता है।

गो जी/जी प्र ३३३/७०८/६ कण्ठोष्ठतावदादिस्थानस्पृष्टादिकरण-प्रयत्ननिर्वह्यमानस्वरूप अकारादिककारादिस्वरव्यञ्जनरूपं मूलवर्ण-तत्संयोगादिसंस्थानं निवृत्त्यक्षरम् । —महुरि वठ, ओठ, तालु आदि अक्षर बुलावनेके स्थान और होठनिका परस्पर मिलना सो स्पृष्टता ताकै आदि हेकरि प्रयत्न सोहि करि उत्पन्न भया शब्द रूप अकारादि स्वर अरककारादि व्यञ्जन अर संयोगो अक्षर सो निवृत्त्यक्षर कहिए।

४ स्थापना या सस्थानाक्षरका लक्षण

घ १३/५ ५.४८/२६५/४ अ तं सठाणखर नाम त दठवणखर-मिदि घेतव्व । काट्टवणा नाम । एदिमदिमखर मिदि अमेवेण बुद्धीए जा ट्टविया लोहादव्व वा तं ट्टवणखर नाम ।—सस्थानाक्षरका दूसरा नाम स्थापना अक्षर है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए । प्रश्न—स्थापना क्या है । उत्तर—‘यह वह अक्षर है’ इस प्रकार अभेद रूपसे बुद्धिमें जो स्थापना होती है या जो लिखा जाता है वह स्थापना अक्षर है ।

गो जी प्र ३३०/७२८/१ पुस्तकेषु तद्वैशानुरूपतया लिखितसंस्थानं स्थापनामरम् ।—पुस्तकादि विषये निजदेशकी प्रभुत्तिके अनुसार अकारादिकनिका आकारकर लिखिए सो स्थापना अक्षर कहिए ।

५ बीजाक्षरका लक्षण

घ ६/४ १.४४/१२७/१ सखित्तसङ्खरयणमणं तत्पावगमहेदुधुदणेलगिण-सगय योजपद नाम ।—सक्षिप्त शब्द रचनासे सहित व अनन्त अर्थोंके ज्ञानके हेतुभूत अनेक चिह्नोंमें समुक्त योजपद कहलाता है ।

६ ह्रस्व, दीर्घ व प्लुत अक्षरका लक्षण

घ १३/५ ५.४६/२४८/३ एकमात्रो ह्रस्व, द्विमात्रो दीर्घ, त्रिमात्र प्लुत मात्राद्वा व्यञ्जनम् ।—एक मात्रावाला वर्ण ह्रस्व होता है दो मात्रावाला वर्ण दीर्घ होता है, तीन मात्रावाला वर्ण प्लुत होता है और अब मात्रावाला वर्ण व्यञ्जन होता है ।

७ व्यञ्जन स्वरादिकी अपेक्षा भेद व इनके सयोगी भग

घ १३/५ ५.४४/२४७/८ वगवखरा पचवीस, अतथा चत्तारि चत्तारि उम्हाकवरा, एव तेत्तीना होंति वज्जणाणि ३३ । अ इ उ ऋ ऌ ए ऐ ओ औ एवमेदे णव सरा हरस्व-दीर्घ-पुदभेदेण पुष पुष भिण्णा सत्ता-वीस होंति । एचां हस्वा न सन्तीति चेद-न, प्राकृते तत्र तत्संख्या-विराधात् । अजोगवाहा अ अ ँ अ इति चत्तारि चैव होंति । एव सव्वक्खराणि चउसदट्ठी ।

घ १३/५ ५.४६/२४८/६ एदिमदिमखराण सख रासिं दुवे विरलिय दुगुणिदमणोण्णेण सगुणे अण्णोणसमग्भासो एत्तिओ होदि—८४४६७४८०३७०६४६१६१६ । एदिम्मि सखाणे रूवूणे कदे सजोग-वखराण गणिद होदि ति णिदिसे ।

वर्णाक्षर पचवीस अंतस्थ चार और ऊम्माक्षर चार इस प्रकार तैत्तिरीय व्यञ्जन होते हैं । अ इ, उ ऋ ए ऐ, ओ, औ इस प्रकार ये नौ स्वर अलग अलग ह्रस्व दीर्घ और प्लुतके भेदसे सत्ताईस होते हैं । शंका—एच् अर्थात् ए, ऐ ओ, औ इनके ह्रस्व भेद नहीं होते । उत्तर—नहीं क्योंकि प्राकृतमें उनमें इनका सद्भाव माननेमें कोई विरोध नहीं आता । अयोगवाह अ अ ँ और ँ ये चार ही होते हैं । इस प्रकार सब अक्षर ६४ होते हैं । इन अक्षरोंकी संख्याकी राशि प्रमाण २ का विरलन करके परस्पर गुणा करनेसे प्राप्त हुई राशि इतनी होती है—८४४६७४८०३७०६४६१६१६ । इस सख्यामें से एक कम करनेपर सयोगाक्षरोंका प्रमाण होता है ऐसा निर्देश करना चाहिए । (विस्तारके लिए दे घ १३/५ ५.४६/२४८-२६०) (गो जी प्र ३/५ २-२४४/७४६ ७६६) ।

घ १३/५ ५.४७/२६०/१ अदि वि एगसजोगवखरमणेगेसु अथेसु अक्षर-वच्चसावच्चसव्वेण वट्टेदे तो वि अक्षरखरमेवक चैव, अण्णोणमये-विखय णाणकज्जजणयाण भेदाणुवचत्तो ।—यद्यपि एक सयोगाक्षर अनेक अर्थोंमें अक्षरोंके उलट-फेरके बलसे रहता है तो भी अक्षर एक ही है, क्योंकि एक दूसरेका देखते हुए ज्ञान रूप कार्यको उत्पन्न करनेकी अपेक्षा उनमें कोई भेद नहीं पाया जाता ।

८ अन्य सम्बन्धित विषय

* अक्षरात्मक शब्द—दे भाषा ।

* अक्षरगता असत्यमृपा भाषा—दे भाषा ।

* आगमके अपुनरुक्त अक्षर—दे आगम १ ।

* अक्षर मयोग तथा सयोगी अक्षरोंकी एकता-अनेकता सम्बन्धी शकाएँ—दे घ १३/५ ५.४६/२४८-२६० ।

अक्षर ज्ञान—द्रव्य श्रुतका एक भेद—दे श्रुतज्ञान II ।

अक्षर म्लेच्छ—दे म्लेच्छ ।

अक्षर समास—द्रव्य श्रुतज्ञानका एक भेद—दे श्रुतज्ञान II ।

अक्ष सचार—गणित सम्बन्धी एक प्रक्रिया—दे गणित II/३ ।

अक्षांश—(ज प प्र १०५) Latitude

अक्षिप्र—मतिज्ञानका एक भेद—दे मतिज्ञान ४ ।

अक्षीण महानस ऋद्धि—दे ऋद्धि ६ ।

अक्षीणमहालय ऋद्धि—दे ऋद्धि ६ ।

अक्षीय परिभ्रमण—(घ ५/प्र २७) Axial Revolution

अक्षोभ—विजयाघकी उत्तर ग्रेणीका एक नगर—दे विद्याघर ।

अक्षौहिणी—सेनाका एक अंग—दे सेना ।

अखंड—१ द्रव्यमें खण्डरव अखण्डरव निर्देश—दे द्रव्य ४ । २ गुण-में खण्डरव अखण्डरव निर्देश—दे गुण २ । ३ चौथे नरकका सप्तम पटल—दे नरक ५ । ४ (ज प प्र १०५) Continuous

अगर्त—भरत क्षेत्रमें पश्चिम आर्य खण्डका एक देश—दे मनुष्य ४ ।

अगाढ़—सम्यग्दर्शनका एक दोष ।

अन घ २/५ ७-४८ बुद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना वरतले स्थिता । स्थान एव स्थिते कम्पमगाढ वेदकं यथा ५७॥ स्वकारितेऽर्हचैत्यादौ देवोऽय मेऽन्यकारिते । अन्यस्यासाविति भ्राम्यन्मोहाच्छ्राद्धोऽपि चेष्टते ५८॥ अन घ २/६१ की टीकामें उद्धृत—यच्चल मलिन चास्मादगाढम-नवस्थितम् । नित्य चान्तमूर्तार्तादिष्टपट्टयन्त्यन्तर्भूति यत् ॥

जिस प्रकार बुद्ध पुरुषकी लक्ष्मी तो हाथमें ही बनी रहती है, परन्तु अपने स्थानको न छोड़ती हुई भी कुछ कौपतो रहती है उसी प्रकार क्षयोपशम सम्यग्दर्शन देव गुरु व तत्त्वादिककी श्रद्धामें स्थित रहते हुए भी सकम्प होता है । उसको अगाढ़ वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं ५७॥ वह भ्रम व संशयको प्राप्त होकर अपने बनाये हुए चैत्यादिमें ‘यह मेरा देव है’ और अन्यके बनाये हुए चैत्यादिमें ‘यह अन्यका देव है’ ऐसा व्यवहार करने लगता है ५८॥ (गो जी प्र २/५ ६१/६५) इस प्रकार जो क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन चल मलिन अगाढ़ व अन-वस्थित है वही निश्चय भी है । अन्तर्मूर्तसे लेकर ६६ सागर पर्यन्त अवस्थित रहता है ।

अगारी—त सू ७/२० अणुवतोऽगारी २०॥—अणुवतो श्रावक अगारी है ।

स सि ७/१६/३५७ प्रतिप्रयार्थिभि अङ्गयते इति अगारं वैश्व तद्वान-गारी । ननु चात्र विपर्ययोऽपि प्राप्नोति शून्यागारदेवकुलाद्यावा-सस्य सुनेरगारित्वम् अनिवृत्तविषयतृप्णस्य वृत्तिश्चिरात्कारणम् । गृह विमुच्य वने वसतोऽनगारत्व च प्राप्नोति इति । नैप दाप भावा-गारस्य निषिक्षत्वात् । चारित्रमोहोदये सत्यगारसम्बन्ध प्रथमनिवृत्त परिणामो भावागारमित्युच्यते । स यस्यास्यसावगारी वने वसन्नपि । गृहे वसन्नपि तदभावादनगार इति च भवति ।—आश्रय चाहनेवाले जिसे अगीकार करते हैं वह अगारी है । अगारका अर्थ वैश्व अर्थात् घर है जिसके घर है वह अगारी है । शंका—उपर्योक्त लक्षणसे विप-रीत अर्थ भी प्राप्त होता है, क्योंकि शून्य घर व देव मन्दिर आदिमें भास करनेवाले मुनिके अगारपना प्राप्त हो जायेगा । और जिसकी विषय तृप्णा अभी निवृत्त नहीं हुई है ऐसे किसी व्यक्तिको किसी कारणवश घर छोड़कर वनमें बसनेसे अनगारपना प्राप्त हो जायेगा ।

उत्तर—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि यहाँपर भावागार विवक्षित है। चारित्र मोहनीयका उदय होनेपर जो परिणाम घरेसे निवृत्त नहीं है वह भावागार कहा जाता है। वह जिसके है वह वनमें निवास करते हुए भी अगारी है और जिसके इस प्रकारका परिणाम नहीं है वह घरमें बसते हुए भी अगारी है। (रा वा ७/१६, १/४४६/२४) (त सा ४/७९) (विषय विस्तार दे श्रावक)।

अगासदेव—(म पु १२/०५ पञ्चालात) आप एक कवि थे। कृति—चन्द्रप्रभपुराण।

अगुणी—दे गुणी।

अगुप्ति भय—दे भय।

अगुरुलघु—जड़ या चेतन प्रत्येक द्रव्यमें अगुरुलघु नामका एक सूक्ष्म गुण स्वीकार किया गया है जिसके कारण वह प्रतिक्षण सूक्ष्म परिणमन करते हुए भी ज्योंका ज्यों बना रहता है। संयोगी अवस्था में वह परिणमन स्थूल रूपसे दृश्यगत होता है। शरीरधारी जीव भी हलके-भारीपनेकी कल्पनासे युक्त हो जाता है। इस कल्पनाका कारण अगुरुलघु नामका एक कर्म स्वीकार किया गया है। इन दोनोंका ही परिचय इस अधिकारमें दिया गया है।

१. अगुरुलघु गुणका लक्षण (पट् गुण हानि वृद्धि)

आ प ६/६ अगुरुलघोर्भावोऽगुरुलघुत्वम्। सूक्ष्मावागगोचरा प्रतिक्षण वर्तमाना आगमप्रमाणोऽगुरुलघुगुणः।—अगुरुलघु भाव अगुरुलघुपन है। अर्थात् जिस गुणके निमित्तसे द्रव्यका द्रव्य-पना सदा बना रहे अर्थात् द्रव्यका कोई गुण न तो अन्य गुण रूप हो सके और न कोई द्रव्य अन्य द्रव्य रूप हो सके अर्थात् न द्रव्यके गुण मिलकर पृथक्-पृथक् हो सकें और जिसके निमित्तसे प्रत्येक द्रव्यमें तथा उसके गुणोंमें समय समय प्रति पट् गुण हानि वृद्धि होती रहे उसे अगुरुलघु गुण कहते हैं। अगुरुलघु गुणका यह सूक्ष्म परिणमन वचनके अगोचर है केवल आगम प्रमाणगम्य है।

स सा/आ परि/शक्ति न १७ पट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणत-स्वरूपप्रतिष्ठकारणविशिष्टगुणात्मिका अगुरुलघुत्वशक्ति।—पट्-स्थान पतित वृद्धि-हानिरूप परिणत हुआ जो वस्तुके निज स्वभाव-को प्रतिष्ठाका कारण विशेष अगुरुलघुत्व नामा गुण-स्वरूप अगुरुलघुत्व नामा सन्नहवो शक्ति है।

प्र सा/ता वृ ८०/१०१ अगुरुलघुकुणपट्स्थानहानिरूपेण प्रतिक्षण प्रवर्तमाना अर्थपर्याया।—अगुरुलघु गुणकी पट्गुणहानि वृद्धि रूपसे प्रतिक्षण प्रवर्तमान अर्थ पर्याय होती है।

२ सिद्धोंके अगुरुलघु गुणका लक्षण

प्र सं टी १/४/४३ यदि सर्वथा गुरुत्व भवति तदा लोहपिण्डवद्वध-पतनं, यदि च सवथा लघुत्व भवति तदा वाताहताकूलवत्सर्वदेव भ्रमणमेव स्यात् च तथा तस्मादगुरुलघुत्वगुणोऽभिधीयते।—यदि उनका स्वरूप सर्वथा गुरु हो तो लोहेके गोलेके समान वह नीचे पड़ा रहेगा और यदि वह सर्वथा लघु हो तो वायुसे प्रेरित आकस्मिक रूईको तरह वह सदा इधर उधर घूमता रहेगा, किन्तु सिद्धोंका स्वरूप ऐसा नहीं है इस कारण उनके 'अगुरुलघु' गुण कहा जाता है।

प सं टी १/६/६२ सिद्धावस्थायोग्य विशिष्टागुरुलघुत्व नामकर्मो-दयेन प्रच्छादितम्। गुरुत्वशब्देनोक्तगोत्रजनित महत्त्व भण्यते लघुत्व-शब्देन नीचगोत्रजनित तुच्छत्वमिति तदुभयकारणभूतेन गोत्रकर्मो दयेन विशिष्टागुरुलघुत्व प्रच्छाद्यत इति।—सिद्धावस्थाके योग्य विशेष अगुरुलघुगुण, नामकर्मके उदयसे अथवा गोत्रकर्मके उदयसे ढँक गया है। क्योंकि गोत्र कर्मके उदयसे जब नीच गोत्र पाया, तब तुच्छ या लघु कहलाया और उच्च गोत्रमें बड़ा अर्थात् गुरु कहलाया।

३ अगुरुलघु नामकर्मका लक्षण

स सि ८/११/३६१ यस्मादगादय पिण्डवद् गुरुत्वाग्राध पतति न चार्कतुल्यवत्तुल्यत्वाद्ध्वं गच्छति तदगुरुलघु नाम।—जिसके उदयसे लोहेके पिण्डके समान गुरु होनेमें न तो नीचे गिरता है और न अर्क-तुल्यके समान लघु होनेसे ऊपर जाता है वह अगुरुलघु नामकर्म है। (रा वा ८/११/१०७/७७/११) (गो क/जो प्र ३३/२६/१२)।

ध ६/१.६ १२८/४८/१ अणताणतेति पोगनेहि आऊरिगमम जीवस्त जेहि कम्मवत्थेहिता अगुरुलघुत्वत्तु होदि, तेसिमअगुरुलघुत्वत्तु त्ति मण्णा कारणे कज्जुवारादो।—जदि अगुरुलघुत्वकर्म जीवस्त न होज्ज, तो जीवा लोहगोलओ व्व गरअओ अकत्तून व हल्लओ वा होज्ज। ण च एव अणुवत्तभादो।—अनन्तानन्त पुद्गलसे भरपूर जीवके जिन कर्मफलके द्वारा अगुरुलघुपना होता है, उन पुद्गल स्वरूपोंकी 'अगुरुलघु' यह मन्त्रा कारणमें कार्यके उपचारसे की गयी है। यदि जीवके अगुरुलघु कर्म न हो तो या तो जीव लोहेके गोलेके समान भारी हो जायेगा, अथवा आकके तुल्यके समान हल्का हो जायेगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, वैसा पाया नहीं जाता है। (ध १२/४.६ १०१/३६४/१०)।

ध ६/१.६-२ ७६/११४/३ अणहा गरअसरीरेणऽट्ठो जीवो उट्ठेदु पि ण सव्वेज्ज। ण च प्व, सरीरस्स अगुरु अनहु अत्ताणमणुवत्तभा।—यदि ऐसा (इस कर्मको पुद्गल विपाकी) न माना जाये, तो गुरु भार बाने शरीरमें गयुक्त यह जीव उठनेके लिए भी न समर्थ होगा। किन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि शरीरके केवल हलकापन और केवल भारीपन नहीं पाया जाता है।

* अगुरुलघु नामकर्मकी वन्व उदय सर्व प्ररूपणाएँ व तत्सम्बन्धी नियम आदि—दे वक् बह नाम।

४ अगुरुलघु गुण अनिवर्चनीय है

आ प ६/६ सूक्ष्मावागगोचरा आगमप्रमाणोऽगुरुलघुगुणः।—अगुरुलघु गुणका यह सूक्ष्म परिणमन वचनके अगोचर है। आगम प्रमाणके ही गम्य है। (न च १/४/१७)।

प ध प्र १६२ किरवस्ति च कोऽपि गुणोऽनिर्वर्चनीय स्वतः सिद्ध। नाम्ना चागुरुलघुविति गुरुलघ्व स्वानुभूतिलक्ष्यो वा।—किन्तु स्वतः सिद्ध और प्रत्यक्षदर्शियोंके लक्ष्यमें आने योग्य अर्थात् केवल-ज्ञानगम्य अथवा स्वानुभूतिके द्वारा जाननेके योग्य तथा नामसे अगुरुलघु ऐसा कोई वचनोंके अगोचर गुण है।

५ जीवके अगुरुलघु गुण व अगुरुलघु नाम कर्मोदयकृत अगुरुलघुमे अन्तर

ध ६/१.६-२ ७८/११३/११ अगुरुलघुत्वत्तु नाम सव्वजोवाणं पारि-णामियमरिय सिद्धेसु खीणोसकम्मसु वि त'सुवत्तभा। तदो अगुरुलघुत्वकर्मस्स फलाभावा तस्सामावो इदि। एरथ परिहारो उच्चदे-होज्ज एसो दोमो जदि अगुरुलघुत्व जीवविनाई होदि। किन्तु एह पागलविषाई, अणताणतपोगनेहि गरुअपासेहि आरद्धम्म अगुरु-लघुत्वअनुत्पायणादो। अणहा गरुअसरीरेणऽट्ठो जीवो उट्ठेदु पि ण सव्वेज्ज। ण च एव, सरीरस्स अगुरु अलहुअत्ताणमणुवत्तभा।—शंका—अगुरुलघु नामका गुण सर्व जीवोंमें पारिणामिक है क्योंकि विशेष कर्मोंसे रहित सिद्धोंमें भी उसका सद्भाव पाया जाता है। इस-लिए अगुरुलघु नामकर्मका कोई फल न होनेसे उसका अभाव मानना चाहिए। उत्तर—यहाँपर उक्त शंकाका परिहार करते हैं। यह उपर्युक्त दोष प्राप्त होता यदि अगुरुलघु नाम-कर्म जीवविपाकी होता। किन्तु यह कर्म पुद्गलविपाकी है, क्योंकि गुरुत्वदर्शनाले अनन्तानन्त पुद्गल वर्णणाओंके द्वारा आरम्भ शरीरके अगुरुलघुताकी उत्पत्ति होती है। यदि ऐसा न माना जाये तो गुरु भारबाने शरीरसे संयुक्त यह जीव उठनेके लिए भी न समर्थ होगा। किन्तु ऐसा है नहीं।

क्योंकि शरीरके केवल हृष्कापन और केवल भारीपन नहीं पाया जाता ।

घ ६/१,६-१,२८/५८/४ अगुरुलघुअत्त णाम जीवस्स साहावियमत्थि चे ण, संसारावस्थाए कम्मपरतंतम्मि तत्साभावा । ण च सहावविणासे जीवस्स विणासो, लखणविणासे लखत्रिणास्स णाव्यत्तादो । ण च णाण दसणे मुच्चा जीवस्स अगुरुलघुअत्त लखण, तस्स आयासादीसु वि उवलभा । किं च ण एरथ जीवस्स अगुरुलघुअत्त कम्मणे कोरइ, किंतु जीवमिह भरिओ जो पोगलखत्थो, सो जस्स कम्मस्स उदएण जीवस्स गरुओ हल्लवो या त्ति णावइ तमगुरुलघुअत्त । तेण ण एरथ जीवविसंय अगुरुलघुअत्तस्स गहण ।—प्रश्न—अगुरुलघु तो जीवका स्वाभाविक गुण है (फिर उसे यहाँ कर्म प्रकृतियोंमें क्यों गिनाया) । उत्तर—नहीं, क्योंकि ससार अवस्थामें कर्म-परतत्र जीवमें उस स्वाभाविक अगुरुलघु गुणका अभाव है । यदि ऐसा कहा जाये कि स्वभावका विनाश माननेपर जीवका विनाश प्राप्त होता है, क्योंकि लक्षणके विनाश होनेपर लक्ष्यका विनाश होता है ऐसा न्याय है, सो भी यहाँ बात नहीं है, अर्थात् अगुरुलघु नामकर्मके विनाश होनेपर भी जीवका विनाश नहीं होता है, क्योंकि ज्ञान और दर्शनको छोड़कर अगुरुलघुत्व जीवका लक्षण नहीं है, चूंकि वह आकाश आदि अन्य द्रव्योंमें भी पाया जाता है । दूसरी बात यह है कि यहाँ जीवका अगुरुलघुत्व कर्मके द्वारा नहीं किया जाता है किन्तु जीवमें भरा हुआ जो पुद्गल स्कन्ध है, वह जिस कर्मके उदयसे जीवके भारी या हलका नहीं होता है, वह अगुरुलघु यहाँ विवक्षित है । अतएव यहाँपर जीव विषयक अगुरुलघुत्वका ग्रहण नहीं करना चाहिए ।

६. अजीव द्रव्योंमें अगुरुलघु गुण कैसे घटित होता है

रा बा ८/११,१२/५७/३२ धर्मादीनामजीवानां कथमगुरुलघुत्वमिति चेत् । अनादिपारिणामिकागुरुलघुत्वगुणयोगात् । —प्रश्न—धर्म अथवादि अजीव द्रव्योंमें अगुरुलघुपना कैसे घटित होता है । उत्तर—अनादि पारिणामिक अगुरुलघुत्व गुणके सम्बन्धसे उनमें उसकी सिद्धि हो जाती है ।

७. मुक्त जीवोंमें अगुरुलघु गुण कैसे घटित होता है

रा बा ८/११,१२/५७/३३ मुक्तजीवानां कथमिति चेत् । अनादि-कर्मनोकर्मसम्बन्धानां कर्मोदयकृतमगुरुलघुत्वम् तदव्यन्तविनिवृत्तौ तु स्वाभाविकमाविर्भवति । —प्रश्न—मुक्त जीवोंमें (अगुरुलघु) कैसे घटित होता है, क्योंकि वहाँ तो नामकर्मका अभाव है । उत्तर—अनादि कर्म नोदयके सम्बन्धसे यद्वा जीवोंमें कर्मोदय कृत अगुरुलघु गुण होता है । उसके अव्यन्ताभाव हो जाने पर मुक्त जीवोंके स्वाभाविक अगुरुलघुत्व गुण प्रकट होता है ।

अगृहीत चेटिका—वे स्त्री ।

अगृहीत मिथ्यात्व—वे मिथ्यादर्शन ३ ।

अग्नि—आ सा ६७ अग्नि त्रिकोण रक्त ।—अग्नि त्रिकोण व लाल होती है ।

१ अग्निके अगारादि भेद

मृता २/२१ इगालजालअच्छी मुम्मुखसुखागणी य अगणी य । ते आण तेजजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ।—धुअँ रहित अगार, ज्वाला, दीपककी लौ, कंडाकी आग और वज्राग्नि, बिजली आदिसे उत्पन्न शुद्ध अग्नि सामान्य अग्नि—ये तेजस्कायिक जीव हैं, इनको जान-कर इनकी हिसाका रयाग करना चाहिए (आचारंग नियुक्ति १६६) (पं स प्रा १/७६) (घ १/१,१,४२/२७३/गा १५१) (म आ /वि ६०८/८०६) (त सा २/६४) ।

२. गार्हपत्य आदि तीन अग्नियोंका निर्देश व उपयोग

म पु ४०/८२-६० त्रयोऽनय प्रणेया स्युः कर्मरम्भे द्विजोत्तम । इत्यवितयसकवापादग्नीन्द्रसुकुटोद्भववा ॥८२॥ तीर्थकृद्गणभृच्छ्रेय-

केवलयन्तमहोत्सवे । पूजाह्गत्वं समासाद्य पवित्रत्वमुपागता ॥८३॥ कुण्डत्रये प्रणेतव्यास्तत्र एते महाग्नयः । गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्नि-प्रसिद्धयः ॥८४॥ अग्निमग्निरत्रये पूजां मन्त्रैः कुर्वन् द्विजोत्तम । आहिताग्निरिति ह्येषा निर्येज्या यस्य सग्निः ॥८५॥ हविष्याके च धूपे च दीपोद्बोधोऽनसविधौ । बहूनां विनियोगः स्यादमीषां निर्यपूजने ॥८६॥ प्रयत्नेनाभिरक्ष्यं स्याद्विदमग्नित्रयं गृहे । नैव दातव्यमन्येभ्यस्तेऽन्ये ये स्युरसंस्कृता ॥८७॥ न स्वतोऽग्ने पवित्रत्व देवतारूपमेव वा । किन्त्वहं दिव्यमूर्तिज्यासम्बन्धात् पावनोऽनलः ॥८८॥ ततः पूजाकृतामस्य मत्वाचान्तिं द्विजोत्तमा । निर्वणक्षेत्र-पूजावत्तरपूजातो न दूष्यति ॥८९॥ व्यवहारनयापेक्षा तस्येष्टा पूज्यता द्विजैः । जैनैरध्यवहार्योऽयं नयोऽस्त्यवेऽग्रजन्मनः ॥९०॥—क्रियाओं-के प्रारंभमें उत्तम द्विजोंको रत्नत्रयका सकृप कर अग्निकुमार देवोंके इन्द्रके मुकुटने उत्पन्न हुई तीन प्रकारकी अग्नियाँ प्राप्त करनी चाहिए ॥८२॥ ये तीनों ही अग्नियाँ तीर्थकर, गणधर और सामान्य केवलीके अन्तिम अर्थात् निर्वाणोत्सवमें पूजाका अंग होकर अत्यन्त पवित्रताको प्राप्त हुई मानी जाती है ॥८३॥ गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि नामसे प्रसिद्ध इन तीनों महाअग्नियोंको तीन कुण्डोंमें स्थापित करना चाहिए ॥८४॥ इन तीनों प्रकारकी अग्नियोंमें मन्त्रोंके द्वारा पूजा करनेवाला पुरुष द्विजोत्तम कहलाता है । और जिसके घर इस प्रकारकी पूजा निर्य होती रहती है वह आहिताग्नि व अग्निहोत्री कहलाता है ॥८५॥ निर्य पूजन करते समय इन तीनों प्रकारकी अग्नियोंका विनियोग नैवेद्य पकानेमें धूप खेनेमें और दीपक जलानेमें होता है अर्थात् गार्हपत्य अग्निसे नैवेद्य पकाया जाता है, आहवनीय अग्निमें धूप खेई जाती है और दक्षिणाग्निसे दीप जलाया जाता है ॥८६॥ घरमें बढ़े प्रयत्नसे इन तीनों अग्नियोंकी रक्षा करनी चाहिए और जिनका कोई संस्कार नहीं हुआ है ऐसे अन्य लोगोंको कभी नहीं देनी चाहिए ॥८७॥ अग्निमें स्वयं पवित्रता नहीं है और न वह देवता रूप ही है किन्तु अर्हन्त देवकी दिव्य मूर्तिकी पूजाके सम्यन्धसे वह अग्नि पवित्र हो जाती है ॥८८॥ इसलिए ही द्विजोत्तम लोग इसे पूजाका अंग मानकर इसकी पूजा करते हैं अतः निर्वाण क्षेत्रकी पूजाके समान अग्निकी पूजा करनेमें कोई दोष नहीं है ॥८९॥ ब्राह्मणोंको व्यवहार नयकी अपेक्षा ही अग्निकी पूज्यता है इसलिए जैन ब्राह्मणोंको भी आज यह व्यवहार नय उपयोगमें लाना चाहिए ॥९०॥ (और भी देखो यज्ञमें आर्य यज्ञ) (दि मोस ५/१) (म आ /वि ८/१८६) ।

* अर्हतपूजासे ही अग्नि पवित्र है स्वयं नहीं—वे अग्नि २ ।

३. क्रोधादि तीन अग्नियोंका निर्देश

म पु ६७/२०२-२०३ त्रयोऽनय सपुद्गिहा क्रोधाकामोदराग्नयः । तेषु समाविरागत्वान्शानाहुतिर्भवेत् ॥२०३॥ स्थिरवर्षितसुन्यस्तशरणः परमद्विजा । इत्यात्मयज्ञमिष्टार्थमष्टमीमवर्त्तय ॥२०३॥—क्रोधाग्नि कामाग्नि और उदराग्नि ये तीन अग्नियाँ यतनायी गयी हैं । इनमें समा, वैराग्य और अनशनकी आहुतियाँ देनेवाले जो श्रुति, यति, मुनि और अनगर रूपी श्रेष्ठ द्विज वनमें निवास करते हैं वे आत्मयज्ञ कर इष्ट अर्थकी देनेवाली अष्टम पृथिवी मोक्ष स्थानको प्राप्त होते हैं ।

४. पंचाग्निका अर्थ पंचाचार

पंचमहागुरु भक्ति—पंचाचार-पंचाग्निसाहाय्य सूरिणो दिप्तु मोक्ष-गयासगु ।—जो पंचाचार रूप पंचाग्निके साधक हैं वे आचार्य परमेष्ठी हमें उत्कृष्ट मोक्ष लक्ष्मी देंगे । (विशेष दे पंचाचार) ।

५. प्राणायाम सम्बन्धी अग्निमण्डल

ज्ञा २/६/२० २७/२८८ स्फुटिस्रपिह्वन् भीममूर्ध्वज्वालाशताक्षितम् । त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं तद्बोधो बह्ममण्डलम् ॥२२॥ आत्मार्षसनि-

उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँपर भावागार विवक्षित है। चारित्र्य मोहनीयका उदय होनेपर जो परिणाम घरसे निश्चित नहीं है वह भावागार कहा जाता है। वह जिसके है वह वनमें निवास करते हुए भी अगारी है और जिसके इस प्रकारका परिणाम नहीं है वह घरमें बसते हुए भी अगार है। (रा वा ७/१६.१/४४६/२४) (त सा ४/७६) (विषय विस्तार दे श्रावक)।

अगासदेव—(म पु प्र २०/प पत्रालाल) आप एक कवि थे। कृति—चन्द्रप्रभपुराण।

अगुणी—दे गुणी।

अगुति भय—दे भय।

अगुरुलघु—जड़ या चेतन प्रत्येक द्रव्यमें अगुरुलघु नामका एक सूक्ष्म गुण स्वीकार किया गया है जिसके कारण वह प्रतिक्षण सूक्ष्म परिणमन करते हुए भी ज्योंका त्यों बना रहता है। संयोगी अवस्था में वह परिणमन स्थूल रूपसे दृष्टिगत होता है। शरीरधारी जीव भी हलके-भारीपनेकी कल्पनासे युक्त हो जाता है। इस कल्पनाका कारण अगुरुलघु नामका एक कर्म स्वीकार किया गया है। इन दोनोंका ही परिचय इस अधिकारमें दिया गया है।

१. अगुरुलघु गुणका लक्षण (पद गुण हानि वृद्धि)

आ प ५/६ अगुरुलघोर्भावोऽगुरुलघुत्वम्। सूक्ष्मावागोचरा प्रतिमण वर्तमाना आगमप्रमाणदाम्युपगम्या अगुरुलघुगुणा ।—अगुरुलघु भाव अगुरुलघुपन है। अर्थात् जिस गुणके निमित्तसे द्रव्यका द्रव्यपना सदा बना रहे अर्थात् द्रव्यका कोई गुण न तो अन्य गुण रूप हो सके और न कोई द्रव्य अन्य द्रव्य रूप हो सके, अथवा न द्रव्यके गुण मिश्रकर पृथक्-पृथक् हो सकें और जिसके निमित्तसे प्रत्येक द्रव्यमें तथा उसके गुणोंमें समय समय प्रति पद गुण हानि वृद्धि होती रहे उसे अगुरुलघु गुण कहते हैं। अगुरुलघु गुणका यह सूक्ष्म परिणमन वचनके अगोचर है केवल आगम प्रमाणगम्य है।

स सा आ परि/शक्ति न १७ पदस्थानपतितवृद्धिहानिपरिणत-स्वरूपप्रतिष्ठवकारणविशिष्टगुणात्मिका अगुरुलघुत्वशक्ति ।—पद-स्थान पतित वृद्धि-हानिरूप परिणत हुआ जो वस्तुके निज स्वभावकी प्रतिष्ठाका कारण विशेष अगुरुलघुत्व नामा गुण-स्वरूप अगुरुलघुत्व नामा सन्नहवीं शक्ति है।

प्र सा/ता प ८०/१०१ अगुरुलघुगुणपडवृद्धिहानिरूपेण प्रतिक्षण प्रवर्तमाना अर्थपर्याया ।—अगुरुलघु गुणको पदगुणहानि वृद्धि रूपसे प्रतिमण प्रवर्तमान अर्थ पर्याय होती है।

२ सिद्धोके अगुरुलघु गुणका लक्षण

सं टी १/४/४३ यदि सर्वथा गुरुत्व भवति तदा लोहपिण्डनदध-पतनं यदि च सर्वथा लघुत्व भवति तदा वाताह्लात्तूलवत्सर्वदैव भ्रमणमेव स्यात् च तथा तस्मादगुरुलघुत्वगुणोऽभिधीयते ।—यदि उनका स्वरूप सर्वथा गुरु हो तो लोहेके गोलेके समान वह नीचे पड़ा रहेगा और यदि वह सर्वथा लघु हो तो वायुसे प्रेरित आकस्मिकी रूईको तरह वह सदा धर उधर घूमता रहेगा किन्तु सिद्धोका स्वरूप ऐसा नहीं है इस कारण उनके 'अगुरुलघु' गुण कहा जाता है।

प टी १/६/६२ सिद्धावस्थायोग्य विशिष्टागुरुलघुत्व नामकर्मो-दयेन प्रच्छादितम्। गुरुत्वशब्देनोक्तगोत्रजनित महत्त्व भण्यते लघुत्व-शब्देन नीचगोत्रजनितं तुच्छत्वमिति तदुभयकारणभूतेन गोत्रकर्मो-दयेन विशिष्टागुरुलघुत्व प्रच्छाद्यत इति ।—सिद्धावस्थाके योग्य विशेष अगुरुलघुगुण, नामकर्मके उदयसे अथवा गोत्रकर्मके उदयसे उक्त गया है। क्योंकि गोत्र कर्मके उदयसे जब नीच गोत्र पाया, तब तुच्छ या लघु कहालाया और उच्च गोत्रमें बड़ा अर्थात् गुरु कहालाया।

३ अगुरुलघु नामकर्मका लक्षण

स सि ८/११/३६१ यस्योदयादय पिण्डवद् गुरुत्वाभाप पतति न चार्कतूलवत्तलधुरत्वाद्ध्वं गच्छति तदगुरुलघु नाम ।—जिसके उदयसे लोहेके पिण्डके समान गुरु होनेसे न तो नीचे गिरता है और न अर्क-तूलके समान लघु होनेसे ऊपर जाता है वह अगुरुलघु नामकर्म है। (रा वा ८/११/१२/४७७/१) (गो क/जी प्र ३३/२६/१२)।

ध ६/१.६ १२८/४८/१ अर्णताणतेहि पागलेहि आऊरियस्स जीवस्स जेहि कम्मवत्त चेहिता अगुरुअलहुअत्त होदि, तेसिमअगुरुअलहुअत्त सण्णा वारणे कज्जुवयारादो। जदि अगुरुअलहुअत्त कम्म जीवस्स ण होज्ज, तो जीवा लोहालओ व्व गरुअया अक्कतुल व हल्लओ वा होज्ज। ण च एव अणुवलभादो ।—अनन्तानन्त पुद्गलोंसे भरपूर जीवके जिन कर्मस्फूर्णोंके द्वारा अगुरुलघुपना होता है, उन पुद्गल स्फूर्णोंकी 'अगुरुलघु' यह सहा कारणमें कार्यके उपचारसे की गयी है। यदि जीवके अगुरुलघु कर्म न हो तो या तो जीव लोहेके गोलेके समान भारी हो जायेगा अथवा आकके तूलके समान हलका हो जायेगा। किन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि, वैसा पाया नहीं जाता है। (ध १२/४ ६.०१/३६४/१०)।

ध ६/१.६ २७६/१४/३ अण्णहा गरुअसरीरेण।ट्टद्धो जीवो उट्ठेडु पि ण सक्केज्ज। ण च एवं, सरीरस्स अगुरु-अलहुअत्ताणमणुवलभा ।—यदि ऐसा (इस कमको पुद्गल विपाकी) न माना जाये, तो गुरु भार वाले शरीरमें समुक्त यह जीव उठनेके लिए भी न समर्थ होगा। किन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि शरीरके केवल हनकापन और केवल भारीपन नहीं पाया जाता है।

* अगुरुलघु नामकर्मकी वन्व उदय मरव प्ररूपणाएँ व तत्सम्बन्धी नियम आदि—दे वह वह नाम।

४ अगुरुलघु गुण अनिवर्चनीय है

आ प ५/६ सूक्ष्मावागोचरा आगमप्रमाणादाम्युपगम्या अगुरुलघुगुणा ।—अगुरुलघु गुणका यह सूक्ष्म परिणमन वचनके अगोचर है। आगम प्रमाणके ही गम्य है। (न च /पु ४७)।

प ध प्र १/६२ किं वस्ति च कोऽपि गुणोऽनिवर्चनीय स्वत सिद्ध । नाम्ना चागुरुलघुरिति गुरुत्वस्य स्वानुभूतिलभ्यो वा ।—किन्तु स्वत सिद्ध और प्रत्यक्षदर्शियोंके लक्ष्यमें आने योग्य अर्थात् केवल-ज्ञानगम्य अथवा स्वानुभूतिके द्वारा जाननेके योग्य तथा नामसे अगुरुलघु ऐसा कोई वचनोंके अगोचर गुण है।

५ जीवके अगुरुलघु गुण व अगुरुलघु नाम कर्मोदयकृत अगुरुलघुमे अन्तर

ध ६/१ ६-२.७८/१३/११ अगुरुअलहुअत्त णाम सव्वजीवानं पारि-णाप्पिममरिय ।सिद्धे सु खोणोसेकम्मेषु वि तमुवलभा । तदो अगुरुअलहुअत्तकम्मस्स फलाभावा तस्साभावो इदि । एत्थ परिहारो उच्चदे-होज्ज एसो दोमो जदि अगुरुअलहुअत्त जीवविवाही होदि । किन्तु एद पोग्गनविवाही अगताणं सपोगलेहि गरुत्वासेहि आरुअस्स अगुरु-अलहुअत्तुपायणादो । अण्णहा गरुअसरीरेण।ट्टद्धो जीवो उट्ठेडु पि ण सक्केज्ज। ण च एवं, सरीरस्स अगुरु अलहुअत्ताणमणुवलभा ।—शका—अगुरुलघु नामका गुण सर्व जीवोंमें पारिणामिक है क्योंकि अशेष कर्मोंसे रक्षित सिद्धोंमें भी उसका सद्भाव पाया जाता है। इत्त-निण अगुरुलघु नामकर्मका कोई फल न होनेसे उसका अभाव मानना चाहिए। उत्तर—यहाँपर उक्त शकाका परिहार करते हैं। यह उपर्युक्त दाप प्राप्त होता, यदि अगुरुलघु नाम-कर्म जीवविपाकी होता। किन्तु यह कम पुद्गलविपाकी है, क्योंकि गुरुत्वशब्दाले अनन्तानन्त पुद्गल वर्णणाओंके द्वारा आरम्भ शरीरके अगुरुलघुताकी उत्पत्ति होती है। यदि ऐसा न माना जाये तो गुरु भारवाले शरीरसे समुक्त यह जीव उठनेके लिए भी न समर्थ होगा। किन्तु ऐसा है नहीं,

क्योंकि शरीरके केवल हृष्कापन और केवल भारीपन नहीं पाया जाता।

घ ६/१,६-१,२८/५८/४ अगुरुलघुअत नाम जीवस्स साहावियमत्थि चे ण, संसारावस्थाए कम्मपरतंतम्मि तस्साभावा । ण च सहावविणासे जीवस्स विणासो, लखणविणासे लखणविणासस्स णाव्यत्तादो । ण च णाण-दंसणे मुच्चा जीवस्स अगुरुलघुअत लखण, तस्स आयासादीसु वि उवलंभा । किं च ण एत्थ जीवस्स अगुरुलघुअत कम्मेण कीरइ, किंतु जीवन्हि भरिओ जो पोगलवत्तंधो, सो जस्स कम्मस्स उदएण जीवस्स गरुओ हलुवो वा त्ति णावइ तमगुरुलघुअत । तेण ण एत्थ जीवविसंय अगुरुलघुवत्तस्स गहणं ।—प्रश्न—अगुरुलघु तो जीवका स्वाभाविक गुण है (फिर उसे यहाँ कर्म प्रकृतियोंमें क्यों गिनाया) । उत्तर—नहीं, क्योंकि संसार अवस्थामें कर्म-परतत्र जीवमें उस स्वाभाविक अगुरुलघु गुणका अभाव है । यदि ऐसा कहा जाये कि स्वभावका विनाश माननेपर जीवका विनाश प्राप्त होता है, क्योंकि लक्षणके विनाश होनेपर लक्ष्यका विनाश होता है ऐसा न्याय है, सो भी यहाँ बात नहीं है, अर्थात् अगुरुलघु नामकर्मके विनाश होनेपर भी जीवका विनाश नहीं होता है, क्योंकि ज्ञान और दर्शनको छोड़कर अगुरुलघुत्व जीवका लक्षण नहीं है, चँकि वह आकाश आदि अन्य द्रव्योंमें भी पाया जाता है । दूसरी बात यह है कि यहाँ जीवका अगुरुलघुत्व कर्मके द्वारा नहीं किया जाता है किन्तु जीवमें भरा हुआ जो पुद्गल स्कन्ध है, वह जिस कर्मके उदयसे जीवके भारी या हलका नहीं होता है, वह अगुरुलघु यहाँ विवक्षित है । अतएव यहाँपर जीव विषयक अगुरुलघुत्वका ग्रहण नहीं करना चाहिए ।

६. अजीव द्रव्योंमें अगुरुलघु गुण कैसे घटित होता है

रा वा ८/११,१२/५७/१० धर्मदीनमजीवानां कथमगुरुलघुत्वमिति चेत् । अनादिपारिणामिकागुरुलघुत्वगुणयोगात् । —प्रश्न—धर्म अथमादि अजीव द्रव्योंमें अगुरुलघुत्व गुण कैसे घटित होता है । उत्तर—अनादि पारिणामिक अगुरुलघुत्व गुणके सम्बन्धसे उनमें उसकी सिद्धि हो जाती है ।

७. मुक्त जीवोंमें अगुरुलघु गुण कैसे घटित होता है

रा वा ८/११,१२/५७/३३ मुक्तजीवानां कथमिति चेत् । अनादि-कर्मनो कर्मसंबन्धानां कर्मोदयकृतमगुरुलघुत्वम् तदव्ययत्वविनिवृत्तौ तु स्वाभाविकमाविर्भवति । —प्रश्न—मुक्त जीवोंमें (अगुरुलघु) कैसे घटित होता है, क्योंकि वहाँ तो नामकर्मका अभाव है । उत्तर—अनादि कर्म नो कर्मके बन्धनसे बद्ध जीवोंमें कर्मोदय कृत अगुरुलघु गुण होता है । उसके अत्यन्ताभाव हो जाने पर मुक्त जीवोंके स्वाभाविक अगुरुलघुत्व गुण प्रकट होता है ।

अगृहीत चेटिका—दे स्त्री ।

अगृहीत मिथ्यात्व—दे मिथ्यादर्शन ३ ।

अग्नि—ज्ञा सा ५७ अग्नि त्रिकोण रक्त ।—अग्नि त्रिकोण व लाल होती है ।

१. अग्निके अगारवि भेद

मृत्ता २/२१ इगालजालअच्ची मुम्भुसुझाणी य अगणी य । ते जाण तेजजीवा जाणिता परिहरेद्व्या ।—धुआँ रहित अगार ज्वाला, दीपककी लौ, कंडाकी आग और वज्राग्नि, बिजली आदिसे उत्पन्न शुद्ध अग्नि सामान्य अग्नि—ये तेजस्कायिक जीव हैं इनको जान-कर इनकी हिसाका रयाग करना चाहिए (आचारोग निर्मुक्ति १६६) (पं स प्रा १/७७६) (घ १/१, १,२२/७३/गा १६१) (भ आ ॥ ६०८/८०६) (त सा २/६४) ।

२. गार्हपत्य आदि तीन अग्नियोंका निर्वेश व उपयोग

म पु ४/०८/२-६० त्रयोऽनय प्रणेया स्यु कमरिम्भे द्विजोत्तमे । रनत्रितयसकषपादग्नीन्द्रमुकुटोद्भवा ॥८२॥ तीर्थकृद्गणभूच्येप-

केव्यन्तमहोस्सवे । पूजाहगर्व समासाय पवित्रस्वमुपागता ॥८३॥ कुण्डत्रये प्रणेतव्यास्त्रय एते महाननय । गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्नि-प्रसिद्धय ॥८४॥ अस्मिन्नग्नित्रये पूजां मन्त्रे कुर्वन् द्विजोत्तम । आहिताग्निरिति ज्ञेयो नित्येज्या यस्य सप्रति ॥८५॥ हविष्पाके च धूपे च दीपोद्बोधनसविधौ । बह्वीनां विनियोग स्यादमीषां नित्यपूजने ॥८६॥ प्रयत्नेनाभिरक्ष्य स्यादिदमग्नित्रय गृहे । नैव दातव्यमन्येभ्यस्तेऽन्ये ये स्युरसंस्कृता ॥८७॥ न स्वतोऽग्ने पवित्रस्व देवतारूपमेव वा । किन्त्वहं हिव्यमूर्तोज्यासमन्धात् पावनोऽनल ॥८८॥ तत पूजाहृतामस्य मत्वाचन्ति द्विजोत्तमा । निर्वाणक्षेत्र-पूजावत्तत्पूजातो न द्रव्यति ॥८९॥ व्यवहारनयापेक्षा तस्येष्टा पूज्यता द्विजैः । जनैरध्यवहार्योऽयं नयोऽष्टावैदप्रजन्मन ॥९०॥—क्रियाओं-के प्रारंभमें उत्तम द्विजोंको रत्नत्रयका सकष्य कर अग्निकुमार देवोंके इन्द्रके मुकुटमें उत्पन्न हुई तीन प्रकारकी अग्नियों प्राप्त करनी चाहिए ॥८२॥ ये तीनों ही अग्नियों तीर्थकर गणधर और सामान्य केवलीके अन्तिम अर्थात् निर्वाणोत्सवमें पूजाका अंग होकर अत्यन्त पवित्रताको प्राप्त हुई मानी जाती है ॥८३॥ गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि नामसे प्रसिद्ध इन तीनों महाअग्नियोंको तीन कुण्डोंमें स्थापित करना चाहिए ॥८४॥ इन तीनों प्रकारकी अग्नियोंमें मन्त्रोंके द्वारा पूजा करनेवाला पुरुष द्विजोत्तम कहलाता है । और जिसके घर इस प्रकारकी पूजा नित्य होती रहती है वह आहिताग्नि व अग्निहोत्री कहलाता है ॥८५॥ नित्य पूजन करते समय इन तीनों प्रकारकी अग्नियोंका विनियोग नैवेद्य पकानेमें धूप खेनेमें और दीपक जलानेमें होता है अर्थात् गार्हपत्य अग्निसे नैवेद्य पकाया जाता है, आहवनीय अग्निमें धूप खेई जाती है और दक्षिणाग्निसे दीप जलाया जाता है ॥८६॥ घरमें बड़े प्रयत्नसे इन तीनों अग्नियोंकी रक्षा करनी चाहिए और जिनका कोई संस्कार नहीं हुआ है उसे अन्य लोगोंको कभी नहीं देनी चाहिए ॥८७॥ अग्निमें स्वयं पवित्रता नहीं है और न वह देवता रूप ही है किन्तु अर्हन्त देवकी दिव्य मूर्तिकी पूजाके सम्बन्धसे वह अग्नि पवित्र हो जाती है ॥८८॥ इसलिये ही द्विजोत्तम लोग इसे पूजाका अंग मानकर इसकी पूजा करते हैं अतः निर्वाण क्षेत्रकी पूजाके समान अग्निकी पूजा करनेमें कोई दोष नहीं है ॥८९॥ ब्राह्मणोंको व्यवहार नयकी अपेक्षा ही अग्निकी पूज्यता इष्ट है इसलिये जैन ब्राह्मणोंको भी आज यह व्यवहार नय उपयोगमें लाना चाहिए ॥९०॥ (और भी देखो यज्ञमें आर्प यज्ञ)(दे मोक्ष ६/१) (भ आ ॥ ८/१८६६) ।

* अर्हन्तपूजामें ही अग्नि पवित्र है स्वयं नहीं—दे अग्नि २ ।

३. क्रोधादि तीन अग्नियोंका निर्वेश

म पु ६/७/२०२ २०३ त्रयोऽनय समुद्दिष्टा क्रोधाकामोदरागनय । तेषु क्षमाविरागस्वानशनाहुतिभिर्भवे ॥२०२॥ स्थित्वपिपितुमन्यस्तक्षरणा परमद्विजा । हरयामयज्ञमिदार्थमष्टमीमवनीं ययु ॥२०३॥—क्रोधाग्नि कामाग्नि और उदराग्नि ये तीन अग्नियों मतलायी गयी हैं । इनमें क्षमा, वैराग्य और अनशनकी आहुतियाँ देनेवाले जो ऋषि, यति, मुनि और अनगर रूपी श्रेष्ठ द्विज वनमें निवास करते हैं वे आरमयज्ञ कर इष्ट अर्थकी देनेवाली अष्टम पृथिवी मोक्ष स्थानको प्राप्त होते हैं ।

४. पचाग्निका अर्थ पचाचार

पंचमहागुरु भक्ति—पंचाचार-पंचगम्यसाहाय्य सूरिणो दिस्तु मोक्ष-गयासगया ।—जो पचाचार रूप पचाग्निके साधक हैं वे आचार्य परमेष्ठी हूँ उरकृष्ट मोक्ष लक्ष्मी देवें । (निशेष दे पचाचार) ।

५. प्राणायाम सम्बन्धी अग्निमण्डल

ज्ञा २/६/२२ २७/२८ स्फुल्लिङ्गपिङ्गलं भीममूर्ध्वज्ज्वालाशताचितम् । त्रिकोण स्वस्तिकोपेत तद्भीजं बह्निमण्डलम् ॥२२॥ मालार्कसंनि-

अज्ञान कहते हैं। मोक्षमार्गको प्रमुखता होनेके कारण आगममें अज्ञान शब्दमें प्रायः मिथ्याज्ञान कहना ही इष्ट होता है।

१ औदयिक अज्ञानका लक्षण

स सि २/६/१६६ ज्ञानावरणकर्मणः तदयान्पदाथानवसाधो भवति तदज्ञानमौदयिकम् । — पदार्थको नहीं जाननेको अज्ञान कहते हैं चूँकि वह ज्ञानावरण कर्मके उदयमें होता है इसलिये औदयिक है। रा वा २/६/१०६/८।

पं घ उ १/०२२ अस्ति यत्पुनरज्ञानमर्थौदयिकं स्मृतम् । तदस्ति ध्येयत्वरूपं यथा निश्चयेन स्रु १/०२२६ — और जो यथार्थमें औदयिक अज्ञान है वह मृत देहकी तरह ध्येय रूप है।

२ क्षयोपशमिक अज्ञानका लक्षण

१ मिथ्याज्ञानकी अपेक्षा

रा वा १/११/६०४/८ मिथ्यादर्शनोदयापादितकालुष्यमज्ञानं त्रिविधम् । — मिथ्यादर्शनके उदयमें उत्पन्न होनेवाला अज्ञान तीन प्रकारका है। (३ स १/१/१४) (त मा १/१३६)।

घ १/१११६/२४३/७ मिथ्यात्वमवेतज्ञानस्यैव ज्ञानकार्यकिर्णद्वानवपदेशात् । — मिथ्यात्व सहित ज्ञानको ही ज्ञानका कार्य नहीं करनेसे अज्ञान कहा है। (घ १/११७४/२४३/३)।

स सा १/आ २४७ सोऽज्ञानत्वात्तन्मिथ्यादृष्टिः । — (परके कर्तृत्व रूप अध्यवसायके कारण) अज्ञानी होनेसे मिथ्यादृष्टि है।

स सा १/ता वृ ८८/१४४ शुद्धास्मादितत्त्वभावविषये विपरीतपरिच्छित्तविकारपरिणामा जीवम्याज्ञानम् । — शुद्धास्मादि भाव तत्त्वोंके विषयमें विपरीत ग्रहण रूप विकारी परिणामोंको जीवका अज्ञान कहते हैं।

प घ उ १/०२१ त्रिषु ज्ञानेषु चैतेषु यस्यादज्ञानमर्थतः । सायोपशमिक तत्त्वज्ञान स्यादौदयिकं कथितम् । — इन तीन ज्ञानोंमें जो वास्तवमें अज्ञान है अर्थात् ज्ञानमें विरोधता होते हुए भी यदि वह सम्यग्दर्शन सहित नहीं तो उसे वास्तवमें अज्ञान कहते हैं। वह अज्ञान सायोपशमिक भाव है। क्योंकि औदयिक नहीं कहा जा सकता।

स सा १/पं जयचन्द्र/१६६ मिथ्यात्व सहित ज्ञान ही अज्ञान कहलाता है। (स सा १/पं जयचन्द्र/७४, १७०)।

२ दूषित ज्ञानकी अपेक्षा

घ १/११२०/१६३/६ यथायथमप्रतिभासितार्थं प्रत्ययानुविद्वावगमोऽज्ञानम् । — न्यूनता आदि दोषोंमें युक्त यथावस्थित अप्रतिभासित हुए पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुए तत्त्वमन्वी बोधको अज्ञान कहते हैं।

न च वृ ३/०६ सम्यक्विमोहविभ्रमजुतं ज तं तु होह अण्णाण । अहा कुसच्छाज्जेयं पावपं हवदि तं नां ३/०६ । — मगध विमोह, विभ्रममें युक्त ज्ञान अज्ञान कहलाता है अथवा कुशास्त्रोंका अध्ययन पापका कारण होनेसे वह भी अज्ञान कहलाता है। (घ १/११७/१४०/३)।

३ अज्ञान मिथ्यात्वकी अपेक्षा

स सि ८/१/३७५ हिताहितसंप्रतिभासितविरोधज्ञानिकत्वम् । — हिताहितकी परीक्षासे रहित होना अज्ञानिक मिथ्यादर्शन है। (रा वा ८/१/२८/६६४/२२)।

ग वा ८/१/१२/६६२/१३ अत्र चोद्यते-मादरायणवसुजैमिनिप्रभृतीनां श्रुतिविहितस्मियाभ्यासिनां कथमज्ञानिकत्वमिति । उच्यते-प्राणि-बोधमसाधनाभिप्रायात् । न हि प्राणिवध पापहेतुधर्मसाधनत्वमापत्तमस्ति । — प्रश्न—मादरायण वसु, जैमिनी आदि ती वेद विहित क्रियाओंका अनुष्ठान करते हैं, वे अज्ञानी कैसे हो सकते हैं ? उत्तर—इनने प्राणी वधको धर्म माना है (परन्तु) प्राणी वध तो पापका ही

साधन हो सकता है धर्मका नहीं। (इनकी यह मान्यता ही अज्ञान है।)

घ ८/३,६/२०/४ विधागिज्जमाणे जीवाजीवादिपयस्येण ण त्ति णिच्छा-णिच्चवियप्येहि ततो मत्तामण्णाणमेव । जाण णि । त्ति अहिणिवेमो अण्णाणमिच्छत्त । — नित्यानित्य विस्फोटसे विचार करनेपर जीवा-जी-आदि पदार्थ नहीं हैं, अतएव सम अज्ञान ही है ज्ञान नहीं है ऐसे अभिनिवेशका अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं।

त सा १/५/७/७८ हिताहितविवेकस्य यत्रायन्तमदर्शनम् । यथा पशुवधो धर्ममन्तदज्ञानिकमुच्यते । — जिम मतमें हित और अहितका मिलबुल हो विवेचन नहीं है। पशुवध धर्म है इस प्रकार अहितमें प्रवृत्ति करानेका उपदेश है वह अज्ञानिक मिथ्यात्व है।

नोट—और भी देखा अज्ञानवाद।

३ मति आदि ज्ञानोंको अज्ञान कैसे कहते हैं

घ ७/२,१४६/८८/७ कथं मद्विअण्णाणिस्स त्वओवसमिया लद्धी । मद्विअण्णाणावरणस्स देशवादिफहयाणमुदएण मद्विअण्णाणितुव-लभादो । जदि देसधादिफहयाणमुदएण अण्णाणित्ति हाद तो तस्स ओदइयत्तं पसज्जेवे । सत्त्वधादिफहयाणमुदयाभावा । कथं पुण त्वओवसमियत्तं । आवरणे मते वि आवगणिज्जस्स णाणस्स एगदमो जप्पिह उदए उल्लभ्यं तस्म भावस्स त्वओवसमवधएमादो त्वओव-समियत्तमण्णाणस्स ण विरुज्जमेदो । अघवा णाणस्स विणासा ग्गओ णाम, तस्स उवसमो एगदमवखओ तस्स त्वओवसमसण्णा ।

सपहि दोणह (सत्त्वधादिफहयाणमुदयत्त्वएण तस्मि चैव संतोव समेण) पडिमेहं काटूण दसधादिफहयाणमुदयणेव त्वओवसमिय भावो होदि त्ति परवत्तस्स सुववयणविहरा किण्ण जायदे । ण, जदि सत्त्वधादिफहयाणमुदयत्त्वएण सजुत्तदसधादिफहयाणमुदयणेव त्वओवसमिय भावा इच्छिज्जदि ता फासिदिय-कायजोगा मदि सुद-णाणाणं त्वओवसमिओ भावा णावदे फासिदियावरण वीरियतराइय-मदि-सुदणाणावरणाण सत्त्वधादिफहयाणं सत्त्वकालमुदयाभावा । ण च सुववयणविरोहो वि इदियजोगमगणासु अण्णेसिमाहरियाण स्सवाणक्कमजाणावणटठं तत्थ तथपरुक्कादा । ज नदो णियमेण उप्पज्जदि तं तस्स कज्जमियर च कारण । ण च देसधादिफहयाण-मुदयो व सत्त्वधादिफहयाणमुदयत्त्वओ णियमेण अप्पवणो णाण-जणअं, त्वोणकसायचरिममप ओहिमणपज्जवणाणावरणसत्त्वधादि-फहयाण त्वण सत्त्वपज्जमाणआहिमणपज्जवणाणाणमुवत्तभाभावादो ।

— प्रश्न—मति अज्ञाना जावक सायोपशम लब्ध कैसे मानो जा सकेगी है ? उत्तर—वर्गोंके, उस जीवके मर्यादज्ञानावरण कर्मक देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे अज्ञानत्व पाया जाता है। प्रश्न—यदि देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे अज्ञानत्व होता है तो अज्ञानत्वको औदयिक भाव माननेका प्रसंग आता है ? उत्तर—नहीं आता, क्योंकि वहाँ सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयका अभाव है। प्रश्न—तो फिर अज्ञानत्व में सायोपशमिकत्व क्या है ? उत्तर—आवरणके होते हुए भी आवरणीय ज्ञानका एक दश जहाँपर उदयमें पाया जाता है उसी भावको सायोपशमिक नाम दिया जाता है। हमने अज्ञानका सायोपशमिक भाव माननेमें कोई विरोध नहीं आता। अथवा ज्ञानके विनाशका नाम भय है उस क्षयका उपशम हुआ एकदेश क्षय। इस प्रकार ज्ञानके एक देशीय क्षयकी सायोपशम मज्ञा मानी जा सकती है। प्रश्न—यहाँ (मति अज्ञान आदिकमें) सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय, क्षय और उनके सत्त्वापशम इन दोनोंका प्रतिपेध करके वेदस देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे सायोपशमिक भव होता है ऐसा प्ररूपण करनेवालेके स्वबचन वगैरह दोष क्या नहीं होता ? उत्तर—नहीं होता क्योंकि यदि सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयक्षयसे सयुक्त देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे ही सायोपशमिक भाव मानना इष्ट है तो स्पष्टानेन्द्रिय काययाग और मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान इनके सायोपशमिक भाव प्राप्त नहीं होगा। यथार्थ स्पर्शान्द्रियावरण,

बोयान्तराय और मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान इनके आवरणोंके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयका सब कालमें अभाव है। प्रश्न—[फिर आगममें “सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय, उन्हींका सदवस्था रूप उप शम व देशघातीका उदय” ऐसा क्षयोपशमका लक्षण क्यों किया गया।] उत्तर—अन्य आचार्योंके व्याख्यान क्रमका ज्ञान करानेके लिए वहाँ वैसा प्ररूपण किया गया है। इसलिए स्ववचनविरोध नहीं आता। जो जिससे नियमत उत्पन्न होता है वह उसका कार्य होता है और वह दूसरा उसका उत्पन्न करनेवाला उसका कारण होता है। किन्तु देशघाती स्पर्धकोंके उदयके समान सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय क्षय नियमसे अपने-अपने ज्ञानके उत्पादक नहीं होते क्योंकि, क्षीणकपायके अन्तिम समयमें अवधि और मन वयस ज्ञानावरणोंके सर्वघाती स्पर्धकोंके क्षयसे अवधि-ज्ञान और मन वयस ज्ञान उत्पन्न होते हुए नहीं पाये जाते।

दे ज्ञान III। मिथ्यात्वके कारण ही उसे मिथ्याज्ञान कहा जाता है। वास्तवमें ज्ञान मिथ्या नहीं होता।

४. अज्ञान नामक अतिचारका लक्षण

म आ /मू आ /६१३/८१३ अज्ञानी आचरणदशानात्ताचरण, अज्ञानिना उपनोत्तस्य उद्गमादिदोषदुष्टस्य उपकरणदे सेवनं वा ११३। —अज्ञ जोबोंका आचरण स्वकर स्वयं भी वसा आचरण करना, उसमें क्या दोष है इसका ज्ञान न होना अथवा अज्ञानीके लाये, उद्गमादि दोषोंसे सहित ऐसे उपकरणादिका सेवन करना ऐसे अज्ञानसे अतिचार उत्पन्न होते हैं।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

- * अज्ञान सम्बन्धी शका समाधान—दे ज्ञान III/१।
- * सासादन गुणस्थानमें अज्ञानके सद्भाव सम्बन्धी शका—दे सासादन १।
- * मिश्र गुणस्थानमें अज्ञानके अभाव सम्बन्धी शका—दे मिश्र २।
- * ज्ञान व अज्ञान (मत्पज्ञान) में अन्तर—दे ज्ञान III/२/८।
- * अज्ञान क्षायोपशमिक कैसे है—दे मतिज्ञान २/४।

अज्ञान निग्रहस्थान—न सू /६/२/१०३/१६ अविज्ञात चाज्ञानम् ७७।

—बादोके कथनका परिपद-द्वारा विज्ञान किये जा चुकनेपर यदि प्रतिबादोको विज्ञान नहीं हुआ है तो प्रतिबादोका अज्ञान इस नामका निग्रहस्थान होगा। (रत्न वा ४/न्या २४१/४१३/१३)।

अज्ञान परिपद—स सि /६/६/४२७ अज्ञोऽयं न वेति पशुसम इत्येवमाद्यधिसंपवचन सहमानस्य परमदुश्चरतपः। अनुष्ठानिनो नियमप्रमत्तचेतसो मेऽद्यापि ज्ञानातिशयो नोरपद्यत इति अनभिषदधत्ताऽज्ञानपरिपदजयाऽज्ञानत्वम् । —“मह मूल है कुछ नहीं जानता, पशुके समान है” इत्यादि तिरस्कारके वचनोंको मैं सहन करता हूँ, मैंने परम दुश्चर तपका अनुष्ठान किया है, मेरा चित्ति निरन्तर अभ्रमत्त रहता है, तो भी मेरे अभी तक भी ज्ञानका अतिशय नहीं उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार विचार नहीं करनेवालेके अज्ञान परिपदजय जानना चाहिए (रा वा /६/६/२७, ६१२/१३) (चा सा /१२०/१)।

* प्रज्ञा व अज्ञान परिपदमें भेदाभेद—दे प्रज्ञा परिपद १।

अज्ञानवाद—

१. अज्ञानवादका इतिहास

द सा /१० सिरिबीरण/हतिरये बहुस्तुदा पाससधगणिसो। मयकहि-पूरणसाह् अण्ण भासण तोए। २०। —महावीर भगवान्क तीर्थमें पारबनाथ तीर्थकरके सधके किसी गणीका शिष्य मस्करि पूरन नाम-

का साधु था। उसने लोकमें अज्ञान मिथ्यात्वका उपदेश दिया। (गो जी /जी प्र/१६)।

२. अज्ञानवादका स्वल्प

स सि /पं जगरूप सहाय/८/१/५ ५ की टिप्पणी—“क्रुस्ततज्ञानमज्ञान तथोपामस्ति ते अज्ञानिका। ते च यादिनश्च इति अज्ञानिक वादिन। ते च अज्ञानमेव श्रय असंस्मृत्यकृतकर्मवन्धवैफल्यात्, तथा न ज्ञानं कस्यापि कचिदपि वस्तुन्यस्ति प्रमाणसर्णं वस्तु-विषयत्वादिरयाचभ्युपगन्तव्यम् । —क्रुस्तत या खोटे ज्ञानको अज्ञान कहते हैं। वह जिनमें पाया जाये सो अज्ञानिक हैं। उन अज्ञानियोंका जो वाद या मत सा अज्ञानवाद है। उसे माननेवाले अज्ञान-वादी हैं। उनको मान्यता ऐसी है कि अज्ञान ही प्रेय है, क्योंकि असत् को चिन्ता करने किया गया कर्मोंका बन्ध विफल है, तथा किसीको भी, कभी भी, किसी भी वस्तु में ज्ञान नहीं होता, क्योंकि प्रमाणके द्वारा असम्पूर्ण ही वस्तुको विषय करनेमें आता है। इस प्रकार जानना चाहिए। (स्थानांग सूत्र/अभयदेव टी ४/४/३४६) (सूत्रकृतांग/शीलांग टी १/१२) (नन्दिसूत्र/हरिभद्र टीका सू ४६) (पददर्शनसमुच्चय/बृहद्वृत्ति/रत्नो १)।

गो क /मू ८८६-८८७/१०६६ को जाणइ णव भावे सत्तमसत्त दयं अव-चमिदि। अवयणजुदसत्तयं इदि भागोति तेसट्ठो ८८६। —को जाणइ सत्तचऊ भावं सुद्ध खु दोण्णिपतिभवा। चत्तारि होति एष अण्णाणीणं तु सत्तट्ठो ८८७। —जीवादिक नवपदार्थ निषिणं एक एक्को सप्तम अपेक्षा जानना। जीव अस्ति ऐसा कौन जानै है। जीव नास्ति ऐसा कौन जानै है। जीव अस्ति नास्ति ऐसा कौन जानै है। जीव अवक्तव्य ऐसा कौन जानै है। जीव अवक्तव्य ऐसा कौन जानै है। जीव अस्ति अवक्तव्य ऐसा कौन जानै है। ऐसे ही जीवको जायगा अजीवादिक कहें तरेसठि भेद हो हैं ८८६। प्रथम शुद्ध पदार्थ ऐसा लिखिए तौके उपरि अस्ति आदि च्यारि लिखिए। इन दोऊ पक्षि-निकरि उपजे च्यारि भग हो हैं। शुद्ध पदार्थ अस्ति ऐसा कौन जानै है। शुद्ध पदार्थ नास्ति ऐसा कौन जानै है। शुद्ध पदार्थ अस्ति नास्ति ऐसा कौन जानै है। शुद्ध पदार्थ अवक्तव्य ऐसा कौन जानै है। ऐसे च्यारि तो ए अर पूर्वोक्त तरेसठि मिलिकरि अज्ञानवाद सट्ठसठि हो हैं। भावार्थ—अज्ञानवाद वाले वस्तुका न जानना ही मानै हैं। (भा पा /प जयचन्द/१३७)।

भा पा /मू व टी /१३६ “सत्तट्ठो अण्णाणी १३६। सप्तपट्ठि—ज्ञानेन मोक्ष मन्वानां मस्करपूरणमसानुसारिणां भवति। —सट्ठसठ प्रकारके अज्ञान द्वारा मोक्ष माननेवाले मस्करपूरण मसानुसारीको अज्ञान मिथ्यात्व होता है। (वि दे—मस्करि पूरन)

३. अज्ञानवादके ६७ भेद

घ १/१ १,२/१०८/२ शाकश्य-वक्कल-कुथुमि-सात्यमुग्रि-नारायण-कण्व-माध्यंदिन मोद पैप्पलाद बादरायण-स्वेष्टकृदैतिकायन-वसु-जैमिन्या-दीनामज्ञानिकदृष्टीमां सप्तपट्ठि । —दृष्टिवाद अगमें—शाकश्य वक्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, नारायण, कण्व, माध्यंदिन, मोद, पैप्पलाद, बादरायण, स्वेष्टकृत्, ऐतिकायन, वसु और जैमिनि आदि अज्ञान-वादियोंके सट्ठसठ मतों का वर्णन और निराकरण किया गया है। (घ १/४, १४/२०३/६) (रा मा /१/२०/१२/७४/६) (रा वा /८/१/११/६२/७) (गो जी /जी प्र/३६०/८०/१३)।

गो क /मू /८८६ ८८७/१०६६ नव पदार्थ×सप्तमग—६३+(शुद्धपदार्थ)× (अस्ति, नास्ति, अव्यक्त, अव्यक्त—४ मिलिकरि अज्ञानवाद सट्ठसठ हा है। (मूलके लिए दे शीर्षक सं २)

अज्ञानी—दे मिथ्यादृष्टि।

अग्र—

१. विभिन्न अर्थोंमें—

घ १३/४ ६ ६०/२८८/६ चारिप्राच्छ्रुत्तं प्रधानमिति अग्रम्। कथं सत्त

श्रुतस्य प्रधानता । श्रुतज्ञानमन्तरेण चारित्रानुरूपते अथवा, अग्र्य मोम श्रुताहचर्याच्छ्रुतमप्यग्रमम् । —चारित्रसे श्रुतकी प्रधानता है इसलिए उसकी अग्र सत्ता है । प्रश्न—चारित्रसे श्रुतकी प्रधानता किस कारणसे है ? उत्तर—क्योंकि श्रुतज्ञानके बिना चारित्रकी उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए चारित्रको अपेक्षा श्रुतकी प्रधानता है । अथवा अग्र्य शब्दका अर्थ मोक्ष है, इसके पाहचर्यसे श्रुत भी अग्र्य कहलाता है ।

घ १४/५, ६, २२/३६७/४ जहणणिज्जत्ति ए चरिमणिसेओ अगं णाम ।
—जघन्य निर्वृत्तिके अन्तिम निपेक्ष की अग्र सत्ता है ।

स सि १६/२७/४४४ अग्र मुखम् । —अग्र है सो मुख है । (अर्थात् अग्रका मुख, सहारा, अवलम्बन, आश्रय, प्रधान वा सम्मुख अर्थ है ।)

२ आत्माके अर्थमे

रा वा १६/२७, ३/६२५/२३ अह्म्यते तदङ्गमिति तस्मिन्निति वाग् मुखम् ॥३॥

रा वा १६/२७ ७/६२५/२२ अर्थपर्यायवाची वा अग्रशब्द ॥७॥ अथवा अह्म्यते इत्यग्र अर्थ इत्यर्थ ।

रा वा १६/२७, २१/६२७/३ अङ्गतीत्यग्रमास्मेति वा ॥२१॥
जिसके द्वारा जाना जाता है या जिसमें जाना जाता है ऐसा अग्र मुख है । ३ । अग्र शब्द अथका पर्यायवाची है, जिसके द्वारा गमन किया जाये या जाना जाये सो अग्र या अर्थ है ऐसा अर्थ समझना । ७ । जो गमन करता है या जानता है सो अग्र आत्मा है । २१ ।

त अनु ६/२ अधवाहति जानातीत्यग्रमात्मा निरुक्ता । तत्त्वेपु चाग्र-गम्यत्वाद्वासावग्रमिति स्मृत ॥ ६/२ ॥ —जा गमन करता है या जानता है सो अग्र आत्मा है ऐसी निरुक्ति है या तत्त्वोंमें अग्रणी होनेके कारण यह आत्मा अग्र है ऐसा जाना जाना है ।

अग्रनिर्वृत्ति क्रिया—दे संस्कार २ ।

अग्रवया—(म प्र प्र ५०/५ पद्माला) वर्तमान नगर आगरा ।

अग्रस्थिति—दे स्थिति १ ।

अग्रहण वर्गणा—दे वर्गणा १ ।

अग्रायणी—घ ११/१, २/१९५/१ अगेणियं णाम पुब्ब अगाणं वण्णेह । —अग्र अर्थात् द्वादशीमें प्रधानभूत वस्तुके अग्र अर्थात् ज्ञानको अग्रायण कहते हैं, और उसका कथन करना जिसका प्रयोजन हो उसे अग्रायणी पूर्व कहते हैं ।

घ ११/१, २/१२३/६ अगाणमगपद वण्णेदं ति अगेणियं गुणणाम ।
—अगोंके अग्र अर्थात् प्रधानभूत पदार्थोंका वर्णन करनेवाला हानेके कारण अग्रायणीय यह गौण नाम है ।

घ १४/१ ४५/२२६/७ अगानामग्रमेति गच्छति प्रतिपादयतीति गोणणा-ममगेणिय । —अगों के अग्र अर्थात् प्रधान पदार्थको वह प्राप्त होता है अर्थात् प्रतिपादन करता है अतः अग्रायणीय यह गौण नाम है ।

* श्रुतज्ञानका द्वितीय पूर्व—दे श्रुतज्ञान III/१ ।

अग्राह्य वर्गणा—दे वर्गणा १ ।

अघ—एक ग्रह—दे ग्रह ।

अघन धारा—दे गणित II/५/२ ।

अघन मातृक धारा—दे गणित II/५/२ ।

अघातो प्रकृतियां—दे अनुभाग ३ ।

अचक्षुदर्शन—दे दर्शन ५ ।

अचक्षुदर्शनावरण—दे दर्शनावरण ।

अचल—१ जीवके अचल प्रदेश (दे जीव ४) २ द्वितीय भलदेव ।

अपरनाम अचलस्तोक (दे अचलस्तोक) । ३ पृष्ठ रुद्र । अपरनाम बल (दे शलाका पुरुष ७) । ४ भरत क्षेत्रका एक ग्राम (दे मनुष्य ४) । ५ पश्चिम घातकी खण्डका मेरु (दे लोक ४/२) ।

अचलप्र—कालका प्रमाण विशेष । अपरनाम अचलारम् चर्चिका (दे० गणित १/४)

अचलमात्रा—(ज प प्र १०५) Invariant mass

अचलस्तोक—(म पु ५८/१लोक) पूर्व भव न ३ में भरत क्षेत्र महापुर नगरका राजा बायुरथ । ८० । पूर्व भवन २ में प्राणतेन्द्र । ८२ । वर्तमान भव—यह द्वितीय भलदेव है । अपर नाम अचल—दे शलाका पुरुष ३ ।

अचलात्म—कालका प्रमाण विशेष—दे गणित १/४ ।

अचलावली—कालका प्रमाण विशेष—दे आबलि ।

अचित्त—भक्ष्य पदार्थोंका सचित्ताचित्त विचार—दे सचित्त ४ ।

अचित्त गुणयोग—दे योग १ ।

अचित्त योनि—स सि २/३२/१८८ तेषां हि योनिरुपपाददेश-पुद्गलप्रचयोऽचित्त । —उनके उपपाद देशके पुद्गल प्रचयरूप योनि अचित्त है । (रा वा २/३२/१८/ ४२/१) ।

अचेतन—आ प ११ अचेतनस्य भावोऽचेतनस्त्वमचेतन्यमननु-भवनम् । —जिस गुणके निमित्तसे ब्रह्म जाना जाये, पर जान न सके वह अचेतनत्व गुण है । अर्थात् जे वादि पदार्थोंको स्वयं न जान सके सो अचेतनत्व है ।

अचेलकत्व—म आ ५/११२९ ११२४/११३० देसमासियसुत्त आचेलकत्ति तं खु ठिडिकप्पे लुओत्थ आदिसो जह तालपल वसुत्तम्म ॥१२२३॥ णय होदि सजदो वत्थमिच्चणोण सेससगेहि । तस्मा आचेलक वाआ सन्वेसि होइ सगार्ण ॥१२४॥ —चेल शब्द परिग्रहका उपलक्षण है अतः चेल शब्दका अर्थ वस्तु ही न समझकर उसका साथ अन्य परिग्रहोंका भी ग्रहण करना चाहिए । इसके लिए आचार्यने तालपलम्बका उदाहरण दिया है । तालपलम्ब इस सामानिक शब्दमें जो तान शब्द है उसका अर्थ ताड़का वृक्ष इतना ही नहीं अपितु वनस्पतियोंका उपलक्षण रूप समझकर उससे सम्पूर्ण वनस्पतियोंका ग्रहण करते हैं । १२२३ । वस्तु मात्रका त्याग करनेपर भी यदि अन्य परिग्रहोंसे मनुष्य युक्त है तो इसको संयत मुनि नहीं कहना चाहिए । अतः बल्लके साथ सम्पूर्ण परिग्रह त्याग जिसने किया है वही अचेलक माना जाता है । (मू आ ३०) ।

* पाँच प्रकारके वस्त्र—दे वस्त्र ।

१ नाग्य परिग्रहका लक्षण—

स सि १६/६/४२२ जातरूपवज्जिप्पलज्जाऽतत्तुपधारणमशब्दमार्थनीय याचनारक्षणहिसनादिदोषविनिर्मुक्त निष्परिग्रहत्वाच्चिर्वाणप्राप्ति प्रत्येक साधनमनन्यसाधन नाग्यं विश्रुतो मनोविक्रियाविप्लुति-विरहत्वं स्वीरूपाण्यस्याशुचिकुरूपेण भावयतो रात्रिन्दिव ब्रह्म-चर्यमखण्डमाप्तिष्ठमानस्याचेलव्रतधारणमनवधमवगन्तव्यम् । —मालक-के स्वरूपके समान जो निष्कलक जातरूपको धारण करने रूप है, जिसका याचना करनेमें प्राप्त होना अशक्य है, जो याचना, रक्षा करना और हिंसा आदि दोषोंसे रहित है, जो निष्परिग्रह रूप होने-ने निर्वाण प्राप्तिका अनन्य साधन है, जो अन्य साधक नहीं है, ऐसे नाग्यका जो धारण करता है, जो मनके विक्रिया रूप उपद्रवसे रहित होनेके कारण स्थिरोंके रूपको अत्यन्त अपवित्र मदद्वारा अनुभव करता है, जो रात दिन अखण्ड ब्रह्मचर्यको धारण करता है,

उसके निर्दोष अचैनवत होता है। (रा मा। ६/६/१०/६०६/२६)
(पा सा। १११/५)।

* द्रव्यलिंगकी प्रधानता व भावलिंगके साथ समन्वय—
दे लिंग ४।

* सवस्त्र मुक्तिका निषेध—दे वेद ७।

२ अचेलकत्वके कारण व प्रयोजन

अ आ। वि। ४२१/६१०-६११/४ अनेना गतिस्स्यागागत्यो धर्मे प्रयुक्तो भवति। आकिचन्मरये अपि धर्मे समुद्यतो भवति अमरमारम्भे कुतोऽस्यम्। न निमित्तमस्मृत्याभिधानस्य। साय च अपेक्षस्य भवति। अतचित्तरतिरपि संपूर्ण भवति। रागादिके स्वयं भावविशुद्धिगम प्राप्त्यर्थमपि शिशुदत्तम् भवति। चात्मानमा व्यवसिष्ठते। मार्दवमपि तत्र सतिरिति। आर्द्रवता भवति सोढारचोपसर्गा निरचेलतामभ्युपगच्छता। तपोऽपि धारगनुष्ठित भवति। एवमचेलत्वोपदेशेन दक्षिणधर्मात्मानं वृत्तं भवति संश्लेषेण। अन्यथा प्रकम्यते अचेलताप्रकाश। संयमशुद्धिरेवो गुण। इन्द्रिय-विजयो द्वितीय। कषायाभाग्रहणोऽचेलताया। ध्यानस्याध्याग-योरविवनता च। ग्रन्थस्यागक्ष गुण। शरीर आदरमयक्त। स्ववशता च गुण। चेतोविशुद्धिप्रयत्नं च गुणोऽचेलताया। निर्भयता च गुण। अप्रतिशेखनता च गुण। चतुर्दशविधं उपधि, गृहतां बहुप्रतिशेखनता न तथाचेतस्य। परिकर्मजनन च गुण। रञ्जन इत्यादिकमनेकं परिकर्म मचेलस्य। स्वस्य वशप्रवरणादे स्वयं प्रमातृत्वं सीवन वा कुरितस्य कर्म विभूषा सूचार्त्तं च। नाथव गुण। अचेलोऽवोपधि स्थानासनगमनादिकास्तु क्रियास्तु वायुवद-प्रतिमद्वो लघुर्भवति नेतरः। तीर्थंकराचरितार्य च गुण जिना सर्व एवाचेलान्धो भविष्यत्तरच। प्रतिमास्तीर्थंकरमार्गागुमायिनरथ गणधरा इति तेऽप्यचेलस्तच्छिष्याश्च तथैवेति मिदमन्वयश्च। अतिप्रबलवीर्यता च गुण। इत्यं चेतो दोषा प्रचेलताया अपरि-मिता गुणा इति। = वरा रचितं यति सर्वं परिग्रहात्त्याग होनेने त्याग नामक धर्ममें प्रवृत्त होता है। आकिचन्म धर्ममें प्रवृत्त होता है। आरम्भका अभाव होनेसे अन्यम भी नष्ट हो चुका है। अतस्य भाषणका कारण ही नष्ट हो गया है। अचेलवगसे नाथवगुण प्राप्त होता है। अचौर्य महाव्रतकी पूर्णविस्था प्राप्त होती है। रागादिकषा त्याग होनेसे परिणामाभि निर्मलता आती है, जिससे ब्राह्मचर्यका निर्दोष रक्षण होता है। और उत्तमयोग गुण प्राप्त होता है। मार्दव गुण प्राप्त होता है आर्द्रव गुणकी लब्धि होती है। उपसर्ग व परिग्रह सहन करनेकी सामर्थ्य आराममें प्रगट होती है। चोर तपसा पालन भी होता है। अचेलता की प्रकाश अब दूसरे प्रकारस आचार्य कहते हैं—सयम शुद्धि होती है इन्द्रियविजय नामक गुण प्रगट होता है। लोभादिक कषायोका अभाव होता है। ध्यान स्वाध्याग निर्विघ्न होते हैं। परिग्रहत्याग नामका गुण प्रगट होता है। इससे आत्मा निर्मल होता है। शरीरपर अनादर करना यह गुण है। स्ववशता गुण प्रगट होता है। मन की विशुद्धि प्रगट होती है। निर्भयता गुण प्रगट होता है। अप्रतिशेखना नामक गुण भी निष्परि-ग्रहतासे प्राप्त होता है। चौदह प्रकारकी उपाधियोंका ग्रहण करनेवाले श्वेताम्बर मुनियोंकी बहुत सशोधन करना पड़ता है, परन्तु दिगम्बर मुनियोंकी उसकी आवश्यकता नहीं। परिकर्मवर्जन नामका गुण है। रंगाना इत्यादिक कार्य ब्रह्म संहित मुनिका करने पड़ते हैं। स्वत के पास वरा प्रावरणादिक हो तो उसकी धाना पड़ेगा, फटने-पर सोना पड़ेगा, ऐसे कुत्सित कार्य करने पड़ेगे तथा वरा समाप होनेसे अपनेको अलकृत करनेकी इच्छा होती है। और इसमें माह उपपन्न होता है। अचेलतामें लाघव नामक गुण है। निवरा मुनि खड़े रहना, बैठना, गमन करना इत्यादिक कार्योंमें वायुके समान अप्रतिमद रहते हैं। तीर्थंकराचरित नामका गुण भी अचेलतामें

रहता है। जितनी तीर्थंकर हो चुके और होनेवाले हैं वे सब पराहित होकर ही तप करते हैं। जिनवर्तिमार्थ और तीर्थंकरोंके आगमानी गणधर भी निर्वन्त्र हो हैं। उनमें मय शिष्य भा वरा रचित है होने हैं। नानतामें अपना सम और योग्य प्रगट करता वह गुण है। नगणामें दोष तो है ही नहीं परन्तु गुणमात्र पराहित है।

* कदाचित् स्त्रीको गमन करनेकी आज्ञा—२ णिग १/८।

३ कदाचित् परिस्थितिवश यस्या ग्रहणकी आज्ञा

अ आ। वि। ४२१/६ १/८ अथैव मन्त्रे पुनर्यमेषु वराय प्रादिग्रहणं कृतं दिश्यु। तस्या त्वाचारवर्धनो भवितुम्—“प्रतिज्ञा त्वावशस्वमुप-मिति। अतस्तु पात्रादिषु वर्यं प्रतिज्ञेयता न च प्राप्ता। मन्त्राग्ने गदिन प्राप्ते कथमनामि मूत्राणि नीयते।” निषेधोऽनुवर्त्त—“अग्नि-पाहं वराय वन्मां जा भिषतु पट्टिमहिदि नृपदि मार्गिग सप्तम-हाह। एव मूत्रनिर्दिष्टे येने अचेलता वरा इत्यत्र चेतो चार्थकता-मागमे अनुसृतं वरा वारायमया। भिक्षुः होमनयोग्यः शरीर, वराया दुरवर्माभिनस्वमानवोऽपि मा वरादहम्भे वा अभय म मूत्राणि। हिमममये दक्षिणधाराय वरिगृह्य भवत् तस्मिन्निष्ठः एव तीर्थमे गमागते प्रतिष्ठापयेदिति। वारायमेषु सप्तमाराः सप्तम्। मन्त्रो-विशेषोपादानाद्वेदानामपरिग्रहण इति चेत् अचेलतावश च निषेधः। प्रभातनादिकमन्त्राविरहात्परिज्ञेयता वराय वरिगृह्य अचेल-नता नाम परिग्रहस्याग पात्रं च परिग्रह इति ह्यस्यापि त्वाय मिदं चेति। तस्मात्कारणात् यस्याग्रहणम्। मन्त्रवश-गृहो वरायमेषु सप्तम ग्रहणविधि गृहीताया च परिग्रहमन्त्र-वस्तुवशेव। तस्माद्द्वयं पात्रं चार्थविचारमेषु मूत्रेषु मूत्र-यदुक्तं तस्मात्तन्मन्त्रेण निर्दिष्टमिति प्राप्ताम्। = परन्तु पुनर्यमेषु वरा पात्रादिकसे ग्रहण करनेका विधान सिद्ध है। ब्रह्म-प्रणिधि नामक ग्रन्थमें लिखा है— पात्र और वरमन्त्र। अवरग शोधना चार्हित। अमति उनका प्रतिशेखन आचरण है। मन्त्र वरा पात्रादिकका विधान न होता है, प्रतिज्ञेयता निश्चयसे करनेका विधान क्यों लिखा जाता। (आचार्यग जान् मूत्रोंमें भी इसी प्रकारसे अनेक उद्धरण उल्लेख होते हैं) मन्त्र पात्र यदि प्राप्त नहीं हैं ऐसा आगममें लिखा जाता है, इस मूत्राया उल्लेख कैसे होता। वरा पात्रसे सम्बन्धमें ऐसा प्रमाण है मन्त्र प्रकार वरा वरमन्त्रोंका ग्रहण करनेमें मुनिका न्युपमादिक नामक प्राग्विचर विधि करने पड़ती है। इस प्रकार मूत्रोंमें ग्रहणका विधान है हमसि ए अचेलता या तन्मताया आचरण विवेचन के दोष माना जायेगा। उत्तर—आगममें प्राणिकाओंकी वस्त्र धारण करनेकी आज्ञा है। और कारणागे अपेक्षासे भिक्षुओंको वस्त्र धारणकी आज्ञा है। जा साधु लज्जालु हैं, जिनके शरीरके आदर वरमन्त्रोंमें अपेक्षा जिनके पुरवनिग वर चर्म नहीं है, जिनका निग अति दोष है। (अ आ। वि। ७७) जिनका अङ्गुलीय दार्य है, अथवा जा परिग्रह सहन करनेमें असमर्थ हैं वह वस्त्र ग्रहण करता है। जाँके दिनोंमें जिससे सर्दों सहन होती नहीं है वेग मुनिको वरा ग्रहण करक जाँके दिन समाप्त हान पर जीर्ण वस्त्र (पूराये वस्त्र) धारण करना चाहिए। कारणकी अपेक्षासे वरा ग्रहण करनेका विधान है (निरगन्तावश नहीं)। ग्रहण—जीर्ण वस्त्रका त्याग करनेका विधान आगममें है हमसि एव (मज्झिम) या जो अभी फटा नहीं है, वस्त्रका त्याग नहीं करना चाहिए, ऐसा आगममें सिद्ध होता है। उत्तर—ऐसा कहना अयोग्य है क्योंकि हमसे आचार्यग मूल वचन (मूल गायामे कथित) अचेलताके साथ विरोध आता है। प्रकातन आदि नस्कार न होनेसे वस्त्रमें जीवता आती है। इसी अपेक्षासे जीवताका कथन किया है। अचेलता शब्दका अर्थ सर्वं परिग्रह त्याग है। पात्र भी परिग्रह है, इसलिए उसका भी त्याग करना अवश्य सिद्ध होता है। अत कारणकी अपेक्षासे वस्त्र पात्रका ग्रहण करना सिद्ध होता

है। जो उपकरण कारणकी अपेक्षामें ग्रहण किया जाता है उसका रयाग भी अवश्य करना चाहिए। इसलिए वस्त्र और पात्रका अर्थाधिकारकी अपेक्षामें सूत्रांमें बहुत स्थानोंमें विधान आया है, वह सब कारणकी अपेक्षासे हा है, ऐसा समझना चाहिए।

नोट—[इस वादमें सभी उद्धरण श्वेताम्बर साहित्यमें से लिये गये हैं अतः ऐसा प्रतीत होता है कि विजयोदया टीकाकार आचार्यको श्वेताम्बरोंको प्रेमपूर्वक समझाना इष्ट था। वास्तवमें दिगम्बर आम्नायमें परिपहादिके कारण भी वस्त्रादिके ग्रहणकी आज्ञा नहीं है। यदि ऐसा करना ही पड़े तो मुनिपद छाड़कर नीचे प्रा जाना पड़ता है।] (और भी दे प्रवज्या १/४)।

अचैतन्य—दे अचेतन।

अचौर्य—दे अस्तेय।

अच्छेउज—वसतिका दोष—दे वसति।

अच्युत—१ कल्पवासी देवोंका एक भेद तथा उनका अवस्थान—दे स्वर्ग ४, २ कल्पस्वर्गमें १६वाँ स्वर्ग—दे स्वर्ग ४, ३ आरण अच्युत स्वर्गका तृतीय पटल व इन्द्रक—दे स्वर्ग ४, ४ (म पु/सर्ग/श्लोक)—पूर्व भव नं ८ में महानन्द राजाका पुत्र हारिवाहन था (८/२३७) पूर्व भव न ७ में सुकर बना (८/२२६) पूर्व भव न ६ में उत्तरकुरुमें मनुष्य पर्याय प्राप्त की (६/१०) पूर्व भव न ५ में ऐशान स्वर्गमें मणि-कुण्डल नामक देव हुआ (६/१८७) पूर्व भव न ४ में नदिपेण राजाका पुत्र वरसेन हुआ (१०/१५०) पूर्व भव न ० में विजय नामक राजपुत्र हुआ (११/१०) पूर्व भव न २ में सर्वाधिसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ (११/१६०) वर्तमान भवमें ऋषभनाथ भगवात्का पुत्र तथा भरतका छोटा भाई (१६/४) भरत द्वारा राज्य माँगा जानेपर विरक्त हो दीक्षा धारण कर ली (३४/१२६) भरतके मुक्ति जानेके बाद मुक्तिको प्राप्त किया (४७/३६६) इनका अपर नाम श्रीपेण था (४७/३७२-३७३)।

अच्युता—एक विद्या—दे विद्या।

अच्छे—वसतिका दोष—दे वसति।

अज—भारतीय इतिहासकी पुस्तक १/५०१-५०६ मगधका राजा था। शिशुनागवंशका था। समय—ई पू ४६।

अजयवर्मा—दे सा/प्र ३६-३७/ भोजवर्मा राजा था। भोजवंशकी वंशावलीके अनुसार (दे इतिहास) आप राजा यक्षोवर्मके पुत्र और विन्ध्यवर्मा (विजयवर्मा) के पिता थे। मालवा (मगध) में आपका राज्य था। घारा व उज्जैनी आपकी राजधानी थी। समय ई ११५३-११६२। (विशेष दे इतिहास ३/१)।

अजातशत्रु—मगधका एक राजा था तथा शिशुनागवंशका था।

अजितजय—ह पु/६०/४६० त्रि सा ८४५ ८४६ आगममें इस राजा—को धर्मका सस्थापक माना गया है। जयकि कविके अत्याचारोंसे धर्म व साधुसव प्राय नष्ट हो चुका था तब कविकका पुत्र अजितजय मगध देशका राजा हुआ था जिसने अत्याचारोंसे सन्तप्त प्रजाको सान्त्वना देकर पुन र धर्म धर्मकी श्रुति की थी। समय बी नि १०४० ई ५१४।

अजितधर—अष्टम रुद्र थे। (विशेष दे शालाकपुरुष ७)।

अजित—१ भ चन्द्रप्रभका शासक यक्ष—दे तीर्थंकर ४/३ २ एक ब्रह्मचारी था। ति-हनुमच्चरित्र (मु अनु/प्र २६/१)।

अजितनाथ—(म पु/४८/श्लोक) पूर्व भव नं ३ में विदेह क्षेत्रके मुसीमा नगरका विमलवाहन नामक राजा था (२-४), पूर्व भव नं २ में अनुत्तर विमानमें देव हुआ (१३), वर्तमान भव—दे तीर्थंकर ४।

अजितनाभि—नवम रुद्र थे। अपर नाम जितनाभि था। (विशेष दे शालाकपुरुष ७)।

अजितपुराण—१ कवि विजयसिंह (ई १४४८) कृत अपभ्रंश रचना २ अरुणमणि (ई १६४६) कृत भाषा काव्य।

अजितसेन—१ (म पु/४४/श्लोक) पूर्व घातकी खण्डमें राजा अजित-जयका पुत्र था (८६, ८७ ६२) पिताकी दीक्षाके पश्चात् क्रमसे चक्रवर्ती पद प्राप्त किया (६६, ६७) एक माहके उपवासी मुनिका आहार देकर उनसे अपने पूर्वभग मुने तथा दीक्षा धारण कर ली, मरकर अच्युतेन्द्र पद प्राप्त किया (१२० १२६) यह चन्द्रप्रभु भगवात्का पूर्वका पाँचवाँ भव है (२७६), २ राजा मार सिंह, इनके उत्तराधिकारी राजा राजमण्डल, इनके मन्त्री चामुण्डराय और इनके पुत्र जिनदेव ये सब समकालीन होते हुए मुनि अजितसेनके शिष्य थे। समय ई १० का उत्तरार्ध, जैन साहित्यका इतिहास २६७/प्रेमोजी, गा क मू २६६, चाहुमाल चरित्र श्लो ११, २८ जै १/३१६० ३ सेनगणमें पारवसेनके प्रशिष्य, कृति अलंकार चिन्तामणि समय ई १२५०।

अजीव—स सि/१८/१४ तद्विपर्ययलक्षणोऽजीव।—जीवसे विपरीत लक्षणवाला अजीव है।

स सि/४/२/२६६ तेषां धर्मादीनाम् 'अजीव' इति सामान्यसंज्ञा जीवलक्षणभावमुखेन प्रवृत्ता।—धर्मादिक द्रव्योंमें जीवका लक्षण नहीं पाया जाता है इसलिए उनकी अजीव यह सामान्य संज्ञा है।

प्र सा/त प्र/१२७ यत्र पुनरुपयोगसहचरिताया यथादितलक्षणायश्चेत-नाया अभावाद् बहिरन्तरश्चाचेतनत्वमवतीर्ण प्रतिभाति सोऽजीव।—जिसमें उपयोगके साथ रहनेवाली, यथोक्त लक्षणवाली चेतनाका अभाव होनेसे बाहर तथा भीतर अचेतनत्व अवतरित प्रतिभासित होता है, वह अजीव है।

द्र स/टी/१५/५० इत्युक्तलक्षणोपयागरचेतना च यत्र नास्ति स भवरय-जीव इति विज्ञेयम्।—इस प्रकारकी उक्त लक्षणवाली चेतना जहाँ नहीं है वह अजीव होता है ऐसा जानना चाहिए।

१ अजीवके दो आध्यात्मिक भेद

प प्र/टी/१/३०/३३ तच्च द्विविधम्। जीवसंबन्धमजीवसम्बन्ध च।—और बह दो प्रकारका है—जीव सम्बन्ध और अजीव सम्बन्ध।

२ अजीवके उपर्युक्त भेदोंके लक्षण

प प्र/टी/१/३०/३३ वेहरागारिरूप जीवसम्बन्ध, पुद्गलादिपञ्चद्रव्य-रूपमजीवसं बन्धमजीवलक्षणम्।—देहादिमें राग रूप ता जीव सम्बन्ध अजीवका लक्षण है और पुद्गलादि पञ्चद्रव्य रूप अजीव सम्बन्ध अजीवका लक्षण है।

३ पाँच अजीव द्रव्योंका नाम निर्देश

त सू/४/१,३६ अजीवकाया धर्माधर्मिकाः पुद्गला १। कालश्च। ३६—धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य, पुद्गल द्रव्य और काल द्रव्य ये पाँच अजीवकाय हैं। (प्र सा/त प्र/१०७) (द्र स/मू/१५/५०)।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

* धर्मादि द्रव्य—दे बह बह नाम।

* जीवको कथञ्चित् अजीव कहना—दे जीव १/३।

* अजीव-विचय धर्मध्यानका लक्षण—दे धर्मध्यान १।

* पद द्रव्योंमें जीव अजीव विभाग—दे द्रव्य ३।

अजीव आत्मव—दे आत्मव।

अजीव कर्म—दे क

अजीव निर्जरा—दे निर्जरा।

अजीव बन्ध—दे बध।

अजीव मोक्ष—दे मोक्ष।

अजीव विचय—दे धर्मध्यान १।

अजीव संवर—ये संवर ।

अट्ट—काल प्रमाणका एक विकल्प—दे गणित १/१/४ ।

अट्टाग—काल प्रमाणका एक विकल्प—दे गणित १/१/४ ।

अटार्ई द्वीप—अम्ब द्वीप धातकी खण्ड और पुष्पर द्वीपका अम्बर-वाला अर्ध भाग, ये मिलकर अटार्ई द्वीप कहलाता है । मनुष्यका निवास व गमनागमन इसके भीतर ही भीतर है बाहर नहीं, इसलिए इसे मनुष्य लोक भी कहते हैं । ये लोक ४/२ पर मानचित्र ।

अणिमा ऋद्धि—दे ऋद्धि ३ ।

अणु—रा वा ४/२६ १/४६१/११ प्रवेशमात्राभिनि स्पर्शादिभि गुण-स्सतत परिणमन्त इत्येव अण्वन्ते शब्दान्ते ये ते अणव । मोहस्या-दारमादय आरमभ्या आरमात्तारच । —प्रदेश मात्रा-भावि स्पर्शादि गुणोस्ते जो परिणमन करते हैं और इसी रूप से शब्दके विषय होते हैं वे अणु हैं । वे अश्वन्त सूक्ष्म हैं, इनका आदि मध्य अन्त एक ही है । प का /ता वृ ४/१२ अणुशब्देनात्र प्रदेशा गुह्यन्ते । —अणु शब्दसे यहाँ प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं ।

प्र म /टी २/६/७३/११ अणुशब्देन व्यवहारेण पुद्गलता उच्यन्ते यस्तु-वृत्त्या पुनरनुशब्द सूक्ष्मवाचक । —अणु इस शब्द द्वारा व्यवहार नयसे पुद्गलता कहे जाते हैं । वास्तवमें अणु शब्द सूक्ष्मता वाचक है ।

अणुव्यवस्थापईव—अपर नाम अणुव्यवस्थापईव है । कवि लखण (वि १३३३) कृत प्रायश्चित्तार निययक अपभ्रंश ग्रन्थ । (सी ४/१७६) ।

अणुविभजन—(ज प/प्र १०६) Atomic Splitation

अणुव्रत—दे व्रत ।

अतत्—१ प ध ३/३२ तदसद्भावविचारे परिणामो विसदृशोऽय-सदृशो वा ३३२ । —तत् व अतत् भावके विचारमें परिणामोंकी सदृशता विसदृशताका भेद होता है, २ द्रव्य में तत् अतत् धर्म—दे अनेकांत ४६ ।

अतत्त्वशक्ति—स सा /परि / शक्ति न ३० अतद्भावभावनरूपा अतत्त्वशक्ति । —तत्त्वस्वरूप न होने रूप हीसर्वी अतत्त्वशक्ति है ।

अतद्भाव—दे अभाव ।

अतिकाय—महोरग नामा व्यन्तर जातीय देवोंका एक भेद—दे महोरग । (व्यन्तर २/१) ।

अतिक्रम—रा वा ७/२३, ३/६२/१६ अतिचार अतिक्रम इत्यनयो-न्तरम् । —अतिक्रम भी अतिचारका ही दूसरा नाम है ।

रा वा ७/२७, ३/६४/११ उचितान्न्यायमाह्व अन्येन प्रकारेण दानग्रहण-मतिक्रम इत्युच्यते । —उचित न्याय्य भागसे अधिक भाग दूसरे उपायोस प्रहण करना अतिक्रम है । (यह लक्षण अस्तेयके अतिचारोंके अन्तर्गत ग्रहण किया गया है) ।

रा वा ७/३०, १/६४/१६ परिमितस्य दिग्बधेरतिलब्धमतिक्रम इत्यु-च्यते । —दिशाओंकी परिमित मर्यादाका उल्लंघन करना (दिग्भ्रतका) अतिक्रम है ।

रा वा ७/३१, ६/६६/१२ स्वयमनतिक्रमम् अन्येनातिक्रमयति सतोऽति-क्रम इति व्यपदिश्यते । —स्वय मर्यादाका उल्लंघन न करके दूसरेसे करवाता है । अतः उनको (आनयन आदिको) देशवतका) 'अतिक्रम' ऐसा कहते हैं ।

रा वा ७/३६, ६/६६/२८ अकाले भोजनं कालातिक्रम । १६ अनगाराणाम् अयोयवले भोजन कालासातिक्रम इति कथ्यते । —साधुओंका भिक्षा कालको टालकर अयोग्य कालमें भोजन देनेका भाव करना अतिथि संविभाग व्रतमें कालका अतिक्रम कहलाता है ।

पु सि ३० में उद्धृत 'अतिक्रमो मानसशुद्धिहानि उपतिक्रमो

यो विषयाभिनाय । तथापिचारं ज्ञानमगम्य भ्रमो हाना चारमिह वतानाम् । '—मार्गी पुष्टिर्न हानिहाना सो अतिक्रम है, विषयोंकी अभिनाया सा अतिक्रम है इन्द्रियोंकी अज्ञानधानी अथवा व्रतोंमें क्षिप्रिलता सो अतिचार है और सतत संयाग भग्न हो जाना सा अनाचार है । (सा वा ६)

अतिक्रान्त—(ज प/प्र १०६) xcr

अतिगोल—(ज प/प्र १०६) Right circular cylinder

अतिचार—रा वा ७/२३, ३/६२/१६ दर्शनमोहप्रमादतिचारमति-

चार । ३। दर्शनमोहोदयात्तत्त्वार्थप्रदानादतिचारमतिचार अतिक्रम इत्यनयोऽन्तरम् । —दर्शन मोह स्वयं तत्त्वार्थ-प्रदान में विचलित होना (सम्पन्नदर्शन) अतिचार है । अतिक्रम भी इसीका नाम है । प ८/३, ७३/८२/६ सुग्राहण-मतिग्राहकत्वं तस्य माया मोह इत्य-रुह लोग भय दुष्टुत्तरिध-पुष्टि सत्त्व-मतिग्राहकत्वात् अतिचारो एवेति विधानां निरतिचारो मनुष्यत्वात् तस्य भावो निरतिचारदा । —सुरापान, मांसभक्षण क्रोध मातृ माया मोह हारव रति, क्षात्र भय, जुगुप्सा, क्रोधेद पुत्रप्रेद वर्ग मनुष्य वेद इनके रक्षण न करनेका ताम अतिचार है और इन ६ विनाशक नाम निरतिचार या सम्पूर्णता है । इसमें भावको निरतिचारता कहते हैं ।

सा वा १३/२ वक्तव्यम्याकर्ण वर्जनीयम्याकर्णो गतार्द तोऽतिचार । —किसी करने योग्य कार्यका करनेवा और रक्षण करने योग्य पदार्थके रक्षण न करनेवा जो पाव होता है उसे अतिचार कहते हैं ।

सा वा ६ प्रमोऽतिचार विषयेषु वर्तनम् । —विषयोंमें वर्तन करनेका नाम अतिचार है ।

सा ध ४/१८ सापेक्षस्य वते हि स्यादतिचारोऽशब्दजन्य । मन्त्रतन्त्र-प्रयोगावा, परेऽप्युच्चारणस्थायया । — ई प्रण विषे ह्य अहिंसा मताया भंग नहीं कर्त्तव्य " ऐसी प्रतिष्ठा करनेवाले प्रायश्चित्तव्रतका एक अंश भंग होना अपावि चारे अतर्ग व्रतका ल्पन होना अप्रमा यतिरग व्रतका ल्पन होना उस व्रतमें अतिचार कहलाता है । दे अतिक्रम/पु सि इन्द्रियोंकी अज्ञानधानी अपावि व्रतोंमें क्षिप्रिलता सो अतिचार है ।

१ अतिचार सामान्यके नेव

भ आ /पु व वि १८७/०६ दम्पणाणादिचारे वदादिचारे तथा-दिचारे य । ऐसत्त्वाए विविधे मन्त्रत्वाए य आवण्णो १४८५। सर्वो द्विषकार इत्याचन्दे देशत्वाए विविधे देशातिचार नानाप्रकार मनोबाह पागभेदादृत्तचारितानुमतविविधत्वाच्च । मन्त्रत्वागे य सर्वातिचारे च आवण्णो आपन्न । —सम्पन्नदर्शन और ज्ञानमें अतिचार उत्पन्न हुए हों, देशरूप अतिचार उत्पन्न हुए हों अथवा सब प्रकारसे अतिचार उत्पन्न हुए हों ये सर्व अतिचार स्वयं आचार्यक पास विस्वास्त युक्त होकर गते १४८७। अतिचारके देशरम्य और सर्व-रम्य ऐसे दो भेद हैं । मन, वचन, शरीर, वृत्त वाग्नि और अनु-मोदन ऐसे नौ भेदोंमें से किसी एकके द्वारा सम्पन्नदर्शनादिबोम दाय उत्पन्न होना ये देशातिचार हैं और सर्वप्रकारसे अतिचार उत्पन्न होना सर्वरम्यातिचार है ।

भ आ /वि ६/१२/८२/६ [इस प्रकरणमें अतिचारोंके लक्षण दिये हैं । परन्तु यहाँ पर केवल भाषामें अतिचारोंके नाम माय दते हैं] १ अज्ञानातिचार २ अनाभोगवृत्त अतिचार ३ आपात अतिचार ४ आर्तातिचार ५ उपधि अतिचार, ६ उपचारातिचार, ७ गौरय अतिचार, ८ तित्तिणदा अतिचार, ९ देशातिचार १० परवशातिचार, ११ पालिकुंघन अतिचार १२ प्रदेयातिचार, १३ प्रमादातिचार, १४ भयातिचार, १५ परीक्षा मोर्मासा अतिचार १६ यचनातिचार, १७ वसति अतिचार १८ विनयातिचार १९ शक्तितातिचार; २० सर्वातिचार, २१ सहसातिचार २२ स्नेहाति-चार २३ स्वप्नातिचार, २४ स्वयं बोधक अतिचार तथा इसी प्रकार अन्य भी अनेकों अतिचार हो सकते हैं ।

- * आखेट व झूठके अतिचार—वै वह वह नाम ।
- * ईशसमितिके अतिचार—वै समिति १ ।
- * कायोत्सगिके अतिचार—वै व्युत्सर्ग १ ।
- * जलगालनके अतिचार—वै जलगालन २ ।
- * तपोके अतिचार—वै वह वह नाम ।
- * निरतिचार शालव्रत—वै शील ।
- * परस्त्री व वेश्याके अतिचार—वै ब्रह्मचर्य २ ।
- * मद्य, मास, मद्युके अतिचार—वै वह वह नाम ।
- * मन, वचन, कायगुप्तिके अतिचार—वै गुप्ति २ ।
- * व्रतोंके अतिचार—वै वह वह नाम ।
- * सम्प्रज्ञानके अतिचार—वै आगम १ ।
- * सम्प्रदर्शनके अतिचार—वै सम्प्रदर्शन I/२ ।

२. अतिचारके भेदोंके लक्षण

अ आ / वि / ६१२/८१२/६ उपयुक्तोऽपि सम्प्रगतिचार' न वेत्ति सोऽनाभोगकृत व्याक्षिप्तचेतसा वा कृत । नदीपूर, अग्न्युत्थापनं, महावातागतं, वर्षाभिधात, परचक्ररोध इत्यादिका आपाता । रोगार्त शोकार्ता, वेदनार्त इत्यादि तत्रा विविधा । रसासक्तता मुखरता चेति द्विप्रकारता तित्तिणदाशब्दवाच्या । सचित किम-विचमिति शङ्किते द्रव्ये भञ्जनभेदनभक्षणभिराहारस्योपकरणस्य, वसतेर्वा उद्गमादिदोषोपहतिरस्ति न वेति शक्यायामप्युपादानम् । अशुभस्य मनसो वाचो वा ऋदिति प्रवृत्ति सहस्रेषुच्यते । एकान्तायां वसती ठालमृगयाप्रादयस्तेना वा प्रविशन्ति इति भयेन द्वारस्थगने जातोऽतिचारस्तोत्रकपायपरिणाम प्रदोष इत्युच्यते । उदकराज्यादि-समानतया प्रत्येक चतुर्विंशत्यारचत्वार कपाया । आत्मनश्चापरस्य वा बललापवादिपरीक्षा मीमांसा तत्र जातोऽतिचार । प्रसारितकरा-कुञ्चितम्, आकुञ्चितकरप्रसारणम्, धनुषाधारोपणं, उपलाय स्तेपणं, बाधनं, वृत्तिकण्ठकायु, श्लङ्घन, पशुसर्पादीनां मन्त्रपरीक्षणार्थं धारणं* औपध्वनीपर्योक्षणार्थं भञ्जनस्य चूर्णस्य वा प्रयोग इव्यस्योजनया त्रसानामेकेन्द्रियाणां च समुच्छेदना परीक्षा । अज्ञानामाचरणं दृष्ट्वा स्वयमपि तथा चरति तत्र दोषानभिज्ञ । अथवाहानिनोपनीतमुद्ग-मादिदोषोपहत उपकरणादिक सेवते इति अज्ञानाप्रवृत्तोऽतीचार । शरीरे, उपकरणे, वसतौ, कुले, ग्रामे, नगरे, देशे, बन्धुपु, पार्वस्थेषु वा ममेदमात्र स्नेहस्तेन प्रवर्तित आचार । मम शरीरमिदं शीतो वातो बाधयति, कटादिभिरन्तर्धानं, अग्निसेवा, ग्रीष्मातपनोदनार्थं प्रावरणग्रहण वा, उद्धर्तन वा । उपकरण विनश्यतोति तेन स्वकार्या करण यथा पिच्छविनाशभयादप्रमाजनं इत्यादिकम् । ग्रहण, तैलादिना कमण्डलादीनां प्रक्षालन वा, वसतिवृत्तादिभक्षणस्य भञ्जनादेर्वा ममतया निवारण, बहूनां यतीनां प्रवेशन मदीय कुल न सहते, इति भाषणं, प्रवेशे कोप, बहूनां न दातव्यमिति निषेधन, कुलस्थैव वैयावृत्यकरणम् । निमित्ताशुपदेशश्च तत्र ममतया ग्रामे नगरे वेशे वा अवस्थाननिषेधनम् । यतीनां सम्प्रधानां मुखेन मुखमात्मनो दृष्टेन द्रु खमिर्यादिरतिचारः । पार्वस्थानां बन्दना, उपकरणादिदानं वा । तदुल्लङ्घनासमर्थता । गुरुता, श्रद्धास्यागासहता, श्रद्धागौरवं, परिवारे कृतादरः । परकीयमात्मसात्करोति प्रियवचनेन उपकरणदानेन । अभिमतसत्यागोऽनाभिमतानादरश्च नितरां रसगौरवम् । निकास-भोजने, निकासशयनादौ वा आसक्ति सातगौरवम् । अनात्मवशतया प्रवर्तिततिचारः । उन्मादेन, पिप्तेन पिशाचदेशेन वा परवशता ।

अथवा ज्ञातिभि परिगृहीतस्य बलात्कारेण गन्धमावयादिसेवा प्रत्या-ख्यातभोजनं, मुखवासताम्बूलादिभक्षण वा स्त्रीभिरनपुसकैर्वा बलाद-ब्रह्मकरणम् । चतुर्षु स्वाध्यायेषु आवश्यकेषु वा आलस्यम् । उग्रधि-शब्देन मायोच्यते प्रच्छन्नमनाचारे वृत्ति । ह्यात्वा दातुकुलं पूर्वमन्ये-भ्य प्रवेश । कार्यापदेशेन यथा परे न जानन्ति तथा वा । भद्रक भुक्त्वा निरसमशन भुक्तमिति कथनम् । रत्नानस्याचार्यादेर्वा वैयावृत्य करिष्यामि इति किञ्चिद्गृहीत्वा स्वय तस्य सेवनम् । स्वप्ने वायोग्यसेवा सुमिणमिरयुच्यते । द्रव्यसेवकालभावाभयेन प्रवृत्तस्यातिचारस्यान्यथा कथन पालिकुरुचनशब्देनोच्यते । कथ, सचितसेवां कृत्वा अचितं सेवितमिति । अचित सेवित्वा सचित सेवितमिति वदति । तथा स्वावस्थाने कृतमध्वनि कृतमिति, सुभिसे कृतं बुभिसे कृतमिति, दिवसे कृतं रात्रौ कृतमिति, अकपायतया सपादितं तोवक्रोधायायिना सपादितमिति । यथावत्कृतालोचनो यतिर्यावत्सुरि प्रायश्चित्त प्रयच्छति, तावत्स्वयमेवेद मम प्राय-श्चित्तम् इति स्वयं गृह्णाति स स्वयं शोधक । एवं मया स्वशुद्धि-वृद्धिर्तेति निवेदनम्—(यद्यपि मूल ज्यो का रथो दे दिया है, पर सुविधार्थ भाषार्थ वर्णानुक्रमसे दिया है) १ अज्ञानातिचार—वै अज्ञान ४ । २ अनाभोग कृत—उपयोग देकर भी जिसे अतिचारोंका सम्प्रज्ञान नहीं होता, उसको अनाभोगकृत अतिचार कहते हैं । अथवा मन दूसरी तरफ लगने पर जो अतिचार होता है वह भी अनाभोग कृत है । ३ आपात—नदीपूर, अग्नि लगना, महावायु बहना, बुष्टि होना, शत्रुके सैन्यसे घिर जाना, इत्यादिक कारणोंसे होने वाले अतिचारोंको आपात अतिचार कहते हैं । ४ आर्त—रोग, शोक, या वेदनासे व्यथित होना ऐसे आर्तोंके तीन प्रकार हैं । इससे होने वाले अतिचारोंको आर्तातिचार कहते हैं । ५ उपाधि—उपधि शब्दका अर्थ माया होता है । गुप्त रीतिसे मायाचारमें प्रवृत्ति करना, दातोंके घरका शक्ति घरके अन्य मुनि जानके पूर्वमें वहाँ आहारार्थ प्रवेश करना, अथवा किसी कार्यके निमित्तसे दूसरे नहीं जान सके इस प्रकारसे प्रवेश करना, मिष्ट पदार्थ खानेको मिलनेपर 'मुझे विरस अन्न खानेको मिला' ऐसा कहना, रोगी मुनि आचार्यकी वैयावृत्यके लिए श्रावकोंसे कुछ चीज माँगकर उसका स्वयं उपयोग करना । ऐसे दोषोंकी अपलोचना करनी चाहिए । ६ उपचार—यह ठंडा हवा मेरे शरीरको पीडा देती है ऐसा विचार कर चटाईसे उसका ढकना, अग्निका सेवन करना, ग्रीष्म ऋतुका ताप मिटानेके लिए बस्त्र ग्रहण करना, उबटन लगाना, साफ करना, तैलादिकोंसे कमण्डलु इगैरह साफ करना, धाना, उपकरण नष्ट होगा इस भयसे उसको अपने उपयोगमें न लाना, जैसे—पिच्छका फड़ जायेगी इस भयसे उससे जमीन, शरीर व पुस्तकादि साफ न करना, ऐसे अतिचारोंकी उपचारातिचार यह सहा है । (और भी दे—सं १८ व १८) ७ गौरव—श्रद्धा । रयाग करनेमें असमर्थ होना, श्रद्धिमें गौरव समझना, परिवारमें आदर करना, प्रिय भाषण करके और उपकरण देकर परकीय वस्तु अपने बश करना, इसको श्रद्धि गौरव कहते हैं । इष्ट रसका रयाग न करना, अनिष्ट रसमें अनादर रखना, इसको रस गौरव कहते हैं, अतिशय भोजन करना, अतिशय सोना इसको सात गौरव कहते हैं । इन दोषोंकी अपलोचना करनी चाहिए । ८ तित्तिणदा—रसमें आसक्त होना और बाचात होना इसको तित्तिणदा अतिचार कहते हैं । ९ देशातिचार—(मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदनाके विकल्पोंसे देशातिचार नाना प्रकारका है) । १० परवश—परवश होनेसे जो अतिचार होते हैं उनका विवेचन इस प्रकार है—उन्माद, पिप्, पिशाच इत्यादि कारणोंसे परवश होनेसे अतिचार होते हैं । अथवा जातिके लोगोंसे पकड़नेपर बलात्कार-से इष्ट, पुष्ट, वगैरहका सेवन किया जाना, रयागे हुए पदार्थोंका भक्षण करना, रात्रि भोजन करना, मुखको सुगन्धित करने-वाला पदार्थ ताम्बूल वगैरह भक्षण करना, स्त्री अथवा नप सकोंके

द्वारा नानाकारसे ब्रह्मचर्यका विनाश होना ऐसे कौर परवशतासे होनेसे अतिचार लगते हैं। इनको आलोचना करना क्षपका कर्तव्य है। ११ पालिकुचन—द्रव्य क्षेत्र काल और भावके आश्रयसे जो अतिचार हुए हैं उनका अन्वया कथन करना उसको पालिकुचन कहते हैं—जैसे सचित्त पदार्थका सेवन करके अचित्तका सेवन किया ऐसा कहना या अचित्तका सेवन करके सचित्तका सेवन किया ऐसा कहना (द्रव्य) यमतिमें कोई कृत्य किया हो तो 'मैंने यह कार्य गस्तेमें किया' ऐसा कहना (क्षेत्र) सुभिक्षमें किया हुआ कृत्य दुर्भिक्षमें किया था ऐसा कहना तथा दिनमें कोई कृत्य करनेपर भी मैंने रातमें अमुक कार्य किया था ऐसा बोलना (काल), अकषाय भावसे किये हुए कृत्यको तीव्र परिणामसे किया था ऐसा बोलना (भाव), इन दोषोंकी आलोचना करनी चाहिए। १२ प्रदोष—संजनन कर्मागोका तीव्र परिणाम होना अर्थात् उनका तीव्र उदय होना। जन धूलि पृथिवी, व पाषाण रेखा तुल्य क्रांति, मान माया, व लोभके प्रत्येकके चार-चार भेद हैं। इन मोल कर्मागो होनेवाले अतिचारको प्रदोषातिचार कहते हैं। १३ प्रमाद—वाचना पृच्छना आदि चार प्रकार स्वाध्याय तथा सामायिक बन्धनादि आवश्यक क्रियाओंमें अनादर आलस्य करना प्रमाद नामका अतिचार है। १४ भय—एकाग्र स्थानमें वसति होनेसे सर्प, द्रुप पशु बाघ इत्यादि प्राणि प्रवेश करेगे इस भयसे वसतिके द्वार बन्द करना भयातिचार है। १५ भीमांसा परीक्षा—अपना बल और दूसरेका बल, इसमें कम और ज्यादा किसका है इसकी परीक्षा करना, इससे होनेवाले अतिचारका भीमांसातिचार कहते हैं—जैसे फँसे हुए हाथको समेट लेना, मकुचित हाथको फँसा लेना धनुषको डारो लगाकर सज्ज करना, परधर फँकेना माटोका ढेला फँकेना माथा बेना मयादि-बाड़को उल्लघना कटकादिको लौंकर गमन करना, पशु सर्प वगैरह प्राणियोंको मन्त्रको परीक्षा करनेके लिए पकड़ना, और मामर्थ्यकी परीक्षा करनेके लिए अजन्म और चूर्णका प्रयोग करना, द्रव्योंका सयोग करनेसे त्रम और पकेन्द्रिय जीवांकी उत्पत्ति होती है या नहीं इसकी परीक्षा करना इन कृत्योंका परीक्षा कहते हैं। ऐसे कृत्य करनेसे व्रतोंमें दोष उत्पन्न होते हैं। १६ वचन—दे स ११ पालिकुचन अतिचार। १७ वसति—वसतिका तुल्य कोई पशु खाता हो ता उसका निवारण करना, वसति भग्न होती हो ता उसका निवारण करना, बहुतसे व्यक्ति मेरो वसतिमें नहीं ठहर सकते ऐसा भाषण करना बहुत मुनि प्रवेश करने लगे तो उनपर क्रुद्ध होना, बहुत यतिवर्गको वसति मठ से ऐसा कहना, वसतिको सेवा करना, अथवा अपने कुलके मुनियतिसे सेवा कराना, निमित्तादिकोका उपवेश देना, ममत्त्वसे ग्राम नगरमें अथवा देशमें रहनेका निषेध न करना, अपने सम्बन्धो यतियके सुखसे अपनेको सुखी और उनके दुःखसे अपनेको दुःखी समझना। (इस प्रकारके अतिचारोंका अन्तर्भाव उपचारातिचारमें होता है) १८ विनयातिचार—पार्श्वस्थादि मुनियर्गको बन्दना करना, उनको उपकरणदि देना, उनका उल्लघन करनेकी मामर्थ्य न रखना, इत्यादि कृत्या से जो दाप हाते हैं, उनको आनाचना करनी चाहिए (इसका अन्तर्भाव सत्यादि वाते उपचारातिचारमें करना चाहिए) १९ शका—पिच्छिका वगैरह उपयोगी द्रव्यों में ये सचित्त हैं या अचित्त हैं ऐसी शका उत्पन्न होनेपर भी उन्हें माड़ना, फाड़ना, भक्षण करना। आहार उपकरण और वसति ये पदार्थ उद्गमादि दोष रहित हैं, अथवा नहीं हैं ऐसी शका आनेपर भी उनको स्वीकार करना यह शकसातिचार है। २० सर्वातिचार—(व्रताना मिलकुन भग हो जाना सर्वातिचार है) २१ सहसातिचार—अशुभवचन और अशुभ विचारोंमें वचनकी और मनकी तत्काल अविवार पूर्वक प्रवृत्ति होना इसको सहसातिचार कहना चाहिए। २२ स्नेहातिचार—शरीर उपकरण वसति पुनः, गाँव नगर, देश भन्धु और पार्श्वस्थ मुनि इनमें 'मे मेरे हैं' ऐसा भाव उत्पन्न होना इसका स्नेह कहते हैं।

इससे उत्पन्न हुए दोषोंको स्नेहातिचार कहते हैं। २३ स्वप्नातिचार—स्वप्नमें अयोग्य पदार्थका सेवन होना उसका सुमिण (स्वप्न) कहते हैं। २४ स्वयं शोधक—आचार्यके पास आलोचना करनेपर आचार्यके प्रायश्चित्त देनेसे पूर्व ही स्वयं यह प्रायश्चित्त मैंने लिया है ऐसा विचार कर स्वयं प्रायश्चित्त लेता है, उसको स्वयं शोधक कहते हैं। स्वयं मैंने ऐसी शुद्धि की है ऐसा कथन जानना।

* वडे-वडे दोष भी अतिचार हो सकते हैं—इस अतिचार सामान्यके भेद।

३ अतिचार व अनाचार में अन्तर

स सि ७/२५/६६ दण्डकशास्त्रादिभिरभिघात प्राणिनां वध न प्राणव्यपरापणम् तत् प्रागेवास्य विनिवृत्तरात् ।—दण्डा चातुक् और व्रत आदिसे प्राणियोंको मारना वध है। यहाँ वधका अर्थ प्राणोंका वियोग करना नहीं लिया है क्योंकि अतिचारके पहले ही हिंसाका रयाग कर दिया जाता है। (भावार्थ—प्राण-व्यपरापण अतिचार नहीं है उससे तो व्रतका नाश होता है)।

सा पा १/६ सति मन शुद्धिर्बिधेरतिष्ठन् उद्यतिर्गम शीलव्रतैर्विलङ्घनम् । प्रभोतिचार विषयेषु वर्तनं वदन्प्रनाचारमिहातिस्तत्ताम् ।—मनकी शुद्धिमें सति होना अतिक्रम है शील तथा व्रतोंका मयादि-क उल्लघन करना व्यतिक्रम है विषयोंमें वर्तन करना अतिचार है और विषयोंमें अत्यन्त आसक्ति का होना अनाचार है। (पु सि १० में उद्धृत)।

४ अतिचार लगनेके कारण

स सि ७/३५/३७१ कथं पुनरस्य सचित्तादिषु प्रवृत्ति । प्रमादसमो हाभ्याम् ।—प्रश्न—यह गृहस्थ सचित्तादिकमें प्रवृत्ति किस कारणसे करता है। उत्तर—प्रमाद और संमोहक कारण।

क्रमशः रा वा हि/७/३५/४० प्रमाद तै तथा अति भूत् तै तथा तीव्र राग ते होय है।

* अतिचार लगने की सम्भावना—दे सम्यग्दर्शन। २/६।

* व्रतोंमें अतिचार लगाने का निषेध—दे व्रत २।

अतिथि—स सि ७/२१/३६२ अयममविनाशयन्तस्तीर्यतिथि ।

अथवा नात्य तिथिरस्तीर्यतिथि अनियतकालागमन इत्यर्थः ।—संयमका विनाश न हो, इस विधिसे जो आता है वह अतिथि है या जिसके आनेकी कोई तिथि नहीं उसे अतिथि कहते हैं। तार्पर्य यह है कि जिसके आनेका कोई काल निश्चित नहीं है, उसे अतिथि कहते हैं।

सा घ ५/४२ में उद्धृत "तिथिर्बर्तमानाः सर्वे रयत्ता येन महात्मना । अतिथिर्त्ति विजानीयाच्छेषमम्यागत विदुः ।—जिस महारमाने तिथि पर्व उत्सव आदि समका रयाग कर दिया है अर्थात् अमुक पर्व या तिथिमें भोजन नहीं करना ऐसे नियमका रयाग कर दिया है उसको अतिथि कहते हैं। शेष व्यक्तियोंको अम्यागत कहते हैं।

चा पा १/२५/४५ न विद्यते तिथि प्रतिपदादिका यस्य सोऽतिथि । अथवा समयसाभार्थमसति गच्छति उद्देश्येतिथि-र्याति ।—जिसको प्रतिपदा आदिक तिथि नहीं वह अतिथि है। अथवा समय पालना जो बिहार करता है, जाता है उद्देश्यार्थ करता है ऐसा यदि अतिथि है।

५ अतिथिसंविभाग व्रत

स सि ७/२१/३६२ अतिथये संविभागोऽतिथिर्नविभागः । स चतुर्विध भिन्नोपकरणोपधप्रतिश्रयभेदात् । मोक्षार्थममुच्यतायातिथये समय-परायणाय शुद्धाय शुद्धचेतसा निरवशा भिक्षा देया । धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनाय पुत्र हणानि दातव्यानि । औपधमपि योग्यमुपया-जनीयम् । प्रतिप्रश्रय परमधर्मग्रन्था प्रतिपादयितव्य इति । 'व' शब्दो बह्यमाणगृहस्थधर्मसमुच्चयार्थः ।—अतिथिके लिए विभाग

करना अतिथिसविभाग है। वह चार प्रकारका है—भिक्षा, उपकरण, औषध और प्रतिग्रय अर्थात् रहनेका स्थान। जो मोक्षके लिए ब्रह्मकर्म है, सत्यमके पालन करनेमें तत्पर है और शुद्ध है, उस अतिथिके लिए शुद्ध मनसे निदिधि भिक्षा देने की चाहिए। सम्प्रदर्शन आदिके ब्रह्मनेत्राले धर्मोपकरण देने चाहिए। योग्य औषधकी योजना करना चाहिए तथा परम धर्मका ब्रह्मापूर्वक निवास-स्थान भी देना चाहिए। सूत्रमें 'च' शब्द है वह आगे कहे जानेवाले गृहस्थ धर्मके संग्रह करनेके लिए दिया गया है। (रा बा ७/२१, १२/१४८/१८) (रा बा ७/२१ २८/१४०/१०)।

का अ सू ३६० ३६१ तिविहे पत्तलि सया सदाइ गुणेहि सजुदो गाणी । दाण जो देई सय णय-दाण-विहोहि मजुत्ता ॥३६०॥ मिक्खावर्यं च तिविय नत्स हवे सव्वसिद्धि सोक्खयर । दाणं चउविहं पिय सग्गे दाणाण सारयर ॥३६१॥ —ब्रह्मा आदि गुणोंसे युक्त जो ह्यानी श्रावक सदा तीन प्रकारके पात्रोंको दानकी नौ विधियोंके साथ स्वयं दान देता है उसके तीसरा शिष्या व्रत होता है। यह चार प्रकारका दान सभ दानोंमें श्रेष्ठ है और सभ सुखोंका व सभ सिद्धिका करनेवाला है।

सा ध ७/११ व्रतमतिथिसविभाग, पात्रविशेषाय विधिविशेषेण । द्रव्यविशेषवितरण दानविशेषस्य फलविशेषाय ॥११॥ —जो विशेष दाताका विशेष फलके लिए विशेष विधिके द्वारा विशेष पात्रके लिए विशेष द्रव्यका दान करना है वह अतिथिसविभाग व्रत कहलाता है।

२ अतिथिसविभाग व्रतके पाँच अतिचार

त सू ७/२६ सचित्तनिक्षेपाधिधानपरव्यपदेशमात्स्यकालातिक्रमा — १ सचित्त कमल पत्रादिमें आहार रखना, २ सचित्तसे ढक देना ३ स्वयं न देकर दूसरेको दान देनेको कहकर चले जाना, ४ दान देते समय आदर भाव न रहना ५ साधुओंके भिक्षा कालको टालकर द्वापेक्षण करना, ये पाँच अतिथि सविभाग व्रतके अतिचार हैं। (र क आ १/२१)।

* दान व दान योग्य पात्र अपात्र—दे वह वह विषय।

अतिपुरुष—किपुरुष नामा व्यन्तर जाति देवोंका एक भेद—दे. किपुरुष।

अतिप्रसंग—प ध पू २/८६ ननु चान्यतरेण कृतं किमथ प्राय प्रयास-भारेण । अपि गौरवप्रसगादनुपदेशाच्च भाग्यलासरावात् ।—(शकाकार का कहना है कि) जब अस्ति नास्ति दोनोंमें से किसी एकसे ही काम चल जायेगा तो फिर दोनोको मानकर होनेवाले प्राय प्रयास भारसे क्या प्रयोजन है। तथा दोनोंको माननेसे गौरव प्रसंग आता है अर्थात् एक प्रकारका अतिप्रसंग दोष आता है और बचनका विलास मात्र होनेसे दोनोंका मानना उपाय नहीं है।

अतिबल—अथ भ देव भगवात्के पूर्वके दसवें भवमें (म पु ४/१००) महाबलका पिता था (म पु ४/१३३) अन्तमें दोषा धारण कर ली (म पु ४/१५१-१५२)।

अतिवीर—भगवात् महावीरका अपगनाम—दे महावीर।

अतिवीर्य—(प पु १७/१७/श्लोक) राम लक्ष्मणके वनवास होनेपर (१) इसने भरतपर चढ़ाई कर दी (२५-२६) न किशोरे के वेषमें गुप्त रहकर (२६-२६) उन वनवासियोंमें इसे बर्हा जाकर बाँध लिया (१२७ १२८) परन्तु दया पूर्ण सीताने इसे छुड़ा दिया (१४६) अन्तमें दोषा ले ली (१६१)।

अतिबेलब—मानुषोत्तर पर्वतस्थ सर्वरत्न कूटका स्वामी भवनवासो वरुणकुमार देव—दे लोक ५।

अतिव्याप्त—दे लक्षण।

अतिशय—भगवात्के ३४ अतिशय—दे अहंत १।

अतिशायन हेतु—दे हेतु।

अतिस्थापना—दे अपकर्षण।

अतिस्थापनावलि—दे आवलि।

अत्यताभाव—दे अभाव।

अत्यतायोगव्यवच्छेद—दे एव।

अत्यय—रा बा २/८ १८/१२२/२२ बाबां गोचरताऽत्ययात् ।—शब्दके गोचर हो नहीं हो सकता।

अत्राणभय—दे भय।

अथाप्रवृत्तसयत—दे सयत १ व करण ४।

अथाप्रवृत्तसयतासयत—दे सयतासयत १ व करण ४।

अथालंद—भ आ वि १/१५/३६३/४ परिपहापसर्गजयेसमर्था अनिष्ट-

हितमलवीर्या आरमान मनसां तुव्यन्ति। परिहारस्यासमर्था अथा-लन्दविधिमुपगन्तुकामाश्च पञ्च सप्त नव वा ज्ञानदर्शनरूपज्ञास्तीव्र-सवेगमापन्ना स्थविरमूलनिवासिन अवधूतारममामर्ष्या विदितानु-स्थितय स्थविरं विज्ञापयन्ति। आचारो निरूप्यते—अथालन्द-सयतानां लिङ्गम् औत्सर्गिक देहस्थोपकारार्थम् आहार वा वसति च गृह्णन्ति शेष मफल त्यजन्ति। तृणपीठकटफलकादिकम् उपधि च न गृह्णन्ति। अप्रतिलेखना एव व्युत्सृष्टशरीरस्वकारा परीपहात् सहन्ते नो वा धृतिमलहीना। त्रय पञ्च वा सह प्रवर्तन्ते। वेद-नया प्रतिक्रिययावर्ज्या यदा तपसातिथान्तस्त्वादसहायहस्तावलम्बन कुर्वन्ति। वाचनादिक च न कुर्वन्ति। यामाष्टकेऽप्यनिद्रा एकचित्ता-ध्याने यतन्ते अकृतप्रतिज्ञा, लेखनां कालद्वयेऽपि कुर्वन्ति। शमशान मध्येऽपि तेषां ध्यानमप्रतिषिद्ध, आवश्यकैषु च प्रयतन्ते। उपकरणप्रति-लेखनां कालद्वयेऽपि कुर्वन्ति। मिथ्या मे दुष्कृतमिति निवर्तन्ते। दशविधे समाचारे प्रवर्तन्ते। दान, ग्रहण, अनुपालन, विनय सह-जपनं च नास्ति सधेन तेषाम्। कारणमप्येषु कैर्वाचिके एव सल्लाप कार्यं। यत्र क्षेत्रे सधर्मा तत्र क्षेत्रे न प्रविशन्ति। मौनवग्रहणिरसा पन्थान पृच्छन्ति, शक्तिस्त्वय वा ब्रह्मं शय्याधरगृह वा। एव तित एव भाषा। गृहे प्रज्वलिते न चलन्ति चलन्ति वा। व्याघ्रादिव्याल-मृगाद्या यथापतन्ति ततोऽपसर्पन्ति न वा। पादे कण्टकालगे चक्षुषि रज प्रवेशे वा अपनयन्ति न वा। धर्मोपदेश कुर्वन्त तरप्रवर्ज्यामि-हच्छामि भगवतां पादभूले इत्युक्ता अपि न मनसापि वाच्छन्ति। क्षेत्रे सप्ततिधर्मक्षेत्रेषु भवति। कान्त सर्वदा। चारित्र्य सामा-यिकक्षेत्रोपस्थापनयो। तीर्थत सर्वतोऽर्कतः तीर्थेषु। जन्मनि त्रिशद्वर्जोविता श्रामण्येन एकोन्नविंशतिवर्षा। श्रुतेन नवदशपूर्व-धरा। वेदत पुमांसा ननुसकाश्च। लेखयया पञ्चभुवलिखेय। ध्यानेन धर्मध्याना। सस्थानत बहुविधेऽन्यतरसस्थाना देशोनसहस्रादि यावत्पञ्चधनु शतोत्सेधा। कालता भिन्नमुहूर्ताद्यनपूर्वकोटि-कालस्थितय। विक्रियाचारणताक्षीरयावित्स्वदयश्च तेषां जायन्ते। विरागताया न सेवन्ते। गच्छन्ति निर्गन्तान् दविधिरेव व्याख्यात। गच्छप्रतिषद्वाला दक्षविधिरुच्यते—गच्छन्तिर्गच्छन्तो माह। सकृदाश-योजने विहरन्ति। सपराक्रमो गणधरो ददाति क्षेत्राद् दधिर्गन्तव्य-पदम्। तेष्वपि समर्था आगम्य शिष्या गृह्णन्ति। एको द्वौ त्रयो वा परिज्ञानधारणा गुणसमग्रा गुरुशकाशमायान्ति। कृतप्रतिप्रनवार्था स्वक्षेत्रे भिक्षाग्रहण कुर्वन्ति। यदि गच्छेत्क्षेत्रान्तरं गण अथालं दिका अपि पुर्वनुज्ञया यान्ति क्षेत्रम्। व्याख्यातोऽयमथालंदविधिः।—(संश्लेखना धारण विधिके अन्तर्गत भक्तप्रयास्यान आदि अनेकों विधियोंका निरूपण है। तहाँ एक अथालंद विधि भी है। वह दा प्रकारकी है—गच्छन्तिर्गन्त और गच्छप्रतिषद्। इन दोनोंमें पहले गच्छन्तिर्गन्तका स्वरूप कहते हैं—) १ परीपह व उपसर्गको

आमाधाके विषय होते हैं उनमें देव और नारकियोंके, आयुकी उत्कृष्ट निषेक स्थिति सम्भव है।

घ १४/५.६.६४/५०३/१२ जहणयो आउअनधकालो जहणविस्समण कालपुरस्सगे असलेखा नाम। सो जवमज्जकरिमसमयपहुडि ताव होदि जाव जहणाउअनधकालचरिमसमयो ति। एसा नि असलेपद्धा तदियति भागम्मि चेव होदि। —अधम्य विप्रमण काल पूर्वक जघन्य आयुषन्ध काल अससेपाद्धा कहा जाता है। वह यव मध्यके अन्तिम समयसे लेकर जघन्य आयु षण्डके अन्तिम समय तक होता है। यह अससेपाद्धा तृतीय विभागमें ही होता है।

गो जो जो प्र ५१८/६१३ असलेखाद्धा भुज्यमानायुपोऽन्त्यावश्यसख्येय-भाग तस्मिन्नवशिष्टे प्रागेव अन्तर्मुहूर्तमात्रसमयप्रमद्वद्धा परभवायु-नियमेन बद्ध्वा समाप्नोतीति नियमो ह्येतत्त्व। —अससेपाद्धा जो अवलोका अस्तन्यातर्वा भाग प्रमाण काल भुज्यमान आयुका अवशेष रहै ताके पहिले अन्तर्मुहूर्त काल मात्र समय प्रमद्वन्निकरि परभव आयु को बाँधि पूर्ण करै है ऐसा नियम जानना।

गो क मू २/१७/११०२ आउत्स य आमाहाण णट्टिदिपडिभागमाउत्स। —बहुरि नहीं पाइयें है आयुकी आमाधाका ससेप, घाटि पना जातै ऐसा जो अद्वा काल सो अससेपाद्धा कहिये है।

अद्वाच्छेद—क पा ३/३ २२/६२०/१५/३ चरिमणियेयस्स कालो उल्लस्स अद्वाच्छेदो नाम। —(बद्ध कर्मके) अन्तिम निषेकके कालको उत्कृष्ट अद्वाच्छेद कहते हैं।

क पा ३/३.२२/६५१३/२६२/५ सयलणियेयगयकालपहाणो अद्वाच्छेदो सयलणियेयगपहाणा णट्टिदि ति। —मर्व निषेकगत काल-प्रधान अद्वाच्छेद होता है और सर्व निषेकप्रधान स्थिति होती है।

अद्वातशन—दे अनशन।

अद्वापल्य—दे गणित १/१३.४.६।

अद्वायु—^३ आयु १।

अद्वासागर—कालका प्रमाण—दे गणित १/१/५।

अद्वैत दर्शन—१ एकान्त अद्वैतका निरास—दे द्रव्य ४ २ अद्वैत दर्शनका विकास क्रम—दे दर्शन, ३ विशेष वे वेदान्त।

अद्वैत नय—प्र सा/त प्र ५/परि/नय स ४५ निश्चयनयेन केवलमध्य-मानमुच्यमानबन्धमोक्षोचितस्निग्धरूक्षस्वगुणपरिणतपरमाणुबद्धबन्ध-मोक्षयोरद्वैतानुवृत्ति। ४५। —आत्मद्रव्य निश्चयनयसे बन्ध और मोक्षमें अद्वैतका अनुसरण करनेवाला है, अकेले मध्यमान और मुच्यमान ऐसे बन्धमोक्षोचित स्निग्धरव्य रूक्षस्वगुणरूप परिणत परमाणुकी भाँति।

१ ज्ञान-ज्ञेय द्वैताद्वैत नय

प्र सा/त प्र ५/परि/नय स २४-२५ ज्ञानज्ञेयाद्वैतनयेन महद्भिन्धनभार-परिणतधूमकेतुवदेकम्। २४। ज्ञानज्ञेयद्वैतनयेन परप्रतिबिम्बसंपृक्त-दर्पणवद्वेकम्। २५। —आत्म द्रव्य ज्ञान-ज्ञेय अद्वैत नयसे (ज्ञान और ज्ञेयके अद्वैतरूप नयसे) महात् इंधनसमूह रूप परिणत अग्निकी भाँति एक है। २४। अरम ब्रह्म ज्ञान-ज्ञेय द्वैतरूपनयसे परके प्रतिबिम्बोंसे सम्पृक्त दर्पणकी भाँति अनेक है। २५।

अद्वैतवाद—

१ पुरुषाद्वैतवाद

गो क मू ८/८१/१०६५ एको चेव महत्पा पुरिसो देवो य सव्यबावो य। सव्यगणिशूद्रो वि य सचेयणो जिग्गुणो परमो। ८८१। —एक ही महारमा है। सोई पुरुष है। देव है। सर्व विषे व्यापक है। सर्वांगनै निमृष्ट कहिए अगम्य है। चेतनासहित है। निर्गुण है। परम उत्कृष्ट है। ऐसे एक आत्मा ही करि सकौ मानना सो आत्मवादका अर्थ है। (स सि ८/१/५ को टिप्पणी जगरूपसहाय कृत) (और भी वे वेदान्त ९)।

स म १/३/१५६/८ “सर्वं वै खल्विह ब्रह्म नेह नानारित किंचन। आराम तस्य परयन्ति न तत्परयति कश्चन”। इति समयात्। “अयं तु प्रपञ्चो मिथ्यारूप, प्रतीयमानत्वात्।” —हमारे मतमें एक ब्रह्म ही सब है। कहा भी है ‘यह सब ब्रह्मका ही स्वरूप है, इसमें नानारूप नहीं हैं, ब्रह्मके प्रपञ्चको सब लोग देखते हैं परन्तु ब्रह्मको कोई नहीं देखता’ तथा ‘यह प्रपञ्च मिथ्या है, क्योंकि मिथ्या प्रतीत होता है।’ (और भी वे वेदान्त)

अभिधान राजेन्द्र काश-पुरुष एवैक सकललोकस्थितिसर्गप्रलयहेतु प्रलयोऽप्यलुप्तज्ञानातिशयशक्तिरिति। तथा चोक्तम्। ऊर्णनाम इवा-शूनां चन्द्रकान्त इवाभ्रसमा। प्ररोहणामिव प्लक्ष सहेतु सर्वजन्मि-नाम् इति। तथा ‘पुरुष सर्वं यद् भूतं यच्च भाग्यम्।’ श्रु वे १०/६०। इत्यादि मन्वानां वाद पुरुषवाद। —एक पुरुष ही सम्पूर्ण लोककी स्थिति, सर्ग और प्रलयका कारण है। प्रलयमें भी उसकी अतिशय ज्ञानशक्ति अलुप्त रहती है। कहा भी है—जिस प्रकार ऊर्णनाम रश्मियों-का चन्द्रकान्त जलका और बटबोज प्ररोहका कारण है उसी प्रकार वह पुरुष सम्पूर्ण प्राणियोंका कारण है। जो हा चुका तथा जो होगा, उस सबका पुरुष ही हेतु है। इस प्रकारकी मान्यता पुरुषवाद है।

२. विज्ञानाद्वैतवाद

न्यायकुमुदचन्द्र पृ ११६ प्रतिभासमानस्याशेषस्य वस्तुनो ज्ञान-स्वरूपान्त प्रविष्टव्यपसिद्धे सवेदनमेव पारमार्थिक तत्त्वम्। तथाहि यदवभासते तज्ज्ञानमेव यथा सुखादि, अवभासन्ते च भावा इति। तथा यद्वेद्यते तद्वि ज्ञानादभिन्नम् यथा विज्ञानस्वरूपम्, वेद्यन्ते च नीलादय इत्यतोऽपि विज्ञानाद्वैतसिद्धिरिति। —प्रतिभासमान अशेष ही वस्तुओंका ज्ञानस्वरूपसे अन्तःप्रविष्टपन प्रसिद्ध होनेके कारण सवेदन ही पारमार्थिक तत्त्व है। यह इस प्रकार कि जो जो भी अवभासित होता है वह ज्ञान ही है, जैसे सुखादि भाव ही अवभासित होते हैं। इसी प्रकार जो जो भी वेदन करनेमें आता है वह ज्ञानसे अभिन्न है जैसे विज्ञानस्वरूप नीलादिक पदार्थ वेदन किये जाते हैं। इसीलिए यहाँ भी विज्ञानाद्वैतवादकी सिद्धि होती है। (यु अनु १/६/२४)।

अभिधान राजेन्द्र काश “आह्वान्यनिरपेक्ष ज्ञानाद्वैतमेव ये बौद्धविशेषा मन्वते ते विज्ञानवादिन। तेषां राक्षान्तो विज्ञानवाद। —बाह्यके ज्ञेय पदार्थोंसे निरपेक्ष ज्ञानाद्वैतको ही जो कोई बौद्ध विशेष मानते हैं वे विज्ञानवादी हैं उनका सिद्धान्त विज्ञानवाद है।

३ शब्दाद्वैतवाद

न्यायकुमुदचन्द्र पृ १३६-१४० योंगजमयोगज वा प्रत्यक्षं शब्दब्रह्मोष्ठेरये-वावभासते बाह्याध्यात्मिकार्थपूतत्वमानस्यास्य शब्दानुविद्धत्वेन-वोत्पत्तेः, तत्सत्त्वसर्वैकस्य प्रत्ययानां प्रकाशमानतया दुर्घटत्वात्। बाधप्रतीति शारवता प्रत्ययमर्शिनी च, तदभावे तेषां नापर रूपमव-शिष्यते। —समस्त योगज अथवा अ गेज प्रत्यक्ष शब्दब्रह्मका उल्लेख करनेवाले ही अवभासित होते हैं। क्योंकि बाह्य या आध्यात्मिक अर्थोंमें उत्पन्न होनेवाला यह प्रत्यक्ष शब्दसे अनुविद्ध ही उत्पन्न होता है। शब्दके संस्पर्शके अभावमें ज्ञानोंकी प्रकाशमानता दुर्घट है, बन नहीं सकती। बाधरूपता निरय और प्रत्ययमर्शिनी है, उसके अभावमें ज्ञानोंका कोई रूप शेष नहीं रहता।

* सभी अद्वैत दर्शन सग्रह नयामासो हैं दे अनेकान्त २/६।

४ सम्यगेकान्तकी अपेक्षा

न्या दी १/१८४/१२८/३ एवमेव परमद्रव्याधिकनयाभिप्रायविषय परमद्रव्य सत्ता, तदपेक्षया ‘एकमेवाद्वितीय ब्रह्म नेह नानारित किंचन’ सद्गुणेन चेतनानामचेतनानां च भेदाभावात्। भेदे तु सद्धि-लक्षणत्वेन तेषामसत्त्वप्रमद्वद्धात्। —इसी प्रकार परम द्रव्याधिक नयके अभिप्रायका विषय परम सत्ता, महा सामान्य है। उसकी अपेक्षासे ‘एक ही अद्वितीय ब्रह्म है यहाँ नाना अनेक कुछ भी नहीं है’ इस

प्रकारका प्रतिपादन किया जाता है। क्योंकि सद्रूपसे चेतन और अवचेतन पदार्थोंमें भेद नहीं है। यदि भेद माना जाये तो सघसे भिन्न होनेके कारण वे सब असत् हो जायेंगे।

* द्वैत व अद्वैतका विधि निपेध से द्रव्य ४।

१ परम अद्वैतके अपर नाम—दे मोसमार्ग २/५।

अध कर्म—जिन कार्योंके करनेसे जोयहिंसा होती है उन्हें अध कर्म कहते हैं। अध कर्म युक्त किमो भी पदार्थकी मन, वचन कायसे साधुजन अनुमोदना नहीं करते और न ही ऐसा आहार व वसति आदिका ग्रहण करते हैं। इस विषयका परिचय इस अधिकारमें दिया गया है।

१ आहार सम्बन्धी अध कर्म

मूला मू ४२३ छज्जोवणिकायाणां विराहणोद्वावणादिणप्पणं। आधा-
कम्म गेयं समं रक्कमादसण्णं ॥ ४२३ ॥ —पृथ्वीकाय आदि छह
कायके जोयोंको दुःख देना, मारना इससे उत्पन्न जो आहारविस्तु
वह अध कर्म है। वह पाप क्रिया आप कर को गयी, दूसरे कर को
गयी तथा आप कर अनुमोदना की गयी जानना।

प १३/५, ४२१/४६/८ त ओद्वावण-विद्वावण-परिदावण आरभक्कदि-
प्पणं त मव्व आधाकम्म गाम ॥ २२ ॥ जीवस्य उपद्रवणम् ओद्वा-
वणं गाम। अगच्छेदनादिव्यापारं विद्वावणं गाम। संतापजनन
परिदावणं गाम। प्राणिप्राण-वियोजन आरंभो गाम ॥—जो उप-
द्रावण विद्वावण, परितापन और आरम्भ रूप कार्यसे निष्पन्न होता
है, वह सब अध कर्म है ॥ २२ ॥ जीवका उपद्रव करना ओद्वावण
कहनाता है। अग छेदन आदि व्यापार करना विद्वावण कहलाता है।
सन्ताप उत्पन्न करना परिदावण कहलाता है और प्राणियोंके प्राणों-
का वियोग करना आरम्भ कहलाता है।

चा सा ६८/१ पडजोवणिकायस्योगव्रवणम् उपद्रवणम्, अगच्छेदना-
दिव्यापारो विद्वावणम्, संतापजनन परितापनं, प्राणिप्राणव्यपरोषण-
मारम्भ एवमुपद्रवणविद्वावणपरितापनारम्भक्रियया निष्पन्नमत्र स्वेन
कृत परेण कारितं वातुमनितं बाध कर्म (जनितं) तस्तेविनोऽन-
शानादितपसि प्ररसन्ति—पटकायके जीव समूहोंके लिए उपद्रव
होना उपद्रवण है। जीवोंके अग छेद आदि व्यापारका विद्वावण कहते
हैं। जीवोंको संताप (मानसिक वा अन्तरंग पीड़ा) उत्पन्न होनेको
परितापन कहते हैं। प्राणियोंके प्राण नाश होनेका आरम्भ कहते
हैं। इस प्रकार उपद्रवण विद्वावण, परितापन, आरम्भ क्रियाओंके
द्वारा जो आहार तैयार किया गया हो जो अपने हाथसे किया हो
अथवा दूसरेके कराया हो, अथवा करते हुए की अनुमोदना की हो,
अथवा जो नीच कर्मोंसे बनाया गया हो, ऐसे आहारको ग्रहण करने-
वाले मुनियोंके उपवासादि तपश्चरण नष्ट होते हैं।

२ वसति सम्बन्धी अध कर्म

भ आ वि २३०/४४७ सप्पादगमो दोषो निरूप्यते। वृक्षच्छेदस्तदानयनं,
इप्पपापं, भूमिखननं, पापाणसिक्खतादिभि पूरण धराया कुट्टनं,
सर्द्धमकरणं, कोलानां करणं, अग्निनायस्तपानं वृक्षा प्राताह्यककचै
काष्ठपाटनं वामोभिसंलग्नं परशुभिश्छेदनं इत्येवमादिव्यापारेण
पण्णां जीवनिक्कायानां बाधां वृक्षा स्वेन वा उरपादित्ता, अन्येन वा
वारित्ता वसतिरपि कर्मशब्देनोच्यते ॥—युध काटेकर उनकी लाना,
ईंटोंका समुदाय पकाना, जमीन खोदना, पापाण, शालु इत्यादिकोंसे
खाड़ा भरना, जमीनको कुटना, कीचड़ करना खम्भे तैयार करना,
अग्निसे नोह तपवाना करौतमें लकड़ी चोर रासीसे छीलना,
पुश्ताहोसे देहन करना इत्यादि क्रियाओंसे पटकाय जीवोंको बाधा
देकर स्वयं वसति बनायी हो अथवा दूसरोंसे बननाये हो, वह
वसति अध कर्मके दोषसे युक्त है।

३ अध कर्म शरीर

प १३/५, ४२४/४७/५ जम्हि शरीरे ठिदाण केसि चि जीवाण कम्हि
वि काले ओद्वावण-विद्वावण-परिदावणेहि मरण संभवदि त सरो-
राधाकम्म गाम ॥—जिस शरीरमें स्थित किन्हीं जीवोंके किसी भी
कालमें उपद्रावण, विद्वावण और परितापनसे मरना संभव है, वह
शरीर अध कर्म है।

४ नारकियोंमें अध कर्म नहीं होता

प १३/५, ४२१/११/५ आधाकम्म-इरियावधकम्म तवोक्कमाणि णत्थि
गेरहएसु आरालियसरीरस्स उदयाभावादो पचमहव्वयाभवादो।
एव सत्तसु पुब्वेसु ॥—अध कर्म ईर्ष्यापथ कर्म, और तप कर्म नहीं
होते, क्योंकि नारकियोंके औदारिक शरीरका उदय और पचमहाव्रत
नहीं होते। इसी प्रकार सातों पृथिवियोंमें जानना चाहिए।

५ नारकियोंका शरीर अध कर्म नहीं

प १३/५, ४२४/४७/३ ओद्वावणादिदसणादा गेरहयसर रमाधाकम्म त्ति
किण्ण भण्णदे। [ण] तस्य ओद्वावण विद्वावण-परिदावणेहितो
आरभाभावादो। जम्हि सरीरे ठिदाण केसि चि जीवाण कम्हि वि काले
ओद्वावण-विद्वावण-परिदावणेहि मरण संभवदि तं सरीरमाधाकम्म
णाम ण च एद विसेसणं गेरहयसरोरे अत्थि तत्तो तेसिमवमिच्चु-
वज्जियाण मरणभावात्। अथवा चउण्णं समूहो जेणं विसेसणं ण
तेण पुव्वुत्तदोसो। प्रश्न—नारकियोंके शरीरमें भी उपद्रावण आदि
कार्य बखे जाते हैं, इसलिए उसे अध कर्म क्यों नहीं कहते? उत्तर—
नहीं, क्योंकि वहाँपर उपद्रावण विद्वावण और परितापनसे आरम्भ
(प्राणि प्राण वियोग) नहीं पाया जाता। जिस शरीरमें स्थित किन्हीं
जीवोंके किसी भी कालमें उपद्रावण, विद्वावण और परितापनसे मरना
संभव है वह शरीर अध कर्म है। परन्तु यह विशेषण नारकियोंके
शरीरमें नहीं पाया जाता, क्योंकि इनसे उनकी अपमृत्यु नहीं होती,
इसलिए उनका मरण नहीं होता। अथवा चूँकि उपद्रावण आदि
चारोंका समुदायरूप एक विशेषण है, इसलिए पूर्वोक्त दोष नहीं आता।

६ भोगभूमिजका शरीर अध कर्म कैसे

प १३/५, ४२४/४७/१ एव वेप्पमाणे भोगभूमिगममणुस्सतिरिक्खाण
सरीरमाधाकम्म ण होज्ज तस्य ओद्वावणादीणमभावादो। ण ओरा-
लियसरीरजादिदुवारेण सवाह सरीरेण सह एयत्तमावणस्स आधा-
कम्मत्तासिद्धो। प्रश्न—जिस शरीरमें स्थित जीवोंके उप-
द्रावण आदि अन्यके निमित्तसे होते हैं, वह शरीर अध कर्म है।
इस तरहसे स्वीकार करनेपर भोगभूमिके मनुष्य और
तिर्यचोंका शरीर अध कर्म नहीं हो सकेगा क्योंकि वहाँ उपद्रावण
आदि कार्य नहीं पाये जाते। उत्तर—नहीं क्योंकि औदारिक शरीर-
रूप जातिकी अपेक्षा यह बाधा सहित शरीर और भोगभूमिजोंका
शरीर एक है अतः उसमें अध कर्मपनेकी सिद्धि हो जाती है।

* अध कर्म विषयक सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्श, काल,
अन्तर, भाव व अल्पवहुत्व रूप आठ रूपाण्यै—
दे वह वह नाम।

अध प्रवृत्तसयत—दे सयत १, व करण ४।

अध प्रवृत्तसयतासयत—दे संयतासयत १, व करण ४।

अध प्रवृत्तिकरण—दे करण ४।

अध प्रवृत्तिसक्रमण—दे संक्रमण ६।

अधर्म द्रव्य—दे धर्मधर्म।

अधस्तन कृष्टि—दे कृष्टि।

अधस्तन द्रव्य—दे कृष्टि।

अधस्तन द्वीप—(ज ५/प्र १०५) Inner Island

अघस्तन शीर्ष—ये कृष्ट ।

अधिक—न्या स १५/२/१३/११६ हेतुदाहरणाधिकमधिकम् ।—हेतु और उदाहरणके अधिक होनेसे अधिक नामक निग्रह-स्थान है । (सलो वा ४/न्या २२२/४००/१५) ।

अधिकरण—जिस धर्ममें जो धर्म रहता है उस धर्मको उस धर्मका (न्याय विषयक) अधिकरण कहते हैं जैसे—घटवर्धन धर्मका अधिकरण घट है ।

प्र सा त/प्र १६/१६ शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावस्याधारभूत-त्वाधिकरणस्वभावमसारकुर्वाण ।—शुद्ध अनन्त शक्तियुक्त ज्ञान रूपसे परिणमित होनेके स्वभावका स्वयं ही आधार होनेसे अधिकरणताको आत्मसात् करता हुआ (इस प्रकार) स्वयमेव (अधिकरण कारक) रूप होता है ।

प्र सा ता वृ १६/२२ निरचयशुद्धचैतन्यादिगुणस्वभावामन स्वय-मेवाधारत्वाधिकरण भवति ।—यह आत्मा निरचयसे शुद्ध चैतन्यादि गुणोंका स्वयमेव आधार होनेसे अधिकरण कारकको स्वीकार करता है ।

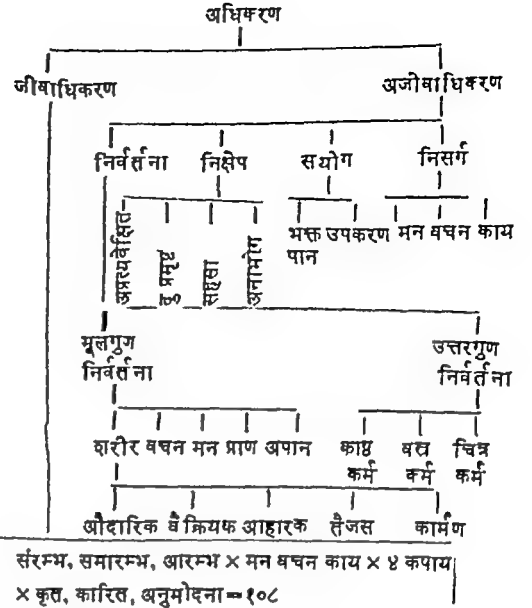
स सा आ परि/शक्ति नं ४६ भाव्यमानभावाधारस्वमयी अधिकरण-शक्ति ।—भावनेमें आता जो भाव इसके आधारपनमयी ध्यायाली-सर्वी अधिकरण शक्ति है ।

१. अधिकरणके भेद

त स १५/७-१६ अधिकरणं जीवाजीवा ॥७॥ आण सरम्भसमारम्भारम्भ-योगकृतकारितानुमतकपायविशेषैस्त्रिष्विषयैश्चैकश ॥८॥ निर्व-र्तनानिसेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्विभिन्ने भेदा परम् ॥९॥—अधिकरण जीव और अजीव रूप हैं ॥७॥ पहला जीवाधिकरण संरम्भ समारम्भ, आरम्भके भेदसे तीन प्रकारका, कृत, कारित और अनुमतके भेदसे तीन प्रकारका तथा कपायोंके भेदसे चार प्रकारका होता हुआ परस्पर मिलानेसे १०८ प्रकारका है ॥८॥ पर अर्थात् अजीवाधिकरण क्रमसे दो, चार, दो और तीन भेदवाले निर्वर्तना, निसेप, संयोग और निसर्गरूप है ॥९॥ (भ आ वृ ८११/६५७) ।

रा वा १६/६, १२-१५/६५६/२८ अजीवाधिकरणं निर्वर्तनालक्षणं द्वेधा व्य-वतिष्ठते । कुत । मूलोत्तरभेदात् । मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणम् उत्तर-गुणनिर्वर्तनाधिकरणं चेति । तत्र मूलं पञ्चविधानि शरीराणि बाह्य-मन प्राणापानाश्च । उत्तरं काष्ठपुस्तकचित्रकर्मादि । निसेपश्चतुर्धा भिद्यते । कुत । अपरध्वेषदुष्प्रमार्जनसहसानाभोगभेदात् —अपरध्वेषेक्षितनिसेपाधिकरणं दुष्प्रमृष्टनिसेपाधिकरणं, सहसानिसेपाधिकरणं, अनाभोगनिसेपाधिकरणं चेति । मयोगो द्विधा विभज्यते । कुत । भक्तापानोपकरणं भेदात्, भक्तपानसंयोगाधिकरणम् उपकरणसंयो-गाधिकरणं चेति । निसर्गचित्रधा कण्यते । कुत । कायादिभेदात् । कायनिसर्गाधिकरणं बाह्यनिसर्गाधिकरणं मनोनिसर्गाधिकरणं चेति ।

रा वा १६/७, ५/६१३/२२ तदुभयमधिकरणं दशप्रकारम्—विपलवण-क्षारकटुकाम्लस्नेहाग्नि-दुष्प्रयुक्तकायवाह्मनोयोगभेदात् ।—अजीवा-धिकरणोमें निर्वर्तनालक्षण अधिकरण दो प्रकारका है । कैसे । मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरण और उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरण । उसमें भी मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरण ८ प्रकारका है—पाँच प्रकारके शरीर, मन वचन और प्राणापान । उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरण काष्ठ पुस्तक व चित्रादि रूपसे अनेक प्रकारका है ॥१२॥ निसेपाधिकरण चार प्रकारका है । कैसे । अपरध्वेषितनिसेपाधिकरण दुष्प्रमृष्टनिसेपा-धिकरण सहसानिसेपाधिकरण और अनाभोगनिसेपाधिकरण ॥१३॥ संयोगनिसेपाधिकरण दो प्रकारका है । कैसे । भक्तपानसंयोगाधिकरण और उपकरणसंयोगाधिकरण ॥१४॥ निसर्गाधिकरण तीन प्रकारका है । कैसे । कायनिसर्गाधिकरण वचननिसर्गाधिकरण और मनो-निसर्गाधिकरण ॥१५॥ तदुभयमधिकरण दश प्रकारका है—विप, लवण क्षार, कटुक आम्ल, स्निग्ध, अग्नि और दुष्प्रयुक्त मन, वचन, काय ॥६॥ (स सि/६/६/३२७), (भ आ वृ ८१२/६५७) ।



२. निर्वर्तनाधिकरण सामान्य-विशेष

स सि ६/६/३२६ निर्वर्त्यते इति निर्वर्तना निष्पादना । निक्षिप्यते इति निसेप स्थापना । सयुज्यते इति संयोगो मिश्रीकृतम् । निक्षिप्यते इति निसर्ग प्रवर्तनम् ।—निर्वर्तनाका अर्थ निष्पादना या रचना है । निसेपका अर्थ स्थापना अर्थात् रखना है । संयोगका अर्थ मिश्रित करना अर्थात् मिलाना है और निसर्गका अर्थ प्रवर्तन है । (रा वा ६/६/६/१६/१) ।

भ आ वि ८/७/६५७ निक्षिप्यते इति निसेप । उपकरणं पुस्तकादि, शरीरं, शरीरमलानि वा सहसा शीघ्र निक्षिप्यमाणानि भयात् । कुतश्चिस्कार्यान्तरकरणप्रयुक्तानि वा स्वरितेन पडजीविनकायबाधाधि-करणं प्रतिपद्यन्ते । असत्यामपि स्वरायां जीवा सन्ति न सन्तीति निरूपणामन्तरेण निक्षिप्यमाणं तदेवोपकरणादिक अनाभोगनिसेपाधि-करणमुच्यते । दुष्प्रमृष्टमुपकरणादिनिक्षिप्यमाणं दुष्प्रमृष्टनिसेपाधिकरणं स्थाप्यमानाधिकरणं वा दुष्प्रमृष्टनिसेपाधिकरणम् । प्रमार्जनोत्तरकाले जीवा सन्ति न सन्तीति अपरध्वेषितं यन्ननिक्षिप्यते तदपरध्वेषितं निसेपाधिकरणम् । निर्वर्तनाभेदमाचष्टे—देहो य दुष्प्रयुक्तो वृ प्रयुक्त शरीर हिसोपकरणतया निर्वर्त्यते इति निर्वर्तनाधिकरणं भवति । उपकरणानि च मच्छिद्राणि यानि जीवबाधानिमित्तानि निर्वर्त्यन्ते तान्यपि निर्वर्तनाधिकरणं यस्मिन्सौवीरादिभाजने प्रविष्टानि भ्रियन्ते ॥८१॥ सज्जोर्जनमुपकरणं उपकरणानां पिच्छादीनां अन्योन्येन संयोजना । शीतस्पर्शस्य पुस्तकस्य कमण्डलुवादेव आतपादिपिच्छेन प्रमार्जनं इत्यादिकम् । तथा । पाणभोजणान च पानभोजन-योश्च पानेन पान भोजनं भोजनेन भोजन पानेनेवेवमादिकं संयोजनं । यस्य समुर्ध्वं न भवति सा हिंसाधिकरणत्वेनाप्राप्ता न सर्वा । दुष्प्रणिमिष्टा मणवचिकाया दुष्प्रवृत्ता मनोवाक्कायप्रभेदा निसर्ग-शब्देनोच्यन्ते ।—निसेप किया जाये उसे निसेप कहते हैं । पिच्छी कमण्डलु आदि उपकरण पुस्तकादि शरीर और शरीरका मूल इनको भयसे सहसा जल्दी फेंक देना रखना । किसी कार्यमें तत्पर रहनेसे अथवा स्वरासे पिच्छी कमण्डलुवादि पदार्थ जय जमीन पर रखे जाते हैं तब पदकाय जीवोंको बाधा देनेमें आधाररूप होते हैं अर्थात् इन पदार्थोंसे जीवोंको बाधा पहुँचती है । स्वरा नहीं होनेपर भी जीव है अथवा नहीं है इसका विचारन करके, देख भान किये बिना ही उपकरणादि जमीनपर रखना फेंकना उसको अनाभोगनिसेपाधि-करण कहते हैं । उपकरणादिक वस्तु बिना साफ किये ही जमीनपर

रत देना अथवा जिसपर उपकरणायिका रये जाती है उसका अर्थात् चौकी जमोन मगरहफे अन्तरो तरह साफ न करना, इसका दुष्प्रमृष्ट-निक्षेपाधिकरण कहते हैं। साफ करनेपर जीव है अथवा नहीं है, यह देखे बिना उपकरणायिका रत्नना असम्भवयुक्त निक्षेपाधिकरण है। शरीरकी जसासधानता पूर्वक प्रयत्न करना नु प्रयुक्त कहा जाता है, ऐसा नु प्रयुक्त शरीर हिसाका उपकरण बन जाता है। इसमिए इगका देहनिर्वर्तनाधिकरण कहते हैं। जीव बाधाको कारण ऐसे तिरस साहित उपकरण बनाना, इसको भी निर्वर्तनाधिकरण कहते हैं। जैसे—जो जीव मगरह रये हुए पात्रमें जन्तु प्रवेश कर मर जाते हैं। पिचारी कमण्डलु आदि उपकरणोंका संगोग करना, जैसे ठण्डे स्पर्शवाने पुस्तकका धूपसे संतप्त कमण्डलु और पिचारीके साथ संगोग करना अथवा धूपसे तपने हुई पिचारीसे कमण्डलु पुस्तकको स्पर्श कराना आदिको उपकरण संयोजन कहते हैं। जिनसे सम्पूर्णजन जीवोंको उत्पत्ति होगी ऐसे वेगपदार्थ दूगरे वेगपदार्थके साथ संयुक्त करना अथवा भोजन पदार्थके साथ वेग पदार्थको संयुक्त करना। जिनमे जीवोंकी हिमा होती है ऐसा ही वेग और भोजन पदार्थका संगोग निषिद्ध है, इसमे अन्त्य संगोग निषिद्ध नहीं है। ऐसा भक्षणसंयोजन है। मा, वपन और शरीरके द्वारा हुए प्रयुक्ति करना उसको निसर्गाधिकरण कहते हैं।

३ असमोक्ष्याधिकरण

स सि ७/३२/३० अगमोक्षप्रयोजनमाधिकरणेन करणमगोक्ष्याधिकरणम्।—प्रयोजनया विचार विधे बिना मर्गादाय कारर अधि-
काम करना अगमोक्ष्याधिकरण है।

रा बा ७/३२/४४/२२ अगमोक्ष प्रयोजनमाधिकरणेन करणमधि-
करणम्। २। अधिपरिभावे तस्ते करोति चापूर्वप्रादुर्भावे प्रयोजनम
समोक्ष आधियेन प्रवर्तनमधिरणम्। तत्रेया गामादमनो-
विषयभेदात्। ३। तदधिकरण त्रैभाष्यवतिष्ठते। कृत कायनाटमनो-
विषयभेदात्। तत्र मानसं वरानर्थक्यादिविषयताया गामगर्त
निष्प्रयोजनरूपारपान गमोक्षप्रदान मरिचचनयवपुत्रवम्, काचित् च
प्रयोजनमस्तरेण गन्धरितृष्टनामीनो या सचिषोत्तरपुत्रपुत्रमन्त्रोत्त-
भेदनकुट्टनसैनादोनि कुयति। अग्निविषयगामादिप्रदान चारोत्त
हृयेवमादि तरसर्वमसमोक्ष्याधिकरणम्।—प्रयोजनके बिना ही
आधिकार्य रूपसे प्रवर्तन अधिकरण कहनाता है। मन वपन और
कायके भेदमे नह तीन प्रकारका है। निरर्थक काय आदिका विषय
मानस अधिकरण है। निष्प्रयोजन परगोक्ष्याधिकरण कुछ भी नकाम
वाचनिक अधिकरण है। बिना प्रयोजन मंडे या चनते हुए सचिष या
अचित्त पत्र पुष्प, फलिका सिद्धन, भेदन मर्दन, कुट्टन या शेषन
आदि करना तथा अग्नि, विष गार आदि देना कागिर असमोक्ष्या-
धिकरण है। (चा सा १८/४)।

अधिकरण सिद्धान्त—दे सिद्धान्त।

अधिकारिणी क्रिया—दे क्रिया १/२।

अधिगत—दे चारि १।

अधिगम—मौलिक उपदेशोंकी सुनकर या निवृत्त उपदेशों की पत्र-
कर जीव जो भी गुण दोष उत्पन्न करता है वे अधिगमज कहनाते
हैं क्योंकि वे अधिगम पूर्वक हुए हैं। वे ही गुण या दोष यदि किहीं
जीवोंमें स्वाभाविक होते हैं तो उन्हें निसर्गज कहते हैं। गम्यदर्शन
य सम्प्रज्ञान तो दो प्रकारका होता है पर चारि केवल अधिगमज
ही होता है क्योंकि उसमें अवश्य ही किसीके उपदेशको या
अनुसरणकी आवश्यकता पड़ती है।

१ अधिगम सामान्य

स सि १/३/१२ अधिगमोपनिबोधे।—अधिगमका अर्थ पदार्थका
ज्ञान है।

रा बा १/३, १२/१४ अधिपूर्वाह गमेमविसाधनोऽच् अधिगमन
मधिगम।—अधि उपसर्गे पूर्वक 'गम्' धातुमें भाव साधन अच्

प्रथम परीणर अधिगम अर्थम् पदार्थका ज्ञान करना मो अधि-
गम है।

ध. ३/१२/४/३२/१ अधिगमो नाम मागमि पदार्थः।—अधिगम
और ज्ञान प्रमाण मे दाता एवमर्थवर्षी है।

रा बा १/१६/४३ प्रमाण मय कश्चि ज्ञानो ज्ञाने एवमर्थवर्षी ज्ञानार्थ
तात् अधिगम कहिये।

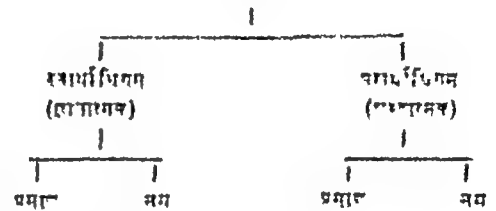
२. अधिगम सामान्यके भेद

स सि १/१ प्रमाणमैरिधिगम।—अर्थात् प्रमाणोंका ज्ञान प्रमाण और
मयो द्वारा होता है।

ग मि १/१/३ ज्ञानात्मक मय प्रमाणमैरिधिगम।—अधिगम दो
प्रमाणों द्विविध स्वार्थ परार्थ है।—स्वार्थ पदार्थका स्वयं प्रमाण
और मयो द्वारा ज्ञान होता है। प्रमाणोंको दो है—स्वार्थ और
परार्थ। (रा बा १/१६/३३/११)।

ग भ त. १/१ तत्राधिगमो द्विविध स्वार्थ परार्थयोरिति।—म य
द्विविध प्रमाण मय प्रमाणयोरिति।—अधिगम दो प्रकारका
है—स्वार्थ और परार्थ। और वह अधिगम प्रमाण-रूप एवमर्थवर्षी
इन दो धाराओं विभक्त है।

अधिगम



३. स्वार्थाधिगम

स सि १/१/३ ज्ञानात्मक स्वार्थम्।—स्वार्थ अधिगम द्वारा स्वयं प्रमाण है।

रा बा १/१६/३३/१२ स्वार्थाधिगमहेतुर्ज्ञानात्मक प्रमाणमयविरूपः।—
स्वार्थाधिगम हेतु ज्ञानात्मक है जो प्रमाण और मय दोनों वाला है।

स भ त. १/२ स्वार्थाधिगमो ज्ञानात्मक मतिरुत्पादकः।—स्वार्था-
धिगम ज्ञानात्मक है जो मति उत्पन्न आदि ज्ञान रूप है।

४. परार्थाधिगम

स सि १/१/३ पराधारतः परार्थम्।—परार्थ अधिगम वचन रूप है।

रा बा १/१६/३३/१२ परार्थाधिगमहेतुर्द्वयज्ञानात्मक।—दोन दुस्तराज्येन
प्रमाणित समाश्रित्यगमकत्वेन प्रतिवर्त्यते गमोद्गमोत्तरी ज्ञानात्मक
पदार्थाधिगममियन्ता।—वचन परार्थाधिगम हेतु है। वचनारूपक
स्वाज्ञान भूतसे द्वारा ज्ञानात्मिकी प्रमाण परार्थ मयमयी रूपसे
जाती जाती है।

ग भ त. १/२ परार्थाधिगमो ज्ञानरूपः।—स्वार्थ अधिगम वचन रूप है।
रा बा १/१६/३३/१२ परार्थाधिगमहेतुर्द्वयज्ञानात्मक।—दोन दुस्तराज्येन
प्रमाणित समाश्रित्यगमकत्वेन प्रतिवर्त्यते गमोद्गमोत्तरी ज्ञानात्मक
पदार्थाधिगममियन्ता।—वचन परार्थाधिगम हेतु है। वचनारूपक
स्वाज्ञान भूतसे द्वारा ज्ञानात्मिकी प्रमाण परार्थ मयमयी रूपसे
जाती जाती है।

५. निसर्गज सम्प्रदर्शन

स सि १/३/१२ यद्व्याप्तोपदेशादौ प्रादुर्भावति तन्नेमर्गमिहम्।—जो
बाह्य उपदेशके बिना होता है, वह नेतर्ग सम्प्रदर्शन है। (रा
बा १/३/४/३३/२३)।

ग्नो बा १/३/१३/८५/२८ तत्र प्रमाणमतिप्रत्यय भवत्यस्य दर्शनाहो-
पशमादौ सत्यतारहे ऐतो बहिरुद्गमपरीपदेशात्परार्थाज्ञानाय
प्रमाणमानं तत्परार्थमज्ञानं निसर्गजम् प्रत्येत्यमम्।—निकट
सिद्धिवाले भयम् जोबके दर्शनमोहोत्तरी कर्मका उपशम आदिक अन्त-

रग हेतुओंके विद्यमान रहनेपर और परोपदेशको छोड़कर शेष अद्रि दर्शन, जिनविषय दर्शन वेदना आदि बहिरंग कारणोंसे पैदा हुए तत्त्वार्थ-ज्ञानसे उत्पन्न हुआ तत्त्वार्थ अज्ञान निसर्गज समझना चाहिए।

६ अधिगमज सम्यग्दर्शन

स सि १/१/१२ मत्परोपदेशपूर्वकं जीवाधिगमनिमित्तं तदुत्पत्तम् । — जो बाह्य उपदेश पूर्वक जीवादि पदार्थोंके ज्ञानके निमित्तसे होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है । (रा वा १/१/३, ४/१४/२३) ।

घ १/१/१ १४४/गा २१२/३६६ छप्पंच-गव-विहाणं अरुणं जिणवरो-इहाणं । आणए अहिगमेण व सहहणं होइ सम्मत्तं । — जिनेन्द्र देवके द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नव पदार्थोंका आज्ञा अथवा अधिगमसे अज्ञान करनेको सम्यक्त्व कहते हैं । (गो जो १/५/६६१/१००६) ।

गो जो १/जी प्र १/६६१/१३ तच्छ्रद्धान अधिगमेन प्रमाणनयनिक्षेप-निरुत्तरन्युयोगद्वारै विशेषनिर्णयलक्षणेन भवति । — वह अज्ञान प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण अथ द्रव्याधिक पर्यायधिक नय अथ नाम स्था पना द्रव्य भाव निक्षेप अथ व्याकरणादिकरि साधित निरुक्ति अथ निर्देश स्वामित्व आदि अनुयोग इत्यादि करि विशेष निर्णय रूप है लक्षण जाका ऐसा जो अधिगमज अज्ञान हो है ।

प्र सा/ता वृ ६३/११८/२८ परमार्थं विनिश्चयाधिगमहावेन सम्यक्त्वं कथं भण्यते इति चेत् । परमोऽर्थ परमार्थं शुद्धबुद्धे कस्वभाव परमा-रमा, परमार्थस्य विशेषणेन सशयादिरहितरत्नेन निश्चय परमार्थनिश्चय-रूपोऽधिगम । — परमार्थविनिश्चय अधिगमका अर्थ सम्यक्त्व है । सो कैसे ? — परम अर्थ अर्थात् परमार्थ अर्थात् शुद्ध बुद्ध एक-स्वभावी परमात्मा । परमार्थके विशेषण द्वारा सशयादि रहित निश्चय-को परमार्थ निश्चयरूप अधिगम कहा गया है ।

७ निसर्गज व अधिगमज सम्यग्दर्शनमे अन्तर

गो क १/जी प्र १/६६०/७४२/२३ निसर्गजोऽधिगमोऽपि स्यात्त वा । यदि स्यात्तदा तदधिगमजमेव । यदि न स्यात्तदानवगततत्त्व अज्ञोऽप्येति । तत्र । उभयान्तरङ्गकारणे दर्शनमोहह्योपशमं क्षये क्षयोपशमं वा समाने च सखाचार्याद्विद्युपदेशेन जातमधिगमजं तद्विना जातं नैसर्गिकमिति भेदस्य सद्भावात् । — प्रश्न — अधिगमज पदार्थानिका अवबोध है कि नाहि, जो है तो वह भी अधिगमज ही भया अथ नाही है । तो तत्त्वज्ञान बिना सम्यक्त्व कैसे नाम पाया ? — उत्तर — दोषनिर्णय अन्तरंग कारण दर्शन मोहका उपशम, क्षय, क्षयोपशमकी समानता है । ताकी होतें तहाँ आचार्यादिकका उपदेश करि तत्त्वज्ञान होय सो अधिगम है । तीहि बिना होइ सो निसर्गज है । यह दोनोंमें अन्तर है ।

अन घ १/४६/१७६ पर उद्घृतं “यथा शूद्रस्य वेदार्थं शास्त्रान्तरसमीक्ष-णात् । स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं तत्त्वार्थं कस्यचित्तथा ।” — जिस प्रकार शूद्र वेदके अर्थका साक्षात् ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता किन्तु ग्रन्थान्तरोंको पढ़कर उसके ज्ञानको प्राप्त कर सकता है । किसी-किसी जीवके तत्त्वार्थ-का ज्ञान भी इसी तरहसे होता है । ऐसे जीवोंके गुरुपदेशादिके द्वारा साक्षात् तत्त्वबोध नहीं होता किन्तु उनके ग्रन्थोंके अध्ययन आदिके द्वारा स्वयं तत्त्वबोध और तत्त्ववृत्ति उत्पन्न हो जाती है ।

अन घ १/४६/१७६ केनापि हेतुना मोहनिधुयत्किं कोऽपि रोचते । तत्त्वं हि चर्चानायस्त कोऽपि च होदयति धी । — जिनका मोह वेदना अभिभाविकीमें-से किसी भी निमित्तको पाकर दूर हो गया है, सम्यग्दर्शनको घातनेवाली सात प्रकृतियोंका बाह्य निमित्त वश जिनके उपशम क्षय या क्षयोपशम हो चुका है उनमेंसे कोई जीव तो ऐसे होते हैं कि जिनको बिना किसी चर्चके विशेष प्रयास के ही तत्त्वमें वृत्ति उत्पन्न हो जाती है और कोई ऐसे होते हैं कि जो कुछ अधिक प्रयास करनेपर हो बाह्य निमित्तके अनुसार मोहके दूर हो जानेपर तत्त्ववृत्तिको प्राप्त होते हैं । अणु और अधिक प्रयासका ही निसर्ग और अधिगमज सम्यग्दर्शनमें अन्तर है ।

८. सर्व सम्यग्दर्शन साक्षात् या परम्परासे अधिगमज ही होते हैं

श्लो वा १/१/३/४/६७/२६ न हि निसर्ग स्वभावी येन तत् सम्यग्दर्शन-मुत्पाद्यमानुपलब्धतत्त्वार्थगोचरतया रसायनवत्रोपपद्यते । — निसर्गका अर्थ स्वभाव नहीं है जिससे कि उस स्वभावसे ही उत्पन्न हो रहा सत्ता सम्यग्दर्शन नहीं जाने हुए तत्त्वार्थोंको विषय करनेकी अपेक्षा-से रसायनके समान सम्यग्दर्शन ही न बन सके, अर्थात् रसायनके तत्त्वोंको न समझ करके क्रिया करनेवाले पुरुषके जैसे रसायनकी सिद्धि नहीं हो पाती है ।

श्लो वा १/१/३/२/६३/१३ स्वयंबुद्धश्रुतज्ञानमपरोपदेशमिति चेत्, तस्य जन्मान्तरोपदेशपूर्वकत्वात् तज्जन्मापेक्षया स्वयंबुद्धत्वस्याविरोधात् । — प्रश्न — जो मुनिमहाराज स्वयंबुद्ध हैं अर्थात् अपनेआप ही पूर्ण श्रुतज्ञान-को पैदा कर लिया है उन मुनियोंका श्रुतज्ञान तो परोपदेशकी अपेक्षा नहीं रहता अतः उसको निसर्गसे अन्य सम्यग्ज्ञान कह देना चाहिए । (रा वा हि १/३/२८) । उत्तर — ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उन प्रत्येक बुद्ध (स्वयंबुद्ध) मुनियोंके भी इस जन्मके पूर्वके दूसरे जन्मों-में जाने हुए आप उपदेशको कारण मानकर ही इस जन्ममें पूर्ण श्रुतज्ञान हो सका है । इस जन्मकी अपेक्षासे उनको स्वयंबुद्ध होनेमें कोई विरोध नहीं है ।

घ ६/१६-६-३४/४३२/१ जाहस्सरण जिणमिदं मणेहि विणा उप्पज्जमाण-णहसिगियपदमसम्मत्तस्स असंभवादो । — जातिस्मरण और जिन-विषय दर्शनके बिना उत्पन्न होनेवाला नैसर्गिक प्रथम सम्यक्त्व असंभव है ।

त सा १/जी प्र १/६/४ चिरातीतकाले उपदेशितपदार्थधारणलाभो वास देशान्तलब्धिर्भवति । तुशब्देनोपदेशकररहितेषु नारकादिभवेषु पूर्व-भ्रतश्रुतधारिततत्त्वार्थस्य मस्कारमलात् सम्यग्दर्शनप्राप्तिर्भवति इति सूच्यते । — अथवा लम्बे समय पहले तत्त्वोंकी प्राप्ति देशना लब्धि है । तु शब्द करि नारकादि विषय तहाँ उपदेश देने वाला नाहीं तहाँ पूर्व भवविषय धारया हुआ तत्त्वार्थके मस्कार मल तें सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति जाननी । (मो मा प्र १/७/२८३/८) ।

प्र सा/ता वृ ६३/११६ परमार्थतोऽर्थावबोधो यस्मात्सम्यक्त्वात्तत् पर-मार्थविनिश्चयाधिगमम् । — क्योंकि परमार्थसे सम्यक्त्वसे ही अर्थाव-बोध होता है इसलिए वह सम्यक्त्व ही परमार्थविनिश्चयाधिगम है । रा वा हि १/३/२८-२९ सम्यग्दर्शनके उपजावने योग्य बाह्य परोपदेश पहले होय है तिस तें सम्यग्दर्शन उपजै है । पीछे सम्यग्दर्शन होय तब सम्यग्ज्ञान नाम पावै ।

* सर्वथा नैसर्गिक सम्यक्त्व असंभव है — दे सम्यग्दर्शन III/२/१ ।

९. क्षायिक सम्यक्त्व साक्षात् रूपसे अधिगमज व निसर्गज दोनों होते हैं

श्लो वा १/१/३/२/२०/६४ भाषा “किन्हीं कर्मभूमिया द्रव्य मनुष्योंको केवली श्रुतकेवलीके निकट उपदेशसे और उपदेशके बिना भी क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जाता है ।

१० पाँचों ज्ञानोंमें निसर्गज व अधिगमजपना

रा वा हि १/३/२८ केवलज्ञान श्रुतज्ञान-पूर्वक होता है तातें निसर्गपना नाहीं । श्रुतज्ञान परोपदेश-पूर्वक ही होता है । स्वयंबुद्धके श्रुतज्ञान हो है सो जन्मान्तर के उपदेश-पूर्वक है । (तातें निसर्गज नाहीं) मति, अवधि, मन पर्ययज्ञान निसर्गज ही है ।

११ चारित्र तो अधिगमज ही होता है

श्लो वा १/१/३/२/२८/६४ चारित्र पुनरधिगमजमेव तस्य श्रुतपूर्वकत्वात् तद्विशेषस्यापि निसर्गजत्वाभावात् द्विविधहेतुकर न संभवति । — चारित्र तो अधिगमसे ही अन्य है । निसर्ग (परोपदेशके बिना

अन्य कारण समूह) से उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि प्रथम ही श्रुतज्ञानसे जीव आदि तत्त्वोंका निर्णय कर चारित्रिका गलन किया जाता है, अतः श्रुतज्ञान-पूर्वक ही चारित्र्य है। इसके विशेष अर्थात् सामायिक, परिहारविशुद्धि आदि भी निसर्गसे उत्पन्न नहीं होते। अतः चारित्र्य-निसर्ग व अधिगम दोनों प्रकारसे नहीं होता [अपि तु अधिगमसे ही होता है।]

रा या हि/१३/२८ चारित्र्य है सो अधिगम ही है तर्हि श्रुतज्ञानपूर्वक हो है।

अधिराज—दे राजा।

अधोऽधिगम—द्रव्य निक्षेपका एक भेद—दे निक्षेप ४/६।

अधोमुख—नवम नारद। अपर नाम उन्मुख—दे शलाकापुरुष ६।

अधोलोक—१ चित्र—दे लोक २/८। २ व्याख्या—दे नरक ४।

अध्यधि—१ आहारका एक दोष—दे आहार II/४। २ वसति का एक दोष—दे वसति।

अध्ययन—दे स्वाध्याय।

अध्ययन कुशल साधु—भ आ/वि/४०३/४६२/६ स्वाध्याय कृत्वा गन्धूतिद्वयं गत्वा गोचरशेषवसतिं गत्वा तिष्ठति। यत्र विप्रश्चष्टो मार्गस्तत्र सूत्रपौरुष्यामर्थपौरुष्यां वा मंगल कृत्वा याति एवं स्वाध्यायकुशलता।
—जो मुनि स्वाध्याय कर दो कोरा गमन करता है और जहाँ आहार मिलेगा ऐसे क्षेत्रकी वसतिमें जाकर ठहरता है। यदि मार्ग दूर होय तो सूत्रपौरुषी अथवा अर्थ पौरुषीके समय मंगल करके आगे गमन करता है। वह स्वाध्याय कुशल मुनि है।

अध्यवधि—१ आहारका दोष।—दे आहार II/४/४। २ वसति का एक दोष।—दे वसति।

अध्यवसान—स सा/मू व आ/२७१/३५० बुद्धी व्यवसायो वि य अज्जवसाण मई व विण्णण। एतदुत्तमेव सव्व चित्त भावो य परिणामो। २७१। स्वपरयोरविवेके सति जीवस्याध्यवसितमात्रमध्यवसानम्। तदेव च बोधनमात्रवादबुद्धिः। व्यवसानमात्रवाद व्यवसाय। मननमात्रवत्त्वमिति। विज्ञप्तिमात्रवत्त्वमिति। चेतनमात्रवत्त्वमिति। चित्तो भवनमात्रवत्त्वमात्र भाव। चित्त परिणमनमात्रवत्त्वमात्र परिणाम।
—बुद्धि व्यवसाय, अध्यवसान, मति विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब एकार्थ ही हैं। २७१। स्व और परका ज्ञान न होनेसे जो जीवकी निश्चित होना यह अध्यवसान है। वही बोधन मात्रपनसे बुद्धि है, निश्चयमात्रपनसे व्यवसाय है, जानन मात्रपनसे मति है, विज्ञप्तिमात्रपनसे विज्ञान है, चेतन मात्रपनसे चित्त है, चेतनके भवन मात्रपनसे भाव है और परिणमन मात्रपनसे परिणाम है। अतः सब शब्द एकार्थवाची हैं।

स सा/ता ४/६५/१५२ विकल्प यदा ज्ञेयतत्त्वविचारकाले करोति जीव तदा शुद्धारमम्बरूप विस्मरति तस्मिन्विकल्पे कृते सति धर्मोऽहमिति विकल्प उपचारेण घटत इति भावार्थ।

स सा/ता ४/२७०/३४८ भेदविज्ञानं यदा न भवति तदाह जीवात् हिन्स्मीत्यादि हिंसाध्यवसान नारकोऽहमित्यादि कर्मोदय अध्यवसानं, धर्मास्तिकायोऽहमित्यादि ज्ञेयपदार्थाध्यवसान च निर्विकल्प शुद्धारमान सकाशाद्भिन्न न जानातीति।

—ज्ञेय पदार्थका विचार करते समय जब जीव विकल्प करता है तब शुद्धारम स्वरूपको भूल जाता है। उस विकल्पके होनेपर 'मैं धर्मास्तिकाय द्रव्य हूँ' ऐसा विकल्प उपचारेसे घटता है—यह भावार्थ है। भेद विज्ञान जब नहीं होता तब 'मैं जीवोंको मारता हूँ' इस प्रकारका हिंसाध्यवसान होता है। 'मैं नारकी हूँ' इस प्रकारका कर्मोदय अध्यवसान होता है। 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' इस प्रकारका ज्ञेय-पदार्थ अध्यवसान होता है।

स्व स्तो/टी/७/२६ अहमस्य सर्वस्य इत्यादिविषयस्य स्वामोति क्रिया 'अहक्रिया'। ताभिः प्रसक्तं सत्तन् प्रवृत्तो वा मिथ्या, असत्यो, अध्यवसायो, अभिनिवेशः। —'मैं इन गी आदि सर्व विषयोंका स्वामी हूँ' ऐसी क्रिया 'अह' क्रिया है। इससे द्वारा प्रसक्त संतन्य या प्रवृत्त मिथ्या है, असत्य है, अध्यवसाय है, अभिनिवेश है।

१. अध्यवसानके भेद

स सा/आ/२१७/२६८ इह लब्धव्यवसानोदया यतरेऽपि यसारविषया, यतरेऽपि शरीरविषया। तत्र यतरे यसारविषया ततरे बन्धनिमित्ता। यतरे शरीरविषयास्ततरे सुवभोगनिमित्ता। यतरे बन्धनिमित्तास्ततरे रागद्वेषमोहाद्या यतरे उपभोगनिमित्तास्ततरे सुखदुःखाद्या।
स सा/आ/२८०/३४८ एतानि त्रिणि यानि त्रिविधा (अज्ञानादर्शनाचारित्र्यगुणानि) अध्यवसानानि समस्तान्यपि तानि शुभाशुभकर्म-बन्धनिमित्तानि, स्वयमज्ञानादिरूपत्वात्।

—इस लोकमें निश्चयसे अध्यवसानके उदय कितने ही ठो ससारके विषय हैं और कितने ही शरीरके विषय हैं। उनमें-जितने ससारके विषय हैं उतने तो बन्धके निमित्त हैं और जितने शरीरके विषय हैं उतने उपभोगके निमित्त हैं। वहाँ जितने बन्धके निमित्त हैं उतने तो राग द्वेष माहादिक हैं और जितने उपभोगके निमित्त हैं उतने सुखदुःखादिक हैं। ये पूर्वोक्त अध्यवसान तीन प्रकारके हैं—अज्ञान, अदर्शन और अचारित्र्य। ये सभी शुभ अशुभ कर्म बन्धके निमित्त हैं क्योंकि ये सब अज्ञानादि रूप हैं।

२ अध्यवसान विशेषके लक्षण

स सा/आ/२८०/३४८ एतानि त्रिणि यानि त्रिविधान्यध्यवसानानि समस्तान्यपि तानि शुभाशुभकर्मबन्धनिमित्तानि स्वयमज्ञानादिरूपत्वात्। तथाहि, यदि हिन्स्मीत्याद्यध्यवसानं तदज्ञानमयत्वेन आरमन सदरेतुकक्षप्येकक्रियस्य रागद्वेषविषयमयीनां हननादिक्रियाणां च विशेषाज्ञानेन विविकारमाज्ञानादस्ति तावदज्ञान विविकारमादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं विविकारमानाचरणदस्ति चाचारित्र्यम्। यत्पुनरेव धर्मो ज्ञायत इत्याद्यध्यवसानं तदपि ज्ञानमयत्वेन आरमन सदरेतुकक्षानैकरूपम् ज्ञेयमयानां धर्मोदिरूपानां च विशेषाज्ञानेन विविकारमाज्ञानादस्ति तावदज्ञान विविकारमादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं विविकारमानाचरणदस्ति चाचारित्र्यम्। ततो बन्धनिमित्तान्येवैतानि समस्तान्यध्यवसानानि। —ये पूर्वोक्त अध्यवसान तीन प्रकारके हैं—अज्ञान अदर्शन और अचारित्र्य। यह सभी शुभअशुभ कर्म बन्धके निमित्त हैं, क्योंकि ये स्वयं अज्ञानादि रूप हैं। किस तरह हैं मो कहते हैं—जो यह 'मैं जीवका मारता हूँ' इत्यादि अध्यवसान है, वह अज्ञानादि रूप है, क्योंकि आत्मा ठो ज्ञायक है, इस ज्ञायकपनसे ज्ञप्ति क्रिया मात्र हो (होने योग्य) है (हनन क्रिया नहीं) इसलिए सद्रूप द्रव्य दृष्टिसे किसीसे उत्पन्न नहीं ऐसा निरय रूप जानने मात्र ही क्रियावाला है। हनना, घातना आदि क्रियाएँ हैं वे रागद्वेषके उदयमे हैं। इस प्रकार आत्मा और घातने आदि क्रियाके भेदको न जाननेसे आत्माको भिन्न नहीं जाना, इसलिए 'मैं पर जीवका घात करता हूँ' ऐसा अध्यवसान मिथ्याज्ञान है। इसी प्रकार भिन्नारमाणा अज्ञान न होनेसे मिथ्यादर्शन है। इसी प्रकार भिन्नारमाके अनाचरणमे मिथ्याचारित्र्य है। 'यह धर्म द्रव्य मुझसे जाना जाता है' ऐसा अध्यवसान भी अज्ञानादि रूप ही है। आत्मा तो ज्ञानमय होनेसे ज्ञानमात्र ही है क्योंकि सद्रूप द्रव्य दृष्टिसे अहेतुक ज्ञानमात्र ही एक रूप वाला है। धर्मादिक तो ज्ञेयमय हैं। ऐसा ज्ञान ज्ञेयका विशेष न जाननेसे भिन्नारमाके अज्ञानमे 'मैं धर्म द्रव्यको जानता हूँ' ऐसा भी अज्ञान रूप अध्यवसान है। भिन्नारमाके न देखनेसे अज्ञान न होनेसे यह अध्यवसान मिथ्यादर्शन है और भिन्नारमाके अनाचरणसे यह अध्यवसान अचारित्र्य है। इसलिए ये सभी अध्यवसान बन्धक निमित्त हैं।

स सा/ता वृ/२७०/३४८ शुद्धारमस्यकश्चान्नज्ञानानुचरणरूप निश्चय-
रत्नत्रयलक्षण भेदविज्ञान यदा न भवति तदाहं जीवात् हिनस्मी-
त्यादि हिंसाध्यवसानं नारकोऽहमित्यादि कर्मोद्घाध्यवसानं,
धर्मास्तिकायोऽयमिरयादि श्रेयपदार्थान्यवसानं च निर्विकल्पशुद्धा-
रमन सकाशाद्विन्नं न जानातीति । = शुद्धारमका सम्यक् अज्ञान
ज्ञान व अनुचरणरूप निश्चयरत्नत्रय लक्षणवाला भेदज्ञान जन्म नहीं
होता तब 'मैं जीवाका हनन करना हूँ' इत्यादि हिंसा आदि रूप
अध्यवसान होता है। मैं नारको हूँ' इत्यादि कर्मोद्घारूप अध्यवसान
होता है। 'यह धर्मान्तिकाय है' इत्यादि श्रेय पदार्थ अध्यवसान
होता है। निर्विकल्प शुद्धारमको इन सबसे भिन्न नहीं जानता है।

३ अध्यवसान भावोकी अनर्थ कार्यकारिता

स सा/मू/२६६/३४१ दुस्विदमुह्ये जीवे करेमि बधेमि तह विमो-
चेमि । जा एमा मूढमई जिनरथया साहु दे मिच्छा । २६६।

स सा/आ/२६६/३४३ यदेतदध्यवसानं तत्परममपि परभावस्य परस्मिन्न-
व्याप्रियमाणत्वेन स्वार्थक्रियाकारित्वाभावात् त्वक्तुसुमं सुनामीर्य
ध्यवसानवन्मिथ्यारूप केवलमारमनोऽनर्थमपि ।

स सा/ता वृ/२६६/३४३ सुखितदु खितात् जीवात् करामि, बन्धयामि,
तथा विमोचयामि या एषा तव मति सा निरर्थिका निष्प्रयोजना
स्फुटम् । अहो तत कारणत्वं मिथ्या वितथा व्यलीका भवति ।

—माई ! तेरी जो ऐसी मूढ़बुद्धि है कि मैं जीवोंको दु खी-सुखी
करता हूँ बंधाता हूँ और छड़ाता हूँ वह मोहस्वरूप बुद्धि निरर्थक है
सत्यार्थ नहीं है, इसलिए निश्चयसे मिथ्या है। जो यह अध्यवसान
है वह सभी मिथ्या है, क्योंकि परभावका परम व्यापार न होनेसे
स्वार्थ-क्रियाकारीपन नहीं है। परभाव परम प्रवेश नहीं करता। जैसे
कोई ऐसा अध्यवसान करे कि 'मैं आकाश-पुष्पको तोड़ता हूँ' इसी
प्रकारके अध्यवसानवत् (वे सब उपर्युक्त भाव भी) मिथ्यारूप हैं मात्र
अपने अनर्थके लिए ही हैं परका कुछ भी करनेवाले नहीं हैं।
मैं जीवोंको सुखी व दु खी करता हूँ, बंधाता व छड़ाता हूँ, ऐसी
जो तेरी बुद्धि है वह स्पष्टरूपसे निरर्थक व निष्प्रयोजन है। क्योंकि
अन्यको दु खी-सुखी करनेका अन्यका कार्य नहीं है। इसी कारण यह
अध्यवसान मिथ्या है, वितथ है, व्यलीक है।

अध्यवसाय—स सा/आ/२६०/३३१ परजीवानह जीवयामि पर-
जीवैर्जीव्ये चाहमिरयध्यवसायो ध्वमज्ञानम्—मैं परजीवोंको
जिलाता हूँ और परजीव मुझे जिलाते हैं ऐसा आशय निश्चयसे
अज्ञान है। (और भी दे अध्यवसान)।

१. स्थितिवन्ध अध्यवसायस्थान

घ ११/४ २,६,१६६/३१०/६ मन्वमूलपयडोण सग उदयादो समुप्पणपरि-
णामाण सग-सगट्टिदिषधकारणत्तेण टिट्ठिदिषधज्जम्भसाणट्टाणाण । =
सम मूल प्रकृतियोंके अपने-अपने उदयसे जो परिणाम उत्पन्न होते
हैं उनको ही अपनी-अपनी स्थितिके बन्धमें कारण होनेसे स्थिति-
बन्धाध्यवसायस्थान सड़ा है।

गो जो/भाषा/३१०/१२ ज्ञानावरणादिक कर्मनि का ज्ञानकी आवरण
इत्यादिक स्वभाव करि संयुक्त रहनेको जो काल ताकौ स्थिति
कहिमे, तिसके सम्य-ध कौ कारणभूत जे परिणामनिके स्थान तिन-
का नाम स्थितिवन्धाध्यवसायस्थान है।

२ कषाय व स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानमे अन्तर

घ ११/४ २,६,१६६/३१०/३ (जदि पुण क्खपाउदयट्टाणाणि चैव टिट्ठिदिषध-
ज्जम्भसाणट्टाणाणि) होति तो ऐदमप्पायहुग घड्ढे, कसायोदयट्टाणेण
विणा मूलपयट्ठिदिषधभावेण सववपयडिट्ठिदिषधज्जम्भसाणट्टाणाण
समाणत्तपसंगादो । तन्हा मन्वमूलपयडोण सग-सग उदयादो
समुप्पणपरिणामाण सग सगट्टिदिषधकारणत्तेण टिट्ठिदिषधज्जम्भ-
साणट्टाणाण । = यदि कषायोदय स्थान हो स्थितिवन्धाध्य-
वसानस्थान हों तो यह अण्महृत् घटित नहीं हो सकता है क्योंकि

कषायोदय स्थानके बिना मूल प्रकृतियोंका बन्ध न हो सक्नेसे सभी
मूल प्रकृतियोंके स्थितिवन्धाध्यवसाय स्थानोंकी समानताका प्रसंग
आता है। अतएव सम मूल प्रकृतियोंके अपने अपने उदयसे जो
परिणाम उत्पन्न होते हैं उनको अपनी-अपनी स्थितिके बन्धमें
कारण होनेसे स्थितिवन्धाध्यवसायस्थान सड़ा है।

३. अनुभाग बन्धाध्यवसायस्थानोमे हानि वृद्धि रचना

घ ६/१ ६-७,४३/२००/३ मठाट्टिदिषधट्टाणाण एवकेकट्टिठ्ठिदि बंध-
ट्टाणाण एवकेकट्टिठ्ठिदिषधज्जम्भसाणट्टाणाणस्स हेट्ठा ध्ववट्ठकमेण
असखेज्जलोमेत्ताणि अनुभागध्वज्जम्भसाणट्टाणाणि हाति । ताणि च
जहणकसाउदयअनुभागध्वज्जम्भसाणट्टाणाणप्पहुट्ठि उवरि जाव
जहणट्टिदि-उक्खस्सकसाउदयट्टाणअनुभागध्वज्जम्भसाणट्टाणाणि स्ति
विसेसाहियाणि । विसेसे पुण असखेज्जा लोमा । = सर्वस्थिति बन्धों
सम्बन्धी एक एक स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानके नीचे उच्युक्त
पड़वृद्धिके क्रमसे असंख्यात लोकमात्र अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान
होते हैं। वे अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान जघन्य कषायोदय सम्बन्धी
अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानसे लेकर ऊपर जघन्य स्थितिके उत्कृष्ट
कषायोदयस्थानसम्बन्धी अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान तक विशेष-
विशेष अधिक हैं। यहाँपर विशेषका प्रमाण असंख्यात लोक है।

४. अनुभाग बन्धाध्यवसायस्थानोमे गुणहानि शलाका

सम्बन्धी वृष्टिमेव

गो क/जी प्र/६६४/११६१/४ अनुभागबन्धाध्यवसायानां नानागुणहानि-
शलाका सन्ति न सन्तोऽप्युपदेशश्चमस्ति । = अनुभाग बन्धाध्यव-
सायनिके नाना गुणहानि शलाका हैं वा नाही हैं ऐसा आचार्यनि-
के मतिकरि दोऊ उपदेश हैं।

५. स्थितिवन्ध अध्यवसायस्थानोमे हानि-वृद्धि रचना

घ ६/१ ६-७,४३/१६६/४ एवकेकस्स टिट्ठिदिषधट्टाणाणस्स असखेज्जा लोमा
ट्टिदिषधज्जम्भसाणट्टाणाणि जहाकमेण विसेसाहियाणि । विसेसे पुण
असखेज्जा लोमा । ताणि च ट्टिदिषधज्जम्भसाणट्टाणाणि जहणट्टा-
णादो जावप्पणो उक्खस्सट्टाण ताव अणतभागवट्ठो असखेज्ज-
भागवट्ठो, संखेज्जभागवट्ठो, संखेज्जगुणवट्ठो, असखेज्जगुणवट्ठो,
अणतगुणवट्ठो स्ति छविन्धाएव वट्ठोए टिट्ठाणि । अणतभागवट्ठि-
कट्ठय गत्तुण, एगा असखेज्जभागवट्ठो होदि । असखेज्जभागवट्ठि-
कट्ठय गत्तुण एगा संखेज्जभागवट्ठो होदि । संखेज्जभागवट्ठि-
कट्ठय गत्तुण एगा संखेज्जगुणवट्ठो हादि । संखेज्जगुणवट्ठि-
कट्ठय गत्तुण एगा असखेज्जगुणवट्ठो होदि । असखेज्जगुणवट्ठि-
कट्ठय गत्तुण एगा अणत-
गुणवट्ठि होदि । एदमेण छट्ठाण । एरिसाणि असखेज्जलो-
मेत्ताणि छट्ठाणाणि हाति । = एक-एक स्थिति बन्धस्थानके असंख्यात
लोक प्रमाण स्थितिवन्धाध्यवसाय स्थान होते हैं। जो कि यथाक्रमसे
विशेष-विशेष अधिक हैं। इस विशेषका प्रमाण असंख्यात लोक
है। वे स्थितिवन्धाध्यवसायस्थान जघन्य स्थानसे लेकर अपने-
अपने उत्कृष्ट स्थान तक अनन्तभागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि,
संख्यातभागवृद्धि, सरपातगुणवृद्धि असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुण-
वृद्धि, इस ६ प्रकारकी वृद्धिसे अवस्थित हैं। अनन्तभाग वृद्धिकाण्डक
जाकर अर्थात् सूच्यगुलके असंख्यात भाग मात्र बार अनन्तभाग-
वृद्धि हो जानेपर एक बार असंख्यातभागवृद्धि होती है। असंख्यात-
भागवृद्धि काण्डक जाकर एक बार सरपात भागवृद्धि होती है।
संख्यातभागवृद्धि काण्डक जाकर एक बार संख्यातगुणवृद्धि होती है।
संख्यातगुणवृद्धिकाण्डक जाकर एक बार असंख्यात गुणवृद्धि होती है।
असंख्यातगुणवृद्धिकाण्डक जाकर एक बार अनन्तगुण वृद्धि
होती है। (यहाँ सर्वत्र काण्डकसे अभिप्राय सूच्यगुलके असंख्यात
भाग मात्र बारोंसे है) यह एक पड़वृद्धि रूप स्थान है। इस प्रकारके
असंख्यात लोकमात्र पड़वृद्धिरूप स्थान उन स्थितिवन्धाध्यवसाय-
स्थानोंके होते हैं।

६. पहले-पहलेवाले स्थितिबन्ध अध्यवसायस्थान अगले-

अगले स्थानोमे नहीं पाये जाते

घ ११/४.२.६.२००/३६४/४ जाणि बिदियाए दिठदीए दिठदिबधज्जकवसाणट्ठाणेसु होति चि ण घेतवन्, पदमन्वज्जकवसाणट्ठाणाणं तदिदिदिठदि अज्जकवसाणट्ठाणेसु अणुवत्तभादा । -जा स्थिति बन्ध अध्यवसाय स्थान (कर्मको) द्वितीय स्थिति (बन्ध) में हैं, ये तृतीय स्थितिमे अध्यवसायस्थानोमे (भी) होते हैं, ऐसा नहीं ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि द्वितीय स्थितिके प्रथम खण्ड सम्बन्धी अध्यवसायस्थान तृतीय स्थितिके अध्यवसायस्थानोमे नहीं पाये जाते हैं ।

७ स्थिति व अनुभाग बन्ध अध्यवसायस्थानोमे परस्पर सम्बन्ध

घ ६/१६ ७.४३/२००/३ सव्वदिठदिबधट्ठाणाण णमेवदिठदिबधज्जकवसाणट्ठाणाणस्स हेट्ठा एवदिठदिबधमेण असरोज्जलोगेमेसाणि अणु-भागवधज्जकवसाणट्ठाणाणि होति । -सर्व स्थिति बन्धों सम्बन्धी एक एक स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानके नीचे उन्मुख पट्टपट्टिके क्रमसे असंस्थित लोकमात्र अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान होते हैं ।

८. अनुभाग अध्यवसायस्थानोमे परस्पर सम्बन्ध

१ मूल प्रकृति—देखो म ध ४/३०१ ३८६/१६८ । २ उत्तर प्रकृति—देखो म घ ४/६२६-६४८/३७२ ।

अध्यात्म—स सा/ता वृ/परि/पृ ४२४ निजशुद्धागमि विपुद्धा-धारभूतेऽनुष्ठानमध्यात्मम् । -अपने शुद्धागमि विपुद्धाताका आधारभूत अनुष्ठान या आचरण अध्यात्म है ।

पं का/ता वृ/परि/पृ २४६/१० अर्थपदानामभेदरत्नप्रतिपादकानामनुकूल यत्र व्याख्यानं श्रियते तदध्यात्मशास्त्रं भण्यते । -अभेद रूप रत्नत्रयके प्रतिपादक अर्थ और पदांक अनुकूल जहाँ व्याख्यान किया जाता है उसे अध्यात्म शास्त्र कहते हैं ।

प्र स/टो ४७/२३८ मिथ्यास्वरागादिसमस्तविकल्पजालरूपपरिहारेणस्व-शुद्धात्मन्यनुष्ठानं तदध्यात्ममिति । -मिथ्यास्वरागादि समस्त विकल्प समूहके त्याग द्वारा निज शुद्धात्मामे जो अनुष्ठान प्रवृत्ति करना, उसको अध्यात्म कहते हैं ।

सू पा/६/१ जयचन्द "जहाँ एक आत्माक आभ्रगनिरूपण करिये सो अध्यात्म है ।"

अध्यात्मकमलमार्तण्ड—१ राजमल्लजी (वि १६३२-१६६०) द्वारा रचित संस्कृत छन्द मद्र आध्यात्मिक ग्रन्थ । (ती ४/८१) ।

अध्यात्मनय—दे नय १/१ ।

अध्यात्मपदटीका—भट्टारक शुभचन्द्र (ई १५१६-१५६६) द्वारा रचित एक आध्यात्मिक ग्रन्थ । (दे शुभचन्द्र) ।

अध्यात्मपद्धति—दे पद्धति ।

अध्यात्मरहस्य—पं आशाधरजी द्वारा विरचित द्रव्यमन तथा भावमनका स्वरूप दर्शानेवाला योग विषयक संस्कृत पद्यग्रन्थ ७२ श्लोक प्रमाण ग्रन्थ । अपर नाम योगोद्घोष । समय ई ११४२ १२४३ । (ती ४/४५) ।

अध्यात्मसदोह—आचार्य योगेन्दुदेव (ई श ६ उत्तरार्ध) द्वारा विरचित अपभ्रंश दोहा मद्र आध्यात्मिक ग्रन्थ । (दे योगेन्दुदेव) ।

अध्यात्म स्थान—स सा/आ ४२/६४/६ -यानि स्वपरैकस्वा-ध्यासे सति विपुद्धचिरपरिणामातिरिक्तवत्त्वगणान्यध्यात्मस्थानानि सानि सर्वग्यपि न सन्ति जीवस्य । -स्वपरके एकत्वका अध्यास होनेपर विपुद्ध चैतन्य परिणामसे भिन्न लक्षणवाने अध्यात्म स्थान भी जीवके लक्षण नहीं हैं ।

अध्यासोप—१ एष मातृगो भूमसे दृसरी जगह स्थापना, २ मिथ्या या निराधार कल्पना ।

अध्यास—स सा/आ ४२/६४/६ यानि स्वपरैकस्वाध्याम सति ।

-स्व परके एकत्वका अध्यास होनेपर ।

अधुव—१. मतिज्ञानका एव भेद—ये मतिज्ञान ४ । २ अधुवमन्धी प्रकृतियों—ये प्रकृतिबन्ध २ ।

अध्वर—म पृ ४७/१६१ मागो यत्तु ऋतु पूजा सपर्येवमाध्वरो मय । मए इत्यपि पर्याय मचनान्यचनाविधे । -याग, मए ऋतु, पूजा सपर्या, इत्या अध्वर मय और मय मे मय पूजाविधिक पर्याय-माचम दान्तर हैं ।

अध्वान—म.८/१ ४/गा २/८/१ अध्वान अर्थात् मन्धगोमा । [शिव गुणस्थान तथा बन्ध होता है ।]

अनगक्रोडा—राधा १०/२८.३/४४२/११ अद्र प्रजननं योनिरथ ततोऽन्यत्र कृष्टा अनगक्रोडा । अनेकविधप्रजननविचारों जयना-द्वयत्र चाटगे रतिरित्यर्थ । -निग तथा भग या योनि अग है । इसमे दृसरे रथानमें क्रीड़ा व कति गो अगोम्य अगमे क्रीड़ा है अर्थात् काम सेवनक योग्य अगोको मोहकर अन्य अगोमें या अन्य रातिसे क्रीड़ा करना सो अनगक्रोडा है ।

अनत—द्रव्यों, पदार्थों व भावों तककी सत्याओंका विविध प्रकारसे निरूपण करनेवाला रंग सार्वभौमतेसे अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता । ये रंगगण गणनाको अतिशयात बन्दे बरतीके कारण असंस्थित व अनंत द्वारा प्रस्तुत की जाती हैं । यद्यपि अनन्त शब्दाको जानना अणुश्लेके लिए सम्भव नहीं है फिर भी परममें एक दूसरेको अनेकानेक तरतमा दर्शाकर बड़ी योग्यताके साथ उनका अनुमान करामा जाता है ।

१ अनतके भेद व लक्षण

१. अनत सामान्यका लक्षण

स मि ४/६/२०४ अधिचमानोऽन्तो देवा उ अनन्ता । -जिनका अन्त नहीं है, वे अनन्त कहलाते हैं ।

स सि ८/६/१८६ अनन्तसंसारकारणत्वाभिप्योदर्शनमनन्तम् । -अनन्त संसारका कारण होनेसे निध्यादर्शन अनन्त कहलाता है ।

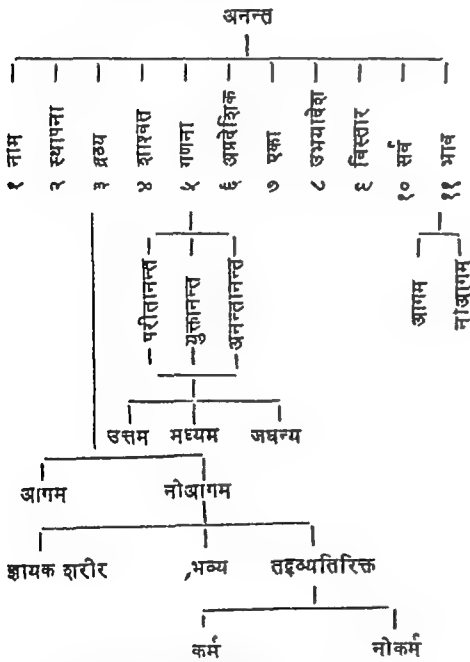
घ १/१ ११/४०/३२२/६ न हि सात्त्वस्थानमर्थं विरोधात् । सत्त्वमय शिवायस्थाने राधे कथमानन्त्यमिति चेत्, अन्यैकस्याप्यनन्तप्रसङ्ग । शब्दव्यवस्थानन्तमेव न ह्याऽस्तोरोऽन्तान्तोऽस्ति । -सात्त्विको अनन्त माननेमें विरोध आता है । प्रश्न—जिस राशिवा निरन्तर व्यय चाखू है, परन्तु उसमें आय नहीं है तो उसको अनन्तपन कैसे बन सकता है । उत्तर—नहीं क्योंकि, यदि शब्दव्यय और निराय राशि-का भी अनन्त न माना जावे तो एकको भी अनन्तापनेका प्रसंग आ जायेगा । व्यय हाते हुए भी अनन्तका शय नहीं होता है यह एकान्त नियम है ।

घ ३/१ २.२/२६७/४ जा रासो एगेरुवे अवजिज्जमाने जिट्ठादि सो असंखेज्जो । जो पुण ण समपक्क सो रासो अणतो । -एक एक सख्या के घटाते जानेपर जो राशि समाप्त हो जाती है वह असंस्थित है और जो राशि समाप्त नहीं होती है वह अनन्त है । (घ १/१.२.२/१६/८) (घ १४/५ ६.१२८/०३५/६) ।

२. अनतके भेद-प्रभेद

घ ३/१ २.२/गा ८/११/७ नाम द्वयणादिवर्त्ता सरसद गणणापदेसिममल । एगो उभयाधेसा विरथारा । सव्वभावो य । -नामानन्त, स्थापनानन्त, द्रव्यानन्त, दाहवत्तानन्त, गणनानन्त, अप्रदर्शिवानन्त, एकान्त-उभयान्त विस्तारानन्त, समन्वित और भावानन्त इस प्रकार अनन्तके ग्यारह भेद हैं ।

घ ३/१,२,३/५/५ त दव्वाणत तं दुविहं आगमदो नोआगमदो य ।
 १२/३ —त नोआगमदो दव्वाणत तं तिविहं, जाणुगसरीरदव्वाणत
 भविद्यदव्वाणत तं त्वद्विद्विद्वदव्वाणत चेदि । १३/३, —तं दव्वादि-
 रिक्तदव्वाणत तं दुविहं, कम्माणतं णाकम्माणतमिदि । १४/१, —
 तं भावणतं तं दुविहं आगमदो नोआगमदो य । १६/६, —
 तं गणणतं तं तं पि तिविहं, परिक्काणतं जुत्ताणत
 अणताणतमिदि । १८/३, —तं अणताणत तं पि तिविहं,
 जहणमुक्कस मज्झिममिदि । १६/२ । —द्रव्यानन्त आगम व नो-
 आगमके भेदसे दो प्रकारका है । नोआगम द्रव्यानन्त तीन प्रकारका
 है—ज्ञायक शरीर नोआगम द्रव्यानन्त, भव्य नोआगम द्रव्यानन्त,
 तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यानन्त । तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्या-
 नन्त दो प्रकारका है—कर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यानन्त और
 नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यानन्त । आगम और नोआगम-
 को अपेक्षा भावानन्त दो प्रकारका है । गणनानन्त तीन प्रकारका
 है—परीतानन्त, युक्तानन्त, और अनन्तानन्त । और उपलक्षणसे
 परीतानन्त व युक्तानन्त भी तीन प्रकारका है—जघन्य अनन्तानन्त,
 उरुकृष्ट अनन्तानन्त और मध्यम अनन्तानन्त । (ति प १/४/३११)
 (रा वा ३/३८/४/१५/२०६-२०७) ।



३ गामादि ११ भेदोंके लक्षण

घ ३/१,२,३/११-१६/६ नामाणत जीवाजीवमिस्सदव्वस्स कारणणिर-
 वेस्सा सण्णा अणता हदि । जं त द्ठवणाणतं णामं त कट्ठकम्मेषु वा
 चित्तकम्मेषु वा पोत्तकम्मेषु वा लेप्पकम्मेषु वा लेणकम्मेषु वा सेल-
 कम्मेषु वा भित्तिकम्मेषु वा गिहकम्मेषु वा भेंठकम्मेषु वा दत्तकम्मेषु
 वा अवलो वा वराहयो वा जे च अण्णे द्ठवणाए द्ठवविदा अणतमिदि
 तं सव्व द्ठवणाणतं णाम । आगमो गथो सुदणाणसिद्धो तो पवयण-
 मिदि एगट्ठो तस्य आगमदो दव्वाणतं अणतपाहुडजाणओ अणुव-
 जुत्तो । आगमादण्णे नोआगमो । तस्य जाणुगसरीरदव्वाणत अणत-
 पाहुडजाणुगसरीर तिकालजार्द । भविमाणत अणतपाहुडजाणुग-
 भावी जीवो । अजं तं कम्माणतं तं कम्मस्स पदेसा । जं तं णोकम्माणत
 तं कडय-रूजगदोव ससुद्धादि एयपदेसादि पोगलदव्व वा । जं त
 सस्सदाणत तं घम्मादिदव्वगयं । कुदो । सासयत्तेण दव्वाण विणा-
 साभावादो । जं त गणणाणत तं बहुवणणीय सुगम च । जं त

अपदेसियाणतं तं परमाणू । एकप्रदेशे परमाणौ तद्व्यतिरिक्तापरो
 द्वितीय प्रदेशोऽन्तव्यप्रदेशभाक नास्तीति परमाणुरप्रदेशानन्त ।
 जं त एयाणत त लोगमज्झमाद एगसेदि वेववमाणे अताभावादो
 एयाणत । अजा अपारो सागरो, अथाह जलमिदि । जं त उभया-
 णत तं तया चैव उभयदिसाप वेववमाणे अताभावादो उभया-
 देसणत । जं त विरथाराणत तं पदरागारेण आगास वेववमाणे
 अताभावादो भवदि । जं त सव्वाणत तं घणागारेण आगास वेवव-
 माणे अताभावादो सव्वाणतं भवदि । आगमदो भावाणत अणत-
 पाहुडजाणुगो उवजुत्तो । जं त नोआगमदो भावाणत तं तिकाल-
 जाः अणतपज्जयपरिणदजीवादिदव्व । १-१ नामानन्त—कारणके
 बिना ही जीव अजीव और मिश्र द्रव्यके 'अन'त ऐसी सज्ञा करना
 नाम अनन्त है (११/६) । २- स्थापनानन्त—काष्ठ कर्म चित्र-
 कर्म पुस्त (वस्त्र) कर्म, लेप्यकर्म, लेनकर्म, शैलकर्म, भित्तिकर्म,
 गृहकर्म, भेंठकर्म अथवा दन्तकर्ममें अथवा अक्ष (पासा) हो या
 कौड़ी हो अथवा काँई दूसरी वस्तु हो उसमें 'यह अनन्त है' इस
 प्रकारकी स्थापना करना स्थापनानन्त है (११/६) । ३ द्रव्यानन्त—
 द्रव्यानन्त आगम नोआगमके भेदसे दो प्रकारका है । आगम, ग्रन्थ,
 श्रुतज्ञान सिद्धान्त और प्रवचन ये एकाधवाची शब्द हैं (१२/३) ।
 १ आगम द्रव्यानन्त—अनन्त विषयक शास्त्रको जाननेवाले परन्तु
 वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगमद्रव्यानन्त कहते हैं ।
 (१२/११) । २ नोआगम द्रव्यानन्त—[यह नोआगम द्रव्यानन्त तीन
 प्रकारका है—ज्ञायक शरीर, भव्य और तद्व्यतिरिक्त] उनमेंसे
 अनन्त विषयक शास्त्रको जाननेवाले (जीव) के तीनों कालोंमें होने-
 वाले शरीरको ज्ञायक शरीर नोआगम द्रव्यानन्त कहते हैं (१३/३) ।
 जो जीव भविष्यकालमें अनन्त विषयक शास्त्रको जानेगा उसे
 भावि नोआगम द्रव्यानन्त कहते हैं । तद्व्यतिरिक्त नोआगम
 द्रव्यानन्त दो प्रकारका है—कर्म तद्व्यतिरिक्त और नोकर्म तद्व्य-
 तिरिक्त । ज्ञानावरणादिक आठ कर्मोंके प्रदेशोंको कर्म तद्व्य-
 तिरिक्त नोआगमद्रव्यानन्त कहते हैं । कटक (कंकण) रुचक
 (तावीर) द्वीप और समुद्रादिक अथवा एकप्रदेशादिक पुद्गल द्रव्य
 ये सब नोकर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यानन्त हैं (१४/१) ।
 ४ शाश्वतानन्त—शाश्वतानन्त धर्मादि द्रव्योंमें रहता है क्योंकि
 धर्मादि द्रव्य शाश्वतिक होनेसे उनका कभी भी विनाश नहीं होता ।
 अन्त विनाशको कहते हैं । जिसका अन्त अर्थात् विनाश नहीं
 हाता उसको अनन्त कहते हैं (१४/४) । ५ गणनानन्त—गणनानन्त
 बहुवर्णनीय है तथा सुगम है (वे आगे पृथक् लक्षण) । ६ अप्रदेशा-
 नन्त—एक परमाणुको अप्रदेशानन्त कहते हैं । क्योंकि, एक-
 प्रदेशो परमाणुमें उस एक प्रदेशको छोड़कर 'अन्त' इस रुझाका प्राप्त
 होनेवाला दूसरा प्रदेश नहीं पाया जाता है, इसलिए परमाणु
 अप्रदेशानन्त है (१५/६) । ७ एकानन्त—लोकके मध्यसे आकाशके
 प्रदर्शकी एक श्रेणीका (एक दिशामें) दखनेपर उसका अन्त नहीं
 पाया जाता, इसलिए उसको एकानन्त कहते हैं—जैसे अथाह समुद्र
 अथाह जलादि । Unidirectional infinite (ज प ५/१०५) ।
 ८ उभयानन्त—लोकके मध्यसे आकाश प्रदेश पक्षको दो दिशाओंमें
 देखनेपर उनका अन्त नहीं पाया जाता है, इसलिए उसे उभयानन्त
 कहते हैं । ९ विस्तारानन्त—आकाशको प्रतर रूपसे देखनेपर उसका
 अन्त नहीं पाया जाता इसलिए उसे विस्तारानन्त कहते हैं
 (१६/७) । १० सर्वानन्त—आकाशको घन रूपसे देखनेपर उसका
 अन्त नहीं पाया जाता इसलिए उसे सर्वानन्त कहते हैं (१६/८) ।
 ११ भावानन्त—आगम और नोआगमकी अपेक्षा भावानन्त दो
 प्रकारका है । १ आगम भावानन्त—अनन्त विषयक शास्त्रको जानने
 वाले और वर्तमानमें उसके उपयोगसे उपयुक्त जीवको आगम भावा-
 नन्त कहते हैं । २ नाआगम भावानन्त—प्रिकल जात अनन्त
 पर्यायोंसे परिणत जीवादि द्रव्यको नोआगम भावानन्त कहते हैं ।

४. जघन्यादि परोतानन्तके लक्षण

रा वा ३/३८/४/२०७/७ यज्जघन्या संख्येयासरथेयं तद्विरलीकृत्य पूर्व-विधिना श्रोत्रात्तत्तु वर्गितस वर्गित उत्पृष्टासंख्येयास ख्येयं प्राप्नोति । ततो धर्माधर्मकजीवलोकाकाशप्रदेशप्रत्येकशरीरजीवमादरनिगोदशरीराणि पठ्येतास्यसंख्येयानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यनुभाग-बन्धाध्यवसायस्थानानि योगविभागपरिच्छेदरूपाणि चार ख्येयलोका-प्रदेशपरिमाणानुरूपवसपिणोसमयाश्च प्रक्षिप्य पूर्वोत्तराक्षी श्रोत्रात्तत्तु वर्गितसर्वगित कृत्वा उत्पृष्टासंख्येयासंख्येयमतास्य जघन्य-परोतानन्तं गत्वा पठितम् । यज्जघन्यपरोतानन्तं तत्त्वपूर्ववद्गणित-सर्वगितमुत्कृष्टपरोतानन्तमतीत्य जघन्यमुत्तानन्तं गत्वा पठितम् । तत् एकरूपेऽपनोति उत्पृष्टपरोतानन्तं तद्वर्गित । मध्यमजघन्योत्कृष्टपरो-तानन्तम् । = जघन्य संख्येयासंख्येय (दत्त) असंख्या (को) विरलन कर पूर्वोक्त विधिते (दे) नीच) तीन बार वर्गित सर्वगित वरनपर भी उत्कृष्ट संख्येयासंख्येय नहीं होता । इसमें धर्म, अधर्म, एक जीव व लोकाकाशके प्रदेश, प्रत्येक शरीर, मादर निगोद शरीर ये छहों असंख्येय, स्थिति बन्धाध्यवसाय स्थान, अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थान, योगक अविभाग प्रतिच्छेद उत्सर्पिणी अव-सर्पिणी कालके समयको जोड़कर तीन बार वर्गित सबगित करनेपर उत्कृष्टसंख्येयासंख्येयका उत्तल घटकर जघन्यपरोतानन्तमें जाकर स्थित होता है । यह जो जघन्य परोतानन्त उसको पूर्ववत् वर्गितसर्वगित करनेपर उत्कृष्ट परोतानन्तको उत्तल घटकर जघन्य उत्तानन्तमें जाकर गिरता है । उसमें-से एक कम करनेपर उत्कृष्ट परोतानन्त ही जाता है । मध्यम परोतानन्त इन दोनों सीमाओंके बीचमें जघन्य व अनुकृष्ट रूपवाला है । (ति प ४/३१०/१८९) (त्रि सा ४६-४६) ।

५. वर्गित सबगित करनेकी प्रतिक्रिया

घ ४/प्र २३ (घ ३/१.२.२/२०)

अ अ ज = जघन्य असंख्यातासरन्यास

[यही राशि]

$$\text{यदि } k' = \left[\begin{array}{c} \left\{ \begin{array}{c} \text{(अ अ ज)} \\ \text{(अ अ ज)} \end{array} \right\} \\ \left\{ \begin{array}{c} \text{(अ अ ज)} \\ \text{(अ अ ज)} \end{array} \right\} \end{array} \right]$$

'ख' = क + (धर्म व अधर्म द्रव्य तथा एक जीव व लोकाकाशके प्रदेश + प्रत्येक शरीर जीव + मादर निगोद शरीर ये छह)

$$^{\text{ग}} = \left[\begin{array}{c} \left\{ \begin{array}{c} \text{(ख)} \\ \text{(ख)} \end{array} \right\} \\ \left\{ \begin{array}{c} \text{(ख)} \\ \text{(ख)} \end{array} \right\} \end{array} \right] + ४ \text{ निम्नराशि}$$

४ राशि = स्थिति बन्धाध्यवसाय स्थान + अनुभाग बन्धाध्यव-साय स्थान + योगके अविभाग प्रतिच्छेद + उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके कुल समय ।

तो जघन्य परोतानन्त =
न प ज =

$$\left[\begin{array}{c} \left\{ \begin{array}{c} \text{(ग)} \\ \text{(ग)} \end{array} \right\} \\ \left\{ \begin{array}{c} \text{(ग)} \\ \text{(ग)} \end{array} \right\} \end{array} \right]$$

मध्यम परोतानन्त = न.प म = > न प ज, किन्तु < न प उ अर्थात्
न प ज से बढ़ा और न प उ से छोटा ।

उत्कृष्ट परोतानन्त = न प उ = न प ज = १

६ जघन्यादि युक्तानन्तके लक्षण

रा वा ३/३८/४/२०७/१६ यज्जघन्यपरोतानन्तं तद्विरलीकृत्य पूर्व-विधिना श्रोत्रात्तत्तु वर्गितस वर्गित उत्पृष्टासंख्येयास ख्येयं प्राप्नोति । ततो धर्माधर्मकजीवलोकाकाशप्रदेशप्रत्येकशरीरजीवमादरनिगोदशरीराणि पठ्येतास्यसंख्येयानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यनुभाग-बन्धाध्यवसायस्थानानि योगविभागपरिच्छेदरूपाणि चार ख्येयलोका-प्रदेशपरिमाणानुरूपवसपिणोसमयाश्च प्रक्षिप्य पूर्वोत्तराक्षी श्रोत्रात्तत्तु वर्गितसर्वगित कृत्वा उत्पृष्टासंख्येयासंख्येयमतास्य जघन्य-परोतानन्तं गत्वा पठितम् । यज्जघन्यपरोतानन्तं तत्त्वपूर्ववद्गणित-सर्वगितमुत्कृष्टपरोतानन्तमतीत्य जघन्यमुत्तानन्तं गत्वा पठितम् । तत् एकरूपेऽपनोति उत्पृष्टपरोतानन्तं तद्वर्गित । मध्यमजघन्योत्कृष्टपरो-तानन्तम् । = जघन्य संख्येयासंख्येय (दत्त) असंख्या (को) विरलन कर पूर्वोक्त विधिते (दे) नीच) तीन बार वर्गित सर्वगित करनेपर उत्कृष्टसंख्येयासंख्येयका उत्तल घटकर जघन्यपरोतानन्तमें जाकर स्थित होता है । यह जो जघन्य परोतानन्त उसको पूर्ववत् वर्गितसर्वगित करनेपर उत्कृष्ट परोतानन्तको उत्तल घटकर जघन्य उत्तानन्तमें जाकर गिरता है । उसमें-से एक कम करनेपर उत्कृष्ट परोतानन्त ही जाता है । मध्यम परोतानन्त इन दोनों सीमाओंके बीचमें जघन्य व अनुकृष्ट रूपवाला है । (ति प ४/३१०/१८९) (त्रि सा ४६-४६) ।

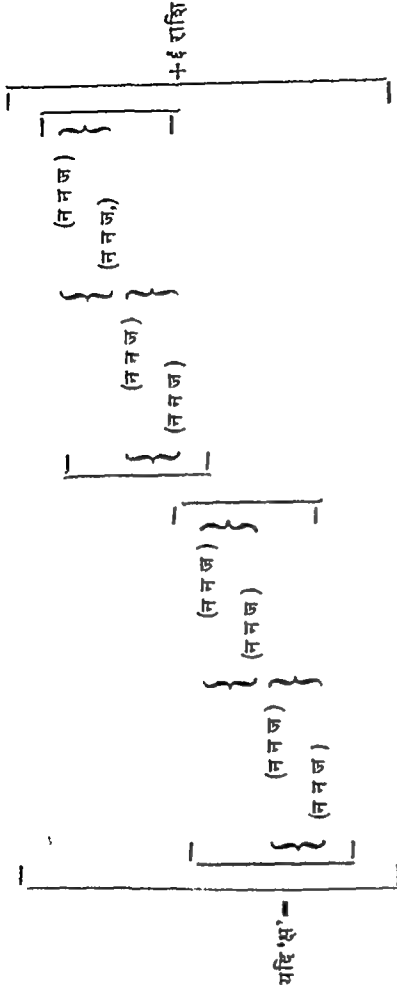
यो प्राप्त होता है अर्थात् (जघन्य युक्तानन्त) यह राशि जघन्य अनन्तानन्तके बराबर है । इसमें से एक कम करनेपर उत्कृष्ट युक्तानन्त होता है । मध्यम युक्तानन्त इन दोनोंकी सीमाओंके बीचमें जघन्य व अनुकृष्ट रूप है । (ति प ४/३११) (त्रि सा ४६-४७) ।

७ जघन्यादि अनन्तानन्तके लक्षण

रा वा ३/३८/४/२०७/१६ यज्जघन्ययुक्तानन्तं तद्विरलीकृत्य पूर्व-विधिना श्रोत्रात्तत्तु वर्गितस वर्गित उत्पृष्टासंख्येयास ख्येयं प्राप्नोति । ततो धर्माधर्मकजीवलोकाकाशप्रदेशप्रत्येकशरीरजीवमादरनिगोदशरीराणि पठ्येतास्यसंख्येयानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यनुभाग-बन्धाध्यवसायस्थानानि योगविभागपरिच्छेदरूपाणि चार ख्येयलोका-प्रदेशपरिमाणानुरूपवसपिणोसमयाश्च प्रक्षिप्य पूर्वोत्तराक्षी श्रोत्रात्तत्तु वर्गितसर्वगित कृत्वा उत्पृष्टासंख्येयासंख्येयमतास्य जघन्य-परोतानन्तं गत्वा पठितम् । यज्जघन्यपरोतानन्तं तत्त्वपूर्ववद्गणित-सर्वगितमुत्कृष्टपरोतानन्तमतीत्य जघन्यमुत्तानन्तं गत्वा पठितम् । तत् एकरूपेऽपनोति उत्पृष्टपरोतानन्तं तद्वर्गित । मध्यमजघन्योत्कृष्टपरो-तानन्तम् । = जघन्य संख्येयासंख्येय (दत्त) असंख्या (को) विरलन कर पूर्वोक्त विधिते (दे) नीच) तीन बार वर्गित सर्वगित करनेपर उत्कृष्टसंख्येयासंख्येयका उत्तल घटकर जघन्यपरोतानन्तमें जाकर स्थित होता है । यह जो जघन्य परोतानन्त उसको पूर्ववत् वर्गितसर्वगित करनेपर उत्कृष्ट परोतानन्तको उत्तल घटकर जघन्य उत्तानन्तमें जाकर गिरता है । उसमें-से एक कम करनेपर उत्कृष्ट परोतानन्त ही जाता है । मध्यम परोतानन्त इन दोनोंकी सीमाओंके बीचमें जघन्य व अनुकृष्ट रूपवाला है । (ति प ४/३११) (त्रि सा ४६-४७) ।

कनेपर अर्थात् (जघन्य युक्तानन्त) यह उत्कृष्ट युक्तानन्तके आगे जघन्य अनन्तानन्तमें जाकर प्राप्त होता है इस जघन्य अनन्तानन्तको पूर्ववत् विरलीकृत कर तीन बार वर्गित सबगित करनेपर उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्राप्त नहीं होता है । उसमें सिद्ध जीव, निगोद जीव, वनस्पति पाय वाले जीव, जलोत्तम ज अनागत कालके समय, सर्व पृष्ठगत, सर्व आकाश प्रदेश, धर्म व अधर्मस्तिपाय द्रव्योंके अणुलघु गुणोंके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद जोड़ें । फिर तीन बार वर्गित सबगित करे । तब भी उत्कृष्ट अनन्तानन्त नहीं होता है । अतः उसमें केवलज्ञान व केवलदानका (अर्थात् इनके सर्व अविभागों प्रतिच्छेदोंको) जोड़ें, तब उत्कृष्ट अनन्तानन्त होता है । उसमें-से एक कम करनेपर जघन्योत्कृष्ट या मध्यम अनन्तानन्त होता है । (ति प ४/३११) (घ ३/१.२.२/१८६) (त्रि सा ४७-४९)

(घ १/प्र २४) जघन्य अनन्तानन्त—न न ज ।



छ राशि—सिद्ध+साधारण वनस्पति निगोद+वनस्पति काय+अतीत व अनागत कालके समय या व्यवहार काल+पुद्गल+अलोकाकाश ।

$$\text{'त्र'-} \left[\begin{array}{c} \left\{ \begin{array}{c} (८ ८) \\ (८ ८) \end{array} \right\} \\ \left\{ \begin{array}{c} (८ ८) \\ (८ ८) \end{array} \right\} \end{array} \right] + \text{दो राशि}$$

दो राशि—धर्म व अधर्म द्रव्यके अगुरुलघु गुणोंके अविभाग प्रतिच्छेद ।

$$\text{'ह'-} \left[\begin{array}{c} \left\{ \begin{array}{c} (३ ३) \\ (३ ३) \end{array} \right\} \\ \left\{ \begin{array}{c} (३ ३) \\ (३ ३) \end{array} \right\} \end{array} \right]$$

तय केवल ज्ञान राशि>ज्ञ'

उरकृष्ट अनन्तानन्त—न न उ =ज्ञ+केवलज्ञान व केवलदर्शनके अविभाग प्रतिच्छेद

२ अनन्त निर्देश

१. अनन्त वह है जिसका कभी अन्त न हो ।

घ १/१ १.१४१/३६२/६ न हि सान्तस्यानन्त्य विरोधात् । सव्ययनिरायस्य राशे कथमानन्त्यमिति चेन्न, अन्यथैकस्याप्यमानन्त्यप्रसङ्गः । सव्ययस्यानन्तस्य न क्षयोऽस्तीत्येकान्तोऽस्ति स्वसख्येयासंख्येय भागव्यस्य राशेरनन्तस्यापेक्षया तद्विषयादिसख्येयराशिव्ययतो न क्षयोऽपोर्यभ्युपगमात् । अथ पुद्गलपरिवर्तनकालस्यानन्तस्यापि क्षय दर्शनादनैकान्तिक आनन्त्यहेतुरिति चेन्न, उभयोभिन्ननिबन्धत प्राप्तानन्तयोः साम्याभावतोऽर्धपुद्गलपरिवर्तनस्य वास्तवानन्त्याभावात् । तथा अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल सक्षयोऽप्यनन्त छद्मस्थैरनुपलब्धपर्यन्तत्वात् । केवलमनन्तस्तद्विषयत्वात् । जीवराशिस्तु पुन संख्येयराशिसंख्योऽपि निर्मूलप्रलयाभावादनन्त इति । किं च सव्ययस्य निरवशेषक्षयेऽभ्युपगम्यमाने कालस्यापि निरवशेषक्षया जायेत सव्ययत्वं प्रयविधेयात् । अस्तु चेन्न, सकलपर्यायप्रक्षयताऽशेषस्य वस्तुन प्रक्षीणस्वलक्षणस्याभावापत्तेः—जो राशि सान्त हाती है उसमें अनन्तपन नहीं बन सकता है, क्योंकि सान्तको अनन्त माननेमें विरोध आता है । प्रश्न—जिस राशिका निरन्तर व्यय चाखू है, परन्तु इसमें आय नहीं होती है तो उसको अनन्तपन कैसे बन सकता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि यदि सव्यय और निराय राशिको भी अनन्त न माना जावे तो एकको भी अनन्त माननेका प्रसङ्ग आ जायेगा । व्यय होते हुए भी अनन्तका क्षय नहीं होता, यह एकान्त नियम है, इसलिए जिसके नस्यातवें और असस्यातवें भागका व्यय हो रहा है ऐसी राशिका, अनन्तकी अपेक्षा उसकी दो तीन आदि संख्यात राशिके व्यय होनेसे भी क्षय नहीं होता है, ऐसा स्वीकार किया है । प्रश्न—अर्ध पुद्गल परिवर्तन रूप काल अनन्त होते हुए भी उसका क्षय देखा जाता है । इसलिए भव्य राशिके क्षय न होनेमें जो अनन्त रूप हेतु दिया है वह व्यभिचरित हो जाता है । उत्तर—नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न कारणोंसे अनन्तपनको प्राप्त भव्य राशि और अर्धपुद्गल परिवर्तन काल वास्तवमें अनन्त रूप नहीं हैं । आगे इसीका स्पष्टीकरण करते हैं ।—अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल क्षय सहित होते हुए भी इसलिए अनन्त है कि छद्मस्थ जीवोंके द्वारा उसका अन्त नहीं पाया जाता है । किन्तु केवलज्ञान वास्तवमें अनन्त है । अथवा अनन्तको विषय करनेवाला होनेसे वह अनन्त है । जोव राशि तो, उसका संख्यातवें भाग रूप राशिके क्षय हो जानेपर भी निर्मूल नाश नहीं होनेसे, अनन्त है । अथवा ऊपर जो भव्य राशिके क्षय होनेमें अनन्त रूप हेतु दे आये हैं, उसमें छद्मस्थ जीवोंके द्वारा अनन्तकी उपलब्धि नहीं हाती है, इस अपेक्षाके बिना ही, यह विधेय लगा देनेसे अनैकान्तिक दोष नहीं आता है । दूसरे व्यय सहित अनन्तके सर्वथा क्षय मान लेनेपर कालका भी सर्वथा क्षय हो जायेगा, क्योंकि व्यय सहित होनेके प्रति दोनों समान हैं । प्रश्न—यदि ऐसा ही मान लिया जाये तो क्या हानि है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि ऐसा माननेपर कालकी समस्त पर्यायोंके क्षय हो जानेसे दूसरे द्रव्योंकी स्वलक्षण रूप पर्यायोंका भी अभाव हो जायेगा । और इसलिए समस्त वस्तुओंके अभावको आपत्ति आ जायेगी । (घ ४/१,४,४/३३८/४) ।

स म २/६/१८० २ में उद्धृत ३३२/६ अत्यन्यूनान्तरित्तरवैयर्थ्यते परिमाणवत् । वस्तुन्यपरिमेये तु नून तेषामसंभवः । २।—अपरिमित वस्तुका न कभी अन्त होता है, न कभी घटती है और न समाप्त होती है ।

द्र स १/टी ३७/१६७ यथा भावितकाले समयानां क्रमेण गच्छतां यद्यपि भाविकालसमयराशे स्तोकरत्वं भवति तथाप्यवसानं नास्ति । तथा मुक्ति गच्छतां जीवानां यद्यपि जीवराशे स्तोक्त्वं भवति

बुध्यते साक्षात् । तदुपदेशादितरैरनुमानेनेति न सर्वज्ञत्वहानि । न च तेन परिच्छिन्नमिष्यत सान्त्वय अनन्तानन्तमिति ज्ञातव्यम् । किं च सर्वेषामविप्रतिपत्तेः ॥४॥ = प्रश्न—अनन्त होनेके कारण वह ज्ञानमें नहीं आना चाहिए । उत्तर—नहीं, क्योंकि अतिशय रूप केवलज्ञानके द्वारा उसे भी जान लिया जाता है । प्रश्न—सर्वज्ञके द्वारा अनन्त जाना जाता है अथवा नहीं जाना जाता । यदि अनन्तको सर्वज्ञने जाना है तो अनन्तका ज्ञानके द्वारा अन्त जान लेनेसे अनन्तता नहीं रहेगी, और यदि नहीं जाना है तो उसके स्वरूपका ज्ञान न होनेके कारण असर्वज्ञताका प्रसंग आयेगा । उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि अतिशय ज्ञानके द्वारा वह जाना जाता है । यह जो केवलज्ञानियोंका क्षाम्यज्ञान है सो अतिशयवाच्य तथा अनन्तानन्त परिमाण वाला है । उसके द्वारा अनन्त साक्षात् जाना जाता है । अन्य लोक सर्वज्ञके उपदेशसे तथा अनुमानसे अनन्तताका ज्ञान कर लेते हैं । प्रश्न—यदि कहोगे कि उसके द्वारा जाना गया है, अतः वह अनन्त भी सान्त है । उत्तर—तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञने अनन्तको अनन्त रूपसे ही जाना है और सभी वादी प्रायः इस विषयमें विरोध भी नहीं रखते हैं । (वि दे अनन्त २/२) ।

घ ३/१, २, ३/३०/६ न च अणादि त्ति जाणिदे सादित्ता पावेदि, विरोहा । = अनादित्वका ज्ञान ही जाता है, इसलिए उसे सादित्वकी प्राप्ति हो जायेगी, सो भी बात नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेमें विरोध आता है ।

६ निर्व्यय भी अभव्यराशिमें अनन्तत्व कैसे सिद्ध होता है

घ ७/२, ६ १६०/२६४/१० कथ एदस्स अव्वए संते अव्वच्छिज्जमाणस्स अणत्तववसो ण, अणत्तस्स केवलणणस्स चैव विसए अब्बट्ठदाण सखणमुवयारेण अणत्तचित्तिरोहाभावाद् । = प्रश्न—व्ययके न होनेसे व्युच्छित्तिको प्राप्त न होनेवाली अभव्य राशिमें 'अनन्त' यह सझा कैसे सम्भव है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, अनन्त रूप केवलज्ञानके ही विषयमें अवस्थित सख्याओंके उपचारसे अनन्तपण माननेमें विरोध नहीं आता ।

७ अनन्त चतुष्टयमें अनन्तत्व कैसे सिद्ध है

झ सा १/५/६१०/७२६ खोणे घादिचउवके णत्तचउवकस्स होदि उत्पत्ती । सादी अपज्जवसिदा उक्कस्साणत्तपरिसखा ॥६१०॥ प्रश्न—(घातिया कर्मनिके चतुष्टयका नाश होतें अनन्तचतुष्टयकी उत्पत्ति हो है । अनन्तपण कैसे सम्भव है ।) उत्तर—सादि कहिये उपजने काल विषे आदि सहित है तथापि अपर्यवसिदा कहिए अवसान या अन्त ताकरि रहित है तातै अनन्त कहिये । अथवा अविभाग प्रतिच्छेदनिकी अपेक्षा इनकी उत्कृष्ट अनन्तानन्त मात्र संख्या है तातै भी अनन्त कहिये ।

८ अनन्त भी कयचित् सीमित है

घ ३/१, २, ३/३०/६ तेन कारणेण मिच्छाद्विट्ठरासी ण अबहिरिज्जज्जि, सव्वे समया अबहिरिज्जज्जि । अण्णहा तस्साभावपसगादो । न च अणादि त्ति जाणिद सादित्ता पावेदि, विरोहा । = मिथ्यादृष्टि जीव-राशिका प्रमाण समाप्त नहीं होता, परन्तु अतीत कालके सम्पूर्ण समय समाप्त हो जाते हैं । यदि उसका प्रमाण नहीं माना जाये तो उसके अभावका प्रसंग आ जायेगा । परन्तु उसके अनादित्वका ज्ञान हा जाता है, इसलिए उसे सादित्वकी प्राप्ति हो जायेगी, सो भी बात नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेमें विरोध आता है ।

रलो वा २/१७/१६/५६६/६ भाषाकार "अनन्तसिद्धान्त अनुसार अलोकाकाशके अनन्तानन्त प्रदेश भी संख्यामें परिमित हैं, क्योंकि अक्षय अनन्त जीवराशिसे अनन्तगुणी पुद्गल राशिसे भी अनन्त गुणे हैं ।

* आगममें अनन्तकी यथास्थान प्रयोग विधि—दे गणित १/१, ६ ।

अनन्तकथा—आचार्य पद्मनन्द (ई १२८०-१३३०) की सस्कृत छन्दयद्र रचना ।

अनन्तकायिक—दे वनस्पति ।

अनन्तकीर्ति—१ प्रामाण्यभंगक कर्ता । समय—ई श ८ । (सी / ३/१६६) । २ घृह्य तथा लघु सर्वज्ञसिद्धिके कर्ता । प्रभाषन्द्र (ई ६५०-१०२०) ने अपने प्रमेयकमलमार्तण्डमें इनका अनुसरण किया । समय—ई श ६ का उत्तरार्ध । (सी / ३/६१४) । ३ यश-कीर्तिके दादा गुरु, ललितकीर्तिके गुरु । समय—वि १२४६ (ई ११८६) । (भद्रबाहुचरित/प्र ७/कामताप्रसाद) ।

अनन्तगणनाक-सिद्धान्त - (घ ५/प्र २७) Theory of infinite cardinals

अनन्तचतुर्दशी व्रत—व्रत विधान संग्रह/पृ ८७ गणना—कुल समय—१४ वर्ष तक, उपवास—१४ ।

विश्वान सिंह क्रिया कोश विधि—१४ वर्ष तक प्रत्येक वर्ष अनन्तचतुर्दशी (भाद्रपद शु १४) को उपवास । अनन्तनाथ भगवाद्की पूजा । मन्त्र—' ओं नमो अर्हते भगवते अनन्ते अनन्तकेवलीय अनन्तगणने अणुत्तरेवलेद सणे अणुपूजवासणे अनन्ते अनन्तागमकेवलिते स्वाहा ' अथवा—यदि लम्बा पड़े तो " ओं ह्रीं अर्ह ह म अनन्तकेवलिते नम " इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य ।

अनन्तचतुष्टय—दे चतुष्टय ।

अनन्तदेव—स मं त / अन्तिम प्रशस्ति—" आप दिगम्बराचार्य थे । "

शिष्य विमलदास नामा एक गृहस्थ था । समय—सुवङ्ग सबत्तर (१) ।

अन्तधर्मत्वशक्ति—स सा / आ परि / शक्ति नं २७ विलक्षणानन्तस्वभावभावितैकभावलक्षणानन्तधर्मत्वशक्ति । = परस्पर भिन्न लक्षणस्वरूप जो अनन्तत्वस्वभाव उनसे मिला हुआ जो एक भाव जिसका लक्षण है ऐसी सचाईसर्वी अनन्तधर्मत्व शक्ति है ।

अनन्तनाथ—म पु ६/०/१लोक ' पूर्वके तीसरे भवमें धातकी खण्ड में पूर्व मेरुसे उत्तरकी ओर अरिष्ट नगरका छषस्थ नामक राजा था (२-३) आगे पूर्वके दूसरे भवमें पुष्पोत्तर विमानमें इन्द्रपद प्राप्त किया (१२) वर्तमान भवमें चौदहवें तीर्थंकर हुए हैं । (विशेष दे तीर्थंकर ६) ।

अनन्तनाथपुराण—श्रीजन्नाचार्य (सं १२०६) की रचना है ।

अनन्तवल मुनि—म पु १/४/३७० ३७१ मेरुकी वन्दना करके लौटते समय मार्गमें आपसे रावणने परखी रग्य व्रत ग्रहण किया था ।

अनन्तमति—भगवाद् धर्मनाथका शासन देव—दे यश ।

अनन्तर—दे घ/१ ।

अनन्तरथ—म पु २/२/१६०-१६६ राजा अनरण्यका पुत्र तथा दशरथका भड़ा भाई था । पिताके साथ-साथ दीक्षा धारण कर अनन्त परोपहकी जीतनेके कारण अनन्तवीर्य नामको प्राप्त हुए ।

अणतरोपनिधा—घ ११/४, २, ६, २५२/३६२/१२ जय गिरतर थोव-बहुत्तपरिकला कीरदे सा अणतरोपनिधा । = जहाँपर निरन्तर अणुबहुत्तकी परोक्षा की जाती है, वह अनन्तरोपनिधा कहो जाती है ।

अनन्तवर्मन्—गंगवशी राजा था । उड़ीसामें राज्य करता था । समय—ई १०४० ।

अनन्तविजय—म पु / सर्ग / लोक " पूर्वके नवमें भवमें पूर्व विदेहमें वत्सका देशके राजा प्रोत्तिवर्धनका पुरोहित था (८/११) फिर आठवें भवमें उत्तरकुरुमें मनुष्य हुआ (८/२१२) आगे पूर्वके सातवें भवमें प्रभञ्जन नामक देव हुआ (८/२१२-२१३) फिर छठे भवमें धन्मित्र नामक सेठ हुआ (८/२१८) फिर पाँचवें भवमें अधोप्रवेयकमें अहमिन्द्र हुआ (६/६०-६२) फिर चौथे भवमें वज्रसेन राजाका महापीठ नामक राजपुत्र हुआ (११/१३) फिर पूर्वके तीसरे भवमें सर्वार्थसिद्धिमें

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

नहीं है, क्योंकि यह तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् अनन्तानुबन्धीको सम्यक्त्व और चारित्र्य इन दोनोंका प्रतिबन्धक माना ही है।
(घ ६/१,६-१,२३/४०/३)।

गो क/जी प्र/४४६/७६/१२ मिथ्यात्वेन सह उदीयमाना कपाय सम्यक्त्वं घनन्ति। अनन्तानुबन्धिना च सम्यक्त्वसंयमौ।—मिथ्यात्व-के साथ उदय होनेवाली कपाय सम्यक्त्वको घातती है और अनन्तानुबन्धीके साथ सम्यक्त्व व चारित्र्य दोनोंको घातती है।

४ एक ही प्रकृतिमें दो गुणोंको घातनेकी शक्ति कैसे सम्भव है

घ ६/१,६-१,२३/४२/४ का एतत् जुत्ती। उच्यते— न ताव एवे दसण-मोहणिज्जा, सम्मत्त-मिच्छत्त-सम्माभिच्छत्तेहि चेव आवरियस्स सम्मत्तस्स आवरणे फलाभावाद्। न चारित्तमोहणिज्जा वि, अपञ्चत्वाणवरणादीहि आवरिदचारित्तस्स आवरणे फलाभावा। तदो एदोस्मिभावो चेय। न च अभावे मुत्तम्हि एसेसिमरिथत्तपु-प्पायणादो। तम्हा एदेसिमुदरण सासणगुणुप्पत्तीए अण्णहाणुववत्तीदो सिद्ध दसणमोहणीयत्त चारित्तमोहणीयत्त च।—प्रश्न—अनन्तानुबन्धी कपायोंकी शक्ति दो प्रकारकी है, इस विषयमें क्या युक्ति है। उत्तर—ये चतुष्क दर्शन मोहनीय स्वरूप नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृति, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वके द्वारा ही आवरण किये जानेवाले दर्शन मोहनीयके फलका अभाव है। और न इन्हें चारित्र्य मोहनीय स्वरूप ही माना जा सकता है, क्योंकि अवस्था-रम्यानावरणाद कपायोंके द्वारा आवरण किये गये चारित्र्यके आवरण करनेमें फलका अभाव है। इसलिए उपर्युक्त अनन्तानुबन्धी कपायोंका अभाव ही सिद्ध होता है। किन्तु उनका अभाव नहीं है, क्योंकि सूत्रमें इनका अस्तित्व पाया जाता है। इसलिए इन अनन्तानुबन्धी कपायोंके उदयसे सासादन भावकी उत्पत्ति अन्यथा हो नहीं सकती है। इस ही अन्वयानुपपत्तिसे इनके दशनमोहनीयता और चारित्र्य-मोहनीयता अर्थात् सम्यक्त्व और चारित्र्यको घात करनेकी शक्तिका होना सिद्ध होता है।

५ चारित्र्य मोहकी प्रकृति सम्यक्त्व घातक कैसे ?

घ उ/११४० सत्यं तत्राविनाभाविनो बन्धसत्त्वोदयं प्रति। द्वयोरन्य-तरस्यातो विवक्षायां न दूषणश्च ११४०॥—मिथ्यात्वके बन्ध, उदय, सत्त्वके साथ अनन्तानुबन्धी कपायका अविनाभाव है। इसलिए दो-मेंसे एककी विवक्षा करनेसे दूसरेकी विवक्षा आ जाती है। अतः कोई दोष नहीं।

गो क/जी प्र/४४६/७९/१२ मिथ्यात्वेन सहोदीयमाना कपाया सम्यक्त्वं घनन्ति। अनन्तानुबन्धिना च सम्यक्त्वसंयमौ।—मिथ्यात्वके साथ उदय होनेवाली कपाय सम्यक्त्वको घातती है और अनन्तानुबन्धीके द्वारा सम्यक्त्व और संयम घाता जाता है।

६ अनन्तानुबन्धीका जघन्य व उत्कृष्ट सत्त्व काल

१ ओघकी अपेक्षा

क पा २/४११८/६६/५ अण ताणुं चउक्क विहत्ती केवचिर का०। अणादि० अपज्जवसिदा अणादि० सपज्जवसिदा सादि० सपज्जवसिदा वा। जा सा सपज्जवसिदा तित्से इमा णिद्वे सो जह० अतोमुहुत्त, उक्क० अस्सपीगलपरियट्ठ देवुण।—अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विभक्तिवाले जीवोंका कितना काल है। अनादि अनन्त, अनादि सान्त और सादि सान्त काल है। सादि सान्त अनन्तानुबन्धी चतुष्कविभक्तिका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्द्धपृष्ठाल पर-वर्तन प्रमाण है।

क पा २/४१२४/१०८/५ अथवा सव्वत्थ उप्पज्जमाणसासणस्स एगसमओ वत्तत्त्वो। पंचिदियअपज्जत्तएस्स सम्मत्त-सम्माभि० विहत्ति० जह० एगसमओ।—अथवा जिन आचार्योंके मतसे सासादन सम्यग्दृष्टि जीव एकेन्द्रियादि सभी पर्यायोंमें उत्पन्न होता है उनके मतसे

५ चेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याय जीवोंके अनन्तानुबन्धी चतुष्कका एक समय जघन्य काल कहना चाहिए।

२ आदेशकी अपेक्षा

क पा २/४११६/१०९/१ आदेशेण णिरयगदीए णेरियिमु मिच्छत्त-पायस-कसाय-णवनोकसाय० विहत्ती केव०। जह० दस वाससद्वस्साणि, उक्क० तेत्तीस सागरोवमाणि। पढमादि जाव सत्तमा त्ति एव चेव वत्तव्व। णवरि सत्तमाए पुढवीए अण ताणुं चउक्कस्स जह० अतोमुहुत्त।—आदेशकी अपेक्षा नरकगतिमें नारकियोंमें मिथ्यात्व, बारह कपाय और नौ नोकपाय विभक्तिका कितना काल है। उत्तर—जघन्य काल दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट काल तेत्तीस सागर है। इसी प्रकार सम्यक्त्व-प्रकृति, सम्यक्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चतुष्कका काल भी समझना चाहिए। इसी विषयेता है कि इनका जघन्यकाल एक समय है। पहली पृथिवीसे लेकर सातवें पृथिवी तक इसी प्रकार समझना चाहिए। परन्तु सातवें पृथिवीमें अनन्तानुबन्धीका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है।

क पा २/४१२०/१०२/१ तिरिखगईए तिरिखेस्स अण ताणुं चउक्कस्स जह० एगसमओ, उक्क० दोण्ण पि अणतकालो।—तिरिख गतिमें अनन्तानुबन्धी चतुष्कका जघन्य काल एक समय है तथा पूर्वोक्त याईस और अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन दोनोंका उत्कृष्ट अनन्तकाल है।

क पा २/४१२०/१०/२७ एव मणुस्स तियस्स वत्तव्व।

क पा २/४१२२/१०४/२ देवाण णारगभगो।

—मनुष्य-त्रिक अर्थात् सामान्य मनुष्य, पर्याप्त मनुष्य और मनुष्यनीके भी उक्त अट्ठाईस प्रकृतियोंका काल समझना चाहिए। देवगतिमें सामान्य देवोंके अट्ठाईस प्रकृतियोंकी विभक्तिका सत्त्व काल सामान्य नारकियोंके समान कहना चाहिए।

७ जघन्य व उत्कृष्ट अन्तर काल

क पा २/४१३६/१२३/७ अण ताणुव धिचउक्क० विहत्ति० जह० अतोमुहुत्त, उक्क० वेष्ठावट्ठसागरोवमाणि देसुणाणि।—अनन्तानुबन्धी चतुष्कका जघन्य अनन्तरकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तरकाल कुछ कम एक सौ बत्तीस मागर है।

८ अन्तर्मुहूर्त मात्र उदयवाली भी इस कपायमें अनन्तानुबन्धीपना कैसे ?

घ ६/१,६ १२३/४१/६ एदेसिमुदयकालो अतोमुहुत्तमेत्तो चेय, तदो एदेसिमण तभवाणुवधित्त ण जुज्जदि त्ति। न एस दोसो, एदेहि जीवम्हि जणिदेससकारस्स अण तेस्स भवेस्स अवट्ठणव्युवगमादो।—प्रश्न—उन अनन्तानुबन्धी क्रोधादिकपायोंका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है अतएव इन कपायोंमें अनन्तानुबन्धिता घटित नहीं होती। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि इन कपायोंके द्वारा जीवमें उत्पन्न हुए सत्कारका अवस्थान अनन्तभवोंमें माना गया है। (विशेष दे अनन्तानुबन्धी १)।

९ अनन्तानुबन्धीका वासना काल

गो क/जी प्र/४६,४७ अतोमुहुत्तपवत्त छम्मास सखासखण तभव। सज-लणमादियाण वासणकालो दृणियमेण ४६॥ उदयाभावेऽपि तत्सत्कार-कालो वासनाकाल स च संज्वलनानामन्तर्मुहूर्त। प्रख्यास्यानावरणा-नामेकपक्ष अप्रख्यास्यानावरणानां पमासा अनन्तानुबन्धिनां सख्यातभवा असंख्यातभवा अनन्तभवा वा भवन्ति नियमेन।—उदयका अभाव होते सति भी जो कपायनिका सत्कार जितने काल रहे ताका नाम वासनाकाल है। सो संज्वलन कपायनिका वासना-काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। प्रख्यास्यानकपायनिका एक पक्ष है। अप्रख्यास्यान कपायनिका छ महीना है। अनन्तानुबन्धी कपायनिका सरयात भव, असंख्यात भव, अनन्त भव पर्यन्त वासना काल है। जैसे—काहू पुरुषने क्रोध किया पीछे क्रोध मिटि और कार्य विषे सग्या,

तहाँ क्रोधका उदय तो नाहीं परन्तु वासना काल रहै, तेतैं जोहस्यो क्रोध किया था तीहस्यो क्षमा रूप भी न प्रवर्तै सो जैसे वासना काल पूर्वोक्त प्रमाण सभ कपायनिका नियम करके जानमा । (चा सा १६०/१)।

१०. अन्य सम्बन्धित विषय

- * अनन्तानुबन्धी प्रकृतिका वध उदय सत्त्व व तत्सम्बन्धी नियम व शका समाधान—दे वह वह नाम ।
- * अनन्तानुबन्धीमें दशो करणोकी सम्भावना—दे करण २ ।
- * अनन्तानुबन्धीकी उद्वेलना—दे सक्रमण ४ ।
- * कपायोकी तोत्रता मन्दतामें अनन्तानुबन्धी नही, लेख्या कारण है—दे कपाय ३ ।
- * अनन्तानुबन्धीका सर्वधातियापन—दे अनुभाग ४ ।
- * अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना—दे विसंयोजना ।
- * यदि अनन्तानुबन्धी द्विस्वभावी है तो इसे दर्शनचारित्र्य मोहनीय क्यों नहीं कहते ?—दे अनन्तानुबन्धी ३ ।
- * अनन्तानुबन्धी व मिथ्यात्वजन्य विपरीताभिनवेशमें अन्तर—दे सासादन १/२ ।

अनन्तावधि ज्ञान—दे अवधिज्ञान ।

अनन्तद्वि प्राप्तार्य—दे आर्य ।

अनक्षरगता भाषा—दे भाषा ।

अनक्षरात्मक ज्ञान—दे श्रुतज्ञान १/१ ।

अनक्षरात्मक शब्द—दे शब्द ।

अनगार—दे आ ८८६ समणोत्ति सज्जोत्ति य रितिसुणिसाधुत्ति बोद्धवरागोत्ति । णामाणि सुविहिदाण अणगार भदत्त दत्तोत्ति । ८८६ ।

—उत्तम चारित्र्यवाले सुनियोजके ये नाम हैं—भ्रमण, सयत्त, ऋषि, सुनि, साधु, बोत्तराग अनगार, भदत्त, दत्त व यत्ति ।

चा पा १/२० दुबिह सजमचरणं सायार तह हवे निरायार । सायार सगंधे परिगहा रहिय खलु निरायार १२० । समय चारित्र्य है सो दो प्रकारका होता है—सागर तथा निरागार या अनगार तहाँ सागर तो परिग्रह सहित भावकके होता है और निरागार परिग्रह रहित साधुके होता है ।

दे अगारी । चारित्र्य मोहनीयका उदय होनेपर जो परिणाम घरसे निवृत्त नहीं है वह भावागार कहा जाता है । वह जिसके है वह मनमें निवास करते हुए भी अगारी है और जिसके इस प्रकारका परिणाम नहीं है वह घरमें वास करते हुए भी अनगार है ।

सा ४/७६ अनगारस्तथागारी स द्विधा परिकल्प्यते । महाव्रतोऽनगार स्यादगारी स्यादध्वज ७६ । —ये व्रती अनगार तथा अगारी ऐसे दो प्रकार हैं । महाव्रतधारियोंको अनगार कहते हैं ।

प्र सा १/२४६ अनगारा सामान्यसाधव । कस्मात् । सर्वेषां मुख-दुःखादिविषये समतापरिणामोऽस्ति । —अनगार सामान्य साधुओंको कहते हैं क्योंकि सर्व ही मुख व दुःख रूप विषयोंमें उनके समता परिणाम रहता है । (चा सा ४७/४)

१. अनगारका विषय विस्तार—दे साधु ।

अनगारधर्म—दे सा १/११ भाणाम्भयण मुखल जह्धम्म ण तं विणा तह्हा सोवि १११ । —ध्यान और अध्ययन करना मुनीधरोंका मुख्य धर्म है । जो मुनिराज इन दोनोंको अपना मुख्य कर्त्तव्य समझकर अहर्निश पालन करता है, वही मुनीधर है, मोक्ष मार्गमें सलग्न है । अन्यथा वह मुनीधर नहीं है ।

प वि १/३८ आचारो दशधर्ममयमतपामूलान्तरारया गुणा मिथ्या-माहमदोष्कन कामदमध्यानप्रमादस्थिति । यंगायसमयोपय हणगुणा रत्नत्रयं निर्मल पर्यन्ते च समाधिरययपदानन्दाय धर्मा यते १३८ । —ज्ञानाचारोदि स्वरूप पौच प्रकारका आचार, उत्तम क्षमादि रूप दश प्रकारका धर्म, मयम, तप तथा मूलगुण और उत्तरगुण, मिथ्यात्व, मोह एवं मदका त्याग, कपायोका क्षमन, इन्द्रियोंका दमन, ध्यान, प्रमाद रहित अवस्थान, संसार, शरीर एवं इन्द्रिय विषयोंसे विरक्ति, धर्मको बढ़ानेवाले अनेकों गुण निर्मल रत्नत्रय तथा अतमें समाधि-मग्न यह सब सुनियोजका धर्म है जो अविनष्ट मोक्षपदक आनन्दका कारण है ।

अनगारधर्ममृत—प आशाधर्मजो (ई ११७३-१२४३) द्वारा रचित संस्कृत श्लोक बद्ध यस्याचार विषयक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ । इसमें ६ अध्याय तथा ६४४ श्लोक हैं । (ती ४/४६), (जै. १/४२६)

अनधिगत चारित्र्य—दे चारित्र्य १ ।

अनध्यवसाय—न्या वो १/१६ ६८ किमित्यान । वनमात्रमनध्यवसाय । यथा पथि गच्छतस्तुण्यम्पक्षादि ज्ञानम् । —‘यह क्या है हम प्रकारका जो ज्ञान होता है उसको अनध्यवसाय कहते हैं । जैसे-रास्ता चलनेवालेको तुण या कटि आदिके स्पर्श मात्रसे यह कुछ पदार्थ है, ऐसा ज्ञान होता है उसको अनध्यवसाय कहते हैं ।

घ १/११४/१४८/६ प्रतिभाम प्रमाणज्ञाप्रमाणञ्च विसंवादाविमंवा-दोभयरूपस्य तत्रोपलम्भात् । —अनध्यवसाय रूप प्रतिभास प्रमाण भी है और अप्रमाण भी है, क्योंकि उसमें विमंवाद अर्थात् यह क्या है’ ऐसा अनिश्चय तथा अविमंवाद अर्थात् ‘कुछ है अवश्य’ ऐसा निश्चय दोनों पाये जाते हैं ।

रा वा हि १/१२/१६२ काहै तै निर्णय कीजिये । हेतुवाद तर्क शास्त्र है ते तो कहौं ठहरे नाहीं । बहुति आगम हैं वे जुदे जुदे हैं । कोई कछु कहे कोई कछु करे तिन का ठिकाना नाहीं । बहुति सर्वका ज्ञाता मुनि कोई प्रत्यक्ष नाहीं, जाके वचन प्रमाण कीजिये । बहुति धर्मका स्वरूप यथार्थ सूक्ष्म है, सो कैसे निर्णय होय । तातैं जो बड़ा मार्ग चला आवे तेसे चलना प्रवर्तना । निर्णय होता नाहीं, ऐसे अनध्यवसाय है ।

* अनध्यवसाय, मशय व विपर्ययमें अन्तर—दे मशय ४ ।

अननुगामी—अवधिज्ञानका एक भेद—दे अवधिज्ञान १ ।

अननुभाषण—न्या सु ४/१/१६/३९ विज्ञातस्य परिपदा र्चि रभि-

हितस्याप्यप्रत्युच्चारणमननुभाषणम् १६ । —सभा अर्थात् सभासदने जिस वार्थको जान लिया और बादोने जिसको तीन बार कह दिया ऐसे जाने और तीन बार यह हुएको सुनकर भी जो प्रतिवादी कुछ न कहे तो उसको अननुभाषण नामक निग्रहस्थान कहते हैं । (श्लो वा ४/न्या २३१/४०६/१०) ।

अनपायी—न वि १/१/८६/६६ अनपायी अव्यभिचारो यव इति ।

—अनपायी अव्यभिचारोको कहते हैं ।

अनभिव्यक्ति—दे व्यक्ति ।

अनय—एक ग्रह—दे ग्रह ।

अनयाभास—दे नय II/१ ।

अनर्थदड—र आ ७/७४ आध्यन्तर दिगवधेरपार्थिकेभ्य सपाप-

योगेभ्य । विरमणमनर्थदण्डवत् विबुवं तद्यथाग्रय । —दिशाओंकी मर्यादाके भीतर भीतर प्रयोजन रहित पापोंके कारणोंसे विरक्त होने-को व्रतधारियोंमें लग्नगण्य पुरुष अनर्थदण्ड व्रत कहते हैं ।

स सि ७/२१/३६६ असरयुपकारे पापादानहेतुरनर्थदण्ड । —उपकार न होकर जो प्रवृत्ति केवल पापका कारण है वह अनर्थदण्ड है । (रा वा ७/२१ ४/६७/२६) ।

चा सा १६४ प्रयोजनं विना पापादानहेतुर्नर्थदण्डः । — विना ही प्रयोजनके जितने पाप लगते हैं उन्हें अनर्थदण्ड कहते हैं ।

का अ/मू ३४३ कज्ज किं पि न माहदि निच्च पारं करेदि जी अत्थो । सो खलु ह्वदि अणत्थो पच-पयारो वि सो विविहो ॥ — जिससे अपना कुछ प्रयोजन तो सघसा नहीं केवल पाप बन्धता है उसे अनर्थ कहते हैं ।

वसु आ २१६ अय-दण्ड-पास-विषय-कूट-तुल्यमाण-कूरसत्तार्ण । ज संगहो ण कीरइ त जाण गुणव्वयं तदिथं । — लोहके शस्त्र तुल्यमाण कुदाली वगैरहके तथा दण्ड और पाश (जाल) आदिके घेचनेका त्याग करना, झूठी तराजू तथा कूट मान आदिके भाँटोंको कम नहीं रखना तथा भिखली कुत्ता आदि कूर प्राणियों का संग्रह नहीं करना सो यह तीसरा अनर्थदण्ड रयाग नामका गुणवत् जानना चाहिए १२१६ (गुण आ १४२) ।

सा ४/६/१ षोडा पापोपदेशाद्यैर्द्वैताद्यर्थानिहानाद्विनाम् । अनर्थदण्ड-स्तस्यागोऽनर्थदण्डवत् मतम् । — अपने तथा अपने कुछ मूर्खों जनोंके शरीर, वचन तथा मन सम्बन्धो प्रयोजनके विना पापोपदेशादिके द्वारा प्राणियोंको षोडा नहीं देना, अनर्थदण्डका रयाग अनर्थदण्डवत् माना गया है ।

१ अनर्थदण्डके भेद

र क आ ७५ पापोपदेशादिसादानापध्यानदु श्रुती पञ्च । प्राहु प्रमाद-चर्यामनर्थदण्डानदण्डधरा । — दण्डको नहीं धरनेवाले गणधरादिक आचार्य पापोपदेश हिसादान अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या इन पाँचोंको अनर्थदण्ड कहते हैं । (स सि ७/२१/३६०) (रा बा ७/२१, २१/४४६/६) (चा सा १६६/४) ।

पु सि १४१-१४६ अपध्यान १४१, पापोपदेश १४२, प्रमादाचरित १४३, हिसादान १४४, दुःश्रुति १४५ । य तक्रोडा १४६ ।

चा सा १६६/६ पापोपदेशश्चतुर्विध — वलेशवणिज्या, तिर्यग्बणिज्या, वधकोपवेश आरम्भकापदेशश्च । — पापोपदेश चार प्रकारका है — वलेशवणिज्या, तिर्यग्बणिज्या, वधकोपवेश, आरम्भकोपदेश । [दुःश्रुति चार प्रकारकी है — स्त्रीकथा, भोगकथा, चोरकथा व राजकथा — दे कथा] ।

२. अपध्यानादि विशेष अनर्थदण्डोंके लक्षण

१ अपध्यान अनर्थदण्ड — दे अपध्यान ।

२ पापोपदेश अनर्थदण्ड

र क आ ७६ तिर्यक्वलेशवणिज्याहिसारम्भप्रलम्भनादीनाम् । कथा-प्रसङ्गप्रसव स्मर्तव्य पाप उपदेश १७६ । — तिर्यग्बणिज्या, वलेश-वणिज्या, हिमा, आरंभ ठगाई आदिकी कथाओंके प्रसंग उठानेको पापोपदेश नामका अनर्थदण्ड जानना चाहिए । (स सि ७/२१/६०) रा बा ७/२१/४४६/७ वलेशतिर्यग्बणिज्यावधकारम्भादिषु पापसंयुत वचन पापोपदेश । तथथा अस्मिन् देशे दासा दास्यश्च सुलभास्तानि नु देश नीत्वा विक्रये कृते महानर्थ लाभो भवतीति वलेशवणिज्या । गोमहिष्यादीन् अमुष्य गृहीत्वा अन्यत्र देशे व्यवहारे कृते भूरिवित्त-लाभ इति तिर्यग्बणिज्या । वागुरिकसौकरिकशकुनिकादिभ्यो मृगवराहशकुन्तप्रभृतयोऽमुष्मिन् देशे सन्तीति वचन वधकोपवेश । आरम्भकेभ्य कृपोषनादिभ्य क्षिरपुदकजलनपवनवनस्पत्यारम्भो-नेनोपायेन कर्तव्य इत्याख्यानमारम्भकोपदेश । इत्येवं प्रकार पापसंयुत वचन पापोपदेश । — वलेशवणिज्या, तिर्यग्बणिज्या, वधक तथा आरम्भादिकर्म पाप संयुक्त वचन पापोपदेश कहनाया है । वह इन प्रकार कि — १ इस देशमें दास दासी बहुत सुलभ हैं । उनको अमुक देशमें ले जाकर बेचनेसे महान् अर्थ लाभ होता है । इसे वलेशवणिज्या कहते हैं । २ गाय, भैंस आदि पशु अमुक स्थान-से ले जाकर अन्यत्र देशमें व्यवहार करनेसे महान् अर्थ लाभ होता

है, इसे तिर्यग्बणिज्या कहते हैं । ३ वधक व शिकारी लोगोंको यह बताना कि हिरण, सूअर व पक्षी आदि अमुक देशमें अधिक होते हैं, ऐसा वचन वधकोपदेश है । ४ खेती आदि करनेवालोंसे यह कहना कि पृथ्वीका अधवा जल, अग्नि, पवन, वनस्पति आदिका आरम्भ इस उपायसे करना चाहिए । ऐसा वचन आरम्भकोपदेश है । इस प्रकारके पाप संयुक्त वचन पापोपदेश नामका अनर्थदण्ड है । (चा सा १६६/६) ।

पु सि १४२ विद्यावाणिज्यमपोकृपितेवाशिष्यजीविनां पुसाम् । पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् १४२० । — विना प्रयोजन किसी पुरुषका आजोबिका कारण, विद्या, वाणिज्य, लेखनकला, खेती, नौकरी और शिष्य आदिक नाना प्रकारके काम तथा हुनर करनेका उपदेश देना, पापोपदेश अनर्थदण्ड कहलाता है । पापपदेश अनर्थदण्डके रयागका नाम ही अनर्थदण्डवत् कहलाता है ।

का अ/मू ३४६ जा उवएमादिज्जदि किसि-पसु पालण-वणिज्जपसुहेसु । पुरसिस्थो-संजोए अणत्थ-दोहोह्वं विदिओ । — कृषि, पशुपालन, व्यापार वगैरहका तथा स्त्री पुरुषके समागमका जो उपदेश दिया जाता है वह दूसरा अनर्थदण्ड है ।

सा घ ६/७ पापापदेश यद्ववाक्य, हिसाकृत्यादिसंश्रयम् । तज्जीविभ्यो न तं दद्यात्पि गोप्यं प्रसज्येत १७ । — हिंसा, खेती और व्यापार आदिका विषय करनेवाला जो वचन होता है वह पापोपदेश कहलाता है इसलिए अनर्थदण्डवत्तका इच्छुक श्रावक हिंसा, खेती और व्यापार आदिसे आजोबिका करनेवाले, व्याघ्र, ठग वगैरहके लिए उस पापोपदेशको नहीं देवे और क्या बातलाप वगैरहमें उस पापोपदेशको प्रसंगमें नहीं लावे ।

३ प्रमादाचरित अनर्थदण्ड

र क आ/मू ८० क्षितिमलितदहनपवनारम्भ विफलं वनस्पतिच्छेदम् । सरण सारणमपि च प्रमादाचर्या प्रभापन्ते ८० । — विना प्रयोजन पृथिवी, जल अग्नि, और पवन क आरम्भ करनेको, वनस्पति छेदनेको, पर्यटन करनेको और दूरोंको पर्यटन करानेको भी प्रमाद-चर्या नामा अनर्थदण्ड कहते हैं । (का अ/मू ३४६) ।

स सि ७/२१/६० प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिच्छेदनभूमिकृत्नसत्तिल-सेचनाद्यवधकर्म प्रमादाचरितम् । — विना प्रयोजनके वृक्षादिका छेदना, भूमिका कूटना, पानीका सौंचना आदि पाप कार्य प्रमादाचरित नामका अनर्थदण्ड है । (रा बा ७/२१, २१/४४६/४४) (चा सा १७/२) ।

पु सि १४३ भूखननवृक्षमोटनशाद्वलदलनाभ्युमेवनादीनि । निष्कार-ण न कुप्यादिलफनकुसुमाश्चयानपि च । — विना प्रयोजन जमीन-का खोदना, वृक्षादिका उखाड़ना, दूध आदिक हरी घासको रौदना या खोदना पानी खींचना, फल, फूल, पत्रादिका तोड़ना इत्यादिक पाप क्रियाओंका करना प्रमादचर्या अनर्थदण्ड है ।

सा घ ६/१० प्रमादचर्यां भिफलस्मानिनाग्न्यभ्युत्थुहाम् । खातव्याधा-तिव्याधातेरक्षेच्छेदादि नाचरेत् १० । — अनर्थदण्डका रयागी श्रावक पृथिवीके खादेरूप किबाड़ वगैरहके द्वारा वायुके प्रतिबन्ध करने रूप, जलादिसे अग्निको बुझाने रूप, भूमि वगैरहमें जलके फँकेने तथा वनस्पतिके छेदने आदि रूप प्रमादचर्याको नहीं करे ।

४ हिसादान अनर्थदण्ड

र क आ ७७ परशुकृपाणखनिप्रज्वलनायुधशृङ्खलादीनाम् । वध-हेतुना दान हिसादानं न धनं विद्युषा ७७ । — फरसा, तलवार, खनित्र, अग्नि, आयुध, सौमी शस्त्र आदि हिसाके कारणोंके मर्गे देनेकी पण्डित जन हिसादान नामा अनर्थदण्ड कहते हैं ।

स सि ७/२१/३६० निषकण्टकशस्त्राग्निरज्जुवृक्षादिहिसोपकरण-प्रदानं हिसाप्रदानम् । — बिष, कौटा, शस्त्र, अग्नि, रस्सी चाबुक और लकड़ी आदि हिसाके उपकरणोंका प्रदान करना हिसाप्रदान नामा अनर्थदण्ड है (रा बा ७/२१, २१/४४६/१६) (चा सा १७/३) ।

पु सि / १४४ असिधेनुविपहुताशनलाङ्गलकरवालकामुकादीनाम् । वित-
रणमुपकरणानां हिंसाया परिहरयेत्यन्तः । —असि, धेनु, जहर,
अग्नि, हल, कर्वाल, धनुष आदि अनेक हिंसाके उपकरणोंको
दूसरोंको मॉगा देनेका त्याग करना, हिंसाप्रदान अनर्थदण्ड है ।

का अ / मू / ३४० मज्जार-पहुवि धरणं आजह-लोहादि-विक्रण ज च ।
लपला-ललादि-गहणं अणय-दण्डो हुवे तुरिओ ॥३४०॥ —मिलावादि
हिंसक जन्तुओंका पालना, लोहे तथा अन्य-शस्त्रोंका देना-लेना और
लाव, विप वगैरहका लेना-देना चौथा अनर्थदण्ड है ।

सा घ / १/८ हिंसादानविपासादि-हिंसाङ्गस्पर्शनं रयजेत् । पाकाद्यर्थं च
नाग्यादिदासिण्याविषयेऽप्येव । —विष या हृदियार आदि हिंसाके
कारणभूत पदार्थोंका देना हिंसादान नामक अनर्थदण्ड व्रत कहलाता
है । उस हिंसादान अनर्थदण्डको छोड़ देना चाहिए । जिससे अपना
व्यवहार है ऐसे पुरुषोंसे भिन्न पुरुषोंके विषयमें पाकादिके लिए
अग्नि नहीं देवे ।

५ दुःश्रुति अनर्थदण्ड

र का आ / ७९ आरम्भसगाहसमिध्यावज्रेपरगममदनै । चेत
कलुषयतां श्रुतिरवधोनां दुःश्रुतिर्भवति ॥ ७९ ॥ —आरम्भ, परिग्रह,
दुःसाहस, मिथ्यावच, द्वेष, राग, गर्व कामवासना आदिसे चित्तको
क्लेशित करनेवाले शाब्दोंका सुनना-भाँचना सो दुःश्रुति नामा अनर्थ-
दण्ड है ।

स सि / ७/२१/३६० हिंसासागादिप्रवर्धनदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिर-
शुभश्रुति । —हिंसा और राग आदिको बढ़ानेवाली दुष्ट कथाओंका
सुनना और उनको शिक्षा देना अशुभश्रुति नामका अनर्थदण्ड है ।
(रा वा / ७/२१ २१/४४६/१७) (चा सा / १७/४) ।

पु सि / १४४ रागादिबर्दानां दुष्कथानामभोधमहूतानाम् । न कदा-
चन कुर्वीत श्रवणार्जनसिमागोनि ॥१४४॥ —रागद्वेष आदिक विभाव
भावोंके बढ़ानेवाली, अहान भावसे भरी हुई दुष्ट कथाओंको सुनना,
बनाना, एकत्रित करना, या सीखना आदिका त्याग करनेका नाम
दुःश्रुति अनर्थदण्ड व्रत है ।

का अ / मू / ३४८ अ सवर्णं सत्पाणं भण्ड-वासियरण-काम-सत्पाणं ।
परदोषाणं ज तहा अणय-दण्डो हुवे चरिमो । ३४८ । —जिन शास्त्रों
या पुस्तकोंमें गन्धे मजाक, बशीकरण, कामभोग वगैरहका वर्णन
हो उनका सुनना और परके दोषोंकी चर्चा वार्ता सुनना पाँचवाँ
अनर्थदण्ड है ।

सा घ / १/९ चित्ताकालुष्यकृताम-हिंसाद्यर्थं श्रुतश्रुतिम् । न दुःश्रुतिम-
पध्यान्, नार्तौद्रादम चाविच्योत् ॥ ९ ॥ —अनर्थदण्डव्रतका इच्छुक
श्रावक चित्तमें कालुष्यता करनेवाला जो काम तथा हिंसा आदिक हैं
सारपर्यं जिनके ऐसे शाब्दोंके रूप दुःश्रुति नामक अनर्थदण्डको नहीं
करे और आर्त तथा रौद्र ध्यान स्वरूप अपध्यान नामक अनर्थदण्ड-
को नहीं करे ।

३ अनर्थदण्डव्रतके अतिचार

स सू / ७/३२ कन्दर्पकीर्तुचमर्गोर्वायसमोऽस्याधिकरणोपभोगपरिभोगा-
नर्थययानि । —१ हास्ययुक्त अश्लिष्ट वचनका प्रयोग, २ कायकी कुचेष्टा
सहित ऐसे वचनका प्रयोग, ३ वैकार भोलते रहना, ४ प्रयोजनके
बिना कोई न कोई तोड़-फोड़ करते रहना या काव्यादिका चिन्त-
वन करते रहना, ५ प्रयोजन न होनेपर भी भोग परिभोगकी
सामग्री एकत्रित करना या रखना, ये पाँच अनर्थदण्ड व्रतके अतिचार
हैं । (र का आ / ८१) ।

४ भोगपरिभोग परिमालव्रत घ भोगोपभोग आनर्थक्य नामक अतिचारसे अन्तर

रा वा / ७/३२.६-७/४६/२६ यावताऽर्धेन उपभोगपरिभोगी प्रकल्प्येतेतस्य
साधनार्थं हर्युच्यते, सतोऽन्यस्याधिषयमानर्थक्यम् । ६ । स्यादेतत्—
उपभोगपरिभोगव्रतसे अन्तर्भवतीति पौनरुक्त्यमासज्यत इति; तत्र किं

कारणम् । तदर्थनिवधारणात् । इच्छावशात् उपभोगपरिभोगपरि-
माणावग्रह सावद्यप्रत्यारयान चैति तद्युक्तम्, इह पुन कल्प्यस्यैव
आधिषयमिरयतिक्रम हर्युच्यते । नन्वेवमपि तद्वशात्तित्वागन्तर्भावात्
इद वचनमनर्थकम् । नानर्थक्यम् सचित्ताद्यतिममवचनात् । —जिसके
जितने उपभोग और परिभोगके पदार्थोंसे काम चन जाये वह उसके
लिए अर्थ है, उससे अधिक पदार्थ रखना उपभोगपरिभोगानर्थक्य है ।
प्रश्न—इसका ता उपभोग परिभोगपरिमाणव्रतमें अन्तर्भाव हो जाता
है अतः इससे पुनरुक्तता प्राप्त होती है । उत्तर—नहीं होती, क्योंकि
इसका अर्थ अन्य है । उपभोग परिभोगपरिमाणव्रतमें तो इच्छानुसार
प्रमाण किया जाता है और सावद्यका परिहार किया जाता है, पर
यहाँ आवश्यकताका विचार है । जो सङ्गठित भी है पर यदि
आवश्यकतासे अधिक है तो अतिचार है । प्रश्न—तब इसका अन्त-
र्भाव भोगपरिभोग परिमाणव्रतके अतिचारमें हो जानेसे यह कथन
निरर्थक है । उत्तर—निरर्थक नहीं है क्योंकि यहाँ सचित्त सम्बन्ध
आदि रूपसे मर्यादातिक्रम विवक्षित है, अतः इसका वहाँ कथन
नहीं किया ।

५. अनर्थदण्डव्रतका प्रयोजन

रा वा / ७/२१.२१/४४६/१९ दिग्देशायाहृत्याश्चोपभोगपरिभोगयोर्ब-
धृतपरिमाणयोरनर्थक चट्कमणादिविषयोपसेवनं च निष्प्रयोजनं न
कर्तव्यमित्यतिरेकनिवृत्तिश्चापनार्थं मध्येऽनर्थदण्डवचनं प्रियते ।
—पहले कहे गये दिग्देश तथा देशव्रत तथा आगे कहे जाने वाले
उपभोग-परिभोग परिमाणव्रतमें स्वीकृत मर्यादामें भी निरर्थक गमन
आदि तथा विषय सेवन आदि नहीं करना चाहिए, इस अतिरेक-
निवृत्तिकी सूचनाके लिए बीचमें अनर्थदण्डपरितिका ग्रहण किया है ।

६ अनर्थदण्डव्रतका महत्त्व

पु सि / १४७ एवविधमपरमपि क्षात्वा मुक्षयनर्थदण्ड म । तस्या-
निशमनवद्य विजयमर्हिसामर्त लभते ॥१४७॥ —जो पुरुष इस प्रकार
अन्य भी अनर्थदण्डोंको जानकर उनका त्याग करता है, वह निरन्तर
निर्दोष अहिंसाव्रतका पात्न करता है ।

अनर्पित—स सि / ४/२/३०३ तद्विपरीतमनर्पितम् । प्रयोजनाभावाद्
सतोऽप्यविषया भवतीत्युपसर्जनीभूतमनर्पितमित्युच्यते । —अर्पितसे
विपरीत अनर्पित है । अर्पित प्रयोजनके अभावमें जिसकी प्रधानता
नहीं रहती वह अनर्पित कहलाता है । सारपर्यं यह है कि किसी वस्तु
या धर्मके रहते हुए भी उसकी विषया नहीं होती इसलिए जो गौण
हो जाता है वह अनर्पित कहलाता है । (रा वा / ४/३२.३/४६७/१६) ।

अनल—दे अग्नि ।

अनलकायिक—आकाशोपपन्न देव—दे देव II/१/३ ।

अनवधृत अनशन—दे अनशन ।

अनवस्था—रतो वा / ४/न्या / ४४६/४६१/१६ उत्तरोत्तरघमपेक्षया

विश्रामाभावानवस्था । —उत्तर-उत्तर धर्मोंमें अनेकावस्थाकी कल्पना
बढ़ती चली जानेसे उसकी अनवस्था दोष कहते हैं ।

स भं त/८२/४ अप्रामाणिकपदार्थपरम्परापरिकल्पनाविश्रान्त्यभाव-
रचानवस्थेयुच्यते । —अप्रामाणिक पदार्थोंकी परम्परासे जो कल्पना
है, उस कल्पनाके विश्रामके अप्राप्तिको ही अनवस्था कहते हैं ।

प ध पू / ३८२ अपि कोऽपि परायत्त मोऽपि पर सधर्था परायत्तात् ।
सोऽपि परायत्त स्यादिरयनवस्थाप्रसङ्गदोषश्च ॥३८२॥ —यदि कदा-
चित् कहो कि (कोई एक धर्म) उनमें से परके आश्रय है, तो जिस
परके आश्रय है वह पर भी सब तरहसे अपनेसे परके आश्रय होनेसे,
अन्य परके आश्रयकी अपेक्षा करेगा और वह भी पर अन्यके आश्रय-
की अपेक्षा रखता है इस प्रकार उत्तरोत्तर अन्य अन्य आश्रयोंकी
कल्पनाकी सम्भावनासे अनवस्था प्रसंग रूप दोष भी आयेगा ।

अनवस्थाप्य—परिहार प्रायश्चित्तका एक भेद—दे परिहार ।

अनवस्थित—अवधिज्ञानका एक भेद—दे अवधिज्ञान १।

अनशन—यद्यपि भूखा मरना कोई धर्म नहीं, पर शरीरसे उपेक्षा हो जानेके कारण, अथवा अपनी चेतन वृत्तियोंको भोजन आदिके बन्धनोंसे मुक्त करनेके लिए, अथवा क्षुधा आदिमें भी साम्यरसे च्युत न होने रूप आरम्भिक बलकी वृद्धिके लिए किया गया अनशन-का रयाग मोक्षमार्गोंको अवश्य श्रेयस्कर है। ऐसे ही रयागका नाम अनशन तप है अन्यथा तो कोरा लघन है, जिससे कुछ भी सिद्धि नहीं।

१ अनशन सामान्यका निश्चय लक्षण

का अ/म/४४० ४४१ जो मण-इदिय विज्जइ इह भव-पर-लोय-सोख-गिरवेक्खो। अपाणे विय गिवसई सज्जाय-परायणो होदि ॥४४०॥ कम्माणि निज्जट्ठं आहार परिहरेह लोलाए। एण दिणादि-पमाण तस्स तव अणसणं होदि। —जो मन और इन्द्रियोंको जीतता है, इस भव और परभवके विषय सुखकी अपेक्षा नहीं करता अपने आरम्भसुखमें ही निवास करता है और स्वाध्यायमें तत्पर रहता है ॥४४०॥ उक्त प्रकारका जो पुरुष कर्मोंकी निर्जराके लिए एक दिन वगैरहका परिमाण करके लोला मात्रसे आहारका रयाग करता है, उसके अनशन तामक तप होता है ॥४४१॥

प्र सा/त प्र/२२७/२७५ यस्य सकलकाममेव सकलपुद्गलाहरणश्चान्य-मारमानमवबुद्धमनस्य सखलाशनतृष्णाश्चान्यस्वस्वमनशन एव स्वभावः। तदेव तस्यानशनं नाम तपोऽन्तरङ्गस्य शरीर्यस्वाद्य। —सदा ही समस्त पुद्गलाहारसे शून्य आत्माको जानता हुआ समस्त अनशन तृष्णा रहित होनेसे जिसका स्वयं अनशन ही स्वभाव है, वही उसके अनशन नामक तप है, क्योंकि अन्तरगकी विशेष बलवत्ता है।

२ अनशन सामान्यका व्यवहार लक्षण

रा वा/६/१६.१/६१८/१७ यत्किञ्च दृष्टफलं मन्त्रसाधनाद्यनुविश्रय क्रिय-माणमुपवसनमनशनमित्युच्यते। —मन्त्र साधनादि दृष्ट फलकी अपेक्षा-के बिना किया गया उपवास अनशन कहलाता है। (चा सा/१३४/१)।

भ आ/वि/६/३२/१४ —अनशनं नाम अशनत्याग। स च त्रिप्रकार मनसा भुञ्जे, भोजयामि, भोजने व्यापृतस्यानुमतिं करोमि। भुञ्जे भुङ्क्ते, पचनं कुर्वति वचसा। तथा चतुर्विधस्याहारस्याभिसधि-पूर्वकं कायेनादानं हस्तसहाया प्रवर्तनम् अनुमति सूचनं कायेन। एतेषां मनोवाक्कायक्रियाणां कर्मोपादानकारणानां रयागोऽनशनं चारित्र्यमेव। —चार प्रकारके आहारोंका रयाग करना इसको अनशन कहते हैं। यह अनशन तीन प्रकारका है। मैं भोजन करूँ, भोजन कराऊँ, भोजन करनेवालेको अनुमति देऊँ, इस तरह मनमें सकल्प करना। मैं आहार लेता हूँ, तू भोजन कर, तू भोजन पकाओ ऐसा बचनसे कहना, चार प्रकारके आहारको संकल्प पूर्वक शरीरसे ग्रहण करना, हाथसे इशारा करके दूसरेको ग्रहण करनेमें प्रवृत्त करना, आहार ग्रहण करनेके कार्यमें शरीरसे सम्मति देना ऐसी जो मन, वचन, कायकी कर्म ग्रहण करनेमें निमित्त होने वाली क्रियाएँ उनका रयाग करना उसको अनशन कहते हैं।

घ १३/४ २६/४४/१ तस्य चउय-छट्टद्वम-दसम दुबालस-वखल-मास उद्ध-अयण संवच्छरेसु एषणपरिष्ठाओ अणेसणं नाम तवो। —चौथे, छठे, आठवें, दसवें और बारहवें एषणका ग्रहण करना तथा एक पक्ष एक मास एक ऋतु एक अयन अथवा एक वर्ष तक एषणका रयाग करना अनेपण नामका तप है।

अन ध/७/११/६६४ चतुर्थार्थवर्षान्त उपवासोऽध्यामाते। सकृद् भुक्तिश्च मुक्तयश्च तपोऽनशनमिष्यते ॥११॥ —कर्मोंका क्षय करनेके उद्देश्यसे भोजनका रयाग करनेको अनशन तप कहते हैं।

३. अनशन तपके भेद

भ आ/म/२०६ अज्ञानसणं सम्वाणसणं बुद्धिं तु अणसणं भणियं। —अर्पणज्ञान और सर्वज्ञान ऐसे अनशन तपके दो भेद हैं।

मू ला/३४७ इतिरिय जावजोव दुविह पुण अणसण मुणेदव्व ॥३४७॥ —अनशन तपके दो भेद हैं—इतिरिय तथा यावजोव।

रा वा/६/१६.२/६१८/१८ तद् द्विविधमवधूतानवधूतकालभेदात्। —वह अनशन अनवधूत और अवधूतकालके भेदसे दो प्रकारका होता है। (चा सा/१३४/२)।

अन घ/७/११/६६४ —यह दो प्रकारका होता है—सकृद्भुक्ति या प्रोषध तथा दूसरा उपवास। उपवास दो प्रकारका माना है—अवधूतकाल और अनवधूतकाल।

४. अनशनके भेदोंके लक्षण

१. अवधूत काल अनशनका लक्षण

मूला/३४७-३४८ इतिरियं साकाहसम् ॥.४७॥ छट्टद्वमदसमद्ववादसेहि मासदमासखमणाणि। कणगेगावलि आदी तवाविहाणाणि गाहारे ॥३४८॥ —कालकी मर्यादासे इतिरिय होता है ॥३४७॥ अर्थात् एक दिन-में दा भोजन बेला कही है। चार भोजन बेलाका रयाग उसे चतुर्थ उपवास कहते हैं। छ भोजन बेलाका रयाग वह दो उपवास कहे जाते हैं। इसीको पष्ठम तप कहते हैं। पष्ठम, अष्टम दशम, द्वादश, पंद्रह दिन, एक मास रयाग, कनकावली पकावली, सुरज मद्यविमान-पक्ति, सिंहीनी क्रीडित इत्यादि जो भेद जहाँ हैं वह सब साक्षात् अनशन तप है ॥३४८॥ इसीको अवधूत काल अनशन तप कहते हैं। (चा सा/१३४/२)।

रा वा/६/१६.२/६१८/२० तत्रावधूतकाल सकृद्भोजन चतुर्थभक्ताधि। —एक बार भोजन या एक दिन पश्चात् भोजन नियतकालीन अनशन है।

भ आ/वि/२०६/४२४/१३ कदा तदुभयमित्यत्र कालविवेकमाह—विह-रन्तस्य ग्रहणप्रतिसेवनकालयोर्वर्तमानस्य अज्ञानशन। —ग्रहण और प्रतिसेवना कालमें अज्ञानशन तप मुनि करते हैं। दीक्षा ग्रहण कर जब तक संन्यास ग्रहण किया नहीं तब तक ग्रहण काल माना जाता है। तथा व्रतादिकोंमें अतिचार लगनेपर जो प्रायश्चित्तसे शुद्धि करनेके लिए कुछ दिन अर्थात् पष्ठम, अष्टम आदि अनशन करना पड़ता है, उसको प्रतिसेवनाकाल कहते हैं।

अन घ/७/११/६६४ वह अनशन दो प्रकारका होता है—सकृद्भुक्ति अर्थात् प्रोषध तथा दूसरा उपवास। दिनमें एक बार भोजन करनेको प्रोषध और सर्वथा भोजनके परिहारको उपवास कहते हैं। उसमें अवधूत-काल उपवासके चतुर्थसे लेकर पाष्णामिक तक अनेक भेद होते हैं।

२ अनवधूत काल या सर्वज्ञानका लक्षण

मूला/३४६ भक्षपक्षणा इगिणि पाउवणमणाणि जाणि मरणाणि। अणेवि एवमादी बोधव्वा गिरवक्खवाणि ॥३४६॥ —भक्षप्रत्याख्यान, इगिनीमरण प्रायोपगमनमरण अथवा अन्य भी अनेकों प्रकारके मरणोंमें जो मरण पर्यन्त आहारका रयाग करना है वह निराकाक्ष कहलाता है।

रा वा/२/१६.२/६१८/२० अनवधूतकालमादेहोपरमात्। —शरीर छूटने तक उपवास धारण करना अनियमित काल अनशन कहलाता है। (चा सा/१३४/२) (अन घ/७/११/६६४) (भ आ/वि/२०६/४२४)।

५. सर्वज्ञान तप कब धारण किया जाता है

भ आ/वि/२०६/४२४/१४ परिरयागोत्तरकालो जीवितस्य य सर्वकाल तस्मिन्नशनं अशनरयाग सर्वज्ञानम्। चरिमते परिणामकाल-स्यान्ते। —मरण समयमें अर्थात् संन्यास कालमें मुनि सर्वज्ञान तप करते हैं।

६ अनशनके अतिचार

भ आ/वि/४८७ ७०७/१ तपसोऽनशनमादेरतिचार। स्वयं न भुङ्क्ते अन्यं भोजयति परस्य भोजनमनुजानाति मनसा वचसा कायेन च। स्वयं क्षुधापीडित आहारमभिलषति। मनसा पारणां मम क प्रयच्छति, क वा नपस्यामीति चिन्ता अनशनातिचार। —स्वयं

भोजन नहीं करता है, परन्तु दूसरों को भोजन कराता है, कोई भोजन कर रहा हो तो उसको अनुमति देता है, यह अतिचार मनसे, वचनसे और शरीरसे करना। भूवसे पीछित होनेपर स्वयं मनमें आहारकी अभिलाषा करना, मेरेको कौन पारणा देगा किस घरमें मेरा पारणा होगा, ऐसी चिन्ता करना, ये अनशन तपके अतिचार है।

७ अनशन शक्तिके अनुसार करना चाहिए

अन घ ४/६५ द्रव्य क्षेत्र बल काल भाव बोध समीप्य च । स्वास्थ्याय वर्तता सर्वविद्यशुद्धाशनं सुधी ॥६६॥—विचार पूर्वक आचरण करने-वाले साधुओंको आरोग्य और आरमस्वरूपमें अवस्थान रखनेके लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, बल और बोध इन छह बातोंका अच्छी तरह पर्यालोचन करके अनाशन, विद्याशन और शुद्धाशनके द्वारा आहारमें प्रवृत्ति करना चाहिए।

८. अनशनके कारण व प्रयोजन

स सि १६/१६/४३८ दृष्टफलानपेक्ष सयमसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाश-ध्यानागमावाप्तर्यमनशनम् ।—दृष्ट फल मन्त्रसाधना आदिकी अपेक्षा किये बिना सयमक सिद्धि, रागका उच्छेद, कर्मोंका विनाश ध्यान और आगमकी प्राप्तिके लिए अनशन तप किया जाता है। (रा बा १६/१६/१६/१६) (चा सा १३४/४)

घ १३/४, २६/४४/३ किमहमेसो कीरदे । पाणिदियसजमट्ट, भुञ्जीए उह्यासंजम अविनाभावद सणादो ।—प्रश्न—यह अनेपण किसलिए किया जाता है । उत्तर—यह प्राणिसंयम और इन्द्रिय सयमकी सिद्धिके लिए किया जाता है, क्योंकि भोजनके साथ दोनों प्रकारके असयमका अविनाभाव देखा जाता है।

९. अनशनमें ऐहलौकिक फलकी इच्छा नहीं होनी चाहिए

रा बा १६/१६/१६/१६/१६ यरिकिचिद् दृष्टफल मन्त्रसाधनाद्यनुद्दिश्य क्रियमाणमुपवसनमनशनमिर्युच्यते ।—मन्त्र साधनादि कुछ भी दृष्ट फलकी अपेक्षाके बिना किया गया उपवास अनशन कहलाता है। (चा सा १३४/४)।

रा बा १६/१६/१६/१६/२४ सम्यगयोगनिग्रहो गुप्ति (६/२) इत्यत सम्यक ग्रहणमनुवर्तते, तेन दृष्टफननिवृत्ति कृता भवति सर्वथा—‘सम्यगयोग-निग्रहो गुप्ति’ इस सूत्रमें-से सम्यक् शब्दकी अनुवृत्ति होती है। इसी ‘सम्यक्’ पदकी अनुवृत्ति आनेसे सर्वत्र (अनशन तपमें भी) दृष्टफल निरपेक्षाका होना तपमें अनिवार्य है। इसलिए सभी तपोंमें ऐहलौकिक फलकी कामना नहीं होनी चाहिए।

* अधिक से अधिक उपवास करनेकी सीमा—वे प्रोप-धोपवास।

अनस्तमी व्रत—तत्रविधान मगध/प ९६ कुल समय—जीवन पर्यन्त।

‘किशनसिंह क्रिया कोष’ विधि—प्रतिदिन सूर्यके दो घड़ी पश्चात् तथा सूर्योदयसे दो घड़ी पहले भोजन करे। बीचके शेष समयमें चारों प्रकारके आहारका त्याग। मन्त्र—नमस्कारमन्त्रकी त्रिकाल जाप।

अनाकाश क्रिया—वे क्रिया ३/२।

अनाकार—वे आकार।

अनाचार—वे अतिचार/पु सि उ “व्रतका सर्वथा भग हाना अतिचार है।”

वे अतिचार/सामायिक पाठ “विषयोंमें अत्यन्त आसक्ति से अनाचार है।”

१ अनाचार व अतिचार में अन्तर—वे अतिचार।

अनात्मभूत कारण—वे कारण १/१।

अनात्मभूत लक्षण—वे लक्षण।

अनावर—मन्त्रद्वोपका अधिपति व्यन्तर देव—वे व्यन्तर ४।

अनादि—१ ज्ञानमें आ जानेके कारण अनादि सादि नहीं हो जाता—दे अनंत २, २ भूत भविष्यत् कालका प्रमाण निश्चित कर देनेपर अनादि भी सादि बन जायेगा।—दे काल ३।

अनादिनय—सादि अनादि पर्यायाधिक नय—वे नय १४/४।

अनादि वच—सादि अनादि बन्धो-प्रकृतियों—वे प्रकृत बंध २।

अनादृत—कायोत्सर्गका एक अतिचार—वे व्युत्सर्ग १।

अनादेय—वे आदेय।

अनाभोगकृतातिचार—वे अतिचार।

अनाभोग क्रिया—वे क्रिया ३/२।

अनाभोगनिक्षेपाधिकरण—वे अविचरण।

अनायतन—वे आयतन।

अनारम्भ—प मा १८ प्र २३६ नि क्रियनिजशुद्धात्मद्रव्ये स्थिरत्वा मनोवचनकायव्यापारनिवृत्तिरनारम्भः ।—निष्क्रिय जो निज शुद्धात्म द्रव्य, उसमें स्थित होनेके कारण मन वचन कायके व्यापारसे निवृत्त हो जाना अनारम्भ है।

अनालव्य—कायोत्सर्गका एक अतिचार वे व्युत्सर्ग १।

अनालोच्य वचन—वे असत्य।

अनावर्त—१ एक यक्ष—वे यक्ष, २ उत्तरजन्मद्वोपका रक्षक व्यन्तर देव—वे व्यन्तर ४।

अनाहारक—प ख १/१/१/सू १७७/४१०/१ अणाहारा चतुष्टु द्वापेष्टु विग्रहग्रहसमावर्णणं केवलीणं वा ममुग्माद गदाण अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ॥१७७॥—विग्रहगतिकी प्राप्त जीवोंके, मिष्याश्व, सासादन और अवरित सम्यग्दृष्टि तथा समुद्रघातगत केवली इन चार गुणस्थानोंमें रहनेवाले जीव और अयोगिकेवली तथा सिद्ध अनाहारक होते हैं ॥१७७॥ (घ १/१ १ ४/१६३/२, (गो जी./सू./६६६/११११)।

स सि २/२६/१८६ उपपादसेप्र प्रति क्रज्ज्या गतौ आहारक । इतरेषु त्रिषु समयेषु अनाहारक ।—जब यह जीव उपपाद क्षेत्रके प्रति श्रु-गतिमें रहता है तब आहारक होता है। बाकीके तीन समयोंमें अनाहारक होता है।

रा ना १६/११/६०४/१६ उपभोगशरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणमाहार तद्वि-परीतोऽनाहार । तत्राहार शरीरनामोदयात् विग्रहगतिनामोदया भावाच्च भवति । अनाहार शरीरनामत्रयोदयाभावात् विग्रहगति-नामोदयाच्च भवति ।—उपभोग्य शरीरके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण आहार है, उससे विपरीत अनाहार है। शरीर नामकर्मके उदय और विग्रहगति नामके उदयाभावसे आहार होता है। तीनों शरीर नाम-कर्मोंके उदयाभाव तथा विग्रहगति नामके उदयसे अनाहार होता है।

अनि सूत—मतिज्ञानका एक भेद—वे मतिज्ञान ४।

अनि सरणात्मक तैजस शरीर—वे तैजस १।

अनिन्दित—किन्नर नामा व्यन्तर जातिका एक भेद—वे किन्नर।

अनिविता—प पु ६/२/श्लोक ‘मगध देशके राजा श्रीपेणकी पत्नी थी (४०)। आहार दानकी अनुमोदना करनेमें भोग भूमिका बन्ध किया (३४८ ३६०) अन्तमें पुत्रोंके पारस्परिक कलहमें दुःखी हो निप पुष्प सूँघकर मर गयी (३६६)। यह शान्तिनाथ भगवान्के चक्रायुध नामा प्रथम गणधरका पूर्वका चौदहवाँ भव है।—वे चक्रायुध।

अनिन्द्रिय—१ अनिन्द्रियक लक्षण मनके अर्थमें—वे मन।

२ अनिन्द्रियक लक्षण इन्द्रिय रहितके अर्थमें

घ १/१ १ ३३/२४८/८ न सन्तोऽन्द्रियाणि येषां तेऽनिन्द्रिया । के ते । अशरीरा सिद्धा । उक्त च—

ध १/१.१.३३/गा १४०/२४८ ण वि इदिय-करणजुदा अवग्गहादीहि गाहमा अत्थे । णेव य इदिय-सोकवा अण्णियाणं तणाण सुहा ॥१४०॥
—जिनके इन्द्रियों नहीं पायी जातीं उन्हें अनौन्द्रिय जीव कहते हैं ।
प्रश्न—वे कौन हैं ? उत्तर—शरीररहित सिद्ध अनिन्द्रिय हैं । कहा भी है—वे सिद्ध जीव इन्द्रियोंके व्यापारसे युक्त नहीं हैं और अव-
ग्रहादिक शायोपशमिक ज्ञानके द्वारा पदार्थोंको ग्रहण नहीं करते हैं ।
उनके इन्द्रिय सुख भी नहीं है, क्योंकि उनका अनन्त ज्ञान व अनन्त सुख अनिन्द्रिय है । (गो जो /मू/१७४) ।

अनित्य—दे सस्थान ।

अनित्य—दे निरय ।

अनित्य अनुप्रेक्षा—दे अनुप्रेक्षा ।

अनित्य नय—दे नय १/४, सद्भावानिरयपर्यायाधिक नय—दे नय IV/४) ।

अनित्यसमा जाति—दे नित्यसमा ।

अनित्य स्वभाव निर्देश—दे स्वभाव १ ।

अनिबद्ध भगल—दे भगल ।

अनियति नय—दे नियति ।

अनिरुद्ध—(म पु ५५/१८) कृष्णका पोता तथा प्रद्युम्नका पुत्र था ।

अनिवर्तक—भाविकालीन दोसबें तीर्थकर । अपरनाम कदर्प ।

(विशेष—दे तीर्थकर ५) ।

अनिह्व—दे निह्व ।

अनिवृत्तिकरण—जीवोंकी परिणाम विशुद्धिमें तरतमताका नाम गुणस्थान है । पहले-यहते जब साधक निर्विकल्प समाधिमें प्रवेश करनेके अभिमुख होता है तो उसकी संज्ञा अनिवृत्तिकरण गुणस्थान है । इस अवस्थाको प्राप्त सभी जीवोंके परिणाम तरतमता रहित सरस होते हैं । अनिवृत्तिकरण रूप परिणामोंका सामान्य परिचय 'करण' में दिया गया है । यहाँ केवल अनिवृत्तिकरण गुणस्थानका प्रकरण है ।

१ अनिवृत्तिकरण गुणस्थानका लक्षण

प स /प्रा १/१२० २१ एकस्मिन् कालसमये सठाणादीहि जह णिवट्ठ ति । ण णिवट्ठ ति तह चिय परिणामेहि मिहो जम्हा ॥२०॥ हंति अणिय-ट्ठिणो ते पडिसमय जेसिमेक्कपरिणामा । विमलयरफाणहुयवहंसिहाहि णिवट्ठकम्मवणा ॥२१॥ —इस गुणस्थानके अन्तर्भूतप्रमित कालमेंसे विवक्षित किसी एक समयमें अवस्थित जीव यत् सस्थान (शरीरका आकार) आदिकी अपेक्षा जिस प्रकार निवृत्ति या भेदकी प्राप्त होती है, उस प्रकार परिणामोंकी अपेक्षा परस्पर निवृत्तिकी प्राप्त नहीं होती है, अतएव वे अनिवृत्तिकरण कहलाते हैं । अनिवृत्तिकरण गुणस्थान-वर्ती जीवोंके प्रतिमय एक ही परिणाम होता है । ऐसे ये जीव अपने अतिविमल ध्यानरूप अग्निकी शिखाओंसे कर्मरूप बनको सर्वथा जला डालते हैं । (ध १/१.१ १७/१८६/गा ११६-१२०) (गो जो /मू/ ५६-५७/१४६) (पं स स /१/३८.४०) ।

रा वा /६/१ २०/५६०/१४ अनिवृत्तिपरिणामवशात् स्थूलभावोपशमक क्षपकचानिवृत्तिमादरसाम्परायौ ॥२०॥ तत्र उपशमनीया क्षपणी-यारच प्रकृत्य उत्तरत्र वक्ष्यन्ते । —अनिवृत्तिकरणरूप परिणामोंकी विशुद्धिसे कर्म प्रकृतियोंको स्थूल रूपसे उपशम या क्षय करनेवाला उपशमक क्षपक अनिवृत्तिकरण होता है ।

ध १/१ १.१७/१८३/११ समानसमयावस्थितजीवपरिणामानां निर्भेदेन वृत्ति निवृत्ति । अथवा निवृत्तिर्वावृत्ति । न विद्यते निवृत्तिर्येषां तेऽनिवृत्तय । साम्पराया कपाया, बादरा स्थूला बादराश्च ते साम्परायारच बादरसाम्पराया । अनिवृत्तयश्च ते बादरसाम्परायारच अनिवृत्तिमादरसाम्पराया । तेषु प्रविष्टा शुद्धिर्येषां सयतानां

तेऽनिवृत्तिमादरसाम्परायप्रविष्टशुद्धिसयता । तेषु सन्ति उपशमका क्षपकाश्च । ते सर्वे एकी गुणोऽनिवृत्तिरिति । —समान समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी भेदरहित वृत्तिको निवृत्ति कहते हैं । अथवा निवृत्ति शब्दका अर्थ व्यावृत्ति भी है । अतएव जिन परिणामोंकी निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं होती है उन्हें अनिवृत्ति कहते हैं । साम्पराय शब्दका अर्थ कपाय है और बादर स्थूलको कहते हैं । इस-लिए स्थूल कपायोंको बादरसाम्पराय कहते हैं और अनिवृत्तिरूप मादरसाम्परायकी अनिवृत्तिमादरसाम्पराय कहते हैं । उन अनिवृत्ति-मादरसाम्परायरूप परिणामोंमें जिन संयतोंकी विशुद्धि प्रविष्ट हो गयी है, उन्हें अनिवृत्तिमादरसाम्परायप्रविष्टशुद्धि सयत् कहते हैं । ऐसे संयतोंमें उपशमक व क्षपक दोनों प्रकारके जीव होते हैं और उन सब संयतोंका मिलकर एक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है ।

गो जो /जी प्र ५७/१५०/३ न विद्यते निवृत्ति विशुद्धिपरिणामभेदो येषां ते अनिवृत्तय इति निरुक्त्याश्रयणात् । ते सर्वेऽपि अनिवृत्ति-करणा जीवा तत्कालप्रथमसमयादि कृत्वा प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्धि-वृद्ध्या वर्धमानेन हीनाधिकभावरहितेन विशुद्धिपरिणामेन प्रवर्तमाना सन्ति यत् तत् प्रथमसमयवर्तिजीवविशुद्धिपरिणामेभ्यो द्वितीय-समयवर्तिजीवविशुद्धिपरिणामा अनन्तगुणा भवन्ति । एव पूर्वपूर्व-समयवर्तिजीवविशुद्धिपरिणामेभ्यो जीवानामुत्तरोत्तरसमयवर्तिजीव-शुद्धिपरिणामा अनन्तानन्तगुणितक्रमेण वर्धमाना भूत्वा गच्छन्ति । —जातें नहीं विद्यमान है निवृत्ति कहिये विशुद्धि, परिणामनि विषे भेद जिनके तै अनिवृत्तिकरण है ऐसी निरुक्ति जानना । जिन जीवनिकी अनिवृत्तिकरण माँहें पहला दूसरा आदि समान समय भये होंहि, तिन त्रिकालवर्ती अनेक जीवनिके परिणाम समान होंहि । जैसे—अध-करण अपूर्वकरण विषे समान होते थे तैसैं इहाँ नहीं । बहुरि अनिवृत्तिकरण कालका प्रथम समयको आदि बेकरि समय-समय प्रति वर्तमान जे सर्व जीवतैं हीन अधिकपनातै रहित समान विशुद्ध परिणाम धरै हैं । तहाँ समय समय प्रति जे विशुद्ध परिणाम अनन्तगुणै अनन्तगुणै उपजै हैं तहाँ प्रथम समय विषे जे विशुद्ध परिणाम हैं तिनितैं द्वितीय समय विषे विशुद्ध परिणाम अनन्तगुणै हो हैं । ऐसैं पूर्व-पूर्व समयवर्ती विशुद्ध परिणामनितैं जीवनिवे उत्तरोत्तर समयवर्ती विशुद्ध परिणाम अविभाग प्रतिच्छेदनिकी अपेक्षा अनन्तगुणा अनन्तगुणा अनुक्रमकरि ब सा हुआ प्रवर्तैं हैं ।

प्र सं /टी/१३/३६ इष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षादिरूपसमस्तसंस्पर्शविकल्प-रहितनिजनिश्चलपरमात्मवैकाग्रध्यानपरिणामेन कृत्वा येषां जीवा-नामेकसमये ये परस्पर पृथक्कर्तुं नायान्ति ते वर्णसंस्थानादिभेदेऽप्य-निवृत्तिकरणौपशमिकभक्तसंज्ञा द्वितीयकपायाद्येकविंशतिभेदाभ्र-चारित्रमोहप्रकृतौनामुपशमक्षपणसमर्था नवमगुणस्थान वर्तितो भवन्ति । —देखे, सुने और अनुभव किये हुए भोगोंकी बाँछादि रूप सम्पूर्ण सकल्प तथा विषय रहित अपने निश्चल परमात्मस्वरूपके एकाग्र ध्यानके परिणामसे जिन जीवोंके एक समयमें परस्पर अन्तर नहीं होता वे वर्ण तथा संस्थानके भेद होनेपर भी अनिवृत्तिकरण उपशमक व क्षपक संज्ञाके धारक अप्रयत्नान्मानावर द्वितीय कपाय आदि इक्कीस प्रकारकी चारित्र मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंके उपशमन और क्षपणमें समर्थ नवम गुणस्थानवर्ती जीव हैं ।

२ सम्यक्त्व व चारित्र दोनोंकी अपेक्षा औपशमिक व क्षायिक दोनों भावोंकी सम्भावना

ध १/१.१ १७/१८४/८ कारिचप्रकृतीरुपशमयति कारिचदुपरिष्ठादुपशम-यिष्यतीति औपशमिकोऽय गुण । कारिचत् प्रकृती क्षपयति कारिचदुपरिष्ठात् क्षपयिष्यतीति क्षायिकश्च । सम्यक्त्वापेक्षया चारित्रमोहक्षपकस्य क्षायिक एव गुणस्त्राप्त्यस्यासम्भवात् । उपशम-कस्योपशमिक क्षायिकश्चोभयोरपि तत्राविरोधात् । —इस गुण-स्थानमें जीव भोगको कितनी ही प्रकृतियोंका उपशमन करता है और कितनी ही प्रकृतियोंका आगे उपशमन करेगा इस अपेक्षा यह

गुणस्थान औपशमिक है। और कितनी ही प्रकृतियोंका क्षय करता है तथा कितनी ही प्रकृतियोंका आगे क्षय करेगा, इस दृष्टिसे क्षायिक भी है। सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा चारित्र्यमोहका क्षय करनेवालेके यह गुणस्थान क्षायिक भावरूप ही है, क्योंकि क्षपक श्रेणीमें दूसरा भाग सम्भव ही नहीं है। तथा चारित्र्यमोहनीयका उपशम करनेवालेके यह गुणस्थान औपशमिक और क्षायिक दोनों भावरूप है, क्योंकि उपशम श्रेणीकी अपेक्षा बहोतर दोनों भाग सम्भव हैं।

३ इस गुणस्थानमें औपशमिक व क्षायिक ही भाव क्यों
ध ६/१७,८/२०४/४ होदुर्गम अवसत्तकसायस्य औपशमिओ भावो अव-
समिदासेसकसायत्तादो। ण रोसाणं, सथ असेसमोहसुखसमाभावा।
ण अणियद्विषादरसांपराय सुहमसांपरादयाणं अवसमिदधोवगसाय-
जणिदुवसपरिणामाणं औपशमियभावस्स अविचथाविमोहा।

ध ६/१७,८/२०४/१० बादर सुहमसांपरादयाणं वि खवियमोरेयदेसाण
कम्मवयजणिदभावेवसत्ताभा।—

प्रश्न—समस्त कथायों और नोकपायोंके उपशमन करनेमें उप-
शान्तकपाय धर्मस्थ जीवके औपशमिक भाव भले रहा आवे, किन्तु
अपूर्वकरणोद शेष गुणस्थानमें जीविक औपशमिक भाव नहीं
माना जा सकता है, क्योंकि, इन गुणस्थानोंमें समस्त मोहनीय कर्मके
उपशमनका अभाव है। उत्तर—नहीं, क्योंकि कुछ कथायोंके उप-
शमन करनेसे उत्पन्न हुआ है उपशम परिणाम जिनके, ऐसे अनि-
वृत्तिकरण बादरसाम्पराय और सुहमसाम्पराय सयत्तके उपशम
भावका अस्तित्व माननेमें कोई विरोध नहीं है। मोहनीय कर्मके
एक देशके क्षपण करनेवाले बादरसाम्पराय और सुहमसाम्पराय
क्षपकोंके भी कर्मस्य जनित भाव पाया जाता है। (ध ७/२,१,४६/
६३/१)।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

* इस गुणस्थानके स्वामित्व सम्बन्धी जीवममास,
मार्गणास्थानादि २० प्ररूपणाएँ—दे मध।

* इस गुणस्थान सम्बन्धी सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन,
वाल, अन्तर, भाव, अल्पवहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ
—दे बह बह नाम।

* इस गुणस्थानमें कर्म प्रकृतियोंका वन्ध, उदय व मत्त्व
—दे बह बह नाम।

* इस गुणस्थानमें कपाय, योग व भज्जाके सद्भाव व
तत्सम्बन्धी शका समाधान —दे बह बह नाम।

* अनिवृत्तिकरणके परिणाम, आवश्यक व अपूर्वकरणमें
अन्तर, अनिवृत्तिकरण लब्धि—दे, करण ६।

* अनिवृत्तिकरणमें योग व प्रदेश वन्धकी समानताका
नियम नहीं। दे करण ६।

* पुन पुन यह गुणस्थान प्राप्त करनेकी सीमा
—दे संयम २।

* उपशम व क्षपक श्रेणी—दे श्रेणी २३।

* वादर कृष्टि करण—दे कृष्टि।

* सभी गुणस्थानोंमें आयेके अनुसार व्यय होनेका नियम
—दे मार्गणा।

अनिष्ट—पदार्थकी इष्टता-अनिष्टता रागके कारणसे है। वास्तवमें
कोई भी पदार्थ इष्टानिष्ट नहीं।—दे द्वाग ३।

अनिष्ट पक्षाभास—दे पक्ष।

अनिष्ट सयोगज आर्तध्यान—दे आर्तध्यान।

अनिसृष्ट—यसत्तिका दोष—दे, वमसि। आहारका दोष

—दे आहार ११/४/४।

अनीक—ग सि ४/४/२२६ पशारयादीनि गम अनीकानि दण्ट-
स्थानीयानी।—तेनायी तरह सात प्रकारके पदाति आदि अनीक
कहलाते हैं। (ग ना ४/२,७/२११/६)।

ति प ३/६७ संजोवमा यणिया १८५—अनीय येव ते—के सुख्य होती है।
त्रि सा ३/२२ भाषा 'जैमे राजाके हस्ति आदि मेन, ई वैमे देशमें
अनीय जातिके दध ही हरित आदि आकार अपने निगा, हैं हाइ है।"

१. अनीक देवोंके भेद

ति प ३/७० सत्ताणीयं हस्ति गु पत्तेमं गत्त सात कववजुदा। पढम
मसमाणसमा तदुदुगुणा चरमकववत्तं १८५—सात अनीकोंमें से प्रत्येक
अनीक सात-सात कय ओंसे युक्त होती है। उनमें-मे प्रथम कक्षाका
प्रमाण अपने अपने सामानिक देवोंके बराबर तथा इसके आगे अन्तिम
कक्षा तक उत्तरांतर प्रथम कक्षासे दूना दूना प्रमाण होता चला गया
है १८५।

ज प ४/१८८-१८६ सत्ताणिया पवववामि। गोहम्मकप्पवासीइदरस
महाणुभावस्स १८८। नमभरहत्तुरयमयगनत्तचणगधुवमभिववगाण।
सत्ताणीया दिट्ठासत्ताहि वच्छाहि सजुत्ता १८६६—महा प्रभावमें युक्त
सौधर्म इन्द्रकी मात अनीकोंका वर्णन करते हैं १८८। प्रथम रथ,
सुरग, मदगन (तापी), नर्तक, गन्धर्व और भूरयवर्ग इनकी सात
कक्षाओंमें संयुक्त सात मेनारें बही गयी हैं।

त्रि सा ७/८०-२३० कुजरतुरयपदादीरहगधववा प चववसहात्ति। सत्तेवय
अणीया पत्तेयं सत्त सत्त कववजुदा १८८५। पढम सममाणसमं
तदुदुगुण चरिमकववोत्ति १२३०—हापी, घोड़ा, पयादा, रथ, गन्धर्व,
नृत्यकी और प्रथम ऐसे सात प्रकार अनीक एक-एकके हैं। बहुरि
एक एक अनीक सात सात कय कहिये फोज तिन करि सयुत्त है १८८५।
तहाँ प्रथम अनीकका कक्ष विषे प्रमाण अपने-अपने सामानिक देवनिके
समान है। ताँते दूनी दूनी प्रमाण अन्तका कक्ष विषे पर्यन्त जानना।
तहाँ चमरेन्दो भस्मानिकी प्रथम फौजनि विषे चौसठ हजार भैंसे हैं।
ताँते दूने दूसरी फौज विषे भैंस हैं। ऐसे सत्ताईस फौज पर्यन्त दूने-
दूने जानने। बहुरि ऐसे ही तथा इतने ही घाटक आदि जानने। याही
प्रकार ओगनिका यथा सम्भव जान लेना १२३०।

* इन्द्रो आदिके परिवारमें अनीकोंका निर्देश—दे भवन-
वासी आदि भेद।

२ कल्पवासी अनीकोंकी देवियोंका प्रमाण

ति प ४/२८८ सत्ताणीय पवण पुह पुह देवीओ दस्सया हस्ति। दाणि
तया पत्तेवत्त देवीओ आणीय देवाणं १२८६—सात अनीकोंके प्रभुओं-
के प्रथक् प्रथक् छ सौ और प्रत्येक अनीकके दो सौ देवियाँ होती हैं।

अनीकदत्त—ह पु १/४/२१० "पूर्वके चतुर्थ भवमें भानू सेठके
छर नामक राजपुत्र हुआ (१७६८)। फिर पूर्वके तीसरे भवमें चित्र-
चूल विद्याधरका पुत्र गरुडचूज हुआ (१२२-१२३)। फिर दूसरे भवमें
गणदेव राजाका पुत्र गंगरक्षित हुआ (१४२-१४३)। वर्तमान भवमें
बसुदेवका पुत्र तथा कृष्णका भाई था (३४/७)। क्रमके भयसे युत्तरूपमें
सृष्टि नामक सेठके घर पालन-पोषण हुआ था (३४/७)। धर्म श्रवण
कर दीक्षा धारण कर ती (६६/११६-१२०)। अन्तमें गिरनार पर्वतसे
माक्ष प्राप्त किया (६६/१६-७)।"

अनीकपाल—'अनीकदत्त' वध हो है। नामोंमें शुरूके स्थानपर
'सुरदेव' और गंगरक्षितके स्थानपर 'नन्द' पढ़ना।

अनीकवरनय—दे नय १/६।

अनु—स सि २/२६/१८३ अनुशब्दस्यानुवर्त्येण वृत्ति।—'अनु शब्द-
का अर्थ यथाक्रम कर्त्ति' ऐसा है। (रा वा २/२६ २/१३७/२८)।

अनुकम्पा—प का/मू/१३०/२०१ तिसिद बुभुखिद वा दुहिद
ददृण जो दूदुहिदमणो । पठिजज्जिद ति कियया तस्सेसा होदि अणु-
कम्पा ॥—उपात्तर, क्षुधात्तर अथवा दुखीको देखकर जो जीव मनमें
दु ख पाता हुआ उसके प्रति करुणासे वर्तता है, उसका वह भाव अनु-
कम्पा है ।

स सि/६/१२/३३० अनुग्रहार्द्रकृतचेतस परपीडामस्थामिव कुर्वताऽनु-
कम्पनमनुकम्पा ॥—अनुग्रहसे दयाद्रं चित्तवालेके दूसरेकी पीड़ाको
अपनी ही माननेका जो भाव होता है, उसे अनुकम्पा कहते हैं । (रा
वा/६/१२ ३/४२२/१६) ।

रा वा/१/२ ३०/२२/६ सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा ॥—सर्व प्राणी मात्रमें
मैत्रीभाव अनुकम्पा है ।

प्र सा/ता वृ/२६८ तृपित वा बुभुक्षित वा दु खितं वा दृष्ट्वा कमपि
प्राणिन यो हि स्फुटं दु खितमना सद् प्रतिपद्यते स्वीकरोति दया-
परिणामेन तस्य पुरुषस्येया प्रत्यक्षीभूता शुभोपयोगरूपानुकम्पा दया
भवतीति ॥—उपासेको या धूलेको या दु खित किसी भी प्राणी-
को देखकर जो स्पष्टतः दु खित मन होकर दया परिणामके द्वारा
(उनकी सेवा आदि) स्वीकार करता है, उस पुरुषके प्रत्यक्षीभूत
शुभोपयोग रूप यह दया या अनुकम्पा होती है ।

प घ/४४६,४५० अनुकम्पा कृपा क्षेया सर्वसत्त्वेऽनुग्रह । मैत्री-
भावोऽथ माध्यस्थ नै शक्य वैरवर्जनात् ॥४४६॥ समता सर्वभूतेषु
यानुकम्पा परत्र सा । अथत स्वानुकम्पा स्याच्छ्रेयसवच्छ्रेयवर्जनात्
॥४५०॥—अनुकम्पा शब्दका अर्थ कृपा समझना चाहिए अथवा वैरके
रयाग पूर्वक सर्व प्राणियोंपर अनुग्रह मैत्रीभाव, माध्यस्थभाव और
शक्य रहित वृत्ति अनुकम्पा कहलाती है ॥४४६॥ जो सम प्राणियोंमें
समता या माध्यस्थभाव और दूसरे प्राणियोंके प्रति दयाका भाव है
वह सम वास्तवमें शक्यके समान शक्यके रयाग होनेके कारण स्वानु-
कम्पा ही है ॥४५०॥

द पा/२/५ जयचन्द "सर्व प्राणीनि विषे उपकारकी बुद्धि तथा मैत्री
भाव सो अनुकम्पा है, सो आप दो विषे अनुकम्पा है" ।

१ अनुकम्पाके भेद

भ आ/वि/१८३४/१६४३/३ अनुकम्पा त्रिप्रकारा । धर्मानुकम्पा मिश्रा-
नुकम्पा, सर्वानुकम्पा चेति ।—अनुकम्पा या दया इसक तीन भेद
हैं—धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा और सर्वानुकम्पा ।

२ अनुकम्पाके भेदोंके लक्षण

प्र आ/वि/१८३४/१६४३/४ तत्र धर्मानुकम्पा नाम परिरेयत्तासयमेयु
मानावमानसुखदु खताभालामतृणसुखार्दिषु समानचित्तेषु दान्तेद्रि-
यान्त करणेषु मातरमिव मुक्तिमाश्रितेषु पद्धितोप्रकपायविषयेषु
दिव्येषु भोगेषु दोषान्वितचिन्त्य विरागतामुपगतेषु मसारमहासमुदा-
द्भयेन निशास्वपश्यनिद्रेषु, अगीकृतनिस्संगत्वेषु क्षमादिदशविध-
धर्मपरिणतेषु यानुकम्पा सा धर्मानुकम्पा यया प्रयुक्तो जनो विवेकी
तद्योग्यान्नपानावस्येपणादिकं सयमसाधनं यथिम्य प्रयच्छति ।
स्वामिनिगुह्यशक्तिम् उपसर्गशोषानपसारयति, आह्वय्यतामिति मेवा
करोति भ्रष्टमागर्णां पन्थानमुपदर्शयति । तै प्रसयोगमवाप्य अहो
सपुण्या वयमिति हृष्यति, सभासु तेषाम् गुणान् कीर्तयति स्वाम्ते गुरु
मिव परयति तेषां गुणानामभीक्ष्ण स्मरति, महात्मभि र्दत्ता नु मम
समागम इति तै सयोग समीपसति, तदीयान् गुणान् परैरभिवर्ण्य-
मानान्निशम्य तुष्यति । इत्यमनुकम्पापर साधुगुणानुमननानुकारो
भवति । त्रिधा च सन्तो वन्धुमुपदिशति स्वयं कृते, करुणया, परै
कृतस्यानुमतेरच ततो महागुणराशिगतहर्षात् महात् पुण्यास्रव ।
मिश्रानुकम्पोच्यते पृथुपापकर्ममूल्येभ्यो हिंसादिभ्यो व्यावृता सतोप-
वैराग्यपरमनिरता, दिग्विरति, देशविरति, अनयदण्डविरति चाप-
गतास्तीव्रदोषात् भोगोपभोगान्निवृत्त्य शेषे च भोगे कृतप्रमाणा पापा
रपरिभोतचित्ता, विशिष्टदेशे काले च विवर्जितसर्वसाधवा पर्वस्वा-

रम्भयोग सकलं मिसृज्य उपवाम ये कुर्वन्ति तेषु सयतासयतेषु
क्रियमाणानुकम्पा मिश्रानुकम्पोच्यते । जीवेषु दर्था च कृत्वा कृत्स्नाम-
बुध्यमाना जिनसूत्रादृष्ट्याह्य येऽन्यपाखण्डरताविनीता कृष्टानि
तर्पांसि कुर्वन्ति क्रियामाणानुकम्पा तथा सर्वोऽपि कर्मपुण्यं प्रचिनोति
देशप्रवृत्तिगृहिणामकृत्स्नत्वात् । मिष्ट्यास्वदोषोपहताऽन्यधर्म इत्येषु
मिश्रो भवति धर्मा मिश्रानुकम्पामवगच्छेजन्तु । सहृदयो वापि
कुदृश्यो वा स्वभावतो मार्दवमप्रयुक्ता । यां कुर्वते सर्वशरीरवर्गसर्वानु-
कम्पेत्यभिधीयते सा । क्षिणाद् विद्वान् मदान् प्रवृत्तविलुप्यमानाश्च
मर्याद्व, सहैतसो निरैतसो वा परिदृश्य मृगान्विहगान् सरीसृपां
पक्ष्या मांमादि निमित्त प्रहृष्यमानान् परलाके परस्पर बाताद् हिसतो
भक्षयतश्च दृष्ट्वा सुस्माद्वा कृन्तुषिपीलिकाप्रभृतिप्राणभूतो मनुज
करभखरशरभकरितुरगादिभि संमृयमानानां भवोदय असाध्यरोगो-
रगदर्शनात् परितप्यमानान् मृताऽस्मि नष्टोऽस्यभिधावतेति रागानु-
भूयमानात् स्वपुत्रकलत्रादिभिरप्राप्तिना (१) सहसा विपुज्य कुर्वतो
रुजा निक्षोभत स्वाह्नाभिन्दतश्च, शोभेन उपाजितद्विगेषु विपुज्य-
मानान् प्रनष्टयन्धून् धर्मशिक्षणविद्याव्यवसायहीनान् यान् प्रज्ञा-
प्रशक्त्या वराकान् निरोक्ष्य वृ खमारमस्थमिव विचिन्त्य स्वास्थ्यमुप-
शमनमनुकम्पा ॥—१ धर्मानुकम्पा—जिन्होंने असयमका रयाग किया
है । मान अपमान, सुख दु ख लाभ, अनाभ तृग, स्वर्ण इत्यादिकों-
में जिनकी बुद्धि रागद्वेष रहित हो गयी है इन्द्रिय और मन जिन्होंने
अपने वश किये हैं, माताको भीति युक्तिका जिन्होंने आश्रय लिया
है, उग्र कपाय विषयोंको जिन्होंने छाड़ दिया है दिव्य भोगोंको
दोष युक्त देखकर जो वैराग्य युक्त हो गये हैं ससार समुद्रकी भीतिसे
रातमें भी अश्व निद्रा लेनेवाले हैं । जिन्होंने सम्पूर्ण परिग्रहको छोड़-
कर नि सगता धारण की है, जो क्षमादि दस प्रकारके धर्मोंमें इतने
तारपर रहते हैं कि मानो स्वयं क्षमादि दशधर्म स्वरूप ही बने हों,
ऐसे सयमी मुनियोंके ऊपर दया करना, उसको धर्मानुकम्पा कहते
हैं । यह अन्त करणमें जम उत्पन्न होती है तब विवेको गृहस्थ यतियों-
को योग्य अन्नजल, निवास, औषधादिक पदार्थ देता है । अपनी
शक्तिका न छिपाकर वह मुनिके उपसर्गको दूर करता है । हे प्रभो !
आज्ञा दीजिए, ऐसी प्रार्थना कर सेवा करता है । यदि कोई मुनि
मागभ्रष्ट होकर दिग्भ्रष्ट हो गये हों तो उनका मार्ग दिखाता है ।
मुनियोंका सयोग प्राप्त होनेमें हम धन्य हैं ऐसा समझकर मनमें
आनन्दित होता है, सभामें उनके गुणोंका कीर्तन करता है । मनमें
मुनियोंको धर्मपिता व गुरु समझता है । उनके गुणोंका चिन्तन सदा
मनमें करता है, ऐसे महात्माओंका फिर कय सयोग होगा ऐसा
विचार करता है, उनका सहवास सदा ही होनेकी इच्छा करता है,
दूसरोंके द्वारा उनके गुणोंका वर्णन सुनकर सन्तुष्ट होता है । इस
प्रकार धर्मानुकम्पा करनेवाला जीव साधुके गुणोंका अनुमादन देन
वाला और उनके गुणोंका अनुकरण करनेवाला होता है । आचार्य
धन्वके तीन प्रकार कहते हैं—अच्छे कार्य स्वयं करना, कराना और
करनेवालोंको अनुमति देना इससे महान् पुण्यास्रव होता है, क्योंकि
महागुणोंमें प्रेम धारण कर जो कृत वार्ति और अनुमोदन प्रवृत्ति
होती है वह महापुण्यको उत्पन्न करता है । २ मिश्रानुकम्पा—महान्
पातकोंके मूल कारण रूप हिंसाद्वेषसे विरक्त हाकर अर्थात् अणुवतो
वनकर सन्तोष और वैराग्यमें तपश्च रहकर जो दिग्विरति, देश-
विरति और अनर्थदृष्टत्याग इन अणुवतोंका धारण करते हैं, जिनके
सेवनसे महादोष उत्पन्न होते हैं ऐसे भागापभोगोंका रयागकर
बाकीके भागोपभोगकी वस्तुओंका जिन्होंने प्रमाण किया है,
जिनका मन पापसे भय युक्त हुआ है पापसे ररकर विशिष्ट देश
और कालकी मर्यादा करि जिन्होंने सर्व पापोंका रयाग किया
है अर्थात् जो सामायिक करते हैं, पर्वोंके दिनमें सम्पूर्ण आरम्भ-
का रयाग कर जा उपवास करते हैं, ऐसे संयतासयत अर्थात् गृहस्थों-
पर जो दया की जातो है उसको मिश्रानुकम्पा कहते हैं । जो जीवोंपर
दया करते हैं परन्तु दयाका पूर्ण स्वरूप जो नहीं जानते हैं, जो जिन-

सूत्रसे बाह्य हैं, जो अन्य पात्रण्डी गुरुकी उपासना करते हैं, नम्र और कष्टदायक कायपलेश करते हैं, इनके ऊपर कृपा करना यह भी मिश्रानुकम्पा है, क्योंकि गृहस्थोंकी एकदेशरूपतासे धर्ममें प्रवृत्ति है, वे सम्पूर्ण चात्रि रूप धर्मका पालन नहीं कर सकते । अन्य जनोंका धर्म मिथ्यात्वसे युक्त है । इस वास्ते गृहस्थ धर्म और अन्य धर्म दोनोंके ऊपर दया करनेसे मिश्रानुकम्पा कहते हैं । ३ सर्वानुकम्पा—सृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टि जन, कुरुष्टि अर्थात् मिथ्यादृष्टि जन यह दोनों भी स्वभावतः मार्दवसे युक्त होकर सम्पूर्ण प्राणियोंके ऊपर दया करते हैं, इस दयाका नाम सर्वानुकम्पा है । जिनके अवयव टूट गये जिनको जलम हुई है जो धोये गये हैं, जो स्पष्ट रूपसे सूटे जा रहे हैं, ऐसे मनुष्योंको देखकर, अपराधी अथवा निरपराधी मनुष्योंको देखकर मानो अपनेको हो दुःख हो रहा हो, ऐसा मानकर उनके ऊपर दया करना यह सर्वानुकम्पा है । हिरण, पक्षी, पेटसे रेंगनेवाले प्राणी, पशु इनको मांसादिक के लिए लोग मारते हैं ऐसा देखकर, अथवा आपसमें उपर्युक्त प्राणी लड़ते हैं और भक्षण करते हैं ऐसा देखकर जो दया उत्पन्न होती है, उसको सर्वानुकम्पा कहते हैं । सूक्ष्म वृधु चींटी बगैरह प्राणी, मनुष्य, ऊँट, गधा, शरभ, हाथी, घोड़ा इत्यादिकोंके द्वारा मर्दित किये जा रहे हैं, ऐसा देखकर दया करनी चाहिए । असाध्य रोग रूपी सर्पसे काटे जानेसे जो दुखी हुए हैं, मैं मर रहा हूँ 'मेरा नाश हुआ' 'हे जन दौड़ो' ऐसा जो दुःखसे शब्द कर रहे हैं, रागोंका जो अनुभव करता है उनके ऊपर दया करनी चाहिए । पुत्र, कलत्र, पत्नी बगैरहसे जिनका वियोग हुआ है, जो रोग पीडासे शोक कर रहे हैं, अपना मस्तक बगैरह जो वेदनासे पीटते हैं, कमाया हुआ धन नष्ट होनेसे जिनको शोक हुआ है, जिनके बान्धव छोड़कर चले गये हैं, धैर्य, शिष्य, विद्या, व्यवसाय इत्यादिके रहित हैं उनको देखकर अपनेको इनका दुःख हा रहा है ऐसा मानकर उन प्राणियोंका स्वस्थ करना, उनको पीडाका उपशम करना यह सर्वानुकम्पा है ।

अनुकृति—ध ११/४, २६, २४६/३४/१२ अनुकृष्टी नाम द्विदि उम्ब-साणट्टणण समणत्तमसमाणत्त च परुवेदि । —अनुकृति अनुयोगद्वार प्रत्येक स्थितिके स्थितिमन्वाध्यवसायस्थानाको समानता य असमानताको मतलाता है ।

अनुकृष्टि—ल सा ४३/७७/४ अनुकृष्टबद्धा एकसमयपरिणामनाना-खण्डसंख्येयम् । —अनुकृष्टिका गच्छ, एक एक समय सम्बन्धी परिणामानि विधे एते एते खण्ड हो हैं ऐसा अर्थ है । (विशेष दे गणित II/६/२) ।

अनुकृष्टि गच्छ आदि—ध गणित II/६/२ ।

अनुकृष्टि चय—दे गणित II/६/२ ।

अनुक्त—मतिज्ञानका एक भेद—दे मतिज्ञान ४ ।

अनुगम—ध ३/१, २/८/६ यथाऽस्त्वबोधो अनुगम केवलश्रुत-केवलिभिरनुगतांशुरूपेणावगमो वा । —वस्तुके अनुरूप ज्ञानको अनुगम कहते हैं । अथवा केवली और श्रुतकेवलियोंके द्वारा परम्परासे आये हुए अनुरूप ज्ञानका अनुगम करते हैं ।

ध ६/४ १, ४४/१४१/६ जन्ति जेण वा वत्तञ्च परुविज्जदि सो अनुगमो । अहियाऽसणिण्णमणिओगहारणा जे अहियारा तेसिमणुगमो त्ति सण्णा जहा वेणणए पदमीमांसादि । अथवा अनुगम्यन्ते जीवादय पदार्थ अनेनेहयनुगम प्रमाणम् । —१ जहाँ या जिसके द्वारा वक्तव्यकी प्ररूपणा की जाती है, वह अनुगम कहनाता है । २ अधिकार संज्ञा युक्त अनुयोगद्वारोंके जो अधिकार होते हैं उनका अनुगम यह नाम है, जैसे—वेदानानुयोगद्वारके पदमीमांसा आदि अनुगम । ३ अथवा जिसके द्वारा जीवादि पदार्थ जाने जाते हैं वह अनुगम अर्थात् प्रमाण कहनाता है ।

ध ६/४ १, ४४/१६२/४ अथवा अनुगम्यन्ते परिच्छिन्नन्त इति अनुगमा पद्धत्याणि त्रिकोटिपरिणामारमकपाण्ड्यविषयविभ्राद्भावस्वरूपाणि

प्राप्तज्ञान्यन्तराणि प्रमाणविषयतया अपसारितदुर्नयानि सविश्वरूपा-नस्तपर्यायसप्रतिपक्षविधिनियतभङ्गात्मकसत्तास्वरूपाणीति प्रति-पत्तयम् । एवमणुगमपरिवर्णना कदा । —अथवा जो जाने जाते हैं इस निरुक्तिके अनुसार त्रिकोटि स्वरूप (द्रव्य, गुण, पर्याय स्वरूप) पापण्ड्योके अविषय भूत अविभ्राद्भाव सम्बन्ध अर्थात् कथञ्चित् तादात्म्य सहित जारयन्तर स्वरूपको प्राप्त, प्रमाणके विषय होनेसे दुर्नयोंको दूर करनेवाले, अपनी नानारूप अनन्त पर्यायोंकी प्रतिपक्ष भूत असत्तासे सहित और उत्पन्न, व्यय, धौव्य स्वरूपसे समुक्त, ऐसे छह द्रव्य अनुगम हैं, ऐसा जानना चाहिए । इस प्रकार अनुगमकी प्ररूपणा की है ।

अनुगामी—अवधिज्ञानका एक भेद—दे अवधिज्ञान १ ।

अनुग्रह—स सि ७/३८/३७ स्वपरोपकाराऽनुग्रह । स्वोपकार पुण्य-संचय, परोपकार सम्यग्ज्ञानादिशुद्धि । —अपना तथा दूसरेका उपकार सो अनुग्रह है । (दान विषे) अपना उपकार तो पुण्य संचय है और परका उपकार सम्यग्ज्ञानादिकी वृद्धि है । (रा बा / ७/३८, १/४४६/१४) ।

रा बा ४/२०, २/२३६/१३ अनुग्रह इष्टप्रतिपादनम् । —इष्ट प्रतिपादन करना अनुग्रह है ।

रा बा ४/१७, ३/४६०/२५ द्रव्याणां शक्त्यन्तराविर्भाव कारणभावोऽनुग्रह उपग्रह इत्याख्यायते । —द्रव्यकी अन्य शक्तियोंके प्रगट होनेमें कारण भावको अनुग्रह या उपग्रह कहते हैं ।

अनुग्रहतत्र नय—दे नय 1/४ ।

अनुजीवी गुण—दे गुण १ ।

अनुत्तर—ध १३/४, ४/२०/२८३/३ उत्तर प्रतिवचनम्, न विद्यते उत्तर यस्य श्रुतस्य तदनुत्तर श्रुतम् । अथवा अधिकश्रुतम्, न विद्यते उत्तरोऽप्यसिद्धान्त अस्मादिरयनुत्तर श्रुतम् । —१ उत्तर प्रतिवचनका दूसरा नाम है, जिस श्रुतका उत्तर नहीं है वह श्रुत अनुत्तर कहलाता है । अथवा उत्तर शब्दका अर्थ अधिक है, इससे अधिक चूँकि अन्य कोई भी सिद्धान्त नहीं पाया जाता इसलिए इस श्रुतका नाम अनुत्तर है । २ कर्षणीते स्वर्गोंका एक भेद—दे स्वर्ग ४/२ ।

अनुत्तरोपपादक—ध १/१, २/१०४/१ अनुत्तरोपपादिका अनुत्तरोपपादिका । —जो अनुत्तरोंमें उपपाद जन्मसे पैदा होते हैं, उन्हें अनुत्तरोपपादिक कहते हैं ।

१ भगवान् वीरके तीर्थमें दश अनुत्तरोपपादकोका निर्देश ध १, २/१४०/२ श्रुपिदास धन्य सुनक्षत्र-कार्तिकेयानन्द-नन्दन-शालि-भद्राभय वारिषेण-चिलातपुत्रा इत्येते दश वर्द्धमानतीर्थकर्त्तरी । —श्रुपिदास धन्य सुनक्षत्र, कार्तिकेय आनन्द नन्दन शालिभद्र, अभय वारिषेण और चिलातपुत्र ये दश अनुत्तरोपपादिक वर्द्धमान तीर्थकरके तीर्थमें हुए हैं ।

अनुत्तरोपपादकदशग—द्रव्यश्रुतज्ञानका नवाँ अंग—दे श्रुत-ज्ञान III ।

अनुत्पत्तिसमाजाति—फ्या सू ४/१/१२/२६२ प्रागुत्पत्ते कारणा-भावादनुत्पत्तिसम ४१२ उत्पत्तिके पहले कारणके न रहनेसे 'अनु-त्पत्तिसम होता है । शब्द अनिरय है प्रयत्नकी कोई आवश्यकता नहीं होनेसे घट की नाई है, ऐसा कहनेपर दूसरा कहता है कि उत्पत्तिके पहले अनुत्पन्न शब्दमें प्रयत्नावश्यकता जो अनिरयत्वकी हेतु है वह नहीं है । उसके अभावमें निरयका होना प्राप्त हुआ और निरयकी उत्पत्ति है नहीं, अनुत्पत्तिके प्रत्यवस्थान होनेसे अनुत्पत्तिसम हुआ । (श्लो वा ४/न्या ३७३/४१/४) ।

अनुत्पादनोच्छेद—दे व्युच्छिन्न ।

अनुत्सेक—स सि ६/२६/३४० विज्ञानादिभिरुत्पत्तस्यापि सतस्त-

रक्तमदविरहोऽनहङ्कारतानुरसेक ।—ज्ञानादिकी अपेक्षा श्रेष्ठ होते हुए भी उसका मदन करना अर्थात् अहंकार रहित होना अनुरसेक है।

अनुदिश—रा वा ४/१६ ५/२२५/१ किमनुदिशमिति । प्रतिदिश-मित्यर्थः । —प्रश्न—अनुदिशसे क्या तात्पर्य है । उत्तर—अनुदिश अर्थात् प्रत्येक दिशामें वर्तमान विमान । अर्थात् जो प्रत्येक आठ दिशाओंमें पाये जायें, वे अनुदिश हैं । क्योंकि अनुदिश विमान एक मध्यमें है तथा दिशाओं व विदिशाओंमें आठ हैं । अतः इन विमानोंको अनुदिश कहते हैं । २ कण्वालीत स्वर्गोंका एक भेद—दे स्वर्ग ५/२ ।

अनुपक्रम—दे काल १ ।

अनुपचरित नय—दे नय V/५ ।

अनुपमा—बरांग च /सर्ग/श्लोक “समूहपुरके राजा धृतिसेनको पुत्री थी (२/११) । बरांगकुमारसे विवाही गयी (२/७७) । अन्तमें दोक्षा धारण कर ली (२६/१४) तथा धार तपश्चरण कर स्वर्गमें वेव हुई (३१/११४) ।

अनुपलब्धि—दे उपलब्धि ।

अनुपसहारी हेत्वाभास—रलो वा ४/न्या २७२/४२५/२२ तथै-वानुपसहारी केवलान्वयिपक्षक । —व्यतिरेक नहीं पाया जाकर जिसका केवल अन्वय ही वर्तता है उसको पक्ष या साध्य बनाकर जिस अनुमानमें हेतु दिये जाते हैं, वे हेतु अनुपसहारी हेत्वाभास हैं ।

अनुपस्थापनापरिहार प्रायश्चित्त—दे परिहार ।

अनुपात—रा वा १/११,६/५२/२४ अनुपात प्रकाशोपदेशादिपर । —अनुपात उपदेशादि पर है ।

रा वा १६/७,१/६००/८ अनुपातानि परमाण्वादीनि । कर्मनोकर्मभावेन आत्मनागृहीतानि । —अनुपात द्रव्य वे परमाणु आदि हैं जो आत्माके द्वारा कर्म व नोकर्म रूपसे ग्रहण किये जाने योग्य नहीं हैं ।

घ १२/४,२,७/२२०/१६६/६ कोऽनुपात । त्रैराशिकम् । —प्रश्न—अनुपात किसे कहते हैं । उत्तर—त्रैराशिकको अनुपात कहते हैं । २ (ज प प्र १२७) Proportion

अनुपालनाशुद्धप्रत्याख्यान—दे प्रत्याख्यान १ ।

अनुप्रेक्षा—किसी बातको पुन-पुन चिन्तन करते रहना अनुप्रेक्षा है । मोक्षमार्गमें वैराग्यकी वृद्धिके अर्थ बारह प्रकारकी अनुप्रेक्षाओंका कथन जैनागममें प्रसिद्ध है । इन्हें बारह वैराग्य भावनाएँ भी कहते हैं । इनके भावनेसे व्यक्ति शरीर व भोगोंसे निर्विण्ण होकर साम्प्रभाषमें स्थिति पा सकता है ।

१ भेद व लक्षण

१ अनुप्रेक्षा सामान्यका लक्षण

२ अनुप्रेक्षाके भेद

३ अनित्यानुप्रेक्षा (निश्चय, व्यवहार)

४ अन्यत्वानुप्रेक्षा (निश्चय, व्यवहार)

५ अशरणानुप्रेक्षा (निश्चय, व्यवहार)

६ अशुचित्वानुप्रेक्षा (निश्चय, व्यवहार)

७ आस्रवानुप्रेक्षा (निश्चय, व्यवहार)

८ एकत्वानुप्रेक्षा (निश्चय, व्यवहार)

९ धर्मानुप्रेक्षा (निश्चय, व्यवहार)

१० निर्जरानुप्रेक्षा (निश्चय, व्यवहार)

११ वोचिदुर्लभानुप्रेक्षा (निश्चय, व्यवहार)

१२ लोकानुप्रेक्षा (निश्चय, व्यवहार)

१३ सवरानुप्रेक्षा (निश्चय, व्यवहार)

१४ ससारानुप्रेक्षा (निश्चय, व्यवहार)

२ अनुप्रेक्षा निर्देश

१ सर्व अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन मव अवसरोपर आवश्यक नहीं

२ एकत्व व अन्यत्व अनुप्रेक्षामें अन्तर

* धर्म ध्यान व अनुप्रेक्षामें अन्तर—दे धर्मध्यान ३ ।

३ आस्रव, सवर, निर्जरा—इन भावनाओंकी सार्थकता

४ वैराग्य स्थिरीकरणार्थ कुछ अन्य भावनाएँ

* ध्यानमें भाने योग्य कुछ भावनाएँ—दे ध्येय ।

३ निश्चय व्यवहार अनुप्रेक्षा विचार

१ अनुप्रेक्षाके साथ सम्यक्त्वका महत्त्व

२ अनुप्रेक्षा वास्तवमें शुभभाव है ।

३ अन्तरंग सापेक्ष अनुप्रेक्षा सवरका कारण है ।

४ अनुप्रेक्षाका कारण व प्रयोजन

१ अनुप्रेक्षाका माहात्म्य व फल

२ अनुप्रेक्षा सामान्यका प्रयोजन

३ अनित्यानुप्रेक्षाका प्रयोजन

४ अन्यत्वानुप्रेक्षाका प्रयोजन

५ अशरणानुप्रेक्षाका प्रयोजन

६ अशुचि अनुप्रेक्षाका प्रयोजन

७ आस्रवानुप्रेक्षाका प्रयोजन

८ एकत्वानुप्रेक्षाका प्रयोजन

९ धर्मानुप्रेक्षाका प्रयोजन

१० निर्जरानुप्रेक्षाका प्रयोजन

११ वोचिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका प्रयोजन

१२ लोकानुप्रेक्षाका प्रयोजन

१३ सवरानुप्रेक्षाका प्रयोजन

१४ ससारानुप्रेक्षाका प्रयोजन

१ भेद व लक्षण

१ अनुप्रेक्षा सामान्यका लक्षण

त सु १६/७ स्वाख्यातवानुचिन्तनमनुप्रेक्षा । —बारह प्रकारसे कहे गये तत्त्वका पुन पुन चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है ।

स सि १६/२४०६ शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा । —शरीरादिके स्वभावका पुन पुन चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है । (रा वा १६/२४१/३४)

स सि १६/२५/८४३ अधिगताथस्य मनसाध्यासोऽनुप्रेक्षा । —जाने हुए अर्थका मनमें अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है । (रा वा १६/२५,३/६२४) (त सा ७/२०) (चा सा १५/२) (अन घ ७/८६/७१५) ।

ध ६/४.९.६६/२६३/१ कम्मजिजरणहमहि-मज्झिमसंन्यास सुवणाणस्स परिमल्लमणुपेखणा णाम । —कम्मको निर्जराके लिए अस्थि-मज्झिमगत अर्थात् पूर्ण रूपसे हृदयगम हृण श्रुतेज्ञानके परिशीलन करीका नाम अनुप्रेक्षा है ।

ध १४/६.६.१४/६६ सुदरथस्स सुदायुसारेण चिन्तनमणुपेहण णाम । —सुने हुए अर्थका श्रुतके अनुसार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है ।

२. अनुप्रेक्षाके भेद

त सू ६/७ अनित्याशरणसमारे करवाय्यराशुच्यासवसंमरनिजराणोक्-
माधिवुत्तभवमस्वरायतातरानुचिन्तनमनुप्रेक्षा ॥७॥ —अनिरय,
अशरण, संसार, एकरव अन्वयव, अनुचित, आराध, समर, निर्जरा, लोक
बोधिवुत्तभ और धर्मस्वरायतातरका मार मार चिन्तन करना
अनुप्रेक्षा है । (भा अ/२) (सू आ/६६२) (रा वा/१.७/१४/४०/१४)
(नं वि/६/४३-४४) (प्र स/१६/१०९) ।

भ आ/सू/१०१६/१६४० अदधुवमसरणमेगमणत्तसारत्तोगमसुद्धत ।
आसवसंवरजिज्जाधम्मं बोधि च चिन्ति ॥ —अभ, अशरण, एकरव,
अन्वयव, संसार, लोक, अनुचित, आराध, समर, निर्जरा, धर्म और
बोधि ऐसे बारह अनुप्रेक्षाओं को चिन्तन करना चाहिए ।

रा वा/६/७.६/६०१/२६ अन्वयव चतुर्धा वयमतिष्ठते—नामस्थापनाद्रव्य-
भावानम्बनेन । —अन्वयव नाम, स्थापना, व्रथ और भावके आश्रय-
से चार प्रकारका है ।

३. अनित्यानुप्रेक्षा—१ निश्चय

भा अ/७ परमद्वेण द्रु आदा देवास्समनुवरायविविहेहि । गदिरित्तो सो
अप्पा सत्सदमिदि चित्तये णिच ॥७॥ —शुद्ध निश्चयनयसे आरमाका
स्वरूप सदैव इस तरह चिन्तन करना चाहिए कि यह देव, असुर,
मनुष्य और राजा आदिके विकल्पोंसे रहित है । अर्थात् इसमें देवादिक
भेद नहीं है—ज्ञानस्वरूप मात्र है और सदा स्थिर रहनेवाला है ।

रा वा/६/७.६/६००/७ उपात्तानुपात्तद्रव्यसंयोगव्यभिचारस्वाभावोऽ-
नित्यत्वम् । —उपात्त और अनुपात्त व्रथ संयोगोंका व्यभिचारी-
स्वभाव अनिरय है ।

प्र स/१६/१६/१०२ सत्सर्वमधुवमिति भावयित्तवम् । तद्वानवासहित-
पुरूपस्य तेषां विधागेऽपि सद्युच्छिष्टेऽप्यय ममरव न भवति तत्र
ममरवाभावाद्विनशरनिजपरमात्मानमेव भेदाभेदरत्नमगभावनाया
भावयति, यादृशमयिनधरमात्मान भावयति तादृशमेवासमानस्तत्त्व-
स्वभावं मुक्तारमान प्राप्नोति । इत्यधुवाप्रेक्षा मता । —(धन रा
आदि) सो सम अनिरय है इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए । उस
भावना सहित पुरुषके उन स्त्री आदिके वियोग होनेपर भी जुड़े
भोजनोंके समान ममरव नहीं होता । उनमें ममरवका अभाव होनेसे
अविनाशी निज परमात्माका ही भेद, अभेद रत्नत्रयको भावना
द्वारा भाता है । जैसी अविनशर आरमाको भाता है वैसी ही अल्प,
अनन्त सुख स्वभाववाली मुक्त आरमाको प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार
अधुव भावना है ।

२ व्यवहार

भा अ/६ जीवणिमद्व देहं खोरोदयमिष विणस्सदे सिग्घ । भागोप-
भोगकारणदव्य णिच कह हादि ॥६॥ —जब क्षीरनोरवत् जीवके साथ
निमज्ज यह शरीर ही शोध नष्ट हो जाता है, तो भोगोपभोगके कारण
यह दूतरे पदार्थ किस तरह निरय हो सकते हैं । (धुधरकृत १२ भावनाएँ)
(श्रीमद्भक्त १२ भावनाएँ) ।

स सि/६/७/४९३ इमानि शरीरेन्द्रियविषयोपभोगद्रव्याणि जनबुद्धबुद्ध-
वदनवस्थितस्वभावानिगर्भादिद्रव्यस्याविशेषेण मदीपलभ्यमानसयोग-
विपर्ययाणि, मोहाद्वैश्रो नित्यता मन्थते । न किंचित्संसारे समुदितं
धमस्ति आरमनो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावाद्वैश्रो नित्यता चिन्तन-
मनुप्रेक्षा । —ये समुदाय रूप शरीर, इन्द्रिय विषय उपभोग और
परिभोग व्रथ जल बुद्धबुद्धके समान अनवस्थित रूप भावनाले होते हैं
तथा गर्भादि अस्थि विषयोंमें सदा प्राप्त होनेवाले संयोगोंसे विपरित

स्वभावयाने होते हैं । मोक्षदा अष्ट प्राणी इनमें निर्गतता। अमुभ
करता है, पर यस्तु आरमाव ही उपयोग और दर्शनोपयोग सिद्ध
इस संगममें कोई भी पदार्थ धुन नहीं है । इस प्रकार चिन्तन करना
अनिरयानुप्रेक्षा है । (भा अ/सू/१०१६-१७०८/१६/२३) (सू आ/६६२-
६६४) (रा वा/६/७.६/६००/६) (नं वि/६ मन्पूर्व) (नं वि/६/४४)
(वा सा/१७८/१) (अन ध/६/४८-४९/४०६) ।

४ अन्यत्यानुप्रेक्षा—१ निश्चय

भा अ/१३ अणं दम गरीरादिमं वि जं होट माहिर दव्य । णाव दमल-
मादा एव चित्तिह अणत्त ॥१३॥ —शरीरादि जो बाह्य हो द्रव्य
है, सो भी सम अपनेमें जुड़ा है और मेरा आरमा ज्ञान दर्शन स्वरूप
है, इस प्रकार अन्तर भावनाका चिन्तन करना चाहिए ।
(भा अ/सू/१०३.३८) (भा ग/१/६) ।

स मि/६/७/२६४ शरीरादम्यरवचिन्तनमम्यरानुप्रेक्षा । तद्यथा मध्य
प्रत्येकत्वे मरगतिनमभेदादम्योऽस्मिन्मध्यमे शरीरमतीन्द्रियोद्गम
शरीर होद्रुमनिर्यं शरीर निराद्रुमापत्तमम्यरमनापत्तयोऽम् ।
महति मे दाराद्रुमापत्तमम्यरमनापत्तमनापत्तमनापत्तमनापत्तम् ।
हम्यरमनापत्तमम्यरमनापत्तमम्यरमनापत्तमम्यरमनापत्तमम्यरमनापत्तम् ।
इत्येवं हारयमा ममादापानम्यरमनापत्तमम्यरमनापत्तमम्यरमनापत्तम् ।
—शरीरमे अम्यरमनापत्तमम्यरमनापत्तमम्यरमनापत्तमम्यरमनापत्तम् । यथा मध्यको
अपेक्षा अभेद होपर भी नगणक भेदमे 'मि अम्य' है शरीर ऐन्द्रियक
है मि अतीन्द्रिय है । शरीर अणु है, मि शाता है । शरीर अनिरय है,
मि निरय है । शरीर आदि अतमाना है और मि अनापत्तमम्यरमनापत्तम् ।
संसारमें परिभ्रमण करते हुए मरे नावो शरीर अर्थात् हो गये हैं ।
उन्में भिन्न मही मि है । इस प्रकार शरीरमें भी जब मि अम्य है तब
है मया । मि बाह्य मम्यरमनापत्तमम्यरमनापत्तमम्यरमनापत्तमम्यरमनापत्तम् । इस
प्रकार मम्यरमनापत्तमम्यरमनापत्तमम्यरमनापत्तमम्यरमनापत्तमम्यरमनापत्तम्
नहीं होती । (भा अ/सू/१-२४) (सू आ/१-८०-८०२) (रा वा/६/७.६/६०१/३९)
(वा सा/१-८०/४) (नं वि/६/२६/२९०) (अन ध/६/६६-
६७/६/६) ।

रा वा/६/७.६/६०१/२६ अम्यर चतुर्धा वयमतिष्ठते—नामस्थापनाद्रव्य-
भावानम्बनेन । आरमा जीव दिति नामभेद षाष्टप्रतिभेति स्थापना-
भेद, जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति द्रव्यभेद एकस्मिन्वि द्रव्ये बासो
युवा मनुष्यो देव इति भावभेद । तत्र मध्य प्रत्येकत्वे जगति मम्यर-
भेदादम्यरमनापत्तम् । —नाम स्थापना द्रव्य और भावके अमनम्बन
भेदमे अन्तर चार मम्यरमनापत्तम् । आरमा जीव इत्यादि सो नाम भेद
या नामोंमें अन्तर है षाष्ट आदिकी प्रतिभाओंमें भेद मा स्थापना
अन्तर है, जीव-अजीव आदि मो प्रतीमें अन्तर है और एक ही
द्रव्यमें मान और युवा, मनुष्य का देह आदिक भेद सा भावोंसे
अन्तर है । मध्य रूपसे एक होते हुए भी नक्षण रूपसे इन सममें भेद
होना मा अन्तर है ।

२ व्यवहार

भा अ/२१ मादाविदरसहादरपुत्तनत्तादिमधुमदीरो । जीवस्स न
समधो णियकज्जसेण वट्ठ ति ॥२१॥ —माता पिता भाई, पुत्र स्त्री,
आदि मनुष्योंका समूह अपने कामके वश सम्बन्ध रखता है, परन्तु
यथार्थमें जीवका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है । अर्थात् ये मम जीवसे
जुड़े हैं ।

धम्मपव/६/१ पुत्ता मरिथ धन मरिथ ददि वानो निहयज्जति । अत्ता हि
अत्तनो नरिथ कत्तो पुत्ता कत्तो धन ॥ —मेरे पुत्र है मेरा धन है ऐसा
अज्ञानीजन कहते हैं । इस संसारमें जब शरीर हो अपना नहीं तब
पुत्र धनादि कैसे अपने हो सकते हैं ।

प्र स/१६/१६/१०८ देहमधुजनसुवर्णार्थेन्द्रियसुखादीनि बर्माधीनत्वे
विनधराणि निजपरमात्मपदार्थोत्तिश्रयचयनेनान्यानि भिज्जानि ।
तेव पुनरारमाप्यन्तो भिग इति । इत्यम्यरवापुप्रेक्षा १ —देह,
मधुजन, सुवर्ण आदि अर्थ और इन्द्रिय सुख आदि कर्मोंके आधीन

होनेसे विनश्वर है। निश्चय नयने निज परमात्म पदार्थसे अन्य है भिन्न है और उनसे आत्मा अन्य है भिन्न है। इस प्रकार अन्यत्वं अनुप्रेक्षा है। (भ आ/मू/१७६४-१७६७/१६४७) (भूधरकृत भावना स ४) (श्रीमद्भक्त १२ भावनाएँ)।

५ अशरणानुप्रेक्षा—१ निश्चय

भा अ/११ जाह्नगरामरणरोगभयदो रक्षेदि अप्पणो अप्पा। जन्हा आदा सरण बंधोदसत्कम्मबदिरित्तो ॥११॥ — जन्म, जरा, मरण, रोग और भय आदिसे आत्मा ही अपनी रक्षा करता है, इसलिए वास्तवमें जो कर्मोंको बन्ध उदय और सत्ता अवस्थासे जुड़ा है, वह आत्मा ही इस ससारमें शरण है। अर्थात् ससारमें अपने आत्माके सिवाय अपना और कोई रक्षा करनेवाला नहीं है। यह स्वयं ही कर्मोंको खिपाकर जन्म जरा मरणादिके कष्टमें बच सकता है। (का अ/३१) (स सा/मू/७४)

का अ/मू/३० दसणणाण-चरित्त मरगं सेवेह परम-मद्भाए। अण्ण कि पि ण सरणं ससारे संसरताणं ॥३०॥ — हे भगवन्। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य शरण है। परम श्रद्धाके साथ उन्हींका सेवन कर। ससारमें भ्रमण करते हुए जीवोंको उनके सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है। (भ आ/मू/१७३६)।

द्र स/टी/३६/१०२-२०३ अथाशरणानुप्रेक्षा कथ्यते—निश्चयरत्नत्रयपरिणतं स्वशुद्धात्मद्रव्यं तद् बहिरङ्गसहकारिकारणभूतं पञ्चपरमेष्ठ्यधाराधनं च शरणम् तस्माद्बहिर्भूत्वा ये बन्धनचक्रमतिमुष्टकाटिगटपुत्रादे-चेतना गिरिदुर्गभूविबरमणिमन्त्राज्ञासाक्षादौपाधाय पुनरचेतनास्तदु-भयारम्भा मिश्राश्च मरणकालादौ महादेव्या व्याघ्रगृहोत्तमृगबालस्येव, महासमुद्रे पोतच्युतपक्षिण इव शरणं न भवन्तीति विज्ञेयम्। तद्वि-श्राय भाग्यकारिणारूपनिदानबन्धादिनिरात्मन्ये स्वसर्ववित्तिसमुत्पन्न-सुखामृतसावलम्ब्ये स्वशुद्धात्मन्येवालम्ब्य कृपा भावनां करोति। यादृशं शरणभूतमार्गमार्गं भावयति तादृशमेव सर्वकालशरणभूत शरणगतवज्रपञ्जरसदृशं निजशुद्धात्मानं प्राप्नोति। इयं शरणानुप्रेक्षा व्याख्याता। — निश्चय रत्नत्रयसे परिणत जो शुद्धात्मद्रव्य और उसकी बहिरङ्ग सहकारो कारणभूत पंचपरमेष्ठियोंको आराधना, यह दोनों शरण हैं। उनसे भिन्न जो देव इन्द्र चक्रवर्ती, सुभट, कोटिभट और पुत्रादि चैतन पदार्थ तथा पर्वत किला, भहरा मणि मन्त्र-तन्त्र, आद्या, महल और औषध आदि अचेतन पदार्थ तथा चैतन-अचेतन मिश्रित पदार्थ ये कोई भी मरणादिके समय शरणभूत नहीं होते जैसे महावनमें व्याघ्र द्वारा पकड़े हुए हिरण्यके बच्चेका अथवा समुद्रमें जहाजसे छूटे पक्षीको कोई शरण नहीं है। अन्य पदार्थोंको अपना शरण न जानकर आगामी भोगोंको आकांक्षा रूपा निदान बन्ध आदिका अवलम्बन न लेकर तथा स्वानुभवमे उपरज सुख रूप अमृतका धारक निज शुद्धात्माका ही अवलम्बन करके, उस शुद्धात्माको भावना करता है। जैसे आत्माको यह शरणभूत भाव है वैसे ही सदा शरण-भूत, शरणमें आये हुएके लिए वज्रके पिंजरेके समान निज शुद्धात्माको प्राप्त होता है। इस प्रकार अशरण अनुप्रेक्षाका व्याख्यान हुआ।

२ व्यवहार

भ आ/मू/१७२६ णसदि मदि उदिण्णे कम्मिणं य तस्स दोसदि उभाओ। अमदपि विसं सच्छं तणं पि गोयं विहंति अरो। — कर्म का उदय आनेपर विचारयुक्त बुद्धि नष्ट होती है अवग्रह इत्यादि रूप मतिज्ञान और आश्रयके उपदेशसे प्राप्त हुआ श्रुतज्ञान इन दोनोंसे मनुष्य प्राणी हित और अहितका स्वरूप जान लेता है। अन्य उपायसे हितहित नहीं जाना जाता है। अज्ञाता वेदनीय कर्मके उदयसे अमृत भी बिप होता है और तृण भी छुरीका काम देता है, मनुष्य भी शत्रु हो जाते हैं। (विस्तार दे भ आ/मू/१७२६-१७४६)

भा अ/८ मणिमतोसहरहस्य इयमग्रहस्यो य समलविज्जाओ। जीवार्ण ण हि सरणं तिसु लोपे मरणसमयमिह ॥८॥ — मरते समय प्राणियोंको तोंनों लोकोंमें मणि, मन्त्र, औषध, रथक, घोड़ा, हाथी, रथ और

जितनी विधाएँ, वे कोई भी शरण नहीं हैं अर्थात् ये सब उन्हें मरनेमें नहीं बचा सकते।

स सि/६/७/४१४ यथा-मृगशावस्यैकान्ते यत्नवत्ता क्षुधितेनामिपि पिणा व्याघ्रेणाभिभूतस्य न किंचिच्छरणमस्ति, तथा जन्मजरामृत्युव्याधि-प्रभृतिव्यसनमध्ये परिभ्रमतो जन्तो शरणं न विद्यते। परिप्लुप्तमपि शरीरं भोजनं प्रति सहायोभर्षति न व्यसनोपनिपाते। यत्नेन संचिंत्वा अर्था अपि न भवान्तरमनुगच्छन्ति। सविभक्तसुखं वा सुहृदोऽपि न मरणकाले परित्रायन्ते। बान्धवा समुद्दिताश्च रुजा परोत न परिपालयन्ति। अस्ति चेत्सुचरितो धर्मो व्यसनमहर्णवे तरणोपायो भवति। मृत्युना नीयमानस्य सहस्रनयनादयोऽपि न शरणम्। तस्माद्भवव्यसनसंकटे धर्म एव शरणं सुहृदर्थोऽप्यनपायी, नान्यकिंचिच्छ-रणमिति भावना अशरणानुप्रेक्षा। — जैसे हिरण्यके बच्चेको अकेलेमें भूखे मांसके अभिलाषी ब वलवान् व्याघ्र द्वारा पकड़े हुएका कुछ भी शरण नहीं है, जैसे जन्म, बुढ़ापा मरण पीड़ा इत्यादि विपत्तिके मोचमें भ्रमते हुए जीवका कोई रक्षक नहीं है। घरावर पोषा हुआ शरीर भी भोजन करते ताई सहाय करनेवाला होता है न कि कष्ट आनेपर। जतन करि इकट्ठा किया हुआ धन भी परलोकको नहीं जाता है। सुख दुःखमें भागी मित्र भी मरण समयमें रक्षा नहीं करते हैं। इकट्ठे हुए कुटुम्बो रोगग्रस्तिका प्रतिपालन नहीं कर सकते हैं। यदि भले प्रकार आचरण किया हुआ धर्म है तो विपत्तिरूपी बड़े समुद्रमें तरणका उपाय होता है। कालकरि ग्रहण किये हुएका इन्द्रादिक भी शरण नहीं होते हैं। इसलिए भस्वरूपी विपत्तिमें या कष्टमें धर्म ही शरण है, मित्र है, धन है, अविनाशी भी है। अन्य कुछ भी शरण नहीं है। इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना सो अशरण अनुप्रेक्षा है। (मू आ/६६६-६६७) (रा वा/६/७,२/६००/१६) (चा सा/१७८/४) (पं वि/६/४६) (अन घ/६/६०-६१/६१२) (द्र स/टी/३६/१०३)।

६ अशुचित्वानुप्रेक्षा—१ निश्चय

भा अ/४६ वेदादो बहिरित्तो कम्मविरहियो अण तसुहणिलयो। चोक्खो हवेह अप्पा इदि णिच्च मावणं कुज्जा ॥४६॥ — वास्तवमें आत्मा देह से जुड़ा है, कर्मोंसे रहित है, अनन्त सुखोंका घर है, इसलिए शुद्ध है, इस प्रकार निरन्तर भावना करते रहना चाहिए। (मो पा/मू/१८) (श्रीमद्भक्त १२ भावनाएँ)।

द्र स/टी/३६/१०६ सप्तधातुमयत्वेन तथा नास्तिकादिनवरन्ध्रद्वारपरि स्वरूपेणाशुचित्ववर्धय भूत्रपुरीषाशुचित्वमलानामुत्पत्तिस्थानत्वाभाशु-चिरयं देह। न केवलमशुचित्वकारणत्वेनाशुचित्व स्वरूपेणाशुच्युत्पादकत्वेन चाशुचित्व। निश्चयेन शुचित्वरूपान्तर परमात्मैव शुचित्व। 'ब्रह्म-चारी सदा शुचित्व' इति वचनात्तथाविधप्रत्यक्षचारिणमेव शुचित्व च कामक्रोधादिरतानां जलस्नानादिशीघ्रेऽपि। विशुद्धात्मनदीस्नान-मेव परमशुचित्वकारणं न च लौकिकगङ्गादितोये स्नानादिकम्। इत्यशुचित्वानुप्रेक्षा गता। — अपवित्र होनेसे, सात धातुमय होनेसे नाकादि नौ छिद्र द्वार होनेसे, स्वरूपसे भी अशुचित्व होनेके कारण तथा यून विष्टा आदि अशुचित्व मलोंकी उत्पत्तिका स्थान होनेसे हो यह देह अशुचित्व नहीं है, किन्तु यह शरीर स्वरूपसे भी अशुचित्व है और अशुचित्व मल आदिका उत्पादक होनेसे अशुचित्व है निश्चयमें अपने आप पवित्र होनेसे यह परमात्मा (आत्मा) ही शुचित्व या पवित्र है। ब्रह्मचारी सदा शुचित्व इस वचनसे पुरातन प्रकारके ब्रह्मचारियों (आत्मा ही में चर्या करनेवाले मुनि)के हो पवित्रता है। जो काम क्रोधादिमें लीन जीव हैं उनके जल स्नान आदि करनेपर भी पवित्रता नहीं है। आत्मारूपी शुद्ध नदीमें स्नान करना हो परम पवित्रताका कारण है, लौकिक गंगादि तीर्थमें स्नान करना नहीं। इस प्रकार अशुचित्व अनुप्रेक्षाका कथन हुआ।

२ व्यवहार

भ आ/मू/१८१३-१८१६ असुहा अथा वामा य हुंति देहो म सवमणु-याणं। एवो चेव सुभा णवरि सवसोकवायरो धम्मो ११८१३

इहलोगियपरलोगियरोसे पुरिसस्म आवहइ निचच । अरयो अणरथ-
मूलं महाभयं सुत्तिपटिपथो ॥१८१४॥ बुजिमकुडिभना लहुपत्तकारया
अप्पकालिया कामा । उबधो लाए बुबलानवा म ग य हुंति से
सुलहा ॥१८१५॥—अथ व वाम पुरुषार्थ तथा सर्व मनुष्याका यह अशुभ
है । एक धर्म ही शुभ है और सर्व सौख्योका दाता है ॥१८१६॥ इस
लोक और परलोकके दोष अर्थ पुरुषार्थसे मनुष्यका भोगन पड़ते हैं ।
अर्थ पुरुषार्थके वश होकर पुरुष अन्याय करता है, चोरी करता है
और राजासे दण्डित होता है और परलोकमें नरकमें नाना सुखों-
का अनुभव लेता है, इसलिये अथ अर्थार्थ धन अनर्थका कारण है ।
महाभयका कारण है, मोक्ष प्राप्तिके लिए यह अलगलके समान प्रति-
बन्ध करता है ॥१८१७॥ यह काम पुरुषार्थ अपवित्र शरीरसे उत्पन्न होता है
इससे आत्मा हल्की होती है, इसकी मयासे आत्मा दुर्गतिमें पहुँच
पाती है, यह पुरुषार्थ अण्कालमें ही उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है ।
और प्राप्त होनेमें कठिन है ।

पा अ ७४ दुग्ध घीभर्य कालमलभरिह अचेयणा सुत्तं । मूढणपट्ठण-
सहाव देहं इदि वितये निचच ॥१८१८॥—यह देह दुर्गन्धमय है, ठराबनी
है, मलसूत्रसे भरी हुई है, जड़ है, मूर्तकी है और क्षीण होनेवाली है
तथा विनाशकी स्वभाववाली है । इस तरह निरन्तर इसका विचार
करते रहना चाहिए ।

स सि ६/७/१६ दारोर्मिदमरयन्ताशुचिनिशुक्रशोणितामुचिचसंयधि-
तमस्वरवदशुचिभाजन रवटमात्रप्रच्छादितमतिपूतिसनियन्दिस्तो-
तोमिलमहारवदात्मभावमाश्रितमप्यारवेषापादयात् । शान्तानुतेपन-
धूपप्रघर्षवासमाश्यादिभिरपि न क्षयमशुचिचत्वमपातुंमस्य । सम्यग्-
दर्शनादि पुनर्भाव्यमान जीवस्यात्यन्तित्वां शुद्धिमाविर्भावयतीति
तत्त्वतोभावनमशुचिचत्वानुप्रेक्षा ।—यह दारोर्मि अत्यन्त अशुचि
पदार्थको योनि है । शुक्र और शोणित रूप अशुचि पदार्थोंसे
बुद्धिके प्राप्त हुआ है, शीघ्रगृहके समान अशुचि पदार्थोंका भाजन
है । स्वचा मात्रसे आच्छादित है । अति दुर्गन्धित रसकी बहानेवाला
करना है । अगर के समान अपने आश्रयमें आवे हुए पदार्थोंको
भी शीघ्र ही नष्ट कर देता है । स्नान, अनुतेपन धूपका मालिश
और सुगन्धित माला आदिक द्वारा भी इसकी अशुचितताका दूर कर
सकना शक्य नहीं है, किन्तु अच्छी तरह भावना किये गये सम्यग्-
दर्शन आदिक जीवकी आर्यान्तक शुद्धिकी प्रगट करते हैं । इस
प्रकार वास्तविक रूपसे चिन्तन करना अशुचि अनुप्रेक्षा है । (भ आ /
मू १/८१६ १८२०) (भा पा /मू ३७-४२) (मू आ /७२० ७२२) (रा वा /
६/७,६/६०२) (चा सा /१६०/६) (प वि/६/६०) (अन घ /६/६८-६६)
स सा नाटक ४ (भूधरकृत भावना म ६) (श्रीमद्भक्त १२ भावनाएँ)
(और भी देखो अशुचिक भेद) ।

७ आसन्नानुप्रेक्षा—१ निश्चय

पा अ ६/० पुव्वपात्तासवभेया निच्छयणयरण णरिथ जीवस्स । उदयासव-
णिम्मपक अप्पाणं वितए निचच ॥६०॥—पुर्वोक्त आसन्न मिथ्यास्व
आदि भेद निश्चय नयसे जीवके नहीं होते हैं । इसलिये निरन्तर ही
आत्माक द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकारके आसन्नवति रहित चिन्तन
करना चाहिए । (स सा /मू ६१) (स सा /आ १७८/क १२०) ।

२ व्यवहार

पा अ ६६ पारंपज्जएण दु आसन्नकिरियाए णरिथ णिव्वानं । संसार-
गमणकारणमिदि णिद आसन्नो जाण ॥६६॥—कर्मोंका आसन्न करने-
वाली क्रियासे परम्परासे भी निर्माण नहीं हो सकता है । इसलिये
संसारमें भटकनेवाले आसन्नका भुटा समझना चाहिए ।

मू आ /७३० धिदो माहस्स सदा जेण हिदरथेण माहिदो सतो । णधि
मुक्कदि जिणवयणं हिदसिवसुहकारणं मय ॥७३०॥—मोहका सदा
काल धिक्कार ह्रा, धिक्कार ह्रा; क्याणि हृदयमें रहनेवाले जिस मोहसे
मोहित हुआ यह जोष हितकारी मोक्ष सुखका कारण ऐसे जिन वचन-
को नहीं पहचानता ।

स सि ६/७/१६ आसन्ना इहामुपायायुक्ता महानदागोतामगतीरणा
इन्द्रियपायावतादय तन्नेन्द्रियाणि साधरूपदर्शयिणि ग । गजनायम-
पन्नागपतद्गहरिणादीन् उयसानां वसमपाहयन्ति तथा यपायादयोऽपीह
वधबन्धावयश परित्येक्षादीन् जनयन्ति । अमुत्र च नानागतिषु बहु-
विधेषु स्वप्नजनितेषु परिश्रमयन्तीत्येवमायवदापानुचिततामायवतनु-
प्रेक्षा—आसन्न इस नाम आर परलोकमें दुःखदायी है । महानदीके
प्रवाहके वेगसे समान तीक्ष्ण है तथा इन्द्रिय, कर्माय प्रोक्त जन्त रूप
है । उनमेंसे स्वर्गादिक इन्द्रियां मनगज कीजा मर् पतद् और
हरिण आदिको दुःखरूप समुद्रमें अवगमन कराती है । कर्माय आदि
भी इस लोकमें, वध, बन्ध अयश आर वनेक्षादिक दुःखोंको उत्पन्न
करते हैं । तथा परलोकमें नाना प्रकारके दुःखोंमें प्रज्वलित नाना
गतिगमिपरिश्रमण कराते हैं । इस प्रकार आयवस दायीका चिन्तन
करना आयवानुप्रेक्षा है । (भ आ /मू/१८०१-१८१५) (स सा /मू/
१६४-१६५) (रा वा /६/० ६/६०/२०) (चा सा /१६१/०) (प वि /६/६१)
(अन घ /६/७० ७१) (भूधरकृत भावना म ७) ।

प्र सं /टी /५/१० इन्द्रियाणि कर्माया पञ्चावतांति पञ्चविंशति-
क्रिया रूपावतांति द्वारे कर्मजनप्रवेष्टे मति गसारगमुद्रे
पातो भवति । न च मुक्तिवेनापत्तन प्राप्नोतीति । एवमासन्नगद-
दोपानुचितनमासन्नानुप्रेक्षा शातयेति ।—पञ्च इन्द्रिय, चार कर्माय
पञ्च अयत और पञ्चास क्रिया रूप आसन्नोक्त द्वारोसे कर्मजनके
प्रवेश हो जानेपर संसारगमुद्रमें पतन होता है । और मुक्तिरूपी बला-
पत्तनकी प्राप्ति नहीं होता । इस प्रकार आसन्नके दायीका पुन पुन
चिन्तन आ आसन्नानुप्रेक्षा जानना चाहिए ।

८ एकत्वानुप्रेक्षा—१ निश्चय

म आ /मू १/१०२-१०५ जो पुण धम्मा जीवेण वदा सम्मत्तचरणमुद-
महयो । सो परनाए जयस्स होइ गुणकारकगहाओ ॥७२३॥ मद्दस्स
बधेण गण रागो देहस्मि हाइ णाणिस्स । विसरित्तसु ण रागो अयेसु
महाभमेसु तथा ॥७२४॥—सम्यग्दर्शन सम्यग्धारित्र और सम्यग्ज्ञान
रूप अर्थात् रत्नत्रय रूप धर्म जो इस जीवने धारण किया था वही
लोकमें इसका वशगण करनेवाला महायक होता है ॥७२५॥ रज्जू
आदिसे बन्धा हुआ पुरा जिम प्रकार उन रज्जू आदि बन्धनोंमें
राग नहीं करता है, वैसे ही ज्ञानी जनोंके शरीरमें स्नेह नहीं होता
है । तथा इसी प्रकार विषके ममान दुःख व महामय प्रदायी अर्थमें
अर्थात् धनमें भी राग नहीं होता है ॥७२५॥

पा अ /७० एककोट निम्ममो सुदो गाणदमणनसवणा । सुद्वेयसुपादेय-
मेव चित्तिह सव्वदा ॥७०॥—मैं अकेला हूँ, ममता रहित हूँ शुद्ध हूँ,
और ज्ञान दर्शन स्वरूप हूँ, इसलिये शुद्ध एकपना ही उपादेय है,
ऐसा निरन्तर चिन्तन करना चाहिए । (स सा /मू /७०) (सामायिक
पाठ अमिगत ७०) (स सा ना /३२) ।

प्र सं /टी /४/१०० निश्चयेन केयनज्ञानमेवैव सहजशरीरम् । न
च सप्तधातुमयोदारित्वाशरीरम् । निजामतत्त्वमेवैव सदा द्वावरत्तं
परमाहितकारी न च पुत्रकलत्रादि । स्वशुद्धात्मपदार्थ एक एवावि-
नश्वरहितकारी परमोर्ध्व न च सुवर्णार्था स्वभावान्नसुखमेवैवैक
सुखं न चाकुलश्रवणादेन्द्रियसुखमिति । स्वशुद्धात्मीकसाहायो
भवति । एवं एकरवभावनाफल द्वावशा निरन्तर निजशुद्धात्मीकरव-
भावना कर्तव्या । इत्येकत्वानुप्रेक्षा गता ।—निश्चयसे केवलज्ञान ही
एक सहज या स्वाभाविक शरीर है, सप्तधातुमयो यह औदारिक
शरीर नहीं । निजाम तत्त्व ही एक सदा द्वावरत्त व परम हितकारी
है, पुत्र कलत्रादि नहीं । स्वशुद्धात्म पदार्थ ही एक अविनश्वर व
परम हितकारी परम धन है, सुवर्णादि रूप धन नहीं । स्वभावान्न
सुख ही एक सुख है, आकुलता उपपादक इन्द्रिय सुख नहीं ।
स्वशुद्धात्मा ही एक साहायी है । इस प्रकार एकरव भावनाका फल
आनन्द निरन्तर शुद्धात्मामें एकरव भावना परनी चाहिए । इस
प्रकार एकरव भावना कहो गयी ।

२ व्यवहार

भा अ/१४ एको करेदि कम्म एको हिंइदि य दोहससारे । एको जामदि मरदि य तस्स फल भजदे ण्णो ॥१४॥ —यह आत्मा अकेला ही शुभाशुभ कर्म बान्धता है, अकेला ही अनादि संसारमें भ्रमण करता है, अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही अपने कर्मों का फल भोगता है, अर्थात् इसका कोई साथी नहीं है । (यू आ/६६६) ।

स सि/६/७४१६ जन्मजरामरणावृत्तिमहादु खानुभवनं प्रति एक एवार्हं न कश्चिन्मे स्व परो वा विद्यते । एक एव जायेऽहम् । एक एव म्रिये । न मे कश्चित् स्वजन परजनो वा व्याधिजरामरणादोनि बु खान्मप-हरति । बन्धुमित्राणि रमशानं नातिवतन्ते धर्म एव मे सहाय सदा अनपायीति चिन्तनमेकस्वानुप्रेक्षा । —जन्म, जरा, मरणकी आवृत्ति रूप महादुःखा अनुभव करनेके लिए अकेला ही मैं हूँ, न कोई मेरा स्व है और न कोई पर है, अकेला ही मैं जन्मता हूँ अकेला ही मरता हूँ । मेरा कोई स्वजन या परजन, व्याधि जरा और मरण आदिके दुःखों का दूर नहीं करता । बन्धु और मित्र रमशानमे आगे नहीं जाते । धर्म ही मेरा कभी साथ न छोड़नेवाला सदाकाल सहायक है । इस प्रकार चिन्तन करना एकस्वानुप्रेक्षा है । (भ आ/१७४७-१७४९) (यू आ/६६६) (रा वा/६/७४/६०१) (चा सा/१७०/२) (प बि/६/४८ तथा सम्पूर्ण अधिकार स ४ श्लोक सं २६) (अन घ/६/६४-६६) (भूधरकृत भावना स ३) (श्रीमद्वक्तृ १२ भावनाएँ) ।

६ धर्मानुप्रेक्षा—१ निश्चय

भा अ/८२ णिच्छयणपणं जेवो सागारणगराधम्मदो भिण्णो । मज्ज-त्थभाषणाए सुद्धप चित्ते णिच्च ॥८२॥ —जोव निश्चय नयसे सागार और अनगर अर्थात् श्रावक और सुनि धमसे मिलकुल जुदा है, इस-लिए राग-द्वेष रहित परिणामोंसे शुद्ध स्वरूप आत्मा ही सदा ध्यान करना चाहिए ।

रा वा/६/७,९०/६०३/२३ उत्तानि जौवस्थानानि गुगस्थानानि च, तेषां गत्यादिषु मार्गणास्थानेषु स्वतत्त्वविचारणालक्षणो धर्मं जिनज्ञासने स्वाख्यात । —पूर्वोक्त जीवस्थानों व गुणस्थानोंका उन गति आदि मार्गणास्थानोंमें अन्वेषण करते हुए स्वतत्त्वको विचारणालक्षणवाला धर्म जिनज्ञासनमें भली प्रकार कहा गया है ।

२ व्यवहार

भा अ/६८,८१ एयारसदसमेय धम्मं सम्मत्तपुब्बय भणिय । सागारण-गाराणं उत्तमसुहसंपणुतेहि ॥६८॥ सावयधम्मं चत्ता जदिधम्मं जो हु वट्टए जौवो । सो ण य वज्जदि भोक्ख धम्म इदि चित्ते णिच्च ॥८१॥ —उत्तम सुखमें लीन जिनदेवने कहा है कि श्रावकों और सुनियोंका धर्म जो कि सम्मत्त सहित होता है क्रमसे ग्यारह प्रकारका और दस प्रकारका है ॥६८॥ जो जीव श्रावक धमको छोड़कर सुनियोंके धर्मका आचरण करता है, वह माक्षको नहीं छोड़ता है, इस प्रकार धर्म भावनाका नित्य ही चिन्तन करते रहना चाहिए ।

स सि/६/७४१६ अयं जिनोपदिष्टा धर्मोऽहिंसा लक्षणं सत्याधिष्ठितो विनयमूल । समाभला ब्रह्मचर्यगुप्त उपशमप्रधानो नियतिलक्षणो निष्परिग्रहसालम्बन । अस्यालाभादनादिसारे जीवा परिभ्रमन्ति दुष्कर्मविपाकज दुःखमनुभवन्त । अस्य पुन प्रतिलम्भे विविधा म्युदयप्राप्तिपुत्रिका निःप्रेमसौलभ्यनियतेति चिन्तनं धर्मस्वाख्या-तस्वानुप्रेक्षा । —जिनेन्द्रदेवने जो अहिंसा लक्षण धर्म कहा है, सरथ उसका आधार है । विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्यसे रक्षित है, उपशमकी उसमें प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है परिग्रह रहितपना उसका आलम्बन है । इसकी प्राप्ति नहीं होनेसे दुष्कर्म विपाकसे जायमान दुःखको अनुभव करते हुए ये जीव अनादि संसारमें परिभ्रमण करते हैं । परन्तु इसका लाभ हानेपर नाना प्रकारके अम्युदयोंकी प्राप्ति पूर्वक माक्षकी प्राप्ति होना निश्चित है, ऐसा चिन्तन करना धर्मस्वाख्यातस्वानुप्रेक्षा है । (भ आ/यू/

१८४७-१८६६) (यू आ/७५०-७५४) (रा वा/६/७,११/६०७) (चा सा/२०१/२) (प बि/६/६६) (अन घ/६/८०/६३३) (भूधरकृत भावना सं १२) ।

प्र सं/टी/३६/१४५ चतुरशीतियोनिनक्षेपु मध्ये दु खानि महमान सत् भ्रमितीत्यं जौवा यदा पुनरेव गुणविशिष्टस्य धर्मस्य लाभो भवति तदा विविधाम्युदयमुख प्राप्य पश्चादभेदरत्नत्रयभावनाना-म्लेनाभयानन्तसुखादिगुणास्पदमहर्षपद सिद्धपदं च लभते तेन कारणेन धर्म एव परमरसरसायन निधिनिधानं कल्पवृक्ष कामधेनुश्चिन्ता-मणिरिति । इति संक्षेपेण धर्मानुप्रेक्षा गता । —चौरासी लाख योनियोंमें दुःखोंको सहते हुए भ्रमण करते हैं म जोवको जब इस प्रकारके पूर्वोक्त धर्मकी प्राप्ति होती है तब वह विविध प्रकारके अम्यु-दय सुखोंको पाकर, तदनन्तर अभेद रत्नत्रयकी भावनाके बलसे अक्षयानन्त सुखादि गुणोंका स्थानभूत अर्हन्तपद और सिद्ध पदको प्राप्त होता है । इस कारण धर्म ही परम रसका रसायन है धर्म ही निधियोंका भण्डार है, धर्म ही कल्पवृक्ष है, कामधेनु है, धर्म ही चिन्ता-मणि है । इस प्रकार संक्षेपसे धर्मानुप्रेक्षा समाप्त हुई । (श्रीमद्वक्तृ १२ भावनाएँ)

१० निर्जरानुप्रेक्षा—१ निश्चय

स सा/यू/१६८ उदयविवागो विविहो कम्मणां वण्णिओ जिणवरेहि । ण तु ते मज्जं सहावा जाणगभावा दु अहमिक्का ॥१६८॥ —कर्मोंके उदयका रस जिनेश्वर देवने अनेक प्रकारका कहा है । वेकर्म विपाकसे हुए भाव मेरा स्वभाव नहीं है । मैं तो एक ज्ञायक भाव स्वरूप हूँ । प्र सं/टी/३६/११२ निजपरमात्मानुभूतिवलेन निर्जरार्थं दृष्टश्रुतानु-भूतभोगार्काक्षादिविभावपरिणामपरिण्यागरूपं सवेगवैराग्यपरिणामै-व र्णत इति । इति निर्जरानुप्रेक्षा गता । —निजपरमात्मानुभूतिके बलमे निजरा करनेके लिए दृष्ट, श्रुत व अनुभूत भोगोंकी आकांक्षादि-रूप विभाव परिणामके रयाग रूप सवेग तथा वैराग्य रूप परिणामों-के साथ रहता है । इस प्रकार निर्जरानुप्रेक्षा समाप्त हुई । (म सा/आ/१६३ उत्पत्तानिका रूप बलश १३३)

२ व्यवहार

भा अ/६७ सा पुणं वुविहा गेया सकालपक्का तवेण कयमाणा । चाटु-गदीण पढमा वयजुत्ताणं हवे विदिया ॥६७॥ —उपरोक्त निर्जरा दो प्रकारकी है—स्वकाल पक्व और सप द्वारा की गयी । इनमेंसे पहली तो चारों गतिवाले जीवोंके होती है और दूसरी केवल व्रतधारी श्रावक वा सुनियोंके होती है । (भूधरकृत भावना स १०) ।

स सि/६/७४१७ निर्जरा वेदनाविपाक इत्युक्तम् । सा द्वेधा-अबुद्धि पूर्वा कुशलमूला चेति । तत्र नरकादिषु गतिषु कर्मफलविपाकजा अबुद्धिपूर्वा सा अकुशलानुबन्धा । परिपहजये कृते कुशलमूला सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति । इत्येवं निर्जराया गुणदोषभावनं निर्जरानुप्रेक्षा । —वेदनाविपाकका नाम निर्जरा है यह पहले कह आये हैं । वह दो प्रकारकी है—अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला । नर-कादि गतिधर्मोंमें कर्मफलके विपाकसे जायमान जो अबुद्धिपूर्वा निर्जरा होती है, वह अकुशलानुबन्धा है । तथा परिपहके जीतनेपर जो निर्जरा होती है, वह कुशलमूला निर्जरा है । वह शुभानुबन्धा और निरनुबन्धा होती है । इस प्रकार निर्जराके गुणदोषोंका चिन्तन करना निर्जरानुप्रेक्षा है । (भ आ/यू/१८४४-१८४६) (यू आ/७४४-७४६) (रा वा/६/७६/६०२/११) (प बि/६/६७) (अन घ/६/७४-७५/६३७) ।

११. बोधिलुल्लभानुप्रेक्षा—१ निश्चय

भा अ/८१-८४ उपपज्जदि सण्णाणं जेण उप्पारणं तस्सुवायस्स । चित्ता हवेहं मोहो अच्चतं दुल्लहं होदि ॥८१॥ कम्मदुयजपज्जाया हेय खाआवसमियणणं खु । सणद्ववसुभादेयं णिच्छयदो हादि सण्णाण ॥८४॥ —जिस उपायमे सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति हो, उस उपायकी चिन्ता करनेको अत्यन्त दुर्लभयाधि भावना कहते हैं, क्योंकि बोधि

अर्थात् सम्पूर्णज्ञानको। पाना अरथात् कठिन है। ८८३। अशुभ निश्चय नयसे क्षाणोपशमिक ज्ञान कर्मोंके उदयसे, जो कि परद्रव्य है, उत्पन्न होता है, इसलिये हेय अर्थात् त्यागने योग्य है और सम्यग्ज्ञान (बोधि) स्वद्रव्य है, अर्थात् आरामाका निज स्वभाव है इसलिये उपादेय है। ८८४।

२ व्यवहार

म सि १/७/४१८ एकस्मिन्निगोतशरीरे जीवा सिद्धानामनन्तगुणा । एव सर्वलोको निरन्तरं निचितं स्थावरैरस्तपत्र प्रसता बालुकासमुद्रे पतितता यप्रमिक्ताकणिकेव दुर्लभा । तत्र च विकलेन्द्रियाणां भ्रूयिष्ठत्वा-स्वच्छेन्द्रियता गुणेषु कृतक्षमेव कृच्छ्रलभ्या । तत्र च तिर्यक्षु पशुमृग-पक्षिसरीसृपादिषु बहुषु मनुष्यभावाश्चसृष्ये रत्नराशिश्च दुरामद । तत्प्रचये च पुनस्तदुपपत्तिर्दग्धतरुपुद्गलतद्भावोपपत्तिश्च दुर्लभा । तद्वत्तत्त्वे च देशकुलेन्द्रियसन्नारागशान्धुत्तरोत्तरतोऽतिदुर्लभानि । सर्वेष्वपि तेषु लब्धेषु सद्धमप्रतिलम्भो यदि न स्याद्दग्धार्थं जन्म वदन-मिव दृष्टिविकलम् । तमेव कृच्छ्रलभ्य धममवाप्य विषयसुखे रञ्जन भस्मात् चन्दनदहनमिव विकलम् । ईश्वरकथिपयसुखस्य तु तपोभावना-धर्मप्रभावनासुखमरणादिलक्षण समाधिर्दूराप । तस्मिन् सति बोधिलाभ फलवात् भवतीति चिन्तन बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा । — एक निगोद शरीरमें सिद्धोंसे अनन्त गुणों जीव है । इस प्रकारके स्थावर जीवोंसे सर्वलोक निरन्तर भरा हुआ है । अतः इस लोकमें त्रस पर्यायका प्राप्त होना इतना दुर्लभ है जितना कि बालुकाके समुद्रमें पड़ो हुई वज्रसिक्ताकी कणिकाका प्राप्त होना दुर्लभ होता है । इसमें भी विकलेन्द्रिय जीवोंकी बहुलता होनेके कारण गुणोंमें जिस प्रकार कृतक्षता गुणका प्राप्त होना बहुत दुर्लभ होता है उसी प्रकार पचेन्द्रिय पर्यायका प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है । उसमें भी पशु, मृग, पक्षी और सरीसृप तिर्यचोंकी बहुलता होती है । इसीलिए जिस प्रकार चौतरफेर रत्नराशिका प्राप्त होना अति कठिन है, उसी प्रकार मनुष्य पर्यायका प्राप्त होना अति कठिन है । और मनुष्य पर्यायके मिलनेके बाद उसके च्युत हो जानेपर पुन उसकी प्राप्ति होना इतना कठिन है जितनी कि जले हुए पुद्गलकोंका पुन उस वृक्ष पर्याय रूपसे उत्पन्न होना कठिन होता है । कदाचित् पुन इसकी प्राप्ति ही जाये तो देश कुल इन्द्रिय सम्पत् और नीरोगता इनका प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है । इन सबके मिल जानेपर भी यदि समीचीन धर्मकी प्राप्ति न हावे तो जिस प्रकार दृष्टिके बिना सुख व्यर्थ होता है उसी प्रकार मनुष्य जन्मका प्राप्त होना व्यर्थ है । इस प्रकार अति कठिनतासे प्राप्त होने योग्य उस धर्मको प्राप्त कर विषय सुखमें रममाण होना भस्मके लिए चन्दनको जलानेके समान निष्फल है । कदाचित् विषय सुखसे विरक्त हुआ तो भी इसके लिए तपकी भावना, धर्मकी प्रभावना और सुखपूर्वक मरण रूप समाधिका प्राप्त होना अतिदुर्लभ है । इसके हानेपर ही बोधिलाभ सफल है, ऐसा विचार करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है । (म आ / मू / १८६६-१८७३) (मू आ / ७४४ ७६२) (ग बा / १७, १६०२) (चा सा / ११८/४) (प वि / ६/४४) (अन घ / ६/ ७८-७९/६११) (भूषरकृत भावना म ११) ।

प्र सं / टी / ३६/१४४ कथंचित् काकतालीयन्यायेन (एते मनुष्यगति आर्यवत्तत्त्वप्रवर्णनादि सर्वे) लब्धेष्वपि तल्लब्धिरूपबोधे फलभूतस्व-शुद्धारमस विषयारमकनिर्मलधर्मध्यानशुद्धध्यानरूप परमसमाधि दुर्लभ । तस्मात् एव निरन्तर भावनीय । सम्यग्दर्शनज्ञान-पारिप्राणामप्राप्तप्रापण बोधिस्तेषामेव निर्विघ्नेन भवान्तरप्रापणं समाधिरिति । एवं संसेपेन दुर्लभानुप्रेक्षा समाप्ता । — यदि काक-तालीयन्यायसे इन मनुष्य गति, आर्यत्व, तत्त्वप्रवर्णनादि सबकी लब्धि हो जाये तो भी इनकी प्राप्ति रूप जो ज्ञान है, उसमें फलभूत जो शुद्धारमाके ज्ञान स्वरूप निर्मल धर्मध्यान तथा शुद्धध्यान रूप परम समाधि है यह दुर्लभ है । इसलिये उसको ही निरन्तर भावना करनी चाहिए । पहले नहीं प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और

सम्यक्स्वार्थिका प्राप्त होना तो बोधि गहलाती है और उन्हीं सम्यग्दर्शनादिकोंको निर्विघ्न अन्य भयमें साथ ले जाना सो समाधि है । ऐसा संसेपसे बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

१२ लोकानुप्रेक्षा—१ निश्चय

बा अ / ४२ अहमेण गिरयतिरिय सुहउपजोगेग दिविजणरमोक्ख । सुद्वेण लहइ सिद्धि एव लोय विविचिउज्जो ॥२२॥ — या जीव अशुभ-विचारोंसे नरक तथा तिर्यग गति पाता है शुभविचारोंसे देवा तथा मनुष्योंके सुख भोगता है और शुद्ध विचारसे मोक्ष प्राप्त करता है, इस प्रकार लोक भावनाका चिन्तन करना चाहिए । (भा पा / मू / ७६, ७७ ८८) (श्रीमद्भूक्त १० भावनाएँ) ।

म आ / वि / १७६८/१६१४/१८ यद्यप्यनेकप्रकारो लोकस्तथापीह लोक शब्देन जीवद्रव्य लोक एवोच्यते । सुत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिप्रमनिरू-णात् । — यद्यपि (नाम, स्थापनादि विषयवर्ति) लोकके अनेक भेद हैं तथापि यहाँ लोक शब्दसे जीव द्रव्य लोक ही ग्राह्य है क्योंकि जीवके धर्म प्रवृत्तिका यहाँ क्रम कहा गया है ।

प्र सं / टी / ३६/१४३ आदिमध्यान्तमुक्ते शुद्धबुद्धैकस्वभावे परमारमनि सकलविमलकेवलज्ञानानोचनार्थो विष्णानोव शुद्धारमादिपदार्थ लोकोच्यन्ते दृश्यन्ते द्वायन्ते परिच्छिद्यन्ते यतस्तेन कारणेन स एव निश्चयलोकस्तस्मिन्निश्चयलोकान्ये स्वकीयशुद्धपरमारमनि अवलोकन या स निश्चयलोक । इति निजशुद्धारमभावानोत्पन्नपरमाह्लादैक-मुत्पत्तस्वादानुभवनेन च या भावना सैव निश्चयलोकानुप्रेक्षा । — आदि, मध्य तथा अन्त रहित शुद्ध, बुद्ध एक स्वभाव तथा परमारम-में पूर्ण विमल केवलज्ञानमयी नेत्र है, उसका द्वारा जैसे दर्पणमें प्रति-मिम्बोंका भान होता है उसी प्रकारसे शुद्धारमादि पदार्थ देखे जाते हैं, जाने जाते हैं । इस कारण यह शुद्धारमा ही निश्चय लोक है अथवा उस निश्चय लोकवाले निज शुद्धपरमारममें जो अवलोकन है वह निश्चय लोक है । इस प्रकार निज शुद्धारमाकी भावनासे उत्पन्न परमाह्लाद सुखरूपी अमृतके आस्वादके अनुभवसे जो भावना हाती है वही निश्चयसे लोकानुप्रेक्षा है ।

२ व्यवहार

मू आ / ७१६ ७१९ तत्थणुवहति जीवा सक्कमणिज्वात्तय सुह दुक्ख । जम्मणमरणपुणव्यमणसम्भवसायरे भीमे । ७१६ आदा य होदि धूदा धूदा मादूत्तण पुण उवेदि । पुरिसोवि तत्थ हरथी पुम च अपुम च होइ जगे ७१७ होऊजे तेयसत्ताधिओ वु बलविरियस्सवसण्णो । जादो बच्चवरे किमिधिगत्थु ससारवासस्स ७१७ विम्भववु लोगधम्मं देवाविय सुरवदीय महधीया । भोत्तण य सुहमत्तल पुणरवि बुवत्तावहा होति ७१८ णाऊजे लोगसार णिस्सार दीहमणसंसार । लोगग-सिहरवासं भाहि पयत्तेण सुहासं ७१९ — इस लोकमें ये जीव अपने कर्मोंसे उपाजन किये सुख-बु-खको भोगते हैं और भयकर इस भन-सागरमें जन्म मरणको बारम्बार अनुभव करते हैं ७१६। इस ससारमें माता है वह पुत्रा हो जाती है पुत्री माता हो जाती है । पुरुष स्त्री हो जाता है और स्त्री पुरुष और नपुंसक हो जाती है ७१६। प्रताप सुन्दरतासे अधिक बल वीर्ययुक्त इनसे परिपूर्ण राजा भी कर्मवश अशुचि (मैले) स्थानमें लट होता है । इसलिये ऐसे ससारमें रहनेको घिक्कार हो ७१७। लोकके स्वभावको घिक्कार हो जिससे कि देव और महात्त आदिवाले इन्द्र अनुपम सुखको भोग कर पश्चात् दुःख भोगनेवाले होते हैं ७१८। इस प्रकार लोकको निस्सार (तुच्छ) जानकर तथा उस ससारको अनन्त जानकर अनन्त सुखका स्थान ऐसे मोक्षका यत्नसे ध्यान कर ७१९।

म आ / मू / १७६८, १८१२ आहिइय पुरिसस्स व इमस्स णीया तहि होति । सब्बे वि इमो पत्तो सध्मे सव्वजीवेहि ॥१७६८॥ विज्जु वि चच्चल फेणुअल बाधिमहिमच्चवुहद । णाणी किह पेच्छंती रमेज्ज दुवल्लुद्धुद लोगं ॥१८१२॥ — एक देशसे दूसरे देशको जानेवाले पुरुषक समान इस जीवको सर्व जगमें अन्धु लाभ होता है, अमुक जीवके साथ

इसका पिता पुत्र वगैरह रूपसे सम्बन्ध नहीं हुआ ऐसा काल ही नहीं था, अब सर्व जीव इसके सम्बन्धी हैं ॥१७८८॥ यह जगत् बिजलीके समान चल है, समुद्रके फेनके समान बलहीन है अर्थात् और मृत्युसे पीड़ित हुआ है। शानी पुरुष इसे तो खोसे भरा हुआ देखकर उसमें कैसी प्रीति करते हैं अर्थात् शानी इस लोकसे प्रेम नहीं करते। इसके ऊपर माध्यस्थभाव रखते हैं।

स सि ॥६७४१८ लोकसंस्थानादिविधिर्व्याख्यात। समन्तादनन्त-स्थालोकाकाशस्य बहुमध्यदेशभाविनो लोकस्य संस्थानादिविधिव्यख्यात। तत्स्वभावानुचिन्तनं लोकानुप्रेक्षा। —लोकका आकार व प्रकृति आदिकी विधि वर्णन कर दी गयी है। अर्थात् चारों ओरसे अनन्त अलोकाकाशके बहुमध्य देशमें स्थित लोकके आकारादिकी विधि बहू दी गयी। उसके स्वभावका अनुचिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है। (मू आ ७११-७१२) (रा बा ६७८/६०) (चा सा १६६/४) (पं वि ६/६४) (अन घ ६/७६ ७७) (भूधरकृत भावना स ५)।

१३ सवरानुप्रेक्षा—१ निम्नय

भा अ ॥६५ जीवस्स ण सवरणं परमदृग्गणं सुद्धभावादो। संवरभाव-विमुक्क अप्पाणं चित्तये णिच्च ॥६५॥—शुद्ध निश्चय नयसे जीवके संवर हो नहीं है इसलिये संवरके विकल्पसे रहित आत्माका निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। (स सा १८९/क १२७)

द्र स ॥टी ३५/१११ अथ संवरानुप्रेक्षा कथ्यते—यथा तदेव जलपात्र छिद्रस्य कम्पने सति जलप्रवेशाभावे निर्विघ्नेन वेनापत्तनं प्राप्नोति। तथा जीवजलपात्रं निजशुद्धात्मसंविचयलेन इन्द्रियायासवच्छिद्राणां कम्पने सति कर्मजलप्रवेशाभावे निर्विघ्नेन केवलज्ञानाद्यनन्त-गुणरत्नपूर्णमुक्तिवेलापत्तनं प्राप्नोति। एवं सवरगतगुणानुचिन्तनं संवरानुप्रेक्षा ज्ञातव्या। —अब सवर अनुप्रेक्षा कहते हैं। वही समुद्रका जहाज अपने छेदोंके यन्द् हो जानेसे जलके न घुसनेमें निर्विघ्न वेलापत्तनकी प्राप्ति हो जाता है। उसी प्रकार जीवरूपी जहाज अपने शुद्ध आत्म ज्ञानके बलसे इन्द्रिय आदि आसवछिद्रोंके मुँह बन्द हो जानेपर कर्मरूपी जल न घुसनेमें केवलज्ञानादि अनन्त गुण रत्नोंसे पूर्ण मुक्तिरूपी वेलापत्तनको निर्विघ्न प्राप्ति हो जाता है। ऐसे सवरके गुणोंके चिन्तन रूप सवर अनुप्रेक्षा जाननी चाहिए।

२ व्यवहार

भा अ ॥६३,६४ सुहजगेण पवित्तिं सवरणं कुंघ द अमुहजोगस्स। सुहजोगस्स णिर हो सुद्धधुवजगेण संभवदि ॥६३॥ सुद्धधुवजगेण पुणो वम्म सुवक च होदि जीवस्स। तम्हा सवरहेदुं फाणो ति विवित्तये णिच्च ॥६४॥—मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्तियोंसे अशुभोपयोगका संवर होता है और केवल आत्माके ध्यान रूप शुद्धोपयोगसे शुभोपयोग का सवर होता है ॥६४॥ इसके पश्चात् शुद्धोपयोगसे जीवके धर्मध्यान और शुद्धध्यान हाते हैं। इसलिये संवरका कारण ध्यान है, ऐसा निरन्तर विचारते रहना चाहिए ॥६४॥

स सि ॥६७४१७ यथा महार्णवे नावो विवरपिधानेऽसति क्रमास्तु तजलाभिल्लवे सति तदाप्रमाणं विनाशोऽवश्यमासी, छिद्रविधाने च निरुपद्रवमभिलपितवेशान्तराप्रमाणं, तथा कर्मणिमद्वारसंवरणे सति नास्ति श्रेय प्रतिबन्ध इति सवरगुणानुचिन्तनं संवरानुप्रेक्षा। —जिस प्रकार महार्णवमें नावके छिद्रके नहीं रुके रहनेपर क्रमसे भिरे हुए जलसे उसके व्याप्त होनेपर उसके आश्रयपर बैठे हुए मनुष्योंका विनाश अवश्यमासी है और छिद्रके रुके रहनेपर निरुपद्रव रूपसे अभिलपित वेशान्तरका प्राप्त होना अवश्यमासी है। उसी प्रकार कर्मणिमद्वारके रुके होनेपर कल्याणका प्रतिषेध नहीं होता। इस प्रकार सवरके गुणोंका चिन्तन करना सवरानुप्रेक्षा है। (भ आ / मू १८८६-१८४४) (मू आ ७३८ ७४३) (रा बा ६७६/६०२/३२) (चा सा १६६/२) (पं वि ६/६२) (अन घ ६/७२ ७३) (भूधरकृत १२ भावनाएँ)।

१४ ससारानुप्रेक्षा—१ निम्नय

भा अ ॥२७ कम्मणिमिच्च जीवा हिंदि ससारधोरकांतारे। जीवस्स ण

ससागे णिच्चयगयकम्मणिमृक्षो ॥२७॥—यद्यपि यह जीव कर्मके निमित्तसे ससार रूपी बड़े भारी वनमें भटकता रहता है, परन्तु निश्चय नयसे यह कर्मसे रहित है और इसीलिये इसका भ्रमण रूप ससारसे काई सम्बन्ध नहीं है।

द्र स ॥टी ३५/१०५ एवं पूर्वोक्तप्रकारेण प्रत्यक्षेत्कालभवाभावरूप पञ्च-प्रकार ससारं भावयतोऽस्य जीवस्य स सारातीतस्वशुद्धात्ममवित्ति-विनाशवेष्टु संसारद्विधकारणेषु मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकपाययोगेषु परिणामो न जायते किन्तु ससागातीतमुत्वात्वादे रतो भूत्वा स्वशुद्धात्मसंविच्छेदो न ससारविनाशक निजनिर्जनपरमार्थमन एव भावनां करोति। ततश्च यादृशमेव परमात्मन भावयति तादृशमेव लब्ध्वा ससारविनश्ये मोक्षेऽनन्तकाल तिष्ठतीति। इति ससारानु-प्रेक्षा गता। —इस प्रकारसे द्रव्य क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पाँच प्रकारके संसारको चिन्तनकरते हुए इस जीवके, संसार रहित निज शुद्धात्म ज्ञानका नाश करनेवाले तथा संसारकी वृद्धिके कारणभूत जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय और योग हैं उनमें परिणाम नहीं जाता, किन्तु वह ससागातीत सुखके अनुभवमें लीन होकर निज शुद्धात्मज्ञानके बलसे संसारको नष्ट करनेवाले निज निर्जन परमात्मामें भावना करता है। तदनन्तर जिस प्रकारके परमात्माको भाता है उसी प्रकारके परमात्माको प्राप्त होकर ससारसे विलक्षण माक्षमें अनन्त काल तक रहता है। इस प्रकार संसारानुप्रेक्षा समाप्त हुई।

२. व्यवहार

भा अ ॥२४ पंचविहे ससारे जाइरामरणरोगभयपठरे। जिणमगमपेष्ठतो जीवो परिभ्रमदि चिरकालं ॥२४॥—यह जीव जिनमार्गकी ओर ध्यान नहीं देता है, इसलिये जन्म, बुढ़ापा, मरण, रोग और भयमें भरे हुए पाँच प्रकारके संसारमें अनादि कालसे भटक रहा है।

स सि ॥६७४१५ कर्मविपाकशदात्मनो भवांतरावाप्तं ससारं। स पुरस्तात्पञ्चविधपरिवर्तनरूपेण व्याख्यात। तस्मिन्मनैकयोनि कुल-कोटियहुशतसहस्रकटे संसारे परिभ्रमन् जीव कर्मयन्त्रप्रेरित पिता भूत्वा भ्राता पुत्र पौत्रश्च भवति। माता भूत्वा भगिनी भार्या दुहिता च भवति। स्वामी भूत्वा दासो भवति। दासो भूत्वा स्वाम्यगि भवति। नट इव रङ्गे। अथवा किं बहुना स्वयमात्मन पुत्रो भवतीत्येवादि संसारस्वभावचिन्तनमनुप्रेक्षा—कर्म विपायके वशसे आत्माको भवांतरकी प्राप्ति होना सो संसार है। उसका पहले पाँच प्रकारके परिवर्तन रूपसे व्याख्यान कर आये हैं। अनेक योनि और कुल कोटिलाखसे व्याप्त उस संसारमें परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मयन्त्रसे प्रेरित होकर पिता होकर भाई पुत्र और पौत्र होता है। माता होकर भगिनी, भार्या और पुत्री होता है। स्वामी होकर दास होता है तथा दास होकर स्वामी भी होता है। जिस प्रकार रङ्गस्थलमें नट नाना रूप धारण करता है उसी प्रकार यह होता है। अथवा बहुत कहनेमें क्या प्रयोजन, स्वय अपना पुत्र होता है। इत्यादि रूपसे संसारके स्वभावका चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है। (भ आ / मू १७६८ १७६७) (मू आ ७०३ ७१०) (रा बा ६७३/६००-६०१) (चा सा १८६/६) (पं वि ६/६४७) (अन घ ६/६२-६५)।

रा बा ६७३/६००/२८ षट्पविधार्थमावस्था—ससार अससार नोससार तत्स्थितव्यवपायस्येति। तत्र संसारक्षतमृष्ट गतिषु नानायोनिविषयसु परिभ्रमणम्। अनागतिसंसारं शिवपदपरमात्मतत्त्वप्रतिष्ठा। नोससारं सयगकेवलिनं चतुर्गतिभ्रमणाभवत् असंसारप्रारब्धा-भावाच्च ईषासंसारो न संसार इति। अयोगकेवलिनं तत्स्थितव्यव-पाय। उभयस्वसामायापेक्षया संसारोऽनाद्यनन्तं भव्यदिदोपा-पेक्षया अनादिपर्यवसानं। (नोससारो जघन्येनान्तर्मुहूर्तं, उत्कृटेन देशोन्पूर्वकोटिलक्ष सादि सपर्यवसानं ससरो जघन्येनान्तर्मुहूर्तं उत्कृटेनार्धपुद्गलपरार्त्तनकालं स च संसारो द्रव्यक्षेत्रकालभवाभाव-भेदात् पञ्चविधो ॥ (चा सा)।—आत्माकी चार अवस्थाएँ होती हैं—ससार, अससार, नोससार और तीनोमें विलक्षण। अनेक योनि

बाली चार गतियामें भ्रमण करना ससार है। शिवपदके परमावृत सुखमें प्रतिष्ठा अससार है। चतुर्गतिमें भ्रमण न होनेसे और मोक्षकी प्राप्ति न होनेसे सयोगकेबलीकी जीवन युक्ति अवस्था ईषव संसार या नोससार है। अयोगकेबली इन तीनोंसे विलक्षण है। अभव्य तथा भव्य सामान्यकी दृष्टिसे ससार अनादि अनन्त है। भव्य विशेषकी अपेक्षा अनादि और उच्छेदवाला है। नोससार सादि और सान्त है। असमार सादि अनन्त है। त्रितय विलक्षणका काल अन्तर्मुहूर्त है। नामसारका जन्म काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट वेशोन एक लाख क्रोड़ पूर्व है। सादि सान्त संसारका जन्म काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अर्द्ध पुद्गल परावतन काल है। ऐसा वह ससार द्रव्य, सेत्र काल भव व भावके भेदसे पाँच प्रकारका है।

श्रीमहराजचन्द्र—बहु पुण्य केरा पुष्प भी शुभ देह मानव नो मश्यो। तोये अरे भय चक्र नो आँटो नहीं एके टलो। —रे आराम तारो। आराम तारो। शोघ एने ओणखो। सर्वराम मां समदृष्टि धौं आ बचनने हृदय लवो। —बहुत पुण्यके उदयसे यह मानवकी उत्तम देह मिली परन्तु फिर भी भवचक्रमें विचित्र हानि न कर सका। अरे ! अब शोघ अपनी आरामाकी पहिचानकर सर्व आरामाओंको समदृष्टिसे देख, ह्रस्व बचनकी हृदयमें रख। (विशेष वे — ससार ३ में पंच परिवर्तन)

२ अनुप्रेक्षा निर्देश

१ सर्व अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन सब अवसरोपर आवश्यक नहीं

अन ध ॥६८३/६३४ इत्येतेषु द्विषेपु प्रवचनद्वगनुप्रेक्षमाणोऽधु वादिष्वद्धा यत्किंचिदन्त करणकरणजिह्वेति य स्वं स्वयं स्वे। उच्चैरुच्चै यदाशाधरमाधिधुराम्मोधिपारासिराजकार्ताथ्यं प्रतकोर्ति प्रतपति स परे स्वैर्गुणैर्लोक्युम्भि ॥—परमाणु ही हैं नेत्र जिसके ऐसा जो मुमुक्षु अधु वादि बारह अनुप्रेक्षाओंमें से गथा रुचि एक अनेक अथवा सभीका तत्त्वतः हृदयमें ध्यान करता है वह मन और इन्द्रिय दोनोंपर विजय प्राप्त करके आराम हो में स्वय अनुभव करने लगता है। तथा जहाँ पर चक्रवर्ती तीर्थकरादि अन्ततोषत पदोंको प्राप्त करनेकी अभिलाषा लगी हुई है ऐसे संसारके दुःख समुद्रसे पार पहुँच कर कृतकृत्यताको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह मुमुक्षु पवित्र यश और बचनोंको धारण करके जोगन्मुक्त बनकर अन्तमें अपने सम्पूर्णदर्शनादि उत्कृष्ट गुणों द्वारा तीन लोकके ऊपर प्रदीप्त होता है।

२. एकत्व व अन्यत्व अनुप्रेक्षासे अन्तर

अन ध ॥६८३/१०८ एकत्वानुप्रेक्षायामेकोऽहमित्यादि विधिधिरूपेण व्याख्यान, अन्यत्वानुप्रेक्षायाम् तु देहादयो मत्सकाशादन्ये मदीया न भवन्तीति निषेधरूपेण। इत्येकत्वानुप्रेक्षायाम् विधिनिषेधरूप एव विशेषस्तरापर्यं तदेव ॥—एकत्व अनुप्रेक्षामें तो 'मैं अकेला हूँ' इत्यादि प्रकारसे विधिरूप व्याख्यान है और अन्यत्व अनुप्रेक्षामें 'देह आदि पदार्थ मुझसे भिन्न हैं ये मेरे नहीं हैं' इत्यादि निषेध रूपसे वर्णन है। इस प्रकार एकत्व और अन्यत्व इन दोनों अनुप्रेक्षाओंमें विधि-निषेध रूपका ही अन्तर है। तत्पर्य दोनोंका एक ही है।

३. आत्मव, सवर, निर्जरा इन भावनाओंकी सार्थकता

अन ध ॥६८३/७६०२ आत्मसवरनिर्जराग्रहणमनर्थकमुक्तत्वादिति चेत्, नतद्गुणदोषान्वेषणपरत्वात् ॥७॥—प्रश्न—आत्मव सवर और निर्जराका कथन पहले प्रकरणोंमें हो चुका है अत यहाँ अनुप्रेक्षा प्रकरणमें इनका ग्रहण करना निरर्थक है। उत्तर—नहीं, उनके दोष विचारनेके निष्पत्ति यहाँ उनका ग्रहण किया है।

४ वैराग्य स्थिरीकरणार्थ कुछ अन्य भावनाएँ

अन ध ॥७१२ जगत्कायस्वभावो वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥—संवेग और वैराग्यके निष्पत्ति जगत्के स्वभाव और शरीरके स्वभावकी भावना करनी चाहिए। (शा ३/२७४)।

अन ध ॥२१/६६ विषयेष्वनभिष्वङ्ग कायसत्त्वानुचिन्तनम्। जगत्स्वभावचिन्त्येति वैराग्यस्यैयं भावना ॥६६॥—विषयोंमें आसक्त न होना, शरीरके स्वरूपका बार-बार चिन्तन करना और जगत्के स्वभावका चिन्तन करना ये वैराग्यको स्थिर रखनेवाली भावनाएँ हैं।

३ निश्चय व्यवहार अनुप्रेक्षा विचार

१ अनुप्रेक्षाके साथ सम्यक्त्वका महत्त्व

अन ध ॥६८३/४१६ तत्तत्तत्त्वज्ञानभावनापूर्वके वैराग्यप्रकर्षे सति आत्यन्तिकस्य मोक्षसुखस्यावाप्तिर्भवति ॥—इससे (अर्थात् शरीर व आत्माके भिन्न रूप समाधानसे) तत्त्वज्ञानकी भावना पूर्वक आत्यन्तिक मोक्ष-सुखकी प्राप्ति होती है।

२ अनुप्रेक्षा वास्तवमें शुभ भाव है

अन ध ॥६४-६६ दृग्बलकामाद्युत्पन्नतत्त्वपश्येत् सत्तणवपसु। ब्रह्मणमुत्पले तत्कारणरूपे बारसणुवेखे ॥६६॥ रम्यतयस्स रुवे अज्जाक्कम्मो दयाइ-सद्धम्मे। इच्चैवमाइगा जो बट्टइ सो होइ सुभभावो ॥६६॥—पचास्ति-काय, छह द्रव्य, सात तत्त्व, नवपदार्थ, मधमोक्षके कारण बारह भावना, रत्नत्रय, आर्जवभाव, क्षमाभाव और सामायिकादि चारित्र्यमय जिन भव्य जीवोंके भाव हैं वे शुभ भाव हैं।

अन ध ॥६१ सुहजोगेसु पवित्री सवरणं कृण्वि अहहजोगस्स। सुहज गस्स णिरोहो सुहजोगेण संभवदि ॥६१॥—मन बचन कायकी शुभ प्रवृत्तियोंसे अशुभ यागका सवर होता है और केवल आरामके ध्यान रूप सुहोपयोगसे शुभय गका सवर होता है।

अन ध ॥६१/१४६ एव वतसमितिगुत्तममद्वादशानुप्रेक्षापरीपहजयचारित्राणं भावसवरकारणभूतानां यद्व्याख्यानं कृतं, तत्र निश्चयरत्नत्रय-साधकव्यवहाररत्नत्रयरूपस्य शुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि बाक्कानि तानि पापासन्नसवरणानि ज्ञातव्यानि। यानि तु व्यवहार-रत्नत्रयसाध्यस्य शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयस्य प्रतिपादकानि तानि पुण्यपापद्वयसवरकारणानि भवन्तीति ज्ञातव्यम् ॥—इस प्रकार मान संवरके कारणभूत वत, समिति, गुप्ति धर्म द्वादशानुप्रेक्षा, परीपहजय और चारित्र, इन सबका जो व्याख्यान किया उसमें निश्चय रत्नत्रयका साधक व्यवहार रत्नत्रय रूप शुभोपयोगके वर्णन करनेवाले जो बाक्क हैं वे पापासन्नके संवरमें कारण जानने चाहिए। जो व्यवहार रत्नत्रयके साध्य शुद्धोपयोग रूप निश्चय रत्नत्रयके प्रतिपादक बाक्क हैं वे पुण्य पाप इन दोनों आवृत्तियोंके सवरके कारण होते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

३ अन्तरंग सापेक्ष अनुप्रेक्षा सवरका कारण है

अन ध ॥६४३/३६१ एवं भावयत माधोर्भवेद्धर्ममहोद्यम। ततो हि निष्प्रमादस्य महात् भवति संवर ॥३६१॥—इस प्रकार (अन्तरंग सापेक्ष) बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करनेसे साधुके धर्मका महात् उद्योत होता है। उससे वह निष्प्रमाद होता है, जिससे कि महात् सवर होता है।

४ अनुप्रेक्षाका कारण व प्रयोजन

१ अनुप्रेक्षाका साहाय्य व फल

अन ध ॥८६ ६० मोक्षवगया जे पुरिसा अणाइकालेण माअणुवेखल। परि-अभिच्छण सम्म पणमामि पुणो पुणो तेसि ॥८६॥ किं पल्लनियेण बहुणा जे निद्धा णरवरा गये काले। सेफुति य जे (भ) विद्या तज्जाणह तस्स माहण ॥८०॥—जो पुरुष इन बारह भावनाओंका चिन्तन करके अनादि कालसे आज तक मोक्षको गये हैं उनको मैं मन, बचन, काय पूर्वक बारम्बार नमस्कार करता हूँ ॥८६॥ इस विषयमें अधिक् कहनेकी जरूरत नहीं है इतना ही बहुत है कि भूतकालमें जितने श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए और जो आगे होंगे वे सब इन्हीं भावनाओंका चिन्तन करनेके हो हुए हैं। हमें भावनाओंका ही महत्त्व समझना चाहिए।

शा/१३/२/५६ विध्याति कपायाग्निर्बिगलति रागो विलीयते ध्वान्तम् ।
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुसां भावनाभ्यासात् ।—इन द्वादश भाव-
नाओंके निरन्तर अभ्यास करनेसे पुरुषोंके हृदयमें कपाय रूप अग्नि
बुझ जाती है तथा पर ब्रह्मोंके प्रति राग भाव गल जाता है और
अज्ञानरूपी अन्धकारका विलय होकर ज्ञानरूप दीपका प्रकाश
होता है ।

प/वि/६/४२ द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः । तद्भावना
भवेत्येव कर्मणः क्षयकारणम् ॥४२॥—महान्मा पुरुषोंको निरन्तर बारहों
अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करना चाहिए । कारण यह है कि उनकी
भावना (चिन्तन) कर्मके क्षयका कारण होती है ।

२. अनुप्रेक्षा सामान्यका प्रयोजन

भ आ/मू/१८७४/१६७६ इय आलमणमणुप्रेक्षाओ धमस्स होति उक्काणस्स ।
उक्काणताणविणस्सदि उक्काणे आलमणेहि मुणी ॥१८७४॥—धर्मध्यानमें
जो प्रवृत्ति करता है उसको ये द्वादशानुप्रेक्षा आधार रूप हैं, अनुप्रेक्षा-
के बलपर ध्याता धर्मध्यानमें स्थिर रहता है, जो जिस वस्तु स्वरूपमें
एकाग्रचित्त होता है वह विस्मरण होनेपर उससे चिगता है, परन्तु
बार-बार उसको एकाग्रताके लिए आलमन मिल जावेगा तो वह नहीं
चिगेगा ।

स सि/६/४१३ कस्मात्क्षमादीनयममलम्बते नान्यथा प्रवर्तत इत्युच्यते
यस्मात्सत्ताय पिण्डवत्क्षमादिपरिणतेनारमहितैषिणा कर्तव्या ।

स/सि/६/७/४१६ मध्ये अनुप्रेक्षावचनमुभयार्थम् । अनुप्रेक्षा हि भाव-
यन्तुत्तमक्षमादीश्च प्रतिपालयति परिपहराश्च जेतुमुत्सहते ।—तथापि
हुए लोहेके गोलेके समान क्षमादि रूपसे परिणत हुए आत्महितकी
इच्छा करने वालोंको ये निम्न द्वादश अनुप्रेक्षा माननी चाहिए ।
बीचमें अनुप्रेक्षाओंका कथन दोनों अर्थके लिए है । क्योंकि अनु-
प्रेक्षाओंका चिन्तन करता हुआ यह जीव उत्तम क्षमादिना ठीक
तरहसे पालन करता है और परिपहोंको जोतनेके लिए उत्साहित
होता है ।

३. अन्तित्यानुप्रेक्षाका प्रयोजन

स सि/६/७/४१४ एव ह्यन्य प्रव्यस्य चिन्तयतस्तेष्वभिप्रेक्षाभावाद्
भुक्तोऽज्झितगन्धमाश्यादिष्विव वियोगकालेऽपि विनिपाते नोपपद्यते ।
—इस प्रकार विचार करनेवाले इस भव्यके उन शरीरादिमें आसक्ति-
का अभाव होनेसे भोग कर छोड़े हुए गन्ध और माला आदिके समान
वियोग कालमें भी सन्तप्त नहीं होता है । (रा वा/६/७/६००/१२) ।
का अ/मू/२२ चङ्खण महामोह विसण मुणिज्जण भगुरे सज्जे । णिव्विसय
कुणह मण जेण सुहं उत्तमं लहइ ॥२२॥—है भव्य जीवों । समस्त
विषयोंको क्षणभंगुर जानकर महामोहको त्यागो और मनका विषयोंके
सुखसे रहित करो, जिससे उत्तम सुखकी प्राप्ति हो । (चा सा/१७८/३) ।

४. अन्यत्वानुप्रेक्षा का प्रयोजन

स सि/६/७/४१६ इत्येव ह्यन्य मन समाधानस्य शरीरादिषु स्पृहा
नोपपद्यते । तस्त्वस्त्वज्ञानभावनापूर्वकवैराग्यप्रकर्षे सति आर्यान्ति-
कस्य मोक्षसुखव्यावाप्तिर्भवति ।—इस प्रकार मनको समाधान युक्त
करनेवाले इसके शरीरादिमें स्पृहा उत्पन्न नहीं होती है और इससे
तत्त्वज्ञानको भावनापूर्वक वैराग्यकी वृद्धि होनेपर आर्यान्तिक मोक्ष-
सुखकी प्राप्ति होती है । (रा वा/६/७/६०२/३) (चा सा/१६०/४) ।
का अ/मू/८७ जो जाणिज्जण वेह जोष सरुवाद दु तच्च चोभण्ण ।
अप्पाणं पि य तेवदि कज्जकर तस्म अण्णस ।—जो आत्मस्वरूपको
यथार्थमें शर से भिन्न जानकर अपनी आत्माका ही ध्यान करता है
उसके अन्यत्वानुप्रेक्षा कार्यकारी है । (चा सा/१८३/३) ।

५. अशरणानुप्रेक्षा का प्रयोजन

स सि/६/७/४१४ एव ह्यस्याध्यावसतो नियमशरणोऽस्मीति भृशमुद्विगल्य
सोनारिकेषु भाविषु ममत्वविगमो भवति । भगवद्वत्सर्वज्ञप्रणीत एव
मार्गं प्रयत्नो भवति ।—इस प्रकार विचार करनेवाले इस जीवके

‘मैं सदा अशरण हूँ’ इस तरह अतिशय उद्विग्न होनेके कारण ससार
के कारण भूत पदार्थोंमें ममता नहीं रहती और वह भगवान् अर्हन्त
सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग ही प्रयत्नशील होता है । (रा वा/६/७/१६००/२६
का अ/मू/३१ अप्पाणं पि य सरणं खमादि-भावोहि परिणदो होदि ।
तिव्वक्सायाविट्ठा अप्पाण हणदि अप्पेण ॥३१॥—आत्माको उत्तम
क्षमादि भावोंसे युक्त करना भी शरण है । जिसकी तीव्र कषाय होती
है वह स्वयं अपना घात करता है । (चा सा/१८०/७) ।

६. अशुचि अनुप्रेक्षाका प्रयोजन

स सि/६/७/४१६ एव ह्यस्य सस्मरत शरीरनिर्वेदा भवति । निर्विण्णश्च
जन्मोदधितरणाय चित्त समाधत्ते ।—इस प्रकार चिन्तन करनेसे
शरीरसे निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर जन्मोदधि को तरनेके
लिए चित्तको लगाता है । (रा वा/६/७/६०२/१७) (चा सा/१६२/६) ।
का अ/मू/८७ जो परवेह्विरत्तो णियदेहे ण य करेदि अणुराय । अप्प
सरुव-सुरत्ता अमुहत्ते भावणा तस्स ।—जा दूसरों के शरीरसे विरक्त
है और अपने शरीरमें अनुराग नहीं करता है तथा आत्मध्यानमें
लीन रहता है उसका अशुचि भावना सफल है ।

७. आलवानुप्रेक्षाका प्रयोजन

स सि/६/७/४१७ एव ह्यस्य चिन्तयत क्षमादिषु श्रेयस्त्वबुद्धिर्न प्रच्यवते ।
सर्व एते आलवदोषा कर्मवरसंवृत्तात्मनो न भवन्ति ।—इस प्रकार
चिन्तन करनेवाले इस जीवके क्षमादिकर्म कषयाय रूप बुद्धिका त्याग
नहीं होता तथा कष्टएके समान जिसने अपनी आत्माको संवृत कर
लिया है उसके ये सब आलवके दोष नहीं होते हैं । (रा वा/६/७/६०३/३०) चा सा/१६४/६) ।

का अ/मू/६४ एवे मोहय भावा जो परिवज्जेइ उवसमे लीणो । हेय ति
मणमाणो आसव जणुवेहण तस्स ॥६४॥—जो मुनि साम्यभावमें लीन
होता हुआ, मोहकर्मके उदयसे होनेवाले इन पूर्वोक्त भावोंका त्यागनेके
योग्य जानकर, उन्हें छोड़ देता है उसीके आलवानुप्रेक्षा है ।

८. एकत्वानुप्रेक्षाका प्रयोजन

स सि/६/७/४१६ एव ह्यस्य भावयत स्वजनपु प्रीत्यनुचन्धो न भवति ।
परजनेषु च द्वेषानुचन्धो नोपजायते । तत्ता नि सङ्गतामभ्युपगतो
मोक्षार्थैव घटते ।—इस प्रकार चिन्तन करते हुए इस जीवके
स्वजनमें प्रीतिका अनुचन्ध नहीं होता और परजनमें द्वेषका
अनुचन्ध नहीं होता इसलिए नि सङ्गताका प्राप्त होकर मोक्षके लिए ही
प्रयत्न करता है । (रा वा/६/७/४१६/२७) (चा सा/१८८/३) ।

का अ/मू/७६ सक्कायेरेण जाणइ एवकं जीव सरीरदा भिन्नं । जम्हि दु
मुणिदे जीवे होदि असेस खणे हेय ॥७६॥—पूरे प्रयत्नसे शरीरसे भिन्न
एक जीवका जानो । उस जीवके जान लेनेपर क्षण भरमें ही शरीर,
मित्र स्त्री, धन, धान्य वगैरह सभी वस्तुएँ हेय हो जाती हैं ।

९. धर्मानुप्रेक्षाका प्रयोजन

स सि/६/७/४१६ एव ह्यस्य चिन्तयतो धर्मानुरागात्सदा प्रतियरनो
भवति ।—इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इस जीवके धर्मानुरागवत्
उसकी प्राप्ति के लिए सदा यत्न होता है । (रा वा/६/७/११६०७/४)
(चा सा/२०७/३) ।

का अ/मू/८३७ इय पच्चवर्ष पेच्छह धम्माधम्माण विविहमाहप्प । धम्म
आगरह मया पावं दूरेण परिहरह ॥८३७॥—हे प्राणियो, इस धर्म और
अधमका अनेक प्रकार माहारम्य देखकर सदा धर्मका आचरण करो
और पापसे दूर हो रहो ।

१०. निर्जरानुप्रेक्षाका प्रयोजन

स सि/६/७/४१७ एव ह्यस्यानुस्मरत कर्मनिर्जरार्यै प्रवृत्तिर्भवति ।—इस
प्रकार चिन्तन करनेवाले हमकी कर्म निर्जराके लिए प्रवृत्ति होती
है । (रा वा/६/७/६०३/३) (चा सा/१६७/२) ।

का अ/मू/११४ जो समभावत्त णिलीणो बारभारं सरेश् अप्पाणं ।
इदिय कसाय विजई तभस एवे णिज्जरा परमा ॥११४॥—जो मुनि

नमता गमने नीन हूय' बार बार आत्माका स्मरण करता है, इन्द्रिय और अणु जितनेवाले उसीके उत्कृष्ट निर्जरा होती है ।

११ बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका प्रयोजन

स नि १६/३/४१६ एन हस्य भावयता बोधि प्राप्य प्रमादो न भवति ।
—इस प्रकार विचार करनेवाले इस जीवके बोधिकी प्राप्त कर सभी प्रमाद नहीं होता । (रा वा १६/३, ६/०३/२२) (वा सा १०१/३) ।
का अ/म/३०१ इय मन्त्रं द्रुनह दुल्ल दमण णाण तहा चरित्त च ।
मुत्तिज ग ममार महायर कुगह तिणं पि १३०१—इस सम्म्यग्दर्शन, सम्मग्नान व सम्मत्चारित्रको संसारकी समस्त दुर्लभ वस्तुओंमें भी समझ जानकर इन तीनोंका अत्यंत आदर करो ।

१२ लोकानुप्रेक्षाका प्रयोजन

म नि १६/३/४१६ एवं हस्य ध्यवस्यतस्तत्त्वज्ञानविशुद्धिर्भवति ।—इस प्रकार लोकानुप्रेक्षा विचारनेवालेके तत्त्वज्ञानकी विशुद्धि होती है ।
(रा वा १६/३ ८/६०१/६) (वा मा १६८/३) ।
का अ/म/१०८३ एतं लोयसह जा कायदि उपसमेवक सम्भावो । सो गतिरय तम्म पज तिरत्तो ग मिहामणो होदि १२८३—जो पुरुष उपदाम गणितामन्वरूप परिणत होकर इस प्रकार लोकके स्वरूपका ध्यान करता है वह सर्वपुण्यको नष्ट करके उसी लोकका शिखामणि होता है ।

१३ सत्यरानुप्रेक्षाका प्रयोजन

म नि १६/३/४१७ एवं हस्य चिन्तयत संवरे निरयोयक्तता भवति ।
तत्तत्त नि मेयमग्न्यामिति ।—इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इस जीवके संसारमें निरन्तर उत्प्लुता होती है और इससे मोक्ष पदकी प्राप्ति होता है ।

१४ संसारानुप्रेक्षाका प्रयोजन

का अ/१८ संसारमदिकृता जीयोवादेशमिदि विचित्तिज्जो । संसार-दुःख तो जोवो तो ऐयमिदि विचित्तिज्जो १३८—जो जीव संसारसे पार हो गया है, वह तो उपादेश अर्थात् ध्यान करने योग्य है ऐसा विचार करना चाहिए और जो संसाररूपी दुःखसे घिरा हुआ है वह ऐसा है ऐसा चिन्तन करना चाहिए ।

म नि १६/३/४१७ एवं हस्य भावयत संसारदुःखयादुश्चिन्तय ततो निर्वेदा भवति । निर्विण्णश्च संसारप्रहाणाय प्रयतते ।—इस प्रकार चिन्तन करने हुए संसारके दुःखके भयसे उद्धिग्न हुए इसके संसारसे निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर संसारका नाश करनेके लिए प्रयत्न करता है (रा वा १६/३, ७/६०१/१७) ।

का अ/म/५० इय संसार जाणिम मोहं सट्ठायेरेण चउऊणं । त आगह स मरुवं संमग्गं जेण पामेद् १७३—इस प्रकार संसारकी जानकारी और सम्मग्ग गत ध्यान आदि समस्त उपायोंसे मोहको शान्त कर अपन उस शुद्ध ज्ञानमय स्वरूपका ध्यान करो, जिससे पाँच प्रकारके संसार-परिभ्रमका नाश होता है ।

अनुभव—मौक्तिक उपमा पारमार्थिक सुख-दुःखके वेदनकी अनुभव कहते हैं । पारमार्थिक आनन्दका अनुभव ही शुद्धात्माका अनुभव है, जो कि योग मार्गमें सर्वप्रधान है । साधककी जपन्य स्थितिसे लेकर उसकी उत्कृष्ट स्थितिगन्त यह अनुभव बराबर तात्तम्य भावमें बढ़ता जाता है और एक दिन उसे वृत्त्यारंभ करता है । इसी विषयका कथन दश अध्यायोंमें किया गया है ।

१ भेद व लक्षण

- १ अनुभवका अर्थ अनुभाष
- २ अनुभवका अर्थ उपभोग
- ३ अनुभवका अर्थ प्रत्यक्षवेदन

४ अनुभूतिका अर्थ प्रत्यक्षवेदन

५ स्वसंवेदन ज्ञानका अर्थ अन्त सुखका वेदन

६ सवित्तिका अर्थ सुखसंवेदन

२ अनुभव निर्वेष्ट

- १ स्वसंवेदन मानस अक्षुब्धदर्शनका विषय है ।
- २ आत्माका अनुभव स्वसंवेदन-द्वारा ही संभव है ।
- ३ अन्य ज्ञेयोंसे शून्य होता हुआ भी सर्वथा शून्य नहीं है ।

४ आत्मानुभव करनेकी विधि ।

* आत्मानुभव व शुक्लध्यानकी एकार्थता—दे पद्धति ।

* आत्मानुभवजन्य सुख ।—दे सुख ।

* परमुखानुभव ।—दे राग ।

३ मोक्षमार्गमें आत्मानुभवका स्थान

- १ आत्माको जाननेमें अनुभव ही प्रधान है ।
- २ पदार्थकी सिद्धि आगमयुक्ति व अनुभवसे होती है ।
- ३ तत्त्वार्थश्रद्धानमें आत्मानुभव ही प्रधान है ।
- ४ आत्मानुभवके बिना सम्म्यग्दर्शन नहीं होता ।
- * शुद्धात्मानुभवका महत्त्व व फल ।—दे उपयोग II/२ ।
- * जो एकको जानता है वही सर्वको जान सकता है ।
—दे श्रुतकेवली २/६ ।

४ स्वसंवेदनज्ञानकी प्रत्यक्षता

- १ स्वसंवेदन द्वारा आत्मा प्रत्यक्ष होता है ।
- २ स्वसंवेदनमें केवलज्ञानवत् आत्मप्रत्यक्ष होता है ।
- ३ सम्म्यग्दृष्टिको स्वात्मदर्शनके विषयमें किसीसे पूछनेकी आवश्यकता नहीं ।
- ४ मति-श्रुतज्ञानकी प्रत्यक्षता व परोक्षताका समन्वय ।
- ५ मति-श्रुतज्ञानकी प्रत्यक्षताका प्रयोजन ।
- * स्वसंवेदन ज्ञानमें विकल्पका कथञ्चित् सद्भाव व असद्भाव ।—दे विकल्प ।
- * मति-श्रुतज्ञानकी पारमार्थिक परोक्षता ।—दे परोक्ष ।
- * स्वसंवेदन ज्ञानके अनेकों नाम हैं ।
—दे मोक्षमार्ग २/६ ।

५ अल्प भूमिकाओंमें आत्मानुभव विषयक चर्चा

- १ सम्म्यग्दृष्टिको म्दानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम अवश्य होता है ।
- २ सम्म्यग्दृष्टिको कथञ्चित् आत्मानुभव अवश्य होता है ।
- * लौकिक कार्य करते भी सम्म्यग्दृष्टिको ज्ञानचेतना रहती है ।—दे सम्म्यग्दृष्टि २ ।
- * सम्म्यग्दृष्टिको ज्ञान चेतना अवश्य होती है ।
—दे चेतना २ ।
- ३ धर्मध्यानमें कथञ्चित् आत्मानुभव अवश्य होता है ।

- ४ धर्मध्यान अल्पभूमिकाओंमें भी यथायोग्य होता है ।
 * पचमकालमें शुद्धानुभव संभव है ।—दे धर्मध्यान ५ ।
 ५ निश्चय धर्मध्यान मुनिको होता है, गृहस्थको नहीं ।
 ६ गृहस्थको निश्चय ध्यान कहना अज्ञान है ।
 ७ साधु व गृहस्थके निश्चय ध्यानमें अन्तर
 * शुभोपयोग मुनिको गौण होता है और गृहस्थको मुख्य ।—दे धर्म ६ ।
 * १-३ गुणस्थान तक अशुभ और ४-६ गुणस्थान तक शुभ उपयोग प्रधान है । —दे उपयोग II/४ ।
 ८. अल्पभूमिकामें आत्मानुभवके सद्भाव असद्भावका समन्वय ।
 * शुद्धात्मानुभूतिके अनेको नाम ।—दे मोक्षमार्ग ३/५ ।
 ६. शुद्धात्माके अनुभव विषयक शका समाधान
 १ अशुद्ध ज्ञानसे शुद्धात्माका अनुभव कैसे करें ।
 २ अशुद्धताके सद्भावमें भी उसकी उपेक्षा कैसे करें ।
 ३. देहसहित भी उसका देहरहित अनुभव कैसे करें ।
 ४ परोक्ष आत्माका प्रत्यक्ष कैसे करें ।
 * मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टिके अनुभवमें अन्तर ।
 —दे मिथ्यादृष्टि ४ ।

१ भेद व लक्षण

१ अनुभवका अर्थ अनुभाग

स सु/८/२१ विपाकोऽनुभव ।—विपाक अर्थात् विविध प्रकारके फल देनेकी शक्तिका (कर्मोंमें) पड़ना ही अनुभव है ।
 देखो विपाक—द्रव्य, क्षेत्र, काल आदिके निमित्तसे उत्पन्न पाक ही अनुभव है ।

२ अनुभवका अर्थ उपभोग

रा वा/३/३७, १६१ अनुभव उपभोगपरिभोगसम्पत् ।—अनुभव उपभोग परिभोग रूप होता है । (स सि/३/२७/२२२) ।

३ अनुभवका अर्थ प्रत्यक्षवेदन

द्र स/टी/४२/१८४ स्वसंवेदनगम्य आरम सुखका वेदन ही स्वानुभव है —दे आगे स्वसंवेदन ।

म्या दो/३/८/६ इदन्तोऽल्लेखिज्ञानमनुभव ।—‘यह है’ ऐसे उल्लेखसे चिह्नित ज्ञान अनुभव है ।

४ अनुभूतिका अर्थ प्रत्यक्षवेदन

स सा/आ/१४/क १३ आरमानुभूतिरिति शुद्धन्यात्मिका या ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बहुधा । आरमानुभूतिनिवेश्य मुनिष्कल्पमेकोऽस्ति निरपमवधोघघन समन्तात् ॥१३॥ —शुद्धनयस्वरूप आरमाको अनुभूति हो ज्ञानकी अनुभूति है । अत आरमामें आरमाको निश्चल स्थापित करके सदा सर्व ओर एक ज्ञानधन आरमा है इस प्रकार देखो ।

प का/ता प्र/३६/७६ चेतनानुभूत्युपलब्धिष्वेदनानामेकार्थत्वात् ।—चेतना, अनुभव, उपलब्धि और वेदना ये एकार्थक हैं ।

प ध पु/६६१-६६२ स्वात्माध्यानाविष्टस्तथेह कश्चिन्नरोऽपिक्लियावत् । अयमहमारमा स्वयमिति स्वात्मानुभविताहमस्य नयपक्ष ॥६६१॥ चिरम-चिरं वा देवात् स एव यदि निर्विकल्पकश्च स्यात् । स्वयमारमस्यनु-

भवनात् स्यादियमारमानुभूतिरिह तावत् ॥६६२॥ —स्वात्मध्यानसे युक्त कोई मनुष्य भी जहाँ तक “मैं ही यह आरमा हूँ और मैं स्वयं ही उसका अनुभव करनेवाला हूँ” इस प्रकारके विकल्पसे युक्त रहता है, तब तक वह नयपक्ष वाला कहा जाता है ॥६६१॥ किन्तु यदि वही देववशसे अधिक या थोड़े कालमें निर्विकल्प हो जाता है, तो ‘मैं स्वयं आरमा हूँ’ इस प्रकारका अनुभव करनेसे यहाँ पर उसी समय आरमानुभूति कही जाती है ।

५ स्वसंवेदनज्ञानका अर्थ अन्तः सुखका वेदन

त अनु/१६१ वेद्यार्थं वेदकत्वं च यत् स्वस्य स्वेन योगिन । तत्स्वसंवेदनं प्रादुरात्मनोऽनुभवं दृश्यम् ॥१६१॥ —‘स्वसंवेदन’ आरमाके उस साक्षात् दर्शनरूप अनुभवका नाम है जिसमें योगी आरमा स्वयं ही ज्ञेय तथा ज्ञायक भावको प्राप्त होता है ।

प प्र/टी/१२ अन्तरात्मलक्षणवीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन । अयं परमात्मस्वभावस्य ज्ञात । —अन्तरात्म लक्षण वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानके द्वारा जो यह परमात्मस्वभाव जाना गया है ।

द्र सं/टी/४१/१७६ रागादिविकल्पोपाधिरहितपरमस्वास्थ्यसंबित्संजातसदानन्दकलक्षणसुखामृतरसास्वाद । —रागादि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित परम स्वास्थ्य लक्षण संबित्ति या स्वसंवेदनसे उत्पन्न सदानन्द रूप एक लक्षण अमृतरसका आस्याद (द्र स/टी/४०/१६३ ४२/१८४) ।

द्र स/टी/४१/१७७ शुद्धोपयोगलक्षणस्वसंवेदनज्ञानेन । —शुद्धोपयोग लक्षण स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा ।

द्र सं/टी/४२/२१ तस्यैव शुद्धात्मनो निरुपाधिसंवेदनलक्षणभेदज्ञानेन मिथ्यात्वरगादिपरभावेभ्यः पृथक्परिच्छेदेन सम्यग्ज्ञानम् । —उसी शुद्धात्माके उपाधिरहित स्वसंवेदरूप भेदज्ञान-द्वारा मिथ्यात्व रागादि परभावोंसे भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है ।

६ सवित्तिका अर्थ सुखसंवेदन

न च/वृ/३६० लक्षणवदोऽप्यिलवले अणुहवयाणस्तस्य ज हवे सोऽर्त्तं । सा संवित्ती भणिया समयवियप्पण णिहण ॥३६०॥ —निजात्माके लक्ष्यसे सकल विकल्पोंको दग्ध करनेपर जो सौम्य होता है उसे संवित्ति कहते हैं ।

२ अनुभव निर्देश

१ स्वसंवेदन मानस अक्षुब्धदर्शनका विषय है

प प्र/टी/२/३४/१६५ अत्र चतुष्टयमध्ये मानसमचक्षुर्दर्शनमारमग्राहक भवति । —चारों दर्शनोंमें से मानस अक्षुब्धदर्शन आरमग्राहक है ।

प ध पु/७११-७१२ तदभिज्ञानं हि यथा शुद्धस्वात्मानुभूतिसमयेऽस्मिन् । स्पृशनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोतं च नोपयोगि मतम् ॥७११॥ केवलमुपयोगि मनस्तत्र च भवतीह तन्मनो द्वेधा । द्रव्यमनो भावमनो नोऽद्वय-नाम किल स्वार्थात् ॥७१२॥ —शुद्ध स्वात्मानुभूतिके समयमें स्पर्शन रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियाँ उपयोगी नहीं मानी जातीं ॥७११॥ तहाँ केवल एक मन ही उपयोगी है और वह मन दो प्रकारका है—द्रव्यमन व भावमन ।

२ आत्माका अनुभव स्वसंवेदन द्वारा ही संभव है

त अनु/१६६-१६७ मोहोन्मिद्याधिया दृश्य रूपादिरहितत्वत् । वितर्का-स्तत्र पर्यन्ति ते ह्यविरूपस्तकणा ॥१६६॥ उभयस्मिन्निरुद्धे तु स्वाद्विरूपस्तमतीन्द्रियम् । स्वमवेधं हि तद्वत् स्वसंविद्यैव दृश्यताम् ॥१६७॥ —रूपादिसे रहित होनेके कारण वह आरमरूप इन्द्रियज्ञानसे दिखाई देनेवाला नहीं है । तर्क करनेवाले उसे देख नहीं पाते । वे अपनी तर्कणमें भी विशेष रूपसे स्पष्ट नहीं हो पाते ॥१६६॥ इन्द्रिय और मन दोनोंके निरुद्ध होनेपर अतीन्द्रिय ज्ञान विशेष रूपसे स्पष्ट होता है । अपना वह जो स्वसंवेदनके गोचर है उसे स्वसंवेदनके द्वारा ही देखना चाहिए । ॥१६७॥

३. अन्य ज्ञेयोंसे शून्य होता हुआ भी सर्वथा शून्य नहीं है

स अ/१६०, १७२ चिन्ताभाषो न जैनानां तुच्छो मिथ्यादृश्यामिव ।
ह्यमोघसाम्यस्वरूपस्य स्वस्य सवेदनं हि स ॥१६०॥ तथा च परमैका-
ग्र्याद्विभक्तिर्येषु सत्स्वपि । अन्यत्र किञ्चनाभाति स्वमेवामनि परयत
॥१७२॥ — चिन्ताका अभाव जैनियों के मतमें अन्य मिथ्यादृष्टियोंके
समान तुच्छाभाव नहीं है क्योंकि यह वस्तुतः दर्शन, ज्ञान और
समतारूप आत्माके सवेदन रूप है ॥१६०॥ उस समाधिकालमें स्वात्मा-
में देखनेवाले योगीकी परम एकाग्रताके कारण बाह्य पदार्थोंके विद्यमान
होते हुए भी आत्माके (सामान्य प्रतिभासके) अतिरिक्त और कुछ भी
प्रतिभासित नहीं होता ॥१७२॥

दे घ्यान ४/६ (आलेख्याकारवत् अन्य ज्ञेय प्रतिभासित होते हैं) — इन
दोनोंका समन्वय दे दर्शन २ ।

४. आत्मानुभव करनेको विधि

स सा/आ/१४४ यत् प्रथमतः श्रुतज्ञानावप्टम्भेन ज्ञानस्वभावारमानं
निश्चयत तत् खण्ड्यात्मन्यातये परम्यातिहेतुनखिला एवेन्द्रियानि-
न्द्रियबुद्धिरवधार्य आत्माभिमुखीकृतमतिज्ञानसत्त्वतः, तथा नाना-
विधनयपक्षालम्बनेनानेकविकल्पैराकुल्यन्ती श्रुतज्ञानयुद्धिरप्यवधार्य
श्रुतज्ञानतत्त्वमप्यारमाभिमुखीकुर्वन्नरयत्समविक्षेपे भूत्वा कगित्येव
स्वरसत एव व्यक्तीभवन्तादिमध्यान्तविमुक्तमनाकुलमेकं केवलसम-
खिलस्यापि विश्वस्योप रत्तरन्तमिवाखण्डप्रतिभासमयमनन्तं विज्ञान
घन परमात्मान समयसारं विन्दन्तीवाम्ना सम्यग्दृश्यते ज्ञायते च ।
— प्रथम श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करके,
और फिर आत्माको प्रसिद्धिके लिए, पर पदार्थोंकी प्रसिद्धिके कारण-
भूत इन्द्रियों और मनके द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियोंकी मयीदामें लेकर
जिसने मतिज्ञान तत्त्वको आत्मसम्मुख किया है, तथा जो नाना
प्रकारके नयपक्षोंके आलम्बनसे होनेवाले अनेक विकल्पोंके द्वारा
आकुलता उपपन्न करनेवाली श्रुतज्ञानकी बुद्धियोंकी भी मयीदामें
साकार श्रुतज्ञान तत्त्वको भी आत्मसम्मुख करता हुआ, अत्यन्त
विकल्प रहित होकर, तत्काल निजरससे ही प्रकट होता हुआ, आदि,
मध्य और अन्तसे रहित, अनाकुल केवल, एक, सम्पूर्ण ही विश्वपर
मानो तैरता हो ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त, विज्ञानघन,
परमात्मारूप समयसारका जब आत्मा अनुभव करता है, तब उसी
समय आत्मा सम्पत्कृत्या दिखाई देता है, और ज्ञात होता है ।

स सा/आ/३८१/क२२३ रागद्वेषविभामुक्तमहसा निर्या स्वभावस्वरूपा,
पूर्वागमिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तादात्म्यादयात् । दूरारूढचरित्र-
वैभवंशलाञ्छितवर्चिर्मयी, विन्दन्ति स्वरसाभिपिक्तयुवनां ज्ञानस्य
संचेतनाम् ॥२२३॥ — जिनका तेज रागद्वेषरूपी विभावसे रहित है,
जो सदा स्वभावको स्पर्श करनेवाले हैं, जो भूतकालके तथा भविष्य-
कालके समस्त कर्मोंसे रहित हैं, और जो वर्तमानकालके कर्मोंद्वारे
भिन्न हैं, वे ज्ञानी अतिप्रमल चारित्रिक वैभवके चलते ज्ञानकी
सचेतनाका अनुभव करते हैं — जो ज्ञान चेतना चमकती हुई चैतन्य
ज्योतिमय है और जिसने अपने रससे समस्त लोककी सीखा है ।

३ मोक्षमार्गमें आत्मानुभवका स्थान

१ आत्माको जाननेमें अनुभव ही प्रधान है

स सा/मू/१६ एवमचित्तवृत्त दारणं अप्पणो सविहवेण । जदि दारणं
पमाणं पुत्तिज्ज छल गेत्तव्वं ॥१६॥ — उस एकव्य विभक्त आत्माको
मैं निजात्माके वैभवसे दिखाता हूँ । यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण
करना और यदि कहूँ चूक जाऊँ तो छल ग्रहण न करना । (स सा/मू/१६)
(पं वि/१/१९०), (प घ/८/६३) (प घ/३/७९) ।

स सा/आ/१६ यदि दर्शेय सदा स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेण परीक्ष्य प्रमाणी-
कर्त्तव्यम् । — मैं जो यह दिखाऊँ उसे स्वयमेव अपने अनुभव प्रत्यक्षसे
परीक्षा करके प्रमाण करना ।

प्र सा/४ प्र/परिशिष्ट/प्रारम्भ ननु कोऽयमारमा कथं चागम्यत इति
चेत् । आत्मा हि तावच्चैतन्यसामान्यव्यापान-तद्धर्माधिष्ठात्रेय द्रव्य-
मनन्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्यैकश्रुतज्ञानलक्षणपूर्वपक्षानुभवप्रतीय-
माणत्वात् । — प्रश्न — यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त किया जाता
है । उत्तर — आत्मा वास्तवमें चैतन्यसामान्यमें व्याप्त अनन्त धर्मोंका
अधिष्ठाता एक द्रव्य है, क्योंकि अनन्त धर्मोंमें व्याप्त होनेवाला जो
एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभवसे प्रमेय
होता है ।

पं का/ठा/२०/४४ तदित्युभूतमारमागमानुमानस्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानात्
शुद्धो भवति । — यह इस प्रकारका यह आत्मा आगम, अनुमान और
स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे शुद्ध होता है ।

२. पदार्थकी सिद्धि आगम, युक्ति व अनुभवसे होती है

सा सा/आ/४४ न खण्ड्यागमयुक्तिस्वानुभववैर्भाषितपक्षत्वात् तदारम-
वादिन परमार्थवादिन । — जो इन अध्ययसानादिको जोष करते
हैं, वे वास्तवमें परमार्थवादी नहीं हैं, क्योंकि आगम, युक्ति और
स्वानुभवसे उनका पक्ष भाधित है । (और भी वे पक्षाभास व
अर्बिचिरकरहेलाभास) ।

३. तत्त्वार्थश्रद्धानमें आत्मानुभव ही प्रधान है

स सा/आ/१९-१८ परं सममेकराध्यवसायेन विमृष्टव्यागममनु-
भूतिरिरयारमज्ञानं नोत्प्लवते तदभावाद्दृष्टातत्त्ववृत्तगमज्ञानसमान-
त्वाच्छ्रद्धानमपि नोत्प्लवते । — परके साथ एकत्रके निश्चयसे मृद
अज्ञानी जनको 'जो यह अनुभूति है वह' मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान उदित
नहीं होता और उसके अभावमें अज्ञातका श्रद्धान गेधेके सींगके समान
है, इसलिए श्रद्धान भी उदित नहीं होता ।

पं घ/उ/४१/२० स्वानुभूतिसनाथश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणा ।
स्वानुभूतिं विनाभासा नाप्यच्छ्रद्दादयो गुणा ॥४१॥ नैवं यत्
समव्याप्ति श्रद्धा स्वानुभवद्वयो । नूनं नानुपलब्धेऽर्थे श्रद्धा खण्डिपाण-
वत् ॥४२॥ — यदि श्रद्धा आदि स्वानुभव सहित हों तो वे सम्पदृष्टि-
के गुण लक्षण कहलाते हैं और वास्तवमें स्वानुभवक विना उक्त श्रद्धा
आदि सम्पददर्शनके लक्षण नहीं कहलाते किन्तु लक्षाभास कहलाते
हैं ॥४१॥ श्रद्धा और स्वानुभव इन दोनोंमें समव्याप्ति है, कारण कि
निश्चयसे सम्पदज्ञानके द्वारा अगृहीत पदार्थमें सम्यक्श्रद्धा खण्डिपाण-
के समान हो ही नहीं सकती ॥४२॥ (सा स/३/६०, ६६) ।

४. आत्मानुभवके विना सम्पददर्शन नहीं होता

र सा/६० गित्यतश्चुवलद्वि विना सम्पत्तुवलद्वि गतिं गित्यमेण ।
सम्पत्तुवलद्वि विना गित्वाण गतिं जिणुद्वि ॥६०॥ — निज तत्त्वोप-
लब्धिके विना सम्पदत्वकी उपलब्धि नहीं होती और सम्पदत्वकी
उपलब्धिके विना निर्वाण नहीं होता ॥६०॥

स सा/आ/१२/६६ एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्यापृत्यदस्यात्मन,
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरस्य पृथक् । सम्पददर्शनमेतदेव
नियतमारमा चत्थानयत्तन्मुपराव नवत्तत्त्वसत्ततिमिमात्मागमेकोऽस्तु
न ॥६॥ — इस आत्माको अन्य द्रव्योंसे पृथक् देखना ही नियमसे
सम्पददर्शन है । यह आत्मा अपने गुण पर्यायोंमें व्याप्त रहनेवाला है
और शुद्ध नयसे एक तत्त्वमें निश्चित किया गया है तथा पूर्ण ज्ञानघन
है । एवं जितना सम्पददर्शन है उतना ही आत्मा है इसलिए इस
नव तत्त्वकी सन्ततिको छोड़कर यह आत्मा एक ही हमें प्राप्त हो ।

४ स्वसवेदनज्ञानकी प्रत्यक्षता

१ स्वसवेदन द्वारा आत्मा प्रत्यक्ष होता है

न च व/१६६ पक्षवतो अणुहवो जम्हा ॥२६६॥ आराधनाकालमें युक्ति
आदिका आलम्बन करना योग्य नहीं, क्योंकि अनुभव प्रत्यक्ष
होता है ।

स अ/१६८ वपुषोऽप्रतिभासेऽपि स्वात-प्रेण चकासती । चेतना ज्ञान-
रूपेय स्वयं दृश्यत एव हि ॥१६८॥ — स्वतन्त्रतासे चमकती हुई यह

ज्ञानरूपी चेतना शरीर रूपसे प्रतिभासित न होनेपर भी स्वयं ही दिखाई पड़ती है ।

प का/ता वृ/१२७/१६० यद्यप्यनुमानेन लक्षणेन परोक्षज्ञानेन व्यवहार-
नयेन धूमादग्निवदशुद्धारमा ज्ञायते तथापि स्वसंवेदनज्ञानसमुत्पन्न
सुखामृतजलेन भरितावस्थानां परमयोगिनां यथा शुद्धारमा प्रत्यक्षो
भवति तथेतराणां न भवति । —यद्यपि अनुमान लक्षण परोक्षज्ञानके
द्वारा व्यवहारनयसे धूमसे अग्निकी भाँति अशुद्धारमा जानी जाती
है, परन्तु स्वसंवेदन ज्ञानसे उत्पन्न सुखामृत जलसे परिपूर्ण परम-
योगियोंको जैसा शुद्धारमा प्रत्यक्ष होता है, वैसा अन्यको नहीं होता ।
(प्र सा/ता वृ) ।

२. स्वसंवेदनमें केवलज्ञानवत् आत्मप्रत्यक्ष होता है

स सा/ता वृ/१६० प्रत्येक गाथा—को विदिदच्छो साहू सपठिकाले
भणिज्जखमिण । पच्चवखमेव दिट्ठ परोक्षवणणे पवट्ठ तं । —वर्त-
मानमें ही परोक्ष ज्ञानमें प्रवर्तमान स्वरूप भी साधुको प्रत्यक्ष
होता है ।

क पा/१/१/३३१/४४ केवलज्ञानस्स ससंवेयणपच्छवणेण णिवाहेणुबल-
भादो । —स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा केवलज्ञानके अक्षरूप ज्ञानकी
निर्धाररूपसे उपलब्धि होती है ।

स सा/आ/१४३ यथा खलु भगवान्केवली विवक्षासितया केवलं
स्वरूपमेव जानाति, न तु नयपक्षं परिगृह्णाति, तथा किल य श्रुत-
ज्ञानात्मकविकल्परप्रयुक्तमनेऽपि परपरिग्रहप्रतिनिवृत्तौ सुखयतया
स्वरूपमेव केवल जानाति, न तु स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वात्
नयपक्षं परिगृह्णाति स खलु निखिलविकल्पेभ्य परतर परमात्मा
ज्ञानारमा प्रत्यक्षोत्तिरात्मव्याप्तिरूपोऽनुभूतिमात्र समयसार ।
—जैसे केवली भगवात् विवक्षे साक्षीपनेके कारण, स्वरूपको ही मात्र
जानते हैं, परन्तु किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते इसी प्रकार
श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होनेपर भी परका ग्रहण करनेके प्रति
उत्साह निवृत्त हुआ होनेसे स्वरूपको ही केवल जानते हैं परन्तु स्वयं
ही विज्ञानघन होनेसे नय पक्षको ग्रहण नहीं करता, वह वास्तवमें
समस्त विकल्पों से पर परमात्मा ज्ञानारमा प्रत्यक्षोत्ति, आत्म-
रपाति रूप अनुभूतिमात्र समयसार है । (और भी वे नय १/३/५-६) ।

स सा/आ/१४/१२ भूतं भात्मममूतमेव भसान्निमित्तमन्ध सुधोर्धयन्त
किल कोऽप्यहो कलयति व्याहृत्य मोहं हठात् । आरमारमानुभवैक-
गम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्वं, निरय कर्मकलहकपडकविकलो देव
स्वयं शाश्वतः ॥२॥ —यदि कोई सुबुद्धि जीव भूत, वर्तमान व
भविष्यत् कर्मके बन्धको अपने आरमासे उत्काल भिन्न करके तथा
उस कर्मोदयके बलसे होने वाले मिथ्यावशको अपने बलसे रोककर
अन्तरंगमें अग्न्यास करे तो यह आरमा अपने अनुभव से ही जानने
योग्य जिसकी प्रगट महिमा है, ऐसा व्यक्त, निरचल, शाश्वत निरय
कर्मकलहसे रहित स्वयं स्तुति करने योग्य देव विराजमान है ।
(स सा/आ/२०३/क २४०) ।

हा ॥३२/४४ सुसंश्रुतेन्द्रियग्रामे प्रसन्ने चान्तरामनि । क्षणं स्फुरति
यत्तत्त्वं तद्वपु परमेष्ठिन ॥४४॥ —इन्द्रियों का संश्लेष करके अन्तरंगमें
अन्तरात्मके प्रसन्न होनेपर जो उस समय तत्त्व स्फुरण होता है,
वही परमेष्ठिका रूप है । (स सा/मृ/१०) ।

स सा/ता वृ/११० इदमारमस्वरूपं प्रत्यक्षमेव मया दृष्टं चतुर्थकाले
केवलज्ञानिवत् । —यह आरम स्वरूप मेरे द्वारा चतुर्थ कालमें केवल-
ज्ञानियोंकी भाँति प्रत्यक्ष देखा गया ।

प्र सा/ता वृ/३३ यथा कोऽपि देवदत्त आदिरयोदयेन दिवसे पश्यति
रात्रौ किमपि प्रदीपेनेति । तथादिरयोदयस्थानीयेन केवलज्ञानेन
दिवसस्थानीयमाक्षेपयमि भगवान्आरमान पश्यति । संसारी विवेकि-
जन पुनर्निश्चास्थानीयससारपथमि प्रदीपस्थानीयेन रागादिविकल्प-
रहितपरमसमाधिना निजारमान पश्यतीति । —जैसे कोई देवदत्त
सूर्योदयके द्वारा दिनमें देखा है और दीपकके द्वारा रात्रिको कुछ

देखता है । उसी प्रकार मोक्ष पर्यायमें भगवात् आरमाको बंधनज्ञानके
द्वारा देखते हैं । संसारी विवेकी जन ससारी पर्यायमें रागादिविकल्प
रहित समाधिके द्वारा निजारमाको देखते हैं ।

नि सा/ता वृ/१२६/क २५३ सर्वज्ञवीतरागव्य स्ववशस्वायय योगिन । प
कामपि भिदां वधापि तां विप्रो हा जहा वयम् ॥२६३॥ —सर्वज्ञ वीत-
रागमें और इस स्ववश योगीमें कहीं कुछ भी भेद नहीं है, तथापि
अरे ! हम जड़ हैं कि उनमें भेद मानते हैं ॥२६३॥

नि सा/ता वृ/१७८/क २६३ भावा पञ्च भवन्ति येषु सतत भाव पर
पञ्चम । स्थायी सत्तिनाशकारणमय सम्यग्दृष्टी गोचर ॥२६७॥
—भाव पाँच हैं, जिनमें यह परम पञ्चम भाव (पारिणामिक भाव)
निरन्तर स्थायी है । संसारके नाशका कारण है और सम्यग्दृष्टियोंके
गोचर है ।

पं घ/घ/२१०,४८६ नातिव्याप्तिरभिज्ञाने ज्ञाने वा सर्ववेदिन । तयो-
संवेदनाभावात् केवल ज्ञानमात्रत ॥२१०॥ अस्ति चात्मपरिच्छेदज्ञानं
सम्यग्दृष्टारमन । स्वसंवेदनप्रत्यक्ष शुद्ध सिद्धास्त्वोपमम् ॥४८६॥
—स्वानुभूति रूप मति-श्रुतज्ञानमें अथवा सर्वज्ञके ज्ञानमें अशुद्धोप-
लब्धिकी व्याप्ति नहीं है क्योंकि उन दोनों ज्ञानोंमें सुख दुःखका
संवेदन नहीं होता है । वे मात्र ज्ञान रूप होते हैं ॥२१०॥ सम्यग्दृष्टि
जीवका अपनी आरमाको जाननेवाला स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञान शुद्ध और
निर्दोषके समान होता है ॥४८६॥

स सा/१४३ प जयच्छत “जब नयपक्षका छोड़ वस्तुस्वरूपको केवल
जानता हो, तब उस कालमें श्रुतज्ञानी भी केवलीकी तरह वीत-
रागके समान ही होता है ।

३. सम्यग्दृष्टिको स्वात्मदर्शनके विषयमें किसीसे पूछनेकी आवश्यकता नहीं

स सा/आ/२०६ आरमतुष्ट्य च वाचामगोचर सौम्य भविष्यति । तत्तु
तरुण एव त्वमेव स्वयमेव द्रष्टव्यसि मा अन्यात् प्राक्षी । —आरमसे
तुम ऐसे तुम्हको बचन अगोचर सुख प्राप्त होगा और उस सुखको उसी
क्षण तू ही स्वयं देखेगा, दूसरोंसे मत पूछ ।

४. मति-श्रुतज्ञानकी प्रत्यक्षता व परोक्षताका समन्वय

स सा/ता वृ/१६० यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया रागादिविकल्परहितस्व-
संवेदनरूपं भावश्रुतज्ञान शुद्धनिश्चयनयेन परोक्षं भण्यते तथापि
इन्द्रियमनोजनितमविकल्पज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षम् । तेन कारणेन आरमा
स्वसंवेदनज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षोऽपि भवति केवलज्ञानापेक्षया पुन
परोक्षोऽपि भवति । सर्वथा परोक्ष एवेति वस्तु नायाति । किंतु
चतुर्थकालेऽपि केवलनि । किमारमान हस्ते गृहीत्वा दर्शयन्ति । तेऽपि
दिव्यध्वनिना भणित्वा गच्छन्ति । तथापि श्रवणकाले आत्तुणां पराक्ष
एव पश्चात्परमसमाधिकाले प्रत्यक्षो भवति । तथा इदानीं कालेऽपीति
भावार्थ । —यद्यपि केवलज्ञानकी अपेक्षा रागादि विकल्परहित स्व-
संवेदनरूप भाव श्रुतज्ञान शुद्ध निश्चयसे पराक्ष कहा जाता है तथापि
इन्द्रिय मनोजनित अविकल्प ज्ञानकी अपेक्षा प्रत्यक्ष है । इस प्रकार
आरमा स्वसंवेदनज्ञानकी अपेक्षा प्रत्यक्ष होता हुआ भी केवलज्ञानकी
अपेक्षा परोक्ष भी है । ‘सर्वथा पराक्ष ही है ऐसा कहना नहीं बनता ।
चतुर्थकालमें क्या कोली भगवात् आरमाको हाथमें लेकर दिखाते हैं ।
वे भी तो दिव्यध्वनिके द्वारा बहकर चले ही जाते हैं । फिर भी सुनने-
के समय जो श्रोताके लिए परोक्ष, वही पीछे परम समाधिकालमें
प्रत्यक्ष होता है । इसी प्रकार वर्तमान कालमें भी समझना ।

पं का/ता वृ/६६/१६६ स्वसंवेदनज्ञानरूपेण यदारमग्राहक भावश्रुत
उत्तरार्थसं यत्पुनर्द्विदशाहचतुर्दशपूर्वरूपपरमागमसंज्ञ तच्च मूर्ति-
युर्गोत्रयपरिच्छिन्नविषये व्याप्तिज्ञानरूपेण परोक्षमपि केवलज्ञान-
सदृशमिदमभिप्राय । —स्वसंवेदन ज्ञानरूपसे आरमग्राहक भाव श्रुतज्ञान
है वह प्रत्यक्ष है और जो बाह्य अंग चौदह पूर्वरूप परमागम नाम-
वाला ज्ञान है वह मूर्त, अमूर्त व उभय रूप अर्थोंके जाननेके विषय-
में अनुमान ज्ञानके रूपमें पराम होता हुआ भी केवलज्ञानसदृश है ।

प्र. स. /टी/ १६/१९ शब्दार्थक श्रुतज्ञान परोक्षमेव तावत् स्वर्गापवर्गादि-
बहिर्विषयपरिच्छित्तिपरिज्ञानं विकल्परूप तदपि परोक्षम् यत्पुनर-
भ्यन्तरे सुखदुःखविकल्परूपोऽहमन्तज्ञानादिरूपोऽहमिति । ततोप-
रपरोक्षम् । यच्च निश्चयभावशुद्धज्ञानं तच्च शुद्धात्माभिमुखसुखसंवित्ति-
स्वरूपं स्वसंविद्याकारेण सविकल्परूपोऽहमन्तज्ञानोऽहमिति तद्वारागादि-
विकल्परूपालारहितत्वेन निर्विकल्परम् । अमेदनयेन तदेवामशब्दवाच्यं
वीतरागसम्यक्चारित्र्याभिनाभूतं केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमपि ससा-
रिणीं क्षायायुक्तज्ञानाभावात् क्षायोपशमिकमपि प्रत्यक्षमभिधीयते ।
अत्राह शिष्य — आद्यो परोक्षमिति तत्त्वार्थसूत्रे मतिश्रुतद्वयं परोक्षं
भणितं तिष्ठति, कथं प्रत्यक्षं भवतीति परिहारमाह — तदुत्तरसंगत्या
नम्, इह पुनरपवादव्याख्यानम्, यदि तदुत्तरसंगत्यायानं न भवति
तर्हि मतिज्ञानं कथं तत्त्वार्थं परोक्षं भणितं तिष्ठति । तर्कशास्त्रेणाव्यव-
हारिकं प्रत्यक्षं कथं जातम् । यथा अपवादव्याख्यानेन मतिज्ञानं
परोक्षमपि प्रत्यक्षज्ञानं तथा स्वात्माभिमुखं भावश्रुतज्ञानमपि परोक्षं
सप्रत्यक्षं भण्यते । यदि पुनरेकान्तेन परोक्षं भवति तर्हि सुखदुःखादि-
संवेदनमपि परोक्षं प्राप्नोति न च तथा । — श्रुतज्ञानो भेदोऽहं
शब्दार्थमश्रुतज्ञानं तो परोक्षं ही है और स्वर्ग मोक्ष आदि बाह्य
विषयोंकी परिच्छित्ति रूप विकल्पात्मक ज्ञान भी परोक्ष ही है । यह
जो अभ्यन्तरमे सुख दुःख के विकल्प रूप या अनन्त ज्ञानादि रूप में
हूँ ऐसा ज्ञान हाता है वह ईश्वरपरोक्ष है । परन्तु जो निश्चय भाव श्रुत-
ज्ञान है वह शुद्धात्माभिमुख स्वसंविद्धि स्वरूप है । यह यद्यपि
संवित्तिके आकार रूपसे सविकल्परूप है, परन्तु इन्द्रिय मनोजनित
रागादि विकल्परूप जालसे रहित होनेके कारण निर्विकल्परूप है । अमेदनय-
से वही ज्ञान आत्मा शब्दसे कहा जाता है । तथा वह वीतराग सम्यक्-
चारित्र्य के विना नहीं होता । वह ज्ञान यद्यपि केवलज्ञानकी अपेक्षा
परोक्ष है तथापि ससारियोंको क्षायायुक्त ज्ञानकी प्राप्ति न होनेसे
क्षायोपशमि कहनेपर भी 'प्रत्यक्ष' बहलता है । प्रश्न—'आद्यो
परोक्षम्' इस तत्त्वार्थसूत्रमें मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानोंको परोक्ष
कहा है, फिर श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है । उत्तर—तत्त्वार्थ-
सूत्रमें उत्तरसंग व्याख्यानकी अपेक्षा कहा है और यहाँ अपवाद
व्याख्यानकी अपेक्षा है । यदि तत्त्वार्थसूत्रमें उत्तरसंगका कथन न होता
तो तत्त्वार्थसूत्रमें मतिज्ञान परोक्ष कैसे कहा गया है । और यदि
सूत्रके अनुसार वह सर्वथा परोक्ष ही होता तो तर्कशास्त्रमें सांख्यव-
हारिक प्रत्यक्ष कैसे हुआ । इसलिए जैसे अपवाद व्याख्यानसे परोक्ष-
रूप भी मतिज्ञानको सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है वैसे ही
स्वामिसन्तुल ज्ञानको भी प्रत्यक्ष कहा जाता है । यदि एकान्ते
मति श्रुत दोनों परोक्ष ही हों तो सुख दुःख आदि का जो संवेदन
होता है वह भी परोक्ष ही होता । किन्तु वह स्वसंवेदन परोक्ष नहीं है ।
प. घ. /पू/ ७०६-७०७ अपि किंचाभिनिर्गोषिष्यो घटैत तदादिम यावत् ।
स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्षं तत्त्वमममिव नान्यत् ॥७०६॥ तदिह द्वैत-
मिदं चिरस्पर्शादिन्द्रियविषयपरिग्रहे । व्योमाद्यवगमकाले भवति
परोक्षं न समक्षमिह नियमात् ॥७०७॥ — स्वात्मानुभूतिके समयमें
मति व श्रुत ज्ञान प्रत्यक्षकी भाँति होनेके कारण प्रत्यक्ष है, परोक्ष
नहीं ॥७०६॥ स्पर्शादि इन्द्रियके विषयोंको ग्रहण करते समय और
आकाशादि पदार्थोंको विषय करते समय ये दोनों ही परोक्ष हैं प्रत्यक्ष
नहीं । (प. घ. /उ/ ४६०-४६२) ।

रहस्यपूर्ण चिह्नीयं टोहरमल—“अनुभवमें आत्मा तो परोक्ष
ही है ।—परन्तु स्वरूपमें परिणाम मग्न होते जो स्वात्मानुभव हुआ वह
स्वात्मानुभवप्रत्यक्ष है स्वयं ही इस अनुभवका रसास्वाद वेदे है ।

५ मति-श्रुतज्ञानकी प्रत्यक्षताका प्रयोजन

प. का. /ता. वृ./ ४३/८६ निर्विकारशुद्धात्मानुभूतयभिमुखं यम्मतिज्ञानं तवेवो-
पादेयभूतानन्तसुखसाधकशक्तिश्रमेणापादेयं तत्साधकं बहिरङ्गं पुन-
र्यवहारेणेति तात्पर्यम् । अमेदरत्नचर्यात्मक यज्ञावश्रुत तदेवोपादेय-
भूत परमात्मतत्त्वसाधकशक्तिश्रमेणापादेयं, तत्साधकं बहिरङ्गं तु

व्यवहारेणेति तात्पर्यम् । — निर्विकार शुद्धात्मानुभूतिके अभिमुख जो
मतिज्ञान है वही उपादेयभूत अनन्त सुखका साधक होनेसे निश्चयसे
उपादेय है और उसका साधक बहिरङ्ग मतिज्ञान व्यवहारेसे उपादेय
है । इसी प्रकार अमेद रत्नचर्यात्मक जो भाव श्रुतज्ञान है वही उपा-
देयभूत परमात्मतत्त्वका साधक होनेसे निश्चयसे उपादेय है और
उसका साधक बहिरङ्ग श्रुतज्ञान व्यवहारेसे उपादेय है, ऐसा
तात्पर्य है ।

५ अल्प भूमिकाओमें आत्मानुभव विषयक चर्चा

१ सम्यग्दृष्टिको स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम अवश्य होता है

घ. प. /उ/ ४०७, ८६६ हेतुस्तत्रापि सम्यक्त्वावपत्तिकालेऽस्ययशसः ।
सज्ज्ञानावरणस्योच्चैरस्ययशस्यतातर स्यत ॥८०७॥ अवश्यं सति
सम्यक्त्वे तद्व्यावर्णक्यति ॥८६६॥ — सम्यक्त्वके होनेपर नियम-
पूर्वक संधि रूप स्वानुभूतिके रहनेमें कारण यह है कि सम्यक्त्वकी
उत्पत्तिके समय अवश्य ही स्वयं स्वानुभूत्यावरण कर्मका भी यथा-
योग्य क्षयोपशम होता है ॥८०७॥ सम्यक्त्व होते ही स्वानुभूत्यावरण
कर्मका नाश आग्य होता है ॥८६६॥

२. सम्यग्दृष्टिको कथञ्चित् आत्मानुभव अवश्य होता है

स. सा. /पू/ १४ जो पस्मदि अपाण अमृदुष्ट अण्णय निमद । अवि-
सेसमन्जुत त सुट्ठय मियाणीहि ॥१४॥ — जो नय आत्मा मग्न
रहित, परके स्पर्श रहित, अन्यत्वं रहित चलाचलता रहित, विषेप
रहित, अन्यत्वं सयोगसे रहित ऐसे पाँच भाव रूपमें देवता है उसे हे
शिष्य । तु शुद्धं नय जान ॥१४॥ इस नयके आग्रयसे ही सम्यग्दर्शन
होता है ॥१४॥ (प. घ. /उ/ २३१) ।

घ. ११/१.१/३८/४ सम्यग्दृष्टीनामवगतासंस्काराणां ज्ञानदशानां
मावरणविकल्पाणां तद्व्यावर्णक्यतां तत्त्ववित्तात्ममन्त्राणां वा वापक्षय-
कारित्वतस्तयोरतदुपपत्ते । — आपके स्वरूपको जाननेवाले और
आवरणरहित अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शनरूप शास्त्रमें युक्त आत्मा-
का स्मरण करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंके ज्ञानमें पापका क्षयकारीपना
पाया जाता है ।

स. सा. /आ. १४/क १२ आत्मानुभूतिरिति शुद्धन्यासिस्वयाया ज्ञानानुभू-
तिरियमेव किनेति बुद्ध्वा ॥१२॥ — जो पूर्वकथित शुद्धनयस्वरूप
आत्माको अनुभूति है वही वास्तवमें ज्ञानकी अनुभूति है (स. सा. /
आ. १७-१८) ।

प. का. /त. प्र. १६६/२६६ अर्हदादिभक्तिपत्र कथञ्चित्छुद्धसंययोगोऽपि
सत्तु जीवा जीवद्वागलवत्तच्छुभोपयोगितामजगतं बहुश पुण्यं बध्नाति,
न (बहु) मकनमर्त्यमयमारभते । — अहन्तादिके प्रति भक्ति सम्पन्न जीव
कथञ्चित् शुद्ध संययोगवाला होनेपर भी राग लोभ जीवित होनेसे
शुभोपयोगको न छोड़ता हुआ बहुत पुण्य बाँधता है परन्तु वास्तवमें
मकल कर्मोंका भय नहीं करता ।

ज्ञा. /३२/४३ एथाद्यवर्तोत्तयेऽस्तस्य तत्तदेवापदास्पदम् । विमैत्यय पुनर्य-
स्मिस्तदेवान दमन्दिरम् ॥३२॥ — अज्ञानी घृष्ट जित-जित विषयमें
प्रोति करता है वे सभ ज्ञानोंके लिए आपदाके स्थान है तथा अज्ञानी
जित-जित तपश्चरणादिसे भय करता है वही ज्ञानोंके आनन्दका
निवास है ।

प्र. सा. /ता. वृ. २४८ श्रावकाणामपि सामायिकादिकाले शुद्धभावना हरयते ।
— श्रावकों के भी सामायिकादि कालमें शुद्ध भावना दिखाई देती है ।

प. का. /ता. वृ. १७० चतुर्थगुणस्थानयोग्यमारमभावात्तत्परिच्छज् सत्
देवलोके काल गमयति ततोऽपि स्वर्गादागत्य मनुष्यभवे चक्रवर्त्या-
दिभिभूतिं लब्ध्वापि पूर्वभयभावितशुद्धात्मभावनामलेन मोह न
करोति । — चतुर्थ गुणस्थानके योग्य आत्मभावनाको नहीं छोड़ता
हुआ वह देवलोकमें काल गँवाता है । पीछे स्वर्गसे आकर मनुष्य
भयमें चक्रवर्ती आदिकी विभूतिको प्राप्त करके भी, पूर्वभयमें भावित
शुद्धात्मभावनाके बलसे मोह नहीं करता है ।

प घ/पृ/७१० इह सम्प्राप्तं किल मिथ्यात्वोदयविनाशज्ञा शक्ति ।
काविदनिर्वचनीया स्वात्मप्रत्ययमेतदस्ति यथा ॥—सम्यग्दृष्टि जीवके
निश्चय हो मिथ्यात्वकर्मके अभावसे कोई अनिर्वचनीय शक्ति होती है
जिससे यह आत्मप्रत्यय होता है ।

मो मा प/७/३७६/६ नोचली दशविपं केई जीवनिके शुभोपयोग और
शुद्धोपयोगका युक्तपना पाइये है ।

सा सं/भापा/४/२६६/१६३ चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनके साथ ही
स्वरूपाचरण चारित्र भी आत्मामें प्रगट हो जाता है ।

यु अ/५१ प जुगल किशोर 'स्वाभाविकावाच सम मनस्ते ॥५१॥
—अमयत सम्यग्दृष्टिके भी स्वानुरूप मन साम्यकी अपेक्षा मनका सम
होना बनता है क्योंकि उसके समयका सर्वथा अभाव नहीं है ।

३ धर्मध्यानमें किंचित् आत्मानुभव अवश्य होता है

प्र स/टी/४७/१६६ निश्चयमोक्षमार्गं तथैव व्यवहारमोक्षमार्गं च तद्विद्वि-
विधमपि निर्विकारस्वसंविद्यात्मकपरमध्यानेन मुनि प्राप्नोति ।
—निश्चय मोक्षमार्ग तथा व्यवहार मोक्षमार्ग इन दोनोंको मुनि
निर्विकार स्वसंवेदनरूप परमध्यानके द्वारा प्राप्त करता है ।

प्र सं/टी/६६/२२५ तस्मिन्ध्याने स्थितानां यद्वीतरागपरमानन्दसुख
प्रतिभाति तदेव निश्चयमोक्षमार्गस्वरूपम् । तच्च पर्यायानामन्तरेण किं
कि भण्यते तदभिधीयते । तदेव शुद्धात्मस्वरूपं तदेव परमात्मस्वरूपं
तदेवैकदेशव्यक्तित्वं परमहंसस्वरूपम् । तदेव शुद्धचारित्र्यं स
एव शुद्धाचाराणां पञ्चवर्यकस्वरूपं, सामायिक, चतुर्विधा-
राधना धर्मध्यान शुक्लध्यान, शून्यध्यान, परमसाम्यं,

भेदज्ञान, परमसमाधि, परमस्वाध्याय इत्यादि ईदंशोल ।—उस
ध्यानमें स्थित जीवोंको जो वीतराग परमानन्द सुख प्रतिभासता है,
वह निश्चय मोक्षमार्गका स्वरूप है । वही पर्यायान्तरसे क्या-क्या कहा
जाता है, सो कहते हैं । वही शुद्धात्मस्वरूप है, वही परमात्मस्वरूप
तथा एकदेश परमहंसस्वरूप है । वही शुद्धचारित्र्य, शुद्धोपयोग, पञ्चा-
वर्यकस्वरूपसामायिक चतुर्विधाराधना, धर्मध्यान, शुक्लध्यान, शून्य-
ध्यान परमसाम्य, भेदज्ञान परम समाधि परमस्वाध्याय आदि हैं ।

४ धर्मध्यान अल्प भूमिकाओंमें भी यथायोग्य होता है

प्र सा/ता वृ/१६४ ध्यायति य कर्ता । कम् । निजारामानम् । किं कृत्वा ।
स्वसंवेदनज्ञानेन ज्ञात्वा । कथं भूतः । यति गृहस्थः । य एवं गुण-
विशिष्ट मपयति स मोहदुर्गन्धिम् ।—जो यति या गृहस्थ स्वसंवेदन-
ज्ञानसे जानकर निजारामको ध्याता है उसको मोहदुर्गन्धि नष्ट हो जाती
है ।

प्र सं/टी/४८/२०१-२०६ तावदागमभाषया (२०१) तारतम्यवृद्धिक्रमेणा-
स्यतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसयत्ताप्रमत्ताभिधानचतुर्गुणस्थानवर्त्ति-
जोबसभवं मुख्यवृत्त्या पुण्यमन्धकारणमपि परम्परया मुक्तिकारण
चेति धर्मध्यान कथ्यते ॥२०२॥ अध्यात्मभाषया पुन सहजशुद्धपरम-
चेतन्यशालिनि निभरानन्दमालिनी भगवति निजारामन्युपादेयशुद्धि
कृत्वा पश्चात्तन्तज्ञानोऽहमन्तस्त्वलोऽहमित्यादिभावनारूपमभ्यन्तर-
धर्मध्यानमुच्यते । पञ्चपरमेष्ठिभरयादि तदनुकूलशुभानुष्ठान पुनर्नहि-
रगधर्मध्यानमवति (२०४) । —आगम भाषाके अनुसार तारतम्य
रूपसे असयत्त सम्यग्दृष्टि, देशमयत्त, प्रमत्तसयत्त और अग्रमत्तसयत्त
इन चार गुणस्थानवर्त्ती जीवोंमें सम्भव मुर परलपसे पुण्यमन्धका कारण
होते हुए भी परम्परसे मुक्तिका कारण धर्मध्यान कहा गया है ।
अध्यात्म भाषाके अनुसार सहज शुद्ध परम चैतन्य शालिनी निर्भरानन्द
मालिनी भगवती निजाराममें उपादेय शुद्धि करके पीछे भी अनन्त
ज्ञानरूप हैं, मे अनन्त सुख रूप हैं, ऐसी भावना रूप अभ्यन्तर धर्म-
ध्यान कहा जाता है । पञ्चपरमेष्ठिकी भक्ति आदि तथा तदनुकूल
शुभानुष्ठान बहिरंग धर्मध्यान होता है ।

पं घ/पृ/६८८ ६१५ दृष्टमोहोऽस्तगते पुं स शुद्धस्यानुभवो भवेत् । न भवे-
द्विषकर कथिस्त्राचरणोदय ॥६८८॥ प्रमत्तानां विकल्पस्यात्र स्या-
त्मा शुद्धचेतना । अस्तीति वासनोन्मेष केर्पाक्षित न सन्नहि ॥६१५॥

—आत्मके दर्शनमोहकर्मका अभाव होनेपर शुद्धात्माका अनुभव
होता है । उसमें किसी भी चारित्राचरणकर्मका उदय बाधक नहीं
होता ॥६८८॥ 'प्रमत्तगुणस्थान तत्र विकल्पका सन्नाह होनेसे वहाँ शुद्ध
चेतना सम्भव नहीं' ऐसा जा किन्हींके वासनाका उदय है, सो ठीक
नहीं है ॥६१५॥

५. निश्चय धर्मध्यान मुनिको होता है गृहस्थको नहीं

ज्ञा ४/१७ खपुष्पमयवा सृष्टं खरस्यापि प्रतीयते । न पुनर्दर्शकालोऽपि
ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥१७॥—आकाशपुष्प अथवा खरविपाणका होना
बदाचित्त सम्भव है, परन्तु किसी भी देशकालमें गृहस्थाश्रममें ध्यान-
की सिद्धि होनी सम्भव नहीं ॥१७॥

त अनु/४७ मुख्योपचारभेदेन धर्मध्यानमिह द्विधा । अग्रमत्तपु तन्मुख्य-
मितरेष्वौपचारिकम् ॥४७॥—धर्मध्यान मुख्य और उपचारके भेदसे
दो प्रकारका है । अग्रमत्त गुणस्थानोंमें मुख्य तथा अन्य प्रमत्तगुण-
स्थानोंमें औपचारिक धर्मध्यान होता है ।

स सा/ता वृ/६६ ननु वीतरागस्वसंवेदनज्ञानविचारकाले वीतराग-
विशेषण किमिति क्रियते प्रचुरेण भवद्भि, किं सरागमपि स्वसंवेदन-
ज्ञानमस्तीति । अत्राचर विषयसुखानुभवात्मनस्वरूप स्वसंवेदनज्ञान
सर्वजनप्रसिद्ध सरागमप्यस्ति । शुद्धात्मसुखानुभूतिरूपं स्वसंवेदनज्ञान
वीतरागमिति । इदं व्याख्यान स्वसंवेदनव्याख्यानकाले सर्वत्र
ज्ञातव्यमिति भावार्थः ।—प्रश्न—वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानका विचार
करते हुए आप सर्वत्र 'वीतराग' विशेषण किसलिए लगाते हैं । क्या
सरागको भी स्वसंवेदनज्ञान हता है, उत्तर—विषय सुखानुभवके
आनन्द रूपसंवेदनज्ञान सर्वजन प्रसिद्ध है । वह सरागको भी होता
है । परन्तु शुद्धात्म सुखानुभूति रूप स्वसंवेदनज्ञान वीतरागको ही होता
है । स्वसंवेदनज्ञानके प्रकरणमें सर्वत्र यह व्याख्यान जानना चाहिए ।

प्र सा/ता वृ/२५४/१०७ विषयकपायनिमित्तोत्पन्नैर्नारौद्रध्यानद्वयेन
परिणतानां गृहस्थानामात्माश्रितनिश्चयधर्मस्यावकाशो नास्ति ।—
विषय कपायके निमित्तसे उत्पन्न आर्त-रौद्र ध्यानमें परिणत गृहस्थ-
जनोंको आत्माश्रित धर्मका अवकाश नहीं है ।

प्र सं/टी/१४/६६ असयत्तसम्यग्दृष्टिश्चावकप्रमत्तसयत्तपु पारम्पर्येण शुद्धो-
पयोगसाधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभापयोगो वर्तते, तदनन्तरमग्र-
मत्तादिशीलकपायपर्यन्ते जवन्मध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशशुद्ध
नयरूपशुद्धोपयोगो वर्तते ।—असयत्त सम्यग्दृष्टिसे प्रमत्तसयत्त तकके
तीन गुणस्थानोंमें परम्परा रूपसे शुद्धोपयोगका साधक तथा ऊपर-
ऊपर अधिक अधिक विशुद्ध शुभोपयोग वर्तता है और उसके अनन्तर
अग्रमत्तादि शीलकपाय पर्यन्तके गुणस्थानोंमें जवन्म, मध्यम उत्कृष्ट
भेदको लिये विवक्षित एकदेश शुद्धनयरूप शुद्धोपयोग वर्तता है ।

मो पा/टी/२/२०५/६ मुनीनामेव परमात्मध्यानं वदते । तल्लोहगोलक-
समानगृहिणां परमात्मध्यानं न सगच्छते ।—मुनियोंने ही परमात्म-
ध्यान घटित होता है । तल्लोहके गोलेके समान गृहस्थोंको परमात्म-
ध्यान प्राप्त नहीं होता । (देवर्चन सूत्रिकृत भाष्यग्रह ३७१-३६७ ६०६)

भा पा/टी/८/१३२/२४ शोभ परीपहाससर्गनिपाते चित्तस्य चेतन
ताम्यां विहीनो रहति मोहशोभविहीनः । एव गुणविशिष्ट आत्मन
शुद्धबुद्धैक्यभावस्य चिन्मत्कारलक्षणश्चिदानन्दरूप परिणामो धर्म
इत्युच्यते । स परिणामो गृहस्थानां न भवति । पञ्चसूनासहितत्वात् ।
—परिपह व उपसर्गके आनेपर चित्तका चलना शोभ है । उससे रहित
मोह शोभ विहीन है । ऐसे गुणोंसे विशिष्ट शुद्धबुद्ध एकत्वभावी आत्मा
का चिन्मत्कारलक्षण चिदानन्द परिणाम धर्म कहलाता है । पञ्च-
सूनासहित होनेके कारण वह परिणाम गृहस्थोंको नहीं होता ।

६. गृहस्थको निश्चयध्यान कहना अज्ञान है

मो पा/टी/२/३०६ ये गृहस्था अपि सन्तो मनागात्मभावनामासाद्य वय
ध्यानिन इति वदन्ते ते जिनधर्मविशेषका मिथ्यादृष्ट्या ज्ञातव्या ।
—जो गृहस्थ हाते हुए भी मनाक् आत्मभावनाको प्राप्त करके 'हम

ध्यानी हैं ऐसा कहते हैं, वे जिनधर्म विराधक मिथ्यादृष्टि जानने चाहिए।

भावसंग्रह/३८५ (गृहस्थोंको निरालम्ब ध्यान माननेवाला मूर्ख है) ।

७ साधु व गृहस्थके निश्चय ध्यानमे अन्तर

मो पा/मु/८३ ८६ निच्छयणयस्त एव अप्यस्मि अपणे सुरदो । सो
होदि ह्युच्चरित्तो जोई सो लहइ णिठवाण ॥८३॥ एव जिणेहिं कहि
सवणाण सावयाण पुण सुणसु । ससारविणासयर सिद्धियरं कारणं
परमं ॥८४॥ गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मल सुरगिरीव णिकर्प । सं
जाणे ज्जाइज्जइ सावय । दुक्खवत्तयदुए ॥८६॥ निश्चय नयका ऐसा
अभिप्राय है कि जो आरामा हो विषय आपहीके अर्थ भले प्रकार रत
होय सो योगी ध्यानी सुनि सम्यग्चारित्रवाच भया संता निर्वाणकू
पावै है ॥८३॥ इस प्रकारका उपदेश श्रमणोंके लिए किया गया है ।
बहुति अम प्रावकनिक्कं कहिये हैं, सो सुनो । कैसा कहिये है—ससार-
का तो निनाश करनेवाला और सिद्धि जो मोक्ष ताका करनेवाला
उरुकुण्ट कारण है ॥८५॥ प्रथम तो प्रावककू भले प्रकार निर्मल और
मेकद्व अचल अर चल, मलिन, अगाढ धूपण रहित अत्यन्त निश्चल
ऐसा सम्यक्कू ग्रहणकार, तिमक्कू ध्यानविषय ध्यावना, कौन अर्थि-
दुःखका ह्यके अर्थ ध्यावना ॥८६॥ जो जीव सम्यक्वत्तकू ध्यावै है, सो
जीव सम्यग्दृष्टि है, बहुति सम्यक्वरूप परिणया सत्ता दुष्ट जे आठ कर्म
तिनिका हय करै है ॥८७॥

८. अल्पभूमिकासे आत्मानुभवके सद्भाव-असद्भावका समन्वय

स सा/ता ध/१० यो भावश्रुतरूपेण स्वसंवेदनज्ञानमलेन शुद्धारमानं जानाति स निश्चयश्रुतकेयली भवति । यस्तु स्वशुद्धारमानं न संवेदयति न भावयति, बहिर्विषय द्रव्यश्रुतार्थं जानाति स व्यवहारश्रुतकेयली भवतीति । ननु तर्हि—स्वसंवेदनज्ञानमलेनास्मिन् कालेऽपि श्रुतकेयली भवति । तत्र यादृशं पूर्वपुरुषार्णं शुभलघानरूपं स्वसंवेदनज्ञान तादृशमिदानीं नास्ति किंतु धर्मध्यानयोग्यमस्तीत्यर्थः ।—जो भाव-श्रुतरूप स्वसंवेदनज्ञानके मलसे शुद्धारमाको जानता है, वह निश्चय श्रुतकेयली होता है । जो शुद्धारमाका संवेदन तो नहीं करता परन्तु बहिर्विषयरूप द्रव्य श्रुतको जानता है वह व्यवहारश्रुतकेयली होता है । प्रश्न—तब तो स्वसंवेदन ज्ञानके मलसे इस कालमें श्रुतकेयली हो सकता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि जिस प्रकारका शुभलघ्यानरूप स्वसंवेदनज्ञान पूर्वपुरुषोंको होता था वैसे इस कालमें नहीं है, किन्तु धर्मध्यानके योग्य है ।

प्राप्त ता/ता वृ/२४८ ननु शुभोपयोगिनामपि कापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते, शुद्धोपयोगिनामपि कापि काले शुभोपयोगभावना दृश्यते । श्रावकाणामपि सामायिकादिकाले शुद्धभावना दृश्यते, तेषां कथं विशेषो भेदो ज्ञायत इति । परिहारमाह—युक्तमुक्तं भवता पर किंतु ये प्रचुरेण शुभोपयोगेन वर्तन्ते, यद्यपि कापि काले शुद्धोपयोगभावना कुर्वन्ति तथापि शुभोपयोगिन एव भण्यन्ते । येऽपि शुद्धोपयोगिनस्ते यद्यपि कापि काले शुभोपयोगेन वर्तन्ते तथापि शुद्धोपयोगिन एव । कस्मात् । बहुपदस्य प्रधानत्वादाय्यवननिष्पन्नवर्गदत्ति ।—प्रश्न—शुभोपयोगियोंके भी किसी काल शुद्धोपयोगी भावना देखी जाती है और शुद्धोपयोगियोंके भी किसी काल शुभोपयोगी भावना देखी जाती है । श्रावकोंके भी सामायिकादि कालमें शुद्धभावना दिखाई देती है । इनमें किस प्रकार विशेष या भेद जाना जाये । उत्तर—जो प्रचुर रूपसे शुभोपयोगमें वर्तते हैं वे यद्यपि किसी काल शुद्धोपयोगी भावना भी करते हैं तथापि शुभोपयोगी ही कहलाते हैं और इसी प्रकार शुद्धोपयोगी भी यद्यपि किसी काल शुभोपयोग रूपसे वर्तते हैं तथापि शुद्धोपयोगी ही कहे जाते हैं । कारण कि आम्रवन व निष्पन्नकी भौति बहुपदकी प्रधानता होती है ।

प्र स /टो /३४/६७/१ तत्राशुद्धनिक्षये शुद्धापयोगो कथं घटते इति चत्तत्रो-
त्तरम्—शुद्धोपयोगे शुद्धद्वष्टैकस्वभावा निजारामाध्येयस्तिष्ठति तेन

कारणेन । शुद्धध्येयत्वाच्च शुद्धावलम्ब्येनेत्यल्लुट्कारमस्वरूपकाधिकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते । स च सवशब्दवाच्य शुद्धोपयोगः ससारकारण-भूतमिध्यात्वरगाद्यशुद्धपर्याय्यदशुद्धो न भवति फलभूतफलज्ञान-पर्यायिवत् शुद्धोऽपि न भवति किंतु ताभ्यामशुद्धशुद्धपर्यायाभ्यां विलक्षणं एकदेशनिरावरणं च तृतीयमवरणान्तरं भण्यते । — प्रश्न — अशुद्ध निश्चयमेव शुद्धोपयोगकैते घटितं हाता है । उत्तर — शुद्धोपयोग-में शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव आत्मा ध्येयरूपसे रहती है । इस कारणसे शुद्ध ध्येय होनेसे, शुद्ध अवलम्बन होनेसे और शुद्धामस्यरूपका माधक होनेसे शुद्धोपयोग घटित होता है । सबर शब्दका वाच्य यह शुद्धोप-योग न तो मिध्यात्वरगादि अशुद्ध पर्यायिवत् अशुद्ध होता है और न ही केवलज्ञानपर्यायिवत् शुद्ध ही होता है । किन्तु अशुद्ध व शुद्ध दोनों पर्यायोंसे विलक्षण एकदेश निरावरण तृतीय अवस्थान्तर बहा जाता है । (प्र सा /ता यु /१८९/२४४/११) ।

६ शुद्धात्माके अनुभव विषयक शका-समाधान

१. अशुद्ध ज्ञानसे शुद्धात्माका अनुभव कैसे करें

स सा/ता वृ/४४४/५०८/२३ केवलज्ञान शुद्ध छद्मस्थज्ञान पुनरशुद्ध शुद्धस्य केवलज्ञानस्य कारण न भवति । नैव छद्मस्थज्ञानस्य कथ-
चित्पुद्गलाशुद्धत्वम् । तथा—यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया शुद्ध न भवति
तथापि मिथ्यास्वरागादिरहितत्वेन वीतरागसम्यक्चारित्र्यसहितत्वेन
च शुद्धम् । अभेदनयेन छद्मस्थानां संबन्धिभेदज्ञानमात्मस्वरूपमेव
तत् कारणतैर्नैकदेशव्यक्तित्वेणापि सकलव्यक्तिरूप केवलज्ञान
जायते नास्ति दोष । क्षायोपशमिकमपि भावश्रुतज्ञान मोक्षकारण
भवति । शुद्धपारिणामिकभाव एकदेशव्यक्तित्वज्ञानाभां कथंचिद्भेदा-
भेदस्वरूपद्रव्यपर्यायमात्मकस्य जीवपदार्थस्य शुद्धभावनान्वयस्थायी ध्येय-
भूतद्रव्यरूपेण तिष्ठति न च ध्यानपर्यायरूपेण । —प्रद्वन—केवलज्ञान
शुद्ध होता है और छद्मस्थका ज्ञान अशुद्ध । वह शुद्ध केवलज्ञानका
कारण नहीं हो सकता ।—उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि छद्मस्थ-
ज्ञानमें भी कथंचित् शुद्धाशुद्धत्व होता है । वह ऐसे कि यद्यपि
केवलज्ञानको अपेक्षा तो वह शुद्ध नहीं होता तथापि मिथ्यात्व
रागादिसे रहित होनेके कारण तथा वीतराग सम्यक्चारित्र्यसे सहित
होनेके कारण वह शुद्ध भी है । अभेद नयसे छद्मस्थों सम्बन्धी भेदज्ञान
भी आत्मस्वरूप ही है । इस कारण एक दश व्यक्तित्वरूप उस ज्ञानसे
सकल व्यक्तित्व केवलज्ञान हो जाता है, इसमें कोई दोष नहीं है ।
क्षायोपशमिक भावश्रुतज्ञान भी जैसे साधारण दोष मोक्षका कारण
हो सकता है । शुद्ध पारिणामिकभाव एकदेश व्यक्तित्वरूपसे
कथंचित् भेदाभेद द्रव्यपर्यायमात्मक जीवपदार्थकी शुद्धभावनानी अवस्था-
में ध्येयभूत द्रव्यरूपसे रहता है, ध्यानकी पर्यायरूपसे नहीं । (और
भी देखो पीछे 'अनुभव/४/७') ।

२ अशुद्धताके सद्भावमे भी उसकी उपेक्षा कैसे करें

प घ / उ ११६.१२२ न चाशङ्क्य सतस्तस्यस्यादुपेक्षा कथं जयात ११६।
यदा तद्वर्णमालायां दृश्यते हेम केवलम् । न दृश्यते परोपाधि स्वेष्ट
दृष्टेन हेम तत् ११६।२३ = उस सरस्वरूपपर सयुक्त द्रव्यकी सहसा उपेक्षा
कैसे हो जायेगी-ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए ११६। क्योंकि जिस
समय अशुद्ध स्वर्ण के रूपों में केवल शुद्ध स्वर्ण दृष्टिगोचर किया जाता
है, उस समय परद्रव्यकी उपाधि दृष्टिगोचर नहीं होती, किन्तु प्रत्यक्ष
प्रमाणसे अपना अभीष्ट वह केवल शुद्धस्वर्ण ही दृष्टिगोचर होता है ।

३ देह सहित भी उसका देह रहित अनुभव कैसे करें

शा १२/६-११ कथं तद्धि पृथक् कृत्वा देहाद्यर्थकदम्भयत् । आरमानमभ्य
 सेवोगी निर्विकल्पमतौन्द्रियम् ॥६॥ अपाह्य बहिरारमान सुस्थिरैरान्त-
 रारमान । ध्यायेद्दिशुद्रमयन्त परमात्मानमव्ययम् ॥१०॥ संयोजयति
 नरेण चिदारमान विमृद्युधौ । बहिरारमान ततो ह्यानी पृथक् पश्यति
 देहिनाम् ॥११॥ —प्रश्न—यदि आत्मा ऐसा ह तो इसे देहादि पदार्थों-
 के समूहसे पृथक् करके निर्विकल्पक अतीन्द्रिय, ऐश कैंसे ध्यान

करै ॥१॥ उत्तर—योगी महिरारामाको छोड़कर भले प्रकार स्थिर अन्तरात्मा हाकर अत्यन्त विशुद्ध अधिनाशी परमात्माका ध्यान करै ॥१०॥ जो महिरारामा है, सो चेतन्यरूप आत्माकी देहके साथ संयोजन करता है और ज्ञानी देहको देहोसे पृथक् ही देखता है ॥११॥

४ परोक्ष आत्माका प्रत्यक्ष कैसे करे

ज्ञा ॥३३॥ अनस्य लक्ष्यसंन्यात स्थूलारसूक्ष्म विचिन्तयेत् । सालम्बाच्च निरालम्ब तत्त्ववित्तत्त्वमञ्जसा ॥४॥ —तत्त्वज्ञानी इस प्रकार तत्त्वका प्रगटतया चिन्तन करे कि लक्ष्यके सम्बन्धसे तो अलक्ष्यको और स्थूलसे सूक्ष्मको और सालम्ब ध्यानसे निरालम्ब वस्तु स्वरूपको चिन्तन करता हुआ उससे तन्मय हो जाये ।

स सा / वा वृ ॥१६०॥ परोक्षस्यास्मिन् कथं ध्यानं भवतीति । उपवेशेन परोक्षरूपं यथा द्रष्टा जानाति भण्यते तथैव धियते जीवो दृष्टश्च ज्ञातश्च ॥१॥ आत्मा स्वसंवेदनापेक्षया प्रत्यक्षो भवति केवलज्ञाना-पेक्षया परोक्षोऽपि भवति । सर्वथा परोक्षमिति वक्तुं नायाति । —प्रश्न—परोक्ष आत्माका ध्यान कैसे होता है । उत्तर—उपवेशके द्वारा परोक्षरूपसे भी जैसे द्रष्टा जानता है, उसे उसी प्रकार कहता है और धारण करता है । अतः जीव द्रष्टा भी है और ज्ञाता भी है ॥१॥ आत्मा स्वसंवेदनकी अपेक्षा प्रत्यक्ष होता है और केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष भी होता है सर्वथा परोक्ष कहना नहीं बनता ।

स सा / वा वृ ॥२६६॥ कथं स गृह्यते आत्मा 'दृष्टिपियो न भवत्यमूर्तरवात्' इति प्रश्न । प्रज्ञाभेदज्ञानेन गृह्यते इत्युत्तरम् । —प्रश्न—बहु आत्मा कैसे ग्रहण की जाती है, क्योंकि अमूर्त होनेके कारण वह दृष्टिका विषय नहीं है । उत्तर—प्रज्ञारूप भेदज्ञानके द्वारा ग्रहण किया जाता है ।

अनुभव प्रकाश—पं दीपचन्दजी शाह (ई १७२२) द्वारा रचित हिन्दी भाषाका एक आध्यात्मिक ग्रन्थ ।

अनुभाग—अनुभाग नाम द्रव्यकी शक्तिका है । जीवके रागादि भावोंकी तरतमताके अनुसार, उसके साथ घटनेवाले कर्मोंकी फलदात शक्तिमें भी तरतमता हानी स्वाभाविक है । मोक्षके प्रकरणमें कर्मोंकी यह शक्ति ही अनुभाग रूपसे दृष्ट है । जिस प्रकार एक बूँद भी पकता हुआ तेल शरीरकी दमनानेमें समर्थ है और मन भर भी कम गर्म तेल शरीरकी जलानेमें समर्थ नहीं है, उसी प्रकार अधिक अनुभाग युक्त धाँड़े भी कमप्रदेश जीवके गुणोंका घात करनेमें समर्थ है, परन्तु अल्प अनुभाग युक्त अधिक भी कमप्रदेश उसका पराभव करनेमें समर्थ नहीं है । अतः कमघट्टके प्रकरणमें कर्मप्रदेशोंकी गणना प्रधान नहीं है, अधिक अनुभाग ही प्रधान है । हीन शक्तिवाला अनुभाग केवल एकदेश रूपसे गुणका घात करनेके कारण देशघाती और अधिक शक्तिवाला अनुभाग पूर्णरूपेण गुणका घातक होनेके कारण सर्वघाती कहलाता है । इस विषयका ही कथन इस अधिकार में किया गया है ।

* अनुभाग अध्यवसायस्थान । —दे अध्यवसाय ।

* अनुभागकाण्डकघात । —दे अपकर्षण ४ ।

२. अनुभागबन्ध निर्देश

१. अनुभाग बन्ध सामान्यका कारण ।

२ शुभाशुभ प्रकृतियोंके जघन्य व उत्कृष्ट अनुभाग

बन्धके कारण ।

३ शुभाशुभ प्रकृतियोंके चतुःस्थानीय अनुभाग निर्देश ।

* कपायोकी अनुभाग शक्तियाँ । —दे कपाय २ ।

* स्थिति व अनुभाग बन्धोकी प्रधानता । —दे स्थिति ३ ।

* प्रकृति व अनुभागमें अन्तर । —दे प्रकृति ४ ४ ।

४ प्रदेशोंके विना अनुभाग बन्ध सम्भव नहीं ।

५ परन्तु प्रदेशोकी हीनाधिकतासे अनुभागकी हीनाधिकता नहीं होती ।

३ घाती अघाती अनुभाग निर्देश

१ घाती व अघाती प्रकृतिके लक्षण ।

२ घाती अघातीकी अपेक्षा प्रकृतियोंका विभाग ।

३ जीवविपाकी प्रकृतियोंकी घातिया न कहनेका कारण ।

४ वेदनीय भी कथञ्चित् घातिया है ।

५ अन्तराय भी कथञ्चित् घातिया है ।

४ सर्वघाती व देशघाती अनुभाग निर्देश

१ सर्वघाती व देशघाती अनुभाग निर्देश ।

२ सर्वघाती व देशघातीके लक्षण ।

३ सर्वघाती व देशघाती प्रकृतियोंका निर्देश ।

४ सर्व व देशघाती प्रकृतियोंमें चतुःस्थानीय अनुभाग ।

५ कर्मप्रकृतियोंमें यथायोग्य चतुःस्थानीय अनुभाग ।

१ ज्ञानावरणादि सर्वप्रकृतियोंकी सामान्य प्ररूपणा ।

२ मोहनीय प्रकृतिकी विशेष प्ररूपणा ।

६ कर्मप्रकृतियोंमें सर्व व देशघाती अनुभाग विषयक शका समाधान ।

१ मति आदि ज्ञानावरण देशघाती कैसे हैं ?

२ केवलज्ञानावरण सर्वघाती है या देशघाती ?

३ सम्यक्त्व प्रकृति देशघाती कैसे हैं ? ४ सम्यग्-मिथ्यात्व प्रकृति सर्वघाती कैसे हैं ? ५ मिथ्यात्व प्रकृति सर्वघाती कैसे हैं ? ६ प्रत्याख्यानावरण कपाय सर्वघाती कैसे हैं ? ७ मिथ्यात्वका अनुभाग चतुःस्थानीय कैसे हो सकता है ? ८ मानकपायकी शक्तियोंके दृष्टान्त मिथ्यात्वादि प्रकृतियोंके अनु-

भागोंमें कैसे लागू हो सकते हैं ?

* सर्वघातीमें देशघाती है, पर देशघातीमें सर्वघाती

नहीं । —दे उदय ४/२ ।

१. भेद व लक्षण

१ अनुभाग सामान्यका लक्षण व भेद ।

२ जीवादि द्रव्यानुभागोंके लक्षण ।

३ अनुभागबन्ध सामान्यका लक्षण ।

४ अनुभाग बन्धके १४ भेदोंका निर्देश ।

५ सादि अनादि ध्रुव-अध्रुव आदि अनुभागोंके लक्षण ।

६ अनुभाग स्थान सामान्यका लक्षण ।

७. अनुभाग स्थानके भेद ।

८ अनुभाग स्थानके भेदोंके लक्षण ।

१ अनुभाग सत्कर्म, २ अनुभागवन्धस्थान, ३ वन्ध-समुत्पत्तिक अनुभाग सत्कर्मस्थान, ४ हृतसमुत्पत्तिक अनुभाग सत्कर्मस्थान, ५ हृतहृतसमुत्पत्तिक सत्कर्मस्थान

५. अनुभाग बन्ध सम्बन्धी कुछ नियम व प्ररूपणाएँ

१ प्रकृतियोंके अनुभागकी तरतमतासम्बन्धी सामान्य नियम ।

२ प्रकृति विशेषोंमें अनुभागकी तरतमताका निर्देश

१ ज्ञानावरण और दर्शनावरणके अनुभाग परस्पर समान होते हैं । २ केवलज्ञानदर्शनावरण, असांता व अन्तरायके अनुभाग परस्पर समान हैं ।

३ तिर्यचायुसे मनुष्यायुका अनुभाग अनन्तगुणा है ।

३ जघन्य व उत्कृष्ट अनुभागके बन्धको सम्बन्धी नियम

* उत्कृष्ट अनुभागका बन्ध ही उत्कृष्ट स्थितिको बान्वता है । —दे स्थिति ४ ।

* उत्कृष्ट अनुभागके साथ ही उत्कृष्ट स्थिति बन्धका कारण । —दे स्थिति ५ ।

१ अघातिया कर्मोंका उत्कृष्ट अनुभाग सम्यग्दृष्टिको ही बंधता है, मिथ्यादृष्टिको नहीं । २ गोत्रकर्मका जघन्य अनुभागबन्ध तेज व वातकायिकोंमें ही सम्भव है ।

४ प्रकृतियोंके जघन्य व उत्कृष्ट अनुभाग बंधकोकी प्ररूपणा ।

५ अनुभाग विषयक अन्य प्ररूपणाओंका सूचीपत्र ।

* अनुभाग सत्त्व । —दे 'सत्त्व'

* प्रकृतियोंके चतु स्थानीय अनुभाग बन्धके काल, अंतर, क्षेत्र, स्पर्शन, भाव अल्पबहुत्व व सख्या सम्बन्धी प्ररूपणाएँ । —दे वह वह नाम

१ भेद व लक्षण

१. अनुभाग सामान्यका लक्षण व भेद

घ १३/५.५.८२/३४६/५ छदब्वाण सत्ती अणुभागो णाम । सो व अणुभागो छव्विहो—जीवाणुभागो, पोग्गलाणुभागो धम्मस्थियअणुभागो अधम्मस्थियअणुभागो आगासरियअणुभागो कालदव्वाणुभागो चेदि ।—छह द्रव्योंकी शक्तिका नाम अनुभाग है । वह अनुभाग छ प्रकारका है—जीवानुभाग, पुद्गलानुभाग धर्मास्तिकायानुभाग, अधर्मास्तिकायानुभाग, आकाशास्तिकायानुभाग और कालद्रव्यानुभाग ।

२ जीवादि द्रव्यानुभागोंके लक्षण

घ १३/५.५.८२/३४६/७ तस्य असेसदब्वाणमो जीवाणुभागो । जरकुट्ठवल यादिभिणासणं सपुप्पायण च पोग्गलाणुभागो । जोणिषाहुते भणिदमंततसत्तीयो पोग्गलाणुभागो त्ति घेतव्वा । जीवपाग्गलाणं गमणागमणहेतुत्त धम्मस्थियाणुभागो । तेसिमवद्धानहेतुत्त अधम्मस्थियाणुभागो । जीवादिदब्वाणमाहारत्तमागासरिययाणुभागो । अण्णेसिदब्वाण कमाक्खमेहि परिणमणहेतुत्त कालदब्वाणुभागो । एव दुसंजोगादिणा अणुभागवरूवणा कायव्वा । जहा [महिआ] पिष्ठ दट्ठ-चक्क-चीवर-जल-कुभारादीणं धट्ठपायणाणुभागो ।—समस्त द्रव्यका जानना जीवानुभाग है । ज्वर, कुष्ठ और शय आदिका विनाश करना

और उनका उत्पन्न करना इसका नाम पुद्गलानुभाग है । योनि-प्राभूतमें कहे गये मन्त्र तन्त्ररूप शक्तियोंका नाम पुद्गलानुभाग है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए । जीव और पुद्गलोंके गमन और आगमनमें हेतु होना, धर्मास्तिकायानुभाग है । उन्हींके अवस्थानमें हेतु होना, अधर्मास्तिकायानुभाग है । जीवादि द्रव्योंका आधार होना, आकाशास्तिकायानुभाग है । अन्य द्रव्योंके क्रम और अक्रमसे परिणमनमें हेतु होना, कालद्रव्यानुभाग है । इसी प्रकार द्विसंयोगादि रूपसे अनुभागका कथन करना चाहिए । जैसे—मूर्तिर्वापण्ट, दण्ड, चक्र, चीवर जल और कुम्भार आदिका घटोत्पादन रूप अनुभाग ।

३ अनुभाग बन्ध सामान्यका लक्षण

त सु ८/२१,२२ विपाकोऽनुभव ॥२१॥ स यथानाम ॥२२॥—विषय प्रकारके पाक अर्थात् फल देनेकी शक्तिका पड़ना ही अनुभव है ॥२१॥ वह जिस कर्मका जैसा नाम है उसके अनुरूप होता है ॥२२॥

सू आ १/२४० कम्मानो जो दु रमो अक्कञ्जसाणजणिद सुह असुहो वा । बंधो सो अणुभागो पदेसबंधो इमो होइ ॥१२४०॥—ज्ञानावरणादि कर्मोंका जो कषयादि परिणामजनित शुभ अथवा अशुभ रस है वह अनुभागबन्ध है ।

स सि ८/३/३७६ तद्वसविशेषोऽनुभव । यथा—अजगोमहिम्मादि-हरीराणां तीव्रमन्दादिभावैर्न रसविशेष तथा कर्मपुद्गलानां स्वगत-सामर्थ्यविशेषोऽनुभव ।—उम (कर्म) के रस विशेषको अनुभव कहते हैं । जिस प्रकार मकरी, गाय और भैंस आदिके दूधका अलग अलग तीव्र मन्द आदि रस विशेष होता है, उसी प्रकार कर्म-पुद्गलोंका अलग-अलग स्वगत सामर्थ्य विशेष अनुभव है । (पं स ३/४/१४४) (रा वा ८/३ ६/५६७) (प स ३/४/३६६) (द्र स ८/३/३६३) ।

घ १२/४.२.७ १६६/६१/८ अट्ठण वि कम्मान जीवपदेसाण अण्णोणाणु-गमणहेतुपरिणामो ।—अनुभाग किसे कहते हैं । आठों कर्मों और प्रदेशोंके परस्परमें बन्धन (एकरूपता) के कारणभूत परिणामकी अनुभाग कहते हैं ।

क पा ५/४ २३/९१/२/३ को अणुभागो । कम्माणं सगकञ्जकरणसत्ती अणुभागां णामा ।—कर्मके अपना कार्य करने (फल देने) की शक्तिको अनुभाग कहते हैं ।

नि सा ८/४ ४० गुभाशुभकर्मणां निर्जरासमये सुखदुःखफलदानशक्ति-युक्तो हानुभागबन्ध ।—शुभाशुभकर्मकी निर्जराके समय सुखदुःख रूप फल देनेकी शक्तिवाला अनुभागबन्ध है ।

४ अनुभाग बन्धके १४ भेदोंका निर्देश

पं स प्रा ४/४४१ सादि अणादिय अट्ठ य पसरियदरवरूवणा तथा सण्णा । पच्चय विवाय दसा सामित्तेणाह अणुभागो ॥४४१॥—अनुभागके चौदह भेद हैं । वे इस प्रकार हैं—१ सादि, २ अनादि, ३ ध्रुव, ४ अध्रुव, ५ जघन्य, ६ अजघन्य, ७ उत्कृष्ट, ८ अनुत्कृष्ट, ९ प्रशस्त, १० अप्रशस्त, ११ वेशघाति व सर्वघाति, १२ प्ररय्य, १३ विपाक, ये तेरह प्रकार तो अनुभाग बन्ध और १४ वीं स्वाभिरव । इन चौदह भेदोंकी अपेक्षा अनुभाग बन्धका वर्णन किया जाता है ।

५ सादि अनादि ध्रुव अध्रुव आदि अनुभागोंके लक्षण

गो क ८/जो प्र ६/१/७५ येषां कर्मणां उत्कृष्टा तेषामेव कर्मणां उत्कृष्ट स्थित्यनुभागप्रदेश साद्यादिभेदास्तत्तुविधो भवति । अजघन्येऽपि एवमेव चतुर्विध । तेषां लक्षणं अत्रोदाहरणमात्रं किंचित्प्रदर्शयते । तथा—उपशमश्रेण्यारोहक सूक्ष्मसाम्पराय उच्चैर्गोत्रानुभाग उत्कृष्टं बद्ध्वा उपशान्तकषायो जात । पुनरवरोहणे सूक्ष्मसाम्परायो भूत्वा सदनुभागमनुत्कृष्टं मन्नातितदास्य सादिस्त्वम् । तत्सूक्ष्मसाम्पराय-चरमादधोऽनादित्वम् । अभव्ये ध्रुवत्व यदा अनुत्कृष्ट रयत्वात् उत्कृष्टं मन्नाति तदा अध्रुवत्वमिति । अजघन्येऽप्येवमेव चतुर्विध । तथा—सप्तमपृथिव्यां प्रथमापशमसम्यक्त्वाभाभुत्वा मिथ्यादृष्टिश्चरमसमये

नोचैर्गोत्रानुभाग जघन्य बहुधा सम्पत्तिर्धृत्वा तदनुभागमजघन्य भवति तदास्य सादित्वं द्वितीयादिसमयेषु आदित्वमिति चतुर्विधं यथासम्भवं दृष्टव्यम् ।—अनुभाग य प्रवेश बन्ध सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव भेदतः चार प्रकार हो है । बहुरि अजघन्य भी ऐसे ही अनुकृष्ट-वत् चार प्रकार हो है । इनके लक्षण यहाँ उदाहरण मात्र किंचित् कहिये हैं—उपशम श्रेणी चढ़नेवाला जीव सूक्ष्म साम्प्रदाय गुण-स्थानवर्ती भया तहाँ उत्कृष्ट उच्चगोत्रका अनुभागबन्ध करि पीछे उपशान्तकपाय गुणस्थानवर्ती भया । बहुरि इहाँ तँ उत्तरि करि सूक्ष्मसाम्प्रदाय गुणस्थानवर्ती भया । तहाँ अनुकृष्ट उच्चगोत्रका अनुभागबन्ध किया । तहाँ इस अनुकृष्ट उच्चगोत्रके अनुभागको सादि कहिये । आते अनुकृष्ट उच्चगोत्रके अनुभागका अभाव होइ बहुरि सद्भाष भया तातँ सादि कहिये । बहुरि सूक्ष्मसाम्प्रदाय गुणस्थानतँ नीचेके गुणस्थानवर्ती जीव हैं तिनके सो बन्ध अनादि है । बहुरि अभव्य जीव विषेँ सो बन्ध ध्रुव है । बहुरि उपशम श्रेणीवालेके जहाँ अनुकृष्टको उत्कृष्ट बन्ध हो है तहाँ सो बन्ध अध्रुव है ऐसे अनुकृष्ट उच्चगोत्रके अनुभाग बन्धविषेँ सादि अनादि ध्रुव अध्रुव चारि प्रकार कहै । ऐसे ही जघन्य भी चारि प्रकार हैं सो कहिये हैं । सप्तम नरक पृथिवीविषेँ प्रथमोपशम सम्पत्त्वका सन्मुख भया मिथ्यादि जीव तहाँ मिथ्यादि गुणस्थानका अन्तसमय विषेँ जघन्य नीच-गोत्रके अनुभागको बान्धे है । बहुरि सो जीव सम्पत्ति होइ पीछे मिथ्यात्वके उदयकरि मिथ्यादि भया तहाँ अजघन्य नोचगोत्रके अनुभागको बान्धे है । तहाँ इस अजघन्य नीचगोत्रके अनुभागको सादि कहिये । बहुरि तिस मिथ्यादि तिस अतसमयतँ पहिले सो बन्ध अनादि है । अभव्य जीवके सो बन्ध ध्रुव है । जहाँ अजघन्यको छोड़ जघन्यको प्राप्त भया तहाँ सो बन्ध अध्रुव है । ऐसे अजघन्य नोचगोत्रके अनुभागविषेँ सादि अनादि ध्रुव अध्रुव चारि प्रकार कहै । ऐसे ही यथा सम्भव और भी बन्ध विषेँ सादि अनादि ध्रुव अध्रुव चारि प्रकार जानते । प्रकृति बन्ध विषेँ उत्कृष्ट अनुकृष्ट जघन्य अजघन्य ऐसे भेद नाहीं हैं । स्थिति, अनुभाग, प्रवेशबन्धनि विषेँ वे भेद यथा योग्य जानने ।

६ अनुभाग स्थान सामान्यका लक्षण

घ १२/४,२,७,२००/१११/१२ एगजीवन्मि एक्कन्मि समये जो दोसदि कम्मणुभागो त ठाण गाम—एक जीवमें एक समयमें जो कम्मणिभाग दिवता है उसे स्थान कहते हैं ।

क पा ४/४-२२/४७२/३३६/१ अनुभागठाण गाम चरिमफहयचरिम-वर्गणाए एगपरमाणुहि द्विदणुभागठाणविभागपठिच्छेदकलावो । सो उक्कहणाए वट्ठि । —अन्तिम स्पर्धककी अन्तिम वर्गणके एक परमाणुमें स्थित अनुभागके अविभाग प्रतिच्छेदोंके समूहको अनुभाग स्थान कहते हैं । प्रश्न—ऐसा माननेपर 'एक अनुभाग स्थानमें अनन्त स्पर्धक होते हैं' इस सूत्रके साथ विरोध आता है । उत्तर—नहीं, क्योंकि जघन्य अनुभाग स्थानके जघन्य स्पर्धकसे लेकर ऊपरके सर्व स्पर्धक उसमें पाये जाते हैं । प्रश्न—तो एक अनुभाग स्थानमें जघन्य वर्गणसे लेकर उत्कृष्ट स्थानकी उत्कृष्ट वर्गणा पर्यन्त क्रमसे बढ़ते हुए प्रदेशोंके रहनेका जो कथन किया जाता है उसका अभाव प्राप्त होता है । उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि जहाँ यह उत्कृष्ट अनुभागवाला परमाणु है, वहाँ भया यह एक ही परमाणु है या अन्य भी परमाणु हैं । ऐसा पूछा जानेपर कहा जायेगा कि वहाँ वह एक ही परमाणु नहीं है, किन्तु वहाँ अनन्त कर्मस्कन्ध होने चाहिए और उन कर्मस्कन्धोंके अवस्थानका यह क्रम है, यह बतलानेके लिए अनुभाग स्थानकी उक्त प्रकारसे प्ररूपणा की है । प्रश्न—जैसे योग-स्थानमें जीवके सब प्रदेशोंकी सब योगोंके अविभाग प्रतिच्छेदोंको लेकर स्थान प्ररूपणा की है वैसे कथन यहाँ क्यों नहीं करते । उत्तर—नहीं, क्योंकि वैसे कथन करनेपर अध स्थित गलनाके द्वारा और अन्य प्रकृति रूप संक्रमणके द्वारा अनुभाग काण्डककी अन्तिम फाली-

को छोड़कर द्विचरम आदि फालियोंमें अनुभागस्थानके घातका प्रसंग आता है । किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि काण्डक घातको छोड़कर अन्यत्र उसका घात नहीं होता ।

स सा/आ ४२ यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिरसपरिणामलक्षणानि अनुभाग-स्थानानि ।—भिन्न-भिन्न प्रकृतियोंके रसके परिणाम जिनका लक्षण है, ऐसे जो अनुभाग स्थान ।

७. अनुभाग स्थानके भेद

घ १२/४,७,२,२००/१११/१३ त च ठाण दुविह—अणुभागमघट्टाण अणु-भागसतट्ठाण चेदि ।—वह स्थान दो प्रकारका है—अनुभाग बन्ध स्थान व अनुभाग सत्त्वस्थान ।

क पा ४/४-२२/ठाणप्ररूपणा सूत्र/५३०/१४ सत्त्वमघट्टाणानि तिवि-हाणि—बधसमुत्पत्तियाणि हदसमुत्पत्तियाणि हदहदसमुत्पत्तियाणि । —सत्त्वमस्थान (अनुभाग) तीन प्रकारके हैं—बन्धसमुत्पत्तिक हतस-मुत्पत्तिक और हतहतसमुत्पत्तिक । (क पा ४/४-२२/४१८६/१२४/८) ।

८. अनुभागस्थानके भेदोंके लक्षण

१. अनुभाग सत्त्वमका लक्षण

घ १२/४,२,४,२००/११२/१ जमणुभागठाणं घादिज्जमाणं मघाणुभाग-ठाणेण सरिसण हेदि बधअट्ठक उव्वकाण विञ्चाले हेट्ठिम उव्वकादो अणत्तगुण उव्वमि अट्ठ कादो अणत्तगुणहीणं होइण चेट्ठिदि, तमणु-भागसत्त्वमघट्टाण ।—घाता जानेवाला जो अनुभागस्थान बन्धानु-भागके सदृश नहीं होता है, किन्तु बन्ध सदृश अष्टांक और उर्वर्धके मध्यमें अवस्तन उर्वर्धके अनन्तगुणा और उपरिम अष्टांकके अनन्त-गुणा हीन होकर स्थित रहता है, वह अनुभाग सत्त्वमस्थान है ।

२ अनुभागबन्धस्थानका लक्षण

घ १२/४,२,७,२००/११३ तथ ज बधेण णिप्फण्ण त मघट्टाण गाम । पुब्बमघाणुभागे वादिज्जमाणे जं मघाणुभागेण सरिस होइण पददि तं पि मघट्टाणं चेव, तस्सरिसअणुभागमधुवत्तभादो । —जो बन्धसे उत्पन्न होता है वह बन्धस्थान कहा जाता है । पूर्व बद्ध अनुभागका घात किये जानेपर जो बन्ध अनुभागके सदृश होकर पड़ता है वह भी बन्धस्थान ही है, क्योंकि, उसके सदृश अनुभाग बन्ध पाया जाता है ।

३ बन्ध समुत्पत्तिक अनुभाग सत्त्वमस्थानका लक्षण

क पा ४/४-२२/४७२/३३६/१ बन्धासमुत्पत्तियेषां तानि बन्धसमुत्पत्ति-कानि । —जिन सत्त्वमस्थानोंकी उत्पत्ति बन्धसे होती है, उन्हें बन्ध-समुत्पत्तिक कहते हैं ।

क पा ४/४-२२/४१८६/१२४/६ हदसमुत्पत्तियं कावूणच्छेदसुहमणिगोद-जहण्णानुभागसत्त्वमघट्टाणमादि कावूण जाव सत्त्वमघट्टाणमादि-पज्जतसन्नुल्लसणुभागमघट्टाणे त्ति ताव एदाणि असखे० लोगमेत्ता-छट्टाणानि बधसमुत्पत्तियंठाणानि त्ति भण्णत्ति, बधेण समुत्पण्ण-त्तादि । अणुभागसत्त्वमघट्टाणमादि जमुत्पण्णमणुभागसत्त्वमघट्टाण तं पि एरथ बधट्टाणमिदि घेतव्व, बधट्टाणसमाणात्तादि । —१ हत-समुत्पत्तिक सत्त्वमको करके स्थित हुए सूक्ष्म निगोदिया जीवके जघन्य अनुभाग सत्त्वस्थानके समान बन्धस्थानसे लेकर सक्षी पंचेन्द्रिय पर्याप्तिकके सर्वोत्कृष्ट अनुभागबन्धस्थान पर्यन्त जो अस्तर्यात लोकप्रमाण पदस्थान हैं उन्हें बन्ध समुत्पत्तिकस्थान कहते हैं, क्योंकि वे स्थान बन्धसे उत्पन्न होते हैं । २ अनुभाग सत्त्वस्थानके घातसे जो अनुभाग सत्त्वस्थान उत्पन्न होते हैं उन्हें भी यहाँ बन्धस्थान ही मानना चाहिए, क्योंकि वे बन्धस्थानके समान हैं । (सारांश यह है कि बन्धनेवाले स्थानोंको ही बन्धसमुत्पत्तिक-स्थान नहीं कहते, किन्तु पूर्वबद्ध अनुभागस्थानोंमें भी रसघात होने-से परिवर्तन होकर समानता रहती है तो वे स्थान भी बन्धस्थान ही कहे जाते हैं ।

४ हतसमुत्पत्तिक अनुभाग सत्कर्मस्थानका लक्षण

घ १२/४.२७ ३६/२६/४ 'हृदसमुत्पत्तिकसम्पन्न' इति वृत्ते पुष्टिपुष्टमणु-
भागसत्कर्मस्य सव्य धादिय अणतगुणहोणं काहुण टिठ्ठेण' इति
वृत्त होदि । — 'हतसमुत्पत्तिक कर्मवाले ऐसा कहनेपर पूर्वक समस्त
अनुभाग सत्यका घात करके और उसे अनस्त गुणा हीन करके स्थित
हुए जीवके द्वारा, यह अभिप्राय समझना चाहिए ।

क पा १/४/४ २२/४४००/३३१/१ हते समुत्पत्तिर्येषां तानि हतसमुत्पत्ति-
कानि । — घात किये जानेपर जिन सत्कर्मस्थानोंकी उत्पत्ति होती
है, उन्हें हतसमुत्पत्तिक कहते हैं ।

क पा १/४/४-२२/४४००/३३१/१ पुणो एवेत्तिमसंखे० लोगमेत्तच्छट्ठाणाणं
मज्जे अगतगुणवद्दि-अणतगुणहाणि अट्ठकुठ्वकाण विच्चात्तेसु अ-
संखे० लोगमेत्तच्छट्ठाणाणि हृदसमुत्पत्तिसत्कर्ममद्वाणाणि भण्णंति ।
बंधट्ठाणावाधेण बंधट्ठाणाण विच्चात्तेसु जच्च तरभायेण उप्पण-
त्तादो । — इन असत्वात् लोकप्रमाण पदस्थानोंके मध्यमें अष्टक
और उर्वक रूप जो अणतगुणवृद्धि और अणतगुणहानियाँ हैं उनके
मध्यमें जो असत्वात् लोकप्रमाण पदस्थान हैं, उन्हें हतसमुत्पत्तिक
सत्कर्मस्थान कहते हैं । क्योंकि बंधस्थानका घात होनेसे बन्धस्थानोंके
बीचमें ये जात्यन्तर रूपसे उत्पन्न हुए हैं ।

५ हतहतसमुत्पत्तिक अनुभाग सत्कर्मस्थानका लक्षण

क पा १/४/४-२२/४४००/३३१/२ हतस्य हति हतहति सत समुत्पत्तिर्येषां
तानि हतहतसमुत्पत्तिकानि । — घाते हुएका पुन घात किये जाने-
पर जिन सत्कर्मस्थानोंकी उत्पत्ति होती है, उन्हें हतहतसमुत्पत्तिक
कहते हैं ।

क पा १/४/४-२२/४४००/३३१/२ पुणो एवेत्तिमसंखे० लोगमेत्ताणं हृदसमु-
त्पत्तिसत्कर्ममद्वाणाणमणतगुणवद्दि-हाणि अट्ठकुठ्वकाण विच्चा-
त्तेसु असंखे० लोगमेत्तच्छट्ठाणाणि हृदहृदसमुत्पत्तिसत्कर्ममद्वाणाणि,
बुच्चंति, धादियुप्पण अणुभागट्ठाणाणि बंधाणभागट्ठाणेहितो विसरि-
साणि धादियमधसमुत्पत्तय-हृदसमुत्पत्तयअणुभागट्ठाणेहितो विस-
रिसभावेण उप्पाइत्तादो । — इन असत्वात् लोकप्रमाण हतसमुत्प-
त्तिकसत्कर्मस्थानोंके जो कि अष्टक और उर्वकरूप अनन्तगुण वृद्धि-
हानिरूप हैं, बीचमें जो असत्वात् लोकप्रमाण पदस्थान हैं, उन्हें हत-
हतसमुत्पत्तिक सत्कर्मस्थान कहते हैं । बन्धस्थानोंसे विलक्षण जो
अनुभागस्थान रसघातसे उत्पन्न हुए हैं, उनका घात करके उत्पन्न हुए
ये स्थान बन्धसमुत्पत्तिक और हतसमुत्पत्तिक अनुभागस्थानोंसे
विलक्षणरूपसे ही वे उत्पन्न किये जाते हैं ।

२ अनुभागवन्ध निर्देश

१ अनुभाग वन्धसामान्यका कारण

प ख १२/४-२ ८ सत्त १३/२८८ फसायपचाए टिठ्ठिअणुभागवेयण॥१३॥
— कपाय प्रत्ययसे स्थिति व अनुभाग वेदना होती है । (स सि ८/३/
३७६) (रा वा ८/३.१०/६६७) (घ १२/४-२ ८-१३/गा २/४८६) (न च
वृ १६६) (गो क/मू २६/२६४) (प्र सं/मू १३३) ।

२. शुभाशुभ प्रकृतियोंके जघन्य व उत्कृष्ट अनुभागवन्धके कारण

प सं १४/४१-४६२ सुहयमडीण विसोही तिक्खं असुहाण सकिलेसेण ।
विबरीए दू जहणो अणुभाओ सव्यपयडीण ॥४६१॥ भायात् पि पसरया
विसोहिण्ण उल्लहस्स तिक्खाओ । वासीय अप्सरया मिच्छुककसंकि
लिट्ठस्स ॥४४२॥ — शुभ प्रकृतियोंका अनुभागवन्ध विशुद्ध परिणामोंसे
सीध अर्थात् उत्कृष्ट होता है । अशुभ प्रकृतियोंका अनुभागवन्ध
संबलेश परिणामोंसे उत्कृष्ट होता है । इससे विपरीत अर्थात् शुभ
प्रकृतियोंका सबलेशसे और अशुभ प्रकृतियोंका विशुद्धिसे जघन्य
अनुभाग बन्ध होता है ॥४६१॥ जो ब्यालीस प्रशस्त प्रकृतियाँ हैं,
उनका उत्कृष्ट अनुभागवन्ध विशुद्धिगुणकी उत्कृष्टता वाले जीवके

होता है तथा ब्यालीस जा अप्रशस्त प्रकृतियाँ हैं उनका उत्कृष्ट
अनुभाग बन्ध उत्कृष्ट सबलेशवाले मिथ्यादि जीवके होता है ॥४६२॥
(स सि ८/२१/३६८) (रा वा १५/२१.६/६८/१४) (गो क/मू १६३-
१६४/१६६) (प सं/मू २/२७३ २७४) ।

३ शुभाशुभ प्रकृतियोंके चतु स्यानीय अनुभाग निवश

प सं/मू १/४/४८७ सुहयमडीण भावा गृह-टीसगाममान खलु गरिमा ।
इयरा दू णिमकजीरविमहाताहसेय अहमाई । — शुभ प्रकृतियोंके
अनुभाग गुड़ खाँट शकर और अमृतके तुल्य उत्तरीतर मिष्ट होते
हैं । पाप प्रकृतियोंका अनुभाग निष, काँजीर विष व हातातक
समान निरवयव उत्तरात्तर मृदुग जाता । (प म/४/३१६) (गो
क/मू १८६/२१६) (प्र सं/टी ३/१६) ।

४ प्रदेशोंके विना अनुभागवन्ध सम्भव नहीं

घ ६/१ ६.७ ४३/२०१/६ अणुभागमधादा वममधो सत्तारणजागट्ठाणाणि
च सिट्ठाणि हाति । कुरो । पदसेह विना अणुभागानुववत्तादो ।
— अनुभाग बन्धसे प्रदेश बन्ध और उसक कारण ज्ञत यागस्थान
सिद्ध होते हैं, क्योंकि प्रदर्शक विना अनुभाग बन्ध नहीं हो सकता ।

५ परन्तु प्रदेशोंकी हीनाधिपतासे अनुभागकी हीना- धिकता नहीं होती

क पा/४/४ २२/६६४७/३३७/११ टिठ्ठिअणु पदसगतण अणुभावाघादो
णत्थि चि जाणारणट्ठ । — प्रदेशोंके गलनेसे जैसे स्थिति घात होता
है वैसे प्रदेशोंके गलनेसे अनुभागका घात नहीं होता ।

क पा/४/४ २२/६६४७/३३६/१ उल्लिहट्ठे अणुभागट्ठाणाविभागवटि-
छेदाण बट्ठोए अभावादो । ण सो उल्लङ्गाए गट्ठिद मधेण विना
तदुक्कट्ठाणाणुववत्तादो । — उत्कृष्टणके होनेपर अनुभाग स्थानक अवि-
भागप्रतिच्छेदकी वृद्धि नहीं होती है । अनुभागके अविभाग
प्रतिच्छेदका समूह रूप वह अनुभाग स्थान उत्कर्षणसे नहीं बढ़ता,
क्योंकि बन्ध के विना उनका उत्कर्षण नहीं बन सकता ।

घ १२/४.२७ २०१/११६/६ जोगवट्ठोदो अणुभागवट्ठोए अभावादो ।
— योग वृद्धिसे अनुभाग वृद्धि सम्भव नहीं ।

३ घाती अघाती अनुभाग निर्देश

१. घाती व अघाती प्रकृतिके लक्षण

घ ७/२ १.१६/६२/६ केवलणान-व सण सम्मत्त-चारित्तवीरियाममयेय-
भेयभिण्णान जीवगुणान विरोहित्तेण तेमि धादियवदसादो ।
— केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र और बौद्ध रूप जो अनेक
भेद-भिन्न जीवगुण हैं, उनके उत्त कर्म विरोधी अर्थात् घातक होते
हैं और इसलिए ये घातियाकम कहलाते हैं । (पा क/जी प्र १/०/८)
(पं घ/उ ६६८) ।

घ ७/२.१ १६/६२/७ संसकम्माणं धादिववदसेो विण्ण होदि । ण तेसि
जीवगुणविनासणसत्तीए अभावा । — दोष कर्मोंकी घातिया नहीं कहते
क्योंकि, उनमें जीवके गुणोंका विनाश करनेकी शक्ति नहीं पायी
जाती । (पं घ/उ ६६६) ।

२ घाती अघातीकी अपेक्षा प्रकृतियोंका विभाग

रा वा ८/२३.७६८४/२८ ता पुन कर्मप्रकृतयो द्विविधा — घातिका
अघातिकाश्चेति । सत्र ज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायारया घातिका ।
इतरा अघातिका । — बह कर्म प्रकृतियाँ दो प्रकारकी हैं—घातिया
व अघातिया । तहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोह व अन्तराय ये हो
घातिया हैं और शेष चार (वेदनीय आयु नाम, गोत्र) अघातिया ।
(घ ७/२.१ १६/६२) (गो क/मू ७.६/७) ।

३. जीवविपाकी प्रकृतियोंकी घातिया न कहनेका कारण

घ ७/२.१ १६/६३/१ जीवविवाङ्मणमममवेयणियाण धादियममववरसेो
किण्ण होदि । ण जीवस्स अणप्पभूदसुभगदुभगादिपज्जयसमुत्पाये

मामदानं जीव-गुणविनाशयत्तविरहादो । जीवस्स सुहविणासिय
दुपलप्पायय असादावेदणीयं घादिववएस कण्ण लहवे । ण तस्स
घादिकम्मसहायस्स घादिकम्महि विणा सकलकरणे असमस्यस्स सवो
तस्य पउत्तो णरिय त्ति जाणावणट्ठे तत्त्ववएसकरणादो । —प्रश्न—
जीवविपाकी नामकर्म एव वेदनीय कर्मोको घातिया कर्म क्यों नहीं
माना । उत्तर—नहीं माना, क्योंकि, उनका काम अनारम्भभूत सुभग
दुर्भग आदि जीवकी पर्याये उत्पन्न करना है, जिससे उन्हें जीवगुण
विनाशक माननेमें विरोध उत्पन्न होता है । प्रश्न— जीवके सुखको
नष्ट करके वृत्त उत्पन्न करनेवाले असादावेदनीयको घातिया कर्मनाम
क्यों नहीं दिया । उत्तर—नहीं दिया, क्योंकि, वह घातियाकर्मोका
सहायक मात्र है और घातिया कर्मोके बिना अपना कार्य करनेमें
असमर्थ तथा उसमें प्रवृत्ति रहित है । इसी बातको बतलानेके लिए
असादा वेदनीयको घातिया कर्म नहीं कहा ।

४. वेदनीय भी कथञ्चित् घातिया है

गो क/मू/१६/१२ घादिव वेयणीयं मोहस्स बलेण घादवे जीवं । इदि
घादीणं मल्ले मोहस्सादिमिह पविडे तु ॥१६॥ —वेदनीयकर्म घातिया
कर्मवत् मोहनीयकर्मका भेद जो रति अरति तिनके उदयकाल करि
हो जीवको घातै है । इसी कारण इसको घाती कर्मोके बीचमें
मोहनीयसे पहिले गिना गया है ।

५. अन्तराय भी कथञ्चित् अघातिया है

गो क/मू/१७/११ घादीवि अघादि वा णिस्सेस घावणे असक्कादो ।
णामतिमणिमितादो विग्घं पठिद अघादि चरिममिह ॥१७॥ —अन्त-
रायकर्म घातिया है तथापि अघातिया कर्मवत् है । समस्त जीवके
गुण घातनेको समर्थ नाहीं है । नाम, गोत्र, वेदनीय इन तीन कर्मनिके
निमित्तहीं हो इसका व्यापार है । इसी कारण अघातियानिके पीछे
अन्त विपै अन्तराय कर्म कहा है ।

घ १/१ १,१४/४४ रहस्यमन्तरायं, तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविना-
भाविनो भ्रष्टजीवजन्तु शक्तीकृताघातिकर्मणो हननादिरहन्ता ।
—रहस्य अन्तरायकर्मको कहते हैं । अन्तराय कर्मका नाश शेष तीन
घातिया कर्मोके नाशका अविनाभावो है और अन्तरायकर्मके नाश
होनेपर अघातिया कर्म भ्रष्ट बीजके समान निश्चक हो जाते हैं ।

४ सर्वघाती व देशघाती अनुभाग निर्देश

१. सर्वघाती व देशघाती अनुभाग निर्देश

रा वा/८/२३,७/४८४/२६ घातिकास्वापि द्विविधा सर्वघातिका देश-
घातिकास्वेति । —घातिया प्रकृतियों भी दो प्रकार हैं—सर्वघाती व
देशघाती । (घ ७/२,१,१६/६३/६) (गो क/जी प्र/३८/४८/२) ।

२ सर्वघाती व देशघातीके लक्षण

क पा ६/३३/३१ सव्वघादि त्ति किं । सगपठिमन्न जीवगुणं सव्वं
णिरवसेस घाडं विणासिदु सीलं जस्स अणुभागस्स सो अणुभागो
सव्व घादी । —सर्वघाती इस पदका क्या अर्थ है । अपनेसे प्रतिमन्न
जीवके गुणको पूरी तरहसे घातनेका जिस अनुभागका स्वभाव है उस
अनुभागको सर्वघाती कहते हैं ।

म सा/टो/३४/६६ सर्वप्रकारेणारमगुणप्रच्छादिका कर्मशक्त्य सर्व
घातिस्पर्शकानि भण्यन्ते विवक्षितकदेशेणारमगुणप्रच्छादिका शक्तयो
देशघातिस्पर्शकानि भण्यन्ते । —सर्वप्रकारसे आरमगुणप्रच्छादक
कर्मोकी शक्तियाँ सर्वघाती स्पर्शक वहे जाते हैं और विवक्षित
एकदेश रूपसे आरमगुणप्रच्छादक शक्तियाँ देशघाती स्पर्शक कहे
जाते हैं ।

३ सर्वघाती व देशघाती प्रकृतियोंका निर्देश

प सं प्रा/४८३-४८४ केवलज्ञानावरणं दसणध्वक्क च मोहवारसयं ।
ता सव्वघादिसण्णा मिस्सं मिच्छसमेयवोसदिम ॥४८३॥ णाणावरण-
चउवक दसणतिगमंतराहो पच । ता होति देशघाई सम्म सज्जलण-

णोकसाया य ॥४८४॥ —केवलज्ञानावरण, दर्शनावरणपटक अर्थात्
पाँच निद्रायें व केवलदर्शनावरण मोहनीयकी मारह अर्थात्
अनन्तानुबन्धी अप्रत्यारण्यान और प्रत्यारण्यान चतुष्क, मिथ्यात्व
और सम्यग्मिथ्यात्व इन २१ प्रकृतियोंकी सर्वघाती संज्ञा है ॥४८३॥
ज्ञानावरणके शेष चार, दर्शनावरणकी शेष तीन, अन्तरायकी पाँच,
सम्यक्त्वप्रकृति, संज्वलनचतुष्क और नौ नोक्पाय—ये छत्तीस
देशघाती प्रकृतियाँ हैं ॥४८४॥ (रा वा/८/२३,७/४८४/२०) (गो क/
मू/३६ ४०/४३) (प सं स/४/३१०-३१२) ।

गो क/जी प्र/६४६/७०८/१४ द्वादश कपायाणां स्पर्धकानि सर्वघातीन्येव
न देशघातीनि । —यारह कपाय अर्थात् अनन्तानुबन्धी, अप्रत्या-
रयान और प्रत्यारयान चतुष्कके स्पर्धक सर्वघाती ही हैं, देश-
घाती नहीं ।

४. सर्व व देशघाती प्रकृतियोंमें चतुःस्थानीय अनुभाग

घ ७/२,१,१६/६३/गा१४ सव्वावरणीय पुण उवक्कस्स होदि दारुणसमाणे ।
हेट्ठा देसावरणं सव्वावरणं च उवरिस्स ॥१४॥ घातिया कर्मोकी जो
अनुभाग शक्ति लता दारु अस्थि और शैल समान कही गयी है,
उसमें दारु तुष्यसे ऊपर अस्थि और शैल तुष्य भागोंमें तो उरकृष्ट
सर्वावरणीय या सर्वघाती शक्ति पायी जाती है, किन्तु दारु सम
भागके निचले अनन्तिम भागमें (व उससे नीचे सम लता तुष्य
भागमें) देशावरण या देशघाती शक्ति है, तथा ऊपरके अनन्त बहु
भागोंमें (मध्यम) सर्वावरण शक्ति है ।

गो क/मू/१८०/२११ सत्ती य लदादारु अट्ठोसेलोवमाहु घादीण । दारु-
अणतिमभागोत्ति देसघादी तदो सव्व । —घातिया प्रकृतियोंमें लता
दारु अस्थि व शैल ऐसी चार शक्तियाँ हैं । उनमें दारुका अनन्तिम
भाग (तथा लता) तो देशघाती हैं और शेष सर्वघाती हैं । (प्र सं/
टो/३३/६३) ।

स सा/भापा टो/४६४/४४०/११ तहाँ जघन्य स्पर्धकते लगाय अनन्त
स्पर्धक लता भाग रूप हैं । तिनके ऊपर अनन्त स्पर्धक दारु भाग
रूप हैं । तिनके ऊपर अनन्त स्पर्धक अस्थि भाग रूप हैं । तिनके
ऊपर उरकृष्ट स्पर्धक पर्यन्त अनन्त स्पर्धक शैल भाग रूप हैं । तहाँ
प्रथम स्पर्धक देशघातीका जघन्य-स्पर्धक है तहाँ तें लगाय लता
भागके सर्व स्पर्धक अर दारु भागके अनन्तवर्ग भाग मात्र (निचले)
स्पर्धक देशघाती हैं । तहाँ अन्त विपै देशघाती उरकृष्ट स्पर्धक
भया । बहुरि ताके ऊपरि सर्वघातीका जघन्य स्पर्धक है । तातें
लगाय ऊपरिके सम स्पर्धक सर्वघाती है । तहाँ अन्त स्पर्धक उरकृष्ट
सर्वघाती जानना ।

५. कर्म प्रकृतियोंमें यथायोग्य चतुःस्थानीय अनुभाग

१ ज्ञानावरणादि सर्व प्रकृतियोंकी सामान्य प्ररूपणा

प सं प्रा/४/४८६ आवरणवेषघातयतरायसज्जलणपुरिसत्तरस । चउविह-
भावपरिणया तिभावसेता सय तु सत्तहियं । —मतिज्ञानावरणादि
चार, चक्षुदर्शनावरणादि तीन, अन्तरायकी पाँच, संज्वलन चतुष्क
और पुरुषवेद, ये सत्तरह प्रकृतियाँ लता, दारु, अस्थि और शैल रूप
चार प्रकारके भावोंसे परिणत हैं । अर्थात् इनका अनुभाग मध्य एक-
स्थानीय, द्विस्थानीय, त्रिस्थानीय और चतुःस्थानीय होता है । शेष
१०७ प्रकृतियाँ दारु, अस्थि और शैलरूप तीन प्रकारके भावोंसे
परिणत होती हैं । उ का एक स्थानीय (केवल लता रूप) अनुभाग
मध्य नहीं होता ॥४८८॥

स सा/भापा टोका/४६४/४४०/१७ केवलके बिना च्यारि ज्ञानावरण,
तीन दर्शनावरण, अर सम्यक्त्व मोहनीय, संज्वलन चतुष्क, नोक्पाय
नव, अन्तराय पाँच इन छत्तीस प्रकृतिनिकी लता समान स्पर्धककी
प्रथम वर्गणा सा एक-एक बर्णके अविभाग प्रतिच्छेदकी अपेक्षा समान
है । बहुरि मिथ्यात्व बिना केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा
पाँच, मित्रमोहनीय, संज्वलन बिना १२ कपाय इन सर्वघाती २०

प्रकृतिके देशघातो स्पर्धक हैं नाहीं। तातें सर्वघाती जघन्य स्पर्धक वर्गणा तैमे हो परस्पर समान जाननो। तहाँ पूर्वोक्त देशघाती छम्बीस प्रकृतिको अनुभाग रचना देशघाती जघन्य स्पर्धक तें लगाम उत्कृष्ट देशघाती स्पर्धक पर्यन्त होइ। तहाँ गम्यवशमोहनीय-का तो इहाँ हो उत्कृष्ट अनुभाग होइ निवरवा। अवशेष २५ प्रकृतिको रचना तहाँ तें ऊपर सर्वघाती उत्कृष्ट स्पर्धक पर्यन्त जाननो। बहुति सर्वघाती बीस प्रकृतिको रचना सर्वघातीका जघन्य स्पर्धक तें लगाम उत्कृष्ट स्पर्धक पर्यन्त है। यहाँ विशेष इतना—सर्वघाती दारु भागके स्पर्धकनिका अनन्तर्वी भागमात्र स्पर्धक पर्यन्त मिश्र मोहनीयके स्पर्धक जानने। ऊपर नहीं है। बहुति इहाँ पर्यन्त मिथ्यात्वके स्पर्धक नाहीं है। इहाँ तें ऊपर उत्कृष्ट स्पर्धक पर्यन्त मिथ्यात्वके स्पर्धक है।

२ मोहनीय प्रकृतिको विशेष प्ररूपणा

क पा ४/४-२२/चूणसूत्र/१८६-२४४/१०६ १५१ उत्तरपयटिअनुभागवि-
हृति वत्तइस्सामो ॥१९८॥ पुत्र गणिज्जा इमा पत्तवणा ॥१९९॥
सम्मत्तस्स पढम देसघादिकइयमादि काहुण जाय चरिम घादिकइय
त्ति एदाणि कइयानि ॥१९९॥ सम्मामिच्छत्तस्स अनुभागसत्तकम्म
सव्वघादिआदिकइयमादिकाहुण वारुअसमाणस्स अणसभागे णिट्ठव
॥१९९॥ मिच्छत्तस्स अनुभागसत्तकम्म जम्मि सम्मामिच्छत्तस्स
अनुभागसत्तकम्म णिट्ठिद तदो अणसरकइयमादत्ता उवरि अप्पठि-
सिद्ध ॥१९९॥ बारसकसायाणमणुभागसत्तकम्म सव्वघादीण दुट्ठा-
णियमादिकइयमादि काहुण उवरिअप्पठिमिद्ध ॥१९९॥ चटुमंजलण-
णवणाकसामाणमणुभागसत्तकम्म देसघादीणमादिकइयमादि काहुण
उवरि सव्वघादि त्ति अप्पठिसिद्ध ॥१९९॥ तथ दुयिघा सण्णा घादि
सण्णा ट्ठ णसण्णा च ॥१९९॥ ताओ दो वि एकादो णिज्जसि ॥१९९॥
मिच्छत्तस्स अनुभागसत्तकम्म जहण्णयं सव्वघादि दुट्ठाणिय ॥१९९॥
उत्तमसयमणुभागसत्तकम्म सव्वघादिचटुट्ठाणियं ॥२००॥ एयं बारस-
कसायछण्णाकसायण ॥२००॥ सम्मत्तस्स अनुभागसत्तकम्म देसघादि
एगट्ठाणियं वा दुट्ठाणियं वा ॥२००॥ सम्मामिच्छत्तस्स अनुभागसत्त-
कम्म सव्वघादि दुट्ठाणियं ॥२००॥ प्पक्क चैव ट्ठाण सम्मामिच्छत्ताणु-
भागस्स ॥२००॥ चटुस जलणणमणुभागसत्तकम्म सव्वघाती वा देस-
घादी वा एगट्ठाणिय वा दुट्ठाणिय वा तिट्ठाणिय वा चटुट्ठाणियं
वा ॥२००॥ इत्थिवेदस्स अनुभागसत्तकम्म सव्वघादी दुट्ठाणियं वा
तिट्ठाणिय वा चटुट्ठाणियं वा ॥२००॥ मोत्तुण खवणचरिमसमयइत्थि-
वेदय उदयणित्तं ॥२००॥ तस्स देसघादी एगट्ठाणिय ॥२००॥ वुरिस-
वेदस्स अनुभागसत्तकम्म जहण्णयं देसघादी एगट्ठाणियं ॥२००॥
सत्तस्साणुभागसत्तकम्म सव्वघादी चटुट्ठाणिय ॥२००॥ णुसुयवेद-
यस्स अनुभागसत्तकम्म जहण्णयं सव्वघादी दुट्ठाणियं ॥२००॥ उक्कस्स-
यमणुभागसत्तकम्म सव्वघादी चटुट्ठाणिय ॥२००॥ णवरि खवणस्स
चरिमसमयणुसुयवेदयस्स अनुभागसत्तकम्म देसघादी एगट्ठाणियं
॥२००॥ —अथ उत्तर प्रत्ति अनुभाग विभक्तिको कहते हैं ॥१९८॥
पहिले इस प्ररूपणाको जानना चाहिए ॥१९८॥ सम्यक्त्व प्रकृतिके
प्रथम देशघाती स्पर्धकसे लेकर अन्तिम देशघाती स्पर्धक पर्यन्त
ये स्पर्धक होते हैं ॥१९९॥ सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिका अनुभागसरकर्म
प्रथम सर्वघाती स्पर्धकसे लेकर दारुके अनन्तर्वी भाग तक होता है
॥१९९॥ जिस स्थानमें सम्यग्मिथ्यात्वका अनुभागसरकर्म समाप्त हुआ
उसके अनन्तरवर्ती स्पर्धकसे लेकर आगे बिना प्रतिपेक्षके मिथ्यात्व
सरकर्म होता है ॥१९९॥ बारह कपायोंका अनुभागसरकर्म सर्वघातियों-
के द्विस्थानिक प्रथम स्पर्धकसे लेकर आगे बिना प्रतिपेक्षके होते हैं।
(अर्थात् दारुके जिस भागसे सर्वघाती स्पर्धक प्रारम्भ होते हैं उस
भागसे लेकर शैल पर्यन्त उनके स्पर्धक होते हैं) ॥१९९॥ चार
संज्वलन और नव नाकपायोंका अनुभागसरकर्म देशघातियोंके प्रथम
स्पर्धकसे लेकर आगे बिना प्रतिपेक्षके सर्वघाती पर्यन्त है। (तो भी
उन समके अन्तिम स्पर्धक समान नहीं हैं) ॥१९९॥ उनमेंसे संज्ञा

दो प्रकारकी है—घाति सज्ञा और स्थान सज्ञा ॥१९९॥ आगे उन दोनों
संज्ञाओंका एक साथ कहते हैं ॥१९९॥ मिथ्यात्वका जघन्य अनुभाग
सरकर्म सर्वघाती और द्विस्थानिक (सज्ञा दारु रूप) है ॥१९९॥
मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अनुभाग सरकर्म सर्वघाती और चतु स्थानिक
(सज्ञा, दारु अस्थि, शैल) रूप है ॥२००॥ इंगी प्रणार बारह सज्ञाय
और छ नौकपायों (विशेष गृहित) का अनुभाग सरकर्म है ॥२००॥
सम्यक्ताका प्रनुभाग सरकर्म देशघाती है और एकस्थानिक तथा
द्विस्थानिक है (सज्ञा रूप तथा सज्ञा दारु रूप) ॥२००॥ सम्यग्मिथ्यात्वका
अनुभागसरकर्म सर्वघाती और द्विस्थानिक (सज्ञा दारु रूप) है
॥२००॥ सम्यग्मिथ्यात्वके अनुभागका एक (द्विस्थानिक) हो स्थान
होता है ॥२००॥ चार संज्वलन कपायोंका अनुभागसरकर्म सर्वघाती
और देशघाती तथा एक स्थानिक (सज्ञा) द्विस्थानिक (सज्ञा
दारु), त्रिस्थानिक (सज्ञा, दारु अस्थि) और चतु स्थानिक
(सज्ञा दारु, अस्थि व शैल) होता है ॥२००॥ ग्रीधेदका अनुभाग
सरकर्म सर्वघाती तथा द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक
होता है (कवन सज्ञारूप नहीं होता) ॥२००॥ मात्र अन्तिम समयवर्ती
क्षपक यावेदीके उदयगत निपेक्षका बारह रूप अनुभाग सर्वघाती
तथा द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक होता है। ॥२००॥
किन्तु उस (पूर्वोक्त क्षपक) का अनुभाग सरकर्म देशघाती और एक
स्थानिक होता है ॥२००॥ पुनर्वेदका जघन्य अनुभाग सरकर्म देशघाती
और एक स्थानिक है ॥२००॥ तथा उत्कृष्ट अनुभाग सरकर्म सर्वघाती
और चतु स्थानिक होता है ॥२००॥ नृपसुखवेदका जघन्य अनुभाग-
सरकर्म सर्वघाती और द्विस्थानिक होता है ॥२००॥ तथा (उसीका)
उत्कृष्ट अनुभागसरकर्म सर्वघाती और चतु स्थानिक होता है
॥२००॥ इतना विदेय है कि अन्तिम समयवर्ती नृपसुखवेदी
क्षपका अनुभागसरकर्म देशघाती और एकस्थानिक होता है ॥२००॥
६. कर्मप्रकृतियोंमें सर्व व देशघाती अनुभाग विषयक

ज्ञाता-समाधान

१ मति आदि ज्ञानावरण देशघाती कैसे हैं

ज्ञानविन्दु—प्रश्न—मति आदि ज्ञानावरण देशघाती कैसे हैं। उत्तर—
मति, श्रुत, अवधि, मन-पर्यय चार ज्ञानावरण ज्ञानाज्ञाको घात करनेके
कारण देशघाती हैं जम कि केवलज्ञानावरण ज्ञानने प्रवृत्त अज्ञाको
घातनेके कारण सर्वघाती हैं। (अवधि व मन-पर्यय ज्ञानावरणमें देश-
घाती सर्वघाती दोनों स्पर्धक हैं। वे—उदय १२)।

२ केवलज्ञानावरण सर्वघाती है या देशघाती

घ १३/१५ २१/२१४/१० केवलज्ञानावरणीय कि सव्वघादी आहो देस-
घादी। ण ताव सव्वघादी, केवलज्ञानस्स निस्सेणाभावे सते जीवा-
भावप्पसगादो आबरणज्जाभावेण सेतावरणणमभावप्पसगादो वा।
ण च देसघादो 'केवलज्ञान-केवलज्ञानावरणीयपयडोओ सव्वघादि-
याओ' त्ति सुत्तेण सह विराहादो एत्थ परिहारो-ण ताव केवलज्ञाना-
वरणीय देसघादो किंतु सव्वघादी चैव निस्सेसमावरिदकेवलज्ञान-
त्तादो। ण च जीवाभावो, केवलज्ञाने आयरिदे वि चटुण्ण णाणाण
संतुल्लभादो। जीवस्मि एवकं केवलज्ञान त च निस्सेसमावरिदं।
क्त्तो पुण चटुण्ण णाणाण संभवो। ण, एदारच्छण्णमगीदानप्पुप्पतीए
इव सव्वघादिणा आवरणेण आयरिदकेवलज्ञानादो चटुण्ण णाणाण-
मुप्पत्तीए विरोहाभावादो। एदाणि चत्तारि वि णाणाणि केवलज्ञानस्स
अवयवा ण होति।—प्रश्न केवलज्ञानावरणीयकर्म क्या सर्वघाती है
या देशघाती। (क) सर्वघाती तो हो नहीं सकता क्योंकि केवलज्ञान-
का नि शेष अभाव मान लेनेपर जोबके अभावका प्रसंग आता है।
अथवा आवरणिय ज्ञानोंका अभाव होनेपर शेष आवरणोंके अभावका
प्रसंग प्राप्त होता है। (ख) केवलज्ञानावरणीय कर्म देशघाती भी नहीं
हो सकता, क्योंकि ऐसा माननेपर 'केवलज्ञानावरणीय और केवल-

दर्शनावरणीय कर्म सर्वघाती है* इस सूत्र के साथ विरोध आता है। उत्तर—केवल ज्ञानावरणीय देशघाती तो नहीं है, किन्तु सर्वघाती हो है, क्योंकि वह केवलज्ञानका निशेष आवरण करता है, फिर भी जीवका अभाव नहीं होता, क्योंकि केवलज्ञानके आश्रित होनेपर भी चार ज्ञानोंका अस्तित्व उपलब्ध होता है। प्रश्न—जीवमें एक केवलज्ञान है। उसे जब पूर्णतया आश्रित कहते हो, तब फिर चार ज्ञानोंका सद्भाव कैसे हो सकता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि जिस प्रकार राखसे ढकी हुई अग्निसे वाष्पकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार सर्वघाती आवरणके द्वारा केवलज्ञानके आश्रित होनेपर भी उससे चार ज्ञानोंकी उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं आता। प्रश्न—चारों ज्ञान केवलज्ञानके अवयव हैं या स्वतन्त्र। उत्तर—वे ज्ञान 1/8।

३ सम्यक्त्व प्रकृति देशघाती कैसे है

क पा ४/४-२२/११६१/१३०/१ लदासमाणजहणफहयमादि काट्टण जाव वेसवादिदारु असमाणक्खत्सफहय ति टिट्ठदसम्मत्ताणुभागस्स कुदो देसवादिच्च। ण, सम्मत्तस्स एगदेसं चादेताणं तदविरोहो। को भागो सम्मत्तस्स तेण घाड्ज्जदि। थिरत्त णिक्कवत्तत्तं। प्रश्न—लता रूप जघन्य स्पर्धकसे लेकर देशघाती दारुरूप उत्कृष्ट स्पर्धक पर्यन्त स्थित सम्यक्त्वका अनुभाग देशघाती कैसे है। उत्तर—नहीं, क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृतिका अनुभाग सम्यग्दर्शनके एकदेशकी घातता है। अतः उसके देशघाती होनेमें कोई विरोध नहीं है। प्रश्न—सम्यक्त्वके कौन से भागका सम्यक्त्व प्रकृति द्वारा घात होता है। उत्तर—उसकी स्थिरता और निष्कलितताका घात होता है। अर्थात् उसके द्वारा घाते जानेसे सम्यग्दर्शनका मूलसे विनाश तो नहीं होता किन्तु उसमें चल, मल आदि दोष आ जाते हैं।

४ सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति सर्वघाती कैसे है

क पा ४/४-२२/११६१/१३०/१० सम्मामिच्छत्तफहयाणं कुदो सब्वादिच्च। णित्तेसम्मत्तघायणादो। ण च सम्मामिच्छत्ते सम्मत्तस्स गघो वि अस्थि, मिच्छत्तसम्मत्तेहिंतो जच्चत्तरभावेणुपपणे सम्मामिच्छत्ते सम्मत्त-मिच्छत्ताणमस्थित्तविरोहादो। प्रश्न—सम्यग्मिथ्यात्वके स्पर्धक सर्वघाती कैसे है। उत्तर—क्योंकि वे सम्पूर्ण सम्यक्त्वका घात करते हैं। सम्यग्मिथ्यात्वके उदयमें सम्यक्त्वकी गन्ध भी नहीं रहती क्योंकि मिथ्यात्व और सम्यक्त्वकी अपेक्षा जात्यन्तररूपसे उत्पन्न हुए सम्यग्मिथ्यात्वमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके अस्तित्वका विरोध है। अर्थात् उस समय न सम्यक्त्व ही रहता है और न मिथ्यात्व ही रहता है किन्तु मिला हुआ दही गुड़के समान एक विचित्र ही मिश्रभाव रहता है।

घ ४/१,७ ४/१६८/६ सम्मामिच्छत्त खओवसमियमिदि चे एव बिह्विव-खलाए सम्मामिच्छत्त खओवसमियं मा होदु, किंतु अवयवव्यव-निराकरणानिराकरण पडुच्च खओवसमियं सम्मामिच्छत्तदव्वक्कम्म पि सब्वादी चेव होदु, जच्चत्तरस्स सम्मामिच्छत्तस्स सम्मत्ता-भावादो। किंतु सहजभागे ण होदि, सहजहासहजहाणेमेयत्त-विरोहा। सम्यग्मिथ्यात्वका उदय रहते हुए अवयवी रूप सम्यक्त्व गुणका तो निराकरण रहता है किन्तु सम्यक्त्व गुणका अवयव रूप अश प्रगट रहता है, इस प्रकार क्षायोपशमिक भी वह सम्यग्मिथ्यात्व द्रव्यकर्म सर्वघाती ही होवे क्योंकि जात्यन्तर सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके सम्यक्त्वका अभाव है। किन्तु ब्रह्मान भाग अब्रह्मान भाग नहीं हो जाता है, क्योंकि ब्रह्मान और अब्रह्मानके एकताका विरोध है।

घ १/१,१ १/१६८/६ सम्यग्दृष्टेनिरन्वयविनाशकारिण सम्यग्मिथ्या-त्वस्य कथं सर्वघातित्वमिति चेन्न, सम्यग्दृष्टे साक्ष्यप्रतिषेधिताम-पेक्ष्य तस्य तथोपदेशात्। प्रश्न—सम्यग्मिथ्यात्वका उदय सम्यग्दर्शन-का निरन्वय विनाश तो करता नहीं है फिर उसे सर्वघाती क्यों कहा। उत्तर—ऐसी शका ठीक नहीं है क्योंकि वह सम्यग्दर्शनकी पूर्णताका प्रतिषेध करता है इत अपेक्षासे सम्यग्मिथ्यात्वको सर्व-घाती कहा है।

घ ७/२,१,७६/११०/८ होदु णाम सम्मत्तं पडुच्च सम्मामिच्छत्तफहयाणं सब्वादिच्च, किंतु असुद्धणं विवक्खिए ण सम्मामिच्छत्तफहयाणं सब्वादिच्चमस्थि, तेसमुदए सते वि मिच्छत्तसवल्लिदसम्मत्तक्ख-स्सुवल भादो। सम्यक्त्वकी अपेक्षा भले ही सम्यग्मिथ्यात्व स्पर्धकों-में सर्वघातीपन हो, किन्तु असुद्धनयकी विषयासे सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके स्पर्धकोंमें सर्वघातीपन नहीं होता, क्योंकि उनका उदय रहनेपर भी मिथ्यात्वमिश्रित सम्यक्त्वका कण पाया जाता है। (घ १४/५,६,१६/२१६/६)।

५ मिथ्यात्व प्रकृति सर्वघाती कैसे है

क पा ४/४-२२/२००/११६/७ कुदो सब्वादिच्च। सम्मत्तासेसावयव-विनाशेण। प्रश्न—यह सर्वघाती क्यों है। उत्तर—क्योंकि यह सम्यक्त्वके सब अवयवोंका विनाश करता है अतः सर्वघाती है।

६ प्रत्याख्यानावरणकपाय सर्वघाती कैसे है

घ ४/१,७,७/२०२/५ एव सते पच्चखलाणं आवरणस्स सब्वादिच्च फिट्ठदि त्ति उत्ते ण फिट्ठदि, पच्चयत्ताणं सब्वादिच्च त्ति त सब्वादी उच्चदि। सब्वापचखलाणं ण घावेदि, तस्स तस्य वावाराभावा। प्रश्न—यदि ऐसा माना जाये (कि प्रत्याख्यानावरण चतुष्कके उदयके सर्व प्रकारके चारित्र विनाश करनेकी शक्तिका अभाव है) तो प्रत्याख्यानावरण कपायका सर्वघातीपन नष्ट हो जाता है। उत्तर—नहीं होता क्योंकि प्रत्याख्यानावरण कपाय अपने प्रतिपक्षी भव प्रत्याख्यान (सयम) गुणकी घातता है, इसलिए वह सबघाती कहा जाता है। किन्तु सर्व अप्रत्याख्यानको नहीं घातता है, क्योंकि इसका इस विषयमें व्यापार नहीं है।

७ मिथ्यात्वका अनुभाग चतुःस्थानीय कैसे हो सकता है

क पा ४/४-२२/११६-२००/१३७-१४०/१२ मिच्छत्ताणुभागस्स दारु-अट्ठि सेलसमाणानि त्ति तिण्णि चेव ट्ठाणाणि लतासमाणफहयाणि उल्लघिय दारुसमाणमि अवठिदसम्मामिच्छत्तुक्खत्तफहयादो अण त गुणभावेण मिच्छत्तजहणफहयम्म अवट्ठाणादो। तदो मिच्छत्तस्स जहण्णासु भागसत्तकम्मं दुट्ठाणियमिदि बुत्ते दारु-अट्ठि समाणफह-याणं गहण कायन्न, अण्णाहा तस्स दुट्ठाणियत्ताणुववत्तीदो। लता-दारुस्थानाभ्यां केनचिदशान्तरेण समानतया पक्खमापन्नस्य दारु-समानस्थानस्य तद्वधपदशोपपत्ते। समुदाये प्रवृत्तस्य शब्दस्य तदवयव-वेऽपि प्रवृत्त्युपलम्भाद्वा। पृ १३७-१३८ लदासमाणफहएहि विना कथं मिच्छत्ताणुभागस्स चदुट्ठाणियत्तं। मिच्छत्तुक्खत्तफहयम्म लदा-दारु-अट्ठि-नेलसमाणट्ठाणाणि चत्तारि षि अस्थि तेसि फहया-विभागल्लिच्छेदाणसंभवो, मिच्छत्तुक्खत्ताणुभागसत्तकम्मं चदुट्ठा-णियमिदि बुत्ते मिच्छत्तेगुहस्सफहयस्सेव कथं गहण। ण मिच्छत्तु-क्खत्तफहयचरियवग्गणाए एगपरमाणुणा धरिदअण ताविभागपल्लिच्छेद-णिध्वण्णअण त फहयाणुक्खत्ताणुभागसत्तकम्मववरसादो। प्रश्न—मिथ्यात्वके अनुभागके दारुके समान अस्थिके समान और शैलके समान, इस प्रकार तीन ही स्थान हैं। क्योंकि लता समान स्पर्धकों-को उल्लघन करके दारुसमान अनुभागमें स्थित सम्यग्मिथ्यात्वके उत्कृष्ट स्पर्धकसे मिथ्यात्वका जघन्य अनुभागसत्तकम्मं द्विस्थानिक है ऐसा कहनेपर दारुसमान और अस्थिसमान स्पर्धकोंका ग्रहण करना चाहिए अन्यथा वह द्विस्थानिक नहीं बन सकता। उत्तर—किसी अशान्तरकी अपेक्षा समान होनेके कारण लता समान और दारु समान स्थानोंमें दारुस्थान अभिन्न है, अतः उसमें द्विस्थानिक व्यप-देश हो सकता है। अथवा जो शब्द समुदायमें प्रवृत्त होता है, उसके अवयवोंमें भी उसकी प्रवृत्ति देखी जाती है अतः केवल दारुसमान स्थानोंको ही द्विस्थानिक कहा जाता है। प्रश्न—जय मिथ्यात्वके स्पर्धक लता समान नहीं होते तो उसका अनुभाग चतुःस्थानिक कैसे है। उत्तर—मिथ्यात्वके उत्कृष्ट स्पर्धकमें लता समान, दारु समान, अस्थिसमान और शैलसमान चारों ही स्थान हैं क्योंकि उनके

स्पर्धकोंके अविभाग प्रतियोगिताकी संख्या यहाँ पायी जाती है। और बहुत अविभाग प्रतियोगितामें स्तोक अविभाग प्रतियोगिता होना असंभव नहीं है, क्योंकि एक आदि संख्याके अविभाग प्रतियोगिताकी संख्या बहुत नहीं हो सकती। प्रश्न—मिथ्यात्वका उत्कृष्ट स्पर्धकता ही प्रत्यक्ष कैसे होता है? उत्तर—नहीं क्योंकि मिथ्यात्वके उत्कृष्ट स्पर्धककी अन्तिम वर्णनामें एक परमाणुके द्वारा धारण किये गये अनन्त अविभाग प्रतियोगितासे निष्पन्न अनन्त स्पर्धकोंकी उत्कृष्ट अनुभाग संख्या ही है।

८ मानकपायकी शक्तियोंके दृष्टान्त मिथ्यात्वादि प्रकृतियोंके अनुभागोंमें कैसे लागू हो सकते हैं

क पा ४/४ २२/४१६६/१३६/१ नदा दारु अटिठ-नेलगणाओ माणाणु-भागफलयाण लयाओ कथ मिच्छतास्मि पयट्टंति। ज, माणास्मि अवटिठदचवुह मणाणमणुभागाविभागनिच्छेदेहि समाणत्त पेक्खि-दूण पयडिचिरुद्धमिच्छतादिकद्वयसु मि पमुत्तोए वि राहाभावादो। = प्रश्न—नता दारु अस्थि और हील मक्षार्ण मान कपायके अनुभाग स्पर्धकोंमें की गयी हैं। (दे कपाय ३), ऐसी दशामें ये संज्ञाएँ मिथ्यात्वमें कैसे प्रवृत्त हो सकती हैं? उत्तर—नहीं क्योंकि मान-कपाय और मिथ्यात्वके अनुभागके अविभागी प्रतियोगिता परस्परमें समानता देखकर मानकपायमें होनेवाली चारों संज्ञाओंकी मानकपाय-से विरुद्ध प्रकृतिवाले मिथ्यात्वादि (सर्व कर्मोंके अनुभाग) स्पर्धकोंमें भी प्रवृत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं है।

५ अनुभाग वन्ध सम्बन्धी कुछ नियम व प्ररूपणाएँ

१ प्रकृतियोंके अनुभागकी तरतमता सम्बन्धी सामान्य नियम

घ १२/४ २७६४/४४/४ महाविसयस्स अणुभागे महलो होदि थोव-विसयस्स अणुभागे थोवो होदि। खवगसेठीए देग्घादिग्धकण्णे जत्तम पुव्वमेव अणुभागमथो देशघाटी जाहो तस्माणुभागे थोवो। जत्तम पच्छा जादो तस्म मटुआ। = महान् विषयवाली प्रकृतिया अनु-भाग महात् होता है और अल्प विषयवाली प्रकृतिया अनुभाग अल्प होता है। यथा - स्वप्नश्रेणीमें देशघाटी मन्धरकरणके समय जिसका अनुभाग मन्ध पहले ही देशघाटी हो गया है उसका अनुभाग स्तोक होता है और जिसका अनुभागमन्ध पीछे देशघाटी होता है उसका अनुभाग बहुत होता है। (घ १२/४, २७, २४/६६/१५)।

२ प्रकृति विशेषोंमें अनुभागकी तरतमताका निर्देश

१ ज्ञानावरण व दर्शनावरणके अनुभाग परस्पर समान होते हैं

प ख १२/४ २७/४३/३३/२ णाणावरणीय दसणावरणीयधेयणाभावदो जहणियाओ दो वि तुल्लाओ अण तगुणाओ। = भावकी अपेक्षा ज्ञाना-वरणीय और दर्शनावरणकी जघन्य वेदनाएँ दोनों ही परस्पर तुल्य होकर अनन्तगुणी हैं।

२ केवलज्ञान, दर्शनावरण, असाता व अन्तरायके अनुभाग परस्पर समान हैं

प ख १२/४, २७/सू ७६/४६/६ केवलणाणावरणीय केवलदसणावरणीय असादवेदणीय वीरियतराद्यं च चत्तारि वि तुल्लाणि अण तगुणही-णाणि ॥७६॥ केवलज्ञानावरणीय, केवलदर्शनावरणकी, असातावेदनीय और वीरियतराय ये चारों ही प्रकृतियाँ तुल्य होकर उससे अनन्त-गुणी हैं ॥७६॥

३ तिर्यचायुसे मनुष्यायुका अनुभाग अनन्तगुणा है

घ १२/४, २७, १३६/४२/४२/१२ सहावदो चेव तिरिक्खाडआणुभागादो मणुसाअभावरम अण तगुणात्ता। = स्वभावसे ही तिर्यचायुके अनुभाग-से मनुष्यायुका भाव अनन्त गुणा है।

३ जघन्य व उत्कृष्ट अनुभागके वन्धनों सम्बन्धी नियम

१ अघातिया गर्भोणा उत्कृष्ट अनुभाग सम्बन्धितो ही वन्धता है, मिथ्यादृष्टिको नहीं

घ १२/४, २७, १३६/४४/६/४ न च मिच्छादिट्ठासु अघादिग्धमाणा-मुक्कसभावो अरिप सम्मादिट्ठासु नियमिद्वयस्साणुभागरम मिच्छ-दिट्ठासु सभावोहादो। = मिथ्यादृष्टि जागोमें अघातियर्माका उत्कृष्ट भाव मभव नहीं है क्योंकि सम्बन्धित जागोमें नियमसे पाये जायमाने अघाति गर्भोंके उत्कृष्ट अनुभागके मिथ्यादृष्टि जागो-में होनेका विरोध है।

घ १२/४, २७, १३६/४४/६/२ अयंजदग्धमादिट्ठणा मिच्छादिट्ठणा मा षट्ठम देवाअउ पेक्खिदूण अण्णमथयसु उमस्सत्तविहाहादो। तेण अण तगुणहीणा। = सम्बन्धित और मिथ्यादृष्टि द्वारा बान्धी गर्भो मनुष्यायु चूर्ति देवायुके अपेक्षा अग्रदात है, अतएव उगक उत्कृष्ट होनेका विरोध है। इसी कारण वह अनन्तगुणी होन है।

२ गौरवकर्मका जघन्य अनुभागवन्ध तेज व वातायिकों-में ही सम्भव है

घ १२/४, २७ १३२/४४/१८ वादरतेउक्कामजत्तएसु जदजहणाणु-भागेण सह अण्णएय उत्पत्तोण अभागादो। जदि अण्णएय उत्पन्नदि-तो नियमा अण तगुणवट्ठीए वट्ठिए च्चा उत्पज्जदिण अण्णहा। = वादरतेजकायिक व मायुकायिक पद्मिन्न जीवोंमें उत्पन्न जघन्य अनुभागके माथ अण जीवोंमें उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। यदि वह अण जीवोंमें उत्पन्न होता है तो निश्चयसे वह अनन्तगुण वृद्धिसे वृद्धिको प्राप्त होकर ही उत्पन्न होता है, अन्य प्रकारसे नहीं।

४. प्रकृतियोंके जघन्य व उत्कृष्ट अनुभाग वन्धनोंकी प्ररूपणा

प्रमाण—१ (व नं प्रा ४/४६० ४८२) (दे रियति ६) (क पा ४/४ २३/६२२६-२७६/४४ १८४/विगत माहनाय कर्म विषयक)।

सन्नेत-अनि० = अनिष्टितिकरण गुणस्थानमें उग प्रकृतिको अण्णगुच्छित्ति से पहला समय अप्र० = अपूर्वकरण गुणस्थानमें उस प्रकृतिको मन्धव्युच्छित्तिते पहला समय, अप्र० = अन्तमत्तम तत, अनि० = अनित्तमसम्यग्दृष्टि, क्षपक० = क्षपकश्रेणी चतु० = चतुर्गतिसे जीव ति० = तिर्यग, तीघ० = तीम सन्नेत या कपायमुक्त जीव, देह० = देशमगत ना० = नारकी, प्र० = प्रमत्तमयत, मध्य० = मध्य परिणामों युक्त जीव, मनु० = मनुष्य, मि० = मिथ्यादृष्टि विद्यु० = अरयन्त विशुद्ध परिणामयुक्त जीव, सम्य० = सम्यग्दृष्टि, सा० मि० = साविशय मिथ्यादृष्टि सू० सा० = सूक्ष्ममाप्तरायका चरम समय।

नाम प्रकृति	उत्कृष्ट अनुभाग	जघन्य अनुभाग
ज्ञानावरणीय ४	तीघ० चतु० मि०	सू० सा०
दर्शनावरणाय ४	"	"
निद्रा, प्रचला	"	अप्र०
निद्रा निद्रा प्रचला प्रचला	"	सा० मि०/परम
स्वयानगृष्टि	"	"
अन्तराय ४	"	सू० सा०
मिथ्यात्व	"	सा० मि०/चरम
अनन्तानुबन्धी चतु०	"	"
अप्रत्यागत्यान चतु०	"	प्र० सम्मुख अवि०
प्रसायमान चतु०	"	प्र० सम्मुख देश०
सज्जसन चतु०	"	अनि०
हास्य, रति	"	अप्र०
अरति, शोक	"	अप्र० सम्मुख प्र०
भय, जुगुप्सा	"	अप्र०

नाम प्रकृति	उत्कृष्ट अनुभाग	जघन्य अनुभाग
स्त्री, नपुंसक वेद	तीव्र० चतु० मि०	तीव्र० चतु० मि०
पुरुष वेद	"	अनि०
साता	क्षपक०	मध्य० मि० सम्य०
असाता	तीव्र० चतु० मि०	"
नरकायु	मि० मनु० ति०	मि० मनु० ति०
तिर्यचायु	"	"
मनुष्यायु	"	"
देवायु	अप्र०	"
नरक द्वि०	मि० मनु० ति०	"
तिर्यक् द्वि०	मि० देव० ना०	सप्तम पृ० ना०
मनुष्य द्वि०	सम्य० देव० ना०	मध्य० मि०
देव द्वि०	क्षपक०	मि० मनु० ति०
एकेन्द्रिय जाति	मि० देव	मध्य० मि०
२-४ इन्द्रिय जाति	मि० मनु० ति०	मि० मनु० ति०
५-७ इन्द्रिय जाति	क्षपक०	तीव्र० चतु० मि०
औदारिक द्वि०	सम्य० देव ना०	मि० देव० ना०
वै क्रियक द्वि०	क्षपक०	मि० मनु० ति०
आहारक द्वि०	"	प्र० सन्मुख अप्र०
तैजस शरीर	क्षपक०	तीव्र० चतु० मि०
कार्मण शरीर	"	"
निर्माण	"	"
प्रशस्त वर्णादि ४	"	"
अप्रशस्त वर्णादि ४	तीव्र० चतु० मि०	अपू० मध्य० मि०
समचतुर्वर्त्तस्थान	क्षपक०	मध्य० मि०
शेष पाँच संस्थान	तीव्र० चतु० मि०	"
वज्र ऋषभ नाराच	सम्य० देव ना०	"
वज्र नाराच आदि ४	तीव्र० चतु० मि०	"
असंप्राप्त सृपाटिका	मि० देव ना०	"
अगुरुलघु	क्षपक०	तीव्र० चतु० मि०
उपघात	तीव्र० चतु० मि०	अपू०
परघात	क्षपक०	तीव्र० चतु० मि०

नाम प्रकृति	उत्कृष्ट अनुभाग	जघन्य अनुभाग
आतप	मि० देव	तीव्र० मि० भवन-
उद्योत	"	त्रिकसे ईशान०
उच्छ्वास	सू० सा० मध्य०	मि० देव ना०
प्रशस्त विहायो०	क्षपक०	तीव्र० चतु० मि०
अप्रशस्त विहायो०	तीव्र० चतु० मि०	मध्य० मि०
प्रत्येक	क्षपक०	"
साधारण	मि० मनु० ति०	तीव्र० चतु० मि०
प्रस	क्षपक०	मि० मनु० ति०
स्थावर	मि० देव	तीव्र० चतु० मि०
सुभग	क्षपक०	मध्य० मि० देव
दुर्भग	तीव्र० चतु० मि०	मनु० ति०
सुस्वर	क्षपक०	मध्य० मि०
दुस्वर	तीव्र० चतु० मि०	"
शुभ	क्षपक०	"
अशुभ	तीव्र० चतु० मि०	मध्य० मि० सम्य०
सूक्ष्म	मि० मनु० ति०	"
बाह्य	क्षपक०	मि० मनु० ति०
पर्याप्त	"	तीव्र० चतु० मि०
अपर्याप्त	मि० मनु० ति०	"
स्थिर	क्षपक०	मि० मनु० ति०
अस्थिर	तीव्र० चतु० मि०	मध्य० मि० सम्य०
आदेय	क्षपक०	"
अनादेय	तीव्र० चतु० मि०	मध्य० मि०
यशःकीर्ति	क्षपक०	"
अयशः कीर्ति	तीव्र० चतु० मि०	मध्य० मि० सम्य०
तीथकर	क्षपक०	"
उच्च गोत्र	क्षपक०	ना० सन्मुख अयि०
नीच गोत्र	तीव्र० चतु० मि०	मध्य० मि०
अन्तराग ४	—दे० दशनावरणीयके परघात	सप्तम पृ० ना० मि०

५. अनुभाग विषयक अन्य प्ररूपणाओंका सूचीपत्र

नाम प्रकृति	विषय	ज उ पद म य पु/१ पृ	भुजगारादि पद म य पु/ १/५	ज उ बुद्धि म य पु/१ पृ	पद्म गुण बुद्धि म य पु/१ पृ
१ मूल प्रकृति	सन्निकर्ष भगविचय अनुभाग अध्यवसाय स्थान सम्बन्धी सर्व प्ररूपणार्थ—	४/१७२-१८१/७४-७६ ४/१८२-१८४/७६-८१	४/२८४/१३१ १३२		
२ उत्तरप्रकृति	सन्निकर्ष भगविचय अध्यवसाय स्थान सम्बन्धी सर्व प्ररूपणार्थ—	४/३७१-३८६/१६८-१७६ ४/१-३०८/१-१२६ ४/३०९-३१३/१२६-१२६ ४/६२६ ६५८/३७२-३६८	४/४६२-४६७/२७६-७८		४/३६०-३६१/१६३-१६४ ४/६१७/३६२

अनुभाषण—शुद्ध प्रत्याख्यान—वे प्रत्याख्यान १।

अनुभूति—वे अनुभव।

अनुमत—वे अनुमति।

अनुमति—स्वयं तो कोई कार्य न करना, पर अ यको करनेकी राय देना, अथवा उसके द्वारा स्वयं किया जानेपर प्रसन्न होना, अनुमति कहलाता है।

१ अनुमति सामान्यका लक्षण

रा बा ६/८.६/४१४/११ अनुमतशब्द प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्श-
नार्थ ॥६॥ यथा मौनवृत्तिश्चक्षुष्मात् पश्यन् क्रियमाणस्य कार्यस्या-
प्रतिषेधात् अभ्युपगमात् अनुमन्ता तथा कारयिता प्रयोक्तृत्वात्
तत्समर्थाचरणावहितमन परिणाम अनुमन्तैर्यवगम्यते । —करनेवाले-
के मानस परिणामोंकी स्वीकृति अनुमत है। जैसे कोई मौनी व्यक्ति
किये जानेवाले कार्यका यदि निषेध नहीं करता तो वह उसका

अनुमोदक माना जाता है, उसी तरह करानेवाला प्रयोक्ता होनेसे और उन परिणामोंका समर्थक होनेसे अनुमोदक है। (स सि १६८/३२५) (चा सा ८८/६)।

२ अनुमतिके भेद

मू आ ४१४ पष्ठित्वा पष्ठितुण्यं संवासा चेव अणुमदोतिविहा ।—प्रति सेवा, प्रतिश्रवण, संवास ये तीन भेद अनुमतिके हैं।

३ प्रतिसेवा अनुमति

मू आ ४१४ उद्दिष्टं यदि भुङ्क्ते भोग्यति च भवति प्रतिसेवा ।—उद्दिष्ट आहारका भोजन करनेवाले साधुके प्रतिसेवा अनुमति नामका दोष होता है।

४ प्रतिश्रवण अनुमति

मू आ ४१५ उद्दिष्टं यदि विचरति पुत्रं पच्छा व होदि पष्ठितुण्यं ।—यह आहार आपके निमित्त बनाया गया है। आहारसे पहिले या पीछे इस प्रकारके वचन दाताके मुखसे सुन लेनेपर आहार कर लेना या सन्तुष्ट तिष्ठना साधुके लिए प्रतिश्रवण अनुमति है।

५ संवास अनुमति

मू आ ४१६ सावज्ज संकिल्लो ममत्तिभावो दु संवासो ॥४१६॥—यदि साधु आहारादिके निमित्त ऐसा ममत्वभाव करे कि ये गृहस्थलोक हमारे हैं, वह उसके लिए संवास नामकी अनुमति है।

६ अनुमति त्याग प्रतिमा

र क आ १४६ अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा । नास्ति खलु यस्य समधोरनुमतिविरतः समन्तव्य ॥१४६॥—जिसको आरम्भमें अथवा परिग्रहमें या इस लोक सम्बन्धी कार्योंमें अनुमति नहीं है, वह समबुद्धिवाला निश्चय करके अनुमति त्याग प्रतिमाका धारो मानने योग्य है। (का अ मू ३८८) (वसु आ ३००) (गुणभद्र आ १८२)।
सा ध ७/३१-३४ चैर्यालयस्थ स्वाध्यायं कुर्यान्मध्याह्नवन्दनात् । ऊर्ध्वमामन्त्रित सोऽद्याह गृहे स्वस्य परस्य वा ॥३१॥ यथाप्राप्तमदत् देहसिद्धयर्थं खलु भोजनम् । देहरच धर्मसिद्धयर्थं मुमुक्षुभिरपेक्ष्यते ॥३२॥ सा मे कथं त्यादुद्दिष्टं सावद्याविष्टमनसः । कहि भक्षामृत भोक्ष्ये इति चेच्छेज्जितेन्द्रिय ॥३३॥ पञ्चाचारक्रियोण क्तो निष्कमिष्यन्नसौ गृहात् । आपृच्छते गुरुद्वं मन्धूत् पुत्रादीश्च यथोचितम् ॥३४॥—इस अनुमतिविरति श्रावकको जिनालयमें रहकर ही शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिए तथा मध्याह्न वन्दना आदि कर लेनेके पश्चात् किसीके बुलानेपर पुत्रादिके घर अथवा किसी अन्यके घर भोजन करे ॥३१॥ भोजनके सम्बन्धमें इसे ऐसी भावना रखनी चाहिए कि मुमुक्षुजन शरीरकी स्थितिके अर्थ ही भोजनकी अपेक्षा रखते हैं और शरीरकी स्थिति भी धर्मसिद्धिके अर्थ करते हैं ॥३२॥ परन्तु उद्दिष्ट आहार करनेवाले मुक्तको उस धर्मकी सिद्धि कैसे हो सकती है, क्योंकि यह तो मावययोग तथा जवन्ध क्रियाओंके द्वारा उपपन्न किया गया है। वह समय कब आयेगा जब कि मैं भिक्षा रूपी अमृतका भोजन करूँगा ॥३३॥ पञ्चाचार पालन करनेवाले तथा गृहस्थागकी इच्छा रखनेवाले उसको माता-पितासे, मन्धुवर्गसे तथा पुत्रादिकोंसे यथोचित रूपसे पूछना चाहिए ॥३४॥

अनुमान—यह परोक्ष प्रमाणका एक भेद है जो जैन व जैनतर सर्व दर्शनकारोंको समान रूपसे माग्य है। यह दो प्रकारका होता है—स्वार्थ व परार्थ। सिंग परसे सिंगोका ज्ञान हो जाना स्वार्थ अनुमान है जैसे धूरोंको देखकर अग्निका ज्ञान स्वतः हो जाता है और हेतु तर्क आदि-द्वारा परार्थका जो ज्ञान होता है वह परार्थानुमान है। इसमें पाँच अवयव होते हैं—पम, हेतु उदाहरण, उपनय व निगमन। इनका उचित रीतिसे प्रयोग करना 'न्याय' माना गया है। इसी विषयका कथन इस अधिकारमें किया गया है।

१ भेद व लक्षण

१ अनुमान सामान्यका लक्षण।

२ अनुमान सामान्यके दो भेद (स्वार्थ व परार्थ)।

३ स्वार्थानुमानके तीन भेद (पूर्ववत्, शेषवत् आदि)।

४ स्वार्थानुमानका लक्षण।

५ परार्थानुमानका लक्षण।

६ अन्वय व व्यतिरेक व्याप्तिरिगज अनुमानोंके लक्षण।

७ पूर्ववत् अनुमानका लक्षण।

८ शेषवत् अनुमानका लक्षण।

९ सामान्यतोदृष्ट अनुमानका लक्षण।

* अनुमान बाधितका लक्षण।—दे बाधित

२ अनुमान सामान्य निर्देश

१ अनुमानज्ञान श्रुतज्ञान है।

२ अनुमानज्ञान कोई प्रमाण नहीं।

* अनुमानज्ञान परोक्ष प्रमाण है।—दे, परोक्ष

* स्मृति आदि प्रमाणोंके नाम निर्देश।—दे परोक्ष

* स्मृति आदिकी एकार्यता तथा इनका परस्परमें कार्य-कारण सम्बन्ध।—दे मतिज्ञान ३

३ अनुमानज्ञान भ्रान्ति या व्यवहार मात्र नहीं है वल्कि प्रमाण है।

४ कार्यपरसे कारणका अनुमान किया जाता है।

५ स्थूलपरसे सूक्ष्मका अनुमान किया जाता है।

६ परन्तु जीव अनुमानगम्य नहीं है।

* अनुमान अपूर्वार्थग्राही होता है।—दे प्रमाण २

* अनुमान स्वपक्ष साधक परपक्ष दूषक होना चाहिए।—दे हेतु २

३ अनुमानके अवयव

१ अनुमानके पाँच अवयवोंका नाम निर्देश।

२ पाँचो अवयवोंकी प्रयोग विधि।

३ स्वार्थानुमानमें दो ही अवयव होते हैं।

४ परार्थानुमानमें भी शेष तीन अवयव वीतराग कथामें ही उपयोगी हैं, बादमें नहीं।

१ भेद व लक्षण

१. अनुमान सामान्यका लक्षण—

न्या वि मू २ १/१ साधनात्साध्यज्ञानमनुमानम् ।—साधनसे साध्यका ज्ञान होना अनुमान है। (प मु ३/१४) (का अ मू २६७) न्या दो ३/३१७) (न्या वि मू २/११/१६) (क पा मू २/१-१५/३१०६/३४१/३)।

२ अनुमान सामान्यके भेद (स्वार्थ व परार्थ)

प मु ३/५२-५३ उदनुमान द्वेषा ॥५२॥ स्वार्थ परार्थभेदात् ॥५३॥—स्वार्थ व परार्थके भेदसे वह अनुमान दो प्रकारका है। (स म २८/३२२/१) (न्या दो ३/३२३)।

३. स्वार्थानुमानके तीन भेद (पूर्ववत् आदि)

न्या सू/पु/१-१/६ अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवरसामान्यतोदृष्टं च ॥१॥—प्रथमं पूर्वकं अनुमानं तीन प्रकारका है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। (रा बा/१/२०, १६/७८/११)।

४. स्वार्थानुमानका लक्षण

प मु/३/४४ १४ स्वार्थमुक्तलक्षणम् ॥६४॥ साधनारसाध्यविज्ञानमनुमानम् ॥१४॥—स्वार्थका लक्षण पहिले कह दिया गया है ॥६४॥ कि साधनसे साध्यका विज्ञान होना अनुमान है ॥१४॥

स म/२८/३२२/२ सव्यान्यथानुपपत्त्येकलक्षणहेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारणक साध्यविज्ञानं स्वार्थम् ।—अन्यथानुपपत्ति रूप एक लक्षणवाले हेतुको ग्रहण करनेके सम्बन्धके स्मरणपूर्वक साध्यके ज्ञानको स्वार्थानुमान कहते हैं। (स म/२०/२६६/१३)।

न्या दी/३/१२८/७६ में उद्धृत “परोपदेशाभावेऽपि साधनारसाध्यबोधनम् । यद्ग्रहणं जायते स्वार्थं मनुमानं तदुच्यते ।—परोपदेशके अभावमें भी केवल साधनसे साध्यको जान जो ज्ञान देखनेवालेको उत्पन्न हो जाता है उसे स्वार्थानुमान कहते हैं।

न्या दी/३/१२३/७९ परोपदेशमनपेक्ष्य स्वयमेव निश्चितारसात्कारानुभूतव्याप्तिस्मरणसहकृताद्बोधमादे साधनादुत्पन्नपर्वतादौ धर्मिण्यग्न्यादे साध्यस्य ज्ञानं स्वार्थानुमानमिदं ।—परोपदेशको अपेक्षा न रखकर स्वयं ही निश्चित तथा तर्क प्रमाणसे जिसका फल पहिले ही अनुभव हो चुकता है ऐसी व्याप्तिके स्मरणसे युक्त ऐसे धूम आदि हेतुसे पर्वतादि धर्मोंमें उत्पन्न होनेवाले जो अग्नि आदिक साध्यका ज्ञान उसको स्वार्थानुमान कहते हैं। (न्या दी/३/१२७)।
और भी वे प्रमाण १, (स्वार्थ प्रमाण ज्ञानात्मक होता है)।

५. परार्थानुमानका लक्षण

प मु/३/५५-५६ परार्थं तु तदर्थपरामर्शवचनाज्जातम् ॥५५॥ तद्वचनमपि तद्वधेतुर्वात् ॥५६॥—स्वार्थानुमानके विषयभूत हेतु और साध्यको अवलम्बन करनेवाले वचनोंसे उत्पन्न हुए ज्ञानको परार्थानुमान कहते हैं ॥५५॥ परार्थानुमानके प्रतिपादक वचन भी उस ज्ञानका कारण होनेसे उत्पन्नसे परार्थानुमान है, मुरारिरूपसे नहीं ॥५६॥ (स म/२८/३२२/३)।

न्या दी/३/१२६ परोपदेशमपेक्ष्य साधनारसाध्यविज्ञानं परार्थानुमानम् । प्रतिज्ञाहेतुरूपपरोपदेशवशाद्बोधोत्पन्न साधनारसाध्यविज्ञानं परार्थानुमानमिदं । यत् पर्वतोऽयमग्निमात् भवितुमर्हति धूमवशाद्व्याप्त्यानुपपत्तिरिति वाक्ये केनचित्प्रयुक्ते तद्वाक्यार्थं पर्यालोचयता स्मृतव्याप्तिकस्य श्रोतृमनुमानमुपजायते ।—परोपदेशसे जो साधनसे साध्यका ज्ञान होता है वह परार्थानुमान है। अर्थात् प्रतिज्ञा और हेतुरूप दूसरेका उपदेश सुननेवालेको जो साधनसे साध्यका ज्ञान होता है उसे परार्थानुमान कहते हैं। जैसे कि इस पर्वतमें अग्नि होनी चाहिए, क्योंकि यदि यहाँपर अग्नि न होती तो धूम नहीं हो सकता था। इस प्रकार किसीके कहनेपर सुननेवालेको उक्त वाक्यके अर्थका विचार करते हुए और व्याप्तिका स्मरण होनेसे जो अनुमान होता है वह परार्थानुमान है। और भी वे प्रमाण १/३ (परार्थ प्रमाण वचनात्मक होता है)।

६. अवयव व व्यतिरेक व्याप्तिलिङ्गज अनुमानोंके लक्षण

स म/१६/२१६/६ यद्येन सह नियमेनोपलभ्यते तत्ततो न भिद्यते, यथा सञ्चन्द्रादसञ्चन्द्र । नियमेनोपलभ्यते च ज्ञानेन सहायं इति व्यापकानुपलब्धिः ।—जो जिसके साथ नियमसे उपलब्ध होता है वह उससे भिन्न नहीं होता। जैसे यथार्थ चन्द्रमा भ्रान्त चन्द्रमाके साथ उपलब्ध होता है, अतएव भ्रान्त चन्द्रमा यथार्थ चन्द्रमासे भिन्न नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान और पदार्थ एक साथ पाये जाते हैं, अतएव ज्ञान पदार्थसे भिन्न नहीं है। इस व्यापकानुपलब्धि अनुमानसे ज्ञान और पदार्थका अमेद सिद्ध होता है।

बैशेषिक सूत्रोपस्कार (चौखम्बा काशी)/२, १/१ व्यतिरेकव्याप्तिकाङ्क्षिणाद् यदनुमानं क्रियते तद्व्यतिरेकलिङ्गानुमानमुच्यते । माध्याभावे साधनाभावप्रदर्शनं व्यतिरेकव्याप्तिः । तथा च प्रकृते अनुमाने सर्वरूपसाध्याभावे निर्दोषरूपसाधनाभाव प्रदर्शितः ।—व्यतिरेकव्याप्तिकाले लिङ्गसे जो अनुमान किया जाता है उसे व्यतिरेक लिङ्गानुमान कहते हैं। साध्यके अभावमें साधनका भी अभाव दिखलाना व्यतिरेकव्याप्ति है। प्रकृतमें सर्वरूप साध्यके अभावमें निर्दोषरूप साधनाका भी अभाव दर्शाया गया है। अर्थात् यदि सर्वज्ञ नहीं है तो निर्दोषपना भी नहीं हो सकता। ऐसा अनुमान व्यतिरेकव्याप्ति अनुमान है।

७. पूर्ववत् अनुमानका लक्षण

रा बा/१/२०, १६/७८/१२ सत्र येनान्तेनितरत् पूर्व धूमो दृष्ट स प्रसिद्धाग्निधूमसम्बन्धाहितसत्कार पश्चाद्बोधमदर्शनाद् ‘अस्त्यत्राग्नि’ इति पूर्ववदग्निं गृह्णातीति पूर्ववदनुमानम् ।—जिसने अग्निसे निकलते हुए धूमको पहिले देखा है वह व्यक्ति अग्नि और धूमके प्रतिष्ठे सम्बन्ध विशेषको जाननेके सत्कारसे सहित है। वह व्यक्ति पीछे कभी धूमके दर्शन मात्रसे ‘यहाँ अग्नि है’ इस प्रकार पहिलेकी भाँति अग्निको ग्रहण कर लेता है। ऐसा पूर्ववत् अनुमान है। (न्या सू/मा/१-१/६/१३/१)।

न्या सू/१-१/६/१२/२४ पूर्ववदिति यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते यथा मेघोन्नयः भविष्यति वृष्टिरिति ।—जहाँ कारणसे कार्यका अनुमान होता है उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं, जैसे बादलोंके देखनेसे आगामी वृष्टिका अनुमान करना।

८. शेषवत् अनुमानका लक्षण

रा बा/१/२०, १६/७८/१४ येन पूर्वं विषाणविषाणिनो सम्बन्ध उपलब्धस्तस्य विषाणरूपदर्शनाद्विषाणिन्यनुमानं शेषवत् ।—जिस व्यक्तिने पहिले कभी सौंग व सौंगवाले के सम्बन्धका ज्ञान कर लिया है उस व्यक्तिको पीछे कभी भी सौंग मात्रका दर्शन हो जानेपर सौंगवालेका ज्ञान हो जाता है। अथवा उस पशुके एक अवयवको देखनेपर भी शेष अनेक अवयवों सहित सम्पूर्ण पशुका ज्ञान हो जाता है, इसलिए वह शेषवत् अनुमान है।

न्या सू/मा/१-१/६/१२/२६ शेषवदिति यत्र कार्येण कारणमनुमीयते । पूर्ववदविपरीतमुदकं नया पूर्णवत् शीघ्रवत् च दृष्टा स्रोतसोऽनुमीयते भूता वृष्टिरिति ।—कार्यसे कारणका अनुमान करना शेषवत् अनुमान कहलाता है। जैसे नदीकी बाढ़को देखकर उससे पहिले हुई वर्षाका अनुमान होता है क्योंकि नदीका बढ़ना वर्षाका कार्य है।

९. सामान्यतोदृष्ट अनुमानका लक्षण

रा बा/१/२० १६/७८/१६ देवदत्तस्य देशान्तरप्राप्ति गतिपूर्विका दृष्टा सम्बन्धन्तरे सवितरि देशान्तरप्राप्तिदर्शनाद् गतेरत्यन्तपरोक्षया अनुमानं सामान्यतोदृष्टम् ।—देवदत्तका देशान्तरमें पहुँचना गतिपूर्वक होता है यह देखकर सूर्यकी देशान्तर प्राप्तिपरसे अत्यन्त परोक्ष उसकी गतिका अनुमान कर लेना सामान्यतोदृष्ट है। (न्या सू/मा/१-१/६/१२/२६/१)।

२ अनुमान सामान्य निर्देश

१ अनुमान ज्ञान श्रुतज्ञान है

रा बा/१/२० १६/७८/१६ तदैतत्प्रत्ययमपि स्वप्रतिपत्तिकाले अनसरश्रुतं परप्रतिपत्तिकाले अमरश्रुतम् ।—तीनों (पूर्ववत् शेषवत् व सामान्यतोदृष्ट) अनुमान स्वप्रतिपत्ति कालमें अनसरश्रुत हैं और परप्रतिपत्तिकालमें अमरश्रुत हैं।

क पा/पु/१/१-१६/३४१/३ धूमादिअर्थलिङ्गजं पुण अनुमानं नाम ।—धूमादि पदार्थरूप लिङ्गसे जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह अर्थलिङ्गज श्रुतज्ञान है। इसका दूसरा नाम अनुमान भी है।

२ अनुमान ज्ञान कोई प्रमाण नहीं

प ६/११.६/६/१११ पचमये अनुमानस्तस्मात्प्रमाणस्तस्मात्प्रमाणताभावतायो ।
—प्रवचन (परमाण्व) में अनुमान प्रमाणके प्रमाणता नहीं मानी गयी है ।

३ अनुमान ज्ञान परोक्ष प्रमाण है

सि वि /सू/६/११ १२/३८६ यथास्थं न चेद्वस्तु स्वसिद्धिद्वयथा पुन ।
स्वाकारविभ्रमात् सिधेद्वे भ्रान्तिरप्यनुमानधी ॥११॥ स्वव्यक्तसवृ-
त्तारमानो व्याप्नोत्येकं स्वलक्षणम् । यदि हेतुफलारमानो व्याप्नोत्येक
स्वलक्षणम् न बुद्धेर्प्राप्तिप्राहकारौ भ्रान्तिविवेकस्वमेवास्तमाने ॥१२॥
—यदि ज्ञान यथायोग्य अपने स्वरूपका नहीं जानता तो अपने स्वरूपमें
भी विभ्रम होनेसे स्वलक्षण बुद्धि भी भ्रान्तिरूप सिद्ध होगी । यदि
कहोने कि अनुमानने जानेंगे तो अनुमान बुद्धि भी तो भ्रान्त है ॥११॥
यदि एक स्वलक्षण (बुद्धिबस्तु), मुख्यतः (बोधस्वभाव प्रत्यक्ष) और सवृत्त
(उत्पत्ति विपरीत) रूपों में व्याप्त होता है अर्थात् एक साथ व्यक्त और
अव्यक्त स्वरूप रूप होता है तो—उस स्वलक्षणके अपने कारण और
कार्यमें व्याप्त होनेमें क्या रुकावट हो सकती है । बुद्धिके प्राप्ति और
प्राहक आकार सर्वथा भ्रान्त नहीं हैं ऐसा माननेसे स्वयं बौद्धिक
एकान्तकी हानि होती है ॥१२॥

सि वि /सू/६/६/३८७/११ प्रमाणत सिद्धा, किमुच्यते व्यग्रहारिणेति ।
प्रमाणसिद्धाद्योभयोरपि अभ्युपगमाद्वैवावद्व्यन्यथा एपरत प्रामा-
णिकत्वाद्वा येन (परस्यापि न प्रामाणिकत्वम्) । व्यग्रहार्यभ्युपगमात्
चेत् अतएव प्रतिबन्धान्तरमस्तु । न च अप्रामाण्यभ्युपगमसिद्धेर्वैस स
(वे) अर्थवैशाल्यं न्यायो न्यायानुसारिणो युक्त । —यदि पूर्व और
उत्तर क्षणमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध प्रमाणसे सिद्ध है तो उसे व्यावहार
सिद्ध क्यों कहते हो । जो प्रमाण सिद्ध है वह तो वादी और प्रतिवादी
दोनोंके ही स्वीकार करने योग्य है । अन्यथा यदि वह प्रमाणसिद्ध
नहीं है तो दूसरेको भी प्रामाणिकपना नहीं है । यदि व्यवहारिके
द्वारा स्वीकृत होनेसे उसे स्वीकार करते हैं तो इसीसे उन दोनोंके
बीचमें अन्य प्रतिबन्ध मानना चाहिए । अप्रमाण भी हो और अभ्युपगम
(स्वीकृति) सिद्ध भी हो यह अर्थ वैशाल्यन्याय न्यायानुसारियोंके
योग्य नहीं है ।

४ कार्यपर-से कारणका अनुमान किया जाता है

आप्त मी /सू/६/८/६६ कार्यलिङ्ग हि कारणम् ।—कार्यलिङ्गत्वं ही कारण-
का अनुमान करिये है ।

प ६/३/१२ अस्ति कार्यानुमानाद्वै कारणानुमिति कचित् । दशना-
न्यदपूरस्य वैभो वृष्टी यथोपरि ॥३१॥—निश्चयसे कार्यके अनुमानसे
कारणका अनुमान होता है । जैसे नदीमें पूर आया देखनेसे यह अनु-
मान हो जाता है कि ऊपर कहीं वर्षा हुई है । (अनुमान १/८)

५ स्थूलपर-से सूक्ष्मका अनुमान किया जाता है

शा ३३/४ अलक्ष्य लक्ष्यसंभन्धात् स्थूलसूक्ष्मं विचिन्तयेत् । मालम्बाच्च
निरालम्बं तत्त्ववित्तत्त्वमलक्ष्यम् ॥४॥—तत्त्वज्ञानो इस प्रकार तत्त्वको
प्रगटतया चिन्तन करे कि—लक्ष्यके सम्बन्धसे तो अलक्ष्यको और
स्थूलसे सूक्ष्म पदार्थको चिन्तन करे । इसी प्रकार किसी पदार्थ
विशेषका अवलम्बन लेकर निरालम्ब स्वरूपसे तन्मय हो ।

६. परन्तु जीव अनुमानगम्य नहीं है

प्र सा /त प्र/१७२ आत्मनो हि अलिङ्गमाह्वयम् न लिङ्गादिन्द्रिय-
गम्याद् धूमादग्नेरिव ग्रहण यत्येतोन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वकानुमानाविषय
त्वस्य ।—आत्माके अलिङ्गमाह्वय है । क्योंकि जैसे धूरसे अग्निका ग्रहण
होता है, उसी प्रकार इन्द्रिय प्रत्यक्षपूर्वक अनुमानका विषय नहीं है ।

३ अनुमानके अवयव

१ अनुमानके पाँच अवयवोका नाम निर्देश

प्या सू /सू/१-१/३२ प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमनाभ्यवयवाः ॥३॥
—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, ये अनुमान अवयवके
पाँच अवयव हैं ।

२ पाँचों अवयवोकी प्रयोगविधि

प सु /१/६५ परिणामी शब्द वृत्तकरात् । य एव स एव दृष्टा यथा
धट । वृत्तवशात् तस्मात्परिणामी । गस्तु न परिणामी स न वृत्तको
दृष्टा यथा मन्थारसनधय । कृतनक्षायं तस्मात्परिणामी ॥६५॥—शब्द
परिणामस्वभावो है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह वृत्त है (हेतु) । जो-जो
पदार्थ वृत्त होता है वह वह परिणामी देखा गया है, जैसे—धट
(अन्वय उदाहरण), जो परिणामी नहीं होता, वह वृत्त भी नहीं
होता जैसे मन्थयापुत्र (व्यतिरेक उदाहरण) । यह शब्द वृत्त है
(उपनय) इसलिए परिणामी है (निगमन) ।

प्र म /टी/१/२३१ अन्तरिता सूक्ष्मपदार्थ, धर्मिण कस्यापि पुरुष
विशेषस्य प्रत्यया भवन्तीति साध्या धर्म इति धर्मिधर्मसमुदायेन
पक्षवचनम् । कस्मादिति चेत् अनुमानविषयत्वादिति हेतुवचनम् ।
किंचित् । यत्तदनुमानविषयं तत्तत् कस्यापि प्रत्यक्ष भवति, यथागम्यादि
हृत्पुन्यवृष्टान्तवचनम् । अनुमानेन विषयाश्चेति हृत्पुन्यवचनम् ।
तस्मात् कस्यापि प्रत्यक्षा भवन्तीति निगमनवचनम् । इदानीं व्याप्ति-
रेकदृष्टान्त कथ्यते—यत्र कस्यापि प्रत्यक्षं तदनुमानविषयमपि न
भवति यथा खपुष्पादि, इति व्यतिरेकदृष्टान्तवचनम् । अनुमान-
विषयश्चेति पुनरप्युपनयवचनम् । तस्मात् प्रत्यक्षा भवन्तीति पुनरपि
निगमनवचनमिति । —अन्तरित व सूक्ष्म पदार्थ रूप धर्मो किसी
भी पुरुष विशेषके प्रत्यक्ष होते हैं । इस प्रकार साध्य धर्मो और धर्मके
समुदायसे पक्षवचन अथवा प्रतिज्ञा है । क्योंकि वे अनुमानके विषय
हैं, यह हेतु वचन है । किसी भी प्रतिज्ञा । जो-जो अनुमानका विषय है
वह-वह किसीके प्रत्यक्ष होता है, जैसे अग्नि आदि, यह अन्वय दृष्टान्त-
का वचन है । और ये पदार्थ भी अनुमानके विषय हैं, यह उपनयका
वचन है । इसलिए किसीके प्रत्यक्ष होते हैं, यह निगमन वाक्य है ।

अब व्यतिरेक दृष्टान्त कथ्यते—जो किसीके भी प्रत्यक्ष नहीं
होते वे अनुमानके विषय भी नहीं होते, जैसे कि आकाशके पुष्प
आदि, यह व्यतिरेकी दृष्टान्त वचन है । और ये अनुमानके विषय
हैं, यह पुन उपनयका वचन है । इसलिए किसीके प्रत्यक्ष भी अवश्य
होते हैं, यह पुन निगमन वाक्य है ।

३ स्वार्थानुमानमें दो ही अवयव होते हैं

प्या दो /०/३२४-२६/७२ अस्य स्वार्थानुमानस्य त्रीण्यङ्गानि—धर्मो,
साध्य, साधन च ॥२४॥ पक्षो हेतुरित्यङ्गद्वयं स्वार्थानुमानस्य, साध्य-
धर्मविशिष्टस्य धर्मिण पक्षत्वात् । तथा च स्वाथानुमानस्य धर्मो
साध्यसाधनभेदात्त्र्यङ्गानि पक्षसाधनभेदादङ्गद्वयं चेति सिद्ध ।
विश्लेषाया वैचिण्यात् ॥२५॥—इस स्वार्थानुमानके तीन अंग हैं—
धर्म, साध्य व साधन ॥२४॥ अथवा पक्ष व हेतु इस प्रकार दो अंग भी
स्वार्थानुमानके हैं, क्योंकि, साध्य धर्मसे विशिष्ट होनेके कारण साध्य
व धर्मो दोनोंका पक्षमें अन्तर्भाव हो जाता है और साधन व हेतु
एकाग्रवाचक हैं । (यहाँ प्रतिज्ञा नामका कोई अंग नहीं होता, उसके
स्थानपर पक्ष होता है) । इस प्रकार स्वार्थानुमानके धर्मो, साध्य व
साधनके भेदसे तीन अंग भी होते हैं और पक्ष व हेतुके भेदसे दो अंग
भी होते हैं । ऐसा सिद्ध है । यहाँ केवल विश्लेषाका ही भेद है ॥२५॥

४ परार्थानुमानमें भी क्षेप तीन अवयव वीतराग कथा में ही उपयोगी हैं, वादमें नहीं

प सु /३/३७,४४,४६ एतद्वद्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ॥३७॥ न च
तदङ्गे ॥४४॥ मालम्बुपरस्य तत्त्वोपगमे शास्त्र एवासी नया वे, अनुप-

योगात् ॥४६॥ — पक्ष और हेतु ये दोनों ही अनुमानके अंग हैं, उदाहरण नहीं ॥३७॥ न हो उपनय व निगमन अंग हैं ॥४४॥ क्योंकि बाल व्युत्पत्तिके निमित्त इन तीनोंका उपयोग शास्त्रमें होता है वादमें नहीं, क्योंकि वहाँ वे अनुपयोगी हैं ॥४६॥

प्या दी ३/३३१, ३४, ३६/७६, ८१, ८२ परार्थानुमानप्रयोजकस्य च वाक्यस्य द्वावयवौ, प्रतिज्ञा हेतुश्च ॥३१॥ प्रतिज्ञाहेतुप्रयोगमात्रे बोधाहरणादिप्रतिपाद्यस्यार्थस्य गम्यमानस्य व्युत्पत्तिर्मेव ज्ञातुं शक्यत्वात् । गम्यमानस्याप्यभिधाने पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् ॥३४॥ वीतरागकथार्था तु प्रतिपाद्याशयानुरोधेन प्रतिज्ञाहेतु द्वावयवौ, प्रतिज्ञाहेतुदाहरणानि प्रय, प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयारचवार प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनय-निगमनानि वा पक्षेति यथायोग्य प्रयोगपरिपाटी । तदेव प्रतिज्ञादिरूपारपरोपदेशादुत्पन्न परार्थानुमानस्य ॥३६॥ — परार्थानुमानप्रयोजक वाक्यके दो अवयव होते हैं — प्रतिज्ञा व हेतु ॥३१॥ प्रतिज्ञा व हेतु इन दो मात्रके प्रयोगसे ही व्युत्पन्न जनकोंको उदाहरणादिके द्वारा प्रतिपाद्य व जाना जाने योग्य अर्थका भी ज्ञान हो जाता है । जान लिये गयेके प्रति भी इनको कहनेसे पुनरुक्तिका प्रसंग आता है ॥३४॥ परन्तु वीतराग कथामें प्रतिपाद्य अभिप्रायके अनुरोधसे प्रतिज्ञा व हेतु ये दो अवयव भी हैं प्रतिज्ञा, हेतु व उदाहरण इस प्रकार तीन अवयव भी हैं, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय इस प्रकार चार भी हैं तथा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण उपनय और निगमन इस प्रकार पाँच भी हैं । यथायोग्य परिपाटीके अनुसार ये सब ही विवक्ष्यवर्तित हो जाते हैं । इस प्रकार प्रतिज्ञादि रूप परोपदेशमें उत्पन्न होनेके कारण वह परार्थानुमान है ॥३६॥

अनुमानित—आलोचनाका एक दोष—वे आलोचना २ ।

अनुमोदना—दे अनुमति ।

अनुयोग—जैनागम चार भागोंमें विभक्त है, जिन्हें चार अनुयोग कहते हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग । इन चारोंमें क्रमसे कथाएँ व पुराण, कर्म सिद्धान्त व लोक विभाग, जीवका आचार-विचार और चेतनाचेतन द्रव्योंका स्वरूप व तत्त्वोंका निर्देश है । इसके अतिरिक्त वस्तुका कथन करनेमें जिन अधि-कारोंकी आवश्यकता होती है उन्हें अनुयोगद्वार कहते हैं । इन दोनों ही प्रकारके अनुयोगोंका कथन इस अधिकारमें किया गया है ।

१. आगमगत चार अनुयोग

- १ आगमका चार अनुयोगोंमें विभाजन ।
- २ आगमगत चार अनुयोगोंके लक्षण ।
- ३ चारों अनुयोगोंकी कथन पद्धतिमें अन्तर ।
- ४ चारों अनुयोगोंका प्रयोजन ।
- ५ चारों अनुयोगोंकी कथन मुख्यता गौणता ।
- ६ चारों अनुयोगोंका मोक्षमार्गके साथ समन्वय ।
- * चारों अनुयोगोंके स्वाध्यायका क्रम ।

—दे स्वाध्याय १ ।

१. अनुयोगद्वारोंके भेद व लक्षण

- १ अनुयागद्वार सामान्यका लक्षण ।
- २ अनुयोगद्वारोंके भेद-प्रभेदोंके नाम निर्देश ।
- १ उपक्रम आदि चार अनुयोगद्वार ।
- २ निर्देश, स्वास्तिव आदि छ अनुयोगद्वार ।
- ३, सत्, सख्यादि आठ अनुयोगद्वार तथा उनके भेद ।

४ पदमीमासा आदि अनुयोगद्वार निर्देश ।

* विभिन्न अनुयोगद्वारोंके लक्षण ।—दे वह वह 'नाम' ।

३ अनुयोगद्वार निर्देश

- १ सत्, सख्या आदि अनुयोगद्वारोंके क्रमका कारण ।
- २ अनुयोगद्वारोंमें परस्पर अन्तर ।
- * उपक्रम व प्रक्रममें अन्तर ।—दे उपक्रम ।
- ३ अनुयोगद्वारोंका परस्पर अन्तर्भाव ।
- ४ ओष और आदेश प्ररूपणाओंका विषय ।
- ५ प्ररूपणाओं या अनुयोगोंका प्रयोजन ।
- * अनुयोग व अनुयोग समाप्त ज्ञान —दे श्रुतज्ञान II

१ आगमगत चार अनुयोग

१ आगमका चार अनुयोगोंमें विभाजन

क्रियाकलापमें समाधिभक्ति—“प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नम ।—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगको नमस्कार है । प्र स/टी ४२/१८२ प्रथमानुयोगो चरणानुयोगो करणानुयोगो द्रव्यानुयोगो इत्युक्तलक्षणानुयोगचतुष्टयरूपेण चतुर्विधं श्रुतज्ञानं ज्ञातव्यम् ।—प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग ऐसे उक्त लक्षणोंवाले चार अनुयोगोंरूपसे चार प्रकारका श्रुत-ज्ञान जानना चाहिए । (पं का/ता वृ/१७३/२६४/१६) ।

२ आगमगत चार अनुयोगोंके लक्षण

१ प्रथमानुयोगका लक्षण

र क था ४३ प्रथमानुयोगमर्थत्याग्य चरित पुराणमपि पुण्यम् । बोधि-समाधिनिधान बोधातिमोघ समीचीन ॥४३॥ —सम्यग्ज्ञान है सो परमार्थ विषयका अथवा धर्म, अर्थ, काम मोक्षका अथवा एक पुरुषके आश्रय कथाका अथवा त्रेसठ पुरुषोंके चरित्रका अथवा पुण्यका अथवा रत्नत्रय और ध्यानका है कथन जिसमें सो प्रथमानुयोग रूप शास्त्र जानना चाहिए । (अन ध/३/६/२४८) ।

ह पु/१०/७१ पक्षे पञ्चसहस्रेस्तु प्रयुक्ते प्रथमे पुन । अनुयोगे पुराणार्थ-स्त्रियष्टिरुपवर्ण्यते ॥७१॥ —दृष्टिवादके तीसरे भेद अनुयोगमें पाँच हजार पक्ष हैं तथा इसके अन्तर्गत भेद प्रथमानुयोगमें त्रेसठ शलाका पुरुषोंके पुराणका वर्णन है ॥७१॥ (क पा/१/३१०३/१३८) (गो क/जी प्र/३६१-३६२/७७३/३) (प्र स/टी/४२/१८२/८) (पं का/ता वृ/१७३/२६४/१६) ।

घ २/१.१.२/१.१.२/४ पञ्चमणियोगो पञ्चसहस्रपदेहि पुराणं वर्ण्यते । प्रथमानुयोग अर्थाधिकार पाँच हजार पदोंके द्वारा पुराणोंका वर्णन करता है ।

२ चरणानुयोगका लक्षण

र क था ४६ गृहमेधनगराणां चारित्र्योत्पत्तिवृद्धिरक्षाक्षम् । चरणानु-योगसमय सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥४६॥ —सम्यग्ज्ञान ही गृहस्थ और मुनियोंके चारित्र्यकी उत्पत्ति, वृद्धि, रक्षाके अंगभूत चरणानुयोग शास्त्रकी विशेष प्रकारसे जानता है । (अन ध/३/११/२६१) ।

प्र स/टी/४२/१८२/६ उपासकाध्ययनादौ श्रावकधर्मस्य आचाराराधनौ यतिधर्मं च यत्र मुख्यत्वेन कथयति स चरणानुयोगो भण्यते ।—उपासकाध्ययन आदिमें श्रावकका धर्म और मूलाचार, भगवती आराधना आदिमें यतिका धर्म जहाँ मुख्यतासे कहा गया है, वह दूसरा चरणानुयोग कहा जाता है । (पं का/ता वृ/१७३/२६४/१६) ।

३ करणानुयोगका लक्षण

र क भा /४४ लोकालोकाविमर्त्यगपरिवृत्तेक्षुर्गतीनां च । आदर्शमिव
तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥४४॥ — लोक अलाकके विभागको,
मुर्गोंके परिवर्तनको तथा चारों गतियोंको दर्शनक समान गण्ट करने
वाले करणानुयोगको सम्यग्ज्ञान जानता है । (अन ध ३/१०/२६०) ।
प्र म /टी ४२/१८२/१० त्रिलोकसारं जिनांतरलाकविभागादिग्रन्थव्या-
ख्यान करणानुयोगो विज्ञेय । — त्रिलोकसारमें तीर्थंकरोंका अस्त-
रत्न और लोकावभाग आदि व्याख्यान है । ऐसे ग्रन्थरूप करणानु-
योग जानना चाहिए । (प का /ता वृ १/७३/१५४/१७) ।

४ द्रव्यानुयोगका लक्षण

र क भा /४६ जीवाजीवसुतत्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च । द्रव्यानु-
योगहीनं श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥४६॥ — द्रव्यानुयोगरूपी दीपक
जीव-अजीवरूप सुतत्त्वोंको पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्षको तथा
भावश्रुतरूपी प्रकाशका विस्तारता है । (अन ध ३/१२/२६१) ।
ध १/१ १.७/१४८/४ सताणियोगमिह जमरिधत्तं उक्तं तस्स पमाणं
परुवेदि दव्वाणिगगे । — सरस्वरूपणामें जो पदार्थोंका अस्तित्व कहा
गया है उनक प्रमाणका वर्णन द्रव्यानुयोग करता है । यह सक्षण
अनुयोगद्वारिके अन्तर्गत द्रव्यानुयोगका है ।
प्र स /टी ४२/१८२ ११ प्राभूततत्त्वार्थसिद्धान्तादी यत्र शुद्धाशुद्धजीवादि-
पदद्रव्यादीनां मुख्यवृत्त्या व्याख्यानं क्रियते स द्रव्यानुयोगो
भण्यते । — समयसार आदि प्राभूत और तत्त्वार्थसूत्र तथा सिद्धान्त
आदि शास्त्रोंमें मुख्यतः शुद्ध अशुद्ध जीव आदि छ द्रव्य आदिका
जो वर्णन किया गया है वह द्रव्यानुयोग कहलाता है ।
(प का /ता वृ १/७३/२५४/१८) ।

३ चारो अनुयोगोंको कथन पद्धतिमें अन्तर

१ द्रव्यानुय ग व करणानुयोगमें

प्र सं /टी १३/४०/५ एवं पुढविजलतेउवाळ इत्यादिगाथाहयेन तृतीय-
गाथापादत्रयेण च धवलजयधवलमहाधवलप्रबधाभिधानसिद्धान्त-
प्रयोजनपदं सूचितम् । 'सर्वे सुद्धा हु सुद्धयया इति सुद्धात्मतत्त्व-
प्रकाशकं तृतीयगाथाचतुर्थपादेन पञ्चास्तिकायप्रवचनसारसमयसार।भि-
धानप्राभूतत्रयस्यापि बीजपदं सूचितम् । यक्षाध्यात्मग्रन्थस्य बीज-
पदभूत सुद्धात्मस्वरूपमुक्तं तत्पुनरुपाधेयमेव । — इस रीतिसे चौदह
मार्गाओंके कथनके अन्तर्गत 'पुढविजलतेउवाळ' इत्यादि दो गाथाओं
और तीसरी गाथाके तीन पदोंसे धवल, जयधवल और महाधवल
प्रबन्ध नामक जो तीन (करणानुयोगके) सिद्धान्त ग्रन्थ हैं उनके
बीजपदकी सूचना ग्रन्थकारने की है । 'सर्वे सुद्धा हु सुद्धयया' इस
तृतीय गाथाके चौथे पादसे सुद्धात्मतत्त्वके प्रकाशक पंचास्तिकाय
प्रवचनसार और समयसार इन तीनों प्राभूतोंका बीजपद सूचित
किया है । तहाँ जा अध्वारमग्रन्थका बीज पदभूत सुद्धात्माका स्वरूप
कहा है वह तो उपादेय ही है ।

नोट—(धवल आदि करणानुयोगके शास्त्रोंके अनुसार जीव तत्त्वका
व्याख्यान पृथिवी जल आदि असद्भूत वगवहार गत पर्यायोंके आधार-
पर किया जाता है, और पंचास्तिकाय आदि द्रव्यानुयोगके शास्त्रोंके
अनुसार उमी जीव तत्त्वका व्याख्यान उसकी शुद्धाशुद्ध निश्चय
नयाप्रित पर्यायोंके आधारपर किया जाता है । इस प्रकार करणानु-
योगमें वगवहार नयकी मुख्यतासे और द्रव्यानुयोगमें निश्चयनयकी
सुर्यतासे कथन किया जाता है ।

मो मा प्र /८/७/४०४/६ करणानुयोगविषं व्यवहारनयकी प्रधानता लिये
व्याख्यान जानना ।

मो मा प्र /८/८/४०४/२ करणानुयोगविषं भी कहाँ उपदेशकी सुर्यता
लिये व्याख्यान हो है ताकौ सर्वथा तैसे हो न मानना ।

मो मा प्र /८/८/४०४/१४ करणानुयोग विषं तो यथार्थ पदार्थ जनावनेका
मुख्य प्रयोजन है । आचरण करावनेकी मुख्यता नाहीं ।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी प ० टोडरमल—समयसार आदि ग्रन्थ अध्यात्म है
और आगमकी चर्चा गोमटसार (करणानुयोग) में है ।

२ द्रव्यानुयोग व चरणानुयोगमें

मो मा प्र /८/१४/४२६/७ (द्रव्यानुयोगके अनुसार) रागादि भाव धरे
वाहा ऐसे अनुक्रमतः श्रावक मुनि धर्म होय । अथवा ऐसे श्रावक मुनि
धर्म अंगोकार किये पंचम पष्ठम आदि गुणस्थाननि विषे रागादि
घटावनेरूप परिणामनिकी प्राप्ति हो है । ऐसा निरूपण चरणानुयोग-
विषे किया ।

३ करणानुयोग व चरणानुयोग में

मो मा प्र /८/७/४०६/१४ करणानुयोग विषे तो यथार्थ पदार्थ जनावनेका
मुख्य प्रयोजन है । आचरण करावनेकी सुर्यता नाहीं । तातें यह तो
चरणानुयोगादिकके अनुसार प्रवर्त्त तिसतै जो कार्य होना है सो
स्वयमेव हो होय है । जैसे आप कर्मनिका उपशमादि किया चाहै तो
कैसे होय ।

४ चारो अनुयोगोंका प्रयोजन

१ प्रथमानुयोगका प्रयोजन

मो जो /जो प्र /३६१-३६२/७३/३ प्रथमानुयोग प्रथम मिथ्यादृष्टि-
विरक्तिकमव्युत्पन्न वा प्रतिपाद्यमाश्रित्य प्रवृत्तोऽनुयोगोऽधिकार
प्रथमानुयोग । — प्रथम कह्ये मिथ्यादृष्टि अव्रती, विशेष ज्ञान-
रहित ताको उपदेश देने निमित्त जो प्रवृत्त भया अधिकार अनुयोग
कहिए सो प्रथमानुयोग कहिए ।

मो मा प्र /८/२/३६४/११ जे जीव तुच्छ बुद्धि होय ते भी तिस करि धर्म
सम्मुख होयें हैं । जातें वे जीव सूक्ष्म निरूपणको पहिचानें नाहीं
लौकिक वास्तविक जानें । तहाँ तिनिका उपयोग लागै । बहुरि
प्रथमानुयोगविषे लौकिक प्रवृत्तिरूप निरूपण होय, ताकौ ते नीकें
समझ जाय ।

२ करणानुयोगका प्रयोजन

मो मा प्र /८/३/३६४/२० जे जीव धर्म विषे उपयोग लगाय चाहै ऐसे
विचारविषे (अर्थात् करणानुयोग विषय उनका) उपयोग रमि जाय,
तय पाप प्रवृत्ति छूट स्वयमेव तत्काल धर्म उजै है । तिस अम्यास-
करि तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति शीघ्र हो है । बहुरि ऐसा सूक्ष्म कथन जिन-
मत विषे हो है अन्यत्र नाहीं, ऐसे महिमा जान जिनमतका श्रद्धानी
हो है । बहुरि जे जीव तत्त्वज्ञानी होय इस करणानुयोगको अम्यासै
हैं तिनको यह तिसका (तत्त्वनिका) विशेषरूप भासै है ।

३ चरणानुयोगका प्रयोजन

मो मा प्र /८/४/३६७/७ जे जीव हित अहितको जानै नाहीं, हिंसादि
पाप कार्यनि विषे तत्पर होय रहै हैं, तिनिको जैसे वे पापकार्यकैं
छोड़ धर्मकार्यनिविषे लागैं, तैसे उपदेश दिया । ताकौ जानि धर्म
आचरण करने कौ सम्मुख भये । ऐसै साधनतें कषाय मन्द हो है ।
ताका फलतै इतना तो है जो कुगति विषे दुख न पावें, अर
सुगतिविषे सुख पावें । बहुरि (जो) जीवतत्त्वके ज्ञानी होय करि
चरणानुयोगको अम्यासै हैं, तिनकौ ए सर्व आचरण अपने बीतराग-
भावके अनुसारो भासै हैं । एकदेश वा सर्व देश बीतरागता भये ऐसी
श्रावकदशा और मुनिदशा हो है ।

४ द्रव्यानुयोगका प्रयोजन

मो मा प्र /८/४/३६८/४ जे जीवादि द्रव्यानि की का तत्त्वनिकी पहिचानें
नाहीं, आपापरकी भिन्न जानें नाहीं तिनिको हेतु दृष्टान्त युक्तिकरि
वा प्रमाणनयादि करि तिनिका स्वरूप ऐसै दिखाया जैसे याके प्रतीति
होय जाय । उनके भावोंको पहिचाननेका अम्यास राखे तो शीघ्र
ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होय जाय । बहुरि जिनिके तत्त्वज्ञान भया
होय, ते जीवद्रव्यानुयोग कौ अम्यास । तिनिको अपने श्रद्धानके
अनुसारि सो सर्व कथन प्रतिभासै हैं ।

५ चारों अनुयोगोकी कथंचित् मुख्यता गौणता

१ प्रथमानुयोगकी गौणता

मो मा प्र ८/६/२०१/६ यहाँ (प्रथमानुयोगमें) उपचाररूप व्यवहार वर्णन किया है, ऐसे याकों प्रमाण कोजिये है। याकों तारतम्य न मानि लेना। तारतम्य करणानुयोग विषे निरूपण किया है सो जानना। बहुत्रि प्रथमानुयोगविषे उपचाररूप कोई धर्मका अग भये सम्पूर्ण धर्म भया कहिए है।—(जैसे) निश्चय सम्यक्त्वका तो व्यवहार विषे उपचार किया, बहुत्रि व्यवहार सम्यक्त्वके कोई एक अग विषे सम्पूर्ण व्यवहार सम्यक्त्वका उपचार किया, ऐसे उपचार करि सम्यक्त्व भया कहिए है।

२ करणानुयोगकी गौणता

मो मा प्र ८/७/२०४/१६ करणानुयोग विषे व्यवहार नयकी प्रधानता लिये व्याख्यान जानना जाते व्यवहार बिना विशेष जान सके नाहीं। बहुत्रि कहीं निश्चय वर्णन भो पाइये है।
मो मा प्र ८/७/२०७/२ करणानुयोगविषे भो वहाँ उपदेशकी मुख्यता लिए व्याख्यान हो है, ताकी सर्वथा तैसी ही न मानना।
मो मा प्र ८/७/२०६/२४ करणानुयोग विषे तो यथार्थ पदार्थ जनावनैका मुख्य प्रयोजन है, आचरण करावनेको मुख्यता नाहीं।

३ चरणानुयोगकी गौणता

मो मा प्र ८/८/४०७/१६ चरणानुयोगविषे जैसे जीवनिके अपनी बुद्धि-गोचर धर्मका आचरण होय सो उपदेश दिया है। तहाँ धर्म तो निश्चयरूप माक्षमार्ग है, मोई है। ताके साधनादिक उपचारतैं धर्म है, सो व्यवहारनयकी प्रधानताकरि नाना प्रकार उपचार धर्मके भेदादिका या विषे निरूपण करिए है।

४ द्रव्यानुयोगकी प्रधानता

मो मा प्र ८/९/३३०/६ मोपमार्गका मूल उपदेश तो तहाँ (द्रव्यानुयोग विषे) ही है।

६ चारों अनुयोगोका मोक्षमार्ग के साथ समन्वय

१ प्रथमानुयोगका समन्वय

मो मा प्र ८/६/२००/१६ प्रश्न—(प्रथमानुयोगमें) ऐसा झूठा फन दिखावना वा योग्य नाहीं, ऐसे कथनको प्रमाण कैसे कोजिए।
उत्तर—जे अज्ञानी जीव बहुत फल दिखाए बिना धम विषे न लागें, वा पाप तैं न डरें तिनका भला करनेके अर्थ ऐसे वर्णन करिए है।
मो मा प्र ८/१२/४२४/१६ प्रश्न—(प्रथमानुयोग) रागादिका निमित्त होय, सो कथन ही न करना था। उत्तर—सरागी जीवनिका मन केवल बेराग्य कथन विषे लागे नाहीं, ताते जेसे बालकको बतासाके आश्रय औपध कीजिये, तैसे सरागीझूँ भोगादि कथनके आश्रय धर्म-विषे रुचि कराईए है।

२ करणानुयोगका समन्वय

मो मा प्र ८/१३/४२७/१३ प्रश्न—द्वोष समुद्रादिकके योजनादि निरूपे तिनमें कहा सिद्धि है। उत्तर—तिनिको जाने किछु तिनविषे इष्ट अनिष्ट मुक्ति न हाय, तातैं पूर्वोक्त सिद्धि हो है। प्रश्न तो जिततैं किछु प्रयोजन नाहीं, ऐसा पापाणादिककी भो जाने तहाँ इष्ट अनिष्टपनों न मानिए है, सो भो कार्यकारी भया। उत्तर सरागी जीव रागादि प्रयोजन बिना काहुको जाननेका उद्यम न करे। जो स्वयमेव उनका जानना होय—तो तहाँते उपयोगको छुड़ाया हो चाहे है। यहाँ उद्यमकरि द्वोष समुद्रादिककी जाने है, तहाँ उपयोग लागावे है। सो रागादि घटे ऐसा कार्य हो है। बहुत्रि पापाणादि विषे लोकका कोई प्रयोजन भास जाय तो रागादिक हाय आवे। अर द्वोषादिकविषे इस लोक सम्यग्धो कार्य किछु नाहीं, तातैं रागादिका कारण नाहीं। बहुत्रि यथावत् रचना जानने करि भ्रम मिटे उपयोगकी निमित्तता होय, तातैं यह अन्वयासकारी है।

३ चरणानुयोगका समन्वय

प्र सा त प्र १२००/क १२-१३ द्रव्यानुसारि चरण चरणानुसारि, द्रव्य, मिथो द्वयमिद ननु स्वयपेक्षम्। तस्मान्मुमुक्षुरधरोहत्तु मोक्षमार्गः। द्रव्य प्रतीत्य यदि वा चरण प्रतीत्य ॥१२॥ द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः, द्रव्यस्य सिद्धिरचरणस्य सिद्धौ। बुद्धध्वेति कर्माविरता परेऽपि, द्रव्याविरुद्धं चरण चरन्तु ॥१३॥ चरण द्रव्यानुसारं रता है और द्रव्य चरणानुसार होता है, इस प्रकार वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं, इसलिये या तो द्रव्यका आश्रय लेकर मुमुक्षु मोक्षमार्गमें आरोहण करो ॥१२॥ द्रव्यकी सिद्धिमें चरणकी सिद्धि है और चरणकी सिद्धिमें द्रव्यकी सिद्धि है, यह जानकर कर्मोंसे (शुभाशुभ भावों) से अविरत दूसरे भो, द्रव्यसे अविरुद्ध चरण (चारित्र्य) का आचरण करो ॥१३॥
मो मा प्र ८/१४/४२८/२० प्रश्न चरणानुयोगविषे बाह्यवृत्तादि साधन का उपदेश है, सो इनतैं किछु सिद्धि नाहीं। अपने परिणाम निर्मल चाहिए, बाह्य चाहो जंमे प्रवर्तों। उत्तर—आरम परिणामनिके और बाह्यवृत्तिके निमित्त-नैमित्तिक सम्यग्ध है। जातैं छमस्यके क्रिया पारणामपूर्वक हो है।—अथवा बाह्य पदार्थनिका आश्रय पाय परिणाम हो सके हैं। तातैं परिणाम मेटनेके अर्थ बाह्य वस्तुका निषेध करना समयसारादिविषे (म सा प्र २/२८६) कहा है।—बहुत्रि जो बाह्यसमयतैं किछु सिद्धि न होय तो सर्वार्थ सिद्धिके वासी देव सम्यग्दृष्टि बहुत ज्ञानी तिनिके तो चौथा गुणस्थान होय अर गृहस्थ आश्रय मनुष्यके पंचम गुणस्थान होय सो कारण कहा। बहुत्रि तीर्थंजगदि गृहस्थ पद छोड़ि काहेको संयम ग्रहें।

४ द्रव्यानुयोगका समन्वय

मो मा प्र ८/९/४२९/१६ प्रश्न—द्रव्यानुयोगविषे व्रत समयमादि व्यवहारधमका होनपना प्रगट किया है। इत्यादि कथन सुत्र जीव है मा स्वच्छन्द होय पुण्य-श्लोडि पापविषे प्रवर्तेंगे तातैं इनका बाँचना सुनना युक्त नाहीं। उत्तर—जैसे गल्ल मिथी खाप मरे, तो मनुष्य तो मिथी खाना न छोड़े। तैम विपरोतबुद्धि अध्यात्म ग्रन्थ सुनि स्वच्छन्द होय तो बिबेकी तो अध्यात्मग्रन्थनिका अन्वयास न छोड़े। इतना करे जाकी स्वच्छन्द होता जानें, ताकी जैसे वह स्वच्छन्द न होय, तैसे उपदेश दें। बहुत्रि अध्यात्म ग्रन्थनिविषे भो जहाँ तहाँ स्वच्छन्द होनेका निषेध कीजिये है। बहुत्रि जा झूठा दोषकी कल्पनाकरि अध्यात्म शासक बाँचना सुनना निषेधिये तो मोक्षमार्गका मूल उपदेश तो तहाँ ही है। ताका निषेध किये मोक्षमार्ग का निषेध होय।

२ अनुयोगद्वारोके भेद व लक्षण

१ अनुयोगद्वार सामान्यका लक्षण

क पा ३/३-२२/४७/३ किमणिअगद्वार नाम। अहियारो भणमाणस्यस्स अवगमावाओ।—अनुयोगद्वार किसे कहते हैं। कहे जानेवाले अर्थके जाननेके उपाययुक्त अधिकारको अनुयागद्वार कहते हैं।
घ १/१.९.६/१००-१०१/१६३/८ अनियोगो नियागो भापा विभापा वात्तिकरथं। उक्त च—अणियोगो य नियोगो भासा विभासा य वट्टिया चैय। एदे अणिआजस दु णामा पयट्ठापंसा ॥१००॥ सूई मुद्रा पडिहो सभबदन वट्टिया चैय। अणियागनिरुत्तोए दिट्ठता हाति पचेय ॥१०१॥—अनुयोग, नियोग भापा, विभापा और वात्तिक ये पाँचों पर्यायवाची नाम हैं। कहा भो है—अनुयोग, नियोग, भापा, विभापा और वात्तिक ये पाँच अनुयोग के एकार्थ वाची नाम जानने चाहिए ॥१००॥ अनुयोगकी निरुक्तिमें सूची, मुद्रा प्रतिष्ठ, संभवदल और वात्तिका ये पाँच दृष्टान्त होते हैं ॥१०१॥ विशेषार्थ—लक्ष्मीमें किसी वस्तुको तैयार करनेके लिए पहिले लक्ष्मीके निरुपयोगी भागको निकालनेके लिए उसके ऊपर एक रेखामें जो डोरा डाला जाता है, वह सूचीकर्म है। अनन्तर उस डोरासे लक्ष्मीके ऊपर जा चिह्न कर दिया जाता है वह मुद्रा कर्म

हो अधिकारोंका सख्याधिकार, योनिभूत है। उसी प्रकार नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा वर्णन की जानेवाली काल प्ररूपणा और अन्तर प्ररूपणाका भी संख्याधिकार योनिभूत है। तथा यह अर्थ है और यह बहुत है इस प्रकार नही जानेवाले, अश्वमहत्त्वानु योगद्वाराका भी संख्याधिकार योनिभूत है। इसलिए इन सबके आदिमें द्रव्यप्रमाणानुगम या सरयानुयोगद्वाराका ही कथन करना चाहिए। बहुत विषयवाला होनेके कारण भाव प्ररूपणाका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है। पृ १५६। जिसने वर्तमानकालीन स्पर्शको जान लिया है, वह अनन्तर सरलतापूर्वक अतीत व वर्तमानकालीन स्पर्शको जान लेवे, इसलिए स्पर्शनप्ररूपणासे पहिले क्षेत्रप्ररूपणाका कथन रहा आवे। जिसने क्षेत्र और स्पर्शनको नहीं जाना है उसे तत्सम्बन्धी काल और अन्तरको जाननेका कोई भी उपाय नहीं हो सकता। उसी प्रकार भाव और अश्वमहत्त्वकी प्ररूपणा क्षेत्र और स्पर्शानुगमके बिना क्षेत्र और स्पर्शनको विषय करनेवाली नहीं हो सकती। इसलिए इन सबके पहिले ही क्षेत्र और स्पर्शानुगमका कथन करना चाहिए। पृ १५७। यहाँपर अन्तरप्ररूपणाका कथन तो किया नहीं जा सकता है, क्योंकि अन्तरप्ररूपणाकी योनिभूत काल-प्ररूपणा है। स्पर्शनप्ररूपणाके बाद भावप्ररूपणाका भी वर्णन नहीं कर सकते हैं क्योंकि कालप्ररूपणासे नीचेका अधिकार भावप्ररूपणाका योनिभूत है। उसी प्रकार स्पर्शनप्ररूपणाके बाद अश्वमहत्त्वका भी कथन नहीं किया जा सकता, क्योंकि शेषानुयोग (भावानुयोग) अश्वमहत्त्व प्ररूपणाका योनिभूत है। तब परिशेषानुयोगसे यहाँपर काल ही प्ररूपणाके योग्य है यह बात सिद्ध हो जाती है। पृ १५७। भाव प्ररूपणा और अश्वमहत्त्व प्ररूपणाकी योनिभूत होनेसे इन दोनोंके पहिले ही अन्तर प्ररूपणाका उल्लेख किया गया है तथा अश्वमहत्त्वकी योनि होनेसे इसके पीछे ही भावप्ररूपणाका कथन किया है। पृ १५८। (रा वा १/८, ३-६/४१)।

२. अनुयोगद्वारोंमें परस्पर अन्तर

१ काल अन्तर व भग विचयमें अन्तर

घ ७/३ १२/१०/१० पाणाजीवेहि काल-भगविचयार्ण को विसेसो। ण, पाणाजीवेहि भगविचयस्स मग्गणाण विच्छेदाविच्छेदरिधित्तपरव-यस्स मग्गणकालत्तरेहि सह एयत्तविरोहादो। —प्रश्न—नाना जीवोंकी अपेक्षा काल और नाना जीवोंका अपेक्षा भग विचय इन दोनोंमें क्या भेद है। उत्तर—नहीं, नाना जीवोंकी अपेक्षा भगविचय नामक अनुयोगद्वार मार्गाणाओंके विच्छेद और विच्छेदके अस्तित्वका प्ररूपक है। अतः उसका मार्गाणाओंके काल और अन्तर मतलानेवाले अनुयोगद्वारोंके साथ एकत्व माननेमें विरोध आता है।

२. उत्कृष्ट विभक्ति सर्वस्थितिमें अद्वाच्छेदमें अन्तर

क पा ३/३ २२/१०/१४/१० सव्वट्ठिदीए अद्वाच्छेदम्म भणिद उक्कस्स-ट्ठिदीए च को भेद। बुच्चदे—चरिमणिसेयस्स जो कालो सो उक्कस्स-अद्वाच्छेदम्म भणिदउक्कस्सट्ठिदी णाम। तत्थतणसव्वणिसेयाण समुहो सव्वट्ठिदी णाम। तेण दोण्हमरिथ भेदो। उक्कस्सविहत्तीए उक्कस्सअद्वाच्छेदस्स च को भेदो। बुच्चदे—चरिमणिसेयस्स कालो उक्कस्सअद्वाच्छेदो णाम। उक्कस्सट्ठिदीविहत्ती पुण सव्वणिसेयाण सव्वणिसेयपवेसाण वा कालो। तेण एवेसि पि अरिथ भेदो। —प्रश्न—सर्वस्थिति और अद्वाच्छेदमें कही गयी उत्कृष्ट स्थितिमें क्या भेद है। उत्तर—अन्तिम निपेकका जो काल है वह उत्कृष्ट अद्वाच्छेदमें कही गयी उत्कृष्ट स्थिति है। तथा यहाँपर रहनेवाले सम्पूर्ण निपेकोंका जो समूह है वह सर्व स्थिति है, इसलिए इन दोनोंमें भेद है। प्रश्न—उत्कृष्ट विभक्ति व उत्कृष्ट अद्वाच्छेदमें क्या भेद है। उत्तर—अन्तिम निपेकके कालको उत्कृष्ट अद्वाच्छेद कहते हैं और समस्त निपेकोंके या समस्त निपेकोंके प्रवेशोंके कालको उत्कृष्ट स्थिति विभक्ति कहते हैं, इसलिए इन दोनोंमें भेद है।

३ उत्कृष्ट विभक्ति व सर्वस्थितिमें अन्तर

क पा ३/३-२२/१०/१४/१० एवं सते सव्वुक्कस्सविहत्तीण अरिथ भेदो ति णासकणिज्ज। ताण पि णयविसेसवसेण कथ चि भेदुवलभादो। तं जहा-समुदायपहाणा उक्कस्सविहत्ती। अवयवपहाणा सव्वविहत्ति ति। —ऐसा (उपरोक्त शकाका समाधान) होते हुए सर्वविभक्ति और उत्कृष्ट विभक्ति इन दोनोंमें भेद नहीं है, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, नयविशेषकी अपेक्षा उन दोनोंमें भी कथविषय भेद पाया जाता है। वह इस प्रकार है—उत्कृष्ट विभक्ति समुदायप्रधान होती है और सर्वविभक्ति अवयवप्रधान होती है।

३ अनुयोगद्वारोंका परस्पर अन्तर्भाव

क पा २/२-२२/१०/८१/४ कमणियोगद्वारं कम्मसंगहिय। बुच्चदे, समुक्किचणा ताव पुण वत्तवा सामिसादिअणियोगद्वारेहि चैव एगेगपयडोणमरिथत्तिसिद्धो अवगययपरवणाए फलाभावादो। सव्वविहत्ती णोसव्वविहत्ती उक्कस्सविहत्ती अणुक्कस्सविहत्ती जहण-विहत्ती अजहणविहत्तीओ च ण वत्तवाओ, सामित्त सणियासादि-अणियोगद्वारेसु अणमाणेसु अवगययपडित्सवस्स सिस्सस्स उक्कस्साणु-क्कस्सजहणाजहणपयडित्सवस्सविहत्तीहोत्तुप्पत्तीदो। सादि-अणादि-धुव-अधुव अहियारा वि ण वत्तवा कालत्तरेसु परवज्जमाणेसु तदवगमुप्पत्तीदो। भागाभागो ण वत्तवो अवगयअप्पावहुण (स्स) सव्वविसयपडिवोहोत्तुप्पत्तीदो। भावो वि ण वत्तवो, उवदेसेण विणा वि मोहोदएण मोहपयडिविहत्तीए सभवो होदि ति अवगमुप्पत्तीदो। एवं सपहियसेसत्तरेमअथाहियारत्तादो एकारसअणियोगद्वारपरवणा चउवीसअणियोगद्वारपरवणाए सह ण विरुक्कदे। —अब किस अनुयोगद्वारका किस अनुयोगद्वारमें समग्र किया है इसका कथन करते हैं। यद्यपि समुत्कर्तना अनुयोगद्वारमें प्रकृतियोंका अस्तित्व गठलाया जाता है तो भी उसे अलग नहीं कहना चाहिए, क्योंकि स्वामित्वादि अनुयागोंके कथनके द्वारा प्रत्येक प्रकृतिका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है अतः जाने हुए अर्थका कथन करनेमें कोई फल नहीं है। तथा सर्वविभक्ति नोसर्वविभक्ति, उत्कृष्टविभक्ति, अनुकृष्ट-विभक्ति, जघन्य विभक्ति और अजघन्य विभक्तिका भी अलगसे कथन नहीं करना चाहिए क्योंकि स्वामित्व, सन्निकर्ष आदि अनुयोगद्वारोंके कथनसे जिस शिष्यने प्रकृतियोंकी सख्याका ज्ञान कर लिया है उसे उत्कृष्ट, अनुकृष्ट तथा जघन्य और अजघन्य प्रकृतियोंकी संख्याका ज्ञान हो ही जाता है तथा सादि, अनादि, धुव और अधुव अधिकारोंका पृथक् कथन नहीं करना चाहिए, क्योंकि काल और अन्तर अनुयोग द्वारोंके कथन करनेपर उनका ज्ञान हो जाता है। तथा भागाभाग अनुयोगद्वाराका भी पृथक् कथन नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिसे अश्वमहत्त्वका ज्ञान हो गया है उसे भागाभागका ज्ञान हो ही जाता है। उसी प्रकार भाव अनुयोग-द्वारका भी पृथक् कथन नहीं करना चाहिए, क्योंकि मोहके उदयसे मोहप्रकृतिविभक्ति होती है, ये बात उपदेशके बिना भी ज्ञात हो जाती है। इस प्रकार शेष तेरह अनुयोगद्वार ग्यारह अनुयोगद्वारोंमें ही समग्र हो जाते हैं। अतः ग्यारह अनुयोगद्वारोंका कथन चौबीस अनुयोगद्वारोंके कथनके साथ विरोधको नहीं प्राप्त होता।

४ ओघ और आदेश प्ररूपणाओंका विषय

रा वा हि १/८/६८ सामान्य करि तो गुणस्थान विषे कहिये और विशेष करि मार्गणा विषे कहिए।

५. प्ररूपणाओं या अनुयोगोंका प्रयोजन

घ २/१, २/४१४/२ प्ररूपणायां किं प्रयोजनमिति चेदुच्यते, सूत्रेण सूचितार्थानां स्पष्टीकरणार्थं विशिष्टविधानेन प्ररूपणोच्यते। —प्रश्न—प्ररूपणा करनेमें क्या प्रयोजन है। उत्तर—सूत्रके द्वारा सूचित पदार्थोंके स्पष्टीकरण करनेके लिए शीघ्र प्रकारसे प्ररूपणा कही जाती है।

अनुयोगसमास—श्रुतज्ञानका एक भेद—दे श्रुतज्ञान II।

अनुयोगी—(गह शब्द नैयायिक व वैशेषिक दर्शनकार आधार म आश्रयके अर्थमें प्रयुक्त करते हैं। द्रव्य अपने गुणोंका अनुयोगी है, परन्तु गुण अपने द्रव्यका नहीं, क्योंकि द्रव्य ही गुणका आश्रय है, गुण द्रव्यका नहीं)।

अनुराग—दे राग।

अनुराधा—एक नक्षत्र—दे नक्षत्र।

अनुलोम—(५ ध/२/२८/भाषाकार) सामान्यकी मुख्यता तथा विशेषकी गौणता करनेसे जो अस्तित्वास्तिरूप वस्तु प्रतिपादित होती है, उसको अनुलोमक्रम कहते हैं।

अनुवाद—ध १/१,१२४/२०१/४ गतिरुक्तलक्षणा, तस्याः वदनं वाद। प्रसिद्धवाच्यपरम्परागतव्याख्यान अनु पश्चात् वादोऽनुवाद। —गतिरुक्तलक्षण पहिले कह आये हैं। उसके कथन करनेको वाद कहते हैं। आचार्य परम्पराले आये हुए प्रसिद्ध अर्थका तदनुसार कथन करना अनुवाद है।

ध १/१,१२४/३४६/३ तथोपदिष्टमेवानुबदनमनुवाद। प्रसिद्धस्य कथनमनुवाद। —जिस प्रकार उपदेश दिया है, उसी प्रकार कथन करनेको अनुवाद कहते हैं। अथवा प्रसिद्ध अर्थके अनुकूल कथन करनेको अनुवाद कहते हैं।

अनुवीचिभाषण—रा बा ७/६,१/६३६/१२ अनुवीचिभाषण अनु-लामभाषणमित्यर्थ। —अनुवीचिभाषण अर्थात् विचारपूर्वक बोलना (चा स ६३/३)।

चा प/टी/४६/११ बीची बागलहरी तामसुकरय या भाषा वर्तते सोऽनु-वीचिभाषा, जिनसूत्रानुसारिणी भाषा अनुवीचिभाषा पूर्वाचार्ययुग्-परिपाटीमनुकूल्य भाषणीयमित्यर्थ। —बीची बागलहरीको कहते हैं उसका अनुसरण करके जो भाषा बोलनी जाती है सो अनुवीचिभाषण है। जिनसूत्रको अनुसारिणीभाषा अनुवीची भाषा है। पूर्वाचार्यकृत सूत्रकी परिपाटीको अनुकूलन न करके बोलना, ऐसा अर्थ है।

अनुवृत्ति—स सि १/३३४०/६ द्रव्य सामान्यसुरसर्ग अनुवृत्ति-रित्यर्थ। —द्रव्यका अर्थ सामान्य सरसर्ग और अनुवृत्ति है।

स्या म ४/१६/२ एकाकारप्रतीतिरेकशब्दाच्यता चानुवृत्ति। —एक नामसे जाननेवाली प्रतीतिका अनुवृत्ति अथवा सामान्य कहते हैं। किसी धर्मकी विधिरूपसे वृत्ति या अनुस्यूतिका अनुवृत्ति कहते हैं। जैसे घटमें घटरवकी अनुवृत्ति है। (स्या दी ३/३७६)।

अनुशिष्ट—भ आ/वि ६८/१६६/४ अनुशिष्टं सूत्रानुसारेण शासनम्। —अनुशिष्ट अर्थात् आगमके अविरुद्ध उपदेश करना।

अनुश्रेणी—ज प/प्र १०६ Along a world line अर्थात् एक प्रवेश, पक्षि।

अनुश्रेणीगति—दे विग्रह गति।

अनुसमयापवर्तना—१ काण्डकघात व अनुसमयापवर्तनामै अन्तर —दे अपकर्षण/४।

अनुस्मरण—रा बा १/१२,११/४५/१६ पूर्वानुभूतानुसारेण विकल्पन-मनुस्मरणम्—पूर्वकी अनुभूतियोंके अनुसार विकल्प करना अनु-स्मरण है।

अनुत—दे सत्य।

अनेक—१ द्रव्यमें एक अनेक धर्म (दे अनेकान्त ४)। २ पट्द्रव्योंमें एक अनेक विभाग (दे द्रव्य ३)।

अनेकत्व—न च वृ ६२/६६ अनेकस्त्वा ह विविहभावरथा॥६२॥

अनेक पञ्चपदी ॥६६॥ —अनेक रूप अर्थात् विविध भावों या पर्यायोंमें स्थित ॥६२॥ द्रव्य पर्यायकी अपेक्षा अनेक है ॥६६॥

आ प ६/गुणपर्यायाधिकार' एकराग्यानेकरयभावापनम्भादनेकरयभावा। —एक द्रव्यके अनेक स्वभावकी उपनिधि होनेके कारण वह अनेक स्वभाववाना है।

स सा/आ/परि/शक्ति नं ३२ एकद्रव्यस्याप्यानेकपर्यायमयस्वरूपा अनेकरवशक्ति। एक द्रव्यसे व्याप्य (अपाने योग्य) अनेक पर्याय-मयपनारूप अनेकरय शक्ति है।

अनेकान्त—वस्तुमें एक ही समय अनेकों क्रमवर्ती व अक्रमवर्ती विरोधी धर्मों गुणों, स्वभावों व पर्यायोंके रूपमें—भस्ती प्रकार प्रतीति के विषय मन रहे हैं। जा वस्तु किसी एक दृष्टिसे नित्य प्रतीत होती है वही किसी अन्य दृष्टिसे अनिरय प्रतीत होती है, जैसे व्यक्ति वह का गह रहते हुए भी मानकसे धृष्ट और गैराने साहस मन जाता है। यद्यपि विरोधी धर्मोंका एक ही आ-रमें रहना साधारण जनोका स्वीकार नहीं हो सकता पर विशेष विचारकजन दृष्टिभेदकी अपेक्षाओं को मुख्य गौण करके विरोधमें भी अविरोधका विचित्र दर्शन कर सकते हैं। इसी विषयका इस अधिनारमें कथन किया गया है।

१ भेद व लक्षण

- १ अनेकान्तसामान्यका लक्षण।
- २ अनेकान्तके दो भेद (सम्यक् व मित्या)।
- ३ सम्यक् व मित्या अनेकान्तके लक्षण।
- ४ क्रम व अक्रम अनेकान्तके लक्षण।

२ अनेकान्त निर्देश

- १ अनेकान्त छल नहीं है।
- २ अनेकान्त सशयवाद नहीं है।
- * अनेकान्त प्रमाणस्वरूप है। —दे नय १/२।
- ३ अनेकान्तके बिना वस्तुकी सिद्धि नहीं होती।
- ४ किसी न किसी रूपमें सब अनेकान्त मानते हैं।
- ५ अनेकान्त भी अनेकान्तात्मक है।
- ६ अनेकान्तमें सर्व एकान्त रहते हैं पर एकान्तमें अनेकान्त नहीं रहता।

७ निरपेक्ष नयोका समूह अनेकान्त नहीं है।

८ अनेकान्त व एकान्त का समन्वय।

* सर्व दर्शन मिलकर एक जैनदर्शन बन जाता है।

—दे अनेकान्त २/६।

* एवकारका प्रयोग व कारण आदि। —दे एकान्त २।

* स्यात्कारका प्रयोग व कारण आदि। —दे स्याद्वाद

९ सर्व एकान्तवादियोंके मत किसी न किसी नयमें गभित है।

३. अनेकान्तका कारण व प्रयोजन

१ अनेकान्तके उपदेशका कारण।

* शब्द अल्प है और अर्थ अनन्त।

२ अनेकान्तके उपदेशका प्रयोजन।

३ अनेकान्तवादियोंको कुछ भी कहना अनिष्ट नहीं।

४ अनेकान्तकी प्रधानता व महत्ता।

॥ वस्तुमे विरोधी धर्मोंका निर्देश

- १ वस्तु अनेको विरोधी धर्मोंसे गुम्फित है ।
- २ वस्तु भेदाभेदात्मक है ।
- ३ सत् सदा अपने प्रतिपक्षीकी अपेक्षा रखता है ।
- ४ स्व सदा परकी अपेक्षा रखता है ।
- ५ विधि सदा निषेधकी अपेक्षा रखती है ।
- ६ वस्तुमें कुछ विरोधी धर्मोंका निर्देश ।
- ७ वस्तुमें कथचित् स्व-पर भाव निर्देश ।

५ विरोधमें अविरोध

- * वस्तुके विरोधी धर्मोंमें कथचित् विधि निषेध व भेदाभेद । —दे सप्तभंगी १ ।
- * अनेकान्तके स्वरूपमें कथचित् विधि निषेध ।
—दे सप्तभंगी ३ ।
- १ विरोधी धर्म रहनेपर भी वस्तुमें कोई विरोध नहीं पड़ता ।
- २ सभी धर्मोंमें नहीं बल्कि यथायोग्य धर्मोंमें ही अविरोध है ।
- ३ अपेक्षाभेदसे विरोध सिद्ध है ।
- ४ वस्तु एक अपेक्षासे एकरूप है और अन्य अपेक्षासे अन्यरूप ।
- ५ नयोको एकत्र मिलानेपर भी उनका विरोध कैसे दूर होता है ।
- ६ विरोधी धर्मोंमें अपेक्षा लगानेकी विधि ।
- ७ विरोधी धर्म बतानेका प्रयोजन ।
- * अपेक्षा व विवक्षा प्रयोग विधि । —दे स्याद्वाद ।
- * नित्यानित्य पक्षमें विधि निषेध व समन्वय ।
—दे उत्पाद, व्यय ध्रौव्य २ ।
- * द्वैत व अद्वैत अथवा भेद व अभेद अथवा एकत्व व पृथक्त्व पक्षमें विधि निषेध व समन्वय ।
—दे द्रव्य ४ ।

१ भेद व लक्षण

१ अनेकान्त सामान्यका लक्षण

- ध १६/२४/१ को अणेतो नाम । जच्चसरत्त । —अनेकान्त किसको कहते हैं । जात्यन्तरभावको अनेकान्त कहते हैं (अर्थात् अनेक धर्मों या स्वादोंके एकरस्रात्मक मिश्रणसे जो जात्यन्तरपना या स्वाद उत्पन्न होता है, वही अनेकान्त शब्दका वाच्य है) ।
- स सा /आ /परि यदेव तत्तदेवात्त यदेवैक तदेवानेकं, यदेव सत्त-
देवात्त, यदेव निरर्थं तदेवानित्यसिद्धैकवस्तुनि वस्तुत्वनित्यादकपर-
स्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमेकान्त । —जो तत्व है वही अतत्त्व है,
जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो निरर्थ है वही
अनिरर्थ है, इस प्रकार एक वस्तुमें वस्तुत्वकी उपजानेवाली परस्पर
विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकाशित होना अनेकान्त है । (और भी देखो
आगे सम्यगनेकान्तका लक्षण)

न्या दो ३/६७६ अनेके अन्ता धर्मा सामान्यविशेषपर्याया गुणा यस्येति
सिद्धोऽनेकान्त । —जिसके सामान्य विशेष पर्याय व गुणरूप अनेक
अन्त या धर्म हैं, वह अनेकान्त रूप सिद्ध होता है । (स भ त ३७/२) ।

२ अनेकान्तके दो भेद—सम्यक् व मिथ्या

रा वा १/६, ७/३४/२३ अनेकान्तोऽपि द्विविध —सम्यगनेकान्तो
मिथ्याऽनेकान्त इति । —अनेकान्त भी दो प्रकारका है—सम्यगने-
कान्त व मिथ्या अनेकान्त । (स.भ त /७३/१०) ।

३. सम्यक् व मिथ्या अनेकान्तके लक्षण

१ सम्यगनेकान्तका लक्षण

रा वा १/६ ७/३४/३६ एकत्र सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपनिरूपणो युक्त्या-
गमाम्यामनिरुद्ध सम्यगनेकान्त । —युक्ति व आगमसे अविरुद्ध
एक ही स्थानपर प्रतिपक्षी अनेक धर्मोंके स्वरूपका निरूपण करना
सम्यगनेकान्त है । (स भ त /७४/२) ।

२ मिथ्या अनेकान्तका लक्षण

रा वा १/६ ७/३४/२७ तदतस्त्वभाववस्तुस्थान्य परिकल्पितानेकार्मक
केवल वाग्विज्ञान मिथ्यानेकान्त । —तत्त्व व अतत्त्व स्वभाववस्तुसे
स्थान्य केवल वचन विलास रूप परिकल्पित अनेक धर्मात्मक मिथ्या
अनेकान्त है । (स भ त /७४/३) ।

४ क्रम व अक्रम अनेकान्तके लक्षण

प्र सा /ता वृ १/४१/२००/६ तिर्यक्प्रचया तिर्यक्सामान्यमिति विस्तार-
सामान्यमिति अक्रमानेकान्त इति च भण्यते । ऊर्ध्वप्रचय इत्युर्ध्व-
सामान्यमिरयायतसामान्यमिति क्रमानेकान्त इति च भण्यते ।
—तिर्यक्प्रचय, तिर्यक् सामान्य, विस्तार सामान्य और अक्रमाने-
कान्त यह सब शब्द तिर्यक् प्रचयके नाम हैं और इसी प्रकार
ऊर्ध्व प्रचय, ऊर्ध्वसामान्य आयतसामान्य तथा क्रमानेकान्त ये सब
शब्द ऊर्ध्व प्रचयके वाचक हैं । (अर्थात् वस्तुका गुणसमूह अक्रमाने-
कान्त है, क्योंकि गुणोंकी वस्तुमें युगपद् वृत्ति है और पर्यायोंका
समूह क्रमानेकान्त है, क्योंकि पर्यायोंकी वस्तुमें क्रमसे वृत्ति है ।

२ अनेकान्त निर्देश

१ अनेकान्त छल नहीं है

रा वा १/६ ८/३६/१ स्यान्मतम्—‘तदेवास्ति तदेव नास्ति तदेव निरर्थं
तदेवानित्यम्’ इति चानेकान्तप्ररूपण छलमात्रमिति, तन्न, कृत ।
छललक्षणाभावात् । छलस्य हि लक्षणमुक्तम्—‘वचनाविघातोऽर्थ-
विकल्पोपपत्त्या छलम् यथा नवकम्बलोऽयम् इत्यविशेषाभिहितेऽर्थे
वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकरणनम् नवास्य कम्बलो न चरवार इति, नवो
वास्य कम्बलो न पुराण’ इति नवकम्बल । न तथानेकान्तवाद ।
यत् उभयनयगुणप्रधानभावापादितापितानपितव्यवहारसिद्धिविशेष-
बललाभप्रापितयुक्तिपुष्कलार्थ अनेकान्तवाद । —प्रश्न—‘वही वस्तु
है और वही वस्तु नहीं है, वही वस्तु निरर्थ है और वही वस्तु अनिरर्थ
है, इस प्रकार अनेकान्तका प्ररूपण छल मात्र है । —उत्तर— अनेकान्त
छल रूप नहीं है, क्योंकि, जहाँ वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न अर्थकी
व्यपना करके वचन विघात किया जाता है, वहाँ छल होता है ।
जैसे ‘नवकम्बलो देवदत्त’ यहाँ ‘नव’ शब्दके दो अर्थ होते हैं । एक
६ संख्या और दूसरा नया । ता ‘नूतन’ विवक्षा कहे गये ‘नव’ शब्द-
का ६ संख्या रूप अर्थ विकल्प करके वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न अर्थ-
की व्यपना छल कही जाती है । किन्तु सुनिश्चित मुख्य गौण
विवक्षासे सम्भव अनेक धर्मोंका सुनिर्णीत रूपसे प्रतिपादन करनेवाला
अनेकान्तवाद छल नहीं हो सकता, क्योंकि, इसमें वचनविघात नहीं
किया गया है, अपितु यथावस्थित वस्तुतत्त्वका निरूपण किया गया
है । (स भ त /७६/१०) ।

२ अनेकान्त सशयवाद नहीं है

रा वा १/६, ६-१२/३६/८ स्यान्मतम्—सशयहेतुरनेकान्तवाद । कथम् ।
एकत्राधारे विरोधनाऽनेकस्यासम्भवात् । तच्च न, वस्मात् । विशेष-

लक्षणोपलब्धे । इह सामान्यप्रत्यक्षाद्विधोपस्थिते सशयः । न च तद्वदनेकान्तवादे विशेषानुलब्धिः, यत् स्वरूपाद्यादेशवशीकृता विशेषा उक्ता वक्तव्या प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते । ततो विशेषोपलब्धेर्न सशयहेतुः ॥६॥ विरोधाभावात् सशयाभावः ॥१०॥ उक्तार्थआभेदाद् एकत्राविरोधेनावरोधो धर्माणां पितापुत्रादिसंभन्धवत् ॥११॥ सपक्षासपक्षापेक्षोपलक्षितसत्त्वासरवादिभेदोपचितकथमवद्वत् ॥१२॥ — प्रश्न — अनेकान्तसशयका हेतु है, क्योंकि एक आधारमें अनेक विरोधी धर्मोंका रहना असम्भव है । उत्तर — नहीं, क्योंकि यहाँ विशेष लक्षणको उपलब्धि होती है । सामान्य धर्मका प्रत्यक्ष होनेसे विशेष धर्मोंका प्रत्यक्ष न होनेपर किन्तु उभय विशेषोंका स्मरण होनेपर संशय होता है । जैसे धूँधली रात्रिमें स्थानु और पुरुषगत ऊँचाई आदि सामान्य धर्मको प्रत्यक्षता होनेपर, स्थानुगत पक्षी-निवास व कोटर तथा पुरुषगत सिर छुजाना कपड़ा हिलना आदि विशेष धर्मोंके न दिखनेपर किन्तु उन विशेषोंका स्मरण रहनेपर ज्ञान दो कोटिमें दोलित हो जाता है, कि यह स्थानु है या पुरुष । इसे सशय कहते हैं । किन्तु इस भाँति अनेकान्तवादमें विशेषोंको अनुपलब्धि नहीं है । क्योंकि स्वरूपादिको अपेक्षा करके कहे गये और ७१ जाने योग्य सर्व विशेषोंको प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है । इसलिए अनेकान्त सशयका हेतु नहीं है ॥६॥ इन धर्मोंमें परस्पर विरोध नहीं है, इसलिए भी संशयका अभाव है ॥१०॥ पिता-पुत्रादि सम्बन्धवत् मुरग्यौगो निवृत्तासे अविरोध सिद्ध है (देखो आगे अनेकांत ६) ॥११॥ तथा जिस प्रकार बादी या प्रतिवादीके द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक हेतु स्वपक्षकी अपेक्षा साधक और पर-पक्षकी अपेक्षा दूषक होता है, उसी प्रकार एक ही मस्तुमें विविध अपेक्षाओंसे सत्त्व-असत्त्वादि विविध धर्म रह सकते हैं, इसलिए भी विरोध नहीं है ॥१२॥ (सं. त. ८/१-६३ । आठ दोषोंका निराकरण) ।

३ अनेकान्तके विना वस्तुकी सिद्धि नहीं होती

व स्तो १२, २४ २६ अनेकमेकं च तथैव तत्त्वं, भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम् । मृगोपचरोऽन्यतरस्य लोपे, तच्छेपोलोपोऽपि ततोऽनुपारयम् ॥२१॥ न सर्वथा नित्यमुदेत्यपि, न च क्रियाकारकमत्र युक्तम् । नैवा-सतो जन्म सतो न नाशो, दीपस्तम् बुद्बुदगलभावतोऽस्ति ॥२४॥ विधि-निषेधश्च कथंचिद्विरोधः, विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था ॥२६॥ — यह समुक्ति-नीत वस्तुतत्त्व भेद अभेद ज्ञानका विषय है और अनेक तथा एक रूप है । भेद ज्ञानसे अनेक और अभेद ज्ञानसे एक है । ऐसा भेदाभेद ग्राहक ज्ञान ही सत्य है । जो लोग इनमें से एकको ही सत्य मानकर दूसरेमें उपचारका व्यवहार करते हैं वह मिथ्या है, क्योंकि दोनों धर्मोंमें-से एकका अभाव माननेपर दूसरेका भी अभाव हो जाता है । दोनोंका अभाव हो जानेपर वस्तुतत्त्व अनुपात्य अर्थात् नि स्वभाव हो जाता है ॥२२॥ यदि वस्तु सर्वथा क्रिया हो तो वह उदय अस्तको प्राप्त नहीं हो सकती और न उसमें क्रियाकारककी ही योजना बच सकती है । जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता और जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता । दीपक भी बुझनेपर सर्वथा नाशको प्राप्त नहीं होता किन्तु अन्धकार रूप पर्यायको धारण किये हुए अपना अस्तित्व रखता है ॥२४॥ वास्तवमें विधि और निषेध दोनों कथंचित् इष्ट हैं । विवक्षावश उनमें मुरग्यौगोकी व्यवस्था होती है ॥२६॥ (स्व स्तो ४२-४४ ६२-६६), (प. घ. ५/४१८ ४३३) ।

घ १/१.११/१६७/२ नारमनोऽनेकान्तरमसिद्धमनेकान्तमन्तरेण तस्यार्थ-कारिखानुपपत्तेः । — आरमाका अनेकान्तपना असिद्ध नहीं है, क्योंकि अनेकान्तके विना उसके अर्थक्रियाकारीपना नहीं बन सकता । (स्तो. वा. १/१.१२७/६६७)

४. किसी एकमें सब अनेकान्त मानते हैं

रा वा १/६/१४/३७ नात्र प्रतिवादिनो विषयवन्ते एकमनेकारमकमिति । केचित्तावदाहुः — 'सत्त्वजस्तमसो साम्यावस्था प्रधानम्' इति । तेषां प्रसादसाधनशोषतापावरणसाधनादिभिस्त्वभावानां प्रधानात्मना मिथश्च न विरोधः । अथ मन्येथा 'न प्रधानं नामैकं गुणैर्म्योऽर्थान्तर-

भूतमस्ति, किन्तु त एव गुणा साम्यावस्था प्रधानात्म्यं लभन्ते' इति । यद्येव भूमा प्रधानस्य ग्यात् । त्यादेतत् — तेषां समुद्यय प्रधानमेक-मिति, अतएवाविरोधः सिद्धः गुणानामवयवानां समुदायरस्य च । अपरे मन्यन्ते — 'अनुवृत्तिविनिवृत्तिमुत्तुर्धमिधानलक्षण सामान्य-विशेषः' इति । तेषां च सामान्यमेव विशेषः सामान्यविशेष इत्येक-स्यात्मन उभयार्थमकं न विरुध्यते । अपरे आहुः — 'वर्णादिपरमाणु-समुदायो रूपपरमाणु इति । तेषां कषवद्वैतवादिभिर्नानलक्षणानां रूपा-त्मना मिथश्च न विरोधः । अथ मतम् 'न परमाणुनामैकाऽस्ति मातृ, किन्तु विज्ञानमेव तदाकाङ्क्षपरिणत परमाणुव्यपदेशार्हम् इत्युच्यते, अप्रापि ग्राहकविषयाभाससंनिधित्वात्तत्प्रधायागाधिवर्णसंभङ्गाभ्यु-पगमाच्च विरोधः । किं गर्वयामेव तेषां पूर्वोत्तरतानभारावस्था विशेषा-र्णभाभेदादेवम्य कार्यकारणशक्तिमन्मन्यो न जिरोधस्यास्पदमित्य विगोचसिद्धिः । — 'एक वस्तु अनेक धर्मोक्तम्' इत्येव विस्ती बादी-को विवाद भी नहीं है । यथा सार्वत्र्य लोग सत्त्व रज और तम इन भिन्नस्वभाववाले धर्मोंका आधार एक प्रधान मानते हैं । उनके मतमें पसाद, लाघव, क्षोषण, अपवर्ण, सादन आदि भिन्न-भिन्न गुणोंका प्रधानमें अगदा परस्परमें विरोध नहीं है । वह प्रधान नामक वस्तु उन गुणोंमें पृथक् ही कुछ हो या भी नहीं है, किन्तु वे ही गुण साम्या-वस्थाको प्राप्त करके 'प्रधान' ग्राहक प्राप्त होते हैं और यदि ऐसे हों तो प्रधान भूमा (व्यापक) सिद्ध होता है । यदि यहाँ यह कहा कि उनका समुदाय प्रधान एक है तो स्वयं ही गुणरूप व्यापकके समुदायमें अविरोध सिद्ध हो जाता है । वैशेषिक पृथिवीर आदि सामान्य विशेष स्वीकार करते हैं । एक ही पृथिवी सार्वत्र्यसिद्धिमें अनुगत होनेसे सामान्यारमक होकर भी जनादिसे व्यावृत्ति करनेके कारण विशेष कहा जाता है । उनके गहाँ सामान्य ही विशेष है' इय प्रकार पृथिवीर आदि सामान्यविशेष माना गया है । अतः उनके यहाँ भी एक आरमाके उभयार्थमकपन विरोधको प्राप्त नहीं होता । बौद्ध जन कर्कश आदि विभिन्न लक्षणवाले परमाणुओंके समुदायको एकरूप स्वतन्त्र मानते हैं । इनके मतमें भी विभिन्न परमाणुओंमें रूपकी दृष्टिसे कोई विरोध नहीं है । विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्ध एक ही विज्ञानको ग्राह्यकार, ग्राह्यकार और संवेदानाकार इस प्रकार त्रयाकार स्वीकार करते ही हैं । सभी बादी पूर्ववस्थाको कारण और उत्तरावस्थाको कार्य मानते हैं, अतः एक ही पदार्थमें अपनी पूर्व और उत्तर पर्यायोंकी दृष्टिसे कारण-कार्य व्यवहार निर्विरोध रूपसे होता है । उसी तरह सभी जीवादि पदार्थ विभिन्न अपेक्षाओंसे अनेक धर्मोंके आधार सिद्ध होते हैं । (गीता/१३/१४-१६) (ईशोपनिषद्/८) ।

५ अनेकान्त भी अनेकान्तात्मक है

स्व स्तो १/०१ ननुभगवन्मते येन रूपेण जीवादि वस्तु निर्यादित्त्वभाव तेन किं कथंचित्त्वा सर्वथा वा । यदि सर्वथा तदेकान्तप्रसङ्गादने-कान्तस्य, अथ कथंचित्सदानवस्थेत्याशङ्क्याह — अनेकान्तोऽन्य-नेकान्त प्रमाणनयसाधन अनेकान्त प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽपि ता-त्रयात् । — प्रश्न — भगवान्के मतमें जीवादि वस्तुका जिस रूपसे निर्यादि स्वभाव बताया है वह कथंचित् रूपसे है या सर्वथा रूपसे । यदि सर्वथा रूपसे है तब तो एकान्तका प्रसंग आनेके कारण अनेकान्त-की सति होती है और यदि कथंचित् रूपसे है तो अनवस्था दीप जाता है । इसी आशकाके उत्तरमें आचार्यदेव कहते हैं । उत्तर — आपके मतमें अनेकान्त भी प्रमाण और नय साधनको लिये हुए अनेकान्त-स्वरूप है । प्रमाणकी दृष्टिसे अनेकान्तरूप सिद्ध होता है और विवक्षित नयकी अपेक्षासे अनेकान्तमें एकान्तरूप सिद्ध होता है ।

रा वा १/६/७/३४/२८ न्यार्पणदेकान्तो भवति एकनिश्चयप्रवर्णत्वाच्च, प्रमाणार्पणदेकान्तो भवति अनेकनिश्चयाधिकरणत्वाच्च । — एक अगका निश्चय करानेवाला होनेके कारण नयकी मुख्यतासे एकान्त होता है और अनेक अर्थोंका निश्चय करानेवाला होनेके कारण प्रमाण-की विवक्षासे अनेकान्त होता है ।

रतो वा १/२/१६, ५६/४७४ न चैवमेकान्तोपगमे कश्चिदपि सुन्यापितस्यैकान्तस्य समीचीनतया स्थितत्वात् प्रमाणापितस्यास्तित्वानेकान्तस्य प्रसिद्धे । येनारमनानेकान्तस्तैवानेकान्त एवेत्येकान्तानुपपन्नोऽपि नानिष्टः । प्रमाणसाधनस्यैवानेकान्तत्वसिद्धे नयसाधनस्यैकान्तव्यवस्थितेरेकान्तोऽप्यनेकान्त इति प्रतिज्ञानात् । तदुक्तम्—“अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः” (देखो ऊपर नं० १) ।—इस प्रकार एकान्तको स्वीकार करनेपर भी हमारे यहाँ कोई दोष नहीं है, क्योंकि श्रेष्ठ नयसे विवक्षित किये गये एकान्तकी समीचीन रूपसे सिद्धि हो चुकी है और प्रमाणसे विवक्षित किये गये अस्तित्वके अनेकान्तकी प्रसिद्धि हो रही है । “जिस विवक्षित प्रमाणस्वरूपसे अनेकान्त है, उस स्वरूपसे अनेकान्त हो है”, ऐसा एकान्त होनेका प्रसंग भी अनिष्ट नहीं है, क्योंकि, प्रमाण करके साधे गये विषयको ही अनेकान्तपना सिद्ध है, और नयके द्वारा साधन किये गये विषयको एकान्तपना व्यवस्थित हो रहा है । हम तो समझते अनेकान्त होनेको प्रशिक्षण करते हैं, इसलिए अनेकान्त भी अनेक धर्मवाला होकर अनेकान्त है । श्री १०८ समन्त-भद्राचार्यने कहा भी है कि अनेकान्त भी अनेकान्तस्वरूप है इत्यादि (देखो ऊपर नं० १ स्व स्त १०३) ।

न च वृ १८१ एयतो एयण्यो होष अण्येतमस्स सम्मूहा । —एकान्त एक नयरूप होता है और अनेकान्त नयोंका समूह होता है ।

का अ/पु २६१ ज वरुण अण्येतं एयं त त पि होदि सविषेवत् । सुयणाणेण णएहि य णिरेवत्तं दीसधे जेव २६१—जो वस्तु अनेकान्तरूप है वही सापेक्ष दृष्टिसे एकान्तरूप भी है । श्रुतज्ञानको अपेक्षा अनेकान्त रूप है और नयोंको अपेक्षा एकान्त रूप है २६१ ।

६. अनेकान्तमे सर्व एकान्त रहते हैं पर एकान्तमें अनेकान्त नहीं रहता

न च वृ ५७ मे उद्धवुत “निरयैकान्तमतं यस्य तस्यानेकान्तता कथम् । अनेकान्तमतं यस्य तस्यैकान्तमतं स्फुटम् । —जिसका मत निरय एकान्तस्वरूप है उसके अनेकान्तता कैसे हो सकती है । जिसका मत अनेकान्त स्वरूप है उसके स्पष्ट रूपसे एकान्तता होती है ।

न च वृ १७६ जह सद्धानमाई सम्मत जह तवाहगुणणितए । धाओ वा एयरसो तह णयमुलं अण्येतो १७६—जिस प्रकार तप ध्यान आदि गुणोंमें, भद्रान, सम्यक्त्व, ध्येय आदि एक रसरूपसे रहते हैं, उसी प्रकार नयमुलक अनेकान्त होता है । अर्थात् अनेकान्तमें सर्व नय एक रसरूपसे रहते हैं ।

स्या म ३०/३३६/११ सर्वनयारम्भादनेकान्तवादस्य । यथा विश-कलितानां मुक्तामणीनामेकसूत्रानुस्यूतानां हारव्यपदेशः, एवं पृथ-गभिर्बन्धनानां नयानां स्याद्वादलक्षणैकसूत्रप्रतीतानां भूताख्यप्रमाण-व्यपदेश इति । —अनेकान्तवाद सर्वनयारम्भक है । जिस प्रकार बिखरे हुए मोतियोंको एक सूत्रमें पिरो देनेसे मोतियोंका सुन्दर हार बन जाता है उसी प्रकार भिन्न-भिन्न नयोंको स्याद्वादरूपी सूत्रमें पिरो देनेसे सम्पूर्ण नय ‘श्रुत प्रमाण’ कहे जाते हैं ।

स्या म ३०/३३६/२६ न च धात्यं तद्धि भगवत्समयस्तेषु कथं नोपलभ्यते इति । समुद्रस्य सर्वसरिन्मयत्वेऽपि विभक्तासु तासु अनुपलम्भात् । तथा च वषट्त्वचनयोरैक्यमध्यवस्य श्रीसिद्धसेनदिवाकरपदा (ई ५५०) उदघाविन सर्वसिन्धव समुदीणस्त्वयि नाथ दृष्टम् । न च तासु भवान् प्रहरयते प्रविभक्तासु सरिस्त्वबोदधि । —प्रश्न—यदि भगवान्का शासन सर्वदर्शन स्वरूप है, तो यह शासन सर्वदर्शनोंमें क्यों नहीं पाया जाता । उत्तर—जिस प्रकार समुद्रके अनेक नदी रूप होनेपर भी भिन्न-भिन्न नदियोंमें समुद्र नहीं पाया जाता उसी प्रकार भिन्न-भिन्न दर्शनोंमें जैनदर्शन नहीं पाया जाता । वक्ता और उसके वचनोंसे अपेक्ष मानकर श्री सिद्धसेन दिवाकर (ई ५५०) ने कहा है, ‘हे नाथ’ जिस प्रकार नदियाँ समुद्रमें जाकर मिलती हैं वैसे ही सम्पूर्ण दृष्टियोंका आपमें समावेश होता है । जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियोंमें सागर नहीं रहता उसी प्रकार भिन्न-भिन्न दर्शनोंमें आप नहीं रहते ।

७. निरपेक्ष नयोंका समूह अनेकान्त नहीं है

आप्त मो १०८ मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति न । निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतोऽर्थकृत् १०८—मिथ्या नयोंका समूह भी मिथ्या ही है, परन्तु हमारे यहाँ नयोंका समूह मिथ्या नहीं है, क्योंकि, परस्पर निरपेक्ष नय मिथ्या हैं, परन्तु जो अपेक्षा सहित नय हैं वे वस्तुस्वरूप हैं ।

प सु ६/६१-६२ विषयाभास सामान्य विशेषो द्वय वा स्वतन्त्रम् ६१ तथा प्रतिभासनात् कायकिरणश्च ६२—वस्तुके सामान्य व विशेष दोनों अक्षोंकी स्वतन्त्र विषय मानना विषयाभास है ६१ क्योंकि न तो ऐसे पृथक् सामान्य या विशेषोंकी प्रतीति है और न ही पृथक्-पृथक् इन दोनोंसे कोई अर्थक्रिया सम्भव है ।

प्या वी ३/५८६ ननु प्रतिनियताभिप्रायगोचरतया पृथगात्मनो परस्पर-साहचर्यनिर्भर्या मिथ्याभूतानामेकत्वादीनां धर्मणां साहचर्यलक्षण-समुदायोऽपि मिथ्यैवेति चेच्चदङ्गीकुर्महे, परस्परोपकारोपकारवभाव विना स्वतन्त्रतया नेरपेक्षापेक्षार्या परस्परभावविमुक्तस्य तन्तुसमूहस्य शीतनिवारणार्थक्रियावदेकत्वान्वेष्टानामथ क्रियायां सामर्थ्याभावात्कथं चिन्मिथ्यात्वस्यापि स भवात् । —प्रश्न—एक-एक अभिप्रायके विषयरूपसे भिन्न-भिन्न सिद्ध होनेवाले और परस्परमें माहचर्यकी अपेक्षा न रखनेपर मिथ्याभूत हुए एकत्व अनेकत्व आदि धर्मोंका साहचर्य रूप समूह भी जो कि अनेकान्त माना जाता है, मिथ्या ही है । तात्पर्य यह कि परस्पर निरपेक्ष एकरादि एकान्त जम मिथ्या हैं तो उनका समूहरूप अनेकान्त भी मिथ्या ही कहलायेगा । उत्तर—वह हमें पट है । जिस प्रकार परस्परके उपकार्य-उपकारक भावके बिना स्वतन्त्र होनेसे एक दूसरेकी अपेक्षा न करनेपर वस्त्ररूप अवस्थासे रहित तन्तुओंका समूह शीत निवारण आदि कार्य नहीं कर सकता है, उसी प्रकार एक दूसरेकी अपेक्षा न करनेपर एकरादिक धर्म भी यथार्थ ज्ञान कराने आदि अर्थक्रियामें समर्थ नहीं है । इसलिए उन परस्पर निरपेक्ष धर्मोंमें कथंचित मिथ्यापन भी सम्भव है ।

८. अनेकान्त व एकान्तका समन्वय

रा ना १/६, ७/३४/२६ यद्यनेकान्तोऽनेकान्त एव स्यान्नैकान्तो भवेत्, एकान्ताभावात् तत्समुद्धारमकस्य तस्याप्यभाव स्यात्, शाखाद्यभावे वृक्षाद्यभाववत् । यदि चैकान्त एव स्यात्, तदविनाभावविशेषानिराकरणादात्मलोपे सर्वलोप स्यात् । एवम् उत्तरे च भद्रा योजयितव्या । —यदि अनेकान्तको अनेकान्त ही माना जाये और एकान्तका सर्वथा लोप किया जाये तो सम्प्रेकान्तके अभावमें, शाखादिके अभावमें वृक्षके अभावकी तरह तत्समुदायरूप अनेकान्तका भी अभाव हो जायेगा । यदि एकान्त ही माना जाये तो अविनाभावी इतर धर्मोंका लोप होनेपर प्रकृत शेषका भी लोप होनेसे सर्व लोपका प्रसंग प्राप्त होता है । इसी प्रकार (अस्ति नास्ति भंगवत्) अनेकान्त व एकान्तमें शेष भंग भी लायूँ कर लेने चाहिए । (स भ त ७५/४) ।

९ सर्व एकान्तवादियोंके मत किसी न किसी नयमें गमित हैं

स्या म २८/३१६/७ एत एव च परामर्शा अभिप्रेतधर्माधारणात्मकतया शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवृत्तमाना दुर्नयमज्ञानानुवृत्ते । तद्वृत्तप्रभावित-सत्ताका हि त्वत्वेते परप्रवादा । तथाहि—नैगमनयदर्शानुसारिणौ नैयायिक-वैशेषिकौ । सप्रहाभिप्रायप्रवृत्ता सर्वेऽप्यद्वैतवादा सार्व-दर्शनं च । अवधारनयानुपातिप्रायस्कार्वाक्यदर्शनम् । श्रुतुसुत्राङ्क-प्रवृत्तबुद्धयस्तथागता । शब्दादिनयावलिम्बितो वैयाकरणाय । —जिस समय ये नय अन्य धर्मोंका निषेध करके केवल अपने एक अभीष्ट धर्म-का ही प्रतिपादन करते हैं, उस समय दुर्नय कहे जाते हैं । एकान्त-वादी लोग वस्तुके एक धर्मको सत्य मानकर अन्य धर्मोंका निषेध करते हैं, इसलिए वे लोग दुर्नयवादी कहे जाते हैं । वह ऐसे कि—न्याय-वैशेषिक लोग नैगमनयका अनुसरण करते हैं, वेदान्ती अथवा

लक्षणोपलब्धे । इह सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः । न च तद्वदनेकान्तवादे विशेषानुलक्षि, यत् स्वस्वाध्यादेशवशीकृतता । विशेषा उक्ता वक्तव्या प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते । ततो विशेषोपलब्धेर्न संशयहेतुः ॥१॥ विरोधाभावात् संशयाभावः ॥१०॥ उक्तादर्पणाभेदाद् एकत्राविरोधेनावरोधो धर्माणां पितापुत्रादिसंभववत् ॥११॥ सपक्षसप्तपक्षोपलक्षितसत्त्वासत्त्वादिभेदोपचितैकधर्मवद्वा ॥१२॥ — प्रश्न—अनेकान्तसंशयका हेतु है, क्योंकि एक आधारमें अनेक विरोधी धर्मोंका रहना असम्भव है । उत्तर—नहीं, क्योंकि यहाँ विशेष लक्षणकी उपलब्धि होती है । सामान्य धर्मका प्रत्यक्ष होनेसे विशेष धर्मोंका प्रत्यक्ष न होनेपर किन्तु उभय विशेषोंका स्मरण होनेपर संशय होता है । जैसे धूलकी रात्रिमें स्थाणु और पुरुषगत ऊँचाई आदि सामान्य धर्मकी प्रत्यक्षता होनेपर, स्थाणुगत पक्षी-निवास य कोटर तथा पुरुषगत सिर खुजाना कपड़ा हिलना आदि विशेष धर्मोंके न दिखनेपर किन्तु उन विशेषोंका स्मरण रहनेपर ज्ञान दो कोटिमें दोलित हो जाता है, कि यह स्थाणु है या पुरुष । इसे संशय कहते हैं । किन्तु इस भाँति अनेकान्तवादमें विशेषोंकी अनुपलब्धि नहीं है । क्योंकि स्वस्वादिकी अपेक्षा करके कहे गये और कहे जाने योग्य सर्व विशेषोंकी प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है । इसलिए अनेकान्त संशयका हेतु नहीं है ॥१॥ इन धर्मोंमें परस्पर विरोध नहीं है, इसलिए भी संशयका अभाव है ॥१०॥ पिता-पुत्रादि सम्बन्धवत् मुरगयोगी निवृत्तासे अविरोध सिद्ध है (देखो आगे अनेकान्त ४) ॥११॥ तथा जिन प्रकार वादी या प्रतिवादीके द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक हेतु स्वपक्षकी अपेक्षा साधक और पर-पक्षकी अपेक्षा दूषक होता है, उसी प्रकार एक ही वस्तुमें विविध अपेक्षाओंसे सत्त्व-असत्त्वादि विविध धर्म रह सकते हैं, इसलिए भी विरोध नहीं है ॥१२॥ (सं भ त ८/२-३३ । आठ दोषोंका निराकरण) ।

३ अनेकान्तके विना वस्तुकी सिद्धि नहीं होती
व स्तो /२२, २४ २५ अनेकमेकं च त्वेव सर्वं, भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम् । मृगोपचारोऽप्यंतरस्य लोपे, तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपायम् ॥२२॥ न सर्वथा नित्यमुदेर्यपेति, न च क्रियाकारकमत्र युक्तम् । नैवा-सतो जन्म सतो न नाशो, दीपस्तम् पुद्गलभावतोऽस्ति ॥२४॥ विधि-निषेधश्च कथंचिदपि, विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था ॥२५॥—यह सुयुक्ति-नीतवस्तुतत्त्व भेद अभेद ज्ञानका विषय है और अनेक तथा एक रूप है । भेद ज्ञानसे अनेक और अभेद ज्ञानसे एक है । ऐसा भेदाभेद ग्राहक ज्ञान ही सत्य है । जो लोग इनमें से एकको ही सत्य मानकर दूसरेमें उपचारका व्यवहार करते हैं वह मिथ्या है, क्योंकि दोनों धर्मोंमें-से एकका अभाव माननेपर दूसरेका भी अभाव हो जाता है । दोनोंका अभाव हो जानेपर वस्तुतत्त्व अनुपाय अर्थात् नि स्वभाव हो जाता है ॥२३॥ यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो वह उदय अस्तको प्राप्त नहीं हो सकती और न उसमें क्रियाकारककी ही योजना भव सकती है । जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता और जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता । दीपक भी बुझनेपर सर्वथा नाशको प्राप्त नहीं होता किन्तु अन्धकार रूप पर्यायको धारण किये हुए अपना अस्तित्व रखता है ॥२४॥ वास्तवमें विधि और निषेध दोनों कथंचित् इष्ट हैं । विवक्षावश उनमें मुख्यगुणकी व्यवस्था होती है ॥२५॥ (स्व स्तो /४२-४४, ६२-६६), (प घ /५/४९८ ४३३) ।

घ १/१.१.११/१६७/० नामनोऽनेकान्तरथमसिद्धमनेकान्तमन्तरेण तत्सार्थ-कारित्वानुपपत्तेः ।—आत्माका अनेकान्तपना असिद्ध नहीं है, क्योंकि अनेकान्तके विना उसके अर्थक्रियाकारीपना नहीं बन सकता । (रत्तो वा १/१.१.१२७/५६७)

४. किसी न किसी रूपमें सब अनेकान्त मानते हैं
रा वा /१/६, १४/३७ नात्र प्रतिवादिनो विस्वदन्ते एकमनेकारामकमिति । केचित्तावदाहुः—‘सत्त्वरजस्तमसां सामान्यावस्था प्रधानम्’ इति । तेषां प्रसादसाधकशोषतापरिणामसाधनादिभिन्नस्वभावानां प्रधानात्मना मिथेश्च न विरोधः । अथ मन्येथा ‘न प्रधानं नामैकं गुणैर्योऽर्थान्तर-

भूतमस्ति किन्तु त एव गुणा सामान्यावस्था प्रधानार्यं न भन्ते’ इति । यद्येव भूमा प्रधानस्य ग्यात् । त्याधेतत्—तेषां समुदाय प्रधानमेक-मिति, अतएवाविराध सिद्ध गुणानामवयवानां समुदायस्य च । अपरे मन्यन्ते—‘अनुवृत्तिविनिवृत्तिमुदयविधानानुक्षण सामान्य-विशेषः’ इति । तेषां च सामान्यमेव विशेष, सामान्यविशेष इत्येक-स्यात्मन उभयारमन् न विरुध्यते । अपरे आहुः—‘वर्णादिपरमाणु-समुदायानां रूपपरमाणु इति । तेषां न कथञ्चिद्विभिन्नानुक्षणानां रूपा-त्मना मिथश्च न विराधः । अथ मतम् ‘न परमाणुनामैकाऽस्ति मातृ, किन्तु विज्ञानमेव तदाकारपरिणत परमाणुव्यपदेशार्हम् इत्युच्यते, अत्रापि ग्राह्यविषयाभासात् वित्तिशक्तित्रयापाराधिकरणस्यैकस्याभ्यु-पगमात् विरोधः । यि सर्वेषामेव तेषां पूर्वोत्तरज्ञानभवावस्था विविधा-पणाभेदादेवस्य कारणकारणशक्तिरामन्वयो न विरोधस्यास्पदमित्य-विरोधमिद्धि । —‘एव वस्तु अनेक धर्मात्मकम्’ इमं किंसी वादी-को विवाद भी नहीं है । गथा सारंस्व लोग सत्त्व रज और तम इन भिन्नस्वभाववाले धर्मोंका आधार एक प्रधान मानते हैं । उनमें मतमें प्रसाद, लाघव, शोषण, अवगर्ण, सादन आदि भिन्न-भिन्न गुणोंका प्रधानमे अर्थात् परस्परमें विरोध नहीं है । यह प्रधान नामक वस्तु उन गुणोंमें प्रयुक्त ही वृत्त हा या भी नहीं है, किन्तु वे ही गुण सामान्य-वस्थानों प्राप्त करके ‘प्रधान’ महाका प्राप्त होते हैं और यदि ऐसे हैं तो प्रधान भूमा (व्यापक) सिद्ध होता है । यदि यहाँ यह कहो कि उनका समुदाय प्रधान एक है तो स्वयं ही गुणरूप अवयवोंके समुदायमें अविरोध सिद्ध हो जाता है । वैयर्थिक पृथिवीरन आदि सामान्य विशेष स्वोकार करते हैं । एक ही पृथिवी स्तव्यवृत्तियामें अनुगत होनेसे सामान्यात्मक हान्कर भी जलादिमें गगानुत्ति करानेके कारण विरोध कहा जाता है । उनका यहाँ ‘सामान्य ही विशेष है’ इस प्रकार पृथिवीरव आदिको सामान्यविशेष माना गया है । अत उनके यहाँ भी एक आत्माके उभयारमकपन विरोधका प्राप्त नहीं होता । बौद्ध जन कर्कश आदि विभिन्न लक्षणवाले परमाणुओंके समुदायका एक रूप स्वतन्त्र मानते हैं । इनके मतमें भी विभिन्न परमाणुओंमें रूपकी दृष्टिसे कोई विरोध नहीं है । विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्ध एक ही विज्ञानको ग्राह्याकार, ग्राहकाकार और संवेदनाकार इस प्रकार त्रयाकार स्वीकार करते ही हैं । सभी वादी पूर्वविवस्थाको कारण और उत्तरावस्थाको कार्य मानते हैं, अत एक ही पदार्थमें अपनी पूर्व और उत्तर पर्यायोंकी दृष्टिसे कारण-कार्य व्यवहार निर्विरोध रूपसे होता है । उसी तरह सभी जीवादि पदार्थ विभिन्न अपेक्षाओंसे अनेक धर्मोंके आधार सिद्ध होते हैं । (गीता/१३/१४-१६) (ईशोपनिषद्/८) ।

५ अनेकान्त भी अनेकान्तात्मक है

स्व स्तो /१०३ ननुभगवन्मते येन रूपेण जीवादि वस्तु निर्यादित्वभाव-तेन किं कथंचित्ता सर्वथा वा । यदि सर्वथा तदेकान्तप्रसादने-कान्तसति अथ कथंचित्तदानवस्थेत्याशङ्क्याह—अनेकान्तोऽप्य-नेकान्त प्रमाणनयसाधन अनेकान्त प्रमाणात् तदेकान्तोऽपि ता-प्रयात । — प्रश्न—भगवान्के मतमें जीवादि वस्तुका जिस रूपसे निर्यादित्वभाव बताया है वह कथंचित् रूपसे है या सर्वथा रूपसे । यदि सर्वथा रूपसे है तब सा एकान्तका प्रसंग आनेके कारण अनेकान्त-की क्षति होती है और यदि कथंचित् रूपसे है तो अनवस्था दोष आता है । इसी आशङ्कके उत्तरमें आचार्यदेव कहते हैं । उत्तर—आपके मतमें अनेकान्त भी प्रमाण और नय साधनोंको लिये हुए अनेकान्त-स्वरूप है । प्रमाणकी दृष्टिसे अनेकान्तरूप सिद्ध होता है और विवक्षित नयकी अपेक्षासे अनेकान्तमें एकान्तरूप सिद्ध होता है ।

रा वा /१.६/७/३५/२८ न्यार्पणादेकान्तो भवति एकनिश्चयप्रवणत्वात्, प्रमाणार्पणादेकान्तो भवति अनेकनिश्चयाधिकरणत्वात् । — एक अर्गका निश्चय करानेवाला होनेके कारण नयकी सुर्य्यतासे एकान्त होता है और अनेक अर्गोंका निश्चय करानेवाला होनेके कारण प्रमाण-की विवक्षासे अनेकान्त होता है ।

रता वा २/१६,६६/४७४ न चैवमेकान्तोपगमे कश्चिदपि सुनयार्पितस्यैकान्तस्य समीचीनतया स्थितत्वात् प्रमाणापि तस्यास्तित्वानेकान्तस्य प्रसिद्धे । येनारमनानेकान्तस्तेनारमनानेकान्तं प्वेत्येकान्तानुपहृणोऽपि नानिष्टे । प्रमाणसाधनस्यैवानेकान्तत्वसिद्धे नयसाधनस्यैकान्तव्यवस्थितेरेकान्तोऽप्यनेकान्त इति प्रतिज्ञानात् । तदुक्तम्— 'अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः' (देखो ऊपर नं० १) ।—इस प्रकार एकान्तको स्वीकार करनेपर भी हमारे यहाँ कोई दोष नहीं है, क्योंकि श्रेष्ठ नयसे विवक्षित किये गये एकान्तको समीचीन रूपसे सिद्धि हो चुकी है और प्रमाणसे विवक्षित किये गये अस्तित्वके अनेकान्तकी प्रसिद्धि हो रही है । 'जिस विवक्षित प्रमाणस्वरूपसे अनेकान्त है, उस स्वरूपसे अनेकान्त ही है', ऐसा एकान्त होनेका प्रसंग भी अभिष्ट नहीं है, क्योंकि, प्रमाण करके साधे गये विषयको ही अनेकान्तपना सिद्ध है, और नयके द्वारा साधन किये गये विषयको एकान्तपना व्यवस्थित हो रहा है । हम तो सबको अनेकान्त होनेकी प्रतिज्ञा करते हैं, इसलिए अनेकान्त भी अनेक धर्मवाला होकर अनेकान्त है । श्री १०८ समन्त-भद्राचार्यने कहा भी है कि अनेकान्त भी अनेकान्तस्वरूप है । इत्यादि (देखो ऊपर न १ स्व स्त १०३) ।

न च वृ/१८१ एयतो एयणयो होइ अणेतमस सम्मूहा । —एकान्त एक नयस्वरूप होता है और अनेकान्त नयोंका समूह होता है ।

का अ/मृ/२६१ ज वरुधु अणेतयं प्यंरु त पि होदि सविषयत्वं । सुयणाणेण णरहि य निरवेकं दीसे देव ॥२६१॥—जो वस्तु अनेकान्तरूप है वही सापेक्ष दृष्टिसे एकान्तरूप भी है । श्रुतज्ञानको अपेक्षा अनेकान्त रूप है और नयोंकी अपेक्षा एकान्त रूप है ॥२६१॥

६. अनेकान्तमे सर्व एकान्त रहते हैं पर एकान्तमे अनेकान्त नहीं रहता

न च वृ/४७मे उद्धृत "निर्यैकान्तमतं यस्य तस्यानेकान्तता कथम् । अनेकान्तमतं यस्य तस्यैकान्तमतं स्फुटम् । —जिसका मत निरय एकान्तस्वरूप है उसके अनेकान्तता कैसे हो सकती है । जिसका मत अनेकान्त स्वरूप है उसके स्पष्ट रूपसे एकान्तता होती है ।

न च वृ/१७६ जह सद्भाणमाई सम्मत जह तवाहृणुणितए । धाओ वा एयरसो तह णयमूलं अणेतो ॥१७६॥—जिस प्रकार तप ध्यान आदि गुणोंमें, अज्ञान, सम्यक्त्व, ध्येय आदि एक स्वरूपसे रहते हैं, उसी प्रकार नयमूलक अनेकान्त होता है । अर्थात् अनेकान्तमें सर्व नय एक स्वरूपसे रहते हैं ।

स्या म/३०/३३६/११ सर्वनयारमकत्वादनैकान्तवादस्य । यथा विशाकलितानां सुक्ष्ममपीनामेकचूत्रानुस्यूतानां हारव्यापदेश, एवं पृथगभिस्तद्विधनानां नयानां स्याद्वादलक्षणैकसूत्रप्रतीतानां श्रुतान्त्यप्रमाणव्यपदेश इति । —अनेकान्तवाद सर्वनयारमक है । जिस प्रकार मिले हुए मोतियोंको एक सूत्रमें पिरो देनेसे मोतियोंका सुन्दर हार बन जाता है उसी प्रकार भिन्न भिन्न नयोंको स्याद्वादरूपी सूत्रमें पिरो देनेसे सम्पूर्ण नय 'श्रुत प्रमाण' कहे जाते हैं ।

स्या म/३०/३३६/२६ न च वाच्यं तर्हि भगवत्समयस्तेषु कथं नोपलभ्यते इति । समुद्रस्य सवसन्त्यमत्वेऽपि विभक्त्या सासु अनुपलम्भात् । तथा च वधत्वनयोरैक्यमध्यवस्य श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादा (ई ६५०) उदावाचि सर्वसिन्धव समुदीर्णास्त्रयि नाथ दृष्टयः । न च सासु भवात् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्त्रिवोदधि । —प्रश्न—यदि भगवात्का शासन सर्वदर्शन स्वरूप है, तो यह शासन सर्वदर्शनोंमें क्यों नहीं पाया जाता । उत्तर—जिस प्रकार समुद्रके अनेक नदी रूप होनेपर भी भिन्न-भिन्न नदियोंमें समुद्र नहीं पाया जाता उसी प्रकार भिन्न-भिन्न दर्शनोंमें जैनदर्शन नहीं पाया जाता । वक्ता और उसके वक्तासे अभेद मानकर श्री सिद्धसेन दिवाकर (ई ६५०) ने कहा है, 'हे नाथ' जिस प्रकार नदियाँ समुद्रमें जाकर मिलती हैं वैसे ही सम्पूर्ण दृष्टियोंका आपमें समावेश होता है । जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियोंमें सागर नहीं रहता उसी प्रकार भिन्न-भिन्न दर्शनोंमें आप नहीं रहते ।

७. निरपेक्ष नयोका समूह अनेकान्त नहीं है

आप्त मो/१०८ मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैवास्ततास्ति न । निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतोऽर्थकृत् ॥१०८॥—मिथ्या नयोंका समूह भी मिथ्या ही है, परन्तु हमारे यहाँ नयोका समूह मिथ्या नहीं है, क्योंकि, परस्पर निरपेक्ष नय मिथ्या हैं, परन्तु जो अपेक्षा सहित नय हैं वे वस्तुस्वरूप हैं ।

प सु/६/६१-६२ विषयाभास सामान्य विशेषो द्वय वा स्वतन्त्रम् ॥६१॥ तथा प्रतिभासनात् कार्याकरणाच्च ॥६२॥—वस्तुके सामान्य व विशेष दोनों अर्थोंकी स्वतन्त्र विषय मानना विषयाभास है ॥६१॥ क्योंकि न तो ऐसे पृथक् सामान्य या विशेषोंकी प्रतीति है और न ही पृथक्-पृथक् इन दोनोंसे कोई अर्थक्रिया सम्भव है ।

न्या दो/३/४८६ ननु प्रतिनियताभिप्रायगोचरतया पृथगारमनो परस्पर-साहचर्यानिपेक्षायाम् मिथ्याभूतानामेकत्वादीनां धर्माणां साहचर्यसंक्षण-समुदायोऽपि मिथ्यैवेति चेत्तदर्थकुर्महे, परस्परोपकार्योपकारकभाव विना स्वतन्त्रतया निरपेक्षयापेक्षायाम् परस्परभावविमुक्तस्य तन्तुसमूहस्य 'श्रुतिनिवारणार्थं क्रियाबन्धे स्वानेकत्वानामथ क्रियायां सामर्थ्याभावात्कथं चिन्मिथ्यात्वस्यापि स भवात् । —प्रश्न—एक-एक अभिप्रायके विषयरूपसे भिन्न-भिन्न सिद्ध होनेवाले और परस्परमें साहचर्यकी अपेक्षा न रखनेपर मिथ्याभूत हुए एकत्व अनेकत्व आदि धर्मोंका साहचर्य रूप समूह भी जो कि अनेकान्त माना जाता है, मिथ्या ही है । तार्पण्य यह कि परस्पर निरपेक्ष एकत्वादि एकान्त जब मिथ्या हैं तो उनका समूहरूप अनेकान्त भी मिथ्या ही कहलायेगा । उत्तर—बह हमें दृष्ट है । जिस प्रकार परस्परके उपकार्य-उपकारक भावके बिना स्वतन्त्र होनेसे एक दूसरेकी अपेक्षा न करनेपर वस्त्ररूप अवस्थासे रहित तन्तुओंका समूह शीत निवारण आदि कार्य नहीं कर सकता है, उसी प्रकार एक दूसरेकी अपेक्षा न करनेपर एकत्वादिक धर्म भी यथार्थ ज्ञान कराने आदि अर्थक्रियामें समर्थ नहीं हैं । इसलिए उन परस्पर निरपेक्ष धर्मोंमें कथंचित् मिथ्यापन भी सम्भव है ।

८. अनेकान्त व एकान्तका समन्वय

रा बा/१/६,७/३६/२६ यथनेकान्तोऽनेकान्त एव स्यान्नैकान्तो भवेत्, एकान्ताभावात् तत्समूहात्मकस्य तस्याप्यभाव स्यात्, शालाद्यभावे वृक्षाद्यभाववत् । यदि चैकान्त एव स्यात् तदविनाभावविशेषनिराकरणादारमलोपे सर्वलाप स्यात् । एवम् उत्तरे च भङ्गा योजयितव्या । —यदि अनेकान्तको अनेकान्त ही माना जाये और एकान्तका सर्वथा लोप किया जाये तो सम्यगेकान्तके अभावमें, शालादिके अभावमें वृक्षके अभावकी तरह तत्समुदायरूप अनेकान्तका भी अभाव हो जायेगा । यदि एकान्त ही माना जाये तो अविनाभावी इतर धर्मोंका लोप होनेपर प्रकृत शेषका भी लोप होनेसे सर्व लोपका प्रसंग प्राप्त होता है । इसी प्रकार (अस्ति नास्ति भगवत्) अनेकान्त व एकान्तमें शेष भग भी लागू कर लेने चाहिए । (स म त ७५/४) ।

९ सर्व एकान्तवादियोंके मत किसी न किसी नयमे गभित हैं

स्या म/२८/३६६/७ एत एव च परामर्श अभिप्रेतधर्माविधारणारमकतया शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्नयमज्ञामरनुवर्ते । तद्वत्प्रभाववित-सत्ताका हि खल्वेते परम्बादा । तथाहि—नैगमनयदर्शानुसारिणी नैयायिक-वैशेषिकी । सप्रहाभिप्रायप्रवृत्ता सर्वेऽप्यद्वैतवादा सार्वभ्यदर्शनं च । व्यवहारनयानुपातिप्रायश्चार्यादर्शनम् । श्रुतुद्वाङ्मृत-प्रवृत्तुद्भयस्तथागता । शब्दादिनयावलम्बितो नैयायिकादयः । —जिस समय ये नय अन्य धर्मोंका निषेध करके केवल अपने एक अभीष्ट धर्मका ही प्रतिपादन करते हैं, उस समय दुर्नय कहे जाते हैं । एकान्तवादी लोग वस्तुके एक धर्मको सत्य मानकर अन्य धर्मोंका निषेध करते हैं इसलिए वे लोग दुर्नयवादी कहे जाते हैं । बह ऐसे कि—न्याय-वैशेषिक लोग नैगमनयका अनुसरण करते हैं, वेदान्ती ग्रथवा

सभी प्रवृत्तता तथा सीमा दर्शन समग्रजनको मानते हैं। चार्वाक लोग व्यवहारनयवादी हैं, बौद्ध लोग कबल श्रुतयुजनयको मानते हैं तथा वेगकरण शब्दादि तोनों नयका अनुकरण करते हैं। नोट — [इन नयाभासोंके लक्षण (वे नय III)]।

३. अनेकान्तका कारण व प्रयोजन

१ अनेकान्तके उपदेशका कारण

स सा १/१८ "ननु यदि ज्ञानमात्रस्वेऽपि आरम्भवस्तुन स्वयमेवानेकान्त प्रकाशते तर्हि किमर्थमर्थद्विस्तरसाधनत्वेनानुशास्यतः अनेकान्त । अज्ञानिना ज्ञानमात्रारम्भवस्तुप्रसिद्धमर्थमिति ध्रूमः । न त्वयनेकान्त-मन्तरेण ज्ञानमात्रारम्भवस्तुवैयर्थ्यप्रसिध्यति । तथा हि—इह स्वभावत एव बहुभावनियमितविरुद्धे स्वभावानां स्वभावेनाद्वैतस्य निषेद्ध-मशकारणवत् समस्तमेव वस्तु स्वरूपप्रवृत्तिव्यापृतिभ्यामुभय-भावाध्यासितमेव ।—प्रश्न—यदि आरम्भवस्तुको ज्ञानमात्रता होनेपर भी स्वयमेव अनेकान्त प्रकाशता है, तब फिर अनेकान्त भगवात् उसके साधनके रूपमें अनेकान्तका उपदेश क्यों देते हैं । उत्तर—अज्ञानियों-के ज्ञानमात्र आरम्भवस्तुका प्रसिद्धि करनेके लिए उपदेश देते हैं, ऐसा हम कहते हैं। वास्तवमें अनेकान्तके बिना ज्ञानमात्र आरम्भ वस्तु ही प्रसिद्ध नहीं हो सकती। इसीको इस प्रकार समझते हैं। स्वभावसे ही बहुत से भावोंसे भरे हुए इस विश्वमें सर्व भावोंका स्वभावसे अद्वैत होनेपर भी, द्वैतका निषेध करना अक्षय्य होनेसे समस्त वस्तु स्वरूपमें प्रवृत्ति और परस्परमे व्यापृत्तिके द्वारा दोनों भावोंसे अध्यासित है। (अर्थात् समस्त वस्तु स्वरूपमें प्रवर्तमान होनेसे और पर रूपसे भिन्न रहनेसे प्रत्येक वस्तुमें दोनों भाव रह रहे हैं)।

प का १/१० अविशेषाद्ब्रह्मस्य मत्स्वरूपमेव लक्षणम्, न चानेकान्तात्मकस्य द्रव्यस्य सन्मात्रमेव स्वरूपम् ।—सत्तामे द्रव्य अभिन्न होनेके कारण सत् स्वरूप ही द्रव्यका लक्षण है, परन्तु अनेकान्तात्मक द्रव्यका सन्मात्र ही स्वरूप नहीं है।

और भी वे नय १/२/५—(अनेक धर्मोंको युगपत् जाननेवाला ज्ञान ही प्रमाण है।)

और भी वे नय १/२/८ (वस्तुमें सर्व धर्म युगपत् पाये जाते हैं।)

२ अनेकान्त के उपदेशका प्रयोजन

न च वृ २/६० २६१ तच्च वि हेयमियर हेय खलु भणिय ताण परदब्ब । गिय दब्ब वि य जाणसु हेयाहेयं च नयजागे ॥२६०॥ मिच्छासरागभूयो हेयो आदा हवेई गियमेण । तविवरीअ केअ नागव्वा सिद्धिकामेन ॥२६१॥—तत्त्व भी हेय और उपादेय रूपसे ही प्रकाशका है। तहाँ पर-द्रव्यरूप तत्त्व तो हेय है और निजद्रव्यरूप तत्त्व उपादेय है। ऐसा नय योगसे जाना जाता है ॥२६०॥ नियमसे मिथ्यात्व व राग सहित आराम हेय है और उससे विपरीत ध्येय है ॥२६१॥

का अ १/३११-३१२ जो तत्त्वमण्यर्थं गियमा सहहवि सत्तभगेहि । लोयाण पणहवसो ववहारवत्तणट्ठ च ॥३११॥ जो यायरेण मण्णदि जीवाजीवादि नयविह अर्थ । सुदणाणेण नएहि य सो सहिद्धी हवे सुदो ॥३१२॥—जो लोगोंके प्रशंसे तथा व्यवहार चलानेके लिए सत्तभगोके द्वारा नियमसे अनेकान्त तत्त्वका श्रद्धान करता है वह सम्प्रदृष्टि हाता है ॥३११॥ जो श्रुतज्ञान तथा नयोंके द्वारा जीव-अजीव आदि नव प्रकारके पदार्थोंको आदर पूर्वक मानता है, वह शुद्ध सम्यक्दृष्टि है ॥३१२॥

३. अनेकान्तवादियोंको कुछ भी कहना अनिष्ट नहीं

सो पा २/५, २-१४/१८० व्यक्तिरपि तथा नित्या त्यादिसि चैव न किंचि-दनिष्टं, पर्यायाधिवेशादेव विशेषपर्यायस्य सामान्यपर्यायस्यवानि-रगत्वोपगमात् । प्रश्न—यदि कोई कहे कि इस प्रकार तो द्रव्यकी व्यक्तियों अर्थात् घट पट आदि पर्यायों भी निरर्थक हो जायेंगे। उत्तर—हो जाने दो। हम स्याद्वादियोंको कुछ भी अनिष्ट नहीं है। हमने पर्यायाधिक नयसे ही सामान्य व विशेष पर्यायोंको अनिरय स्वीकार किया है, द्रव्याधिक नयसे तो सम्पूर्ण पदार्थ निरय हैं ही।

४ अनेकान्तकी प्रधानता व महत्ता

स्व स्ता १/१८ अनेकान्तात्मदृष्टिरते गती शून्यो विपर्यय । तत् सर्व मृषावत् स्यात्तदयुक्त स्वधारात् ॥१८॥—आपकी अनेकान्त दृष्टि गती है। विपरीत हमके जो एकान्त मत है वह शून्यरूप असात है, अतः जो कथन अनेकान्त दृष्टिसे रहित है, वह सब मिथ्या है।

ध १/१, २७/२२२/७ उत्सुत सिंहता आहरिया कथं वज्जभीरणो । इदि चेण एस दोसो, दोण्हं मज्जे णस्सो मंगो केरमाणे वज्ज-भीरुत्त निवट्ठति । दोण्हं पि संगहं करेत्ताणमाहरिमाण वज्जभीरुत्ता-यिणासादो ।—प्रश्न—उत्तमूत्र लिखनेवाले आचार्य पापभीरु कैसे मान जा सकते हैं । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि दोनों प्रकारके वचनोंसे किसी एक ही वचनके संग्रह करनेपर पापभीरुता निकल जाती है अर्थात् उत्तमूत्र खमता आ जाती है। अतएव दोनों प्रकारके वचनोंका संग्रह करनेवाले आचार्योंके पापभीरुता नष्ट नहीं होती है।

गो क १/८६४/१०७४ एकांत्यादिर्याऽपि सर्व कथन मिथ्या और अने-कान्त्यादिर्योका सर्व कथन सम्मत् है। (वे स्याद्वाद ५ । प्र सा १/१२७ अनेका ताऽत्र जनवात् ।—यहाँ अनेकान्त मतवात् है। प का १/१२१ स त्वत्त्वमं प्रतादोऽनेकान्तादिस्य यदोदशोऽपि विरोधी न विरुध्यते ।—यह प्रमाद वास्तवमें अनेकान्तवाद्वाक्य है कि ऐसा विरोध भी विरोध नहीं है।

प ध १/२२७ तत्र यतोऽनेकांस्तो मनवानिह खलु न सर्वथेकान्तः । सर्व स्यादविरुद्ध तत्पुन तद्विना विरुद्ध स्यात् ॥२२७॥—जैन सिद्धान्तमें निरचयमे अनेकान्त मनवात् है, सर्वथा एकान्त मनवात् नहीं है। इसलिये अनेकान्त पूर्वक मन्त्र ही कथन अगिरुद्ध पटता है और अने-कान्तके बिना भी ही कथन विरुद्ध हो जाता है।

४ वस्तुमें विरोधी धर्मोंका निर्देश

१ वस्तु अनेको विरोधी धर्मोंसे गुम्फित है

म सा १/आ १/१८ 'अग्र यदेव तत्तदेवात्त यदेवैक तदवानेक, यदेव सत्तदेवाम्, यदेव निरय तदेवानिरयमित्येकवस्तु वस्तुवनिष्पा-दकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयवकाशनमनेकान्त ।—अनेकान्त । १/१ (म सा १/आ १/१८) ।

न्या १/१७७ सर्वस्मिन्नपि जीवादिवस्तुनि भावाभावरूपवैकल्येक-रूपस्य निरयानिरयस्वरूपमित्येवमादिकमनेकान्तात्मकत्वम् ।—सर्व हो जीवादि वस्तुओंमें भावपना-अभावपना, एकस्वपना अनेकरूप-पना निरयपना-अनिरयपना, इस प्रकार अनेकान्तात्मकपना है।

प ध १/२६० २६१ स्यादस्ति च नास्तीति च निरयमनिरा रवनेवमेकं च । तद्वत्तच्चेति चतुष्टययुग्मैरिव गुम्फितं वस्तु ॥२६१॥ अथ तपथा यदस्ति हि तदेव नास्तीति तच्चतुष्टयं च । द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेन तथायथापि भावेन ॥२६३॥—यथ चित्त है और नहीं है यह तथा नित्य-अनिरय और एक-अनेक, तत्-अतत् इस प्रकार इन चारयुगलोंके द्वारा वस्तु गुप्ता हुई की तरह है ॥२६१॥ इसका खुलासा इस प्रकार है कि निश्चयसे स्व द्रव्य, क्षेत्र काल व भाव इन चारोंके द्वारा जो सत् है वही पर द्रव्यादिमे असत् है। इस प्रकारमे द्रव्यादि रूपसे अस्ति-नास्तिका चतुष्टय हो जाता है ॥२६३॥

२ वस्तु मेदाभेदात्मक है।

यु अनु ७ अमेदमेदारमकमर्थतत्त्व, तव स्वतन्त्रान्तरात्स्वपुष्पम् ।—हे प्रभु ! आपका अर्थ तत्त्व अमेदमेदारमक है। अमेदारमक और मेदारमक दोनोंको स्वतन्त्र स्वीकार करनेपर प्रत्येक आकाश पुष्पके समान हो जाता है।

३ सत् सदा अपने प्रतिपक्षीको अपेक्षा रखता है

प का १/८ सत्ता सवयपरथा सविस्तरुवा अर्णतपज्जाया । भगुप्पाद-धुवत्ता मण्णहिवत्ता हवदि एक्का ॥८॥—सत्ता उत्पाद-अव्य क्रोव्या-रमक, एक सर्वपदार्थस्थित, सविस्तरूप, अनन्तपर्यायमय और सप्रतिपक्ष (क पा १/१-१/६/५३) (ध १४/५-६ १२८ १८/२३४) ।

पं का / त प्र८ एवंभूतापि सा न खलु निरङ्कुशा किंतु सप्रतिपक्षा । प्रति-
पक्षो ह्यसत्ता सत्ताया , अत्रिलक्षणत्वं त्रिलक्षणाया अनेकत्वमेकस्या ,
एकपदार्थस्थितत्वं सर्वपदार्थस्थिताया , एकरूपत्वं सविश्वरूपाया
एकपर्यायरत्नमन्तपर्याया इति ।—ऐसा हानेपर भी वह (सत्ता)
वास्तवमें निरङ्कुश नहीं है, किन्तु सप्रतिपक्ष है । १ सत्ताको असत्ता
प्रतिपक्ष है, २ त्रिलक्षणको अत्रिलक्षणपना प्रतिपक्ष है, ३ एकको
अनेकपना प्रतिपक्ष है, ४ सर्वपदार्थस्थितको एकपदार्थस्थितपना
प्रतिपक्ष है, ५ सविश्वरूपको एकरूपपना प्रतिपक्ष है, ६ अनन्तपर्याय-
मयको एकपर्यायमयपना प्रतिपक्ष है । (पं ध / पु / १५) (न च भू / ५३) ।
नि सा / ता च / ३४ अस्तित्व नाम सत्ता । सा किंविशिष्टा । सप्रतिपक्षा,
अवान्तरसत्ता महासत्तेति ।—अस्तित्व नाम सत्ताका है । वह कैसी
है ? महासत्ता और अवान्तरसत्ता—ऐसी सप्रतिपक्ष है ।

स भ त / ५१/३ सत्ता सप्रतिपक्षेका इति वचनात् ।—सम्पूर्ण द्रव्य, क्षेत्र
कालादि रूप जो एक महासत्ता है वही विकल द्रव्य, क्षेत्र आदिसे
प्रतिपक्ष सहित है । ऐसा अन्यत्र आचार्यका बचन है ।

४ स्व सदा परकी अपेक्षा रखता है

स्या म / १६/१९/११ कथपन्यथा स्वशब्दस्य प्रयोग । प्रतियोगीशब्दो
ह्ययं परमपेक्षमाण एव प्रवर्तते ।—'स्व' शब्दका प्रयोग अन्यथा क्यों
किया है । स्व-शब्द प्रतियोगी शब्द है । अतएव स्वशब्दसे पर शब्द-
का भी ज्ञान होता है ।

५ विधि सदा निषेधकी अपेक्षा रखती है ।

न च वृ / २५, ३०४ एकगिरुद्धे इयरो पश्चिबक्वो अणवरेऽ सम्भावो ।
सर्वेति च सहाय कायठवा होइ तह भगी ॥२५७॥ अरिथत्तं णो
णरिथसहावस्स जो हु सावेक्ख । णरथो विय तह दब्बे मूढो मूढो दु
मव्वरथ ॥३०४॥—एक स्वभावका निषेध होनेपर दूसरा प्रतिपक्षी
स्वभाव अनुवृत्ति करता है, इस प्रकार सभी स्वभावोंमें सप्तभगी
करनी चाहिए ॥२५७॥ जो अस्तित्वकी नास्तित्व सापेक्ष और नास्तित्व-
को अस्तित्व सापेक्ष नहीं मानता है, वह द्रव्यमें मूढ़ और इसलिए
सर्वत्र मूढ़ है ।

रा वा / १/६, १३/३७/६ यो हेतुरुपदिश्यते स साधको दूषकरच स्वपक्ष
सध्ययति परपक्षं दूषयति ।—जो हेतु कहा जाता है वह साधक भी
होता है और दूषक भी, क्योंकि स्वपक्षको सिद्ध करना है पर पक्षमें
दोष निकालता है (स भ त / ६०/३) ।

पं ध / पु / ६६६ विधिपूर्व प्रतिषेध प्रतिषेधपुरस्सरौ विधिस्त्वनयो । मैत्री
प्रमाणमिति वा स्वपराकारावगाहि यज्जानय ।—विधिपूर्वक प्रति-
षेध और प्रतिषेध पूर्वक विधि होती है, परन्तु इन दोनोंकी मैत्री
स्वपराकारग्राही ज्ञान रूप है । वही प्रमाण है ।

६ वस्तुमें कुछ विरोधी धर्मोंका निर्देश

दे अनेकान्त/शोर्पक "संख्या सत् अवसत एक-अनेक, निरय-अनिरय,
सत् अवसत् । (४/१); भेद-अभेद (४/२) । सत्ता-असत्ता, त्रिलक्षण
अत्रिलक्षणत्व, एकरव-अनेकरव, सर्वपदार्थस्थित-एकपदार्थस्थित,
सविश्वरूप-एकरूप, अनन्तपर्यायमयत्व-एकपर्यायमयत्व, महासत्ता-
अवान्तरसत्ता; स्व-पर (४/३) ।"

न च वृ / ७०/ टोका 'सद्रूप असद्रूप, निरय अनिरय, एक अनेक, भेद-
अभेद, भव्य-अभव्य, स्वभाव-विभाव, चैतन्य-अचैतन्य, मूर्त-
अमूर्त, एकप्रदेशत्व-अनेकप्रदेशत्व, शुद्ध-अशुद्ध, उपचरित-अनुपचरित,
एकान्त-अनेकान्त इत्यादि स्वभाव है ।

स्या मं / पु / २५ अनिरय-निरय सहश-विसहश वाच्य-अवाच्य सत-
असत् ।

ध / पु / रत्नो न "देश देशाश्च ॥७४॥ स्व द्रव्य—महासत्ता-अवन्तर
सत्ता ॥२६४॥, स्वसेत्र—सामान्य-विशेष, अर्थात् अलण्ड द्रव्य तथा
उसके प्रदेश, स्व काल—सामान्य विशेष अर्थात् अलण्ड द्रव्यकी एक
पर्याय तथा पृथक्-पृथक् गुणोंकी पर्याय स्वभाव—सामान्य व विशेष
अर्थात् द्रव्य तथा गुण व पर्याय ॥३७०-२८०॥ (और भी दे जीव ३/४)

७. वस्तुमें कथंचित् स्वपर भाव निर्देश

रा वा / १/६ ५/३४/३६ चैतन्यक्षन्तेद्विजाकारो ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च
तत्र ज्ञेयाकार स्वारमातन्मूलत्वाद् घटव्यवहङ्गम्य । ज्ञानाकार परारमा
सर्वसाधारणत्वात् ।—चैतन्य शक्तिमें दो आकार रहते हैं—ज्ञानाकार
व ज्ञेयाकार । तहाँ ज्ञानाकार तो घटव्यवहारका मूल हानेके कारण
स्वारमा है तथा सर्वसाधारण होनेके कारण ज्ञेयाकार परमात्मा है ।

रा वा / १/६, ५/३३/३६ ४० ४१ ४३ घटस्व नामक धर्म घटका स्वरूप है
और पटत्वादि पररूप है । नाम, स्थापना द्रव्य भावादिकोंमें जो
विवक्षित है, वह स्वरूप है और जो अविवक्षित है, वह पररूप है ।
घट विशेषके अपने स्थौल्यदि धर्मोंसे विशिष्ट घटस्व तो उसका
स्वरूप है और अन्य घटका घटस्व उसका पररूप है । और उस ही
घट विशेषमें पूर्वोत्तरकालवर्ती पिण्ड कुक्ष्यादि उसका पररूप है और
उन पिण्ड कुक्ष्यादिमें अनुस्यूत एक घटस्व उसका स्वरूप है । शृजु-
सूत्र नयकी अपेक्षा वर्तमान घटपर्याय स्वरूप है और पूर्वोत्तर काल-
वर्ती घटपर्याय पररूप है । उस क्षणमें भी तत्क्षणवर्ती रूपादि समुदा-
यारमक घटमें रहनेवाले पृथुबुध्नोदरादि आकार तो उसके स्वरूप हैं
और इसके अतिरिक्त अन्य आकार उसके पररूप हैं । तत्क्षणवर्ती
रूपादिकोंमें भी रूप उसका स्वरूप है और अन्य जो रसादि वे
उसके पर रूप हैं, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय द्वारा रूपमुखेन ही घटका
ग्रहण होता है । समभिरुद्ध नयमें घटनक्रिया विषयक कर्तृत्व ही
घटका स्वरूप है और अन्य कौटिल्यादि धर्म उसके पररूप हैं । मृत
द्रव्य उसका स्व-द्रव्य है और अन्य स्वर्णादि द्रव्य उसके परद्रव्य
हैं । घटका स्वक्षेत्र भूतल आदि है और परक्षेत्र भीत आदि है ।
घटका स्वकाल वर्तमानकाल है और परकाल अतीतादि है ।
(स भ त / ७ ३६-४४) ।

स भ त / ४६ ५१ प्रमेयका प्रमेयत्व उसका स्वरूप है घटवादिक् ज्ञेय
उसका पररूप है । अथवा प्रमेयका स्वरूप तो प्रमेयत्व है और पररूप
अप्रमेयत्व है ॥४६-५०॥ छहो द्रव्योंका शुद्ध अस्तित्व तो उनका स्वरूप
है और उनका प्रतिपक्षी अशुद्ध अस्तित्व उनका पररूप है । शुद्ध
द्रव्यमें भी उसका सकल द्रव्य क्षेत्र काल भावकी उपेक्षा सत्त्व है और
विकल द्रव्य क्षेत्रादिकी अपेक्षा असत्त्व है ॥५१॥

पं ध / उ / ३६८ ज्ञानात्मक आत्माका एक ज्ञान गुण स्वार्थ है और शेष
मुख आदि गुण परार्थ है ।

रा वा / १/६, ५/३५/११ एवमियं सप्तभगी जीवादिषु सम्यग्दर्शनादिषु च
द्रव्याधिकपर्यायाधिकनयार्पणाभेदाद्योजयितव्या ।—इस प्रकार यह
सप्तभगी जीवादिक व सम्यग्दर्शनादिक सर्व विषयोंमें द्रव्याधिक व
पर्यायाधिक नयकी अपेक्षा भेद करके लागू कर लेनी चाहिए ।

५ विरोधमें अवरोध

१ विरोधी धर्म रहनेपर भी वस्तुमें कोई विरोध नहीं पड़ता

ध १/१, ११/१६६/६ अक्रमेण सम्यग्निगध्याहृत्यात्मको जीव सम्य-
ग्निगध्याहृतिरिति प्रतिजानीमहे । न विरोधोऽप्यनेकान्ते आरमनि
भूयसां धर्माणां सहानवस्थालक्षणविरोधान्निन्दे ।—युगपद् समीचीन
और असमीचीन श्रद्धावाला जीव सम्यग्निगध्याहृति है, ऐसा मानते
हैं और ऐसा माननेमें विरोध भी नहीं आता, क्योंकि आत्मा अनेक-
धर्मात्मक है, इसलिए उसमें अनेक धर्मोंका सहानवस्थालक्षण विरोध
असिद्ध है ।

प वि ८/११/१५१ यत्तुस्म च महच्च द्युन्यमपि यन्नो द्युन्यमुरपद्यन्ते,
नश्यत्येव च निरयमेव च तथा नास्त्येव चास्त्येव च । एकं यद्यदनेक-
मेव तदपि प्राप्ते प्रतीति दृढा सिद्धज्योतिरमूर्ति चिरसुखमयं वेनापि
सल्लस्यते ॥१३॥

पं वि १०/१४/१७२ निर्विनाशमपि नाशमाश्रित द्युन्यमयतिशयेन
संभृतम् । एकमेव गतमप्यनेकतां तत्त्वमीदृगपि नो विरुध्यते ॥१४॥

—जो सिद्धज्योति सूक्ष्म भी है और स्थूल भी है, सूक्ष्म भी है और परिपूर्ण भी है उरपाद-विताश्रयानी भी है और नित्य भी है, सद्भावरूप भी है और अभावरूप भी है तथा एष भी है और अनेक भी है, ऐसा यह एक प्रतीतिको प्राप्त हुई अमूर्तिक चेतन एष सुख-स्वरूप सिद्ध ज्योति किसी विरने ही योगी पुरुषने द्वारा देखो जातो है ॥१३॥ यह आरम्भतय विनाशमे रहित होकर भी नाशका प्राप्त है, सूक्ष्म होकर भी अतिशयसे परिपूर्ण है तथा एक होकर भी अनेकताको प्राप्त है। इस प्रकार नय विषयसे ऐसा माननेमें कुछ भी विरोध नहीं आता है (गीता/१३/१४-१६) (ईशोपनिषद्/८) (और भी देखे अनेकान्त/२/४)।

२. सभी धर्मोंमें नहीं बल्कि यथायोग्य धर्मोंमें ही अधिरोध है

ध १/११ ११/२६/७३ अस्त्वेकस्मिन्नारमणि भूयसां सहावरयानां प्ररग-विरुद्धानां संभवो नाशोपाणामिति चैक एनमाह समस्ताप्यापरिचित-रिति चैतन्याचैतन्यभयभावादिधर्माणामप्यवगम्यकारमन्वयवर्ध-तिप्रसङ्गात्। किन्तु येषां धर्माणां नात्यन्ताभावो यस्मिन्नारमणि तत्र कदाचित्स्वविचित्रक्रमेण तेषामस्तिरूप प्रतिजानोमहे। —प्रश्न—जिन धर्मोंका एक आराममें एक साथ रहनेमें विरोध नहीं है, वे तर्क परन्तु सम्पूर्ण धर्मों का एक साथ एक आराममें रह नहीं सकते हैं। उत्तर—कौन ऐसा कहता है कि परस्पर विरोधी और अधिरोधी गम्यत धर्मोंका एक साथ आराममें रहना सम्भव है। यदि सम्पूर्ण धर्मोंका एक साथ रहना मान लिया जावे तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य-अपैतन्य, भयस्व-अभयस्व आदि धर्मोंका एक साथ एक आराममें रहनेका प्रसंग आ जायेगा। इसलिये 'सम्पूर्ण परस्पर विरोधी धर्म एष आराममें रहते हैं, अनेकान्तका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए। किन्तु जिन धर्मोंका जिन आराममें अत्यन्त अभाव नहीं (यहाँ सम्य-गमिध्यास्व भावका प्रकरण है) वे धर्म उस आराममें किसी काल और किसी क्षेत्रकी अपेक्षा युगपद् भी पाये जा सकते हैं, ऐसा हम मानते हैं।

३. अपेक्षा भेदसे अधिरोध सिद्ध है

स सि ४/३२/२०३ तात्पर्यं सिद्धेऽपि तानपितामिदं नान्ति विरोधः। तथा—एकस्य देवदत्तस्य पिता पुत्रा भ्राता भागिनेय इत्येवमादयः संबन्धा जनकत्वजन्यत्वादिति नित्यं न विरुध्यन्ते, अर्थनाभेदात्। पुत्रापेयमया पिता, पित्रपेयमया पुत्र इत्येवमादि। तथा द्रव्यमपि सामान्यार्थनामा नित्यम् विशेषार्थणान्नित्यमिति नास्ति विरोधः। —इन दोनोंकी अपेक्षा एक वस्तुमें परस्पर विरोधी वा धर्मोंकी मिति होती है, इसलिए कोई विरोध नहीं है।—जैसे देवदत्तके पिता पुत्र भाई और भानजे इसी प्रकार और भी जनकत्व और जन्यत्वादिके निमित्तसे होनेवाले सम्बन्ध विरोधको प्राप्त नहीं होते। जम जिस धर्मकी प्रधानता होती है उस समय उसमें वही धर्म माना जाता है। उदाहरणार्थ—पुत्रकी अपेक्षा वह पिता है और पिताकी अपेक्षा वह पुत्र है आदि। उसी प्रकार द्रव्य भी सामान्यकी अपेक्षा नित्य है और विशेषकी अपेक्षा अनित्य है, इसलिए कोई विरोध नहीं है। (रा बा १/६, ११/३६/२२)।

रा बा ४/३१ २/३८/७४ विषयश्च न व्यति उपपद्यमान एव नोत्पद्यते इति विरोधः, ततो न युक्तमिति, तत्र किं कारणम्। धर्मास्तत्रा-श्रयणात्। यदि येन रूपेण व्ययाद्यवकणना तेनैव रूपेण निरयता प्रतिज्ञायित स्याद्विरोध जनकत्वापेयमय पितृपुत्रव्यपदेशवत् नन्तु धर्मन्तरसंश्रयणात्। —प्रश्न—'जो नष्ट होता है वही नष्ट नहीं होता और जो उत्पन्न होता है वही उत्पन्न नहीं होता,' यह बात परस्पर विरोधी माझ्म होती है। उत्तर—वस्तुतः विरोध नहीं है क्योंकि जिस दृष्टिसे नित्य कहते हैं यदि उसी दृष्टिसे अनित्य कहते तो विरोध होता जैसे कि एक जनकत्वकी ही अपेक्षा किसीका पिता और पुत्र कहनेमें। पर यहाँ द्रव्य दृष्टिसे नित्य और पर्याय दृष्टिसे अनित्य कहा जाता है, अतः विरोध नहीं है। दोनों नयीकी दृष्टिसे दोनों धर्म बन जाते हैं।

न च ४/३१ १/६४ यथा रश्मिरूपेणास्तित्वं तथा पररूपेणागस्तित्वं माधु-दिति स्याच्छब्दः। यथा द्रव्यरूपेण नित्यत्वं तथा पर्यायरूपेण (अपि) निरयत्वं माधुदिति स्याच्छब्दः। —जिम प्रकार यन्त्रुचा स्वरूपमे अस्तित्व है, उसी प्रकार पररूपमे भी अस्तित्व न हो जाये इसलिये स्यात् द्रव्य या उपेक्षाका प्रयोग किया जाता है। जिम प्रकार द्रव्यरूपमे यन्त्रु निरय है उसी प्रकार पर्यायरूपमे भी यह निगम हो जाये इसलिये स्यात् द्रव्यका प्रयोग किया जाता है। (स्या मं २३/२८/३)।

पं गीता ४/१८/१८ ननु यन्त्रुत्पादविनाशो तर्हि तन्मैव पर्यायस्य निरयत्वं यथम्। नित्यं तर्हि तन्मैवात्पादव्यपदेश्यं च यथम्। परस्पर-विरुद्धमिदं दोषोत्पन्नवदिति पुराणमे परिहृतमाह। येन मते सर्वधर्म-कान्तेन निरयं यन्त्रु हासिकं वा तेषां दूषणमिदम्। कथमिति चेत्। येनैव रूपेण निरयत्वं तेनैवानिरयत्वं न घटते येन च त्पोनानिरयत्वं तेनैव न निरयत्वं घटते। तस्मात्। एकस्वभावोऽप्यस्तित्वमने। जैनमते पुनरेकस्वभाव वस्तु तान कारणेन द्रव्याधिकनयेन द्रव्यरूपेण निरयत्वं घटते पर्यायाधिकनयेन पर्यायरूपेणानिरयत्वं च घटते। तौ च द्रव्यपर्यायो परस्पर मापेवौ—तेन कारणेन एकस्वभावोऽप्यस्तित्व-जनकादिभाववत् एकस्यापि द्रव्यास्य नित्यनित्यत्वं घटते नास्ति विरोधः। —प्रश्न—यदि उरपाद और विनाश है तो उसी वदार्थमें नित्यत्व कैसे हो सकता है। और यदि नित्य है तो उरपाद-अपय कैसे हो सकते हैं। शीत व उष्ण की भाँति ये परस्पर विरुद्ध हैं। उत्तर—जिनके मतमें यन्त्रु सर्वथा एकात्म निरय या हासिक है उनकी यह दूषण दिया जा सकता है। कैसे। यह ऐसे कि जिम रूपमे नित्यत्व है उसी रूपमे अनिरयत्व घटित नहीं होता और जिस रूपमे अनिरयत्व है उसी रूपमे निरयत्व घटित नहीं होता। क्योंकि उनक मतमें यन्त्रु एक स्वभावी है। जैन मतमें यन्त्रु अनेकस्वभावी है इस-लिये द्रव्याधिकनयमे नित्यत्व और पर्यायाधिकनयमे अनित्यत्व घटित हो जाता है और क्योंकि ये द्रव्य व पर्याय परस्पर मापेव हैं इसलिये एष ऐवदृष्टके जन्य-जनकरत्वादि भाववद् एक हो द्रव्यके निरयानिरयत्व घटित होनेमें कोई विरोध नहीं है।

स्या मं २/४/२६०८ तथा हि विरोधः स्याद्वयं कोकोवाधिकं नृचममृदय व स्यात्। न चैवम्। यतो न हि येनैवांशेन सत्त्वं तेनैवांशमवमपि। किंरव्योवाधिकं सत्त्वं, अन्तोवाधिकं पुनरसत्त्वं। स्वरूपेण सत्त्वं पररूपेण वास्तव्यम्।—मरव असत्त्व धर्मोंमें तब तो विरोध हुआ होता जन दोनोंको एक ही अपेक्षासे माना गया होता। परन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि जिस अदृष्टसे सत्त्व है उसी अदृष्टसे असत्त्व नहीं है। किन्तु अन्य अपेक्षासे सत्त्व है और किसी अन्य ही अपेक्षासे असत्त्व है। स्वरूपमे सत्त्व है और पररूपमे असत्त्व है।

४. वस्तु एक अपेक्षासे एकरूप है और अन्य अपेक्षासे

अन्यरूप

रा बा १/६/१२/३०/१ सपमासपमापेयमयोपनक्षितानां सत्त्वास्त्वादीनां भेदानामाधारेण पक्षधर्मेणैकैव लक्ष्यं सर्वद्रव्यम्।—जैसे एक ही हेतु सपममें सत और विपक्षमें असत होता है उसी तरह विभिन्न अपेक्षाओं-से अस्तित्व आदि धर्मोंके रहनेमें भी कोई विरोध नहीं है। (तथा इसी प्रकार अन्य अपेक्षाओंसे भी कथन किया है)।

न च ४/३८ भाषा जेयसहामा पमाणगहेण होति पिच्छता। एषसहावा मि पुनो ते चिय जयमेयगहेण ४८८।—प्रमाणकी अपेक्षा करनेपर भाव अनेकस्वभावोंमें निष्पन्न भी हैं और नय भेदकी अपेक्षा करनेपर वे एक स्वभावी भी हैं।

स सा ४/परि "अत्र स्वात्मवस्तुज्ञानमाश्रयया अनुशास्यमानेऽपि न तत्परिकोप ज्ञानमाश्रयस्वात्मवस्तुन स्वनेवापेकास्तरत्वात्। अन्तर्दृक्-चकार्यमानज्ञानस्वरूपेण तत्पथाद् बहिरन्मिपश्च न तथोपपन्नस्वरूपा-तिरिक्तपररूपेणातत्त्वात्। सहकर्मप्रवृत्तान्तत्वादिदास्युत्पत्त्यरूपा-विभागद्रव्योपेक्षत्वात् अविभागीकद्रव्यप्राप्तसहकर्मप्रवृत्तान्तत्वादिदा-रूपपर्यायैरनेकत्वात्, स्वद्रव्योपेक्षकाभावप्रवृत्तान्तत्वात्स्वभाववत्त्वेन

सत्त्व, परद्रव्यसे त्रकालभावाभवनशक्तिस्वभाववशेनासत्त्वात्, अनादिनिघनाविभागीकवृत्तिपरिणतत्वेन नित्यत्वात् क्रमप्रवृत्तैकसमयावच्छिन्नानेकवृत्त्यशपरिणतत्वेनानित्यत्वात्तदर्थमेकानैकत्वं सदसत्त्वं नित्यानित्यत्वं च प्रकाशत एव । —इसलिए आरम्भवस्तुको ज्ञानमात्रता होनेपर भी, सत्त्व-अतत्त्व, एतत्त्व अनेकत्व, सत्त्व अमरत्व और नित्यत्वपना प्रकाशता ही है, क्योंकि उनके अन्तरगमें चक-चकित ज्ञानस्वरूपके द्वारा तत्त्वपना है, और बाहर प्रगट होते अनन्त द्रव्यको प्राप्त, स्वरूपमें भिन्न ऐसे पररूपके द्वारा अतत्त्व पना है । सहभूत प्रवर्तमान और क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य अशक्ति समुदायरूप अविभाग द्रव्यके द्वारा एकत्व है और अविभाग एक द्रव्यमें व्याप्त सहभूत प्रवर्तमान तथा क्रमशः प्रवर्तमान अतत्त्व चैतन्य अशक्ति पर्यायोंके द्वारा अनेकत्व है । अपने द्रव्य, क्षेत्र काल भावरूपमें होनेकी शक्तिरूप जो स्वभाव है उस स्वभाववानपनेके द्वारा सत्त्व है और परके द्रव्य क्षेत्र, काल भावरूप न होनेकी शक्तिरूप जो स्वभाव है, उस स्वभाववानपनेके द्वारा असत्त्व है, अनादि निघन अविभाग एक वृत्तिरूपसे परिणतपनेके द्वारा नित्यत्व है, और क्रमशः प्रवर्तमान एक समयकी मर्यादावाले अनेक वृत्ति अशक्तिरूपसे परिणतपनेके द्वारा अनित्यत्व है । —वे नय २/६५ ।

५. नयोको एकत्र मिलानेपर भी उनका विरोध कैसे दूर होता है

स्व, स्तो/६१ य एव नित्यक्षणीकादया नया मिथोऽनपेक्षा स्वपरप्रणानि । त एव तत्त्व विमलस्य ते मुने, परस्परेशा स्वपरोपकारि । —जो हो ये नित्य क्षणिकादि नय परस्परमें अनपेक्षा होनेसे स्व-पर प्रणाली हैं वे ही नय है प्रत्यक्षज्ञानो विमल जिन । आपके मतमें परस्पर सापेक्ष होनेसे स्व-पर उपकारी हैं ।

स्या मं/२०/३३६/१३ ननु प्रत्येक नयानां विरुद्धत्वं कथं समुदितानां निर्विरोधिता । उच्यते । यथा हि समीचीन मध्यस्थ न्यायनिर्णीता-रमासाध परस्पर विवदमाना अपि वादिनो दिवादाह विरमन्ति, एवं नया अन्योऽन्य वैरायमाणा अपि सर्वज्ञासासनमुपेत्य स्याच्छब्द-प्रयोगोपशान्तिविरतिपक्षय सन्त परस्परमन्यन्त । सुहृद्भूयावति-ष्ठन्ते । —प्रश्न—यदि प्रत्येक नय परस्पर विरुद्ध हैं तो उन नयोंके एकत्र मिलानेसे उनका विरोध किस प्रकार नष्ट होता है । उत्तर—परस्पर वाद करते हुए वादी लोग किसी मध्यस्थ न्यायोके द्वारा न्याय किये जानेपर विवाद करना बन्द करके आपसमें मिल जाते हैं, वैसे ही परस्पर विरुद्ध नय सर्वज्ञ भगवाद्के सासनकी शरण लेकर 'स्याद्' शब्दसे विरोधके शान्त हो जानेपर मैत्री भावसे एकत्र रहने लगते हैं । (स्याद्वाद्/६ में देखो स्यात् पद प्रयोगका महत्त्व) ।

६ विरोधी धर्मोंमें अपेक्षा लगानेकी विधि

१ सत् असत् धर्मोंकी योजना विधि—(दे सप्तमर्ग ४) ।

२. एक अनेक धर्मोंकी योजना विधि—

प घ/५/१लोक सं/केवल भावार्थ—“द्रव्य, क्षेत्र काल और भावके द्वारा वह सत् अवलम्ब या एक कैसे सिद्ध होता है, इसका निरूपण करते हैं ॥४३७॥ १ द्रव्यकी अपेक्षा—गुणपर्यायवाद् द्रव्य कहनेसे यह अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए कि उस सत्के कुछ अश गुण रूप हैं और कुछ अश पर्याय रूप हैं यद्यपि उन गुणपर्यायोंका शरीर वह एक सत् है ॥४३८॥ तथा वही सत् द्रव्यादि चतुष्टयके द्वारा अवलम्बित होते हुए भी अनेक है क्योंकि व्यतिरेकके घना अवयव भी अपने पनकी रमा नहीं कर सकता है ॥४६४॥ द्रव्य, गुण व पर्याय इन तीनोंमें संज्ञा लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षाभेद सिद्ध होनेपर वह सत् अनेक रूप क्यों न होगा ॥४६५॥ २ क्षेत्रकी अपेक्षा—क्षेत्रके द्वारा भी अवलम्बित होनेके कारण सत् एक है ॥४६४॥ अवलम्ब भी उस द्रव्यके प्रदेशोंको देखनेपर—जो सत् एक प्रदेशमें है वह उसीमें है उससे भिन्न दूसरे प्रदेशमें नहीं । अर्थात् प्रत्येक प्रदेशकी सत्ता जुदा जुदा

दिवाई वेती है । इसलिए कौन क्षेत्रसे भी सत्का अनेक नहीं मानेगा ॥४६६॥ ३ कालकी अपेक्षा—वह सत् बार-बार परिणमन करता हुआ भी अपने प्रमाणके बराबर रहनेमें अथवा खण्डित नहीं होनेसे कालकी अपेक्षासे भी एक है ॥४७८॥ क्योंकि सत्की पर्याय-मालाको स्थापित करके देखें तो एक समयकी पर्यायमें रहनेवाला जो जितना व जिस प्रकारका सत् है, वही उतना तथा उसी प्रकारका सम्पूर्ण सत् समुचित सत् समयोंमें भी है । कहीं कालकी वृद्धि-हानि होनेसे शरीरकी भाँति उसमें वृद्धि हानि नहीं हा जाती ॥४७२-४७४॥ पृथक्-पृथक् पर्यायोंको देखनेपर जो सत् एक कालमें है, वह सत् अर्थात् विवक्षित पर्याय विविध द्रव्य उससे भिन्न कालमें नहीं है । इसलिए कालसे वह सत् अनेक है ॥४८७॥ ४ भावकी अपेक्षा—(यदि सम्पूर्ण सत्ता गुणोंको पक्षिरूपसे स्थापित करके केवल भावमुखेन देखें तो इन गुणोंमें सत् सत् ही है और यहाँपर कुछ भी नहीं है । इसलिए वह सत् एक है ॥४८८॥ जिस जिस भावमुखसे जिस-जिस समय सत्की विवक्षा की जायेगी उस उस समय वह सत् उस उस भावभय ही कहा जायेगा या प्रतीतिमें आयेगा अन्य भाव रूप नहीं । इस प्रकार भावकी अपेक्षा वह सत् अनेक भी है ॥४८८॥

३ अनित्य व नित्य धर्मोंकी योजना विधि

प घ/५/१लोक सं “जिस समय केवल वस्तु दृष्टिगत होती है और परिणाम दृष्टिगत नहीं होता उस समय द्रव्याधिक नयकी अपेक्षा सर्व वस्तु नित्य है ॥३३८॥ जिस समय यहाँ केवल परिणाम दृष्टिगत होता है और वस्तु दृष्टिगत नहीं होती, उस समय पर्यायाधिक नयकी अपेक्षासे नवीन पर्याय रूपसे उत्पन्न और पूर्व पर्यायरूपसे विनष्ट होनेसे सत् वस्तु अनित्य है ।

४ तत् व अतत् धर्मोंकी योजना विधि

प घ/५/१लोक सं “परिणमन करते हुए भी अपने सम्पूर्ण परिणमनोंमें तत्तातीयपना उल्लंघन न करनेके कारण वह सत् तत् रूप है ॥३३९॥ परन्तु सत् असत्की तरह पर्यायाधिक नयकी अपेक्षा देखनेपर प्रत्येक पर्यायमें वह सत् अन्य अन्य दिखनेके कारण अतत् रूप भी है ॥३३३॥

७ विरोधी धर्म वतानेका प्रयोजन

प घ/५/३३२,४४२ अयमर्थ सदसद्वत्तदर्थ च विधिनिषेधरूप स्यात् । न पुननिरपेक्षतया तद्वद्वयमपि तत्त्वमुभयतया ॥३३७॥ स्यादेकत्वं प्रति प्रयोजक स्यादखण्डवस्तुत्वम् । प्रकृत यथासदेकं द्रव्येणखण्डितं मत तावत् ॥—सत्-असत्की तरह सत्-अतत् भी विधिनिषेध रूप होते हैं, किन्तु निरपेक्षपने नहीं क्योंकि परस्पर सापेक्षपनेसे वे दोनों तत्-अतत् भी तत्त्व हैं ॥३३२॥ कथंचित् एकत्व यताना वस्तुकी अवलम्बिता-का प्रयोजक है ।

न च/५/५/६६/६७ भावार्थ “स्यात् नित्यका फल चिरकाल सत् स्थायीपना है । स्यादनित्यका फल निज हेतुओंके द्वारा अनित्य स्वभावी कर्मके ग्रहण व परित्यागादि होते हैं ।”

अनैकान्तिक हेत्वाभास—दे व्यभिचार ।

अनोजीविका—दे सावध ५ ।

अन्न—१ अन्नमुद्गादि (ता स/२/१६) मृग, मोठ, चना, गेहूँ आदि अन्न कहलाता है । २ बीधा व संदिग्ध अन्न अभक्ष्य है—दे भक्ष्या-भक्ष्य २ ।

अन्नप्राशनक्रिया—दे संस्कार २ ।

अन्यत्व—रा बा/२/७,१३/११२/१ अन्यत्वमपि साधारण सर्वद्रव्याणां परस्परतोऽन्यत्वात् । कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् तदपि पारिणामिकम् । —एक द्रव्य दूसरेसे भिन्न होता है, अत अन्यत्व भी सर्वसाधारण है । कर्मोदय आदिकी अपेक्षाका अभाव होनेके कारण, यह पारिणामिक भाव है, अर्थात् स्वभावसे ही रुबमें पाया जाता है ।

स सा /आ /३५५/क २१३ वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुन , येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् । निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य क , किं करोति हि महिष्ठ - ठन्नपि ॥२१३॥—इस लोकमें एक वस्तु अन्य वस्तुकी नहीं है, इसलिए वास्तवमें वस्तु वस्तु ही है । ऐसा होनेसे कोई अन्य वस्तु अन्य वस्तु-के बाहर लोटती हुई भी उसका क्या कर सकती है ।

प्र सा /त प्र /१०६ अतद्भावो ह्यन्यत्वस्य लक्षणं तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्विद्यत एव गुणगुणिनोत्तद्भावस्याभावात् शुक्लोत्तरीयवदेव । —अतद्भाव अन्यत्वका लक्षण है, वह ता सत्ता और द्रव्यके ही ही, क्योंकि गुण और गुणीके तद्भावका अभाव होता है—शुक्ल व वस्त्रकी भाँति ।

* दो पदार्थोंके मध्य अन्यत्वका विशेष रूप—ये कारक, कारण ।

अन्यत्वानुप्रेक्षा—दे अनुप्रेक्षा ।

अन्यथानुपपत्ति—दे हेतु ।

अन्यथायुक्ति खण्डन—(ज प्र /प्र १०६) Reductio-ad absurdum

अन्यदृष्टिप्रशसा—स ति /७/२३/३६४ प्रशसासस्तवया को विशेष । मनसा मिथ्यादृष्टिज्ञानचारित्रगुणोद्भावन प्रशसा, भूताभूतगुणोद्भाव-वचन सत्त्व इत्ययमनयोर्भेद । —प्रश्न—प्रशसा और सत्त्वमें क्या अन्तर है । उत्तर—मिथ्यादृष्टिके ज्ञान और चारित्र गुणोंको मनसे उद्भावन करना प्रशसा है और मिथ्यादृष्टिमें जो गुण है या जो गुण नहीं है इन दोनोंका सद्भाव मतलब है हुए कथन करना सत्त्व है, इस प्रकार इन दोनोंमें अन्तर है । (रा वा /७/२३, १/५५२) (वा सा /७/२) ।

अन्ययोगव्यवच्छेद

१ अन्ययोगव्यवच्छेदात्मक एवकार—दे एव ।

२ अन्ययोगव्यवच्छेद नामका ग्रन्थ—रवेताम्बराचार्य श्री हेमचन्द्र सूरि (ई १०८८-११७३) द्वारा रचा गया एक न्यायविषयक ग्रन्थ है । इनपर श्री मल्लिषेण सूरि (ई १२६२) ने स्याद्वादमजरी नामकी टीका लिखी है ।

अन्योन्यगुणकार शलाका—(ज प्र /प्र १०६) Mutual multiple log

अन्योन्याभाव—दे अभाव ।

अन्योन्याभ्यस्तराशि—गो क /मू /६३७/११३७ इडुसलायपमाणे दुगसवगे कवेदु इडुस्त । पयडिस्त य अणोण्णाभ्रयपमाण हवे नियमा । —अपनी अपनी इष्ट शलाका जो नाना गुणहानि शलाका तीहि प्रमाण दोगके अंक माँछि परस्पर गुणै अपनी इष्ट प्रकृतिका अन्योन्याभ्यस्त राशिका प्रमाण हो है । (गो क /भापा/६०२/१०६/३) (गो जी /भापा/५६/१५६/६/) (विशेष दे गणित/II/६/२) ।

२ प्रत्येक कर्मकी अन्योन्याभ्यस्त राशि—दे गणित II/६/४ ।

अन्योन्याभ्रय हेत्वाभास—रतो वा /४/न्या ४५६/५५६/६/भापा-कार “पन्थपरमें धाराभाही रूपसे एक-दूसरेकी अपेक्षा लागू रहना अन्योन्याभ्रय है” (जिसे खटकेके तालेकी चाबी तो आलमारीमें रह गयी और बाहरसे ताला बन्द हो गया । तब चाबी निकले तो ताला खुले और ताला खुले तो चाबी निकले, ऐसी परस्परकी अपेक्षा लागू होती है) ।

अन्वय—रा वा /४/२ ४३६/२१ स्वजात्यपरिरगागेनावस्थितिरन्वय । —अपनी जातिको न छोड़ते हुए उसी रूपसे अवस्थित रहना अन्वय है ।

रा वा/४/४२ १०/२५२/१४ के पुनरन्वय । बुद्धभिधानानुवृत्तिनिष्ठेन अनुमीयमानाविच्छेदा स्वात्मभूतास्तितादय । प्रश्न—अन्वय क्या

है । उत्तर—अनुगताकार (यह बही है ऐसी) बुद्धि और अनुगताकार शब्द प्रयोगके द्वारा अनुमान किये जानेवाले तथा निरय रिधत स्यारम-भूत अस्तित्वादि गुण अन्वय कहलाते हैं ।

स सा /ता वृ /२२३ अन्वयव्यतिरेकशब्देन सर्वत्र विधिनिषेधो ज्ञातव्यो । —अन्वय और व्यतिरेक शब्दसे सर्वत्र विधि-निषेध जानना चाहिए । पं ध /पू /१४३ सत्ता सारथं सद्वा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु । अर्थो विधिरविशेषादैकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥१४३॥—सत्ता, सारथ, सत्, सामान्य, द्रव्य अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि ये सब शब्द विशेप-रूपसे एकार्थवाचक हैं ।

२ अन्वय व्यतिरेककी परस्पर सापेक्षता—दे सप्तभंगी ४ ।

३ अन्वय द्रव्यार्थि नय—दे नय IV/२ ।

अन्वयी—स ति /क/३८/३०६ अन्वयिनो गुणा । —गुण अन्वयी होते हैं । (रा वा /४/४२ ११/२५२/१४) प्र सा /त प्र /८०) (पं ध /पू /१४४) । पं ध /पू /१३८ तद्वाक्यान्तरमेतद्यथा गुणा सहभुवोऽपि चान्वयिन । अर्थचिन्तैकार्थत्वादधिकार्थवाचका सर्वे ॥१३८॥—गुण सहभू और अन्वयी तथा अर्थ ये सब शब्द अर्थकी दृष्टिसे एकार्थक होनेके कारण एकार्थवाचक हैं ।

अन्वर्थ—प का /ता वृ /१/७/६ अन्वर्थनाम कि यादृश नाम ताद-दोऽर्थ यथा तपतोति तपन आदिरय इत्यर्थ । —जैसा नाम हो वैसा ही पदार्थ हो उसे अन्वर्थ नाम कहते हैं—जैसे जो तपता है सो तपन अर्थात् सूर्य है ।

अप—दे जल ।

अपकर्ष—गो जी /जो प्र /५१८/६१३/१७ भुज्यमानायुरपकृष्यापकृष्य परभवायुर्गच्छते इत्यपकर्ष । —भुज्यमान आयुको घटा-घटाकर आगामी परभवकी आयुको बाँधे सो अपकर्ष कहिये (अर्थात् भुज्यमान आयुका २/३ भाग बीत जानेपर आयुबन्धके योग्य प्रथम अवसर आता है । यदि वहाँ न बँधे तो दोष १/३ आयुका पुन २/३ भाग बीत जानेपर दूसरा अवसर आता है । इस प्रकार आयुके अन्तर्पर्यन्त आठ अवसर आते हैं । इन्हें आठ अपकर्ष कहते हैं । (विशेष दे आयु ४) ।

अपकर्षण—अपकर्षणका अर्थ घटना है । सम्प्रदर्शन ज्ञान चारित्रके कारण स्वतः अथवा तपश्चरण आदिके द्वारा साधक पूर्वोपाजित कर्मोंकी स्थिति व अनुभाग यराभर घटाता हुआ अथवा घातता हुआ आगे बढ़ता है । इसीका नाम मोक्षमार्गमें अपकर्षण इष्ट है । ससारी जीवोंके भी प्रतिपल शुभ या अशुभ परिणामोंके कारण पुण्य या पाप प्रकृतियोंका अपकर्षण हुआ करता है । वह अपकर्षण दो प्रकारसे होता है—साधारण व गुणाकार रूपसे । इनमें पहिलेकी अपकर्षण व अपसरण तथा दूसरेको काण्डकघात कहते हैं, क्योंकि इसमें कर्मोंके गट्टेके गट्टे एक-एक बारमें तोड़ दिये जाते हैं । यह काण्डकघात ही मोक्षका साक्षात् कारण है और केवल ऊँचे दर्जेके च्यानि्योंको हाता है । इसी विषयका परिचय इस अधिकारमें दिया गया है ।

१ भेद व लक्षण

१ अपकर्षण सामान्यका लक्षण ।

२ अपकर्षणके भेद (अव्याघात व व्याघात) ।

३ अव्याघात अपकर्षणका लक्षण ।

४ व्याघात अपकर्षणका लक्षण ।

५ अतिस्थापना व निक्षेपके लक्षण ।

* जघन्य उक्तुष्ट निक्षेप व अतिस्थापना ।

—दे अपकर्षण २/१, ४/२ ।

२ अपकर्षण सामान्य निर्देश

- १ अव्याघात अपकर्षण विधान ।
- २ अपकर्षण योग्य स्थान व प्रकृतियाँ ।
- ३ अपकृष्ट द्रव्यमें भी पुन परिवर्तन होना सम्भव है ।
- ४ उदयावल्लिसे बाहर स्थित निपेकोका ही अपकर्षण होता है भीतरवालो का नहीं ।

३. अपसरण निर्देश

- १ चौत्तीस स्थितिवन्धापसरण निर्देश ।
(पृथक्-पृथक् चारो गतियोंके जीवोकी अपेक्षा)
- २ स्थिति सत्त्वापसरण निर्देश ।
- ३ ३४ वन्धापसरणोंकी अभव्योंमें सम्भावना व असम्भावना सम्बन्धी दो मत ।
- * स्थिति वन्धापसरण कालका लक्षण—दे अपकर्षण ४/४

४ व्याघात या काण्डकघात निर्देश

- १ स्थितिकाण्डकघात विधान
- * चारित्र्यमोहोपशम विधानमें स्थितिकाण्डकघात ।
—दे ल सा /७७ ७८/११२
- * चारित्र्यमोहक्षपणा विधानमें स्थितिकाण्डकघात ।
—दे स सा /४०५ ४०७/४६१
- २ काण्डकघातके विना स्थितिघात सम्भव नहीं ।
- ३ आयुका स्थितिकाण्डकघात नहीं होता ।
- ४ स्थितिकाण्डकघात व स्थितिवन्धापसरण में अन्तर ।
- ५ अनुभागकाण्डक विधान ।
- ६ अनुभागकाण्डकघात व अपवर्तनाघातमें अन्तर ।
- * अनुभागकाण्डकघातमें अन्तरगकी प्रधानता ।
दे कारण 11/२
- ७ शुभ प्रकृतियोंका अनुभागघात नहीं होता ।
- ८ प्रदेशघातसे स्थिति घटती है, अनुभाग नहीं ।
- ९ स्थिति व अनुभागघातमें परस्पर सम्बन्ध ।
- * आयुक्रमके स्थिति व अनुभागघात सम्बन्धी ।
—दे आयु/५

१ भेद व लक्षण

१ अपकर्षण सामान्यका लक्षण

घ १०/४.२.४.२१/५१/२ पदेसाण ठिठिणमोवृणा ओकड्डणा णाम ।
—कर्मप्रदेशोंकी स्थितियोंके अपवर्तन (घटने) का नाम अपकर्षण है ।
मो क /जी प्र /४३८/५६१ स्थित्यनुभागयोर्हानिरपकर्षण णाम । —स्थिति और अनुभागकी हानि अर्थात् पहिले स्थान्धी थी उससे कम करना अपकर्षण है ।—

ल सा /भापा/५५/८७ स्थिति घटाय उपरिके निपेकनिका द्रव्य नीचले निपेकनि विषे जहाँ दीजिये तहाँ अपकर्षण कहिये । (पीछे उदय आने योग्य द्रव्यको ऊपरका और पहिले उदयमें आने योग्यको नीचेका जानना चाहिए । (मो जी /भापा/३५८/५६६/१६) ।

२. अपकर्षणके भेद

(अपकर्षण दो प्रकारका कहा गया है—अव्याघात अपकर्षण और व्याघात अपकर्षण । व्याघात अपकर्षणका ही दूसरा नाम काण्डकघात भी है, जैसा कि हम मञ्जासे हो विदित हैं) ।

३ अव्याघात अपकर्षणका लक्षण

ल सा /भापा/५६/८८/१ जहाँ स्थितिकाण्डकघात न पाइए सो अव्याघात कहिये ।

४ व्याघात अपकर्षणका लक्षण

ल सा /भापा/५६/९२/१ जहाँ स्थितिकाण्डकघात होइ सो व्याघात कहिये ।

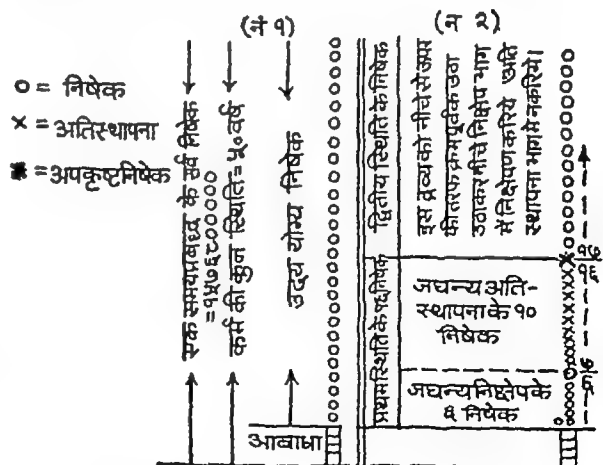
५ अतिस्थापना व निक्षेपके लक्षण

ल सा /जी प्र /५६/८७/१२ अपकृष्टद्रव्यस्य निक्षेपस्थान निक्षेप निक्षिप्यतेऽस्मिन्निति निर्वचनात् । तैनातिक्रम्यमाण स्थानमतिस्थापन, अतिस्थाप्यते अतिक्रम्यतेऽस्मिन्निति अतिस्थापनम् । —अपकर्षण किये गये द्रव्यका निक्षेपस्थान, अर्थात् जिन निपेकोंमें उन्हें मिलाते हैं वे निपेक निक्षेप कहलाते हैं, क्योंकि, जिसमें क्षेप किया जाये सो निक्षेप है, ऐसा वचन है उसके द्वारा अतिक्रमण या उल्लंघन किया जानेवाला स्थान, अर्थात् जिन निपेकोंमें नहीं मिलाते वे सप्त, अतिस्थापना हैं, क्योंकि, 'जिसमें अतिस्थापन या अतिक्रमण किया जाता है, सो अतिस्थापना है' ऐसा इसका अर्थ है । (ल सा /भापा/५५/८७/२) (ल सा /भापा/८१/११६/१८) ।

२ अपकर्षण सामान्य निर्देश

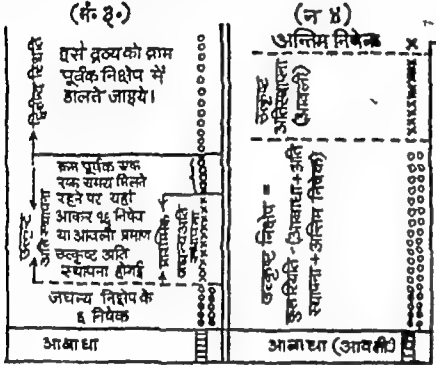
१. अव्याघात अपकर्षण विधान

ल सा /घृ व टोका/५६-५८/८८ ६० केवल भावार्थ [नोट—साथ आगे दिया गया यन्त्र देखिए । द्वितीयावलीके प्रथम निपेकका अपकर्षण करि नीचे (प्रथमावलीमें) निक्षेपण करिये तहाँ भी कुछ निपेकोंमें तो निक्षेपण करते हैं, और कुछ निपेक अतिस्थापना रूप रहते हैं । उनका विशेष प्रमाण बताते हैं ।] प्रथमावलीके निपेकनि विषे समयघाट आवलीका त्रिभागसे एक समय अधिक प्रमाण निपेक तो निक्षेप रूप हैं (अर्थात् यदि आवली १६ समय प्रमाण तो $\frac{१६-१}{३} + १ = ६$ निपेक निक्षेप रूप है ।) इस विषे सोई द्रव्य दीजिये है । बहुवि अवशेष (न ७-१६ तकके १०) निपेक अतिस्थापना रूप हैं । (दे यन्त्र न २) ।



यातें ऊपर द्वितीयावलीके द्वितीय निपेकका अपकर्षण किया । तहाँ एक समय अधिक आवली मात्र (१६ + १ = १७) याके बीच निपेक हैं । तिन विषे निक्षेप तो (वही पहले वाला अर्थात्) निपेक घाट

आबलोका त्रिभागसे एक समय अधिक ही है। अति-स्थापना पूर्वतः एक समय अधिक है (क्योंकि द्वितीयाबलोका प्रथम समय जिसके द्रव्यको पहिले अपकर्षण कर दिया गया है, अथ लाली होकर अति-स्थापनाके समयमें सम्मिलित हो गया है।) ऐसे क्रममें द्वितीयाबलोके तृतीयादि नियेकनिका अपकर्षण होते निक्षेप तो पूर्वोक्त प्रमाण ही और अतिस्थापना एक एक समय अधिक क्रममें जानना। (इसी प्रकार मृदते-मृदते) अतिस्थापना आबलो मात्र (अर्थात् १६ नियेक प्रमाण) ही है, सो यह उरकृष्ट अतिस्थापना है। यहाँ से (आग) ऊपरके नियेकनिका द्रव्य (अर्थात् द्वितीय स्थिति के न ७ आदि नियेक) अपकर्षण किये सर्वत्र अतिस्थापना तो आबलो मात्र ही जानना और निक्षेप एक एक समय क्रममें बढ़ता जाये।



तहाँ स्थितिका अन्त नियेकका द्रव्यको अपकर्षण करि नीचेले नियेकनि विषे निक्षेप करते, तिस अन्त नियेकके नीचे आबलो मात्र नियेक तो अतिस्थापना रूप है, और समय अधिक दाय। आबलो करि हीन उरकृष्ट स्थिति मात्र निक्षेप है। सो यह उरकृष्ट निक्षेप जानना। (कुल स्थितिमेंसे एक आबलो तो आमाधा काल और एक आबलो अतिस्थापना काल सदा एक समय अन्तिम नियेकका कम करनेपर यह उरकृष्ट निक्षेप प्राप्त होता है। वे यन्त्र न ४)।

२. अपकर्षण योग्य स्थान व प्रकृतियाँ

गो क १५/४४४ ४४८/४४८ ६८८ ओककृष्टकरण पुन अजीगिसत्ताण जोगि-चरिमोत्ति। खीण सुहुमसाण खयदेश सावलीगसममोत्ति ॥४४४॥ एवसतोत्ति मुराज मिच्छत्तिय खयगसोत्तसाण च। खयदेशोत्ति य खयगे अट्टकसायादिबीसाण ॥४४६॥ मिच्छत्तिसालसाण एवसमसेठिमि सतमोहात्ति। अट्टकसायादीण एवसमियट्टाणगात्ति हवे ॥४४७॥ पढमकसायाण च विसजोक्क वात्ति अयदवेशोत्ति। गिरयत्तिरियाउगाणमुदीरणसत्तोदया सिद्धा ॥४४८॥ —अयोगि विषे सखरूप वही पिचयासी प्रकृति (पौच शरीर, पौच मन्धन,

पौच संघात, छ सस्थान, सीन अगोपांग, छ सहनन, पौच वर्ण, दोग गर्थ, पौच रस, आठ स्पश, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुस्वर-दुस्वर, देवगति व आनुपूर्वी, प्रशस्त व अप्रशस्त विहायोगति दुर्भाग, निर्माण, अयश कीर्ति, अनादेय, प्रयेक, अपयधि, अपुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, अनुदयरूप अन्यतम वेदनीय, नीच गोत्र—ये ७२ प्रकृति की तौ अयोगिके द्वि चरम समय सखसे व्युच्छित्ति होती है, बहुरि जिनका उदय अयोगि विषे पाय्ये ऐसे उदयरूप अन्यतम

वेदनीय, मनुष्यगति, पचेन्द्रिय सुभग, व्रस, मादर, पर्याप्त, आवेय, यश कीर्ति, तीर्थकरव, मनुष्यायु व आनुपूर्वी, उच्च गात्र—इन १ प्रकृतियोंकी अयोगिके अन्त समय सखसे व्युच्छित्ति होती है। सर्व मिल ८५ भई।) तिनिके (८५ प्रकृतिनिके) समयोपिका अन्त समय पर्यन्त अपकर्षण जानना। बहुरि क्षीणकपाय विषय सखसे व्युच्छित्ति भई सोलह और सुद्ध साम्परायविषे सखसे व्युच्छित्ति भया सुद्ध लोभ इन तेरह प्रकृतिनिके क्षयदेश पर्यन्त अपकर्षणकरण जानना। (पौच हानावरण, चार दर्शनावरण, पौच अन्तराय, निद्रा

प्रचना ये सोलह तथा सुद्ध लोभ। सर्व मिल ७ भई।) तहाँ क्षयदेश कहा सो कहिये है—जे प्रकृति अन्य प्रकृतिरूप उदय देय विनसे हैं, ऐसो परमुखोदयो हैं, तिनके तो अन्तकाण्डककी अन्त फालि क्षयदेश। बहुरि अपने ही रूप फल देह विनसे हैं ऐसो स्वमुखोदयो प्रकृति, तिनके एक एक समय अधिक आबलो प्रमाण क्षयदेश है, तातें तिन सतरह प्रकृतिनिके एक समय आबलो काल पर्यन्त अपकर्षण पाय्ये ॥४४८॥ उपशान्तकपाय पर्यन्त देवायुके अपकर्षणकरण है। बहुरि मिथ्यात्व, सम्पत्तिमिथ्यात्व सम्यक्त्व प्रकृति ये तीन और 'गिरय तिरबला' इत्यादि सूत्रात् अनिवृत्तिकरण विषे क्षय भई सोलह प्रकृति (नरक गति व आनुपूर्वी, तिर्यचगति व आनुपूर्वी,

विकलत्रय, स्थानगुदित्तिक, सद्योत, आसप, पकेन्द्रिय, साधारण, सुद्ध, स्थावर इन सोलह प्रकृतिनिकी अनिवृत्तिकरणके पहिले भाग

विषे सखसे व्युच्छित्ति है।) इनिके क्षयदेश पर्यन्त अपकर्षणकरण है—अन्तकाण्डकका अन्तका फालि पर्यन्त है, ऐसा जानना। बहुरि आठ कपायने आदि देकर अनिवृत्तिकरणविषे क्षय भई ऐसो कीस प्रकृति (अप्रयारस्थान कपाय, प्रयारस्थान कपाय, नपुसकवेद, खीवेद

छह नोकपाय, पुरुषवेद, सज्वलन क्रोध मान व माया। सर्व मिल २० भई।) तिनिके अपने अपने क्षयदेश पर्यन्त अपकर्षणकरण है। जिस स्थानक क्षय भया सो क्षय देश कहिये ॥४४६॥

उपशम श्रेणीविषे मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व प्रकृति ये तीन अर नरक द्विकादिक सोलह (अनिवृत्तिकरणमें व्युच्छित्तिप्राप्त पूर्वोक्त १६) इनिके उपशान्तकपाय पर्यन्त अपकर्षण है। बहुरि अष्ट कपायादिक (अनिवृत्तिकरणमें व्युच्छित्ति प्राप्त पूर्वोक्त २०) तिनके अपने अपने उपशमनेके ठिकांने पर्यन्त अपकर्षणकरण है ॥४४७॥ अनन्ता-नुपन्धी चतुष्कके देशसंयत, प्रमत्त, अप्रमत्तनि विषे यथा सम्भव जहाँ विसर्जोना होई तहाँ पर्यन्त अपकर्षणकरण है ॥४४८॥

३ अपकृष्ट द्रव्यमे भी पुन. परिवर्तन होना सम्भव है घ ६/१.६-८.१६/२२/३४७ ओककृष्टदि जे असे काले ते व होत्ति भजि-दवा। वहीए अवष्टाणे हाणीए सकमे उदर ॥२२॥ —जिन कमासीका अपकर्षण करता है वे अनन्तर कालमें स्थित्यादिकी वृद्धि, अवस्थान, हानि, सक्रमण, और उदय, इनसे भजनीय है, अर्थात् अपकर्षण किये जानेके अनन्तर समयमें ही उनमें वृद्धि आदिक उक्त क्रियाओंका होना सम्भव है ॥२२॥

४ उदयावलिसे बाहर स्थित निषेकोका ही अपकर्षण होता है भीतरवालोंका नहीं

क पा ७/पूर्व सूत्र/४४२३-४२४/३३६ ओककृष्टादो फीणट्टिदियं नाम् कि

॥४२३॥ ज कम्ममुदयावलियम्भत्तरे द्विय तमोक्कड्डादो ऋणट्ठिदिय ।
जमुदयावलिहाहिरे ट्ठिठ्ठ तमोक्कड्डादो अज्झीणट्ठिठ्ठिदिय ॥४२४॥
—प्रश्न—वे कौनसे कर्मपरमाणु हैं जो अपकर्षणसे भोजन (रहित)
स्थितिवाले हैं ॥४२३॥ उत्तर—जो कर्मपरमाणु उदयावलि के भीतर
स्थित हैं वे अपकर्षणसे भोजन स्थितिवाले हैं और जो कर्मपरमाणु
उदयावलि के बाहर स्थित हैं वे अपकर्षणसे अभोजन स्थितिवाले हैं ।
अर्थात् उदयावलि के भीतर स्थित कर्म परमाणुओंका अपकर्षण नहीं
होता, किन्तु उदयावलि के बाहर स्थित कर्मपरमाणुओंका अपकर्षण
हो सकता है ।

३ अपसरण निर्देश

१. चौतीस स्थिति बन्धापसरण निर्देश

१ मनुष्य व तिर्यंचोकी अपेक्षा

ल सा/सू व जी प्र ८/६-१६/४७-६३ केवल भाषार्थ—“प्रथमोपशम सम्य-
वत्त्वको समुत्पन्न भया मिथ्यादृष्टि जीव सो विद्युद्रताको वृद्धिकरि बर्द्ध-
मान होता सत्ता प्रायोग्यत्वविका प्रथम समयतें लगाय पूर्व स्थिति
बन्धके (१) सत्त्वातवे भागमात्र अन्त कोटाकोटी सागर प्रमाण आयु
बिना सात कर्मनिका स्थितिवन्ध करे है ॥६॥ तिस अन्त कोटाकोटी
सागर स्थितिवन्ध तें पश्यका सत्त्वातवा भागमात्र घटता स्थितिवन्ध
अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त समानता लिये करे । बहुहुरि तातें पश्यका सत्त्वा-
तवा भागमात्र घटता स्थितिवन्ध अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त करे है । ऐसे
क्रमतः संख्यात स्थितिवन्धापसरणनि करि पृथक्त्वसौ (८०० या ६००)
सागर घटे पहिला स्थिति बन्धापसरण स्थान होइ । २ बहुहुरि तिस
ही क्रमतें तिस तें भी पृथक्त्वसौ घटे दूसरा स्थितिवन्धापसरण
स्थान हो है । ऐसे इस ही क्रमतें इतना-इतना स्थिति बन्ध घटे
एक एक स्थान होइ । ऐसे स्थिति बन्धापसरणके चौतीस स्थान
होइ । चौतीस स्थाननिविष्ट कैनी प्रकृतिका (बन्ध) व्युच्छेद हो है
सो कहिए ॥१०॥ १ पहिला नरकायुका व्युच्छिष्टि स्थान है । इहां तें
लगाय उपशम सम्यवत्त्व पर्यन्त नरकायुका बन्ध न होइ ऐसे ही आगे
जानना । २ दूसरा तिर्यंचायुका है । (इसी क्रमसे) ३ मनुष्यायु
४ देवायु, ५ नरकागति व आनपूर्वी, ६ संयोगरूप सूक्ष्म अपर्याप्त
साधारण (संयोग रूप अर्थात् तीनोंका युगपत् बन्ध) ७ संयोगरूप
सूक्ष्म अपर्याप्त प्रत्येक ८ संयोगरूप बादर अपर्याप्त साधारण ९
संयोगरूप बादर अपर्याप्त प्रत्येक १० संयोगरूप वेङ्गिन्द्रिय अपर्याप्त
११ संयोगरूप तेङ्गिन्द्रिय अपर्याप्त, १२ संयोगरूप चौङ्गिन्द्रिय अपर्याप्त
१३ संयोगरूप असङ्गी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त १४ संयोगरूप सङ्गी
पंचेन्द्रिय पर्याप्त ॥१॥ १५ संयोगरूप सूक्ष्म पर्याप्त साधारण, १६
संयोगरूप सूक्ष्म पर्याप्त प्रत्येक, १७ संयोगरूप बादर पर्याप्त साधारण
१८ संयोगरूप बादर पर्याप्त प्रत्येक एकेन्द्रिय आतप स्थावर, १९
संयोगरूप वेङ्गिन्द्रिय पर्याप्त २० संयोगरूप तेङ्गिन्द्रिय पर्याप्त २१
चौङ्गिन्द्रिय पर्याप्त, २२ असङ्गी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त ॥१२॥ २३ संयोगरूप
तिर्यंच व आनपूर्वी तथा उद्योत २४ नीच गोत्र, २५ संयोगरूप
अप्रशस्त विहायोगति दुर्भाग-दुस्वर अनाद्य २६ हुंठकसंस्थान
सुपाटिका सहनन २७ नपुसकवेद, २८ वामन संस्थान, कीलित
सहनन, ॥१३॥ २९ कुञ्जक संस्थान, अर्धनाराच सहनन ३० लोवेद
३१ स्वाति संस्थान, नारोच सहनन ३२ न्यग्रोध मस्थान वज्र-
नाराच सहनन ३३ संयोगरूप मनुष्यागति व आनपूर्वी औदारिक
शरीर व अगोपांग—वज्र-वृषभनाराच सहनन ३४ संयोगरूप
अस्थिर अशुभ-अपश- ॥१४॥ अरति-शोक असाता—। ऐसे ये चौतीस
स्थान भव्य और अभव्यके समान हो हैं ॥१५॥ मनुष्य तिर्यंचानिकें
तो सामान्योक्त चौतीस स्थान पाइये है तिनके ११७ बन्ध योग्यमें-से
४६ की व्युच्छिष्टि भई, अवशेष ७१ भाग्यिये है ॥१६॥ (घ ६/१.६-२,
२/१३६/५) (ल मा. १/२२-२३/२६७) (क पा सु १/१० ६४/४०/५ ६३-
६३६) (म. य. पु. ३/११५-११६) ।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

२ भवनत्रिक व सौधर्म युगलको अपेक्षा

ल सा/सू व टी १/६/५३ केवल भाषार्थ—“भवनत्रिक व सौधर्म युगलविषै
दूसरा, तीसरा अठारहवाँ और तेईसवाँ आदि दस (२३-३२) और
अन्तका चौतीसवाँ ये बौद्ध स्थान ही समझे हैं । तहाँ ३१ प्रकृतिनि
की व्युच्छिष्टि हो है और बन्ध योग्य १०३ विषै ७० प्रकृतिनिका
बन्ध अवशेष रहे है ॥१६॥

३ प्रथम छह नरको तथा सन्तकुमारादि १० स्वर्गोकी
अपेक्षा

ल सा/सू व टी १/७/५४ केवल भाषार्थ—“रत्नप्रभा आदि छह नरक
पृथिवीनिविष्ट और सनस्कृमार आदि दश स्वर्गनिविष्ट पूर्वोक्त
(भवनत्रिकके) १४ स्थान अठारहवें बिना पाइये है । तिन तेरह
स्थाननिकरि अठाईस प्रकृति व्युच्छिष्टि हो हैं । तहाँ मध्ययोग्य १००
प्रकृतिनिविष्ट ७२का बन्ध अवशेष रहे है ॥१७॥

४ आनतसे उपरिम ग्रैवेयक तककी अपेक्षा

ल सा/सू व टी १/८/५५ केवल भाषार्थ—“आनत स्वर्गादि उपरिम ग्रैवे-
यक पर्यन्त विषै (उपरोक्त) १३ स्थान दूसरा व तेईसवाँ बिना पाइये ।
तहाँ तिन ग्यारह स्थाननिकरि चौबीस घटाइ बन्धयोग्य ६६
प्रकृतिनिविष्ट ७२ भाग्यिये है ॥१८॥

५ सातवी पृथिवीकी अपेक्षा

ल सा/सू व टी १/९/५६ केवल भाषार्थ—“सातवाँ नरक पृथिवी विषै जे
(उपरोक्त) ११ स्थान तीसरा करि हीन और दूसरा करि सहित
तथा चौबीसवाँ करि हीन पाइये । तहाँ तिन १० स्थाननिकरि
तेईसवाँ उद्योत सहित ये चौबीस घटाइ बन्ध योग्य ६६ प्रकृति-
निविष्ट ७३ वा ७२ भाग्यिये है, जातें उद्योतको बन्ध व। अभन्ध दोनों
समझे हैं ॥१९॥

२ स्थिति सत्त्वापसरण निर्देश

ल सा/सू व टी ४/२७-४२८/१०६ केवल भाषार्थ—“मोहादिकका क्रम
लिए जो क्रमकरण (वे क्रमकरण) रूप बन्ध भया, तातें परे इस
ही क्रम लिये तितने ही सरयात हजार स्थिति बन्ध भये असङ्गी
पंचेन्द्रिय समान (सागरोपमलक्षपृथक्त्व) स्थिति सत्त्व है । बहुहुरि
तातें परे जैसे-जैसे मोहनीयादिकका क्रमकरण पर्यन्त स्थिति बन्ध-
का व्याख्यात किया तैसे ही स्थिति सत्त्वका होना अनुक्रम तें
जानना । तहाँ एक पश्य स्थिति पर्यन्त पश्यका सत्त्वातवा भागमात्र,
तातें दूरापकृष्टि पर्यन्त पश्यका सत्त्वातवा भागमात्र, तातें सत्त्वात
हजार वर्ष स्थिति पर्यन्त पश्यका असत्त्वातवा बहुभागमात्र आयाम
लिये जो स्थिति बन्धापसरण तिनिकरि स्थिति बन्धका घटना कहा
था, तैसे ही इहाँ तितने आयाम लिये स्थिति काण्डकनिकरि
स्थितिसत्त्वका घटना हो है । बहुहुरि तहाँ सत्त्वात हजार स्थिति
बन्धका व्यतीत होना कहा तैसे इहाँ भी कहिए है, वा तहाँ तितने
स्थिति काण्डनिका व्यतीत होना कहिए । जातें स्थिति बन्धापसरण
और स्थितिकाण्डोत्तरणका काल समान है । बहुहुरि तहाँ स्थिति
बन्ध जहाँ कहा था यहाँ स्थिति सत्त्व तहाँ कहना । बहुहुरि अप
बहुवत्र त्रैशिक आदि विशेष बन्धापसरणवश ही जानना । सो
स्थिति सत्त्वका क्रम कहिए—प्रत्येक सत्त्वात हजार काण्डक गये
क्रमतें असङ्गी पंचेन्द्रिय, चौङ्गिन्द्रिय, तेङ्गिन्द्रिय, वेङ्गिन्द्रिय एकेन्द्रिय-
निके स्थिति बन्ध के समान कर्मनिकी स्थिति सत्त्व हजार सौ,
पचास पञ्चीस, एक सागर प्रमाण हो है । बहुहुरि संख्यात स्थिति
काण्डक भये बीसयानि (नाम गोत्र) का एक पश्य, तीसयानि
(ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय अन्तराग) का छयोद पश्य मोह-
का दोय पश्य स्थिति सत्त्व हो है । १ तातें परे पूर्व सत्त्वका सत्त्वात
बहुभागमात्र एक काण्डक भये बीसयानिका पश्यके सत्त्वात भागमात्र
स्थिति सत्त्व भया तिस कालविषै बीसयानिकेतें तीसयानिका सरयात-

जन्तेन्द्र सिद्धान्त कोष

अन्त तक आवली प्रमाण ही रहती थी, और निक्षेपमें बराबर एक-एक समयकी वृद्धि होनेके कारण वह कुल स्थितिके केवल अतिस्थापनावली करि होन रहता था। यहाँ व्याघात विधान विषे उनटा क्रम है। यहाँ निक्षेपमें वृद्धि होनेकी वजाये अतिस्थापनाने वृद्धि होती है। अपकर्षण द्वारा जिसनी स्थिति शेष रखी गयी उसना ही यहाँ उत्कृष्ट निक्षेप है। जवन्ध निक्षेपका यहाँ विकल्प नहीं है। तथा उससे पूर्व स्थितिके अन्तिम समय तक सर्वकाल अतिस्थापना रूप है। यहाँ ऊपरवाले निषेधोंका द्रव्य पहिले उठाया जाता है और नीचे वालोंका क्रम पूर्वक उसके पीछे। अव्याघात विधानमें प्रति समय एक ही निषेध उठाया जाता था पर यहाँ प्रति समय असंख्यात निषेधोंका द्रव्य इकट्ठा उठाया जाता है। एक समयमें उठाये गये सर्व द्रव्यको एक फालि कहते हैं। व्याघात विधानका कुल काल केवल एक अन्तर्मुहूर्त है, जिसमें कि उपरोक्त सर्व स्थितिका घात करना इष्ट है। अन्तर्मुहूर्तके असंख्यात खण्ड हैं। प्रत्येक खण्डमें भी प्रति समय एक एक फालिके क्रममे जितना द्रव्य समय उठाया गया उसे एक काण्डक कहते हैं। इस प्रकार एक एक अन्तर्मुहूर्तमें एक एक काण्डकका निक्षेप करते हुए कुल व्याघातके कालमें असंख्यात काण्डक उठा लिये जाते हैं, और निषेध रूप निषेधोंके अतिरिक्त ऊपरके अन्य सर्व निषेधोंके समय कामाणि द्रव्यसे द्रव्य कर दिये जाते हैं। इसीलिए स्थितिका घात हुआ कहा जाता है। क्योंकि इस विधानमें काण्डकरूपसे द्रव्यका निक्षेप होता है, इसलिए इसे काण्डक घात कहते हैं, और स्थितिका घात होनेके कारण व्याघात कहते हैं।]

२ काण्डकघातके बिना स्थितिघात सम्भव नहीं

घ १०/४ २ १४ ३०/४८६/८ खडगघादेण विणा कम्मद्विदोए घादाभावाद्वा।
—काण्डकघातके बिना कर्मस्थितिका घात सम्भव नहीं है।

३ आयुका स्थितिकाण्डकघात नहीं होता

घ ६/१६-८५/२२४/३ अयुववरणस्स आयुगवज्जाणे सव्वकम्मणद्वि-
दिवडो होदि। —(अपूर्वकरणके प्रकरणमें) यह स्थितिलख अयु
कर्मको छोड़कर शेष समस्त कर्मोंका होता है। (अन्यत्र भी सर्वत्र यह
नियम लागू होता है)।

४. स्थितिकाण्डकघात व स्थिति बन्धापसरणमे अन्तर

स सा/मू ४९८/४६६ बंधोसरणा मधो ठिदिवड सतमोसरदि। ४९८।
—स्थितिबन्धापसरणरि स्थितिबन्ध घटे है और स्थिति काण्डक-
निकरि स्थितिबन्ध घटे है। नोट—(स्थिति बन्धापसरणमें विशेष
हानिक्रमसे बन्ध घटता है और स्थितिकाण्डकघातमें गुणहानिक्रमसे
सब घटता है।)

ल सा/जी प्र ७६/११४ एकैकस्थितिलखणनिपतनकाल, एकैकस्थिति-
बन्धापसरणकालरच समानावन्तर्मुहूर्तमात्रौ। —जाकरि एक बार
स्थिति सब घटाये ऐसा काण्डकोत्करणकाल और जाकरि एक बार
स्थितिबन्ध घटाये सो स्थिति बन्धापसरणकाल ए दाऊ समान है,
अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

५. अनुभागकाण्डकघात विधान

ल सा/मू व टीका ८० ८१/११४ ११६केवल भाषार्थ 'अप्रशस्त जे अगता
प्रकृति तिनिका अनुभाग काण्डकायाम अनन्तमनुभागमात्र है। अपूर्व-
करणका प्रथम समय विषे (चारित्र्यमोहोपशमका प्रकरण है) जो
पाइए अनुभाग सत्त्व ताकी अनन्तका भाग दीए तहाँ एक काण्डक
करि बहुभाग घटावे। एक भाग अवशेष राखे है। यह प्रथम खण्ड
भया। याकी अनन्तका भाग दीए दूसरे काण्डक करि बहुभाग घटाइ
एक भाग अवशेष राखे है। ऐसे एक एक अन्तर्मुहूर्त करि एक एक
अनुभाग काण्डकघात हो है। तहाँ एक अनुभाग काण्डकोत्करण
काल विषे समय-समय प्रति एक-एक फालिका घटावना हो है। ८०।
अनुभागको प्राप्त ऐसे कर्म परमाणु सम्मन्धी एक गुणहानिविषे

स्पर्धकनिष्ठा प्रमाण सो स्तोको है। तातें अनन्तगुणे अतिरथापनारूप
स्पष्टक है। तातें अनन्तगुणे निक्षेप स्पर्धक है। तातें अनन्तगुणा
अनुभाग काण्डकायाम है। इहाँ ऐसा जानना कि कर्मनिके अनुभाग
विषे अनुभाग रचना है। तहाँ प्रथमादि स्पर्धक स्तोको अनुभाग
युक्त है। ऊपरिके स्पर्धक बहु अनुभाग युक्त है। ऐसे तहाँ तिन
सर्व स्पर्धकनिको अनन्तका भाग दिये बहुभागमात्र जे ऊपरिके
स्पर्धक, तिनिके परमाणुनिकी एक भागमात्र जे निचले स्पर्धक
तिनि विषे, केतेश्च ऊपरिके स्पर्धक छोड़ि अवशेष निचले स्पर्धक-
निरूप परिणमावे है। तहाँ केतेश्च परमाणु पहिले समय परिणमावे
है, केतेश्च दूसरे समय परिणमावे है। ऐसे अन्तर्मुहूर्त कालकरि सर्व
परमाणुपरिणमाइ तिन ऊपरिके स्पर्धकनिका अभावकरि है। तिनिका
द्रव्यको जे काण्डकघात भये पीछे अवशेष स्पर्धक रहै तिनविषे तिन
प्रथमादि स्पर्धकनिकविषे मिलाया, ते तौ निक्षेप रूप है अर जिनि
ऊपरिके स्पर्धकनिक विषे न मिलाया ते अतिस्थापना रूप है। ८८।
(स सा/मू व टी ४०८ ४०६/४६३)

६ अनुभाग काण्डकघात व अयवर्तनघातमे अन्तर

घ १०/४ २ ७ ४९/३२/१ एमो अणुभागखडगघादो त्ति किण्ण बुद्धेदि। य,
पारदपद्धमसमयादो अतोमुहुत्तेण णालेण जो घादो णिप्पज्जदि सो
अणुभागखडगघादो नाम जो पुण उक्कारणकालेण विणा एगममएणेव
पददि सा अणुसमओवट्ठणा। अण्ण च, अणुसमअ वट्ठणाए णियमेण
अणता भागा हम्मति अणुभागखडगघादे पुण णत्थि ऐसो णिमो,
ख्विहहाणीएखडगघादुत्तभावा। —प्रश्न—इसे (अनुसमयावर्तना-
घातकी) अनुभागकाण्डकघात क्यों नहीं करते। उत्तर—नहीं, क्योंकि,
प्रश्नविषे यो प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा जो घात
णिप्पज्ज हाता है वह अनुभागकाण्डकघात है। परन्तु उत्कीर्ण फालिके
बिना एक समय द्वारा जो घात होता है, वह अनुसमयावर्तना है।
दूसरे अनुसमयावर्तना नियमसे अनन्त बहुभाग नष्ट हाता है परन्तु
अनुभाग काण्डकघातमें यह नियम नहीं है क्योंकि छह प्रकारकी
हानि द्वारा काण्डकघात की उपलब्धि होती है। विशेषार्थ—काण्डक
पोरकी कहते हैं। इन अनुभागके हिस्से करके, एक एक हिस्सेका
फालि क्रमसे अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा अभाव करना अनुभाग काण्डक
घात कहलाता है। और प्रति समय अनन्त बहुभाग अनुभागका अभाव
करना अनुसमयावर्तना कहलाती है। मुख्य रूपसे यही इन दोनोंमें
अन्तर है।

७ शुभ प्रकृतियोंका अनुभाग घात नहीं होता

घ १२/४ २ ७ १४/८८/१ सुहाण पयडोण विसोहिदो केवलिसमुग्घादेण
ज गणिताहेण वा अणुभागघादो णत्थि त्ति जाणवेदि। खीणकमाय-
सजागोसु द्विदिवअणुभागघादेसु सतेसु वि सुहाण पयडोण अणुभागघादो
त्ति सिद्धे द्विदिवअणुभागजिण्वे सुहाण पयडोणमुक्कस्साणुभागे, होदि
णत्थि त्ति अथात्तिगिद्ध। —शुभ प्रकृतियोंके अनुभागका घात
विशुद्धि वन्त सुदृढात अथवा योगनिष्ठसे नहीं हाता। क्षीणकपाय
और सयोगी गुणस्थानमें स्थितिघात व अनुभागघातके होनेपर भी
शुभ प्रकृतियोंके अनुभाग घात वहाँ नहीं होता, यह सिद्ध होनेपर
'स्थिति व अनुभागमे रहित अयोगी गुणस्थानमें शुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट
अनुभाग होता है,' यह अर्थपत्तिसे सिद्ध है।

ल सा/मू ८०/११४ सुहपयडोण णियमा णत्थि रसस्स खड्ढाणि।
—शुभ प्रकृतियोंका अनुभागकाण्डकघात नियमसे नहीं होता है।

८. प्रवेशघातसे स्थिति घटती है, अनुभाग नहीं

क पा १/४-२२।४५०२/३३०/११ द्विदोए इव पदेसगलणाए अणुभागघादो
णत्थि त्ति। —प्रवेशोंके गलनेसे जैसे स्थितिघात हाता है, वैसे प्रवेशोंके
गलनेसे अनुभागका घात नहीं होता।

९. स्थिति व अनुभाग घातमे पररपर सम्बन्ध

घ १/१,१२०/२२६/१० अतोमुहुत्तेण एक्केयक द्विदिकडय घादेत्तो

अपणो कालभूतरे सखेजसहस्राणि द्विदिकटयाणि धावेदि ।
तत्तियाणि चैव द्विदिकघोसरणाणि वि करेदि । तेहितो सखेज-
सहस्रगुणे अणुभागकड्य-धावे करेदि, 'एणाणुभाग-कड्य-उत्कीरण-
कालादो एकं दिठदिक्कड्य-उत्कीरणकालो सखेजगुणो' त्ति सुत्तादो ।
—एक-एक अन्तर्मुहूर्तमें एक एक स्थितिकाण्डकका घात करता हुआ
अपने कालके भीतर सख्यात हजार स्थितिकाण्डकोंका घात करता है ।
और उसने ही स्थितियन्धापसरण करता है । तथा उनसे सरयात
हजार गुणे अणुभागकाण्डकोंका घात करता है, यथोक्ति, एक अणुभाग-
काण्डकके उत्कीरणकालसे एक स्थितिकाण्डकका उत्कीरणकाल सख्यात
गुणा है । (ल सा /मू /७६/११४)

घ १२/४.२.१३.४०/३६३/१२ पठिभगपठमसमयपहुडि जाव अतोमुहुत्त
कालो ण गदो ताव अणुभागकड्यधादाभावादो ।

घ १२/४.२.१३.६४/४१३/७ अतोमुहुत्तचरिमसमयस्स कधुगुणास्साणुभाग-
सभवो । ण, तस्स अणुभागकड्यधादाभावादो ।

—प्रतिभग्न होनेके प्रथम समयसे लेकर जब तक अन्तर्मुहूर्तकाल नहीं
घोत जाता तब तक अणुभागकाण्डकघात सम्भव नहीं । —प्रश्न—
अन्तर्मुहूर्तके अन्तिम समयमें उत्कृष्ट अणुभागकी संभावना कैसे है ।
उत्तर— नहीं, यथोक्ति, उसके अणुभागकाण्डक घातका अभाव है ।

घ १२/४.२.१३.४१/१-२/३६४ द्विदिधादे हमतसे अणुभागा आऊआण
सव्वेसि । अणुभागेण विणा वि हु आउववजाण द्विदिधादो । १।
अणुभागे हमतसे दिठदिधादो आउआण सव्वेसि । दिठदिधादेण विणा
वि हु आउववजाणमणुभागा । २। —स्थितिघात होनेपर (ही) सब
आयुओंके अणुभागका नाश होता है । (परन्तु) आयुको छोड़कर शेष
कर्माँका अणुभागके बिना भी स्थितिघात होता है । १। (इसी प्रकार)
अणुभागका घात होनेपर ही सब आयुओंका स्थितिघात होता है
(परन्तु) आयुको छोड़कर शेष कर्माँका स्थितिघातके बिना भी
अणुभागघात होता है । २।

घ १२/४.२.१६.२६२/४३१/१३ आउअस्स तवगसेटोए पदेसस्स गुणसेडि-
णिज्जाराभावो व दिठदि-अणुभागान् धादाभावादो । —क्षपकश्रेणीमें
आयुक्रमके प्रवेशाकी गुणश्रेणी निर्जरके अभावके समान स्थिति और
अणुभागके घातका अभाव है । (इसीलिए वहाँ घातको प्राप्त हुआ
अणुभाग अनन्तगुणा हो जाता है ।) ।

अपकर्षसमा—न्या सू /४/१/४/२८८ साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पा-
दुभयसाध्यराक्षारोपपरिपक्षवर्णयवर्णविकल्पासाध्यसमा । ४४।

न्या भा /४/१/४/२८८ साध्ये धर्माभावे दृष्टान्तात् प्रसङ्गात् अपकर्षसम ।
लोष्ठ खलु क्रियावानविभुष्ट काममारमापि क्रियावानविभुरस्तु
विपर्यये वा विशेषो वक्तव्य इति । —साध्यमें दृष्टान्तसे धर्माभावके
प्रसंगको अपकर्षसम कहते हैं । जैसे कि लोष्ठ निश्चय क्रियावाला
व अविभु देखा गया है अतः (इस दृष्टान्त द्वारा साध्य) आत्मा
भी क्रियावात् व अविभु होना चाहिए । जो ऐसा नहीं है तो विशेषता
दिखानी चाहिए ।

रलो वा ४/न्या ३४४/४७७/४ विद्यमानधर्मापनयोऽपकर्ष ।

रलो वा ४/न्या ३४४/४७६/४ तत्रैव क्रियावज्जीवसाधने प्रयुक्ते सति साध्य-
धर्मिणि धर्मस्याभावं दृष्टान्तात् समासंजयत् यो वक्ति सोऽपकर्षसमा-
जातिं वदति । यथा लोष्ठ क्रियाश्रयोऽसंगतो दृष्टस्तद्वदत्मा सदाप्य-
सर्वांगतोऽस्तु विपर्यये वा विशेषकृद्घेतुर्वाच्य इति । —विद्यमान हो
रहे धर्मका पक्षमें-से अलग कर देना अपकर्ष है । क्रियावात् जीवके
साधनेका प्रयोग प्राप्त होनेपर जो प्रतिपादो साध्यधर्ममें धर्मके
अभावको दृष्टान्तसे भले प्रकार प्रसंग कराता हुआ कह रहा हो
कि वह अपकर्षसमा जाति है । —जैसे कि लोष्ठ क्रियावात् हो रहा
अव्यापक दखा गया है उसीके समान आत्मा भी सर्वदा असर्वगत
हो जाओ । अथवा विपरीत माननेपर कोई विशेषताको करनेवाला
कारण बतलाना चाहिए, जिससे कि रेलोका एक धर्म (क्रियावात्पना)

तो आत्मामें मिलता रहे और दूसरा धर्म (असर्वगतपना) आत्मामें न
ठहर सके ।

अपकार—दे, उपकार ।

अपकृष्ट—१ सा /भाषा/५८८/७०६ गुणश्रेणी आदिके अर्थ जो सर्व
स्थितिके द्रव्यको अपकर्षण करि ग्रहिये सो अपकृष्टि (अपकृष्ट) द्रव्य
कहिए है ।

अपक्षय—१ वा /८/४२/८/२४०/१६ क्रमेण पूर्वभावैकदेशनिवृत्तिर
पक्षय । —क्रमपूर्वक पूर्वभावकी एकदेश निवृत्ति होना अपक्षय है ।

अपदर्श—नील पर्वतस्थ कूट व उनका स्वामी देव—दे साफ/७/४ ।

अपदेश—म सा /ता वृ /१६ अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेश शब्द
द्रव्यश्रुतमिति । —जिसके द्वारा अर्थ निर्देशित किये जायें सो
अपदेश है । वह शब्द अर्थात् द्रव्यश्रुत है ।

अपध्यान—र का /मू /७८ अधमन्धच्छेदादेर्द्विपाद्रागाच्च परकल-
त्रादे । आध्यानमपध्यान शासति जिनशासने विशद । ७८ । —जिन
शासनमें चतुर पुरुष, रागसे अथवा द्वेषमें अन्यकी स्त्री आदिके नाश
होने कैद होने कट जाने आदिके चिन्तन करनेको आध्यान या
अपध्याननामा अनर्थदण्ड कहते हैं ।

स ति /७/२१/३६० परेयां जयपराजयवधमन्धनाद्गच्छेदपरस्वहरणादि
कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम् । —दुसरीका जय, पराजय,
मारना, धोना, अगोका छेदना, और धनका अपहरण आदि कैसे
किया जाये इस प्रकार मनसे विचार करना अपध्यान है । (रा वा /७/
२१/२१/६४६/७) (वा सा /१६/६/६) (पु सि उ /१४१)

वा सा /१७१/३ उभयमप्येतदपध्यानम् । —ये दोनों आर्त व रौद्रध्यान
अपध्यान हैं । (सा घ /६/६)

का अ /मू ३४४ परदोसाण वि गहण परलच्छीणं समीहणं जं च । पर-
हृथो अनलोओ परकलहालोयणं पठम् । ३४४ । —परके दोषोंका ग्रहण
करना, परकी लक्ष्मीको चाहना, पराधी स्त्रीका तापना तथा पराधी
कलहको देखना प्रथम (अपध्यान) अनर्थदण्ड है ।

द्र सं /टी /२-४/६६/६ स्वयं विषयानुभवरहितोऽप्यय जीव परकीयविषया-
नुभवं दृष्टं श्रुतं च मनसि स्मृत्वा यद्विषयाभिलाष करोति तदपध्यानं
भण्यते । —स्वयं विषयोंके अनुभवसे रहित भी यह जीव अन्यके देखे
हुए तथा सुने हुए विषयोंके अनुभवको मनमें स्मरण करके विषयोंकी
इच्छा करता है, उसको अपध्यान कहते हैं (प्र सा /ता वृ /१६८/२१६) ।

अपरविदेह—१ सुमेरु पर्वतके पश्चिममें स्थित गन्धर्वालीनी आदि
१६ क्षेत्र अपर या पश्चिम विदेह कहनाते हैं—दे लोक/६ । २ नील
पर्वतस्थ एक कूट व उसके रक्षक देवका नाम भी अपरविदेह है—दे
लोक/६ ।

अपरव्यवहार—आगमकी ७ नयोंमें व्यवहारनयका एक भेद—
दे नय V/४ ।

अपरसग्रह—आगमकी ७ नयोंमें सग्रहनयका एक भेद—दे नय
III/४ ।

अपराजित—१ एक यक्ष—दे यक्ष, २ एक ग्रह—दे ग्रह, ३ कक्षा-
सीत देवोंका एक भेद—दे स्वर्ग/२/१, ४ अपराजित स्वर्ग—दे
स्वर्ग/४/४; ५ जम्बूद्वीपकी वेदिकाका उत्तर द्वार—दे लोक/३/१,
६ अपर विदेहस्थ व प्रवान क्षेत्रकी मुख्य नगरी—दे लोक/४/२
७ रुचकवर पर्वतका कूट—दे लोक/४/१२, ८ विजयार्थकी दक्षिण
श्रेणीका एक नगर—दे विशाधर, ९ विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एक
नगर—दे विशाधर । १० (म पु /६२/रलो ७) घातकी खण्डमें सुसीमा
देशका राजा था (२-३) प्रवज्या ग्रहणकर तीर्थकर प्रकृतिका बन्ध
किया और ऊर्ध्व ग्रैभ्यकमें अहिमिन्द्र हो गये (१२-१४) यह पञ्चप्रभ

भगवान्का पूर्वका तीसरा भव है। ११ (म पु ६२/१लो) वस्सकावती देशकी प्रभाकरी नगरीके राजा स्तमितसागरका पुत्र था (४१२-४१३) राज्य पाकर रूप देखनेमें आसक्त हो गया और नारदका सत्कार करना भूल गया (४३०-४३१) क्रुद्ध नारदने शत्रु दमितारिको युद्धार्थ प्रस्तुत किया (४४३) इन्होंने नर्तकीका वेश बना उसकी लङ्कीका हरण कर लिया और युद्धमें उसको हरा दिया (४६१-४८४) तथा बलभद्र पद पाया (४१०)। अन्तमें दीक्षा ले समाधि-मरण कर अच्युतेन्द्र पद पाया (२६-२७) यह शान्तिनाथ भगवान्का पूर्वका ७वाँ भव है। १२ (म पु ६२/१लो) सुगन्धिदा देशके सिंहपुर नगरके राजा अर्हदाम का पुत्र था (३-१०) पहिले अनुव्रत धारण किये (१६) फिर एक माहका उरकृष्ट सन्यास धारण कर अच्युतेन्द्र हुआ (४५-४०) यह भगवात् नेमिनाथका पूर्वका पाँचवाँ भव है। १३ (ह पु ३६/१लो) जरामन्धका भाई था कंसकी सूर्यके पश्चात् कृष्णके साथ युद्धमें मारा गया (७२-७३)। १४ श्रुतावतान्के अनुसार आप भगवात् वीरके पश्चात् तृतीय श्रुतकेवली हुए थे। समय—वी नि ६२-११४, ई पू ४३४-४१२। दे इतिहास। ४/४। १५ (सि वि प्र १४/५ महेंद्रकुमार) आप सुमति आचार्यके शिष्य थे। समय—वि ४६४ (ई ४३७)। १६ (म आ / प्र ५ नाथुराम प्रेमी) आप चन्द्रनन्दिके प्रशिष्य और बलदेवसूरिके शिष्य थे। आपका अपर नाम विजयाचार्य था। आपने भगवती आराधनापर विस्तृत संस्कृत टीका लिखी है। समय—शक ६५८ (वि ७६३) में टीका पूरी की।

अपराजित सघ—आचार्य अर्हबलि-द्वारा स्थापित दिगम्बर साधु संघोंमें-से एक था। दे इतिहास/४/६।

अपराजिता—१ भगवात् मुनिमुवतनाथकी शासिका यक्षिणी—दे तीर्थंकर/४/३, २ पूर्व विवेकस्थ महावत्सा देशकी मुख्य नगरी—दे लोक/४/२ ३ नन्दोश्वर द्वीपके पश्चिममें स्थित एक बापी, दे लोक/४/११, ४ रुक्मपर्वत निवासिनी दिवकुमारी—दे लोक/४/१३।

अपराध—स सा/मू/३०४ ससिद्धिराद्धसिद्ध साधियमाराधय च एयट्। अषगयराधो जो खलु चैया सो होइ अवराधो ॥३०४॥ संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित, ये एकाग्रिबाची शब्द हैं। जो आत्मा अपगतराध अर्थात् राधसे रहित है वह मात्मा अपराध है। (नि सा/ता वृ/८४)।

सा/सा/आ/३००/क१८६ परद्रव्यग्रह कुर्वन् बध्यैतैवापराधवात्। मध्येतानपराधो म स्वद्रव्ये सद्युता यति ॥१८६॥—जो परद्रव्यको ग्रहण करता है वह अपराधी है, इसलिये बन्धमें पड़ता है। और जो स्व द्रव्यमें ही संवृत है, ऐसा यति निरपराधी है, इसलिए बन्धता नहीं है (स सा/आ/३०१)।

अपराह—दिनका तीसरा पहर।

अपरिगृहीता—म सि/७/२८/३६८ या गणिकात्वेन पुरुचलोत्वेन वा परपुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता।—जो वेश्या या व्यभिचारिणी होनेसे दूसरे पुरुषोंके पास जाती-जाती रहती है, और जिसका कोई पुरुष स्वामी नहीं है, वह अपरिगृहीता कहलाती है।

अपरिणत—आहारका एक दोष—दे आहार II/४/४।

अपरिणामी—दे परिणमन।

अपरिस्त्राविता—म आ/मू/४८६, ४६५ लोहेण पदीमुदयं व जस्स आलोचिदा अदीचारा। ण परिस्सवन्ति अण्णत्तो सो अपरिस्सवो होदि ॥४८६॥ इच्छेवमादिदोसाण हाँति गुरुणो रहस्सघारिस्स। पुट्ठेव अपुट्ठे वा अपरिस्साहस्स घारिस्स ॥४६५॥—जैसे तपा हुआ लोहेका गोला चारों तरफसे पानीका शोषण कर लेता है, वैसे ही जो आचार्य क्षणिके दोषोंको मुनकर अपने अन्दर ही शोषण कर प्रवृत्तिपर अथवा

न प्रवृत्तिपर भी जो उन्हें अन्यपर प्रगट न करे, वह अपरिस्त्रावी गुणका धारक है।

अपयप्ति—दे पर्याप्त।

अपवर्ग—न्या मू/पू/१-१/२२ तदन्त्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।—उस दुख-दायी जन्मसे अत्यन्त विमुक्तिका नाम अपवर्ग है।

अपवर्तन—

१. अपवर्तनाघात सामान्यका लक्षण

स सि/२/५३/२०१ माहास्यापघातनिमित्तस्य विपश्चादे सति संनिधाने द्रव्य भवतीत्यपवर्त्यम्।—उपघातके निमित्त विप शब्दादिक माहा निमित्तोंके मिलनेपर जो आयु घट जाती है वह अपवर्त्य आयु कहलाती है।

क पा/१,१८/६३१४/३४७/४ किमोवट्टण णाम। णसुसयेए खविदे सेसणो-कसायकखणमोवट्टण णाम।—प्रश्न—अपवर्तना किसे कहते हैं। उत्तर—नपुसकवेदका क्षण हो जानेपर शेष नोकपायोंके क्षण होनेको यहाँ अपवर्तना कहा है।

गो/क/जो प्र/६४१/८३७/१६ आयुर्नन्धं कुर्वता जीवानां परिणामवशेन मध्यमानस्यायुषोऽपवर्तनमपि भवति तदेवापवर्तनघात इत्युच्यते, उदयमानायुषवर्तनस्यैव वदलीघाताभिधानात्।—आयुके बन्धको करते जीव तिनिके परिणामनिके वशसे मध्यमान आयुका अपवर्तन भी होता है। अपवर्तन नाम घटनेका है, सो याको अपवर्तनघात कहिए, जातै उदय आई (भुज्यमान) आयुके अपवर्तनका नाम वदलीघात है। (अर्थात् भुज्यमान आयुके घटनेका नाम वदलीघात और मध्यमान आयुके घटनेका नाम अपवर्तनघात है।)

२ अनुसमयापवर्तनाका लक्षण

क पा/४/२२/४६२७/३६६/१३ का अणुसमओवट्टणा। उदय-उदयावलि-यासु पविस्समागट्ठिदीणमणुभागत्स उदयावलिधारिट्ठिदीणमणु-भागत्स य समय पडि अणतगुणहीणकमेण घादो।—प्रश्न—प्रति समय अपवर्तना किसे कहते हैं। उत्तर—उदय और उदयावलिमें प्रवेश करनेवाली स्थितियोंके अनुभागका तथा उदयावलीसे बाहरकी स्थितियोंके अनुभागका जो प्रति समय अनन्तगुणहीन क्रमसे घात होता है उसे प्रतिसमय अपवर्तना कहते हैं।

घ १२/३,२,७,४१/१२/३२/३ उक्कीरणकालेण विणा एगसमएणेव पद्वि सा अणुसमओवट्टणा। अण च, अणुसमओवट्टणाए णियमेण अणताभागा हम्मन्ति।—उक्कीरणकालके बिना एक समय द्वारा जो घात होता है वह अनुसमयापवर्तना है। अथवा अनुसमयापवर्तनामें नियमसे अनन्त बहुभाग नष्ट होता है। (अर्थात् एक समयमें ही अनन्तों काण्डकोंका युगपत् घात करना अनुसमयापवर्तना है।)

* अनुसमयापवर्तना व काण्डकाघातमें अन्तर—

दे अपकर्ण ४/६।

* आयुके अपवर्तन सम्बन्धी—दे आयु ४।

* अकाल मृत्यु वश आयुका अपवर्तन—दे मरण ४।

* अपवर्तनोद्वर्तन—दे अश्वकर्ण करण।

३ गणितके सम्बन्धमें अपवर्तन

समान मूष्योंमें बदलना जैसे १८/७२—१/४—दे गणित II/१/१०।

अपघात—अर्थात् मोक्षमार्ग केवल साम्यता की साधना का नाम है,

परन्तु शरीरस्थितिके कारण आहार-विहार आदिमें प्रवृत्ति भी करनी पड़ती है। यदि इससे सर्वथा उपेक्षित हो जाये तो भी साधना होनी सम्भव नहीं और यदि केवल इसहीकी चयनमें निरर्गल प्रवृत्ति करने लगे तो भी साधना सम्भव नहीं। अतः साधक को दोनों ही मार्गोंका सन्तुलन करके चलना आवश्यक है। तहाँ साम्यताकी वास्तविक

साधनाको उत्सर्ग और शरीर चर्याको अपवाद कहते हैं। इन दोनों-
के सम्मेल सम्बन्धी विषय ही इस अधिकारमें प्रस्तुत हैं।

१. भेद व लक्षण

१ अपवाद सामान्यका लक्षण।

२ अपवादमार्गका लक्षण।

३ उत्सर्गमार्गका लक्षण।

* उत्सर्ग व अपवाद लिंगके लक्षण—वे तिग १।

२ अपवादमार्ग निर्देश

१ मोक्षमार्गमें क्षेत्र काल आदिका विचार आवश्यक है।

२ अपनी शक्तिका विचार आवश्यक है।

३ आत्मोपयोगमें विघ्न न पड़े ऐसा ही त्याग योग्य है।

४ आत्मोपयोगमें विघ्न पड़ता जाने तो अपवाद मार्गका आश्रय ले।

* प्रथम व अन्तिम तीर्थमें छेदोपस्थापना चारित्र्य प्रधान होते हैं। —वे० छेदोपस्थापना।

* उत्सर्ग व अपवाद व्याख्यानमें अन्तर।

३ परिस्थितिवश साधुवृत्तिमें कुछ अपवाद

१ कदाचित् ९ कोटि शुद्धकी अपेक्षा ५ कोटि शुद्ध आहारका ग्रहण।

२ उपदेशार्थ शास्त्रोक्त और वैयावृत्यर्थ औपध आदिका सग्रह।

* आचार्यकी वैयावृत्यके लिए आहार व उपकरणादिक माँगकर लाना।

३ क्षपकके लिए आहार माँगकर लाना।

४ क्षपकको फुरले व तेलमर्दन आदिकी आज्ञा।

५ क्षपकके लिए शीतोपचार व अनीमा आदि।

६ क्षपकके मृतशरीरके अगोपागोका छेदन।

* कालानुसार चारित्र्यमें हीनाधिकता सम्भव है।

—वे० निर्वाणमै/भ आ प्र ६७१।

* कदाचित् लौकिक उत्सर्गकी आज्ञा। —वे० सगति।

* कदाचित् मन्द प्रयोगकी आज्ञा। —वे० मन्त्र।

७ परोपकारार्थ विद्या व शस्त्रादिका प्रदान।

* कदाचित् अकालमें स्वाध्याय। —वे० स्वाध्याय २/२।

८ कदाचित् रात्रिकी भी वातचीत।

* कदाचित् रात्रिकी करवट लेना। —वे० निद्रा।

* कदाचित् नौकाका ग्रहण व जलमें प्रवेश।

—वे० विहार।

* धूँदसे छू जानेपर स्नान। —वे० भिक्षा ६।

* मार्गमें कोई पदार्थ मिलनेपर उठाकर आचार्यको दे दे। —वे० अस्तेय।

* गगनन्तमें आर्यग्न सगतिवा विनि-निषेध।

—वे० सगति।

* कदाचित् स्त्रीको नग्न रहनेकी आज्ञा।

—वे० निग १/२।

४. उत्सर्ग व अपवादमार्गका समन्वय

१ वास्तवमें उत्सर्ग ही मार्ग है अपवाद नहीं।

२ कारणवश ही अपवादका ग्रहण निर्दिष्ट है सर्वत नहीं।

३ अपवादमार्गमें योग्य ही उपधि आदिके ग्रहणकी आज्ञा है अयोग्यकी नहीं।

* गानुके योग्य उपधि। —वे० परिग्रह १।

* स्वच्छन्दानामपूर्वक आहार ग्रहणका निषेध।

—वे० आहार ११/२/३।

५ अपवादका ग्रहण भी त्यागके अर्थ होता है।

६ अपवाद उत्सर्गमात्र होना चाहिए।

७ उत्सर्ग व अपवादमें परस्पर नापेक्षता ही श्रेय है।

८ निरपेक्ष उत्सर्ग या अपवाद श्रेय नहीं।

१ भेद व लक्षण

१ अपवाद सामान्यका लक्षण

स ति १/१३/१४१ पर्यायो विधेयोऽपवादः यत्तावत्तिरित्यर्थः । = पर्याय-
का अथ विशेष अपवाद और व्यावृत्ति है।

द वा १/१०/२४/२१/२० विधेयोक्तो विधिप्रसाद इति परिभाषणः ।
—विधेय रूपमें नहीं गयी विधिको अपवाद कहते हैं।

२ अपवादमार्गका लक्षण

प्र सा १/प्र २/२० दोगोरम्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसगमसाधनत्वेन मूल-
भूतस्य वेदो न यथा स्यात्तथा बालबुद्ध्याप्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं
मृद्वैवाचरणमाचरणीयमिरयुत्सर्गः । —मान मृद्वैवाचरणं व ग्लान
मुनिरागो शुद्धात्म तत्त्वके साधनभूत सगमका साधन होनेके कारण
जो मूलभूत है, उसका वेद जिस प्रकार न हो उस प्रकार अपने योग्य
मृद्वैवाचरण ही आचरना हम प्रकार अपवाद है।

प्र सा १/ता वृ २/२० असमर्थ पुरुष शुद्धात्मभावनाग्रहणार्थभूत किमपि
प्राप्तुकाहारदानोपकरणदिकं गृहातीत्यपवादो 'अग्रहणाय एकदेश-
परिश्रमाग्रहणाय चानुवृत्तसमय मरणचारित्र्य शुभोपयोग इति यावदे-
कार्थः । —असमर्थ जन शुद्धात्मभावनाके साक्षात्गोभूत जो पुरुष भी
प्राप्तुका आहार शान व उपकरण आदिका ग्रहण करते हैं, उसीको
अपवाद, अग्रहणरतन, एकदेशश्रमाग्र, अग्रहण सगम, मरण चारित्र्य,
शुभोपयोग इन नामसे कहा जाता है।

३. उत्सर्ग मार्गका लक्षण

प्र सा १/त प्र २/२२ आरमद्रव्यस्य द्वितीयपुद्गलद्रव्याभावात्सर्व एवोपधि
प्रतिषिद्ध इत्युत्सर्गः । —उत्सर्ग मार्ग वह है जिसमें कि सर्व परिग्रहका
त्याग किया जाये, क्योंकि, आरमाके एक अपने भावके सिवाय पर-
द्रव्यरूप दूसरा पुद्गलभाव नहीं है। इस कारण उत्सर्ग मार्ग परिग्रह
रहित है।

प्र सा १/त प्र २/२० बालबुद्ध्याप्तग्लानेनापि सगमस्य शुद्धात्मसाधनत्वेन
मूलभूतस्य वेदो न यथा स्यात्तथा सयत्तस्य स्वस्य योग्यमतिर्कक्षमा-
चरणीयमिरयुत्सर्गः । —मान, बुद्ध, अस्मित या ग्लान (रोगी श्रमण) को

भी समयका जो कि शुद्धात्मतत्त्वका साधन होनेसे मूलभूत है, उसका छेद जैसे न हो उस प्रकार समयतो अपने योग्य अतिकर्षक आचरण ही आचरना इस प्रकार उत्सर्ग है।

प्र सा/ता वृ/२३०/३१७/५ शुद्धात्मन सकाशादन्यद्वाह्याभ्यन्तरपरिग्रह-
रूपं सर्वं त्याज्यमित्युक्तं 'निश्चयनय' सर्वपरित्याग परमोपेक्षा-
सयमा वीतरागचारित्र शुद्धोपयोग इति यावदेवार्थः । — शुद्धात्माके
सिवाय अन्य जो कुछ भी बाह्य अवभ्यन्तर परिग्रह रूप है, उस
सर्वका त्याग ही उत्सर्ग है। निश्चयनय कहो या सर्वपरित्याग कहो
या परमोपेक्षा समय कहा, या वीतरागचारित्र कहो या शुद्धोपयोग
कहो, ये सब एकार्थवाची हैं।

२ अपवादमार्ग निर्देश

१ मोक्षमार्गमें क्षेत्र कालादिका विचार आवश्यक है

अन घ/५/६५/५५८ द्रव्य क्षेत्र बल भाव कालं धीयं समीक्ष्य च । स्वा-
स्थाय वर्ततां सर्वविद्धशुद्धाशने सुधी ॥६५॥ = विचार पूर्वक आच-
रण करनेवाले साधुओंको आगोच्य और आत्मस्वरूपमें अवस्थान
रखनेके लिए द्रव्य क्षेत्र काल, भाव बल और धीय इन छ बातोंका
अच्छो तरह पर्यालोचन करके निर्वाशन, विद्याशन और शुद्धाशनके
द्वारा आहारमें प्रवृत्ति करना चाहिए। (अन घ/७/१६-१७)।

२ अपनी शक्तिका विचार आवश्यक है

घ १३/४ ४.२६/२६/१२ पित्तप्पकावेण उववास अवलयेहि अट्टाहारेण
उववासादो अहियपरिस्ममेहि । = जो पित्तके प्रकोपवश उपवास
करनेमें असमर्थ है, जिन्हें आधे आहारकी अपेक्षा उपवास करनेमें
अधिक धकान होती है (उन्हें यह अवमोक्ष तप करना चाहिए)।
अन घ/७/६५/७/१६-१७-दे पहलेवाला स २/१।

प्र सा/ता वृ/२३० (असमर्थ पुरुषको अपवादमार्गका आश्रय लेना चाहिए
वे पहले स १/२)।

३ आत्मोपयोगमें विघ्न न पड़े ऐसा ही त्याग योग्य है

प्र स/त प्र/२१५ तथाविधशरीरवृत्त्यविरोधेन शुद्धात्मद्रव्यनोरङ्गनिस्तर-
रङ्गविश्रान्तिसुव्रणानुसारेण प्रवर्तमाने क्षणे । = तथाविध शरीरकी
वृत्तिके साथ विरोधरहित शुद्धात्म द्रव्यमें नौरंग और निस्तरग
विश्रान्तिकी रचनानुसार प्रवर्तमान अनशनमें ।

४ आत्मोपयोगमें विघ्न पड़ता जाने तो अपवादमार्ग- का आश्रय करे

स्या म/११/१३८ पर उद्धृत 'सम्बन्ध सजम सजमाओ अप्पानमेव
रखिजा । मुच्चइ अश्वयाओ पुणा विसोही नयाविरई । = मुनिको
सर्व प्रकारसे अपने समयकी रक्षा करनी चाहिए। यदि समयका
पालन करनेमें अपना मरण होता हो तो समयको छाड़कर अपनी
आत्माकी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि इस तरह मुनि दापोसे रहित
होता है। वह फिरसे शुद्ध हो सकता है, और उसके व्रत भगका दोष
नहीं लगता।

३ परिस्थितिवश साधुवृत्तिमे कुछ अपवाद

१ ६ फोटिकी अपेक्षा ५ कोटि शुद्ध आहारका ग्रहण

स्या म ११/१३८/६ यथा जैनानां समयपरिपालनार्थं नवकोटिबिषुद्धा-
हारग्रहणमुत्सर्गः । तथाविधद्रव्यक्षेत्रकालभावपक्षे च निषत्तिस्त्य
गत्यन्तराभावे पक्षकादियतनया अनेपणीयादिग्रहणमपवादः । सोऽपि च
समयपरिपालनार्थमेव । = जैन मुनियोंका वास्ते सामान्यरूपसे समय-
की रक्षाके लिए नव कोटिसे विषुद्ध आहार ग्रहण करनेकी विधि
मतायी गयी है। परन्तु यदि किसी कारणसे कोई द्रव्य, क्षेत्र, काल
और भावजन्य आपदाजैसे प्रस्त हो जाये और उसे कोई मार्ग सूझ
न पड़े, तो ऐसी दशामें वह पाँच कोटिसे शुद्ध आहारका ग्रहण कर

सकता है। यह अपवाद नियम है। परन्तु जैसे सामान्य विधि
समयकी रक्षाके लिए है, वैसे ही अपनाए विधि भी समयकी रक्षाके
लिए है।

२ उपदेशार्थ शास्त्र तथा वैद्यावृत्त्यर्थ औपध सग्रह

भ आ/वि/१७५/३६३ किंचित्कारणमुन्दिर्य युतग्रहण, परेषां वा भूतो-
पदेशम् आचार्यादिवैयावृत्त्यादिना वा परिभुक्तं व्यवहृतम् । उवधि
परिग्रहमीपधं अतिरिक्तज्ञानसमोपकरणानि वा । अणुपधि ईपध-
रिग्रहम् वसतिरुच्यते । यजयित्वा आचरति । = शास्त्र पढ़ना,
दूसरोंको शास्त्रापवश देना, आचार्योंकी वैद्यावृत्त्य करना इत्यादि
कारणोंके उद्देश्यसे जो परिग्रह सगृहीत किया था, अथवा औपध व
तद्व्यतिरिक्त ज्ञानोपकरण और समयोपकरण सगृहीत किया था
उसका (इस सन्तुलनाके अन्तिम अवसर्गपर) त्यागकर विहाज करे।
तथा ईपरपरिग्रह अर्थात् वसतिका भी त्याग करे।

३ क्षपकके लिए आहार आदि माँगकर लाना

भ आ/पु/६६२-६६६ चत्तारि जणा १ त उवक्कप्पेति अगिलाए पाओग्ग ।
छंदियमवगददोम अमाइणो लद्धि सपणा ॥६६२॥ चत्तारि जणा पाणय-
मुवक्कप्पेति अहिणाए पाओग्ग । छंदियमवगददास अमाइणो लद्धि
सपणा ॥६६३॥ चत्तारि जणा रक्खति दवियमुवक्कप्पय तय तेहि ।
अगिलाए अप्पमत्ता खवयस्स समाधिमिच्छति ॥६६४॥ ऋग्यमादी
सर्व चत्तारि पदिट्ठवति खवयस्स । पडिलेहति य उवधोकांले
सेज्जुवधिसंधार ॥६६५॥ खवयस्स घरदुवार सारवत्ति जणा चत्तारि ।
चत्तारि समोसरणदुवार रक्खति जदणाए ॥६६६॥ = चार साधु तो क्षपक
के लिए उद्गमादि दापरहित आहारके पदार्थ (आवकके घरस माँगकर)
लाते हैं। चार साधु पीनेके पदार्थ लाते हैं। कितने दिन तक लाना
पड़ेगा, इतना विचार भी नहीं करते हैं। माया भाव रहित वे मुनि
बात, पित्त, कफ सम्बन्धी दोषोंको शान्त करनेवाले ही पदार्थ लाते हैं।
भिक्षा लब्धिसे सम्पन्न अर्थात् जिन्हें भिक्षा आसानीसे मिल जाती है,
ऐसे मुनि ही इस कामके लिए नियुक्त किये जाते हैं ॥६६२-६६३॥
उपयुक्त मुनियों द्वारा लाये गये आहार-पानकी चार मुनि प्रमाद
छाड़कर रक्षा करते हैं, ताकि उन पदार्थोंमें व्रस जीवोंका प्रवेश न
होने पावे। क्योंकि जिस प्रकार भी क्षपकका मन रतनव्रयमें स्थिर
हो वैसा ही वे प्रयत्न करते हैं ॥६६४॥ चार मुनि क्षपका मलमूत्र
निकालनेका कार्य करते हैं तथा मूर्त्यक उदयकालमें और अस्तकालके
समयमें वे वसतिका, उपकरण और संस्तर इनका शुद्ध करते हैं,
स्वच्छ करते हैं ॥६६५॥ चार परिचारक मुनि क्षपको वसतिकाके
दरवाजेका प्रयत्नसे रक्षण करते हैं, अर्थात् असयत और शिक्षकोंको
वे अन्दर आनेको मना करते हैं और चार मुनि समागमणके द्वारका
प्रयत्नसे रक्षण करते हैं, धर्मोपदेश देनेके मष्टके द्वारपर चार मुनि
रक्षणके लिए बैठते हैं ॥६६६॥ (भ आ/पु/१६६३)।

भ आ/पु/१६७८/७७४ उयमयपट्टिदावणं उवसगहिव तु तथ उव-
करण । सागारियं च बुविह पट्टिहारियमपट्टिहारि वा ॥१६८८॥
= क्षपकी शुभ्रता करनेके लिए जिन उपकरणोंया सग्रह किया जाता
था उनका वर्णन इस गाथामें किया गया है १ कुछ उपकरण गृहस्थों-
से लाये जाते थे जैसे औषध जलपात्र, धानी बगैरह । कुछ उपकरण
त्यागने योग्य रहते हैं और कुछ उपकरण त्यागने योग्य नहीं होते।
जो त्याज्य नहीं हैं वे गृहस्थोंको वापिस दिये जाते हैं। कुछ कपड़ा
बगैरह उपकरण त्याज्य रहता है।

वे सन्तुलना/२/१२ (इगिनीमरण धारक क्षप अपने सस्तरके लिए
स्वयं गाँवसे तृण माँगकर लाता है)।

४ क्षपकको कुरले व तेलमर्दन आदि

भ आ/पु/६८८ तेलक्षसायादीहि य बहुसो गहूसया दु घेतुवा ।
जिम्भाक्खणाण बल होहि दि सुठं च से विसर ॥६८८॥ = तेल और
कपायले द्रव्यके क्षपको बहुत बार कुरले करने चाहिये। कुरसे करनेसे

जोभ और कानोंमें सामर्थ्य प्राप्त होती है। कर्णमें तेल छालनेसे श्रवण शक्ति बढ़ती है ॥६८८॥

५ क्षपकके लिए शीतोपचार आदि

भ आ /मू /१४६६ नचछोहि अवडुवणतावणेहि आलेवसोदकिरियाहि । अभगणपरिमहण आदोहि तिगिछदे खवय ॥१४६६॥ =वस्ति कर्म (अनीमा करना), अग्निसे सेंकना, शरीरमें उष्णता उत्पन्न करना, औपधिका लेप करना, शीतपना उत्पन्न करना, सब अंग मर्दन करना, इत्यादिके द्वारा क्षपकको वेदनाका उपशमन करना चाहिए ।

मू आ /टो /३७५ 'प्रतिरूपकालक्रिया —उष्णकाले शीतक्रिया, शीतकाले उष्णक्रिया, वर्षाकाले तथोग्यक्रिया । =उष्णकालमें शीतक्रिया और शीतकालमें उष्णक्रिया वर्षाकालमें तथोग्य क्रिया करना प्रतिरूपकाल क्रिया है (जिसके करनेका मूल गायामें निर्देश किया है) ।

त वृ /६/४७/३१६/१२ केचिदसमर्थ महर्षय शीतकालादौ कम्यलशब्द-भाच्यं कौशेयादिकं गृह्णन्ति । केचिच्छरीरे उत्पन्नदोषाणलज्जिवाद्य तथा कुर्वन्ति । उपारयानमारुधनाभगवतोप्रोक्ताभिप्रायेणापवादरूपं ज्ञातव्यम् । —कोई-कोई असमर्थ महर्षि शीत आदि कालमें कम्यल शब्दका वाच्य कुश घास या पराली आदिक ग्रहण कर लेते हैं । कोई शरीरमें उत्पन्न हुए दोष वश लज्जाके कारण ऐसा करते हैं । यह व्याख्यान भगवती आराधनामें कहे हुए अभिप्रायसे अपवाद रूप है । (भ आ /वि /४२१/६१/१८) ।

मो पा /टो /१७/८६ तस्य आचार्यस्य —वात्सल्यं भोजन पान पादमर्दन शुद्धतादिनाङ्गमयजन तरक्षालन चैत्यादिकं कर्म सर्वं तीर्थकरनाम कर्मोपार्जनहेतुभूत वैयाच्य कुरुत यूयम् । —उन आचार्य (उपाध्याय व साधु) परमेश्वरी वात्सल्य, भोजन, पान, पादमर्दन शुद्धतेल आदिके द्वारा अंगमर्दन, शरीर प्रक्षालन आदिक द्वारा वैयाच्य करना, ये सब कर्म तीर्थकर नाम कर्मोपार्जनके हेतुभूत हैं ।

६. क्षपकके मृत शरीरके अगोपागोंका छेदन

भ आ /मू /१६७६-१६७७ गोदरथा कदकजा महापलपरकमा महासत्ता । मंधंति य छिदति य करचरणगुह्यपदेसे ॥१६७६॥ यदि वा एसण कोरेज्ज विधी तो तत्थ देवदा कोई । आदाय तं कसेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज बाधेज्ज ॥१६७७॥ —महावृ पराक्रम और धैर्य युक्त मुनि क्षपकके हाथ और पाँव तथा अंगुठा इन्का कुछ भाग बान्धते हैं अथवा छेदते हैं ॥१६७६॥ यदि यह विधि न की जायेगी तो उस मृतशरीरमें क्रोडा करनेका स्वभाववाला कोई भूत अथवा पिशाच प्रवेश करेगा, जिसके उपकरण वह शरीर उठाना बैठाना भागना आदि भीषण क्रियायें करेगा ॥१६७७॥

७. परोपकारार्थं विद्या व शस्त्रादिका प्रदान

म पु /६/१८ कामधेन्वभिर्घा विद्यामोप्सितार्थप्रदायिनीम् । तस्यै विश्राणयाचक्रे समन्त्रं परशु च स ॥६८॥ —उन्होंने (मुनिराजने रेणुकाको), उसके सम्पत्तय व व्रत ग्रहणसे सन्तुष्ट होकर) मनवांछित पदार्थ देनेवाली कामधेनु नामकी विद्या और मन्त्र सहित एक फरसा भी उसके लिए प्रदान किया ॥६८॥

८ कदाचित् रात्रिको भी धोलेते हैं

प पु /४८/३८ स्मरेपुष्टचित्तोऽसौ साधुद्विष्य अजग्नशि । मुनिनायधियु-क्तेन मेवमिस्मयभापत ॥३८॥ —(दरिद्रोंकी मस्तीमें किसी सुन्दरी-को देखकर) काम भाणोंसे उसका (यसदत्तका) हृदय हरा गया । सो वह रात्रिके समय उसके उद्वेगसे जा रहा था, कि अवधिज्ञानसे युक्त मुनिराजने 'मा अर्थात् नहीं' इस प्रकार (शब्द) उच्चारण किया ।

४ उत्सर्ग व अपवाद मार्गका समन्वय

१ वास्तवसे उत्सर्ग ही मार्ग है, अपवाद नहीं

ए सा /त प्र /२२४ ततोऽवधार्यते उत्सर्ग एव वस्तुधर्मो न पुनरपवाद । इदमत्र तात्पर्यं वस्तुधर्मस्वापरमनैर्ग्रन्थमेवावलम्ब्यम् । —इससे

निश्चय होता है कि उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है अपवाद नहीं । तात्पर्य यह है कि वस्तु धर्म होनेसे परम निर्ग्रन्थत्व ही अवलम्बन योग्य है ।

२. कारणवशा ही अपवादका ग्रहण निदिष्ट है, सर्वत नहीं

भ आ /वि /४२१/६१२/१४ तस्माद्वस्त्र पात्र चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निदिष्टमिति ग्राह्यम् । —इसलिए अर्थ-धिकारकी अपेक्षासे बहुत से सूत्रोंमें जो वस्त्र और पात्रका ग्रहण कहा गया है, वह कारणही अपेक्षासे निदिष्ट है, ऐसा समझना चाहिए ।

म पु /७४/२१४ चतुर्थज्ञाननेत्रस्य निगमंमलशालिन । तस्याद्यमेव चार्त्रं द्वितीयं तु प्रमादिनाम् ॥२१४॥ —मन पर्यगज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले और स्वाभाविक बलसे सुशोभित उन भगवान्के पहिला सामायिक चारित्र ही था, क्योंकि दूसरा छेदापस्थापना चारित्र प्रमादी जीवोंके ही होता है । (गा क /जी प्र /४४०/७१४/४) ।

प्र सा /त प्र /२२२ अयं तु विशिष्टकालसेवशाद्व्यतिचदप्रतिपिद्ध इत्य-पवाद । यदा हि श्रमण सर्वोपधिप्रतिषेधमास्थाय परमुपेक्षासंयम प्रतिपत्तुकामोऽपि विशिष्टकालसेवशादवसन्नशक्तिर्न प्रतिपत्तु समते तदापकृष्य सयम प्रतिपद्यमानस्तद्विहरङ्गसाधनमात्रमुपधिमातृते । —विशिष्ट काल क्षेत्रके वश कोई उपधि अनिपिद्ध है । ऐसा अपवाद है । जब श्रमण सर्व उपधिके निषेधका आश्रय लेकर परमोपेक्षा संयमको प्राप्त करनेका इच्छुक होनेपर भी विशिष्ट काल, क्षेत्रके वश होन शक्तिवाला होनेसे उसे प्राप्त करनेमें असमर्थ होता है, तब उसमें अपकर्षण करके (अनुत्कृष्ट) संयम प्राप्त करता हुआ उसकी बाह्य साधनमात्र उपधिका आश्रय लेता है ।

३ अपवाद मार्गसे भी योग्य ही उपधि आदिके ग्रहणकी

आज्ञा है अयोग्यकी नहीं

प्र सा /मू /२२२ अप्पट्टिकुट्टं उवधिं अपरथाणज्ज असज्जमेहि । मुच्छादिजणणरहिं गेणहुव समो 'जदि वि अप्प' ॥२२३॥ —मले ही अल्प हा तथापि जो अनिन्दित हो, असयत जनोंसे अप्राधान्य हो और मूर्च्छादि उत्पन्न करनेवाली न हो ऐसी ही उपधिकी श्रमण ग्रहण करो ।

भ आ /वि /१६२/३७५/१६ उपधिर्नाम पिच्छान्तरं कमण्डलवन्तरं वा तदानीं समयमिन्द्रो न करणमिति समयसाधनं न भवति । अथवा ज्ञानोपकरणं अवशिष्टोपधिरुच्यते । —एक ही पिच्छिका और एक ही कमण्डल रखता है, क्योंकि उससे ही उसका संयम साधन होता है । दूसरा कमण्डल व दूसरी पिच्छिका उसको समय साधनमें कारण नहीं है । अवशिष्ट ज्ञानोपकरण (शास्त्र) भी उस (सल्लेखनाके) समय परिग्रह माना गया है ।

प्र सा /त प्र /२२२ की उत्थानिका "कस्यचिक्कदाचित्कथं चिरश्चिदुप-धिरप्रतिपिद्धोऽप्यस्तोरपवादमुपदिशति । —किसीके कहीं कभी किसी प्रकार कोई उपधि अनिपिद्ध भी है, ऐसा अपवाद कहते हैं ।

प्र सा /ता वृ /२२३ गृह्णातु श्रमणो यमप्यव सथापि पूर्वोक्तोचितलक्षण-मेव ग्राह्य न च तद्विपरीतमधिकं वेत्यभिप्राय । —श्रमण जो कुछ भी अव्यपन्न उपधि ग्रहण करता है वह पूर्वोक्त उचित लक्षणवाली ही ग्रहण करता है, उससे विपरीत या अधिक नहीं, ऐसा अभि-प्राय है ।

४. अपावदका अर्थ स्वच्छन्द वृत्ति नहीं है

मू आ /६३१ जो जडु जहा लद्धं गेणहि आहारमुपधियादीयं । समण-गुणमुक्कजो ससारपवड्ढो होदि ॥६३१॥ —जो साधु जिस शुद्ध-अशुद्ध देशमें जैसा कैसा शुद्ध-अशुद्ध मिला आहार व उपकरण ग्रहण करता है वह श्रमणगुणसे रहित योगी ससारको बढ़ानेवाला ही होता है ।

प प्र /मू /२/६१ जे जिणलिंगु धरेवि मुणि इट्ठ परिगह लेत्ति । छदि करेविणु ते जि जिय मा पुणु छिदि गिलत्ति ॥६१॥ —जो मुनि जिन-

लिंगको धारण कर फिर भी इच्छित परिग्रहका ग्रहण करते हैं हे जीव । वे ही वमन करके फिर उस वमनको पीछे निगलते हैं ।

प्र सा / ता वृ / २५० योऽसौ स्वशरीरपोषणार्थं शिष्यादिमाहेन वा सावध नेच्छति तस्येदं (अपवादमार्गं) व्याख्यात शोभते । यदि पुनरन्यत्र मावशमिच्छति नैवाध्यादिवस्वकीयामस्यायोग्ये धर्मकार्ये नेच्छति तदा तस्य सम्यक्त्वमेव नास्तीति ।

प्र सा / ता वृ / २५२ अत्रेदं तात्पर्यम् स्वभावनाविधातकरोगादिप्रस्तावे नैवाध्याय करोति शेषकाले स्वकीयानुष्ठान करोतीति ।

— जो स्व शरीरका पापण करनेके लिए अथवा शिष्य आदिके माहके कारण सावधकी इच्छा नहीं करता है उसको ही यह अपवाद मार्गका व्याख्यान शोभा देता है । यदि अन्यत्र तो सावधकी इच्छा करे और नैवाध्याय आदि स्वकीय अवस्थाके योग्य धर्मकार्यमें इच्छा न करे, तब तो उसके सम्यक्त्व ही नहीं है ॥२५०॥ यहाँ ऐसा तात्पर्य है कि स्वभाव विधातक रोगादि आ जानेपर तो नैवाध्याय करता है, परन्तु शेषकालमें स्वकीय अनुष्ठान (ध्यान आदि) ही करता है ॥२५२॥

५. अपवादका ग्रहण भी त्यागके अर्थ होता है

प्र सा / त प्र / २२२ अयं तु.. आहारनिहारादिग्रहणविसर्जनविषयच्छेद-प्रतिषेधार्थं सुपादयमानं नर्था शुद्धोपयोगाविनाभूतत्वाच्चेदप्रतिषेध एव स्यात् । —यह आहारनीहारादिका ग्रहण-विमर्जन सम्बन्धी बात छेदके निषेधार्थं ग्रहण करनेमें आयी है, क्योंकि सर्वत्र शुद्धोपयोग सहित है । इसलिए वह छेदके निषेधरूप ही है ।

६. अपवाद उत्सर्गका साधक होना चाहिए

स्या म/११/१३८/६ अन्यार्थमुत्पृष्टम् अन्यस्मै कार्याय प्रयुक्तम्—उत्सर्ग-वाक्यम् अन्यार्थप्रयुक्तेन वाक्येन नापोद्यते—नापवादगाचरोक्रियते । यमेवार्थमाश्रित्य शास्त्रेष्वुत्सर्गं प्रवर्तते, तमेवार्थमाश्रित्यपवादोऽपि प्रवर्तते, तयोन्मिन्नोत्तादिव्यवहारवत् परस्परसापेक्षत्वेनैकार्थं साधन-विषयत्वात् । सोऽपि च समयपरिपालनार्थमेव । —सामान्य (उत्सर्ग) और अपवाद दोनों वाक्य शास्त्रोंके एक ही अर्थको लेकर प्रयुक्त होते हैं । जैसे ऊँच-नीच आदिका व्यवहार सापेक्ष होनेसे एक ही अर्थका साधक है, वैसे ही सामान्य और अपवाद दोनों परस्पर सापेक्ष होनेसे एक ही प्रयोजनको सिद्ध करते हैं ।—(उदाहरणार्थं नव कोटि शुद्धकी वजाये परिस्थितिवश साधु जो पचकोटि भी शुद्ध आहारका ग्रहण कर लेता है । जैसे सामान्य विधि समयकी रक्षाके लिए है तैसे ही वह अपवाद भी समयकी रक्षाके लिए ही है ।

७. उत्सर्ग व अपवादमे परस्पर सापेक्षता ही श्रेय है

प्र सा / मृ / २३० मालो वा वृद्धो वा समभिद्वो वा पुणो गिलाणो वा । चरियं वरद सज्जोगं मूलच्छेदं जघा ण हवदि ॥२३०॥ माल, वृद्ध, भ्रान्त अथवा ग्लान भ्रमण, मूलका छेद जिस प्रकारसे न होय उस प्रकार अपने योग्य आचरण आचरो ।

प्र सा/त प्र / २३० मालवृद्धभ्रान्तग्लानेनापि संयमस्य शुद्धात्मतत्त्व-साधनत्वेन मूलभूतस्य छेदा न यथा स्यात्तथा सयतस्य स्वस्य योग्या-तिकर्कशमेवाचरणमाचरणीयमित्युत्सर्ग । शरीरस्य छेदो न यथा स्यात्तथा स्वस्य योग्य मूढेवाचरणमाचरणीयमित्यपवाद । संयम-स्य छेदो न यथा स्यात्तथा सयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमा-चरणमाचरता शरीरस्य छेदो यथा न स्यात्तथा स्वस्य योग्य मूढेवाचरणमाचरणीयमित्यपवादसापेक्ष उत्सर्ग । शरीरस्य छेदो न यथा स्यात्तथा स्वस्य योग्य मूढाचरणमाचरता संयमस्य छेदो न यथा स्यात्तथा सयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमप्याचरणमाचरणीय-मित्युत्सर्गसापेक्षोऽपवाद । अतः सर्वार्थासर्गापवादस्यैवा सौस्थित-स्यमाचरणस्य विधेयम् । —माल, वृद्ध, भ्रान्त अथवा ग्लान भ्रमणको भी संयमका, कि जो शुद्धात्म तत्त्वका साधन होनेसे मूलभूत है, उसका छेद जिस प्रकार न हो उस प्रकार संयतका ऐसा अपने योग्य अतिकर्कश आचरण ही आचरना उत्सर्ग है । —संयमके साधनभूत

शरीरका छेद जिस प्रकार न हो उस प्रकार अपने योग्य मूढ आचरण ही आचरना अपवाद है । संयमका छेद जिस प्रकार न हो उस प्रकार अपने योग्य अतिकर्कश आचरण आचरते हुए भी शरीरका छेद जिस प्रकार न हो उस प्रकार अपने योग्य मूढ आचरणका आचरना अपवादसापेक्ष उत्सर्ग है । शरीरका छेद जिस प्रकार न हो उस प्रकार अपने योग्य मूढ आचरणका आचरते हुए भी संयमका छेद जिस प्रकार न हो उस प्रकार अपने योग्य अतिकर्कश आचरणको भी आचरना उत्सर्गसापेक्ष अपवाद है । इससे सर्वार्था उत्सर्ग अपवाद-की मैत्रीके द्वारा आचरणकी स्थिर करना चाहिए ।

८. निरपेक्ष उत्सर्ग या अपवाद श्रेय नहीं

प्र सा / त प्र / २३१ अथ देशकालज्ञस्यापि मूढाचरणप्रवृत्तत्वादर्हो लेप भवत्येव तद्वरमुत्सर्ग । मूढाचरणं प्रवृत्तत्वादर्ह एव लेपो भवति तद्वरमपवाद । अणुलेपभयेनाप्रवर्तमानस्यातिकर्कशाचरणीभूया-क्रमेण शरीर पातमिवा द्युरनोक्तं प्राप्योद्धान्तस्तस्यमातृमातृस्य तपसोऽनवकाशतयाऽश्वयप्रतिकारा महात् लेपो भवति । तत्र श्रेयान-पवादनिरपेक्ष उत्सर्ग । देशकालज्ञस्यापि आहारविहारयोऽश्व-लेपव विगण्य यथेष्टं प्रवृत्तमानस्य मूढाचरणीभूय संयम विराध्या सयतजनसमानभूतस्य तदास्त्वे तपसोऽनवकाशतयाऽश्वयप्रतिकारी महात् लेपो भवति, तत्र श्रेयानुत्सर्गनिरपेक्षोऽपवाद । अतः परस्पर-सापेक्षोत्सर्गापवादविवृत्तिप्रवृत्ति स्याद्वा । —देशकालज्ञको भी मूढ आचरणमें प्रवृत्त होनेसे अणु लेप होता है इसलिए उत्सर्ग अच्छा है । और मूढ आचरणमें प्रवृत्त होनेसे अणु (मात्र) ही लेप होता है, इसलिए अपवाद अच्छा है । अणुलेपके भयसे उसमें प्रवृत्ति न करे तो अतिकर्कश आचरण रूप होकर अक्रमसे ही शरीरपात करके देवलोक प्राप्त करता है । तहाँ जिनमे संयम सयमातृका समूह वमन कर डाला है, उसे तपका अवकाश न रहनेसे, जिसका प्रतिकार अशक्य है, ऐसा महात् लेप होता है । इसलिए अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग श्रेयस्कर नहीं । देशकालज्ञको भी, आहार-विहार आदिसे होनेवाले अणुलेपको न गिनकर यदि वह उसमें यथेष्ट प्रवृत्ति करे तो, मूढ आचरणरूप होकर संयमविराधी असयतजनके समान हुए उसको उस समय तपका अवकाश न रहनेसे, जिसका प्रतिकार अशक्य है ऐसा महात् लेप होता है । इसलिए उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद श्रेयस्कर नहीं है । इसलिए परस्पर सापेक्ष उत्सर्ग और अपवादसे जिनको वृत्ति प्रगट होती है ऐसा स्याद्वा सदा अनुगम्य है ।

अपशब्द खंडन—आ० शुभचन्द्र (ई० १४१६-१४४६) द्वाग रचित न्याय विषयक एक ग्रन्थ ।

अपसरण—दे अपकर्षण/१ ।

अपसिद्धान्त—न्या सू / मृ / २/२३ सिद्धान्तमभ्युपेयानियमात् कयाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्त । (रतो वा ४/न्या २६८/४२२/१५) —किसी अर्थके सिद्धान्तको मानकर नियम विरुद्ध 'क्याप्रसंग' करना 'अप-सिद्धान्त' नामक निग्रहस्थान हाता है । अर्थात् स्वीकृत आगमके विरुद्ध अर्थका साधन करने लग जाना अपसिद्धान्त है ।

प ध / मृ / १६८ जैसे शरीरको जीव मताना अपसिद्धान्त रूप विरुद्ध वचन है ।

अपहृत-संयम—दे संयम/१ ।

अपाच्य—परिचम दिशा ।

अपात्र—१ दान योग्य अपात्र—दे पात्र । २ ज्ञान योग्य अपात्र—दे श्रोता ।

अपादान कारक—प्र.सा / त.प्र / १६ शुद्धान्तशक्तिज्ञानविपरिणम

नस्वभावसमये पूर्वप्रवृत्तिफलज्ञानस्वभावापगमेऽपि सहजज्ञानस्वभावेन धृत्वात्मन्यनादपादानलमुपादानं । — शुभानन्तं क्षातिमयं ज्ञानरूपं परिणमितं होनेके समय पूर्वमें प्रवर्तमान विज्ञानज्ञानस्वभाव का नाश होनेपर भी सहज ज्ञानस्वभावसे स्वयं ही धृत्वात्मा अत्यल्पमन करनेसे (आत्मा) अपादानताको धारण करता है ।

अपादान कारण—दे उपादान ।

अपादान शक्ति—स सा /आ /परि /शक्ति नं ४४ उपादादगमा-
लिङ्गितभावापायनिरप्रायध्रुवरवमयो अपादानशक्ति । —उत्पाद व्यय
से आलिङ्गित भावका अपाय (हानि या नाश) होनेसे हानि को प्राप्त
न होनेवाली ध्रुवरवमयो अपादान शक्ति है ।

अपान—स सि ५/१६/२८८ आरमना बाह्यो वायुरभ्यन्तरोक्तियमाणा
नि स्वासलक्षणोऽपान इत्यारयायते । —आत्मा जिम बाहरी वायुको
भीतर करता है नि स्वास लक्षण उस वायुको अपान कहते हैं ।
(रा वा ४/१६/३६/४०२) (गो जी /जो प्र /६०६/१०६२/१२ ।

अपाप—भावी तेरहवें तीथकर/अपर नाम 'पिपाप' व पुण्यश्रुति
व 'निष्कपाय' । विशेष दे तीर्थकर/५ ।

अपाय—स सि १०/६/३४० अभ्युदयनि श्रेयसाधनां क्रियाणां विना-
शक प्रयोगोऽपाय । —स्वर्ग और मोक्षकी क्रियाओंका विनाश करने-
वाली प्रवृत्ति अपाय है ।

रा वा ७/६/१/५३७ अभ्युदयनि श्रेयसाधनां क्रियामाधनानां नाशको-
ऽन्तर्ध अपाय इत्युच्यते । अथवा गेलौकिकादिसप्तार्ध भगवत्पाय
इति वक्ष्यते । —अभ्युदय और नि श्रेयसमें साधनांका अन्तर्ध अपाय
है । अथवा ब्रह्मलोकमय परनाशकमय आदि सात प्रकारमें भग अपाय हैं ।

अपाय विचय—धर्मध्यानका एक भेद य लक्षण । दे धर्मध्यान/१ ।

अपार्थक्य—न्या सू ४/२/१० पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम-धार्मिकमार्गम् ।

—जहाँ अनेक पद या वाक्यांका पूर्व-पर क्रमसे अवश्य न हो अतएव
एक दूसरेसे मेन न खाता हुआ असम्बन्धावस्थल जाना जाता है, वह
समुदाय अर्थके अपाय (हानि) से 'अपार्थक्य' नामक निष्प्रस्थान
कहलाता है । उदाहरण जैसे दश अनार, ८ पूमे, कृष्ण, चर्म, अजा,
कहना आदि । वाक्यका दृष्टान्त जैसे यह बुझाओका गेरुक (मृगार्म)
शब्दा है उसका पिता सोया नहीं है । ऐसा कहना अपार्थक्य है ।
(रत्नो वा ४/न्या २०६/३००/१६) ।

अपूर्वकरण—जीवके परिणामोंमें प्रमपूर्वक विशुद्धिकी वृद्धिओंके
स्थानोंको गुणस्थान कहते हैं । मोक्षमार्गमें १४ गुणस्थानोंका निर्देश
किया गया है । तहाँ अपूर्वकरण नामका आठवाँ गुणस्थान है ।

* इस गुणस्थानके स्वामित्व सम्बन्धी गुणस्थान, जीव
ममास, मार्गणा स्थानादि २० प्ररूपणाएँ ।

—दे सत् ।

* इस गुणस्थानकी सत् (अस्तित्व), मर्यादा, क्षेत्र,
स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व रूप आठ
प्ररूपणाएँ । —दे वह वह नाम ।

* इस गुणस्थानमें कर्म प्रकृतियोंका बन्ध, उदय व
सत्त्व । —दे वह वह नाम ।

* इस गुणस्थानमें कपाय, योग व सज्ञाओंका सञ्ज्ञाव
तथा तत्सम्बन्धी शकाएँ । —दे वह वह नाम ।

* इस गुणस्थानकी पुन पुन प्राप्ति की सीमा ।

—दे समय २ ।

* इस गुणस्थानमें मृत्युका विधि-निषेध । —दे मरण ३ ।

* सभी गुणस्थानोंमें आयुके अनुसार व्यय होनेका
नियम । —दे मार्गणा ।

१ अपूर्वकरण गुणस्थानका लक्षण

प म /मा १/१०-१६ भिन्नममयटिठएहि दु जीवेहि न होइ सत्यहा
सरिता । करणेहि ममयटिठएहि मग्गो विमग्गि वा ११८
एयम्भि गुणट्ठाणो विमग्गिमग्गिट्ठएहि जीवहि । पृथग्मपत्ता जम्हा
होसि अपुठ्ठा दु परिणामा ११८ । ताग्गिमग्गिनामटिठएजीवा दु
जिणेहि गनियतिमिरेहि । माहस्मदुष्टकरणात्त्वज्जुगममुज्जया
भणिया ११६ —इह गुणस्थानमें, भिन्न समयवर्ती जीवोंमें करण
अर्थात् परिणामांकी अपेक्षा सभी भी माहश्य नहीं पाया जाता ।
किन्तु एक समयवर्ती जीवोंमें माहश्य और मैमाहश्य दोनों ही पाये
जाते हैं ११६ । इस गुणस्थानमें यत् विभिन्न समयस्थित जीवोंके पूर्व-
में अप्राप्त अपूर्व परिणाम हात हैं, अत उत्तर्ध अपूर्वकरण कहते हैं ११८ ।
इस प्रकारके अपूर्वकरण परिणामोंमें स्थित जीव माहर्म्मक क्षण या
उपक्षानम करनेमें उद्यत होते हैं, ऐसा अज्ञान तिमिर भीष्मभा
जिजाने कहा है १०८ १८३ (ध १/११ १०-११६ ११८/१२३) । (गो जी /
सू ४/१६ ४०२/४००) (प म /म १/२५-७) ।

ध १/११ ११/२००/१ करणा परिणामा, न पूर्व अपूर्वा । नाताजीवा-
पेयमा प्रतिममममादित समप्रवृत्ताग्रयेयतोष परिणामस्यार्य गुण-
स्वान्तर्गतस्थितसममयतिवाणिना । वासिस्त्रिच्योत्तममयतिवाणिभि-
प्राप्या अपूर्वा अतनपरिणामैरममाना । इति गाराव । अपूर्वाश्च ते
करणाप्रापूर्वकरणा । —करणा शब्दका अर्थ परिणाम है, और जो
पूर्व अर्थात् पहिले नहीं हुए उन्हीं अपूर्व रहते हैं । इसका तात्पर्य यह
है कि नाना जीवोंका अपना आदिमें नैव प्रत्येक समयमें प्रमसे
बढ़ते हुए अगत्यातनोके प्रमाण परिणाममाने इस गुणस्थानके
अन्तर्गत विरक्षित समयवर्ती जीवोंका मोहक अन्य समयवर्ती
जीवोंके द्वारा अप्राप्य परिणाम ज्ञान कहलाते हैं । अर्थात् विरक्षित
समयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम
असमान अर्थात् भिन्नस्थान हाते हैं । इन तरह प्रत्येक समयमें होनेवाले
अपूर्व परिणामोंको अपूर्वकरण कहते हैं ।

अभिधान राजेन्द्रकाश/अपुर्वकरण 'अपूर्वमपूर्वा क्रियां गच्छतीत्यपूर्व-
करणम् । स च प्रथमसमय एव स्थितिवातमघातगुणैर्निगुणसंक्रमा
अन्यत्र स्थितिबन्ध इत्येत पञ्चाप्यधिकांश योग्यत्वं न पूर्वमप्रवृत्ता
प्रवर्तन्ते इत्यपूर्वकरणम् । —अपूर्व-अपूर्व क्रियाका प्राप्त करता होनेसे
अपूर्वकरण है । तहाँ प्रथम समयसे ही-स्थितिकाष्टकवाच, अनुभागा-
काष्टकवाच गुणश्रेणीनिर्जरा गुणसमूहण और स्थितिबन्धापसरण
ये पाँच अधिकार युगपत् प्रवर्तते हैं । क्योंकि ये इससे पहिले नहीं
प्रवर्तते इसलिए इसे अपूर्वकरण कहते हैं ।

ब्र स /टी १/३३ स एवातीतगंजसन्नकागमदोदये मत्यपूर्वपरमा-
मादकसुखानुभूतिसंज्ञापूर्वकरणोपशमकक्षकमहोऽष्टमगुणस्थानवर्धो
भवति—वह । (सप्तगुणस्थानवर्ती साधु) अतीत उदयन कपायका
मन्द उदय होनेपर अपूर्व, प्रम आदाद सुखके अनुभवरूप अपूर्व-
करणमें उपशमक या अपक नामक अष्टम गुणस्थानवर्ती होता है ।

* अपूर्वकरणके चार आवश्यक, परिणाम तथा अनि-
वृत्तिकरणके साथ इसका भेद । —दे करण ५ ।

* अपूर्वकरण लब्धि । दे करण ५ ।

२. इस गुणस्थानमें क्षाधिक व औपशमिक दो ही भाव
सम्भव हैं

ध १/११ १६/१८२/४ पञ्चसु गुणेषु कोऽवतगुणश्चैरक्षपक्षस्य क्षायिक
उपशमकस्त्यौपशमिक । सम्बन्धत्वापेक्षया तु ५ पक्षस्य क्षायिको भाव

दर्शनमोहनीयक्षयमविधाय क्षयकश्रेण्यारोहणानुपत्ते । उपशमकस्थो-
पशमिक क्षयिको वा भाव दर्शनमाहोपशमस्यार्थं विनापशम-
श्रेण्यारोहणानुपत्तमभात् । = प्रश्न—पौच प्रकारके भावोंमें-से इस गुण-
स्थानमें कौन सा भाव पाया जाता है । उत्तर—(चारित्र्यी अपेक्षा)
क्षयकके क्षायिक और उपशमके औपशमिक भाव पाया जाता है ।
सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा तो क्षयकके क्षायिक भाव होता है, क्योंकि,
जिसने दर्शनमोहनीयका क्षय नहीं किया है, वह क्षयक श्रेणीपर नहीं
चढ़ सकता है । और उपशमके औपशमिक या क्षयिकभाव हाता है,
क्योंकि, जिसने दर्शनमोहनीयका उपशम अथवा क्षय नहीं किया है,
वह उपशमश्रेणीपर नहीं चढ़ सकता है ।

३ इस गुणस्थानमें एक भी कर्मका उपशम या क्षय
नहीं होता

रा बा १/११/१६/६०/११ तत्र कर्मप्रकृतीनां नोपशमो नापि क्षय ।
—तहाँ अपूर्वकरण गुणस्थानमें, कर्म प्रकृतियोंका न उपशम है और
न क्षय ।

घ १/११/२७/२११/३ अपुव्वकरणे ण एकं पि कम्ममुत्तममदि । किं
अपुव्वकरणे पडिसमयमणत्तगुण-विसोहोए वडुत्तो अतोमुहुत्तेण
एक्केवकट्टिद्विद्वयं धादेत्तो सखेज्जसहस्साणि ट्टिद्विद्वय्याणि धादेदि,
तत्तिमसैत्ताणि ट्टिद्विद्वयोसरणाणि वरेदि । = अपूर्वकरण गुणस्थानमें
एक भी कर्मका उपशम नहीं होता है । किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थान-
वाला जीव प्रत्येक समयमें अनन्तगुणो विशुद्धिसे यत्नता हुआ एक एक
अन्तर्मुहूर्तमें एक एक स्थितिलिखणोंका घात करता हुआ संख्यात
हजार स्थितिलिखणोंका घात करता है । उतने ही स्थिति बन्धा-
पसरणोंका करता है ।

घ १/११/२७/२१६/६ सो ण एवकं वि कम्म भाववेदि, किं तु समयं पडि
असंखेज्जगुणसरूवेण पदेस णिज्जरं वरेदि । अतोमुहुत्तेण एक्केवक
ट्टिद्विद्विद्वयं धादेत्तो अप्पणो कालम्भतरे सखेज्जसहस्साणि ट्टिद्विद्वि-
द्वय्याणि धादेदि । तत्तिमाणि चैव ट्टिद्विद्वयोसरणाणि वि वरेदि ।
तेहिंतो सखेज्जसहस्सगुणे अनुभागाकडयवादे करदि । = वह एक भी
कर्मका क्षय नहीं करता है किन्तु प्रत्येक समयमें असंख्यातगुणित
रूपसे कर्मप्रदेशोंकी निर्हरा करता है । एक एक अन्तर्मुहूर्तमें एक
स्थिति काण्डकका घात करता हुआ अपने कालके भीतर संख्यात
हजार स्थिति काण्डकोंका घात करता है । और उतने ही स्थिति
बन्धापसरण करता है । तथा उनसे संख्यात हजारगुण अनुभागाकाण्डकों-
का घात करता है ।

४. उपशम व क्षय किये विना भी इसमें वे भाव कैसे
सम्भव हैं

रा बा १/११/१६/६०/१२ पूर्वत्रोत्तरत्र च उपशम क्षय बापेक्ष्य उपशमक
क्षयक इति च घृतघटवदुपचर्यते । = जागे होनेवाले उपशम या क्षयकी
दृष्टिसे इस गुणस्थानमें भी उपशमक और क्षयक व्यवहार धीके घड़ेकी
तरह हो जाता है ।

घ १/११/१६/१८१/४ अपपकानुपशमकानां कथं तद्व्यपदेशश्चेन्न, माविनि
भूतवदुपचारतस्तत्सिद्धे । सत्येवमातिप्रसङ्गं स्यादिति चेन्न, असति
प्रतिबन्धरि मरणे नियमेन चारित्रमोह्यपणोपशमकारिणां तदुन्मुखा-
नामुपचारमाहानुपत्तमभात् । = प्रश्न—आठवें गुणस्थानमें न तो कर्मों-
का क्षय हो होता है, और न उपशम हो फिर इस गुणस्थानवर्ती
जीवोंको क्षय और उपशमक कैसे कहा जा सकता है । उत्तर—नहीं,
क्योंकि भावी अर्थमें भूतकाल'न अर्थके समान उपचार कर लेनेसे
आठवें गुणस्थानमें क्षय और उपशमक व्यवहारकी सिद्धि हो जाती
है । प्रश्न—इस प्रकार माननेपर तो अतिप्रसंग दोष प्राप्त हो जायेगा ।
उत्तर—नहीं, क्योंकि प्रतिबन्धक मरणके अभावमें नियमसे चारित्र-
मोहका उपशम करनेवाले तथा चरित्रमाहका क्षय करने वाले, अतएव

उपशमन व क्षयणके सम्मुख हुए और उपचारसे क्षयक या उपशमक
संज्ञाको प्राप्त होनेवाले जीवोंके आठवें गुणस्थानमें भी क्षयक या
उपशमक संज्ञा मन जाती है (घ १/११/६/२०४/४)

घ १/११/७/२०६/२ उवमममणसत्तिममणिदअपुव्वकरणस्य तदरिथत्ता-
विरोहा । = उपशमन शक्तिसे समन्वित अपूर्वकरणसयतके औपश-
मिक भावके अस्तिरथको माननेमें कोई विरोध नहीं है ।

घ १/११/७/२०६/१ अपुव्वकरणस्म अविणट्ठकम्मसं वध खइया भावो ।
ण तस्स वि कम्मवय्याणिमित्तपरिणामुवलभादो । उवयारेण वा अपु-
व्वकरणस्स खइओ भावो । उवयारे आसयिज्जमाणे अक्षप्पसां विण्ण
होदीदि चेण, पच्चासत्तीदो अक्षप्पसगपट्ठिसेहादो । = प्रश्न किसी
भी कर्मके नष्ट नहीं करनेवाले अपूर्वकरणसयतके क्षायिकभाव कैसे
माना जा सकता है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, उसके भी कर्म क्षयके
निमित्तभूत परिणाम पाये जाते हैं । अथवा उपचारसे अपूर्वकरण-
सयतके क्षायिकभाव मानना चाहिए । प्रश्न—इस प्रकार सर्वत्र उप-
चारका आश्रय करनेपर अतिप्रसंग दाप कर्था न आयेगा । उत्तर—
नहीं, क्योंकि प्रत्यासत्ति अर्थात् समीपवर्ती अर्थक प्रसंगसे अतिप्रसंग
दोषका प्रतिषेध हो जाता है ।

घ ७/२११४६/६३/४ खवगुवसांमणअपुव्वकरणपडमसमयप्पहुडि थाव-
थोवसखवगुवसांमणकज्जणिप्पत्तिउत्तुणादो । पडिसमय कज्जणिप्प-
त्तोए विणा चरिमसमए चैव णिप्पज्जमाणकज्जणुवलभादो च ।
= क्षयक व उपशमक अपूर्वकरणके प्रथम समयसे लगाकर थोड़े थोड़े
क्षयण व उपशमन रूप कार्यकी निष्पत्ति देखी जाती है । यदि प्रत्येक
समय कार्यकी निष्पत्ति न हा तो अन्तिम समयमें भी कार्य पूरा
हाता नहीं पाया जा सकता ।

दे सम्यग्दर्शन/IV/२/१० दर्शनमोहका उपशम करने वाला जीव उपद्रव
आने पर भी उसका उपशम किये विना नहीं रहता ।

अपूर्व कृष्टि—दे कृष्टि ।

अपूर्वस्पर्धक—दे स्पर्धक ।

अपूर्वार्थ—(पृ १/४-५)—अनिश्चितोऽपूर्वार्थः १४। दृष्टोऽपि समा-
रोपात्ताह १४। = जो पदार्थ पूर्वमें किसी भी प्रमाण द्वारा निश्चित
न हुआ हो उसे अपूर्वार्थ कहते हैं १४। तथा यदि किसी प्रमाणसे
निर्णीत होनेके पश्चात् पुन उसमें संशय, विपर्यय अथवा अनध्यव-
साय हो जाये तो उसे भी अपूर्वार्थ समझना १४।

अपेक्षा—दे स्याद्वाद/२ ।

अपोह—प ख १/३/४, ३८/सू३८/२४२ ईहा ऊहा अपोहा मग्गणागवे-
सणा मोमांसा ३८। = ईहा, ऊहा, अपोहा मार्गणा, गवेपणा, और
मोमांसा ये ईहाके पर्याय नाम हैं ।

घ १/३/४, ३८/२४२/६ अपोहात्ते संशयनिबन्धनविवक्ष्य अनया इति
अपोहा । = जिसके द्वारा संशयके कारणभूत विक्षेपका निराकरण
किया जाता है वह अपोहा है ।

अपोहरूपता—एक पदार्थके अभावसे दूसरे पदार्थके सद्भावको
दर्शना—जैसे घटका अभाव ही पट है, या द्रव्यका अभाव ही गुण है
इत्यादि । (पृ सा / त पृ १/८८)

अपोही—न वि घृ २/२४/६० अपोहिनाम् विजातोयविशेषवतां
खण्डादीनाम् । = विजातोयविशेषवानक खण्डादि ।

अपोरूपेय—आगमका पौरुषेय व अौरुषेयपना । = दे आगम/६

अप्रणीतवाक्—दे वचन ।

अप्रतिकर्म—पृ सा / ता घृ २/०५ परमोपेक्षासयमभलेन देहप्रतिकार-
रहितत्वादप्रतिकर्म भवति । = परमोपेक्षा सयमके यत्नसे देह प्रतिकार
रहित होनेसे अप्रतिकर्म हाता है ।

अप्रतिक्रमण—दे प्रतिक्रमण ।

अप्रतिघातश्रद्धि—दे श्रद्धि/३ ।

अप्रतिघाती—सूक्ष्म पदार्थोंका अप्रतिघातीपना । —दे सूक्ष्म/१ ।

अप्रतिचक्रेश्वरी—पद्मश्रुती शालक गङ्गिणी । —दे सौधंकर ४/३।

अप्रतिपक्षी प्रकृतियाँ—दे प्रकृति बन्ध/२ ।

अप्रतिपत्ति—रत्नो/वा ४/न्या ४४६/४४१/२० अनुपलम्भोऽप्रतिपत्ति । —अनुपलम्भिको अप्रतिपत्ति कहते हैं । जिसकी अप्रतिपत्ति है उसका अभाव मान लिया जाता है ।

अप्रतिपाती—१ अप्रतिपाती अधिज्ञान—दे अधिज्ञान/६ ।

२ अप्रतिपाती मन पर्यग ज्ञान—दे मन पर्यगज्ञान/२ ।

अप्रतिबुद्ध—स मा/सू/१६ कम्मे णोक्कम्हि य अट्ठमिदि अहण च कम्म णोक्कम्म । जा एसा खलु बुद्धो अपट्ठियुद्धो हवदि ताव ११६॥ —जब तक इस आत्माकी ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म भावकर्म और शरीरादि नामकर्ममें 'यह मे है' और 'शुद्धमें यह कर्म नो कर्म है' ऐसी बुद्धि है, तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध है ।

अप्रतिभा—न्या/सू/४/२/१८ उत्तरस्थाप्रतिपत्तिप्रतिभा ११८॥

—परपक्का खण्डन करना उत्तर है । सो यदि किसी कारणसे यादों समयपर उत्तर नहीं देता तो यह उसका अप्रतिभा नामक निग्रह-स्थान है । (रत्नो वा ४/न्या २४४/४१४/१४)

अप्रतियोगी—जिस धर्ममें जिस किसी धर्मका अभाव नहीं होता है, वह धर्म उस अभावका अप्रतियोगी है । जैसे घटमें घटरव ।

अप्रतिष्ठान—सप्तम नरकका इन्द्रक भिन—दे नरक/४ ।

अप्रतिष्ठित—अप्रतिष्ठित प्रत्येक धनस्पति—द धनस्पति ।

अप्रत्यवेक्षित—निक्षेपाधिकरण—दे अधिकरण ।

अप्रत्यवेक्षितोत्सर्ग—दे उत्सर्ग ।

अप्रत्याख्यान—

१ संयमासयमके अर्थमें—

घ ६/१,६-१,२३/४३/३ प्रत्यारयान संयम, न प्रत्यारयानमप्रत्यारयानमिति देशसंयम—प्रत्याख्यान संयमको कहते हैं । जो प्रत्याख्यान रूप नहीं है वह अप्रत्यारयान है । इस प्रकार 'अप्रत्याख्यान' यह शब्द देशसंयमका वाचक है । (घ ६/१,६-१,२३/४३/३)

घ १३/४,६-६/३६०/१० ईषत्प्रत्यारयानमप्रत्यारयानमिति व्युत्पत्तेः अनुवृत्तानामप्रत्यारयानसंज्ञा । —ईषत् प्रत्यारयान अप्रत्यारयान है इस व्युत्पत्तिके अनुसार अनुवृत्तोंकी अप्रत्याख्यान संज्ञा है । (गो जी/जी प्र/२८३/६०८/१४)

२ विषयाकाक्षाके अर्थमें

स मा/ता वृ/२८३ रागादि विषयाकाङ्क्षारूपप्रत्यारयानमपि तथैव द्विविधं विज्ञेयं द्रव्यभावरूपेण । —रागादि विषयोंकी आकांक्षारूप अप्रत्यारयान भी दो प्रकारका जानना चाहिए—द्रव्य अप्रत्याख्यान व भाव अप्रत्याख्यान ।

अप्रत्याख्यान क्रिया—दे क्रिया/३/२ ।

अप्रत्याख्यानारवण—

१ अप्रत्याख्यानारवण कर्मका लक्षण

स सि/८/६/३८६/७ यदुदयादेशविरति संयमासयमारवणमपि कर्तुं न शक्नोति ते देशप्रत्यारयानमारवणवन्तोऽप्रत्याख्यानारवणा क्रोधमानमायालोभा । —जिनके उदयसे संयमासंयम नामवाले देश-विरतिको यह जीव स्वल्प भी करनेमें समर्थ नहीं होता है वे देश

प्रत्यारयानारवण माध, माग, माया और माभ हैं । (रा वा/८/६/४/४७४/१) (घ ६/१-६,१ २३/४,३/३) (घ १३/४ ६/३६०/१०) (गो जी/जी प्र/४४/४६/१६) (गो जी/जी/जी वा/३/२८/४) गो जी/जी प्र/२८३/६०८/१४)

* अप्रत्याख्यानारवण प्रवृत्तिती वय उदय मत्त प्रवृत्त पणो व तत्तम्यन्धी नियम य शका ममाधान

दे मह पर नाम ।

* अप्रत्याख्यानारवणका सर्वघातीपना—दे अत्रभाग ४ ।

* अप्रत्याख्यानारवणमें दशों करगोको नभावना

—दे वरण २ ।

२ अप्रत्यारयानारवण कपाय देशयतकी घातती हैं

प रा/१/११४ पद्मो दमनपार्श्व बिदिओ तट पाह देसविरह चित । —प्रथम अनन्तागुप्त की तो मन्मादशोका घात करती है और द्वितीय अप्रत्यारयानारवण कपाय देशविरहिकी घातक है । (गो जी/सू/२४/४६) (गो जी/सू/१०८३/६०८) (१ मा/ग/१/२०४)

३ अप्रत्यारयानारवण कपायका घामना काल

गो जी/सू/ग टो/४६/४७ अन्तर्गूर्त पम पणमाया संस्थानान्ययान-नन्तभावा । स ज्वननाधानां यामनावान हू नियमन । अप्रत्यारयानारवणानी पणमाया । —स ज्वननादि कपायोंका घातनावान नियमसे अन्तर्गूर्त, एक पम र मास तथा मत्तयात अग्न्यात व अनन्त प्रय है । अप्रत्यारयानारवणका दू मास है ।

* कपायोंकी तीव्रता मन्दतामें अप्रत्याख्यानारवण नहीं वल्कि लेख्या कारण है । —दे कपाय/२ ।

अप्रदेशासख्यात—अमत्तगात ।

अप्रदेशी—स मि/४/१/२६६ यथाणा प्रथमाप्रवाह द्वितीयादयोऽस्य प्रदेशा न मन्तोऽप्यप्रदेशोऽपु सथायान्परमाणु ध्येयप्रदेशवादप्रदेश इति । —जिस प्रकार अणु एक प्रदेशरूप होनेके कारण उसके द्वितीयादि प्रदेश नहीं होते, इसलिये अणुको अप्रदेशी कहते हैं उसी प्रकार काल परमाणु भी एक प्रदेशरूप होनेके कारण अप्रदेशी है ।

अप्रमत्तसयत्—दे सयत् ।

अप्रमाजितोत्सर्ग—दे उत्सर्ग ।

अप्रशस्त—स मि/४/१४/३६२/० प्राणिशायर यत्तदप्रशस्तम् । —जिससे प्राणिगोको पीड़ा होती है उसे (ऐसे कार्यको) अप्रशस्त कहते हैं ।

स सि/६/२८/४४४ अप्रशस्तमपुण्यान्वकारणत्वात् । —जो पापात्तवका कारण है, वह (प्यान) अप्रशस्त है ।

अप्रशस्तोपशम—दे उपशम/१ ।

अप्राप्तकाल—न्या सू/पू/४/२/११ अवयवविपर्यायचयनमप्राप्त-कालम् १११—प्रतिष्ठा आदि अवयवोंका जैसा लक्षण कहा गया है उससे विपरीत आगे पीछे कहना । अर्थात् जिस अवयवके पहिले या पीछे जिस अवयवके कहनेका समय है, उस प्रकारसे न कहनेको अप्राप्त काल नामक निग्रहस्थान कहते हैं । क्योंकि क्रमसे विपरीत अवयवोंके कहनेसे साध्यकी सिद्धि नहीं होती । (रत्नो वा/पु ४/न्या २११/३६१/१)

अप्राप्तिसमा—दे प्राप्तिसमा ।

अप्राप्यकारी—अप्राप्यकारी इन्द्रिय—दे इन्द्रिय/२ ।

अप्रियवाक्—दे वचन ।

अवध—१ अमन्धका लक्षण—दे बध/१ । २ अमन्ध प्रकृतियाँ—दे प्रकृतियध/२ ।

अवद्ध—प घ/उ/६६ मोहकमवृत्तो यद्ध स्यादभस्तदरथययात् ।

—मोहकर्मसे युक्त ज्ञानको यद्ध तथा मोहकर्मके अभावसे ज्ञानको अवद्ध कहते हैं ।

अवुद्धि—दे युद्धि ।

अव्वहुल—ति प/२/१६ अक्वहुलो वि भाग मलिनस्वरूपस्मवो होदि ॥१६॥ —अक्वहुल भाग (अधोलाकमें प्रथम पृथिवी) जलस्वरूपके आश्रयसे है ।

* लोकमें इसका अवस्थान—दे रत्नप्रभा ।

अवभोभव—१ आहारका एक दोष—दे आहार/II/४ । २ वसति का एक दोष—दे वसति ।

अवह्व—तसू/७/१६ मैथुनमवह्व । —मैथुन करना अवह्व है । (त सा/४/७७) ।

अवह्वनिषेध आदि—दे ब्रह्मचर्य/३/४ ।

अभक्ष्य—दे भक्ष्याभक्ष्य ।

अभयकर—एक ग्रह—दे ग्रह ।

अभय—१ भगवात् वीरके तीर्थमें हुए अनुत्तरोपपादकोंमें—से एक—दे अनुत्तरोपपादक । २ श्रुतावतारके अनुसार आप एक आचार्य थे जिनका अपर नाम यशोभद्र व भद्र था—दे 'यशोभद्र' ।

अभयकुमार—(म पु/७४/श्लो स) पूर्व भव स ३ में ब्राह्मणका पुत्र तथा महामिथ्यास्वी था । एक श्रावकके उपदेशसे मूढताओंका त्याग करके फिर पूर्वके दूसरे भवमें सौधर्म स्वर्गमें देखे हुआ । वर्तमान भवमें राजा श्रेणिककी ब्राह्मणी रानीसे पुत्र उत्पन्न हुआ ॥४२६॥

अभयचन्द्र—१ (सि वि/प्र/४२ प महेन्द्रकुमार) आप ई श १३ के आचार्य हैं । आपने 'लघीयलघ्व' पर स्याद्वाद्भूषण नामकी तारपर्य-वृत्ति लिखी है । २ मालचन्द्र तथा श्रुतमुनि (ई १३११) के गुरु, गोमटसारकी मन्दप्रबोधिनी टीकाके रचयिता । समय ई श १४ का पूर्वार्ध । ए एन उपाध्येके अनुसार ई १२७६ में मृत्यु । प कैलाशचन्द्रको मान्य नहीं । ४६६/ (जै/१/४७०), (ती/३/३१६)

अभयदत्ति—दे दान ।

अभयदान—दे दान ।

अभयदेव—१ बाद महार्णव तथा सम्मत्तिर्तक टीकाके रचयिता श्वेतान्तराचार्य । समय—ई श १० (सि वि/प्र/४०/प महेन्द्र) । २ नवांगवृत्तिके रचयिता श्वेतान्तराचार्य । समय—ई १०३१ १०७८ । (जै/१/३६६)

अभयनदि—नन्दिसंघ देशीयगण (दे इति/७/४) के अनुसार आप इन्द्रनन्दि और नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (ई श १०-११) के समवयस्क दोहागुरु और वीर नन्दिके शिष्यागुरु थे । आपकी क्योंकि सिद्धान्तचक्रवर्तीकी उपाधि प्राप्त थी इसलिए इन तीनों शिष्योंको भी वह सहज मिल गई । इन तीनोंमें आचार्य वीरनन्दि पहिले आ मेघचन्द्रक शिष्य थे पीछे विशेष ज्ञान प्राप्तिके अर्थ आपकी शरणमें चले गये थे । कृतियों—१ बिना सट्टिकी गोमटसार टीका, २ कर्म-प्रकृति रहस्य, ३ सत्त्वार्थ सूत्रकी तारपर्य वृत्ति टीका, ४ श्रेयोविधा, ५ पूजाकव्य, ६ प कैलाशचन्द्रजी के अनुसार सम्भवत जेनेन्द्र व्याकरणकी महावृत्ति टीका भी । समय—व्याकरण महावृत्तिके अनुसार वि श ११ का प्रथम चरण आता है । देशीयगणकी गुर्वावलीमें वह ई ६३०-६५० दर्शाया गया है । (जै/१/२८७), (ती/२/४१६), (इतिहास ७/६) । जैन साहित्य इतिहास/२७०/ नाथूरामजी प्रेमी) ।

अभयसेन—पुत्राद मघकी गुर्वावलीके अनुसार आप आ सिद्धसेनके शिष्य तथा आ भोमसेनके गुरु थे । दे इतिहास ७/८ ।

अभव्य—दे भव्य ।

अभाव—यह वैशेषिका द्वारा मान्य एक पदार्थ है । जैन न्याय शास्त्र में भी इसे स्वीकार किया है, परन्तु वैशेषिकोंवत् सर्वथा निषेधकारी रूपसे नहीं, बल्कि एक कथ चित् रूपसे ।

१ भेद व लक्षण

१. **अभाव सामान्यका लक्षण**

न्या सू/भा/२ ३/१०/११०यत्र भूत्वा किंचित् भवति तत्र तस्याभाव उपपद्यते । —जहाँ पहिले होकर फिर पीछे न हो वहाँ उसका अभाव कहा जाता है । जैसे किसी स्थानमें पहिले घट रखा था और फिर वहाँसे वह हटा लिया गया तो वहाँके घड़ेका अभाव हो गया ।

श्लो वा ४/न्या ४५६/४५१/२० सद्भावे दोषप्रसक्ते सिद्धिविरहाज्ञास्ति-त्वापादनमभाव । —सद्भावमें दापका प्रसंग आ जानेपर, सिद्धि न होनेके कारण जिसकी नास्ति या अप्रतिपत्ति है उसका अभावमान लिया जाता है ।

प्र सा/ता वृ/१०० भावान्तरस्वभावरूपी भवस्यभाव इति वचनात् । —भावान्तर स्वभाव रूप ही अभाव होता है, न कि सर्वथा अभाव रूप जैसे कि मिथ्यात्व पर्यायिके भगवा सम्भवत्वपर्याय रूपसे प्रतिभास होता है ।

न्याय भाषामें प्रयोग—जिस धर्ममें जो धर्म नहीं रहता उस धर्ममें उस धर्मका अभाव है ।

२. **अभावके भेद**

न्या सू/२-२/१२ प्रागुपपत्तेर्भावोपपत्तेश्च । —अभाव दो प्रकारका—एक जो उत्पत्ति होनेके पहिले (प्रागभाव) और दूसरा जब कोई वस्तु नष्ट हो जाती है (प्रध्वसाभाव) ।

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका/१८१ अभाव चार हैं—प्रागभाव प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव व अत्यन्ताभाव ।

३. **अभावके भेद**

घ ७/२,६,४/४७६/२४ विशेषार्थ—अभाव दो प्रकारका होता है—पशुंदास और प्रसज्य ।

४ **प्रागभाव**

वै द/६/१/२ क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत् । —क्रिया व गुणके व्यपदेशका अभाव होनेके कारण प्रागसत् होता है । अर्थात् कार्य अपनी उत्पत्तिसे पहिले नहीं होता ।

आप्त मो/१५ जयचन्द्र/१० प्रागभाव कहिए कार्यके पहिले न होना । जैन सिद्धान्त प्रवेशिका/१८२ वर्तमान पर्यायिका पूर्व पर्यायमें जो अभाव है उसे प्रागभाव कहते हैं ।

क पा/१/१,१३-१४/६२०५/गा १०४/२५० विशेषार्थ—कार्यके स्वरूपताम करनेके पहिले उसका जा अभाव रहता है वह प्रागभाव है ।

५. **प्रध्वसाभाव**

वै द/६-१/२ सदमत् ॥२॥ —कार्यको उत्पत्तिके नाश होनेके पश्चात्ते अभावका नाम प्रध्वसाभाव है ।

आप्त मो/१५ जयचन्द्र/१० प्रध्वस कहिए कार्यका विघटननाम धर्म । जैन सिद्धान्त प्रवेशिका/१८३ अगामी पर्यायमें वर्तमान पर्यायिके अभावको प्रध्वसाभाव कहिए ।

क पा/१/१,१३ १४/६२०५/गा १०४/२५० भाषार्थ—कार्यका स्वरूपतामके पश्चात् जो अभाव होता है वह प्रध्वसाभाव है ।

६ **अन्योन्याभाव**

वै द/६ १/४ सच्चासत् ॥४॥ जहाँ घड़ेकी उपस्थितिमें उसका वर्णन

किया जाता है कि गौ ऊट नहीं और ऊट गौ नहीं। उनमें तादात्म्याभाव अर्थात् उगम उमका अभाव और उगम उमका अभाव है। उमका नाम अन्योन्याभाव है।

आप्त गो/प जयचन्द्र/११ अन्य स्वभावरूप वस्तुत्वं अपा स्वभावका भिन्नपना या कृत्स्नरताभाव कहिये।

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका/१८८ पुद्गलकी एव वर्तमान पर्यागम दूसरे पुद्गलकी वर्तमान पर्यागम अभावका अन्योन्याभाव कहते हैं।

क पा १/१.१२-१४/१२०५/गा १०५/२५१ विशेषार्थ—एक द्रव्यकी एव पर्यागम। उमकी दूसरी पर्यागम जो अभाव है उसे अन्योन्याभाव या हस्तेतराभाव कहते हैं। (जैसे घटका घटमें अभाव)।

७ अत्यन्ताभाव

वे द ६/१४ मन्वान्यदसदस्तदसत् ॥६॥ उन तीनों प्रकारके अभावोमे अतिरिक्त जो अभाव है वह अत्यन्ताभाव है।

आप्त गो/प जयचन्द्र/११ अत्यन्ताभाव है सो द्रव्याधिकारका प्रधान-पनाकरि है। अन्य द्रव्यका अन्यद्रव्यविषय अत्यन्ताभाव है।

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका/१८६ एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यके अभावका अत्यन्ताभाव कहते हैं।

क पा १/११ १४/१४२०५/गा १०५/२५१/भाषा—रूपादिकास्वममयायी पुद्गलादिकसे भिन्न जीवादिकमें मममेत होना अन्यत्रसमभाव कहलाता है। यदि इसे स्वीकार किया जाता है अर्थात् अत्यन्ताभाव का अभाव माना जाता है तो पदार्थका किसी भी अगाधाररूपमें कथन नहीं किया जा सकता है।

८ पर्युदास अभाव

ध ७/२.६.४/४०६/२४ विशेषार्थ—पर्युदासके द्वारा एक वस्तुके अभावमें दूसरी वस्तुका सद्भाव ग्रहण किया जाता है।

रा वा १/२/८/१८/१२२/८ प्रत्यक्षान्दोऽप्रत्यक्ष इति पर्युदास। —प्रत्यक्षसे अन्य सो अप्रत्यक्ष—ऐसा पर्युदास हुआ।

९ प्रसज्य अभाव

रा वा १/२/८/१८/१२२/८ प्रत्यक्षो न भवतोऽयप्रत्यक्ष इति प्रसज्यप्रतिषेधो —जो प्रत्यक्ष न हा सो अप्रत्यक्ष ऐसा प्रसज्य अभाव है।

ध ७/२.६.४/४०६/२४ विशेषार्थ—प्रसज्यके द्वारा कथ्य अभावमात्र ममका जाता है।

क पा १/१३ १४/१४१०५/२२७/१ कारकप्रतिषेधव्यापृतात्। —क्रियाके साथ निषेधवाचक 'नञ्' का सम्बन्ध।

१०. स्वरूपाभाव या अतद्भाव

प्र सा/मू/१०६.१०८ पवित्रतापदेसत् पृथुक्तमिदं सामग्य हि पीरस्स। अणत्तमत्तभावो न तन्मय हादि कथमेग। ज दव तण्ण गुणो जो वि गुणो सो न तच्चमत्थादा ॥१०६॥ एसो हि अतद्भावो जेव अभावो ति निहिदुट्ठा ॥१०७॥ —विभक्त प्रदेशके पृथक्त्व है—ऐसा योग्यता उप-वेदा है। अतद्भाव अन्यत्व है। जो उस रूप न हो वह एव कैसे हो सकता है ॥१०६॥ स्वरूपपेक्षासे जो द्रव्य है वह गुण नहीं है और जो गुण है वह द्रव्य नहीं है। यह अतद्भाव है। सर्वथा अभाव अतद्भाव नहीं। ऐसा निर्दिष्ट किया गया है।

प्र सा/त प्र/१०६-१०७ अतद्भावो ह्यन्यत्त्वस्य लक्षणं, तच्च सत्ता द्रव्य-योर्विद्यत एव गुणगुणिनोऽतद्भावस्याभावात् शुक्लात्तरीयत्रये ॥१०६॥ यथा—एकस्मिन्मुक्ताफलवर्गादिनि य शुक्लो गुण स न हारो न सूत्रं न मुक्ताफलं, यथा हार सूत्र मुक्ताफल या स न शुक्लो गुण इतीतरेतर-स्याभाव स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्त्वनिवन्धनभूत। तथक्स्मिन् ब्रज्ये य सत्तागुणस्तद्वत्त्वत्वं नान्यो गुणो न पर्याया यथा द्रव्यमन्यो गुण पर्यायो बाध न सत्तागुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभाव स तदभाव-लक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्त्वनिवन्धनभूत ॥१०७॥ —अतद्भाव अन्यत्वका लक्षण है, वह तो सत्तागुण और द्रव्यके ही हो क्योंकि गुण और गुणोके

तद्भावका अभाव होता है—यद्यपि और वस्तु (या हार) की भीति ॥१०६॥ जने एक मोक्षित्यकी मानात्म जो शुद्धगुण है वह हार नहीं है धागा नहीं है या माता नहीं है और जो हार मा या माता है वह शुक्लर गुण नहीं है—एक प्रकार एक दृग्गम जो 'अमका अभाव' अर्थात् सद्रूपीय अभाव है। गोचर 'अभाव' 'अमका अभाव' है जो वि अन्तरगता कारण है। इसी प्रकार एक द्रव्य में जो सत्तागुण है वह द्रव्य नहीं है, अन्य गुण नहीं है या पर्याय नहीं है, और व. द्रव्य अन्य गुण या पर्याय है वह सत्तागुण नहीं है।—एक प्रकार एक दूसरेमें जो उमका अभाव अर्थात् 'तद्रूप' का अभाव है वह तदभाव सत्ता अतद्भाव है जो वि अन्तरगता कारण है।

घ.ता/ता/पू/१८-१४/१२२/८ प्रदक्षानेवर्द्धि गोऽप्री मंशाभिदे स तस्य पूर्वोपनयनस्य तद्भावमानवत्सदभावो भवति। अतद्भाव सत्तागुणप्रमाणानादिमेव इति। —परस्पर प्रदक्षानि अमेद एवेव जो जो यह सत्तादिवा भेद है वहा उम पूर्वोत्त सत्ता रूप सत्ताभाव अभाव या तदभाव कहा जाता है। उक्तको अतद्भाव भी कहते हैं—मंशा सत्ता प्रयोजन बाधिते भेद इत्या, ऐसा अर्थ है।

११ अभाववाचका सत्ता

मु अमु/२४ अभावमात्र पर्यायगुणे, सा मयुति स्व-विर्देप द्रव्या। एषा 'हे' यो क्ति कथमोऽप्री हेतारमोति एवदभाववाचक ॥२४॥ —पर्याय गुणिते तत्त्व अभाववाचक है, और वह पर्यायगुणित मयुति-रूप है। और मयुति मय विर्देपोति द्रव्य है। उस अविचरित्यका एव सत्ता सत्तादिवा विरोधस्य सत्ता भी जो द्रव्य और मोक्ष विद्यते है व हेतारमात्र है। इस प्रकार ए उ (मविध त्रैतवादी मोक्ष) का तावक है। (जैन दर्शन द्रव्याधिक्य नवमे अभावको स्वी-कार नहीं करता पर पर्यायाधिक्यमें करता है।—दे उपाद व्यव-भोऽग २/७)।

२ अभावोमे परस्पर अन्तर व फल

१ पर्युदास व प्रसज्यमे अन्तर

क पा वि पू/२/१०२/१४ नमद्विद्वत्तादाभादीऽमीयेन भाष्य तदीदा-सीयेन चाभावर प्राधान्यसमपद पर्युदासप्रसज्योर्विरोध-वि-क-एवनात्। —नय विद्यमान वक्ष्य ताकी उदासीनतासे भावका और अभावकी उदासीनतासे अभावका प्राधान्य समान है नवर पर्युदास व प्रसज्य एक दोनोमें विरोधताका विकल्प ही जाता है। अर्थात्—किसी एक वस्तुके अभाव द्वारा दूसरी वस्तुका सद्भाव दर्शाना तो पर्युदास है, जैसे प्रकाशका अभाव ही अन्धकार है। और वस्तुका अभाव मात्र दर्शाना प्रसज्य है जैसे हम हस्तान्तर घटका अभाव है।

२ प्राक्, प्रध्वस व अन्योन्याभावोमे अन्तर

वे द/भा/६-१४/२७२ यह (अन्योन्याभाव) अभाव दो प्रकारके अभावसे पृथक् तोमरे प्रकारका अभाव है। वस्तुकी उत्पत्तिमे प्रथम नहीं और और न उसके नाशक पश्चात् उसका नाम अन्योन्याभाव है।—ह अभाव हमेशा रहताला है, क्योंकि, घटका वषट्हा और वषट्हा घड़ा होना हर प्रकार असम्भव है। वे सर्वदा पृथक् पृथक् रहेंगे। इस वास्ते जिन प्रकार पहिली व दूसरी तरहका अभाव (प्राक्भाव और प्रध्वसाभाव) अनित्य है, यह अभाव उसके विरुद्ध निरव्य है।

आप्त गो/प जयचन्द्र (अष्टसंतीने आधारपर) ॥१॥ प्रश्न—प्राग्-भाव, प्रध्वसाभाव इतरेतराभावमें विशेष रहा है। उत्तर—जो कार्य-द्रव्य घटादिना ताके पहिले (पिछ आदिना) अन्त्याधी सो सो तो प्राग्भाव है (अर्थात् घटादिकका पिछादिकमें प्राग्भाव है) वस्तु-कार्यद्रव्यके पीछे जो अवस्था है सो प्रध्वसाभाव है (अर्थात् घट-में पिछ आदिकका अभाव प्रध्वसाभाव है)। वस्तु इतरेतराभाव है सो ऐसा नहीं है। जो दोय भावरूप वस्तु न्यारे-न्यारे गुणपद दोसे

तोनिके परस्पर स्वभाव भेदकरि वाका निषेध वार्मि और वाका निषेध वार्मि इतरेतराभाव है। (जैसे घटका पटमें और पटका घटमें अभावन अन्योन्याभाव है।)

३. अन्योन्याभाव व अत्यन्ताभावमे अन्तर

वै द भा १६-१४/२७३ उन तीनों प्रकारके अभावोंके अतिरिक्त जो अभाव है, वह अत्यन्ताभाव है, क्योंकि प्रागभावके पश्चात् नाश हो जाता है, अर्थात् वस्तुकी उत्पत्ति होनेपर उस (प्रागभावका) अभाव नहीं रहता। और विध्वंसाभावका नाश होनेसे प्रथम अभाव है। अर्थात् जब तक किसी वस्तुका नाश नहीं हुआ तब तक उसका विध्वंसाभाव उपस्थित हो नहीं। और अन्योन्याभाव विपक्षीमें रहता है और अपनी सत्तामें नहीं रहता। परन्तु अत्यन्ताभाव इन तीनोंका विपक्षी अभाव है।

अष्टसहस्री ११/पृ १०६ तत् सूक्तमन्योपोहलक्षण स्वभावान्तरात्म्यभाव-व्यावृत्तिरन्योपोह इति। तस्य कालत्रयापेक्षेऽत्यन्ताभावेऽन्यभावा-दतिव्याप्ययोगात्। न हि घटपटयोरितरेतराभाव कालत्रयापेक्ष कदाचित्पटस्यापि घटत्वपरिणामसम्भावत्, तथा परिणामकारणसावक्ये तदविरोधात्, पुद्गलपरिणामानियमदर्शनात्। न चैवं चेतनाचेतनयो कदाचित्तादात्म्यपरिणाम, तत्त्वविरोधात्।

अष्टसहस्री ११/पृ १४४ न च किंचित्स्वात्मन्येव परात्मनानुपलभ्यमान काल-त्रयेऽपि तत्तत्र तथा नास्तीति प्रतिपद्यते एवेति सिद्धोऽत्यन्ताभावः। —इस प्रकार स्वभावान्तरसे स्वभावको व्यावृत्तिको अन्यापोह कहते हैं, यह लक्षण ठीक हो कहा है यह लक्षण कालत्रय सापेक्ष अत्यन्ताभावमें भी रहता है। अतः इसमें अतिव्याप्ति दोष नहीं आता। घट और पटका इतरेतराभाव कालत्रयापेक्षी नहीं हैं। कभी पटका भी घट परिणाम सम्भव है उस प्रकार के परिणामनमें कारण समुदायके मिलनेपर, इसका अविराध है। पुद्गलमें परिणामका नियम नहीं देखा जाता है, किन्तु इस तरह चेतन अचेतनका कभी भी तादात्म्य परिणाम नहीं हो सकता, क्योंकि वे दोनों भिन्न तत्त्व हैं—उनका परस्परमें विरोध है।

आप्त मी १/पृ जयचन्द्र (अष्टसहस्रीके आधारपर) ११ इतरेतराभाव है जो दोष भावरूप वस्तु प्यारे-प्यारे युगपत् दोसै तिनिकै परस्पर स्वभाव भेदकरि वाका निषेध वार्मि और वाका निषेध वार्मि इतरेतरा-भाव है। यह विशेष है कि यह तो पर्यायार्थिक नयका विशेषपणा प्रधानकरि पर्यायनिके परस्पर अभाव जानना। बहुहिर अत्यन्ताभाव है जो द्रव्याधिकनयका प्रधानपणाकरि है। अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्य विषे अत्यन्ताभाव है। ज्ञानादिक ती काहु कालविषे पुद्गलमें होय नाहीं। बहुहिर रूपादिक जीव द्रव्यमें काहु कालविषे होइ नाहीं। ऐसे इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव ये दोऊ (हैं)।

* अन्योन्याभाव केवल पुद्गल में ही होता है

—दे० अभाव २/३

४. चारो अभावोंको न माननेमे दोष

आप्त मी सू १०.११ कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निह्वे। प्रध्व-सस्य च धर्मस्य प्रचयवेऽनन्ततां भवेत् ॥१०॥ सर्वात्मक तत्वेक स्याद-न्यापोहव्यतिक्रमे। अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥११॥ —प्रागभावका अपलाप करनेपर कार्यद्रव्य घट पटादि अनादि हो जाते हैं। प्रध्वसाभावका अपलाप करनेपर घट पटादि कार्य अनन्त अर्थात् अप्सरहित अविनाशी हो जाते हैं ॥१०॥ इतरेतराभावका अपलाप करनेपर प्रतिनियत द्रव्यकी सभी पर्यायें सर्वात्मक हो जाती हैं। रूपादिकका स्वसमवायी पुद्गलतादिकसे भिन्न जीवादिकमें समवेत होना अन्यत्रसमवाय कहलाता है। यदि इसे स्वीकार किया जाता है, अर्थात् यदि अत्यन्ताभावका अभाव माना जाता है तो पदार्थका

किसी भी असाधारण रूपसे कथन नहीं किया जा सकता ॥११॥ (आशय यह है कि इतरेतराभावको नहीं माननेपर एक द्रव्यकी विभिन्न पर्यायोंमें कोई भेद नहीं रहता—सम पर्यायें समरूप हो जाती हैं। तथा अत्यन्ताभावको नहीं माननेपर सभी वादियोंके द्वारा माने गये अपने-अपने मूल तत्त्वोंमें कोई भेद नहीं रहता—एक तत्त्व दूसरे तत्त्वरूप हो जाता है। ऐसी हातमें जीवद्रव्य चैतन्यगुणको अपेक्षा चेतन ही है और पुद्गल द्रव्य अचेतन ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता।) (क पा १/१२०४/गा १०४-१०५/२५०)।

५. एकान्त अभाववावमे दोष

आप्त मी सू १/२ अभावैकान्तपक्षेऽपि भावापह्नववादिनाम्। बोधवानय प्रमाण न केन साधग दूषणम् ॥१०६॥ —जो वादी भावरूप वस्तुको सर्वथा स्वीकार नहीं करते हैं, उनके अभावैकान्त पक्षमें भी बोध अर्थात् स्वार्थानुमान और वाक्य अर्थात् परार्थानुमान प्रमाण नहीं बनते हैं। ऐसी अवस्थामें वे स्वमतका साधन किस प्रमाणसे करेंगे, और परमतमें दूषण किस प्रमाणसे देंगे।

अभाव शक्ति—दे भाव।

अभिघट—१ आहारका एक दोष—दे आहार II/४/४। २ वसति का एक दोष—दे वसति।

अभिचन्द्र—(म पु ३/१२६) दशवें कुलकर (विशेष दे शलाका पुरुष/६)।

अभिजित—एक नक्षत्र। दे नक्षत्र।

अभिधान—द्र सं टी १/७/६ यदेव व्याख्येयसूत्रमुक्त तदेवाभि-धान वाचक प्रतिपादक भण्यते। —जो व्याख्यान किये जाने योग्य सूत्र कहे गये हैं, वही अभिधान अर्थात् वाचक या प्रतिपादक कहलाते हैं।

अभिधानचिन्तामणि कोश—दे शब्दकोश।

अभिधाननिवधननाम—ध १५/२/५ जो णामसङ्गो पवुत्तो सत्तो अप्पाण चेव जाणावेदि तमभिधानणियधण णाम। —जो सङ्गा शब्द प्रयुक्त होकर अपने आपको जतलाता है, वह अभिधान निबन्धन (नाम) कहा जाता है।

अभिधानमल—दे मल।

अभिधेय—द्र सं टी १/७/६ अनन्तज्ञानाद्यनन्तगुणाधारपरमरामा-दिस्वभावोऽभिधेयो वाच्य प्रतिपाद्य। —अनन्तज्ञानादि अनन्तगुणों का आधार जो परमरामा आदिका स्वभाव है, वह अभिधेय है, अर्थात् वाच्य या प्रतिपाद्य अथवा कथन करने योग्य विषय है।

अभिनन्दन—द्र सं टी १/३ अभिनन्दनमभिवृद्धि। —अभिनन्दन अर्थात् अभिवृद्धि।

अभिनन्दन—(म पु ५/१० श्लो स) पूर्वके तीसरे भवमें मगलावती वैश का राजा महामल था ॥२३॥ दूसरे भवमें विजय नामक विमानमें अहमिन्द्र हुए ॥२३॥ और वर्तमान भवमें चौथे तीर्थंकर हुए। आप अयोध्या नगरीके राजा स्वर्धरके पुत्र थे ॥६-१६॥ एक हजार राजाओंके संग दोसा धारण कर ली। उसी समय मन पर्यायज्ञानकी प्राप्ति हो गयी ॥७६॥ अन्तमें मोक्ष प्राप्त किया ॥६६॥ (विशेष दे तीर्थंकर ५)।

अभिनविधोष—स सि १/१३/१०६ अभिनविधोघनमभिनिधोष। —साधनके साध्यका ज्ञान अभिनविधोघ ज्ञान है।

घ ६/१.६-१.१४/१५/६ अहिमुह गियमिय अरथावमोहो अभिनिमोहो। धून-वृष्टमाण अणतरिद अरथा अहिमुहा। चरिखदिद रूप गियमिद सोदिदिद सङ्गो, घाणिदिद गंधो, जिर्भिदिद रसो, फासिदिद फासो,

जोइदि ए दिव्व सुदाणुसुदरथा णियमिदा । अहिमुह-णियमिददट्ठेषु
जो बोधो सो जहिणिमोधो । अहिणिमोध एव आहिणिमोधियणण ।
—अभिमुख और नियमित अथके अवबोधको अभिनिमोध कहते
हैं। स्थूल वर्तमान और अन्तर्तरित अर्थात् व्यवधान रहित अर्थोंको
अभिमुख कहते हैं। चतुरिन्द्रियमें रूप नियमित है, श्रोत्रेन्द्रियमें
शब्द घ्राणेन्द्रियमें गन्ध, जिह्वेन्द्रियमें रस स्पर्शनेन्द्रियमें स्पर्श और
नोइन्द्रिय अर्थात् मनमें दृष्ट, श्रुत और अनुभूत पदार्थ नियमित हैं।
इस प्रकारके अभिमुख और नियमित पदार्थोंमें जो बोध होता है, वह
अभिनिमोध है। अभिनिमोध ही अभिनिमोघिक ज्ञान कहलाता है।
(और भी देखें मतिज्ञान १/१/२)।

* स्मृति आदि ज्ञानोकी कथंचित् एकार्थताकी सिद्धि—

दे मतिज्ञान/३।

अभिनिवेश—स स्तो/टी/१७ में उद्धृत “ममेदमित्यभिनिवेश ।

शश्वदनारमोयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनितेषु । आरमोयाभिनिवेशो
ममकारो मया यथा देह । —‘यह मेरा है’ इस भावको अभिनिवेश
कहते हैं। शश्वत रूपसे अनारमोय तथा कर्मजनित स्वशरीर आदि
द्रव्योंमें आरमोयपनेका भाव अभिनिवेश कहलाता है—जैसे ‘यह
शरीर मेरा है’ ऐसा कहना ।

स स्तो/टी/१२/२६ अहमस्य सर्वस्य रुमादिविषयस्य स्वामोति क्रिया
अहक्रिया । ताभि प्रसक्तं सलग्नं प्रवृत्तो वा मिथ्या, असत्यो,
अध्यवसायो, अभिनिवेश । सैव दोषो । —मैं इन सर्व की आदि
विषयोंका स्वामी हूँ, ऐसी क्रियाको अहक्रिया कहते हैं। इनसे प्रसक्त
या संलग्न प्रवृत्ति मिथ्या है, असत्य है, अध्यवसाय है, अभिनिवेश
है। वह ही महात्त्व दोष है।

अभिन्न—एक ग्रह ।—दे ग्रह ।

अभिन्नकारकी व्यवस्था—दे कारक १।

अभिन्नपूर्वी—अभिन्न दश पूर्वी व अभिन्न चतुर्दश पूर्वी ।—दे
श्रुतकेवली ।

अभिमन्यु—पा पु/पर्व/रत्नो न०—सुभद्रा रानीसे अर्जुनका पुत्र
था । १६/१०११ कृष्ण जरासन्ध युद्धमें अनेकोंको मारा । १६/१७८।
अन्तमें कौरवोंके मध्य धिर जानेपर संन्यास मरण कर देवरव प्राप्त
किया । २०/२६-३६।

अभिमान—स मि/४/२१/२६२ मानकपायाबुत्पन्नोऽहंकारोऽभि-
मान । —मान कपायके उदयसे उत्पन्न अहंकारको अभिमान कहते
हैं । (रा वा/४/२१/४/२६६) ।

अभियोग (देव)—रा वा/४/४/६/२१३/१० यथेह दासा बाहनादि-
व्यापारं कुर्वन्ति तथा तत्राभियोग्या बाहनादिभावैर्नोपकुर्वन्ति ।
—जिस प्रकार यहाँ दास जन बाहनादि व्यापार करते हैं, उसी
प्रकार वहाँ (देवोंमें) अभियोग्य नामा देव बाहनादि रूपसे उपकार
करते हैं । (स सि/४/४/१४/२३६) (ति प/३/६८) (म पु/२२/२६)
(त्रि सा/भाषा/२२४) ।

रा वा/४/१३/६/२२०/१७ कर्मणा हि फलं वैचित्र्येण पच्यते ततस्तेषां
गतिपरिणतिमुखेनैव कर्मफलमवबोद्धव्यम् । —कर्मोंका फल विचित्रता
से पकता है। इसलिए गतिपरिणतिमुखेन ही उनके कर्मका फल
जानना चाहिए ।

* देवोंके परिवारोंमें इन देवोंका निर्देशादि

—दे भवनवासी आदि भेद

२ इन देवोंका गमनागमन अच्युत स्वर्ग पर्यन्त ही है

यु आ/११/३३ कंठ्यमाभिजोगा देवोऽपि चापि आरण्युदोति । —कंदर्प
और अभियोग्य जातिके देव आरण-अच्युत स्वर्ग पर्यन्त हैं ।

अभियोगी भावना—(भ आ/मू/१८२) मंताभिओगकोऽङ्गम्
दीयम् पठ जदे जो हु । इहिरससाहहेतु अभिओग भावत्
कृणु ॥१८२॥ —मन्त्र प्रयोग करना, कौतुककारक अकाल वृष्टि आदि
करना तथा श्रद्धा, रस व सात गौरवयुक्त अन्य इसी प्रकारके कार्य
करना मुनिके लिए अभियोगी भावना कहलाती है ।

अभिलाप—न वि/४/१/१३४/२ अभिलपनमभिधेयप्रतिपादनम्
अभिलाप । —अभिलपन अर्थात् अभिधेयका प्रतिपादन करना
अभिलाप है ।

अभिलाषा—प घ/उ/७०५ ७०७ न्यायादक्षार्थकांक्षाया ईहा
नान्यत्र जातुचित् ॥७०५॥ नैव हेतुतरितव्याप्येतरादाक्षीणमोहिषु ।
बन्धस्यनिरयतापत्तेर्मवेन्मुक्तेरसम्भव ॥७०७॥ —न्यायानुसार इन्द्रियों
के विषयोंकी अभिलाषाके सिवाय कभी भी (अन्य कोई इच्छा)
अभिलाषा नहीं कहलाती ॥७०५॥ इच्छाके बिना क्रियाके न माननेसे
क्षीणकपाय और उसके समीपके (११ १२ १३) गुणस्थानोंमें अनिच्छा-
पूर्वक क्रियाके पाये जानेके कारण उक्त लक्षण (क्रिया करना मात्र
अभिनाषा है) में अतिव्याप्ति नामका दोष आता है। क्योंकि यदि
उक्त गुणस्थानोंमें क्रियाके सद्भावसे इच्छाका सद्भाव माना जायेगा
तो बन्धके नित्यत्वका प्रसंग आनेसे मुक्तिका होना भी असम्भव हो
जायेगा ॥७०७॥ तात्पर्य है इन्द्रिय भोगोंकी इच्छा ही अभिलाषा है।
मन, बचन, कायकी क्रिया परसे उस इच्छाका सद्भाव या असद्भाव
सिद्ध नहीं होता ।

* अभिलाषा या इच्छाका निषेध—दे राग ।

अभिव्यक्ति—दे व्यक्ति ।

अभिषव—म मि/७/३५/३७१ द्रवो वृष्यो बाभिषव । —द्रव, वृष्य
और अभिषव इनका एक अर्थ है । (रा वा/७/३५/५/५५८) ।

अभिहत—दे पूजा ।

अभिषेक—वसति विषयक एक दोष—दे वसति ।

अभीक्ष्णज्ञानोपयोग—स सि/६/२४/३३८ जीवादिविषयस्वतत्त्व
विषये सम्प्रज्ञाने नित्य युक्तता अभीक्ष्णज्ञानोपयोग । —जीवादि
पदार्थरूप स्वतत्त्वविषयक सम्प्रज्ञानमें निरन्तर लगे रहना अभीक्ष्ण
ज्ञानोपयोग है । (सा घ/टी/७७/२२१/६) ।

रा वा/६/२४/४/५२६ मर्यादिविकल्प ज्ञानं जीवादिविषयस्वतत्त्वविषय
प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणम् अज्ञाननिवृत्त्यव्यवहितफलं हिताहितानुभयप्राप्ति
परिहारोपेक्षाव्यवहितफलं यत्, तस्य भावनायां नित्ययुक्तता ज्ञानो
पयोग । —जीवादि पदार्थोंको प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे जाननेवां
मति आदि पाँच ज्ञान हैं । अज्ञाननिवृत्ति इनका साक्षात् फल है तथा
हितप्राप्ति अहितपरिहार और उपेक्षा व्यवहित या परम्परा फल है
इस ज्ञानकी भावनामें सदा तत्पर रहना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है
(बा सा/५/३/३) ।

घ ८/३/४१/६१/४ अभिषल्लग्नमभिषल्लग्न णाम बहुवारमिदि भणिदं होदि
णाणवजोगो ति भावसुद दब्बसुद वावेत्तवे । तेसु सुहुम्सुहुजुत्तदा
तिरथयरणाकम्म यच्चम् । —अभीक्ष्णका अर्थ बहुत बार है । ज्ञानो
पयोगसे भावश्रुत अथवा द्रव्यश्रुतकी अपेक्षा है । उन (द्रव्य व भाव
श्रुत) में बारबार उद्यत रहनेसे तीर्थंकर नाम कर्म बन्धता है ।

२. अभीक्ष्णज्ञानोपयोगकी १५ भावनाओंके साथ व्याप्ति.

घ ८/३/४१/६१/६ क्षणविमुज्जकदादिहि विणा एदिस्से अपुववत्तोदो ।
—दर्शनविशुद्धता आदिक(अन्य १५ भावनाओं) के बिना यह अभीक्ष्ण
ज्ञानोपयुक्तता मन नहीं सकती ।

* एक अभीक्ष्णज्ञानोपयोगसे ही त्रौत्यंकरत्वका बन्ध
सम्भव है—दे, भावना/२ ।

अभूतार्थ—स सा /प जयचन्द/११ जिसका विषय विद्यमान न हो, या असरार्थ हो उसे अभूतार्थ कहते हैं। (गधेके सौग विद्यमान न होनेके कारण अभूतार्थ हैं और घट पट आदि सयोगी पदार्थ असरार्थ होनेके कारण अभूतार्थ हैं)।

अभूतोद्भावन—दे असरय।

अभेद—न वि घृ/२/३६/६६ अभेद तिर्यक्सामान्यम्। = तिर्यक्-सामान्य अर्थात् द्रव्यों व गुणोंकी युगपत् वृत्ति ही अभेद है।

* अन्य विषय—दे भेद।

अभेद वृत्ति—रा वा /४/४२/१४/२६३/१ द्रव्यार्थत्वेनाश्रयेण तदव्यतिरेकाभेदवृत्तिः। = द्रव्यार्थिक नयके आश्रयसे द्रव्य गुण आदिका व्यतिरेक न होनेके कारण अभेद वृत्ति है। (स भ त १६/१३)।

अभेद स्वभाव—आ प /६ गुणगुणयोः कस्वभावत्वाद्भेदस्वभावः। = गुण व गुणी आदिकमें एकपना होनेके कारण अभेद स्वभाव है। (न च घृ /६३)।

अभेदोपचार—रा वा /४/४२/१४/२६३/१ पर्यायार्थत्वेनाश्रयेण परस्परव्यतिरेकेऽपि एकत्वाद्यारोप तत्तत्क्षभेदोपचारः। = पर्यायार्थिक नयके आश्रयसे विभिन्न पर्यायोंमें परस्पर व्यतिरेक होते हुए भी उनमें एकत्वका अद्यारोप करना अभेदोपचार है। (स भ त १६/१३)।

अभेद्य—अ प /म १०६—Indivisible।

अभोक्तृत्व नय—दे नय १/६।

अभोक्तृत्व शक्ति—स सा /आ /परि /शक्ति नं १२ सकलकर्म-कृतज्ञात्मात्रातिरिक्तपरिणामानुभवोपरमात्मिका अभोक्तृत्वशक्तिः। = समस्त कर्मोंसे किये गये, ज्ञातृत्वमात्रसे भिन्न परिणामोंके अनुभवका (भावतृत्वका) उपरमस्वरूप अभोक्तृत्व शक्ति है।

अभ्यन्तर—म सि /६/२०/४३६ कथमभ्यन्तररत्नम्। मनोनियम-नार्थत्वात्। = प्रश्न—इस तपके अभ्यन्तरपना कैसे है। उत्तर—मनका नियमन करनेवाला होनेसे इसे आभ्यन्तर तप कहते हैं।

अभ्यन्तर इन्द्रिय—दे इन्द्रिय/१।

अभ्यन्तर कारण—दे कारण II।

अभ्यस्त—गणितकी गुणकार विधिमें—गुण्यको गुणकार द्वारा अभ्यस्त किया गया कहते हैं। दे गणित ११/१/६।

अभ्याख्यान—रा वा /१/२०/१२/७६/१२ हिंसादे कर्मण कर्तुविरतस्य विरताविरतस्य वायमस्य कर्तव्यमभिधानम् अभ्याख्यानम्। = हिंसादि कार्य करके हिंसासे विरक्त मुनि या प्राबकको दोष लगाते हुए 'यह इसका कार्य है, अर्थात् यह कार्य इसने किया है' ऐसा कहना अभ्याख्यान है। (घ १/१२/२/१६/१२) (घ ६/४.१.४६/२१७/३) (गो जी /जी प्र ३६६/७७८/१६)।

घ १२/४.२.८.१०/२८६/४ क्रोधमनमायालोभादिभि परेष्वविद्यमान-दोषोद्भावनमभ्याख्यानम्। = क्रोध मन माया और लोभ आदिके कारण दूसरोंमें अविद्यमान दोषोंको प्रगट करना अभ्याख्यान कहा जाता है।

अभ्यागत—मा घ /टी /६/४२ में उद्घृत तिथिपूर्वोत्सवा सर्वे त्यक्ता येन महारमना। अतिथि त विजानीयाच्छेषमभ्यागत विदुः। = तिथि पूर्व तथा उत्सव आदि दिनोंका जिस महारमाने त्याग किया है, अर्थात् सब तिथियोंमें जिनके समान हैं उसे अतिथि कहते हैं, और शेष व्यक्तियोंको अभ्यागत कहते हैं।

अभ्यास—न्या सू /भा /३-२/४३ अभ्यासस्तु समाने विषये ज्ञानानामभ्यावृत्तिरभ्यासजनित संस्कार आत्मगुणोभ्यासशब्देनोच्यते

स च स्मृतिहेतु समान इति। = एक विषयमें बार बार ज्ञान होनेसे जो संस्कार उत्पन्न होता है, उसीको अभ्यास कहते हैं। यह भी स्मरणका कारण है।

२ मोक्षमार्गमें अभ्यासका महत्त्व

स श /सू /३७ अविद्याभ्याससंस्कारैरवशसिध्यते मनः। तदेवज्ञानसंस्कारै स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥३७॥ = शरीरादिकोंके शुचि स्थिर और आत्मीय मानने रूप जो अविद्या या अज्ञान है उसके पुन पुन प्रवृत्तिरूप अभ्याससे उत्पन्न हुए संस्कारों द्वारा मन स्ववश न रहकर बिसिध हो जाता है। वही मन आरम देहके भेद विज्ञानरूप संस्कारोंके द्वारा स्वयं ही आत्मस्वरूपमें स्थिर हो जाता है।

मो पा टी /६३/३६१ शनै शनै आहारोऽल्प म्रियते। शनै शनै रासन पचासनं उद्भासन चाम्यस्यते। शनै शनै निद्रापि स्तोका स्तोका क्रियते एकस्मिन्नेव पार्श्वे पार्श्वपरिवर्तन न क्रियते। एवं सति सर्वोऽभ्याहारस्त्यक्तुं शक्यते। आसन च कदाचिदपि त्यक्त(न) शक्यते। निद्रापि कदाचिदप्यक्तुं शक्यते। अभ्यासात् किं न भवति। तस्मादेव कारणार्थैकैवलिभि कदाचिदपि न भुज्यते। पचासन एव बर्णानां सहस्रैरपि स्थीयते, निद्राजयेनाप्रमत्तैर्भूयते, स्वप्नो न दृश्यते। = धीरे धीरे आहार अल्प किया जाता है, धीरे धीरे पचासन या खट्वा-सनका अभ्यास किया जाता है। धीरे धीरे ही निद्राको कम किया जाता है। करबट बदले बिना एक ही करबटपर सोनेका अभ्यास किया जाता है। इस प्रकार करते करते एक दिन सर्व ही आहारका त्याग करनेमें समर्थ हो जाता है, आसन भी ऐसा स्थिर हो जाता है, कि कभी भी न छूटे। निद्रा भी कभी न आये ऐसा हो जाता है। अभ्यास से क्या क्या नहीं हो जाता है। इसीलिए ठो केवली भगवान् कभी भी भोजन नहीं करते, तथा हजारों वर्षों तक पचासनसे ही स्थित रह जाते हैं। निद्राजयके द्वारा अप्रमत्त होकर रह सकते हैं, कभी स्वप्न नहीं देखते। अर्थात् यह सब उनके पूर्व अभ्यासका फल है।

३ ध्यान सामायिकमें अभ्यासका महत्त्व

घ १३/६ ४.२६/गा २३-२४/६७-६८ एगवारेणेव बुद्धिः पिरत्तापुववत्तीदो एत्थ गाहा—पुल्लकयम्भासो भावणाहिउम्भाणस्स जोगगदमुवेदि। ताओ य गागदंसणचरित्त घेरागगजणियाओ ॥२३॥ गाणे णि च्छम्भासो क्कणइ मणोवाइण विमुत्ति च। गाणगुणमुणियसारो तो उम्भायइ णिच्चलम-ईओ ॥२४॥ = केवल एक कारणमें ही बुद्धिमें स्थिरता नहीं आती। इस विषयमें गाथा है—जिसने पहिले उत्तम प्रकारसे अभ्यास किया है वह पुरुष ही भावनाओं द्वारा ध्यानकी योग्यताको प्राप्त होता है और वे भावनाएँ ज्ञान दर्शन चारित्र और वैराग्यसे उत्पन्न होती हैं ॥२३॥ जिसने ज्ञानका निरन्तर अभ्यास किया है वह पुरुष ही मनोनिग्रह और विशुद्धिको प्राप्त होता है क्योंकि जिसने ज्ञानगुणके बलसे सार-भूत वस्तुको जान लिया है वही निश्चलमति हो ध्यान करता है ॥२४॥ मा घ /६/३२ सामायिक सुदु साध्यमभ्यासासेन साध्यते। निम्नोक्तोति वार्मिन्दु किं नाश्मानं सुहु पत्तु ॥३२॥ = अत्यन्त दु साध्य भी सामायिक व्रत अभ्यासके द्वारा सिद्ध हो जाता है क्योंकि, जैसे कि बार बार गिरने वाली जलकी धुन्द क्या परधरमें गड्ढा नहीं कर देती ॥३२॥

अन घ /८/७७/८०६ निरयेनेत्यमथेत्तरेण दुरितं निर्मूलयत् कर्मणा, योऽभ्यासेन विपाचयत्यमलयत् ज्ञान प्रमुत्तिप्रिप्त। स प्रोद्धमुद्रनिसर्ग-शुद्धपरमानन्दानुविद्धस्फुरद्दिष्टानारसमप्रघोषशुभग कैवलयमारित्त-छनुते ॥७७॥ = नित्य और नैमित्तिक क्रियाओंके द्वारा पापकर्मोंका निर्मूलन करते हुए और मन वचन कायके व्यापारोंको भले प्रकार निग्रह करके तीनों शुद्धियोंके आश्रयसे ज्ञानको निर्मल बनाता है, वह उस कैवलय निर्माणको प्राप्त कर लेता है।

अभ्युत्थान—प्र सा /ता घृ /२६२ अभिमुखगमनमभ्युत्थानम्। =

विनयपूर्वक मुनिके सम्मुख जाना अभ्युत्थान है। (विशेष दे निनय)।

अम्युदय—२ क भा १/१३५ पूजापक्षौ पर्यमसपरिजनकामभोग-

भूयिष्ठे । अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्म ॥१३५॥
—सश्लेखनादिते उपार्जन किया हुआ समीचीन धर्मप्रतिष्ठा धन
आशा और ऐश्वर्यसे तथा सेना चौकर-चार और काम भोगकी
मदुलतासे लोकादिशयी अद्भुत अम्युदयको फलता है । (लौकिक सुग)
ध १/११ १/५६/६ तत्राभ्युदयसुखं नाम सातादिप्रशस्तकर्म-सौभाग्यभागे
दयजनितेन्द्रप्रतीन्द्र-सामानिकप्रागस्त्रिधादादिवेन चक्रवर्तिमल्लयवना-
रायणार्धमण्डलीक-मण्डलीक-महामण्डलीक - राजाधिराज-महाराजा-
धिराज-परमेश्वरादि दिव्यमानुषसुखम् । —साता वरनीय प्रशस्त कर्म
प्रकृतियोंके तीन अनुभागके उदयसे उत्पन्न हुआ जो—एन्द्र प्रतीन्द्र,
सामानिक, त्रायसिंहा आदि देव सम्बन्धी दिव्य सुख, और चक्र-
वर्ती, मलदेव, नारायण, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक,
राजाधिराज, महाराजाधिराज, परमेश्वर (तीर्थंकर) आदि सम्बन्धी
मानुष सुखको अम्युदय सुख करते हैं । (ध १/११.१/गा ४५/५८) ।

अम्युपगमसिद्धान्त—दे सिद्धान्त ।

अभ्र—सौधर्म स्वर्गका २१वाँ पटल य इन्द्रक । —दे रवर्ग/५/३ ।

अमम—काल-विषयक एक प्रमाण—दे गणित १/२/४ ।

अमसाग—काल विषयक एक प्रमाण - दे गणित १/१/४ ।

अमरप्रभ—यह वानर वंशका सस्यापक वानरवंशी राजा था ।

दे इतिहास/१०/१३ ।

अमर्यादित—१ अमर्यादित भोजन—दे भक्ष्याभक्ष्य/२/४ । २ भक्ष्य
पदार्थोंकी मर्यादाएँ—वे भक्ष्याभक्ष्य/१/७ ।

अमलप्रभ—भूतकालीन नयम तीर्थंकर—दे तीर्थंकर ४ ।

अमात्य—त्रि सा /टी /६८३ अमारय कहिए देशका अधिकारी ।

अमावस्या—त्रि प /७/२११-२१२ सतिमिम्बस्त दिणं पठि एकेकेक-
पहन्मिभागमेवकेकं । पच्छादेदि सु राहु पण्णरसकलाजा परि-
यंत ॥२१॥ इय एकेकेकलाए आयरिदाए खु राहुमिमेणं । चदेयकला
मगे जरिंस दिस्तेदि सो य अमवासी ॥२१२॥ —राहु प्रतिदिन
(चन्द्रमाके) एक एक पथमें पन्द्रह कला पर्यन्त चन्द्रमिम्बके एक एक
भागको आच्छादित करता है ॥२११॥ इस प्रकार राहुमिम्बके द्वारा
एक एक कलाओंके आच्छादित हो जानेपर जिस मार्गमें चन्द्रमा
की एक ही कला दिखती है वह अमावस्या दिवस होता है ॥२१२॥
विशेष दे ज्योतिषी/३/८ ।

अमितगति—१ माधुर सधकी गुर्वावलीके अनुसार (दे इतिहास
७/११) आप देवसेनके शिष्य तथा नेमिपेणके गुरु थे । कति—
योगसार, समय—वि ६८०-१०२० (ई ६२३-६६३) । (सुभाषित
रत्नसंदोहकी प्रशस्ति), (प प्र/प्र १२१ में A N Up) (ती/२/
२८४) । २ (सुभाषित रत्न संदोहकी प्रशस्ति)—माधुर सधकी
गुर्वावलीके अनुसार आप अमितगति प्रथमके शिष्य माधवसेनके शिष्य
थे । आप मुझराजाके राज्यकालमें हुए थे । कतिर्या—१ पथ सग्रह
संस्कृत (वि १०७३), २ जम्बू द्वीप प्रशस्ति, ३ चन्द्रप्रशस्ति, ४ सार्द्ध
द्वय द्वीपप्रशस्ति ५ व्याख्यानप्रशस्ति, ६ धर्म परीक्षा ७ सामायिक
पाठ, ८ सुभाषित रत्नसंदोह, ९ भगवती आराधनाके संस्कृत श्लोक,
१०. अमितगति श्रावकाचार । समय वि १०४०-१०८० (ई ६८३-
१०२३) । का अ/प्र ३५/A N Up), (सुभाषित रत्न सन्दोह/प्र
१ पञ्जालाल), (यो सा/अ/प्र २ पं गजाधरलाल), (अ ग या/प्र
१/पं गजाधरलाल) (जै १/३८०-३८१) (ती/२/२८४), (दे
इतिहास/७/१११) ।

अमितगति श्रावकाचार—आ अमितगति (ई ६८३-१०२३)
द्वारा संस्कृत छन्दोंमें रचित ग्रन्थ है । इसमें १५ परिच्छेद हैं और
कुल १३५२ पद्य हैं । (दे अमितगति)

अमिततेज—मधु १/२/रत्नो नं—अर्शकीतिष्ठा पुत्र या ११/२१

अग्निधोष द्वारा मृहन् सुताराके सुगमे जा । पर महाज्जना विद्या
सिद्ध कर अग्निधोषको हराया ॥७६-८०॥ त्रागं विद्यां मिट्ठं
और भोगसे निदान महित दाता ने रोहसे शर्ममं देव हुआ
॥२००-४११॥ यह क्षातिनाथ भगवान् । पूर्वका तममं भय है ।

अमितसेन—पुगाटसंघकी गुर्वावलीके अनुसार आप आचार्य जय-
सेनके शिष्य तथा कीर्तिपेणके गुरु थे । समय—वि ८००-८६० (ई
७४३-७९३)—दे इतिहास/७/८ ।

अमुख मंगल—दे मंगल ।

अमृददृष्टि—

१ अमृददृष्टिका निश्चय लक्षण—

स मा /मू /२३२—जा एवम् अमृदो चेदा सहिदृष्टि रावभावेषु । सा तत्
अमृददृष्टी सम्मादृष्टी सुजेयव्या ॥२३२॥ —जा चेतयिता ममस
भावोंमें अमृद है । गमार्थ दृष्टिमाना है, उमर । निश्चयमें अमृददृष्टि
ममगृष्टि जानना चाहिए । (स मा /आ २३२) ।

रा ना /६/२८/१५२६/१२ * बहुविधेषु दुर्नगदर्शनवर्त्मसु तत्त्ववदाभास
मानेषु युक्त्यभावां परीक्षाचक्षुषा व्यवसाया विरहितमाहता अमृद
दृष्टि—मदुत प्रसारके मिथ्याप्रादिकोंके एकाग्र दर्शनोंमें तन्मृष्टि
और सुक्ष्मचक्षुषा छोड़कर परीक्षास्वी चक्षुस्त्राग मत्त अन्वयका
निर्णय करता हुआ मोह रहित होना अमृददृष्टि है ।

प्र सं घ /टी /२१/१७३/६ निश्चयेन पुनस्तन्मिदं व्यवहारमृददृष्टिगुण-
प्रमादनांतरतत्त्वबहिस्तत्त्वनिश्चये जाते मति समस्तमिध्यात-
गमादिगुभाषुभसंज्ञा विकल्पेष्टारममुद्रिमुपादेयबुद्धि हितबुद्धि
ममरवाभाव्य व्यवहार त्रिगुणस्वरूपे निशुद्धतानदर्शनस्वभावे निश्चयनि
यन्निश्चयतावस्थानं तदवामृददृष्टिस्त्विति । —निश्चयनयने
व्यवहार अमृददृष्टिगुणके प्रमादसे तन् अन्तर ग और बहिर ग तत्त्व-
का निश्चय हो जाता है, तब सम्पूर्ण मिथ्यास्व रागादि शुभाशुभ
संश्लेष विकल्पोंमें इष्ट बुद्धिको छोड़कर त्रिगुणस्वरूपे निशुद्ध ज्ञान-
दर्शनस्वभावी निजाराम निश्चय अवस्थान करता है, वही अमृद-
दृष्टिगुण है ।

२. अमृददृष्टिका व्यवहार लक्षण

मू आ /२६६ लोहयथेदियसामाहस्यु तत् अण्णदेवमृदत । पच्छा
दसणघादो न ग कायवर्णं समतीए ॥२६६॥ —मृदताके चारभेद हैं—
लौकिक मृदता, वैदिक मृदता, सामायिक मृदता, अन्यदेवतामृदता
इन चारोंको दर्शनघातक जानकर अपनी शक्तिकर नहीं करना
चाहिए । (पु सि उ /मू/१४) ।

र क भा /१४ कापथे पथि वु खानां कापथस्येऽस्यमम्मसि । असंपृच्छिद
रकीतिरमृदा दृष्टिचत्ते ॥१४॥—कुमार्य व कुमारियोंमें मनसे सम्मत्
न होना, कायसे साराहना नहीं करना, यचनसे प्रशंसा नहीं करनी
सो अमृददृष्टिनामा अंग कहा जाता है ।

प्र सं घ /टी/११/१७३/६ कृदृष्टिभिर्गत्प्रणोत—अज्ञानिजनविषयचमरकारो
रपादकं दृष्ट्वा मुखे च योऽमो मृदभावेन धर्ममुद्रया तत्र लब्धं भक्ति
न कुरुते स एवं व्यवहारोऽमृददृष्टिरच्यते । कृदृष्टिओंके द्वारा मनाने
हुए, अज्ञानियोंके चित्तमें विरमयको उत्पन्न करनेवाले रसायनादिक
शास्त्रोंका देखकर या सुनकर जो काई मृदभावेसे धर्मबुद्धि करके
उनमें प्रीति तथा भक्ति नहीं करता है उसको व्यवहारसे अमृद-
दृष्टि कहते हैं ।

प घ /व /५८६-५६५, ५६६ ७७५ अतत्त्वेतत्त्वप्रदान मृददृष्टि स्वतः एवाव ।
नास्ति सा यस्य जीवस्य विरम्यात साऽस्त्रयमृदहृ ॥५८६॥ अदेवे
देवबुद्धि स्यादधर्मं धर्मधीरिह । अगुरौ गुरुबुद्धिर्या स्यात्सा देवादि-
मृदता ॥५६५॥ कुदेवाराधनं कुमादिहिकप्रेयसे कुधी । मृपालोकोपचा-
रत्वादभेया लोकोमृदता ॥५६६॥ देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्त्वार्थ-

दर्शिनो। रूपाताऽयमूढदृष्टि स्यादन्वया मूढदृष्टिता ॥७७॥—मूढ दृष्टि लक्षणको अपेक्षासे अतएवामि तत्त्वपनेके श्रद्धानको मूढदृष्टि कहते हैं। वह मूढदृष्टि जिस जीवको नहीं है सो अमूढदृष्टिवाला प्रगट सम्यग्दृष्टि है ॥५८६॥ इस लोकमें जो कुदेव हैं, उनमें देवबुद्धि, अधर्म-में धर्मबुद्धि, तथा कुगुरुमें गुरुबुद्धि होती है वह देवादिमूढता कहनेमें आती है ॥५८६॥ इस लोक सम्बन्धी श्रेयके लिए जो मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यादेशोकी आराधना करता है, वह मात्र मिथ्यालोको-पचारवत् करानेमें आयी होनेसे अकल्याणकारी लोकमूढता है ॥५८६॥ देवमें, गुरुमें और धर्ममें समीचीन श्रद्धा करनेवाली जो दृष्टि है वह अमूढदृष्टि कहलाती है और असमीचीन श्रद्धा करनेवाली जो दृष्टि है वह मूढदृष्टि है ॥७७॥

(स सा/२३६/५ जयचन्द) (द पा/५ जयचन्द/२)

३. कुगुरु आदिके निषेधका कारण

अन घ/२/८५/२११ सम्यक्त्वगन्धकलभ प्रबलप्रतिपक्षकरीटसङ्घटम्। कुर्वन्नेव निवार्य स्वपक्षकस्यागमभिलपता ॥८५॥—जिस प्रकार अपने युधको कुशल चाहनेवाला सेनापति अपने युधके मदीन्मत हाथीके बच्चेको प्रतिपक्षियोंके प्रबल हाथीसे रक्षा करता है, क्योंकि वह बच्चा है। बड़ा होनेपर उस प्रबल हाथीका घात करने योग्य हो जायेगा तब स्वयं उसका घात कर देगा। ऐसे ही पहिली भूमिकामें अन्यदृष्टिके साथ भिड़नेसे अपनेको बचाये।

* कुगुरु आदिकी विनयका निषेध—वे विनय/४।

* देवगुरु धर्म मूढता—दे मूढता।

अमूर्त—१ गणित सम्बन्धी अर्थ (ज प/प्र १०५) Abstract २ अमूर्तत्व सामान्य व अमूर्तत्व शक्ति—दे मूर्त ३ जीवका अमूर्तत्व निर्देश—दे जीव/३, ४ द्रव्योंमें मूर्तमूर्तकी अपेक्षा विभाजन—दे द्रव्य/३, ५ अमूर्त जीवसे मूर्तकर्म कैसे मन्धे—दे बघ/२, ६ अमूर्त द्रव्योंके साथ मूर्त द्रव्योंका स्पर्श कैसे सम्भव है—दे स्पर्श/२

अमृतचन्द्र—आप एक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। कोई इन्हें काष्ठासघी कहते हैं। कृतियाँ—१ समयसार पर आत्मख्याति टीका, २ प्रबचन-सारपर तत्त्वदीपिका टीका, ३ पचास्तिकाय पर तत्त्वप्रदीपिका टीका, ४ परमाध्यात्म तरंगिनी, ५ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, ६ तत्त्वार्थसार, ७ लघु तत्त्व स्फोट। समय—पट्टावलीमें इनका पट्टारोहण काल वि ६६२ दिया गया है। ५ कैलाशचन्दके अनुसार वि श १०। अत ई ६०५-६५५। (जै /२/१७३, १८६, ३३६), (ती / २/ ४०५)।

अमृतधार—विजयार्धको दक्षिण श्रेणीका एक नगर। दे विद्याधर।

अमृतरसायन—ह पु /३३ श्लो—गिरिनगरके मांसभक्षी राजा चित्ररथका रगाइया था ॥१५१॥ मुनियकि उपदेशसे राजाने दीक्षा तथा राजपुत्रने अणुव्रत धारण कर लिये ॥१५२-१५३॥ इससे कुपित हा इसने मुनियोंको कड़वी तुम्होका आहार दे दिया, जिसके फलसे त सरे नरक गया ॥१५४-१५६॥ यह कृष्णजीका पूर्व पचम भव है।

अमृतस्त्रावी ऋद्धि—दे ऋद्धि

अमृताशोति—आचार्य योगेन्द्रदेव (ई श ६) द्वारा रचित उपदेश-मूलक विभिन्न छन्दमय अपभ्रंश भाषाके ८२ पद्य हैं। प्रेमीजीके अनुसार ये छन्द इन्होंने द्वारा विरचित अध्यात्म सन्दीहके हैं। (प प्र/प्र ११६ H L Jain)

अमेवक—म सा/आ/१६/क १८ परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातुत्वज्योतिषै-कक। सर्वभावान्तरस्वस्तिस्वभाववादमेवक ॥१८॥—शुद्ध निरचय-नयसे देखा जाये तो प्रगट ज्ञायकत्व ज्योतिषमात्रसे आत्मा एक स्वरूप है। क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे सर्व अन्य द्रव्यके स्वभाव तथा

अन्यके निमित्तसे होनेवाले विभावोंको दूर करनेरूप उसका स्वभाव है। इसलिए वह अमेवक है—शुद्ध एकाकार है।

अमोघ—१ नवग्रहवैयक स्वर्गका द्वितीय पटल—दे स्वर्ग/५/३।

२ मानुषोत्तर पर्वतस्थ अककूटका स्वामी भवनवासी सुपर्णकुमार देव—दे लोक/५/१०। ३ रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे लोक/५/१३।

अमोघवर्ष—१ अमोघवर्ष प्रथम—मान्यखेटके राजा जगत्तुङ्ग

(गोविन्द तृ) के पुत्र थे। पिताके पश्चात् राज्यारूढ़ हुए। मड़े परा-क्रमी थे। इन्होंने अपने चाचा इन्द्रराजक पुत्र वकराजकी सहायतासे श सं ७५७ में लाट देशके राजा ध्रुव राजाको जोतकर उसका देश भी अपने राज्यमें मिला लिया था। इनका राज्य समस्त राष्ट्रकूटमें फैला हुआ था। आप जिनधर्मवरसल थे। आचार्य भगवज्जिनेसेना-चार्य (महापुराणके कर्ता) के शिष्य थे। इसीलिए पिछली अवस्था-में राज्य छोड़कर उन्होंने वैराग्य ले लिया था। इनका बचपनका नाम बाह्मणराय था तथा उपाधि 'नृपतुंग' थी। 'गोविन्दचतुर्थ' भी इन्हें ही कहते हैं। अकालवर्ष (कृष्ण द्वि) इनका पुत्र था। इन्होंने एक 'प्ररोत्तर माला' नामक ग्रन्थ भी लिखा है। समय—निश्चित-रूपसे आपका समय श स ७३६-८००, वि ८७३-९३६, ई ८१४-८७६ है। विशेष देखो—इतिहास/३/५ (वा अनु/प्र/ A N Upa) (प ख१/प्र/ A N Upa) प ख१/प्र ३६/H L Jain) (क पा १/प्र ७०/प महेन्द्रकुमार), (छा/प्र ७/प पत्रालाल बाकलीवाल), (म पु/प्र ४१/प पत्रालाल बाकलीवाल)। २ अमोघवर्ष द्वितीय—अमोघवर्ष प्र के पुत्र अकालवर्ष (कृष्णराज द्वितीय) का नाम ही अमोघवर्ष वि था—दे इतिहास/३/५, ३ अमोघवर्ष तृतीय—अकाल वर्षके पुत्र कृष्णराज तृतीयका नाम ही अमोघवर्ष तृतीय था। दे कृष्णराज तृतीय—इतिहास/३/५।

अयन—१ कलका एक प्रमाण दे गणित I/१/४। २ (ज प्र/प्र १०५) solstice।

अयशःकीर्ति—दे यशः कीर्ति।

अयुतसिद्ध—दे युत।

अयोग—दे योग।

अयोग केवली—दे केवली/१।

अयोगव्यवच्छेद—१ अयोगव्यवच्छेदात्मक एवकार—दे एव।

२ अयोगव्यवच्छेद नामक एक न्याय विषयक ग्रन्थ जिसे श्वेता-म्वराचार्य हेमचन्द्र सूरि (ई १०८८-११७३) ने केवल ३२ श्लोकोंमें रचा था, और इसी कारणसे जिसका द्वात्रिंशतिका भी कहते हैं। महिषेणसूरिने ई १२६२ में इसपर स्याद्वादमजरी नामका टीका रची।

अयोध्या—१ अपर विदेहस्थ गन्धमालिनी क्षेत्रकी मुख्य नगरी—दे ० लोक/५/३, २ अयोध्या, माकेत, सुकौशला और विनीता ये सम एक ही नगरके नाम हैं (म पु सू/१२/७३)।

अरक्षा भय—दे भय।

अरजत्का—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे विद्याधर।

अरजा—१ अपर विदेहस्थ शाल क्षेत्रकी प्रधान नगरी—दे लोक/५/२,

२ नन्दीश्वर द्वीपकी दक्षिण दिशामें स्थित वापी—दे लोक/५/११।

अरण्य—नि सा/ता वृ/५८ मनुष्यसंचारश्चन्यं वनस्पतिजातवल्ली-गुल्मप्रभृतिभि परिपूर्णमरण्यं।—मनुष्यसंचारसे शून्य वनस्पति, वेलों व वृक्षादिके परिपूर्ण अरण्य कहलाता है।

अरति—अरति कपाय द्वेप है—दे कपाय/४।

अरति परिपह—स सि ६/६/४२२/७ सयतस्येन्द्रियेष्टविषय-
सम्बन्ध प्रति निरुल्लस्य गीतनृत्यवादित्रादिविरहितेषु शून्यागार-
देवकुलतरुकोटरशिलागुहादिषु स्वाध्यायध्यानभावानारतिमास्कन्दतो
दृष्टश्रुतानुभूतरतिस्मरणसकथाश्रवणकामशरप्रवेशनिर्विषरहृदयस्य प्रा-
प्तिषु सदा सदयस्यारतिपरिपहजयोऽवसेय । —जो सयत इन्द्रियों-
के इष्ट विषय सम्बन्धके प्रति निरुल्लस्य है, जो गीत, नृत्य और वादित्र
आदिमें रहित शून्यघर, देवकुल, तरुकोटर, और शिलागुफा आदिमें
स्वाध्याय, ध्यान और भावनामें लीन हैं, पहिले देखे हुए मुने हुए
और अनुभव किये हुए विषय भोगके स्मरण, विषय भोग सम्बन्धी
कथाके श्रवण और कामशर प्रवेशके लिए जिसका हृदय निरिच्छद है
और जो प्राणियोंके ऊपर सदाकाल सदय है, उसके अरति परिपहजय
जानना चाहिए । (रा वा ६/६/११/६०६/३६) चा सा १/११/३)

२ अरति व अन्य परिपहोमें अन्तर

रा वा ६/६/१२/६१०/३ स्यादेतत्—सुधादीनां सर्वेषामरतिहेतुत्वात्
पृथगरतिग्रहणमनर्थकमिति । तन्न, किं कारणम् । सुधाद्यभावेऽपि
मोहोदयात्तरुवृत्ते । मोहोदयाकुलितचेतसो हि सुधादिवेदनाभावेऽपि
संयमेऽरतिरुपजायते । —प्रश्न—सुधा आदिक सर्व हो परिपह अरतिके
हेतु होनेके कारण अरति परिपहका पृथक् ग्रहण अनर्थक है । उत्तर—
नहीं, क्योंकि, सुधादिके न होनेपर भी मोह कर्मके उदयसे होनेवाली
सयमको अरति का समग्र करनेके लिए 'अरति' का पृथक् ग्रहण
किया है ।

अरति प्रकृति—स सि ८/६/३८६/१३ यदुदयादेशादिपञ्चलुख्यं
सा रति । अरतिस्तद्विपरीता । —जिसके उदयसे देश आदिमें
उत्पन्नता होती है, वह रति है । अरति इससे विपरीत है । (रा
वा ८/६/३८६/१३) (घ १२/४, २, ८, १०/२८६/६)

अरतिवाक्—दे वचन ।

अरनाथ—१ (म पु ६/६/१लो न)—पूर्वके तीसरे भवमें कच्छदेश
को क्षेमपुरी नगरीके राजा 'धनपति' थे । २ पूर्वके भवमें जयन्त
विमानमें अहमिन्द्र हुए । ८-१ । वर्तमानभवमें १८वें तीर्थकर हुए ।
(विशेष दे तीर्थकर/४) (युगपत् सर्व भव दे म पु ६/६/४०)
२ भावी बारहवें तीर्थकरका भी यहो नाम है । अपर नाम पूर्व
बुद्धि है । (विशेष दे तीर्थकर/४)

अरिजय—१ विजयार्थको उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे विद्याधर,
२ विजयार्थको दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे विद्याधर ।

अरि—घ १/१, १, १/४२/६ नरकतियक्कुमानुष्प्रेतावासगताद्येषु ल-
प्राप्तिनिमित्तवादिर्मोह । —नरक, तिर्य्यच, कुमानुष और प्रेत इन
पर्यायोंमें निवास करनेसे होनेवाले समस्त दुःखोंको प्राप्तिका निमित्त-
कारण होनेसे मोहको 'अरि' अर्थात् शत्रु कहते हैं । (विशेष दे
मोहनीय/१/६)

अरिकेसरी—आप चालुषयवशो राजा थे । इनका पुत्र 'वर्द्ध' था
जो कृष्णराज तृतीयके आधीन था । तदनुसार इनका समय वि
६६८ (ई ६४६-६७४) आता है । इनके समयमें कन्नड़ जैन कवि
'पम्प' ने 'विक्रमाजय विजय नामका ग्रन्थ लिखकर पूरा किया था ।
(यशस्तित्त चम्पू/प्र २०/-पं सुन्दरलाल)

अरिष्ट—१ लौकान्तिक देवोंका एक भेद—दे लौकान्तिक, २ ब्रह्म-
स्वर्गका प्रथम पटल—दे स्वर्ग/६/३ । ३ रुचक पर्वतस्थ एक कूट—
दे लोक/६

अरिष्टपुर—पूर्व विदेहस्थ कच्छक देशकी मुख्य नगरी—दे लोक/६/२

अरिष्टसभवा—आकाशोपपन्न देवोंका एक भेद—दे देव II/१

अरिष्टा—१ नरक की पाँचवीं पृथ्वी—दे धूमप्रभा (नरक/६/१) ।

२ पूर्व विदेहस्थ कच्छ देशकी मुख्यनगरी—दे लोक/६/२ ।

अरुण—१ सौधर्म स्वर्गका छठा पटल व इन्द्रक—दे स्वर्ग/६/३,

२ लौकान्तिक देवोंका एक भेद—दे लौकान्तिक, ३ दक्षिण अरुणवर
द्वीपका रक्षक देव—दे भवन/४, ४ दक्षिण अरुणवर समुद्रका रक्षक
देव—दे भवन/४ ।

अरुणप्रभ—१ उत्तर अरुणवर द्वीपका रक्षक देव—दे भवन/४;
२ उत्तर अरुणवर समुद्रका रक्षक देव—दे भवन/४

अरुणमणि—आप एक कवि थे । आपने 'अजित पुराण' ग्रन्थ रचा ।

समय—वि १७१६ (ई १६६६) में उपरोक्त ग्रन्थ पूर्ण किया था । (म
पु/प्र २०/प पञ्चालाल) (ती/४/८६) ।

अरुणवर—मध्यलोकका नवम द्वीप व सागर—दे लोक/६ ।

अरुणा—पूर्व आर्य खण्डस्थ एक नदी—दे मनुष्य/४ ।

अरुणी—विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एकनगर—दे विद्याधर ।

अरुणीवर—मध्यलोकका नवम द्वीप व सागर—दे लोक/६/१ ।

अरूपत्व—दे मूर्त ।

अरूपी—दे मूर्त ।

अर्ककीर्ति—(म पु/सर्ग/१लो न)—भरत चक्रवर्तीका पुत्र था ।

४७/१८६-१८७ । मूलोचना कन्याके अर्थ सेनापति जयसेन-द्वारा युद्धमें
परास्त किया गया ४४/७१, ७२, ३४४-४६ । गृहपति अकम्पन द्वारा
समझाया जानेपर 'अक्षमाला' कन्याको प्राप्तकर सन्तुष्ट हुआ ४६/१०-
३० । इसीसे सूर्यवंशकी उत्पत्ति हुई । (प पु/६/४), (प पु/६/२६०-
२६१) ह पु/३/१-७) ।

अर्कमूल—विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे विद्याधर ।

अर्चट—आप एक बौद्ध नैयायिक थे । अपर नाम धर्माकरदत्त था ।

आप धर्मोत्तरके गुरु थे । कृतियाँ—१ हेतु बिन्दु टीका, २ क्षणभङ्ग-
सिद्धि, ३ प्रमाणद्वय सिद्धि । समय—ई श ७-८ / (सि वि प्र
३२/प महेंद्रकुमार) ।

अर्चन—(दे पूजा/४/१ में घ ८) ।

अर्जुन—(पा पु/सर्ग/१लो न) पूर्वके तीसरे भवमें सोमप्रति
ब्राह्मणका पुत्र था २३/८२ । पूर्वके दूसरे भवमें अच्युत स्वर्गमें देव/
२३/१०६ । वर्तमान भवमें राजा पाण्डुका कुन्ती रानीसे पुत्र उत्पन्न
हुआ/८/१७०-७३ । अपर नाम धनजय व वृष्टद्युम्न भी था/१६/२१२ ।
द्रोणाचार्यसे शस्त्रवेधनी धनुर्विद्या पायी/८/२०८-२१६ । तथा स्वयंवर-
में गण्डीव धनुष चढ़ाकर द्रौपदीको बरा/१६/१०६ । युद्धमें दुर्योधन
आदिक कौरवोंको परास्त किया/१६/६१ । अन्तमें दीक्षा धारणकर
ली । न्योधनके भानजेकृत उपसर्गकी जीत मोक्ष प्राप्त किया/२६/१२-
१७, ६१-२३३ ।

अर्जुन—(भारतीय इतिहास १/१८६)—आप एक कवि थे, अपर नाम
अश्वमेध दत्त था—समय ई पू १६०० ।

अर्जुन वर्मा—(द सा/प्र ३६-३७/नाथुरामजी प्रेमी) आप मुभट-
वर्माके पुत्र और देवपालके पिता थे । मालवा (मगध) के राजा थे ।
धारा व उज्जनी नगरी राजधानी थी । समय—ई० १२०७-१२१८ ।

अर्जुनी—विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे विद्याधर ।

अर्थ—

१ अर्थ = जो जाना जाये

स सि १/२/८ अर्थव्युत्पत्ति निरूपयत इति यावत् । —जो निश्चय
किया जाता है उसे अर्थ कहते हैं ।

रा बा /१/२/६/१६/२३ अर्थात् गम्यते ज्ञायते इत्यर्थः । —जो जाना जाये या निश्चय किया जाये उसे अर्थ कहते हैं । (रा बा /१/३३/१/६६/४), (ध १२/४,२,१४,२/४७८/७), (ध १३/४,५,६/२८९/१२), (न्या वि / वृ १/६/१६६/२३) (स म /२८/३००/१६) (प ध /पू० /१५८) ।

२ अर्थ = द्रव्य गुण पर्याय

स सि /१/१०/१९६/२ "इयति पर्यायास्तैर्वाऽयत् इत्यर्थो द्रव्यं ।" —जा पर्यायोंका प्राप्त होता है, या जो पर्यायोंके द्वारा प्राप्त किया जाता है यह अर्थ शब्दको व्युत्पत्ति है । इसके अनुसार अर्थ द्रव्य ठहरता है । (रा बा /१/१०/६६/३०) ।

स सि /६/४४/४५५ अर्थ ध्येयो द्रव्य पर्यायो वा । —अर्थ ध्येयको कहते हैं । इससे द्रव्य और पर्याय लिये जाते हैं ।

रा बा /१/३३/१/६६/४ अर्थते गम्यते निष्पाद्यत इत्यर्थः कार्यम् । —जो जाना जाता है, प्राप्त किया जाता है, या निष्पादन किया जाता है वह 'अर्थ' कार्य या पर्याय है ।

ध १३/४,५,६/२८९/१२ अर्थते गम्यते परिच्छिद्यत इति अर्थो नव पदार्थः । —जाना जाता है वह अर्थ है । यहाँ अर्थ पदसे नौ पदार्थ लिये गये हैं ।

प म् /४/१ सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः । —सामान्य और विशेष स्वरूप अर्थात् द्रव्य और पर्याय स्वरूप पदार्थ प्रमाण (ज्ञान) का विषय होता है ।

प्र सा /त प्र /८७ गुणपर्यायानियति गुणपर्यायैर्यन्त इति वा अर्थः द्रव्याणि, द्रव्याण्याश्रयत्वेनियति द्रव्येराश्रयभूतैर्यन्त इति वा अर्थः गुणा, द्रव्याणि क्रमपरिणामेनार्यन्त इति वा अर्थः पर्यायाः । —जो गुणोंको और पर्यायोंको प्राप्त करते हैं, अथवा जो गुणों और पर्यायोंके द्वारा प्राप्त किये जाते हैं ऐसे 'अर्थ' द्रव्य हैं । जो द्रव्योंको आश्रयके रूपमें प्राप्त करते हैं अथवा जो आश्रयभूत द्रव्योंके द्वारा प्राप्त किये जाते हैं ऐसे 'अर्थ' गुण हैं । जो द्रव्योंको क्रम परिणामसे प्राप्त करते हैं, अथवा जो द्रव्योंके द्वारा क्रम परिणामसे प्राप्त किये जाते हैं, ऐसे अर्थ 'पर्याय' हैं ।

न दो/३/७६ कोऽयमर्थो नाम । उच्यते । अर्थोऽनेकान्तः । —अर्थकिते कहते हैं—अनेकान्तका अर्थ कहते हैं ।

३. अर्थ = ज्ञेयरूप विश्व

प्र सा /त प्र /१२४ तत्र क खखर्व, स्वपरविभागेनावस्थित विश्वं । —अर्थ क्या है । स्व परके विभागपूर्वक अवस्थित विश्व ही अर्थ है । (प च /पू/४४१) (प ध /उ /३६१) —दे नय १/४ समस्त विश्व शब्द, अर्थ व ज्ञान इन दोनोंमें विभक्त है ।

४ अर्थ = श्रुतज्ञान

ध. १४/६, ६, १०/८८ अर्थो गणहरदेवो, आगमसूत्रेण विना सयलसुदणान-पञ्जाएण परिणदत्तादो । तेण समं सुदणान अत्थसम अथवा अत्थो भोजपद, तत्तो उप्पण सयलसुदणानमत्थसम । —'अर्थ' गणधरदेवका नाम है, क्योंकि, वे आगम सूत्रके बिना सफल श्रुतज्ञानरूप पर्यायसे परिणत रहते हैं । इनके समान जा श्रुतज्ञान होता है वह अर्थसम श्रुतज्ञान है । अथवा अर्थ भोज पदको कहते हैं इससे जो समस्त श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह अर्थ सम श्रुतज्ञान है ।

५ अर्थ = प्रयोजन

स सि /१/६/२१ द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येतसौ द्रव्यार्थिकः । —द्रव्य ही अर्थ या प्रयोजन जिसका सो द्रव्यार्थिक नय है । (रा बा /१/३३/१-६६/८) (ध १/१.१ /८३/१९) (ध ६/४,१,४६/१००/१) (आ प /६)

रा बा /४/४२/१६ अर्थकरणसम्भव अभिप्रायादिशब्द न्यायारकल्पितो अर्थादिगम्यः । —अर्थ, अकरण, सम्भव, अभिप्राय आदि शब्द न्याय-से कल्पित किये हुए अर्थाधिगम्य कहलाते हैं, जैसे रोटी खाते हुए 'सन्धव लाओ' कहनेसे नमक ही लाना, घोड़ा नहीं ऐसा स्पष्ट अभि-प्राय न्यायसे सिद्ध है ।

न्या दी /३/९७३ अर्थस्तावत्तारपर्यरूढ इति यावत् । अर्थ एव तारपर्यमेव वचसोरप्यभिमुक्तवचनात् । —'अर्थ' पद तारपर्यमें रूढ़ है, अर्थात् प्रयो-जनार्थक है, क्योंकि 'अर्थ ही या तारपर्य ही वचनोंमें है' ऐसा आर्प वचन है ।

६ 'अर्थ' पदके अनेको अर्थ

रा बा /१/२/१६/२०/३१ अर्थशब्दोऽर्थमनेकार्थः —कचिद् द्रव्यगुणकर्म-सु वर्तते 'अर्थ' इति द्रव्यगुणकर्मसु (वै मू /७/७/३) इति वचनात् । कचित् प्रयोजने वर्तते 'किमर्थमिहागमनं भवतः ?' किं प्रयोजन-मिति । कचिदने वर्तते अर्थवानर्थं देवदत्त धनवानिति । कचिद्-भिधेये वर्तते शब्दार्थसम्बन्ध इति । —'अर्थ' शब्दके अनेक अर्थ हैं—१ वैशेषिक शास्त्रमें द्रव्य गुण कर्म इन तीन पदार्थोंको अर्थसंज्ञा है । २ 'आप यहाँ किस अर्थ आये हैं' यहाँ अर्थ शब्दका अर्थ प्रयोजन है । ३ 'देवदत्त अर्थवान है' यहाँ अर्थ शब्द धनके अर्थमें प्रहण किया गया है—अर्थवान अर्थात् धनवान । ४ 'शब्दार्थ-सम्बन्ध' इस पदमें अर्थ शब्द का अर्थ अभिधेय या वाच्य है । प्रा वि /वृ /१/७/१४०/१५ अर्थोऽभिधेयः । —अर्थ अर्थात् अभिधेय (भ आ /वि /११३/२६१/१२) ।

प ध /पू /१४३ सत्ता सत्त्व सदा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु । अर्थो विधि रविशेषादेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥१४३॥ —सत्ता, सत्त्व अथवा सत्त्व, सामान्य, द्रव्य, अन्वय वस्तु अर्थ और विधि ये नौ शब्द सामान्य रूपसे एक द्रव्य रूप अर्थके ही वाचक हैं ।

* वर्तमान पर्यायको ही अर्थ कहने सम्बन्धी शका

—दे केवलज्ञान/४/२ ।

* शब्द अर्थ सम्बन्ध—दे आगम/४ ।

* अर्थकी अपेक्षा वस्तुमें भेदाभेद —दे 'सप्तभगो/४/८

अर्थनय—दे नय १/४ ।

अर्थ पद—दे पद ।

अर्थ पर्याय—दे पर्याय/१ ।

अर्थ पुनरुक्त—दे पुनरुक्त ।

अर्थ पुरुषार्थ—दे पुरुषार्थ ।

अर्थ मल—दे मल ।

अर्थ वाद—अर्थवाद रूप वाक्य—दे वाक्य ।

अर्थ शुद्धि—मू आ /मू /२८५ विजगमुद्ध सुत्त अत्थविमुद्ध च तदुभयविमुद्ध । पयदेण च जप्पतो गाणविमुद्धो हवइ एसो ॥२८५॥ —जो सूत्रको असरशुद्ध अर्थशुद्ध अथवा दोनों कर शुद्ध सावधानीसे पढ़ता पढ़ाता है, उसीके शुद्ध ज्ञान होता है ।

भ आ /वि /११३/२६१/१२ अथ अर्थ शब्देन किमुच्यते । व्यञ्जनशब्दस्य सांनिध्यादर्थशब्द शब्दाभिधेये वर्तते, तेन सूत्रार्थोऽयं इति गृह्यते । तस्य का शुद्धि । विपरीतरूपेण सूत्रार्थनिरूपणायार्थधारवाजि-रूपणायार्थविपरीत्यस्य अर्थशुद्धिरित्युच्यते । —'अर्थ' शब्दसे हम क्या समझें ? अर्थ शब्द व्यञ्जन शब्दके समीप होनेसे शब्दोंका उच्चारण होनेपर मनमें जो अभिप्राय उत्पन्न होता है वह अर्थ शब्दका भाव है । अर्थात् गणधर आदि रचित सूत्रोंके अर्थको यहाँ अर्थ समझना चाहिए । 'शुद्धि' का अर्थ इस प्रकार जानना—विपरीत रूपसे सूत्रार्थ-की निरूपणमें अर्थ ही आधारभूत है । अतः ऐसी निरूपणा अर्थशुद्धि नहीं है । सशय, विपर्यय अनध्यवसायादि दोषोंसे रहित सूत्रार्थ निरूपणको अर्थशुद्धि कहते हैं ।

अर्थ सदृष्टि—आ नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (इ० ६६३-७१३)

कृत गोमट्टसार सन्धिसार व क्षणसार इन तीनों ग्रन्थोंमें प्रयुक्त

गणितके आधारपर π टोडरमण्डले तीनों सम्बन्धी तीन अर्थ संदृष्टियाँ रची हैं। समय—लगभग वि० १८१४ ई० १७६७ (ती / ४/८८६)।

अर्थसम—अर्थसम द्रव्य निरोप। दे निरोप/४/८।

अर्थसमय—दे समय।

अर्थ सम्पत्त्व—दे सम्पददान 1/१।

अर्थान्तर—(न्या सू / ५/४-२/७) प्रवृत्तार्थादप्रतिसम्बन्धार्थ मर्यान्त-रम्। —प्रवृत्त अर्थसे सम्बन्ध न रखनेवाले अर्थका अर्थान्तर निग्रह-स्थान कहते हैं, उदाहरण जैसे कोई कहे कि दाम्ब निरय है, अस्पृशस्व होनेसे। हेतु किसे कहते हैं। 'हि' धातुसे 'तुनि' प्रत्यय करनेसे हेतु यह कृदन्त पद हुआ और नाम, आत्मात, उपसर्ग और निपात ये पद हैं। यह प्रकृत अर्थसे कुछ सम्बन्ध नहीं रखता। (श्लो वा ४/ न्या १६१/३८०/७)

अर्थधिगम—दे अधिगम।

अर्थपत्ति—रा वा /६/६/६/६१६/६ यथा हि असति हि मेघे वृष्टि-नस्तिश्रुते अर्थादापन्नं सति मेघे वृष्टिस्तिति। —जैसे 'मेघके अभावमें वृष्टि नहीं होती' ऐसा कहने पर अर्थपत्तिसे हो जाना जाता है कि मेघके होनेपर वृष्टि होती है।

२ अर्थपत्तिमें अनैकान्तिक दोषका निरास

रा वा /६/६/६/६१६/१० सरयपि मेघे कदाचिद्वृष्टिर्नास्तीत्यर्थापत्तिर-नैकान्तिकीति तत्र किं कारणम्। प्रयासमात्रेण वा। प्रयासमात्रमेतत् अर्थपत्तिरनैकान्तिकीति १। अहिंसा धर्म इत्युक्ते अर्थापत्त्या 'हिंसा अधर्म' इति न सिद्धयति। सिद्धयर्थेयम्। असति मेघे न वृष्टिरित्युक्ते सति मेघे वृष्टिरित्यत्रापि सरयमे मेघे इति नास्ति दोषः। —प्रश्न—मेघोंक होनेपर भी कदाचिद् वृष्टि नहीं होती है, इसलिए अर्थपत्ति अनैकान्तिकी है। उत्तर नहीं, क्योंकि, इस प्रकार अर्थपत्तिको अनैकान्तिकी सिद्ध करनेका यह आपका प्रयास मात्र है। अहिंसा धर्म है 'देसोकहनेपर अर्थपत्तिसे हो क्या यह सिद्ध नहीं हो जाता कि 'हिंसा अधर्म है'। होता ही है। कभी मेघके होनेपर ही वृष्टिके न देखे जानेसे इतना ही कह सकते हैं, कि वृष्टि 'मेघके होनेपर हो होगी' अभावमें नहीं।

३. अर्थपत्तिका श्रुतज्ञानमे अन्तर्भाव

रा वा /१/२०/१५/७८/२३ एतेषामप्यर्थापत्त्यादीनाम् अनुक्तानामनुमानस-मानमिति पूर्ववत् श्रुतान्तर्भावः। —न कहे गये जो अर्थपत्ति आदि प्रमाण हैं उन सका, अनुमान समान होनेके कारण श्रुतज्ञानमें अन्तर्भाव हो जाता है।

अर्थपत्ति समा जाति—न्या सू / ५/४/१/२१ अर्थपत्ति प्रति-पक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः। —अर्थपत्तिसे प्रतिपक्षके साधन करनेवाले हेतुको अर्थपत्तिसमा कहते हैं। जैसे बाढ़-द्वारा शब्दके अनित्यत्वमें प्रयत्नानन्तरीयस्वरूप हेतु के दिये जानेपर, प्रतिबाधो कहता है, कि यदि प्रयत्नानन्तरीयस्वरूप अनित्य धर्मके साधर्म्यके कारण शब्द अनित्य है तो अस्पृशस्वस्वरूप निरय धर्मके साधर्म्यसे वह निरय भी हो जाओ। (श्लो वा ४/न्या ४०२/६१६/२७)।

अर्थपदत्व—घ / १, १, ७/१६७/२ न च सतमयमागमो ण परुवेई तत्स अथावयत्तप्पसगादो। —आगम, जिस प्रकारसे वस्तु व्यवस्था है उसी प्रकारसे प्रत्यक्ष न करे, ऐसा नहीं हो सकता। यदि ऐसा माना जावे तो उस आगमको अर्थपदत्व अर्थात् अनर्थकपदत्वका प्रसंग प्राप्त हो जायगा।

अर्थविग्रह—दे अवग्रह।

अर्थ कथानक—वि १६६८, ई० १६४१ में प मनारसीदास द्वारा रचित अपनी आत्मकथा/(ती/४/२६४)।

अर्थक्रम—(ध / प्र २७) Operation of mediation

अर्थ गोलक—(ज प / प्र १०६) Hemisphere

अर्थच्छेद—(ध / प्र २७) १ The number of times a num-ber is halved Mediation/Logarithm २ (ज प / प्र १०६) log to the base 2 (विशेष दे गणित 11/२/१)।

अर्थ नाराच—दे सहनन।

अर्थ पुद्गल परावर्तन—दे अनंत।

अर्थ फालक—रवेताम्बर सम्प्रदायका आदिम रूप—दे, रवेताम्बर।

अर्थ मडलीक—दे राजा।

अर्थेन्द्रा—पिचबे नरकका चौथा पटन—दे नरक/४।

अर्पित—स सि / ४/३२/३०३ अनेकान्तरामकस्य वस्तुन प्रयाजनवशा-द्यस्य कस्यचिद्वस्त्वस्य विवक्षया आपित प्राधान्यमर्पितमुपनीतमिति यावत्। तद्विपरीतमनर्पितम्। —वस्तु अनेकान्तरामक है। प्रयोजनके अनुसार उसके किसी एक धर्मको विवक्षासे जब प्रधानता प्राप्त होती है तो यह अर्पित या उपनीत कहलाता है। और प्रयोजनके अभावमें जिसको प्रधानता नहीं रहती वह अनर्पित कहलाता है। नोट—इस शब्दका न्यायविययक अर्थ योजित है।

अर्हन्त—जैन दर्शनके अनुसार व्यक्ति अपने कर्मोंका बिनाश करके स्वयं परमार्थमा बन जाता है। उस परमार्थमाकी दो अवस्थाएँ हैं—एक शरीर सहित जोषम्युक्त अवस्था, और दूसरी शरीर रहित देह मुक्त अवस्था। पहली अवस्थाको यहाँ अर्हन्त और दूसरी अवस्थाका सिद्ध कहा जाता है। अर्हन्त भी दो प्रकारके होते हैं—तीर्थंकर व सामान्य। विशेष पुण्य सहित अर्हन्त जिनके कि यश्याणक महोत्सव मनाये जाते हैं तीर्थंकर कहलाते हैं, और दोष सर्व सामान्य अर्हन्त कहलाते हैं। केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञत्व मुक्त होनेके कारण इन्हें केवली भी कहते हैं।

१ अर्हन्तका लक्षण

१ पूजाके महत्त्वसे अर्हन्त व्यपदेश

सू आ / ५/४०६/६१६ अरिहति णमोयकारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए। ॥६०६॥ अरिहति बंद्दणमंसणाणि अरिहति पूयसकारं। अरिहति सिद्धिगमण अरहता तेण उच्चति ॥६१२॥—जो नमस्कार करने योग्य है, पूजाके योग्य हैं और देवोंमें उत्तम है, वे अर्हन्त हैं ॥६०६॥ वन्दना और नमस्कारके योग्य हैं, पूजा और सरकारके योग्य हैं, मोक्षजानेके योग्य हैं इस कारणसे अर्हन्त कहे जाते हैं ॥६१२॥

घ १/१, १, १/४४/६ अतिशयपूजाहर्षाद्वान्ति। —अतिशय पूजाके योग्य होनेसे अर्हन्त संज्ञा प्राप्त होती है। (म पु / ३२/१८६) (न च वृ / २७२) (चा पा टी / १/३१/६)।

प्र स/टी/४/०/२११/१ पञ्चमहाकल्याणरूपा पूजामर्हति योग्यो भवति तेन कारणेन अर्हत् भण्यते। —पञ्च महाकल्याणक रूप पूजाके योग्य होता है, इस कारण अर्हत् कहलाता है।

२ कर्मों आदिके हनन करनेसे अर्हन्त है

घो पा/मृ/३० जरवाहिजम्ममरण चउगइगमण च पुण्णपाव च। हत्तण दोसकम्मे हुउ णाममयं च अरहता ॥३०॥—जरा और व्याधि अर जन्ममरण, चार गति विषे गमन, पुण्य और पाप इन दोषनिके उप-जानेवाले कर्म हैं। सिनिका नाश करि अर केवलज्ञान मई हुआ होय सो अरहता है।

मृ आ/मृ/५०५, ५६१ रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चदे ॥५०५॥ जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणा होति । उता अरि च जम्म अरहंता तेण उच्चति ॥५६१॥ — अरि अर्थात् मोह कर्म, रज अर्थात् ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म और अनन्तराय कर्म इन चारके हनन करनेवाले हैं । इसलिए 'अरि' को प्रथमाक्षर 'अ', 'रज' का प्रथमाक्षर 'र' लेकर उसके आगे हननका वाचक 'हन्त' शब्द जोड़ देनेपर अहन्त बनता है ॥५०५॥ क्रोध मान, माया, लोभ इन कर्पायों-को जीत लेनेके कारण 'जिन' हैं और कर्म शत्रुओं व ससारके नाशक होने के कारण अहंति कहलाते हैं ॥५६१॥

घ १/१.१/४२/६ अरिहननादरिहन्ता । अशेषदुःखप्राप्तिनिमित्तत्वा दरिर्मोह । रजोहननाद्वा अरिहन्ता । ज्ञानद्वयावरणानि रजांसो वस्तुविषययोधानुभवप्रतिषन्धकत्वाद्ग्रासि । रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता । रहस्यमन्तराय तस्य शेषघातिप्रतियविनाशविनाशविनाशो भ्रष्टशोचवन्नशक्तो कृतावातिकर्मणो हननादरिहन्ता । — 'अरि' अर्थात् शत्रुओंका नाश करनेसे अरिहन्त यह संज्ञा प्राप्त होती है । समस्त दुर्वाकों प्राप्तिनिमित्त कारण होनेसे मोहको अरि कहते हैं । अथवा रज अर्थात् आवरण कर्मोंका नाश करनेसे 'अरिहन्त' यह संज्ञा प्राप्त होती है । ज्ञानावरण और दर्शनावरण रजकी भाँति वस्तु विषयक बोध और अनुभवके प्रतिषन्धक होनेसे रज कहलाते हैं । अथवा रहस्यके अभावसे भी अरिहन्त संज्ञा प्राप्त होती है । रहस्य अन्तराय कर्मको कहते हैं । अन्तराय कर्मका नाश शेष तीन उपरोक्त कर्मोंक नाशक अविनाशक है, और अन्तरायकर्मके नाश होने पर शेष चार घातिया कर्म भी भ्रष्ट शोचके समान निःशक्त हो जाते हैं । (न च वृ/२७२), (म आ/वि/४६/१५३/१२) (म पु/३३/१८६), (द्र सं/टो/५०/२१०/६), (भा पा/टो/१/३१) ।

घ ८/३,४१/८६/२ 'खधिदधादिकम्मा केवलणणेण दिट्ठसव्वद्वा अरहंता णाम । अथवा, णिडुविदट्ठकम्माण धाहदधादिकम्माण च अरहंतेति सण्णा, अरिहणं पदिदोहं भेदाभावाद्वा ।" — जिन्होंने घातिया कर्मोंको नष्ट कर केवलज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंको देख लिया है वे अरहन्त हैं । अथवा आठों कर्मोंको दूर कर देनेवाले और घातिया कर्मोंको नष्टकर देनेवालोंका नाम अरहन्त है । क्योंकि कर्म शत्रुके विनाशके प्रति दोनोंमें काई भेद नहीं है । (अर्थात् अहंति व सिद्ध जिन दोनों ही अरहन्त हैं) ।

२ अहन्तको भेद

सत्तास्वरूप/३८ सात प्रकारके अहन्त होते हैं । पाँच, तीन व दो कर्माणकयुक्त (देखो तीर्थंकर/१) सातिशय केवली अर्थात् गन्धकुटो युक्त केवली, सामान्य केवली अर्थात् मूक केवली, उत्सर्ग केवली, और अन्तकृत् केवली । और भी दो केवली/१ ।

३ भगवान्के १८ दोषोंके अभावका निर्देश

नि सा/मृ/६ "छहसहभौरोसो रागो मोहो चित्ताजराजामिच्च । स्वेदं खेदं मदो रश्च विमिहयिद्वाजणुल्लेगो ॥६॥ — १ क्षुधा, २ तृषा, ३ भय, ४, रोष (क्रोध), ५ राग, ६ मोह, ७ चिन्ता, ८ जरा ९ रो १० मृग्यु, ११ स्वेद, १२ खेद, १३ मद १४ रति, १५ विस्मय, १६ निद्रा, १७ जन्म और १८ उद्वेग (अरति—ये अठारह दोष हैं) (ज प/१३/८५-८७) द्र सं/टो/५०/२१०) ।

४ भगवान्के ४६ गुण

चार अनन्त चतुष्टय, ३४ अतिशय और आठ प्रतिहार्य, ये भगवान्के ४६ गुण हैं ।

५ भगवान्के अनन्त चतुष्टय

(अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य—ये चार अनन्त चतुष्टय कहलाते हैं—विशेष से चतुष्टय ।

६ चौतीस अतिशयोंके नाम निर्देश

ति प/४/८६६-६१४/ केवल भाषार्थ—१ जन्मके १० अतिशय १ स्वेद-रहितता, २ निर्मल शरीरता, ३ दूधके समान धवल रुधिर ४, वज्र-शृणभनाराच सहनन, ५ समचतुरस्र शरीर स्थान, ६ अनुपमरूप, ७ नृपचम्पकके समान उत्तम गन्धको धारण करना ८ १००८ उत्तम लक्षणोंका धारण, ९ अनन्त बल, १०. हित मित एव मधुर भाषण, ये स्वाभाविक अतिशयके १० भेद हैं जा तीर्थंकरोंके जन्म ग्रहणसे ही उत्पन्न हो जाते हैं । ८६६-८६८ । २ केवलज्ञानके ११ अतिशय — १ अपने पाससे चारों दिशाओंमें एक सौ योजन तक सुभिक्षता, २ आकाशगमन, ३ हिसाका अभाव, ४ भोजनका अभाव, ५ उपसर्गका अभाव, ६-सयकी ओर मुख करके स्थित होना, ७ छाया रहितता, ८ निर्निमेष दृष्टि, ९ विद्याओंकी ईशता १० सजीव होते हुए भी नख और रोमाका समान रहना, ११ अठारह महा भाषा तथा सात सौ क्षुद्रभाषा युक्त दिव्यध्वनि । इस प्रकार घातिया कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुए ये महान आश्चर्यजनक ११ अतिशय तीर्थंकरोंके केवलज्ञानके उत्पन्न होनेपर प्रगट हाते हैं । ८६६-६०६ ॥ ३ देवकृत १३ अतिशय—१ तीर्थंकरोंके महात्म्यसे सख्यात योजनों तक बन असमयमें ही पत्रफूल और फलाकी वृद्धिसे सयुक्त हो जाता है, २ कटक और रेतों आदिको दूर करती हुई सुखदायक वायु चलने लगती है, ३ जाव पूर्व बैरको छोड़कर मित्रीभावसे रहने लगते हैं, ४ उसनी भूमि दर्पणतलके सदृश स्वच्छ और रम्य हो जाती है, ५ सौ धर्म इन्द्रकी आज्ञासे मेघकुमारदेव मुगन्धित जलकी वर्षा करते हैं, ६ दश विक्रियासे फलाके भारसे नम्रोभूत शाल और जौ आदि सस्यको रचते हैं, ७ सब जीवोंको नित्य आनन्द उत्पन्न होता है, ८ वायुकुमारदेव विक्रियासे शीतल पवन चलाता है, ९ रूप और तालाव आदिक निर्मल जलसे पूर्ण हो जाते हैं, १० आकाश धुआँ और उष्कापातादिसे रहित होकर निर्मल हो जाता है, ११ सम्पूर्ण जीवोंको रोग आदिकी बाधायें नहीं होती हैं १२ यक्षेन्द्रोंके मस्तकीपर स्थित और किरणोंसे उज्ज्वल ऐसे चार दिव्य धर्म चक्रोंको देखकर जनकों आश्चर्य होता है, १३ तीर्थंकरोंके चारों दिशाओंमें (व विदिशाओंमें) छप्पन सुवर्ण कमल, एक पादपीठ, और दिव्य एव विविध प्रकारके पूजन द्रव्य होते हैं/१०७-६१४ । चौतीस अतिशयोंका वर्णन समाप्त हुआ/ (ज प/१३/६३-११४) (व प १/टो/३५/२८)

७ इतने ही नहीं और भी अनन्तो अतिशय होते हैं

स म/१/८/४ यथा निशोधचूर्णं भगवता श्रीमदहंतामष्टोत्तरसहस्रसंख्या-बाह्यलक्षणसंख्याया उपलक्षणस्वेनान्तरङ्गलक्षणानां सत्त्वादीनामानन्त्यमुक्तम् । एवमतिशयानामधिकृतपरिगणनायोगेऽप्यपरितरवम-विरुद्धम् । — जिस प्रकार निशोध चूर्ण नाम ग्रन्थमें श्री अहन्त भगवान्के १००८ बाह्य लक्षणोंको उपलक्षण मानकर सत्त्वादि अन्त रंग लक्षणोंको अनन्त कहा गया है, उसी प्रकार उपलक्षणसे अतिशयोंकी परिमित मान करके भी उन्हें अनन्त कहा जा सकता है । इसमें कोई शास्त्र विरोध नहीं है ।

८ भगवान्के ८ प्रातिहार्य

ति प/४/६१४-६२७/भाषार्थ—१ अशोक वृक्ष, २ तीन छत्र, ३ रत्न-खचित सिंहासन, ४ भक्ति युक्त गणों द्वारा वेष्टित रहना, ५ दुन्दुभि नाद, ६ पुष्पघृष्टि ७ प्रभामण्डल, ८ चौसठ घमरयुक्ता (ज प/१३/१२२-१३०) ।

* अष्टमंगल द्रव्योंके नाम—दे चैर्य/१/११ ।

* अहन्तको जटाओका सज्जाव व असज्जाव—दे केशलोच/४

* अहन्तको घीतराग शरीर—दे चैर्य/१/१२ ।

* अर्हन्तोंके मृत शरीर सम्बन्धी कुछ धारणाएँ—वे मोक्ष/१।

* अर्हन्तोंका विहार व दिव्य ध्वनि—वे बह बह नाम।

* भगवान्‌के १००८ नाम—दे म पु/२६/१००-२७७।

६ भगवान्‌के १००८ लक्षण

म पु/१६/३७ ४४/केवल भावार्थ—श्रोत्र, दृष्टि, शब्द, कर्म, स्वस्ति, अकुश, तोरण, चमर, सफेद छत्र, सिंहासन, पताका दो मीन, दो कुम्भ, कच्छप, चक्र, समुद्र, सरोवर विमान भवन, हाथी, मनुष्य, स्त्रियाँ, सिंह, बाण, धनुष, मेरु, इन्द्र, देवगंगा, पुर, गोपुर, चन्द्रमा, सूर्य, उत्तम घोड़ा, तालवृन्त (पंखा), बाँसुरी, वीणा, मृदंग, मालाएँ, रेशमी वस्त्र, दुकान, कृष्णल आदि लेकर भक्तते हुए चित्र विचित्र आभूषण, फल सहित उपवन, पके हुए वृक्षोंसे मुशोभिन्न चेत, रत्न-द्रोप, वज्र, पृथिवी, लक्ष्मी, सरस्वती, कामधेनु, वृषभ, चूडामणि, महानिधियाँ, कणपलता सुवर्ण, जम्बूद्वीप, गरुड़, नक्षत्र, तारे, राजमहल, सूर्यादि ग्रह, सिद्धार्थ वृष आठ प्रातिहार्य और आठ मंगल द्रव्य आदि, इन्हें लेकर एकसौ आठ लक्षण और मसूरिका आदि नौ सौ व्यजन भगवान्‌के शरीरमें विद्यमान थे। (इस प्रकार १०८ लक्षण + ६०० व्यजन = १००८) (दे पा टो/३६/२७)

* अर्हन्तके चारित्र्यमे कथञ्चित् मलका सञ्जाव (दे केवली/२/सयोगी व अयोगीमे अन्तर)।

* सयोग केवली—दे केवली।

१० सयोग केवली व अयोगकेवली दोनों अर्हन्त हैं

घ ८/३, ४१/६२/खविदवादिक्कमा केवलगाणेण दिट्ठसम्बद्धा अरहता नाम । = जिन्होंने घातिया कर्मोंको नष्ट कर केवलज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंको देख लिया है वे अर्हन्त हैं। (अर्थात् सयोग व अयोग केवली दोनों ही अर्हन्त संज्ञाको प्राप्त हैं।)

* सयोग व अयोग केवलीमे अन्तर—दे केवली/२।

११ अर्हन्तोंकी महिमा व विभूति

नि सा/मू/७१ घणवाहकम्मरहिया केवलगाणाइपरमगुणसहिया। चोत्तिसअविसयजुत्ता अरिहता एरिसा होति । = घनघातिकर्म रहित केवलज्ञानादि परमगुणों सहित, और चौत्तिस अतिशय युक्त ऐसे अर्हन्त होते हैं। (क्रि क/३/१/१)

नि सा/ता वृ/७३ में उद्धृत कुन्दकुदाचार्यकी गाथा—“तेजो दिट्ठो गाण इड्डो सोपल सहैव ईसरियं । तिहुवणपहणदइय माहणं जस्स सो अरिहो । = तेज (भामण्डल), केवलदर्शन, केवलज्ञान, ऋद्धि (समवसरणादि) अनन्त सौख्य, ऐश्वर्य, और त्रिभुवनप्रधानवल्लभपना—ऐसा जिनका माहारम्य है, वे अर्हन्त हैं।

घो पा/मू/२६ दसण अणंत्तगाणे माखल्लो णट्ठकम्ममंथेण। निरुक्कमगुण-मारुडो अरहंतो एरिसो होइ ॥२६॥ — जाके दर्शन और ज्ञान ये ती अनन्त हैं, बहुत्रि नष्ट भया जो अष्ट कर्मनिका बन्ध साफ़रि जाके मोक्ष है, निरुक्कम गुणोंपर जो आरुढ़ हैं ऐसे अर्हन्त होते हैं। (न स/मू/६०) (प घ/उ/६०७)

घ १/११, २३/२६/४६/केवल भावार्थ—मोह, अज्ञान व विघ्न समूहको नष्ट कर दिया है ॥२३॥ कामदेव विजेता, त्रिनेत्र द्वारा सकलार्थ व त्रिकालके ज्ञाता, मोह, राग, द्वेष रूप त्रिपुर दाहक तथा मुनि पति हैं ॥२४॥ स्तनत्रयरूपी त्रिशूल द्वारा मोहरूपी अन्धामुखके विजेता, आरमस्वरूप निष्ठ, तथा दुनयका अन्त करने वाले ॥२५॥ ऐसे अर्हन्त होते हैं।

घ अनु/१२३-१२८ केवल भावार्थ—देवाधिदेव, घातिकर्म विनाशक अनन्त चतुष्टय प्राप्त ॥२३॥ आकाश तलमें अन्तरिक्ष विराजमान, परमादारीक देहधारी ॥२४॥ ३४ अतिशय व अष्ट प्रातिहार्य युक्त तथा

मनुष्य तिर्यंच य देवों द्वारा सेवित/२५॥ पंचमहाकर्याणकयुक्त, केवलज्ञान द्वारा सगल राक्ष दरीक/२६॥ समस्त लक्षणोंयुक्त उज्ज्वल शरीरधारी, अद्वितीय तेजवन्त, परमात्मस्थायी प्राप्त/२७-२८॥ ऐसे अर्हन्त होते हैं।

अर्ह (सूत्र)—भ आ/वि/६७/१६४/१ अरिरे अर्ह योग्य । न-विचारभक्तप्रयासग्नानम्यायं याग्या नेति प्रथमऽधिकारः । = अरिह—अर्ह अर्थात् योग्य। सविचारभक्त प्रत्याख्यान मन्ते(बनाएँ) लिए कौन व्यक्ति योग्य होता है और कौन नहीं, इसका वर्णन अर्ह सूत्रसे किया जाता है। यह प्रथमाधिकार है। (विस्तारके लिए दे भ आ/मू/७१/७६)

अर्हत्—दे अर्हन्त।

अर्हत्पासा केवली—जमि मृन्दावन (ई १७६१-१८१८) द्वारा हिंदी भाषामें रचित, भाग्य निर्णय विषयक छाटा-ना एक ग्रन्थ है। इसमें एक लकड़ीका पासा कैल्क्यर उसपर दिए गए चिह्नों के आधारपर भाग्य सम्बन्धी बातें जानी जाती हैं।

अर्हत्सेन—तेन सघको गुणवित्तोके अनुसार आप दिवाकरसेनके शिष्य तथा लममणसेनके गुरु थे।—समय—वि ६८०-७२० (ई ६२३-६६३) विशेष दे इतिहास/७/६। १ (प पु/मू/१२३/१६७), २ (प पु/प्र १६/प पत्रालाल)

अर्हदत्त—मूलमंथ की पट्टावली के अनुसार भगवान् महावीरकी मूल परम्परामें तोहाचार्यके पश्चात्वाले चार आचार्योंमें आपका नाम है। समय—वी नि ४६४-४८४, ई ३८-४८। विशेष दे इतिहास/४/४।

अर्हदत्त सेठ—(प पु/सर्ग/स्तो न) वर्षायोगमें आहारार्थ पघारे गगन बिहारी मुनियोंको दोगी जानकर उन्हें आहार न दिया। पीछे आचार्यके द्वारा भूल मुझाई जानेपर बहुत पश्चात्ताप किया/६२/२०-३१। फिर मथुरा जाकर उक्त मुनियोंको आहार देकर सन्तुष्ट हुआ। (६२/४२)।

अर्हदवल्लि—(प ख १/प्र १४, २८/H १ Jain) पूर्वदेशस्थ पुण्ड्र-वर्धन देशके त्रिवामी आप बड़े भारी सघनायक थे। पंचवर्षीय युग—प्रतिक्रमणके समय आपने दक्षिण देशस्थ महिमा नगर (जिला सतारा) में एक बड़ा भारी यति सम्मेलन किया था। यतियोंमें कुछ पक्षपातकी गन्ध देखकर उसी समय आपने मूल संघको पृथक् पृथक् अनेक संघोंमें विभक्त कर दिया था ॥१४॥ आ धर सेनका पत्र पाकर इस सम्मेलनमेंसे हो आपने पुण्ड्रदन्त और धुतबलो नामक दो नवदोक्षित साधुओंको उनका सेवामें भेजा था। एकदेशी-गधारी होते हुए भी संघ भेद विमर्शित होनेके कारण आपका नाम श्रुतधरोंकी परम्परामें नहीं रखा गया है। समय—वी नि, ६६४-६६३ (ई ३८-६६)। विशेष दे परिशिष्ट/२/७)

अर्हदभक्ति—दे भक्ति/१।

अलकारोदय—(प पु/४/स्तो न)—पृथिवीके भीतर अत्यन्त गुप्त एक सुन्दर नगरी थी/१६२-१६४। इसको रावणके पूर्वज मेघवाहनके लिए राक्षसोंके इन्द्र भोम सुभोमने रक्षार्थ प्रदान की थी।

अलभूषा—रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी देवी—दे लोक/६/१३।

अलक—एक ग्रह—दे ग्रह।

अलका—१ विजयार्थकी उत्तरग्रेणीका एक नगर—दे विद्याधर-२ पूर्वके दूसरे भवमें रेवरी नामकी घाय थी। इसने कृष्णके पूर्व भवमें अर्थात् निनामिककी पर्यायमें उसका पालन किया था/१४४-१४६। वर्तमान भवमें भद्रिला नगरमें सुदृष्टि नामा सेठकी छो हुई।

१६७। इसने कृष्ण के छ भाइयोंकी अपने छ मृत पुत्रोंके बदलेमें पाला था। ३५-३६।

अलाभ—दे लाभ।

अलाभ परिषद्—स सि १६/१४२५ वायुवदसंगादनेकवैशचारि-
णोऽन्युपगतैककालसंभोजनस्य वाचयमस्य तत्संमितस्य वा सकृत्स्व-
तनुदशनमात्रतन्त्रस्य पाणिपुटमात्रपात्रस्य बहुषु दिवसेषु बहुषु च
गृहेषु भिक्षामनवाप्याप्यसंश्लिष्टचेतसो दातृविशेषपरीक्षानिरुक्तस्य-
लाभादप्यलाभो मे परम तप इति सतुष्टस्यालाभविजयोऽवसेय।
—वायुके समान नि संग होनेसे जो अनेक देशोंमें विचरण करता है,
जिसने दिनमें एक बारके भोजनको स्वीकार किया है, जो मौन
रहता है या भाषा समितिका पालन करता है एक बार अपने शरीर-
को दिखलाना मात्र जिसका सिद्धान्त है, पाणिपुट ही जिसका पात्र
है, बहुत दिनों तक या बहुत घरोंमें भिक्षाके न प्राप्त होनेपर
जिसका चित्त संश्लेषसे रहित है, दाताविशेषकी परीक्षा करनेमें जो
निरुक्त है, तथा लाभसे भी अलाभ मेरे लिए परम तप है, इस
प्रकार जो सन्तुष्ट है, उसके अलाभ परिषदजय जानना चाहिए।
(रा वा १६/१०/६११/१८) (चा सा १२३/४)।

अलेख्य—भ आ /वि ७००/८८२/७ अलेख्य अलेपसहित, यत्र हस्त-
तल विलिम्पति। —अलेख्य—हाथको न चिपकनेवाला मांड
ताक वगैरह।

अलोक—अलोकाकाश—वे आकाश १,२।

अलौकिक—दे लोकोत्तर।

अलौकिक गणना प्रमाण—दे प्रमाण ५।

अलौकिक शुचि—दे शुचि।

अल्पतर वध—दे प्रकृति बंध १।

अल्पबहुत्व—पदार्थोंका निर्णय अनेक प्रकारसे किया जाता है—
उनका अस्तित्व व लक्षण आदि जानकर, उनकी सरया या प्रमाण
जानकर तथा उनका अवस्थान आदि जानकर। तहाँ पदार्थोंकी
गणना क्योंकि सख्याको उल्लेखन कर जातो है और असंख्यता व
अनन्त कहकर उनका निर्देश किया जाता है, इसलिए यह आवश्यक
हो जाता है कि किसी भी प्रकार उस अनन्त या असंख्यमें तुरतमता
या विशेषता दर्शाया जाय ताकि विभिन्न पदार्थोंकी विभिन्न गणनाओं
का ठीक ठीक अनुमान हो सके। यह अल्पबहुत्व नामका अधिकार
जैसा कि इसके नामसे हो विदित है इसी प्रयोजनकी सिद्ध करता है।

१ अल्पबहुत्व सामान्य निर्देश व शकाएँ

- १ अल्पबहुत्व सामान्यका लक्षण।
- २ अल्पबहुत्व प्ररूपणाके भेद।
- ३ संयतकी अपेक्षा असंयतकी निर्जरा अधिक कैसे।
- ४ सिद्धोंके अल्पबहुत्व सम्बन्धी शका।
- ५ वर्गणाओंके अल्पबहुत्व सम्बन्धी दृष्टिभेद।
- ६ पंचशरीर विससोपचय वर्गणाके अल्पबहुत्व दृष्टिभेद।
- ७ माह प्रकृतिके, प्रदेशाग्नो सम्बन्धी दृष्टिभेद।

२ ओघ आदेश प्ररूपणाएँ

- * प्ररूपणावो विषयक नियम तथा काल व क्षेत्रके
आधार-पर गणना करनेकी विधि। दे सख्या/२।
- १. सारणीमें प्रयुक्त सकेतोंके अर्थ।

२ पट् द्रव्योका षोडशपदिक अल्प बहुत्व।

३ जीव द्रव्यप्रमाणमें ओघ प्ररूपणा।

- १ प्रवेशकी अपेक्षा।
- २ सचयकी अपेक्षा।
- ३ सम्यक्त्वमें सचयकी अपेक्षा।

४ गतिमार्गणा

- १-२ पाँच गति व आठ गतिकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा।
- ३-६ चारों गतियोंकी पृथक्-पृथक् सामान्य, ओघ व आदेश
प्ररूपणाएँ।

५ इन्द्रिय मार्गणा

- १ इन्द्रियोंकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा।
- २ इन्द्रियोंमें पर्याप्तापर्याप्तिकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा।
- ३ ओघ व आदेश प्ररूपणा।

६ काय मार्गणा

- १ त्रस स्थावरकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा।
- २ पर्याप्तापर्याप्ति सामान्यकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा।
- ३ बादर सूक्ष्म सामान्यकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा।
- ४ बादर सूक्ष्म पर्याप्त अपर्याप्तिकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा।
- ५ ओघ व आदेश प्ररूपणा।

७ गति इन्द्रिय व कायकी सयोगी परस्थान प्ररूपणा।

८ योग मार्गणा

- १ सामान्यकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा।
- २ विशेषकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा।
- ३ ओघ व आदेश प्ररूपणा।

९ वेद मार्गणा

- १ सामान्यकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा।
- २ विशेषकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा।
- ३ तीनों वेदोंकी पृथक्-पृथक् ओघ व आदेश प्ररूपणा।

१० कपाय मार्गणा

- १ कपाय चतुष्ककी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा।
- २ कपाय चतुष्ककी अपेक्षा ओघ व आदेश प्ररूपणा।

११ ज्ञान मार्गणा

- १ सामान्य प्ररूपणा।
- २ ओघ व आदेश प्ररूपणा।

१२ सयम मार्गणा

- १ सामान्यकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा।
- २ विशेषकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा।
- ३ ओघ व आदेश प्ररूपणा।

१३ दर्शन मार्गणा

- १ सामान्य व २ ओघ व आदेश प्ररूपणा।

१४ लेश्या मार्गणा

- १ सामान्य व २ ओघ व आदेश प्ररूपणा।

१५ भव्य मार्गणा

- १ सामान्य व २ ओघ व आदेश प्ररूपणा।

१६ सम्यक्त्व मार्गणा

- १ सामान्य व २ ओघ व आदेश प्ररूपणा।

१७ सज्ञी मार्गणा

- १ सामान्य व २ ओघ व आदेश प्ररूपणा।

१८ आहारक मार्गणा

- १ सामान्य व २ आध व आदेश प्ररूपणा ।
- ३ अनाहारककी ओध व आदेश प्ररूपणा ।

३. प्रकीर्णक प्ररूपणाएँ

१ सिद्धोकी अनेक अपेक्षाओसे अल्पबहुत्व प्ररूपणा

- १ सहरण सिद्ध व जन्म सिद्धकी अपेक्षा ।
- २ क्षेत्रकी अपेक्षा (केवल सहरण सिद्धीमें) ।
- ३ कालकी अपेक्षा ।
- ४ अन्तरकी अपेक्षा ।
- ५ गतिकी अपेक्षा ।
- ६ वेदनानुयोगकी अपेक्षा ।
- ७ तोषकर व सामान्य केवलकी अपेक्षा ।
- ८ चारित्रकी अपेक्षा ।
- ९ प्रत्येकयुद्ध व बोधितयुद्धकी अपेक्षा ।
- १० ज्ञानकी अपेक्षा ।
- ११ अवगाहनाकी अपेक्षा ।
- १२ युगवत् प्राप्त सिद्धीकी संख्या की अपेक्षा ।

२ १-१, २-२ आदि करके सचय होनेवाले जीवोकी

अल्प बहुत्वप्ररूपणा

- १ गति आदि १४ मार्गणाकी अपेक्षा ।
- २ २३ वर्गणाओ सम्बन्धी प्ररूपणाएँ
- १ एक श्रेणी वर्गणाके द्रव्य प्रमाणकी अपेक्षा ।
- २ नाना श्रेणी वर्गणाके द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा ।
- ३ नाना श्रेणी प्रदेश प्रमाणकी अपेक्षा ।
- ४ उपरोक्त चीनोंकी स्व व परस्थान प्ररूपणा ।

४ पंच शरीर वद्ध वर्गणाओकी प्ररूपणा

- १ पंच वर्गणाओके द्रव्य प्रमाणकी अपेक्षा ।
- २ पंच वर्गणाओकी अवगाहनाकी अपेक्षा ।
- ३ पंच शरीरवद्ध विलसोपचयोंकी अपेक्षा ।
- ४ प्रत्येक वर्गणामें समय प्रमद्ध प्रदेशोंकी अपेक्षा ।
- ५ शरीर वद्ध विलसोपचयोंकी स्व व परस्थानकी अपेक्षा ।
- ६ पंच शरीरवद्ध प्रदेशोंकी अपेक्षा ।
- ७ औदारिक शरीरवद्ध प्रदेशोंकी अपेक्षा ।
- ८ इन्द्रिय वद्ध प्रदेशोंकी अपेक्षा ।
- * पाँचों शरीरोंमें प्रथम समय प्रमद्धसे लेकर अन्तिम समय प्रमद्ध तक मन्धे प्रवशाप्रमाणकी अपेक्षा । दे (प ख १४/५, ६/सू २६३-२८६/३३६-३५२) ।
- * पाँचों शरीरोंकी ज उ व स्थिति या निपेकोंके प्रमाणकी अपेक्षा ।—दे (प ख १४/५, ६/सू ३२०-३३६/३६६-३६६) ।
- * पाँचों शरीरोंके ज उ व उभय स्थितिगत निपेकोंमें प्रदेश प्रमाणकी अपेक्षा । —दे (प ख १४/५, ६/सू ३४०-३८६/-३७२ ३८७) ।
- * उपरोक्त प्रदेशाप्रोंमें एक व नाना गुणहानि स्थानान्तरोंका अपेक्षा ।—दे (प ख १४/५, ६/सू ३६०-४०६/३८७-३६२) ।
- * उपरोक्त निपेकोंके ज उ व उभय प्रदेशाप्र प्रमाणकी अपेक्षा । —दे (प ख १४/५, ६/सू ४०७ ४१५/३६२-३६६) ।
- * पाँचों शरीरोंमें मन्धे प्रदेशाप्रोंके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा ।—दे (प ख १४/५, ६/सू ४१६-४१६/४३७ ३८) ।
- * पंच शरीरोंके पुद्गलस्कन्धोंकी संघातन, परिशातन, उभय व अनुभयादि कृतियोंकी अपेक्षा ।—दे (ध ६/४, १, ७१/-३४६-३४४) ।

५. पंच शरीरोंकी अल्पबहुत्व प्ररूपणाएँ

- १ सूक्ष्मता व स्थूलताकी अपेक्षा ।
- २ औदारिक शरीर विधेयकी अवगाहनाकी अपेक्षा ।
- * पंच शरीरोंके पुद्गलस्कन्धोंकी संघातन परिशातन आदि कृतियोंमें गृहीत परमाणुओंके प्रमाणकी अपेक्षा ।—दे (ध ६/४, १, ७१/३४६-३४५) ।
- * ज उ अवगाहना क्षेत्राकी अपेक्षा ।—दे (ध ११/५ २८) ।
- ३ पचेन्द्रियोंकी अवगाहनाकी अपेक्षा ।

६ पाँचों शरीरोंके स्वामियोंकी ओध व आदेश प्ररूपणा

७ जीवभावोंके अनुभाग व स्थिति विषयक प्ररूपणा

- १ संयम विशुद्धि या सन्धि स्थानाकी अपेक्षा ।
- २ १४ जोष समामर्ग सचनश व विशुद्धि स्थानाकी अपेक्षा ।
- ३ दर्शन ज्ञान चारित्र विषयक भाव सामान्यके अवस्थानोंकी अपेक्षा स्व व परस्थान प्ररूपणा ।
- ४ उपशमन व क्षण कालकी अपेक्षा ।
- ५ कषाय कालकी अपेक्षा ।
- ६ नोक्षपाय मन्धपातकी अपेक्षा ।
- ७ मिथ्यारवकाल विधेयकी अपेक्षा । (अर्थात् भिन्न-भिन्न जीवोंके मिथ्यारवकालका अवबन्धुरव) ।
- * अध प्रवृत्तिकरणकी विशुद्धियोंमें तरतमताकी अपेक्षा । —दे (ध ६/१ ६-८, १६/३७५-३७८) ।
- * सममासयम लब्धस्थानोंमें तरतमताकी अपेक्षा ।—दे (ध ६/-१, ६-८, १४/३७६/७) ।

८ जीवोंके योग स्थानोंकी अपेक्षा अल्पबहुत्व प्ररूपणाएँ

- १ योग सामान्यके यवमध्य कालकी अपेक्षा ।
- २ योगस्थानोंके स्थापित सामान्यकी अपेक्षा ।
- ३ योग स्थान सामान्यमें परस्पर अवबन्धुरव ।
- ४ जोष समामर्ग जघन्योत्कृष्ट योगस्थानोंकी अपेक्षा
- ५ प्रत्येक योगके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा ।

९. कर्मोंके सत्त्व व मन्धस्थानोंकी अल्पबहुत्व प्ररूपणाएँ

- १ जीवोंके स्थिति मन्धस्थानोंकी अपेक्षा ।
- २ स्थिति मन्धमें जघन्य व उत्कृष्ट स्थानोंकी अपेक्षा ।
- ३ स्थितिमन्धके निपेकोंकी अपेक्षा ।
- * अनिवृत्ति गुणस्थानमें स्थितिमन्धकी अपेक्षा ।—दे (ध ६/१, ६-८, १४/२६७/४) ।
- * उपशान्तकषायसे उतरे अनिवृत्तिकरणमें स्थितिमन्धकी अपेक्षा ।—दे (ध ६/१, ६ ८, १४/३२८/३) ।
- * चारित्रप्रमोह क्षणक अनिवृत्तिकरणके स्थितिमन्धकी अपेक्षा । —दे (ध ६/१, ६ ८, १४/३४०/२) (विधेय दे आगे अवबन्धुरव/३/११) ।
- ४ मोहनोय कर्मके स्थितिसत्त्वस्थानोंकी अपेक्षा ।
- ५ मन्धसमुत्पत्तिक अनुभाग सत्त्वके जघन्य स्थानोंकी अपेक्षा ।
- ६ हस्समुत्पत्तिक अनुभागसत्त्वके जघन्य स्थानोंकी अपेक्षा ।
- ७ अष्टकर्मप्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागकी ६४ स्थानीय स्वस्थान ओध व आदेश प्ररूपणा ।
- ८ अष्टकर्म प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागकी ६४ स्थानीय स्वस्थान ओध व आदेश प्ररूपणा ।
- ९ अष्टकर्म प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागकी ६४ स्थानीय परस्थान ओध प्ररूपणा ।
- * उपरोक्त विषयक आदेश प्ररूपणाएँ ।—दे (म स १/४४३६ ४४२/२३१-२३३) ।
- १० अष्टकर्म प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागकी ६४ स्थानीय परस्थान ओध प्ररूपणा ।

- * उपरोक्त विषयक आदेश प्ररूपणा ।—दे (म य १/१४४४-४६०/२३६-२३६) ।
- ११ एक समयप्रसन्न प्रदेशाग्रमें सर्व व देशघातो अनुभागके विभागकी अपेक्षा ।
- १२ एक समयप्रसन्न प्रदेशाग्रमें निपेक्ष सामान्यके विभागकी अपेक्षा ।
- १३ एक समयप्रसन्नमें अष्टकर्म प्रकृतियोंके प्रदेशाग्र विभागकी अपेक्षा ।
- १४ जीव समासोंमें विभिन्न प्रदेशमन्धोंकी अपेक्षा ।
- १५ आठ अपकर्षोंकी अपेक्षा आयुमन्धक जीवोंकी प्ररूपणा
- १६ आठ अपकर्षोंमें आयुमन्धके कालकी अपेक्षा ।
- १० अष्टकर्म सक्रमण व निर्जराकी अपेक्षा अल्पवहुत्व प्ररूपणा
- १ भिन्न गुणधारी जीवोंमें गुणश्रेणीरूप प्रदेश निर्जराकी ११ स्थानीय सामान्य प्ररूपणा ।
- २ भिन्न गुणधारी जीवोंमें गुणश्रेणी प्रदेश निर्जराके कालकी ११ स्थानीय प्ररूपणा ।
- ३ पाँच प्रकारके सक्रमण द्वारा हृत् कर्मप्रदेशोंके परिमाणमें अल्पमहुरव ।
- * प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त विधानमें अपूर्वकरणके काण्डक घातकी अपेक्षा ।—दे (घ ६/१६८, १/२२८/१) ।
- * द्वितीयोपशम प्राप्त विधानमें उपरोक्त विकल्प ।—दे (घ ६/१, ६८, १४/२६१/१०) ।
- * अश्वकर्ण प्रस्थापक चारित्रमोह क्षपके अनुभागसत्त्वकी अपेक्षा ।—दे (घ ६/१, ६८, १२/२६३/६) ।
- * अपूर्वस्पर्धकरणमें अनुभाग काण्डकघातकी अपेक्षा ।—दे (घ ६/१, ६८, १६/३६६/११) ।
- * चारित्रमोह क्षपके अपूर्वकरणमें स्थिति काण्डकघातकी अपेक्षा ।—दे (घ ६/१, ६८, १६/३४४/८) ।
- * त्रिकरण विधानकी अवस्था विशेषोंके उत्कीर्ण कालों तथा स्थिति मन्ध व मन्ध आदि विकल्पोंकी अपेक्षा प्ररूपणाएँ ।
- * प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी अपेक्षा ।—दे (घ ६/१६८, ७/२३६/८) ।
- * प्रथमोपशम व वेदक सम्यक्त्व तथा सयमासयमकी युगपद् ग्रहण करनेकी अपेक्षा ।—दे (घ ६/१६८-८/११/२४७/१) ।
- * पुरुषवेद सहित क्रोधके उदयसे आरोहण व अवरोहण करने-वाले चारित्रमोहोपशमक अपूर्वकरणके भिन्न-भिन्न प्रकृतियोंके आश्रय सर्व विकल्परूप उत्कीर्ण कालोंकी अपेक्षा ।—दे (घ ६/१६८, १४/३३६/११) ।
- * दर्पनमोह क्षपकी अपेक्षा ।—दे (घ ६/१, ६८, १२/२६३/६) ।
- * अनवृत्तिकरण गुणस्थानमें चारित्रमोहकी यथायोग्य प्रकृतियोंके उपशमनकी अपेक्षा ।—(घ ६/१, ६८, १४/३०३/६) ।
- ११ अष्टकर्म वन्ध उदय सत्त्वादि १० करणोंकी अपेक्षा भुजगारादि पदोंमें अल्पवहुत्वकी ओघ व आदेश प्ररूपणाएँ
- १ उदीरणकी अपेक्षा अष्टकर्म प्ररूपणा
- २ उदय " " "
- ३ उपशमना " " "
- ४ सक्रमण " " "
- ५ मन्ध " " "
- ६ मोहनीयकर्म विशेषके सत्त्वकी अपेक्षा ।

७ अष्टकर्ममन्ध वेदनाने स्थिति, अनुभाग, प्रदेश व प्रकृति मन्धोंकी अपेक्षा ओघ व आदेश स्व पर स्थान अल्पमहुरव प्ररूपणाएँ ।

* प्रयोग व समनदान आदि पट्कर्मोंकी अपेक्षा अल्पवहुत्व प्ररूपणा

* १४ मार्गण अग्नि जीवोंकी तथा उनमें स्थित कर्मोंकी उपरोक्त पट् कर्मोंकी अपेक्षा प्ररूपणा ।—दे (घ १३/५, ४ ३१/१७५ १६६) ।

* निगोद जीवोंकी उत्पत्ति आदि विषयक अल्पवहुत्व प्ररूपणा

* साधारण शरीरमें निगोद जीवोंका उत्पत्तिक्रम । निरन्तर व सान्तर कालोंकी अपेक्षा ।—(प त १/१४/५, ६/सू ५८७-६२८/४७४) ।

* उपरोक्त कालोंसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंके प्रमाणकी अपेक्षा —दे (प त १४/५, ६/सू ५८७-६२८/४७४) ।

१ अल्पवहुत्व सामान्य निर्देश व शकाए

१ अल्पवहुत्व सामान्यका लक्षण

स सि १०/६/४७३ क्षेत्रादिभेदभित्तानां परस्परत सख्या विधेयोऽल्प-महुरवम् ।—क्षेत्रादि भेदोंकी अपेक्षा भेदको प्राप्त हुए जीवोंकी परस्पर संख्याका विधेय प्राप्त करना अल्पमहुरव है । (रा वा १०/६/१४/६४७/२७)

रा वा १/८/१०/४२/१६ सख्यातादिव्यव्यतमेन परिमाणेन निश्चिताना-मन्योन्यविधेयप्रतिपत्त्यर्थमल्पमहुरववचन क्रियते—इमे एम्योऽल्पा इमे महव इति ।—नरयात आदि पदार्थोंमें अन्यतम किसी एकके परिमाणका निश्चय हो जानेपर उनकी परस्पर विधेय प्रतिपत्तिके लिए अल्पमहुरव करनेमें आता है । जैसे यह इनकी अपेक्षा अल्प है, यह अधिक है इत्यादि । (स सि १/८/२६) ।

घ ४/१, ८, १/२४२/७ किमप्याबहुव । संख्यामो एदम्हादो एव तिगुण चतुर्गुणमिदि बुद्धिगेज्जो ।—प्रश्न—अल्पमहुरव क्या है १ उत्तर—यह उससे तिगुणा है, अथवा चतुर्गुणा है इस प्रकार बुद्धिके द्वारा ग्रहण करने योग्य सख्याके धर्मको अल्पमहुरव कहते हैं ।

२ अल्पवहुत्व प्ररूपणाके भेद

घ ४/१, ८, १/२४२/१० (द्वय क्षेत्र काल भाव आदि निक्षेपोंकी अपेक्षा अल्पमहुरव अनेक भेद रूप है । (विधेय दे निक्षेप)

३ सयतकी अपेक्षा असयतकी निर्जरा अधिक कैसे

घ १२/४, २, ७ १७८/६ सजमपरिणामेहितो अणतानुषंधि विसजोए तसस असज्जदसम्मादिदट्ठस्स परिणामो अणतगुणहीणो, कध एत्तो असखे-ज्जगुणपदेसजिज्जरा । एण एस दोसो सजमपरिणामेहितो अणतानु-मधीणं विसजोणणए कारणभूदाणं सम्मत्तपरिणामाणमणं तगुणतुव-लभासो । जदि सम्मत्तपरिणामेहि अणतानुमधीणं विसजोणणा कोरदे तो सव्वसम्माइदट्ठो सु तम्भावो पमज्जदि त्ति बुत्ते ण, निसि-दट्ठेहि चेव सम्मत्तपरिणामेहि तव्विसजोयणभुवगमादि त्ति ।—प्रश्न—संयमरूप परिणामोंकी अपेक्षा अनन्तानुमन्धोंकी विसयोजना करनेवाले अमत्तसम्यग्दृष्टिका परिणाम अनन्तगुणहीन होता है । ऐसी अवस्थामें उसमें अमरय तगुणों प्रदेश निर्जरा कैसे हो सकती है १ उत्तर—यह कोई दोष नहीं है—क्योंकि संयमरूप परिणामोंकी अपेक्षा अनन्तानुमन्धोंकी कथार्योंकी विसयोजनामें कारणभूत सम्यक्त्व-रूप परिणाम अनन्तगुणे उपलब्ध होते हैं । प्रश्न—यदि सम्यक्त्व-रूप परिणामोंके द्वारा अनन्तानुमन्धोंकी कथार्योंकी विसयोजना की जाती है तो सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंमें उसकी विसयोजनाका प्रसंग आता है १ उत्तर—सब सम्यग्दृष्टियोंमें उसकी विसयोजनाका प्रसंग

नहीं आ सकता, क्योंकि विशिष्ट सम्यक्स्वरूप परिणामोंके द्वारा ही अनन्तानुबन्धी कर्मायोगोंकी विसंयोजना स्वीकारकी गयी है।

४ सिद्धोंके अल्पबहुत्व सम्बन्धी श्रृंखला

घ १४/१,६६/३२/७ एदम्प्यामहुग सोलमवदियअप्पावहुएण सह विरुज्जमे, सिद्धकालादो सिद्धाणं सखेज्जगुणत्तं फिटिटपूण विरोसा-
हियत्तप्पसागादो। तेणेत्य उवएस लहिय ण्गदरणिणओ कागम्भो।
—यह अश्वमहुरव (सिद्धोंमें कृति सचय सभसे स्तोको है, अन्गत सचित असरयात्तगुणे हैं इत्यादि) पोडशपदादिक अश्वमहुरव (अश्वमहुरव २/२) के साथ विरोधको प्राप्त होता है क्योंकि सिद्ध-
कालको अपेक्षा सिद्धोंके सरयात्तगुणत्व नष्ट होकर विशेषाधिकारनेका प्रसंग आता है। इस कारण यहाँ उपदेश प्राप्त कर दो-में-से किसी एकका निर्णय करना चाहिए।

५. वर्गणाओंके अल्पबहुत्व सम्बन्धी दृष्टिभेद

घ १४/१,६६/११/४ जहण्णादो पुण उक्कस्समादरणिगोदवग्गणा अस-
खेज्जगुणा। को गुणकारो। जगसेओए असंखेज्जदिभागो। के वि
आइरिया गुणगारो पुण आवलियाए असंखेज्जदिभागो होदि त्ति
भणत्ति, तण्ण घड्ढे। कुदो। मादरणिगोदवग्गणाए उक्कसियाएसेओए
असंखेज्जदिभागमेत्तो जिगोदाणं त्ति एदेण चूलियासुत्तेण स विरा-
हादो। —अपनी जघन्यसे उत्कृष्ट मादरनिगोदवर्गणा असंख्यातगुणी
है। गुणकार क्या है। जगभ्रेणीके असंख्यातवर्ग भागप्रमाण गुणकार
है। कितने ही आचार्य गुणकार आवलिके असंख्यातवर्ग भाग प्रमाण
होता है, ऐसा कहते हैं, परन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि,
'उत्कृष्ट मादरनिगोदवर्गणामें निगोद जीवोंका प्रमाण जगभ्रेणिके
असंख्यातवर्ग भागमात्र है', इस चूलिकापुत्रके साथ विरोध आता है।

घ १४/१,६६/११/४ एरय के वि आइरिया उक्कस्सपत्तेयसरीरवग्ग-
णादो उवरिमधुवसुण्णएगसेओ असंखेज्जगुणा। गुणगारो वि घणाव-
लियाए असंखेज्जदिभागो त्ति भणत्ति तण्ण घड्ढे। कुदो। संखेज्जेहि
असंखेज्जेहि वा जोवेहि जहण्णमादरणिगोदवग्गणापुत्तोदो। तम्हा
अणत्तलोगा गुणगारो त्ति एद चेवघेत्तव्वं। —यहाँपर कितनेही आचार्य
उत्कृष्ट प्रत्येक शरीरवर्गणासे उपरिमधुव शून्य एक श्रेणि असरयात्त-
गुणी है, और गुणकार भी घनावलिके असंख्यातवर्ग भागप्रमाण है, 'ऐसा
कहते हैं, परन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि संख्यात या अम-
ख्यात जीवोंसे जघन्य मादरनिगोदवर्गणाकी उत्पत्ति नहीं हो
सकती। इसलिए 'अनन्त लोक गुणकार है' यह वचन ही ग्रहण
करना चाहिए।

घ १४/१,६६/११/४/२३ कम्मइयवग्गणादो हेट्ठिमाहारावग्गणादो
उवरिमअहणवग्गणमद्धानगुणगारेहिंतो आहारादिवग्गणाण अद्धानु-
प्पायणट्ठं ट्ठविदभागहारा अणत्तगुणो त्ति के वि आइरिया इच्छति,
तेसिमहिप्पाएण पुत्तिव्वलमपावहुग परुचिद। भागाहारेहिंतो गुण-
गारा अणत्तगुणा त्तिके वि आइरिया भणत्ति। तेसिमहिप्पाएण एदम्पा-
वहुगं परुचिज्जमे, तेणेतो ण दोसो। —कामाणिवर्गणासे अधस्तन
आहार वर्गणासे उपरिम अग्रहणवर्गणाके अध्वानके गुणकारसे
आहारादि वर्गणाओंके अध्वानको उपरि करनेके लिए स्थापित भागा-
हार अनन्तगुणा है। ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, इसलिए उनके
गुणकारानुसार पहिलेका अश्वमहुरव कहा है। तथा भागहारोंसे
अभिप्राय अनन्तगुणे हैं ऐसा आचार्य कहते हैं इसलिए उनके अभि-
प्रायानुसार यह अश्वमहुरव कहा जा रहा है। इसलिए यह कोई
दोष नहीं है।

६ पक्षशरीर विरुसोपचय वर्गणाके अल्पबहुत्व-दृष्टिभेद

घ १४/१,६६/४४/४४/६ सव्वथ गुणगारो सव्वजीवेहि अणत्तगुणो।
एदम्प्यामहुग वाहिरवग्गणाए पुधभूद त्ति काज्जणे के वि आइरिया
जीवसंमयपचण्णं सरीराण विस्सत्सुवचयत्सुवरि परुचैत्ति तण्ण
घड्ढे, जहण्णपत्तेयसरीरवग्गणादो उक्कस्सपत्तेयसरीरवग्गणाए अणत्त-
गुणत्तसागादो। —सर्वत्र गुणकार सम जीवोंसे अनन्तगुणा है। यह
अश्वमहुरव याहा वर्गणासे पृथग्भूत है, ऐसा मानकर कितने ही

आचार्य जीव सम्बद्ध पाँच शरीरोंके विरुसोपचयके ऊपर बचन करते
हैं, परन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा माननेपर जघन्य प्रत्येक
शरीरवर्गणासे उत्कृष्ट प्रत्येक शरीरवर्गणाके अनन्तगुणे होनेका
प्रसंग प्राप्त होता है।

७ मोह प्रकृतिके प्रदेशाप्रो सम्बन्धी दृष्टिभेद

क पा ४/३-२०/६३३६/३३८/११ सम्मत्तचरिमफानीदो मग्गामित्तरत्त-
चरिमफाली अयरये गुणहोणा त्ति एगा उवएसो। अवरैगा मग्गा-
मित्तरत्तचरिमफानी तत्तो विरोसाहिया त्ति। एरय प्पदेशि दोन् वि
उवएसण निच्चय काउमसमयेण जइसहाइरिण एगा एरय
विनिहिदो अवरैगा ट्ठिट्ठिमक्कमे। तेणेदे य वि उवएसो धणं
कादूण वत्तव्वं त्ति। —सम्यक्स्वरूपको अन्तिम फालिमे मग्गमित्तर-
त्तको अन्तिम फालि अवरयात्तगुणी होन है, यह पहिला उपदेश
है। तथा सम्यग्मित्तरत्तकी अन्तिम फालि उसमें विशेष अधिक है
यह दूसरा उपदेश है। यहाँ इन दोनों ही उपदेशोंका निश्चय करने-
में असमर्थ यतिवृत्त आचार्यने एक उपदेश यहाँ लिखा और एक
उपदेश स्थिति सक्रमणमें लिखा, अतः इन दोनों ही उपदेशोंको
स्थिति करके बचन करना चाहिए।

२. ओघ आदेश प्ररूपणाएँ

१ सारणीमे प्रयुक्त संकेतोंके अर्थ

संकेत	अर्थ	संकेत	अर्थ
अगु	अगुण	ज प्र	जगप्रसर
अंत	अंतर्मुहुर्त	ज श्रे	जगभ्रेणी
अप	अपयसि	त	तजस शरीर
अप्र	अप्रतिष्ठित	नि अप	निर्वृत्त्यपयसि
अस	असंख्यात	नि प	निर्वृत्ति पयसि
आ	आवली, आहारक शरीर	प चे	पचेन्द्रिय
उ	उत्कृष्ट	प	पयसि
उप	उपशम सम्यक्स्वर या उपशमश्रेणी उपपाद योग स्थान	परि	परिणाम योग स्थान
एक	एकांतानुबुद्धि योगस्थान	पृ	पृथिवी
औ	औदारिक शरीर	प्रति	प्रतिष्ठित
का	कामेण शरीर	भा	भार
क्षप	क्षपक श्रेणी	ल अप	लब्धयपयसि
क्षा	क्षायिक सम्यक्स्वर	वन	व नत्पति
गुण	गुणकार या गुणस्थान	वे	वेदक सम्यक्स्वर
ज	जघन्य	वै	वैक्रियिक शरीर
		सं	संख्यात
		सम्पू	सम्पूच्छन
		सा	सामान्य
		सू	सूक्ष्म

२ षट् ब्रह्मोंका पोडशपदिक अल्पबहुत्व

घ ३/१ २,३/२०/७

न	ब्रह्म	अल्पबहुत्व स्तोत्र	गुणकार
१	वर्तमान काल	अनन्त गुणो	ज युक्तानन्त
२	अभग्नय राशि		
३	सिद्ध काल		
४	सिद्ध जीव	अस गुणे	शत पुत्रवत्
५	असिद्ध काल		स आवली
६	अतीत काल	विशेषाधिक	सिद्ध काल
७	भग्न मिथ्यादृष्टि	अनन्त गुणे	
८	भग्न सामान्य	विशेषाधिक	सम्यग्दृष्टि
९	मिथ्या दृष्टि	"	अभग्न
१०	संसारो जीव	"	भग्न

११	सम्पूर्ण जीवराशि	विशेषाधिक	सिद्ध
१२	पुद्गल द्रव्य	अनन्त गुणे	
१३	अनागत काल	अनन्त गुणा	पुद्गल×अनन्त
१४	सम्पूर्ण काल	विशेषाधिक	सर्व योग
१५	अलोकाकाश	अनन्त गुणा	काल×अनन्त
१६	सम्पूर्ण आकाश	विशेषाधिक	लोक

३. जीव द्रव्यप्रमाण मे ओघ प्ररूपणा

(प ख ६/१.८/सू १-२६)

नोट—प्रमाणवाले कोष्ठकमें सर्वत्र सूत्र न. लिखे हैं। यहाँ यथा स्थान उस उस सूत्रकी टीका भी सम्मिलित जानना।

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पवहुत्व	कारण व विशेष
१ प्रवेशकी अपेक्षा				
उपशमक				
२		८	स्तोक	अधिकसे अधिक ६४
"		६	ऊपर तुल्य	जीवोंका प्रवेश ही सम्भव है
"		१०	"	"
३		११	"	"
क्षपक				
४		८	दुगुने	१०८ तक जीवोंका
"		६	ऊपर तुल्य	प्रवेश सम्भव है
"		१०	"	"
५		१२	"	"
६		१३	"	"
"		१४	"	"

२ सचयकी अपेक्षा

उपशमक

४		८	स्तोक	प्रवेशके अनुरूप ही
"		६	ऊपर तुल्य	सचय होता है। कुल
"		१०	"	२६६ जीव संचित होने सम्भव है
"		११	"	"
क्षपक				
"		८	दुगुने	कुल ६६८ जीव संचित होते हैं
"		६	ऊपर तुल्य	"
"		१०	"	"
५		१२	"	"
६		१४	"	"
७		१३	सं गुणे	८६८५०२ जीवोंका संचय
अक्षपक व अनुपक्षमक				
८		७	सं गुणे	२६६६६१०३ जीवोंका
९		६	दुगुने	६६३६८०६ जीवोंका
१०		५	पश्य/अस गुणे	मध्य लोकमें स्वम्भू-रमण पर्वतके परभागमें अवस्थान
११		२	आ /अस गुणे	एक समयमें प्राप्त सयता-सयतसे एक समय गत सासादन राशि असं गुणी है।

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पवहुत्व	कारण व विशेष
१२		३	स गुणे	१ सासादनसे स गुणा संचय काल २ सासादनके उपरान्त उपशम सम्पन्न ही प्राप्त होता है पर इसके उपरान्त उप-शम व वेदक सम्प-कत्व तथा मिथ्यात्व तीनों प्राप्त होते हैं। ३ उपशमसे वेदक सम्पन्नदृष्टि स गुणे हैं।
१३		४	आ /अस गुणे	सम्पन्न मिथ्यात्वका संचय काल अतर्मुहूर्त है व इसका २ सागर है।
१४		१	सिद्धों से अनन्त गुण वाला अनन्त से गुणित	

३ सम्पत्त्वमें सचयकी अपेक्षा

१५	असंयत	उप	स्तोक	अधिक सचय काल
१६		क्षा	आ /अस गुणे	मुलभता
१७		वे	"	तिर्यचोंमें अभाव तथा दुर्लभ
१८	सयतासयत	उप	स्तोक	तिर्यचोंमें उत्पत्ति
१९		क्षा	पश्य/अस गु.	तिर्यचोंमें उत्पत्ति तथा
२०		वे	आ /अस गुणे	मुलभ
२१	ईडा जहाँ गुणस्थान	उप	स्तोक	अल्प सचय काल तथा सयमकी दुर्लभता
२२		क्षा	सं गुणा	अधिक संचय काल
२३		वे	" "	मुलभता
२४	८-१०वाँ गुणस्थान	उप	स्तोक	अल्प सचय काल तथा श्रेणीकी दुर्लभता
२६	चारित्र	क्षा	स गुणे	अधिक सचय काल
		उप	स्तोक	अल्प सचय काल
		क्षा	स गुणे	अधिक संचय काल

४. गति मार्गणा

१ पाँच गतिकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—

(प ख ७/२.११/सू २-६) (सू आ १२०७-१२०८)

२	मनुष्य	स्तोक	
३	नारकी	असं . गुणे	गुणकार = मनुष्य गु /असं
४	सेव	असं गुणे	
५	सिद्ध	अनन्त गुणे	गुणकार = भव्य/अनन्त
६	तिर्यक्	"	

२ ८ गतिकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—

(प ख ७/२.११/सू ८-११)

८	मनुष्यणी	स्तोक	
९	मनुष्य	असं . गुणे	गुणकार = ज श्रे /असं.
१०	नारकी	"	
११	देव	स गुणे	

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पवहृत्व	कारण व विधेय	सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पवहृत्व	मार्गण व विधेय
१२	देवी		३२ गुणी		५ मनुष्य गति—				
१३	सिद्ध		अनन्त गुणे		१ मनुष्य गतिकी सामान्य प्ररूपणा—				
१५	तिर्यञ्च		"		(सि प ४/२६३१-३३) (मू आ १०१२-१०१६) (ध ३/१.२.१०/६६/)				
३ तरक गति—					अन्तर्द्वीपज प				
१ नरकगतिकी सामान्य प्ररूपणा—					उत्तम भोगभूमि प				
(मू आ १२०६)					मध्य भोगभूमि प				
सप्तम पृ		स्तोक	असत्यात बहुभाग क्रम		जघन्यभोगभूमि प				
६ठी "		अस गुणे	से पहिलीसे सप्त पृथिवी		अनवस्थितकर्मभू प				
६वीं "		"	तक हानि समझना		अवस्थित , प				
४थी "		"	(ध ३/५ २०७)		सम्यपर्याप्त				
३री "		"			सर्व मनुष्य सामान्य				
२री "		"			स्तोक				
१ली "		"			म गुणे				
० नरकगतिकी ओष व आदेश प्ररूपणा—					देवकुर व उत्तमगुरु				
(प ख ६/१.८/सू २७-४०)					हृदि प रम्यक				
२७	नारकी सामान्य	२	स्तोक	अधिक उपक्रमण फाल	मैश्वर ऐग्यवत				
२८		३	सं गुणे	गुणकार—आ /अस	निवेह क्षेत्र				
२९		४	अस गुणे	"—अगु/अस + ज प्र	पराभि + अपराभि				
३०		१	अस गुणे		० मनुष्यगतिकी ओष व आदेश प्ररूपणा—				
३१	सम्यवत्त्व	उप	स्तोक	गुणकार—पश्य/अस	(प ख ६/१.८/सू ६३ ८०)				
३२		क्षा	अस गुणे	अधिक सचय फाल	मनुष्य सामान्य, मनुष्य व मनुष्यणी				
३३		वे	"	गुणकार—आ /अस	६३ उपशमक				
३४	प्रथम पृ	१-४	स्तोक	नारकी सामान्यवत्त्व	६४ सपक				
३५	२-७ पृ	२	स्तोक	पृथक् पृथक्	६५ सपक				
३६		३	स गुणे	गुणकार—आ /अस	६६ सपक				
३७		४	अस गुणे	गुणकार—आ /अस	६७ सपक				
३८		१	"	"—अगु /अस + ज प्र	६८ असपक व अनुपय				
३९		क्रमेण २	३, ४, ५, ६, ७	३, ४, ५, ६, ७	६९ असपक व अनुपय				
४०		ज श्रे—३४	३, ४, ५, ६, ७	३, ४, ५, ६, ७	७० सपक				
४१		उप	स्तोक	गुणकार—पश्य/अस	७१ सपक				
४२		वे	अस गुणे	गुणकार—आ /अस	७२ सपक				
४३		क्षा		मायिकका अभाव	७३ सपक				
४ तिर्यच गति—					७४ सपक				
१ तिर्यच गतिकी सामान्य प्ररूपणा—					७५ सपक				
(प ख ६/१०८ सू ४१ ५०) नोट—दे इन्द्रिय व काय मार्गणा					७६ सपक				
२. तिर्यच गतिकी ओष व आदेश प्ररूपणा—					७७ सपक				
(प ख ६/१.८/सू ४१-६०)					७८ सपक				
तिर्यच सा, पचे ति सा, पचे प, योनिमति—					७९ सपक				
४१	सामान्य	१	स्तोक	वृत्त भता	८० सपक				
४२		२	अस गुणे	गुणकार—आ /अस	८१ सपक				
४३		३	सं. गुणे		८२ सपक				
४४		४	अस गुणे	गुणकार—आ /अस	८३ सपक				
४५		१	अनन्तगुणे		८४ सपक				
४६	असंयतोमें-	उप	स्तोक		८५ सपक				
४७	सम्यवत्त्व	क्षा	अस गुणे	गुणकार—आ /अस	८६ सपक				
४८		वे	"	भोगभूमि में सचय	८७ सपक				
४९	संयतासंयतोमें-	उप	स्तोक		८८ सपक				
५०	सम्यवत्त्व	वे	अस गुणे	गुणकार—आ /अस	८९ सपक				
		क्षा,		अभाव	९० सपक				

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पवहुत्व	कारण व विशेष
-------	---------	-----------	------------	--------------

७८	उपशमकोंमें सम्यक्त्व	क्षा उप	स्तोक स गुणे	उपरोक्तवत्
----	-------------------------	------------	-----------------	------------

६ देवगति—

१ देवगतिकी सामान्य प्ररूपणा—
(सू आ १२१६)

कल्पवासी देवदेवी	स्तोक
भवनवासी ,, ,,	असं गुणे
व्यन्तर ,, ,,	"
ज्योतिषी ,, ,,	"

२ देवगतिकी ओघ व आदेश प्ररूपणा—

(प खं १/१, ५/सू ८१-१०२)

८१	देव सामान्य	२	स्तोक	
८२		३	स गुणे	अधिक उपक्रमण काल
८३		४	असं गुणे	गुणकार=आ/असं
८४		१	"	, Xआ + असं/ज प्र
८५	सम्यक्त्व	उप	स्तोक	अल्पसंचय काल
८६		क्षा	असं गुणे	गुणकार=आ/असं
८७		वे	"	"
८८	भवनत्रिक देवदेवी	२	स्तोक	सप्तम नरकवत्
"	व सौधर्म देवी सा	३	स गुणे	"
"		४	असं गुणे	" गुणकार=आ/असं
"		१	"	गुणकार=आ + असं/ज प्र
"	उपरोक्तमें सम्यक्त्व	उप	स्तोक	सप्तम पृथिवीवत्
"		वे	असं गुणे	गुणकार=आ/असं
"		क्षा		अभाव
८९	सौधर्मसे सहस्रार	१-४		देव सामान्यवत्
९०	आनतसे उ प्रवैयक	२	स्तोक	"
९१	सामान्य	३	स गुणे	"
९२		१	असं गुणे	गुणकार=आ/असं
९३		४	सं गुणे	अधिक उपपाद
९४	उपरोक्तमें सम्यक्त्व	उप	स्तोक	
९५		क्षा	असं गुणे	गुणकार=आ/असं
९६		वे	स गुणे	संचयकाल=सं सागर
९७		उप	स्तोक	अन्य गुणस्थानोंका अभाव
९८	अनुदिशसे अपरा-	क्षा	असं गुणे	गुणकार=पण्य/असं
९९	जितमें सम्यक्त्व	वे	स गुणे	अधिक उपपाद
१००		उप	स्तोक	अल्प संचय काल
१०१	सर्वार्थसिद्धिमें	क्षा	सं गुणे	अधिक संचय काल
१०२	सम्यक्त्व	वे	सं गुणे	अधिक उपपाद

५ इन्द्रिय मार्गणा

१ इन्द्रियोंकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—
(प खं ७/२, ११/सू १६-२१)

१६	पचेन्द्रिय	स्तोक	
१७	चतुरिन्द्रिय	विशेषाधिक	(पचे + पंचे/आ/असं) X(ज प्र/असं) अधिक
१८	त्रोन्द्रिय	"	उपरोक्त+वह/आ+असं
१९	द्वोन्द्रिय	"	"
२०	अनिन्द्रिय (सिद्ध)	अनन्तगुणे	"
२१	एकेन्द्रिय	"	"

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पवहुत्व	कारण व विशेष
-------	---------	-----------	------------	--------------

२ इन्द्रियोंमें पर्याप्तापर्याप्तकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—

(ति प ४/३१४) (प खं ७/२, ११/सू २२-३७)

२२	चतुरिन्द्रिय प	स्तोक	ज प्र/प्रतरांगुल + असं
२३	पचेन्द्रिय प	विशेषा	उपरोक्त + वह/आ + असं
२४	द्वोन्द्रिय प	"	"
२५	त्रोन्द्रिय प	"	"
२६	पचेन्द्रिय अप	असं गुणे	गुणकार=आ/असं
२७	चतुरिन्द्रिय अप	विशेषा	उपरोक्त + वह/आ + असं
२८	त्रोन्द्रिय अप	"	"
२९	द्वोन्द्रिय अप	"	"
३०	अनिन्द्रिय (सिद्ध)	अनन्तगुणे	"
३१	एकेन्द्रिय वा प	"	"
३२	" " अप	असं गुणे	"
३३	" " सा	विशेषा	पर्याप्त+अपर्याप्त
३४	" " अप	असं गुणे	"
३५	" " प	स गुणे	"
३६	" " सा	विशेषा	पर्याप्त + अपर्याप्त
३७	एकेन्द्रिय सा	"	वा सा + सू सा

३ ओघ व आदेश प्ररूपणा—

(प खं १/१, ५/सू १०३)

एकेन्द्रिय से	उपरोक्त	एक मिथ्यात्व गुणस्थान
चतुरिन्द्रिय तक	सामान्य- प्ररूपणावत्	ही सम्भव है।
पचे सा व	२-१४	
पंचे प		मूलोघवत्
पचे प	१	असं सम्य से असं गुणे

६ काय मार्गणा

१ त्रसरथावरकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—

(प खं ७/२, ११/सू ३८-४४), (प खं १४/६, ६/सू ६६-६७/४६६),
(स म २६/३३१/७)

३८	प्रस सा	स्तोक	ज प्र/असं
३९	तेज सा	असं गुणे	असं लोक गुणकार
४०	पृथिवी सा	विशेषा	उपरोक्त + वह+लोक/असं
४१	अप सा	"	"
४२	वायु सा	विशेषाधिक	उपरोक्त + वह+लोक/असं
४३	अकायिक (सिद्ध)	अनन्त गुणे	"
४४	वनस्पति सा	अनन्त गुणे	"

२ पर्याप्तापर्याप्त सामान्यकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—

(प खं ७/२, ११/सू ४६-५६)

४६	प्रस प	स्तोक	ज प्र + प्रतरांगुल/असं
४७	" अप	असं गुणे	"
४८	तेज अप	"	"
४९	पृथिवी अप	"	"
५०	अप अप	विशेषा	उपरोक्त + वह+असं लोक
५१	वायु अप	"	"
५२	तेज प	सं गुणे	"
५३	पृथिवी प	विशेषा	उपरोक्त + वह/असं लोक
५४	अप प	"	"

सूत्र	मार्गणा	गुण स्था	अल्पवहुत्व	कारण व विशेष	सूत्र	मार्गणा	गुण स्था	अल्पवहुत्व	कारण व विशेष
६४	वायु प		विशेषा	उपरोक्त + गह/अमं शोक	८२	अपू वा प		अमं गुणे	गुणकार-अमं शोक
६५	अवायिक (सिद्ध)		अवायु गुणे		८३	मायु वा प		"	गुणकार-अमं शोक
६६	वनस्पति अप		"		८४	तेज वा अप		"	गुणकार-अमं शोक
६७	" प		स गुणे		८५	अप अति प्रमे अप		"	"
६८	" सा		विशेषा	गमति + अपमति	८६	" पति , अप		"	"
६९	निगोद सा		"						"

३ वादर सूक्ष्म सामान्यकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणां
(प ख ७/२, ११/गु ६० ७५)

६०	प्रस सा	रतोय	ज प्र/अमं,
६१	तेज वा सा	अमं गुणे	गुणकार-अमं शोक
६२	वन प्रयेक वा सा	"	"
६३	मा निगोद सा या		
	प्रतिष्ठित प्रयेकमे		
	उपसन्ध निगोद	"	"
६४	पृथिवी वा सा	"	"
६५	अपू वा सा	"	"
६६	वायु वा सा	"	"
६७	तेज मू सा	"	"
६८	पृथिवी मू सा	विशेषा	उपरोक्त + गह/अमं शोक
६९	अप मू सा	"	"
७०	वायु मू सा	"	"
७१	अवायिक (सिद्ध)	अवायु गुणे	
७२	वन वा सा	"	
७३	" मू सा	अमं गुणे	गुणकार-अमं शोक
७४	वन सा	विशेषा	मा - मू
७५	निगोद	"	

४ वा सू पपयन्तापयन्तकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—
(प ख ७/२, ११/गु ७६ १०६) (ति प ४/३१४)

७६	तेज वा प	रतोय	अस प्रथमवनी
७७	प्रस प	अमं गुणा	गुणकार-ज प्र/अमं.
७८	" अप	"	" - आ/अमं

अस विशेष —
(ति प ४/३१४)

पंचेन्द्रिय सद्यो अप	तेजकाय वा	विशेषके सिध देखो
	प से अस	इन्द्रिय मार्गणा न (२)
	गुणा	
" " प	सं गुणे	"
चतुरिन्द्रिय प०	"	"
पंचे असद्यो प	विशेषाधिक	"
होन्द्रिय प	"	"
त्रीन्द्रिय प	"	"
पंचे असद्यो अप	अज गुण	"
चतु अप	विशेषा	"
त्री अप	"	"
द्वी अप	"	"
७९ वन प्रयेक प	अस गुणे	गुणकार-पमग/अस
८० वन प्रति प्रयेक प	"	"
८१ पृथिवी वा प	"	गुणकार-आ/अस

५ ओष व आदेन प्ररूपणा—
(प ख ६/१, ८/गु १०४)

अम काय मा व प	२ १४	मुनोपमम्
	७	अमं मम
(ममम)		से अमं गुणे

७ गति इन्द्रिय प कामपी संयोगो पर-स्थान प्ररूपणा
(प ख ७/० ११/गु १ २६)

२ मज्जम गोज प	रतोय	मज्जम का १४
३ मज्जमपी . "	तिपुनं	
४ सवर्धि सिद्धिदेन	अमं गुणे	
५ तेज काय वा प	अस गुणे	गुणकार-अस प्रथमवनी
६ विजयादि पार	"	
अनुसर विमान	"	गुणकार-पमग/अमं
७ नम अनुदिदा	सं गुणे	गुणकार-सं समम
८ इवा उपरिम ग्रंथे	"	"
९ दवा " "	"	"
१० दवा " "	"	"
११ दवा मम्य "	"	"
१२ दवा " "	"	"
१३ दवा " "	"	"
१४ दवा " "	"	"

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पवहुत्व	कारण व विशेष	सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पवहुत्व	कारण व विशेष
१४	२रा अधो प्रैवेयक		सं गुणे	गुणकार=स समय	१४	वायुकाय वा प		अस गुणे	" =प्रतरागुल/अस
१५	१ला " "		"	"	१५	तेज " , अप		"	" अस लोक
१७	आरण अच्युत		"	"	१८	वन अप्रति प्रत्येक		"	"
१८	आनत प्राणत		"	"		वा अप		"	"
१९	७वीं पृथिवी नरक		अस गुणे	गुणकार=(ज श्रे) ३	१९	वन प्रति प्रत्येक		"	"
२०	ईठी " "		"	" = (ज श्रे) ३	२०	वा अप या निगोद		"	"
२१	शसार-सहसार		"	" = (ज श्रे) ३	२१	पृथिवीकाय वा अप		"	"
२२	शुक महाशुक		"	" = (ज श्रे) ३	२२	अप काय वा अप	अस गुणे	गुणकार=अस लोक	
२३	६वीं पृथिवी नरक		"	" = (ज श्रे) ३	२३	वायु " " "	"	"	"
२४	लातव कापिष्ठ		"	" = (ज श्रे) ३	२४	तेज काय सू "	"	"	"
२५	४थी पृथिवी नरक		"	" = (ज श्रे) ३	२५	पृथिवी " " "	विशेषाधिक	उपरोक्त + वह/अस लोक	
२६	मह-महोत्तर		"	" = (ज श्रे) ३	२६	अप " " "	"	"	"
२७	३री पृथिवी नरक		"	" = (ज श्रे) ३	२७	वायु " " "	"	"	"
२८	माहेन्द्र स्वर्ग		"	" = (ज श्रे) ३	२८	तेज " " प	सं गुणा	"	"
२९	सनकुमार "		"	" = (ज श्रे) ३	२९	पृथिवी " " "	विशेषाधिक	उपरोक्त + अस लोक	
३०	२री पृथिवी नरक		"	" = (ज श्रे) ३	३०	अप काय " " "	"	"	"
३१	मनुष्य अप		"	" = (ज श्रे) ३	३१	वायु " " "	"	"	"
३२	ईशान देव		"	" = (ज श्रे) ३	३२	अकायिक (सिद्ध)	अनन्तगुणे	"	"
३३	ईशान देवियाँ	३२ गुणी	"	" = अस समय	३३	वन साधारण वा पा	"	"	"
३४	सौधर्म देव	स गुणे	"	" = (ज श्रे) ३	३४	" " " अप	अस गुणा	गुणकार=अस लोक	
३५	" देवियाँ	३२ गुणी	"	" = (ज श्रे) ३	३५	" " " सा	विशेषाधिक	पर्याप्त + अपर्याप्त	
३६	१ली पृथिवी नरक	अस गुणे	"	" = (ज श्रे) ३	३६	" " " सू अप	अस गुणे	गुणकार=अस लोक	
३७	भवनवासि देव	"	"	" = (ज श्रे) ३	३७	" " " प	स गुणे	"	"
३८	" देवियाँ	३२ गुणी	"	" = (ज श्रे) ३	३८	" " " सा	विशेषाधिक	पर्याप्त + अपर्याप्त	
३९	चे तिर्य योनिमति	अस गुणे	"	" = (ज श्रे) ३	३९	वन साधारण सा	"	सूक्ष्म सा + नादर सा	
४०	व्यतर देव	स गुणे	"	" = (ज श्रे) ३	४०	निगोद	"	विशेष = वन प्रति -	
४१	" देवियाँ	३२ गुणी	"	" = (ज श्रे) ३				प्रत्येक वा सा,	
४२	ज्योतिषी देव	सं गुणे	"	" = (ज श्रे) ३					
४३	" देवियाँ	३२ गुणी	"	" = (ज श्रे) ३					
४४	चतुरिन्द्रिय प	स गुणे	"	" = (ज श्रे) ३					
४५	पंचेन्द्रिय प	विशेषाधिक	"	" = (ज श्रे) ३					
४६	द्वेन्द्रिय प	"	"	" = (ज श्रे) ३					
४७	त्रीन्द्रिय प	"	"	" = (ज श्रे) ३					
४८	पंचेन्द्रिय अप	अस गुणे	"	" = (ज श्रे) ३					
४९	चतुरिन्द्रिय अप	विशेषाधिक	"	" = (ज श्रे) ३					
५०	त्रीन्द्रिय अप	"	"	" = (ज श्रे) ३					
५१	द्वेन्द्रिय अप	"	"	" = (ज श्रे) ३					
५२	वन अप्रति प्रत्येक	अस गुणे	"	" = (ज श्रे) ३					
५३	वा प	"	"	" = (ज श्रे) ३					
५४	वा प या निगोद	"	"	" = (ज श्रे) ३					
५५	पृथिवी वा प	"	"	" = (ज श्रे) ३					
५६	अप काय वा, प,	"	"	" = (ज श्रे) ३					

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष	सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष
१२६	अयोगी (सिद्ध)		अनन्त गुणे		१३६	सम्यक्त्व	क्षा	स्तोक	उपशम सम्यक्त्वमें आहारक योग नहीं होता
१२६	कामर्ण काय योग		"		१३६	सम्यक्त्व	क्ष	स्तोक	उपशम सम्यक्त्वमें आहारक योग नहीं होता
१२७	औदारिक मिश्र "		असं गुणे	गुणकार = अन्तर्भुष्ट	१३६	सम्यक्त्व	क्ष	स्तोक	उपशम सम्यक्त्वमें आहारक योग नहीं होता
१२८	औदारिक काय "		स गुणे		१३६	सम्यक्त्व	क्ष	स्तोक	उपशम सम्यक्त्वमें आहारक योग नहीं होता
१२९	काय योगी सा		विशेषाधिक	चारों काय योगी	१३६	सम्यक्त्व	क्ष	स्तोक	उपशम सम्यक्त्वमें आहारक योग नहीं होता

३ ओष व आदेश प्ररूपणा—

१ पाँचों मनोयोगी, पाँचों वचन योगी, काय योगी सा औदारिक काययोगी इस प्रकार १२ योग वाले -

(प ख ५/१,८/सू १०५-१२१)

१०५	उपशमक	८-१०	स्तोक	परस्पर सुख्य संचय
१०६	क्षपक	११	ऊपरसुख्य	प्रवेश दोनों अपेक्षा
१०७	क्षपक	८-१०	दुगुणे	"
१०८	सयोग केवली	१२	ऊपर सुख्य	"
१०९	अनुपशमक	१३	"	प्रवेश अपेक्षा
११०	अक्षपक सामान्य	"	सं गुणे	संचय अपेक्षा
१११	अनुपशमक	७	"	"
११२	अक्षपक सामान्य	६	दुगुणे	"
११३		५	अस गुणे	गुणकार = पश्य/असं
११४		४	"	" - आ/असं
११५		३	स गुणे	मनुष्य गतिवत्
११६		४	असं गुणे	गुणकार = आ/असं
११७		१	अस गुणे	मन-वचन योगकी अपेक्षा
११८	सम्यक्त्व	४-७	मूलोपवत्	काय व औ काययोग की अपेक्षा
११९		८-१०	"	"
१२०	चारित्र्य	उप	स्तोक	"
१२१		क्षप	सं गुणे	"

२ औदारिक मिश्र योग—

(प ख ५/१,८/सू १२२-१२७)

१२२	सयोग केवली	१३	स्तोक	
१२३	असंयत सामान्य	४	सं गुणे	
१२४	"	२	असं गुणे	गुणकार = पश्य/असं
१२५	"	१	अनन्त गुणे	
१२६	सम्यक्त्व	क्षा	स्तोक	दुर्लभता
१२७		वे	स गुणे	

३ वैकृतिक काय योग—

(प ख ५/१,८/सू १२८)

१२८	सर्व भग	१-४	देवगति- सा वत्	
-----	---------	-----	-------------------	--

४ वैकृतिक मिश्र योग—

(प ख ५/१,८/सू १२९-१३४)

१२९	सामान्य	४	स्तोक	
१३०		२	अस गुणे	गुणकार = आ/असं
१३१		१	"	गुणकार = अगु/असं + जप्र
१३२	सम्यक्त्व	उप	स्तोक	उपशम श्रेणीमें मृत्यु बहुत कम होती है
१३३		क्षा	सं गुणे	
१३४		वे	असं गुणे	गुणकार = पश्य/असं

५. आहारक मिश्र काय योग—

(प ख ५/१,८/सू १३५-१३६)

१३५	सम्यक्त्व	क्षा	स्तोक	उपशम सम्यक्त्वमें आहारक योग नहीं होता
१३६		वे	स गुणे	

६ कामर्ण काय योग—

(प ख ५/१,८/सू १३७-१४३)

१३७		१३	स्तोक	
१३८		२	अस गुणे	गुणकार = पश्य/असं
१३९		४	"	" - आ/असं
१४०		१	अनन्त गुणे	
१४१	सम्यक्त्व	उप	स्तोक	वैकृतिक मिश्रवत् असं
१४२		क्षा	स गुणे	क्षायिक सम्यक्त्वद्विषाका मरण नहीं होता। क्योंकि यदि देवोंसे मरण करे तो मनुष्योंमें असं क्षा सम्य का प्रसंग आ जायेगा। परन्तु तिर्यक् व मनुष्यों में अस क्षा सम्य होते नहीं। नरकसे मरकर देवोंमें जाते नहीं।
१४३		वे	अस गुणे	गुणकार = पश्य/असं

६. वेद मार्गणा—

१ सामान्यकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—

(प ख ५/७/२,११/सू १३०-१३३)

१३०	पुरुष		स्तोक	
१३१	स्त्री		स गुणे	
१३२	अपगत		अनन्त गुणे	
१३३	नपुंसक		"	

२ विशेषकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—

(प ख ७/२,११/सू १३४-१४४)

१३४	नपुंसक संज्ञा गर्भज		स्तोक	
१३५	पुरुष " "		सं गुणे	
१३६	स्त्री " "		"	
१३७	नपुंसक " सम्पू प		"	
१३८	" " अप		असं गुणे	गुणकार = आ/असं
१३९	स्त्री " गर्भज भोग		"	
१४०	पुरुष " भोग		ऊपर सुख्य	
१४१	नपुंसक असंज्ञा गर्भज		सं गुणे	
१४२	पुरुष " "		"	
१४३	स्त्री " "		"	
१४४	नपुंसक " सम्पू प		"	
१४५	" " अप		असं गुणे	गुणकार = आ/असं

३ तीनां वेदोंकी पृथक् पृथक् ओष व आदेश प्ररूपणा—

१ स्त्री वेद—

(प ख ५/१-८/सू १४४-१६१)

१४४	उपशमक	८-९	स्तोक	परस्पर सुख्य केवल १० जीव
१४५	क्षपक	८-९	दुगुणे	" २० जीव

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अक्षपद्यहृस्व	कारण व विशेष	सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अक्षपद्यहृस्व	कारण व विशेष
१४६	अक्षपक व अनुशमक	७	सं गुणे	मूलोघवत्	१८४	असयतोंमें सम्य	उप	स्तोक	
१४७		६	दुगुने		"		हा	आ /अस गुणे	प्रथम पृथ्वी नरकमें भी
१४८		५	अस गुणे	गुणकार=पश्य/अस तिर्यच भी सम्मिलित	"		वे	"	सुलभ
१४९		२	"	सुलभता	"	{ सम्यतासयतों में	हा	स्तोक	पर्याप्त मनुष्य ही होते
१५०		३	स गुणे	अन्य स्थानोंसे आय	"	सम्यवरव	उप	प /अ ' गुणे	हैं तिर्यच नहीं
१५१		४	अस गुणे	गुणकार=आ /अस	"		वे	आ /अस गुणे	पृथक् पृथक् परस्पर १ २
१५२		१	"	अन्य स्थानोंसे आय	१८५	गुणस्थान ६-७ में	हा	स्तोक	अप्रशस्त वेदमें क्षायिक
१५३				गुणकार=धनौगुल + अस /ज प्र	१८६	सम्यवरव	उप	सं गुणे	की दुर्लभता
१५४	{ गुणस्थान ४ ५ में	हा.	स्तोक	अक्षप आय	१८७		वे	"	
१५५	{ सम्यवरव	उप	सं गुणे	गुणकार=पश्य/अस	१८८	उपशमकोंमें सम्य	हा	-स्तोक	
१५६		वे	"	" =आ /अस	"		उप	सं गुणे	
१५६	{ गुणस्थान ६-७ में	हा	स्तोक		१८९	चारित्र	"	स्तोक	
१५७	{ सम्यवत्त्व	उप	सं गुणे		१९०		हा	स गुणे	
१५८		वे	"						
१५९	उपशमकोंमें सम्य	हा	स्तोक						
१६०	चारित्र	उप	स गुणे						
१६१		हा	स्तोक						
१६२		दुगुने							
२ पुरुष वेद—(प ख ४/१,८/सू १६२-१७४)					४ अपगत वेद—(प ख ४/१,८/सू १६१-१६६)				
१६२	उपशमक	८-९	स्तोक	परस्पर तुल्य कुल ४ जीव	१६१	उपशमक	६-१०	स्तोक	पृथक् पृथक् तुल्य (कुल
१६३	क्षपक	८-९	दुगुने	" " १०८ "	१६२		११	ऊपर तुल्य	४ जीव)
१६४	अक्षपक व अनुशमक	७	स गुणे	मूल ओघवत्	१६३	क्षपक	६-१०	दुगुने	प्रवेशकी अपेक्षा
१६५		६	दुगुने	"	१६४		१२	ऊपर तुल्य	संचय भी प्रवेशाधीन है
१६६		५	अस गुणे	गुणकार=पश्य/असं (तिर्यच भी)	१६५	अयोगी	१४	"	" कुल १०८ जीव
१६७		२	"	गुणकार=आ /असं	१६६	सयोगी	१३	"	"
१६८		३	सं गुणे	" " " "	१६६		सं गुणे		प्रवेशकी अपेक्षा
१६९		४	अस गुणे	" " " "					सचयकी अपेक्षा
१७०		१	"	" =अगु /असं +ज प्र	१०—कपाय मार्गणा				
१७१	{ गुणस्थान ४ ७ में	उप	स्तोक	ओघवत्	१ कपाय चतुष्ककी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—				
"	{ सम्यवत्त्व	हा	अस गुणे	गुणकार=पश्य/अस	(प ख ७/२,२१/सू १४५-१४६)				
१७२	उपशमकोंमें सम्य	वे	"	" =आ /अस	१४५	अकपायी		स्तोक	
१७३	चारित्र	हा	स्तोक		१४६	मान कपायी		अनन्त गुणे	
१७४		उप	सं गुणे		१४७	क्रोध कपायी		विशेषाधिक	उपरोक्त + वह/आ + अस
१७५		हा	स्तोक		१४८	माया कपायी		"	"
१७६		उप	स गुणे		१४९	लोभ कपायी		"	"
१७७		हा	स्तोक		२ कपाय चतुष्ककी अपेक्षा ओघ व आदेश प्ररूपणा—				
१७८		उप	स गुणे		चारों कपाय—(प ख ४/१,८/सू १६७-२११)				
१७९		हा	स्तोक		१६७	उपशमक	८-९	स्तोक	परस्पर तुल्य प्रवेशकी
१८०		उप	स गुणे		१६८	क्षपक	८-९	सं गुणे	अपेक्षा सचय भी
१८१		हा	स्तोक		१६९	उपशमक	१०	विशेषाधिक	प्रवेशाधीन है
१८२		उप	स गुणे		२००	क्षपक	१०	स गुणे	
१८३		हा	स्तोक		२०१	अक्षपक व अनुशमक	७	"	गु =क्रोध, मान, माया, लो
१८४		दुगुने			२०२		६	दुगुने	२ ३ ४ ७
१८५		अस गुणे			२०३		५	अस गुणे	४ ६ ८ १४
१८६		अस गुणे			२०४		२	"	गुणकार=पश्य/अस
१८७		अस गुणे			२०५		३	स गुणे	" =आ /अस
१८८		अस गुणे			२०६		४	अस गुणे	" =स समय
१८९		अस गुणे			२०७		१	अनन्त गुणे	" =आ /असं
१९०		अनन्त गुणे			२०८	उपरोक्तमें सम्यवरव	उप	स्तोक	मूलोघवत्
१९१							हा	अस /स गुणे	"
१९२							वे	"	"
१९३									"

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पवृत्त	कारण व विशेष	सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पवृत्त	कारण व विशेष
२०६	उपशमकोंमें	उप	स्तोक	मूलोषवत्	२३४	अक्षपक व अनुपशमक	७	स गुणे	
	सम्यक्त्व	हा	सं गुणे	"	२३५		६	दुगुणे	
२१०	चारित्र	उप	स्तोक		२३६	उपरोक्त में सम्य	उप	स्तोक	
२११		हा	स गुणे		२३७		हा	स गुणे	क्षायिक सम्यक्त्वके साथ
	अक्षपायी—(प ख ५/१८/सू २१२-२१४)				२३८		वे	"	अधिक मन पर्ययज्ञानी
२१२	अक्षपायी	११	स्तोक	कुल ५४ जीव (प्रवेश व संचय)	२३९	उपशमकोंमें सम्य	उप	स्तोक	मूलोषवत्
२१३	"	१२	दुगुणे	" १०८ "			हा	सं गुणे	"
२१४	"	१४	ऊपरतुल्य	प्रवेश की अपेक्षा	२४०	चारित्र	उप	स्तोक	"
	"	१३	"	"	२४१		हा	स गुणे	"
२१५	"		स गुणे	सचय की अपेक्षा					

४ केवल शान—प ख ५/१८/सू २४२-२४३)

११ ज्ञान मार्गणा—

१ सामान्य प्ररूपणा—

(प ख ७/२, ११/सू १६०-१६५)

१६०	मन पर्यय ज्ञानी	स्तोक	सन्त्यात मात्र
१६१	अवधि "	अस गुणे	गुणकार = पश्य/असं
१६२	मतिश्रुत "	विशेषाधिक	उपरोक्त + बह/असं
			परस्पर तुल्य
१६३	विभग ज्ञानी	असं गुणे	गुणकार = ज प्र /अस
१६४	केवलज्ञानी	अनन्तगुणे	
१६५	मतिश्रुत अज्ञानी	"	

२ ओष व आदेश प्ररूपणा—

१ अज्ञान—(प ख ५/१८/सू २१६-२१७)

२१६	मतिश्रुत अज्ञान	२	स्तोक	गुणकार = पश्य/अस
२१७		१	अनन्तगुणे	" = सर्व जीव/अस
२१८	विभंग ज्ञान	२	सर्वत स्तोक	पश्य/अस
२१९		१	अस गुणे	गुण = अगु/अस = ज प्र

२ मतिश्रुत अवधिज्ञान—(प ख ५/१८/सू २२०-२२६)

२२०	उपशमक	८-१०	स्तोक	प्रवेश अपेक्षा/तुल्य
२२१	"	११	ऊपरतुल्य	सचय भी प्रवेशाधीन
२२२	क्षपक	८-१०	दुगुणे	"
२२३	"	१२	ऊपरतुल्य	"
२२४	अक्षपक व अनुपशमक	७	सं गुणे	मूलोषवत्
२२५	"	६	दुगुणे	"
२२६	"	५	प/अस गुणे	तिर्यं भी, वेव भी
२२७	"	४	आ/अस/गु	"
२२८	उपरोक्त में सम्यक्त्व	उप	स्तोक	मूलोषवत्
"		हा	अस व स गु	"
"		वे	"	"
२२९	उपशमकोंमें सम्य	उप	स्तोक	"
"		हा	सं गुणे	"
२३०	चारित्र	उप	स्तोक	"
२३१		हा	स गुणे	"

३ मन पर्यय ज्ञान—(प ख ५/१८/सू २३०-२४१)

२३०	उपशमक	८-१०	स्तोक	तुल्य प्रवेश व सचय
२३१		११	ऊपरतुल्य	"
२३२	क्षपक	८-१०	दुगुणे	"
२३३		१२	ऊपरतुल्य	"

२३४	अक्षपक व अनुपशमक	७	स गुणे	
२३५		६	दुगुणे	
२३६	उपरोक्त में सम्य	उप	स्तोक	क्षायिक सम्यक्त्वके साथ
२३७		हा	स गुणे	अधिक मन पर्ययज्ञानी
२३८		वे	"	होते हैं।
२३९	उपशमकोंमें सम्य	उप	स्तोक	मूलोषवत्
२४०	चारित्र	उप	स्तोक	"
२४१		हा	स गुणे	"

१२ संयम मार्गणा—

१ सामान्यकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—

(प ख ७/२, ११/सू १६६-१६८)

१६६	संयत सामान्य	स्तोक	सन्त्यात मात्र
१६७	संयतासयत	अस गुणे	गुणकार = पश्य/अस
१६८	न संयत न असयत	अनन्तगुणे	
	(सिद्ध)		
१६९	असंयत	अनन्तगुणे	

२ विशेषकी अपेक्षा सामान्य प्ररूपणा—

(प ख ७/२, ११/सू १६९-१७०)

१६०	सूक्ष्म साम्प्रदाय	स्तोक	
१६१	परिहार विषुद्धि	स गुणे	
१६२	यथाख्यात	"	
१६३	सामायिक	"	
१६४	छेदोपस्थापना	ऊपरतुल्य	
१६५	संयत सामान्य	विशेषाधिक	उपरोक्त सर्वका योग
१६६	संयतासयत	अस गुणे	गुणकार = पश्य/असं
१६७	न संयत न असयत	अनन्तगुणे	
	(सिद्ध)		
१६८	असंयते	अनन्तगुणे	

३ ओष व आदेश प्ररूपणा—

१ संयम सामान्य—(प ख ५/१८/सू २४४-२४७)

२४४	उपशमक	८-१०	स्तोक	प्रवेश व सचय दोनों
२४५		११	ऊपरतुल्य	कुल ५४ जीव
२४६	क्षपक	८-१०	दुगुणे	"(कुल १०८ जीव
२४७		१२	ऊपरतुल्य	"
२४८	अयोगी	१४	"	
२४९	सयोगी	१३	"	प्रवेशापेक्षया
२५०	"	१३	स गुणे	सचयापेक्षया
२५१	अक्षपक व अनुपशमक	७	"	
२५२		६	दुगुणे	
२५३	उपरोक्त में सम्यक्त्व	उप	स्तोक	
२५४		हा	स गुणे	
		वे	सं गुणे	

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अवपवहुत्व	कारण व विशेष	सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अवपवहुत्व	कारण व विशेष
२५५	उपशमकोंमें सम्यक्त्व	उप	स्तोक		२ ओघ व आदेश प्ररूपणा— (प ख ५/१.८/सू २८६-२८९)				
"		क्षा	स गुणे		३८६	अचक्षु	२-१२	मूलोघवत्	
२५६	चारित्र	उप	स्तोक		२८७	चक्षु	१	धृतेसेअस गुणे	गुणकार=ज प्र /अस
२५७		क्षप	स गुणे		२८६		२-१२	मूलोघवत्	
१ सामायिक छेदोपस्थापना समय—(प ख ५/१.८/सू २८८-२८७)					२८८	अवधि	४-१२	अनधि-ज्ञानवत्	
२५८	उपशमक	८-९	स्तोक	परस्पर तुष्य/प्रवेशकी	२८९		१३-१४	केवलज्ञानवत्	
२५९	क्षपक	"	दुगुणे	अपेक्षा कुल ५४ जीव संचय भी प्रवेशाधीन					
२६०	अक्षपक व अनुपशमक	७	स गुणे						
२६१	"	६	दुगुणे						
२६२	उपरोक्तमें सम्यक्त्व	उप	स्तोक						
२६३		क्षा	सं गुणे						
२६४		वे	"						
२६५	उपशमकोंमें सम्य	उप	स्तोक						
"		क्षा	सं गुणे						
२६६	चारित्र	उप	स्तोक						
२६७		क्षप	सं गुणे						
३ परिहार विशुद्धि संयम—(प ख ५/१.८/सू २६८-२७१)									
२६८	अक्षपक व अनुपशमक	७	स्तोक						
२६९		६	दुगुणे						
	उपरोक्तमें सम्यक्त्व	उप		अभाव					
२७०		क्षा	स्तोक						
२७१		वे	स गुणे						
४ सूक्ष्म साम्प्रदाय संयम—प ख ५/१.८/सू २७२-२७३)									
२७२	उपशमक	१०	स्तोक						
२७३	क्षपक	१०	दुगुणे						
५ यथाख्यात संयम—(प ख ५/१.८/सू २७४)									
२७४		११	स्तोक	प्रवेश व सचय					
		१२	दुगुणे	"					
		१४	ऊपर तुष्य	प्रवेश की अपेक्षा					
		१३	"	"					
		मं गुणे		सचय की अपेक्षा					
२७५	सामान्य	५		अवपवहुत्व नहीं है					
२७६	सम्यक्त्व	क्षा	स्तोक	तियंचों में अभाव					
२७७		उप	अस गुणे	गुणकार=पश्य/असं					
२७८		वे	"	"=आ/अस					
७ असंयम—(प ख ५/१.८/सू २७९-२८६)									
२७९	सामान्य	२	स्तोक						
२८०		३	स गुणे						
२८१		४	अस गुणे	गुणकार=आ/अस					
२८२		१	अनन्तगुणे	गुणकार=सिद्ध × अनन्त					
२८३	सम्यक्त्व	उप	स्तोक						
२८४		क्षा	अस गुणे	गुणकार=आ/अस					
२८५		वे	"						
१३ दर्शन मार्गणा—									
१ सामान्य प्ररूपणा— (प ख ७/२.११/सू १७५-१७८)									
१७५	अवधि		स्तोक	पश्य/असं					
१७६	चक्षु		असं गुणा	गुणकार=ज प्र /अस					
१७७	केवल		अनन्तगुणा	सिद्धों की अपेक्षा					
१७८	अचक्षु		"						
२ तेज, छद्म, लेख्या—(प ख ५/१.८/सू ३००-३०७)									
३००	सामान्य	७	स्तोक	संख्यात प्रमाण मनुष्य					
३०१		६	दुगुणे						
३०२		५	अस गुणे	गुणकार=पश्य/अस					
३०३		२	"	"=आ/अस					
३०४		३	स गुणे						
३०५		४	अस गुणे	गुणकार=आ/अस					
३०६		१	"	"=ज प्र /अस					
३०७	सम्यक्त्व	४-७	मूलोघवत्						
३ शुक्ल लेख्या—(प ख ५/१.८/सू ३०८-३१३)									
३०८	उपशमक	८-१०	स्तोक	प्रवेशापेक्षया/परस्पर तुष्य सचय भी प्रवेशाधीन					
३०९		११	ऊपर तुष्य	" (१०८ जीव)					
३१०	क्षपक	८-१०	दुगुणे						
३११		१२	ऊपर तुष्य						
३१२		१३		प्रवेशापेक्षया सचयापेक्षया					
३१३		स गुणे							

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अवयवगुणव	कारण य विशेष	सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अवयवगुणव	कारण य विशेष
३१४	अक्षपक व अनुपशमक	७	"	गुणकार—स समय	३३४	क्षपन मि क्षायिक	८-१०	ग गुण	
३१६		६	दुगुने		३३४		१२	ऊपर तुष्य	
३१६		६	अस गुणे	गुणकार—पश्य/असं	३३६		१४	"	प्रवेशापेक्षया
३१७		२	"	" —आ /असं	३३६		१३	"	"
३१८		१	स गुणे		३३६		१३	"	"
३१८		१	अस गुणे	गुणकार—आ /अस	३३७	अक्षपक व अनुप-	७	स गुणे	गणगापेक्षया
३२०		४	स गुणे		३३७	क्षमन मि क्षायिक	६	अग. गुणे	
३२१	गुणस्थान ४में सम्य	उप	स्तोक		३३८		६	दुगुने	
३२२		क्षा	असं गुणे	गुणकार—आ /अस			४	सं गुणे	मनुष्यक अतिरिक्त अग
३२३		वे	सं गुणे	अनुदिशादिमें वेदक कम होते हैं					जातिगमिं अभाव
३२४	गुणस्थान ६में सम्य		मूलोघवत्		३४०		४	असं गुणे	गुणकार—पश्य/अस
३२५	उपशमकों में	उप	स्तोक	मूलोघवत्	३४२	वेदक सम्यवरय	७	स्तोक	
	सम्यवरय	क्षा	दुगुने	"	३४३		६	दुगुने	
३२६	चारित्र	उप	स्तोक		३४४		४	अस गुणे	गुणकार—पश्य/अस
३२७		क्षा	स गुणे						" —आ /अस

१५. भव्य मार्गणा—

१ सामान्य प्ररूपणा—

(प ख ७/२,११/सू १८६-१८८)

१८६	अभव्य	स्तोक	जघन्य युक्तानन्त मात्र
१८७	न भव्य न अव्यय	अनन्तगुणे	
१८८	भव्य	"	

२. ओघ व आदेश प्ररूपणा—

(प ख ६/१,८/सू ३२८-३२९)

३२८	भव्य	१-१४	मूलोघवत्
३२९	अभव्य	१	नहीं है

१६ सम्यकत्व मार्गणा—

१ सामान्य प्ररूपणा—

(प ख ७/२,११/सू १८६-१८८)

१८६	सम्यग्मिध्या	स्तोक	
१८७	सम्यग्दृष्टि	असं गुणे	गुणकार—आ /अस.
१८८	सिद्ध	अनन्तगुणे	
१८९	मिध्यादृष्टि	"	
१९०	सासादन		सम्यग्दृष्टिमें अन्तर्भाव

अन्य प्रकार—(प ख ७/२,११/सू १८९-२००)

१९१	सासादन	स्तोक	
१९२	स्तोक	सं गुणे	गुणकार—सं समय
१९३	सम्यग्मिध्याख	उप	" —आ /अस
१९४		क्षा.	" — "
१९५		वे	" — "
१९६		सा	विशेषाधिक
१९७	सिद्ध	अनन्तगुणे	समका योग
१९८	मिध्यादृष्टि	"	

२ ओघ व आदेश प्ररूपणा—

(प ख ६/१,८/सू ३३०-३४४)

३३०	सम्यकत्व सा	४-१२	अवधिज्ञा वत्
		११-१४	मूलोघवत्
३३१	उपशमकोंमें क्षायिक	८-१०	स्तोक
३३२		११	ऊपर तुष्य

१७ सजी मार्गणा—

१ सामान्य प्ररूपणा—

(प ख ७/२,११/सू २०१-२०३)

२०१	संक्षी	स्तोक	ज प्र /असं मात्र
२०२	न संक्षी न असंक्षी	सिद्ध	अनन्तगुणे
२०३	असंक्षी		

२ ओघ व आदेश प्ररूपणा—

(प ख ६/१,८/सू ३४५-३४७)

३४५	संक्षी	२-१४	मूलोघवत्
३४६	"	१	असंयत् से
३४७	असंक्षी	१	नहीं है

१८ आहारक मार्गणा—

१ सामान्य प्ररूपणा—

(प ख ७/२,११/सू २०३-२०४)

२०३	अनाहारक अव्यय	१४	स्तोक
२०४	अनाहारक अव्यय		अनन्तगुणे
२०५	आहारक	अस गुणे	विग्रह गतिमें

२ ओघ व आदेश प्ररूपणा—

(प ख ६/१,८/सू ३४८-३५४)

३५८	उपशमक	८-१०	स्तोक
३५९		११	ऊपर तुष्य
३६०	क्षपक	८-१०	दुगुने
३६१		१२	ऊपर तुष्य
३६२		१३	"
३६३		१४	स गुणे

सूत्र	मार्गणा	गुण स्थान	अल्पबहुत्व	कारण व विशेष	क्रम	मार्गणा	अल्पबहुत्व
३६४	अक्षपक अनुपशमक	७	स गुणे	स मनुष्यमात्र		३ कालकी अपेक्षा	
३६५		६	दुगुणे			उत्सर्पिणी सिद्ध	स्तोक
३६६		५	अस गुणे	गुणकार=पश्य/अस		अवसर्पिणी "	विशेषाधिक
				तिर्यचोकी अपेक्षा		अनुत्सर्पिण्यनवसर्पिणी (विदेहसेव)	स गुणे
३६७		२	"	गुणकार=आ/अस		प्रत्युरपन्ननयापेक्षया	एक समय में सिद्ध होती है।
३६८		३	स गुणे				अतः अल्पबहुत्वका अभाव है।
३६९		४	अस गुणे	गुणकार=आ/अस		४ अन्तरकी अपेक्षा	
३७०		१	अनन्तगुणे			निरन्तर होनेवालोंकी अपेक्षा—	
३७१	उपरोक्तमें सम्यक्त्व	उप	—	मूलोद्यवत्		आठ समय अन्तर से	स्तोक
		क्षा	—	"		सात " " "	सं गुणे
		वे	—	"		छ " " "	"
३७२	उपशमकोंमें	उप	स्तोक	"		पाँच " " "	"
	सम्यक्त्व	क्षा	स गुणे	"		चार " " "	"
३७३	चारित्र	उप	स्तोक	कुल जीव ५४		तीन " " "	"
३७४		क्षप	दुगुणे	" १०८		दो " " "	"

३ अनाहारकी ओष व आदेश प्ररूपणा

(प ख ५/१ ८/सू ३७५-३८२)

३७५	सयोगी	१३	स्तोक	समुद्रात् गत केवली (६० जीव)
३७६	अयोगी	१४	स गुणे	सचय (५६८ जीव)
३७७	विग्रह गतिवाले	२	प/अस/गुणे	तिर्यचोकी अपेक्षा
३७८		४	आ/अस गुणे	विग्रह गति प्राप्त
३७९		१	अनन्तगुणे	विग्रह गति प्राप्त
३८०	असयत्तोंमें सम्यक्त्व	उप	स्तोक	द्वितीयोपशम वाले ही अनाहारक होते हैं
३८१		क्षा	स गुणे	गुणकार=सं समय
३८२		वे	अस गुणे	" = पश्य/अस

३. प्रकीर्णक प्ररूपणाएँ

१ सिद्धोंकी अनेक अपेक्षाओं से अल्पबहुत्व प्ररूपणा

(रा वा १०/६/१४/६४७/२७)

क्रम	मार्गणा	अल्पबहुत्व
	१ सहरण सिद्ध व जन्मसिद्धकी अपेक्षा	
	सहरण सिद्ध	स्तोक
	जन्म सिद्ध	स गुणे
	२ क्षेत्रकी अपेक्षा—(केवल सहरण सिद्धोंमें)	
	ऊर्ध्व लोक सिद्ध	स्तोक
	अधोलोक सिद्ध	स गुणे
	तिर्यग्लोक सा	"
	तिर्यग्लोक विशेष —	
	समुद्र सा सिद्ध	स्तोक
	क्षीप सा सिद्ध	स गुणे
	लवण समुद्र सिद्ध	स्तोक
	कालोद " "	सं गुणे
	जम्बूद्वीप " "	"
	घातकी " "	"
	पुष्करार्थ " "	"

६ वेदानुयोगकी अपेक्षा

प्रत्युरपन्न नयापेक्षा	अवेद भावमें ही सिद्धि है अतः अल्पबहुत्व नहीं है
------------------------	---

भूत नयापेक्षया—

नपुंसक वेद से	स्तोक
स्त्री वेद से	सं गुणे
पुरुष वेद से	"

७ तीर्थंकर व सामान्य केवलीकी अपेक्षा

तीर्थंकर सिद्ध	स्तोक
सामान्य सिद्ध	स गुणे

८ चारित्रकी अपेक्षा

प्रत्युरपन्न नयापेक्षया	निर्विकल्प चारित्रसे सिद्धि होने से अल्पबहुत्व नहीं है
अनन्तर चारित्रापेक्षा	यथागम्यातसे ही होनेसे अल्पबहुत्व नहीं है
एकान्तर चारित्रापेक्षा—	
पंच चारित्र सिद्ध	स्तोक
चार " "	स गुणे
(परिहार विमुक्ति रहित)	

क्रम	मार्ग १	अल्पमहुरव	पृष्ठ	मार्गणा	संकेत	अल्पमहुरव
१ प्रत्येक बुद्ध व बोधित बुद्धकी अपेक्षा						
प्रत्येक बुद्ध	स्तोक		३१८	७-१ पृथिवी	—	नरक सामान्यवर्ष
बोधित बुद्ध	सं गुणे		"	देवगति सामान्य ॥ विदोष	—	नरक गतिवत्
१०. ज्ञानकी अपेक्षा			३१६	तिर्यक्ष गति सा विदोष	—	"
प्रयुष्टपन्न नयापेक्षा	केवल ज्ञानसे ही होनेसे अल्प-महुरव नहीं		३१८	मनुष्य गति मा, "		"
अनन्तर ज्ञानापेक्षा—				सिद्धों में विदोषता—		
दो ज्ञान सिद्ध	स्तोक			सिद्ध सामान्य	कृ	स्तोक
चतु ज्ञान सिद्ध	सं गुणे		"	मनुष्य प से प्राप्त सिद्ध	अव	सं गुण
त्रिज्ञान सिद्ध	"		"		नो कृ	"
विशेषापेक्षा—					"	स्तोक
मति श्रुत मन पर्यय	स्तोक			मनुष्यणी प से प्राप्त सिद्ध	अव	विशेषाधिक
मति श्रुत से	सं गुणे				कृ	सं गुणे
मति श्रुत अवधि मन पर्यय ज्ञानसे	"				"	स्तोक
मति श्रुत अवधिसे	"				अव,	सं गुणे
					नो कृ	"
११ अवगाहनाकी अपेक्षा						
अवगम्य अवगाहनासे	स्तोक		३१६	(२) परस्थान की अपेक्षा—		
उत्कृष्ट " "	सं गुणे		३१६	७ गी पृथिवी	नो कृ	स्तोक
यवमध्य " "	"		"	{ ६-१ ती पृथिवी तक सममें पृथक्	अव	विशेषाधिक
अधस्तान यवमध्य	"		"	{ पृथक् अपने उपरकी अपेक्षा	नो कृ	सं गुणे
उपरि यवमध्य	विशेषाधिक		"	७ वी पृथिवी	अव	विशेषाधिक
१२ युगपत् प्राप्त सिद्धोंकी संख्याकी अपेक्षा			"	६ ठी "	कृ	असं गुणे
१०=सिद्ध	स्तोक		"	५ वी "	"	"
१०=५० तक के	अनन्त गुणे		"	४ वी "	"	"
४६-२५ "	असं गुणे		३२०	३ वी "	"	"
२४ १ "	स गुणे		"	२ वी "	"	"
			"	१ वी "	"	"
१३ मनुष्य पर्याय से—(घ६/पृ ३१८)						
१-१ की संख्यासे होनेवाले	स्तोक		३२०	(३) स्व परस्थान की अपेक्षा—		
२-२ की संख्यासे होनेवाले	विशेषाधिक		"	मनुष्यणी	कृ	स्तोक
२ से अधिक संख्यासे होनेवाले	सं गुणे		"		अव	सं गुणी
मनुष्यणी पर्याय से—(घ६/पृ ३१८)			"	मनुष्य	नो कृ	"
२ से अधिक संख्यासे होनेवाले	स्तोक		"	तिर्यक्ष योनिमति	अव	असं गुणी
२-२ की संख्यासे	स गुणे		"		नो. कृ	असं गुणी
१-१ " " "	"		"	नारकी	अव	विशेषाधिक
			"		नो कृ	असं गुणी
२ १-१, २-२ आदि करके सचय होने वाले जीवोंकी अल्पबहुत्व प्रख्याणा—						
(घ ६/४, १, ६६/११८-३२१)			"	देव	अव	विशेषाधिक
संकेत—नो कृ (नो कृति संचित्त) = १-१ करके संचित्त होने वाले,			"	देवियाँ	नो कृ	असं गुणी
अव (अवक्तव्य संचित्त) = २-२ करके संचित्त होने वाले,			"		अव	विशेषाधिक
कृ (कृति संचित्त) = ३ आदि करके संचित्त होने वाले,			"	मनुष्य	कृ	असं गुणी
			"	नारकी	"	"
			"	तिर्यक्ष योनिमति	"	"
			"	देव	"	"
			"	देवियाँ	"	"
			"	तिर्यक्ष सामान्य	नो कृ	अनन्त गुणी
			"		अव	विशेषाधिक
			"	सिद्ध	कृ	असं गुणी
			"		"	अनन्त गुणी
			"		अव	सं गुणी
			"		नो कृ	"

१ गति मार्गणा—

(१) स्वस्थान की अपेक्षा—

३१८	नरक गति सामान्य	नो कृ,	स्तोक
	"	अव	विशेषाधिक
		कृ	ज प्र/असं गुणे

पृष्ठ	मार्गणा	सकेत	अल्पमहुरव	अल्पमहुरव	गुणकार
२ द्विद्रव्य मार्गणा— स्व व परस्थानकी अपेक्षा—				अनन्त गुणी	अभव्य×अनन्त
१२१	चतुरिन्द्रिय	नो कृ	स्तोक	८	"
		अव	विशेषाधिक	१०	"
"	त्रीन्द्रिय	नो कृ	"	१२	"
		अव	"	१४	सर्व जीव राशि×अनन्त
"	द्वीन्द्रिय	नो कृ	"	१६	"
		अव	"	१७	"
"	पंचेन्द्रिय	नो कृ	अस गुणे	१८	अस गुणी
		अव	विशेषाधिक	१९	अनन्तगुणी
		कृ	अस गुणे	२०	अस गुणी
"	चतुरिन्द्रिय	"	विशेषाधिक	२१	"
"	त्रीन्द्रिय	"	"	२२	"
"	द्वीन्द्रिय	"	"	२३	"
"	एकेन्द्रिय	नो कृ	अनन्त गुणे	२४	अस गुणी
		अव	विशेषाधिक	२५	"
		कृ	अस गुणे	२६	"

नोट—इससे आगेके सर्व स्थान यथामोक्ष एकेन्द्रियत आनना ।

३ अय मार्गणाएँ—

स्व व परस्थानकी अपेक्षा—

१२६	मन पर्यय ज्ञान	नरक गतिवत्
"	क्षायिक सम्पत्ति	"
"	सयत् सामान्य विशेष	"
"	{ अनुत्तरादि विमानोंसे मनुष्य	"
"	{ होनेवाले देव	"
"	तथा अन्य संख्यात राशियाँ	"

३ तेईस वर्गणाओ मन्वन्धो प्ररूपणाएँ—

२३ वर्गणाओंके नाम—(प ख १४/५/६/७/८/९/१०/११/१२/१३/१४/१५/१६/१७/१८/१९/२०/२१/२२/२३)

१ एक प्रदेशप्रमाण वर्गणा २ संख्याताणु वर्गणा; ३ असंख्याताणु वर्गणा, ४ अनन्ताणु वर्गणा, ५ आहारक वर्गणा; ६ अग्राह्य वर्गणा, ७ तैजस शरीर वर्गणा ८ अग्राह्य वर्गणा, ९ भाषा वर्गणा, १० अग्राह्य वर्गणा; ११ मनो वर्गणा, १२ अग्राह्य वर्गणा, १३ कर्मण वर्गणा, १४ ध्रुव स्कन्ध वर्गणा, १५ सास्तरनिरन्तर वर्गणा, १६ ध्रुव शून्य वर्गणा, १७ प्रत्येक शरीर वर्गणा, १८ ध्रुव शून्य वर्गणा, १९ बादर निगोद वर्गणा, २० ध्रुव शून्य वर्गणा, २१ सूक्ष्म निगोद वर्गणा, २२ ध्रुव शून्य वर्गणा, २३ महा स्कन्ध वर्गणा

पृष्ठ	अल्पमहुरव	गुणकार
-------	-----------	--------

१ एक श्रेणी वर्गणाके द्रव्य प्रमाणकी अपेक्षा—

(घ १४/५ १६३-१६६)

१	स्तोक	एक संख्या प्रमाण
२	सं गुणी	एक कम उत्कृष्ट संख्या
३	अस गुणी	स्व राशि/अस
४	अनन्त गुणी	स्व राशि/अस
५	"	" /अनन्त
६	"	उपरोक्त श्रेणी/स्व राशि
११	"	"
१२	"	"
१३	"	"
१४	"	अभव्य×अनन्त

२. नाना श्रेणी वर्गणाके द्रव्य प्रमाणकी अपेक्षा—

(घ १४/५ १६६-१७६ तथा २०८-२१२)

२३	स्तोक	एक संख्या प्रमाण
१६	अस गुणे	आ/अस = अस लोक
२१	"	" = अस लोक
१७	"	" = अस लोक
१६	अनन्त गुणे	सर्व जीव राशि×अनन्त
१४	"	"
१३	"	अभव्य×अनन्त
१२	"	"
११	"	स्व गुणहानि शलाकाकी
१०	"	अन्योन्याम्यस्त राशि
९	"	"
८	अनन्त गुणे	स्वगुणहानि शलाकाकी
७	"	अन्योन्याम्यस्त राशि
६	"	"
५	"	"
४	"	"
३	"	"
२	सं गुणे	जघन्य परीतानन्त
१	अस गुणी	२ कम उत्कृष्ट संख्या
१६	"	ध्रुव शून्य वर्गणाओंका
१८	"	कथन नहीं किया क्योंकि
२०	"	वह पुद्गल रूप नहीं है
२२	"	आकाश रूप है

३ नाना श्रेणी प्रदेश प्रमाणकी अपेक्षा—

(घ १४/५ २१३-२१६)

१७	स्तोक	अनन्त लोक
२३	अनन्त गुणे	अस लोक
१६	अस गुणे	"
२१	"	"
१६	अनन्त गुणे	सर्व जीव×अनन्त
१४	"	"
१३	"	"
१२	"	स्वअन्योन्याम्यस्तराशि

४ एक श्रेणी द्रव्य, नाना श्रेणी द्रव्य और प्रदेश को अपेक्षा स्व व
परस्थान प्ररूपणा— (घ १४/पृ २१६-२२३)

४. पच शरीर वद्ध वर्गणाओंकी प्ररूपणा—

१ पञ्च वर्गणाओं के द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा—

(ঘ ৬/৮, ১, ২/৩৩)

जीनेन्द्र सिद्धान्त कोश

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

सूत्र	नाम शरीर या मार्गणा	अल्पबहुत्व	गुणकार	सूत्र	नाम शरीर या मार्गणा	अल्पबहुत्व	गुणकार
२. औदारिक शरीर विशेष की अवगाहनाकी अपेक्षा— (प ख ११/४, २, ४/सू ३१-६६/४६-७०) (घ १/१, ३ ४/२६१/७) ध ४/१, ३, २३/६४/७ (घ ६/४, १, २/१७/४) लक्ष्य पर्याप्तिके स्थान				७३	पृथ्वी या प की उ	"	"
३१	निगोद या मन साधारण सू	स्तोक	अगु/पश्य-असं	७४	मन, साधारण या निगोद या प की ज	असं गुणी	पश्य/असं
३२	अप की ज अवगाहना	असं गुणी	आ/असं	७५	उपरोक्त या अप की उ	विशेषाधिक	अगु/असं
३३	वायु सू अप की ज	"	"	७६	" " प की "	"	"
३४	तेज " " "	"	"	७७	मन प्रतिष्ठित प्रत्येक या निगोद प की ज	असं गुणी	पश्य/असं
३५	अप " " "	"	"	७८	उपरोक्त अप की उ	विशेषाधिक	अगु/असं
३६	पृथ्वी " " "	"	"	७९	" प की "	"	"
३७	वायु या अप की ज	"	पश्य/असं	८०	वन अप्रतिष्ठित प्रत्येक प की ज	असं गुणी	पश्य/असं
३८	तेज " " "	"	"	८१	ह्रीन्द्रिय प की ज	"	"
३९	जल " " "	"	"	८२	ब्रौन्द्रिय " " "	सं गुणी	स समय
४०	पृथ्वी " " "	"	"	८३	चतुरिन्द्रिय " " "	"	"
४१	निगोद या मन साधारण या अप की ज	"	"	८४	पंचेन्द्रिय " " "	"	"
४२	निगोद प्रतिष्ठित प्रत्येक अप की ज	"	"	८५	ब्रौन्द्रिय अप की उ	"	"
४३	अप्रतिष्ठित प्रत्येक मन अप की ज	"	"	८६	चतुरिन्द्रिय " " "	"	"
४४	ह्रीन्द्रिय अप की ज	"	"	८७	ह्रीन्द्रिय " " "	"	"
४५	ब्रौन्द्रिय " " "	"	"	८८	मन अप्रतिष्ठित प्रत्येक अप की उ	"	"
४६	चतुरिन्द्रिय " " "	"	"	८९	पंचेन्द्रिय अप की उ	"	"
४७	पंचेन्द्रिय " " "	"	"	९०	ब्रौन्द्रिय प की "	"	"
निवृत्ति पर्याप्तिक व निवृत्त्यपर्याप्तिक के स्थान				९१	चतुरिन्द्रिय " " "	"	"
४८	मन साधारण या निगोद सू प की ज	ऊपर से असं गुणी	आ/असं	९२	ह्रीन्द्रिय " " "	"	"
४९	उपरोक्त अप की उ	विशेषाधिक	अगु/असं	९३	वन अप्रतिष्ठित प्रत्येक प की उ	"	"
५०	" प की "	"	"	९४	पंचेन्द्रिय प की उ	"	"
५१	वायु सू प की ज	असं गुणी	आ/असं	९५	एक सूक्ष्म से अग्य सूक्ष्म = आ/असं गुणी		
५२	" " अप की उ	विशेषाधिक	अगु/असं	९६	सूक्ष्म से मादर = असं "		
५३	" " प की "	"	"	९७	मादर से ह्म = आ/असं "		
५४	तेज " " ज	असं गुणी	आ/असं	९८	मादर से मादर = पश्य/असं "		
५५	" " अप की उ	विशेषाधिक	अगु/असं	९९	मादर से दूसरा मादर = स समय "		
५६	" " प की "	"	"	३ पंचेन्द्रियो की अवगाहनाकी अपेक्षा— (घ १/१ १, ४/२३६/४)			
५७	अप " " ज	असं गुणी	आ/असं	चक्षु इन्द्रिय अवगाहना			
५८	जल " अप की उ	विशेषाधिक	अगु/असं	स्तोक			
५९	" " प की "	"	"	सं घुणी			
६०	पृथ्वी " " ज	असं गुणी	आ/असं	विशेषाधिक			
६१	" " अप की उ	विशेषाधिक	अगु/असं	जिह्वा			
६२	" " प की "	"	"	असं गुणी			
६३	वायु या प की ज	असं गुणी	पश्य/असं	सं गुणी			
६४	" " अप की उ	विशेषाधिक	अगु/असं	६ पाँचों शरीरों के स्वामियोंकी ओघ व आवेश प्ररूपणा— (प ख १४/५, ६/सू १६६-२३४/३०१-३१८)			
६५	" " प की "	"	"				
६६	तेज " " ज	असं गुणी	पश्य/असं				
६७	" " अप की उ	विशेषाधिक	अगु/असं				
६८	" " प की "	"	"				
६९	अप " " ज	असं गुणी	पश्य/असं				
७०	" " अप की उ	विशेषाधिक	अगु/असं				
७१	" " प की "	"	"				
७२	पृथ्वी " " ज	असं गुणी	पश्य/असं				
७३	" " अप की उ	विशेषाधिक	अगु/असं				

सूत्र	मार्गणा	शरीर स्वामित्व	अल्पबहुत्व	गुणकार	सूत्र	मार्गणा	शरीर स्वामित्व	अल्पबहुत्व	गुणकार
२ आदेश प्रस्पष्टणा—					४ योग मार्गणा—				
१ गति मार्गणा—					११८ पाँच मन व पाँच वचन योगी				
नरक गति—					११९ काय योग सामान्य औदारिक काययोगी				
१७३ नारकी सा	२	स्तोक	नार /आ +असं	११९	२००	४	स्तोक	ज श्रे /असं	
१७४ १-७ पृथिवी	२	स्तोक	आ /अस	२०१	२०२	३	अस गुणे	ति या ओघवत्	
तिर्यंच गति—					२०३ औदारिक मिश्र, वैश्विक व मिश्र आहारक व मिश्र कर्मण काय योग				
१७६ तिर्यंच सामान्य	४	स्तोक	आ /अस	२०३	२०४	२	अस गुणे	सर्वजीव राशि के अनत प्रथम वर्गमूल प्रमाण अल्पबहुत्व नहीं है एकही पद है	
१७७ पंचेन्द्रिय सा, प, व योनिमति	४	अनन्त गुणे	सं आव	२०४	२०५	३	स्तोक	जीवों के अनत प्रथम वर्गमूल	
१७८ पंचेन्द्रिय सा, प, व योनिमति	२	अस गुणे	ज श्रे /अस	२०५	२०६	२	अनन्त गुणे	पंचेन्द्रियसा वत्ति या ओघवत्	
१७९ पंचेन्द्रिय ति अप मनुष्य गति—	३	"	आ /अस	२०६	२०७	३	अस गुणे	एकही पद है	
१८० पंचेन्द्रिय ति अप मनुष्य गति—	२,३	नारकी सा वत्		२०७	२०८	३	स्तोक	एकही पद है	
१८१ मनुष्य सामान्य	४	स्तोक	संख्य मात्र	२०८	२०९	३	अस गुणे	एकही पद है	
टी	२	अस गुणे	आ /अस	२१०	२११	३	स्तोक	एकही पद है	
१८२ मनुष्य प व मनुष्यणी	४	स्तोक	आ /अस	२१२	२१३	३	अस गुणे	एकही पद है	
१८३	२	स गुणे	पश्य/असं	२१४	२१५	३	स्तोक	स समय एक ही पद है	
१८४	३	"		२१६	२१७	३	अस गुणे	सं, आ	
१८५ मनुष्य अप देव गति—	३	नारकी सा वत्		२१८	२१९	३	अस गुणे	सं, आ	
१८६ देव सामान्य	२	स्तोक	आ /अस	२२०	२२१	३	अस गुणे	सं, आ	
१८७ भवनवासी से अपराजित तक	३	अस गुणे	आ /अस	२२२	२२३	३	अस गुणे	सं, आ	
१८८	२,३	देव सा वत्	पश्य/असं	२२४	२२५	३	अस गुणे	सं, आ	
१८९	२	परगुणाकार—		२२६	२२७	३	अस गुणे	सं, आ	
१९०	३	स्तोक	सं गुणे	२२८	२२९	३	अस गुणे	सं, आ	
२ इन्द्रिय मार्गणा—	३	स्तोक	सं गुणे	२२९	२३०	३	अस गुणे	सं, आ	
१९१ एके सा, भा एके	४	तिर्यंच सा वत्	सं, आ	२३१	२३२	३	अस गुणे	सं, आ	
१९२ सा, भा एके प	२,३	या ओघवत्		२३३	२३४	३	अस गुणे	सं, आ	
१९३ भा एके अप सू एके	२	स्तोक		२३५	२३६	३	अस गुणे	सं, आ	
१९४ सा, प, अप विकलत्रय	२	स्तोक		२३७	२३८	३	अस गुणे	सं, आ	
१९५ पंचेन्द्रिय अप	२	स्तोक		२३९	२४०	३	अस गुणे	सं, आ	
१९६ पंचेन्द्रिय सा व प	३	अस गुणे	सं, आ	२४१	२४२	३	अस गुणे	सं, आ	
१९७ ३ काय मार्गणा—	३	मनुष्य सा वत्		२४३	२४४	३	अस गुणे	सं, आ	
२ पृ, जल व धन के	२	स्तोक		२४५	२४६	३	अस गुणे	सं, आ	
३ भा सू प अप सर्व विकल्प अग्नि व वायु के भा अप तथा सू के प अप सर्व विकल्प त्रस के केवल अप	२	स्तोक		२४७	२४८	३	अस गुणे	सं, आ	
१९८ तेज व वायु के सा व भा केवल प त्रस सा व प	३	अस गुणे	आ /अस	२४९	२५०	३	अस गुणे	आ /अस	
	३	चेन्द्रिय प वत्		२५१	२५२	३	अस गुणे	आ /अस	

सूत्र	मार्गणा	शरीर	अल्पबहुत्व	गुणकार	माथा प	विषय	अल्पबहुत्व	विशेष
२२६	१२. सम्यक्त्व मार्गणा— सम्यग्दृष्टि सा	२	पंचेन्द्रिय प वत्		३	दर्शन ज्ञान चारित्र्य विषयक भाव सामान्यके अव- स्थानोकी अपेक्षा स्व व परस्यान प्ररूपणा— (क पा १/१. १५ २०/पृ ३३०-३६२)		
२२७	वेदक व सासादन	४	स्तोक	सं मात्र	१५	दर्शनोपयोग सा	ज	स्तोक
२२८	सायिक व उशम	३	अस गुणे	परम्य/असं	३३०	चक्षु इन्द्रियावग्रह	ज	विशेषाधिक
२२९		३	"	आ /अम		श्रोत्र "	"	"
२३०	सम्यग्मिध्यादृष्टि	४	स्तोक	आ /असं		घ्राण "	"	"
२३१	मिध्यादृष्टि	३	अस गुणे	आ /असं		जिह्वा "	"	"
२३२	१३ सही मार्गणा—		ति या ओषधव			मनोयोग सा	"	"
२३३	सही		पंचेन्द्रिय प वत्			वचन योग सा	"	"
२३४	असही		ति या ओषधव			काय योग सा	"	"
२३५	१४ आहारक मार्गणा—					स्पर्शन इन्द्रियावग्रह	"	"
२३६	आहारक	४	स्तोक	औदारिक		अन्यतम अवाय	"	"
२३७	अनाहारक	३	अनन्त गुणे	काय योगवत्		" ईहा	"	"
२३८		३	स्तोक	कर्मण काय		श्रुत ज्ञान	"	"
२३९		२	अनन्त गुणे	योगवत्		रवासोच्छ्वास	"	"
७	जीवभावोके अनुभाग व स्थिति विषयक प्ररूपणा—				१	मशरीरकेरक्तोकाकेवल ज्ञान	"	"
१	समय विशुद्धि या लब्धि स्थानोकी अपेक्षा—				३४२	उपरोक्तका दर्शन	"	ऊपर तुल्य
	(प ख ७/२. ११/सू १६८-१७४/६६४ ६६७) (घ ६/१. ६ ८ १४/२८६)					शुचि वैरया सा	"	"
सूत्र	विषय	अल्पबहुत्व	विशेष या गुणकार			एकव्य वितर्क-अविचार	"	"
१६८	सामायिक छेदो की जघन्य	सर्वत स्तोक	मिध्यात्वके			ध्यान	"	विशेषाधिक
१६९	चारित्र्य लब्धि	अनन्तगुणी	अभिमुख			पृथक्त्व वितर्क विचार	"	"
१७०	परिहार विशुद्धि की जघन्य	अनन्तगुणी	सामायिकके			श्रेणीसे पतित सूक्ष्म	"	"
१७१	चारित्र्य लब्धि	अनन्तगुणी	अभिमुख			साम्पराय	"	"
१७२	परिहार विशुद्धि की उत्कृष्ट	अनन्तगुणी	अभिमुख			श्रेणीपर अवरोहक सूक्ष्म	"	"
१७३	चारित्र्य लब्धि	अनन्तगुणी	अभिमुख			साम्पराय	"	"
१७४	सामायिक छेदो की उत्कृष्ट	अनन्तगुणी	अभिमुख			क्षपक श्रेणी गत सूक्ष्म	"	"
१७५	चारित्र्य लब्धि	अनन्तगुणी	अभिमुख			साम्पराय	"	"
१७६	सूक्ष्म साम्पराय की जघन्य	अनन्तगुणी	अभिमुख			मान कपाय सा	"	"
१७७	चारित्र्य लब्धि	अनन्तगुणी	अभिमुख			क्रोध "	"	"
१७८	सूक्ष्म साम्पराय की उत्कृष्ट	अनन्तगुणी	अभिमुख			माया "	"	"
१७९	चारित्र्य लब्धि	अनन्तगुणी	अभिमुख			लोभ "	"	"
१८०	यथारम्यात की जघन्य अनु-	अनन्तगुणी	अभिमुख			क्षुद्र भव ग्रहण	"	"
१८१	उत्कृष्ट चारित्र्य लब्धि	अनन्तगुणी	अभिमुख			कृष्टि करण	"	"
१८२	१४ जीव समासोमे सवलेख व विशुद्धि स्थानोकी अपेक्षा	अनन्तगुणी	अभिमुख			संक्रामण	"	"
१८३	(प ख ११/४. २. ६/सू ६१-६४/२०४-२२४) (म व २/२. ३/३)	अनन्तगुणी	अभिमुख			अपवर्तन	"	"
१८४	एकेन्द्रिय	अप	स्तोक			उपशान्त कपाय	"	"
१८५	" वा "	अप	स्तोक			क्षीण मोह	"	"
१८६	" सू "	अप	स्तोक			उपशमक	"	"
१८७	" भा "	अप	स्तोक			क्षपक	"	"
१८८	द्वीन्द्रिय	अप	स्तोक			चक्षुदर्शन	उ	विशेषाधिक
१८९	" "	अप	स्तोक			चक्षु इन्द्रियावग्रह	"	तुष्टुना
१९०	" "	अप	स्तोक			श्रोत्र "	"	विशेषाधिक
१९१	" "	अप	स्तोक			घ्राण "	"	"
१९२	" "	अप	स्तोक			जिह्वा "	"	"
१९३	चतुर्दिन्द्रिय	अप	स्तोक			मनोयोग सा	"	"
१९४	" "	अप	स्तोक			वचन योग सा	"	"
१९५	पंचेन्द्रिय असही	अप	स्तोक			काय योग सा	"	"
१९६	" "	अप	स्तोक			स्पर्शन इन्द्रियावग्रह	"	"
१९७	" सही	अप	स्तोक			अन्यतम अवाय	"	"
१९८	" "	अप	स्तोक				"	तुष्टुना

नोट—यदि व्यापार या मरण न हो तब ही यह अल्पबहुत्व लागू होता है। मरण हो जानेपर तो किसी भी स्थान का जघन्य काल एक समय तक बच जाता है। (क पा १/१. १६/३४८)

ऊपरवाले की अपेक्षा

विषय	क्रि	अल्पबहुत्व	विशेष
अन्यतम ईहा	उ०	विशेषाधिक	
भुतज्ञान	"	दुना	
स्वासीच्छवास	"	विशेषाधिक	
सशरीर केवली का केवल ज्ञान	"	"	सोपसर्ग
उपरोक्त का दर्शन	"	ऊपर तुल्य	केवली
गुप्त लेश्या सा	"	"	की
एकत्व वितर्क अविचार ध्यान	"	विशेषाधिक	अपेक्षा
पृथक्त्व वितर्क विचार ध्यान	"	दुगुना	
अवरोहक सू सम्पराय	"	विशेषाधिक	
आरोहक " "	"	"	
क्षपक " "	"	"	
मान कषाय सा	"	दुगुना	
क्रोध " "	"	विशेषाधिक	
माया " "	"	"	
लोभ " "	"	"	
क्षुद्र भव	"	"	
कृष्टि करण	"	"	
संक्रामक	"	"	
अपवर्तना	"	"	
उपशान्त कषाय	"	दुना	
क्षीण मोह	"	विशेषाधिक	
उपशमक	"	दुगुना	
क्षपक	"	विशेषाधिक	

४ उपशमन व क्षपण काल की अपेक्षा—

(क पा ४/३,२२/४६१६-६२६/३२६-३२८)

चारित्र्य मोह —

क्षपक अनिवृत्ति करण	सा	स्तोक
" अपूर्व "	"	सं गुणा
उपशमक अनिवृत्ति करण	"	"
" अपूर्व करण	"	"
दर्शन मोह —		
क्षपक अनिवृत्ति करण	"	"
" अपूर्व "	"	"
अनन्तानुबन्धो विसंयोजक का	"	"
अनिवृत्ति करण	"	"
उपरोक्त अपूर्व करण	"	"
उपशमक अनिवृत्ति करण	"	"
" अपूर्व "	"	"

५ कषाय काल की अपेक्षा—

(गो जी/जी प्र/२६६/६४०)

नरक गति —

सोभ	सा०	स्तोक अन्तर्मु
माया	"	सं गुणा
मान	"	"
क्रोध	"	"
देवगति —		
क्रोध	"	स्तोक अन्तर्मु
मान	"	स गुणा
माया	"	"
सोभ	"	"

विषय	क्रि	अल्पबहुत्व	विशेष
६ नौकपाय व घ काल की अपेक्षा— (क पा ३/३,२२/४३८६-३८७/५ २१३) उच्चारणाचार्य की अपेक्षा चारो गतियोंमें अन्य आचार्यों की अपेक्षा मनुष्य व तिर्यच में			
पुरुष वेद	सा०	स्तोक	२(सदृष्टि)
श्री वेद	"	सं गुणा	४ "
हास्य रति	"	"	१६ "
अरति शोक	"	"	३२ "
नपुंसक वेद	"	विशेषाधिक	४२ "
अन्य आचार्यों की अपेक्षा शेष नरक व देव में			
पुरुष वेद	सा	स्तोक	३(सदृष्टि)
श्री वेद	"	सं गुणा	६ "
हास्य रति	"	विशेषाधिक	११ "
नपुंसक वेद	"	स गुणा	२२ "
अरति शोक	"	विशेषाधिक	२३ "
७ मिथ्यात्व काल विशेष की अपेक्षा— (घ १०/४ २,४,६२/३८४)			
देवगति में जन्म धारनेवालेके		स्तोक	
मनुष्य गति में उत्पत्ति योग्य		स गुणा	
तिर्यच सङ्गी पचेन्द्रियमें उत्पत्ति योग्य		"	
तिर्यच असङ्गी पचेन्द्रियमें उत्पत्ति योग्य		"	
चतुरिन्द्रियमें उत्पत्ति योग्य		"	
त्रोन्द्रियमें उत्पत्ति योग्य		"	
द्वोन्द्रियमें उत्पत्ति योग्य		"	
एकेन्द्रिय भा में उत्पत्ति योग्य		"	
एकेन्द्रिय सू में उत्पत्ति योग्य		"	

८ जीवोके योग स्थानोंकी अपेक्षा अल्पबहुत्व प्ररूपणाएँ

लक्षण—उपपाद योग—जो उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें एक समय मात्र के लिए हो।

एकान्तानुबुद्धि योग—जो उत्पन्न होने के द्वितीय समयसे लेकर शरीर पर्याप्तसे अपर्याप्त रहनेके अन्तिम समय तक निवृत्त्य-पर्याप्तकोंमें रहता है। लब्धपर्याप्तकोंके आयु बन्धके योग्य कालमें अपने जीवितके त्रिभागमें परिणाम योग होता है। उससे नीचे एकान्तानुबुद्धि योग होता है। इसका जघन्य व उत्कृष्ट काल एक समय है।

परिणाम याग—पर्याप्त होनेके प्रथम समयसे लेकर आगे जीवन-पर्यन्त सब जगह परिणाम योग हो होता है। निवृत्त्यपर्याप्तके परिणामयोग नहीं होता।

(घ १०/४ २,१७३/४२०-४२१), (दे अल्पबहुत्व/३/११/७/३)

नोट—गुणकार सर्वत्र प्रथम/अस जानना (घ १०/५ ४२०)

सूत्र	स्वामी	योग	अल्पबहुत्व
१ योग सामान्यके यव मध्य कालकी अपेक्षा— (प ख १०/४,२,४/सू २०६-२१२/१०३-६०४)			
२०६	मध्य स्थान ८ समय योग्य		सर्वत्र स्तोक
२०७	दोनों पार्श्व भागों में—		परस्पर तुल्य
	७ समय योग्य		अस गुणे
२०८	६ समय योग्य		"

सूत्र	स्थानी	योग	अल्पबहुत्व	सूत्र	स्थानी	योग	अल्पबहुत्व
२०६	५ समय योग्य		असं गुणे	१६३	द्वौन्द्रिय नि प	ज परि	अस गुण
२१०	४ " "	३ व २ समय	"	१६४	त्रौन्द्रिय " "	"	"
२११	उपरिम भाग—	योग्य स्थान	"	१६५	चतुरिन्द्रिय " "	"	"
	३ समय योग्य	ऊपर ही होते	"	१६६	पंचेन्द्रिय असंख्यो	"	"
२१२	२ " "	है नीचे नहीं	"	१६७	" संख्यो	"	"
२ योग स्थानोंके स्वामित्व सामान्यकी अपेक्षा— (ध १०/४,२,४,१७३/४०३)				१६८	द्वौन्द्रिय " "	उ परि	"
सात ल अप	३ स्थान	स्तोक		१६९	त्रौन्द्रिय " "	"	"
एकेन्द्रिय सू बा	ऊप	परस्पर तुल्य		१७०	चतुरिन्द्रिय " "	"	"
तीन विकलत्रय	एका	स्तोक		१७१	पंचेन्द्रिय असंख्यो	"	"
पंचेन्द्रिय सख्यो असंख्यो	परि	परस्पर तुल्य		१७२	" संख्यो	"	"
यही सात नि अप	२ स्थान	परस्पर तुल्य		५ प्रत्येक योगके अविभाग प्रतिच्छेदोकी अपेक्षा— (ध १०/४,२,४,१७३/४०४-४२०)			
यही सात नि प	ऊप, एका	असं गुणे		नोट—गुणकार सर्वत्र परम/अस जानना स्वस्थान अल्पबहुत्व—			
	१ स्थान	असं गुणे		४०४	एकेन्द्रिय सू ल अप	ज उप	स्तोक
	परि	असं गुणे				उ उप	अस, गुणे
३ योग स्थान सामान्य में परस्पर अल्पबहुत्व— (ध १०/४,२,४,१७३/४०४)						ज एका	"
सातों ल अप (दे ऊपर)	उप	स्तोक				उ एका	"
	एका	असं गुणे				ज परि	"
सातों नि अप	परि	"		४०५	एकेन्द्रिय बा ल अप	उ परि	"
	उप	स्तोक			तीनों विकलत्रय ल अप	उपरोक्त छहों	उपरोक्तवद
सातों नि प	एका	अस गुणे			पंचे सख्यो असंख्यो " "	स्थान	"
	परि	एक ही पद में			एकेन्द्रिय सू नि अप	ज उप	स्तोक
		अल्पबहुत्व				उ "	असं गुणे
		नहीं				ज एका	"
नोट—यह स्व-स्थान प्ररूपणा जानना ।						उ "	"
४. १४ जीव समाप्तोमे जघन्योरकृष्ट योग स्थानोकी					एकेन्द्रिय बा नि अप	उपरोक्त चारों	उपरोक्तवद
अपेक्षा—					विकलत्रय " "	स्थान	"
(प ल १०/४,२,४/सू १४६-१७३/१६६-४०३)					पंचे सख्यो असंख्यो " "		"
१४६	एकेन्द्रिय सू ल अप	ज उप,	स्तोक	४०६	इति पद निवृत्ति अपर्याप्त	ज परि	स्तोक
१४६	" बा " "	"	अस गुणे		एकेन्द्रिय सू नि प	उ परि	अस गुणे
१४७	द्वौन्द्रिय ल, अप	"	"			उपरोक्त दोनों	उपरोक्तवद
१४८	त्रौन्द्रिय " " "	"	"			स्थान	"
१४९	चतुरिन्द्रिय " " "	"	"		इति पद निवृत्ति पर्याप्त		"
१५०	पंचेन्द्रिय असंख्यो ल अप,	"	"	४०६	परस्थान अल्पबहुत्व—		
१५१	" संख्यो " "	"	"		बन साधारण या निर्गोद-		
१५२	एकेन्द्रिय सू " "	उ परि	"		एकेन्द्रिय सू ल, अप,	ज, उप,	स्तोक
१५३	" बा " "	"	"		उपरोक्त नि अप	" "	अस गुणे
१५४	" सू, नि अप	ज परि	"		" ल अप	उ "	"
१५५	" बा " "	"	"		" नि " "	" "	"
१५६	" सू " प	उ परि	"		" ल " "	ज एका	"
१५७	" बा " "	"	"		" नि " "	" "	"
१५८	द्वौन्द्रिय नि अप	उ एका	"		" ल " "	उ. "	"
१५९	त्रौन्द्रिय " "	"	"		" नि " "	" "	"
१६०	चतुरिन्द्रिय " "	"	"		" ल " "	ज परि	"
१६१	पंचेन्द्रिय असंख्यो नि अप,	"	"		" नि " "	उ "	"
१६२	" सख्यो " "	"	"		" नि. प	ज "	"
					" " "	उ. "	"

सूत्र	स्वामी	योग	अल्पबहुत्व	सूत्र	स्वामी	योग	अल्पबहुत्व
४०७	एकेन्द्रिय भा के		उपरोक्तवत्	४१०	त्रीन्द्रिय नि प	ज परि	अस गुणे
	उपरोक्त सर्व विकल्प				चतुरिन्द्रिय " "	"	"
४०७	द्वीन्द्रिय ल अप	ज उप	स्तोक	४११	पंचे असंज्ञी	"	"
	" नि "	"	अस गुणे		" संज्ञी	"	"
	" ल "	उ उप	"		(२) उत्कृष्ट स्थानोंकी अपेक्षा सर्व परस्थानालाप		
	" नि "	"	"	४११	एकेन्द्रिय सू ल अप	उ उप	स्तोक
	" ल "	ज एका	"		" " नि "	"	अस गुणा
	" " "	उ "	"		" मा ल "	"	"
	" " "	ज परि	"		" " नि "	"	"
	" " "	उ "	"		द्वीन्द्रिय ल "	"	"
	" नि "	ज एका	"		" " नि "	"	"
	" " "	उ "	"		त्रीन्द्रिय ल "	"	"
	" " प	ज परि	"		" " नि "	"	"
	" " "	उ "	"		चतुरिन्द्रिय ल "	"	"
	त्रीन्द्रियसे संज्ञी पंचे तकके		उपरोक्तवत्		" नि "	"	"
	उपरोक्त सर्व विकल्प				पंचे असंज्ञी ल "	"	"
	सर्व परस्थान अल्पबहुत्व—			४१२	" " नि "	"	"
(१) जवन्म स्थानोंकी अपेक्षा सर्व परस्थानालाप					" संज्ञी ल "	"	"
४०८	एकेन्द्रिय सू ल अप	ज उप	स्तोक	४१२	" " नि "	"	"
	" " नि "	"	अस गुणा		एकेन्द्रिय सू ल अप	उ एका	पश्य/
	" मा ल "	"	"		" " नि "	"	"
	द्वीन्द्रिय " ल अप	"	"		" मा ल "	"	"
	" " नि "	"	"		" " नि "	"	"
	त्रीन्द्रिय ल "	"	"		" " ल "	उ परि	"
४०९	" नि "	"	"		" " नि "	"	"
	चतुरिन्द्रिय ल "	"	"		" सू नि प	"	"
	" नि "	"	"		" मा " "	"	"
	पंचे असंज्ञी ल "	"	"		द्वीन्द्रिय ल अप	उ, एका	"
	" " नि "	"	"		त्रीन्द्रिय " "	"	"
	" संज्ञी ल "	"	"		चतुरिन्द्रिय " "	"	"
	" " नि "	"	"		पंचे असंज्ञी " "	"	"
	एकेन्द्रिय सू ल	ज, एका,	"	४१३	" संज्ञी " "	"	"
	" " नि, "	"	"		द्वीन्द्रिय " "	उ परि	"
	" मा ल, "	"	"		त्रीन्द्रिय " "	"	"
	" " नि, "	"	"		चतुरिन्द्रिय " "	"	"
४१०	द्वीन्द्रिय ल "	"	"		पंचे, असंज्ञी " "	"	"
	त्रीन्द्रिय ल, "	"	"		" संज्ञी " "	"	"
	चतुरिन्द्रिय " "	"	"		द्वीन्द्रिय नि, "	उ एका,	"
	पंचे असंज्ञी " "	"	"		त्रीन्द्रिय " "	"	"
	" संज्ञी " "	"	"		चतुरिन्द्रिय " "	"	"
	द्वीन्द्रिय " "	ज परि	"		पंचे असंज्ञी " "	"	"
	त्रीन्द्रिय " "	"	"		" संज्ञी " "	"	"
	चतुरिन्द्रिय " "	"	"		द्वीन्द्रिय " प	उ, परि	"
	पंचे असंज्ञी " "	"	"		त्रीन्द्रिय " "	"	"
	" संज्ञी " "	"	"		चतुरिन्द्रिय " "	"	"
	द्वीन्द्रिय नि "	ज एका	"	४१४	पंचे असंज्ञी " "	"	"
	त्रीन्द्रिय " "	"	"		" संज्ञी " "	"	"
	चतुरिन्द्रिय " "	"	"		(३) जवन्म-योत्कृष्टकी अपेक्षा ८४ स्थानीय सर्व परस्थानालाप—		
	पंचे असंज्ञी " "	"	"	४१४	एकेन्द्रिय सू ल अप	ज उप	"
	" संज्ञी " "	"	"		" " नि "	"	"
	द्वीन्द्रिय " म	ज परि	"		" " ल "	उ उप	"
					" मा ल "	ज "	"

सूत्र	स्वामी	योग स्थान	अष्टपद्मसूत्र	सूत्र	स्वामी	योग स्थान	अष्टपद्मसूत्र
४१४	एकेन्द्रिय सू नि अप	उ, उप	पश्य/असं गु	४१८	चतु, रान्द्रिय ल अप	ज परि	पश्य/अस गुणे
	वा ल "	" "	" "		पंचे असंक्षी "	" "	" "
	द्वीन्द्रिय " "	ज "	" "		" संक्षी "	" "	" "
	एकेन्द्रिय बा नि	उ "	" "		द्वीन्द्रिय " "	उ "	" "
	द्वीन्द्रिय " "	ज "	" "		त्रिन्द्रिय " "	" "	" "
	ल "	उ "	" "		चतुरिन्द्रिय " "	" "	" "
	त्रिन्द्रिय " "	ज "	" "		पंचे असंक्षी "	" "	" "
४१५	द्वीन्द्रिय नि "	उ "	" "		" संक्षी "	" "	" "
	त्रिन्द्रिय " "	ज "	" "		द्वीन्द्रिय नि "	ज एका	" "
	ल "	उ "	" "		त्रिन्द्रिय " "	" "	" "
	चतुरिन्द्रिय " "	ज "	" "		चतुरिन्द्रिय " "	" "	" "
	त्रिन्द्रिय नि "	उ "	" "		पंचे असंक्षी "	" "	" "
	चतुरिन्द्रिय " "	ज "	" "	४१९	" संक्षी "	" "	" "
	ल "	उ "	" "		द्वीन्द्रिय " "	उ "	" "
	पंचे असंक्षी " "	ज "	" "		त्रिन्द्रिय " "	" "	" "
	चतुरिन्द्रिय नि "	उ "	" "		चतुरिन्द्रिय " "	" "	" "
	पंचे असंक्षी नि अप	ज उप	" "		पंचे असंक्षी " "	" "	" "
	ल "	उ "	" "		" संक्षी " "	" "	" "
	संक्षी " "	ज "	" "		द्वीन्द्रिय " "	ज परि	" "
	असंक्षी नि "	उ "	" "		त्रिन्द्रिय " "	" "	" "
	संक्षी ल "	" "	" "		चतुरिन्द्रिय " "	" "	" "
४१६	एकेन्द्रिय सू " "	ज एका	" "		पंचे असंक्षी " "	" "	" "
	पंचे संक्षी नि "	उ उप	" "		" संक्षी " "	उ "	" "
	एकेन्द्रिय सू " "	ज एका	" "		द्वीन्द्रिय " "	" "	" "
	बा ल "	" "	" "		त्रिन्द्रिय " "	" "	" "
	" नि "	" "	" "		चतुरिन्द्रिय " "	" "	" "
	सू ल "	उ "	" "		पंचे असंक्षी " "	" "	" "
	" नि "	" "	" "	४२०	" संक्षी " "	" "	" "
	बा ल "	" "	" "		५. कर्मोके सत्त्व व वन्ध स्थानोकी अल्पबहुत्व प्ररूपणाएँ		
	नि "	" "	" "		नोट— इस प्ररूपणाके विस्तारके लिए दे० अष्टपद्मसूत्र ३/११/७		
	बा ल "	" "	" "				
	नि "	" "	" "				
	बा ल "	" "	" "				
	नि "	" "	" "				
	(४) श्रेणी/अस मात्र योग स्थानोका अन्तर						
	एकेन्द्रिय सू ल अप	ज परि	" "				
	बा " "	" "	" "				
	सू ल "	उ "	" "				
	बा " "	" "	" "				
४१७	सू, नि प	ज "	" "				
	बा, " "	" "	" "				
	सू " "	उ "	" "				
	बा " "	" "	" "				
	द्वीन्द्रिय ल अप	ज एका	" "				
	त्रिन्द्रिय " "	" "	" "				
	चतुरिन्द्रिय " "	" "	" "				
	पंचे असंक्षी " "	" "	" "				
	" संक्षी " "	" "	" "				
	द्वीन्द्रिय " "	उ "	" "				
	त्रिन्द्रिय " "	" "	" "				
	चतुरिन्द्रिय " "	" "	" "				
	पंचे असंक्षी " "	" "	" "				
४१८	" संक्षी " "	" "	" "				
	द्वीन्द्रिय " "	ज परि	" "				
	त्रिन्द्रिय " "	" "	" "				

५ कर्मोके सत्त्व व वन्ध स्थानोकी अल्पबहुत्व प्ररूपणाएँ

नोट— इस प्ररूपणाके विस्तारके लिए दे० अष्टपद्मसूत्र ३/११/७

सूत्र	मार्गणा व समाप्त	अष्टपद्मसूत्र
	१. जीवोके स्थिति वन्ध स्थानोकी अपेक्षा— (पंख ११/४, २, ६/सू ३७-४०/१४२-१४७)	
३७	एकेन्द्रिय सू अप	स्तोक (पश्य/असं.)
३८	" बा "	सं गुणे
३९	" सू प	" "
४०	" बा "	" "
४१	द्वीन्द्रिय अप	" "
४२	" प	" "
४३	त्रिन्द्रिय अप	" "
४४	" प	" "
४५	चतुरिन्द्रिय अप	" "
४६	" प	" "
४७	पंचेन्द्रिय असंक्षी अप	" "
४८	" " प	" "
४९	" संक्षी अप	" "
५०	" " प	" "

नोट— इसीके स्व स्थान, पर स्थान व सर्व परस्थान सम्मन्धी विस्तृत प्ररूपणाएँ हे (घ, ११/४, २, ६, १०/१४७-२०४)

सूत्र	मार्गणा व समास	स्थान	अल्पमहुरव	प्र	मार्गणा व समास	अल्पमहुरव
२ स्थिति वन्वमें जघन्योत्कृष्ट स्थानोंकी अपेक्षा— (प ख ११/४, २, ६/सू, ६६-१००/२२५-२३७)				३ स्थिति वन्वके निपेकीकी अपेक्षा— (प, ख ११/४, २-६/सू १०२-१११/२३८ २६३)		
६५	सूक्ष्म साम्पराय सयतके अन्तिम समयवर्ती	ज	सर्वत स्तोक	१०२	सर्व जीव समास मिथ्यादृष्टि —	
६६	एकेन्द्रिय मा प,	"	अस गुणा	१०३	से आठों कर्मोंकी अपेक्षा	
६७	" सू "	"	गुणकार = पश्य/असं	१०४	प्रथम समयमें निक्षिप्त	अधिक
६८	" ना अप	"	विशेषाधिक		द्वितीय " "	विशेष हीन
६९	" सू "	"	विशेष = पश्य/अस		तृतीय " "	"
७०	" " "	उ	"	१०५	पंचे सङ्गी प सम्मगदृष्टि—	उपरोक्तवत्
७१	" मा "	"	"		आयु कर्मकी अपेक्षा	
७२	" सू प	"	"		नोट—विशेष देखो (न १४/८/१०, १२) :	
७३	" मा "	"	"	४ मोहनीय कर्मके स्थिति सत्त्व स्थानोंकी अपेक्षा— (क पा ४/३, २२/९६२८ ६३६/२०६)		
७४	द्वौ ग	ज	२४ गुणा	६२८	प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यान क्रोध, मान,	
७५	" अप	"	विशेषाधिक		माया लोभके सत्कर्म स्थान	सर्वत स्तोक
७६	" " "	उ	विशेष = पश्य/अस	६२९	स्त्री वेद के सत्कर्म स्थान	विशेषाधिक
७७	" प "	"	"		नपु " " " "	ऊपर सुख
७८	त्रौन्द्रिय	ज	"	६३०	हार्यादि ई नोकपायों के स्थिति	
७९	" अप	"	"		सत्कर्म स्थान	विशेषाधिक
८०	" " "	उ	"	६३१	पुरुष वेद के सत्कर्म स्थान	"
८१	" प "	"	"	६३२	सञ्चलन क्रोध " " "	"
८२	चतुर्न्द्रिय	ज	"	६३३	" मान " " "	"
८३	" अप	"	"	६३४	" माया " " "	"
८४	" " "	उ	"	६३५	" लोभ " " "	"
८५	" प "	"	"	६३६	अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया,	
८६	पञ्चेन्द्रिय असङ्गी	ज,	विशेषाधिक		लोभ रूप चतुष्क के स्थिति	
८७	" " अप	"	विशेष = पश्य/अस,	६३७	सत्कर्म स्थान	"
८८	" " "	उ	"	६३८	मिथ्यात्व के सत्कर्म स्थान	"
८९	" " प	"	"	६३९	सम्यक्त्व प्रकृतिके " "	"
९०	संयत सामान्य	"	स गुणा	६४०	सम्यग्मिथ्यात्व " " "	"
९१	संयतासंयत	ज	गुणकार = स समय	५ वन्व ममुत्पत्तिक अनुभाग सत्त्व के जघन्य स्थानों की अपेक्षा		
९२	" " "	उ	"	अर्थ—वन्व समुत्पत्तिक स्थान = कर्मका जितना अनुभाग बाँधा गया		
९३	असंयत सम्मगदृष्टि	ज	"	(क पा ६/४, २२/९६७२/३३८)		
९४	" " अप	"	"			
९५	" " "	उ	"			
९६	" " प	"	"			
९७	पञ्चेन्द्रिय संङ्गी मिथ्यादृष्टि	ज	"			
९८	उपरोक्त	अप	"			
९९	" " "	उ	"			
१००	" " प	"	"			

स्वामी	अल्पवहुत्व	कौन कर्म का अनुभाग	अल्पवहुत्व
सर्वविशुद्ध तेइन्द्रिय असङ्गो प का ज अनु स्थान	अनन्तगुणा	अनन्ताग्रुमन्धी माया का	विशेष हीन
" " द्वीन्द्रिय " " "	"	" क्रोध "	"
" " एकेन्द्रिय बा " " "	"	" मान "	"
" " " " "	"	सज्जलन सोभ "	अनन्तगुणा हीन
		" माया "	विशेष हीन
कौन कर्म का अनुभाग	अल्पवहुत्व	" क्रोध "	"
		" मान "	"
६ हृत्समुत्पत्तिक अनुभाग सत्त्वके जघन्यस्थानोकी अपेक्षा		प्रत्याख्यान सोभ "	अनन्तगुणा हीन
अर्थ — हृत् समुत्पत्तिक स्थान — अपवर्तन द्वारा अनुभाग का घात करके		" माया "	विशेष हीन
जित्वा अनुभाग शेष रखा गया		" क्रोध "	"
(क पा ६/४ २२/५५७२/३३८ ३३६)		" मान "	"
सर्वविशुद्ध एकेन्द्रिय सू अप द्वारा	उपरोक्त ग्रन्थ स्थानसे	अप्रत्याख्यान सोभ "	अनन्तगुणा हीन
अनुभाग घातसे उत्पन्न किया ज स्थान	अनन्तगुणा	" माया "	विशेष हीन
" एकेन्द्रिय बा के द्वारा घात से उत्पन्न	"	" क्रोध "	"
" द्वीन्द्रिय " " "	"	" मान "	"
" तेइन्द्रिय " " "	"	अप्रत्याख्यान सोभ "	अनन्तगुणा हीन
" चतुरेन्द्रिय " " "	"	" माया "	विशेष हीन
" पंचे असङ्गी " " "	"	" क्रोध "	"
सयमाभिमुख पंचे संक्षी द्वारा,	"	" मान "	"
७. अष्टकर्म प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागकी ६४ स्थानीय		नपुसक वेद	अनन्तगुणा हीन
स्वस्थान ओघ व आदेश प्ररूपणा		अरति	"
(म ब(६/५४१७-४२४/२२०-२२४)		शोक	"
१ ज्ञानावरण—ओघ प्ररूपणा		भय	"
केवल ज्ञानावरणी का	सर्वत तीव्र	जुगुप्सा	"
आभिनिबोधिक ज्ञानावरण का	अनन्तगुणा हीन	स्त्री वेद	"
शुद्ध	"	रूप वेद	"
अवधि	"	रति	अनन्त गुणा हीन
मनःपर्यय	"	हास्य	"
२ दर्शनावरण—		५ आयु—	
केवल दर्शनावरण का	सर्वत तीव्र	देवायु	का
चक्षु	अनन्त गुणा हीन	नरकायु	"
अचक्षु	"	मनुष्यायु	"
अवधि	"	तिर्यचायु	"
मनःपर्यय	"	६ नामकर्म—	
		(गति) —	
		देवगति	"
		मनुष्यगति	"
		नरकगति	"
		तिर्यच गति	"
		(जाति) —	
		पंचेन्द्रिय	जाति "
		एकेन्द्रिय	" "
		द्वीन्द्रिय	" "
		त्र्यीन्द्रिय	" "
		चतुरिन्द्रिय	" "
		(शरीर) —	
		कार्माण	शरीर "
		संजस	" "
		आहारक	" "
		वैक्रियक	" "
		औदारिक	" "
३ वेदनीय—			
साता वेदनीय का	सर्वत तीव्र		
असाता " "	अनन्तगुणा हीन		
४ मोहनीय—			
मिथ्यात्व	सर्वत तीव्र		
अनन्ताग्रुमन्धी लोभ का	अनन्तगुणा हीन		

कौन कर्म का अनुभाग	अल्पबहुत्व	कौन कर्म का अनुभाग	अल्पबहुत्व
(संस्थान) —		आदेश प्ररूपणा —	
समचतुरस्र	संस्थान का	१ गति मार्गणा —	
हुण्डक	" "	नरक गति में —	
न्यग्रोध परिमण्डल	" "	नरक गति सामान्य में	ओषवत्
स्वाति संस्थान	" "	१-७ पृथिवी में	"
कुब्जक	" "	तिर्यच गति में —	
वामन	" "	नरकायु	तीव्र
(अंगोपांग) —		देवायु	अनन्तगुणा हीन
आहारक	अंगोपांग "	मनुष्यायु	"
वैक्रियक	" "	तिर्यचायु	"
औदारिक	" "	देव गति	तीव्र
(सहनन) —		नरक गति	अनन्तगुणा हीन
नक्षत्र भूपभ नाराच सहनन		तिर्यच गति	"
असम्प्राप्त सृष्टिका	" "	मनुष्य गति	"
वज्रनाराच	" "	शेष कर्म	ओषवत्
नाराच	" "	तिर्यचों के अन्य विकरणों में	उपरोक्त वत्
अर्ध नाराच	" "	पंचेन्द्रिय तिर्यच अपर्याप्त	नरक वत्
कीलित	" "	मनुष्य गति में —	
(वर्ण) —		मनुष्य प १ मनुष्यणीमें चारों गतियों का	तिर्यच वत्
प्रशस्त वर्ण चतुष्क		शेष कर्मों	आववत्
अप्रशस्त	" "	देवगति में —	
(आनुपूर्वी) —		सर्व विकरणों में	ओषवत्
देवगति	आनुपूर्वी "	२ इन्द्रिय मार्गणा —	
मनुष्य गति	" "	सब एकेन्द्रिय तथा सब विकलेन्द्रियमें	
नरक	" "	पंचेन्द्रिय प व अप में	पंचे तिर्यच अप वत्
तिर्यच	" "	३ काय मार्गणा —	
(अगुरुलघु आदि) —		पाँचों स्थावर काय में	पंचे तिर्यच अप वत्
अगुरुलघु	का	अस प अप में	आववत्
उच्छ्वास	"	४ योग मार्गणा —	
परघात	"	पाँचों मनोयोगी में	ओषवत्
उपघात	"	पाँचों बचन योगी में	"
(प्रशस्ताप्रशस्त युगल) —		काय योगी सा में	"
सर्व प्रशस्त प्रकृति	"	औदारिक काय योगी में	मनुष्यणीवत्
अप्रशस्त	" "	मिश्र "	तिर्यच सा वत्
७ गोत्रकर्म —		वैक्रियक व वैक्रियक मिश्रमें	देवगति वत्
उच्च गोत्र	"	आहारक आहारक मिश्रमें	सर्वार्थमिद्विवत्
नीच गोत्र	"	कामन योग में	औदारिक मिश्रवत्
८ अन्तराय कर्म —		५ वेद मार्गणा —	
वीर्यान्तराय	"	तीनों वेद व अपगत वेद में	मूलोषवत्
उपभोग	अन्तराय "	६ कषाय मार्गणा —	
भोग	" "	चारों कषाय में	ओषवत्
लाभ	" "		
दान	" "		

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

कौन कर्मका अनुभाग	अल्पमहुरव	कौन कर्मका अनुभाग	अल्पमहुरव
५ आयु—		(उपधातादि) —	
तियं चायु का	स्तोक	उपधात का	स्तोक
मनुष्यायु "	अनन्तगुणा	परधात "	अनन्तगुणा
नरकायु "	"	उच्छ्वास "	"
देव आयु "	"	अगुरुलघु "	"
६ नामकर्म (गति)—		७ गोत्र कर्म—	
तियं च गति "	स्तोक	नीच गोत्र का	स्तोक
नरक " "	अनन्तगुणा	ऊँच गोत्र "	अनन्तगुणा
मनुष्य " "	"		
देव " "	"	८ अन्तराय—	
(जाति) —		दान अन्तराये का	स्तोक
चतुरिन्द्रिय "	स्तोक	लाभ " "	अनन्तगुणा
त्रीन्द्रिय " "	अनन्तगुणा	भोग " "	"
द्वीन्द्रिय " "	"	उपभोग " "	"
एकेन्द्रिय " "	"	वीर्य " "	"
पंचेन्द्रिय " "	"		
(शरीर) —		(९) अष्ट कर्म प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभाग की ६४	
औदारिक "	स्तोक	स्थानीय परस्थान ओष प्ररूपणा	
वैक्रियक "	अनन्तगुणा	(म ष ४/१४३६-४३६/२२८-२२६)	
तैजस "	"	साता वेदनीय का	समसे तीव्र
कार्मण "	"	यश कीर्ति "	अनन्तगुणा हीन
आहारक "	"	उच्च गोत्र "	ऊपर तुल्य
(संस्थान) —		देव गति "	अनन्तगुणा हीन
न्यग्रोध परिमण्डल "	स्तोक	कार्मण शरीर "	"
स्वाति "	अनन्तगुणा	तैजस " "	"
क्रुञ्ज " "	"	आहारक " "	"
वामन " "	"	वैक्रियक " "	"
हुण्डक " "	"	मनुष्य गति "	"
समचतुरस्र " "	"	औदारिक शरीर "	"
(अंगोपांग) —		मिथ्यात्व "	"
औदारिक "	स्तोक	केवल ज्ञानावरण "	"
वैक्रियक "	अनन्तगुणा	केवल दर्शनावरण "	ऊपर तुल्य
आहारक "	"	असाता वेदनीय "	अनन्तगुणा हीन
(सहन) —		वीर्यान्तराय "	"
वज्र नाराच "	स्तोक	अनन्तानुषन्धी लोभ "	"
नाराच " "	अनन्तगुणा	" माया "	विशेष हीन
अर्ध नाराच "	"	" क्रोध "	"
कोलित " "	"	" मान "	"
असम्प्राप्त सृपाटिका "	"	सज्जलन लोभ "	अनन्तगुणा हीन
वज्र ऋपभ नाराच "	"	" माया "	विशेष हीन
(वर्ण) —		" क्रोध "	"
अप्रशस्त वर्ण चतुष्क "	स्तोक	" मान "	"
प्रशस्त " " "	अनन्तगुणा	प्रत्याख्यान लोभ "	अनन्तगुणा हीन
अंगोपांग) —		" माया "	विशेष हीन
तियं च गत्यानपूर्वी "	स्तोक	" क्रोध "	"
नरक " "	अनन्तगुणा	" मान "	"
मनुष्य " "	"	अप्रत्याख्यान लोभ "	अनन्तगुणा हीन
देव " "	"	माया " "	विशेष हीन
		क्रोध " "	"
		मान " "	"
		मति ज्ञानावरण "	अनन्तगुणा हीन

कौन कर्म का अनुभाग		अक्षयमहुरव	कौन कर्म का अनुभाग		अक्षयमहुरव
उपभोगान्तराय	का	ऊपर तुल्य	चक्षु दर्शनावरण	का	अनन्तगुणा
चक्षुदर्शनावरण	"	अनन्तगुण हीन	मतिज्ञानावरण	"	"
अचक्षुदर्शनावरण	"	"	उपभोगान्तराय	"	ऊपर तुल्य
अज्ञानावरण	"	ऊपर तुल्य	वीर्यान्तराय	"	अनन्तगुणा
भोगान्तराय	"	"	पुरुष वेद	"	"
अवधि ज्ञानावरण	"	अनन्तगुण हीन	हास्य	"	"
अवधि दर्शनावरण	"	ऊपर तुल्य	रति	"	"
साभान्तराय	"	"	अनुगुप्सा	"	"
मन पर्यय ज्ञानावरण	"	अनन्तगुण हीन	भय	"	"
स्थानगृद्धि	"	ऊपर तुल्य	शोक	"	"
दानान्तराय	"	"	अरति	"	"
नपु सक वेद	"	अनन्तगुण हीन	स्त्री वेद	"	"
अरति	"	"	नपु सक वेद	"	"
शोक	"	"	केवलज्ञानावरण	"	"
भय	"	"	केवलदर्शनावरण	"	ऊपर तुल्य
अनुगुप्सा	"	"	प्रचला	"	अनन्तगुणा
निद्रा निद्रा	"	"	निद्रा	"	"
प्रचला प्रचला	"	"	प्रमाख्यानावरण	मान	"
निद्रा	"	"	"	काय	"
प्रचला	"	"	"	माया	"
अयश कीर्ति	"	"	"	लोभ	"
नीच गोत्र	"	ऊपर तुल्य	"	मान	"
नरक गति	"	अनन्तगुण हीन	अप्रमाख्या	मान	अनन्तगुणा
तिर्यच गति	"	"	"	क्रोध	विशेषाधिक
स्त्री वेद	"	"	"	माया	"
पुरुष वेद	"	"	"	लोभ	"
रति	"	"	प्रचला प्रचला	"	अनन्तगुणा
हास्य	"	"	निद्रा निद्रा	"	"
देवायु	"	"	स्थानगृद्धि	"	"
नरकायु	"	"	अनन्तानुषन्धी	मान	"
मनुष्यायु	"	"	"	क्रोध	अनन्तगुणा
तिर्यचायु	"	"	"	माया	विशेषाधिक
			"	लोभ	"
नोट — इसकी आदेश प्ररूपणाके लिए देखो (म ३ / ३ ४३३ ४४२ / पृ २३१-२३३)।			मिथ्यात्व	"	अनन्त गुणा
(१०) अष्ट कर्म प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागकी ६४ स्थानीय परस्थान ओघ प्ररूपणा			औदारिक	शरीर	"
(म ३ / ३ ४४३ / पृ २३३-२३४)			वैक्रियक	"	"
संचलन	लोभ	का	तिर्यचायु	"	"
"	माया	"	मनुष्यायु	"	"
"	मान	"	तैजस	शरीर	"
"	क्रोध	"	कर्मण	"	"
मन पर्यय ज्ञानावरण	"	सर्वत स्तोक	तिर्यच	गति	"
दानान्तराय	"	अनन्तगुणा	नरक	"	"
अवधि ज्ञानावरण	"	"	मनुष्य	"	"
" दर्शनावरण	"	"	देव	"	"
साभान्तराय	"	ऊपर तुल्य	नीच गोत्र	"	"
श्रुत ज्ञानावरण	"	अनन्तगुणा	अयश कीर्ति	"	"
अचक्षु दर्शनावरण	"	ऊपर तुल्य	असाता वेदनीय	"	"
भोगान्तराय	"	"	यश कीर्ति	"	"
			उच्च गोत्र	"	ऊपर तुल्य
			साता वेदनीय	"	अनन्त गुणा
			नरकायु	"	"

कौन कर्म का अनुभाग			अल्पमहुरत्व	कौन कर्म का अनुभाग			अल्पमहुरत्व
देमायु	का	अनन्तगुणा		निद्रा	दर्शनावरण का	भाग	विशेष हीन
आहारक शरीर	"	"		निद्रानिद्रा	"	"	"
नोट—इस सम्बन्धी आदेश प्ररूपणा के लिए देखो म च /पृ ४/४४४-४४०/पृ २३४-२३६)				प्रचला	"	"	"
				प्रचलाप्रचला	"	"	"
				स्थानगृद्धि	"	"	"
११ एक समय प्रवृद्ध प्रदेशाग्र में सर्व व देशघाती अनुभागके विभाग की अपेक्षा—				३ वेदनीय के द्रव्य में—			
(गो क /सू १६७/पृ २५६)				साता	का	भाग	अन्यतमका ही द्रव्य
सर्वा घाती भाग		सर्व द्रव्य/अनन्त		असाता	"	"	आता है अत अल्प
देश घाती "		शेष बहु भाग					महुरत्व नहीं होता
१२ एक समय प्रवृद्ध प्रदेशाग्र में निपेक सामान्य के विभाग की अपेक्षा—				४ मोहनीय के द्रव्य में—			
(घ /पृ १२/४,२,७,६३/३६-४०)				अनन्तानुमन्धी	चतुष्क का	भाग	अधिक
चरम स्थिति में		स्तोक		अपर्याप्त्यान	"	"	विशेष हीन
प्रथम " "		असं गुणे		प्रत्याप्त्यान	"	"	"
अप्रथम व अचरम स्थितियों में		"		संज्वलन	"	"	"
अप्रथम में		विशेषाधिक		हास्य	का	"	"
अचरम में		"		रति	"	"	"
सब स्थितियों में		"		अरति	"	"	"
				शोक	"	"	"
				भय	"	"	"
				जुगुप्सा	"	"	"
				स्त्री वेद	"	"	"
				पुरुष वेद	"	"	"
				नपुंसक वेद	"	"	"
१३ एक समय प्रवृद्ध में अष्ट कर्म प्रकृतियों के प्रदेशाग्र विभाग की अपेक्षा—				५ आयु के द्रव्य में—			
१ स्वस्थानप्ररूपणा—				चारों आयु में से			अन्यतमका ही द्रव्य
मूल प्रकृति विभाग—(पं सं /पा ४/४६६-४६७) (घ १५/३५), (गो क /सू १६२,१६६/२२५)							आता है अत अल्प-
आयु	कर्म	का	भाग				बहुत्व नहीं
नाम	"	"	"	६ नाम के द्रव्य में—			
गोत्र	"	"	"	गति जाति, शरीर	अगोपांग,		इसी क्रम से प्रत्येक
ज्ञानावरण	"	"	"	निर्माण, बन्धन, सघात, सस्थान,			में अपने अपने से
दर्शनावरण	"	"	"	संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण,			पूर्व की अपेक्षा
अन्तराय	"	"	"	आनुपूर्वी, अगुरुत्व, उपघात			विशेषहीन भाग
मोहनीय	"	"	"	परघात, आवृत्त, उद्योत,			जानना शुभाशुभ
वेदनीय	"	"	"	उच्छ्वास, विहायोगति, प्रत्येक			युगलों में अल्प-
उत्तर प्रकृति विभाग स्वस्थान अपेक्षा-				शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर शुभ			महुरत्व नहीं है क्योंकि
१ ज्ञानावरण के द्रव्य में—				यादर, पर्याप्ति स्थिर, आदेय,			अन्यतम का
मति ज्ञानावरण	का	भाग		यश कीर्ति, तीर्थंकर			द्रव्य आता है।
श्रुत	"	"	"	७ गोत्र के द्रव्य में—			
अवधि	"	"	"	ऊँच	गोत्र	का	भाग
मनःपर्यय	"	"	"	नीच	"	"	"
केवल	"	"	"				अन्यतमका ही द्रव्य
२ दर्शनावरण के द्रव्य में—				८ अन्तराय के द्रव्य में—			आता है अत अल्प-
चक्षु दर्शनावरण का	भाग			दानान्तराय	का	भाग	महुरत्व नहीं
अक्षु	"	"	"	उलाम	"	"	स्तोक
अवधि	"	"	"	भोग	"	"	विशेषाधिक
केवल	"	"	"	उपभोग	"	"	"
				वीर्य	"	"	"

क्रम	कर्म का नाम	अवयवद्वय	क्रम	कर्म का नाम	अवयवद्वय
२. परस्थान प्ररूपणा—(उत्कृष्ट प्रकृति प्रक्रम)					
(ध १५/३६-३७)					
१	अप्रत्याख्यान	मान में प्रवेश	४६	चक्षु	दर्शनावरण में प्रदेश
२	"	क्रोध " "	४७	पुरुष वेद	"
३	"	माया " "	४८	सञ्चलन	माया " "
४	"	लोभ " "	४९	अन्यतर	आयु " "
५	प्रत्याख्यान	मान " "	५०	नीच	गोत्र " "
६	"	क्रोध " "	५१	सञ्चलन	लोभ " "
७	"	माया " "	५२	असाक्षा	वेदनीय " "
८	"	लोभ " "	५३	उश	गोत्र " "
९	अनन्तानुबन्धी	मान " "	५४	यश कीर्ति	"
१०	"	क्रोध " "	५५	साक्षा वेदनीय	"
११	"	माया " "	अधन्य प्रकृति प्रक्रम—		
१२	"	लोभ " "	नं० १ से २० तक		
१३	मिथ्यात्व	" "	२१	औदारिक	शरीर नामकर्म में
१४	केवल दर्शनावरण	" "	२२	तैजस	" " "
१५	प्रचला	" "	२३	कर्मण	" " "
१६	निद्रा	" "	२४	तिर्यग्गति	" " "
१७	प्रचला प्रचला	" "	२५	यश कीर्ति	" " "
१८	निद्रा निद्रा	" "	२६	अयशकीर्ति	" " "
१९	स्त्यानगृद्धि	" "	२७	मनुष्य गति	" " "
२०	केवल ज्ञानावरण	" "	२८	गुणसा	नोक्पाय " "
२१	आहारक	शरीर नामकर्म	२९	भय	" " "
२२	वैक्रियक	" " "	३०	हास्य-शोक	" " "
२३	औदारिक	" " "	३१	रति-अरति	" " "
२४	तैजस	" " "	३२	अन्यत	वेद " "
२५	कर्मण	" " "	३३	सञ्चलन	मान " "
२६	देवगति	" " "	३४	"	क्रोध " "
२७	नरक गति	" " "	३५	"	माया " "
२८	मनुष्यगति	" " "	३६	"	लोभ " "
२९	तिर्यग्गति	" " "	३७	दानान्तराय	" " "
३०	अशय कीर्ति	" " "	३८	लाभान्तराय	" " "
३१	जुगुप्सा	नो कपाय	३९	भोगान्तराय	" " "
३२	भय	" " "	४०	उपभोगान्तराय	" " "
३३	हास्य-शोक	" " "	४१	वीर्यान्तराय	" " "
३४	रति-अरति	" " "	४२	मन पर्यय	ज्ञानावरण " "
३५	स्त्री-नपु सक वेद	" " "	४३	अवधि	" " "
३६	दानान्तराय	" " "	४४	श्रुत	" " "
३७	लाभान्तराय	" " "	४५	मति	" " "
३८	भोगान्तराय	" " "	४६	अवधि	दर्शनावरण " "
३९	परिभोगान्तराय	" " "	४७	अचक्षु	" " "
४०	वीर्यान्तराय	" " "	४८	चक्षु	" " "
४१	सञ्चलन क्रोध	" " "	४९	उक्त नीच गोत्र	" " "
४२	मन पर्यय	ज्ञानावरण में	५०	साक्षा-असाक्षा वेदनीय	" " "
४३	अवधि	" " "	५१	वैक्रियक शरीर	नामकर्म " "
४४	श्रुत	" " "	५२	देव गति	" " "
४५	मति	" " "	५३	मनुष्य गति	" " "
४६	सञ्चलन	मान " "	५४	तिर्यग्गति	" " "
४७	अवधि	दर्शनावरण " "	५५	नरक गति	" " "
४८	अचक्षु	" " "	५६	देय व नरक आयु	" " "
			५७	आहारक शरीर	" " "

विषय	अल्पबहुत्व	आयु बन्ध काल	उ. काल	अल्पबहुत्व
(१४) जीव समासो में विभिन्न प्रदेश वन्धोकी अपेक्षा (प ख १०/४,२,४/घ १७४/४३१)		५ बाले का ६ बें का काल	ज	स गुणा
पदेस अल्पबहुत्व ति जहा जोगअप्पाबहुग णीद तथा णेदव्व । णवरि पदेसा अप्पाए त्ति भण्णिदव्व ॥१७४॥ — जिस प्रकार योग अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा की गयी है (देखो न ८ प्ररूपणा) उसी प्रकार प्रदेश अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करना चाहिए । विशेष इतना है कि योग के स्थानोंमें यहाँ प्रदेश ऐसा कहना चाहिए ।		८ बाले का ४ थे का काल	ज	वि अ
नोट — योगके एक अविभाग प्रसिद्धिमें भी अनन्त कर्म प्रदेशोंके अप- कर्षणकी शक्ति है ।		७ " " " " " "	ज	स गुणा
(१५) आठ आकर्षोकी अपेक्षा आयुबन्धके जीवोंकी प्ररूपणा (गो जी/जी प्र ६१८/६११/२)		६ " " " " " "	ज	वि अ
आठ अपकर्षों द्वारा करनेवाले		५ " " " " " "	ज	गुणा
७ " " " " "	स्तोक	४ " " " " " "	ज	वि अ
६ " " " " "	संख्यात गुणे	३ " " " " " "	ज	सं गुणा
५ " " " " "	"	८ बाले का ३ रे का काल	ज	वि अ
४ " " " " "	"	७ " " " " " "	ज	स गुणा
३ " " " " "	"	६ " " " " " "	ज	वि अ
२ " " " " "	"	५ " " " " " "	ज	स गुणा
१ " " " " "	"	४ " " " " " "	ज	वि अ
(१६) आठो अपकर्षोंमें आयु बन्धके कालकी अपेक्षा (गो जी/जी प्र ६१८/६११/८)		३ " " " " " "	ज	स गुणा
सकेत — ८ बाले का = ८ अपकर्षों द्वारा आयु बन्ध करनेवाले जीवका		८ बाले का २ रे का काल	ज	वि अ
८ बें का = आठवें अपकर्षका बन्ध काल		७ " " " " " "	ज	स गुणा
स = संख्यात	वि अ = विशेषाधिक	६ " " " " " "	ज	वि अ
आयु बन्ध काल	उ. काल	अल्पबहुत्व		
८ बाले का ८ बें का काल	ज	स्तोक		
" " " ७ " " "	ज	वि अ		
७ " " " " " "	ज	स गुणा		
८ बाले का ६ बें का काल	ज	वि अ		
७ " " " " " "	ज	सं गुणा		
६ " " " " " "	ज	वि अ		
८ बाले का ५ बें का काल	ज	स गुणा		
७ " " " " " "	ज	वि अ		
६ " " " " " "	ज	स गुणा		
८ बाले का ४ बें का काल	ज	वि अ		
७ " " " " " "	ज	स गुणा		
६ " " " " " "	ज	वि अ		
८ बाले का ३ बें का काल	ज	स गुणा		
७ " " " " " "	ज	वि अ		
६ " " " " " "	ज	स गुणा		
८ बाले का २ बें का काल	ज	वि अ		
७ " " " " " "	ज	स गुणा		
६ " " " " " "	ज	वि अ		
८ बाले का १ बें का काल	ज	स गुणा		
७ " " " " " "	ज	वि अ		
६ " " " " " "	ज	स गुणा		
८ बाले का ० बें का काल	ज	वि अ		
७ " " " " " "	ज	स गुणा		
६ " " " " " "	ज	वि अ		

आयु मन्ध काल	उ प क र	अष्टमहुरव	सूत्र	स्वामी	अष्टमहुरव
२ बाले का १ से का काल	ज उ	सं गुणा वि अ	१६० १६१	उपशान्त कपाय बीतराग का चारित्र मोह उपशामक— सूक्ष्म साम्पराय का अनिवृत्ति करण का अपूर्व करण का	असं गुणा " " "
१ " " " " " "	ज उ	स गुणा धि अ	१६२ १६३ १६४ १६५ १६६	दर्शन मोह उपशमक का अनन्तानुमन्धी विसंयोजक का स्व स्थान अध प्रवृत्त प्रमत्ताप्रमत्त संयत का संयतासंयत का दर्शन मोह उपशमक का (सांतिशय मिथ्यादृष्टि का)	" " " " "
१० अष्टकर्म सक्रमण व निर्जराकी अपेक्षा अल्पवहुत्व प्ररूपणा—					
१ भिन्न गुणधारी जीवोंमें गुण श्रेणी रूप प्रदेश निर्जरा की ११ स्थानीय सामान्य प्ररूपणा—					
(प ख १२/४,२/७/सू १७५-१८५/८०-८६) (क पा १/१,१/गा ५८-६६/१०६) (त सु ६/४४), (स सि ६/४५/१५१-१५४) (घ १०/४,२,४ ७४/२६६ २६६) (गो जी १/५/६६-६७/१६७)					

सूत्र	स्वामी	अष्टमहुरव
१७५	दर्शन मोह उपशमक सम्मुख (या सांतिशय मिथ्यादृष्टि) की संयतासंयत की	सर्वत स्तोक असं गुणी
१७६	अध प्रवृत्त स्वस्थान संयत अर्थात् अप्रमत्त व प्रमत्त संयत की	"
१७७	अनन्तानुमन्धी विसंयोजक की	"
१७८	दर्शन मोह उपशमक की	"
१७९	चारित्र मोह उपशमक— अपूर्व करण की अनिवृत्ति करण की सूक्ष्म साम्पराय की	" " " "
१८०	उपशान्त कपाय बीतराग (११) की	"
१८१	चारित्र मोह उपशमक की	"
१८२	अपूर्व करण की अनिवृत्ति करण की सूक्ष्म साम्पराय की	" " "
१८३	शीघ्र कपाय बीतराग (१२) की	"
१८४	स्व स्थान अध प्रवृत्त संयोग केवली की समुद्रात केवली की (गो जी /जी प्र ६७/१६८/२)	" " "
१८५	योग निरोध केवली की	"

२ भिन्न गुणधारी जीवों में गुण श्रेणी प्रदेश निर्जरा के काल की ११ स्थानीय प्ररूपणा—

(प ख १२/४,२/७/सू १८६-१९६/८६-८६)

१८६	योग निरोध केवली का समुद्रात केवली का (प्ररूपणा न १ के आधार पर)	सर्वत स्तोक असं गुणा
१८७	स्व स्थान अध प्रवृत्त संयोग केवली का	"
१८८	शीघ्र कपाय बीतराग का	"
१८९	चारित्र मोह उपशमक— सूक्ष्म साम्पराय का अनिवृत्ति करण का अपूर्व करण का	" " " "

३ पाँच प्रकार के सक्रमणों द्वारा हत, कर्म प्रदेशों के परिमाण में अल्पवहुत्व—

(गो व /सू ४१०-४३६/१८७)

क्रम	उत्तरोत्तर भागहारों के नाम	अष्टमहुरव
१	सर्व सक्रमण का भागहार	सर्वत स्तोक
२	गुण " " "	असं गुणा गुणकार = पश्य/असं
३	उत्कर्षण भागहार अपकर्षण " अध प्रवृत्त सक्रमण द्वारा हत ज स उ योगों का गुणकार कर्म स्थितिकी नाना गुणहानि शलाका पश्य के अर्धच्छेद पश्य का प्रथम वर्गभूल कर्म स्थितिकी एक गुणहानिके समयों का परिमाण कर्म स्थितिकी अन्योन्याभ्यस्त राशि पश्य	ऊपर पश्य पश्य/असं गुणे " पश्य के अर्धच्छेद रूप असं गुणा विशेषाधिक अस गुणा " " " "
४	कर्म की उत्कृष्ट स्थिति	७००×क्रोड़×क्रोड़× क्रोड़×क्रोड़ गुणा असं गुणा गुणकार = सूच्यं/असं
५	विध्यात सक्रमण का भागहार उद्वेलना का भागहार कर्मों के अनुभाग की नाना गुण हानि शलाका कर्मनुभाग की एक गुण हानि का आयाम कर्मनुभाग की द्विधर्ध गुण हानि का आयाम कर्मनुभाग की २ गुण हानि कर्मनुभाग की अन्योन्याभ्यस्त राशि	" अनन्त गुणी " " डेढ़ गुणी एक गुणहानि से दुगुनी अनन्त गुणी

११. अष्टकर्मबन्ध उदय सत्त्वादि १० करणोंकी अपेक्षा भुजगारादि पदोमे अल्पवहुत्वकी ओघ व आदेश प्ररूपणा

नोट—इस सारणी में केवल शास्त्र के पृष्ठादि ही दर्शाये गये हैं। अतः उस उस प्ररूपणा को देखने के लिए शास्त्र का वह वह स्थान देखिये।

विषय	प्रकृति विषयक मूल प्र उत्तर प्रकृति	स्थिति विषयक मूल प्र उत्तर प्रकृति	अनुभाग विषयक मूल प्र उत्तर प्र	प्रदेश विषयक मूल प्र उत्तर प्र
------	--	---------------------------------------	-----------------------------------	-----------------------------------

१ उदीरणा सम्बन्धी अल्पवहुत्व की ओघ व आदेश प्ररूपणा—(ध १५/पृ)

१ स्वामित्व सामान्य	४७	८०-८१	—	१४७-१५७	—	२१६-२३१	—	२६१-२६४व
२ ८, ७ आदि प्रकृतियों की उदीरणा रूप भ्रणोंके स्वामित्वकी अपेक्षा	५०	८५	—	—	—	—	—	२७४-२७५
३ भुजगारादि पदों की अपेक्षा	६३	९७	—	१६२ १६४	—	२३६-२३७	—	२६१-२६४
४ ज उ वृद्धि हानि की अपेक्षा	—	—	—	१६४-१७०	—	२४६-२५२	—	२७१-२७३

२ उदय सम्बन्धी अल्पवहुत्व की ओघ व आदेश प्ररूपणा—(ध १५/पृ)

१ स्वामित्व सामान्य अपेक्षा	२८५	२८८-२८९	२९४	२९५	२९६	२९६	२९६	३०६-३२४
२ भुजगारादि पदोंके स्वामित्वकी अपेक्षा	—	—	"	"	"	"	"	३२६
३ पद निसेप सामान्य की अपेक्षा	—	—	"	"	"	"	"	३३५
४ पद निसेपोंके स्वामित्वकी अपेक्षा	—	—	"	"	"	"	"	—
५ वृद्धि हानि की अपेक्षा	—	—	"	"	"	"	"	—
६ " " के स्वामित्वकी अपेक्षा	—	—	"	"	"	"	"	—

३ उपशमना सम्बन्धी अल्पवहुत्व की ओघ व आदेश प्ररूपणा—(ध १५/पृ)

१ स्वामित्व सामान्य अपेक्षा	२७७	२७६	—	—	—	—	—	—
२ भुजगारादि की अपेक्षा	"	"	—	—	—	—	—	—
३ अन्य सर्व विकर्षणों की अपेक्षा	२८०	२८०	२८१	२८१	२८२	२८२	२८२	२८२

४ सक्त्रमण सम्बन्धी अल्पवहुत्वकी ओघ व आदेश प्ररूपणा—(ध १५/पृ)

१ सर्व विकर्षणों की अपेक्षा	२८३	२८३	२८३	२८३	२८४	२८४	२८४	२८४
-----------------------------	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----	-----

५ बन्ध सम्बन्धी अल्पवहुत्वकी ओघ व आदेश प्ररूपणा—(म ब /पृ.पृ)

१ बन्धक अभन्धक जीव सा की अपेक्षा	१/४१४-४३६	२/२-१८	—	—	—	—	—	—
२ ज उ पदों के बन्धकों " "	२/२२३-२७०	३/४६७-६१६	४/२६०-२६६	४/४१७-४५०	६/६६-१००	—	—	—
३, भुजगारादि पदोंके बन्धकों " "	२/३३८-३४२	३/८०८-८३१	४/३०३-३०८	५/५४८-५६७	६/१४३-१४५	—	—	—
४ ज उ वृद्धि हानिके बन्धक " "	२/३५३-३५६	—	४/३४२-३५२	५/६०५-६१०	६/१६३	—	—	—
५ पदस्थान " " " "	२/४०६-४१४	३/६५७-६७८	४/३६८-३७०	५/६२५	६/१५७-१६४	—	—	—
६ बन्ध अध्यवसाय स्थान " "	—	३/६८२-६९२	—	५/६२८-६४४	—	—	—	—

६ मोहनीय कर्म सत्त्व सम्बन्धी अल्पवहुत्वकी स्व व पर स्थानीय ओघ व आदेश प्ररूपणा—(म ब /पृ.पृ)

१ ज उ पदों के बन्धक	—	३/१६४-१६८	३/८७१-६१६	६/१३६-१४०	६/४२६-४७०	—	—	—
२ भुजगारादि पदोंके बन्धक	—	३/१२४-२२५	४/१७७-१६५	५/१६१	६/५१०-५१३	—	—	—
३ ज उ वृद्धि हानि रूप पदों के बन्धक	१/४८२ ४८४	३/२४१-२४५	४/२०४-२२२	—	६/५६६-६६६	—	—	—
४ पदस्थान वृद्धि हानि रूप पदों के बन्धक	२/५३३ ६१६	३/३४३-३५४	४/४६०-६०६	५/१८५	—	—	—	—
५ बन्धक सामान्यका प्रमाण	१/३६१-३६४	—	—	—	—	—	—	—
६ प्रकृति सत्त्व असत्त्व का स्वामित्व	२/१८७-२०६	—	—	—	—	—	—	—
७ २८-२४ आदि सत्त्व स्थानोंके काल की अपेक्षा	२/३८४-३९०	—	४/६१६-६४०	—	—	—	—	—
८ उप स्वामि की अपेक्षा	२/३६१-४१६	—	—	—	—	—	—	—
९ सत्त्वगुणपञ्चादि पदोंके स्वामी	—	—	—	५/१८८	—	—	—	—
१० ज उ वृद्धि हानि पदोंकी अपेक्षा	—	—	—	४/१६७-१६८	५/५२६-५३०	—	—	—

प्रमाण	विषय
--------	------

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

४ देव गति सम्बन्धी प्ररूपणा

१-३ भवनवासी, व्यपतर व ज्योतिषी धेवीकी अवगाहना
४ कण्ठवासी धेवीकी अवगाहना

* अवगाहना विषयक सख्या व अल्पवहुत्व प्ररूपणाएँ
—ये यह यह नाम

१ अवगाहना निर्देश

१. अवगाहनाका लक्षण

स सि १०/१/४३२/११ आरमप्रदेशव्यापित्वमवगाहनम् । तद्विधिम—
उत्कृष्टजघन्यभेदात् ।—आरमप्रदेशमें व्याप्त करके रहना, उसका नाम
अवगाहना है । यह दो प्रकारकी है—जघन्य और उत्कृष्ट ।

२. उत्कृष्ट अवगाहना काले जीव अन्तिम द्वीप सागरमे
ही पाये जाते हैं ।

ध ४/१,३,२/३३/४ सयपहणव्यपरभागद्वियजोवाणमोगाहना महल्लेति
जाणावणुत्तमेतत् । सयपहणनिदपवदस्म परदा जहणोगाहणा वि
जोवा अरिथ ति चे ण भुज्जसयासं काऊण अद्ध रवे यि मत्तेज्ज-
घणगुलदसणादो ।—स्वयंप्रभ पर्वतके परभागमें स्थित जीवोंकी
अवगाहना समते बड़ी हातो है, इस बातका ज्ञान करानेके लिए यह
गाथा सूत्र है । प्ररन—स्वयंप्रभनगैर पर्वतके उस और जघन्य
अवगाहनावाले भी जीव पाये जाते हैं । उत्तर—नहीं, क्योंकि, जघन्य
अवगाहनारूपमूल अथवि आदि और उत्कृष्ट अवगाहनारूप अन्त,
इन दोनोंको जोड़कर आधा करनेपर भी सन्त्यात घनागुल देखे
जाते हैं ।

३ विग्रह गतिमे जीवोंकी अवगाहना

ध ४/१,३,२/३०/२ विग्रहगदीए उप्पणण उजुगदीए उप्पणपढमसमय-
ओगाहणए समाणा चेव ओगाहणा भवदि । जवरि दोहमोगाहणण
सठाणे समाणत्तणियमो जरिथ । कुदो । आणुपुविसठाणणामकम्मेहि
जणिदसठाणणमेगत्तविदाघा ।—विग्रहगतिसे उत्पन्न हुए जीवोंके
अजुगतिसे उत्पन्न जीवोंके प्रथम समयमें होनेवाली अवगाहनाके
समान ही अवगाहना होती है । विशेषता केवल इतनी है कि दोनों
अवगाहनाओंके आकारमें समानताका नियम नहीं है, क्योंकि आनु-

पूर्वी नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले और गस्थान नाम कर्मके
उदयसे उत्पन्न होनेवाले सस्थानोंके पक्षरका विराध है । (विग्रह
गतिमें जीवोंका आकार आनुपूर्वी नाम कर्मके उदयसे पूर्व भवभावा
ही रहता है । यहाँ संस्थान नाम कर्मका उदय नहीं है । भव धारण
कर लेनेपर संस्थान नामकर्मका उदय हो जाता है, जिसके कारण
नवीन आकार मन जाता है—द उदय ४/६/२) ।

४ जघन्य अवगाहना तृतीय समयवर्ती निगोदमें ही
सम्भव है

ध ११/४ २७,२०/३४/८ पढमसमयआहारयस्म पढमसमयतम्भवत्यस्म
जहणणयेत्तमामित्ति किण्ण दिज्जे । ण, तथ आगग्गउरस्मपवेत्तागा
रेण द्विदस्मि ओगाहणाए थायत्ताणुवत्तोदा । विदियसमयआहा
रगविदियसमयतम्भवत्यस्म जहणणमामित्ति किण्ण दिज्जे । ण तथ
समयउरस्मरुत्वेण जीवपदेमाणमपट्टणादो । विदियसमय विक्कम-
समो आयामो जीवपदेमाण हादि ति कुदो जज्जे । परमगुरुत्त-
सादो । तदीयममयआहारयस्म तदीयममयतम्भवत्यस्म चेव जहण
येत्तमामित्ति किमट्ट दिज्जे । ण एम दासा, चउर मत्तेत्तस्स चत्तारि
वि कोणे सकाडिप वट्टनागारेण जीवपदेमाणं तरथावट्टापदसणादो ।
—प्ररन—प्रथम समयवर्ती आहारक (अर्थात् अजुगतिसे उत्पन्न होने-
वाला) और प्रथमसमयवर्ती तद्भवस्थ हुए निगोद जीवके जघन्य
क्षेत्रका स्वामीपना क्या नहीं देते ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उस समय
आयत चतुरस क्षेत्रके आकारसे स्थित उक्त जीवमें अवगाहनाका
स्वोक्तपना मन नहीं सकता । प्ररन—द्वितीय समयवर्ती आहारक
और द्वितीय समयवर्ती तद्भवस्थ होनेवाले जीवके जघन्य (क्षेत्रका)
स्वामीपना क्या नहीं देते ? उत्तर—नहीं क्योंकि उस समयमें भी
जीवप्रदेश समचतुरस स्वरूपसे अवस्थित रहते हैं । प्ररन—द्वितीय
समयमें जीवके प्रदेशका आयाम उसके विष्कम्भके समान होता है,
यह कैसे कहते हो ? उत्तर—परमगुरुत्त उपदेशसे कहते हैं । प्ररन—
तृतीय समयवर्ती आहारक और तृतीय समयवर्ती तद्भवस्थ निगोद
जीवके ही जघन्य क्षेत्रका स्वामीपना किस लिए देते हो ? उत्तर—यह
कोई दोष नहीं है, क्योंकि उस समयमें चतुरस क्षेत्रके चारों ही
कोनोंको म कुचित करके जीव प्रदेशका वर्तुसाकारमें (गोच आकारसे)
अवस्थान देखा जाता है ।

१ अवगाहना सम्बन्धी प्ररूपणाएँ

१. नरक गति सम्बन्धी प्ररूपणा

संकेत—घ = धनुष, हा = हाथ, अगु = अंगुल ।

गणना—१ धनुष = ४ हाथ, १ हाथ = २४ अंगुल ।

प्रमाण—(धु आ १०५५-१०६१), (स सि ३/३/२००) (ति प २/२१५-२७०), (रा वा ३/३/१६४/१६), (र पु ४/२६५-३४०)

(ध ४/१,३,४/४८-६२); (त सा २/१३६), (वि सा २०१), (म पु १०/६४), (द स दो ३६/११६/८)—घ ४ के आधार पर—

क्र.सं.	प्रथम पृथिवी			द्वितीय पृथिवी			तृतीय पृथिवी			चतुर्थ पृथिवी			पंचम पृथिवी			षष्ठ पृथिवी			सप्तम पृथिवी		
	घ	हा	अगु	घ	हा	अगु	घ	हा	अगु	घ	हा	अगु	घ	हा	अगु	घ	हा	अगु	ध		
१	०	३	०-०	८	२	२-२/११	१७	१	१०-२/३	३५	२	२०-४/७	७५	—	—	१६६	२	१६-०	५००		
२	१	१	८-२/२	८	—	२२-४/११	१६	—	६-१/३	४०	—	१७-१/७	८७	२	—	२०८	१	८-०			
३	१	३	१७-०	६	३	१८-६/११	२०	३	८-०	४४	०	१३-४/७	१००	—	—	२५०	—	—			
४	२	२	१-१/२	१०	२	१४-८/११	२२	३	६-२/३	४६	—	१०-२/७	११२	२	—	—	—	—			
५	३	—	१०-०	११	१	१०-१०/११	२४	१	५-१/३	४३	२	६-६/७	१२५	—	—	—	—	—			
६	३	२	१८-१/२	१२	—	७-१/११	२६	—	४-०	४८	—	३-२/७	—	—	—	—	—	—			
७	४	१	३-०	१२	३	३-३/११	२७	३	२-२/३	६२	२	—	—	—	—	—	—	—			
८	४	३	११-१/२	१३	१	२३-५/११	२६	२	१-२/३	—	—	—	—	—	—	—	—	—			
९	५	१	२०-०	१४	—	१६-७/११	३१	१	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—			
१०	६	—	४-१/२	१४	३	१५-६/११	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—			
११	६	२	१३-०	१५	२	१२-०	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—			
१२	७	—	२१-१/२	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—			
१३	७	३	६-०	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—			

२ तिर्यचगति सम्बन्धी प्ररूपणा

१. एकेन्द्रियादि तिर्यचोकी जघन्य अवगाहना

संकेत—असं—असरण्यात सं—सग्यात ।

(मू आ /१०६६) (ति प १/३१८/विस्तार) (घ ४/१,३,२४-३३)

(त सा /२/१४६) (गो जी /मू ६४/२१६)—ति प के आधारपर

क्रम	मार्गणा	जघन्य अवगाहना	
		अवगाहना	अपेसा
१	एकेन्द्रिय	घनांगुल/असं	जन्मके तृतीयसमयवर्ती सूक्ष्म लक्ष्यप्राप्ति निगोद
२	द्विन्द्रिय	घनांगुल/स	अनुधरो
३	त्रिन्द्रिय	घनांगुल/स	कुन्धु
४	चतुरिन्द्रिय	उपरोक्त×स	काणमक्षिका
५	पंचेन्द्रिय	"	तन्दुलमच्छ

२ एकेन्द्रियादि तिर्यचोकी उत्कृष्ट अवगाहना

संकेत—यो—योजन (४ कोश), को—कोश ।

(मू आ /१०७०-१०७१) (ति प ४/३१४-३१८) (घ ४/१,३ २/-

३३-४६) (त सा /२/१४२ १४४) (गो जी /मू ६६-६६/२१६-

२२१)—ति प के आधार पर

इन्द्रिय	अवगाहना			अपेक्षा	विशेष
	लम्बाई	चौड़ाई	मोटाई		
१	१०००यो	१ यो	१ यो	कमल	स्वयम्भूरमण द्वीपके मध्यवर्ती भागमें उत्पन्न
२	१२ यो	४ यो	१३ यो	शख	" " समुद्र " " "
३	३ को	३/८को	३/९को	कुम्भी या सहस्र पद	" " द्वीपके अवरभागमें उत्पन्न
४	१ यो	३/४यो	१/२यो	भँबरा	" " " " " "
५	१०००यो	६००यो	२६०यो	महा— मरस्य	" " समुद्रके मध्यवर्ती भागमें उत्पन्न

६. चौदह जीव समासो की अपेक्षा अवगाहना यत्र

संकेत —सू=सूक्ष्म, बा=बादर, प=पर्याप्त, अप=अपर्याप्त, आ/अस=आबलोका असंख्यातवाँ भाग, पश्य/अस=पश्य+असख्यात

पृ=पृथ्वी, ज=जघन्य, ×=पूर्व स्थान+
आ/अस

प्रमाण —(मू आ १०८७), (ति प ६/३१८ विस्तार)(गो जी /जो प्र /६७ १०१/२२३-२४३)

कुल स्थान = ६४

स्थान=५ (सू अप ज) सूक्ष्म निगोद १ ॥ वात २ ॥ तेज ३ ॥ अप ४ ॥ पृथ्वी ५ प्रतिस्थानवृद्धि क्रमशः आ/असं	स्थान=६ (बा अप ज) बादर वात=६ ॥ तेज=१७ ॥ अप=८ ॥ पृथ्वी=७ ॥ निगोद=१० ॥ प्र प्रत्येक=११ प्रतिस्थानवृद्धि क्रमशः पत्य/असं	स्थान=५ (अप ज) अप्र प्रत्येक १२ बैह्वी=१३ तेहन्दि=१४ धतुरेन्द्रिय=१५ पद्येन्द्रिय=१६ प्रतिस्थानवृद्धि क्रमशः पत्य/असं	स्थान=५ (सू प ज) सूक्ष्म निगोद १७ ॥ वात=२० ॥ तेज २३ ॥ अप=२६ ॥ पृथ्वी=२७ प्रतिस्थानवृद्धि क्रमशः ×	स्थान=६ (बा प ज) बादर वात ३२ ॥ तेज=३५ ॥ अप=३८ ॥ पृथ्वी=४१ ॥ निगोद=४४ प्र प्रत्येक=४७ प्रतिस्थानवृद्धि क्रमशः ४८	स्थान=५ (प ज) अप्र प्रत्येक ५७ बेन्द्रिय ५१ तेन्द्रिय=५२ द्योन्द्रिय=५३ पद्येन्द्रिय=५४ प्रतिस्थानवृद्धि क्रमशः पत्य/सं	स्थान=५ (अप ज) तेन्द्रिय=५५ द्योन्द्रिय=५६ द्योन्द्रिय=५७ अप्रतिष्ठित=५८ पद्येन्द्रिय=५७ प्रतिस्थानवृद्धि क्रमशः पत्य/सं	स्थान=५ (प ज) तेन्द्रिय ६० द्योन्द्रिय ६१ बेन्द्रिय=६३ अप्र प्रत्येक=६३ पद्येन्द्रिय=६४ प्रतिस्थानवृद्धि क्रमशः पत्य/सं
---	--	---	---	--	---	--	---

स्थान=५ (सू अप उ) निगोद=१८ वात=२१ तेज=२४ अप=२७ पृथ्वी=३० प्रतिस्थानवृद्धि क्रमशः ×	स्थान=६ (बा अप उ) बात=३३ तेज=३६ अप=३७ पृथ्वी=४२ निगोद=४५ प्र प्रत्येक=४८ प्रतिस्थानवृद्धि क्रमशः ४९	स्थान=५ (सू प उ) निगोद=१७ वात=२२ तेज=२५ अप=२८ पृथ्वी=३१ प्रतिस्थानवृद्धि क्रमशः ×	स्थान=६ (बा प उ) वात=३४ तेज=३७ अप=४० पृथ्वी=४३ निगोद=४६ प्र प्रत्येक=४७ प्रतिस्थानवृद्धि क्रमशः ४८
--	--	---	---

३. पृथ्वी कायिको आदिकी जघन्य व उत्कृष्ट अवगाहना

संकेत—सू=सूक्ष्म, बा=बादर, अस=असरण्यात ।

(मू आ १०८७) ।

क्रम	काय	समास	जघन्य	उत्कृष्ट
१	पृथिवी	सू या	घनांगुल/असं	द्रव्यांगुल/असं
२	अपू तेज	"	"	"
३	वायु	"	"	"

४ सम्मूर्च्छन्न व गर्भज जलचर, थलचर आदिकी उत्कृष्ट अवगाहना

(मू आ १०८४ १०८६) (ह पु ६/६३०) ।

क्रम	मार्गणा	सम्मूर्च्छन्न		गर्भज	
		अपर्याप्त	पर्याप्त	अपर्याप्त	पर्याप्त
१	जलचर	१ घातिरत		४-८ धनुष	
२	महा- मरस्य		योजना १०००×६००×२६०		योजना ६००×२६०×१२६
३	थलचर	"	४-८ धनुष	"	३ कोश
४	नभचर	"	"	"	४-८ धनुष

नोट—गर्भजोंकी अवगाहना सर्वत्र सम्मूर्च्छन्नोत्से आधी जानना

५ जलचर जीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहना

(ह पु ६/६३० ६३१) ।

स्थान	तीर पर			मध्य में		
	लम्बाई	चौड़ाई	मोटाई	लम्बाई	चौड़ाई	मोटाई
लवण समुद्र	६ यो.	(४ ३/४)	(२ ३/४)	१८ यो	(६)	(४ ३/४)
कालोद समुद्र	१८ यो	(६)	(४ ३/४)	३६ यो	(१८)	(६)
स्वयंभू रमण	६०० यो	(२६०)	(१२६)	१०००	६००	२६०

५ दो यिन्दिया के बीच क स्थान = मध्यमस्थान

[illegible]

प्रमाण सं.	नाम	अवगाह	विशेषता
स ३ के बिना सर्व	सौधर्म-ईशान	७ हाथ	
" ३४ के बिना सर्व	सनारकुमार माहेन्द्र	६ "	
"	ब्रह्म ब्रह्मोत्तर	६ "	

प्रमाण स.	नाम	अवगाह	विशेषता
केवल सं ३	लौकान्तिक	१ हाथ	प्रमाण न ६ के अनुसार १/२ हाथ कम
स ३ व के बिना सर्व	लान्तव कापिष्ठ	१ "	
"	शुक महाशुक	४ "	
"	शतार-सहस्रार	४ "	
"	आनत-प्राणत	३ १/२ "	
"	आरण अच्युत	३ "	
"	अधोग्रैवेयक	२ १/२ "	
"	मध्य ग्रैवेयक	२ "	प्रमाण न ६ के अनुसार १/२ हाथ कम
"	उपरिम ग्रैवेयक	१ १/२ "	
केवल स १	नव अनुदिश	१ १/२ "	
३ व के बिना सर्व	१५ अनुत्तर	१ "	

* अवगाहना प्रकरणमें प्रयुक्त मानोंका अर्थ देखें गणित १/१/६

अवग्रह—इन्द्रिय ज्ञानकी उत्पत्तिके क्रममें सर्व प्रथम इन्द्रिय और पदार्थ का सन्निकर्ष होते ही जो एक फलक मात्र सी प्रतीत होती है, उसे अवग्रह कहते हैं। तत्पश्चात् उपयोगकी स्थिरताके कारण ईहा व अवायके द्वारा उसका निरचय होता है। ज्ञानके ये तीनों अंग मटे वेगसे मोत जानेके कारण पाय प्रतीति गोचर नहीं होते।

१ भेद व लक्षण

- १ अवग्रह सामान्यका लक्षण।
- २ अवग्रहके भेद।
 - १ विशद व अविशद—२ अर्थ व व्यजन।
 - ३ विशद व अविशद अवग्रहके लक्षण।
 - ४ अर्थ व व्यजन अवग्रहके लक्षण।

२. अवग्रह निर्देश

- * अवग्रह ईहा आदिका उत्पत्ति क्रम—दे० मतिज्ञान ३
- १ अवग्रह और मशयमें अन्तर।
- २ अवग्रह अप्रमाण नहीं।
- ३ अर्थावग्रह व व्यजनावग्रहमें अन्तर।
- ४ अर्थावग्रह व व्यजनावग्रहका स्वाभाविक।
- ५ अप्राप्यकारी तीन इन्द्रियोमें अवग्रह सिद्धि।
- * प्राप्यकारी व अप्राप्यकारी द्वि द्वयौ।—दे० इन्द्रिय २
- * अवग्रह और दर्शनमें अन्तर।—दे० दर्शन २/६
- * अवग्रह व ईहामें अन्तर।—दे० अवग्रह २/१/२
- ६ अवग्रह व अवाय में अन्तर।

१. भेद व लक्षण

१. अवग्रह सामान्यका लक्षण

प ख १३/५.४/सू ३७/२४२ ओम्गे योदाणे साणे अवलम्बना मेहा॥३७॥—अवग्रह अवधान, सान अवलम्बना और मेधा ये अवग्रहके पर्यायवाची नाम हैं। (इन शब्दोंके अर्थ—दे० यह वह नाम)

स सि १/१५/१११ विषयविषयिस निपातसमनन्तरमाद्य ग्रहणमवग्रह विषयविषयिमनिपाते सति दर्शन भवति। तदनन्तरमर्थग्रहणमवग्रह।—विषय और विषयोंके सम्बन्धके बाद होनेवाले प्रथम ग्रहणको अवग्रह कहते हैं। विषय और विषयोंका सन्निपात होनेपर दर्शन होता है। उसके पश्चात् जो पदार्थका ग्रहण होता है वह अवग्रह कहलाता है। (रा वा १/१५/१/६०/२), (व १/१ ११५/३४४/२), (घ ६/१.६-१, १४/१६/५), (घ ६/४.१ ४४/१४४/५), क पा १/१-१५/६३०२/३३२/३), (अ प १३/५.७), (गो जी/सू ३०८/६६३)।

घ १३/५.४.३७/२४२/२ अवग्रहाते अनेन घटाद्यर्था इत्यवग्रह।—जिसके द्वारा घटादि पदार्थ जाने जाते हैं वह अवग्रह है।

घ १३/५.४.२३/२१६/१३ विषयविषयिसपातसमनन्तरमाद्य ग्रहणमवग्रह। रसादयोऽर्था विषय, पञ्चोन्द्रियाणि विषयिण, ज्ञानोत्पत्ते पूर्ववस्था विषयविषयिसपात ज्ञानोत्पादनकारणपरिणामविशेषस्त-र्युत्पत्त्युपलक्षित अन्तर्भूतकाल दर्शनव्यपदेशभाक्। तदनन्तर माद्य वस्तुग्रहणमवग्रह, यथा चक्षुषा घटोऽय घटाऽयमिति। यत्र घटादिना विना रूपदिशाकारादिविशिष्ट वस्तुमात्र परिच्छिद्यते ज्ञानेन अनध्यवसायरूपेण तत्राप्यवग्रह एव, अनवग्रहीतेऽर्थे ईहाद्य-नृत्पत्ते।—विषय व विषयोंका सम्पात होनेके अनन्तर जो प्रथम ग्रहण होता है, वह अवग्रह है। रस आदिक अर्थ विषय हैं, छहों इन्द्रियाँ विषयी हैं, ज्ञानोत्पत्तिकी पूर्ववस्था विषय व विषयोंका सम्पात है, जो दर्शन नाम से कहा जाता है। यह दर्शन ज्ञानोत्पत्तिके कारणभूत परिणाम विशेषकी सन्ततिकी उत्पत्तिसे उपलक्षित होकर अन्तर्भूत कालस्थायी है। इसके बाद जो वस्तुका प्रथम ग्रहण होता है वह अवग्रह है। यथा—चक्षुके द्वारा 'यह घट है, यह घट है' ऐसा ज्ञान होना अवग्रह है। जहाँ घटादिके बिना रूप, दिशा, और आकार आदि विशिष्ट वस्तुमात्र ज्ञानके द्वारा अनध्यवसाय रूपसे जानी जाती है, वहाँ भी अवग्रह हो है क्योंकि, अनवग्रहीत अर्थमें ईहादि ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

ज प १३/६१ सोदूण देवदेति य मामण्णेण विचाररहिदेण। जस्सुप्पज्ज बुद्धो अवग्रह तस्स णिदिट्ठ ॥६१॥—'देवता' इस प्रकार सुनकर जिसके विचार रहित सामान्य से बुद्धि उत्पन्न होती है, उसके अवग्रह निर्दिष्ट किया गया है।

न्या की २/६११/३१ तत्रेन्द्रियार्थ समवधानसमनन्तरसमुत्पत्तिसत्तालोचना-न्तरभावो सत्तावान्तरजातिविशिष्टवस्तुग्राही ज्ञानविशेषोऽवग्रह। यथाऽय पुरुष इति।—इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध होने के बाद उत्पन्न हुए सामान्य अवभास (दर्शन) के अनन्तर होने वाले और अवान्तर सत्ताजाति से युक्त वस्तु को ग्रहण करनेवाले ज्ञानविशेषको अवग्रह कहते हैं, जैसे—'यह पुरुष है'।

२ अवग्रहके भेद

१ विशद अवग्रह व अविशद अवग्रह

घ ६/४.१ ४४/१४४/३ द्विविधोऽवग्रहो विशदाविशदावग्रहभेदेन।—विशदावग्रह और अविशदावग्रह के भेद से अवग्रह दो प्रकारका है।

२. अर्थ व व्यजन अवग्रह

घ १/१.१ ११५/३४४/७ अवग्रहो द्विविधोऽर्थावग्रहो व्यजनावग्रहश्चेति।—अवग्रह दो प्रकार का होता है—अर्थावग्रह और व्यजनावग्रह। (घ ६/१ ६-१.१/१६/७), (ज प/१/६६)

गो जी/जो प्र/३०७/६६०/७ मतिज्ञानविषयो द्विविध व्यजन अर्थ-श्चेति। व्यञ्जनरूपे विषये स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्र चतुर्भिर्भिन्निगै अवग्रह एक एवोत्पद्यते नेहादय। ईहादीनां ज्ञानानां देशसर्वभि-व्यक्ती मर्यामेव उत्पत्तिसम्भाव। इति व्यञ्जनावग्रहस्वरूप एव।—मति ज्ञानका विषय दो भेद रूप है—व्यजन व अर्थ। तहाँ व्यजन जो अव्यक्त शब्दादि तन्नि विषय स्पर्शन, रसन घ्राण व श्रोत्र इन्द्रियानकरि केवल अवग्रह हो है, ईहादिक न हो है, जाते

ईहादिक तो एक देश वा सर्वदेश व्यक्त भए ही हो है। तातै च्याप इन्द्रियनिकरिच्यव्यवहारके च्याप भेद है।

३. विशद व अविशद अवग्रहके लक्षण

घ १/४ १,४४/१४४/३ तत्र विशदो निर्णयरूप अनियमेनावायधारणा प्रत्ययोरपत्तिविबन्धन । अविशदावग्रहो नाम अगृहीतभाषा-वयोरूपादिविशेष गृहीतव्यवहारनिबन्धनपुरुषमात्रसत्त्वादिविशेष अनियमेनाद्वयुपपत्तिहेतु ।—विशद अवग्रह निर्णयरूप होता हुआ अनियमसे ईहा अवाय और धारणा ज्ञानकी उत्पत्तिको कारण है।

भाषा, आयु व रूपादि विशेषोंको ग्रहण न करके व्यवहारके कारण-भूत पुरुषमात्रके सत्त्वादि विशेषोंको ग्रहण करनेवाला तथा अनियमसे जो ईहा आदिकी उत्पत्तिमें कारण है वह अविशदावग्रह है।

४. व्यजनावग्रह व अर्थावग्रहका लक्षण

स सि १/१८/११७/६ व्यक्तग्रहणात् प्राग्व्यञ्जनावग्रह व्यक्तग्रहणमर्थवि-ग्रह ।—व्यक्त ग्रहणसे पहिले पहिले व्यजनावग्रह होता है और व्यक्त ग्रहणका नाम अर्थावग्रह है। (रा वा १/१८/२/६७/६)

घ १/१,१,११४/५०/५० अप्राप्तार्थग्रहणमर्थविग्रह ३४४/७ प्राप्तार्थग्रहण व्यञ्जनावग्रह । ३४४-१ । याग्यदेशावस्थितेरेव प्राप्तेरभिधानात् । ३४७ २ ।—अप्राप्त अर्थके ग्रहण करनेको अर्थावग्रह कहते हैं। (और) प्राप्त अर्थ के ग्रहण करनेको व्यजनावग्रह कहते हैं। इन्द्रियोंके ग्रहण करने के योग्य देशमें पदार्थोंकी अवस्थितिकी प्राप्ति कहते हैं।

(घ ६/१-६-१ १४/१६/७) (घ ६/४ १,४४/१४६/८)

ज प १३/६६-६७ दुरेण य जं गृहण ३ दिगणोहदिएहि अरिधक्क । अर्या-वग्गहणाण णायव्व तं समासेण । ६६। फासित्ता ज गृहण रसफरसण-सद्दुग्घविसएहि । वंजणवग्गहणाण णिद्धि तं वियाणाहि । ६७।—दूरसे ही जो चक्षुरादि इन्द्रियों तथा मनके द्वारा विषयोंका ग्रहण होता है उसे संक्षेपसे अर्थावग्रहज्ञान जानना चाहिए। ६६। छूकर जो रस, स्पर्श, शब्द और गन्ध विषयका ग्रहण होता है, उसे व्यजनावग्रह निर्दिष्ट किया गया है। ६७।

गो जी प्र ३/३०७/६६०/८ इन्द्रिये प्राप्तार्थविशेषग्रहण व्यञ्जनावग्रह । तैरप्राप्तार्थविशेषग्रहण अर्थग्रह इत्यर्थ । व्यञ्जन—अव्यक्तशब्दादि-जातं इति तत्त्वार्थविवरणेण प्रोक्तं कथमनेन व्याख्यान्येन सह संगति-मिति चेदुच्यते विगत-अञ्जन-अभिव्यक्तियस्य तद्व्यञ्जनं । व्यञ्जयते ग्रह्यते प्राप्त्यते इति व्यञ्जन अव्युत्पत्तिव्यक्तिप्रक्षणेनैव व्यक्तिस्रक्ष-स्य योर्ग्रहणात् । शब्दादर्थं श्रोत्रादीन्द्रियेण प्राप्तोऽपि यावत्तत्त्वविशेष-त्त्वावद् व्यञ्जनमिरुच्यते पुनरभिव्यक्तौ सत्यं स एवार्थो भवति ।—जो विषय इन्द्रियनिकरि प्राप्त होइ स्पष्टित होइ सो व्यञ्जन कहिए । जो प्राप्त न होइ सो अर्थ कहिए । प्रश्न—तत्त्वार्थ सूत्रकी टीका विषे तो अर्थ ऐसा कोया है जो व्यञ्जन नाम अव्यक्त शब्दादिकका है । इहाँ प्राप्त अर्थको व्यञ्जन कहा सो कैसे है । उत्तर—व्यञ्जन शब्दके दोऊ अर्थ हो हैं । 'विगत' व्यञ्जन व्यञ्जन 'दूरभया' व्यञ्जन कहिए व्यक्तभाव जाके सो व्यञ्जन कहिए । सो तत्त्वार्थ सूत्रकी टीका विषे तो इस अर्थका मुख्य ग्रहण किया है । अर व्यञ्जयते ग्रह्यते प्राप्त्यते इति व्यञ्जन 'जो प्राप्त होइ ताको व्यञ्जन कहिए सो इहाँ यह अर्थ मुख्य ग्रहण कोया है । जाते 'अणु' घातु गति, व्यक्ति, समण अर्थ विषे प्रवर्तै है । तातै व्याक्ति अथका अर ग्रहण अर्थका ग्रहण करनेतै करणादिक इन्द्रियनिकरि शब्दादिक अर्थ प्राप्त हूबे भी यावत् व्यक्त न होइ तावत् व्यजनावग्रह है व्यक्त भए अर्थावग्रह हो है । (विशेष देखो आगे अर्थ व व्यजनावग्रहमें अन्तर) ।

२ अवग्रह निर्देश

१ अवग्रह और संशयमें अन्तर

रा वा १/१४/७-१०/६०/२१ अवग्रहे ईहाद्यपेक्षात् संशयानतिवृत्ते । उच्यते—लक्षणभेदादप्यवग्रहनिबन्धनत्वत् । ८। कोऽसौ लक्षणभेद ।

उच्यते । ८। स्थाणुपुरुषाद्यनेकार्थालम्बनस निधानादनेकार्थमिदं संशयः । एकपुरुषाद्यान्वयमात्मकोऽवग्रहः । स्थाणुपुरुषानेकधर्मानिश्चितात्मक संशयः यतो न स्थाणुधर्मात् पुरुषधर्माश्च निश्चिनोति, अवग्रहस्तु पुरुषाद्यन्वयमनेकधर्मानिश्चयात्मकः । स्थाणुपुरुषानेकधर्माप्युदासार्थक संशयः यतो न प्रति नियतात्स्थाणुपुरुषधर्मात् पर्युदास्यति संशयः, अवग्रह पुन पर्युदासार्थक, स ह्यप्यात् ध्रुवादीन् पर्यायात् पर्युदास्य 'पुरुष' इत्येकपर्यायात्त्वान्न १६। स्यादेतत्—संशयतुल्यऽवग्रहः कुत । अपर्युदासात् ।—तत्र, किं कारणम् । निर्णयविरोधात् संशयस्य । संशयो हि निर्णयविरोधी न स्वग्रह निर्णयदर्शनात् । १०।—प्रश्न—अवग्रहमें ईहाकी अपेक्षा होनेसे करीब-करीब संशयरूपता ही है । उत्तर—अवग्रह और संशयके लक्षण जल और अग्निकी तरह अत्यन्त भिन्न हैं, अतः दोनों जुदे जुदे हैं । इनके लक्षणों में क्या भेद है, वही बताते हैं—संशय स्थाणु पुरुष आदि अनेक पदार्थों में दोलित रहता है, अनिश्चयात्मक होता है और स्थाणु पुरुषादिमें से किसीका निराकरण नहीं करता जब कि अवग्रह एक ही अर्थको विषय करता है निश्चयात्मक है और स्व विषयमें भिन्न पदार्थोंका निराकरण करता है । सारांश यह संशय निर्णयका विरोधी होता है, अवग्रह नहीं । (घ ६/४, १, ४४/१४४/६) (न्याय दी २/१११/३१) ।

घ १/३/६, २१/२१०/८ संशयप्रत्यय वृत्तान्त पठित । ईहाम्यात् । कुत । ईहाहेतुत्वात् । तदपि कुत, । कारणे कार्योपचारात् । वस्तुतः पुनरवग्रह एव । का ईहा नाम । संशयाद्भूतव्यवसायमप्युदास्य मद्यावस्थायां वर्तमान विमर्शात्मक प्रत्यय हेतव्यवभक्तनेन समुत्पद्यमान ईहेति भण्यते ।—प्रश्न—संशय प्रत्ययक अन्तर्भाव किस ज्ञान में होता है । उत्तर—ईहामें, क्योंकि वह ईहाका कारण है । प्रश्न—यह भी क्यों । उत्तर—पर्यायके कारणमें कार्यका उपचार किया जाता है । वस्तुतः वह संशय प्रत्यय अवग्रह ही है । प्रश्न—ईहाका क्या स्वरूप है । उत्तर—संशयके बाद और अवाय पहले बीचकी अवस्थामें विद्यमान तथा हेतुके अवसाम्बन्धसे उत्पन्न हुए विमर्शरूप प्रत्ययको ईहा कहते हैं ।

२ अवग्रह अप्रमाण नहीं

रा वा १/१६/६/६०/१३ यथा चक्षुषि न निर्णय सत्येव तस्मिन् 'किमय स्थाणुपुराहोस्वित् पुरुष' इति संशयदर्शनात् तथा अवग्रहेऽपि सति न निर्णय ईहादर्शनात्, ईहायां च न निर्णयः, यतो निर्णयार्थमीहा न त्वोहिव निर्णयः । यश्च निर्णयो न भवति स संशयजातीय इत्यप्रामाण्यमनयोरिति । ६। स्यादेतत् न अवग्रह-संशयः । कुत । अवग्रहवचनात् । यत् उक्तं पुरुष 'पुरुषोऽयम्' इत्यवग्रह-तस्य 'भाषावयोरूपादिविशेषोपाक्षेपमीहा' इति ।—प्रश्न—जैसे चक्षु होते हुए संशय होता है अतः उसे निर्णय नहीं कह सकते उसी तरह अवग्रहके होते हुए ईहा देखी जाती है । ईहा निर्णय रूप नहीं है, क्योंकि निर्णयके लिए ईहा है न कि स्वयं निर्णय रूप, और जो स्वयं निर्णय रूप नहीं है वह स्वयं की ही कोटि में होता है अतः अवग्रह और ईहाको प्रमाण नहीं कह सकते । उत्तर—अवग्रह संशय नहीं है, क्योंकि 'अवग्रह' अर्थात् निश्चय ऐसा कहा गया है । जा कि उक्त पुरुषमें 'यह पुरुष है' ऐसा ग्रहण तो अवग्रह है और उसकी भाषा आयु व रूपादि विशेषोंको जाननेकी इच्छाका नाम ईहा है । (विशेष देखे अवग्रह २/१)

घ ६/४ १ ४४/१४४/२ न प्रमाणमवग्रहः, तस्य संशयविपर्ययानध्यवसाये-ष्वन्तर्भावोऽदिति । न अवग्रहस्य द्वैविध्यात् । विशदाविशदावग्रह-भेदेन । तत्र विशदो निर्णयरूपः । तत्राविशदावग्रहो नाम अगृहीत-भाषावयोरूपादिविशेष गृहीतव्यवहारनिबन्धनपुरुषमात्रसत्त्वादिविशेष ।—अप्रामाण्यमविशदावग्रह अनध्यवसायरूपादिति चैत्र अध्यवसायसत्त्वविपर्ययविशेषत्वात् । न विपर्ययरूपत्वादप्रमाणम् तत्र वैपरीत्यानुपलम्भात् । न विपर्ययज्ञानोत्पादकत्वादप्रमाणम्, तस्मात्तदुत्पत्तेरनियमाभावात् । न संशयहेतुत्वादप्रमाणम् कारणानुगुणकार्य-नियमानुपलम्भात्, संशयादप्रमाणात्प्रमाणीभूतनिर्णयप्रत्ययोरपत्तिदो-

उनेकान्तात् । ततो गृहीतवस्त्रं च प्रति अविशदावग्रहस्य प्रामाण्य-
मनुपगन्तव्यम् व्यवहारयोग्यत्वात् । व्यवहारायोग्योऽपि अविशदा-
वग्रहोऽस्ति, कथं तस्य प्रामाण्यम् । न किञ्चिन्मया दृष्टमिति व्यव-
हारस्य तत्राप्युपलम्भात् । वास्तवव्यवहारायोग्यत्वं प्रति पुनरप्रमा-
णम् ।—प्रश्न—(अनिर्णय स्वरूप होनेके कारण) अवग्रह प्रमाण
नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होनेपर उसका संशय, विपर्यय व
अनध्यवसायमें अन्तर्भाव होगा । उत्तर—नहीं, क्योंकि, अवग्रह दो
प्रकारका है—विशदावग्रह और अविशदावग्रह । उनमें विशदावग्रह
निर्णयरूप होता है और भाषा, आयु व रूपादि विशेषोंको ग्रहण न
करके व्यवहारके कारणभूत पुरुषमात्रके सत्त्वादि विशेषोंको ग्रहण
करनेवाला अविशदावग्रह होता है । प्रश्न—अविशदावग्रह अप्रमाण
है, क्योंकि वह अनध्यवसाय रूप है । उत्तर—१ ऐसा नहीं है क्योंकि
वह कुछ विशेषोंके अध्यवसायसे सहित है ।—२ उक्त ज्ञान विपर्यय-
स्वरूप होनेसे भी अप्रमाण नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें
विपरीतता नहीं पायी जाती । यदि कहा जाय कि वह चूँकि विप-
र्यय ज्ञानका उत्पादक है, अतः अप्रमाण है, सो यह भी ठीक नहीं है,
क्योंकि, उससे विपर्ययज्ञानके उत्पन्न होनेका कोई नियम नहीं है ।—
३ संशयका हेतु होनेसे भी वह अप्रमाण नहीं है, क्योंकि, कारण
नुसार कार्यके होनेका नियम नहीं पाया जाता, तथा अप्रमाणभूत
महायसे प्रमाणभूत निर्णय प्रत्ययकी उत्पत्ति होनेसे उक्त हेतु व्यभि-
चारी भी है ।—४ संशयरूप होनेसे भी वह अप्रमाण नहीं है—(वे
अवग्रह २/१)—इस कारण, ग्रहण किये गये वस्त्रवशके प्रति अवि-
शदावग्रहको प्रमाण स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि वह व्यवहारके
योग्य है । प्रश्न—व्यवहारके अयोग्य भी तो अविशदावग्रह है उसके
प्रमाणता कैसे सम्भव है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, मैंने कुछ देखा है
इस प्रकारका व्यवहार वहाँ भी पाया जाता है । किन्तु वस्तुतः
व्यवहारकी अयोग्यताके प्रति वह अप्रमाण है ।

३. अर्थावग्रह व व्यजनावग्रहमें अन्तर

स सि १/१८/१७ ननु अवग्रहग्रहणमुभयत्र तुभ्यं तत्र किं कृतोऽयं
विशेष । अर्थावग्रहव्यजनावग्रहयोर्व्याकृत्यक्तकृतौ विशेष ।
कथम् । अभिनवशरावादीकरणवत् । यथा जलकणद्विसिक्तं सरा-
वाऽभिनवो नाद्वीभवति स एव पुन पुन सिच्यमानं शनं स्तिम्यति
एव श्रोत्रादिविन्द्रियेषु शब्दादिपरिणतां पुद्गलां द्वित्रादिसमयेषु
गृह्यमाणा न व्यक्तीभवन्ति, पुन पुनरवग्रहे सति व्यक्तीभवन्ति ।
अतो व्यक्तग्रहणात्प्राग्व्यजनावग्रह व्यक्तग्रहणमर्थावग्रह । ततो-
ऽव्यक्तावग्रहणादोद्भादयो न भवन्ति ।—प्रश्न—जब कि अवग्रहका
ग्रहण दोनों जगह समान है तब फिर इनमें अन्तर किन्मिच्छक है ।
उत्तर—इनमें व्यक्त व अव्यक्त ग्रहणकी अपेक्षा अन्तर है । प्रश्न—
कैसे । उत्तर—जैसे माटीका नया सकोरा जलके दो तीन कणोंसे सींचने
पर गीला नहीं होता और पुन पुन सींचनेपर वह धीरे-धीरे गीला
हो जाता है । इसी प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये गये
शब्दादि रूप पुद्गल स्कन्ध दो तीन समयोंमें व्यक्त नहीं होते हैं
किन्तु पुन पुन ग्रहण होनेपर वे व्यक्त हो जाते हैं । इससे सिद्ध हुआ
कि व्यक्त ग्रहणसे पहिले-पहिले व्यजनावग्रह होता है और व्यक्त
ग्रहण का नाम (या व्यक्त ग्रहण हो जाने पर) अर्थावग्रह है । अव्यक्त
अवग्रहसे ईहा आदि नहीं होते हैं । (गो जी/जो प्र ३/०७/६६०/१०)
घ ६/३ १ ४४/१४४/३ तत्र विशदो निर्णयरूप, अनियमेनेहावायधारणा-
प्रत्ययोरपत्तिनिबन्धन । तत्रअविशदावग्रहो नाम अगृहीतभाषा-
वयोरूपादिविशेष गृहीतव्यवहारनिबन्धनपुरुषमात्रसत्त्वादिविशेष
अनियमेनेहाधुरपत्तिहेतु ।—विशद अवग्रह निर्णय रूप होता हुआ
अनियमसे ईहा, अवाय और धारणा ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है ।
उनमें भाषा आयु व रूपादि विशेषोंको ग्रहण न करके व्यवहारके
कारणभूत पुरुषमात्रके सत्त्वादि विशेषोंको ग्रहण करनेवाला तथा
अनियमसे जो ईहा आदिकी उत्पत्तिमें कारण है वह अविशदावग्रह है ।

घ ६/४, १, ४४/१४४/८ अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रह, प्राप्तार्थग्रहण व्यञ्जनाव-
ग्रह । न स्पष्टस्पष्टग्रहणे अर्थव्यञ्जनावग्रहौ, तयोश्चक्षुर्मनसोरपि
सत्त्वतस्तत्र व्यञ्जनावग्रहस्य सत्त्वप्रसङ्गात् । न शनैर्ग्रहणं व्यञ्जनाव-
ग्रह, चक्षुर्मनसोरपि तदस्तिस्त्वतस्तयोर्व्यञ्जनावग्रहस्य सत्त्वप्रसङ्गात् ।
न च तत्रशनैर्ग्रहणमसिद्धमक्षिप्रभङ्गाभावे अष्टचरधारिशचक्षुर्मनसिज्ञान-
भेदस्यासत्त्वप्रसङ्गात् ।—अप्राप्त पदार्थके ग्रहणको अर्थावग्रह और
प्राप्त पदार्थके ग्रहणको व्यजनावग्रह कहते हैं । स्पष्ट ग्रहणको अर्थाव-
ग्रह और अस्पष्टग्रहणको व्यजनावग्रह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि,
स्पष्टग्रहण और अस्पष्टग्रहण तो चक्षु और मनके भी रहता है, अतः
ऐसा माननेपर उन दोनोंके भी व्यजनावग्रहके अस्तित्वका प्रसंग
आवेगा । (परन्तु इसका सूत्र द्वारा निषेध किया गया है ।) यदि कहो
कि धीरे-धीरे जो ग्रहण होता है वह व्यजनावग्रह है, सो भी ठीक
नहीं है, क्योंकि इस प्रकारके ग्रहणका अस्तित्व चक्षु और मनके भी
है, अतः उनके भी व्यजनावग्रहके रहनेका प्रसंग आवेगा । और उन
दोनोंमें शनैर्ग्रहण असिद्ध नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेसे अक्षिप्र
भङ्गा अभाव होनेपर चक्षुनिमित्तक अङ्गानि स मतिज्ञानके भेदोंके
अभावका प्रसंग आवेगा । (घ १३/४, ४ २४/२०/१)

४ अर्थावग्रह व व्यजनावग्रहका स्वामित्व

त सु १/१६ न चक्षुरनिन्द्रियाम्याम् ११६

स सि १/१६/१९ चक्षुषा अनिन्द्रियेण च व्यञ्जनावग्रहा न भवति ।
—चक्षु और मनसे व्यजनावग्रह नहीं होता ।

घ १/१, १ १४/३४४/१ चक्षुर्मनसोरर्थावग्रह एव, तयो प्राप्तार्थग्रहणानु-
पलम्भात् । शेषाणामिन्द्रियाणां द्वावप्यवग्रहौ भवत ।—चक्षु और
मनसे अर्थावग्रह ही होता है क्योंकि, इन दोनोंमें प्राप्त अर्थका
ग्रहण नहीं पाया जाता है । शेष चारों ही इन्द्रियोंके अर्थावग्रह
और व्यजनावग्रह ये दोनों भी पाये जाते हैं । (त सु १/१७-१६)
(घ ६/४, १, ४४/१६०/२) (घ १३/४, ४ २१/२२४) (ज प १३/६८ ६६)

५ अप्राप्तकारी ३ इन्द्रियोंमें अवग्रह सिद्धि

घ १/१, १, १४४/३४४/१ तत्र चक्षुर्मनसोरर्थावग्रह एव तयो प्राप्तार्थग्रहणानु-
पलम्भात् । शेषाणामिन्द्रियाणां द्वावप्यवग्रहौ भवत । शेषेन्द्रियेव्य-
प्राप्तार्थग्रहणं नोपलभ्यत इति चेन्न एकेन्द्रियेषु योग्यदेशस्थितनिधिषु
निधिस्थितप्रदेश एव प्रारोहमुपव्यन्याधनपत्तिस्त, शेषेन्द्रियाणां-
मप्राप्तार्थग्रहणं नोपलभ्यत इति । यच्च पलम्परित्रकालगोचरमशेष
पर्यच्छेदस्यदनुपलभ्यत्वाभावेऽपिभव्यत् । न कारस्त्वेनाप्राप्तमर्थ-
स्यानि सूतस्त्वमनुक्तं वा भूम्हे यतस्त्वदवग्रहादिनिदानमिन्द्रियाणां-
मप्राप्तकारित्वमिति । किं तर्हि । कथं चक्षुरनिन्द्रियाम्यामनि-
सृतानुक्तावग्रहादितयोरपि प्राप्यकारित्वप्रसङ्गादिति चेन्न, योग्यदेशा-
वस्थितेरेव प्राप्तेरभिधानात् । रूपस्याचक्षुषाभिसुखतया न तत्परि-
च्छेदिना चक्षुषा प्राप्यकारित्वमनि सृतानुक्तावग्रहादिसिद्धे ।—चक्षु
और मनसे अर्थावग्रह ही होता है, क्योंकि, इन दोनोंमें प्राप्त अर्थका
ग्रहण नहीं पाया जाता है । शेष चारों ही इन्द्रियोंके अर्थावग्रह और
व्यजनावग्रह ये दोनों भी पाये जाते हैं । प्रश्न—शेष इन्द्रियोंमें अप्राप्त
अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है इसलिए उनसे अर्थावग्रह नहीं
होना चाहिए । उत्तर—नहीं क्योंकि, एकेन्द्रियोंमें उनका योग्य
वशमें स्थित निधिवाले प्रदेशोंमें ही अक्षुरोंका फैलाव अन्यथा मन
नहीं सकता है । प्रश्न—स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना
मन जाता है तो मन जाओ । फिर भी शेष इन्द्रियोंके अप्राप्त अर्थका
ग्रहण करना नहीं पाया जाता है । उत्तर—नहीं क्योंकि यदि
हमारा ज्ञान त्रिकाल-गोचर समस्त पदार्थोंको जाननेवाला होता तो
अनुपलब्धका अभाव मिश्र हा जाता । दूसरे पदार्थक पूरी तरहसे
अनि सूतपनेको और अनुत्पत्तपनेको हम अप्राप्त नहीं कहते हैं, जिससे
उनके अवग्रहादिका कारण इन्द्रियोंका अप्राप्तकारीपणा होवे ।
प्रश्न—तो फिर अप्राप्तकारीपनेसे क्या प्रयोजन है । और यदि
पूरी तरहसे अनि सूतव और अनुत्पत्तवको अप्राप्त नहीं कहते हो तो

१ भेद व लक्षण

- १ अवधिज्ञान सामान्यका लक्षण
- २ अवधिज्ञानके भेद प्रभेद (सम्यक् व मिथ्या, गुण-प्रत्यय, देशावधि-परमावधि आदि)
- ३ सम्यक् मिथ्या अवधिका लक्षण
- ४ गुण प्रत्यय व भवप्रत्ययका लक्षण
- ५ देशावधि आदि भेदोंके लक्षण
- ६ वर्द्धमान हीयमान आदि भेदोंके लक्षण

२ अवधिज्ञान निर्देश

- १ अवधिज्ञानमें अवधि पदका सार्थक्य
- २ प्रत्येक समय नया ज्ञान उत्पन्न होता है
- ३ अवधि व मति श्रुतज्ञानमें अन्तर
- ४ अवधि व मन पर्यय ज्ञानमें अन्तर
- ५ अवधिकी अपेक्षा मन पर्यय विशुद्ध कैसे है ?
- ६ मोक्षमार्गमें अवधि व मन पर्ययका कोई मूल्य नहीं
- ७ पचमकालमें अवधि व मन पर्यय सम्भव नहीं
- ८ पचमकालमें भी कदाचित् अवधि सम्भव है
- ९ मिथ्यादृष्टिका अवधिज्ञान विभग कहलाता है
- * अवधिज्ञान निसर्गज होता है —दे अधिगम
- * अवधिज्ञान क्षायोपशमिक कैसे है —दे मतिज्ञान २/४
- ३ अवधि व मनः पर्ययकी कथचित् प्रत्यक्षता परोक्षता
 - * अवधि व मन पर्ययकी देश प्रत्यक्षता —दे प्रत्यक्ष १/१
 - १ अवधि व मन पर्यय कर्म प्रकृतियोंको प्रत्यक्ष जानते हैं
 - २ दोनों कर्मवद्ध जीवको प्रत्यक्ष जानते हैं
 - ३ अवधि मन पर्ययकी कथचित् परोक्षता
 - ४ दोनोंकी प्रत्यक्षता परोक्षताका समन्वय
 - ५ अवधि व मतिज्ञानकी प्रत्यक्षतामें अन्तर
- ४ अवधिज्ञानमें इन्द्रियों व मनके निमित्तका सद्भाव व असद्भाव
 - १ अवधि ज्ञानमें कथचित् मनका सद्भाव
 - २ अवधिज्ञानमें मनके निमित्तका अभाव
 - * विना इन्द्रियोंके प्रत्यक्षज्ञान कैसे हो ? —दे प्रत्यक्ष २/४
- ५ अवधि ज्ञानके उत्पत्ति-स्थान व करण चिह्न विचार
 - १ देशावधि गुण प्रत्यय ज्ञानकरण चिह्नसे उत्पन्न होता है और शेष सब सर्वांग से
 - २ करण चिह्नोंके आकार
 - ३ चिह्नोंके आकार नियत नहीं हैं
 - ४ शरीरमें शुभ व अशुभ चिह्नोंका प्रमाण व अवस्थान
 - ५ सम्यक्त्व व मिथ्यात्वके कारणकरण-चिह्नोंमें परिवर्तन

- ६ सम्यक्त्व व मिथ्यात्व कृत चिह्नभेद सम्बन्धी मतभेद ।
- ७ सर्वांग क्षयोपशमके सद्भावमें करण-चिह्नोंकी क्या आवश्यकता ?
- ८ सर्वांगकी वजाय एकदेशमें ही क्षयोपशम मान लें तो ?
- * करण चिह्नोंके अधीन होनेके कारण अवधिज्ञान परोक्ष क्यों न हो जायेगा ? —दे ऊपर क्रम ८
- ९ करणचिह्नोंमें भी ज्ञानोत्पत्तिका कारण क्षयोपशम ही है
- ६ अवधिज्ञानके भेदों सम्बन्धी विचार
 - १ भव प्रत्यय व गुण प्रत्ययमें अन्तर
 - २ क्या भव प्रत्ययमें ज्ञानावरणका क्षयोपशम नहीं है ?
 - ३ भव प्रत्यय है तो भवके प्रथम समय ही उत्पन्न क्यों नहीं होता ?
 - ४ देव नारकी सम्यग्दृष्टियोंके अवधिज्ञानको भवप्रत्यय कहें या गुणप्रत्यय ?
 - ५ सभी सम्यग्दृष्टि आदिकोको गुणप्रत्यय ज्ञान उत्पन्न क्यों नहीं होता ?
 - ६ भव व गुण प्रत्ययमें देशावधि आदि विकल्प
 - ७ परमावधिमें कथचित् देशावधिपना
 - ८ देशावधि आदि भेदोंमें वर्द्धमान आदि अथवा प्रतिपाती आदि विकल्प
 - ९ देशावधि आदि भेदोंमें चारित्र्यादि सम्बन्धी विशेषताएँ
- ७ अवधिज्ञानका स्वात्मित्व
 - १ सामान्यरूपसे अवधिज्ञान चारो गतियोंमें सम्भव है
 - २ भवप्रत्यय केवल देव नारकियों व तीर्थंकरोंको होता है
 - ३ गुणप्रत्यय केवल मनुष्य और तीर्थंचोमें ही होता है
 - ४ भवप्रत्यय ज्ञान सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि दोनोंको होता है
 - ५ गुणप्रत्यय अवधिज्ञान केवल सम्यग्दृष्टियोंको ही होता है
 - ६ उत्कृष्ट देशावधि मनुष्योंमें तथा जघन्य मनुष्य व तीर्थंच दोनोंमें सम्भव है पर देव व नारकियोंमें नहीं
 - ७ उत्कृष्ट देशावधि उत्कृष्ट सयत्तोंको ही होता है पर जघन्य ज्ञान असयत्त सम्यग्दृष्टि आदिकोको भी सम्भव है
 - ८ मिथ्यादृष्टियोंमें भी अवधिज्ञानकी सम्भावना
 - ९ परमावधि व सर्वावधि चरमशरीरी सयत्तोंमें ही होता है
 - १० अपर्याप्तावस्थामें अवधिज्ञान सम्भव है पर विभग नहीं
 - ११ सजी समूच्छेदोंमें अवधिज्ञानकी सम्भावना व असम्भावना
 - १२ अपर्याप्तावस्थामें अवधिज्ञानके सद्भाव और विभगके अभाव सम्बन्धी शका
- ८ अवधिज्ञानकी विषय सीमा
 - १ द्रव्यकी अपेक्षा रूपीकी ही जानता है
 - २ द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा अनन्तको नहीं जानता ।

३ क्षेत्रप्ररूपणाका स्पष्टीकरण

४ देवोंके ज्ञानकी क्षेत्रप्ररूपणा परिमाण नियामक नहीं स्थान-नियामक है

५ कालकी अपेक्षा अवधिज्ञान सावधि त्रिकालग्राही है

६ भावकी अपेक्षा पुद्गल व सयोगी जीवकी पर्यायिको जानता है

* मूर्त ग्राहक अवधि ज्ञान अमूर्त जीवके भावको कैसे जानता है ? —दे मन पर्याय ६

७ अवधिज्ञानके विषयभूत क्षेत्रादिकोमें वृद्धि हानिका क्रम

८ अ-धिज्ञान विषयक प्ररूपणाएँ

१ द्रव्य व भाव सम्बन्धी सामान्य नियम

२ नरकगतिमें देशावधिका विषय

३ भवनत्रिक देवोंमें देशावधिका विषय

४ कल्पवासी देवोंमें देशावधिका विषय

५ निर्यच व मनुष्योंमें देशावधिका विषय

६ परमावधि व सर्वावधिका विषय

७ देशावधिकी क्रमिक वृद्धिके १९ काण्डक

१० अन्य सम्बन्धित विषय

* अवधिज्ञानके स्वामित्व सम्बन्धी गुण-स्थान, जीवसमास मार्गणास्थान आदि २० प्ररूपणाएँ —दे सत्

* अवधिज्ञान विषयक सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ

—दे वह वह नाम

* अवधिज्ञानियोंमें कर्मोंका वन्ध उदय सत्त्व आदि

—दे वह वह नाम

* सभी मार्गणाओंमें आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम

—दे मार्गणा

* प्रत्येक तीर्थकरके तीर्थमें अवधिज्ञानियोंका प्रमाण

—दे तीर्थकर ४

* विभग ज्ञानके दर्शन पूर्वक होनेका विधि निषेध

—दे दर्शन ६/२

१ भेद व लक्षण

१. अवधिज्ञान सामान्यका लक्षण

१ व्युत्पत्ति

पं सं १/१२३ अवहीयदिति ओही सीमाणाजेत्ति वणिणं समए ।
—जो द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा अवधि अर्थात् सीमासे युक्त अपने विषयभूत पदार्थको जाने, उसे अवधिज्ञान कहते हैं । सीमासे युक्त जाननेके कारण परमाणुमें इसे सीमा ज्ञान कहा गया है । (ध १/१, १११/१८४/३६६) (गो जी १/१/३००/७६७) ।

सं ति १/६/६४/३ अवाग्धानाववच्छिन्नविषयाह्वा अवधि ।—अधिकतर नीचेके विषयको जाननेवाला होनेसे या परिमित विषयवाला होनेसे अवधि कहलाता है ।

रा वा १/६/३४/१४ अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्युभयहेतुसन्निधाने सति अवाग्धीयते अवाग्धाति अवगधानमात्र वावधि । अव-

शब्दोऽथ पर्यायवचन 'यथा अध-क्षेपणम् अवक्षेपणम्' इति । अधो-गतभूयद्रव्योविषयो ह्यवधि । अथवा अवधिर्मर्यादा, अवधिना प्रतिबद्ध ज्ञानमवधिज्ञानम् । तथाहि—'रूपिन्ववधि' (त सु १/१२७) इति ।—'अव' पूर्वक 'धा' धातुमे कर्म आदि साधनामें अवधि शब्द यनता है । तहाँ न १—'अव' शब्द अध '-वाची है जैसे अध क्षेपणको अवक्षेपण कहते हैं अवधिज्ञान भी नीचेकी ओर बहुत पदार्थोंको विषय करता है । (ध १३/६ ४/२१/२१०/१२) अधोगौरव-धमरभाव पुद्गल अवाह नाम त दधाति परिच्छिन्नतोति अवधि — नीचे गौरवधर्मवाला होनेसे पुद्गलकी अवाग् गृह्णा है उसे जो धारण करता है अर्थात् जानता है वह अवधि है—२ अथवा अवधि शब्द मर्यादार्थक है अर्थात् द्रव्य क्षेत्रकालादिकी मर्यादासे सीमित ज्ञान अवधिज्ञान है ।—(रा वा १/२०/१४/७८/२०) (ध ६/१६-१, १४/२६/८) (ध ६/४ १, २/१२/१/४) (ध ६/४, ६, २/१२०/१२) (क पा १/१-५१२/१६/२)

२ मूर्तक पदार्थका प्रत्यक्ष सीमित ज्ञान

ति प ४/६७२ अतिमवदताह परमाणुपट्टदिसुत्तिदन्वाह । ज पञ्चखलह जाणह तमोहिणाण ति णायव्व ६६७३ । —जो प्रत्यक्षज्ञान अन्तिम स्कन्ध पर्यन्त परमाणु आदिक मूर्त द्रव्योंको जानता है उसको अवधिज्ञान जानना चाहिए । (ज वा १/३/६६) (न दो २/५३/३४) क पा १/१/६२८/४३ परमाणुपञ्जतासेमपोगगदव्वाणमसखिज्जलोभमे-च्छेत्तकालभावाणं कम्मसमधवमेण पोगगभावमुवगयजाव [जीव-दन्वा] णं च पञ्चखलेण [परिच्छिन्ति कूणह आहिणाण]—महा-स्कन्धसे लेकर परमाणु पर्यन्त समस्त पुद्गल द्रव्योंको, अस्मर्यात लोकप्रमाण क्षेत्र, काल और भावोंको तथा कर्मक सम्बन्धसे पुद्गल भावको प्राप्त हुए जीवोंका जो प्रत्यक्षरूपसे जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं ।

ध १/१, १, २/६३/७ ओहिणाणं णाम दव्ववेत्तकालभावविषयिप्पिय पोगगल-दव्व पञ्चखल जाणदि । —द्रव्य क्षेत्र काल और भावके विषयसे अनेक प्रकारके पुद्गल द्रव्योंको जो प्रत्यक्ष जानता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं । (ध १/१, १, १६/३६८/२)

द्र सं १/६/१०/१ अवधिज्ञानावरणीयक्षयोपशमान्मूर्त वस्तु यदेक-देशप्रप्रक्षेण सविकल्पं ज्ञानाति तद्ववधिज्ञानम् । —अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे मूर्तक पदार्थको जो एकदेश प्रत्यक्ष द्वारा सविकल्प जानता है वह अवधिज्ञान है ।

स भ त ४७/१३ प्रत्यक्षस्यापि विकलस्यावधि मन पर्ययलक्षणस्येन्द्रिया-निन्द्रियान्पेक्षत्वे सति स्पष्टतया स्वार्थव्यवसायारमक स्वरूपम् । —इन्द्रिय और अनिन्द्रिय अर्थात् मनकी कुछ भी अपेक्षा न रखकर केवल आराममात्रकी अपेक्षासे निर्मलता पूर्वक स्पष्ट रीतिसे अपने विषयभूत पदार्थोंका निश्चय करना —यह विकल प्रत्यक्षरूप अवधि तथा मन पर्याय ज्ञानका स्वरूप है ।

२. अधिज्ञानके भेद प्रभेद

१ सम्यक् व मिथ्या अवधिकी अपेक्षा

त सु १/३१ मत्तिश्रुतावधया विपर्ययश्च । —मति, श्रुत और अवधि ये तीन (ज्ञान) विषयक भी होते हैं ।

सं मि १/३१/१३८/४ अवधिज्ञानेन सम्यग्गृहि रूपिणोऽर्थानवगच्छति तथा मिथ्यागृहि विभगज्ञानेनेति । —सम्यग्गृहि अवधिज्ञानके द्वारा रूपी पदार्थोंको जानता है और मिथ्यागृहि विभगज्ञानके द्वारा ।

रा वा १/३१/६२/१२ सम्यग्दर्शनमिथ्यादर्शोदयविशेषोपात्तेषां प्रमाणा द्विधा बहूभिर्भवति — अवधिज्ञान विभगज्ञानमिति । —सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनके उदयसे उन तीनों (मति श्रुत व अवधि) के दो दो प्रकार बन जाते हैं । (तहाँ अवधिज्ञान के दो प्रकार हैं) —अवधिज्ञान और विभग ज्ञान (मिथ्यावधिज्ञान) ।

२ गुणप्रत्यय व भवप्रत्ययकी अपेक्षा

प ख १३/४,४,४३/सू १३/२६० त च ओहिणाण दुविह भवपञ्चद्वय गुणपञ्चद्वय च ॥ ४३ ॥ — भवप्रत्यय व गुणप्रत्ययके भेदसे अवधिज्ञान दो प्रकार है । (रा वा १/२०/१४/७८/२६) (गो जी /सु /३०/७६६) स सि १/२०/१२४/३ द्विषोऽवधिर्भवप्रत्यय क्षयोपशमनिमित्तश्चेति । — अवधिज्ञान दो प्रकार है — भवप्रत्यय और क्षयोपशम निमित्तक ।

३ अवधिज्ञानके अनेक भेदोका निर्देश

प ख १३/४,४/सूत्र ४६/२६२ त च अण्येविह देमोही परमोही सव्वोही होयमाणं वड्डमाणं अवट्ठिद अणवट्ठिद अणुगामी अणुगामी सप्पाहिनादोअप्यहिवादो एयस्सेतमण्येयस्सेत ॥ ४६ ॥ — वह (अवधिज्ञान) अनेक प्रकार है — देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, होयमान, वर्द्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, सप्रतिपाती, अप्रतिपाती एक क्षेत्रावधि और अनेक क्षेत्रावधि ।

रा वा १/२४/८१/२७ अनुगाम्यननुगामिर्भवमानहीयमानावस्थितानवस्थितभेदात् पड्विध ॥ ४ ॥ पुनरपरेऽवधेस्त्रयो भेदा — देशावधि परमावधि सर्वावधिश्चेति । तत्र देशावधिस्त्रेधा जघन्य उत्कृष्ट जघन्योत्कृष्टश्चेति । तथा परमावधिरपि त्रिधा । सर्वावधिरविकल्पत्वादेक एव । वर्द्धमानो, होयमान अवस्थित अनवस्थित अनुगामी अननुगामी अप्रतिपाती प्रतिपाती इत्येतेऽष्टौ भेदा देशावधे भवन्ति । होयमानप्रतिपातिभेदवर्जा इतरे पड्वेदा भवन्ति परमावधे । अवस्थितोऽनुगाम्यननुगाम्यप्रतिपाती इत्येते चत्वारो भेदा सर्वावधे । — अवधिज्ञानके अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, होयमान, अवस्थित और अनवस्थित, ये छह भेद हैं । देशावधि, परमावधि और सर्वावधिके भेदसे भी अवधिज्ञान तीन प्रकारका है । देशावधि और परमावधिके जघन्य, उत्कृष्ट और जघन्योत्कृष्ट ये तीन प्रकार हैं । सर्वावधि एक ही प्रकारका है । वर्द्धमान, होयमान अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, अप्रतिपाती और प्रतिपाती ये आठ भेद देशावधिमें होते हैं । होयमान प्रतिपाती, इन दोको छोड़कर छेप छ भेद परमावधिमें होते हैं । अवस्थित, अनुगामी, अननुगामी और अप्रतिपाती ये चार भेद सर्वावधिमें होते हैं ।

(प का /ता वृ /४३/उद्भूत प्रसेपक गाथा स ३—देशावधि आदि तीन भेद) (प स /प्रा /१/२२४—वर्द्धमान आदि छ भेद), (श्लो वा ४/१/२२/१०—१७/१६—२१ रा वा वाले सर्व विकल्प), (ह पु १०/१६२—देशावधि आदि तीन भेद), (क पा १/१६/१३/१७/१—देशावधि आदि तीन भेद) (घ ६/२,६—१,१४/२४/६—देशावधि आदि तीन भेद) (घ ६/४,१,२/१४/१,६—देशावधि आदि तीन तथा देशावधिके जघन्य उत्कृष्टादि तीन भेद) (घ ६/४,१,४/४८/४ सर्वावधिका एक ही विकल्प तथा परमावधिके जघन्य उत्कृष्टादि तीन विकल्प) गो जी /सू ३७२/७६६—वर्द्धमान आदि छ तथा देशावधि आदि तीन भेद), (ज प १३/४१—देशावधि आदि तीन भेद), (प सं स १/२२२—वर्द्धमान आदि छ भेद)

घ /पु १३/४,४,४६/२६४/४ तच्च तिविह खेत्ताणुगामी भवानुगामी खेत्त-भवानुगामी चेदि । — वह (अनुगामी) तीन प्रकारका है — क्षेत्रानुगामी भवानुगामी और क्षेत्रभवानुगामी । (गो जी /जी प्र ३७२/७६६/८)

३. सम्यक् मिथ्या अवधिके लक्षण

१ सम्यगवधिका लक्षण—दे अवधिज्ञान सामान्य

२. मिथ्यावधिका लक्षण

प स/प्रा १/१२० विवरोओहिणाणं खओवसमियं च कम्भीज च । वेभंगो त्ति व बुच्चह समत्तणाणीहि समयमिह । — जो क्षयोपशम अवधिज्ञान मिथ्यात्वसे संयुक्त होनेके कारण विपरीतस्वरूप है, और नवीन कर्मका बीज है उसे आगममें कुअवधि या विभङ्ग ज्ञान कहा गया है । (घ १/१,२,१२४/१८१/३६६) (गो जी/सू १०४/६५) (प स / स १/२३२) (प का /त प्र ४१/८२) ।

४ गुणप्रत्यय व भवप्रत्ययका लक्षण

स सि १/२१/१२४/६ भव प्रत्योऽस्य भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां वेदितव्य ।

स सि १/२२/१२७/३ तो निमित्तमस्येति क्षयोपशमनिमित्त । — जिस अवधिज्ञानके हानेमें भव निमित्त है, वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है । वह देव और नारकियोंके जानना चाहिए । — इन दोनों अर्थात् सर्व-घाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय और उन्हींके सदवस्थारूप उपशमके निमित्तसे जो होता है वह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान है । (रा वा १/२१/२/७६/११ व ८१/३)

घ १३/४,४,४३/२६०/४ भव उत्पत्ति प्रादुर्भाव स प्रत्यय कारण यस्य अवधिज्ञानस्य तद् भवप्रत्ययकम् ।

घ १३/४,४ ४३/२६१/१० अणुवतमहावतोनि सम्यक्त्वाधिष्ठानानि गुण कारणं यस्यैवधिज्ञानस्य तद्गुणप्रत्ययकम् । — भव, उत्पत्ति और प्रादुर्भाव ये पर्याय नाम हैं । जिस अवधिज्ञानका निमित्त भव (नरक व देव भव) है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है । — सम्यक्त्वसे अधिष्ठित अणुवत और महावत गुण जिस अवधिज्ञानके कारण हैं वह गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है । (गो जी /जी प्र ३७०/७६७/४)

५ देशावधि आवि भेदोंके लक्षण

घ १३/४,४,४६/३२३/३ परमा ओही मज्जाया जस्स णाणस्स त परमो-हिणाण । किं परम । असंखेज्जलोगसेत्तसजमविमप्पा । देस सम्मत, सजमस्स अवयवभावादा, तमोही मज्जाया जस्स णाणस्स त देसोहिणाण । सर्वं केवलणाण तस्स विसओ जो जो अर्थो सो विसव्व उवयारादो । सव्वमाही मज्जाया जस्स णाणस्स त सव्वो-हिणाण । — परम अर्थात् अमर्यादा लोकमात्र समयभेद ही जिस ज्ञानकी अवधि अर्थात् मर्यादा है वह “परमावधि ज्ञान” कहा जाता है । देशका अर्थ सम्यक्त्व है, क्योंकि वह समय का अवयव है । वह जिस ज्ञानकी अवधि अर्थात् मर्यादा है वह “देशावधिज्ञान” है । सर्वका अर्थ केवलज्ञान है, उसका विषय जो जो अर्थ होता है, वह भी उपचारसे सर्व कहलाता है । सर्व अवधि अर्थात् मर्यादा जिस ज्ञानकी होती है वह “सर्वावधिज्ञान” है ।

घ ६/४,१,३/४१/६ परमो ज्येष्ठ, परमप्रचासौ अवधिरच परमावधि ।

घ ६/४,१,४/४७/६ सर्वं विश्व कृत्स्नमवधिर्मर्यादा यस्य स बोध सर्वा-वधि । एतथ सव्वसदो सयत्तदव्ववाचओ ण घेत्तव्वो, परदो अविज्ज-माणदव्वस्स ओहित्ताणुवक्खोदो । किंतु सव्वसदो सव्वेगदेसमिह रूपयदे वट्टमाणो घेत्तव्वो । तेण सव्वरूपयदं ओही जिस्से त्ति सधो कायव्वो । अथवा सरति गच्छति आकुञ्चनविसर्पणादीनीति पुद्गल-द्रव्यं सर्वं, तमोही जिस्से सा सव्वोही ।

घ ६/४,१,४/४२/६ अन्तरच अवधिरच अन्तावधी, न विद्यते तौ यस्य स अनन्तावधि । — परम शब्दका अर्थ ज्येष्ठ है । परम ऐसा जो अवधि वह परमावधि है । — विश्व और कृत्स्न ये ‘सर्व’ शब्दके समा-नार्थक शब्द हैं । सर्व है मर्यादा जिस ज्ञानकी, वह सर्वावधि है । यहाँ सर्व शब्द समस्त द्रव्यका वाचक नहीं ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि जिसके परे अन्य द्रव्य न हो उसके अवधिपना नहीं बनता । किंतु ‘सर्व’ शब्द सर्वके एकदेशरूप रूपी द्रव्यमें वर्तमान ग्रहण करना चाहिए । अथवा जो आकुञ्चन और विसर्पणादिकोंको प्राप्त हो वह पुद्गल द्रव्य सर्व है, वही जिसकी मर्यादा है वह “सर्वावधि” है । — अन्त और अवधि जिसके नहीं हैं वह “अनन्तावधि” है । (विशेष दे० अवधिज्ञान ६)

६ वर्द्धमान होयमान आदि भेदों के लक्षण

१ वर्द्धमान आदि छ भेदों के लक्षण

स सि १/२२/१२७/६ कश्चिदवधिमिस्वरप्रकाशवद्गच्छन्तमनुगच्छति । कश्चित्तानुगच्छति तत्रैवानपि सति उन्मुक्तप्रसन्नादेऽपि पुरुषवचनवत् । अपरोऽवधि अरणिनिर्मयनोरपन्नपुष्पवर्णपञ्चामानेन्धननिचय-

समिप्रापकवस्तुसम्यग्दर्शनादिगुणविशुद्धपरिणामसन्निधानाधारपरिमाण
उत्पन्नस्ततो यद्गते आ असंख्येयनोकेभ्यः । अपरोऽवधिपरिच्छिन्नो-
पादानसन्तरयमिनिशिलावस्तुसम्यग्दर्शनादिगुणहानिसन्निधानपरिमाणम-
द्विधोगाद्यपरिमाण उत्पन्नस्ततो होयते आ अशुलस्यासंख्येयभागात् ।
इतरोऽवधि सम्म्यग्दर्शनादिगुणवस्थानाधारपरिमाण उत्पन्नस्तपरि-
माण एवावधिष्ठते न होयते नापि यद्यते लिङ्गवत् आ भवत्युपादाकेवल-
ज्ञानोत्पत्तेर्वा । अन्धोऽवधि सम्म्यग्दर्शनादिगुणवृद्धिहानियोगाद्य-
स्परिमाण उत्पन्नस्ततो यद्गते ते गान्धेन वधितस्य हीयते च गान्धेन-
हृतव्यं वायुवेगप्रेरितजलोर्मिवत् । एष पटुविधाऽवधिर्भवति ।
—१ कोई अवधिज्ञान, जैसे सूर्यका प्रकाश उमक साथ जाता है, वैसे
अपने स्वामीका अनुसरण करता है । उसे "अनुगामी" कहते हैं ।
(विशेष देखी नीचे) २ कोई अवधिज्ञान अनुसरण नहीं करता,
किन्तु जैसे विमुख हुए पुरुष के प्रश्नके उत्तर स्वरूप दूसरा पुरुष जो
बचन कहता है वह यहाँ छूट जाता है, विमुख पुरुष उसे ग्रहण नहीं
करता है, वैसे ही यह अवधिज्ञान भी यहाँ पर छूट जाता है ।
(उसे अनुगामी कहते हैं । विशेष देखो आगे) । ३ कोई अवधि
ज्ञान जगल के निर्मन्थन से उत्पन्न हुई और सूखे पत्तासे उपचोयमान
इंधनके समुदायसे वृद्धिको प्राप्त हुई अग्निके समान सम्यग्दर्शनादि
गुणोंकी विशुद्धिरूप परिणामोंके सन्निधान वश जितने परिणाममें
उत्पन्न होता है उससे (आगे) अमरपातलोक जाननेकी योग्यता
होने तक बढ़ता जाता है । (वह "वर्द्धमान" है) । ४ कोई अवधिज्ञान
परिमित उपादान सत्तिवासी अग्निशिलाके समान सम्यग्दर्शनादि
गुणोंकी हानिसे हुए संक्षेपा परिणामोंके बढ़नेसे जितने परिमाणमें
उत्पन्न होता है उससे (लेकर) मात्र अगुनके असंख्यातव्य भाग प्रमाण
जाननेकी योग्यता होने तक घटता चला जाता है । (उसे "हीनमान"
कहते हैं) । ५ कोई अवधिज्ञानसम्यग्दर्शनादि गुणोंके समानरूपसे
स्थिर रहनेके कारण जितने परिमाणमें उत्पन्न होता है उतना ही बना
रहता है । पर्यायके नाश होने तक या केवलज्ञानके उत्पन्न होने तक
शरीरमें स्थित मस्सा आदि चिन्होंबस न घटता है न बढ़ता है उसे
"अवस्थित" कहते हैं । ६ कोई अवधिज्ञान वायुके वेगमें प्रेरित जलकी
तरंगोंके समान सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी कभी वृद्धि और कभी हानि
होनेसे जितने परिमाणमें उत्पन्न होता है उससे बढ़ता है जहाँ तक
उसे बढ़ना चाहिये, और घटता है जहाँ तक उसे घटना चाहिये
उसमें "अनवस्थित" कहते हैं । इस प्रकार अवधिज्ञान छ प्रकारका है ।
(रा वा १/२२/४/८१/१०) (ध १३/४.५.६/२६३/४) (गो जी /
जी प्र ३७३/७६१/७)

२ अनुगामी अनुगामी की विशेषताएँ

ध १३/४.५.६/२६४/४ जमोहिणाणमुपपण्ण सत् जीवेण सह गच्छदि
तमणुगामी णाम त च तिविह खेताणुगामी भवाणुगामी खेत्तभवाणु-
गामी चेदि । तस्य जमोहिणाण एयमिं खेत्ते उपपण्ण सत् सगपर-
पयोगेहि सगपरखेत्तेसु हिंदतस्स जीवस्स ण विणस्सदि त खेताणु-
गामी णाम । जमोहिणाणमुपपण्ण सत् तेण जीवेण सह अण्णभवं
गच्छदि त भवाणुगामी णाम । ज भरहेरावद-विदेहादिखेताणि
देव-जेरइय माणुमत्तिरिखवभव पि गच्छदि त खेत्तभवाणुगामिं ति
भण्णदि होदि । ज तमणुगामी णाम ओहिणाण त तिविह खेताण-
णुगामी भवाणुगामी खेत्तभवाणुगामी चेदि । [ज] खेत्ततरं ण
गच्छदि, भवसर चेव गच्छदि [त] खेताणुगामी ति भण्णदि ।
ज भवतरं ण गच्छदि खेत्ततरं चेव गच्छदि त भवाणुगामी
णाम । ज खेत्ततरभवांतराणि ण गच्छदि एक्कमिह चेव खेत्ते भवे च
पष्ठिमद त खेत्तभवाणुगामी ति भण्णदि ।—१ जो अवधिज्ञान
उत्पन्न होकर जीवके साथ जाता है वह अनुगामी अवधिज्ञान है ।
वह तीन प्रकारका है—क्षेत्रानुगामी भवानुगामी और क्षेत्रभवानु-
गामी । उनमें से जो अवधिज्ञान एक क्षेत्रमें उत्पन्न होकर स्वतः या
परप्रयोगसे जीवके स्वक्षेत्र या परक्षेत्रमें विहार करनेपर विनष्ट नहीं

होता है, यह क्षेत्रानुगामी अवधिज्ञान है । जो अवधिज्ञान
उत्पन्न होकर उम जोवके साथ अन्य भवमें जाता है वह भवानुगामी
है । जो भरत रेगास और विदेह आदि क्षेत्रों तथा एव नार्य
मनुष्य और तस्यच भव भी साथ जाता है वह क्षेत्रभवानुगामी
अवधिज्ञान है । २ जो अनुगामी अवधिज्ञान है यह तीन प्रकारका है—
क्षेत्रानुगामी भवानुगामी और क्षेत्रभवानुगामी । जो क्षेत्र-
ान्तरमें साथ नहीं जाता, भवान्तरमें ही साथ जाता है वह क्षेत्रानु-
गामी अवधिज्ञान कहलाता है । जो भवान्तर में साथ नहीं जाता,
क्षेत्रान्तरमें ही साथ जाता है वह भवानुगामी अवधिज्ञान है । जो
क्षेत्रान्तर और भवान्तर दोनोंमें साथ नहीं जाता, किन्तु एव ही क्षेत्र
और भवके साथ सम्बन्ध रखता है वह क्षेत्रभवानुगामी अवधिज्ञान
कहलाता है । (गो जी प्र ३७३/७६६/८)

३ प्रतिपाती व अप्रतिपाती के लक्षण

ध १३/४.५.६/२६४/१ जमोहिणाणमुपपण्ण सत् विण्मूनदो विणस्सदि
त मत्तविवादी णाम । जमोहिणाणं सत् केयमणाणेन समुपपण्णे
चेव विणस्सदि, अण्णहा ण विणस्सदि, तमत्तविवादी णाम ।—जो
अवधिज्ञान उत्पन्न होकर निम्न निराशका प्राप्त होता है वह
सप्रतिपाती अवधिज्ञान है । जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर केवल-
ज्ञानके उत्पन्न होने पर ही विनाश होता है अन्यथा विनष्ट नहीं होता
वह अप्रतिपाती अवधिज्ञान है ।

४ एकक्षेत्र व अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान के लक्षण

ध १३/४.५.६/२६४/६ जस्य ओहिणाणस्स जीवमगीस्स एगदसा
पत्तण हादि तमोहिणाणमंगवत्तेण णाम । जमोहिणाणं पट्टिणियदोत्त
वत्तिज्ज सरीरासंवायवसु वट्टिदि तमणेयत्तेस णाम ।—जिम
अवधिज्ञानता करण जान शरीरका एक देश होता है वह एकक्षेत्र
अवधिज्ञान है जो अवधिज्ञान प्रतिनियत क्षेत्रके सिवा शरीरके
मन अणवत्ता में रहता है वह अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान है । (विशेष दे
अवधिज्ञान ५)

अवधिज्ञान निर्देश

१ अवधिज्ञानमें अवधि पदका सायंय

क पा १/१/१२/१०/१ विमट्ठ तस्य ओहिस्सो पुरुबिदा । ज एद-
म्हादो हेट्ठिमव्वणाणाणि सारहिमाणि उवरिमणाण निरवहिस्समदि
जाणावणट्ठ । ज मणपञ्चवणाणेण विवहिचारो, तस्य वि अवहि-
णाणादि अप्पविसयत्तेण हेट्ठिमत्तम्भुमादो । पआगरस पुण ट्ठाण-
विवज्जासो सजमसहगयत्तेण वयविस्सेसपुत्तपायणपत्तो त्ति ण कोट्ठि
(चिच)दोसा ।—प्रश्न—अवधिज्ञानमें अवधि शब्दका प्रयोग किसलिए
किया गया है । उत्तर—इसमें नीचेके सभी ज्ञान सावधि हैं और
ऊपरका केवलज्ञान निरवधि है । इस बातका ज्ञान करानेके लिए
अवधिज्ञानमें 'अवधि' शब्दका प्रयोग किया है । यदि कहा जाय कि
इस प्रकारका कथन करनेपर मन पर्यय ज्ञानसे व्यभिचार होय जाता
है, सो भी यात नहीं है, क्योंकि मन पर्ययज्ञान भी अवधिज्ञानसे
अणुविषयबाला है इसलिए विषयकी अपेक्षा उसे अवधिज्ञानसे
नीचेका स्वीकार किया है । फिर भी संयमके साथ रहनेके कारण
मन पर्ययज्ञानमें जो विशेषता आती है उस विशेषताया दिखलानेके
लिए मन पर्ययकी अवधिज्ञानसे नीचे न रखकर ऊपर रखा है इस-
लिए कोई दोष नहीं है । (ध ६/४.१/२/११/४)

२ प्रत्येक समय नया ज्ञान उत्पन्न होता है

ध १३/४.५.६/२६४/१३ सोकस्स वि ओहिणाणस्स अवट्ठाणकालो होदि ।
कुदो । उपपण्णमिदियसमए चेव विणट्ठस्स ओहिणाणस्स एगसमयकालु-
वलभादो । जीवट्ठाणादिस्स ओहिणाणस्स जहण्णकालो अंतोमुहुत्तमिदि
पठिदो । तेण सह कथमेदं सुत्त न विरुज्ज्फेदो । ज एस दासा, ओहिणाण-
सामण्ण-विसेसापत्तयणादो । जीवट्ठाणे जेण सामण्णोहिणाणस्स कालो

परुविदो तेण तत्थ अतोमुहुत्तो होदि । एत्थ पुण ओहिणाणविसेसेण अहियारो, तेण एवक्खि ओहिणाणविसेसे एगसमयमच्छिद्रूण विदिय समए वड्ढीए हाणीए वा णाणतरमुवगयस्स एगसमओ लब्भदे । एव दोसिणिण समए आदि कादूण जाव समऊणावतिया प्ति ताव एव चैव परुवणा कायववा । कुदो । दो-तिणिणआदिसमए अच्छिद्रूण वि ओहि-णाणस्स वडिइहाणीहि णाणतरगमण सम्भवेदि । —वह (एक समय) किसी भी अवधिज्ञानका अवस्थानकाल होता है, क्योंकि उपपन्न होनेके दूसरे समयमें ही विनष्ट हुए अवधिज्ञानका एक समय काल उपलब्ध होता है । प्रश्न—जीवस्थान आदि(काल प्ररूपणा)में अवधि-ज्ञानका जघन्यकाल अन्तर्मुहुत्त कहा है । उसके साथ यह सूत्र कैसे विरोधको प्राप्त नहीं होता । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, अवधिज्ञान सामान्य और अवधिज्ञान विशेषका अवलम्बन लिया गया है । यत् जीवस्थानमें सामान्य अवधिज्ञानका काल कहा गया है, अतः वहाँ अन्तर्मुहुत्त मात्र काल होता है । किन्तु यहाँपर अवधि-ज्ञान विशेषका अधिकार है इसलिये एक अवधिज्ञानविशेषका एक समय काल तक रहकर दूसरे समयमें वृद्धि या हानिके द्वारा ज्ञानान्तरका प्राप्त हो जानेपर एक समय काल उपलब्ध होता है । इसी प्रकार दो या तीन आदि समयसे लेकर एक समय कम आबली काल तक इसी प्रकार कथन करना चाहिए, क्योंकि, दो या तीन आदि समय तक रहकर भी अवधिज्ञानकी वृद्धि और हानिके द्वारा ज्ञानान्तर रूपसे प्राप्ति सम्भव है ।

३ अवधि, मति व श्रुतज्ञानमे अन्तर

प ६/१,६-१,१४/२६/१ मदिद्वदणणेहितो एदस्स सावहियत्तेण भेदा-भावा पुघपरुवणं गिरत्थमयिदि च, ण एस दोसो, मदिद्वदणणाणि परोवखाणि, ओहिणाण, पुण पञ्चवत् तेण तहिसो तरस्स भेदुवलभा । मदिणाण पि पञ्चवत् निस्सदीदि चेण, मदिणाणेण पञ्चवत् वरधुस्स अपुनलभा । —प्रश्न—अवधि अर्थात् मर्यादा-सहित होनेकी अपेक्षा अवधिज्ञानका मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, इन दोनोंसे कोई भेद नहीं है, इसलिए इसका पृथक् निरूपण करना निरर्थक है । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान है । किन्तु अवधिज्ञान तो प्रत्यक्षज्ञान है । इसलिए उक्त दोनों ज्ञानोंसे अवधिज्ञानके भेद पाया जाता है । प्रश्न—मतिज्ञान भी तो प्रत्यक्ष दिखलाई देता है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, मतिज्ञानसे वस्तुका प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं होता । (विशेष दे आगे अवधिज्ञान ३)

४. अवधि व मनःपर्यय ज्ञानमे अन्तर

त सु १/२६ विशुद्धिसेत्रस्वामि विषयेभ्योऽवधि मनःपर्ययो । —विशुद्धि, संघ, स्वामी और विषयकी अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें भेद है । (त सा १/२६/२६)

रा वा ६/१०/१६/४१/३ मनःपर्ययज्ञान स्वविषये अवधिज्ञानवत् न स्वमुखेन वर्तते । कथं तर्हि । परकीयमन प्रणालिकया । ततो यथा मनोऽतोऽतानागतानर्थान्निश्चितयति न तु पश्यति । तथा मनःपर्ययज्ञानमपि भूतभविष्यन्तो वेति न पश्यति । वर्तमानमपि मनोविषयविशेषाकारेणैव प्रतिपद्यते । —मनःपर्ययज्ञान अवधिज्ञान-को तरह स्वमुखसे विषयोंको नहीं जानता, किन्तु परकीय मन प्रणालीसे जानता है । अतः मन जैसे अतीत और अनागत अर्थोंका विचार चिन्तन तो करता है, देखता नहीं है, उसी तरह मनःपर्यय-ज्ञानो भी भूत और भविष्यत्को जानता है, देखता नहीं । वह वर्त-मान भी मनको विषयविशेषाकारसे जानता है ।

प ६/१,६-१,१४/२६/१ आहिमणपज्जवणाणाण को विसेसो । उच्चदे—मणपज्जवणाण विस्तिट्ठसजमपच्चय, ओहिणाणे पुण भवपच्चय गुणपच्चय च । मणपज्जवणाणं मदिपुव्वं चैव ओहिणाण पुण आहि-दसणपुव्वं । एसो तेसि विसेसो । —प्रश्न—अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन दोनोंमें क्या भेद है । उत्तर—नमःपर्ययज्ञान विशिष्ट

संयमके निमित्तसे उत्पन्न होता है, किन्तु अवधिज्ञान भवके निमित्तसे और गुण अर्थात् क्षयोपशमके निमित्तसे उत्पन्न होता है । मनःपर्ययज्ञान तो मतिपूर्वक ही होता है, किन्तु अवधिज्ञान अवधि-दर्शनपूर्वक होता है । यह उन दोनोंमें भेद है ।

५. अवधि ज्ञानसे मनःपर्यय विशुद्ध यद्यो

रा वा १/२६/१/२६/१६ स्यान्मतम् अवधिज्ञानान्मनःपर्ययोऽविशुद्धतर । कुत । अल्पद्रव्यविषयत्वात् । यत् सर्वाविधिरूपद्रव्यानन्तभागो मनःपर्ययद्रव्यमिति, तत्र किं कारणम् । भूय पर्यायज्ञानात् । यथा कश्चिद् बहुलं शाखाणि व्याचष्टे एकदेशेन, न साक्ष्येन तद्गतमर्थं शक्नोति वक्तुं, अपरस्त्वेकं शाखं साक्ष्येन व्याचष्टे यावन्तस्त-स्याथस्तितात् सर्वान् शक्नोति वक्तुम्, अयं पूर्वस्माद् विशुद्धतरविज्ञानो भवति । तथा अवधिज्ञानविषयानन्तभागोऽपि मनःपर्ययो विशुद्ध-तर, यत्तत्तमनन्तभागं रूपादिभिर्बहुभिः पर्यायैः प्ररूपयति । —प्रश्न—अवधिज्ञानकी अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान अविशुद्धतर है, क्योंकि उसका द्रव्य विषय अल्प है । जैसे कि वहाँ भी है कि सर्वविधिके रूपोद्भवका अनन्तर्वा भाग मनःपर्ययका विषय है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, वह उस अपने विषयभूत द्रव्यकी बहुत पर्यायोंका जानता है । जैसे कोई बहुत से शाखाओं का एक देशरूपसे जानता है परन्तु साक्ष्यरूपसे उसको कहनेमें समर्थ नहीं है, और दूसरा कोई केवल एक ही शाखको जानता है परन्तु साक्ष्यरूपसे जितना कुछ भी उसके द्वारा प्रतिपादित अर्थ है उस सर्वको कहनेमें समर्थ है । तब यह पहलेकी अपेक्षा विशुद्धतर विज्ञान सम्मान्य जाता है । इसी प्रकार अवधिज्ञानके विषयका अनन्तर्वा भाग भी मनःपर्ययज्ञान विशुद्धतर है, क्योंकि उस अनन्तर्वा भाग द्रव्यकी बहुत अधिक पर्यायोंको प्ररूपित करता है ।

६ मोक्षमार्गमे अवधि व मनःपर्यय का कोई मूल्य नहीं

रा वा २/१३/७/६२ केवलस्य सकलश्रुतपूर्वकत्वोपदेशात् । —केवलज्ञान-की उत्पत्ति पूर्ववर्ती पूर्ण द्वादशांग श्रुतज्ञानरूप कारणसे होती हुई मानी है । (भाषाकार—केवलज्ञानमें अश्रुतयोगी श्रुतज्ञान है, अवधि मनःपर्यय नहीं है ।)

पं प ७/१६ अपि चारमसत्सिद्धये नियतं हेतु मतिश्रुते ज्ञाने । प्रान्त्य-द्वयं विना स्यान्मोक्षो न स्याद्वते मतिवृत्तम् १७/१६ । —आत्माकी सिद्धिके लिए मतिश्रुतज्ञान निश्चित कारण है क्योंकि अन्तर्के दो (अवधि व मनःपर्यय) ज्ञानोंके बिना मोक्ष हो सकता है, किन्तु मति श्रुतज्ञानके बिना मोक्ष नहीं हो सकता । रहस्यपूर्ण चिट्ठी "इस अनुभवमें मतिज्ञान व श्रुतज्ञान ही है, अन्य कोई ज्ञान नहीं ।"

७ पचम कालमे अवधि व मनःपर्यय सम्भव नहीं

म पु ४/१७६ परिवेषोपरत्तय धेतभानोनिशामनात् । नास्परत्तये तपोभूतसु समनःपर्ययोऽवधि १७/६६ । —(भरतके स्वप्नोंका फल बताते हुए भगवान् कहते हैं) परिमण्डलसे घिरे हुए चन्द्रमाको देखने से यह जान पड़ता है कि पचमकालके मुनियोंमें अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान नहीं होगा ।

८ पचम कालमें भी कदाचित् अवधिज्ञान सम्भव है

ति प ४/१६१० १६/१७ दादूण पिठगं समणा कालो य उत्तराणं पि । गच्छति आहिणाण उपपज्जइ तेसुपक्कम्मि १६/२२ । वकी पडि एकोक दुस्समसाहुस्स ओहिणाण पि । सधाय चाधुवणा थोवा आयंति तत्काले १६/२७ । —आचार्यागदरोंके पश्चात् २८५ वर्ष व्यतीत होनेपर वक्की नरपत्तिको पट बाँधा गया था १६/१० वह वक्की मुनियोंके आहारमेंसे भी अप्रतिष्ठा शुकक (के रूपमें) माँगने लगा १६/२१ । पचमण अप्रतिष्ठाके देखकर और 'यह अन्तराशोक काल है ऐसा समझकर [निराहार] चले जाते हैं । उस समय उनमेंसे किसी एकको अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है १६/२२ । इस प्रकार

एक हजार वर्षोंके पश्चात् पृथक् पृथक् एक एक कणको तथा पाँच सौ वर्षों पश्चात् एक एक उपकणकी होता है ॥१५१६॥ प्रत्येक कणकोके प्रति एक-एक बुधमाकालवर्ती साधुको अवधिज्ञान प्राप्त होता है और उसके समयमें चतुर्वर्ण्य सब भी अणु हो जाते हैं ॥१५१७॥

६. मिथ्यादृष्टिका अवधिज्ञान विभग कहलाता है

प सं/प्रा १/१२० वेभगो त्ति व वुच्चहं सम्मत्तणोहिं समयम्हि ।
—उसे (मिथ्यात्व संयुक्त अवधिज्ञानको) आगममें विभगज्ञान कहा गया है । (घ १/१.१.११६/१८१/३६६) (गो जी/मू ३०६/६६७) (प सं सं १/२३२) ।

घ १३/५६/६३/२६०/८ ग च मिच्छाद्दुत्तो ओहिणाण गरिथ त्ति वोत्त जुत्त मिच्छत्तपहचरिदओहिणाणस्सेव विहगणणववपसादो । — मिथ्यादृष्टियोंके अवधिज्ञान नहीं होता, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि, मिथ्यात्व सहचरित अवधिज्ञानको ही विभगज्ञान सझा है ।

३ अवधि व मन पर्ययकी कथचित् प्रत्यक्षता परोक्षता

१ अवधि-मनःपर्यय कर्मप्रकृतियोंको प्रत्यक्ष जानते हैं

घ १/१.१.१/६६/३ कर्मणामसरपातगुणश्रेणिनिर्जरा केपा प्रत्यसेति चैत्र, अवधिमन पर्ययज्ञानिनां सूत्रमयोयानानां तत्प्रत्ययमताया समुपलम्भात् । —प्रश्न—कर्मोंकी अनख्यात गुणश्रेणी रूपसे निर्जरा होती है, यह किनके प्रत्यक्ष है । उत्तर—ऐसी शका ठीक नहीं है, क्योंकि सूत्रका अध्ययन करनेवालोंको असंख्यात गुणित श्रेणीरूपसे प्रति समय कर्मनिर्जरा होत है, यह बात अवधिज्ञानी और मन पर्यय ज्ञानियोंको प्रत्यक्षरूपसे उचित होतो है ।

२ दोनों कर्मवद्ध जीवको प्रत्यक्ष जानते हैं

स सि ८/२६/४०६/३ एवं व्यापयतो सप्रपञ्च बन्धपदार्थ । अवधिमन - पर्ययकेवलज्ञानप्रथमप्रमाणम्यस्तदुपदिष्टागमानुमेय । —इस प्रकार (१४८ प्रकृतियोंके निरूपण द्वारा) बन्ध-पदार्थका विस्तारके साथ व्याख्यात किया । यह अवधिज्ञान मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान रूप प्रथम प्रमाणम्य है और इन ज्ञानवाले जीवों द्वारा उपदिष्ट आगमसे अनुमेय है ।

घ १३/५६/६३/२३३/४ दिष्टमुदायुद्धविसयणाणविमैसिदजीवो सदी णाम । तं पि पच्चक्ख पेत्तद्वि । अमुत्तो जीवो कथ मणवज्जवणाणेण मुचट्टपरिच्छेदियोहिणाणादो हेट्ठिमेण परिच्छिज्जवे । णमुत्तट्ठकम्मेहि अणादिबन्धनवद्धस्स जीवस्स अमुत्तत्तायुववत्तोदो । स्मृतिरमूर्त्त-चैद—न जीवादोपुषधूदसदोए अनुवर्त्तमा । अणागयरथविसयमदि-णाणेण विसैमिदजीवो मदी णाम । त पि पच्चक्ख जाणदि । वट्ट-माणस्थविसयमदिणाणेण विसैमिदजीवो चिंता णाम तपि पच्चक्खं वैत्तद्वि । —ट्ट श्रुत और अनुभूत अर्थको विषय करनेवाले ज्ञानसे विशेषित जीवका नाम स्मृति है, इसे भी वह (मन पर्ययज्ञानी) प्रथमसे देखता है । प्रश्न—यत जीव अमूर्त्त है अतः वह भूत अर्थको जाननेवाले अवधिज्ञानसे नीचेके मन पर्ययज्ञानके द्वारा कैसे जाना जाता है । उत्तर—नहीं क्योंकि, समारी जीव भूत आठ कर्मोंके द्वारा अनादिकालीन बन्धनसे बद्ध है इसलिए वह अमूर्त्त नहीं हो सकता । प्रश्न—स्मृति तो अमूर्त्त है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, स्मृति जीवसे पृथक् नहीं उपलब्ध होती है । अनागत अर्थका विषय करनेवाले मतिज्ञानसे विशेषित जीवकी मति सझा है । इसे भी वह प्रत्यक्ष जानता है । वर्तमान अर्थको विषय करनेवाले मतिज्ञानसे विशेषित जीवकी चिन्ता सझा है—इसे भी वह प्रत्यक्ष देखता है ।

३ अवधि मन पर्ययकी कथचित् परोक्षता

घ/पू ७०१ छग्रस्यायामावरणेन्द्रियसहायसापेक्षम् । यावच्चक्षानचतुष्टयमर्थात् सर्व परोक्षमिष बाध्यम् ॥७०१॥ —छग्रस्य अवस्थामे आवरण

और इन्द्रियोंकी सहायताकी अपेक्षा रखनेवाले जितने भी चारों हान हैं वे सब परमार्थ रीतिसे परोक्षत्व कहने चाहिए ।

मो.मा प्र ३/५१/४ सो यहु (अवधि ज्ञान) भी शरीरादिव दृष्ट-स्पर्श आधीन है । अवधि दर्शन है सो मतिज्ञान वा अवधिज्ञानम पराधीन जानना ।

४ अवधि मनःपर्ययकी प्रत्यक्षता परोक्षताका समन्वय

पं घ/पू ७०२-७०६ अवधिमन पर्ययवद्द्वैत प्रत्यक्षमेव देशरत्वात् । केवल-मिदमुपचारादथ च विषयावशात् चान्वयार्थः ॥७०२॥ तत्रापचाग्रेत्ययथा मतिज्ञानमथन नियमात् । अथ तत्पूर्वं श्रममपि न तथावधि-चित्त-पर्यय ज्ञानम् ॥७०३॥ यस्मादवग्रहेहावायानतिधारणापरायत्तम् । आद्य ज्ञान द्वयमिह यथा नैव चान्तिर्न द्वैतम् ॥७०४॥ दूरस्थानार्थानिह समवसमिष वेतिहेतुया यस्मात् । केवलमेव मनसादवधिमन पर्ययद्वयं ज्ञानम् ॥७०५॥ —अवधि और मन पर्यय ये दोनों ज्ञान एकदेशपनेसे प्रत्यक्ष हैं, यह कथन केवल उपचारसे अथवा विवक्षा वशा समझना चाहिए, किन्तु अन्वर्थसे नहीं ॥७०२॥ उपचाराका कारण यह है कि जैसे नियमसे मतिज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है और श्रुतज्ञान भी मतिपूर्वक होता है, वैसे अवधिमन पर्यय ज्ञान इन्द्रियादिकसे उत्पन्न नहीं होते हैं ॥७०३॥ क्योंकि जैसे यहाँ पर आदिके दोनों ज्ञान अवग्रह ईहा अवाय और धारणाको उपलब्धन नहीं करनेसे पराधीन हैं, वैसे अन्तर्के दोनों ज्ञान नहीं हैं ॥७०४॥ क्योंकि यहाँपर अवधि और मन - पर्यय ये दोनों ज्ञान केवल मनसे ही दूरवर्ती पदार्थोंको सीलामात्रसे प्रत्यक्षकी तरह जानते हैं ॥७०५॥

५ अवधि व मतिज्ञान की प्रत्यक्षतामे अन्तर

घ ६/१६-१.१४/२६/३ मतिमुदगाणाणि परोक्षानि, आहिणाणं गुण पच्चक्खं, तेण तेहितां तस्स मेदुवल्लभा । मदिणाणं वि पच्चक्खं दिस्सदीदि चे ण, मदिणाणेण पच्चक्खं वर्युस्स अनुवल्लभा । जो पच्चक्खमुवल्लभइ सो वर्युस्स एगदेशो त्ति वर्यु ण होदि । जो वि वर्यु, सो वि ण पच्चक्खेण उवल्लभदि, तस्स पच्चक्खोपपच्चक्खपरोक्ख-महणाणविसयसादो । तदो मदिणाणपच्चक्खेण वर्यु परिच्छेदयं । जदि एवं, तो ओहिणाणस्स वि पच्चक्ख-परोक्खत्त पत्तज्जे, तिका-गोयराणतपज्जाएहि उवचियं वर्यु, ओहिणाणस्स पच्चक्खेण शारिस-वर्युपरिच्छेदणसत्तोए अभावादा इति चे ण, आहिणाणम्मि पच्चक्खेण वट्टमाणसेसपज्जायविसिट्ठवर्युपरिच्छितीए उवल्लभा, तोदाणागद-असलेज्जपज्जायविसिट्ठवर्युसणादो च । एवं पि तदो वर्युपरिच्छेदो गरिथ त्ति ओहिणाणस्स पच्चक्ख-परोक्खत्त पत्तज्जे । ण, उभयणय-सयुहवर्युम्मि-ववहारजोगम्मि ओहिणाणस्स पच्चक्खत्तुवल्लभा । ण चाण तवजणपज्जाए ण घेप्पदि त्ति ओहिणाण वर्युस एगदसपरिच्छे-दय, ववहारणयवजणपज्जाएहि एरथ वर्युत्तुत्तुवगमादो । ण मदिणाणस्स वि एसो कम्मो, तस्स वट्टमाणसेसपज्जायविसिट्ठ-वर्यु परिच्छेयणसत्तोए अभावादो । —निर्देश—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, किन्तु अवधिज्ञान तो प्रत्यक्षज्ञान है, इसलिए उक्त दोनों ज्ञानोंसे अवधि-ज्ञानके भेद पाया जाता है । प्रश्न—मतिज्ञान भी तो प्रत्यक्ष दिखलाई देता है । उत्तर—नहीं क्योंकि मतिज्ञानसे वस्तुका प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं होता है । मतिज्ञानमे जो प्रत्यक्ष जाना जाता है वह वस्तुका एकदेश है और वस्तुका एकदेश सम्पूर्ण वस्तुरूप नहीं हो सकता है । जो भी वस्तु है वह मतिज्ञानके द्वारा प्रत्यक्षरूपसे नहीं जानी जाती है, क्योंकि, वह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षरूप परोक्ष मतिज्ञानका विषय है । इसलिए यह सिद्ध हुआ कि मतिज्ञान प्रत्यक्षरूपसे वस्तुका जाननेवाला नहीं है । (जितने अशको स्पष्ट जाना वह प्रत्यक्ष है शेष अश अप्रत्यक्ष है । और इन्द्रियावलम्बी हानेसे परोक्ष है इसलिए यहाँ मतिज्ञानको 'प्रत्यक्षप्रत्यक्ष' परोक्ष कहा गया है) प्रश्न—यदि ऐसा है तो अवधिज्ञानके भी प्रत्यक्षपरोक्षारमकता प्राप्त होती है, क्योंकि, वस्तु त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायोंसे उपचित है, किन्तु

अवधिज्ञानके प्रत्यक्ष द्वारा उस प्रकारकी वस्तुके जाननेकी शक्तिका अभाव है। उत्तर—नहीं, क्योंकि अवधिज्ञानमें प्रत्यक्षरूपसे वर्तमान समस्त पर्यायविशिष्ट वस्तुका ज्ञान पाया जाता है, तथा भूत और भावी असंख्यात पर्यायविशिष्ट वस्तुका ज्ञान देखा जाता है। प्रश्न—इस प्रकार माननेपर भी अवधिज्ञानसे पूर्ण वस्तुका ज्ञान नहीं होता है, इसलिए, अवधिज्ञानके प्रत्यक्षपरोक्षारम्भता प्राप्त होती है। उत्तर नहीं क्योंकि, व्यवहारके योग्य एवं द्रव्याधिक और पर्यायार्थिक, इन दोनों नामोंके समूहरूप वस्तुमें अवधिज्ञानके प्रत्यक्षता पायी जाती है। प्रश्न—अवधिज्ञान अनन्त व्यंजन पर्यायोंको नहीं ग्रहण करता है, इसलिए वस्तुके एकदेशका जाननेवाला है। उत्तर—ऐसा भी नहीं जानना चाहिए, क्योंकि व्यवहार नयके योग्य व्यञ्जनपर्यायोंकी अपेक्षा यहाँपर वस्तुत्य माना गया है। यदि कहा जाय कि मतिज्ञानका भी यही क्रम मान लेंगे, सो नहीं माना जा सकता, क्योंकि मतिज्ञानके वर्तमान अपेक्ष पर्यायविशिष्ट वस्तुके जाननेकी शक्तिका अभाव है, तथा मतिज्ञानके प्रत्यक्षरूपसे अर्थ ग्रहण करनेके नियमका अभाव है।

घ १३/६ १, २१/२१/३ अवध्याभिनिबोधिकज्ञानयोरेकत्वम्, ज्ञानस्वप्रत्यक्षविशेषादिति चेतनप्रत्यक्षप्रत्यक्षयोरनिन्द्रियजेन्द्रिययोरैकत्वविरोधात् । ईहादिमतिज्ञानस्याप्यनिन्द्रियजत्वमुपलभ्यत इति चेतन, द्रव्याधिकनये अवलम्ब्यमाने ईहाद्यभावात्तत्तेषामनिन्द्रियजत्वाभावात् नैगमनये अवलम्ब्यमानेऽपि पारम्पर्येणेन्द्रियअवबोधोपलम्भाच्च । प्रत्यक्षमाभिनिबोधिकज्ञानम्, तत्र वैशद्योपलभादवधिज्ञानवदिति चेतन, ईहादिषु मानसेषु च वैशद्याभावात् । न चेदप्रत्यक्षलक्षणम्, पञ्चेन्द्रियविषयावग्रहस्यापि विशदस्यावधिज्ञानस्यैव प्रत्यक्षतापत्तेः । अवग्रहे वस्त्वैकदेशो विशद चेतन, अवधिज्ञानेऽपि तदविशेषात् । तत् पराणीन्द्रियाणि आलोकादिश्च परेप्राप्त्यवधिज्ञान परोक्षम् । तदन्यदप्रत्यक्षमित्यङ्गोक्तव्यम् । प्रश्न—अवधिज्ञान और आभिनिबोधिक (मति) ज्ञान ये दोनों एक हैं, क्योंकि, ज्ञान सामान्यकी अपेक्षा इनमें कोई भेद नहीं। उत्तर—नहीं, क्योंकि अवधिज्ञान प्रत्यक्ष है और अभिनिबोधिक ज्ञान परोक्ष है तथा अवधिज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है और अभिनिबोधिक ज्ञान इन्द्रियजन्य है, इसलिए इन्हें एक माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—ईहादि मतिज्ञान भी अनिन्द्रियजन्य उपलब्ध होते हैं। उत्तर—नहीं, क्योंकि द्रव्याधिक नयका अवलम्बन लेनेपर ईहादि स्वतन्त्र ज्ञान नहीं है इसलिए वे अनिन्द्रियजन्य नहीं ठहरते। तथा नैगम नयका अवलम्बन लेनेपर भी वे परम्परासे इन्द्रियजन्य ही उपलब्ध होते हैं। प्रश्न—आभिनिबोधिक ज्ञान प्रत्यक्ष है, क्योंकि उसमें अवधिज्ञानके समान विशदता उपलब्ध होती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, ईहादिकोंमें और मानसिक्छानोंमें विशदताका अभाव है। दूसरे यह विशदता प्रत्यक्षका लक्षण नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर पञ्चेन्द्रिय विषयक अवग्रह भी विशद होता है, इसलिए उसे भी अवधिज्ञानकी तरह प्रत्यक्षता प्राप्त हो जायगी। प्रश्न—अवग्रहमें वस्तुका एकदेश विशद होता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, अवधिज्ञानमें भी उक्त विशदतासे कोई विशेषता नहीं है, अर्थात् इसमें भी वस्तुकी एकदेश विशदता पायी जाती है। इसलिए 'पर' का अर्थ इन्द्रियों और आलोक आदि हैं, और पर अर्थात् इनके अधीन जो ज्ञान होता है वह परोक्ष ज्ञान है। तथा इससे अन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है, ऐसा यहाँ स्वीकार करना चाहिए।

४ अवधिज्ञानमें इन्द्रियो व मनके निमित्तका सद्भाव व असद्भाव

१. अवधिज्ञान में कथंचित्त मनका सद्भाव

घ ५/५/६६ देशप्रत्यक्षमिहाप्यवधिमन पर्यये च यज्ज्ञानम् । देशनाइन्द्रियमन उर्यात् प्रत्यक्षमिदंनिरपेक्षात् ॥६६॥ —अवधि-मनपर्ययरूप जो ज्ञान है वह देशप्रत्यक्ष है क्योंकि वह केवल अनि-

न्द्रियरूप मनसे उत्पन्न होनेके कारण देश तथा अन्य बाह्य पदार्थों की अपेक्षा न रखने से प्रत्यक्ष कहलाता है।

१. अवधिज्ञानमें मनके निमित्तका अभाव

अष्टशती/का ३/निर्णयसागर बम्बई—'आत्मनमेवापेक्ष्यैतानि त्रीणि ज्ञानानि उत्पद्यन्ते । न इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षा तत्रास्ति । उक्त च—अतएवाज्ञानपेक्षाज्जनादिसंस्कृतस्येषो यथालोकानपेक्षा ।' —अवधि मन पर्यय व केवल ये तीनों ज्ञान आत्माकी अपेक्षा करके ही उत्पन्न होते हैं। तहाँ इन्द्रिय या अनिन्द्रियकी अपेक्षा नहीं होती। कहा भी है—'जिस प्रकार अजन आदिसे संस्कृत आँख आलोकदिसे निरपेक्ष ही देखती है, सी प्रकार ये तीनों ज्ञान भी इन्द्रियोंसे निरपेक्ष हो जानते हैं।

अष्टशती/पृ ५०/निर्णयसागर बम्बई—'न हि सर्वाधिकं सकृदहं सम्बन्ध सम्भवति साक्षात्परम्परया वा । ननु, चावधिमन पर्ययज्ञानि-नोर्देशतो विरतव्यामोहयो असर्वदर्शनं कथमज्ञानपेक्षा संलक्षणीया । तदावरण क्षयोपशमातिशयवशात्स्वविषयेपरिस्फुरत्वात् इति श्रूयम् ।' —इन ज्ञानोंमें साक्षात् या परम्परा रूपसे किसी भी प्रकार इन्द्रियों-का सम्बन्ध सम्भव नहीं है। प्रश्न—अवधि व मन पर्ययज्ञानियोंको जो कि केवल एकदेश रूपसे मोहते छूटते हैं तथा असर्वदर्शी हैं, इन्द्रियोंसे निरपेक्षपना कैसे कहा जा सकता है। उत्तर—क्योंकि अपने आवरण कमके क्षयोपशमके कारण ही वे अपने-अपने विषयमें परिस्फुरित होते हैं। इसलिए ऐसा कहा है।

गो जी/मू ४४६/८६३ "इदियणोइदियजोगादि पेक्खित्तु उज्जुमदी हादि । गिरवेक्खिय विउलमदी ओहि वा होदि गियमेण ४४६॥" —कजुमति ज्ञान तो स्व व परके इन्द्रिय, मन व योगोंकी सापेक्षतासे उत्पन्न होता है, परन्तु विपुलमति व अवधिज्ञान नियमसे इनकी अपेक्षा रहित है।

५ अवधिज्ञानके उत्पत्ति स्थान व करण चित्त विचार
१. देशावधि गुणप्रत्ययज्ञान करण चित्तोंसे उत्पन्न होता है और शेष सब सर्वांगसे होते हैं

घ १३/६ १, ६६/२४/२६६ णेरइय देव-तिरथयरोहिबखेत्तस्सवाहिर एदे । जाणति सव्वदो खलु तेसा देसेण जाणति । तेसा देसेण जाणति त्ति एत्थ गियमो ण कायव्वो, परमोहिसव्वोहिणागणहराहणं सग-सव्वावयवेहि सगविसईभूदथस्स गणुवलभादो । तेण तेसा देसेण सव्वदो च जाणति त्ति घेतव्वं । —नारकी, देव और तीर्थंकर इनका जो अवधिसेत्र है उसके भीतर ये सर्वांगसे जानते हैं और शेष जीव शरीरके एकदेशसे जानते हैं ॥२४॥

शेष जीव शरीरके एक देशसे जानते हैं, इस प्रकारका यहाँ नियम नहीं करना चाहिए क्योंकि परमावधिज्ञानी और सर्वावधि-ज्ञानी गणधरादिक अपने शरीरके सब अवयवोंसे अपने विषयभूत अर्थको ग्रहण करते हुए देखे जाते हैं। इसलिए शेष जीव शरीरके एकदेशसे और सर्वांगसे जानते हैं ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए। पं स/स/१/१५८ तीर्थकृच्छ्राभ्युदयानां सर्वांगोत्थोऽवधिर्भवेत् । तृतिरश्चां तु शङ्खाव्यस्तिकाद्यश्चिह्नजम् ॥१५८॥ —तीर्थंकर, नारकी व देवोंको अवधिज्ञान सर्वांगसे उत्पन्न होता है। तथा मनुष्यों व तिर्यचोंको शरीरवर्ती शाल फल व स्वस्तिक आदि करण चित्तोंसे उत्पन्न होता है। (गो जी/मू ३७१/७६८)

२ करण चित्तोंके आकार

प ख १३/६ १/मू ४७ १८/२६६ खेतदो ताव अणेयसठाणसठ्ठा ॥४७॥ सिरिवच्छ-कलम-सख सोरियण पादावसादीणि मठाणाणि पादव्याणि भवन्ति ॥४८॥ —शेत्रकी अपेक्षा शरीरप्रदेश अनेक स्थान सन्निहित होते हैं ॥४७॥ शीवस्स कलश, शाल संधिया, और नन्दावर्त आदि आकार जानने योग्य हैं ॥४८॥ (आदि शब्दसे अन्य सत्त्वानोंका ग्रहण होता है) (सा वा १/२२३/८/२२५)

य सं/सं/१/१४८ अत्र शब्दवाच्यस्मृतिकप्रतीकसमूहजगत्प्रधाना-
वर्तुल्लादोन्यवधेरुपस्थितिसंस्थानानि । — शब्द, कर्म, स्वरितक,
श्रीयस, ध्वज, कलश, नम्यायस हल आदिषु अवधिज्ञानकी
उत्पत्तिके क्षेत्र संस्थान होते हैं । (गो जी/जी प्र/३७१/७६८/६)

३. चिह्नों के आकार नियत नहीं हैं

ध १३/४ ४.४७/२६६/१० जहा कागणमिगियाण च पट्टिजियद गंठाणं
तहा ओहिणानस्त न होदि, किंतु ओहिणानावरणीयलओवममगद-
जीवपदेसाण करणीभदसरीरपदेसा अणेगसठाणसठिदा होंति ।
— जिस प्रकार शरीरका और इन्द्रियोंका प्रतिनिगत आकार होता
है उस प्रकार अवधिज्ञान का नहीं होता है । यि तु अवधि ज्ञानावर-
णीय कर्मके क्षयोपशमको प्राप्त हुए जीवप्रदेशोंके करणरूप शरीर
प्रदेश अनेक संस्थानोंमें सत्पित होते हैं ।

४. शरीरमें शुभ व अशुभ चिह्नोंका प्रमाण व अवस्थान

ध १३/४ ४.४८/२६७/१० न च एणस्त जीवरस एण्हि चैव पदेमे ओहि-
णानकरणं होदि त्ति निममो अस्थि, एग दा-तिणिण चत्तारि पच-
छआदिखेत्ताणमेगजीवन्दि संतादिमुहसठाणाणं कम्हि निमभवादे ।
एदाणि संठाणाणि तिरिखलमणुस्माण जाहीए उवरिमभागे होंति
पो हेट्ठा सुत्तठाणाणमधोभागेण सह विराहादे । तिरिखलमणुस्मा-
विहंगणाणीणं जाहीए हेट्ठा सरहादि अमुहसठाणाणि होंति त्ति गुरू-
वदेसो, न सुत्तमस्थि । — एक जीवके एक ही स्थानमें अवधिज्ञानका
करण होता है ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि, किसी भी जीवके
एक, दो, तीन चार, पाँच और छह आदि क्षेत्र रूप शब्दादि शुभ
संस्थान सम्भव है । ये संस्थान तिर्यंच और मनुष्योंके नाभिके उप-
रिस भागमें होते हैं, नीचेके भागमें नहीं होते, क्योंकि, शुभ
संस्थानोंका अधोभागके साथ विरोध है । तथा तिर्यंच और मनुष्य
विभंगगणानियोंके नाभिके नीचे गिरगिट आदि अशुभ संस्थान होते
हैं । ऐसा गुरुका उपदेश है, इस विषयमें कोई सूत्र बचन नहीं है ।
(पं स/सं/१/१४८ व्याख्या) (गो जी/जी प्र/३७१/७६८/६)

५. सम्यक्त्व व मिथ्यात्वके कारण कारणचिह्नोंमें परिवर्तन

ध १३/४ ४.४८/२६८/२ विहगणाणीण ओहिणाने सम्मत्तादिकलेण
समुत्पण्णे सरहादिअमुहसठाणाणि फिट्ठण जाहीए उवरि सत्तादि-
मुहसठाणाणि हाति त्ति चेत्तब्बं । एवमोहिणानपच्छायादविहगणाणीणं
पि मुहसठाणाणि फिट्ठण अमुहसठाणाणि होंति त्ति चेत्तब्बं ।
— विभंगगणानियोंके सम्यक्त्व आदिके फल स्वरूपमें अवधिज्ञानक
उत्पन्न होनेपर गिरगिट आदि अशुभ आकार मिटकर नाभिके ऊपर
शब्द आदि शुभ आकार हो जाते हैं ऐसा यहाँ प्रष्टन करना चाहिए ।
इसी प्रकार अवधिज्ञानमें लौटकर प्राप्त हुए विभंगगणानियोंके भी शुभ
स्थान मिटकर अशुभ संस्थान हो जाते हैं ऐसा यहाँ प्रष्टन करना
चाहिए ।

६. सम्यक्त्व व मिथ्यात्व कृत चिह्नोंमें सवधो मतभेद

ध १३/४ ४.४८/२६८/४ के वि आहरिया ओहिणान-विभंगणाणीं खेत्त-
सठाणभेदो जाभीए हेट्ठोवरि निगमो च णथि त्ति भणंति, दोण्णं पि
ओहिणानस पडिभेदाभावादे । न च सम्मत्तमिच्छत्तसत्तएषारेण
कदणामभेदादो भेदो अस्थि, अह्वसस । दो । एदमेत्थ पहाणं कायव्व ।
— कितने ही आचार्य अवधिज्ञानजी-विभंगगणानका क्षेत्रसंस्थानभेद
तथा नाभिके नीचे ऊपरका नियम नहीं है, ऐसा कहते हैं, क्योंकि
अवधिज्ञानसामान्यकी अपेक्षा दोनोंमें कोई भेद नहीं है । सम्यक्त्व
और मिथ्यात्वकी सगतिसे किये गये नामभेदके होनेपर भी अवधि-
ज्ञानकी अपेक्षा उनमें कोई भेद नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने-
पर अतिप्रसंग दोष आता है । इसी अर्थको यहाँ प्रधान करना
चाहिए ।

७. सर्वांग क्षयोपशमके सद्भावमें कारण चिह्नोंकी क्या

आवश्यकता

ध १३/४ ४.४८/२६६/२ आहिणान प्रवेग रोम भूत, मत्तजीमपरेण
अजमेण खजावसमं गयेत्तु सरीरेगदेमेदेव मज्झमागमाजुवसोदा ।
ण, अण्णराय यणभायण वरणसरुक्खण परिणसरीरेगदेमेदेव सत्तममस
विरहाभावादे । न च सवरणां गजावसमा ऐण निणा जाधादि
विप्यष्टिमेहादे । — प्रश्न अवधिज्ञान ओवक्षेप है, होता है क्योंकि
समजीम प्रवेशमें गुणवत्त मयापदमया प्राप्त होत शरीरवत् प्रवेशमें
ह वाद्य अर्थका हाग नहीं बन जाता । उत्तर—नहीं क्योंकि उक्त
देशोंमें करणस्वरूपता नहीं है अतएव करणव्यवस्था परिलक्ष्य शरीर
के एववेशमें बाद्य अर्थका हाग मान में कोई विरोध नहीं आता ।
प्रश्न—मरण क्षयोपशम उससे विना जानता । उत्तर—यह कहना
ठीक नहीं है क्योंकि इस मायसाया विरोध है ।

८. सर्वांगकी वजाय एक देशमें ही क्षयोपशम मान लें तो

ध. १३/४ ४.४८/२६६/४ जीवणमणमेगदेवे चैव ओहिणानावरणीयलओव-
गमे सते एवयरोत्त जुत्तादि त्ति न पचवट्टेय उदयगदयोपुत्तए
सत्तजीमपदेसा-सिगाए दमट्ठाएलीए गणीओवेगमे चैव मत्तजी-
मसम्प जुत्तिमिगाहादे । न ओहिणानस सत्तवत्तं पि फिट्ठि
अणेगवत्तेति अपरायते पचपणमसत्तपुत्तभावादे । — प्रश्न—जीवप्रदेशोंके
एकदेशमें ही अवधिज्ञानानावरणका क्षयोपशम होनेपर एव क्षेत्र अवधि-
ज्ञान बन जाता है । उत्तर—ऐसा निश्चय करना भी ठीक नहीं है
क्योंकि उदयको प्राप्त हुई गोपुच्छा मय जीवप्रदेशोंका विषय करती
है इसानि एउका देशस्थायिनी होकर जीवके एकदेशमें ही क्षयोप-
शम माननेमें विरोध आता है । प्रश्न—इसमें अवधिज्ञानकी प्रत्य-
क्षता विनष्ट हो जाती है । उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं है
क्योंकि, वह ओर क्षेत्रमें उसके पराधीन न होनेपर उक्तमें प्रत्यक्षता
सक्षम पाया जाता है । नोट—जब प्रदेशमें भ्रमण करनेपर ज्ञानके
अभावका प्रमंण आ जायेगा—दे० इन्द्रिय/१

९. कारण चिह्नोंमें भी ज्ञानोत्पत्तिके कारण तो क्षयोप- शम ही है

गो जी/जी प्र/३७१/७६८/६ कलशादिमुभविहत्तरि तागमवेदयाविह-
हानावरणयोयन्तिरायकर्मद्वयक्षयोपशमोत्पन्नमित्यर्थ । — कलश
इत्यादिक आकाररूप जहाँ शरीरमिथे भले तक्षण हृदय तहाँ सबधो
जे आरामके प्रदेश तिनिहिये तिष्ठता जो अवधिज्ञानावरणकर्म अर
वीर्यान्तरायकर्म तिनिहिये क्षयोपशममें उत्पन्न हो है ।

६. अवधिज्ञानके भेदो सम्बन्धी विचार

१. भवप्रत्यय व गुणप्रत्ययमें अन्तर

गो जी/जी प्र ३७१/७६८/४ तत्र भवप्रत्ययावधिज्ञान सुराणां नारकामां
चरमभवतोर्थकराणां च सम्भवति । तच्च तेषां सर्वाङ्गोत्पन्नं भवति ।
गुणप्रत्यय अवधिज्ञानं नराणां तिरथां च सम्भवति । तच्च तेषां शब्दा-
दिचिह्नभवं भवति । भवप्रत्यये अवधिज्ञाने दर्शनविशुद्ध्यादिगुण
सहभावेऽपि तदनपेक्षैव भवप्रत्ययवत् ज्ञातव्य । गुणप्रत्ययेऽवधिज्ञाने
तिर्यग्मनुष्यसहभावेऽपि तदनपेक्षैव गुणप्रत्ययवत् ज्ञातव्य । — भव-
प्रत्यय अवधिज्ञान देवनिर्ग, नारकीनिर्ग अर चरमशरीरो तीर्थकर
देवनिर्गके पाक्षे है । सो यह जनके सर्वांगसे उत्पन्न हो है । बहुत्रि
गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है सो मनुष्य और तिर्यंचके सम्भवे है । सो यह
उनके शब्दादि चिह्नोंसे उत्पन्न हो है । भवप्रत्यय अवधिज्ञान विषे
भी सम्यग्दर्शनादि गुणका सद्भाव है तथापि उन गुणोंकी अपेक्षा
नाहीं करनेतें भवप्रत्यय कहा । अर गुणप्रत्यय विषे मनुष्य तिर्यंच
(भय) का सद्भाव है तथापि उन पर्यायिनिकी अपेक्षा नाहीं करने
से गुण प्रत्यय कहा है ।

२ क्या भवप्रत्ययमे ज्ञानावरणका क्षयोपशम नहीं है

स सि १/२१/१२५/७ भव प्रत्ययोऽस्य भवप्रत्यय । —यथेवं तत्र क्षयोपशमनिमित्तत्वं न प्राप्नोति । नैप दोष, तदाश्रयात्तरिद्धे । भवं प्रतीय क्षयोपशम सजायत इति कृत्वा भव प्रधानकारण-मिष्टुपदिश्यते । यथा पतत्रिणो गमनमाकाशे भवनिमित्तम् । न शिक्षागुणविशेष, तथा देवनारकाणां व्रतनियमाद्यभावेऽपि जायत इति भवप्रत्यय इत्युच्यते । इतरथा हि भव साधारण इति कृत्वा सर्वेषामविशेष स्यात् । इष्यते च तत्रावधे प्रकर्षप्रकर्षवृत्ति । —जिस अवधिज्ञानके होनेमें भव निमित्त है वह भवप्रत्यय अवधि-ज्ञान है । प्रश्न—यदि ऐसा है तो अवधिज्ञानके होनेमें क्षयोपशमकी निमित्तता नहीं बनती । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, भवके आश्रयसे क्षयोपशमकी सिद्धि हो जाती है । भवका आलम्बन लेकर क्षयोपशम हो जाता है ऐसा समझकर भव प्रधान कारण है ऐसा उपदेश दिया जाता है । जैसे पक्षियोंका आकाशमें गमन करना भवनिमित्तक होता है, शिक्षा गुणकी अपेक्षासे नहीं होता वैसे ही देव और नारकियोंके व्रत नियमादिकके अभावमें भी अवधिज्ञान होता है, इसलिए उसे भव निमित्तक कहते हैं । यदि ऐसा न माना जाय तो भव तो सबके साधारण रूप पाया जाता है अतः सबके एक सा अवधिज्ञान प्राप्त होगा । परन्तु वहाँपर अवधिज्ञान न्यूनाधिक कहा हो जाता है । इससे जाना जाता है कि वहाँपर अवधिज्ञान होता तो क्षयोपशमसे ही है, पर वह क्षयोपशम भवके निमित्तसे प्राप्त होता है, अतः उसे भवप्रत्यय कहते हैं । (रा वा - १/२१/३ ४/७६/१२)

३. भव प्रत्यय है तो भवके प्रथम समय ही उत्पन्न क्यों नहीं होता

घ १३/४ ५/६२/२६०/६ यदि भवमेतमोहिणाणस्स कारण होज्ज तो वेवेसु णेरहएसु वा उपपणपढमसमए ओहिणाण किण्ण उपपज्जे । ण एस दोसो, ओहिणाणुपपत्तीए छहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदभवग्गह-णादो । —प्रश्न—यदि भवमात्र ही अवधिज्ञानका कारण है तो देवों और नारकियोंमें उत्पन्न होनेके प्रथम समय में ही अवधिज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न होता । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि छह पर्याप्तियोंसे पर्याप्त भवको ही यहाँ अवधिज्ञानकी उत्पत्तिक कारण माना गया है ।

४. देव नारकी सम्पद्दृष्टियोंके ज्ञानको भवप्रत्यय कहे कि गुणप्रत्यय

घ १३/४ ५/६३/२६०/६ देवेणेरहएसुसम्माइट्ठीसु समुपपण्णोहिणाण ण भव-पञ्चइयं, सम्मत्तेण धिणा भवादो चैव ओहिणाणस्साविग्गभावानुव-र्त्तमादो । ण एस दोसो, सम्मत्तेण विणा वि मिच्छाइट्ठीसु पज्जत्त-यवेसु ओहिणाणुपपत्तिद सणादो । तम्हा तत्पथतणमोहिणाण भवपञ्च इयं चैव । —प्रश्न—देव और नारकी सम्पद्दृष्टियोंमें उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान भवप्रत्यय नहीं, क्योंकि, उनके सम्प्रत्ययके बिना एक-मात्र भवके निमित्तसे ही अवधिज्ञानकी उपलब्धि नहीं होती । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सम्प्रत्यय के बिना भी पर्याप्त मिथ्यादृष्टियोंके अवधिज्ञानकी उत्पत्ति बेली जाती है, इस-लिए वहाँ उत्पन्न होनेवाला अवधिज्ञान भवप्रत्यय ही है ।

५ सभी सम्पद्दृष्टि आदिकोंकी गुणप्रत्यय ज्ञान उत्पन्न क्यों नहीं होता

घ १३/४ ५/६३/२६२/१ यदि सम्मत अणुवदमहव्वदेहिंत्तो ओहि-णाणमुपपज्जवि त्तो सव्वेसु असजदसम्माइट्ठिसजदासजद-सजदेसु ओहिणाण किण्ण उपलज्जभदे । ण एस दोसो, असखेज्जतामेत्त सम्मत सजमासजमसजमपरिणामेसु ओहिणाणावरणखलओवसम-

णिमित्ताण परिणामाणमइथोवत्तादो । णचत्ते सव्वेसु संभवति, तत्पटि-वखलपरिणाम यहुत्तेणतदुवल्लोए थोवत्तादो । —प्रश्न—यदि सम्प्रत्यय, अणुवत् और महावत्के निमित्तसे अवधिज्ञान उत्पन्न होता है तो सब असंयतसम्पद्दृष्टि, सयतासंयत और सयतोंके अवधिज्ञान क्यों नहीं पाया जाता । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सम्प्रत्यय संयमासंयम और संयमरूप परिणाम असंयत्ता लोकप्रमाण है । उनमें-मे अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमके निमित्तभूत परिणाम अति-शय स्तोक है । ये सबके सम्भव नहीं हैं, क्योंकि, उनके प्रतिपक्षभूत परिणाम यहुत हैं, इसलिए उनकी उपलब्धि क्वचित् ही होती है ।

६ भव व गुणप्रत्ययमे देशावधि आदि विकल्प

प का/५/४३की प्रक्षेप का ३/८६ ओहिं तरेव धेपदु देसं परम च ओहि-सव्व च । तिणिण वि गुणेण णियमा भवेण देसं तथा णियद । ३ । —अवधिज्ञान तीन प्रकारका जानना चाहिए—देशावधि, परमावधि व सर्वावधि । ये तीनों ही नियमसे गुणप्रत्यय हैं तथा भवप्रत्यय निश्चितरूप से देशावधि ही है ।

गो जी/५/३७३/८०१ भवपञ्चइगो ओही देसोही होदि परमसव्वाही । गुणपञ्चइगो णियमा देसोही वि य गुणे होदि । ३७३ । —भवप्रत्यय अवधिज्ञान तो देशावधि ही होता है । परमावधि व सर्वावधि गुण-प्रत्यय ही होते हैं तथा देशावधि गुणप्रत्यय भी होता है ।

७ परमावधिमे कथञ्चित् देशावधिपना

रा वा/१/२०/१४/७६/१ सर्वशब्दस्य निरवधेयवाचित्वात् सर्वाधि-मपेक्ष्य परमावधेरदेशावधिरवमेवेति वक्ष्याम । —‘सर्व’ शब्द क्योंकि निरवधेयवाची है इसलिए सर्वावधिकी अपेक्षा परमावधिकी भी देशा-वधिपना कहा जाता है । (रा वा /१/२२/४/८३/१६)

८. देशावधि आदि भेदोंमें वर्द्धमान आदि अथवा प्रति-पाती आदि विकल्प

रा वा /१/२२/४/८१/२७ देशावधिरुत्प्रेधा-जघन्य-उरकृष्ट अजघन्योरकृष्ट-श्चेति । तथा परमावधिरिति त्रैधा । सर्वावधिकिरुत्प्रेधादेक एव ।

रा वा/१/२२/४/८२/१ वर्द्धमानो हीयमान अवस्थित अनवस्थितः अनुगामी अननुगामी अप्रतिपाती प्रतिपाती इत्येतेऽष्टौ भेदा देशा-वधेभवन्ति । हीयमानप्रतिपातिभेदवर्जा इतरे पट्भेदा भवन्ति परमा-वधे । ‘अवस्थितोऽनुगाम्यननुगाम्यप्रतिपाती’ इत्येते चत्वारो भेदाः सर्वावधे ।

रा वा/१/२२/४/८३/११ एष त्रिविधोऽपि परमावधि वर्द्धमानो भवति न हीयमान । अप्रतिपाती न प्रतिपाती । अवस्थितो भवति अन-वस्थितश्च वृद्धि प्रति न हानिम् । ऐहलौकिकदेशान्तरगमनादनुगामी पारलौकिकदेशान्तरगमनाभावादननुगामी । — सर्वावधिरुच्यते स एव वर्द्धमानो न हीयमानो नानवस्थितो न प्रतिपाती, प्राक्संयतभव-क्षयात् अवस्थितोऽप्रतिपाती, भवान्तरं प्रत्यननुगामी देशान्तर प्रत्य-नुगामी । —देशावधि तीन प्रकारका है—जघन्य, मध्यम, उरकृष्ट । इसी प्रकार परमावधि भी तीन प्रकारका है । सर्वावधि निर्विकल्प होनेसे एक ही प्रकारका है । देशावधि में आठ भेद हैं—वर्द्धमान, हीयमान अवस्थित, अनवस्थित अनुगामी, अननुगामी अप्रतिपाती और प्रतिपाती । हीयमान और प्रतिपातीको छोड़कर शेष छह भेद परमा-वधि में हैं । अवस्थित अनुगामी, अननुगामी और अप्रतिपाती ये चार भेद सर्वावधि में हैं । जघन्य आदि तीनों प्रकारका परमावधि वर्द्धमान ही होता है हीयमान नहीं । अप्रतिपाती हो होता है प्रति-पाती नहीं । अवस्थित होता है अथवा वृद्धिके प्रति अनवस्थित भी होता है परन्तु हानिके प्रति नहीं । इस कोकमें देशान्तर गमनके कारण अनुगामी है, परन्तु परनोक्त्तु देशान्तर गमनका अभाव होनेके कारण अननुगामी है । अयं सर्वावधि को कहते हैं । वह वर्ध-मान ही होता है हीयमान नहीं । अनवस्थित व प्रतिपाती भी नहीं होता । वर्तमानके सयत भवके क्षय से पटिते तक अवस्थित और

अप्रतिपाती है। भवाम्तरके प्रति अनुग्रामी है और देशान्तरके प्रति अनुग्रामी है। (गो जी/मू वटो/३७५/३०८)

घ १३/५ ५.५६/३९०/५ परमोहि पुन दठ खेत कालभाषाणमवयमेण पुषुखी होदि वत्तज्व ।

घ १३/५.५ ६/३९३/६, साथ परमोहिणाणीण पडिवादाभाषेण उपादाभावादो ।—परमावधि ज्ञानमें तो द्रव्य क्षेत्र काल और भवकी गुणवत् वृद्धि होती है, ऐसा यहाँ उपादायान करना चाहिए। परमावधि ज्ञानियोंका प्रतिपात नहीं होनेमें वहाँ (स्वर्गमें) उनका उपादा सम्भव नहीं।

६ देशावधि आवि भेदोमे चारित्र्यादि सम्बन्धी विशेषताएँ

घ ६/४.१ ३/४१/६ कथमेदस्स ओहिणाणस्स जेट्ठदा । दमोहि पेक्खिण्ण-महाविसयत्तादो, मणपज्जवणाण वसज्जेसु चेव समुप्पत्तोदो मणुप्प-णभवो चेव क्ववन्णाणुपत्तिकारणत्तादो, अप्पट्ठिवादितादो वा जेट्ठदा । —प्रश्न—इस (परमावधि) अवधिज्ञानके ज्येष्ठपना कैसे है। उत्तर—बू कि यह परमावधि ज्ञान देशावधिकी अपेक्षा महा विषय वाता है, मन परमज्ञानके समान मयत्त मनुष्यमें ही उत्पन्न होता है, अपने उत्पन्न होनेके भवमें ही वेयल्लहानकी उत्पत्ति का कारण है और अप्रतिपाती है। इसलिए उसके ज्येष्ठपना सम्भव है।

घ १३/५.५ ६/३९३/८ स मिच्छत्तं पि गच्छेज्ज अमज्जम पि गच्छेज्ज अविरोहादो—उस (देशावधि) के होनेपर जोव मिथ्यात्व को भी प्राप्त होता है, और असंयमको भी प्राप्त होता है, क्योंकि ऐसा होनेमें कोई विरोध नहीं है।

गो जी/मू वटो/३७५/८०३ पडिवादो वेसोही अप्पट्ठिवादो हवति तेसा ओ । मिच्छत्त अविरमणं ण य य पडिबज्जि चग्गिमदुगे/५७५ । सम्मवरवचारित्र्याम्यो प्रचयुरथ मिथ्यात्वासंयमयो प्राप्ति प्रतिपात, तद्वयुत प्रतिपाती, स तु देशावधिरेव भवति । परमावधि-सर्वावधिविधिके जीव । नियमेन मिथ्यात्व अविरमण च न प्रतिपद्यन्ते तत् कारणत्वात् तौ दावपि अप्रतिपातिनौ । देशावधिज्ञान प्रतिपाति अप्रतिपाति च इति निश्चितं । —प्रतिपाती कहिए सम्मवरवचारित्र्यसौं भण्ट होइ मिथ्यात्व व असंयमको प्राप्त होना सीहि संयुक्त जो होइ सो प्रतिपाती कहिए । देशावधिवाना तो कदाचित् सम्मवरवचारित्र्यसौं भण्ट होइ मिथ्यात्व असंयमको प्राप्त हो है। अर परमावधि सर्वावधि दोय ज्ञानविषे वर्तमान जीव सो निरचयतो मिथ्यात्व अर अविरतिकों प्राप्त न हो है जाते देशावधि तौ प्रतिपाती भी है, और अप्रतिपाती भी है परमावधि सर्वावधि अप्रतिपाती हो है।

७ अवधिज्ञानका स्वामित्व

१ सामान्य रूपसे अवधि चारों गतियोंमे सम्भव है

स सि/१/२५/१२७/६ अवधि पुनरावृत्तिकेत्विति ।—अवधिज्ञान चारों गतियोंके जीवोंको होता है। (रा वा/१/२५/८७/१)

२ भवप्रत्यय केवल देव नारकियों व तीर्थचरोंके होता है

त सू/१/२१ भवप्रत्ययोऽवधिदेवनारकाणां ।२१।—भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंके होता है। (प ख/५ ५/मू ५४/२६३) (स मा/१/२७/२६)।

घ १३/५ ५ ६/३९३/२ सामण्णजिणे से सत्ते सम्माइट्टि मिच्छाहट्ठोणमो, हिणाण पज्जत्तभवच्छय्य चेवे त्ति कुदो णवयवे । अवज्जेतो णेरइएसु विहंगणाणपडित्तेहण्णहाणुभवत्तोदो । —प्रश्न—वेवों और नारकियोंका अवधिज्ञान भवप्रत्यय होता है, ऐसा सामान्य निर्देश होनेपर सम्म-गृष्टि और मिथ्यादृष्टियोंका अवधिज्ञान पर्याप्त भवके निमित्तसे ही होता है, यह किस प्रमाणसे जाना जाता है। उत्तर—क्योंकि अर्याप्त वेवों और नारकियोंके विभग ज्ञानका जो प्रतिषेध किया है वह अन्यथा बन नहीं सकता।

गो जी/मू/३७१/७६८ भवप्रत्ययोऽनुगिरयाण तिरिथेदि मठय अग्रुथ । गो जी/जी प्र/३७१/७६६/४ तत्र भवप्रत्ययावधिज्ञान मुराणां नाम्भारो चरमभवतीर्थचरणां च भवति । —भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवनिर्दे-नारकीनिर्दे अर चरमशरीरी तीर्थचर दबनिके पाठये है।

३ गुणप्रत्यय केवल मनुष्य व तिर्यचोंमे ही होता है

प ख १०/५ ५/मू ५५/२६३ जसं गुणप्रत्यय त तिरिक्क मनुष्साणं ।१४।

—जा गुण प्रत्यय अवधिज्ञान है वह तिर्यचों और मनुष्योंमें होता है। (गो जी/मू/३७१/७६८) (स मा/१/२७/२६)।

त सू १/२२ मयावदमग्गिणि गग्गियन्त द्रोषाणाम् ।२२।—हमोप-क्षान्निमित्तक अवधिज्ञान पर प्रमाण है जो दोष अर्थात् तिर्यचों और मनुष्योंके होता है।

४ भवप्रत्यय ज्ञान सम्मगृष्टि व मिथ्यादृष्टि दोनोंको होता है

घ १३/५ ५.५३/२६०/१० सम्मनेव पि मिच्छाहट्ठीसु पज्जसाणं सु आहि-णाणुपत्तिदिग्गजादो । तस्मा तमाहिणाण भवच्छयं चेव । —सम्मवरवमे भी पर्याप्त मिथ्यादृष्टियोंके अवधिज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है हमणि नहीं उत्पन्न होनेवाला अवधिज्ञान भव प्रत्यय ही है।

५ गुणप्रत्यय अवधिज्ञान केवल सम्मगृष्टियोंको ही होता है

प ख ११/१/मू १२०/३६४ आभिनिमोहिगणान सुदणं ओहिणाणम-गजदाम्माइट्ठिपट्टि जाव त्थीक्कमागोदग्गगतदुमत्था सि ।१२०।

—आभिनिमोहिगणान श्रुतज्ञान और आधिज्ञान असंयत सम्मगृष्टिमें ही तेवर्ग शोणरपाय शीतराग इच्छा गुच्छान तत्र हाते हैं ।१२०। (गो जी/जी प्र/३७४/१६०/७)

स सि १/२२/१२७/६ यथोक्तमगददनादिनिमित्तमनिधाने सति शान्तशोणवर्मणां तम्योपलब्धिर्भवति । —यद्यपि सम्मगृष्टिनादि निमित्तके विमनेपर जाके अवधिज्ञानावरण बर्म शात और शोण हो गया है (अर्थात् मयावदमा प्राप्त हो गया है) उनके यह उपलब्धि का सामर्थ्य होता है (रा वा/१/२२/२/८१/१०)।

घ १३/५ ५.५३/२६१/१० अनुवत्त महावत्तानि सम्मवरवधिष्ठानानि गुण कारण मय्यावधिज्ञानस्य तद्वं गुणप्रत्ययकम् । —सम्मवरवसे अधिष्ठित अनुवत्त और महावत्त गुण जिस अवधिज्ञानके कारण है वह गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है।

प का/ता वृ ४२/प्रलेख ना १/२६ प्रयोऽप्यवधयो निशिष्टसम्मवरवादि-गुणेन निरचयेन भवन्ति । —देशावधि परमावधि व सर्वावधि ये तीनों ही गुणप्रत्यय अवधिज्ञान निरचयमे विशिष्ट सम्मवरवादि गुणोंके द्वारा होते हैं। (गो जी/जी प्र/२७४/८०१/१३)।

६ उत्कृष्ट देशावधि मनुष्योंमें तथा जघन्य मनुष्य व तिर्यच दोनोंके सम्भव है—देव नारकीमे नहीं

प ख १०/५ ५/मू ५५/२६३ उक्कस्स माणुसेसु त माणुम तेरिच्छप जहणं हो ।

घ १०/५ ५ ६/३९३/५ उक्कस्सओहिणाण तिरिक्कसेसु देवेषु णेरइएसु वा ण होदि वितु मणुस्सेसु चेव होदि । जहणमोहिणाण देवणेरइएसु ण होदि किमु मणुस्सतिरिक्कस्समाइट्ठीसु चेव होदि । —उत्कृष्ट अवधि-ज्ञान मनुष्योंके तथा जघन्य अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यच दोनोंके होता है। उत्कृष्ट अवधिज्ञान तिर्यच देव और नारकियोंके नहीं होता किन्तु मनुष्योंके ही होता है। जघन्य अवधिज्ञान देव और नारकियोंके नहीं होता, किन्तु सम्मगृष्टि मनुष्य और तिर्यचोंके ही होता है। (गो जी/जी प्र/३७४/८०८/८) (रा वा/१/२२/४/८२ ३४-८३/३)।

७ उत्कृष्ट देशावधि उत्कृष्ट सत्योंको ही होता है पर जघन्य असंयत सम्यग्दृष्टि आदिको भी सम्भव है

रा बा १/२२/४/८३/३ एषो देशावधिरुक्थो मनुष्याणां संयतानां भवति । —यह उत्कृष्ट देशावधि संयत मनुष्योंको ही होता है ।

घ १३/४/६६/३२७/६ उक्तस्मोहिणानां महारिणो चैव होदि । जहणमोहिणानां—मनुष्यतिरिक्त्वसम्माहृष्टो चैव होदि । —उत्कृष्ट अवधिज्ञान महर्षियोंके ही होता है । जघन्य अवधिज्ञान सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यचोंके ही होता है ।

गो जी /जी प्र ३७४/८०२/८ देशावधेरनित्य जघन्यं नरतिररचोरेव सयतासयतयो भवति न देव नारकयो । देशावधे सर्वोत्कृष्ट तु नियमेन मनुष्यगतिरसकलस्येति एव भवति नेतरगतित्रये तत्र महाव्रता भवात् । —देशावधिका जघन्य भेद सयमो व असंयमी (सम्यग्दृष्टि) मनुष्य तिर्यच विषे ही हो है देव नारकी विषे न हो है । बहुत्र देशावधिका उत्कृष्ट भेद सयमी महाव्रती मनुष्य विषे ही हो है जाते और तीन गतिविषे महाव्रत संभव नहीं ।

गो जी /जी प्र ३७३/८०२/१३ देशावधिरपि गुणे दर्शनविशुद्ध्यादिलक्षणे सति भवति । —देशावधि भी दर्शन विशुद्धि आदि लक्षणवाले सम्यग्दर्शनादि गुण होते सते हो है ।

८ मिथ्यादृष्टियोंमें भी अवधिज्ञानकी सम्भावना

घ १३/४/६६/३६०/८ मिच्छादृष्टिषु ओहिणानां जतिं त्ति वोचं ण जुत्तं, मिच्छसत्तहचरिदोहिणानस्सेव विहं गणानववपमादो । —मिथ्यादृष्टियोंके अवधिज्ञान नहीं होता ऐसा कहना युक्त नहीं क्योंकि, मिथ्यात्व सहचरितं अवधिज्ञानकी ही विभंगज्ञान सक्षा है ।

गो जी /जी प्र ३०५/६५७/५ मिथ्यादर्शनकलङ्कितस्य जीवस्य अवधिज्ञानावरणोद्यमोन्तरायमयोपशमजनिस्त विपरीतग्राहक तिर्यग्-मनुष्यगत्तयो तीव्रकायवनेशद्वयसयमरूपगुणप्रत्यय, चक्षुःशब्दादिव-नारकगत्तयोर्भवप्रत्यय च अवधिज्ञान विभंग इति । —मिथ्यादृष्टि जोबनिके अवधिज्ञानावरण वीमर्चन्तरायके सयमोपशमते उत्पन्न भया ऐसा कि कहिए विशिष्ट जो अवधिज्ञान ताका भग कहिए विपरीत भाव सो विभंग कहिए । सो तिर्यच मनुष्य गतिविषे तो तीव्र काय-प्लेशरूप द्रव्य सयमादिकरि उपजै है सो गुण प्रत्यय हो है । और 'च' शब्द से देव नारक गतियोंमें भव प्रत्यय हो है ।

९ परमावधि व सर्वावधि चरमशरीरी संयतमें ही होता है

रा बा १/२२/४/८३/११ स एष त्रिविधोऽपि परमावधि उत्कृष्टचारित्र्ययुक्त-स्यैव भवति नान्यस्य । —यह तीनों प्रकारका (जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट) परमावधि ज्ञान उत्कृष्ट चारित्र्ययुक्तके ही होता है अन्यके नहीं ।

घ १३/४/६६/३२३/४ परमोहिणानां संजदेसु चैव उप्पज्झदि उप्पण्णे हि परमोहिणाने सो जीवो मिच्छसत्त ण कयावि गच्छदि, असज्जं वि णो गच्छदि त्ति भणित होदि । सव्वमोहिणानां । एदं पि निगममाणं चैव होदि । परमावधि ज्ञानकी उत्पत्ति सयतोंके ही होती है । परमावधिज्ञानके उत्पन्न होनेपर वह जीव न कभी मिथ्यात्वको प्राप्त होता है और न कभी असंयमको भी प्राप्त होता है । यह उक्त कथनका तात्पर्य है । ऋ सर्वावधिज्ञान भी निर्मयोंके ही होता है । (घ १६/४ १.३/४१/७) ।

पं का /ता वृ ४३ को प्रसेपक गा ३ की टोका ८६/२४ परमावधि-सर्वा-वधिद्वय चरमवैहसपोधनानां भवति । तथा चोक्तं । "परमोहि सव्वोहि चरममरीत्स विरदस्स । —परमावधि और सर्वावधि ये दोनों ज्ञान चरमशरीरी तपोधनोंके ही होते हैं । जैसे कि कहा भी है—“परमावधि व सर्वावधि चरम शरीरी विरत अर्थात् संयतके होते हैं” ।

गो जी /जी प्र ३७३/८०१ देवनारकयोर्गृहस्थतीर्थंकरस्य च परमावधि-सर्वविधयोरसम्भवात् । —देव, नारकी अर गृहस्थ तीर्थंकर इनके परमावधि व सर्वावधि होइ नहीं ।

१० अपर्याप्तावस्थामे अवधिज्ञान सम्भव है पर विभंग नहीं

प ख-१/१.१/सू ११८/३६३ पज्जत्ताण अरिय, अपज्जत्ताण गरिय । —विभंग ज्ञान पर्याप्तकोंके ही होता है अपर्याप्तकोंके नहीं होता ११८।

स सि १/२२/१२७/५ न ह्यसज्जिनामपर्याप्तिकानां च तत्तमामर्यमस्ति । —असज्जी और अपर्याप्तिके यह सामर्थ्य नहीं है (स्योपशम निमित्तक अवधिज्ञान असज्जी व अपर्याप्तिकोंमें उत्पन्न नहीं होता है ।)

घ १३/४/६६/३६१/७ तिरिक्खमणुस्सेसु समतगुणेणुप्पण्णसत्त तत्था-वद्वानुवत्तभादो । —तिर्यच और मनुष्योंमें सम्यक्त्व गुणके निमित्तसे उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान देवों और नारकियोंके अपर्याप्त अवस्थामें भी पाया जाता है । (विशेष दे सत् प्ररूपण) ।

११ सज्जी समूर्च्छनोमे अवधिज्ञानकी सम्भावना

असम्भावना

घ ४/१.६ २३४/१९५/१९९ एक्को अट्ठावीससंतकम्मिओ सम्मुच्छिमपज्जत्तएसु उववण्णो । छहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदो विस्सतो, विसुदो, वेदग-मम्मत्त पडिक्खणो तदो अतोमुहुत्तेण ओहिणाणो जादो । —मोहकर्म-की अट्ठाईस प्रकृतिकी सत्तावाला कोई एक जीव सज्जी सम्मुच्छिम पर्याप्तकोंमें उत्पन्न हुआ । छहों पर्याप्तियोंसे पर्याप्त हो विश्राम ले, विशुद्ध हो, वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ । पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्तसे अवधिज्ञानी हो गया ।

घ ४/१.६ २३७/१९८/१९ सण्णिस्समुच्छिमपज्जत्तएसु संजमासंजमस्सेव ओहिणाणुवसमसम्मत्ताणं सभावभावादो । ओहिणाणाभावो कुदो णव्वदे । सम्मुच्छिमेषु ओहिणाणमुप्पादय उत्तरपरुत्तय आइरियाण-मणुवत्तभादो । गम्भोवक्कतिएसु गमिदअट्ठत्तालीस (—पुव्वकोटि-) वस्सेसु ओहिणाणमुप्पादिय किण्ण अतराविदो । ण, तथ वि ओहि-णाणसभम परुत्तयसववत्ताणाइरियाणसभावो । —प्रश्न—सज्जी सम्मुच्छिम पर्याप्तकोंमें सयमासयमके समान अवधिज्ञान और उपशम सम्यक्त्वकी सभावताका अभाव है । प्रश्न—सज्जी सम्मु-च्छिम जीवोंमें अवधिज्ञानका अभाव कैसे जाना जाता है । उत्तर—क्योंकि, अवधिज्ञानको उत्पन्न करके अन्तरके प्ररूपण करनेवाले आचार्योंका अभाव है । अर्थात् किसी भी आचार्यने इस प्रकार अन्तरकी प्ररूपण नहीं की । प्रश्न—गम्भीरत जीवोंमें व्यतीतकी गयी अट्ठत्तालीस पूर्वकोटी वर्षोंमें अवधिज्ञान उत्पन्न करके अन्तरकी प्राप्त क्यों नहीं कराया । उत्तर—नहीं, क्योंकि, उन में भी अवधि-ज्ञानकी सम्भावताको प्ररूपण करनेवाले व्याप्त्यानाचार्योंका अभाव है ।

१२ अपर्याप्तावस्थामे अवधिज्ञानके सद्भाव और विभंगके अभाव सम्बन्धी शका

घ १/१.१,१९७/३६२/६ अथ स्याद्यदि देवनारकाणां विभङ्गज्ञान भव-निबन्धन भवेदपर्याप्तिकालेऽपि तेन भवितव्य तद्वैधर्तोर्यस्य सत्त्वा-दिति न, 'सामान्यमोघनारच विशेषेष्ववधिष्ठते' इति न्यायात् नापर्या-प्तविशिष्टं देवनारकत्वं विभङ्गनियन्धनमपि तु पर्याप्तविशिष्ट-मिति । ततो नापर्याप्तिकाले तदस्तीति सिद्धम् । —प्रश्न—यदि देव और नारकियोंके विभंगज्ञान भव प्रत्यय होता है तो अपर्याप्तकालमें भी वह हो सकता है, क्योंकि, अपर्याप्तकालमें भी विभंगज्ञानके कारणरूप भवकी सत्ता पायी जाती है । उत्तर—नहीं क्योंकि 'सामान्य विषय-का बोध करानेवाले वाक्य विशेषोंमें रहा करते हैं' इस न्यायके अनुसार अपर्याप्त अवस्थासे युक्त देव और नारक पर्याप्त विभंगज्ञानका कारण नहीं है । किन्तु पर्याप्त अवस्थासे युक्त ही देव और नारक

पर्याय विभगज्ञानका कारण है इसलिए अवयवसमकालमें विभग ज्ञान नहीं होता है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

घ १३/४.४.४३/२६१/३ विहगणानस्सेव अपज्जत्तकाले ओहिणानस्स पडि-
सेहो किण्ण कोरदे। न उप्पसि पडि तस्स पि तस्य विहगणानस्सेव
पडिसेहद मगादो। न च तस्य ओहिणानस्स चत्ताभावो, तिरिक्ख-
मणुस्सेसु सम्मत्तगुणेषुपणस्स सत्थावद्वाणुबलं भादो। न विहगणा-
णस्स एम कमो तत्कारणाणुकंपादीण सत्थाभावेण तदवद्वाणाभावादो।
—प्रश्न—विभगज्ञानके समान अवयवसमकालमें अवधिज्ञानकानिषेध क्यों
नहीं करते। उत्तर—नहीं क्योंकि, उत्पत्तिकी अपेक्षा उसका भी
वहीं विभगज्ञानके समान ही निषेध देखा जाता है। पर इसका
यह अर्थ नहीं कि दोनों और नारकियोंके अवयव अवस्थामें अवधि-
ज्ञानका अत्यन्त अभाव है क्योंकि तिर्यकों और मनुष्योंमें सम्मत्तगु-
णके निमित्तसे उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान दोनों और नारकियोंके
अवयव अवस्थामें भी पाया जाता है प्रश्न—विभगज्ञानमें भी यह
क्रम लागू हो जायेगा। उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि
अवधिज्ञानके कारणभूत अनुकम्पा आदिका अभाव होनेसे अवयव-
वस्थामें वहाँ उसका अवस्थान नहीं रहता।

८ अवधिज्ञानकी विषय सीमा

१ द्रव्यकी अपेक्षा रूपीको ही जानता है

त सू १/२७ रूपिप्पवधे १२७—अवधिज्ञानकी प्रवृत्तिरूपी पदार्थमें
होती है।

स सि १/२७/१३४/१० रूपिप्पेवानधेविषयनिबन्धनो नारूपिप्पवत्ति
नियम क्रियते।—रूपी पदार्थमें ही अवधिज्ञानका विषय सम्मन्ध
है अरुपी पदार्थमें नहीं, यह नियम किया गया है। (घ १३/४.४.
२१/२११/२)

घ १४.१.३/४४/६ एसो रुवयदसहो मज्झदीवओ त्ति हेट्ठोयरिमोही-
णाणेषु सव्वथ जोजेयवो १ एदेण दव्वपरुक्खणा कदा।—यह रूपगत
शब्द चूँकि मध्य दीपक है, अतएव इसे अधस्तन और उपरिम
अवधिज्ञानमें (अर्थात् देशावधि, परमावधि व सर्वावधि हीनोंमें)
ओढ़ लेना चाहिए। इस व्याख्यान द्वारा द्रव्य प्ररूपणा की गयी।
नोट—यहाँ रूपीका अर्थ पुद्गल ही न समझना मलिक कर्म व
शरीरमें मज्झदीव द्रव्य व उसके संयोगी भाव भी समझना (दे आगे
अवधिज्ञान/८/६)

२. द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा अनन्तकी नहीं जानता

घ १४.१.२/२७/८ न च ओहिणानमुक्कस्स पि अणतसत्तावगमयव
आगमे त्तावदेसाभावादो। दव्वट्ठियाणंतपज्जाए पक्खलेण अपरिच्छि-
दतो ओही कथ पक्खलेण दव्वं परिच्छिदेज्ज। न, तस्स, पज्जायावयव-
गमाणंतसत्ता मोत्तूण असलेज्जपज्जायावयवमिप्पिदुववपरिच्छेद-
यत्तादो।—अच्छेद भी अवधिज्ञान अनन्त सत्ताके जाननेमें समर्थ
नहीं है क्योंकि, आगममें जैसे उपदेष्टाका अभाव है। प्रश्न—द्रव्यमें
स्थित अनन्त पर्यायोंकी प्रत्यक्षसे न जानता हुआ अवधिज्ञान प्रत्यक्ष-
द्रव्यकी कैसे जानेगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि, अवधिज्ञान पर्यायोंके
अवयवोंमें रहनेवाली अनन्त सत्ताकी छोड़कर असंख्यात पर्याय-
वयवोंसे विशिष्ट द्रव्यका ग्रहण है।

३. क्षेत्रप्ररूपणाका स्पष्टीकरण

घ, १४.१.२/२३/१ जहणोहिणाणी एगोलिए चेव जाणदि तेण न मुत्त-
विरोही त्ति के वि भणति। नेद पि घड्ढे, चत्थिदियणादो वि
तस्स जहणचप्पसादो। कुदो। चत्थिदियणाणेण सखेज्जसूचि-
अगुलविरयारुत्तेह्यामत्ते खत्तमत्तरद्विदव्वसुपरिच्छेदसणादा, एदस्स
जहणोहिखेतायामस्स असखेज्जजोयणुत्तवंभादो च। न च सा।
कुलसेल—मेरुमहीयर—मभणविमाणपुव्ववी—वेध—विज्जाहर—सरठ—सरिस
यादीणि वि पेच्छइ, एदेसिमेगागासे अवद्वाणाभावादो। न च तेमि-
मवयव वि जाणादि, अविण्णादे अययमिहि एदस्स एसो अवयव

त्ति णादुमसत्तोदो। जदि अक्रमेण सव्व घणनोम जाणदि तो सिद्धो
णो वयवो, निप्पट्ठिवक्खत्तादो। सुहमणिगोदागाहणा घणपदगमा-
रेण ठइदाए आगामविस्थाराणेगोलि चेव जाणदि त्ति के वि
भणति। नेद पि घड्ढे, जहोहं सुहमणिगोदजहणोगाहणा त्ठो
जहणोहि चेत्तामिदि भणतेण गाहामुत्तेण सह विरोहादो।
न चाणेगोनीपरिच्छेदो द्दुमस्थान विच्छा, चत्थिदियणा
गालिठियणागलवत्तुपरिच्छेदुत्तमाभादो।—दृष्टि १ जघन्य अवधि
ज्ञानो एक श्रेणीको ही जानता है, अतएव मूत्र विरोध नहीं होगा
ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं परन्तु यह भी घटित नहीं होता,
क्योंकि ऐसा माननेपर चतु इन्द्रियजन्य ज्ञानकी अपेक्षा भी उसके
जघन्यताका प्रमग आवेगा। कारण कि चतु इन्द्रियजन्यज्ञानमें
नरगात सुच्यगुल विस्तार उत्तरोध और आयामरूप क्षेत्रके भीतर
स्थित वस्तुका ग्रहण दखा जाता है। तथा वैसे माननेपर इस
जघन्य अवधिज्ञानके क्षेत्रका आयाम अगत्यात गोजन प्रमाण प्राप्त
होगा।

इसके अतिरिक्त यह कुलाचल, मेरुपर्वत, भवनामान आठ
पृथिविया, देव, तिआघर, गिरगिट और सरोमुपादिकोंका भी नहीं
जान सकेगा, क्योंकि इनका एक आकाश (श्रेणी) में अवस्थान नहीं
है। और वह उनके अवगमकी भी नहीं जानेगा, क्योंकि, अवयवोंके
अज्ञात होनेपर 'यह इसका अवयव' इस प्रकार जाननेकी शक्ति
नहीं हो सकती। यदि वह युगपत् सय घननोको जानता है, तो
हमारा पक्ष सिद्ध है क्योंकि वह प्रतिपक्षमें रहित है। दृष्टि २ सूत्र
निगोद जीवकी अवगाहनाको घनप्रताराकरसे स्थापित करनेपर एक
आकाश विस्ताररूप अनेक श्रेणीकी ही जानता है, ऐसा कितने ही
आचार्य कहते हैं। परन्तु यह भी घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा
हानेपर 'जिसनी सूत्र निगोदकी जघन्य अवगाहना है उतना ही
जघन्य अवधिका क्षेत्र है,' ऐसा करनेवाले गाथामुत्रके माय विरोध
होगा। और दृष्टस्थोके अनेक श्रेणियोंका ग्रहण विरुद्ध नहीं है,
क्योंकि चतु इन्द्रियजन्यज्ञानसे अनेक श्रेणियोंमें स्थित पुद्गल-
स्कन्धोंका ग्रहण पाया जाता है।

घ १३/४.४.४६/२०२-३०२/६ न च एगातो जहणोगाहणा हादि, समु-
दाए ववपरिसमच्चिमस्सिदूण तस्यतणसव्वागासपदेमाण गहणादो।
एद जहणोगाहणवलेत्त एगागासपदेसोलीए रचैदूण तदते द्विद
जहणदव्व जाणदि त्ति किण्ण थेपदे। न, जहणोगाहणादो
अमंखेज्जगुणजहणोहिखेत्तप्पसादो। ज जहणोहिणाणेण अवरु-
खेत्त त जहणोहिखेत्त णाम। जत्तिया जहणोगाहणा तत्तिय चेव
जहणोहिखेमिदि मुत्तेण सह विरोहादो। न च ओहिणाणी
एगागासपुचीए जाणदि त्ति मोत्तु जुत्त, जहणमदिणाणादो वि
तस्स जहणचप्पमगादो जहणवववगमोवायाभावादो च। तन्हा
जहणोहिणाणेण अवरुद्धेत्त सव्वमुच्चिजिदूण घणपदरागारेण द्दइ
सुहमणिगोदअज्जत्तयस्स जहणोगाहणप्पमाण होदि त्ति घेराव्व।
जहणोहिणिवधणस्स सेत्तरम का विक्कभोको उससेहो को वा
आयामो त्ति भण्दि एत्थि एत्थ उवदेसो किंतु ओहिणियदव्वेत्तस्स
पदरवणागारेण द्दइदस्स पमाणमुत्तेरवणगुलस्स असखेज्जदिभागा ति
उवएसो।—एक आकाश पत्ति जघन्य अवगाहना होती है, यह
कहना ठीक नहीं है क्योंकि, समुदाय रूपमें वायवकी परिसमाप्ति इष्ट
है। इसलिए सूत्र निगोद लघ्वपर्यायिक जीवकी अवगाहनामें स्थित
सय आकाश प्रदेशोंका ग्रहण किया है। प्रश्न—इस जघन्य अवधि-
ज्ञानके क्षेत्रको एक आकाशप्रदेशपत्तिरूपसे स्थापित करनेके उसके
भीतर स्थित जघन्य द्रव्यकी जानता है, ऐसा यहाँ क्यों नहीं ग्रहण
करते। उत्तर—नहीं, क्योंकि ऐसा ग्रहण करनेपर जघन्य अवगाहनासे
असंख्यातगुणे जघन्य अवधितानके क्षेत्रका प्रसंग प्राप्त होता है। जो
जघन्य अवधिज्ञानसे अवरुद्ध क्षेत्र है वह जघन्य अवधिज्ञानका क्षेत्र
कहलाता है। किन्तु यहाँ पर वह जघन्य अवगाहनासे असंख्यात

गुणा दिखाई देता है। “जितनी जघन्य अवगाहना है उतना ही जघन्य अवधिज्ञानका क्षेत्र है” ऐसा प्रतिपादन करने वाले सूत्रके साथ उक्त कथनका विरोध होता है। अवधिज्ञानी एक आकाशप्रदेश-सूचीरूपसे जानता है, यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेपर वह जघन्य मतिज्ञानमें भी जघन्य प्राप्त होता है और जघन्य द्रव्यके जाननेका अन्य उपाय भी नहीं रहता। इसलिए जघन्य अवधिज्ञानके द्वारा अवरुद्ध हुए सब क्षेत्रको उठाकर धन-प्रतरके आधाररूपसे स्थापित करनेपर सूक्ष्म निगोद लब्धपर्याप्तिक जोवकी जघन्य अवगाहना प्रमाण होता है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए। प्रश्न—जघन्य अवधिज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाले क्षेत्रका क्या विष्कम्भ है, क्या उत्प्रेष है, और क्या आयाम है। उत्तर—इस सम्बन्ध में कोई उपदेश उपलब्ध नहीं होता। किन्तु धनप्रतराकार-रूपसे स्थापित अवधिज्ञान सम्बन्धी क्षेत्रका प्रमाण उत्प्रेष धनागुलके अमरयातवर्ग भाग है, यह उपदेश अवश्य ही उपलब्ध होता है।

घ ६/४, १, २/२२/८ सुहुमणिगोदजहण्णोगाहणमेत्तमेदं सव्व हि जहण्णो-
हिव्वेत्तमोहिणणिजोवस्स तेण परिच्छिज्जमाणदव्वस्स य अतरमिदि
के वि आइरिया भणति। नेदं घडे सुहुमणिगोदजहण्णोगाहणादो
जहण्णोहिक्खेत्तस्स असंखेज्जगुत्तप्पसगादो। कथमसंखेज्जगुत्तं।
जहण्णोहिणाणविसयविरथास्सेहेहि आयामे गुणिज्जमाणे तत्तो
असंखेज्जगुत्तसिद्धोदो। ण चासंखेज्जगुत्तं सभविदं, जहं हि सुहु-
मणिगादस्स जहण्णोगाहणा तदं हि चैव जहण्णोहिक्खेत्तमिदि भणसेण
गाहासुत्तेण सह विरोहादो। = सूक्ष्म निगोद जोवकी जघन्य अवगा-
हना मात्र यह सब ही जघन्य अवधिज्ञानका क्षेत्र, अवधिज्ञानी जोव
और उसके द्वारा ग्रहण किये जानेवाले द्रव्यका अन्तर है, ऐसा कितने
ही आचार्य कहते हैं। परन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा
स्वीकार करनेसे सूक्ष्म निगोद जोवकी जघन्य अवगाहनासे जघन्य
अवधिज्ञानके क्षेत्रके असंख्यातगुणे होनेका प्रसंग आवेगा। प्रश्न—
असंख्यातगुणा कैसे होगा। उत्तर—क्योंकि जघन्य अवधिज्ञानके
विषयभूत क्षेत्रके विस्तार और उत्प्रेषसे आयामको गुणा करनेपर उससे
असंख्यात गुणत्व सिद्ध होता है। और असंख्यात गुणत्व सम्भव
है नहीं क्योंकि, ‘जितनी सूक्ष्म निगोदकी अवगाहना है उतना ही
जघन्य अवधिज्ञान क्षेत्र है’ ऐसा कहनेवाले गाथा सूत्रके साथ विरोध
आता है।

घ ६/४ १, ४/४८/७ परमोहिउल्लस्सखेत्तं तप्पाओगमसंखेज्जत्वेहि गुणिदे
सव्वोहउल्लस्सखेत्तं होदि। सव्वोहिउल्लस्सखेत्तं प्यायणद्व परमोहि-
उल्लस्सखेत्तं तिस्से चैव परिम अणवद्विगुणगारेण आवलियाए असंखे-
ज्जदिभागपटुप्पण्णेण गुणिज्जदि त्ति के मि भणति। तण्णघडे
परियम्मे वुत्तओहिणिवल्लेत्तापुप्पसीदो। = परमावधि के उत्कृष्टक्षेत्र-
को उसके योग्य असंख्यातलोकोसे गुणित करनेपर सर्वावधिका
उत्कृष्टक्षेत्र होता है। सर्वावधिके उत्कृष्टक्षेत्रको उत्पन्न करानेके लिए
परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रको आवलीके असंख्यातवर्ग भागमें उत्पन्न उसके
ही अन्तिम अवस्थित गुणकारसे गुणा किया जाता है, ऐसा कोई
आचार्य कहते हैं, किन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने-
पर परिक्कर्ममें वह हुए अवधिसे निम्न क्षेत्र नहीं बनते।

४ देवोंके ज्ञानकी क्षेत्रप्ररूपणा परिमाण-नियामक नहीं
स्थान नियामक है

गो जो/जो प्र ४३२/८६३/७ इदं क्षेत्रपरिमाणनियामक न किन्तु तत्रतन-
स्थाननियामकं भवति। कुत। अच्युत्तान्तां विहारमार्गेण
अन्यत्रगतानां तत्रैव क्षेत्रे तदवधयुरपप्यम्युगमात्। = ऐसा इहाँ क्षेत्रका
परिमाण कीया है, तो स्थानका नियमरूप जानना। क्षेत्रका परिमाण
क्षेत्रीय नियमरूप न जानना। जाते अच्युत स्वर्ग पर्यन्तके वासी
विहारकर अन्य क्षेत्रको जाँह अरु तहाँ अवधि होइ तो पूर्वोक्त
स्थानकपर्यन्त ही होइ। ऐसा नाहीं जो प्रथम स्वर्गवाला पहिले नारक

जाइ और तहाँ सेती छेड़ गज्जू नीचे और जानै। सौधर्मद्विकके प्रथम
नरक पर्यन्त अवधिसेत्र है सो तहाँ भी तिष्ठता तहाँ पर्यन्त क्षेत्रको ही
जानै वेसे सर्वत्र जानना।

५ कालकी अपेक्षा अवधि त्रिकालग्राही

घ ६/१, ६-१, १४/२७/३ ओहिणाणम्मि पक्कखेण वट्टमाणसेसपज्जाय-
विसिद्धवत्थुपरिच्छिन्तीए उपलंभा तीदाणाद-असंखेज्जपज्जाय-
विसिद्धवत्थु दसणादो च। = अवधिज्ञानमें प्रत्यक्षरूपसे वर्तमान
समस्त पर्यायविशिष्ट वस्तुका ज्ञान पाया जाता है तथा भूत और
भावी असंख्यातपर्याय-विशिष्ट वस्तुका ज्ञान देखा जाता है। (घ
६/४ १, ४/१२७/८), (घ १३/४ ६, ६/३०४/३, ३०८/६, ३१०/११)
(घ १४/८/२)

६ भावकी अपेक्षा पुद्गल व सयोगी जोवकी पर्यायो-
को जानता है

म सि १/१७/१३४/१० रूपिण्वपि भवन्न सर्वपर्यायिषु स्वयोग्येवैवेद्य-
वधारणार्थमसर्वपर्यायिष्विवर्याभिमन्यन्ध्यते। = रूपी पदार्थों में होता
हुआ भी उनकी सब पर्यायोंमें नहीं होता किन्तु स्वयोग्य सीमित
पर्यायोंमें ही होता है इस प्रकारका निश्चय करनेके लिए ‘असर्व
पर्यायिषु’ पदका सम्बन्ध होता है।

रा वा १/२७/४/८८/१६ असर्वपर्यायिषु इत्येतद्व्याहणमनुवर्तते। ततो
रूपिषु पुद्गलेषु प्रागुक्तद्रव्यादिपरमाणुषु, जीवपर्यायिषु औदयिकीप-
क्षमिकक्षायोपक्षमिकेपूरयतेऽवधिज्ञानम् रूपिद्रव्यसम्बन्धात् न
क्षायिकपारिणामिकेषु नापि धर्मास्तिकायादिषु तत्सम्बन्धाभावात्।
= इस सूत्रमें असर्वपर्याय की अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए। अर्थात्
पहले कहे गये रूपी द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंको (देखो आगे विषय
प्ररूपक चार्ट) और जीवके औदयिक औपक्षमिक और क्षायोप-
क्षमिक प्रायोंको अवधिज्ञान विषय करता है, क्योंकि इनमें रूपी
कर्मका सम्बन्ध है। उसका सम्बन्ध न होनेके कारण वह क्षायिक
व पारिणामिक भाव तथा धर्म अधर्म आदि अरूपी द्रव्यों (व उनकी
पर्यायों) को नहीं जानता।

घ ६/४, १, २/२७/४ जमप्पणो जाणिट्ठव्वं तस्स अणत्तेसु वट्टमाणपज्जाएसु
तथ आवलियाए असंखेज्जदिभागमेत्तपज्जाया जहण्णोहिणाणेण
विसईकया जहण्णमावो। के वि आइरिया जहण्णदव्वस्सुवरिट्ठद्वरूप-
रस-गघ फासादिसव्वपज्जाए जाणदि त्ति भणति तण्ण घडे,
तेसिमाणतयादो। तीदाणागपज्जायाण विण्ण भावघवएसो। ण
तेसि कालत्तत्तुभवगमादो। एव जहण्णभावपरूवणा वदो। = अपना
जो जाना हुआ द्रव्य है उसकी अनन्त वर्तमान पर्यायोंमें-से जघन्य
अवधिज्ञानके द्वारा विषयीकृत आवलीके असंख्यात भागमात्र पर्याय
जघन्य भाव है। कितने ही आचार्य जघन्य द्रव्यके ऊपर स्थित रूप
रस गन्ध एव स्पर्श आदि रूप सब पर्यायोंको उक्त अवधिज्ञान
जानता है, ऐसा कहते हैं। किन्तु वह घटित नहीं होता क्योंकि वे
अनन्त हैं। और उत्कृष्ट भी अवधिज्ञान अनन्त सत्याके जाननेमें
समर्थ नहीं है। प्रश्न—अतीत व अनागत पर्यायोंकी भाव सहा
पर्यो नहीं है। उत्तर—नहीं है, क्योंकि, उन्हें काल स्वीकार किया
गया है। इस प्रकार जघन्य भावकी प्ररूपणा की गयी।

घ ६/८/३ भावदो असंखेज्जलोयमेत्तद्वरपज्जाए तीदाणागद्वट्टमाण-
कालविसए जाणदि। तेण ओहिणाण सव्वदव्वपज्जयविसय ण
होदि। = भावकी अपेक्षा वह अतीत अनागत एव वर्तमान कालको
विषय करनेवाली असंख्यात लोक मात्र द्रव्यपर्यायोंको जानता है।
इसलिए अवधिज्ञान द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंको विषय करनेवाला
नहीं है।

७ अवधिज्ञानके विषयभूत क्षेत्रादिकोमें वृद्धि-हानिका क्षम

प ख १३/४, ६ ६/६/गाथा सूत्र ८/३०६ कालो चट्टण वुद्धो। कालो भजि-
दव्वो खेत्तवुद्धोए। वुद्धोए दव्व-पज्जाए भजिदव्वो खेत्तकासा दु।
(म म/पु १/गा सू ७/२३)

ध १३/६.६.६६/३१०/४ ए सो गाहरो देसोहीए ओजेयववा, ण परमोहीए ।
परमोहीए पुण द्रव्य-वेत्त काल भावणमग्गमेण वुट्ठो होदि चि
वत्तववा ।—कास चारों हो (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) वृद्धियोग
लिय होता है । क्षेत्रको वृद्धि होने पर कालको वृद्धि हासी भी है और
नहीं भी होती । तथा द्रव्य और पर्यायिकी वृद्धि होनपर क्षेत्र और
कालको वृद्धि होती भी है और नहीं भी होती । (रा वा १/२३/४/
८३/२४) (गो जी /जी प्र ४१२/८३६/११) । नोट—इस गाथाके अर्थको
देशावधिज्ञानमें योजना करनी चाहिए, परमावधिमें नहीं । परमा-
वधिज्ञानमें तो द्रव्य, क्षेत्र काल और भावकी युगपथ वृद्धि
होती है ।

१ अवधिज्ञान विषयक प्ररूपणाएँ

१ द्रव्य व भाव सम्बन्धी सामान्य नियम

ध १३/६.६.६६/१ गा सूत्र ३/३०१ ओगाहणा जहण्णा णिममा पु सुहमणि-
गोदजोवस्स । जहोही तहोही जहणिया उेतदोओही । ३।—सूक्ष्म
निगोदलक्ष्यपर्यायिक जीवकी जितनी जघन्य अवगाहना हाती है
उतना अवधिज्ञानका जघन्य क्षेत्र है ।

रा वा १/२१/७/८०/२२ कालद्रव्यभावपु कोडवधिरिति । अत्रोच्यते—
यस्य यावत्क्षेत्रावधिरस्तस्य तावदाकाशप्रदेशपरिच्छिन्ने काल द्रव्ये
भवति । तावत्क्षेत्रसमयेऽतीतेष्वनागतेषु च ज्ञान वर्तते तावत्संन्यात-
भेदेषु अनन्तप्रदेशेषु पुद्गलस्कन्धेषु जोषु च सकर्मेषु । भावत स्व-
विषयपुद्गलस्कन्धानां रूपादिविकल्पेषु जोषपरिणामेषु चोदयिकौप-
शानिकक्षायोपशानिकेषु वर्तते ।—प्रत्यक्ष—काल द्रव्य व भावों में क्या
अवधि होती है । उत्तर—जिस अवधिज्ञानका जितना क्षेत्र है उतने
आकाश प्रदेशप्रमाण काल और द्रव्य होते हैं । अर्थात् उतने समय-
प्रमाण अतीत और अनागतका ज्ञान होता है और उतने भेदवाले
अनन्तप्रदेशों पुद्गलस्कन्धोंके रूपादिगुणोंमें और (उतने हो र्म
स्कन्ध युक्त) जीवके औदयिक औपशानिक व क्षायिक भावोंमें
अवधिज्ञानकी प्रवृत्ति होती है । नोट—(सर्व ही प्ररूपणाओंमें यह
सामान्य नियम द्रव्य व भाव व कालके सम्बन्धमें विशेषता जाननेके
लिए लागू करते रहना) ।

२ नरक गतिमें देशावधि का विषय

(म म १/गा १४/२३) (ति प २/१७२), (रा वा १/२१/७/८०/२७)
(ह पु ४/३४०-३४१) (ध १३/६.६.६६/३२६-३२६) (गो जी सू ४२४/८४८)
(त्रि सा २०२)

नाम	जघन्य क्षेत्र	उत्कृष्ट क्षेत्र			काल	द्रव्यभाव
		ऊपर	तिर्यक्	नीचे		
रत्नप्रभा						
शकराप्रभा						
मालुकाप्रभा						
कप्रभा						
धूमप्रभा						
तम प्रभा						
महातम प्रभा						

३ भवनत्रिक देवोंमें देशावधि का विषय

(ध १३/६.६.६६/गू १०-११/३१४) (म म १/गा ६-१०/२२) ध ६/४.१.
२/८/२४) (ति प ३/१७२-१८१) (रा वा १/२१/७/८०/४) (म प ११/
४४०-४४१) (गो जी /गू ४२६-४२६/८५०) ।

नाम	ज क्षेत्र	उत्कृष्ट क्षेत्र			काल	द्रव्यभाव
		ऊपर	तिर्यक्	नीचे		
असुरकुमार	२५ गो	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान
नागकुमारा-दि	"	मेरुशिखर	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान
कप्रकार	"	स्वभवन-शिखर	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान
व्यन्तर	"	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान
१ पश्चिम आयु						
वाते व्यन्तर						
१००० वर्षा-	४ मास					
युगच्युत्तर						
ज्योतिषी	२५४					
मास						

४ कल्पवासी देवोंमें देशावधि का विषय

(म म १/गा सू/११ १३/२३) (ध १३/६.६.६६/गा सू १२ १४/३१६-
३२०) (ध ६/गा १०-१२/२४) (ति प ८/६८६-६९०) (ग वा १/२१/
७/८०/१३) (ह पु ६/१११-११२) (त्रि सा ४२३) (गो जी /गू ४३०-
४३६/८५२-८५६) ।

नाम स्वर्ग	जघन्य क्षेत्र	उत्कृष्ट क्षेत्र			काल	द्रव्यभाव
		ऊपर	तिर्यक्	नीचे		
सौधर्म ईशान	ज्योतिषदेव-का उत्कृष्ट	१२ राजू	रत्न प्रभा	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान
सनखुमार-	रत्नप्रभा	४ राजू	शरणाप्रभा	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान
मारेन्द्र	मारेन्द्र	४ राजू	मालुका	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान
मय मलोत्तर	शरणा प्र	४ राजू	"	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान
लान्तव कापिष्ठ	मालुका	४ राजू	कप्रभा	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान
शुक महादुक	"	४ राजू	"	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान
दावार सहसार	"	४ राजू	"	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान
आनत प्राणत	कप्रभा	४ राजू	"	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान
आरण अच्युत	"	४ राजू	"	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान
नक्ष ग्रैवेयक	धूमप्रभा	४ राजू	तमप्रभा	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान
नवअनुदिश	महातमप्र	४ राजू	बातवसय	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान
	(ह पु ६/१११)	४ राजू	रहित	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान
पञ्च अनुत्तर	बातवसय	४ राजू	लोकनाड़ी	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान
	रहित	४ राजू	"	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान
	लोक नाड़ी	४ राजू	लोकनाड़ी	असुरादिमान	असुरादिमान	असुरादिमान

५. त्रियं च व मनुष्यो मे देशावधिका विषय

(म म १/गा सू १४-१५/२३) (रा वा १/२२/४/२२/५) (घ २/१ १,२/६३)
(गो जी /मू ४२५/२४६)।

नाम	ज	द्रव्य	क्षेत्र	काल	भाव
त्रियं च	उ	तंजस शरीर प्रमाण	अस द्वोप- समुद्र	अस वर्ष (१ समय कम पश्य)	आवली + अस
मनुष्य	ज	एक जोवका औदारिक शरीर-लोक प्रदेश (स्वक्षेत्र के प्रदेशों के अस भाग प्रमाण विससोपचय सहित स्व शरीर)	उत्सेधोगुल/अस (लव्घ्यपर्याप्त निगोदियाकी अवगाहनाप्रमाण का अस भाग)	आवली + अस	आवली + अस
	उ	एक परमाणु या कार्माण शरीर प्रमाण	समस्त लोक (अस लोक)	अस लोक प्रमाण समय	आवली + अस

६. परमावधि व सर्वावधिका विषय

(म म १/गा सू ८/२२) (घ १३/५,६,७/गा सू १५/३२३)
(घ ६/४,९,३/१६/४२-५०) (रा वा १/२२/४/२३/५)
(गो जी /मू ४१४-४२१/८३७)।

ज	द्रव्य	क्षेत्र	काल	भाव
ज	(१) परमावधि—(घ ६/पृ) देशावधिका उत्कृष्ट × स (४५)	देशावधिका उत्कृष्ट × अस (४५)	देशावधि का उत्कृष्ट × अस (४५)	देशावधिका उत्कृष्ट × अस (४५)
उ	परमावधिका जघन्य + (देशावधिका उत्कृष्ट × अग्नि काय द्वारा परि- च्छिन्न अनन्त परमाणु)	अस लोक (४२)	अस लोक प्रदेश प्रमाण समय (सामान्य नियम)	अन्तिम विकल्प तक क्रमेण अस गुणित (४७)

नोट—परमावधिके जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त विषयवृद्धिके विकल्प
देखो (घ ६/४,९,३/४४)

(२) सर्वावधि—(घ ६/पृ)

नोट— यहाँ जघन्य उत्कृष्टका विकल्प नहीं है—

परमावधिका उत्कृष्ट + बहु/अस (४८)	परमावधिका उत्कृष्ट × अस लोक (४८)	परमावधिका उत्कृष्ट × अस (५०)	परमावधिका उत्कृष्ट × अस (४८)
-------------------------------------	--	------------------------------------	------------------------------------

७ देशावधिका क्रमिक वृद्धिके १६ काण्डक

(म म १/गा सू २६/२१) (घ १३/५,६,७/गा सू ३ ६/३०१-३२३)
(घ ६/४,९,३/गा ४-७/२४-२६) (रा वा १/२२/४/२३/८)
(गो जी /मू व टी ४०४-४१३/८३०-८३६)

ध / १३	पृ	द्रव्य	क्षेत्र	काल	भाव
१	३०४	निज औदारिक शरीर	घनांगुल + अ	आवली + अस	आवली + अस
२	३०५	निज औदारिक शरीर	घनांगुल + स	आवली + स	आवली + स
३	३०६	निज औदारिक शरीर	घनांगुल	किंचिदुन आवली	किंचिदुन आवली
४	३०७	निज औदारिक शरीर	घनांगुल पृथक्	आवली	आवली
५	३०८	निज औदारिक शरीर	१ घन हाथ	आवली पृथक्	आवली पृथक्
६	३०९	निज औदारिक शरीर	१ घन कोस	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
७	३१०	निज औदारिक शरीर	१ घन योजन	१ भिन्न मुहूर्त	१ भिन्न मुहूर्त
८	३११	निज औदारिक शरीर	२५ घन योजन	किंचिदुन १ दिव	किंचिदुन १ दिव
९	३१२	निज औदारिक शरीर	भरत क्षेत्र प्रमाण	अर्ध मास	अर्ध मास
१०	३१३	निज औदारिक शरीर	(४२६) घन योजन	साधिक १ मास	साधिक १ मास
११	३१४	निज औदारिक शरीर	जम्बूद्वीप प्रमाण	१ वर्ष	१ वर्ष
१२	३१५	निज औदारिक शरीर	१००,००० घन योजन	असर्वात्	असर्वात्
१३	३१६	निज औदारिक शरीर	मनुष्यलोक प्रमाण	असर्वात्	असर्वात्
१४	३१७	निज औदारिक शरीर	४५००,००० घन योजन	असर्वात्	असर्वात्
१५	३१८	निज औदारिक शरीर	रुचक्कर द्वोप तक	वर्ष पृथक्	वर्ष पृथक्
१६	३१९	निज औदारिक शरीर	असर्वात् द्वोप सागर	सरयात वर्ष	सरयात वर्ष
१७	३२०	निज औदारिक शरीर	तेजस शरीर पिंड	असर्वात्	असर्वात्
१८	३२१	निज औदारिक शरीर	कार्माण	असर्वात्	असर्वात्
१९	३२२	निज औदारिक शरीर	विसमापचय रहित	असर्वात्	असर्वात्
२०	३२३	निज औदारिक शरीर	एक तंजसवर्गणा	असर्वात्	असर्वात्
२१	३२४	निज औदारिक शरीर	एक भापा वर्गणा	असर्वात्	असर्वात्
२२	३२५	निज औदारिक शरीर	एक मनोवर्गणा	असर्वात्	असर्वात्
२३	३२६	निज औदारिक शरीर	एक कार्माण वर्गणा	असर्वात्	असर्वात्

ध ६/४,९,३/२६-३० का सारांश—इसी प्रकार द्रव्य व भाव में करते
जायें। क्षेत्र व काल अवस्थित रखें। द्रव्य व भावकी वृद्धि में अंगुल।
अस प्रमाण विकल्प हो चुकने पर क्षेत्र में एक प्रदेशकी वृद्धि करें।
काल अवस्थित रखें। उपरोक्त क्रमसे पुन-पुन द्रव्य व भाव में वृद्धि
करें। इस प्रकार कालको अवस्थित रखते हैं और क्षेत्र में एक-एक प्रदेश
की वृद्धि करते हुए अंगुल/अस. प्रमाण प्रदेश वृद्धि हो जाने पर एक
समय बढ़ावें। इसी प्रकार पुन पुन कालकी वृद्धि करते काल में भी
आवली/अस विकल्प उपपन्न करें।

आगे जाकर क्षेत्रकी वृद्धि प्रतिकाल वृद्धिस्थान में यथायोग्य घनां-
गुलके असर्वात् भाग, सरयात भाग, १ भाग तथा वर्गादिरूप होने
लगती है। यहाँ तक कि देशावधिका उत्कृष्टकाल तो एक समय कम
पश्य और क्षेत्र समस्त लोक हो जाता है।

अवधि ज्ञानावरण—दे शानावरण।

अवधि जिन—वे जिन।

अवधि दर्शन—दे दर्शन ५।

अवधि दर्शनावरण—दे दर्शनावरण।

अवधि मरण—दे मरण १

अवधिस्थान—सप्त नरकका इन्द्रक—दे नरक ५/३।

अवधूत—अवधूत काल अनशन—दे अनशन ।

अवनिपाल—जैन हितपोष नाथू राम—मगधका राजा ।

अवनीत—गर्भवशीय राजा था । इनका पुत्र दुर्बिनीत आ पूज्य पादका शिष्य था । तदनुसार इनका समय वि ६००-६३६ (ई ४४३-४७८) आता है । (इ पा/प्र ३८/प्रिमी जो), (समाधितंत्र/प्र १० पं, जुगलकिशोर), (स सि प्र ६६/ पं फूलचन्द) ।

अवपीडक—भ आ/यू, ४७२-४७८ आलोचनागुणदोसे कोई सम्म पि पणविज्जतो । सिधेहि गारवादिहि सम्म णालोचए खयए ॥४७४॥ णिइ महुए हिदयगम च पण्टादिणज्जमेगते । कोई च्चु पण्ण विज्ज-तओ वि णालोचए सम्म ॥४७६॥ तो उप्पीलेदकवा खयगस्सोप्पीलेए दोसा से दोमेह मसमुदरमिब गदं गोहो जए मिगाल ॥४७७॥ उज्जसी तेजस्सी बच्चस्सी पहिदकिशियाग्रिओ । पज्जेइ घद माया तस्सेव हिद विचित्ती ॥४७९॥ —आलाचना करनेसे गुण और न करनेसे दोष की प्राप्ति होती है, यह बात अच्छी तरहसे समझानेपर भी कोई क्षणक तीव्र अभिमान या लज्जा आदिके कारण अपने दोष कहनेमें उद्युक्त नहीं होता है ॥४८४॥ स्निग्ध, वर्णमयुर य हृदयमें प्रवेश करनेवाला ऐसा भाषण माननेपरभी कोई क्षणक अपने दोषोंकी आलोचना नहीं करता ॥४८६॥ तब अवपीडक गुणभारक आचार्य क्षणके दोषोंको जवरौसे बाहर निकालते हैं, जैसे सिंह सियासके पेटमें भी चला गया मांस वमन करवाता है ॥४८७॥ उरपीडक या अवपीडक गुणधारक आचार्य आजस्वी, मलवायु और तेजस्वी प्रतापवान् होते हैं, तथा सबमुनियोंपर अपना रौब जमानेवाले होते हैं। येवचस्वी अर्थात् प्रशंसा उत्तर देनेमें कुशल होते हैं, उनकी कीर्ति चारों दिशाओंमें रहती है । वे सिंह समान अक्षीभ्य रहते हैं । ये किमोसे नहीं डरते ।

अवमान—दे प्रमाण/६

अवमौदय—

१ अवमौदय तपका लक्षण—

यू आ यू ३६० मत्तोसा किरकवला पुरिसस्स तु होदि पयदि आहारो । एगकवलादिहि ततो ऊणियगएण उमोदरिय ॥३६०॥ —पुरुषका स्वाभाविक आहार ३२ ग्राम है उसमें-से एक ग्राम आदि कम करके लेना अवमौदय तप है । (रा बा ६/१६/१९८/२१) (त सा ७/६) (अन घ ७/२२/६७२) (भा पा/टो ७८/२२२/१) ।

घ १३/६, ४, २६/६६/१ ब्रह्माहारणियमो अवमौदरियतवो । जो जस्स पयडिआहारो ततो ऊणाहारविसयअभिगहो अवमौदरियमिदि भणिद होदि । —आधे आहारका नियम करना अवमौदय तप है । जो जिसका प्राकृतिक आहार है उससे न्यून आहार गियमक अभिग्रह (प्रतिष्ठा) करना अवमौदय तप है ।

भ आ/वि ६/३२/१७ योगत्रयेण तुसिंकारिण्यां भुजिक्रियायां दर्पबाहिन्या निराकृति अवमौदयम् । —तृप्ति करनेवाला, दर्प उत्पन्न करनेवाला ऐसा जो आहार उसका मन वचन काय रूप तीनों योगोंसे रमाग करना अवमौदय है ।

२ अवमौदय तपके अतिचार

भ आ/वि ४८७/७७७/५ रसयदाहारमसरेण परिश्रमो मम नापै ति इति वा । पञ्चजीवनिकायमाधायो अन्यतमेन योगेन वृत्ति । प्रचुरनिद्रतया संश्लेशकमनर्थ भिदमनुष्ठितं मया, संघापकारीदं नाचरिष्यामि इति संक्षय अवमौदयातिचार । मनसा बहुभोजनादर । परं बहुभोजना-मोति चिन्ता । भुङ्क्ष्व यायद्भवत्तत्सिंहरिति वचनं, भुक्त मया बहिर्युक्ते सम्यक्कृतमिति वा वचनं, हस्तमंशया प्रदर्शन कण्ठदेश-मुपस्पृश्य । —रस युक्त आहारके बिना यह मेरा परिश्रम दूर न होगा, ऐसा चिन्ता करना, पट्काय जीवोंको मन वचन कायमें से किसी भी एक योगसे बाधा देनेमें प्रवृत्त होना । 'मेरेको बहुत निद्रा आती है,

और यह अवमौदय नामक तप भी व्यर्थ धारण किया है, यह संनैशदायक है, संताप उत्पन्न करेवाला है, ऐसा यह तप तो मैं फिर कभी भी न करूँगा' ऐसा मन्त्रण करना—ये अवमौदय तपक अतिचार हैं । अथवा बहुत भोजन करनेकी मनमें इच्छा रखना, 'दूधगर्भोको बहुत भोजन करनेमें प्रयुक्त करूँगा' ऐसा विचार रखना, 'तुम तृप्ति हो तो तब भोजन करा' ऐसा कहना, यदि वह 'मैंने बहुत भोजन किया है' ऐसा कहे ता 'तुमो अच्छा किया' ऐसा सोचना अपने गनेका हाथमें स्पर्शकर 'यहाँ तक तुमने भोजन किया है ना' ऐसा हस्त चिह्नसे अपना अभिप्राय प्रगट करना—य सब अवमौदय तपक अतिचार हैं ।

३. अवमौदय तप किसके करने योग्य है

घ १७/६, ८, २६/६६/१२ एवो वि तवो कदि गायधो । विमत्तपकोवेण उववास अवमौदयि अत्राहारेण उववासोदो अरियपरिणमहि सगधयो-माहप्पेण भवजोबुवगमणवापदेहि वा मगमुत्तिगमिउप्पत्तिदिरो-हकमुएहि वा अदिमत्ताहागभायणेण पाहियेयानाणिमिणेण मज्झाय-भंगमारएहि वा । —प्रदम—यह तप करने वाला चाहिए । उत्तर—जो पिचके प्रयोपपदा उववास करनेमें असमर्थ है, उन्हें आधे आहारकी अवस्था उववास करनेमें अधिक ध्यान आती है जो अपने तपक माहारम्यसे भव्य जीवोंका उपदास्त करनेमें लगे हैं, जो अपने उदरमें कृमिको उत्पत्ति का विरोध करना चाहते हैं और जो व्याधिजन्य वेदनाक निमित्तभूत अतिमात्रमें भोजन कर देनेसे स्वाध्यायके भग होनेका भय करते हैं, उन्हें यह अवमौदय तप करना चाहिए ।

४ अवमौदय तपका प्रयोजन

यू आ ५१ धम्मावासायजगे पाणादीये उरगह पुणदि । य इन्द्रियपदोमयरो उमादरितमोघुत्तो ॥५१॥ —समाधि धर्मोंमें, नामाग्निकादि आवश्यकोंमें, मृक्षमूलादि योगोंमें तथा स्वाध्याय आदिमें यह अवमौदय तपकी वृत्ति उपकार करती है और इन्द्रियोंको स्वच्छाचारी नहीं होने देती ।

स सि ६/१६/४३८/७ सज्जमजागरदोपप्रशममत्तोपम्याध्यामादिमुत्तसि-द्धयर्थमवमौदयम् । —संयमकी जागृत रखने, दोषोंके प्रशम करने, मत्तोप और स्वाध्यायादिकी सुवर्धक सिद्धिके लिए अवमौदय तप किया जाता है ।

अवयव—रा बा ४/१६/१० अवयवगते हरयवगवा । जो वस्तुके हिस्से कर देते हैं वे अवयव हैं ।

* अनुमानके पाँच अवयव—दे अनुमान

* जल्पके चार अवयव—दे जल्प

* परमाणुका सावयव निरवयवपना—दे परमाणु

* दारी रके अवयव—दे अगोपाग

अवरोहक—दे अवतारक ।

अवर्णवाद—स सि/६/१३/३३१/१३ गुणरस महत्तु असहभूतदोषो-ज्ञानमवर्णवाद । —गुणवाले बड़े पुरुषोंमें जो दोष नहीं हैं उनका उनमें उद्भावन करना अवर्णवाद है यथा—

रा बा/६/१३/८-१२/६२७/१२ विण्डास्ववहारजीविन कम्मलदशानिर्ह-रणा अलाभुपात्रपरिग्रहा बालभेदवृत्तज्ञानदर्शना केवलिन इत्यादि-वचन कर्त्तव्यवर्णवाद । मांसमत्स्यभक्षणं मधुसुरापानं वेदादित-मैथुनोपसेवा राशिमोजनमिश्रयेवमाचनवचामिश्रयुद्धानां श्रुतेऽवर्णवाद ॥ ६ ॥ एते भ्रमणा दृष्टा अस्नानमलदिग्धाद्या अशुचयो दिग्गम्भरा निरपत्रपा हृहैवेति दु खमनुभवन्ति परलोकक सुपुति हरयादि वचनं सहृदयवर्णवाद ॥ १०॥ जिनापदिष्टो पशविकर्षो धर्मो निर्गुण सवुपसेविनो ये चे तेऽसुरा भवन्ति इत्येवमादिप्रधानं धर्मवर्णवाद ॥ ११॥ सुरा मांसं चोपसेवन्ते सेवा आह्वयान्दिपुचासक्तचेतस इत्या-

याद्योषणं देवावर्णवाद ॥१२॥—केवली भोजन करते हैं, कम्बल आदि धारण करते हैं, तु शङ्कीका पात्र रखते हैं उनके ज्ञान और दर्शन क्रमशः होते हैं इत्यादि केवलीका अवर्णवाद है ॥८॥ मांस-मछलीका भक्षण, मद्य और मुराका पीना, कामातुरको रतिदान तथा रात्रि भोजन आदिमें कोई दोष नहीं है, यह सभ श्रुतका अवर्णवाद है ॥९॥ ये श्रमण शूद्र हैं, स्नान न करनेसे मलिन शरीरवाले हैं, अशुचि हैं, दिग्गम्बर हैं, निर्लज्ज हैं इसी लोकमें ये दुःखी हैं, परलोक भी इनको कष्ट है, इत्यादि सभका अवर्णवाद है ॥१०॥ जिनोपदिष्ट धर्म निर्गुण है, इमके धारण करनेवाले मर कर अमर होते हैं इत्यादि धमका अवर्णवाद है ॥११॥ देव मद्य मांसका सेवन करते हैं, आहृष्या आदिमें आसक्त हुए ये, इत्यादि देवोंका अवर्णवाद है ।

भ आ/वि/४७/१६१/२३ सर्वज्ञतावीतरागते नार्हति विद्योते रागादिभि-
रविधया च अनुगता समस्ता एव प्राणभूत इत्यादिरर्हतामवर्णवाद ।
स्त्रोवस्त्रगन्धमाष्यालकारादिबिरहितानां सिद्धानां मुख न किंचिद-
तोन्द्रियाणाम् । तेषां समधिगतौ न निधन्यनमस्ति किंचिदिति
सिद्धावर्णवाद । न प्रतिविद्यादिस्था अर्हदाद्य सद्गुणवैकल्याच्च
प्रतिविद्यानामर्हदादित्वमिति चैर्यावर्णवाद । अज्ञात चोपदिशतो
वच कथं सत्यम् । तदुद्भूतं च ज्ञानं कथं समीचीनमिति श्रुतावर्ण-
वाद । मुखप्रदायी चेद्रम स्वनिष्पत्त्यनन्तरं मुखमारमन किं न
करोति इति धर्मावर्णवाद । केशोल्लू चनादिभि पोडयतां च कथं
नामवध । अष्टमामविषय, धर्म, पाप, तत्फलं च गदतां कथं
सत्यव्रतम् । इति साधवर्णवाद । एवमितरयोरेपि ।—वीतरागता व
सर्वज्ञपना अर्हन्तमं नहीं है, क्योंकि जगत्तमें सम्पूर्ण प्राणी ही रागद्वेष
और अज्ञानसे घिरे हुए देखे जाते हैं, ऐसा कहना यह अर्हन्तका
अवर्णवाद है । स्त्री, वस्त्र, इतर वगैरह सुगंधी पदार्थ, वृष्णमाला और
बखालकार ये ही मुखके कारण हैं । इन पदार्थोंका अभाव होनेसे
सिद्धाका मुख नहीं है । मुख इन्द्रियोंसे प्राप्त होता है परन्तु वे
सिद्धाको नहीं है, अतः वे सुखी नहीं हैं ऐसा कहना सिद्धावर्णवाद
है । मूर्तिमें अर्हन्त सिद्ध आदि पूज्य पुरुष वास नहीं करते हैं, क्यो-
कि उनके गुण मूर्तिमें दीखते नहीं हैं, ऐसा कहना चैर्यावर्णवाद
है । अज्ञात वस्तुका यदि वह उपदेश करेगा तो उसके उपदेशमें
प्रमाणता कैसे आवेगी । उसके उपदेशसे लोगोंको जो ज्ञान उत्पन्न
होगा वह भी प्रमाण कैसे माना जायेगा । अतः आगमज्ञान प्रमाण
नहीं है । ऐसा कहना श्रुतावर्णवाद है । यदि धम मुखदायक है
तो वह उपपन्न होनेके अनन्तर ही मुख क्यों उत्पन्न नहीं करता है ।
ऐसा कहना यह धर्मावर्णवाद है । ये साधु केशलोच उपवासादिके
द्वारा अपने आत्मको दुःख देते हैं, इसलिए इनको आत्मवधका दोष
क्यों न लगेगा । पाप और पुण्य दृष्टिगोचर होते नहीं हैं, तो भी ये
मुनि उनका और उनके नरक स्वर्गादि फलोंका वर्णन करते हैं ।
उनका यह विवेचन झूठा होनेसे उन्हें सत्यव्रत कैसे हो सकता है ।
इत्यादि कहना यह साधु अवर्णवाद है । ऐसे ही अन्यमें भी जानना ।

अवर्ण्यसमा—न्यायविषयक एक जाति—दे वर्यसमा ।

अवलंब—अर्थात् कारण—वे कारण ॥१॥

अवलंबना—घ १३/६.६.३७/२४२/४ अवलम्ब्यते इन्द्रियादीनि स्वो-
त्पत्त्ये इत्यवग्रह अवसम्पन्ना ।—जो अपनी उत्पत्तिके लिए इन्द्रिया-
दिकका अवलम्बन लेता है, वह अवलम्बना अवग्रहका चौथा नाम है ।

अवलंबनाकरण—घ १०/४.२.४.११२/३३०/११ किमवलंबनाकरण
नाम । परभवजातअवनिर्मिद्विदन्वस्स ओकहट्ठणाए हेट्ठा णिव-
दणमवलंबनाकरणं नाम । एदस्स ओकहट्ठणसण्णा किण्ण वदा । ण
उदयाभावेण उदयावलिपयाहिरे णिवदणमणस्स ओकहट्ठणा वयरस-
विराहादो ।—प्रश्न—अवलंबनाकरण किसे कहते हैं । उत्तर—परभव
सम्पन्धी आयुवी उपरिम स्थितिमें द्रव्यका अपकर्षण द्वारा
नीचे पतन करना अवलंबनाकरण कहा जाता है । प्रश्न—इसकी अप-

कर्षण सञ्ज्ञायों नहीं की । उत्तर—नहीं, क्योंकि, परभविक आयु-
का उदय नहीं होनेसे इसका उदयावलि के बाहर पतन नहीं होता,
इसलिए इसकी अपकर्षण सञ्ज्ञा करनेका विरोध आता है । [आशय
यह है कि परभव सम्पन्धी आयुका अपकर्षण होनेपर भी उसका
पतन आवाधा कालके भीतर न होकर आधाघाते ऊपर स्थित
स्थितिनिपिकोंमें होता है । इसीसे इसे अपकर्षणसे जुदा बताया
गया है ।

अवलव ब्रह्मचारी—दे ब्रह्मचारी ।

अवश—नि सा/मृ/१४२ ण यसो अवसो—जो अन्यक वश नहीं है
वह अवश है ।

नि सा/ता मृ/१४२ यो हि योगी स्वामपरिग्रहादन्वेषां पदार्थानां वशं
न गत । अतएव अवश इत्युक्त ।—जो योगी निजारामके परिग्रहके
अतिरिक्त अन्य पदार्थोंक वश नहीं होता है, और इसीलिए जिसे
अवश कहा जाता है ।

स श/टो/३७/२३६ अवश विषयेन्द्रियाधीनमनारामायत्तमित्यर्थ ।—
विषय व इन्द्रियोंके आधीन अनारम पदार्थोंका निमित्तपना अवश
है अर्थात् अपने वश में नहीं है ।

अवसन्न—भ आ/मृ १२६४-१२६६/१२७२ आसणसेवणाओ पडिसेवता
असज्जो होई । मिद्धिपहपच्छिदाआ आहीणो साधुसथादो ॥१२६४॥
इ दियकसायगुरुगत्तेण सुहसीलभाविदा समणो । करणालसा भविता
सेवदि ओसणसेवाओ ॥१२६६॥—जो साधु चारित्रसे भ्रष्ट होकर सिद्ध-
मार्गकी अनुयायी क्रियाएँ करता है तथा असयत जनकोंकी सेवा करता
है, वह अवसन्न साधु है । तीव्र कपाय युक्त होकर वे इन्द्रियोंके
विषयोंमें आसक्त हो जाते हैं, जिसके कारण सुखशील होकर आच-
रणमें प्रवृत्ति करते हैं ।

भ आ/वि २६/८८/१४ पर उद्धृत गथा 'पासरथो सच्छंदो कुसील
ससत्त होति ओसण्णा । जं सिद्धि पच्छिदादो आहीणा साधु
सरथादो ।'—पारबस्थ, स्वच्छन्द, कुशील, ससत्त और अवसन्न ये
पाँच प्रकारके मुनि रत्नत्रय मार्गमें विहार करनेवाले मुनियोंका श्याग
करते हैं अर्थात् स्वच्छन्दसे चलते हैं ।

भ आ वि १६६०/७२१/२१ यथा कर्दमे क्षुण्ण मार्गादीनोऽवसन्न इत्यु-
च्यते स द्रव्यतोऽवसन्न । भावावसन्न अशुद्धचारित्र ।—जैसे कीचड़में
कैसे हुए और मार्गभ्रष्ट पथिकको अवसन्न कहते हैं, उसको द्रव्याव-
सन्न भी कहते हैं, वैसे ही जिसका चारित्र अशुद्ध मन गया है ऐसे
मुनिको भावावसन्न कहते हैं । (विशेष विस्तार दे० साधु ५)

घा सा १४४/१ जिनवचनानिम्हो मुक्तचारित्रभारो ज्ञानाचारणभ्रष्ट,
करणालतोऽवसन्न ।—जो जिनवचनोंको जानते तक नहीं, जिन्होंने
चारित्रका भार सभ छोड़ दिया है, जो ज्ञान और चारित्र दोनोंसे
भ्रष्ट हैं और चारित्रके पालन करनेमें आलस करते हैं, उन्हें अवसन्न
कहते हैं । (भा पा/टो १४/१३७/२१)

* अवसन्न साधुका निराकरण आदि—दे० साधु ६

अवसन्नासन्न—सेत्र प्रमाणका एक भेद । अपर नाम उरसज्ञासन्न—
दे गणित १/१३ ।

अवसर्पिणी—घ १३/६.६.६६१/३०१ कोटिकोटयोदशैतेषां पश्यानां
सागरोपमम् । सागरोपमकोटीनां दश कोटयोऽवसर्पिणी ॥३१॥
—दस काड़ाकोड़ी पश्योंका एक सागरोपम होता है और दस कोड़ा-
कोड़ी सागरोपमोंका एक अवसर्पिणी कास होता है । विशेष दे
कास/४ ।

अवसाय—न वि ३/७/१४०/१६ अवसायोऽधिगम—पदार्थके
ज्ञान या निश्चयका नाम अवसाय है ।

अवस्था—प घ मृ ११७ अपि निरया प्रतिसमय विनापि यरन
हि परिणमन्ति गुणा । स च परिणामोऽवस्था तेषामेव ॥११७॥—गुण

(या द्रव्य) निरय है। तो वे स्वभाव से ही प्रतिसमय परिणमन करते रहते हैं। वह परिणमन ही उन गुणों (या द्रव्यों) की अवस्था है।

अवस्थान—स्वस्थान स्वस्थान, निहारवत् स्वस्थान उपपाद, आदि जोवोंके विभिन्न अवस्थान।—दे सेत्र।

अवस्थित—स सि. ५/४/१७१/१ धर्मादोनि पठपि द्रव्याणि कदाचिदपि पडिति द्रव्यत्व नातिवसन्ति। ततोऽनस्थितानोऽप्युच्यते।—धर्मादिक छहा द्रव्य कभो भो छह, इस समस्याका उल्लेख नहीं करते, इसनिए वे अवस्थित कहे जाते हैं।

अवस्थित अवधिज्ञान—दे अवधिज्ञान।

अवस्थित गुणश्रेणी—दे सक्रमण/८।

अवस्थित वध—दे प्रवृत्ति वध/१।

अवातर सत्ता—दे अस्तित्व।

अवाक्—दक्षिण दिशा।

अवाय—

१. अवायका लक्षण

प ख १३/४/४/सु ३३/२७३ अवाया ववसायो बुद्धी विण्णाणि आउ डो पच्चाउ डो १३६।—अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुण्डा और प्रयामुण्डा ये पर्याय नाम हैं।

स सि १/१४/१११/६ विशेषनिर्ज्ञानाद्याधारम्यावगमनमवाय। उत्पत्तन-निगतनवयविशेषादिभिर्वलाकैवेयं न पताकेति।—विशेषके निर्णय द्वारा जो पर्याय ज्ञान होता है उसे अवाय कहते हैं। जैसे उत्पत्तन, निपत्तन, पक्ष-विशेष आदिके द्वारा 'यह एक पक्ष ही है, ध्वजा नहीं' ऐसा निश्चय होना अवाय है। (ध १३/४/४/२३/२९८/६)

रा वा १/१४/३/६०/६ भाषादिविशेषनिर्ज्ञानात्तस्य याथाभ्यानेनावगमनमवाय। 'दाक्षिणास्याऽयम्, युवा, गौर' इति वा—भाषा आदि विशेषोंके द्वारा उस (ईहा द्वारा गृहीत पुरुष) की उस विशेषताका पर्याय ज्ञान कर लेना अवाय है, जैसे यह दक्षिणी है, युवा है या गौर है इत्यादि। (न्या दो २/४११/३२/६)

ध १३/४/४/३६/२४३/३ अवयते निश्चयते मोमासिदोऽर्थोऽनेनेत्यवाय।—जिसके द्वारा मोमासित अर्थ 'अवयते' अर्थात् निश्चित किया जाता है वह अवाय है।

ध ६/१६-१९४/१७/७ ईहितस्वार्थस्य सदेहापोहनमवाय।—ईहा ज्ञान-से जाने गये पदार्थ विषयक सन्देहका दूर हो जाना (या निश्चय हो जाना) अवाय है। (ध १/१९/१९४/३६४/३) (घ ६/४/१४/१४४/७)

ज प १३/४/६/६३ ईहितस्वार्थस्य पुणो थाणु पुरिसो ति बहुवियप्पस्स। जो णिच्छिगावमोधा सो दु अवाओ विवाणाहि ६६। जो कम्म-फलसरहिओ सो दवां गरिथ परथ सदेहो। जस्स तु एव बुद्धो अवाय-णाम हवे तस्स ६६३।—यह स्थाणु है या पुरुष इस प्रकार बहुधा विक्षेपरूप ईहित पदार्थक विषयमें जो निश्चित ज्ञान होता है उसे अवाय जानना चाहिए ६६६। जो कर्ममलमे रहित होता है वह वेद है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, इस प्रकार जिसके निश्चयरूप बुद्धि होती है उसके अवायज्ञान होता है ६६३।

२. इस ज्ञानको अवाय कहें या अपाय

रा वा १/१४/१३/६१/६ आह-किमयम् अपाय उस अवाय इति। उभय-यथा न दोषः। अन्तर्गतवचनेऽप्यसत्त्वस्यापि गृहीतत्वात्। यथा 'न दाक्षिणास्याऽयम्' इत्यप्यायं रमानं करोति तदा 'औदोच्य' इत्य-वायाऽधिगमोऽप्यगृहीतः। यदा च 'औदोच्य', इत्यप्यायं करोति तदा 'न दाक्षिणास्याऽयम्' इत्यप्यायोऽप्यगृहीतः—प्रश्न—अवाय नाम ठोक है या अपाय। उत्तर—दोनों ही ठोक हैं, क्योंकि एकके वचनमें दूसरे-

का ग्रहण स्वतः हो जाता है। जैसे अयं यह दक्षिणी नहीं है' ऐसा अपाय व्याप्य करता है तब 'उत्तरी है' यह अवाय-निश्चय हो ही जाता है। इसी तरह 'उत्तरी है' इस प्रकार अवाय या निश्चय होने-पर 'दक्षिणी नहीं है' यह अपाय या व्याप्य हो ही जाता है।

३. अन्य सम्बन्धित विषय

१ अवायज्ञानको 'मति' व्यपदेश कैसे? —दे मतिज्ञान ३

२ अवग्रहसे अवाय पर्यन्त मतिज्ञानकी उत्पत्तिका क्रम —दे मतिज्ञान ३

३ अवग्रह व अवायमें अन्तर —दे अवग्रह २

४ अवाय व श्रुतज्ञानमें अन्तर —दे श्रुतज्ञान I

५ अवाय व धारणामें अन्तर —दे धारणा २

अविकल्प—दे विकल्प।

अविकृतिकरण—आलोचनाका एक दोष—दे आलोचना २।

अविज्ञातार्थ—न्या सू/मू ४-२/६ परिपत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभि-हितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ४४।

न्या सू/भा ४-२/६ यद्वाक्य परिपदा प्रतिवादिना च त्रिरभिहितमपि न विज्ञायन्ते रिलक्ष्यशब्दप्रतीतिप्रयोगमतिदृष्टाच्चरितरिरेषमादिना कारणेन तदविज्ञातमविज्ञातार्थमसामर्थ्यसवरणाय प्रयुक्तमिति निग्रह-स्थानमिति।—जिस अर्थको वादा ऐसे शब्दोंसे कहे जो प्रसिद्ध न हों, इस कारणसे, या अति शीघ्र उच्चारणके कारणसे, या उच्चारित शब्दके वदर्थवाचक हानेसे अथवा प्रयोग प्रतीति न होनेसे, तीन बार कहनेपर भी वादोका वाक्य किसी समासद्ध, विद्वान् और प्रतिवादीसे न समझा जाये तो ऐसे अर्थ कहनेसे वादो 'अविज्ञातार्थ' नामानिग्रह स्थानमें आकर हार जाता है। (रत्ना वा ४/न्या २०१/३८४/६)

अविचार—दे विचार।

अवितथ—दे विदथ।

अविद्धकर्ण—१ एक प्रसिद्ध नैयायिक-समय ई० ७६२ (सि वि/प्र ४/प० महेन्द्रकुमार) २ एक प्रसिद्ध चार्वाक आचार्य—समय ई० ८ (सि वि/प्र ७४/प महेन्द्रकुमार)

अविनाभाव—प मु. ३/१६ सहक्रमभावनियमोऽविनाभाव ११६।

—सहभाव नियम तथा क्रमभाव नियमको अविनाभाव कहते हैं।

(न्या दा ३/४४६/१३/४)

प ध ४/४६१ अवि नाभावाऽपि यथा येन यिना जायते न सत्सिद्धिः।

—जिसके यिना जिसकी सिद्धि न होय उसको अविनाभावी सम्बन्ध कहते हैं।

२ अविनाभावके भेद

प मु ३/१६ सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः।—अविनाभाव सम्बन्ध दो प्रकारका है—एक सहभाव, दूसरा क्रमभाव।

३. सहभाव व क्रमभाव अविनाभावके लक्षण

प मु ३/१७-१८ सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकभावयोश्च सहभाव ११७। पूर्वोत्तरचारिणो कार्यकारणयोश्च क्रमभाव ११८।—साथ रहने-वालेमें तथा व्याप्य और व्यापक पदार्थोंमें सहभाव नियम नामका अविनाभाव होता है, जैसे द्रव्य व गुणमें ११७। पूर्वोत्तर व उत्तर-चरोंमें तथा कार्यकारणोंमें क्रमभावी नियम होता है। जैसे—मेघ व वर्षा में।

४. अविनाभावका निर्णय तर्क द्वारा होता है

प मु ३/१६ तर्कान्तर्गत् ११६।—तर्कसे इसका निर्णय होता है।

अविनैय—(स सि ०/११/३४६/१०) तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यामसपा-दितगुणा अविनैयाः।—जिनमें जीवादि पदार्थोंको सुनने व ग्रहण करनेका गुण नहीं है वे अविनैय कहलाते हैं। (रा वा ७/११/८ ५३८/३६)

अविपाक—३० विपाक ।

अविभाग प्रतिच्छेद—शक्ति अशको अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं । वह जड़ व चेतन सभी पदार्थों के गुणों में देखे जाते हैं । यथा—

१ द्रव्य व गुणी सम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद
ध १२/४, २, ७, १६६/६२/१० सम्बन्धमाधुनागपरमाणु धेतूण वण्णगधरसे मोचूण पास चैव बुद्धो धेतूण तस्स पण्णाच्छेदो कामब्बो जाव विभागवज्जिदपरिच्छेदो णि । तस्स अतिमस्स खडस्स अछेज्जस्स अविभागपट्टिच्छेद इदि सण्णा । —सर्वमन्द अनुभागसे युक्त परमाणु को ग्रहण करके, वर्ण गन्ध रसको छोड़कर, केवल स्पर्शका (एक गुणका) ही बुझिसे ग्रहण कर उसका विभाग रहित छेद होने तक प्रज्ञाके द्वारा छेद करना चाहिए । उस नहीं छेदने योग्य अन्तिम खण्डको अविभाग प्रतिच्छेद संज्ञा है । (रा वा २/४/४/१००/६) (गो जी भाषा ६६/१६४/१८)

ध १४/४/६/६०४/४०१/४ परमाणुमिह आ जहण्णया बहूदो सो अविभागपट्टिच्छेदो णाम । —एक परमाणुमें जो जघन्य वृद्धि हाती है । उसे अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं ।

२. अनुभाग सम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद

ध १२/४, २, ७, १६६/६२/३ तरथ एक्कमिह परमाणुमिह जो जहण्णेण वट्ठिदो अनुभागो तस्स अविभागपट्टिच्छेदो णि सण्णा । —एक परमाणुमें जो जघन्यरूपसे अवस्थित अनुभाग है उसकी अविभाग प्रतिच्छेद संज्ञा है ।

३. योग सम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेद

ध १०/४ २, ४, १७८/४४०/५ जागाविभागपट्टिच्छेदो णाम किं । एवकेमिह जीवपदेसजोगस्स जाजहण्णया बहूदो सो जोगाविभागपट्टिच्छेदो । एकजीवपदेसद्विजहण्णजोगो असत्तेज्जसागेहि खडिदे तरथ एगखण्ड-विभागपट्टिच्छेदो णाम । —प्रश्न—योगाविभागप्रतिच्छेद किसे कहते हैं । उत्तर—एक जीवप्रदेशसे योगी जो जघन्य वृद्धि है, उसे योगा-विभागप्रतिच्छेद कहते हैं । एक जीवप्रदेशमें स्थित जघन्य योगी असम्भ्यात लाकोंसे खण्डित करनेपर उनमेंसे एक खण्ड अविभाग-प्रतिच्छेद कहलाता है ।

* गुणोंमें अविभागप्रतिच्छेदो रूप अशकल्पना—

—दे गुण २ ।

अविरत सम्यग्दृष्टि—३० सम्यग्दृष्टि ५ ।

अविरति—द्र सं/टो ३०/८८/३ अभ्यन्त्यरे निजपरमात्मस्वरूपभाव-नोत्पन्नपरमसुखामृतरतिविलक्षणा माहिविषये पुनरवतरूपा चैरथ-विरति । —अन्तरं गमे निज परमात्मस्वरूपकी भावनासे उत्पन्न परम-सुखामृतमें जो प्रीति, उससे विलक्षण तथा बाह्यविषयमें व्रत आदिको धारण न करना सो अविरति है ।

स सा/ता वृ ८८ निर्विकारस्वसत्त्वित्वविपरीताव्रतपरिणामविकारो-ऽविरति । —निर्विकार स्वसंवेदनसे विपरीत अव्रत रूप विकारी परिणामका नाम अविरति है ।

२. अविरतिके भेद

भा अणु ४८ अविरमण हिंसादी पचविहो सो हवइ गियमेण । —अविरति नियमसे हिंसा आदि पाँच प्रकारकी है—अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह रूप है । (न च वृ ३०७) (द्र सं/मृ ३०/८८) स सि ८/१/३७५/१२ अविरसिद्वादिशविधा पद्मायपट्करणविषयभेदात् ।

—छह कायके जीवोंकी दया न करनेसे और छह इन्द्रियोंके विषय-भेदसे अविरति बारह प्रकारकी होती है । रा वा ८/१/२६/४६४/२४) (द्र सं/टो ३७/८६/३)

नोट —और भी दे असंयम—

* कर्मवन्धके प्रत्ययके रूपमें अविरति—दे अंध ३ ।

* अविरति व कपायमें अन्तर—दे प्रत्यय ।

अविरुद्ध—न च वृ ७४८ सामण्य अह विसेम दव्वे णाण हवेइ अबिरोहो । साहइ तं सम्मत्तं णहु पुण तं तस्स विवरीय ॥२४८॥ —द्रव्यमें सामान्य तथा विशेषका ज्ञान होना ही अविरुद्ध है वह ही सम्यक्त्वको साधता है, क्योंकि वह उससे विपरीत नहीं है ।

अविरुद्धोपलब्धि हेतु—दे हेतु ।

अविशद—दे विशद ।

अविशेषसमा—न्या सू/मृ व भा ६-१/२३ एकधर्मोपपत्तेरविशेषो सर्वाविशेषप्रसगात्सद्भावोपपत्तेरविशेषसम ॥२३॥ एको धर्म प्रयत्नानन्तरीयकत्वं शब्दघटयोरुपपद्यत इत्यविशेषो उभयोरनित्यत्वे सर्वस्याविशेष प्रसज्यते । —विशेषित पक्ष और दृष्टान्तव्यक्तिधर्मों एक धर्मकी उपपत्ति हा जानेसे अविशेष हा जानेपर पुन सद्भावकी उपपत्ति होनेसे सम्पूर्ण वस्तुओंके अविशेषका प्रसंग देनेसे प्रतिवादी द्वारा अविशेषसम प्रतिषेध उठाया जाता है ॥२३॥ जैसे कि प्रयत्नानन्तरीयकत्वरूप एक धर्म शब्द व घट दोनोंमें घटित हा जानेसे दोनोंका विशेषरहितपना स्वीकार कर चुकनेपर, पुन प्रतिवादी द्वारा सम्पूर्ण वस्तुओंके समान हो रहे 'सत्त्व' की घटनासे सबका अन्तरहित या नित्यपनेका प्रसंग देना अविशेषसमा जाति है । (रत्तो वा ४/न्या ४०७/५८१/४)

अविज्वग्भाव—स म १६/२१७/२४ अविज्वग्भावेनायविविनोऽवयवेषु वृत्ते स्वीकारात् । —प्रत्येक अवयवों अनेक अवयवोंमें अविज्वग्भाव रूपसे अर्थात् अभेद रूपसे स्वीकार किया गया है ।

अव्यक्त—आलोचनाका एक दोष । —दे आलोचना २ ।

अव्यवस्था—दे व्यवस्था ।

अव्याघात—ल सा/भाषा ४६/८८/१ जहाँ स्थिति काण्टकघात न पाइए सो अव्याघात (अपकर्षण) है ।—विशेष दे अपकर्षण ।

अव्याप्त—लक्षणका एक दोष । —दे लक्षण ।

अव्यावाच—लोकान्तिक देवका एक भेद । —दे लोकान्तिक ।

अव्यावाच सुख—दे सुख ।

अशन—मृ आ/मृ ६४४ असर्णं लुहत्पसमणं । —जिससे भूख मिट आय वह अशन है ।

अन घ ७/१३/६६७ ओरनाचशनं । —भास दाल आदि भोज्य सामग्रीको अशन कहते हैं । दे आहार ११४/१—आहारका दोष ।

अशनिघोष—१ मानुषोत्तर पर्वतस्थ अक्षनकूटका स्वामी भवन-वासी सुपर्णकुमार देव । दे लाक ४/१०/७ (स पु ६६/२१२-२१८)—पूर्व पापके कारण हाथी हुआ, मुनिद्वारा सम्मोहे जानेपर अणुव्रत धारण कर लिया । पूर्व भरी सर्पके उस लेनेसे मरकर स्वर्गमें श्रीधर देव हुआ । यह संजयन्त मुनिका पूर्वका सातवाँ भव है ।

अशनिजव—महोरग जातिके व्यन्तरदेवका एक भेद—दे महोरग ।

अशय्याराधिनी—यह एक मन्त्र विद्या है—दे विद्या ।

अशरण—अशरणानुप्रेक्षा—दे अनुप्रेक्षा ।

अशुचि—पिशाचजातीय व्यन्तरदेव—दे पिशाच

अशुत्वानुप्रेक्षा—दे अनुप्रेक्षा

अशुद्ध—आ प ६ शुद्ध केवलभावमशुद्ध तस्यापि विपरीतम् । —केवल अर्थात् असंयोगी भावको शुद्ध कहते हैं और अशुद्ध उससे विपरीत है ।

स सा/ता वृ १०२ औपाधिकमुपादानमशुद्ध, तन्नाय पिण्डवत् ।
—औपाधिक पदार्थको अशुद्ध कहते हैं जैसे अग्निसे तपाया हुआ लोहेका गोला ।

प का/ता वृ १६/३६/३ परद्रव्यसम्बन्धेनाशुद्धपर्याय । —पर द्रव्यके सम्बन्धसे अशुद्ध पर्याय होतो है ।

प घ/उ २२१ शुद्ध सामान्यमात्रत्वाद्शुद्ध तद्विशेषतः । वस्तु सामान्यरूपेण स्वदत्ते स्वादु सहिदाम् ॥२२१॥ —वस्तु साम्यगुणानियोंको सामान्यरूपसे अनुभवमें आती है इसलिए वह वस्तु केवल सामान्य रूपसे शुद्ध कहलाती है और विशेष भेदोंको अपेक्षा अशुद्ध कहलाती है । (विशेष—दे नय IV/२/४)

अशुद्ध चेतना—दे चेतना ।

अशुद्धता—प घ/उ १३० तस्यां सत्यामशुद्धत्वं तद्द्रव्यो स्वगुण-
च्युति ॥१३०॥ —उस बन्धनरूप परगुणाकार क्रियाके होनेपर जो उन दोनों जीव कर्मा का अपने-अपने गुणोंसे च्युत होना है वह अशुद्धता कहलाती है ।

अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय—दे नय IV/२ ।

अशुद्ध निश्चय नय—दे नय V/१

अशुद्धोपयोग—दे उपयोग II/४/४

अशुभ नाम कर्म—दे शुभ ।

अशुभ योग—दे योग/२ ।

अशुभोपयोग—दे उपयोग II/४ ।

अशून्य नय—दे नय I/६ ।

अशोक—१ एक ग्रह—दे ग्रह, २ विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे विद्याधर ३ वर्तमान भारतीय इतिहासका एक प्रसिद्ध राजा । यह चन्द्रगुप्त मौर्यका पोता और सिन्धुसाराका पुत्र था । मगध देशके राज्यको बढ़ाकर इसने समस्त भारतमें एक छत्र राज्यकी स्थापना की थी । यह बड़ा धर्मात्मा था । पहले जैन था परन्तु पीछेसे बौद्ध हो गया था । ई० पू० २६१ में इसने कलिंग देशपर विजय प्राप्त की और वहाँके महारत्नप्राहको देखकर इसका चित्त ससारसे विरक्त हो गया । समय—जैन मान्यतानुसार ई० पू० २७७-२३६ ई, और इतिहासकारोंके अनुसार ई० पू० २७३-२३२ ई (विशेष दे इतिहास/३/४)

अशोक रोहिणी व्रत—दे रोहिणी व्रत ।

अशोक वृक्ष—दे वृक्ष/२ ।

अशोक सस्थान—एक ग्रह—दे ग्रह ।

अशोका—१ अपर विदेहके कुसुमक्षेत्रकी प्रधान नगरी—दे लोक ६/२ २ नन्दोत्तरवर्द्धोपको दक्षिण दिशामें स्थित एक वापी—दे लोक ४/६ ।

अश्मक—भरत क्षेत्रके दक्षिणी आर्यखण्डका एक देश—दे मनुष्य ४ ।

अश्व—१ चक्रवर्तीके १४ रत्नोंमेंसे एक—दे शलाकापुरुष २, २ एक नक्षत्र—दे नक्षत्र ३ लौकान्तिक देवोंका एकभेद—दे लौकान्तिक ४ इस लौकान्तिकदेवका लोकमें अवस्थान—दे लोक/६ ।

अश्वकर्ण करण—स सा/भाषा ४६२ चारित्रमोहकी क्षणमा विधिमें, संज्वलन चतुष्कका अनुभाग, प्रथम काण्डकका घात भए पीछे, क्रोधसे लोभ पयन्त क्रमसे उसी प्रकार घटता हो है, जिस प्रकार फि घोड़ेका कान मध्य प्रदेशसे आदि प्रदेश पर्यन्त घटता हो है । इसलिए क्षपककी इस स्थितिको अश्वकर्ण कहते हैं । ऐसी स्थितिमें लानेकी जो विधि विशेष उसे अश्वकर्णकरण कहते हैं । इसीका अपर नाम अपवर्तनोद्घातन व आन्दोलनकरणभी है (घ ६/१, ६-८, १६/३६४/६)

२ अश्वकर्णकरण विधान

स सा गा ४६३-४६६/भावार्थ संज्वलने चतुष्कका अनुभागमध्य व सत्त्व क्रम, प्रथम काण्डकका घात होनेसे पहले निम्न प्रकार था—मानका स्तोक (६११), क्राधका विशेष अधिक (६१६), मायाका विशेष अधिक (६१८) लोभका विशेष अधिक (६२१) । यहाँ तक जो काण्डक घात होता था उसमें ग्रहण किये गये स्पर्धकाँका भी यही क्रम रहता था, परन्तु अब इस क्रममें परिवर्तन हो जाता है । प्रथम समयके अनुभाग काण्डका क्रम इस प्रकार हो गया—क्रोधके स्पर्धक स्तोक (३८७), मानके विशेष अधिक (४८०) मायाके विशेष अधिक (६१०), लोभके विशेष अधिक (६१६) । इस प्रकार काण्डकका घात भए पीछे शेष स्पर्धकोंका प्रमाण—क्रोधमें १२८, मान में ३२, मायामें ८ और लोभमें २ मात्र रहे । इसी प्रकार इनके स्थिति बन्ध व स्थिति-सत्त्वका भी यही क्रम हो गया । यह अश्वकर्णकरण यहाँ ही समाप्त नहीं हो जाता बल्कि आगे 'अपूर्वस्पर्धक करण' तथा 'कृष्टिकरण' में भी बराबर चलता रहता है । दे स्पर्धक तथा कृष्टि । (क्रमशः)

नोट—ऊपर जो गणनाओंका निर्देश किया है उन्हें सहनानीममफना । स सा ४८७-४८८ भावार्थ/क्रमशः अश्वकर्णकरणका कुल काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है । इस कालमें हजारों अनुभागकाण्डक और हजारों स्थितिकाण्डक घात होते हैं । जिससे कि अनुभागमें अनन्त-गुणी होनशक्तिवृत्त अपूर्व स्पर्धकोंकी रचना हो जाता है । उसके अन्त समय तक स्थिति घटकर संज्वलनकी तो ८ वर्ष मात्र और शेष घातिया कर्मोंकी सख्यात वर्ष प्रमाण रह जाती है । अघातिया कर्मोंकी स्थिति असख्यात वर्ष मात्र रहती है । (क्रमशः)

स सा ६१० भावार्थ । (क्रमशः) अश्वकर्ण कालमें क्षपक पूर्व व अपूर्व स्पर्धकोंका यथायोग्य वेदन भी करता है, अर्थात् उन नवीन रचे गये स्पर्धकोंका उदय भी उसी कालमें प्राप्त होता रहता है ।

अश्वग्रीव—म पु ६७/श्लो० नं० दूरवर्ती पूर्व भवमें राजगृहीके राजा विश्वभूतिके छोटे भाई विशाखभूतिका पुत्र विशाखनन्दी था ॥७३॥ चिरकाल पर्यन्त अनेक योनियोंमें भ्रमण करनेके परचात पुण्यके प्रसापसे उत्तर विजयार्थके राजा मयूरग्रीवके यहाँ अश्वग्रीव नामका पुत्र हुआ ॥८७-८८॥ यह वर्तमान युगका प्रथम प्रतिनारायण था—दे० शलाकापुरुष ६ ।

अश्वत्थ—शोपलका वृक्ष ।

अश्वत्थामा—पा पु सर्ग/श्लो० गुरु द्रोणाचार्यका पुत्र था (१०/१५० ६२) । कौरवोंकी ओरसे पाण्डवोंके साथ लड़ा (१६/६३) । अन्तमें अर्जुन द्वारा युद्धमें मारा गया (२०/१८८) ।

अश्वपति—कैकेय देशका राजा—ई० पू० १४६० ।

अश्वपुरी—अपर विदेहस्थ पञ्चक्षेत्रकी प्रधान नगरी—दे लोक ६/२ ।

अश्वमेध दत्त—अर्जुनका दूसरा नाम—दे अर्जुन ।

अश्विनी—एक नक्षत्र—दे नक्षत्र ।

अश्विनी व्रत—वसु था ३६६-३६७/भावार्थ—कुल समय—१ वर्ष, कुल उपवास—२८ विधि—अश्विनी नक्षत्रमें व्रतविधिको प्रारम्भ करके आगे २७ नक्षत्रोंमें प्रत्येक अश्विनी नक्षत्रपर एक उपवास करे ।

अष्ट आयतन—दे आयतन ।

अष्टदिगवलोकन—कायोस्सर्गका एक अतिचार ।—दे व्युत्सर्ग/१ ।

अष्ट द्रव्य पूजा—दे, पूजा ।

अष्ट पाहुड—दे पाहुड ।

अष्ट पुत्र—भगवान् श्रीरके तीर्थमें हुए एक अन्तर्कृतकेवली—दे अन्तर्कृतकेवली ।

अष्ट प्रवचन माता—दे प्रवचन ।

अष्ट मंगल द्रव्य—दे चैरय चैरयालय १/११ ।

अष्ट मध्यप्रदेश—१ जोवके आठ मध्यप्रदेश । दे —जोव/४
२ लोकके आठ मध्य प्रदेश—दे लाक/२ ।

अष्टम पृथिवी—दे मोक्ष/१ ।

अष्टम भक्त—तीन उपवास—दे प्रोधोपवास/१ ।

अष्टमी व्रत—व्रत-विधान सग्रह/पृ १२३—कुल समय ८ वर्ष, कुल उपवास—१६६, विधि—प्रतिमासकी प्रत्येक अष्टमीका उपवास करे । इस प्रकार आठ वर्षको १६२ अष्टमी तथा दो अधिक मासकी ४ अष्टमी । कुल १६६ अष्टमियोंके १६६ उपवास करे । जाप्यमन्त्र—ओं ह्रीं णमो सिद्धाण सिद्धाधिपस्यै नम । इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे ।

२ गन्ध अष्टमी व्रत, नि शस्य अष्टमी व्रत; मनचिन्तो अष्टमी व्रत—दे० वह वह नाम ।

अष्ट मूलगुण—दे प्राक्क/४ ।

अष्टशती—आचार्य समन्तभद्र (ई श २) कृत आसमीमांसा या देवागमस्तोत्रपर ८०० श्लोक प्रमाण आ अकलक भट्ट (ई श ७) द्वारा रचित न्यायपूर्ण व्याख्या । (ती २/३१७) ।

अष्टशुद्धि—दे शुद्धि ।

अष्टसहस्री—आ समन्तभद्र (ई श २) द्वारा रचित आसमीमांसा अवरनाम देवागमस्तोत्रकी एक वृत्ति अष्टशती नामकी आ अकलक भट्टने रची थी । उसपर ही आ विद्यानन्दने (ई० ७५६-८४०) ८००० श्लोक प्रमाण वृत्ति रची । यह कृति इतनी गम्भीर व कठिन है कि बड़े-बड़े विद्वान् भी इसे अष्टसहस्रीकी अजाय कष्टसहस्री कहते हैं । (ती २/३६४) ।

अष्टाक—क पा ४/४७/१३३/८ कि अठ्ठ कं णाम । अणतगुणवद्दो । कथमेदिस्ते अठ्ठकण्णाम् । अट्ठण्हमंकाणमणतगुणवद्दो च्चि-
ट्ठवाणादो । = प्रश्न—अष्टाक किसे कहते हैं । उत्तर—अनन्तगुणवृद्धि-
को । शका—अनन्तगुण वृद्धिको अष्टाक सञ्ज्ञा कैसे है । उत्तर—नहीं, क्योंकि आठके अककी अनन्तगुणवृद्धिरूपसे स्थापना की गयी है । (अथर्वि आठका अक अनन्तगुणवृद्धिकी सहनानी है ।) (घ १२/४ २, ७, २१४/१००/७) (ल सा/जी प्र/४६/७६) गा क भापा/४४६/२) गो जी/जी प्र ३२४/६८४) ।

घ १२/४ २, ७, २०२/१३१/६ कि अठ्ठ कं णाम । हेदिठ्ठमुव्वकं सव्वजीव-
रासिणा गुणिदे ज सद्ध तेत्तिपमेत्तेण हेदिठ्ठमुव्वकादो जमहिय ट्ठाण
समट्ठकं णाम । हेदिठ्ठमुव्व कस्सुवाहियसव्वजीवरासिणा गुणिदे
अट्ठकमुपज्झदि च्चि भणिद्दि होदि । = प्रश्न—अष्टाक किसे कहते हैं ।
उत्तर—अधस्तन उर्वकको सम जीवराशिमे गुणित करनेपर जो प्राप्त
हो उतने मात्रसे, जो अधस्तन उर्वकसे अधिक स्थान है उसे अष्टाक
कहते हैं । अधस्तन उर्वकको एक अधिक सच जीवराशिसे गुणित
करनेपर अष्टाक उत्पन्न होता है, यह उसका अभिप्राय है ।

अष्टाग निमित्तज्ञान—दे निमित्त/७ । इस ज्ञानके पृथक्-पृथक्
अग—दे वह वह नाम ।

अष्टाग हृदयोद्योत—० आशाधर जी । (ई ११७३ १०८३) द्वारा
धिरचित एक संस्कृत काव्य ग्रन्थ ।

अष्टाह्निक पूजा—दे पूजा/१ ।

अष्टाह्निक व्रत—(व्रतविधान सग्रह/पृ० ३६ व क्रियाकोश) ।
गणना—इस व्रतकी पाँच मर्यादाएँ हैं—५१ २४, १५ ६, ३ अष्टाह्निकाएँ
अर्थात् १७ वर्ष, ८ वर्ष, ४ वर्ष, ३ वर्ष व १ वर्ष पर्यन्त किया जाता
है । प्रतिवर्ष आपाङ्ग, कार्तिक व फाल्गुन मासके शुक्ल पक्षमें ८-१५
तक ८ दिन अष्टाह्निका पर्वके हैं । विधि—भी तीन प्रकार है—
उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य । उत्कृष्ट—मग्नमीक पूर्वार्ध भागमें एकाशन
८ १५ तक ८ दिन उपवास, पड़वाकी दोपहर पश्चात् पारणा ।
मध्यम—सप्तमीको एकाशन ८ का उपवास, ६ को पारणा, १० का
भात व जल, ११ को एक बार अल्प आहार, १२ को पूरा भोजन १३
को जलसहित नीरस एक अन्नका भोजन, १४ को भात व मिर्च व
जल, १५ को उपवास और पड़माका पारणा । जघन्य—सप्तमीको
दोपहर पश्चात्से पड़माको दोपहर तक पूर्ण शीतका पालन धर्म-
ध्यान सहित मन्दिरमें निवास और मौन सहित प्रतिदिन अन्तराय
टालकर भोजन । जाप्यमन्त्र—प्रत्येक दिन अपने-अपने दिन वाले
मन्त्रको त्रिकाल जाप्य करनी । ८मीको—“ओं ह्रीं नन्दोदरवरसज्ञाय
नम ।” ९मीको—“ओं ह्रीं अष्टमहाविभूतिसज्ञाय नम । १०मी
को—“ओं ह्रीं त्रिलोकसारसज्ञाय नम ।” ११ दशोको—“ओं ह्रीं
चतुर्मुखसज्ञाय नम ।” १२ दशोको—“ओं ह्रीं महालक्षणसज्ञाय
नम ।” १३ दशोको—“ओं ह्रीं स्वर्गसोपानसज्ञाय नम ।” १४
दशोको—“ओं ह्रीं सर्वसम्पत्तिसज्ञाय नम ।” पूर्णिमाकी—“ओं ह्रीं
इन्द्रध्वजसज्ञाय नम ।”

अष्टापद—म पु २७/७० शरभ ख सभुत्तरय पतन्वुत्तापितोऽपि सत्त ।
नैव द्रु खासिका वेद चरणे पृष्ठवर्तिभि । ७०० = यह अष्टापद आकाश-
में उछलकर यद्यपि पीठके बल गिरता है तथापि पीठपर रहनेवाले
पैरोंसे यह द्रु खका अनुभव नहीं करता । भावार्थ—अष्टापद एक
जगली जानवर होता है । उसकी पीठपर चार पाँव होते हैं । जब
कभी वह आकाशमें छलांग मारनेके पश्चात् पीठके बल गिरता है तो
अपने पीठपर-के पैरोंसे संभल कर खड़ा हो जाता है ।

असकुचित विकासत्त्व शक्ति—स सा/आ/परि/शक्ति स
क्षेत्रकानानवच्छिन्नचिद्विज्ञानारमिका असकुचितविकासत्त्वशक्ति ॥१३॥
= क्षेत्र और कालसे अमर्यादित ऐसी चिद्विज्ञान असकुचितविका-
सत्त्वशक्ति ॥१३॥

असक्षेपाद्धा—दे अद्धा ।

असख्यात—स सि २/३१/१६२/६ सख्यातीतोऽसरयेय । = सरया-
तीतको असरयेय कहते हैं । (ग वा २/३८/७/१०७/३१)

* सख्यात असख्यात व अनन्तमें अन्तर दे अनन्त/२ ।

२. अमर्यातके भेद

घ ३/१ २, १५/१०३-१२६ ससेपार्थ । नाम, स्थापना द्रव्य, शाश्वत,
गणना, अप्रादेशिक एक, उभय, विस्तार, सर्व और भाव इस प्रकार
असख्यात व्याहृ प्रकारका है । (नाम स्थापना द्रव्य व भाव अस
ख्यातोंके उत्तर भेद निक्षेपों व जानना) गणना सरयात तीन प्रकार
है परीतासरयात, युक्तासरयात और सरयातासरयात । ये तीनों
भी प्रत्येक उत्कृष्ट मध्यम और जघन्यके भेदमें तीन तीन प्रकारके हैं ।
(ति प ४/३१० को व्याख्या) (रा वा २/३८/४/२०६/३०)

* नाम स्थापना द्रव्य व भाव—दे निक्षेप ।

३ शाश्वतासख्यात

घ ३/१ २, १५/१२४ धम्मरियय अधम्मरिययं दव्वपदेसगणण पट्टुच्च एग-
मरुवेण अवट्ठिट्ठमिदि कट्ठु सस्मदास पेज्ज । = धर्मास्तिकाय और
अधर्मास्तिकाय द्रव्यरूप प्रदेशोंकी गणनाके प्रति सर्वदा एक रूपसे
अवस्थित है, इसलिए वे दोनों द्रव्य शाश्वतासरयात हैं ।

५ उत्कृष्टयुक्तासख्यात

रा वा ३/३८/४/२०७/६ तत् एकस्मिन्पत्नीते उत्कृष्ट युक्तासंख्येय भवति ।
—उस (जघन्य अमरयेयासख्येय) में से एक कम कर लेनेपर उत्कृष्ट युक्तासंख्येय होती है ।

६ मध्यमयुक्तासख्यात

रा वा ३/३८/४/२०७/६ मध्यमजघन्योत्कृष्टयुक्तासंख्येय भवति । —बीच-
के विकल्प मध्यम युक्तासंख्येय होते हैं । (तीनों भेदोंका कथन सि०
प ४/३१०/पृ १८० व्याख्या) (त्रि सा ३६-३७) ।

७ जघन्य असख्येयासख्यात

रा वा ३/३८/४/२०७/४ यज्जघन्ययुक्तासंख्येय तद्विरलीकृत्य युक्तावती
रचिता । तत्रैकैः युक्तायां जघन्ययुक्तासंख्येयानि देयानि । एवमेतत्
सकृद्गतिमुत्कृष्टयुक्तासंख्येयमतीत्य जघन्यासख्येयासख्येय गत्वा
पतितम् । —जघन्ययुक्तासंख्येयको विरलनकर प्रत्येकपर जघन्ययुक्ता-
संख्येयको स्थापित करे । उनका वर्ग करने पर जो राशि आती है वह
जघन्य असंख्यासरय है । (ज यु अस) ज यु अस ।

८ उत्कृष्ट असख्येयासख्यात

रा वा ३/३८/४/२०७/४ यज्जघन्यामरयेयासंख्येय तद्विरलीकृत्य पूर्व-
विविना त्रन्वारान् वर्गितमवर्गित उत्कृष्टासख्येयासंख्येय न
प्राप्नोति । ततो घर्माधर्मैकजीवलोकाकाशप्रत्येकशरीरजीवमादर-
निगीतशरीराणि पठ्येतासंख्येयानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थाना-
न्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि योगाविभागपरिच्छेदरूपाणि चास-
ख्येयनाकप्रदेशप्रमाणान्युत्सर्पिण्यवमर्षिणोसमर्थोश्च कृत्वा उत्कृष्ट-
संख्येयान्ख्येयमनोरय जघन्यपरीतान्त गत्वा पतितम् । तत् एक-
स्मिन्पत्नीते उत्कृष्टासंख्येयासंख्येय तद्वति । —जघन्य असंख्येया-
सरपेयका विगननकर पूर्वोक्त विधिसे तीन बार वर्गित करनेपर भी
उत्कृष्ट असंख्येयासरपेयनहीं होता यदि (क—ज अस अ) ज असअस
तो ख'—क और ग=ख — उत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय
से कुछ कम । इसमें धर्म अधर्म, एक जीव, लोकाकाश,
प्रत्येक शरीर जीव आदरनिगीत शरीर ये छहों असंख्येय स्थिति—
बन्धाध्यवसाय स्थान, योगके अविभागप्रतिच्छेद, उत्सर्पिणी व अव-
सर्पिणो कानके समय इन सर्वोंको जाड़ने पर फिर तीन बार वर्गित
सर्वगित करनेपर उत्कृष्ट संख्येयामख्येयसे एक अधिक जघन्य परीता-
नन्त होता है । इसमें से एक कम करनेपर उत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय
होता है । अर्थात् (ग+६ राशि+४ राशि) (ग+६ राशि+४ राशि)
= 'प' फ = प, ब = फ — ज पर' अन / (दे अनन्त) उत्कृष्ट
असंख्येयासंख्येय = ब—१ ।

९ मध्यम असख्येयासख्यात

रा वा ३/३८/४/२०७/१२ मध्यमजघन्योत्कृष्टा संख्येयासंख्येय भवति ।
—मध्यके विकल्प जघन्योत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय हैं । (तीनों भेदोंके
लक्षण ति प ४/३१०/१८१-१८२) (त्रि सा ३७ ४५) ।

* आगममें 'असख्यात' की यथास्थान प्रयोग विधि—
दे गणित I/१/६

असख्येय—दे असख्यात ६

असख्यासख्येय—दे असख्यात ६/७

असज्ञी—दे सज्ञी

असचार—दे सचार

असदिग्ध—रा वा ६/४/१६४/१८ स्फुटार्थं व्यक्तामरं चास-
दिग्धम् । —जामें अर्थ स्पष्ट होय और अक्षर व्यक्त होय सा अमदिग्ध
कहिये । (चा सा ६७/१) ।

असप्राप्तसूपाटिका—दे सहन

असवद्ध प्रलाप—दे वचन

असभव—१ लक्षणका एक दोष—दे लक्षण, २ आकाशपुष्प आदि
असंभव वस्तुएँ—दे असत् ।

असञ्जात—प्रथम नम्रका सातवाँ पटल—दे नरफ । ४/११ व
रत्नप्रभा ।

असमोह—(गो मा अ ८/८२ ८६) बुद्धिमत्ताप्रियां तत्र ज्ञानमार्गम
पूर्वकं । तदेव सदनुष्ठानममोह विदो विदुः ॥८७॥ सन्त्यसंमोहहेतूनि
कर्माण्यत्यन्तशुद्धित । निर्वाणशर्मदाधीन भवातीताध्वगामिनाम् ॥८६॥
—इन्द्रियाधीन बुद्धिको जो ज्ञान आगमपूर्वक व सदनुष्ठान (आचरण)
पूर्वक होता है, वह ज्ञान ही असमोह है ॥८२॥ असमोहके हेतु अत्यन्त
शुद्ध वे कर्म हैं जो कि भवमें अतीत निर्वाण सुखको देनेवाले हैं ।

असयतसम्यग्दृष्टि—दे सम्यग्दृष्टि/५ ।

असयम—पं सं/प्रा १/१३७ जीवा चउदसमेया इदियविमया य
अट्ठवीस तु । जे तेषु णेय विरया असजया ते मुणेयव्वा ॥१३७॥ —जीव
चौदह भेद रूप हैं और इन्द्रियोंके विषय अट्ठाईस हैं । जीवघातमें
और इन्द्रिय विषयमें विरत नहीं होनेको असयम कहते हैं । जो
इनसे विरत नहीं हैं उन्हें असयत जानना चाहिये । (घ १/१०१,
१२३/१६४/३०३) (गो जो/मृ ४७८) (पं सं/स २४७-२४८) ।

रा वा २/६/६/१०६ चारित्रमोहस्य सर्वघातिरुपार्थक्योदयात् प्राप्यु-
पधातेन्द्रियविषये द्वेषाभिलाषनिवृत्तिपरिणामरहितोऽसयत औद-
यिक । —चारित्रमाहके उदयसे होनवाली हिंसादि और इन्द्रिय-
विषयोंमें प्रवृत्ति असयम है । (म सि २/६/१६६/८) ।

प्र सा/त ५ १/२२१ शुद्धात्मरूपहिंसनपरिणामसंज्ञस्यासयमस्य । —शुद्धा-
त्मस्वरूपकी हिंसारूप परिणाम जिसका लक्षण है, ऐसा असयम ।
पं घ उ/१/१३५ व्रताभावामरमो भावो जीवस्यासयमो यत । —व्रतके
अभावरूप जो भाव है वह असयम माना गया है ।

२ इन्द्रिय व प्राण असयम

घ ८/३,६/२१/२ असंजमपञ्चओ दुविहो इदियामजमपाणासंजमभेएण ।
तथ इदियासंजमो छविहो परिसंजम-रुव-गघ-सह णोइदिया-
संजमभेएण । पाणासंजमो वि छविहो पुड्वि आउ-तेउ-वाउ-
वणप्फदितसासंजमभेएण । —असयम प्रलय इन्द्रियासयम और
प्राणासंयमके भेदसे दो प्रकारका है । इन्द्रियासयम स्पर्श रस रूप गन्ध
शब्द और नोइन्द्रिय जनित असंयम के भेदसे छह प्रकारका है । प्राण
असयम भी पृथिवी, अप् तेज वायु, वनस्पति और प्रस जीवोंको
विराधना से उत्पन्न असंयमके भेदसे छह प्रकारका है ।

अससार—दे संसार ।

असग—(भ आ/प्रा २ त्रेमोजी) । शक स० ६१० (इ० ६८८) के एक
महाकवि । आप नागनन्दि आचार्यके शिष्य थे । आपने बर्द्धमान
चारित्र्य व शान्तिनाथ पुराण लिखे हैं । (ती/२/११) ।

असत्—स सि १/३२/१२८/७ असदविद्यमानमित्यर्थ । —असत्का
अर्थ अविद्यमान है ।

न वि/पृ १/४/१२४/७ न सदिति विजातीयविरोधव्यापकरत्नेन न
गच्छतीत्यसत् । —जो विशेष व्यापकरूपसे प्राप्त होता हो सो असत् है ।

२ आकाशपुष्पादि असभव वस्तुओंका कथनित् मत्त्व

रा वा २/८/१८/१२१/२२ कपविशवशात् नानात्रातिमन्धमात्रनतो
जीवतो जावस्य मण्डूकमावाभातो तत्त्व्यपदेशभाज पुनर्युवतिजन्म-
न्यवाप्ते 'य शिवावडक स एवायम्' इत्येकजीवमन्धन्धरत्वात् मण्डूक-
शिवावडक इत्यस्ति । एवं बन्ध्यापुत्र-शशविपागादिष्वपि योज्यम् ।
आकाशवृक्षे कथम् । तत्रापि यथा रनस्पतिनामकमोदियापातित
विशेषस्य वृक्षस्य जीवपुद्गलनममुदायस्य पुष्पमिति व्यपदिश्यते,
अन्यदपि पुद्गलद्रव्य पुष्पभावेन परिणतं तेन व्यापरावात् । एवमाका-

शेनातिव्याप्तसर्व समानमिति तत्तस्यापीति व्यपदेशो युक्तः । अथ तत्कृतोपकारापेक्षया तस्यैरमुच्यते, आकाशकृतावगाहनोपकारापेक्षया कथं तस्य न स्यात् । वृथात् प्रच्युतमप्याकाशात् प्रच्यवते इति निरर्थं तत्सम्बन्धि । अथ अर्थान्तरभावात्तस्य न स्यादिति मतम् वृथस्यापि न स्यात् । —वह सत् भी सिद्ध हो जाता है । यथा—काई जीव मेंढक था और वही जीव जन्म युवतीको पर्यायिको धारण करता है तो भूत-पूर्वनयकी अपेक्षा उस युवतीको भी हम मेंढक कह ही सकते हैं । और उसके युवतीपर्यायपन्न मण्डूककी शिखा होनेसे मण्डूकशिखण्ड व्यवहार हो सकता है । इसी प्रकार घन्घ्यापुत्र ब शशत्रिपाणादिमें भी लागू करना चाहिए । प्रश्न—आकाशपुष्पमें कैसे लागू होता है । उत्तर—वनस्पति नापकर्मका जिस जीवके उदय है । वह जीव और पुद्गलका समुदाय पुष्प कहा जाता है । जिस प्रकार वृक्षके द्वारा व्याप्त होनेसे यह पुष्प पुद्गल वृषका कहा जाता है, उसी तरह आकाशके द्वारा व्याप्त होनेके कारण आकाशका यहाँ न कहा जाय । वृक्षके द्वारा उपकृत होनेके कारण यदि वह वृषका कहा जाता है तो आकाशकृत अवगाहनरूप उपकारकी अपेक्षा उसे आकाशका भी कहना चाहिए । वृषके टूटकर फूल गिर भी जाय पर आकाशसे तो कमो भी दूर नहीं हो सकता मदा आकाशमें ही रहता है । अथवा मण्डूकशिखण्डविषयक ज्ञानका विषय होनेसे भी (ज्ञान नयकी अपेक्षा) मण्डूक शिखण्डका सद्भाव सिद्ध मानना चाहिए ।

रा बा ५/१८/१०/४६७/३२ खरो मृत गौजति स एव जीव इत्येकजीव-विवक्षायी खरव्यपदेशभाजो जीवस्य गौजातिसकृदे विद्यागोपनस्ये अर्थखरविद्याणस्यापि जात्यस्तित्वसद्भावात् उभयधर्मासिद्धता । —कोई जीव जो पहिले खर था, मरकर गौ उत्पन्न हुआ और उसके सौंग निकल आये । ऐसी दशामें एक जीवकी अपेक्षा अर्थरूपसे भी 'खरविद्या' प्रयोग हो ही जाता है । (सं० भ० त ५/४१)

* असत्का उत्पाद असम्भव है—दे० सत्

असती पोष कर्म—दे सावच ५ ।

असत्य—

१ प्राणिपीडाकारी वचन

भ आ मू ८३२-८३३ परसु कडुयं वयण वेर कनह च भय कुणह । उत्तासण च होलणमण्ययवयण समासेण ॥८३२॥ हासभयलोहकोहप-दोसादोहि तु मे पयत्तेण । एव असत्तवयण परिहरिदेव्व वित्तेण ॥८३३॥ —मर्मच्छेदी परुष वचन, उद्भेगकारी कटु वचन, वैरोरपादक, कलहकारी, भयोरपादक, तथा अवज्ञाकारी वचन इस प्रकारके अप्रिय वचन हैं । तथा हास्य भीति लोभ क्रोध द्वेष इत्यादि कारणोंसे माले जानेवाले वचन, सब असत्य भाषण हैं । हे सपक ! उसका तू प्रयत्नमें विशेष रयाग कर ।

स सि ७/१४/३६२/६ न सदप्रशस्तमिति यावत् । श्रुत सत्य, न श्रुतम-नृतम् । कि पुनरप्रशस्तम् । प्राणिपीडाकर्क यत्तदप्रशस्त विद्यमानार्थ-विषयं वा अविद्यमानार्थ विषय वा । उक्त च प्रागेवाहिंसाव्रतपरिपाल-नार्थमिदमवस्यति इति । तस्माद्विमाफर वचोऽनृतमिति निश्चेयम् । —सत् शब्द प्रशसावाची है । जो सत् नहीं वह असत् है । असत्का अर्थ अप्रशस्त है । प्रकृता अर्थ सत्य और जो श्रुत नहीं है वह अनृत है । प्रश्न—अप्रशस्त किसे कहते हैं । उत्तर—जिससे प्राणियोंको पीड़ा होती है उसे अप्रशस्त कहते हैं । भले ही वह चाहे विद्यमान पदार्थको विषय करता हो या चाहे अविद्यमान पदार्थको विषय करता हो । यह पहिले ही कहा है कि शेष व्रत अहिंसा मतकी रक्षाके लिए है । इसलिए जिससे हिंसा हो वह वचन अनृत है ऐसा निश्चय करना चाहिए । (रा बा ७/१४/३-४/४४२/१) वा सा ६२/२)

रा बा ७/१४/४/४४२/१ असदिति पुनरुच्यमाने अप्रशस्तार्थं यत् तत्सर्वं मन्वृतमुच्य भवति । तेन विपरोत्तार्थस्यप्राणिपीडा कस्य चानृतत्व-

मुपपन्न भवति —'अगत' कहनेमें जितने अप्रशस्त अर्थवाची शब्द हैं, वे सब अनृत कहे जायेंगे । इससे जो विपरोत्तार्थ वचन प्राणिपीडा-कारी हैं वे भी अनृत हैं । (पु सि उ ६४) ।

रलो वा मू ७/१४ स्वपरसतापकर्णं यद्वचोऽङ्गिना । यथा दृष्टार्थमप्यत्र तदसत्यं विभाष्यते । —जो वचन अपनेको तथा दूसरेको कष्ट पहुँचानेवाला हो वह वचन 'जैसा देखा तैसा बतानेवाला' होनेपर भी असत्य है ।

घ १२/४, २, ८, ३/२७६/४ किमसत्तवयण । मिच्छासासजमसाय पमा-बुद्धाधियो वयणकलापो । —प्रश्न—असत् वचन किसे कहते हैं । उत्तर—मिथ्यात्व, असयम, कपाय और प्रमादसे उत्पन्न वचन समूहको असत् वचन कहते हैं ।

२ असत्यका अर्थ अलीक वचन

त सू ७/१४ असादभिधानमनृतम् । —असत् वचनको अनृत कहते हैं । स सि ७/१४/३६२/२ असतोऽर्थस्याभिधानमसदभिधानमनृतम् । —जो पदार्थ नहीं है उसका कथन करना अनृत असत्य कहलाता है ।

रा बा ७/१४/४/४४२/६ भूतनिद्रवेऽभूतोद्भावने च यदभिधान तदेवानृत स्यात्, भूतनिद्रवे नास्वयामा नास्ति परलोक इति । अभूतोद्भावने च श्यामाकतनुलमात्रमारमा अद्भुतपर्वमात्र सर्वगतो निष्क्रिय इति च । —विद्यमानका लोप तथा अविद्यमानके उद्भावन करनेवाले 'आरमा नहीं है', 'परलोक नहीं है' 'श्यामतनुके बराबर आरमा है' 'अनृतेके पोर बराबर आरमा है', 'आरमा सर्वगत है', 'आरमानिष्क्रिय है' इत्यादि वचन मिथ्या होनेसे असत्य हैं । (वा सा ६२/१)

सा घ ४/३६ कन्यागोऽमालीकृष्टसाहय्यासादपलापवत् । —कन्या अलीक, गौ अलीक, कूटसाक्षी, न्यासापलाप करना असत्य है ।

३ असत्यके भेद

भ आ मू ८२३ परिहर असत्तवयणं सव्यं पि चेदुज्जिघ पयत्तेण । —असत्य वचनके चार भेद हैं, जिनका रयाग हे सपक ! तू प्रयत्न पूर्वक कर ।

घ १/१९, २/११७/६ द्रव्यक्षेत्रकालभावाग्रयमनेकप्रकारमनृतम् । —द्रव्य क्षेत्र काल तथा भावकी अपेक्षा असत्य अनेक प्रकारका है ।

पु सि उ ६१ तदन्तमपि विज्ञेयं तद्भेदा चरवार ॥६१॥ —उस अनृतके चार भेद हैं ।

१ सत्प्रतिषेध रूप असत्य

भ आ मू ८२४ पदम असत्तवयणं संभूदथस्त्स होदि पडितेहो । णरिय णरस्स अकाले मुच्चति जधेवमादीय ॥८२४॥ —अस्तित्वरूप पदार्थका निषेध करना, यह प्रथम असत्य वचनका भेद है—जैसे 'मनुष्योंको अकालमें मृत्यु नहीं है' ऐसा कहना ।

पु सि उ ६२ स्वक्षेत्रकालभावे सदपि हि यस्मिन्निपिद्वयते वस्तु । तत्प्रथममसत्यं स्यात्तास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥६२॥ —जिस वचनमें अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों के अविद्यमान भी वस्तु निषेधित की जाती है, वह प्रथम असत्य होता है, जैसे यहाँ देवदत्त नहीं है ।

२ अभूतोद्भावन रूप असत्य

भ आ मू ८२६ ज असभूदुभावनमेद विदियं असत्तवयण तु । अरिथ सुराणमकाले मुच्चति जधेवमादीय ॥८२६॥ जो नहीं है उसका है कहना यह असत्य वचनका दूसरा भेद है जैसे देवोंकी अकाल मृत्यु नहीं है, फिर भी देवोंकी अकाल मृत्यु बताना इत्यादि ।

पु सि उ ६३ असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावेऽस्ति उद्भवाव्यते द्वितीयं तदन्तमस्मिन् यथास्ति घट । —जिस वचनविषे पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों के अविद्यमान भी वस्तुका स्वरूप प्रगट किया जाता है, वह दूसरा असत्य होता है । जैसे—यहाँ पर घड़ा है ।

३ अनालोच्य रूप असत्य

भ आ मू ८२८ तदियं असत्तवयणं सत्तं जं कुणदि अण्णजादीग । अविचारित्ता गोणं असोत्ति जधेवमादीय । —एक जातिके सारपदार्थ

को अन्य आत्मिका सत्पदार्थ कहना यह असत्यका तीसरा भेद है। जैसे—मैं है उसका विचार न कर यहाँ घोड़ा है ऐसा कहना। यह कहना विपरीत सत् पदार्थका प्रतिपादन करनेसे असत्य है।

पु सि उ ६४ वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् । अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथा श्वः ॥ —स्व द्रव्यादि चतुर्थ्यसे वस्तु सत् होनेपर भी परचतुर्थ्य रूप यथाना तीसरा अनृत है। जैसे मैंको घोड़ा है ऐसा कहना।

४ असूनृत रूप असत्य

भ आ /पु ८२६ जं वा गरहिदवयणं जं वा सावज्जसंजुद वयणं । जं वा अप्रियवयणं असत्त्ववयणं चउत्थं च । —जो निश्च वचन बोलना, जो अप्रियवचन बोलना, और जो पाप युक्त वचन बोलना वह सब चौथे प्रकारका असत्य वचन है।

पु सि उ ६५ गहितमवचनं युतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत् । सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु । —यह चौथा झूठका भेद तीन प्रकारका है—गहित अर्थात् निश्च, सावज्ज अर्थात् हिंसा युक्त और अप्रिय।

* गहित व अप्रिय आदि वचन—दे वचन

* असत्यका हिंसामें अन्तर्भाव—दे अहिंसा ३

असत्यवचनयोग—दे वचन

असत्योपचार—दे उपचार

असद्भाव स्थापना—दे निक्षेप ४

असदभूत नय—दे नय V/५

असमवायी—दे समवाय

असमीक्ष्याधिकरण—दे अधिकरण

असम्यक् वचनोदाहरण—दे उदाहरण

असर्वगतत्व—दे सर्वगतत्व

असही—भ आ /वि १५०/३४४/११ जिनायतनं यतिनिवासं वा प्रविशन् प्रदक्षिणीकुर्यान्निसीधिकाशब्दप्रयोगः च । निर्गस्तुकाम आसीधिकेति । आदिशब्देन परिगृहीतस्थानभोजनशयनगमनादिक्रिया । —जिनमन्दिर अथवा यतिका निवास अर्थात् मठमें प्रवेश कर प्रदक्षिणा करें। उस समय निक्षिधिका शब्दका उच्चारण करें, और वहाँसे लौटते समय आसाधिका शब्दका उच्चारण करें। इसी तरह स्थान भोजन, शयन, गमनादि क्रिया करते समय भी मुनियोंको प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए।

अन घ ८/१३२-१३३ वसत्यादौ विशेषं तत्त्व भूतादि निसहोगीरा । आपृच्छथ तस्मान्निर्गच्छेत्तचापृच्छथअसहीगिरा ॥१३२॥ आरमन्या-रमासितो येन रमका वाशास्य भावत । नोसहसहो स्तोऽन्यस्य तदुच्चारणमात्रकम् ॥१३३॥ —साधुओंको जब मठ चैर्यालय या वसति आदिमें प्रवेश करना हो तब उन मठाधिकोंमें रहनेवाले भूत यज्ञ नाग आदिकोंसे निसही इस शब्दको बोलकर पूछकर प्रवेश करना चाहिए। इसी तरह जब वहाँ से निकलना हो तब असही इसी शब्दके द्वारा उनसे पूछकर निकलना चाहिए ॥१३३॥ निसही और असही शब्दका निश्चयनयकी अपेक्षा अर्थ बताते हैं। जिस साधुने अपनी आत्माको अपनी आराममें ही स्थापित कर रखा है उसके निश्चयनयसे निसही समझना चाहिए। और जिसने इस लोक परलोक आदि सम्पूर्ण विषयोंको आशाका परिरयाग कर दिया है उसके निश्चय नयसे असही समझना चाहिए। किन्तु उनके प्रतिज्ञा जो महिरात्मा है अथवा आशावान हैं उनके ये निसही और असही केवल शब्दाच्चारणमात्र ही समझना चाहिए।

असातावेदनीय—दे वेदनीय ।

असाधारण—दे साधारण ।

असाम्यता—घ ४/प्र २७ गणित inequality ।

असावद्य कर्म—दे सावद्य/४ ।

असिकर्म—दे सावद्य/३ ।

असिवथ—भ आ /वि ७००/८८२/७ असिवथं सिक्थपरहित । —भातके सिक्थ जिसमें नहीं हैं ऐसा मांड असिवथग है।

असितपर्वत—विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे विजयार्थ ।

असिद्धत्व—दे पक्ष ।

रा वा २/६/७/१०६/१८ अनादिकर्म मध्यसंतानपरतंत्रस्यारमन कर्मो-दयसामान्ये सति असिद्धत्वपर्यायो भवतीत्यौदयिक स । पुनर्मध्या-दृष्ट्यादिषु सूक्ष्मसाम्प्रदायिकान्तेषु कर्मोदयोदयापेक्ष, शान्तशीत-कषाययो सप्तकर्मोदयापेक्ष, सयोगिकेवम्ययोगिकेवलिनोरघाति-कर्मोदयापेक्ष । —अनादि कर्ममठ आत्माके सामान्यत सभी कर्मोंके उदयसे असिद्ध पर्याय होती है। दसवें गुणस्थान तक आठों कर्मोंके उदयसे ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें मोहनोयके सिवाय सात कर्मोंके उदयसे, और सयांगी और अयोगीमें चार अघातिया कर्मोंके उदयसे असिद्धत्व भाव होता है। (स सि २/६/१५६/६) (घ /पु ४/१७७/११८६/६),

प घ /उ १/१४३ नेद सिद्धत्वमप्रेति स्यादसिद्धत्वमर्थत । —ससार अवस्थामें उक्त सिद्ध भाव (अष्ट कर्मरहित अष्टगुण सहित) नहीं होता, इस कारणसे यह असिद्धत्व कहलाता है।

२ असिद्धत्व भावको औदयिक कहनेका कारण

घ १४/५ ६, १६/१३/१० अथाहकम्मचउल्लोदयजणिदमसिद्धत्तं नाम । —चार अघाति कर्मोंके उदयसे हुआ असिद्धत्व भाव है।

प घ /उ १/१४१ असिद्धत्वं भवेद्भाषो नूनमौदयिको मत । व्यस्ताद्वा स्यारसमस्ताद्वा जात कर्मोदयोदयात् ॥१४१॥ —असिद्धत्वभाव निश्चय करके औदयिकभाव होता है क्योंकि असमस्तत्वरूपसे अथवा समस्तत्वरूपसे आठों कर्मोंके उदयसे होता है।

असिद्ध पक्षाभास—दे पक्ष ।

असिद्ध हेत्वाभास—प घ ६/२२ असत्त्वतानिश्चयोऽसिद्ध ॥२२॥

—जिसकी सत्ताका पक्षमें अभाव हो और निश्चय न हो उसे असिद्ध कहते हैं।

न्या /वि /घ २/१६७/२२६/ तथा साध्ये सत्यसति च यस्यासिद्धिरसौ असिद्धो नाम । —साध्यके होनेपर अथवा न होनेपर जिसकी सिद्धि नहीं होती, वह हेतु असिद्ध कहलाता है।

न्या दी ३/६४०/८६ अनिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्ध, यथा अनित्य शब्द-रक्षाधुपरत्वात् अत्र हि चाधुपरत्वं हेतु पक्षीकृते शब्दे न वर्तते प्रावण-त्वाच्छब्दस्य । तथा च पक्षधर्मविरहादसिद्धत्वं चाधुपरत्वस्य । —पक्षमें जिसका रहना अनिश्चित हो वह असिद्ध हेत्वाभास है। जैसे—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह इन्द्रियसे जाना जाता है। यहाँ 'चक्षु इन्द्रियसे जाना जाता है' यह हेतु पक्षभूत शब्दमें नहीं रहता है। कारण, शब्द श्रोतेन्द्रियसे जाना जाता है। इसलिये पक्षधर्मत्वके न होनेसे चक्षु इन्द्रियसे जाना जाना हेतु असिद्ध हेत्वाभास है। (न्या दी ३/६६०/१००/२)

२ असिद्ध हेत्वाभासके भेद

प घ ६/२४, २६ स्वरूपेणासत्त्वात् ॥२४॥ सदेहात् ॥२६॥ —असिद्ध हेत्वा-भास दो प्रकारका होता है—स्वरूपासिद्ध और संदिग्धासिद्ध । (न्या, दी ३/६६०/१००)

असूत—दे असत्य ।

अस्तिकाय—जैनागममें पचास्तिकाय बहुत प्रसिद्ध है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छः द्रव्य स्वीकार किये गये हैं। इनमें काल द्रव्य तो परमाणु मात्र प्रमाणवाला होनेसे काय-वात् नहीं है। शेष पाँच द्रव्य अधिक प्रमाणवाले होनेके कारण कायवात् हैं। वे पाँच ही अस्तिकाय कहे जाते हैं।

१ अस्तिकायका लक्षण

प का / मू ५ जेति अरिय सहाओ गुणेहि सह पञ्चएहि विविरेहि । ते होति अरियकाया णिप्पणं जेहि तइल्लुक ॥५॥ ते चैव अरियकाया तेकालियभावपरिणदा णिष्ठा । गच्छति द्रवियभाव परिणट्ठणसिग-संजुत्ता ॥६॥—जिनमें विविध गुणों और पर्यायोंके साथ अपनत्व है, वे अस्तित्वकाय हैं, कि जिनसे तीन लोक निष्पन्न हैं ॥६॥ जा तीनों कालके भावोंरूप परिणमित होते हैं तथा निर्य हैं ऐसे वे ही अस्तिकाय परिवर्तन निग सहित द्रव्यत्वको प्राप्त होते हैं ॥६॥

नि सा / मू ३४ एवे छद्दवाणि य कालं मोत्तुण अरियकायत्ति । णिद्धिहा जिनसमये काया हु बहुपदेसत्तं ॥३४॥—काल छोड़कर इन छह द्रव्यों-को जिनममयमें 'अस्तिकाय' कहा गया है। क्योंकि उनमें जो बहु-प्रदेशोपना है वही कायत्व है। (प्र सं / मू २३)

प का / त प्र ५ तन कालाणुभ्योऽन्यसर्वेषां कायस्वाख्यं सावयवत्वमव-सेयम् ।—कालाणुओंके अतिरिक्त अन्य सर्व द्रव्योंमें कायत्वनामा सावयवपना निश्चित करना चाहिए।

नि सा / ता वृ ३४ बहुप्रदेशप्रचयरवात् काय । काया इव काया । पञ्चा-स्तिकाया । अस्तित्व नाम सत्ता । अस्तित्वेन सनाथा पञ्चास्तिकाया ।—बहुप्रदेशोंके समूह वाला हो वह काय है। 'काय' काय (शरीर) जैसे होते हैं। अस्तित्व सत्ताको कहते हैं। अस्तिकाय पाँच हैं। अस्तित्व और कायत्वसे सहित पाँच अस्तिकाय हैं।

२ पचास्तिकायोंके नाम निर्देश

प का / मू ४ १०२ जेवा पुगगकाया धम्माधम्मा तहेव आगारं । अरिचत्तिह य णियदा अणणमइया अणुमहता ॥४॥ एवे कालागासा धम्माधम्मा य पुगला जीवा । सम्भति दम्बसण कालस्स दु णरिथ कायत्त ॥१०२॥—जीव पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म तथा आकाश अस्तित्वमें निर्य अनन्यमय और बहुप्रदेशी हैं ॥४॥ ये काल, आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीव द्रव्य संज्ञाको प्राप्त करते हैं, परन्तु कालको कायपना नहीं है ॥१०२॥ (प का / मू २२) (नि सा / मू २२) (नि सा / मू ३४) (प्र सा / ता वृ १३६ में प्रसेपक गाथा १), (प्र सं / मू २३), (गो जी / मू ६२०/१०७४), (नि सा / ता वृ ३४), (प का / ता वृ २२/४७/१६)।

३ पाँचोंकी अस्तिकाय सत्ताकी अन्वयकता

प्र सं / मू २६ होति असखा जीवे धम्माधम्मे अणंतआयासे । मुत्ते तिविह पदेसा कालस्तेगो ण तेण सो काओ ॥२६॥—जीव धर्म तथा अधर्म द्रव्य असंख्यप्रदेशी हैं और आकाशमें अनन्त प्रदेश है। पुद्गलमें संख्यात असंख्यात व अनन्त प्रदेश हैं और कालके एक ही प्रदेश है, इसलिए काल काय नहीं है। (प प्र / मू २/२४) (गो जी / मू ६२०/१०७४)।

प का / ता वृ ४/१२/१६ जीवपुद्गलधर्मधर्माकाशानांति पञ्चास्तिका-यानां विशेषसंज्ञा अन्वर्थां ह्यातव्या । अस्तित्वे सामान्यविशेषसत्तायां नियता स्थिता । अणुभि प्रदेशैर्महान्त द्व्यणुकस्त्वध्यापेयया ध्मन्पामणुम्यां महान्तोऽणुमहान्त इति कायत्वमुक्त । इति पञ्चा-स्तिकायानां विशेषसंज्ञा अस्तित्वं कायत्व चोक्तम् ।—जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाश इन पचास्तिकायोंकी विशेष सत्ता अन्वर्थक जाननी चाहिए। सामान्य विशेष सत्तामें नियत या स्थित होनेके कारण तो ये अस्तित्वमें स्थित हैं। अणु या प्रदेशोंसे महान्त

है अर्थात् द्वि अणुक स्क्वन्धकी अपेक्षा दो अणुओंसे बड़े हैं इसलिए अणु महान्त हैं। इस प्रकार इनका कायत्व कहा गया। इस प्रकार इन पचास्तिकायोंकी अस्तित्व व कायत्व संज्ञा प्राप्त है। (और भी दे काय १/१)

४ पुद्गलकी अस्तिकाय कहनेका कारण

स मि ४/३६/३१२/१० अणोरप्येकप्रदेशस्य पूर्वोत्तरभावप्रज्ञापननया-पेक्षयोपचारकणनया प्रदेशप्रचय उक्त ।—एक प्रदेशवाले अणुका भी पूर्वोत्तरभाव-प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा उपचार कणनसे प्रदेश प्रचय कहा है। (प का / त प्र ४/१३)

प्र सा / त प्र १३७ पुद्गलस्य तु द्रव्येणैकप्रदेशमात्रवादप्रदेशत्वे यथो-दिते सरयपि द्विप्रदेशाद्युत्पत्तेरुत्पत्ततथाविधस्निग्धरूपगुणपरिणाम-शक्तिस्वभावात्प्रदेशोद्भवत्वमस्ति । तत पर्यायेणानेकप्रदेशत्वस्यापि सभवात् द्व्यादिसंरपेयामरम्योयानन्तप्रदेशत्वमपि न्याय्यं पुद्गलस्य ॥१३७॥—पुद्गल तो द्रव्यत एकप्रदेशमात्र होनेसे यथोक्त प्रकारसे अप्रदेशी है तथापि दो प्रदेशादिके उद्भवके हेतुभूत तथाविध स्निग्ध-रूप-गुणरूप परिणमित होनेकी शक्तिरूप स्वभावके कारण उसके प्रदेशोंका उद्भव है। इसलिए पर्यायत् अनेकप्रदेशत्व भी सम्भव होनेसे पुद्गलकी द्विप्रदेशत्वमे लेकर सरण्यात अमरयात और अनन्त प्रदेशत्व भी न्याय युक्त है। (प का / ता वृ ४/१२/१३)

५ कालद्रव्य अस्ति है पर अस्तिकाय नहीं

प का / मू १०० एवे कालागासा धम्माधम्मा य पुगला जीवा । लम्भति दम्बसण कालस्स दु णरिथ कायत्त ॥१००॥—काल और आकाश-द्रव्य और धर्म व अधर्मद्रव्य तथा पुद्गलद्रव्य व जीवद्रव्य ये छहों 'द्रव्य' नामको पाते हैं। परन्तु कालद्रव्यमें कायत्व नहीं है। (प्र सं / मू २६)

स सि ६/३६/३१२/६ ननु किमर्थमय काल पृथगुच्यते । यत्रैव धर्मादिय उक्तास्तत्रैवायमपि वक्तव्य 'अजीवकाया धर्माधर्माकाशकालपुद्गला' इति । नैवं शङ्क्यम्; तत्रोद्देधे सति कायत्वमस्य स्यात् । नेप्यते च सत्योपचारप्रदेशप्रचयकणपनाभावात् ।—प्रश्न—काल द्रव्यको अलग से क्यों कहा। जहाँ धर्मादि द्रव्योंका कथन किया है, वहाँपर इसका कथन करना था जिससे कि प्रथम सूत्रका रूप ऐसा हो जाता 'अजीव काया धर्माधर्माकाशकालपुद्गला'। उत्तर—इस प्रकार शका करना ठीक नहीं है क्योंकि वहाँपर यदि इसका कथन करते तो इसे काय पना प्राप्त होता। परन्तु कालद्रव्यको कायवान नहीं कहा है, क्योंकि इसमें मुख्य और उपचार दोनों प्रकारसे प्रदेशप्रचयकी कणपनाका अभाव है। (रा वा ६/२२/२४/४८२/४) (प प्र / टी २/२४) (गो जी / जी प्र ६२०) (नि सा / ता वृ ३४) (प का / ता वृ १०२/१६३/१०)

ध ६/४.१ ४४/१६८/४कोऽनस्तिकाय । काल सत्य प्रदेशप्रचयभावात् । कुलस्तस्यास्तित्वम् । प्रचयस्य सप्रतिपमत्वान्यथानुपपत्ते ।—प्रश्न—अनस्तिकाय कौन है। उत्तर—काल अनस्तिकाय है, क्योंकि, उसके प्रदेशप्रचय नहीं है। प्रश्न—तो फिर कालका अस्तित्व कैसे है। उत्तर—चूँकि अस्तित्वके बिना प्रचयके सप्रतिपक्षता बन नहीं सकती अतः उसका अस्तित्व सिद्ध है।

प्र सा / टी २६/७३/७ अथ मतं—यथा पुद्गलपरमाणोर्द्रव्यरूपेणैकस्यापि द्व्यणुकादिस्क्वन्धपर्यायरूपेण बहुप्रदेशरूपं कायत्वं जातं तथा—काला-णोरपि द्रव्येणैकस्यापि पर्यायेण कायत्वं भवतीति । तत्र परिहार—स्निग्धरूपहेतुकस्य धन्वस्याभावात् भवति काय । तदपि कस्मात् । स्निग्धरूपत्वं पुद्गलस्यैव धर्मो यत् कारणादिति ।

प का / ता वृ ४/१३/१२ स्निग्धरूपत्वशक्तेरभावादुपचारेणापि कायत्वं नास्ति कालाणूनां ।—प्रश्न—जैसे द्रव्यरूपसे एक भी पुद्गल परमाणु-द्विअणुक आदि स्क्वन्ध पर्याय द्वारा बहुप्रदेशरूप कायत्व (उपचारसे) सिद्ध हुआ है, ऐसे ही द्रव्यरूपसे एक होनेपर भी कालाणुके समय घड़ी आदि पर्यायों द्वारा कायत्व सिद्ध होता है। उत्तर—इसका परि-

जनेन्द्र सिद्धान्त कोश

हवान्तरसत्ता। —प्रतिनियत वस्तु (द्रव्य) में व्यापनेवाली या प्रतिनियत एक रूप (गुण) में व्यापनेवाली या प्रतिनियत एक पर्यायमें व्यापनेवाली अवान्तर सत्ता है।

प्र सा/ता वृ ६६/१२६/१७ मुक्ताम्रद्रव्यस्य स्वकीयगुणपर्यायारपाद-
व्ययधौव्यै सहस्वरूपास्तिरवाभिधानमवात्तरास्तिरवभिन्नं व्यव-
स्थापित। —मुक्ताम्रद्रव्यके स्वकीय गुणपर्यायोंका उत्पादव्यय-
धौव्यताके जो स्वरूपास्तिरवाका अभिधान या निर्देश है वही अभिन्न
रूपमें अवान्तर सत्ता स्थापित की गयी है।

प घ १/२६६ अपि चावान्तरसत्ता सद्गुणश्च पर्याय। सच्चो-
रपादध्वंसो सदिति धौव्यं किलेति विस्तार ॥२६६॥—तथा सत् द्रव्य
है सत् गुण है और सत् पर्याय है। तथा सत् ही उत्पाद व्यय है, सत्
ही धौव्य है, इन प्रकारके विस्तारका नाम ही निश्चयसे अवान्तर
सत्ता है।

४ सादृश्य अस्तित्व या महासत्ता

प्र सा/यू ६७ इह तु सादृश्यास्तिरवाभिधानमस्तेति कथयति—(उत्था-
निका)। इह विविहलव्यवर्णानं लक्षणेमेग सदिति सव्यगय। उवदि-
सदा खलु धम्मं जिणवरसहेण पणत्त। —यह सादृश्यास्तिरवाका
कथन है—धर्मका वास्तवमें उपदेश करते हुए जिनवरवृषभने इस
विशेषमें विविध लक्षणवाले (भिन्न-भिन्न स्वरूपास्तिरवाले) सर्वद्रव्यों-
का 'सत्' ऐसा सर्वगत एक लक्षण कहा है।

प्र सा/त प्र/६७ स्वरूपास्तिरवेन लक्ष्यमाणानामपि सर्वद्रव्याणामस्त-
नितवेचित्यप्रपञ्च प्रवृत्त्य वृत्त प्रतिद्रव्यमासूत्रित सीमान भिन्दरस
दिति सर्वगतं सामान्यलक्षणभूतं सादृश्यास्तिरवेमेकं लक्ष्यवबोध-
व्यम्। —(यद्यपि सर्व द्रव्य) स्वरूपास्तिरवसे लक्षित हाते हैं, फिर
भी सर्वद्रव्योंका विचित्रताके विस्तारको अस्त करता हुआ, सर्व
द्रव्यों में प्रवृत्त होकर रहनेवाला, और प्रत्येक द्रव्यको ग्रन्थी हुई
सीमाको अवगणना करता हुआ 'सत्' ऐसा जो सर्वगत सामान्यलक्षण-
भूत सादृश्य अस्तित्व है वह वास्तवमें एक ही जानना चाहिए।

प द सा/त प्र/६७ सर्वपदार्थसार्थव्यापिनी सादृश्यास्तिरवसूचिका महा-
सत्ता प्रौक्तैव। —सर्वपदार्थ समूहमें व्याप्त होनेवाली सादृश्य अस्तित्व-
को सूचित करनेवाली महासत्ता कही जा चुकी है।

नि सा/ता वृ/३४ समस्तवस्तुविस्तारव्यापिनी महासत्ता, —समस्त-
व्यापकरूपव्यापिनी महासत्ता अनन्तपर्यायव्यव्यापिनी महासत्ता।
—समस्तवस्तुविस्तारमें व्यापनेवाली अर्थात् छहों द्रव्यों व उनके
समस्त भेद प्रभेदोंमें व्यापनेवाली तथा समस्त व्यापक रूपों (गुणों)
में व्यापनेवाली तथा अनन्त पर्यायोंमें व्यापनेवाली महासत्ता है।

(प्र सा/ता वृ ६७/१३०/१४)

अस्तित्व नय—दे नय १/६।

अस्ति नास्ति भग—दे सप्तभगी/४।

अस्ति नास्ति प्रवाद—दे श्रुतज्ञान III।

अस्तेय—१. भेद व लक्षण

१. अस्तेय का लक्षण

त सू ७/१६/३६२/१२ अदत्तादानं स्तेयम् ॥१६॥

स सि ७/१६/३६२/३ यत्र सकलेशपरिणामेन प्रवृत्तिस्तत्र स्तेयं भवति
बाह्यावस्तुनो ग्रहणे चाग्रहणे च। —मिना दी हुई वस्तुका लेना स्तेय
है ॥१६॥ इस कथनका यह अभिप्राय है कि बाह्यवस्तु ली जाय या
न ली जाय किन्तु जहाँ संकलेशरूप परिणाम के साथ प्रवृत्ति होती है,
वहाँ स्तेय है।

२. अस्तेय अनुव्रत का लक्षण

र क आ ६७ निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्ट।
न हरति यन्न च दत्ते तदृक्षशौर्ध्यादिपारमणं। —जो रखे हुए तथा
गिरे हुए अथवा भूते हुए अथवा धरोहर रखे हुए परद्रव्यको नहीं

हरता है, न दूसरोंको देता है, सो स्थूलचोरीसे विरक्त होना अर्थात्
अचौर्याणुव्रत है। (वसू आ २११) (गुणभद्र आ १३४)

स सि ७/२०/१६८/६ अन्यपीडाकर पायिष्यभयादिसादृश्य परित्यक्त-
मपि यददत्त तत् प्रतिनिवृत्तादर आश्रय इति तृतीयमणुव्रतम्।
—श्रावक राजाके भय आदिके कारण दूसरेको पीड़ाकारी जानकर
मिना दी हुई वस्तुको लेना यद्यपि छाड़ देता है तो भी मिना दी हुई
वस्तुके लेनेसे उसकी प्रीति घट जाती है इसलिए उसके तीसरा
अचौर्याणुव्रत होता है। (रा. वा ७/२०/३/६४०/१०)

का अ ३३६-३३६ जो बहुमूल्य वस्तु अप्यममुरुलेण जेव गिण्हेदि।
वीसरियं पिण गिण्हेदि लाहे थोवे वि तुमेदि ॥३३६॥ जो परद्रव्य
ण हरदि मायालोहेण कोहमाणेण। दिव्वचित्तो सुद्धमई अणुव्वई सो
हवे तिदिओ ॥३३६॥—जो बहुमूल्य वस्तुको अणुमूल्यमें नहीं लेता,
दूसरेकी धूली हुई वस्तुको भी नहीं उठाता, थोड़े लाभसे ही सन्तुष्ट
रहता है ॥३३६॥ तथा कपट लोभ माया व क्राधसे पराये द्रव्यका
हरण नहीं करता वह शुद्धमति दृढ़निश्चयी श्रावक अचौर्याणुव्रतो
है ॥३३६॥

सा घ ४/४६ चौरव्यपदेशकरस्थूलस्तेयव्रतो मृतस्वधनात्। परमुदकादे-
श्चाखिलभोग्याग्र हरेद्ददाति न परस्व ॥४६॥—'चोरी' ऐसे नामको
करनेवाली स्थूल चोरीका है वत जिसके ऐसा पुरुष या श्रावक मृत्युको
प्राप्त हो चुके पुत्रादिकसे रहित अपने कुटुम्बी माई बगैरहके धनसे
तथा सम्पूर्ण लोगोंके द्वारा भागने योग्य जल, धान आदि पदार्थोंसे
भिन्न अर्थात् इनके अतिरिक्त दूसरेके धनको न ता स्वयं ग्रहण करे
और न दूसरेके लिए बवे।

३ अस्तेय महाव्रत का लक्षण

नि सा/यू ६८ गामे वा नगरे वा रणे वा पेच्छिऊण परमर्थं। जो
मु चदि गहणभावं तदिदयवद् होदि तस्सेव ॥६८॥—ग्राममें, नगरमें या
वनमें परायो वस्तुको देखकर जो उसे ग्रहण करनेके भावका छोड़ता
है उसको तीमरा (अचौर्य) महाव्रत है।

धू आ ७, २६१ गामादिस्तु पडिदाह अप्पप्पहुदि परेण सगहिदं। णादाण
परदव्वं अदत्तपरिवज्जणं तं तु ॥७॥ गामे नगरे रणे धूलं सचित्तं
बहुसपिक्खव्वं। तिविहेण वज्जिदव्व अदिण्णगहणं च तण्णिक्क
॥२६१॥—ग्राम आदिकमें पड़ा हुआ, धूला हुआ, रखा हुआ इत्यादि
रूपसे अणु भी स्थूल सूक्ष्म वस्तुका दूसरेकर इकट्ठा किया हुआ ऐसे
परद्रव्यको ग्रहण नहीं करना वह अदत्तारयाग अर्थात् अचौर्य महाव्रत
है ॥७॥ ग्राम नगर वन आदिमें स्थूल अथवा सूक्ष्म, सचित्त अथवा
अचित्त, बहुत अथवा थोड़ा, भी स्वर्णादि धन धान्य, द्विपद चतुष्पद
आदि परिग्रह मिना दिया मिल जाये तो उसे मन बचन क्रयसे सदा
त्याग करना चाहिए। वह अचौर्य व्रत है ॥२६१॥

२ अस्तेय निर्देश

१ अस्तेय अनुव्रतके पाँच अतिचार

त सू ७/२७ स्तेनप्रयोगतदाहतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिक्मानो-
न्मानप्रतिरूपव्यवहारा ॥२७॥—१ चोरी करनेके उपाय वतलाना
२ चोरीका माल लेना, ३ राज्य नियमोंके विरुद्ध सैनिक मार्गदंड
करना या टैकम जुझो बचना ४ मापने व तोलनेके गड़ बात कमती
बढती रखना, ५ अधिक मूल्यकी वस्तुमें कम मूल्यकी वस्तु
मिलाना—ये पाँच अस्तेयके अतिचार हैं। (र क आ ६८) (अन्य
भी श्रावकाचार)

सा घ ४/६०मे उद्धृत—यशस्तिनलक्कम्पू—मानवन्त्यनताधिषये स्तेन-
कर्म ततो ग्रत्। विग्रहे मंग्रोदर्यस्यास्तेनस्यैते निवर्तका। —जो
वस्तु तोलने या मापने योग्य है, उसे दत्ते समय कम तोलकर, लेते
समय अधिक तोलकर या अधिक मापकर लेना, चोरी कराना, चोरी
के माल लेना, और युद्धके समय पदार्थोंका संग्रह करना—ये पाँच
अचौर्याणुव्रतके अतिचार हैं।

उन पदार्थों के योग्य हैं अर्थात् उनको उठाकर आचार्य के समीप ले जावे ।

कुरल १२/१ इदं हि न्यायनिष्ठं यन्निष्पन्नं सदा । न्याय्यो भागो हृदादेयो मित्रं यं रिपवेऽप्यथ ॥१॥—न्यायनिष्ठाका सार केवल इसमें है कि मनुष्य निष्पन्न होकर धर्मशीलता के साथ दूसरे के देय अंशको दे देवे फिर चाहे लेनेवाला शत्रु हो या मित्र ।

३ शका समाधान

१. कर्मादि पुद्गलों के ग्रहण में भी दोष लगेगा

म सि ७/१५/३५२/१२ यद्येवं कर्मनो कर्मग्रहणमपि स्तेयं प्राप्नोति, अन्येनादत्तत्वात् । नैपदोप, दानादाने यत्र सम्भवतस्तत्रैव स्तेयव्यवहारः । कृत, अदत्तग्रहणसामर्प्यम् ।—प्रश्न—यदि स्तेयका पूर्वोक्त (अदत्तादान) अर्थ किया जाता है तो कर्म और नो कर्मका ग्रहण करना भी स्तेय ठहरता है, क्योंकि, ये किसीके द्वारा दिये नहीं जाते । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जहाँ देना और लेना सम्भव है वहाँ स्तेय का व्यवहार होता है । प्रश्न—यह अर्थ किस शब्द से फलित होता है । उत्तर—पूत्र में दिये गये 'अदत्त' शब्द से ।

(रा बा ७, १५/१-३/५४२/१५)

२ पुण्योपार्जन प्रशस्त चोरी कहलयेगा

रा बा ७/१५/८/५४३/१ स्यान्मतम् वन्दनाक्रियासम्बन्धेन धर्मोपचये सति प्रशस्त स्तेयं प्राप्नोति, तन्न, किं कारणम् । उत्तरत्वात् । उत्तमेतत्—दानादानसम्भवे यत्र तत्र स्तेयप्रसंग इति ।—प्रश्न—वन्दना सामागिक आदि क्रियाओं के द्वारा पुण्यका संघय साधु बिना दिया हुआ हो ग्रहण करता है अतः उसको प्रशस्त चोर कहना चाहिये । उत्तर—यह आशंका निर्मूल है, क्योंकि, यह पहले ही कह दिया गया है कि जहाँ लेन देनका व्यवहार होता है वहाँ चोरी है ।

३. शब्द ग्रहण व नगरद्वार प्रवेश से साधुको दोष लगेगा

रा बा ७/१५/७ ५४१ स्यादेतत्—शब्दादिविषयव्याहारादीन्यदत्तानि आददानस्य भिक्षो स्तेयं प्राप्नोतीति । तन्न, किं कारणम् । अप्रमत्तत्वात् । इत्थमेव वा तत्सम्बन्धम् । तथा हि अयं पिहितवारादीन् न प्रविशति ।—प्रश्न—इन्द्रियों के द्वारा शब्दादि विषयों को ग्रहण करने से तथा नगर के दरवाजे आदिको बिना दिये हुए प्राप्त करने से साधुको चोरीका दोष लगना चाहिए । उत्तर—यत्नवान् अप्रमत्त और सज्जानी साधुको शब्द दृष्टि से आचरण करने पर शब्दादि सुनने में चोरीका दोष नहीं है, क्योंकि, वे सब वस्तुएँ तो सबके लिए दी ही गयी हैं, अदत्त नहीं हैं । इसीलिए उन दरवाजों में प्रवेश नहीं करता जो सार्वजनिक नहीं हैं या बन्द हैं । (स सि ७/१५/३५३/२)

अस्थि—१ औदारिक शरीरों में अस्थियोंका प्रमाण—वे औदारिक

१/७, २ इनमें पदकाल कृत वृद्धि हास—वे काल ४ ।

अस्थिर—वे स्थिर ।

अस्तान्—साधुका एक मूलगुण—वे स्नान ।

अहंकार—तत्तु १५ये कर्मकृताभाव परमार्थनयेन चारमनोभिन्ना ।

तस्मात्तमभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपति ॥१५॥—कर्मों के द्वारा निर्मित जो पर्याय हैं और निश्चयनयसे आत्मासे भिन्न हैं, उसमें आत्माका जो मिथ्या आरोप है, उसका नाम अहंकार है जैसे मैं राजा हूँ ।

प्रसा ता वृ ६४/१४ मनुष्यादिपर्यायरूपोऽहमित्यहंकारो भण्यते । —मनुष्यादि पर्यायरूप ही मैं हूँ ऐसा कहना अहंकार है ।

प्रसं टी ४१/१६६/१ कर्मजनितदेहपुत्रकलत्रादौ ममेदमिति ममकारस्तत्रैवाभेदेन गौरवस्थादिदेहोऽहं राजाऽहमित्यहंकारलक्षणमिति ।

—कर्मों से उत्पन्न जो देह, पुत्र, स्त्री आदिमें 'यह मेरा शरीर है, यह मेरा पुत्र है', इस प्रकारकी जो बुद्धि है वह ममकार है और उन

शरीरादिमें अपनी आत्मासे अभेद मानकर जो मैं गौरव का हूँ, माटे शरीरवाला हूँ, राजा हूँ, इस प्रकार मानना सो अहंकारका लक्षण है ।

अहंक्रिया—म स्तो टी १२/२६ अहमस्य सर्वस्य स्यादिविषयस्य स्वामिति क्रिया अहंक्रिया । —मैं इस स्त्री आदि समस्त विषयोंका स्वामी हूँ इस प्रकारकी क्रियाको अहंक्रिया कहते हैं ।

अहमिन्द्र—वे इन्द्र ।

अहिंसा—जैन धर्म अहिंसा प्रधान है, पर अहिंसाका क्षेत्र इतना

सकुचित नहीं है जितना कि लोकमें समझा जाता है इसका व्यापार बाहर व भीतर दोनों ओर होता है । बाहरमें तो किसी भी छोटे या बड़े जीवको अपने मनसे या वचनसे या कायसे, किसी प्रकारकी भी हानि या अधिक पीड़ा न पहुँचाना तथा उसका दिल न दुखाना अहिंसा है और अन्तरंगमें गगन द्वेप परिणामोंसे निवृत्त होकर साम्यभावमें स्थित होना अहिंसा है । बाह्य अहिंसाको व्यवहार और अन्तरंगका निश्चय कहते हैं । वास्तवमें अन्तरंगमें आंशिक साम्यता आये बिना अहिंसा सम्भव नहीं, और इस प्रकार इसके अतिव्यापक रूपमें सत्य अचर्य ब्रह्मचर्य आदि सभी सद्गुण समा जाते हैं । इसीलिए अहिंसाको परम धर्म वहा जाता है । जल धल आदिमें सर्वत्र ही शुद्ध जीवोंका सद्भाव होनेके कारण यद्यपि बाह्य में पूर्ण अहिंसा पलनी अमम्भव है पर यदि अन्तरंगमें साम्यता और बाह्यमें पुरा-पुरा यत्न-आचार रखनेमें प्रमाद न किया जाय तो बाह्य जीवोंके मरने पर भी साधक अहिंसक ही रहता है ।

१ अहिंसा निर्देश

* निश्चय अहिंसाका लक्षण—वे अहिंसा २/१ ।

१. अहिंसा अणुव्रतका लक्षण

रा क आ ४३ सकृत्प्राप्त कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वात् । न हिनस्ति यत्तदाहं स्थूलवधाद्विरमर्षं निपुण ॥४३॥—मन, वचन कायके सकृत्पसे और कृत, कारित, अनुमोदनासे त्रम जीवोंको जो नहीं हनता, उस क्रियाको गणधरादिक निपुण पुरुष स्थूल हिंसासे विरक्त होना अर्थात् अहिंसाणुव्रत कहते हैं । (स सि ७/२०/३५८/७), (रा बा ७/२०/१५४७/६), (सा ध ४/७) ।

मसु आ २०६ जे तसकागा जीवा पुबुद्धिटां न हिंसियव्वा ते । एहदिया विणिहारणेण पढम वयं धूलं ॥२०६॥—जो त्रस जीव पहिले बताये गये हैं, उन्हें नहीं मारना चाहिए और निष्कारण अर्थात् बिना प्रयोजन एकेन्द्रिय जीवोंको भी नहीं मारना चाहिए । यह पहिला स्थूल अहिंसा व्रत है । (सा ध ४/१०)

का अ मू २३१-२३२ जो वाबरेइ सदओ अप्पाणसम पर पि मण्णंते । णिदण गरहण जुतो परिहरमाण। महारभे ॥२३१॥ तसवाद्द जो न करदि मणवकाएहि णेव कारयदि । कुब्बंतं पि न इच्छदि पढमवयं जायदे तस्स ॥२३२॥—जो श्रावक दयापूर्ण व्यापार करता है, अपने ही समान दूसरोंको मानता है, अपनी निन्दा और गर्ह करता हुआ महा आरम्भको नहीं करता ॥२३१॥ तथा जो मन, वचन व कायसे त्रस जीवोंका घात न स्वयं करता है न दूसरोंसे कराता है और न दूसरा करता हा उसे अच्छा मानता है, उस श्रावकके प्रथम अहिंसा-णुव्रत होता है ।

२ अहिंसा महाव्रतका लक्षण

मू आ ४ २८६ कायेदियगुणमग्गण कुलाज्जोणीसु सव्वजीवणं । णाऊण य ठाणादिसु हिंसादिविषज्जणमहिंसा ॥४॥ एहदियादिपाणा पचविधा-वज्जभोरुणा सम्म । ते खलु ण हिंसितव्वा मणवच्चिक, येण सव्वस्य ॥२८६॥—काय, इन्द्रिय गुणस्थान, मार्गणास्थान, कूल, आयु, योनि—इनमें सब जीवोंको जानकर बायोसर्गादि क्रियाओंमें हिंसा आदिका त्याग करना अहिंसा महाव्रत है १४४ सध देश और सब

कालमें मन बचन कायसे एकद्विषसे लेकर पचेन्द्रिय प्राणिमोंके प्राण पाँच प्रकारके पापसे छरनेवालेको नहीं घातते चाहिए अर्थात् जोनोंको रक्षा करना अहिंसाव्रत है ॥२८६॥ (नि सा/पृ ६६)

३. अहिंसाणुव्रतके पाँच अतिचार

ता सु ७/२६ बन्धवधच्छेदातिभारगणपानानिरोधा ।—यन्ध, यध, छेद, अतिभारोपण, अपपानना निरोध, ये अहिंसाणुव्रतके पाँच अतिचार हैं ।

सा ध ४/१६ मंत्रादिनापि संघादि कृतो रज्जवादिबन्धन । उक्तया यत्नोयं स्यात्त यथा मनिनं मतं ॥१६॥—मन्त्रादिके द्वारा भी बंधा गया बन्धनादिक रस्सी बंधारहसे किये गये बन्धनों तरह अतिचार होता है । इसलिये उस प्रकारसे यत्न पूर्वक प्रवृत्ति करना चाहिए, जिस प्रकारसे कि मत मनिन न होवे ।

४. अहिंसा महाव्रतकी भावनाएँ

त सु ७/४ बाह्यमनोगुणोपदाननिक्षेपणसमिरवानाकृतपानभोजनापि पश्य ॥४॥—बचनपुसि, मनोपुसि, ईगसिमिति, आदाननिक्षेपण-समिति और आलोकित पान भोजन (अर्थात् देव शाधकर भोजन पान ग्रहण करना) ये अहिंसाव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं । (पू आ ३३७), (चा पा/पृ ३१)

५. अहिंसा अणुव्रतकी भावनाएँ

स सि ७/६ ३४७/३ हिंसायां तावत्, हिंसा हि निरवाहेजनीय सततानु-मद्वैतरश्च इह च बधबन्धपरिव्लेशादीन् प्रतिनभते प्रेरय चाशुभां गतिं गतिश्च भवतीति हिंसायां श्युपरम श्रेयात् । एवं हिंसादिपु-पायाबधदर्शनं भायनीयम् ।—हिंसामें यथा—हिंसक निरन्तर उद्वेज-नीय है वह सदा बँरको बाँधे रहता है, इस लोकमें यध, यन्ध और प्लेश आदिको प्राप्त होता है, तथा परलोकमें अशुभ गतिको प्राप्त होता है, और गति भी होता है, इसलिये हिंसाका त्याग श्रेयस्कर है । इस प्रकार हिंसादि दोषोंमें अपाय और अनयके दर्शनकी भावना करनी चाहिए ।

* व्रतकी भावना व अतिचार—दे व्रत २ ।

* साधुजन पशु पक्षियोंका मार्ग छोटकर गमन करते हैं
—दे समिति १/३

२ निश्चय अहिंसाकी कथंचित् प्रधानता

१. प्रमाद व रागादिका अभाव ही अहिंसा है

भ आ/पृ ८०३, ८०६ अत्ता चेव अहिंसा अत्ता हिंसति निच्छन्ना समये । जो होदि अप्पमत्तो अहिंसगो हिसगो इदरो ॥८०३॥ जदि सुजस्स य यघो होहिदि माहिरगवधुजोणेण । जसिं दु अहिंसगो णाम होदि वायभादिबधहेतु ॥८०६॥—आत्मा ही हिंसा है और वह ही अहिंसा है, ऐसा जिनागममें निश्चय किया है । अप्पमत्तको अहिंसक और प्रमत्तको हिंसक कहते हैं ॥८०३॥ यदि रागद्वेष रहित आत्माको भी बाह्य वस्तुमात्रके सम्बन्धसे बन्ध होगा, तो 'जगसमें कोई भी अहिंसक नहीं है', ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि, मुनि जन भी मायु-कायिकादि जीवोंके बन्धके हेतु हैं ॥८०६॥

स सि ७/२२/३६३/१० पर उद्धुत्त—रागादोगमशुप्पा अहिंसगत त्ति देसिद समये । तेसिं चे उप्पत्तो हिंसेसि जिणेहि निहिद्धा ।—शास्त्र-में यह उपदेश है कि रागादिकका नहीं उत्पन्न होना अहिंसा है । तथा जिनवेतने उनकी उत्पत्तिकी हिंसा कहा है । (क पा/पृ ११/४२/१०२) (पु सि उ ४४) (अन ध ४/२६)

ध/पृ १४/६ ६३/६० स्वयं ह्यहिंसा स्वयमेव हिंसनं न तत्पराधीन-मिह ह्ययं भवेत् । प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसक प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसक ॥६॥—अहिंसा स्वयं होती है और हिंसा भी स्वयं ही होती

है । यहाँ ये दोनो पराधीन नहीं हैं । जो प्रमाद रहित है वह अहिंसक है और जो प्रमाद युक्त है वह मदा हिंसक है ।

प्र मा/पृ प्र २१७-२१८ अणुदोषमागमज्ञानस्य सुनिश्चितहियाभाव-प्रसिद्धे स्तथा तद्विज्ञाभाविना प्रयत्नापेन प्रसिद्धमदणुदोषयोग-गदावपरस्य परप्राणव्यपरापयज्ञावेऽपि बन्धाप्रसिद्धया सुनिश्चित हियाभावाप्रसिद्धे रथाप्तरद् एव तदो बन्धीयात् न पुनर्बहिरद् ॥२१७॥ यदणुदोषयोगासदभाव निरूपितपरमप्रसिद्धेरहिंसक एव स्यात् ॥२१८॥—अणुदोषमागम। सत्ताम जिनय पाया जाता है उसक हिंसाके सत्तावकी प्रसिद्धि सुनिश्चित है और इस प्रकार जो अणुदोषयोगक बिना होता है उसे व्रत आचारस प्रसिद्ध होनेवाला अणुदोषयोगक। असत्ताम जिसके पाया जाता है उसके परप्राणिक व्यागोपक सत्तावमें भी बन्धकी अप्रसिद्धि होनेमें हिंसाके अभावकी प्रसिद्धि सुनिश्चित है अतः अन्तर गद ही निश्चय मनवान है बहिरंग नहीं ॥२१७॥ अणुदोषयोगका अगत्ता अहिंसक ही है, क्योंकि उसे नित-परमकी प्रसिद्धि है ॥२१८॥ (नि मा/ता पु ६६) (अन ध ४/३३)

पु सि उ ६१ अधिधायापि हि हिंसा हिंसापनभाजनं भवत्येव । वृथाप्यपरा हिंसा हिंसाकतभाजनं न स्यात् ।—निश्चय कर कोई जीव हिंसाको न करे भी हिंसा फनके भोगनेका वात्र होता है और दूसरा हिंसा करके भी हिंसाके फनको भोगनेका वात्र नहीं होता है अर्थात् फनमात्र परिणामीके आधीन है, वात्र हिंसाके आधीन नहीं ।

२ निश्चय अहिंसाके बिना अहिंसा सम्भव नहीं

नि मा/ता पु ६६ रोषां मृतिर्भवतु वा न वा, प्रयत्नपरिणाममन्तरैरेव सावचपरिहारो न भवति ।—उन (बाह्य प्राणिनी) का मरण हा या न हो, प्रयत्नरूप परिणामके बिना ग्राह्यपरिहार नहीं होता ।

प प्र/टी ३/४८ अहिंमालभ्यो धर्मः, सोऽपि ज्ञेयशुद्धभावा बिना न सभवति ।—धर्म अहिंसा सत्तावाना है, और वह अहिंसा जीवके शुद्ध भावोंके बिना सम्भव नहीं ।

३ परकी रक्षा आदि करनेका अहंकार अज्ञान है

स सा/पृ २६३ जो अप्पना दु मग्गदि दुस्सिदसुहिदे करेमि सत्ते ति । सो मूत्रा अप्पानो पाणो एवो दु बिमरीदा ।—जो यह मानता है कि अपने द्वारा मैं (पर) जीवोंको दुखी सुखी करता हूँ, वह मूढ़ (मोही) है, अज्ञानी है और जो इसमें निश्चय है वह ज्ञानी है । (यो सा/अ ४/१२)

४ अहिंसा सिद्धान्त स्वरक्षार्थ है न कि पररक्षार्थ

प ध/उ ७६६ आरमेत्तगग्गिणमद्गरसनं यन्मतं रमूतो । तत्परं स्वात्म-रक्षया कृतेऽत परत्तव ॥७६६॥—इसलिये जो आगममें स्व और अन्य प्राणिमोंकी अहिंसाका सिद्धान्त माना गया है, वह केवल स्वार्थ रक्षाके लिए ही है परक लिए नहीं ।

३ अहिंसा व्रतकी कथंचित् प्रधानता

१ अहिंसा व्रतका माहात्म्य

भ आ/पृ ८२२ पाणो वि पाठिरेरं वत्तो हूतो वि ससुमारहदे । एणेन एकादिवसकवेण हिंसावदगुणेण ।—स्वल्प काल तक पाना जानेपर भी यह अहिंसा व्रत प्राणीपर महात्त-उपकार करता है । जैसे कि शिशु-मार हत्यमें फेंके चाण्डालने अनाकाल तक ही अहिंसाव्रत पालन किया था । वह इस व्रतके माहात्म्यसे देखों द्वारा पूजा गया ।

शा ८/३२ अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्वति । अहिंसैव गति साधयी श्रीरहिंसैव शारवतो ॥३२॥—अहिंसा ही तो जगत्की माता है क्योंकि समस्त जीवोंका परिपालन करनेवासी है, अहिंसा ही आनन्दकी सन्तति है, अहिंसा ही उत्तम गति और शारवतो सत्मी है । जगत्में जितने उत्तमोत्तम गुण हैं वे सब इस अहिंसा ही में हैं । अग था ११/६ चागीकरमयोमुर्वी ददान पर्वतै सह । एकजीवाभयं नूनं ददानस्य सम कृत ॥६॥—पर्वतोंसहित स्वर्णमयी पृथिवीका

दान करनेवाला भी पुरुष, एक जीवकी रक्षा करनेवाले पुरुषके समान कहाँसे हो सकता है ।

भा वा /टी १३४/२८३ पर उद्धृत "एका जीवदयैकत्र पत्र सकला क्रिया । पर फलं तु सर्वत्र कृपेति चन्तामणेरिव ॥१॥ आयुष्मात् सुभग श्रीमात् मूल्य कीर्तिमात्र । अहिंसावताहाहास्यावेकस्मादेव जायते ॥२॥ — एक जीवदयाके द्वारा ही चिन्तामणिकी भाँति अन्य सकल धार्मिक क्रियाओंके फलकी प्राप्ति हो जाती है ॥१॥ आयुष्मात् होना, सुभगपना, धनवानपना, सुन्दर रूप, कीर्ति आदि ये सब कुछ मनुष्यको एक अहिंसा व्रतके माहात्म्यसे ही प्राप्त हो जाते हैं ॥२॥

२ सर्व व्रतोंमें अहिंसाव्रत ही प्रधान है

भ आ /यू ७८४ ७९० गथि अणूदो अप्प आयासादो अणूणयं गथि । जह सह जाण महल्लं ण वयमहिंसासमं अथि ॥७८४॥ सज्जेसिमास-माणं हियं गम्भो व सव्वसत्थणं । लब्धेसि वदगुणान् पिडो सारो अहिंसा हु ॥७९०॥ — इस जगत्में अणुसे छोटी दूसरी वस्तु नहीं है और आकाशसे भी बड़ी कोई चीज नहीं है । इसी प्रकार अहिंसा व्रतसे दूसरा कोई बड़ा व्रत नहीं है ॥७८४॥ यह अहिंसा सर्व आश्रमोंका हृदय है, सर्व शास्त्रोंका गर्भ है और सर्व व्रतोंका निचोड़ा हुआ सार है ॥७९०॥

कुरल ३३/३ अहिंसा प्रथमो धर्म सर्वेषामिति सन्मति । श्रुतिभिर्बहुधा गीतं स्मृतं तदनन्तरम् ॥३॥ — अहिंसा सग धर्मोंमें प्रेरित है । श्रुतियोंने प्रायः उसकी महिमाके गीत गाये हैं । सच्चाईकी श्रेणी उसके परचाव आती है ।

स सि ७/१/३४३/४ तत्र अहिंसा व्रतामादौ क्रियते प्रधानत्वात् । सत्यादीनि हि तत्र परिपालनादिनि सत्यस्य वृत्तिपरिसेषवत् । — इन पाँचों व्रतोंमें अहिंसा व्रतको (सूत्रकारने) प्रारम्भमें रखा है, क्योंकि वह सबमें मुख्य है । धान्यके खेतके लिए जैसे उसके चारों ओर कटौतका घेरा होता है उसी प्रकार सत्यादिक सम व्रत उसकी रक्षाके लिए हैं । (रा वा ७/१/६/१३४/१)

पु सि उ ४२ आरमपरिणामहिंसर्न हेतुवत्सर्वमेव हिंसैतत् । अवृत्तवच-सादि केवलसमुदाहृतं सिध्यमोघाय ॥४२॥ — आरम परिणामोंका हनन करनेने असत्यादि सग हिंसा ही हैं । असत्य वचन आदि ग्रहण तो फल शिष्य जनोको उस हिंसाका बोध कराने मात्रके लिए है ।

शा ८/७, १०, ११, ४२ सत्याद्युत्तरनि शेषयमजातनिबन्धनम् । शीलैश्च-यद्यधिष्ठानमहिंसास्य महाव्रतम् ॥७॥ एतत्समयसर्वस्वमेतत्सिद्धान्त-जोवितम् । यज्जन्तुजातरक्षायं भावशुद्धया दृढ व्रतम् ॥१०॥ श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च । अहिंसालक्षणो धर्मः तद्विपक्षश्च पातकम् ॥११॥ तप श्रुतमयज्ञानध्यानदानादिकर्मणा । सत्यशीलव्रता-दीनामहिंसा जननी मता ॥४२॥ — अहिंसा महाव्रत सत्यादिक अगले ४ महाव्रतोंका तो कारण है, क्योंकि वे बिना अहिंसाके नहीं हो सकते । और शीलादि उत्तर गुणोंकी चर्याका स्थान भी अहिंसा ही है ॥७॥ वही तो समय अर्थात् उपदेशका सर्वस्व है, और वही सिद्धान्तकार रहस्य है, जो जीवोंके समूहकी रक्षाके लिए हो । एवं वही भाव शुद्धिपूर्वक दृढव्रत है ॥१०॥ समस्त व्रतोंके शास्त्रोंमें यही सुना जाता है, कि अहिंसा लक्षण तो धर्म है और इसका प्रतिपक्षी हिंसा करना ही पाप है ॥११॥ तप, श्रुत, यम, ज्ञान, ध्यान और दान करना तथा सत्य, शील व्रतादिक जिसने भी उत्तम कार्य हैं उन सबकी माता एक अहिंसा ही है ॥४२॥ (शा ६/२)

३. व्रतके बिना अहिंसक भी हिंसक है

पु मि उ ४८ हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा । तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥४८॥ — हिंसामें विरक्त न होना हिंसा है और हिंसारूप परिणमना भी हिंसा होती है । इसलिए प्रमादके योगमें निरन्तर प्राण घातका सद्भाव है ।

प्र सा /त प्र २१७ प्राणव्यपरोपसद्भावै तदसद्भावै वा तदविनाभाविना-प्रयत्नाचारेण प्रसिद्धवदशुद्धोपयोगसद्भावस्य सुनिश्चितसि सामाव-प्रसिद्धे । — प्राणके व्यपरापका सद्भाव हो या असद्भाव, जो अशुद्धो-पयोगके बिना नहीं होता ऐसे अप्रयत्न आचारसे प्रसिद्ध होनेवाला अशुद्धोपयोग जिसके पाया जाता है उसके हिंसाके सद्भावकी प्रसिद्धि सुनिश्चित है ।

४ निश्चय व्यवहार अहिंसा समन्वय

१. सर्वत्र जीवोंके सद्भावमें अहिंसा कैसे पले

भ आ /यू १०१२-१०१३ कथं चरे कथं चिदृते कथमासे कथं सये । कथं भुजेज्ज भासिज्ज कथं पाव वज्जमदि ॥१०१२॥ जद चरे जद चिदृते जदमासे जद सये । जद भुजेज्ज भासिज्ज एव पाव वज्जमदि ॥१०१३॥ — प्रश्न — इस प्रकार कहे गये क्रमकर जीवोंसे भरे इस जगत् में साधु किस तरह गमन करे, कैसे तिष्ठे, कैसे बैठे, कैसे सोये, कैसे भोजन करे, कैसे बोले, कैसे पापसे न बन्धे । उत्तर — यत्नाचारसे गमन करे, यत्नसे तिष्ठे, पीछीसे हाथधर यत्नसे बैठे, शोधकर रात्रिमें यत्नसे सोवे यत्नसे दोष रहित आहार करे, भाषा समिति-पूर्वक यत्नसे बोले । इस प्रकार पापसे नहीं बन्ध सकता ।

रा वा ७/१३/१२/४४१/६ में उद्धृत — जले जन्तु स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च । जन्तुमात्राकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसक । सोऽत्रावकाशे न सप्रते । भिक्षोर्ज्ञानध्यानपरायणस्य प्रमत्तयोगाभावात् । किंच सूक्ष्मस्थूलजीवाभ्युपगमात् । सूक्ष्म न प्रतिपीड्यन्ते प्राणिन स्थूल-मूर्त्य । ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयत्तामन । — प्रश्न — जलमें, स्थलमें और आकाशमें सब जगह जन्तु ही जन्तु हैं । इस जन्तुमय जगत्में भिक्षु अहिंसक कैसे रह सकता है । उत्तर — इस शकाको यहाँ अवकाश नहीं है, क्योंकि, ज्ञानध्यानपरायण अप्रमत्त भिक्षुका मात्र प्राणवियागसे हिंसा नहीं होती । दूसरी बात यह है कि जीव भी सूक्ष्म व स्थूल दो प्रकारके हैं । उनमें जो सूक्ष्म है वे तो न किसीसे रुकते हैं, और न किसीको रोकते हैं, अतः उनकी तो हिंसा होती नहीं है । जो स्थूल जीव हैं उनकी यथा शक्ति रक्षा की जाती है । जिनकी हिंसाका रोकना शक्य है उसे प्रयत्न पूर्वक रोकने-वाले सयत्तके हिंसा कैसे हो सकती है ।

सा ध ४/२२-२३ कपायविकथानिन्द्राप्रणयाक्षविनिग्रहात् । नित्योदयाद्यौ कर्पापापघ्नान्तरविप्रभो ॥२२॥ विन्ध्यजीवचित्ते लोके क चरत् कोऽप्यभोक्ष्यत । भावेकमाघनौ बन्धमोक्षौ चैवाभिविध्यतां ॥२३॥ — अहिंसाव्रतको निमल करनेकी इच्छा रखनेवाला भावक कपाय, विकथा, निद्रा, मोह, और इन्द्रियोंके विधिपूर्वक निग्रह करनेसे पापरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यकी प्रभाके समान, तथा नित्य है उदय जिसका, ऐसी दयाको करो ॥२२॥ यदि परिणाम ही है एक प्रधान कारण जिनका ऐसे बन्ध और मोक्ष न होते, अर्थात् यदि बन्ध और मोक्षके प्रधान कारण परिणाम या भाव न होते तो चारों तरफसे जीवोंके द्वारा भरे हुए ससारमें कहाँपर भी चेष्टा करनेवाला कोई भी मुमुक्षु पुरुष मोक्षको प्राप्त न कर सकता ।

२. निश्चय अहिंसाको अहिंसा फहनेका कारण

प प्र /टी २/१२६ रागाद्यभावो निश्चयेनाहिंसा भण्यते । तस्मात् । निश्चयशुद्धचैतन्यप्राणस्य रक्षाकारणात् । — रागादिके अभावको निश्चयसे अहिंसा कहते हैं, क्योंकि, यह निश्चय शुद्ध चैतन्यप्राण-की रक्षाका कारण है ।

* अन्तरंग व बाह्य हिंसाका समन्वय — वे हिंसा

अहित — अहित सम्भाषणकी दृष्टता अनिष्टता । — वे सत्य/२

अहीन्द्र — मध्य लोकमें द्वित्रय सागर व द्वीप । — वे लोक ४/१

अहेतुमत—युवा/म जयचन्द/६ जा सर्वको आह्वा हो करि वेयल प्रमाणता मानिए सो अहेतुमत है।

अहेतु समा—स्वा सू/मू य भा १०१/१८ त्रैकाव्यासिद्धेहेतोरहेतु-सम ११८। हेतु साधनं तरसाध्याय परचात्सह वा भवेत्। यदि पूर्व साधनमस्ति असति साध्ये कस्य साधनम्। अथ परचात्, असति साधने कस्येदं साध्यम्। अथ युगपरसाध्यसाधने। द्वयोर्विद्यमानयो किं कस्य साधन किं कस्य साध्यमिति हेतुरहेतुना न विशिष्यते। अहेतुना साध्यम्यासि प्रत्ययस्थानगत्तुसम। —तोनों कालमें वृत्तिकाके असिद्ध हो जानेसे अहेतुसमा जाति होती है। अर्थात् साध्यस्वरूप अर्थके साधन करनेमें हेतुका हीना कालमें वर्तना नहीं बननेसे प्रत्ययस्थान, वेनेपर अहेतुसमा जाति होती है। जैसे—हेतु क्या साध्य से पूर्वकालमें वर्तता है, अथवा क्या साध्यसे परचाय उत्तरकालमें वर्तता है अथवा क्या दोनों साथ-साथ वर्तते हैं। प्रथम पक्षके अनु-सार साधनपना नहीं बनता क्योंकि साध्य अर्थके बिना यह किसका साधन करेगा। द्वितीय पक्षमें साध्यपना नहीं बनता, क्योंकि साधन अभावमें यह किसका साध्य कहनायेगा। तृतीय पक्षमें किसी एक विशिष्टमें ही साधन या साध्यपना युक्त नहीं होता, क्योंकि, ऐसी अवस्थामें किसी किसी साधन पर और किसीको किसका साध्य।

(श्रीनो वा ४/स्या १६६/६१४/१६)

अहोरात्रि—काल प्रमाणका एक भेद। —दे गणित १/१४।

[आ]

आत—दे अंतड़ी।

आंतरा—न्या वि/पृ १/१३/२०१/२६ अन्तरचेतसि भवा आन्तरा। —अन्तरगमें होने सो आन्तरा है।

आदोलन करण—दे अक्षरकरणकरण।

आध्र—१ मध्य आर्यखण्डका एक देश। —दे मनुष्य ४, २ (म पु/प्र ६०/५ पञ्चालाल) —गोदावरी व कृष्णा नदीके बीचका क्षेत्र। इसकी राजधानी अन्ध नगर (बेंगी) थी। इसका अधिकांश भाग भाग्यपुर (हिरवापाद) में अन्तर्भूत है। इसकी ग्रेलिंग (ग्रेलिंग) देश भी कहते हैं। ३ (ध १/प्र ३२/६।) Jann सितारा जिलेका यह भाग भी आन्ध्र देशमें ही था जिसमें आज वेण्णा नदी बहती है, तथा जिसमें महिमानगढ़ नामका ग्राम है।

आध्र वंश—(ध १/प्र ३२/H L Jain) इस वंशका राज्यकाल ई पू २३२-२२६ (बी नि २६४ ३०१) अनुमान किया जाता है।

आवली—मृत विधान संग्रह। पु २६ दसोके बिना नीरस केवल एक अन्न जलके साथ लेना आवली आहार है।

आसिक—भरत क्षेत्रके दक्षिण आर्यखण्डका एक देश। —दे मनुष्य ४।

आ—(स सि ६/६/२७२/२) 'आह्' अयमभिधिवर्धय। —'आह्' यह अभिविधि अर्थमें आया है। (अर्थात् 'आ' पद 'तक' अर्थमें सीमाका प्रयोजक है।)

आकपित—आलोचनाका एक दोष। —दे आलोचना २।

आकर—म पु/भाषाकार १६/१०६ जहाँपर सोने चाँदी आदिकी खान हुआ करती है उस स्थानको 'आकर' कहते हैं।

आकस्मिक भय—दे भय।

आकाक्षा—१ इच्छाके अर्थमें आशीता—२ अभिलाषा, ३, आशीत य निराशीत आशान—४ अनशन, ३ निराशीत अंग—६ निराशीत।

आकार—इस शब्दका साधारण अर्थ गद्यपि यस्तुप्रति आरम्भान होता है, परन्तु यहाँ शास्त्र प्रकरणमें इसका अर्थ चेतन पञ्चदश प्रतिभासित होनेवाले पदार्थोंको विवेक आकृतिमें निगा गया है और अचरारम प्रकरणमें देशान्तरावच्छिन्न सभी पदार्थ साकार कह जाते हैं।

१ भेद व लक्षण

१. आकारका लक्षण—(ज्ञानज्ञेय विषय व भेद)

रा वा १/१०/१/२३/६ आकारो विषयः। —आकार अर्थात् विषय (ज्ञानमें भेद रूप प्रतिभा, न)।

य वा १/१, १६/३०१/३१/११ प्रमाणदो पुधभूत कम्ममायारो। —प्रमाणसे पुधभूत कर्मको आधार करते हैं। अर्थात् प्रमाणम् (या शास्त्रम्) करने में भिन्न बहिर्भूत जा विषय प्रतिभासमान होता है उसे आधार कहते हैं।

य वा १/१, १६/३०३/३३८/३ आचारो कम्मकारो सयत्तयसत्तादो पुध वाऊण सुदिगायरमुत्तणीय। —मन्त्र पदार्थोंके समुदायसे अन्नग होकर सुदिके विषय भाषका प्राप्त हुआ कम्मकारण आधार कहलाता है।

(ध १३/६, ६, १६/२०७/७)

म पु २४/१०२ भेदग्रहणमाकार प्रतिकर्मकमरस्या ११०२३—घट पट आदिकी व्याख्या निधे हुए पिनी यस्तुके भेद ग्रहण करनेको आधार कहते हैं।

द्र स/टी ४३/१८६/६ आकार विषय, केन रूपेण। दुवलोड्य, कृष्णोड्य, दोषोड्य, हम्सोड्य, घटोड्य, पटोड्यमित्यादि। —विषय को आधार करते हैं। यह भी किस रूपसे। 'यह शुद्ध है, यह कृष्ण है, यह कड़ा है, यह छोटा है, यह घट है, यह पट है' इत्यादि। —दे आधार २/१, २३ (अंगरूपेण प्राप्त)।

२. उपयोगके साकार अनाकार दो भेद

त गू २/६ स द्विविधोऽष्टपथभेदः १६१—यह उपयोग क्रमसे दो प्रकार, आठ प्रकार व चार प्रकार हैं।

स सि २/६/१६३/३ स उपयोगो द्विविधः—ज्ञानोपयोगा दर्शनोपयोग-रचेति। ज्ञानोपयोगोऽष्टभेद दर्शनोपयोगस्तुभेदः। —यह उपयोग दो प्रकारका है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका है और दर्शनोपयोग चार प्रकारका है। (नि सा/मू १०), (प का/मू ४०), (न च/मू ११६), (त सा २/४६), (द्र स/मू ४)। पं मे/प्रा १/१७८। उपजागो मो कुविहो सागारो चेव अजागारो। —उपयोग दो प्रकारका है—साकार और अनाकार। (स सि २/६/१६३/१०), (रा वा २/६/१/२०३/१०), (ध २/१, १/४२८/१), (ध १३/६, ६ १६/२०७/४), (गो जी/मू ६७२), (पं स/स ६/३३२)।

३. साकारोपयोगका लक्षण

प सं/प्रा १/१७६ मद्गुहज्जिहिमणेहि य ज समविशय विम्वेसविष्णण। अतोमुत्तकालो उवज्जो सो हु सागारो ११७६१—मति, श्रुत, अर्वाच और मन पर्ययज्ञानके द्वारा जो अपने अपने विषयका विदोष विज्ञान होता है, उसे साकार उपयोग कहते हैं। यह अन्तर्भूतकाल तक होता है ११७६१।

क वा १/१, १६/३३०७/३३८/४ तेण आगारेण सह वट्ठ म सायारं। —उस आकारके साथ जो पाया जाता है वह साकार उपयोग कहलाता है। (ध १०/६, ६, १६/२०७/७)

४. अनाकार उपयोगका लक्षण

पं सं/प्रा १/१८० इन्द्रियमणोहिणा वा अर्थे अविसेसिऊण ज ग्रहण । अंतोमुहुत्तकालो उवजो। सो अणागारो ॥१८०॥—इन्द्रिय, मन और अधिक के द्वारा पदार्थोंकी विशेषताकी ग्रहण न करके जो सामान्य अंशका ग्रहण होता है, उसे अनाकार उपयोग कहते हैं। यह भी अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है ॥१८०॥

क पा १/१.१६/९३०७/४ तत्त्विवरीयं अणाया। —उस साकारसे विपरीत अनाकार है। अर्थात् जो आकारके साथ नहीं वर्तता वह अनाकार है। (ध १३/६.६.१६/२०७/६)।

प ध/उ ३६४ यस्सामान्यमनाकारं साकारं तद्विशेषभाक् । —जो सामान्य धर्मसे युक्त होता है वह अनाकार है और जो विशेष धर्मसे युक्त होता है वह साकार है।

५ ज्ञान साकारोपयोगी है

स सि २/६/१६३/१० साकारं ज्ञानम् । —ज्ञान साकार है। (रा वा २/६/१/१२३/३१), (ध १३/६.६.२६/२०७/६), (म पु २४/२०१)

घ १/१.१.११६/३६३/१० जानात्तोत्ति ज्ञान साकारोपयोग । —जो जानता है उसको ज्ञान कहते हैं, अर्थात् साकारोपयोगको ज्ञान कहते हैं।

स सा/आ परि/शक्ति न० ४ साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्ति । —साकार उपयोगमयी ज्ञान शक्ति।

६ दर्शन अनाकारोपयोगी है

पं सं/प्रा १/१३८ ज सामणं ग्रहण भाषाण णेव कट्टु आया। । अविसेसिऊण अर्थे दंसणमिदिभण्णे समए ॥१३८॥ सामान्य विशेषात्मक पदार्थोंके आकार विशेषको ग्रहण न करके जो केवल निर्विकल्प रूपसे अंशका या स्वरूपमात्रका सामान्य ग्रहण होता है, उसे परमाण्वम दर्शन कहा गया है। (पं सं/यू ४३) (गो जी/यू ४८२/८८८)

पं सं/सं १/२४६) (ध १/१.१.४/६३/१४६)

स सि २/६/१६३/१० अनाकार दर्शनमिति । —अनाकार दर्शनोपयोग है। (रा वा २/६/१/१२३/३१), (ध १३/६.६.१६/२०७/६) (म पु-२४/१०१)

२ शका समाधान

१. ज्ञानको साकार कहनेका कारण

त सा २/११ कृत्वा विशेषं गृह्णाति वस्तुजातं यतस्तत् । साकारमिष्यते ज्ञानं ज्ञानयाधारम्यवेदिमि ॥११॥ —ज्ञानपदार्थोंको विशेष करके जानता है, इसलिए उसे साकार कहते हैं। यथार्थरूपसे ज्ञानका स्वरूप जाननेवालोंने ऐसा कहा है।

२ दर्शनको निराकार कहनेका कारण

त सा २/१२ यद्विशेषमकृत्वा गृह्णाति वस्तुमात्रकम् । निराकारं तत् प्रोक्तं दर्शनं विश्वदर्शभिः ॥१२॥ —पदार्थोंकी विशेषता न समझकर जो केवल सामान्यका अथवा सत्ता स्वभावका ग्रहण करता है, उसे दर्शन कहते हैं उसे निराकार कहनेका भी यही प्रयोजन है कि वह ज्ञेय वस्तुओंकी आकृति विशेषको ग्रहण नहीं कर पाता।

गो जी/जी/प्र ४८२/८८८/१२ भावानां सामान्यविशेषात्मकभाष्यपदार्थानां आकारं भेदग्रहणं कृत्वा यस्सामान्यग्रहण-स्वरूपमात्रावभासनं तद् दर्शनमिति परमाण्वे भण्यते । —भाव जे सामान्य विशेषात्मक भाष्यपदार्थ लिनका आकार बहिसे भेदग्रहण ताहि न करके जो सत्तामात्र स्वरूपका प्रतिभासना सोई दर्शन परमाण्व भवै कहा है।

प ध/उ ३६२-३६६ नाकारं स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता । शेषानन्तगुणानां स्वलक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥३६२॥ ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ता सलक्षणशून्यता । सामान्याह्ला विशेषाह्ला सरय नाकारमात्रका ॥३६६॥ —जो आकार न हो सो अनाकार है, इसलिए

वास्तवमें ज्ञानके बिना शेष अनन्तों गुणोंमें निर्विकल्पता होती है। अतः ज्ञानके बिना शेष सम गुणोंका लक्षण अनाकार होता है ॥३६२॥ ज्ञानके बिना शेष सम गुण केवल सत् रूप लक्षणसे ही लक्षित होते हैं इसलिए सामान्य अथवा विशेष दोनों ही अपेक्षाओंसे वास्तवमें वे अनाकाररूप ही होते हैं ॥३६६॥

३ निराकार उपयोग क्या वस्तु है

घ १३/६.६.१६/२०७/८ विसयाभावादा अणागारुवजो गो गरिथं त्ति सणिच्छयं णाणं सायारो, अणिच्छयमणागारो त्ति ण वात्तु मफि-ज्जदे, संसय-विबज्जय अणज्जवसायणमणागारत्तप्पसागदो । एदं पि णरियं, केवलहि दसणाभावप्पसागदो । ण एस द तो अतरं गमिस्स यस्स उवजो गस्स आणागारत्तप्पसागदो । ण अतरं उवजो गो वि सायारो, कत्तारादो दब्बादो पुहं कम्मणाणुवलभादो । ण च दोणं त्ति उवजो गणमेयत्तं, पहिरं गहरं गत्यविसयाणमेयत्तं दिनेहादो । ण च एदं हि अर्थे अवत्तं भिज्जमाणं सायार अणागार उदयागामसमा-णत्तं, अणोणमेवेहिं पुहाणमसमाणत्तं विरोहादो । —परन्तु—साकार उपयोगके द्वारा सम पदार्थ विषय कर लिये जाते हैं, (दर्शनोपयोगके लिए कोई विषय शेष नहीं रह जाता) अतः विषयका अभाव होनेके कारण अनाकार उपयोग नहीं बनता, इसलिए निश्चय सहित ज्ञानका नाम साकार और निश्चय रहित ज्ञानका नाम अनाकार उपयोग है। यदि ऐसा कोई कहे तो कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर सहाय विषय और अनवध्यवसायकी अनाकारता प्राप्त होती है। यदि कोई कहे कि ऐसा हो ही जाओ, तो भी बात नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेपर केवली जिनके दर्शनका अभाव प्राप्त होता है। (क पा १/१.१६/९३.०६/३३७/४), (क पा १/१-२२/९३२७/३६८/३) उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, अन्तरङ्गको विषय करनेवाले उपयोगको अनाकार उपयोगरूपसे स्वीकार किया है। अन्तरंग उपयोग विषयाकार होता है यह बात भी नहीं है, क्योंकि, इसमें कर्ता ब्रह्मसे पृथग्भूत कर्म नहीं पाया जाता। यदि कहा जाय कि दोनों उपयोग एक हैं, तो भी बात नहीं है, क्योंकि एक (ज्ञान) बहिरंग अर्थको विषय करता है और दूसरा (दर्शन) अन्तरंग अर्थको विषय करता है, इसलिए, इन दोनोंको एक माननेमें विरोध आता है। यदि कहा जाय कि इस अर्थके स्वीकार करनेपर साकार और अनाकार उपयोगमें समानता न रहेगा, तो भी मत नहीं है, क्योंकि परस्परके भेदसे ये अलग हैं इसलिए इनमें असमानता माननेमें विरोध आता है। (क पा १/१-२०/९३२७/३६८/७)

* देशकालावच्छिन्न सभी पदार्थ या भाव साकार हैं

—दे मूर्तिक

आकाश—खाली जगह (Space) को आकाश कहते हैं। इसे एक सर्व व्यापक अवच्छेद अमूर्त द्रव्य स्वीकार किया गया है। जो अपने अन्दर सर्व द्रव्योंका समानेको शक्ति रखता है यद्यपि यह अवच्छेद है पर इच्छा अनुमान करानेके लिए इसमें प्रदेशों रूप खण्डोंकी कल्पना कर ली जाती है। यह स्वयं तो अनन्त है परन्तु इसके मध्य-बर्तों कुछ मात्र भागमें ही अन्य द्रव्य अवस्थित हैं। उसके इस भागका नाम साक है और उससे बाह्य शेष सर्व आकाशका नाम अलोक है। अवगाहना शक्तिकी विधिप्रताके कारण छोटे-से लोकमें अथवा इसके एक प्रदेशपर अनन्तानन्त द्रव्य स्थित हैं।

१ भेद व लक्षण

१ आकाश सामान्यका लक्षण

२ आकाश द्रव्योंके भेद

३ लोकाकाश व आलोकाकाशके लक्षण

४ प्राणायाम सम्बन्धी आकाश मण्डल

२ आकाश निर्देश

- १ आकाशका आकार
- २ आकाशके प्रदेश
- ३ आकाश द्रव्यके विशेष गुण
- ४ आकाशके १६ सामान्य विशेष स्वभाव
- ५ आकाशका आधार
- ६ अखण्ड आकाशमें खण्ड कल्पना
- ७ लोकाकाश व आलोकाकाशकी सिद्धि

३ अवगाहना सम्बन्धी विषय

- १ सर्वावगाहना गुण आकाशमें ही है अन्य द्रव्योंमें नहीं तथा हेतु
- २ लोकाकाशमें अवगाहना गुणका माहात्म्य
- ३ लोक/अस० प्रदेशोपर एकानेक जीवोंकी अवस्थान विधि
- ४ अवगाहना गुणोंकी सिद्धि
- ५ अस० प्रदेशी लोकमें अनन्त द्रव्योंके अवगाहकी सिद्धि
- ६ एक प्रदेश पर अनन्त द्रव्योंके अवगाहकी सिद्धि

४ अन्य सम्बन्धित विषय

- * अन्य द्रव्योंमें भी अवगाहन गुण —दे 'अवगाहन'
- * अमूर्त आकाशके साथ मूर्त द्रव्योंके स्पर्श सम्बन्धी —दे स्पर्श/२
- * अलोकाकाशमें वर्तनाका निमित्त —दे काश/२
- * अवगाहन गुण उदासीन कारण है —दे कारणIII/२
- * आकाशका अक्रियावत्त्व —दे द्रव्य/३
- * आकाशमें प्रदेश कल्पना तथा युक्ति —दे द्रव्य/४
- * आकाश द्रव्य अस्तिकाय है —दे, अस्तिकाय
- * आकाश द्रव्यकी सख्या —दे संख्या/३
- * लोकाकाशके विभागका कारण धर्मास्तिकाय—दे धर्माधर्म/१
- * लोकाकाशमें उत्पादिकी सिद्धि —दे उत्पाद व्ययभौव्य/३
- * शब्द आकाशका गुण नहीं —दे शब्द/२
- * द्रव्योंको आकाश प्रतिष्ठित कहना व्यवहार है —दे द्रव्य/४

१ भेद व लक्षण

१ आकाश सामान्य का लक्षण

च सू ४/४६, ७, ९८ निर्यावस्थितान्यरूपाणि ॥४॥ आ आकाशायेक-द्रव्याणि ॥६॥ निष्क्रमाणि च ॥७॥ अकाशस्यावगाह ॥१८॥ —आकाश द्रव्य निर्य अवस्थित और अरूपी है ॥६॥ तथा एक अखण्ड द्रव्य है ॥६॥ व निष्क्रिय है ॥७॥ और अवगाह देना इसका उपकार है ॥१८॥
पं का /यू ६० सर्वेसि जीवाणं सेसाणं तह य पुगलाण च। जं ददि बिबरम-खिलं त लोगे हवदि अगास ॥६०॥ कलौहमें जीवोंको और पुद्गलोंको वैसे ही शेष समस्त द्रव्योंका जो सम्पूर्ण अवकाश देता है वह आकाश द्रव्य है ।

स सि ४/१८/२८४ जीवपुद्गलादीनामवगाहिनामवकाशदानमवगाह आकाशस्यापकारो वेदितव्यः । —अवगाहन करनेवाले जीव और

पुद्गलोंको अवकाश देना आकाशका उपकार जानना चाहिए । (गो /-जी प्र १६०४/१०६०/४)

रा बा ४/१/२२-२२/४३४ आकाशन्तेऽस्मिन् द्रव्याणि स्वयं चाकाशत इत्याकाशम् ॥ २१ ॥ अवकाशदानाद्वा ॥२२॥ —जिसमें जीवादि द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायोंके साथ प्रकाशमान हैं तथा जो स्वयं अपने को प्रकाशित भी करे वह आकाश है ॥२१॥ अथवा जो अन्य सर्व द्रव्योंको अवकाश दे वह आकाश है ।

ध ४/१, ३, १/४/७ आगास सपदेस सु उद्धाधो तिरिओमिय । खेत्तनोर्ग नियाणाहि अणत्तजिग वेसिदं ॥४॥ —आकाश सप्रदेशी है और वह ऊपर, नीचे और तिरछे सर्वत्र फैला हुआ है । उसे ही क्षेत्र लोक जानना चाहिए । उसे जिन भगवान्ने अनन्त कहा है ।

न च वृ ६८ चैयणरहिगममुत्तां अवगाहणतत्त्वण च सव्यगय । तं गहदव्वं जिणुहिदु ॥२८॥ —जो चेतन रहित अमूर्त, सर्व द्रव्योंका अवगाह देनेवाला सर्व व्यापी है —उमको जिनेन्द्र भगवान्ने आकाश द्रव्य कहा है ।

द्र सं /यू १६/४७ अवगासदानजोग्ग जीवादीण वियाण आयासम् ॥१६॥ —जो जीवादि द्रव्योंको अवकाश देनेवाला है उसको जिनेन्द्रवदके द्वारा कहा हुआ आकाश द्रव्य जानो । (नि सा /ता वृ ६/२४)

२ आकाश द्रव्योंके भेद

स सि ४/१२/२७८ आकाशं, द्विधाविभक्तं लोकाकाशमनलोकाकाश चेति । —आकाश द्रव्य दो प्रकारका है—लोकाकाश और अलोकाकाश । रा बा ४/१२/१८/४६६/१० (न च वृ ६८ (द्र सं /यू १६)

३ लोकाकाश व आलोकाकाशके लक्षण

प का /यू ६१ जाया पुगलकाया धम्माधम्मा म लोगदोणण । तत्तो अणणमण्ण आयास अतवदिगिच ॥६१॥ —जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधम (तथा काल) लोकके अनन्य है । अन्तरहित ऐसा आकाश उससे (लोकसे) अनन्य तथा अन्य है ।

भा अ ३६ जीवादि पयट्ठणं समावाओ सो गिरुच्चये लोगो । तिविहो हवेई लोगो अहमं चिकमउद्धमेयेण ॥३६॥ जीवादि छ पदार्थोंका जो समूह है उसे लोक कहते हैं । और वह अधालोक, ऊर्ध्वलोक व मध्यलोकके भेद से तीन प्रकारका है । (क अ /यू ११६)

यू आ ४४० लोमदि आतोयदि पल्लोयदिसल्लायदिति एगग्गो तल्लायजिणेहि कसिणं तेणसो वुच्चदे लोओ ॥४४०॥ —जिस कारणसे जिनेन्द्र भगवाण् का मतिभूतज्ञानकी अपेक्षा साधारण रूप देखा गया है, मन - पर्याय ज्ञानकी अपेक्षा कुछ उससे भी विशेष और केवलज्ञानकी अपेक्षा सम्पूर्ण रूपसे देखा गया है इसलिये वह लोक कहा जाता है ।

स सि ४/१२/२८८ धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोभयन्ते स लोक इति । —स यत्र तल्लोकाकाशम् । ततो बहि सर्वतोऽन्तत्तलोकाकाशम् । —जहाँ धर्मादि द्रव्य विलोक जाते हैं उसे लोक कहते हैं । उससे बाहर सर्वत्र अनन्त अलोकाकाश है । (ति व ४/१३४-१३६) (रा बा ४/१२/२८/४६६/७), (ध ४/१, ३, ६/१) (प का /त प्र ८०/१२८), (प्र सा / त प्र. १२८/१८०), (न. च वृ ६६), (द्र सं /यू २०), (प. का /ता वृ २२ /४८), (प च उ २२) (प्रि सा ४)

ध १३/४, ६, ६०/२८८/३ को लोक । लोभयन्त उपलभ्यन्ते यस्मिन् जीवादय पदार्थाः स लोक । —प्रश्न—लोक किसे कहते हैं ? उत्तर—जिसमें जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं अर्थात् उपलब्ध होते हैं उसे लोक कहते हैं । (म प्र ४/१३), (न च वृ १२२-१४२)

४. प्राणायाम सम्बन्धी आकाश मण्डल

ज्ञा सा ४७ अग्नि त्रिकोण रक्त कृष्णश्च प्रमज्जन तथावृत्त । चतुष्कोण पीतं पृथ्वी स्वेतं जलं शुद्धचन्द्रामम् ॥४७॥ —अग्नि त्रिकोण लाल रंग, पथन गोलाकार रंगाम कर्ण पृथ्वी चौकोण पीत वर्ण, तथा जल अर्ध चन्द्राकार शीतल चन्द्र समान होता है ।

२ आकाश निर्देश

१ आकाशका आकार

आचारसार ३/२४ व्योमामूर्त स्थितं निरय चतुरस्र सम घनम् । अवगाहनाहेतवश्चान्न तानन्त प्रदेशकम् ॥२४॥ = आकाश द्रव्य अमूर्त है, निरय अवस्थित है, घनाकार चौकार है, अवगाहनाका हेतु है, अनन्तानन्त प्रदेशी है ।

२ आकाशके प्रदेश

त सू ४/६ आकाशस्यानन्ता ॥६॥ — आकाश द्रव्यके अनन्त प्रदेश है (द्रस मू २५) (नि सा मू ३६) (गो जी मू ५८७/१०२५) प्र सा / त प्र १३५/१६१ सर्वव्याप्यनन्तप्रदेशप्रसाररूपरसादाकाशस्य च प्रदेशवचम् । — सर्वव्यापी अनन्तप्रदेशोंके विस्ताररूप होनेसे आकाश प्रदेशवान् है ।

३ आकाश द्रव्यके विशेष गुण

त सू ४/१८ आकाशस्यावगाह ॥१८॥ — अवगाहन देना आकाशद्रव्यका उपकार है ।

ध १५/३/७ ओगाहनलक्षणमायासद्वन् । — आकाश द्रव्यका असाधारण लक्षण अवगाहन देना है ।

आ प २/१/१४ आकाशद्रव्ये अवगाहनाहेतुत्वमूर्तत्वमचेतनत्वमिति । — आकाश द्रव्यके अवगाहना हेतुत्व, अमूर्तत्व और अचेतनत्वमें (विशेष) गुण हैं ।

प्र सा / त प्र १३३ विशेषगुणो हियुगपत्सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहहेतुत्वात्माकाशस्य । — युगपत् सर्व द्रव्योंके साधारण अवगाहका हेतुत्व आकाशका विशेष गुण है ।

४ आकाशके १६ सामान्य विशेष स्वभाव

न च वृ ७० इग्वीस तु सहावा रोण्हं (१) तिण्हं (२) तु सोहसा भणिया । पंचदसा पुण काले दव्वसहावा (३) य णयव्वा ॥७०॥ — जीव व पुद्गलके २१ स्वभाव, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यके १६ स्वभाव, तथा काल द्रव्यके १५ स्वभाव बहे गये हैं । (आ प / अधि ४)

न. च वृ / टो ७० (सद्रूप, असद्रूप, निरय, अनिरय एव, अनेक, भेद, अभेद भव्य, अभव्य स्वभाव, विभाव, चैतन्य, अचैतन्य, मूर्त, अमूर्त, एक प्रदेशी, अनेक प्रदेशी, शुद्ध, अशुद्ध उपचरित, अनुपचरित, एकाग्र, अनेकान्त । इन चौबीसमें-से अनेक, भव्य, अभव्य, विभाव, चैतन्य मूर्त, एक प्रदेशत्व, अशुद्ध । इन आठ रहित १६ सामान्य विशेष स्वभाव आकाश द्रव्यमें हैं) (आ प / अधि ४)

५ आकाशका आधार

स सि ३/१/२०४ आकाशमारमप्रतिष्ठम् । — आकाश द्रव्य स्वयं अपने आधारसे स्थिति है । (स सि ४/१२/२७) (रा वा ३/१/८/१६०/१६) रा वा ४/१२/२-४/४५४ आकाशस्यापि अन्याधारकण्येति चेत्, न, स्वप्रतिष्ठत्वात् ॥२॥ ततोऽधिकप्रमाणद्रव्यान्तराधाराभावात् ॥३॥ तथा चानवस्थानिवृत्तिः ॥ ४ ॥ — प्रश्न—आकाशका भी कोई अन्य आधार होना चाहिए । उत्तर—नहीं, वह स्वयं अपने आधारपर ठहरा हुआ है ॥ २ ॥ उससे अधिक प्रमाणवाले दूसरे द्रव्यका अभाव होनेके कारण भी उसका आधारभूत कोई दूसरा द्रव्य नहीं हो सकता ॥ ३ ॥ यदि किसी दूसरे आधारकी कल्पना की जाये तो उससे अनवस्था दोषका प्रसंग आयेगा, परन्तु स्वयं अपना आधारभूत होनेसे वह नहीं आ सकता है ।

६ अखण्ड आकाशमें खण्ड कल्पना

रा वा ४/८/५-६/४५०/३ एकद्रव्यस्य प्रदेशकव्यगता उपचारत स्यात् । उपचारश्च मिथ्याक्तिर्न तत्त्वपरीक्षायामधिक्रियते प्रयोजनाभावात् । न हि मृगतृणिकया मृपाथार्मिकया जलकृत्यं क्रियते इति, सन्न, कि

कारणम् । मुख्यक्षेत्राविभागात् । मुख्य एव क्षेत्रविभाग, अन्यो हि घटावगाह्य आकाशप्रदेश इतरावगाह्यस्यान्य इति । यदि अन्यत्वं न स्यात् व्याप्तिर्वै व्यग्रह्यते ॥ ५ ॥ निरवयवत्वानुपपत्तिरिति चेत्, न, द्रव्यविभागाभावात् ॥ ६ ॥ — एक द्रव्य यथापि अविभागी है वह घटकी तरह संयुक्त द्रव्य नहीं है । फिर भी उसमें प्रदेश वास्तविक है उपचारसे नहीं । धरके द्वारा जा आकाशका क्षेत्र अवगाहित किया जाता है वह घटादिके द्वारा नहीं । दोनों जुड़-जुड़ है । यदि प्रदेश भिन्नता न होती तो वह सर्वव्यापी नहीं हो सकता था । अतः द्रव्य अविभागी हाकर भी प्रदेशशून्य नहीं है । अनेक प्रदेशी होते हुए भी द्रव्यरूपसे उन प्रदेशोंके विभाग न होनेके कारण निरवयव और अखण्ड द्रव्य माननेमें कोई बाधा नहीं है ।

प्र सा / त प्र १४०/१६८ अस्ति चाविभागैकद्रव्यत्वेऽप्यंशकव्यपनमाकाशस्य, सर्वेषामणुनामवकाशदानस्यान्यथापुनपत्तेः । यदि पुनर्गाकाशस्यांशान् न द्युरिति मत्तिस्तदाङ्गुलीयुगलं नभसि प्रसार्य निरूप्यतां किमेकं क्षेत्रं किमेकम् ॥ — आकाश अविभाग (अखण्ड) एक द्रव्य है । फिर भी उसमें (प्रदेश रूप) खण्ड कल्पना हो सकती है, क्योंकि यदि, ऐसा न हो तो सभ परमाणुओंका अवकाश देना नहीं बनेगा । ऐसा होनेपर भी, यदि आकाशके अंश नहीं होते (अर्थात् अंश कल्पना नहीं की जाती) ऐसी मान्यता है तो आकाशमें दो अंगुलिया फँसकर बताइये कि दो अंगुलियोंका एक क्षेत्र है या अनेक । (अर्थात् यह दो अंगुल अकाश है यह व्यवहार तभी बनेगा जबकि अखण्ड द्रव्यमें खण्ड कल्पना स्वीकार की जाये ।)

द्र सं / टो २७/७५ निर्विभागद्रव्यस्यापि विभागाकल्पनामायातं धटाकाशः पटाकाशमिरयादिवदिति । — घटाकाश व पटाकाशकी तरह विभाग रहित आकाश द्रव्यकी भी विभाग कल्पना सिद्ध हुई । (पं का / त - प्र ४/१६)

७ लोकाकाश व अलोकाकाशकी सिद्धि

रा वा ४/१/८/१०-१३/४६७/२४ अजातत्वाद्भावा इति चेत् न असिद्धे ॥१०॥ द्रव्याधिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् स्वप्रत्ययागुल्लघुगुणवृद्धिहानिबिक्कषापेक्षया अवगाहकजीवपुद्गलपरप्रत्ययावगाहभेद-विषयता च आकाशस्य जातरवापत्ते हेतोरिति सिद्धिः । अपवा व्ययो-त्पादौ आकाशस्य दृश्येते । यथा चरमसमयस्यासर्वज्ञस्य सर्वज्ञत्वेनोत्पादस्तथोपलब्धे असर्वज्ञत्वेन व्ययस्तथापुनल धे, एव चरमसमय-स्यासर्वज्ञस्य साक्षादनुपलभ्यमाकाश सर्वाज्ञत्वोपपत्तौ उपलभ्यते इति उपलभ्यत्वेनोत्पन्नमनुपलभ्यत्वेन च विनष्टम् । अनापृच्छिराकाशमिति चेत्, न, नामवत् तत्सिद्धे ॥११॥ यथा नाम वेदनादि अमूर्तत्वात् अनावृत्त्यपि तत्सत्तीर्यभ्युपगम्यते, तथा आकाशमपि वस्तुभूतमित्यवश्येयम् । शब्दसिद्धत्वादिति चेत्, न पौद्गलिकत्वात् ॥१२॥ प्रधानविकार आकाशमिति चेत्, न तत्परिणामाभावात् आत्मवत् ॥१३॥ — प्रश्न—आकाश उत्पन्न नहीं हुआ इसलिए उसका अभाव है । उत्तर—आकाशकी उत्पत्ति कहना असिद्ध है । क्योंकि द्रव्याधिककी गौणता और पर्यायार्थिककी मुरयता होनेपर अगुल्लघु गुणोंकी वृद्धि और हानिके निमित्तसे स्वप्रत्यय उत्पन्न व्यय और अवगाहक जीव पुद्गलोंके परिणमनके अनुसार परप्रत्यय उत्पन्न व्यय आकाशमें होते ही रहते हैं । जैसे—कि अन्तिम समयमें असर्वज्ञताका विनाश होकर किसी मनुष्यकी सर्वज्ञता उत्पन्न हुई हो तो आकाश पहले अनुपलभ्य था वही पीछे सर्वज्ञको उपलभ्य हो गया । अतः आकाश भी अनुपलभ्यत्वेन विनष्ट होकर उपलभ्यत्वेन उत्पन्न हुआ ॥१०॥ — प्रश्न—आकाश आवरणभावात् माय है । उत्तर—नहीं किन्तु वस्तुभूत है । जैसे कि नाम और वेदनादि अमूर्त होनेसे अनावरण रूप होकर भी सत् है उसी तरह आकाश भी ॥११॥ प्रश्न—अवकाश देना यह आकाशका लक्षण नहीं है । क्योंकि उसका लक्षण शब्द है । उत्तर—ऐसा नहीं है क्योंकि शब्द पौद्गलिक है और आकाश अमूर्तिक । प्रश्न—

आकाश तो प्रधानका विकार है । उत्तर—नहीं क्योंकि निरय तथा निष्क्रिय व अनन्त रूप प्रधानके आरम्भाकी भान्ति विकार ही नहीं हो सकता । (विशेष देखें त सा १/परि पृ १६६/शोलापुर वाले प० यशोधर) ।

पं घ उ २३ मोऽयनोको न शून्योऽस्ति पञ्चभिर्गैर्यैरुपेत । व्योम-
मात्रावशेषरवाद् व्योमरामा केवल भवेत् ॥२३॥ —यह अलोक भी सम्पूर्ण छहों द्रव्योंसे शून्य नहीं है किन्तु आकाश मात्र शेष रहनेसे वह अन्य पाँच द्रव्यों से रहित केवल आकाशमय है ।

३ अवगाहना सम्बन्धी विषय

१. सर्वावगाहना गुण आकाशमे ही है अन्य द्रव्यमे नहीं तथा हेतु

प्र सां/त प्र १३३ विशेषगुणो हि युगपत्सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहहेतु-
स्वभावाकाशस्य एवमव्यूतानां विशेषगुणसंसेवाधिगमे लिङ्गम् । तत्रैक-
कालमेव सकनद्रव्यसाधारणावगाहमपादनमसर्वगप्रवाधेष्वेव शेषद्रव्या-
णामसम्भवदाकाशमधिगमयति । —युगपत् सर्वद्रव्योंके साधारण अव-
गाहका हेतुस्व आकाशका विशेषगुण है । इस प्रकार अव्यूत द्रव्योंके विशेष गुणोंका ज्ञान होनेपर अव्यूत द्रव्योंको जाननेके लिए लिङ्ग प्राप्त होते हैं । (अर्थात् विशेष गुणोंके द्वारा अव्यूत द्रव्योंका ज्ञान होता है) वहाँ एक ही कालमें समस्त द्रव्योंके साधारण अवगाहका संपादन (अवगाह हेतुस्व रूप लिङ्ग) आकाशको यत्नताता है, क्योंकि शेष द्रव्योंके सर्वगत न होनेसे उनके यह सम्भव नहीं है ।

२ लोकाकाशमे अवगाहना गुणका माहात्म्य

घ ४/१ ३,२,२४/२ तस्मा ओग हणलक्षणेण सिद्धलोगागासस्स ओगा-
हणमाहणमाहरियपर परागदोवसेणे भणित्तामो । त जहा—उत्सेह-
वणं गुलत्त असत्तेज्जिभागमेत्ते खेत्ते सुधुमणिगोदजीवस्स जहणो-
गाहणा भवदि । तस्मिं द्विदघणलोगमेत्तजोवपदेसेसु पडिपदेसमभव-
सिद्धिरहि अणतगुणा सिद्धानमणत्तभागमेत्ता होदुण द्विदओरालिय-
सरीरपरमाणुण त चेव खेत्तभागस जादि । गुणो ओरालियमरीर-
परमाणुहिंतो अणतगुणां तेजइयसरीरपरमाणुण पि तस्मिं चेव खेत्ते
ओगाहण भवदि । तेजइयपरमाणुहिंतो अणतगुणा कम्मइयपरमाणु
तेणव जीवेण मिच्छतादिकारेणेहिं संचिदापडिपदेसमभवसिद्धिरहि
अणतगुणा सिद्धानमणत्तभागमेत्ता तस्य भवति, तेसि पि तस्मिं चेव
खेत्ते ओगाहणा भवदि । पुणो ओरालिय तेजा—कम्मइय—विस्ससोव-
चयाणं पडिक्क मव्वजीवेहिं अणतगुणाण पडिपरमाणुहिं तत्तिय-
मेत्ताणं तस्मिं चेव खेत्ते ओगाहणा भवदि । एवमेणजीवेणच्छिद-
अंगुलस्स असत्तेज्जिभागमेत्ते जहणत्ते तस्मिं समाणोगाहणा होदुण
विदिओ जीवो तस्येव अच्छिदि । एवमणताण ताण समाणोगाहणाण
जीवाणं तस्मिं चेव खेत्ते ओगाहणा भवदि । तदो अवरो जीवो तस्मिं
चेव मज्झिमपदेसमत्तिम काऊण उवव्वणो । एदस्स वि ओगाहणाए
अणताणत्त जीवा समाणोगाहणा अच्छंति ति पुव्व व परूवेदव्वं ।
एवमेणपेसा सव्वदिसासु वड्डावेदव्वा जाव लोमो आवुण्णो ति ।
—अब हम अवगाहण लक्षणसे प्रसिद्ध लोकाकाशके अवगाहन
माहारम्यको आचार्य परम्परागत उपदेशके अनुसार कहते हैं । यह
इस प्रकार है—उत्सेधोगुलके अरयातमें भाग मात्र क्षेत्रमें सूक्ष्म
निगोदिया जीवकी जघन्य अवगाहना है । उस क्षेत्रमें स्थित घनलोक
मात्र जीवके प्रदेशमें—से प्रत्येक प्रदेशपर अवगम्यसिद्धोंसे अनन्तगुणे
और सिद्धोंके अनन्तमें भाग मात्र होकरके स्थित औदारिक शरीरके
परमाणुओंका वही क्षेत्र अवकाशपनेको प्राप्त होता है । पुन औदारिक
शरीरके परमाणुओंसे अनन्तगुणे तेजस्कशरीरके परमाणुओंकी भी
उसी क्षेत्रमें अवगाहना होती है । तैजस परमाणुओंसे अनन्तगुणे
उस ही जीवके द्वारा मिथ्यास्व अधिरति आदि कारणोंसे सचित
और प्रत्येक प्रदेशपर अवगम्य सिद्धोंसे अनन्तगुणे तथा सिद्धोंके

अनन्तमें भाग मात्र कर्म परमाणु उस क्षेत्रमें रहते हैं । इसलिए उन
कर्म परमाणुओंकी भी उस ही क्षेत्रमें अवगाहना होती है । पुन
औदारिक शरीर, तैजस शरीर और कामाग शरीरके विसोपचर्या
का जो कि प्रत्येक सर्व जीवोंसे अनन्तगुणे है और प्रत्येक परमाणुपर
उतने ही प्रमाण है । उनकी भी उसी ही क्षेत्रमें अवगाहना होती है ।
इस प्रकार एक जीवसे व्याप्त अंगुणके अमरयातमें भागमात्र उसी
जघन्य क्षेत्रमें समान अवगाहना बाना होकरके दूसरा जीव भी रहता
है । इसी प्रकार समान अवगाहना वाले अनन्तानन्त जीवोंकी उसी
ही क्षेत्रमें अवगाहना होती है । तत्पश्चात् दूसरा कोई जीव उसी
क्षेत्रमें उसके मध्यवर्ती प्रदेशका अपनी अवगाहनाका अन्तिम प्रदेश
करके उत्पन्न हुआ । इस जीवकी भी अवगाहनामें समान अवगाहना-
वासे अनन्तानन्त जीव रहते हैं । इस प्रकार यहाँ भी पूर्व के समान
प्रकृष्टाकरणकी चाहिए । इन प्रकार लोकके परिपूर्ण होने तक मनी
दिशाओंमें लोकका एक एक प्रदेश बढ़ाते जाना चाहिए ।

३ लोक/अस प्रदेशोपर एकानेक जीवोंकी अवस्थान विधि

त सु ४/१६ (लोकाकाशस्य) असरयेयभागादिपु जीवानाम् (अवगाह) ।
जीवोंका अवगाह लोकाकाशके असरम्यातमें भागको आदि लेकर
सर्वलोक पर्यन्त होता है ।

रा बा ४/१४/२-२४/७/१ लोकस्य प्रदेशा असरयेया भागा कृता ,
तत्रैकस्मिन्नसत्येयभागे एको जीवोऽवतिष्ठते । तथा द्वित्रिचतुर्दशभिर्वापि
असत्येयभागेषु आ सर्वलोकादवगाह प्रयेतव्य । नानाजीवानाम्
तु सर्वलोक एव । असत्येयस्याऽसत्येयविकल्परवात् । अजघन्यो-
रदृष्टासरयेयव्या हि असत्येय विकल्पा अतोऽवगाहविकल्पो
जीवानां सिद्ध ।

रा बा ४/१४/४४/३३ जीव तावत्प्रदेशोऽपि सहरणमिर्गणस्वभाव-
त्वात् कर्मनिर्वर्तितं शरीरमणु महदा अधिष्ठत्तरावदवगाह्य वर्तते ।
यदा तु लोकपूरण भवति तदा मन्दरस्याधश्चित्रवज्रपटलयोर्मध्ये
जीवस्याष्टौ मध्यप्रदेशा व्यवतिष्ठन्ते, इतरे प्रदेशा ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्
च कृत्स्नं लोकाकाश व्यरनुवर्ते । —लोकके अमरयात प्रदेश हैं,
उनके असरयात भाग किये जायें । एक असत्येय भागमें भी जीव
रहता है तथा दो तीन चार आदि असत्येय भागोंमें और सम्पूर्ण
लोकमें जीवोंका अवगाह समझना चाहिए । नाना जीवोंकी अवगाह
तो सर्व लोक है । असत्यातके भी असत्यात विकल्प हैं । और
अजघन्योरदृष्ट अत्येयके असत्येय विकल्प हैं अत जीवोंके अव-
गाहमें भेद भी हो जाता है । तथा जीवके असत्यातप्रदेशों होनेपर
भी सकोचविस्तार होल होनेसे कर्मके अनुसार प्राप्त होते या बढ़े
शरीरमें तत्प्रमाण होकर रहता है जब इसकी समुद्रघात कालमें लोक-
पूरण अवस्था होती है तब इसके मध्यवर्ती आठ प्रदेश सुमेरु पर्वतके
नीचे चित्र और वज्रपटलके मध्यके आठ प्रदेशोंपर स्थित हो जाते हैं,
बाकी प्रदेश ऊपर नीचे चारों ओर फैल जाते हैं ।

४ अवगाहना गुणों की सिद्धि

स सि ४/१८/२८४ यथकाशदानमस्य स्वभावो ब्रह्मादिभिर्लोष्टदीनां
भिष्यादिभिर्गन्धादीनां च व्याघातो न प्राप्नोति । दहयते च व्याघात ।
तस्मादस्यावकाशदानं होयते इति । नैप दोष वज्रलोष्टादीनां
स्थूलानां परस्पर व्याघात इति नास्यावकाशदानसामर्थ्यं होयते तत्रा-
वगाहिनामेव व्याघातात् । ब्रह्मादय पुन स्थूलवारपरस्पर प्रत्यव-
काशदान न कुर्वन्तीति नासावाकाशदोष ये खलु पुद्गला सूक्ष्मास्ते
परस्पर प्रत्यवकाशदानं कुर्वन्ति । यथैव नेदमाकाशस्यासाधारण
लक्षणम्, इतरेषामपि तत्सदृशभावादिति । तत्र सर्वपदार्थानां साधार-
णावगाहनहेतुस्वमस्यासाधारणं लक्षणमिति नास्ति दोष । अलोका-
काशे सदृशभावादभव इति चेत्, न, स्वाभावपरिरियागात् । —प्रश्न—
यदि अवकाश वेना अवकाशका स्वभाव है तो ब्रह्मादिके लोहा
आदिका और भौत आदिसे गायका व्याघात नहीं प्राप्त होता, किन्तु

व्याघात तो देखा जाता है इससे मालूम होता है कि अवकाश केना अवकाश का स्वभाव नहीं ठहरता है । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि वज्र और लाटा आदिक स्थूल पदार्थ हैं इसलिए इनका आपसमें व्याघात है, अत आकाशकी अवगाह देने रूप सामर्थ्य नहीं नष्ट होती । यहाँ जो व्याघात दिखाई देता है वह अवगाहन करने-वाले पदार्थोंका ही है । तत्पर्यय यह है कि वज्रादिक स्थूल पदार्थ हैं, इसलिए वे परस्परमें अवकाश नहीं देते हैं यह कुछ आकाशका दोष नहीं है । हाँ जो पुद्गल सूक्ष्म होते हैं वे परस्पर अवकाश देते हैं । प्रश्न—यदि ऐसा है तो यह आकाशका असाधारण लक्षण नहीं रहता, क्योंकि दूसरे पदार्थोंमें भी इसका सद्भाव पाया जाता है । उत्तर—नहीं क्योंकि आकाश द्रव्य सत् पदार्थोंको अवकाश देनेमें साधारण कारण है यही इसका असाधारण लक्षण है इसलिए कोई दोष नहीं है । प्रश्न—अलोकाकाशमें अवकाश देने रूप स्वभाव नहीं पाया जाता, इससे ज्ञात होता है कि यह आकाशका स्वभाव नहीं है । उत्तर—नहीं, क्योंकि कोई भी द्रव्य अग्नेस्वभावका रसाग नहीं करता ।

रा बा ५/१ २३/४३४/६ अलोकाकाशस्यावकाशदानाभावात्तद्भाव इति चेत् न, तत्सामर्थ्याविरहात् ३२३। क्रियानिमित्तत्वेऽपि रूढि-विशेषमललाभात् गोशब्दस्य तद्भावेऽपि प्रवर्तते — प्रश्न—अलोकाकाशमें द्रव्योंका अवगाहन न होनेसे यह उसका स्वभाव घटित नहीं होता । उत्तर—शक्तिकी दृष्टिसे उसमें भी आकाशका व्यवहार होता है । क्रियाका निमित्तपणा होनेपर भी रूढि विशेषके बलसे भी अलोकाकाशको आकाश संज्ञा प्राप्त हो जाती है, जिस प्रकार धँठी हुई गजमें चलन क्रियाका अभाव होनेपर भी चलन शक्तिके कारण गोशब्दकी प्रवृत्ति देखी जाती है ।

गो जो / जो प्र ६०५/१०६०/५ ननु क्रियावतोऽवगाहजिवपुद्गलमोरेवावकाशदान युक्त धर्मादीनां तु निष्क्रियाणां नित्यसम्बन्धानां तत् कथम् । इति तत्र उपचारेण तत्सिद्धे । यथा गमनाभावेऽपि सर्वगतामाकाशमिर्युच्यते सर्वत्र सद्भाव तथा धर्मादीनां अवगाहनक्रियाया अभावेऽपि सर्वत्र दर्शनात् अवगाह इत्युच्यते । — प्रश्न—जो अवगाह क्रियावान तो जीव पुद्गल हैं तिनिको अवकाश केना युक्त कहा । यहुरि धर्मादिक द्रव्य ता निष्क्रिय हैं, निरय सम्बन्धको धरें हैं नवीन नाहीं आये जिनको अवकाश देना सम्भव है । जैसे इहाँ फेंसे कहिये सो कही । उत्तर—जो उपचार करि कहिये हैं जैसे गमनका अभाव होते सत् भी सर्वत्र सद्भावकी अपेक्षा आकाशको सर्वगत कहिये तैसे धर्मादि द्रव्यनिक अवगाह क्रियाका अभाव होते सत् भी लोक विषे सर्वत्र सद्भावकी अपेक्षा अवगाहनका उपचार कीजिये है । (स सि ५/१८/२८४/३) रा बा ५/१८/२/४६६/१८ ।

५ अस प्रदेशी लोकमें अनन्त द्रव्योंके अवगाहकी सिद्धि

स सि ५/१०/३७५ स्यादेतदसंरपातप्रदेशो लोक अनन्तप्रदेशस्यान्तानन्तप्रदेशस्य च स्कन्धस्याधिकरणमिति विरोधः नैप दाप, सूक्ष्मपरिणामावगाहशक्तियोगात् । परमाण्वादयो हि सूक्ष्मभावेन परिणता एव कस्मिन्नपकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ता अवतिष्ठन्ते अवगाहनशक्त्यैवावगाहतास्ति । तस्मादेकस्मिन्नपि प्रदेशे अनन्तानन्तानामवस्थानं न विरुध्यते । (नायमेकान्त—अपेक्षधिकरणे महद्द्रव्यं नावतिष्ठते इति प्रत्यविशेष संघातविशेष इत्यर्थः । सट्टविसर्पित-चम्पकादिगन्धादिवत् ६/रा बा) — प्रश्न—लोक असंरपात प्रदेश-वाला है इसलिए वह अनन्तानन्त प्रदेशवाले स्कन्धका आधार है इस बातके माननेमें विरोध आता है । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म परिणमन होनेसे और अवगाहन शक्तिके निमित्तसे अनन्त या अनन्तानन्त प्रदेशवाले पुद्गल स्कन्धोंका आकाश आधार हो जाता है । सूक्ष्म रूपसे परिणत हुए परमाणु आकाशके एक-एक प्रदेशमें अनन्तानन्त ठहर जाते हैं । इनकी यह अवगाहन शक्ति व्याघात रहित है । इसलिए आकाशके एक प्रदेशमें भी अनन्तानन्त पुद्गलोंका अवस्थान विरोधको प्राप्त नहीं होता । फिर यह कोई एकान्तिक नियम

नहीं है कि छोटे आधारमें बड़ा द्रव्य ठहर ही नहीं सकता हा । पुद्गलोंमें विशेष प्रकार सघन सघात होनेसे अपेक्षेत्रमें बहुतोंका अवस्थान हो जाता है जैसे कि छाटी-सी चम्पाकी क्लीमें सूक्ष्म रूपसे बहुतसे गन्धावयव रहते हैं, पर वे ही जग फैलते हैं तो समस्त दिशाओंको व्याप्त कर लेते हैं । (रा बा ५/१०/३-६/४६३/१४)

स सि ५/१४/२७६ अवगाहनस्वभावात्सूक्ष्मपरिणामाच्च मूर्तिमतामप्यवगाहा न विरुध्यते एकापवरके अनेकप्रदीपप्रकाशावस्थानवत् । आगमप्रामाण्याच्च तथाऽध्यवसेयम् । — (पुद्गलोंका) अवगाहन स्वभाव है और सूक्ष्म रूपसे परिणमन हो जाता है इसलिए एक मकानमें जिस प्रकार अनेक दीपकोंका प्रकाश रह जाता है उसी प्रकार-मूर्तिमान पुद्गलोंका एक जगह अवगाह विराधको प्राप्त नहीं होता तथा आगम प्रमाणसे यह बात जानी जाती है । (रा बा ५/१३/४-६/२७७)

रा बा ५/१५/५/४५८/७ प्रमाणविरोधादवगाहायुरिति चेत् । तन्न, कि कारणम् जीवैर्विध्यात् । त्रिविधा जीवा बादरा सूक्ष्मरचेति । तत्र बादरा सप्रतिघातशरीरा । सूक्ष्मा जीवा सूक्ष्मपरिणामादेव शरीररवेऽपि परस्परं बादरैश्च न प्रतिहृन्त्यन्त इत्यप्रतिघातशरीरा । ततो यत्रैकसूक्ष्मनिगोतजीवस्तिष्ठति तत्रान्तानन्ता साधारणशरीरा वसन्ति । बादराणां च मनुष्यादीनां शरीरेषु संस्वेदजसमूर्च्छनजादीनां जीवानां प्रतिशरीरं बहुनाम-वस्थानमिति नास्त्यवगाहविरोधः । यदि बादरा एव जीवा अभिविष्यन्नपितर्हि अवगाहविरोधाजनिप्यता कथं शरीरस्यात्मनोऽप्रतिघातवमिति चेत् दृष्टत्वात् दृश्यते हि बालाप्रकोटिमात्रधिरग्रहिते धनमहलायसमिचित्तले वज्रमयकपाटे बहि समन्तात् वज्रलेपलिप्ते अपवरके देवदत्तस्य मृतस्य मूर्तिमज्जानावरणादिकर्मतैजसकामिणशरीर-समन्धत्वेऽपि गृहमभिष्वेच निर्गमनम्, तथा सूक्ष्मनिगोतानामप्यप्रतिघातित्वं वेदितव्यम् । — प्रश्न—द्रव्य प्रमाणसे जीवराशि अनन्तानन्त है तो वह असंरपात प्रदेश प्रमाण लोकाकाशमें कैसे रह सकती है । उत्तर—जीव बादर और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारके हैं । बादर जीव सप्रतिघात शरीरी होते हैं पर सूक्ष्म जीवोंका सूक्ष्म परिणमन होनेके कारण सशरीरी होनेपर भी न तो बादरोंसे प्रतिघात होता है और न परस्पर ही । वे अप्रतिघातशरीरी होते हैं इसलिए जहाँ एक सूक्ष्म निगोद जीव रहता है वहाँ अनन्तान्त साधारण सूक्ष्म शरीरी रहते हैं । बादर मनुष्यादिके शरीरोंमें भी संस्वेदज आदि अनेक समूर्च्छन जीव रहते हैं । यदि सभी जीव बादर ही होते तो अवगाहमें गडबड़ पड़ सकती थी । शरीरी आत्मा भी अप्रतिघात है यह बात ता अनुभव सिद्ध है । निरिच्छर लोहेके मकानसे, जिसमें बज्रके किवाड़ लगे हों, और वज्रलेप भी जिसमें किया गया हो, मर कर जीव कामिण शरीरके साथ निकल जाता है । यह कामिणशरीर मूर्तिमान ज्ञानावरणादि कर्मोंका पिण्ड है । तैजस शरीर भी हमके साथ सदा रहता है । मरण कालमें इन दोनों शरीरोंके साथ जीव वज्रमय कमरेसे निवृत्त होता है और उस कमरे में वहाँ भी छेद या दरार नहीं पड़ती । इसी तरह सूक्ष्म निगोदिया जीवोंका शरीर भी अप्रतिघात ही सम्भना चाहिए ।

घ, ४/१ ३ २/२२/४ कथमर्था जीवा असंवेजपदेनैव लोपे अच्यति । लोग मज्जमहि जदि होति तो सोगस्त असंवेजपदेनैव लोपे अच्यति । चेव जीवैहि होद्वमिति । — नेद घड्डे, पोगलान पि असंवेजपत्त-सगादो लोगमेत्ता परमाणु भवति, लोगमेत्तपरमाणुहि कम्मसरीर-घट पठ-रथभादिमु एगो वि णि जण्पज्जदे आंताण तपरमाणुसमुदय-समागमेण विणा एक्किस्से आसण्णासिण्ण याप वि सभवाभावा । हाडु चे ण, सयलपागलदव्वस्म अणुवलद्विप्पसगादो सुव्वजीवाण मक्कमेण केव-लणणुप्पत्तिप्पसगादो, च । एवमिप्पसगा माहोदि ति अण्णेज्जमाण जीवाजीवसत्तण्णहाणुवत्तदी । अवगाहनधम्मिओ सोगागासो ति ईच्छिद-दव्वो खीरकुम्भस्स मधुकमो व्व । — प्रश्न—असंरपातप्रदेशवाले लोक-में अनन्त संरपावाले जीव कैसे रह सकते हैं । यदि लोकके मध्यमें जीव रहते हैं (अलोकमें नहीं) ता वे लोकके असंरपातवे भागमात्रमें

ही होने चाहिए । उत्तर—शकाकाका उक्त कथन घटित नहीं होता, क्योंकि उक्त कथनके मान लेनेपर पुद्गल्लोक भी असंख्यातपनेका प्रसंग आता है । अर्थात् लोकाकाशके प्रदेश प्रमाण हो परमाणु होने तथा उनलोकप्रमाण परमाणुअंकेद्वारा धर्म, शरीर, घटपट और स्तम्भ आदिकोंमें—ने एकभी वस्तु निष्पन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि, अनन्तानन्त परमाणुअंकेसमुदायका समागम हुए बिना एक अवसप्तासत्र मज्जा भी स्कन्ध होना सम्भव नहीं है—प्रश्न एकभी वस्तु निष्पन्न नहीं होवे, तो भी क्या हानि है । उत्तर—नहीं क्योंकि, ऐसा माननेपर समस्त पुद्गल द्रव्यकी अनुत्पत्तिकका प्रसंग आता है, तथा सर्व जीवोंके एक साथ ही केवलज्ञानकी उत्पत्तिक भी प्रसंग प्राप्त होता है । (यद्यपि हतने मात्र परमाणुओंसे यदि किसी प्रकार सम्भव भी हो तो भी एक ही जीवका कामाग्न शरीर बन पायेगा अन्य सर्व जीव कर्मरहित हो जायेंगे) इस प्रकार अतिप्रसंग दोष न आवे, इसलिए अवगाह्यमान जीव और अजीव द्रव्योंकी सत्ता अन्यथा न बननेसे शीघ्र कुम्भका मधुकुम्भके समान अवगाहन धर्मवाला लोकाकाश है, ऐसा मान लेना चाहिए ।

[illegible]

४ का/ता वृ ६०/१६० अनन्तान्तजीवास्तेभ्योऽप्यनन्तगुणा पुद्गला
लोकाकाशप्रमितप्रदेशप्रमाणा कालाणवो धर्माधर्मौ चेति सर्वे
कथमवकाशं लभन्त इति । भगवानाह । एकापवरके अनेकप्रदीपप्रकाश
वदेकपूतनागरसगयाणके बहुसुवर्णदेकस्मिन्पुष्पक्षीरघटे मधुघटवदेक-
स्तिम्भूमिगृहे जपघण्टादिबद्धिशिष्टावगाहगुणानां सारं येन प्रवेशेऽपि
लोकं अनन्तसंख्या अपि जीवाभ्योऽवकाशं लभन्त इत्यभिप्रायः ।
—प्रश्न—जीव अनन्तानन्त हैं, उससे भी अनन्त गुणे पुद्गल द्रव्य
हैं, लोकाकाश प्रदेश प्रमाण काल द्रव्य है, तथा एक धर्म द्रव्य व एक
अधर्म द्रव्य है । अस्मत्प्रत्यक्ष प्रदेशी लोकमें ये सब कैसे अवकाश पाते
हैं । उत्तर—एक घरमें जिस प्रकार अनेक दीपकोंका प्रकाश समा रहा
है जिस प्रकार एक छातेसे गूठमें बहुत-सी सुवर्णकी राशि रहती
है चट्टीके एक घट धूपमें एक शहदका घड़ा समा जाता है, तथा
एक भूमि गृहमें जय-जय व घण्टादिके शब्द समा जाते हैं, उसी प्रकार
अवस्थात प्रदेशी लोकमें विशिष्ट अवगाहन शक्तिके कारण जीवादि
अनन्त पदार्थ सहज अवकाश पा लेते हैं । (प्र स/मृ/२०/४६)

६ एक प्रदेशपर अनन्त द्रव्योंके अवगाहकी सिद्धि

स सि १८/१०/३५ परमाण्वदयो हि सूक्ष्मभावेन परिणता एकैकस्मिन्न-
प्याकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ता अवसिष्ठन्ते। —सूक्ष्म रूपसे परिणत हुए
पुद्गल परमाणु आकाशके एक एक प्रदेशपर अनन्तान्त ठहर सकते हैं।
(रा वा १८/१०/३ ६/४४३) (विशेष दे आकाश ३/४)

ध १४४/६.६.३१/१४४/१एगवसेतियस्म पोगगलम्स होदु नाम एगागसपदेसे
 अवह्वाणं, कथं दुपदेसिय तिवपेसियसरोज्जासरोज्ज अणत्तपदेसिय-
 मल्लधानणत्तरमावह्वाणं, सत्थ अणत्तोगागुणस्म सभवादो । तं पि
 कूदो जठव्व जीय-पोगगलानमाणं सियत्तण्णानुवत्ती दो ।—प्रश्न—
 एक प्रवेशी पुद्गलत्ता एक आकाश प्रदर्शम अवस्थान हावो पम्तु
 द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी संख्यात्त प्रदेशी असंख्यात्त प्रदेशी और अनन्त
 प्रदेशी स्कन्धोका यहाँ अवस्थान कैसे हो सकता है । उत्तर—नहीं
 क्योंकि यहाँ अनन्तको अवगाहन करनेका गुण सम्भव है ।
 प्रश्न—सो भी कैसे । उत्तर—जी व पुद्गलोंकी अनन्तपनेकी
 अम्यथा उपपत्ति सम्भव नहीं ।

प्र मा/त प्र १४७/१६८ स खखेकोऽविशेषपक्षद्वयप्रदेशानां सौख्य
परिणतानां तत्परमाणुसङ्ख्यानां चायकाशदानसमर्थ । — बह आकाश-
का एक प्रदेश भी माकीके पाँच द्रव्योंक प्रदेशोंको तथा परम
सूक्ष्माका रूपसे भीरुमे हुए अनन्त परमाणुओंके स्पर्धोंका अवकाश
देनेके लिए समर्थ है ।

३ स/मृ २७ जवदिअ आयास अविभागीपुगलाणुउद्द । त तु
पदेसं जाणे सन्वाणुण्णदाणरिह । २७. = जितना आकाश अविभागी
पुद्गलाणुमे रोजा जाता है, उसको सर्व परमाणुओं के स्थान देनेमें
समर्थ प्रदेस जानो ।

आकाशगता चूलिका—२ श्रुतज्ञान III ।

आकाशगामी ऋद्धि—ये ऋद्धि ४।

आकाश पुष्प—दे० असत् ।

आकाश भूत—भूत जातिके व्यन्तर देवोंवा एक भेद—दे भूत ।

आकिंचन्य धर्म—पा अ ७६ होऊन य निस्सगो नियभावं निग-

हितु सुहृद्दह । निष्कंदेण दुःषट्पद अणयारो तस्स किंचणह ॥१६॥ = जो मुनि सर्व प्रकारके परिग्रहोंसे रहित होकर और सुख-दुःखके देने-वाले कर्म जनित निजभावोंको शोककर निद्रा-दृष्टासे अर्थात् निरिच्छ-मत्तासे आचरण करता है उसके आकिंचन्य धर्म होता है । (प वि / १/१०१-१०२)

स सि ६/६/१३ उपात्तध्वनिशरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभि-
सन्धिनिवृत्तिराकिञ्चनयम् । नास्य किञ्चनाशौत्यकिञ्चन । तस्य
भाव कर्मवा आकिञ्चनयम् = जो शरीरादि उपात्त हैं उनमें भी
संस्कारका त्याग करनेके लिए 'यह मेरा है' इस प्रकारके अभिप्रायका
त्याग करना आकिञ्चन है । जिसका कुछ नहीं है वह अकिञ्चन है,
और उसका भाव या कर्म आकिञ्चन है । (रा घा ६/६/२१/६८/१४)
(त सा ६/२०) (अन घ ६/६/१००)

भ आ /वि ४६/१५४/१६ अकिंचनतासकलग्रन्थः याग - सम्पूर्ण परिग्रहका
याग करना यह अकिंचन्य धर्म है । (का अ ४०२)

२ आकिंचन्यधर्मं पालानार्थं विशेष भावनाएँ

रा बा । ६/६/२७/६६/२६ परिग्रहआश बलवती सर्वदोषप्रसवयोगिनी । न तस्या उपाधिभिः तृप्तिरस्ति सलिलैरिव सलिलनिधेरिह ब्रह्मवाया । अपि च, क पूरयति द्रु प्रसाशागर्वम् । दिने दिने यत्रास्तमस्तमाधेय-माधारवाय कल्पते । शरीरादिषु निर्ममख परमनिवृत्तिमवान्जोति । शरीरादिषु कृताभिष्वङ्गस्य सर्वकालभिष्ङ्ग एव संसारे । परिग्रहकी आशा बड़ी बलवती है यह समस्त दोषोंकी उत्पत्तिका स्थान है जैसे-पानीसे समुद्रका बहुवानल शान्त नहीं होता उसी तरह परिग्रहसे आशा-समुद्रकी तृप्ति नहीं हो सकती । यह आशाका गड्ढा बुष्पूर है इसका भरना बहुत कठिन है । प्रतिदिन जा उसमें डाला जाता है वही समा कर मुँह बाने लगता है । शरीरादिसे ममत्व शून्य व्यक्ति परम सन्तापको प्राप्त होता है । शरीरादिसमें राग करनेवाले सदा संसार परिभ्रमण मुनिरिचत है । (पं वि १८/८२-१०६)

रा वा हि ६/६/६६६ का सारार्थ (जैसे शरीरादि विषय ममत्व नाही होय सो परम सुख रूप पावे है ।)

* दश धर्मोंकी विशेषताएँ—दे धर्म/८

* आकित्य व शौचधर्ममें अन्तर—दे शौच

आकृति—न्या सू/घ भा १/२/६६/१४१ आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या

६६१। [मा च नान्यमस्वावयवानी तदवयवानी च नियसाद् व्युद्भा-
दिति ।] नियतावयवव्युद्भा खलु सत्त्वावयवजातिलिङ्ग । शिरसा
पादेन गामनुमिन्वन्ति । नियते च सत्त्वावयवानी व्युद्भा सति गोत्वं
प्रत्याययत इति । —जिससे जाति और उसके लिंग प्रसिद्ध किये जायें
उसे आकृति कहते हैं । और उसके अंगोंकी नियत रचना जातिका
चिह्न है । शिर और पादोंसे गायको पहिचानते हैं । अवयवोंके प्रसिद्ध
होनेसे गोत्व प्रसिद्ध होता है कि 'यह गौ है' इत्यादि ।

घ/घू ४८ शक्तिरन्तर्भावविशेषो धर्मो रूपं गुणं स्वभावश्च । प्रकृति
शील चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दाः ४८८। —शक्ति लक्ष्मलक्षण
विशेषधर्मरूप गुण तथा स्वभाव प्रकृति शील और आकृति ये सब
शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं ।

आक्रन्दन—स सि ६/११/३२६ परितापजाताशुपातप्रचुरविप्रलापादि-
भिव्यक्तक्रन्दनमाक्रन्दनम् । —परितापके कारण जो आँसू गिरनेके
साथ बिलाप आदि होता है, उससे खुलकर रोना आक्रन्दन कहलाता
है । (रा वा ६/११/४/४१६/२६)

आक्रोश परिषह—स सि ६/६/४२४ मिथ्यादर्शनोद्वेगमार्गं पर-
पावज्ञानिन्दासम्प्रवचनानि क्रोधाग्निशिखामवर्धनानि निशृण्वतो-
ऽपि संदर्शेण समाहितचेतस सहसा तत्प्रतिकारं कर्तुमपि शक्नुवत
पापकर्मविपाकमचिन्तयतस्तस्यान्वयं तपश्चरणभावनापरम्य कपाय-
विपलवमात्रस्याप्यन्वयकाशमात्रमहदयं कुर्वत आक्रोशपरिषहसहनमव-
धार्यते । —मिथ्यादर्शनके उद्वेगके कहे गये जो क्रोधाग्निकी शिखा-
को बढ़ाते हैं ऐसे क्रोधरूप, क्रोधर, अवज्ञा कर, निन्दारूप और
असम्य वचनोंको सुनते हुए भी जिसका उनके विषयोंमें चिन्त नहीं
जाता है, यद्यपि तत्काल उनका प्रतिकार करनेमें समर्थ हैं फिर भी
यह सब पाप कर्मका विपाक है इस तरह जो चिन्तन करता है जो
उन शब्दोंको सुनकर तपश्चरणकी भावनामें तत्पर होता है और जो
कपायविपके लेश मात्रको भी अपने हृदयमें अवकाश नहीं देता उसके
आक्रोश परिषहसहन निश्चित होता है । (रा वा ६/६/११/६/१०/३६)
(घा सा १२०/४)

आक्षेपिणी कथा—दे कथा ।

आखेट—१ आखेटका निषेध

ला सं २/१३६ अन्तर्भावोऽस्ति तस्यापि गुणवत्तसङ्गिके । अनर्थदण्ड-
रत्यागाम्ये बाह्यार्थक्रियादिवत् १३६। —शिकार खेलना बाह्य अनर्थ
क्रियाओंके समान है, इसलिए उसका त्याग अनर्थदण्ड त्याग नामके
गुणवत्तमें अन्तर्भूत हो जाता है ।

२. सुखपवायी आखेटका निषेध क्यों ?

ला सं २/१४१-१४८ ननु चानर्थदण्डोऽस्ति भोगादभ्यन्तर या क्रिया ।
आत्मानन्दाय यत्कर्म तत्तस्य स्यात्तथाविध १४१। यथा सूक्ष्मन्दन
मोषिद्वस्त्राभरणभोजनम् । सुखार्थं सर्वमेवैतत्तथाखेट क्रियापि च
१४२। मेव तोवानुभावस्य बन्ध प्रमादगौरवात् । प्रमादस्य निवृत्त्यर्थं
स्मृतं वतकदम्बकम् १४३। सूक्ष्मन्दनवनितादौ क्रियायां वा सुखा-
प्तये । भोगभावो सुख तत्र हिंसा स्यादानुपदिक्ती १४४। आखेटके तु
हिंसाया भाव स्यादभूतिजन्मिनः । पशूनां वानुयोगेन भोग स्याद्वा
न वा भवति १४५। हिंसानन्देन तेनोच्चै रौद्रध्यानान् प्राणिनाम् ।
नारकस्याप्युपो बन्ध स्यात्त्रिदिशो जिनागमे १४६। ततोऽजयं हि
हिसाया भावश्चानर्थदण्डक । रत्याग्य प्रागेव सर्वेभ्य संवलेषेभ्य

प्रयत्नत १४७। तत्रावान्तररूपस्य मृगयाभ्यासकर्मणः । रत्याग भेदा-
न्यस्य स्यादभ्यन्तराऽसातबन्धनम् १४८। —प्रश्न—भोगभोगके
सिवाय जो क्रियाएँ की जाती हैं उन्हें अनर्थदण्ड कहते हैं । परन्तु
शिकार खेलनेसे आत्माको आनन्द प्राप्त होता है इसलिए शिकार
खेलना अनर्थदण्ड नहीं है १४९। परन्तु जिस प्रकार पुष्पमाला,
चन्दन, स्त्रियाँ, वस्त्राभरण भोजनादि समस्त पदार्थ आत्माको सुख
देनेवाले हैं उसी प्रकार शिकार खेलनेसे भी आत्माको सुख प्राप्त होता
है । १४९। उत्तर—ऐसा कहना युक्त नहीं । क्योंकि प्रमादकी अधि-
कताके कारण अनुभाग बन्धकी अधिक तीव्रता हो जाती है और
प्रमादको दूर करनेके लिए ही सर्व व्रत पाले जाते हैं । इसलिए शिकार
खेलना भोगभोगकी सामग्री नहीं है । बल्कि प्रमादका रूप है
१४९। माला, चन्दन, स्त्री आदिका भोग करनेमें सुखकी प्राप्तिके लिए
ही केवल भोगभोग करनेके भाव किये जाते हैं तथा उनका सेवन
करनेसे सुख मिलता भी है और उसमें जो हिंसा होती है वह केवल
प्रसंगानुसार होती है सकलपूर्वक नहीं १४९। परन्तु शिकार खेलने
में अनेक प्राणियोंकी हिंसा करनेके ही परिणाम होते हैं, तदनन्तर
उसके कर्मोंके अनुसार भोगभोगकी प्राप्ति होती भी है और नहीं
भी होती है १४९। शिकार खेलनेका अभ्यास करना, शिकार खेलने
की मनोकामना रखकर निशाना मारनेका अभ्यास करना तथा और
भी ऐसे ही शिकार खेलनेके साधन रूप क्रियाओंका करना शिकार
खेलनेमें ही अन्तर्भूत हैं । इसलिए ऐसे सर्व प्रयोगोंका त्याग भी
अवश्य कर देना चाहिए क्योंकि ऐसा त्याग कल्याणकारी है । इसका
त्याग न करनेसे असाता वेदनीयका पाप कर्म बंध ही होता है जो
भावी दुःखोंका कारण है १४९-१४८।

३ आखेट त्यागके अतिचार

सा घ २/२२ वस्त्रनाणकपुस्त्यादिभ्यस्तजोबच्छदादिकम् । न कुर्वत्य-
क्तपार्श्वस्तदि लोकेऽपि गहितम् २२। —शिकार व्यसनका त्यागी
वस्त्र, सिक्का, काष्ठ और पाषाणदि शिल्पमें बनाये गये जीवोंके छेद-
नादिकको नहीं करे क्योंकि वह वस्त्रादिकमें बनाये गये जीवोंका
छेदन-भेदन लोकमें निन्दित है ।

ला सं २/१४०-१४३ कार्यं विनापि क्रोडार्थं कौतुकार्थमथापि च ।
कर्तव्यमटन नैव बापीकृपादिवर्मसु १४०। पुष्पादिवाटिकासूक्ष्मै-
नेषुवनेषु च । सरित्कागक्रोडादिसरद्वयमृगधादिषु १४१। शस्या-
धिष्ठानसेत्रेषु गोष्ठेनैवज्यवेशमसु । कारागारगृहेषुचैर्मण्डेषु वृषभमसु
१४२। एवमित्यादि स्थानेषु विना कार्यं न जातुचित् । कौतुकादि
विनोदार्थं न गच्छेन्मृगयोजिकत १४३। —विना किसी अन्य प्रयो-
जनके केवल क्रोडा करनेके लिए अथवा केवल तमाशा देखनेकेलिए
हथर छपर नहीं घूमना चाहिए । किसी घावही या झुँझोंके मार्गमें
या और भी ऐसे ही स्थानोंमें बिना प्रयोजनके कभी नहीं घूमना
चाहिए १४०। जिसने शिकार खेलनेका त्याग कर दिया है उसको
बिना किसी अन्य कार्यके केवल तमाशा देखनेके लिए या केवल मन
बहलानेके लिए पौधे फूल, वृष आदिके बगीचोंमें, घड़े घड़े वनोंमें,
उपवनोंमें, नदियोंमें, सरोवरोंमें, क्रोडा करनेके छोटे छोटे पर्वतों
पर, क्रोडा करनेके लिए बनाये हुए तालाबोंमें, सूने मकानोंमें, गेहूँ,
जौ, मटर आदि अन्न उत्पन्न होने वाले खेतोंमें, पशुओंके बाँधनेके
स्थानोंमें दूसरेके घरोंमें, जेलखानोंमें घड़े घड़े मठोंमें राजमहलोंमें
या और भी ऐसे ही स्थानोंमें कभी नहीं जाना चाहिए १४१-१४३।

आगम—आचार्य परम्परासे आगत मूल सिद्धान्तको आगम कहते हैं ।

जैनागम यद्यपि मूलमें अत्यन्त विस्तृत है पर काल दोषने इसका
अधिकांश भाग नष्ट हो गया है । उस आगमकी सार्थकता उसकी
शुद्ध रचनाके कारण नहीं बल्कि उसके भाव प्रतिपादनके कारण है ।
इसलिए शुद्ध रचनाको उपचार मात्रसे आगम कहा गया है । इसके
भावकी ठीक-ठीक प्रहण करनेकेलिए पाँच प्रकारसे इसका अर्थ करनेको

विधि है—शब्दार्थ, नवार्थ, मतार्थ, आगमार्थ व भावार्थ, शब्दका अर्थ यद्यपि क्षेत्र कालादिके अनुसार बदल जाता है पर भावार्थ बहो रहता है, इसीसे शब्द बदल जाने पर भी आगम अनादि कहा जाता है। आगम भी प्रमाण स्वीकार किया गया है क्योंकि पक्षपात रहित बीतराग गुरुओं द्वारा प्रतिपादित होनेसे पूर्वापर विरोधसे रहित है। शब्द रचनाकी अपेक्षा यद्यपि वह पौरुषेय है पर अनादिगत भावकी अपेक्षा अपौरुषेय है। आगमकी अधिकतर रचना सूत्रोंमें होती है क्योंकि सूत्रों द्वारा बहुत अधिक अर्थ थोड़े शब्दोंमें ही किया जाना सम्भव है। पीछेसे जल्पमुद्रियोंके लिए आचार्योंने उन सूत्रोंकी टीकाएँ रची हैं। वे ही टीकाएँ भी उन्हीं मूल सूत्रोंके भावका प्रतिपादन करनेके कारण प्रामाणिक हैं।

१ आगम सामान्य निर्देश :—

- १ आगम सामान्यका लक्षण
- २ आगमाभासका लक्षण
- ३ नोआगमका लक्षण
- * आगम व नोआगमसिद्धि द्रव्य भाव निक्षेप तथा स्थित जित आदि द्रव्य निक्षेप —दे निक्षेप
- * आगमकी अनन्तता —दे आगम १/११
- * आगमके नन्दा भद्रा आदि भेद —दे वाचना
- ४ शब्द या आगम प्रमाणका लक्षण
- ५ शब्द प्रमाणका श्रुतज्ञानमें अन्तर्भाव
- ६ आगम अनादि है
- ७ आगम गणधरादि गुरु परम्परा से आगत है
- ८ आगम ज्ञानके अतिचार
- ९ श्रुतके अतिचार
- १० द्रव्य श्रुतके अपुनरुक्त अक्षर
- ११ श्रुतका बहुत कम भाग लिखनेमें आया है
- १२ आगमकी बहुत सी बातें नष्ट हो चुकी हैं
- १३ आगमके विस्तारका कारण
- १४ आगमके विच्छेद सम्बन्धी भविष्यवाणी
- * आगमके चारो अनुयोगो सम्प्रदायी —दे अनुयोग
- * मोक्षमार्गमें आगम ज्ञानका स्थान —दे स्वाध्याय
- * आगम परम्पराकी समयानुक्रमिक मारणी —दे इतिहास/७
- * आगम ज्ञानमें विनयका स्थान —दे विनय/२
- * आगमके आदान प्रदानमें पात्र अपात्रका विचार —दे उपदेश/३
- * आगमके पठन पाठन सम्बन्धी —दे स्वाध्याय
- * पठित ज्ञानके मस्कार साथ जाते हैं —दे सस्कार

२ द्रव्य भाव आगम ज्ञान निर्देश व समन्वय .—

- * आगमके ज्ञानमें सम्पक्दर्शनका स्थान —दे ज्ञान III/२
- * आगम ज्ञानमें चारित्र्यका स्थान —दे चारित्र्य ५

- १ वास्तवमें भाव श्रुत ही ज्ञान है द्रव्यश्रुत ज्ञान नहीं
- २ भावका ग्रहण ही आगम है
- * श्रुतज्ञानके अग पूर्वादि भेदोंका परिचय —दे श्रुतज्ञान III
- ३ द्रव्य श्रुतको ज्ञान कहनेका कारण
- ४ द्रव्य श्रुतके भेदादि जाननेका प्रयोजन
- ५ आगमको श्रुतज्ञान कहना उपचार है
- * निश्चय व्यवहार सम्प्रज्ञान —दे ज्ञान IV

३ आगमका अर्थ करनेकी विधि —

- १ पाँच प्रकार अर्थ करनेका विधान
- * शब्दार्थ —दे आगम/४
- २ मतार्थ करनेका कारण
- ३ नय निक्षेपार्थ करनेकी विधि
- * सूक्ष्मादि पदार्थ केवल आगम प्रमाणसे जाने जाते हैं, वे तर्कका विषय नहीं —दे व्याय/१
- ४ आगमार्थ करनेकी विधि—
- १ पूर्वापर मिलान पूर्वक
- २ परम्पराका ध्यान रखकर
- ३ शब्द का नहीं भावका ग्रहण करना चाहिए
- * आगमकी परीक्षामें अनुभवकी प्रधानता —दे अनुभव
- ५ भावार्थ करनेकी विधि
- ६ आगममें व्याकरणकी प्रधानता।
- ७ आगममें व्याकरणकी गौणता
- ८ अर्थ समझने सम्बन्धी कुछ विशेष नियम
- ९ विरोधी बातें आनेपर दोनोंका समग्र कर लें
- १० व्याख्यानकी अपेक्षा सूत्र वचन प्रमाण होता है
- ११ यथार्थका निर्णय हो जानेपर मूल सुधार लेनी चाहिए

४ शब्दार्थ सम्बन्धी विषय :—

- १ शब्दमें अर्थ प्रतिपादनकी योग्यता व शंका
- २ भिन्न-भिन्न शब्दोंके भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं
- ३ जितने शब्द हैं उतने वाच्य पदार्थ भी हैं
- ४ अर्थ व शब्दमें वाच्य वाचक भाव कैसे हो सकता है
- ५ शब्द अल्प हैं और अर्थ अनन्त हैं
- ६ अर्थ प्रतिपादनकी अपेक्षा शब्दमें प्रमाण व नयनता
- ७ शब्दका अर्थ देश कालानुसार करना चाहिए
- ८ भिन्न क्षेत्र कालादिमें शब्दका अर्थ भिन्न भी होता है
- १ कालकी अपेक्षा।
- २ शास्त्रोंकी अपेक्षा।
- ३ क्षेत्रकी अपेक्षा।
- ९ शब्दार्थकी गौणता सम्बन्धी उदाहरण

५ आगमकी प्रामाणिकतामें हेतु —

- १ आगमकी प्रामाणिकताका निर्देश

- २ वक्ताकी प्रामाणिकतासे वचनकी प्रामाणिकता
- ३ आगमकी प्रामाणिकताके उदाहरण
- ४ अर्हत् व अतिशय ज्ञान वालोंके द्वारा प्रणीत होनेके कारण
- ५ वीतराग द्वारा प्रणीत होनेके कारण
- ६ गणधरादि आचार्यों द्वारा कथित होनेके कारण
- ७ प्रत्यक्षज्ञानियों द्वारा कथित होनेके कारण
- ८ आचार्य परम्परासे आगत होनेके कारण
- ९ समन्वयात्मक होनेके कारण प्रमाण है
- १० विचित्र द्रव्यो आदिका प्ररूपक होनेके कारण
- ११ पूर्वापर अविरोधी होनेके कारण
- १२ युक्तिके अवाधित होनेके कारण
- १३ प्रयमानुयोगकी प्रामाणिकता

६ आगमका प्रामाणिकता के हेतुओं सम्बन्धी शका समाधान —

- १ अर्वाचीन पुरुषों द्वारा लिखित आगम प्रामाणिक कैसे हो सकते हैं
- २ पूर्वापर विरोध होते हुए भी प्रामाणिक कैसे
- ३ आगम व स्वभाव तर्कके विषय ही नहीं
- ४ छद्मस्योका ज्ञान प्रामाणिकता का माप नहीं
- ५ आगममें भूल सुधार व्याकरण व सूक्ष्म विषयोंमें करनेको कहा है प्रयोजन भूत तत्वोंमें नहीं
- ६ पौष्ट्येय होनेके कारण अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता
- ७ आगम कथचित् अपौष्ट्येय तथा नित्य है
- ८ आगमको प्रमाण माननेका प्रयोजन

७ सूत्र निर्देशः—

- १ सूत्रका अर्थ द्रव्य व भाव श्रुत
- २ सूत्रका अर्थ श्रुतकेवली
- ३ सूत्रका अर्थ अल्पाक्षर व महानार्थक
- ४ वृत्ति सूत्रका लक्षण
- ५ जिसके द्वारा अनेक अर्थ सूचित न हो वह सूत्र नहीं असूत्र है
- ६ सूत्र वही है जो गणधर आदिके द्वारा कथित हो
- ७ सूत्र तो जिनदेव कथित ही है परन्तु गणधर कथित भी सूत्रके समान है
- ८ प्रत्येक बुद्ध कथितमें भी कथचित् सूत्रत्व पाया जाता है
- * सूत्रोपसयत —दे समाचार
- * सूत्रसम —दे निषेध ४/८

१ आगम सामान्य निर्देश

१. आगम सामान्यका लक्षण

नि सा /यु ८ तस्स मुहृगदवयणं पुन्यावरदोसविरहिय सुट्ट । आगमिदि परिकहिय तेण दू कहिया ह्वति तत्तत्था ॥८॥ —उनके मुखमें निकली हुई वाणी जो कि पूर्वापर दोष (विरोध) रहित और शुद्ध है, उसे आगम कहा है और उसे तत्त्वार्थ कहते हैं ।

र क आ १ आशोपक्षमनुवृत्तदध्यमदष्टेविरोधकम् । तत्त्वोपदेशवृत्तसारं शास्त्र कापथघटनम् ॥९॥ —जो आश कहा हुआ है, वादी प्रतिवादी द्वारा खण्डन करनेमें न आवे, प्रत्यय अनुमानादि प्रमाणोंसे विरोध रहित हो, वस्तु स्वरूपका उपदेश करने वाला हो, सब जीवोंका हित करनेवाला और मिथ्यामार्गका खण्डन करनेवाला हो, वह सत्यार्थ शास्त्र है ।

घ ३/१२,२/६,११/१२ पुनर्विबुद्धादेव्यपेक्षो दापसहते । द्योतक सर्वभावनामाश्रय्याहृतिरागम ॥१॥ आगमो ह्याप्तवचनमाप्त दोषयय विदुः । त्यक्तदोषोऽनृत वाक्यं न ब्रूयाद्धेतुत्वमभावात् ॥१०॥ रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा बाधयमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृत-कारण नास्ति ॥१२॥ —पूर्वापरविबुद्धादि दोषोंके समूहसे रहित और सम्पूर्ण पदार्थोंके द्योतक आप्त वचनको आगम कहते हैं ॥९॥ आशके वचनको आगम जानना चाहिए और जिसने जन्म जरा आदि १८ दोषोंका नाश कर दिया है उसे आप्त जानना चाहिए । इस प्रकार जो त्यक्तदोष होता है वह असत्य वचन नहीं बोलता क्योंकि, उसके असत्य वचन बोलनेका कोई कारण ही सम्भव नहीं है ॥१०॥ रागसे द्वेषसे अथवा मोहसे असत्य वचन बोला जाता है, परन्तु जिसके ये रागादि दोष नहीं हैं उसके असत्य वचन बोलनेका कोई कारण नहीं पाया जाता है ॥११॥

रा.वा १/१२/७/४/८ आप्तेन हि क्षीणदोषेण प्रत्यक्षज्ञानेन प्रणीत आगमो भवति न सर्व । यदि सर्वा स्यात्, अविरोधे स्यात् । —जिसके सर्व दोष क्षीण हो गये हैं ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानियोंके द्वारा प्रणीत आगम ही आगम है, सर्व नहीं । क्योंकि, यदि ऐसा हो तो आगम और अनागममें कोई भेद नहीं रह जायेगा ।

घ १/१,१,१/२०/७ आगमो सिद्ध तो पवयणमिदि एयदो । —आगम, सिद्धांत और प्रवचन ये शब्द एकार्थवाची हैं ।

प शु ३/६६ आप्तवचनानिदिमिबन्धनमर्थज्ञानमागम । —आप्तक वचनादि-से होनेवाले पदार्थोंके ज्ञानको आगम कहते हैं ।

नि स /ता ४ ८ में उद्धृत/२१ अन्यमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् । नि सन्वेह वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः । —जो न्यूनता विना, अधिकता विना, विपरीतता विना यथातथ्य वस्तुस्वरूपको निःसन्देह रूपसे जानता है उसे आगमवन्तोंका ज्ञान कहते हैं ।

प का /ता ४ १७३/२५ वीतरागसर्वज्ञप्रणीतपद्वद्व्यादि सम्यक्प्रज्ञान-ज्ञानवृत्ताद्यनुष्ठानभेदरत्नत्रयस्वरूप यत्र प्रतिपाद्यते तदागमशास्त्र भण्यते । —वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा कहे गये पद्वद्व्य व सप्त तत्त्व आदिका सम्यक्प्रज्ञान व ज्ञान तथा वृत्तादिके अनुष्ठान रूपचारित्र, इस प्रकार भेदरत्नत्रयका स्वरूप जिसमें प्रतिपादित किया गया है उसको आगम या शास्त्र कहते हैं ।

स म २१/२६२/७ आ सामस्येनानन्तधर्मविशिष्टतया ह्यायन्तेऽवबुद्धयन्ते जीवाजीवाद्यः पदार्था यया सा आज्ञा आगम शासन । जिसके द्वारा समस्त अनन्त धर्मोंसे विशिष्ट जीव अजीवादि पदार्थ जाने जाते हैं ऐसी आप्त आज्ञा आगम है, शासन है । (स म २८/३२२/३)

पमा दी ३/७३/११२ आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागम । —आप्तके वाक्य-के अनुरूप आगमके ज्ञानको आगम कहते हैं ।

२ आगमाभासका लक्षण

प शु ६/५१-५४/६६ रागद्वेषमहाकान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् । यथा नयास्तीरे मोदकराशय सन्ति धावच्च माणवका । अगृह्यप्र-

हस्तिगृध्रशतमस्ति इति च विस्वादाय ॥१-४४॥ ~ रागी, तेषो और अज्ञानी मनुष्योंके वचनोंसे उत्पन्न हुए आगमको आगमाभास कहते हैं। जैसे कि बालको दीड़ो नदीके किनारे बहुत-से तड़प पड़े हुए हैं। ये वचन हैं। और जिस प्रकार यह है कि अशुनोके आगेने हिस्तेपर हाथियोंके सी रामुदाग हैं। विवाद होनेके कारण ये मम आगमाभास हैं। अर्थात् लोग इनमें विवाद करते हैं इसानि ये आगम झूठे हैं।

३ नोभागमका लक्षण

घ १/११२/२०/७ आगमादो अण्णो णो आगमो । - आगमो भिन्न
पदार्थको नो आगम करते है ।

४ शब्द या आगम प्रमाणका लक्षण

न्यास/मू १/१/११ आत्मोपदेश शब्द ॥७॥ -आप्तके उपदेशको शब्द प्रमाण कहते हैं ।

५. शब्द प्रमाणका श्रुतज्ञानमें अन्यभवि

रा.बा. १/२०/१६/७-१८ वाग्दप्रमाण अतमेय । - दश प्रमाण तो
अत है ही ।

गो जी / भा ३१३ आगन नाम परोक्ष प्रमाण श्रुतज्ञानका भेद है ।

६. आगम अनादि हे

अथ १३/० ८३ शैवासुदिमहिय अगतासुहृषिष्ठमोखफलपत्र ।
कम्ममलपडलदण पुण्ण पवित्र सित भद्र ॥२०॥ पुड्ढांगभेदभिन्न
अगतअर्थेहि सजुद दिठ्ठा । णिच्च कनिक्खुसहरं णिक्खविदममुत्तर
विमल ॥२१॥ संदेहतिमिरदण बहुविहणुजुत्तसंगमोवाणं । मोख
गदारभूद णिम्मत्तबुद्धिसंदोह ॥२२॥ मव्ववहुमुहविणिग्गपयुग्गारदोम-
रहिदपरिसुद । अश्वयमणादिणिहणं सुदणानपमान णिदिद्व ॥२३॥
— पूर्व व अग रूप भेदोंमें भिन्न, यह श्रुतज्ञान प्रमाण देखे-ही व
असुरेन्द्रोसे प्रजित, अनन्त सुखके पिण्ड रूप मोक्ष फलसे समुक्त
कर्म रूप पटनके मतको नष्ट करनेवाला, पुण्य पवित्र, शिब, भद्र
अनन्त अर्थोंसे समुक्त, दिव्य नित्य, कति रूप क्लृप्तको दूर करने
वाला, निकाषित अनुत्तर, विमल सन्देहरूप अन्धकारको नष्ट करने
वाला, बहुत प्रकारके गुणोंसे युक्त स्वर्गकी सीढ़ी, मोक्षके मुरा
द्वारयुक्त, निर्मल, एवं उत्तम बुद्धिके समुदाय रूप, सर्वके मुखा
निकला हुआ, पूर्वापर विरोध रूप दोषोंसे रहित विशुद्ध अक्षय क्षो-
अनादि निधन कहा गया है ॥८०-८३॥

७ आगम गणधरादि गुरु परम्परासे आगत है

रा बा १/१२/२/१२/२६ तनुषदिष्ट मुद्रपतिशयमिमुक्तुणधरावधा-
रित भूतम् । २१ - केवलो भगवान्के द्वारा कहा गया तथा अतिशय
मुक्ति श्रुतिके धारक गणधर वेवोंके द्वारा जो धारण किया गया है
उसको श्रुत कहते हैं ।

८ क्षागमज्ञानके अतिचार

अ आ वि १६/६३/१६ असरपदादीनां न्युनताकरण, अतिवृद्धिकरण, विपरीत पौनर्पर्यटना विपरीतार्थ-रूपणा ग्रन्थाद्योर्विपरीत्य अमी ज्ञानातिचारा ।—असर, दाष्ट, नायय वरण, हरादिकों को कम करना पड़ना, पीछेका सन्दर्भ आगे लाना, आगेका पीछे करना, विपरीत अर्थका निरूपण करना अथवा व अर्थमें विपरीतता करना ये सम ज्ञानातिचारा हैं । (अ आ / वि ४७७/७७)

६ श्रुतके अतिचार

१. भ आ / वि १६/१२/१६ द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धिमन्तरेण श्रुतस्य पठनं श्रुतातिचारः । - द्रव्यशुद्धिः, क्षेत्रशुद्धिः, कालशुद्धिः, भावशुद्धिके बिना शास्त्रका पठना यह श्रुतातिचार है ।

१०. ब्रह्मश्रुतके अप्रनयत्त अक्षर

ये आर—३३ अमजन, २७ सव और आर अगोपवाह, इस प्रकार सव
आर ६४ होती है। उन आर रुके संग्रामागो गलना २६८—१८४१०-
४४०३७०६४६१६ होती है।

[illegible]

यथा १/११/५३/६२/२ मन्त्रिमण्डल एदेणपुत्रगाण पदमगा
पुरुबिन्जडे । - मध्यम पदके द्वारा पूर्ण और अर्ध पदोकी मन्त्राभा
प्रस्तुत किया जाता है ।

पृ १/१	नाम पद	अगर प्रमाण	प्रमाण लातेश उपाय
१६४	मुन अगर अपुनरुक्त मयोगी अगर	६४ १८४६७४४०३३- ७०६४६१६१६	उपरोक्तपत्र एक द्वि जादि संयोगी मने का जो ६४×६ १२४ इत्यादि
१६६	अंगदुते सय पदोमें अगर	११२=३६८००४	अपुनरुक्त अगर = ममम म
"	मगम पदोमें अगर	१६१४३०७८८८	नियत (इनते पूर्व और जगोके बिभागना निरूपण होता है)
१६६	गेप अगर	८०१०=१७५	गेप अगर = ३२
"	१४ प्रकीर्णकों के प्रमाण या खण्ड पदमें	२४०३३८०	१७ ३२

(નો જો / જો પ્ર ૩૨૬/૭૩૩/૧) (ધ ૧૩/૬.૪.૪૬/૨૪૭-૨૬૬)

११ श्रुतया बहूत कम भाग लिखनेमें आया है

४ ३/१२ १०२/३६३/३ अर्थदा पुणो तेसि चित्तो गणहरेहि बिज
मारिज्जदे । —अर्थकी वषेक्षा जो उन दोनोंकी ब्रह्म कार्यात्मक सत्य-
पर्याप्तिक जीय तथा पचेन्द्रिय सत्यपर्याप्तिक जीवोंकी सत्य प्रत्युपना
में बिरोध है, उनका गणधर भी निवारण नहीं कर सकते हैं ।

गो जी / मृ ३३४/३९ पण्णवणिज्जायां अणन्तभागो दु अनभिलप्पण ।
पण्णवणिज्जाण पुण अणत्तभागो सुदणियदो ॥३३४॥ —अनभिलप्प्यानी
कहिए बचनगोचर नाही केवलज्ञानके गोचर जे भाव कहिए जोग-
दिक पदार्थ तिनके अणन्तत्वे भागमात्र जीमादिक अर्थ ते प्रज्ञापनीया
कहिये तीर्थंकरकी सातिशय दिव्य ध्वनिकरि कहनेमें आवे ऐसे है ।
मगुरि तीर्थंकरकी दिव्य ध्वनि करि पदार्थ बहनेमें आवे है तिनके
अणन्तवत् भाग मात्र द्वादशांग श्रुत विषे व्याख्यामकीजिये है । जो
श्रुतेकेवलकी भी गोचर नाही ऐसा पदार्थ कहनेकी शक्ति केवलज्ञान

विषे पाइये है। ऐसा जानना । (सम्मत तिर्क२/१६) (रा वा १/२६/४/८७)
(घ ६/४/२७, २१४/३/१७१) (घ १२/४/१, ७/१७/४७)

घ उ ६१६ बृद्धे प्रोक्तमत सूत्रे सत्त्व बागतिशायि यत् । द्वादशा-
ङ्गावाद्य वा श्रुतं स्थूलार्थगोचरम् । —इति एव पूर्वार्थायौ न सूत्रमें
कहा है कि जो सत्त्व है वह वचनावीस है और द्वादशाङ्ग तथा अष्ट
बाह्यरूप शास्त्र-श्रुत ज्ञान स्थूल पदार्थको विषय करने वाला है ।

१२. आगमकी बहुतसी बातें नष्ट हो चुकी हैं

घ ६/४.१.४४/१२६/४ दोसु वि उपपत्तेसु को एरथ समजसो, एरथ ण
माहङ्ग जिम्भमेलाइरियवच्छवो, अलङ्घानवैसत्तादो दोण्णमेवकस्स
बाह्णपुलभादो । किंतु दोसुपक्केण हादव्व । त आणिय वत्तव्व ।
—उक्त (एक ही विषयमें) दो (पृथक्-पृथक्) उपदेशोंमें कौन सा
उपदेश यथार्थ है, इस विषयमें एलाचार्यका शिष्य (बोरसेन स्वामी)
अपनी जीभ नहीं चलाता अर्थात् कुछ नहीं कहता, क्योंकि इस
विषयका कोई न तो उपदेश प्राप्त है और न दोमें-से एकमें कोई
बाधा उत्पन्न होती है । किन्तु दोमें-से एक ही सत्य होना चाहिए ।
उमे जानकर कहना उचित है ।

ति प अधिकार/श्लो (यहाँ निम्न विषयोंके उपदेश नष्ट होनेका निर्देश
किया गया है ।) नरक लोकके प्रकरणमें श्रेणी बद्ध भिलोंके नाम
(२/४४), समवशरणमें नाट्यशालाओंको लम्बाई चौड़ाई (४/७५७)
प्रथम और द्वितीय मानस्तम्भ पीठोंका विस्तार (४/७७२), समव-
शरणमें स्तूपोंकी लम्बाई और विस्तार (४/८७७), नारवोंकी ऊँचाई
आयु और तीर्थकर देवोंके प्रत्यक्ष भावादिक (४/१४७१), उत्सर्पिणी
कालके शेष कुलकरोंकी ऊँचाई (४/१६७२), श्री देवीके प्रकीर्णक आदि
चारोंके प्रमाण (४/१६८८), हैमवतके क्षेत्रमें शब्दवान पवत पर स्थित
जिन भवनकी ऊँचाई आदि (४/१७०१), पाण्डुक वनपर स्थित
जिन भवनमें सभापुरके आगे वाले पीठके विस्तारका प्रमाण (४/१८६७),
उपरोक्त जिन भवनमें स्थित पीठकी ऊँचाईके प्रमाण (४/१८७२),
उपरोक्त जिन भवनमें चैर्य वृक्षोंके आगे स्थित पीठके विस्तारादि
(४/१८९०), सोमनस वनवर्ती बापिकामें स्थित सोधर्म इन्द्रके विहार
प्रासादको लम्बाईका प्रमाण (४/१८६०), सोमनस गजदन्तके कूटोंके
विस्तार और लम्बाई (४/२०३२), विद्युत्प्रभगजदन्तके कूटोंके
विस्तार और लम्बाई (४/२०४७), विवेह देवकुरुमें यमक पर्वतोंपर
और भी दिव्य प्रासाद हैं, उनकी ऊँचाई व विस्तारादि (४/२०८२),
विवेहस्थ शास्त्रमाली व जम्बू वृक्षस्थलोंकी प्रथम भूमिमें स्थित ४
बापिकाओंपर प्रतिदिशमें आठ-आठ कूट हैं, उनके विस्तार
(४/२१८२), रेखावत क्षेत्रके शलाका पुरुषोंके नामादिक (४/२२६६), लवण
समुद्रमें पातालोंके पार्व भागोंमें स्थित कौस्तुभ और कोस्तुभाभास
पर्वतोंका विस्तार (४/२४६२) धातकी खण्डमें मन्दर पर्वतोंके उत्तर-
दक्षिण भागोंमें भद्रशालोंका विस्तार (४/२५८६), मातुपीत्तर पर्वतपर
१४ गुफाएँ हैं, उनके विस्तारादि (४/२७४३), पुष्करार्धमें सुमेरु पर्वतके
उत्तर दक्षिण भागोंमें भद्रशाल वनोंका विस्तार (४/२८२२), जम्बू-
द्वीपसे लेकर अरुणाभास तक बीस द्वीप समुद्रोंके अतिरिक्त शेष द्वीप
समुद्रोंके अधिपति देवोंके नाम (४/४८), स्वयम्भूर्गमण समुद्रमें स्थित
पवतकी ऊँचाई आदि (४/२४७) अंजनक, हिंगुलक आदि द्वीपोंमें
स्थित व्यन्तरोंके प्रासादोंकी ऊँचाई आदि (६/६६), व्यन्तर इन्द्रोंके
जो प्रकीर्णक, आभियोग्य और किशिवपक देव होते हैं उनके प्रमाण
(६/७६), तारोंके नाम (७/३२, ४६६), गृहोंका सुमेरुसे व्यन्तराल व
बापियों आदिका कथन (७/४८६), सौधर्मदिकके सोमादिक लोक-
पालोंके आभियोग्य प्रकीर्णक और किशिवपक देव होते हैं उनका
प्रमाण (८/२६६), उत्तरेन्द्रोंके लोकपालोंके विमानोंकी सरया (८/३०२)
सौधर्मदिकके प्रकीर्णक, आभियोग्य और किशिवपकोंकी देवियोंका
प्रमाण (८/३२६), सौधर्मदिकके प्रकीर्णक, आभियोग्य और

किशिवपकोंकी देवियोंकी आयु (८/४२३), सौधर्मदिकके आरमरक्षक
व परिषद्की देवियोंकी आयु (८/४४७) ।

१३. आगमके विस्तारका कारण

स सि १/८/३० सर्वसत्त्वानुग्रहाद्यो हि सर्वा प्रयास इति, अधिगमाम्युपाय-
भेदाद्देशे ऋत । —सज्जनोंका प्रयास सब जीवोंका उपकार करना
है, इसलिए यहाँ अलग-अलगसे ज्ञानके उपायके भेदोंका निर्देश
किया है ।

घ १/१.१.६/१६३/८ नैप दोष मन्दबुद्धिसत्त्वानुग्रहाद्येवाह ।

घ १/१.१.७०/३११/१ द्विरस्ति —शब्दोपादानमनर्थकामिति चेन्न, विस्तर-
रुचिसत्त्वानुग्रहाद्येवाह । सत्तेपरुचयो नानुगृहीतारचेन्न, विस्तररुचि-
सत्त्वानुग्रहस्य सत्तेपरुचिसत्त्वानुग्रहाविनाभाविरवाह । —प्रश्न—
(छोटा सूत्र बनाना ही पर्याप्त था, क्योंकि सूत्रका टैप भाग उसका
अविनाभावी है ।) उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि मन्दबुद्धि
प्राणियोंके अनुग्रहके लिए शेष भागको सूत्रमें ग्रहण किया गया है ।
प्रश्न—सूत्रमें दोषा अस्ति शब्दका ग्रहण निरर्थक है । उत्तर—नहीं,
क्योंकि विस्तारसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्योंके अनुग्रहके
लिए सूत्रमें दो बार अस्ति शब्दका ग्रहण किया गया है । प्रश्न—इस
सूत्रमें सत्तेपरुचि समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्य अनुगृहीत नहीं किये
गये हैं । उत्तर—नहीं, क्योंकि संक्षेपसे समझनेकी रुचि रखनेवाले
जीवोंका अनुग्रह विस्तारसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्योंका
अविनाभावी है । अर्थात् विस्तारसे कथन कर देनेपर सत्तेपरुचिवाले
शिष्योंका काम चल जाता है । (प्र सा/ता वृ १६) ।

१४. आगमके विच्छेद सम्बन्धी भविष्य वाणी

ति प ४/१४१३ बीस महत्सु तिसदा सत्चारस वच्छराणि सुदातस्थ
धम्मपयट्ठणहेट्ठु वीच्छिस्सादि कानदोसेण —जो श्रुत तीर्थ धर्म प्रवर्तन-
का कारण है, वह बीस हजार तीन सौ सत्चारह (२०३१७) वर्षोंमें काल
दोषसे व्युच्छेदको प्राप्त हो जायेगा ।

२ द्रव्य भाव आगम ज्ञान निर्देश व समन्वय

१ वास्तवमे भावश्रुत ही ज्ञान है द्रव्यश्रुत ज्ञान नहीं

घ १३/६.४.२६/६४/१२ ण च दव्वसुदण एरथ अहियारो, पोगलवियारस्स
जहस्स णाणोपल्लिङ्ग भूदस्स सुदत्तचिराहादो । —(ध्यानके प्रकरणमें)
द्रव्यश्रुतका यहाँ अधिकार नहीं है, क्योंकि ज्ञानके उपलिंग भूत
पुद्गलके विकार स्वरूप जड़ वस्तुको श्रुत माननेमें विरोध आता है ।

२ भावका ग्रहण ही आगम है

व्या दी ३/९७३ आप्रबावयनिबन्धन ज्ञानमित्युच्यमानेऽपि, आप्रबावय-
कमके बावणप्रत्ययेऽतिव्याप्ति । तात्पर्यमेव वचसीत्यभिपुक्तवचनात् ।
—आप्तके वचनोंसे होनेवाले ज्ञानको आगमका लक्षण कहनेमें भी
आप्तके वाक्योंको सुनकर जो धावण प्रत्यक्ष होता है उसमें लक्षणकी
अतिव्याप्ति है, अतः 'अर्थ' यह पद दिया है । 'अर्थ' पद तात्पर्यमें रुढ़
है । अर्थात् प्रयोजनार्थक है क्योंकि 'अर्थ' ही —तात्पर्य ही वचनोंमें है'
ऐसा आचार्य वचन है ।

३ द्रव्य श्रुत को ज्ञान कहने का कारण

घ ६/४.१.४४/१६२/३ कथ शब्दस्य तत्स्थापनायाश्च श्रुतव्यपदेश । नैप
दोष कारणे कार्योपचारात् । —प्रश्न—शब्द और उसकी स्थापनाकी
श्रुत सद्भा कैसे हो सकती है । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि,
कारणमें कार्यका उपचार करनेसे शब्दया उसकी स्थापनाकी श्रुत संज्ञा
भन जाती है । (घ १३/६ ६.२१/२१०/८)

प्र सा/ता वृ ३४/४६ शब्दश्रुताधारेण क्षतिर्यपरिच्छित्तज्ञानं
भण्यते स्फुट । पूर्वोक्तद्रव्यश्रुतस्यापि दृग्ग्राहणे ज्ञानव्यपदेशो भवति
न तु निरपेक्षेनेति । —शब्द श्रुतके आधारमें क्षतिरूप अर्थके निरचय-
को निश्चय नयसे ज्ञान कहा है । पूर्वोक्त शब्द श्रुतकी अपेक्षा

ब्रह्मभूतको ज्ञानसंज्ञा (कारणमें कायकेउपधारसे) व्यवहार नयसे है निश्चय नयसे नहीं ।

४. ब्रह्म श्रुत के भेदादि जानने का प्रयोजन

पं का/ता वृ १७३/२४४/१६ श्रुतभावनाया फलं जीवादिस्त्वविषये संक्षेपेण हेयोपादेयत्वविषये वा संशयविमोहविभ्रमरहितो निश्चल-परिणामो भवति । — श्रुतको भावना अर्थात् आगमाभ्यास करनेसे, जोवादि तत्त्वोंके विषयमें वा संक्षेपसे हेय उपादेय तत्त्वके विषयमें संशय विमोह व विभ्रमसे रहित निश्चल परिणाम होता है ।

५. आगमको श्रुतज्ञान कहना उपचार है

श्लो वा १/१/२०/२-३/६८८ /प्रवर्ण हि श्रुतज्ञान न पुन शब्दमात्र कम् ॥२॥ तत्त्वोपचारतो ग्राह्य श्रुतशब्दप्रयोगतः ॥३॥ — 'श्रुत' पदसे तात्पर्य किसी विशेष ज्ञानसे है । हाँ वाच्योंके प्रतिपादक शब्द भी श्रुतपदसे पकड़े जाते हैं । किन्तु केवल शब्दोंमें ही श्रुत शब्दको परिपूर्ण नहीं कर देना चाहिए ॥२॥ उपचारसे वह शब्दार्थमक श्रुत (आगम) भी शुद्ध शब्द करके ग्रहण करने योग्य है क्योंकि श्रुतके शब्दोंसे शिक्ष्योंको श्रुतज्ञान (वह विशेष ज्ञान) उत्पन्न होता है । इस कारण यह कारणमें कार्यका उपचार है । (और भी दे आगम २/३)

३ आगमका अर्थ करने की विधि

१ पाँच प्रकार अर्थ करनेका विधान

स सा/ता वृ १२०/१७७ शब्दाथव्याख्यानेन शब्दार्थो ज्ञातव्य । व्यवहारनिरचयस्तेन नयार्थो ज्ञातव्य । सात्व्य प्रति मतार्थो ज्ञातव्य । आगमाथस्तु प्रसिद्ध हेयोपादानव्याख्यानरूपेण भावार्थोऽपि ज्ञातव्य । इति शब्दनयमतगमभावार्थो व्याख्यानकाले यथासंभव सर्वत्र ज्ञातव्य । — शब्दार्थके व्याख्यान रूपसे शब्दार्थ जानना चाहिए । व्यवहार निश्चयनयरूपसे नयार्थ जानना चाहिए । सार्योंके प्रतिमतार्थ जानना चाहिए । आगमार्थ प्रसिद्ध है । हेय उपादेयकेव्याख्यान रूपसे भावार्थ जानना चाहिए । इस प्रकार शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ आगमार्थ तथा भावार्थको व्याख्यानके समय यथासंभव सर्वत्र जानना चाहिए । (पं वा/ता वृ १/४, २०/६०) द्र सं/टी २/६)

२. मतार्थ करनेका कारण

ध १/१ १३०/२२६/६ तदभिप्रायकदनाथं वाच्य सूत्रस्यावतार । — इन दोनों एकान्तियोंके अभिप्रायके खण्डन करनेके लिए ही प्रकृतसूत्रका अवतार हुआ है ।

स भ त ७७/१ ननु सर्ववस्तु स्यादेकं स्यादनेकमिति कथं सगच्छते । सर्वस्यवस्तुन केनापि रूपेणैकाभावात् । तदुक्तम् 'उपयोगो लक्षणम्' इति सूत्रे, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके—न हि वयं सदुपपरिणाममनेकव्यक्तिभ्यापि युगपदुपगच्छामोऽस्यत्रोपचारात् इति पूर्वोदाहृतपूर्व-चार्यवचनानां च सर्वथैक्य निराकरणपरत्वाद् अन्यथा सत्ता सामान्यस्य सवधानेकत्वे पृथक्त्वेकात्मस्य एवाहुतस्त्यात् । — प्रश्न—सर्व वस्तु कथंचित एक है कथंचित् अनेक है यह कैसे संगत हो सकता है, क्योंकि किसी प्रकारसे सर्व वस्तुओंकी एकता नहीं हो सकती । तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा भी है 'उपयोगो लक्षण' अर्थात् ज्ञान दर्शन रूप उपयोग हो जोवका लक्षण है । इस सूत्रके अन्तर्गत तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिकमें—'अन्य व्यक्तिये उपचारसे एक कालमें ही सट्टा परिणाम रूप अनेक व्यक्ति व्यापी एक सत्त्व हम नहीं मानते' ऐसा कहा है—उत्तर—पूर्व उदाहरणोंमें आचार्योंके मथनसे जो सर्वथा एकरव ही माना है उसीके निराकरणमें तारपर्य है न कि कथंचित् एकरवके निराकरणमें । और ऐसा न माननेसे सर्वथा सत्ता सामान्यक अनेकत्व माननेसे पृथक्त्व एकान्त पक्षका ही आधार होगा ।

३ नय निक्षेपार्थ करनेकी विधि

स सि १/६/२० नामादिनिक्षेपविधिनोपक्षिप्तानां जीवादीनां तत्त्वं प्रमाणान्मां नयैश्चाधिगम्यते । — जिन जीवादि पदार्थोंका नाम

आदि निक्षेप विधिके द्वारा निस्तारके कथन किया है उनका स्वरूप प्रमाण और नयोंके द्वारा जाना जाता है ।

ध १/१.१.१/१०/१६ प्रमाण-नय-निक्षेपविधिर्नो नामभिर्मात्रेण । मुक्त चायुक्तयज्ञाति तस्यायुक्त, च मुक्तवत् ॥१०॥ — जिस पदार्थका प्रमाण-शादि प्रमाणोंके द्वारा, नैगमादि नयों द्वारा, नामादि निक्षेपविधि द्वारा सूक्ष्म दृष्टिसे विचार नहीं किया जाता है, तत्त्वपदार्थ नभी मुक्त (मंगल) होते हुए भी अयुक्त (अमंगल) या प्रतीत होता है और सभी अयुक्त होते हुए भी मुक्तकी तरह-सा प्रतीत होता है ॥१०॥

ध १/१.१.२/३/१० निक्षेपार्थ — आगमक किसी रत्नक गाथा, भाष्य, पदके ऊपरसे अर्थका निर्णय करनेके लिए निर्दोष गट्टितम रत्नका-दिष्का उच्चारण करना चाहिए, तदनन्तर पदच्छेद करना चाहिए, उसके बाद उसका अर्थ कहना चाहिए, अनन्तर पद निक्षेप अर्थात् नामादि विधिसे नयार्थ अवलम्बन केर पदार्थका उच्चारण करना चाहिए । सभी पदार्थके स्वरूपका निर्णय होता है । पदार्थ निर्णयके इस क्रमको दृष्टिमें रखकर गाथाके अर्थ पदका उच्चारण करके, और उसमें निक्षेप करके, नयोंके द्वारा तत्त्व निर्णयका उपदेश दिया है ।

मो मा/प्र ७/३६८/७ प्रश्न—ता कथा करिये उत्तर—निरचय नय करि जो निरूपण किया है, ताकीं तो सत्यार्थ मानि ताका तो ब्रह्मान अंगीकार करना अर व्यवहार नय करि जा निरूपण किया है, ताकीं तो असत्यार्थ मानि ताका ब्रह्मान छोड़न । ताते व्यवहार नयका ब्रह्मान छोड़ि निरचयका ब्रह्मान करना योग्य है । व्यवहार नय करि स्व-ब्रह्म पदव्यर्थकीं वा तिनके भावनिर्णय कीं वा कारण कार्यदिक्कीं काहूँका काहूँनिषे मिसाय निरूपण करे है । सो ऐसे ही ब्रह्मानसे मिथ्याबहूँ ताते यका रवाग करना । बहुदि निश्चय नय तिनकीं यथावत् निरूपे है, काहूँ को काहूँनिषे न मिनावे है । ऐसा हो ब्रह्मान से सम्मनय हो है । ताते ताका ब्रह्मान करना । प्रश्न—जो ऐसे है, ता जिनमार्ग बिषे दोऊ नयनिका ग्रहण करना कहा, सा कैसे । उत्तर—जिनमार्ग बिषे कहीं सो निरचय नयकी मुख्यता तिये व्याख्यान है ताकीं तो सत्यार्थ ऐसे ही है । ऐसा जानना । बहुदो कहीं व्यवहार नयकी मुख्यता तिये व्याख्यान है ताकीं ऐसे है नाहि निमिच्छादिकीं जेहेता उपचार किया है । ऐसा जानना । इस प्रकार जाननेका नाम ही दाऊ नयनिका ग्रहण है । बहुदि दाऊ नयनिके व्याख्यान कूँ समान सत्यार्थ जानि ऐसे भी है ऐस भी है, ऐसा भ्रम रूप प्रवर्तन करि तो दोऊ नयनिका ग्रहण कहा नाहीं । प्रश्न—जा व्यवहार नय असत्यार्थ है, सो ताका उपदेश जिनमार्ग बिषे काहूँ को दिया । एक निरचय नय हो का निरूपण करना था । उत्तर—निरचय नयको अंगीकार कराने कूँ व्यवहार करि उपदेश दोजिये है । बहुदो व्यवहार नय है, सो अंगीकार करने योग्य नाहीं । (और भी दे आगम ३/८)

४. आगमार्थ करनेकी विधि

१ पूर्वपर मिलान पूर्वक

द्र स/टी २२/६६ [अन्यथा परमाणमाविरोधेन विचारणीय किन्तु विवादी न कर्तव्य । — परमाणमके अविरोध पूर्वक विचारना चाहिए, किन्तु कथनमें विवाद नहीं करना चाहिए ।

पं ध/पु ३३६ शेषविधेयव्याख्यानं ज्ञातव्यं चोक्तव्यमागतया । सूत्रे पदानुवृत्तिप्रालाया सूत्रादिरादिनिष्यादा ॥३६॥ — सूत्रमें पदोंकी अनुवृत्ति दूसरे सूत्रोंसे ग्रहण करनी चाहिए, इस व्याख्यसे यहोपर भी शेष-विशेष कथन उक्त और बह्यमाण पूर्वपर सम्बन्धसे जानना चाहिए । रहस्यपूर्ण चिह्नों प टोहरमसजो वृत्त/६१२ कथन सो अनेक प्रकार होय परन्तु यह सर्व आगम अध्यात्म शास्त्रन सौ विरोध न होय बैसे बिबक्षा येह करि जानना ।

२ परम्परा का ध्यान रख कर

ध १/१.२.१८४/४८१/१ एदोए गहाए एदुस वसताणसस किण्ण विरोहो । हाउ नाम । ण, जुत्तिसिद्धस्य आदिपरपरमाणमसस

एदोए गाहाए णामदत्त काऊण सक्किज्जदि, अइप्पसंगादो । — प्रश्न—यदि ऐसा है तो (देश समयमें तेरह करोड़ मनुष्य हैं) इस गाथा के साथ इस पूर्वोक्त व्याख्यानका विरोध क्यों नहीं आ जायेगा । उत्तर—यदि उक्त गाथाके साथ पूर्वोक्त व्याख्यानका विरोध प्राप्त होता है तो होखो जो युक्ति सिद्ध है और आचार्य परम्परासे आया हुआ है उसमें इस गाथासे असमीचीनता नहीं लायी जा सकती, अन्यथा अतिप्रसंग दोष आ जायेगा । (घ ४/१.४.४/१६६/२) रहस्यपूर्ण चिट्ठी प दोहरमल/पृ ६१२ दे आगम ३/४/१

३ शब्दका नही भावका ग्रहण करना चाहिए

स ति १/३३/१४४ अन्यार्थस्यान्यार्थेन समन्धाभावात् । लोकसमय विरोध इति चेत् । निरूप्याताम् । तत्त्वमिह मीमांस्यते, न भैषज्य-मातुरेच्छानुवर्ति । —अन्य अर्थका अन्य अर्थके साथ समन्धका अभाव है । प्रश्न—इससे लोक समयका (व्याकरण शास्त्र) का विरोध होता है । उत्तर—यदि विरोध होता है तो होने दो, इससे हानि नहीं, क्योंकि यहाँ तत्त्वकी मीमांसा की जा रही है । दवाई कुछ पोड़ित मनुष्यकी इच्छाका अनुकरण करनेवाली नहीं होती ।

रा वा २/६/३८/१०६ द्रव्यलिङ्ग नामकर्मोदयापादितं तद्विह नाधि-कृतम्, आत्मपरिणामप्रकरणात् । द्रव्यलेश्या पुद्गलविपाकिकर्मो-दयापादितेति सा नेह परिगृह्यत आत्मनो भावप्रकरणात् । —चूँकि आरमभावाँका प्रकरण है, अतः नामकर्मके उदयसे होनेवाले द्रव्यलिङ्ग-की यहाँ विवक्षा नहीं है । द्रव्य लेश्या पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्मके उदयसे होती है अतः आरमभावाँके प्रकरणमें उसका ग्रहण नहीं किया है ।

घ १/१.१.६०/३०३/६ अन्यैराचार्यैरेव्याख्यातमिममर्थं भणन्त कथं न सूत्रप्रत्ययनोका । न, सूत्रवशवर्तिनां तद्विरोधात् । —प्रश्न—अन्य आचार्योंके द्वारा नहीं व्याख्यान किये इस अर्थका इस प्रकार व्याख्यान करते हुए आप सूत्रके विरुद्ध जा रहे हैं ऐसा क्यों नहीं माना जाये । उत्तर—नहीं—सूत्रके वशवर्ती आचार्योंका ही पूर्वोक्त (मेरे) कथनसे विरोध आता है । (अर्थात् मैं गलत नहीं अभिप्रेत वही गलत है ।)

घ ३/१.२.१३८/४०८/६ आइरियवयमणयेयतमिदि चे, होदु णाम, णरिय मउक्केरथ अगगहो । —आचार्योंके वचन अनेक प्रकारके होते हैं तो होखो इसमें हमारा आप्रह नही है ।

घ ६/१.७.३/१९७/६ सववभावाण पारिणामियत्त पसज्जदोदि चे होदु ण कोइ दोसो । —सभी भावोंके पारिणामिकपनेका प्रसंग आता है तो आने दो ।

घ ७/२ १ ६६/१०१/२ चक्षुषा दश्यते वा त तत् चक्षुदसणं चक्षुर्दशन-मिति वेति ब्रूवते । चक्षुवदियणाणादो जो पुब्बमेव सुवसतोए साम-ण्णाए अणुहो चक्षुणाणुपत्तिणिमित्तो त चक्षुदसणमिदि उक्त होदि । बालजणवोहणटं चक्षुण ज दिस्सदि तं चक्षुदसणमिदि परूवणादो । गाहएगलभज्जणकाऊण अज्जुवग्गो किण्ण घेप्पदि । ज, तथ पुब्बुत्तासेसदासप्पसंगादो । —जो चक्षुओंको प्रकाशित होता है अथवा आँख द्वारा देखा जाता है वह चक्षुदर्शन है इसका अर्थ ऐसा समझना चाहिए कि चक्षु इन्द्रिय ज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत है वह चक्षु दर्शन है । बालक जनोंको ज्ञान करानेके लिए अन्तरंगमें बाह्य पदार्थोंके उपचारसे 'चक्षुओंको जो दीखता है वही चक्षु दर्शन है' ऐसा प्ररूपण किया गया है । प्रश्न—गाथाका गला न घोट कर सीधा अर्थ क्यों नहीं करते । उत्तर—नहीं करते क्योंकि वैसा करनेमें पूर्वोक्त समस्त दोषोंका प्रसंग आता है ।

प्र सा /त प्र, ८६ शब्दाम्लोपासनं भावज्ञानानवष्टम्भद्वीकृतपरिणामेन सन्यगधीयमानमुपायान्तरम् । —(मोह क्षय करनेमें) परम शब्द मल्ल-को उपासनाका, भावज्ञानके अवलम्बन द्वारा दृढ किये गये परिणाम-से सम्यक् प्रकार अन्त्यास करना सी उपायान्तर है ।

स सा/आ २७० नाचारादिशब्दश्रुतं, एकात्तन्ते ज्ञानस्याश्रय तत्सद्भा-वेऽपि शुद्धाभावेन ज्ञानस्याभावात् । —आचारादि शब्दश्रुत एका-त्त-से ज्ञानका आश्रय नहीं है, क्योंकि आचारादिशब्दका सद्भाव होनेपर भी शुद्धात्माका अभाव होनेसे ज्ञानका अभाव है ।

स सा /ता वृ ३/६ स्वसमय एव शुद्धारमन स्वरूप न पुन परसमय इति पातनिका लक्षण सर्वत्र ज्ञातव्यम् । —स्व समय ही शुद्धात्माका स्वरूप है पर समय नहीं । इस प्रकार पातनिकाका लक्षण सर्वत्र जानना चाहिए ।

५. भावार्थ करनेकी विधि

प का /ता वृ २७/६१ कर्मोपाधिजनितमिध्यास्वरागादिरूप समस्तवि-भावपरिणामास्त्वयवस्था निरुपाधिकेवलज्ञानादिगुणयुक्तशुद्धजीवास्ति-काय एव निश्चयनयेनोपादेयत्वेन भावार्थयतव्य इति भावार्थ ।

प का /ता वृ ६२/१०१ अस्मिन्नधिकारे यद्यप्यष्टविधज्ञानोपयोगचतुर्विध-दर्शनोपयोगव्याख्यानकाले शुद्धाशुद्धविवक्षा न कृता तथापि निश्चय-नयेनादिमध्यान्तवर्जिते परमानन्दमालिनी परमचैतन्यशालिनि भग-वरयारमनि यदनाकुलस्वलक्षण पारमार्थिकसुख तस्यापादेयभूतस्योपा-दानकारणभूतं यत्केवलज्ञानदर्शनद्वय तदेवोपादेयमिति श्रद्धेयं ज्ञेयं तथैवास्तीति द्वादिसमस्तविकल्पजालस्यागेन ध्येयमिति भावार्थ । —कर्मोपाधि जनित मिध्यास्व रागादि रूप समस्त विभाव परिणामों-को छोड़कर निरुपाधि केवलज्ञानादि गुणोंसे युक्त जो शुद्ध जीवा-स्तिकाय है, उसीको निश्चय नयसे उपादेय रूपसे मानना चाहिए यह भावार्थ है । वा यद्यपि इस अधिकारमें आठ प्रकारके ज्ञानोपयोग तथा चार प्रकारके दर्शनोपयोगका व्याख्यान करते समय शुद्धाशुद्धकी विवक्षा नहीं की गयी है । फिर भी निश्चय नयसे आदि मध्य अन्तसे रहित ऐसी परमानन्दमालिनी परमचैतन्यशालिनी भगवाद् आत्मामें जो अनाकुलस्व लक्षणवाता पारमार्थिक सुख है, उस उपादेय भूतका उपादान कारण जो केवलज्ञान व केवल दर्शन हैं, ये दोनों ही उपा-देय हैं । यही श्रद्धेय है, यही ज्ञेय है, तथा इस हो को आर्त रौद्र आदि समस्त विकल्प जालको त्यागकर ध्येय मनाना चाहिए । ऐसा भावार्थ है । (प का /ता वृ ६१/११३)

प्र स टी २/१० शुद्धनयाश्रित जीवस्वरूपमुपादेयम् शेष च हेयम् । इति हेयोपादेयरूपेण भावार्थोऽन्यवबोद्धव्य । एवं यथासम्भव व्या-ख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्य । —शुद्ध नयके आश्रित जो जीवका स्वरूप है वह तो उपादेय यानी—ग्रहण करने योग्य है और शेष सब त्याज्य है । इस प्रकार हेयोपादेय रूपसे भावार्थ भी समझना चाहिए । तथा व्याख्यानके समयमें सब जगह जानना चाहिए ।

६. आगमसे व्याकरणकी प्रधानता

घ १/१.१.१/२/६-१०/३ धाउपरूवणा किमट्ठं कीरदे । न, अणवय-धाउस्स सिस्सस्स अत्थावगम, शुबवत्तादो । उक्त च 'शब्दास्पदप्र-सिद्धि पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति । अर्थात्तत्त्वज्ञान तत्त्वज्ञानापरं श्रेय ।२॥ इति । —प्रश्न—धातुका निरूपण किस लिए किया जा रहा है (यह तो सिद्धान्त ग्रन्थ है) । उत्तर—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए । क्योंकि जो शिष्य धातुसे अपरिचित है, उसे धातुके परि-ज्ञानके बिना अर्थका परिज्ञान नहीं हो सकता और अर्थभाषके लिए विवक्षित शब्दका अर्थज्ञान करना आवश्यक है, इसलिए यहाँ धातु-का निरूपण किया गया है । कहा भी है—शब्दसे पदकी सिद्धि होती है, पदकी सिद्धि से अर्थका निर्णय होता है अर्थके निर्णयसे तत्त्वज्ञान अर्थात् हेयोपादेय विवेककी प्राप्ति होती है और तत्त्वज्ञान-से परम कल्याण होता है ।

म पु ३८/११६ शब्दविचार्यशास्त्रादि चाध्येयं नास्य दृष्यति । सुसं-स्काप्रबोधाय वैयाकरणस्याप्तयेऽपि च ॥११६॥ —उत्तम सुस्कारोंको जागृत करनेके लिए और चिह्नता प्राप्त करनेके लिए इस व्याकरण आदि शब्दशास्त्र और न्याय आदि अर्थशास्त्रका भी अन्त्यास करना

ब्रह्मश्रुतको ज्ञानसंज्ञा (कारणमें कामकेउपचारसे) व्यवहार नये
नै निश्चय नये नहीं ।

४ ब्रह्म श्रुत के सेवादिवि जानने का प्रयोजन

पं का/ता पृ १३०/२४४/१६ श्रुतभाष्यनामा फल जीवादिपरव्यवस्थे
संशयेन हेतोपादेयतत्परिविषये वा संशयविमोहनिवृत्तमरहितो निश्चय-
परिणामो भवति । — सुक्त भाष्यना अर्थात् आगमाभ्यास करनेसे,
जीवादि तत्त्वोंके विषयमें वा संशयसे हेतु उपादेय तत्त्वके विषयमें
संशय विमोह व निवृत्तमरहित निश्चय परिणाम होता है ।

५. आगमकी श्रुतज्ञान कहना उपचार है

स्तो वा १/१/२०/२-३/४६८ /प्रवर्ण हि श्रुतज्ञान न पुन शब्दमात्र
वय ॥२॥ तत्त्वोपचारतो प्राप्त श्रुतशब्दप्रयोगत ॥१॥ — 'श्रुत'
पदसे तात्पर्य किसी विशेषे ज्ञानसे है । हां बाध्योंके प्रतिपादक
शब्द भी श्रुतपदसे पकड़े जाते हैं । किन्तु केवल शब्दोंमें ही श्रुत
शब्दको परिपूर्ण नहीं कर देना चाहिए ॥२॥ उपचारमें वह शब्दात्मक
श्रुत (आगम) को श्रुत शब्द करके ग्रहण करने योग्य है । क्योंकि गुरुके
शब्दोंसे शिष्योंको श्रुतज्ञान (वह विशेषे ज्ञान) उत्पन्न होता है ।
इस कारण यह कारणमें कार्यका उपचार है । (और भी दे आगम २/३)

३ आगमका अर्थ करने की विधि

१ पांच प्रकार अर्थ करनेका विधान

स सा/ता पृ १३०/१७० शब्दार्थव्याख्यानान् शब्दार्थो ज्ञातव्य । व्यव-
हारनिश्चयरूपेण नयार्थो ज्ञातव्य । सार्वभ्य प्रति मताधी ज्ञातव्य ।
आगमाद्यस्तु प्रसिद्ध हेतोपादानुसारयानरूपेण भावार्थोऽपि ज्ञातव्य ।
इति शब्दनयमसागमभाषार्थ व्याख्यानवात्ते यथासंभवं सर्वत्र
ज्ञातव्य । — शब्दार्थक व्याख्यान रूपसे शब्दार्थ जानना चाहिए ।
व्यवहार निश्चयरूपसे नयार्थ जानना चाहिए । सार्वभ्य प्रतिमतार्थ
जानना चाहिए । आगमार्थ प्रसिद्ध है । हेतु उपादेयकव्याख्यान
रूपसे भावार्थ जानना चाहिए । इस प्रकार शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ
आगमार्थ तथा भावार्थको व्याख्यानके समय यथासम्भव सर्वत्र
जानना चाहिए । (पं वा/ता पृ १/४, २०/६०) इ सं/टी २/६)

२. मतार्थ करनेका कारण

ध १/१ १,३०/२०६/६ तदभिप्रायवदनार्थं वाच्यं सूत्रस्यावधार । — इन
दानों एकान्तिव्यक्ति अभिप्रायक खण्डन करनेमें लिए ही प्रकृतसूत्र-
का अवधार हुआ है ।

स भं/त ७०/१ ननु त्वय वस्तु स्वादेवै स्वादेनेकमिति कथं सगच्छते ।
सर्वव्यवस्तुन क्त्वापि रूपेण काभावात् । तदुक्तम् 'उपयोगो लक्षणम्'
इति सूत्रे, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके—न हि वयं सत्त्वपरिणाममनेकव्य-
क्तिव्यापिन युगपदुपगच्छामोऽप्यत्रोपचारात् इति पूर्वोदाहृतपूर्वा-
चार्यमन्वानां च सर्वथैव निराकरणपरत्वाद् अन्यथा सत्ता सामान्य-
स्य सवधानेकत्वे पृथक्त्वैकात्म्यस्य एवाहृतस्यात् । — प्रश्न—सर्व वस्तु
कथंचित एक है कथंचित अनेक है यह कैसे संगत हो सकता है, क्योंकि
किसी प्रकारसे सर्व वस्तुओंकी एकता नहीं हो सकती । तत्त्वार्थ
सूत्रमें कहा भी है 'उपयोगो लक्षणं' अर्थात् ज्ञान दान रूप उपयोग
ही जीवका लक्षण है । इस सूत्रके अन्तर्गत तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिकमें—
'अन्य व्यक्तिकमें उपचारसे एक कालमें हो सदा परिणाम रूप अनेक
व्यक्ति व्यापि एक सत्य हम नहीं मानते' ऐसा कहा है—उत्तर—पूर्व
उदाहरणोंमें आपायोंक मन्वानोंसे जो सर्वथा एकरूप ही माना है उसीके
निराकरणमें सार्वभ्य है न कि कथंचित एकरूप निराकरणमें । और
ऐसा न माननेसे सर्वथा सत्ता सामान्यक अनेकत्व माननेसे पृथक्त्व
एकान्त पक्षका ही आधार होगा ।

३ नय निक्षेपार्थ करनेकी विधि

स सि १/६/२० नामादिनिक्षेपविधिनीपक्षिष्ठानां जीवादोनां तत्त्वं
प्रमाणार्थं नयैश्चाधिगम्यते । — जिन जीवादि पदार्थोंका नाम

आदि निक्षेप विधिक द्वारा विन्यासने वचन किया है उनका स्वभाव
प्रमाण और नयके द्वारा जाना जाता है ।

ध १/१,२,१/१०/१६ प्रमाण नय निक्षेपार्थं नामादिनिक्षेपः । मुक्त-
चामुत्तनमिति तत्त्वामुक्तं च सुप्रसिद्धं ॥१॥ — जिन पदार्थोंका नाम-
शादि प्रमाणोंके द्वारा, नयमात्रात्मक द्वारा नामादि निक्षेपार्थक द्वारा
सूत्रम दर्शिते विचार नहीं किया जाता है वह पदार्थ कभी मुक्त (निरक्षेप)
होते हुए भी अमुक्त (अगम्य) मान्य होते हैं । और कभी अमुक्त
होते हुए भी मुक्तरी तरह मान्य होते हैं । ॥१॥

ध १/१,२ १/१/१० निक्षेपार्थ — आगमक विद्या उक्तवत्तया, वाच्य, व
पदके उत्तरमें अर्थका निक्षेप करनेसे निक्षेप निर्दिष्ट पदार्थको विशेष-
द्विकता उपधारण करना चाहिए तदभिप्रायवदनार्थं वाच्यं वाच्यं
उत्तरमें बाद उपचार अर्थ करने, चाहिए अतः बाद निक्षेप अर्थात्
नामादि विधिम नयोंका व्यवस्थान एकरूपताका उपचार है करना
चाहिए । तभी पदार्थक स्वरूपका निर्णय हो पाएगा तभी निक्षेपके इस
क्रमको इष्टिमें रखकर माध्याम अर्थ पदका उपधारण कर, और तबमें
निक्षेप करके, नयोंक द्वारा तत्त्व निर्दिष्टका उपचार दिया है ।

मो मा/प्र ७/१६८/० प्रश्न—ता कदा चरिते उत्तर—निरक्षेप नय कर
को निरूपण किया होय, ताकीं तो सार्वभ्य मान लाय । तो अज्ञान
अंगीकार करना और व्यवहार नय कर को निरूपण किया होय ताकीं
उत्तरार्थ मान लाय । प्रश्नात् तादृश, ताते व्यवहार नयका अज्ञान
छोड़ि निरक्षेपका अज्ञान करना योग्य है । व्यवहार नय करि स्व-
द्वय परद्वयार्थं वा तिनके भावनिर्णय का कारण वाच्यद्विकता काटकर
काटिनिक्षेप मिनाय निरूपण करे है । मा तने ही अज्ञानम निरक्षेप है
ताते यथा यथा करना । बहुविध नय तिनकी माध्याम निरूपण
है, काट कर वाच्यद्विकता मिनाये है । ऐसा हो । ज्ञान ही मध्यमत्व हो
है । ताते ताका अज्ञान करना । प्रश्न—ता तने ही है, ता ज्ञानार्थ वि-
दोउ नयनिका ग्रहण करना कदा, मा, केम । उत्तर—जिनमार्थ वि-
कहो तो निरक्षेप नयकी सुप्रसिद्धा तने इदाममान है ताकीं ता
सार्वभ्य तने ही है । ऐसा जानना । बहुविध कही व्यवहार नयको
सुप्रसिद्धा तने व्याख्यान है ताकीं ऐसा निर्दिष्टादिनी अज्ञान
उपचार किया है । ऐसा जानना । इस प्रकार ज्ञान (वा नाम ही वाच्य
नयनिष्ठा ग्रहण है । बहुविध दोउ नयनिक व्याख्यान के अज्ञान
सार्वभ्य जानि ऐसे भी है तने भी है, ऐसा भय रूप प्रवर्तने करि तो
दोउ नयनिका ग्रहण कर नाहीं । प्रश्न—ता व्यवहार नय अगमार्थ
है, तो ताका उपधार जिनमार्थ विषय काटि कर दिया । एक निरक्षेप
नय हो या निरूपण करना था । उत्तर—निरक्षेप नयको अंगीकार
कराने के व्यवहार करि उपधार दोलिते है । बहुविध व्यवहार नय
है, मो अंगीकार करने योग्य नाहीं । (और भी दे आगम ३/८)

४ आगमार्थ करनेकी विधि

१ पूर्वपर मिलान पूर्वक

इ सं/टी २/२/६६ [अप्यहं परमाणुमाविराधेन विशास्तीमं किन्तु
विवादो न कर्तव्यः । — परमाणुमक अविरोध पूर्वक विचारना चाहिए,
किन्तु कथनमें विवाद नहीं करना चाहिए ।

पं ध/पृ १३६ सेवविशेषव्याख्यान शास्त्रस्य वाच्यस्यमात्रत्वात् । सूत्रे
पदामुद्युत्तिगाद्या सूत्रान्तरादिनिष्ठ व्याख्यासा ॥३॥ — सूत्रमें पदोंकी अनु-
वृत्ति दूसरे सूत्रोंसे ग्रहण करनी चाहिए, इस व्याससे यह और भी दे-
विशेष कथन उक्त और वक्ष्यमाण पूर्वपर सम्बन्धित जानना चाहिए ।
रहस्यपूर्ण विधि पं टीटर्मनजी वृ०/६/२० कथन ता अनेक प्रकार होय
परन्तु यह सर्व आगम अध्याय शास्त्रन सौ विरोध न होय वैसे
विषया भेद कर जानना ।

२ परम्परा का ध्यान रख कर

१ १/१,२,१८४/४८१/१ पदोप ग्राह्य एवम्ब मन्त्रागस्त विन-
विरोहो । हाउ नाम । न, जुर्विचिदस्य आरिष्यपरमाणुमस्त

एदोर गाहए नामहृतं काऊग सक्किजदि, अहप्पसं गादो । — प्रश्न—
यदि ऐसा है तो (देश सयत्तमें तेरह करोड़ मनुष्य हैं) इस गाथा के
साथ इस पूर्वोक्त व्याख्यानका विरोध क्यों नहीं आ जायेगा । उत्तर—
यदि उक्त गाथाके साथ पूर्वोक्त व्याख्यानका विरोध प्राप्त होता है तो
होशो जो युक्ति सिद्ध है और आचार्य परम्परसे आया हुआ है
उसमें इस गाथासे असमीचीनता नहीं लायी जा सकती, अन्यथा
अतिप्रसंग दोष आ जायेगा । (घ ४/१.४,४/१६६/२) रहस्यपूर्ण चिट्ठी
प टोडरमल/पृ ६१२ दे आगम ३/४/१

३ शब्दका नही भावका ग्रहण करना चाहिए

स सि १/३३/१४४ अन्यायस्यान्यार्थेन सम्बन्धाभावत् । लोकोत्तम
विरोध इति चेत् । विरुद्धात्ताम् । तत्त्वमिह भीमात्यते, न भैषज्य-
मातुरेच्छानुवर्ति । — अन्य अर्थका अन्य अर्थके साथ सम्बन्धका
अभाव है । प्रश्न—इससे लोक समयका (व्याकरण शास्त्र) का विरोध
होता है । उत्तर—यदि विरोध होता है तो होने दो, इससे हानि नहीं,
क्योंकि यहाँ तत्त्वकी भीमांसा की जा रही है । दबाई कुछ पोंडित
मनुष्यकी इच्छाका अनुकरण करनेवाली नहीं होती ।

रा बा, २/६/३ ८/१०६ द्रव्यलक्षण नामकर्मोदयापादितं तद्विह नाधि-
कृतम्, आत्मपरिणामप्रकरणात् । द्रव्यलेश्या पुद्गलविपाकिकर्मो-
दयापादितेति सा नेह परिगृह्यत आत्मनो भावप्रकरणात् । — चूंकि
आत्मभावकी प्रकरण है, अतः नामकर्मके उदयसे होनेवाले द्रव्यलिंग-
की यहाँ विवक्षा नहीं है । द्रव्य लेश्या पुद्गल विपाक की शरीर नाम
कर्मके उदयसे होती है अतः आत्मभावोंके प्रकरणमें उसका ग्रहण नहीं
किया है ।

घ १/१.१ ६०/३०३/६ अय्येराचार्यैरव्याख्यातमिममर्थं भणन्त कथं न
सूत्रप्रत्यनीका । न, सूत्रवशवर्तिना तद्विरोधात् । — प्रश्न—अन्य
आचार्योंके द्वारा नहीं व्याख्यान किये इस अर्थका इस प्रकार
व्याख्यान करते हुए आप सूत्रके विरुद्ध जा रहे हैं ऐसा क्यों नहीं
माना जाये । उत्तर—नहीं सूत्रके वशवर्ती आचार्योंका ही पूर्वोक्त
(मेरे) कथनसे विरोध आता है । (अर्थात् मैं गलत नहीं अभिप्रेत वही
पलट है ।)

घ ३/१.२, १३३/४०८/६ आहिरियवयणमणेर्यतमिदि चे, होदु णाम, णत्थ
मज्जेत्थ अगहो । — आचार्योंके वचन अनेक प्रकारके हाते हैं तो
होओ इसमें हमारा अप्रमह नहीं है ।

घ ६/१.७, ३/१६७/६ सब्बभाण पारिणामियत्त पसज्जोदि चे होदु, ण
कोह दोसो । — सभी भावोंके पारिणामिकपनेका प्रसंग आता है तो
आने दो ।

घ ७/१ ६६/१०१/२ चसुपा दश्यते वा त तत् चक्षुदंसणं चसुदंशन-
मिति वेत्ति भवते । चविज्जदियणादो जो पुअम्भेव सुवसतोए साम-
ण्णाए अणुहओ चक्षुणाणुपत्तिणिमित्तो त चक्षुदंसणमिदि उत्तं
होदि । बालजणबोहणटं चक्षुण जं दिस्सदि तं चक्षुदंसणमिदि
परुवणादो । गाहएगलसंजणकाऊग अज्जुवरथो किण्ण पेप्पदि । न,
तत्थ पुण्णुचासेसदासप्पसंगादो । — जो चक्षुओंको प्रकाशित होता है
अथवा आँख द्वारा देखा जाता है वह चक्षुदर्शन है इसका अर्थ ऐसा
समझना चाहिए कि चक्षु इन्द्रिय ज्ञानसे पूर्व ही सामान्य स्वशक्तिका
अनुभव होता है ओ कि चक्षु ज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत है वह
चक्षु दर्शन है । 'आलक जनोको ज्ञान करानेके लिए अन्तरंगमें बाह्य
पदार्थोंके उपाचारसे 'चक्षुओंको जो दीखता है वही चक्षु दर्शन है'
ऐसा प्ररूपण किया गया है । प्रश्न—गाथाका गला न धोए कर सोधा
अर्थ क्यों नहीं करते । उत्तर—नहीं करते क्योंकि बैसा करनेमें
पूर्वोक्त समस्त दोषोंका प्रसंग आता है ।

प्र सा / त प्र, ८६ शब्दमहोपासनं भावज्ञानावष्टम्बहीकृतपरिणामेन
सम्यगधीयमानमुपायान्तरम् । — (मोह क्षय करनेमें) परम शब्द ब्रह्म-
की उपासनाका, भावज्ञानके अवलम्बन द्वारा दृढ किये गये परिणाम-
से सम्यक् प्रकार अभ्यास करना सो उपायान्तर है ।

स सा./आ २७७ नाचारादिशब्दश्रुत, एकान्तेन ज्ञानस्याप्रय तसद्भा-
वेऽपि शुद्धाभावेन ज्ञानस्याभावात् । — आचारादि शब्दश्रुत एकां-
ते ज्ञानका आश्रय नहीं है, क्योंकि आचारादिशब्दका सद्भाव होनेपर
भी शुद्धात्माका अभाव होनेसे ज्ञानका अभाव है ।

स सा / ता वृ ३/६ स्वसमय एव शुद्धात्मन स्वरूप न पुन परसमय
इति पातनिका लक्षण सर्वत्र ज्ञातव्यम् । — स्व समय ही शुद्धात्माका
स्वरूप है पर समय नहीं । इस प्रकार पातनिकाका लक्षण सर्वत्र
जानना चाहिए ।

५. भावार्थ करनेकी विधि

प का / ता वृ २७/६१ कर्मोपाधिजनितमिध्यात्वरागादिरूप समस्तवि-
भावपरिणामास्त्यवरत्वा निरुपाधिकेवलज्ञानादिगुणयुक्तशुद्धजीवास्त-
काय एव निश्चयनयेनोपादेयत्वेन भावमित्येव इति भावार्थ ।

प का / ता वृ ६२/१०१ अस्मिन्नधिकारे मध्यमदृष्टिज्ञानोपयोगचतुर्विध-
दर्शनापयोगव्याख्यानकाले शुद्धाशुद्धविवक्षा न कृता तथापि निश्चय-
नयेनादिमध्यान्तवर्जिते परमानन्दमालिनी परमचैतन्यशालिनि भग-
वत्यात्मनि यदनाकुलस्वलक्षण पारमार्थिकसुख तत्त्वोपादेयभूतत्वोपा-
दानकारणभूत यस्केवलज्ञानदर्शनद्वयं तत्त्वोपादेयमिति श्रद्धेयं ज्ञेयं
तथैवार्तरीन्द्रादिसमस्तविकल्पजालस्यागेन ध्येयमिति भावार्थ । —
कर्मोपाधि जनित मिध्यात्व रागादि रूप समस्त विभाव परिणामों-
को छोड़कर निरुपाधि केवलज्ञानादि गुणोंसे युक्त जो शुद्ध जीवा-
स्तिकाय है, उसीको निश्चय नयसे उपादेय रूपसे मानना चाहिए
यह भावार्थ है । वा यद्यपि इस अधिकारमें आठ प्रकारके ज्ञानोपयोग
तथा चार प्रकारके दर्शनोपयोगका व्याख्यान करते समय शुद्धाशुद्धकी
विवक्षा नहीं की गयी है । फिर भी निश्चय नयसे आदि मध्य अन्तसे
रहित ऐसी परमानन्दमालिनी परमचैतन्यशालिनी भगवान् आत्मामें
जो अनाकुलस्व लक्षणवाता पारमार्थिक सुख है उस उपादेय भूतका
उपादान कारण जो केवलज्ञान व केवल दर्शन हैं, ये दोनों ही उपा-
देय हैं । यही श्रद्धेय है, यही ज्ञेय है, तथा इस ही को आर्त रीद्र
आदि समस्त विकल्प जालको त्यागकर ध्येय मनाना चाहिए । ऐसा
भावार्थ है । (प का / ता वृ ६१/११३)

प्र स टी २/१० शुद्धनयाश्रितं जीवस्वरूपमुपादेयम् शेष च हेयम् । इति
हेयोपादेयरूपेण भावार्थोऽप्यवबोद्धव्यः । एव यथासम्भव व्या-
ख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यः । — शुद्ध नयके आश्रित जो जीवका
स्वरूप है वह तो उपादेय यानी—ग्रहण करने योग्य है और शेष सब
त्याज्य है । इस प्रकार हेयोपादेय रूपसे भावार्थ भी समझना
चाहिए । तथा व्याख्यानके समयमें सब जगह जानना चाहिए ।

६. आगममें व्याकरणकी प्रधानता

घ १/१.१, १/२/६-१०/३ धाउपरुवणा किमट्ठं कीरवे । ण, अणवय-
धाउत्स सिस्सस अथावगम पुववत्तादो । उक्त च 'शब्दार्थप्र-
सिद्धि पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति । अर्थात्तत्त्वज्ञान तत्त्वज्ञानापर-
श्रेयः । २३ इति । — प्रश्न—धातुका निरूपण किस लिए किया जा
रहा है (यह तो सिद्धान्त ग्रन्थ है) । उत्तर—ऐसी शंका नहीं करनी
चाहिए । क्योंकि जो शिष्य धातुसे अवचित है, उसे धातुके परि-
ज्ञानके बिना अर्थका परिज्ञान नहीं हो सकता और अर्थ वाचक लिए
विवक्षित शब्दका अर्थज्ञान कराना आवश्यक है, इसलिए यहाँ धातु-
का निरूपण किया गया है । कहा भी है—शब्दसे पदकी सिद्धि
होती है, पदकी सिद्धि से अर्थका निर्णय होता है अर्थके निर्णयसे
तत्त्वज्ञान अर्थात् हेयोपादेय विवेककी प्राप्ति होती है और तत्त्वज्ञान-
से परम कल्याण होता है ।

म पु ३८/११६ शब्दविचार्यशास्त्रादि चाध्येयं नास्य दुष्यति । सुसं-
स्कारप्रबोधाया वैयारव्याप्तयेऽपि च १११६ । — उत्तम संस्कारोंको
जागृत करनेके लिए और विद्वत्ता प्राप्त करनेके लिए इस व्याकरण
आदि शब्दशास्त्र और न्याय आदि अर्थशास्त्रका भी अभ्यास करना

चाहिए क्योंकि आचार विषयक ज्ञान होनेपर इनके अध्ययन करनेमें कोई दोष नहीं है।

मौ मा प्र ८/४३२/१७ बहुविध व्याकरण व्यापारिक शास्त्र है, तिनका भी थोरा बहुत अध्ययन करना। जहाँ इनका ज्ञान बिना नहीं शास्त्रनि का अर्थ भासी नहीं। बहुविध वस्तुका भी स्वरूप इनकी प्रकृति जानै जैसा भासे तैसा भाषादिष कर भासी नहीं। ताते परम्परा कार्य-कारो जानि इनका भी अध्ययन करना।

७ आगमने व्याकरणकी गौणता

पं का/ता यु १/३ प्राथमिकशिक्ष्यप्रतिपुल्लभोपार्थम्य ग्रन्थे संधेनियमो नास्तीति सर्वत्र शास्त्रव्ययम्। —प्राथमिक शिक्ष्याको सरनतामे ज्ञान हो जावे इसलिए ग्रन्थमें सन्धिका नियम नहीं रखा गया है ऐसा सर्वत्र जानना चाहिए।

८ अर्थ समझने सम्बन्धी कुछ विशेष नियम

ध १/१.१.१११/४४६/४ सिद्धासिद्धाभ्या हि कथामार्गा।
ध १/१.१.११७/३६२/१० सामान्यबोधनाथ विशेषव्यतिष्ठन्ते। —पथन परम्पराएँ प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध इन दोनोंके आश्रयसे प्रकृत होती हैं। सामान्य विषयका बोध कराने वाले वाक्य विशेषमें रह जाते हैं।

ध २/१.१/४४१/१७ विशेषविधिना सामान्यविधिर्भाष्यते।
ध २/१.१/४४२/२० परा विधिर्भाष्यका भवति। —विशेष विधिसे सामान्य विधि भाषित हो जाती है। पर विधि भाष्यक होती है।

ध ३/१.२.२/१८/१० व्याख्यातो विशेषप्रतिपत्तिरिति।
ध ३/१.२.२/३१६/१ जहा उहो मो सहा निहोना। —व्याख्यासे विशेषकी प्रतिपत्ति होती है। उहो शब्द अनुसार निर्देश होता है।

ध ४/१.६.४४६/४०३/४ —गौण-सुरययोर्मुल्ये संप्रत्यय। —गौण और मुख्यमें विचार होनेपर मुख्यमें हो संप्रत्यय होता है।

प सु ३/१६ कर्त्तात्तिर्गण्य। —तर्कसे इसका (क्रमभाषका) निर्णय होता है।

प ध/पू ७० भावार्थ—साधन व्याप्त साध्यरूप धर्मके मिल जानेपर पक्षकी सिद्धि हुआ करती है। दृष्टान्तको हो साधन व्याप्त साध्य रूप धर्म कहते हैं।

प ध/७२ नामैकदेशेन नामग्रहणम्। —नामके एकदेशसे ही पूरे नामका ग्रहण हो जाता है, जैसे रा ल कहने से रामताल।

प ध ४६४। व्यतिरेकेण विना यस्तान्वयपक्ष स्वरूपशरसार्थम्। —व्यतिरेकके बिना केवल अन्वय पक्ष अपने पक्षकी रक्षाके लिए समर्थ नहीं होता है।

९ विरोधी बातें आने पर दोनोंका संग्रह कर लेना चाहिए

ध १/१.१.२७/२२२/२ उत्सुतं सिद्धं आहिरिया कथं बज्जभीरुणो। इदि चेण एस दोसो, दोण्हं मज्जेके एक्खसेव सगए कीरमाणे बज्जभीरुण जिह्वति। दोण्हं पि सगहकएताणमाहिरियाण बज्ज-भीरुत्ताविणा-साभावादी।

ध १/१.१.३७/२६२/२ उपदेशसंस्तरेण तदवगमाभावा दोण्हं पि संगहो कायव्वो। दोण्हं संगहं करेत्तो संसयमिच्छाद्दुही होदि त्ति तण्ण, सुसुद्धिमेव अथि त्ति सहटत्तस्स सदेहाभावादी। —प्रदान—उत्पन्न लिखने वाले आचार्य पापभोरु कैसे माने जा सकते हैं। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि दोनों का बचनोंमें-से किसी एक ही बचनके संग्रह करनेपर पापभोरुता निकल जाती है अर्थात् उच्छु-द्वलता आ जाती है। अतएव दोनों प्रकारके बचनोंका संग्रह करने-वाले आचार्योंके पापभोरुता नष्ट नहीं होती है अर्थात् बना रहती है। उपदेशके बिना दोनोंमें-से कौन बचन सूत्र रूप है यह नहीं जाना जा सकता, इसलिए दोनों बचनोंका संग्रह कर लेना चाहिए। प्रदान—दोनों बचनोंका संग्रह करनेवाला संशय निव्याष्टि हो

जायेगा। उत्तर—हाँ, क्योंकि संग्रह करनेवाला यह सूत्र बलिम ही है इस प्रकारका अज्ञान पाया जाता है। प्रत्यय उभयें संग्रह नहीं हो सकता है।

ध १/१.१.१११/१०२ सम्माहृती जीवा तमदृष्टं पथमं मग्गहदि। गद्दहदि अगमार् अगमामो मूरा लोकोपा ११९३—सम्माहृति जीव जिह्म भगवान् द्वारा तद्विषय प्रवचनको अज्ञान करता है, किन्तु किसी शक्यको नहीं जानता हुआ दूसरे उपदेशमें विपरीत अर्थका भी अज्ञान कर देता है ११९३ (गो.जो/पू २०) (न सा/पू १०६)।

१० व्याख्यानकी अपेक्षा सूत्र यचन प्रमाण होता है

प का ३/१.१४/३१३/११७ सुत्तेन वचनान् वाहज्जानि च वचनान्—वचनान्। एतथ पुनो दो वि वचनेद्वेना मग्गमग्गमग्ग सुत्तासुत्तादि-ताणमाभावादी। एतथ पुन विहज्जोत्तादकता पथ वचनान्—म-वचनियव्वो पवाहज्जाना—पादी। —सूत्रके द्वारा व्याख्यान काचित हो जाता है परन्तु एक व्याख्याके द्वारा दूसरा व्याख्यान काचित नहीं होता। इत्यन्त उपदेश सम्माहृतिसे प्रस्तावनापक्ष की विम-गोजना नहीं होती यह बचन प्रमाण नहीं है। फिर भी गद्दी दोनों हो उपदेशोंका संग्रह करता चाटि। क्योंकि दोनोंमें-से जसुक उपदेश सुवागुमाती है, इस प्रकारके शास्त्र बचनेका कोई माधन नहीं पाया जाता। फिर भी गद्दी उपदेश सम्माहृतिसे अन्वयान्वयपक्षकी विमगोजना होती है यह पक्ष ही अज्ञान प्रत्यय की रक्षा करना चाहिए। क्योंकि इस प्रकारका उपदेश प्रत्ययसे बना जा रहा है।

११. यथार्थका निर्णय हो जाने पर तूल सुपार लेना चाहिए

ध १/१.१.३०/१४३/२६२ सुत्तादे व मग्गं इमिगग्गं वत्ता—महद्वि। यो येय हवदि मिच्छाहृती ह तणे त्ठुटि ओवो। —सूत्रमें मने प्रकार आचार्योदिकके द्वारा समझमें आने पर भी यदि जो जीव विपरीत अर्थको तादृश कर लीखीन अर्थका अज्ञान नहीं करता तो उसी समयमें वह सम्माहृति जीव मिथ्य इति हो जाता है। (गो.जो/पू २८) (न सा/पू १०६)

ध १/१.६.४२०/१८६/६ एतथ उपदेशं मग्गधूत एद येय वचनान्—सुत्तम—असंयमिदं निचरओ कायव्वो। एदे व दा वि उवरणा सुत्तमिद्धा। —गद्दी पर उपदेशको प्राप्त करके गद्दी व्यत्ययन करता है अन्वय व्याख्यान अतएव है, ऐसा निरवयव करना चाहिए। ये दोनों ही उपदेश सूत्र सिद्ध हैं। (ध १/१.६.६६/२), (ध १/१.६.११६/१६१/६) (ध १/१.६.६६/२/६०८/६), (ध १/१.१०/६)

४. शब्दार्थ सम्बन्धी विषय

१ शब्दमें अर्थ प्रतिपादनकी योग्यता य शका

प सु ३/१००.१०१ सहजयोग्यतासत्तेष्वशास्त्रि शास्त्रादयो वस्तु प्रतिपत्ति-रतयः ११००० यथा मेघदिय मन्ति ११०११—शब्द और अर्थमें वाचक वाच्य शक्ति है। उसमें संकेत होनेमें अर्थात् इन शब्दका वाच्य यह अर्थ है ऐसा ज्ञान हो जानेसे शब्द आदिमें पदार्थोंका ज्ञान होता है। जिस प्रकार मेरु आदि पदार्थ हैं अर्थात् मेरु शब्दके उच्चारण करीसे ही जस्य बोधके माध्यमें स्थित मेरुका ज्ञान हो जाता है। (इसी प्रकार अन्य पदार्थोंको भी समझ लेना चाहिए।)

२ भिन्न-भिन्न शब्दोंके भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं

स ति १/३३/१४४ शब्दभेदश्चेरस्ति अर्थभेदेनाप्यवश्यं भवितव्यम्। —यदि शब्दोंमें भेद है तो अर्थोंमें भेद अवश्य होता चाहिए। (रा वा १/३३/१०/६८/३१)
रा वा १/६/४/३४/१८ शब्दभेदे ध कोऽर्थभेद इति। —शब्दका भेद होनेपर अर्थ अर्थात् वाच्य पदार्थका भेद ध्युय है।

३. जितने शब्द हैं उतने वाच्य पदार्थ भी हैं

आम मो १/२० संज्ञान प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते कश्चित् ॥२७॥ — जो संज्ञावान पदार्थ प्रतिषेध्य कहिए नियेध करने योग्य वस्तु तिस बिना प्रतिषेध कहूँ नाहीं होय है ।

रा, बा १/६५/३४/१८ में उद्धृत (याधन्मात्रा शब्दा तावन्मात्रा परमार्थ भवन्ति) जित्तियमित्ता सदा तित्तियमित्ता होति परम-रथा । — जितने शब्द होते हैं उतने ही परम अर्थ हैं ।

का अ १/२५२ किं बहुणा उत्तेण य जेत्यि-मेत्ताणि सति णामाणि, तेत्तिय-मेत्ता अत्था संति य णियमेण परमरथा । — अधिक कहनेसे क्या १ जितने नाम हैं उतने ही नियमसे परमार्थ रूप पदार्थ हैं ।

४ अर्थ व शब्दमें वाच्यवाचक सम्बन्ध कैसे

क पा १/१३-१४/१९६८-२००/२३८/१ शब्दोऽर्थस्य निस्सम्बन्धस्य कथं वाचक इति चेत् । प्रमाणमर्थस्य निस्सम्बन्धस्य कथं ग्राहकमिति समानमेतत् । प्रमाणार्थयोर्यजनकलक्षण प्रतिबन्धोऽस्तीति चेत्, न, वस्तुमार्थस्यान्तः समुत्पत्तिविरोधात् ॥१९६८॥ प्रमाणार्थयोः स्वभावत एव ग्राह्यग्राहकभावश्चेत्, तर्हि शब्दार्थयोः स्वभावत एव वाच्यवाचकभावः किमिति नेष्यते अविशेषात् । प्रमाणेन स्वभावतोऽर्थसम्बद्धं न किमितीन्द्रियमालोको वा अपेक्ष्यत इति समानमेतत् । शब्दार्थसम्बन्ध कृत्रिमत्वाद्वा पुरुषमापाद्यमपेक्षते ॥१९६९॥

अथ स्यात्, न शब्दो वस्तु धर्म, तस्य ततो भेदात् । नामदे' भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वात् भिन्नार्थक्रियाकारित्वात् भिन्नसाधनत्वात् उपा-योपेयभात्रोपलम्भाच्च । न विशेष्याद्भिन्न विशेषणम्, अव्यवस्थापते । ततो न वाचकभेदाद्वाच्यभेद इति न, प्रकाश्याद्भिन्नमेव प्रमाण-प्रदोष-सूर्य-मणोन्हादीनां प्रकाशकारवोपलम्भाच्च, सर्वथैकत्वे तदनुपल-म्भात् ततो भिन्नोऽपि शब्दोऽर्थप्रतिपादक इति प्रतिपत्तव्यम् ॥१९७०॥ घ ६/४, १, ४५/१७६/३ अथ स्यान् नशब्दो अव्यवस्थापते (ऊपर क. पा में भी यही शका की गयी है) नैष दोष, भिन्नानामपि वस्त्राभरणादीनां विशेषणत्वोपलम्भात् । कुतो योग्यता शब्दार्थ-नाम् । स्वपराम्याम् । न चैकान्तेनान्यत एव तदुत्पत्ति, स्वतो विवर्तमानानामर्थानां सहायकरत्वेन वर्तमानग्राह्यार्थोपलम्भात् । — प्रश्न—शब्द व अर्थमें कोई सम्बन्ध न होते हुए भी वह अर्थका वाचक कैसे हो सकता है ? उत्तर—प्रमाणका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध न होते हुए भी वह अर्थका ग्राहक कैसे हो सकता है ? प्रश्न—प्रमाण व अर्थमें जन्यजनक लक्षण पाया जाता है । उत्तर—नहीं, वस्तुकी सामर्थ्यकी अन्यसे उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है । प्रश्न—प्रमाण व अर्थमें तो स्वभावसे ही ग्राह्यग्राहक सम्बन्ध है । उत्तर तो शब्द व अर्थमें भी स्वभावसे ही वाच्य वाचक सम्बन्ध क्यों नहीं मान लेते ? प्रश्न—यदि इसमें स्वभावसे ही वाच्यवाचक भाव है तो वह पुरुषव्यापारकी अपेक्षा क्यों करता है ? उत्तर—प्रमाण यदि स्वभावसे ही अर्थके साथ सम्बद्ध है तो फिर वह इन्द्रिय-व्यापार व आलाक (प्रकाश) की अपेक्षा क्यों करता है ? इस प्रकार प्रमाण व शब्द दोनोंमें शका व समाधान समान हैं । अतः प्रमाणकी भाँति ही शब्दमें भी अर्थप्रतिपादनकी शक्ति माननी चाहिए । अथवा, शब्द और पदार्थका सम्बन्ध कृत्रिम है । अर्थात् पुरुषके द्वारा किया हुआ है, इसलिए वह पुरुषके व्यापारकी अपेक्षा रखता है । प्रश्न—शब्द वस्तुका धर्म नहीं है, क्योंकि उसका वस्तुसे भेद है । उन दोनोंमें अमेद नहीं कहा जा सकता क्योंकि दोनों भिन्न इन्द्रियों-के विषय हैं, दोनोंकी अर्थ क्रिया भिन्न है दोनोंके कारण भिन्न हैं शब्द उपाय है और वस्तु उपेय है । इन दोनोंमें विशेष्य विशेषण भावकी अपेक्षा भी एकत्र नहीं माना जा सकता, क्योंकि विशेष्यसे भिन्न विशेषण नहीं होता है, कारण कि ऐसा माननेसे अध्यवस्थाकी आपत्ति आती है ।

[घ ६/४, १, ४५/१७६/३ पर यही शका करते हुए शकाकारने उपरोक्त हेतुओंके अतिरिक्त ये हेतु और भी उपस्थित किये हैं— दोनों भिन्न इन्द्रियोंके विषय हैं । वस्तु स्वगिन्द्रियसे ग्राह्य है और शब्द स्वगिन्द्रियसे ग्राह्य नहीं है । दूसरे, उन दोनोंमें अमेद माननेसे 'छूरा' और 'मोदक' शब्दोंका उच्चारण करनेपर क्रमसे मुख बंद होने तथा पूर्ण होनेका प्रसंग आता है, अतः दोनोंमें सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता ।] (और भी वे नय ४/५) अतः शब्द वस्तुका धर्म न होनेसे उसके भेदसे अर्थभेद नहीं हो सकता । उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार प्रमाण, प्रदोष, सूर्य, मणि और चन्द्रमा आदि पदार्थ घट पट आदि प्रकाशयुक्त पदार्थोंसे भिन्न रहकर ही उनके प्रकाशक देखे जाते हैं, तथा यदि उन्हें सर्वथा अभिन्न माना जाय तो उनके प्रकाशय-प्रकाशकभाव नहीं बन सकता है; उसी प्रकार शब्द अर्थसे भिन्न होकर भी अर्थका वाचक होता है, ऐसा समझना चाहिए । दूसरे, विशेष्यसे अभिन्न ही विशेषण हो यह कोई नियम नहीं, क्योंकि विशेष्यसे भिन्न भी वस्त्राभरणादिकोंको विशेषणता पायी जाती है । (जैसे-घड़ीवाला या लाल पगड़ीवाला) प्रश्न—शब्द व अर्थ में यह योग्यता कहाँसे आती है कि नियत शब्द नियतही अर्थका प्रति-पादक हो ? उत्तर—स्व व परसे उनके यह योग्यता आती है । सर्वथा अन्यसे ही उसकी उत्पत्ति हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि, स्वयं वर्तने-वाले पदार्थोंकी सहायतासे वर्तते हुए बाह्य पदार्थ पाये जाते हैं ।

क पा १/१३-१४/१९६८-२००/२३८/२६८ अथ स्यात् न पदवाक्यान्वर्थ-प्रतिपादिकानि, तेषामसत्त्वात् । कुतस्तदसत्त्वम् । [अनुपलम्भात् । सोऽपि कुत ।] वर्णानां क्रमोत्पन्नानामनिरव्यानामेतेषां नामधेयाति (पाठ छूटा हुआ है) समुदायाभावात् । न च तत्त्वमुदय (पाठ छूटा हुआ है) अनुपलम्भात् । न च वर्णार्थप्रतिपत्ति, प्रतिवर्णमर्थप्रति-पत्तिप्रसंगात् । नित्यानिर्योभयपक्षेऽपि संकेतग्रहणानुपपत्तेरच न पद-वाक्येऽर्थोऽर्थप्रतिपत्ति । नामकेति शब्दोऽर्थप्रतिपादक अनुप-लम्भात् । ततो न शब्दार्थप्रतिपत्तिरिति सिद्धम् ॥१९७५॥ न च वर्ण-पद-वाक्यव्यतिरिक्त निरव्योक्तम् अमूर्तो निरवयव सर्वगत अर्थप्रतिपत्तिनिमित्तं स्फोट इति, अनुपलम्भात् ॥१९७६॥ न; महि-रङ्गशब्दात्मकनिमित्तं च (तेष्व) क्रमेणोत्पन्नवर्णप्रत्ययेभ्यः अक्रम-स्थितिम्य समुत्पन्नपदवाक्याभ्यामर्थविषयप्रत्ययोरुत्पत्त्युपलम्भात् । न च वर्णप्रत्ययानां क्रमोत्पन्नानां पदवाक्यप्रत्ययोरुत्पत्तिनिमित्तानामक्रमेण स्थितिविरुद्धा उपलम्भ्यमानत्वात् । न चानेकान्ते एकान्तवाद इव संकेतग्रहणमनुपपन्नम् सर्वव्यवहाराणां [मनेकान्त एवं मुष्टत्वात् । तत्] वाच्यवाचकभावो घटत इति स्थितम् । — प्रश्न—क्रमसे उत्पन्न होनेवाले अनित्य वर्णोंका समुदाय असत् होनेसे पद और वाक्योंका ही जब अभाव है, तो वे अर्थप्रति-पादक कैसे हो सकते हैं ? और केवल वर्णोंसे ही अर्थका ज्ञान हो जाय ऐसा है नहीं, क्योंकि 'घ' 'ट' आदि प्रत्येक वर्णसे अर्थके ज्ञानका प्रसंग आता है । सर्वथा निरय, सर्वथा अनित्य और सर्वथा उभय इन तीनों पक्षोंमें ही संकेतका ग्रहण नहीं बन सकता इसलिए पद और वाक्योंसे अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि संकेत रहित शब्द पदार्थका प्रतिपादक होता हुआ नहीं देखा जाता । वर्ण, पद और वाक्यसे भिन्न, नित्य, क्रमरहित, अमूर्त निरवयव सर्वगत 'स्फोट' नामके तत्त्वको पदार्थोंकी प्रतिपत्तिका कारण मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि, उस प्रकारकी कोई वस्तु उपलब्ध नहीं हो रही है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, बाह्य शब्दात्मक निमित्तोंसे क्रमपूर्वक जो 'घ' 'ट' आदि वर्णज्ञान उत्पन्न होते हैं, और जो ज्ञानमें अक्रमसे स्थित रहते हैं, उनसे उत्पन्न होनेवाले पद और वाक्योंसे अर्थ विषयक ज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है । पद और वाक्योंके ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारणभूत तथा क्रमसे उत्पन्न वर्ण विषयक ज्ञानोंकी अक्रमसे स्थिति माननेमें भी विरोध नहीं आता, क्योंकि, वह उप-लब्ध होती है । तथा जिस प्रकार एकान्तवादमें संकेतका ग्रहण नहीं

बनता है, उसी प्रकार ग्रन्थों-तमें भी न बनता हो, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि समस्त व्यवहार अनेकान्तवादमें ही सुवष्टित होते हैं। (अथर्वि वर्ण व वर्णज्ञान कथंचित् भिन्न भी है और कथंचित् अभिन्न भी) अतः वाच्यवाचक भाव बनता है, यह सिद्ध होता है।

५ शब्द अल्प हैं और अर्थ अनन्त हैं

रा बा १/२६/४/८७/२३ शब्दार्थ सर्वे संख्येया एव, वृथपययिया पुन संख्येयाऽसंख्येयानन्तमेव । —सर्व शब्द तो संख्यात हो होते हैं। परन्तु वृथपययि की पर्यायिक संख्यात असंख्यात व अनन्तमेव होते हैं।

६ अर्थ प्रतिपादनकी अपेक्षा शब्दमें प्रमाण व नयपना

रा बा ४/४२/१३/२४/२२ यदा बह्वयमणि कालादिभिरस्तिरवादीनां धर्माणां भेदेन विवक्षा तदेकस्य शब्दस्यानेकार्थप्रत्यायनशरण्याभावात् क्रमः । यदा तु तेषामेव धर्माणि कालादिभिरभेदेन वृत्तमारम्भरूपमुच्यते तदेकेनापि शब्देन एकधमप्रत्यायनमुखेन तदाम्भवात्प्रत्यय अनेकाशेषरूपस्य प्रतिपादनसंभवादयोग्यपक्षम् । तत्र यदा योगपक्षे तदा सकलावेशः, स एव प्रमाणमिष्यमुच्यते । यदा तु क्रम तदा विकलावेशः स एव नय इति व्यपदिश्यते । —जब अस्तिरव आदि अनेक धम कालादि को अनेका भिन्न-भिन्न विवक्षित होते हैं, उस समय एक शब्दमें अनेक अर्थोंके प्रतिपादनकी शक्ति न होनेसे क्रममें प्रतिपादन होता है। इसे विकलावेश कहते हैं। परन्तु जब उन्होंने अस्तिरवादि धर्मोंको कालादिककी दृष्टिसे अमेव विवक्षा होती है तब एक भी शब्दके द्वारा एक धर्ममुखेन तादात्म्य रूपसे एकत्वको प्राप्त सभी धर्मोंका अवलम्ब भावसे युगपत् कथन हो जाता है। यह सकलावेश कहना जाता है। विकलावेश नय रूप है और सकलावेश प्रमाण रूप है।

७ शब्दका अर्थ देशकालानुसार करना चाहिए

स म १/१०/२० में उद्धृत "एवाभाविकसामय्यसमयान्तरमर्थबोध निश्चयन शब्दः ।" —स्वाभाविक शक्ति तथा संकेतसे अर्थका ज्ञान करानेवालेको शब्द कहते हैं।

८, भिन्न क्षेत्र-कालादिमें शब्दका अर्थ भिन्नभी होता है

१ कालकी अपेक्षा

स म १/१७०/३० कालापेयया पुनर्यथा जैनानां प्रायश्चित्तविधौ प्राचीनकाले पद्मगुरुशब्देन शतमशीत्यधिकमुपवासानामुच्यते स्म, सावतकाले तु सविपरीते तेनैव पद्मगुरुशब्देन उपवासत्रयमेव संकेत्यते जीतकृष्णव्यवहारानुसारात् । —ज तत्कृष्ण व्यवहारके अनुसार प्रायश्चित्त विधिमें प्राचीन समयमें "पद्मगुरु" शब्दका अर्थ एक सौ अस्मौ उपवास किया जाता था, परन्तु आजकल उसी "पद्मगुरु" का अर्थ केवल तीन उपवास किया जाता है।

२ शास्त्रोंकी अपेक्षा

स म १४/१७६/४ शास्त्रापेक्षया तु यथा पुराणेषु द्वादशीशब्देनैकादशी । त्रिपुरार्णवे च अलिशब्देन मदराभिषिक् च मैथुनशब्देन मधुसर्पि-पोर्ग्रहणम् इत्यादि । —पुराणोंमें उपवासके नियमोंका वर्णन करते समय "द्वादशी" का अर्थ एकादशी किया जाता है, शाक्त लोगोंके ग्रन्थोंमें "अलि" शब्द मदिरा और "मैथुन" शब्द शहद और घीके अर्थमें प्रयुक्त होते हैं।

३ क्षेत्रकी अपेक्षा

स म १४/१७८/२८ चौरशब्दोऽन्यत्र तस्करे रूढोऽपि वाणिज्यायानामोदने प्रसिद्धः । यथा च कुमारशब्दः पूषदेशे आश्रित्यमासे रूढः । एवं कर्कटशब्दोऽप्येव सत्तद्देशेषापेक्षया योन्यादिवाचका ज्ञेया । —"चौर" शब्दका साधारण अर्थ तस्कर होता है, परन्तु दक्षिण देशमें इस शब्दका अर्थ चावल होता है। कुमार शब्दका सामान्य अर्थ युवराज होनेपर भी पूर्व देशमें इसका अर्थ आश्रित्य मात् किया

जाता है। "कर्कटो" शब्दका अर्थ ककड़ी होनेपर भी कहीं-कहीं इसका अर्थ योनि किया जाता है।

६ शब्दार्थकी गौणता सम्बन्धी उदाहरण

स म ३ ७०/४ उक्तिश्वाचाच्यतैकाभ्तेनावाच्यमिति मुज्यते । इति स्वामिसमन्तभद्राचार्यवचनं कथं सघटते । न तदर्थपरिज्ञानात् । अयं बहुलु तदर्थः, सत्त्वाद्योर्कैर्धर्ममुखेन वाच्यमेव वस्तु युगपत्प्रधान-भूतसत्त्वासारवोभयधमविविचित्रनखेनावाच्यम् । —प्रश्न—अवाच्यता-का जो कथन है वह एकान्त रूपसे अकथनीय है ऐसा माननेसे 'अवा-च्यता युक्त न होगी', यह भी समन्तभद्राचार्यका कथन कैसे संगत होगा । उत्तर—ऐसी शका भी नहीं की जा सकती, क्योंकि तुमने स्वामी समन्तभद्राचार्यजीके वचनोंको नहीं समझा । उस वचनका निरवयव रूपसे अर्थ यह है कि सत्त्व आदि धर्मोंमें-से एक-एक धर्मके द्वारा जो पदार्थ वाच्य है अर्थात् वहने योग्य है, वही पदार्थ प्रधान भूत सत्त्व असत्त्व इस उभय धर्म सहित रूपसे अवाच्य है।

रा बा २/७/४/११/२ रूढिशब्देषु हि क्रियोपात्तकाला व्युरपत्त्यर्थेयं न सन्त्वम् । यथा गच्छतीति गौरिति ।

रा बा २/१२/२/१२६/३० कथं तद्व्यवस्थितं निष्पत्तिः 'व्रत्यन्तीति व्रसा' इति । व्युरपत्तिमात्रमेव नार्थः प्राधान्येनाश्रयते गाशब्दप्रवृत्ति-वत् । एवंरूढिशेषोपललाभात् कविष्वेव वर्तते । —जितने रूढि शब्द हैं उनकी भूत भविष्यत् वर्तमान कालके आवेदन जा भी क्रिया है वे केवल उन्हें सिद्ध करनेके लिए हैं। उनसे जो अर्थ व्योत्पत्ति होता है वह नहीं लिया जाता है। प्रश्न—जो भव्योत्पत्ति होकर गति करे सो उस यह व्युरपत्ति अर्थ ठीक नहीं है। (क्योंकि गर्भस्थ अण्डस्थ आदि जोष व्रस होते हुए भी प्रवभात होकर गमन नहीं करते। उत्तर—व्रत्यन्तीति व्रसा 'यह केवल "गच्छतीति गौ" की तरह व्युरपत्ति मात्र है। (रा बा २/१३/१/२७) (रा बा २/३६/३/१४४)

५ आगमकी प्रामाणिकतामें हेतु

१. आगमकी प्रामाणिकताका निर्देश

ध १/१.१.७४/३१४/४ वेरेश्वाभागात्प्रत्ययस्येव । —जैसे प्रत्यय स्वभावतः प्रमाण है उसी प्रकार आर्ष भी स्वभावतः प्रमाण है।

२. वक्ताकी प्रामाणिकतासे वचनकी प्रामाणिकता

ध १/१.१.२२/१६६/४ वक्तृप्रामाण्याद्वचनप्रामाण्यम् । —वक्ताकी प्रमाणता-से वचनमें प्रमाणता आती है। (ज प १३/८४)

प वि ४/१० सर्वविद्वोतरागोक्तो धर्मः सूतृता वजेत् । प्रामाण्यतो यत् पुंसो वाचः प्रामाण्यमिष्यते ॥१०॥ —जो धर्म सर्वज्ञ और वीतरागके द्वारा कहा गया है वही यथार्थताको प्राप्त हो सकता है, क्योंकि पुरुष-की प्रमाणतासे ही वचनमें प्रमाणता मानी जाती है।

३ आगमकी प्रामाणिकताके उदाहरण

ध ४/१.४.३२०/३२/११ तं कथं गन्वदे । आहुरियपर परागदोषवेसादो । —यह कैसे जाना जाता है कि उपशम सम्प्रत्ययक शलाकाएँ पशुपमके अखण्डतासे भाग मात्र होती हैं । उत्तर—आचार्य पर-म्परागत उपदेशसे यह जाना जाता है। (ध ४/१.६.३६/३/४) (ध १४/१६४/६, १६६/३, १७०/१३, १७३/१६, २०८/१९, २०९/११, ३७०/१०, ४२०/२)

ध ६/१.६-१.२८/६४/२ एहदियाविस्तु अवजत्तचेट्टेसु वधं सुहवदुहवभावा गजज्वते । न सत्यं तैसिमव्यवस्थाणमागमेण अरियसत्तिदी । —प्रश्न—अव्यक्त चेष्टावाले एकेन्द्रिय आदि जीवोंमें सुभग और दुर्भग भाव कैसे जाने जाते हैं । उत्तर—नहीं क्योंकि एकेन्द्रिय आदिमें अव्यक्त रूपसे विद्यमान उन भावोंका अस्तित्व आगमसे सिद्ध है।

ध ७/२.१.६६/६६/८ न दसणमरिय विसयाभावाद्दो ।

ध ७/२.१.६६/६८/१ अरिय दसणं, सुतम्मिअदुक्कम्मणिहसाददो । एसादिउवसहासुत्तदसणादो च । —प्रश्न—दशन है नहीं, क्योंकि

उसका कोई नियम हो नहीं है । उत्तर—दर्शन है क्योंकि, सूत्रमें आठ कर्मोंका निर्देश किया गया है । इस प्रकारके अनेक उपसंहार सूत्र देखनेसे भी, यही सिद्ध होता है कि दर्शन है ।

४ अर्हत् व अतिशयज्ञानवालोंके द्वारा प्रणीत होनेके कारण

रा बा ८/१६/६२ तदसिद्धिरिति चेत्, न, अतिशयज्ञानाकरत्वात् ॥१६॥
अन्यप्राप्त्यतिशयज्ञानदर्शनादिति चेत्, न अतएव तेषां संभवात् ॥१७॥ अर्हत्तमेव प्रवचनं तेषां प्रभव । उक्तं च—सुनिश्चितं न परतन्त्रयुक्तिषु स्फुरन्ति या काश्चन सूक्तसपद । तत्रैव ता पूर्व-महार्णवोत्थिता जगद्व्यामर्णं जिनवाक्यविप्रुष (ह्रात्रि १/१) प्रद्वामात्र-मिति चेत्, न; भूयसासुपलब्धे रत्नाकरवत् ॥१८॥ तदुद्भवत्वात्तेषामपि प्रामाण्यमिति चेत्, न, नि सारत्वात् काचादिवत् ॥१९॥ —प्रश्न—अर्हत्का आगम पुरुषकृत होनेसे अप्रमाण है । उत्तर—ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि वह अतिशय ज्ञानोंका आकार है । प्रश्न—अतिशय ज्ञान अन्यत्र भी देखे जाते हैं । अतएव अर्हत् आगमको ही ज्ञानका आकार कहना उपयुक्त नहीं है । उत्तर—अन्यत्र देखे जानेवाले अतिशय ज्ञानोंका मूल उद्भवस्थान अर्हत् प्रवचन ही है । कहा भी है कि यह अच्छी तरह निश्चित है कि अन्य मतोंमें जो युक्तिवाद और अच्छी बातें बमकली हैं वे तुम्हारी ही हैं । वे चतुर्दश पूर्व रूपी महासागरसे निकली हुई जिनवाक्य रूपी बिन्दुएँ हैं । प्रश्न—यह सर्व बातें केवल ब्रह्मात्र गम्य हैं । उत्तर—ब्रह्मा-मात्र गम्य नहीं अपितु युक्तिसिद्ध हैं जैसे गाँव, नगर या बाजारोंमें कुछ रत्न देखे जाते हैं फिर भी उनकी उत्पत्तिका स्थान रत्नाकर समुद्र ही माना जाता है । प्रश्न—यदि वे व्याकरण आदि अर्हत्त्व-वचनसे निकले हैं तो उनकी तरह प्रमाण भी होने चाहिए । उत्तर—नहीं, क्योंकि वे निस्तार हैं । जैसे नकली रत्न क्षार और सोप आदि भी रत्नाकरसे उत्पन्न होते हैं परन्तु नि सार होनेसे रत्नाकर हैं । उसी तरह जिनशाशन समुद्रसे निकले वेदादि निस्तार होनेसे प्रमाण नहीं हैं ।

रा बा ६/२७/६३२ अतिशयज्ञानदृष्टत्वात्, भगवत्तामर्हतामतिशय-वज्ज्ज्ञानं युगपत्सर्वविभासनसमर्थं प्रत्यक्षम्, तेन दृष्टं तद्वदृष्टं यच्छास्त्रं तद् यथार्थोपदेशकम्, अतस्तत्प्रमाण्याद् ज्ञानावरणाचासन्न-नियमप्रसिद्धिः । —शास्त्र अतिशय ज्ञानवाले युगपत् सर्वविभासन-समर्थं प्रत्यक्षज्ञानो कबलीके द्वारा प्रणीत है, अतः प्रमाण है । इसलिये शास्त्रमें बणित ज्ञानावरणादिकके आसन्नके कारण आगमानुगृहीत है ।

गो जी/जी प्र १६/४३८/१ किं बहुना सर्वतत्त्वानां प्रवक्तृरूपे आप्ते सिद्धेसति तद्वाक्यस्यागमस्य सूक्ष्मात्तरितद्वार्येषु प्रामाण्यसुप्रसिद्धे ।

—बहुत कहने करि कहा । सर्व तत्त्वनिष्ठा बक्ता पुरुष जो है आप्ला की सिद्धि होतै तिस आप्लके वचन रूप जो आगम ताकी सूक्ष्म अत-रित दुरो पदार्थनिर्विषे प्रमाणताकी सिद्धि हो है ।

रा बा/हि ६/२७/६२७ अर्हत् सर्वज्ञ के वचन प्रमाणभूत हैं स्वभाव-विषे तर्क नहीं ।

५ वीतराग द्वारा प्रणीत होनेके कारण

घ १/१,२,२२/१६६/६ विगतलोपदोषावरणत्वात् प्राप्ताद्येवस्तुविषयबोध-स्तस्य व्याख्यातेति प्रतिपत्तव्यम् अन्यथास्यापौरुषेयत्वस्यापि पौरु-पेयवदप्रामाण्यप्रसङ्गात् —जिसने सम्पूर्ण भावकर्म व द्रव्यकर्मको दूर कर देनेसे सम्पूर्ण वस्तु विषयक ज्ञानको प्राप्त कर लिया है वही आगमका व्याख्याता हो सकता है । ऐसा समझना चाहिए । अन्यथा पौरुषेयत्व रहित इस आगमको भी पौरुषेय आगमके समान अप्रमाण-ताका प्रसंग आ जायेगा ।

घ ३/१,२,२१/१०—११/१२ आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयं विदुः । त्यक्त-दोषोऽनृत बाधय न मूयाद्भवत् ॥१०॥ रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वानयमुच्यते ह्यनृतम् । यस्स तु नैते दोषास्तस्यनृतकाणं नास्ति ।

—आप्तके वचनको आगम जानना चाहिए और जिसने जन्म जरादि अठारह दोषोंका नाश कर दिया है उसे आप्त जानना चाहिए । इस प्रकार जो त्यक्त दोष होता है, वह असत्य वचन नहीं बोलता है, क्योंकि उसके असत्य वचन बोलनेका कोई कारण ही सम्भव नहीं है ॥१०॥ रागसे, द्वेषसे, अथवा मोहसे असत्य वचन बोला जाता है, परन्तु जिसके ये रागादि दोष नहीं हैं उसके असत्य वचन बोलनेका कोई कारण भी नहीं पाया जाता ॥१०॥ (घ १०/४,२,४६०/२८०/२)

घ १०/४,२,१२१/३८२/१ पमाणत्तं कुदो णव्वदे । रागदोषमोहभावेण पमाणीभूदपुरिसपर पराए आगमत्तादो । —प्रश्न—सूत्रकी प्रमाणता कैसे जानी जाती है । उत्तर—राग, द्वेष और मोहका अभाव हो जाने-से प्रमाणीभूत पुरुष परम्परासे प्राप्त होनेके कारण उसकी प्रमाणता जानी जाती है ।

स म १७/२३७/६ तदेवमाप्तेन सर्वं विद्या प्रणीत आगम प्रमाणमेव । तदप्रामाण्यं हि प्रणायकदोषनिवर्धनम् । —सर्वज्ञ आप्त-द्वारा बनाया आगम ही प्रमाण है । जिस आगमका बनानेवाला सदोष होता है, वही आगम अप्रमाण होता है ।

अन घ २/२० जिनोक्ते वा कुतो हेतुमाद्यगन्धोऽपि शङ्क्यते । रागादिना विना को हि कराति वितर्धं वच ॥२०॥—कौन पुरुष होगा जो कि रागद्वेषके बिना वितर्ध मिथ्या वचन बोले । अतएव वीतरागके वचनोंमें अज्ञ मात्र भी बाधाकी सम्भावना किस तरह हो सकती है ।

६. गणधरादि आचार्यों-द्वारा कथित होनेके कारण

क पा १/१,१६/४११६/१६३ णेदाओ गाहाओ सुत्तं गणहरपत्तेयमुद्ध सुद-केवल-अभिण्णदसपुक्कोमु गुणहरभट्टारयस्स अभावादो, ण, णिद्धोस-पक्खरसहेउपमाणेहि सुत्तेण सारिस्सत्तमारिथ ति गुणहरादिरियगाहाणं पि सुत्तत्तुवलभावादो एदं सव्वं पि सुत्तलवत्तेण जिनवयणकमल-विणिगयअर्थपदानं चैव स भवइ ण गणहरसुहर्वाणिगयगंधरयणाए, ण सच्च (सुत्तं) सारिच्छमस्तिदूणं तथं वि सुत्तच्च पडि विरोह(भावा)दो ।

—प्रश्न—(कथया प्राभूत सम्बन्धी) एक सौ अस्सी गाथाएँ सूत्र नहीं हो सकती हैं, क्योंकि गुणधर भट्टारक न गणधर हैं न प्रत्येक बुद्ध हैं, न श्रुतकेवली हैं, और न अभिन्न दशपूर्वी ही हैं । उत्तर—नहीं, क्योंकि गुणधर भट्टारककी गाथाएँ निर्दोष हैं, अव्यय अक्षरवाली हैं, सहस्रक हैं, अतः वे सूत्रके समान हैं, इसलिए गुणधर आचार्योंकी गाथाओंमें सूत्रत्व पाया जाता है । प्रश्न—यह सम्पूर्ण सूत्र लक्षण तो जिनदेवके मुखकमलसे निकले हुए अथ पदोंमें ही सम्भव हैं, गणधरके मुखसे निकली ग्रन्थ रचनामें नहीं । उत्तर—नहीं, क्योंकि गणधरके वचन भी सूत्रके समान होते हैं । इसलिए उनके वचनोंमें सूत्रत्व होनेके प्रति विरोधका अभाव है ।

७ प्रत्यक्ष ज्ञानियोंके द्वारा प्रणीत होनेके कारण

स सि ८/२६/४०५ व्याख्यातो सप्रपञ्च बन्धपदार्थ । अवधिमन पर्यय-केवलज्ञानप्रत्यक्षप्रमाणगम्यस्तदुपदिष्टागमानुमेय । —इस प्रकार विस्तारके साथ बन्ध पदार्थका व्याख्यान किया । यह अवधिज्ञान, मन पर्यय ज्ञान और केवलज्ञानरूप प्रत्यक्ष-प्रमाण-गम्य है, और इन ज्ञानवाले जीवोंके द्वारा उपदिष्ट आगमसे अनुमेय है ।

८ आचार्य परम्परासे आगत होनेके कारण

घ १३/५ ४,१२१/३८२/१ पमाणत्तं कुदो णव्वदे । पमाणीभूदपुरिसपर-पराए आगदत्तादो । —प्रश्न—सूत्रमें प्रमाणता कैसे जानी जाती है । उत्तर—प्रमाणीभूत पुरुष परम्परासे प्राप्त होनेके कारण उसकी प्रमाणता जानी जाती है ।

९. समन्वयात्मक होनेके कारण

क पा १/१,१६/४६३/२२/३ तं च उव्वदे संहिय वत्तव्वं । —उपदेश ग्रहण करके अर्थ कहना चाहिए ।

घ १/१ १,२७/२२२/४ दोहं वयणाण मज्जे क वयण सच्चमिदि चे सुदकेवली केवली वा जाणादि । —प्रश्न—दोनों प्रकारके वचनोंमें-से

किसको सरय माना जाये । उत्तर—इस बातको केबली या श्रुतकेबली हो जान सकते हैं । (घ १/१.१.३७/२६२/१), (घ ७/२/११.७६/४४०/४)

घ १/४.१.७१/३३३/३ दोण्ट सुत्तान् विरोदे संतैत्थप्पावसंभणस्स नाइय-
त्तादो । —दो सुत्रोंके मध्य विरोध होनेपर पुष्पीका अवलम्बन करना
ही न्याय है । (घ १/४.१.४४/१२६/४), (घ १४/४.६.११६/१६१/६)

घ १४/४.६.११६/२१६/११ सच्चमेदमेक्केणैय होयव्वमिदि, किन्तु अणैय
होदव्वमिदिण वट्टमाणकाले निच्छओ कावु सण्णज्जे जिण-गणहर-
पत्तैयमुद-पणसमण मुदकेवल्लिआदोणमभावादो । —यह सरय है कि
इन दोनोंमें-से कोई एक अप्रपञ्चत्व होना चाहिए किन्तु यही अप्र-
पञ्चत्व होना चाहिए इसका वर्तमान कालमें निश्चय करना शक्य नहीं
है, क्योंकि इस समय जिन, गणधर, प्रत्येकमुद्र, प्रज्ञाभ्रमण, और
श्रुतकेबली आदिका अभाव है । (गो जो/जो प्र २८/६१६/२-४)
(और भी दे आगम ३/६)

१० विचित्र द्रव्यों आदिका प्ररूपक होनेके कारण

प्र सा/त प्र २३६ आगमेन तावत्सर्वग्यपि द्रव्याणि प्रमोयन्ते विचित्र
गुणपर्यायविशिष्टाणि च प्रतीयन्ते, सहकमप्रवृत्तानेकधर्मव्यापकाने-
कान्तमयत्वेनैवागमस्य प्रमात्रोपपत्ते । —आगम-द्वारा सभी द्रव्य
प्रमेय (ज्ञेय) होते हैं । आगमसे वे द्रव्य विचित्र गुण पर्यायवाले प्रतीत
होते हैं क्योंकि आगमको सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनेक धर्मोंमें
व्यापक अनेकान्तमय होनेसे प्रमाणताकी उपपत्ति है ।

११ पूर्वापर अविरोधी होनेके कारण

अष्टसहस्री पृ ६२ (निर्णय सागर बम्बई) "अविरोधश्च यस्मादिष्ट
(प्रयोजनभूत) मोक्षादिक तत्त्व ते प्रसिद्धेन प्रमाणेन न बाध्यते ।
तथा हि यत्र यस्याभिमतं तत्त्वं प्रमाणेन न बाध्यते स तत्र युक्ति-
शास्त्राविरोधी वाक् ।" —इष्ट अर्थात् प्रयोजनभूत मोक्ष आदितत्त्व
किसी भी प्रसिद्ध प्रमाणसे बाधित न होनेके कारण अविरोधी हैं ।
जहाँपर जिसका अभिमत प्रमाणसे बाधित नहीं होता, वह वहाँ युक्ति
और शास्त्रसे अविरोधी बचनवाला होता है ।

अन घ २/१८/१३३ दृष्टेऽप्यसतो वाक्यमनुमेयेऽनुमानत । पूर्वापरा,
विरोधेन परोक्षे च प्रामाण्यताम् । १८॥ —आगममें तीन प्रकारके पदार्थ
बताये हैं—दृष्ट, अनुमेय और परोक्ष । इनमें-से जिस तरहके पदार्थको
बतानेके लिए आगममें जो वाक्य आया हो उसको उसी तरहसे प्रमाण
करना चाहिए । यदि दृष्ट विषयमें आया हो तो प्रत्यक्षसे और अनुमेय
विषयमें आया हो तो अनुमानसे तथा परोक्ष विषयमें आया हो तो
पूर्वापरका अविरोध देखकर प्रमाणित करना चाहिए ।

क पा १/१.१६/४३०/४४/४ नामसण्णिदाण पदवक्काणं प्रमाणत्त ।
ण, तेषु विस्वबाणाणुवत्तादो । —प्रश्न—नाम शब्द से बोधित होने
वाले पद और वाक्योंको प्रमाणता कैसे । उत्तर—नहीं, क्योंकि, इन
पदोंमें विस्ववाद नहीं पाया जाता, इसलिए वे प्रमाण हैं ।

१२ युक्तिते वाधिन नहीं होनेके कारण

अष्टसहस्री पृ ६२ (नि सा बम्बई) "यत्र यस्याभिमतं तत्त्वं प्रमाणेन
न बाध्यते स तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।" —जहाँ जिसका अभिमत
तत्त्व प्रमाणसे बाधित नहीं होता, वहाँ वह युक्ति और शास्त्रसे अवि-
रोधी बचनवाला है ।

ति प ७/६११/७६६/३ तदो ण एथ इदमित्थमेवेति एयत्तपरिग्गहेण
असग्गाहो कायव्वो, परमपुरुषं परागउवएसस्स जुत्तिवलेण विहृत्तावे-
धुमसत्तिपत्तादो । —"यह ऐसा ही है" इस प्रकार एकान्त कदाग्रह नहीं
करना चाहिए, क्योंकि गुरु परम्परासे आये उपदेशको युक्तिके बलसे
विधटित नहीं किया जा सकता ।

घ ७/२.१.६६/१८/१० आगमप्रमाणेण होवु णाम दसणस्स अत्थित्त ण
जुत्तो च । ण, जुत्तोहि आगमस्स बाह्माभावादो आगमेण विज्जत्ता

जुत्ती ण बाहिज्जदि ति चे । मच्चं ण बाहिज्जदि जम्मा जुत्तो, किन्तु
इमा बाहिज्जदि जत्तात्ताभावादो । —प्रश्न—आगम प्रमाणमें भन्ने
दर्शनका अस्तित्व हो, किन्तु युक्तिते सा दर्शनका अस्तित्व मिट
नहीं होता । उत्तर—होता है, क्योंकि युक्तियोंमें आगमकी बाधा
नहीं होती । प्रश्न—आगममें भी तो जाल् अर्थात् उत्तम युक्तिकी
बाधा नहीं हानी चाहिए । उत्तर—अप्रपञ्च ही आगमसे युक्तिकी
बाधा नहीं होती किन्तु प्रस्तुत युक्तिकी बाधा अवश्य होती है,
क्योंकि वह उत्तम युक्ति नहीं है ।

घ १२/४.२.१३.६६/३६६/१३ ण च जुत्तिविमट्ठत्तादो ण सुचमेदमिदि
कोत्तं सण्णज्जे, सुत्तविरट्ठणं जुत्तिताभावादो । ण च अप्पमाणेण
प्रमाणं बाहिज्जं, विरोहादो । —प्रश्न—युक्ति विरुद्ध होनेमें यह सूत्र
ही नहीं है । उत्तर—ऐसा कहना शक्य नहीं है । क्योंकि जो युक्ति
सूत्रके विरुद्ध हो वह वास्तवमें युक्ति ही सम्भव नहीं है । इसके अति-
रिक्त अप्रमाणके द्वारा प्रमाणकी बाधा नहीं पहुँचायी जा सकती
क्योंकि वैसा हानमें विरोध है । (गा जो/जो प्र १६६/४३६/१६)

घ १२/४.२.१३.६६/४६६/१४ ण च सुत्तपटिद्वं वक्कवाण होदि, वक्कवा-
णाभासहत्तादो । ण च जुत्तोऽपि सुत्तस्म माहा नंभमदि सयनवाहादो-
दस्स सुत्तनवएससो । —सूत्रके प्रतिकूल व्याख्यान होता नहीं है ।
क्योंकि वह व्याख्यानभाग कहा जाता है । प्रश्न—यदि कहा जाय
कि युक्तिके सूत्रको बाधा पहुँचायी जा सकती है । उत्तर—या यह
कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो समस्त बाधाओंसे रहित है
उसकी सूत्र मत्ता है । (घ १४/४.६.४४२/४६६/१०)

१३. प्रथमानुयोगकी प्रामाणिकता

नोट—भ आ/प्रतमें स्थल स्थानपर अनेकों कथानक दृष्टान्त रूपमें
दिये गये हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि प्रथमानुयोग जो बहुत पीरिते
सिपिबद्ध हुआ वह पहलेसे आचार्योंको ज्ञात था ।

६ आगमकी प्रामाणिकताके हेतुओं सम्बन्धी शका-समाधान

१ अर्वाचीन पुरुषों-द्वारा लिखित आगम प्रामाणिक कैसे हो सकते हैं

घ १/१.१.२२/१६७/१ अप्रमाणमिदानीं तन आगम आरातीयपुरुष-
व्याख्यातार्थत्वादिति चेन्न ऐदयुगिनिज्ञानविज्ञानसंपन्नतया प्राप्त-
प्रामाण्यराचार्यव्यर्यायतार्थत्वात् । कथं द्रष्टव्यानां सरयवादिब-
मिति चेन्न यथाभूतव्याख्यातार्थां तदविरोधात् । प्रमाणीभूत-
गुरुपर्वक्रमेणायातोऽयमर्थ इति कथमवसोमत् इति चेन्न, दृष्टविषये
सर्वत्राविसवादात् । अष्टविषयेऽप्यविसवादिनागमभावेनैकत्वे सति
मुनिश्चितार्थभयद्वयाधकप्रमाणकरवात् । ऐदंयुगिनिज्ञानविज्ञानसंपन्न-
भूयसामाचार्याणामुपदेशात् तदवगते । —प्रश्न—आधुनिक आगम
अप्रमाण है, क्योंकि अर्वाचीन पुरुषोंने इसके व्याख्यानका अर्थ किया
है । उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस काल सम्बन्धी
ज्ञान-विज्ञानसे युक्त होनेके कारण प्रमाणताकी प्राप्त आचार्योंके द्वारा
इसके अर्थका व्याख्यान किया गया है, इसलिए आधुनिक आगम
भी प्रमाण है । प्रश्न—छद्मस्थोंके सरयवादीपना कैसे माना जा सकता
है । उत्तर—नहीं, क्योंकि अतके अनुसार व्याख्यान करनेवाले आचार्यों
के प्रमाणता माननेमें विरोध नहीं है । प्रश्न—आगमका विभक्षित
अर्थ प्रामाणिक गुरुपरम्परासे प्राप्त हुआ है यह कैसे निश्चित किया
जाये । उत्तर—नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षभूत विषयमें तो सब जगह वि-
सवाद उपपन्न नहीं होनेसे निश्चय किया जा सकता है । और परोक्ष
विषयमें भी, जिसमें परोक्ष विषयका वर्णन किया गया है वह भाग
अविसवादी आगमके दूसरे भागोंके साथ आगमकी अपेक्षा एकताको
प्राप्त होनेपर अनुमानादि प्रमाणोंके द्वारा याधक प्रमाणोंका अभाव
मुनिश्चित होनेसे उसका निश्चय किया जा सकता है । अथवा

आधुनिक ज्ञान विज्ञानसे युक्त आचार्योंके उपदेशसे उसकी प्रामाणि-
कता जाननी चाहिए ।

क पा १/१.१४/४४/८२ जिणउवदिट्ठासो होवु दन्वागमो पमाण,
किन्तु अप्पमाणीभूदपुरिसव्वोलोकमेण आगयत्तादो अप्पमाणं बट्ट-
माणकालदन्वागमो, त्ति ण पच्चवट्ठादु जुत्त, राग-दोष-भयादीद-
आयरियपव्वोलीकमेण आगयत्स अप्पमाणत्तविरोहादो । —प्रश्न—
जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट होनेसे द्रव्यागम प्रमाण होओ, किन्तु
वह अप्रमाणीभूत पुरुष परम्परासे आया हुआ है अतएव वर्तमान
कालीन द्रव्यागममें अप्रमाण है । उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है,
क्योंकि द्रव्यागम राग, द्वेष और भयसे रहित आचार्य परम्परासे
आया हुआ है, इसलिए उसे अप्रमाण माननेमें विरोध आता है ।

२ पूर्वपर विरोध होते हुए भी प्रामाणिक कैसे है

घ १/१.१.२७/२२१/४ दोण्ह बयमाणं मज्जे एक्कमेवमुत्त होदि, तदो
जिणा ण अण्णहा बाढ्यो, तदो सव्वयणाणं विप्पडिसेहो इदि चे
सक्खमेय, किन्तु ण तव्वयणाणि एयाइ आइश्लु आइरिय-वयाणाइ,
तदो एयाणं विरोहस्सत्थि संभवो इदि । —प्रश्न—दोनों प्रकारके
वचनोंमें—से कोई एक ही सूत्र रूप हो सकता है । क्योंकि जिन
अन्यथावादी नहीं होते, अत इनके वचनोंमें विरोध नहीं होना
चाहिए । उत्तर—यह कहना सत्य है कि वचनोंमें विरोध नहीं होना
चाहिए । परन्तु ये जिनेन्द्र देवके वचन न होकर उनके पश्चात्
आचार्योंके वचन हैं, इसलिए उनमें विरोध होना सम्भव है ।

घ ८/२.२८/४६/१० कसायपाहुइमुत्तेणेद सुत्त विरुज्जमिदि त्ति वुत्ते सच्च
विरुज्जमिदि कथं सुत्ताण विरोहो । ण सुत्तोवसहाराणमसयत्तमुदधार-
याइरियपरत्ताण विरोहसभवदसणादो । —प्रश्न—कपायमाभूतके
सूत्रसे तो यह सूत्र विरोधको प्राप्त होता है । उत्तर— सचमुचमें यह
सूत्र कपायमाभूतके सूत्रसे विरुद्ध है । प्रश्न— सूत्रमें विरोध कैसे
आ सकता है । उत्तर—अप्य श्रुतज्ञानके धारक आचार्योंके परतन्त्र
सूत्र व उपसहारोंके विरोधको सम्भावना देखी जाती है ।

घ १/१.१.२७/२२१/७ कथं सुत्तत्तणमिदि । आइरियपर पराए गिरतर-
मागुयाणं बुद्धिमु ओहट्ठ तोसु बज्जभोरुहि गहिदत्थेहि आइरिएहि
पोथएमु चहाविमयाण अमुत्तत्तण-विरोहादो । जदि एव, तो एयाणं
पि वयणाण तदवयत्तादो सुत्तत्तण पावदि त्ति चे भवदु दाण्ह मज्जे
एक्कस्स सुत्तत्तण, ण दोण्ह पि परोप्पर-विरोहादो । —प्रश्न—तो
फिर (उन विरोधी वचनोंको) सूत्रपना कैसे प्राप्त होता है ।
उत्तर—आचार्य परम्परासे निरन्तर चले आ रहे (सूत्रोंको) बुद्धि
शील होनेपर पाप भीरु (तथा) जिन्होंने गुरु परम्परासे श्रुतार्थ
ग्रहण किया था, उन आचार्योंने तीर्थ व्युच्छेदके भयसे उस समय
अवशिष्ट रहे हुए अर्थको पोधियोंमें लिपिबद्ध किया, अतएव उनमें
असूत्रपना नहीं आ सकता । (घ १३/४.४.१२०/३८१/४) प्रश्न—यदि
ऐसा है तो दोनों ही वचनोंको ह्रादशांगका अवयव होनेसे सूत्रपना
प्राप्त हो जायेगा । उत्तर—दोनोंमें से किसी एक वचनको सूत्रपना भले
हो प्राप्त होओ, किन्तु दोनोंको सूत्रपना प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि
उन दोनों वचनोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है । (घ १/१.१.३६/२६१/१)

घ १३/४.४.१२०/३८१/७ विरुद्धाण दोण्णमर्याणं कथं सुत्त होदि
त्ति वुत्ते—सच्च, जं सुत्त तमविरुद्धपरपुरुषय चैव । किन्तु णेद सुत्तं
सुत्तमिव सुत्तमिदि एदस्स उवयारेण सुत्तसम्भुवगमादो । किं पुण
सुत्त । गणहर पत्तेयवुद्ध—मुदकेवलि अभिण्णदसपुत्तिकहियं
१३४। ण च भूदक्षलिभट्टारओ गणहरो पत्तेयवुद्धो मुदकेवली अभिण्ण-
दसपुत्ती वा जेणेद सुत्त होज्ज । —प्रश्न—विरुद्ध दो अर्थोंका कथन
करनेवाला सूत्र कैसे हो सकता है । उत्तर—यह कहना सत्य है,
क्योंकि जो सूत्र है वह अविरुद्ध अर्थका ही प्ररूपण करनेवाला होता
है । किन्तु यह सूत्र नहीं है, क्योंकि सूत्रके समान जो होता है वह

सूत्र कहलाता है, इस प्रकार इसमें उपचारसे सूत्रपना स्वीकार किया
गया है । प्रश्न—तो फिर सूत्र क्या है । उत्तर—जिसका गणधर देवों-
ने, प्रत्येक बुद्धोंने श्रुतकेवलियोंने तथा अभिन्न दश पूर्वियोंने
कथन किया वह सूत्र है । परन्तु भूतमलो भट्टारक न गणधर हैं, न
प्रत्येक बुद्ध हैं, न श्रुतकेवली हैं, न अभिन्नदशपूर्वी ही हैं, जिससे कि
यह सूत्र हो सके ।

क पा ३/३-२२/४७१२/२६२/१ पुत्तिवत्तवत्तवाण ण भट्ठयं, सुत्तविरुद्ध-
त्तादो । ण, वक्खाणभेदसदरिसणट्ठं तप्पवुत्तीदो पडिवक्खणय-
णिरायरणमुहेण पत्तत्तत्तओ ण भट्ठओ । ण च एरथ पडिवक्खणिरायण-
मत्थि तम्हा वे वि णिरवज्जे त्ति घेतव्व । प्रश्न—पूर्वोक्त व्याख्या
समीचीन नहीं हैं । क्योंकि वे सूत्र विरुद्ध हैं । उत्तर—नहीं, क्योंकि
व्याख्या भेदके दिखलानेके लिए पूर्वोक्त व्याख्यानकी प्रवृत्ति हुई
है । जो नय प्रतिपक्ष नयके निराकरणमें प्रवृत्ति करता है, वह समो-
चीन नहीं होता है । परन्तु यहाँ पर प्रतिपक्ष नयका निराकरण नहीं
किया गया है, अत दोनों उपदेश निर्दोष हैं ऐसा प्रकृतमें ग्रहण
करना चाहिए ।

३ आगम व स्वभाव तर्कके विषय ही नहीं हैं

घ १/१.१.२४/२०६/६ आगमस्यासर्कगोचरत्वात्—आगम तर्कका विषय
नहीं है । (घ ४/१.४/४.६.११६/१५१/८)

घ १/१.१.२४/२०४/३ प्रतिज्ञावाक्यत्वाद्दधेतुप्रयोग कर्तव्य प्रतिज्ञा-
मात्रत साध्यसिद्धयनुपपत्तिरिति चेन्नेद प्रतिज्ञावाक्य प्रमाणत्वात्
ण हि प्रमाणान्तरमपेक्षतेऽनवस्थापते । —प्रश्न—('नरक गति है')
इत्यादि प्रतिज्ञा वाक्य होनेसे इनके अस्तित्वकी सिद्धिके लिए हेतुका
प्रयोग करना चाहिए, 'क्योंकि केवल प्रतिज्ञा वाक्यसे साध्यकी सिद्धि
नहीं हो सकती । उत्तर—नहीं, क्योंकि, ('नरकगति है' इत्यादि)
वचन प्रतिज्ञा वाक्य न होकर प्रमाण वाक्य हैं । जो स्वयं प्रमाण
स्वरूप होते हैं वे दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करते हैं । यदि स्वयं
प्रमाण होते हुए भी दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा की जावे तो अनवस्था
दोष आता है ।

घ १/१.१.४१/२०१/३ ते तादृशा सन्तीति कथमवगम्यत इति, चेन्न
आगमस्यासर्कगोचरत्वात् । न हि प्रमाणप्रकाशितायविगति प्रमाणा-
न्तरप्रकाशमपेक्षते । —प्रश्न—साधारण जीव उक्त लक्षण (अभी तक
जिन्होंने त्रस पर्याय नहीं प्राप्त की) होते हैं यह कैसे जाना जाता है ।
उत्तर—ऐसी शका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि आगम तर्कका विषय
नहीं है । एक प्रमाणसे प्रकाशित अर्थज्ञान दूसरे प्रमाणके प्रकाशकी
अपेक्षा नहीं करता है ।

घ ६/१.६-६ ६/१५१/१ आगमो हि ज्ञान केवलणाणपुरस्सरो पाएण अणि-
दियत्थविसओ अचित्तियसहाओ जुत्तिगोयरादोदि । —जो केवल-
ज्ञानपूर्वक उत्पन्न हुआ है, प्राय अतीन्द्रिय पदार्थोंको विषय करने-
वाला है, अचिन्त्य स्वभावी है और युक्तिके विषयसे परे है, उसका
नाम आगम है ।

४ छद्मस्योका ज्ञान प्रामाणिकताका माप नहीं है

ति प ७/६१३/५ ७६६/५ ४ अदिदिपसु पदत्थेसु छदुमत्थविषयप्पाण-
मविसवाइणियमाभावादो । तम्हा पुब्बाइरियवक्खणापरिच्छाएण
एसा वि दिसा हेदुवादाणुसारिवियुपणमिस्साणुगहण-अवुप्पणजण-
उप्पायणट्ठं चदरिसेदम्मा । तदो ण एरथ सपदायविरोधो कायव्वा
त्ति । —अतिन्द्रिय पदार्थोंके विषयमें अश्वपक्षोंके द्वारा किये गये
विकल्पोंके विरोध न होनेका कोई नियम भी नहीं है । इसलिए
पूर्वाचार्योंके व्याख्यानका परिश्रम न कर हेतुवादका अनुसरण
करने वाले अव्युत्पन्न शिष्योंके अनुग्रहण और सव्युत्पन्न जनोके
व्युत्पादनके लिए इस दिशाका दिखलाना योग्य ही है, अतएव यहाँ
सम्प्रदाय विरोधकी भी आशका नहीं करनी चाहिए ।

घ १३/४४ १३७/३८६/२ न च केवलज्ञानविषयीकृतैर्व्यर्थेषु सकलैष्वपि रजोजुषां ज्ञानानि प्रवर्तन्ते येनानुपलम्भाज्जिनवचमस्याप्रमाणत्वमुच्येत ॥ — केवलज्ञानके द्वारा विषय किये गये सभी अर्थोंमें छद्मस्थोंके ज्ञान प्रवृत्त भी नहीं होते हैं। इसलिए यदि छद्मस्थोंको कोई अर्थ नहीं उपलब्ध होते हैं तो जिनवचनोंको अप्रमाण नहीं कहा जा सकता ।

घ १४/३९/६ सयनमुद्रविषयावगमं पयहिजीवभेदेण णाणाभेदभिण्णे असंते एव ण होदि ति वोत्तमसंक्रियत्तादो । तम्हा मुत्ताणुमारिणा मुत्ताधिरुद्धवक्खणमवलंबेयव्य ॥ — समस्त श्रुतविषयक ज्ञान होनेपर तथा प्रकृति एव जीवके भेदसे नाना रूप भेदके न होनेपर यह नहीं हो सकता । ऐसा कहना शक्य नहीं है । इस कारण सूत्रका अनुसरण करनेवाले प्राणीको सूत्रसे अविरुद्ध उपायमानका अवलम्बन करना चाहिए ।

प वि १/१२४ य कश्चपेत् किमपि सर्वविदोऽपि वाचि सदिह्य तत्त्वमसमस्रसमाप्तमबुद्धया । खे पत्रिणां विचरतां सद्योक्षितानां संख्यां प्रति प्रविष्टाति स बादमन्थ ॥२२४॥ — जो सर्वज्ञके भी वचनोंमें संदिग्ध होकर अपनी बुद्धिसे तत्त्वके विषयमें भी कुछ कल्पना करता है, वह अज्ञानी पुरुष निर्मल नेत्रोंवाले व्यक्तिके द्वारा देखे गये आकाशमें विचरते हुए पक्षियोंकी संख्याके विषयमें विबाध करनेवाले अन्धके समान आचरण करता है ॥२२॥ (प वि १३/३४)

॥ आगममें मूल सुधार व्याकरण व सूक्ष्म विषयोंमें करनेको कहा है प्रयोजनसूत तत्त्वोंमें नहीं

नि सा/मू १८७ नियमावगणितमि मए कद नियमसारणाम् सुद । णच्चा जिणोवसेसं पुठ्ठावरदोप विम्मुक्क ॥१८७॥ — पूर्वापर दोष रहित जिनोपदेशको जानकर मैंने निज भावनाके निमित्तसे नियमसार नामका शास्त्र किया है ।

नि स/गा १०७/क ३१० अस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य विरुद्ध पदमस्ति चेत् । लुप्त्वा तत्कवयो भद्रा कुर्वन्तु पदमुत्तमम् ॥३१०॥ — इसमें यदि कोई पद लक्षण शास्त्रसे विरुद्ध हो तो भद्र कवि उसका लोप करके उत्तम पद करना ।

घ ३/१,२,४/३८/२ अहं दियरथविसए छवुवेरथवियप्पिपदजुत्तोण जिण्णयहेत्ताणुववत्तीदो । तम्हा उवएसं लद्धधूण वित्तेसजिण्णयो एरथ कायवो ति । — अतीन्द्रिय पदार्थोंके विषयमें छद्मस्थ जीवोंके द्वारा कल्पित युक्तियोंके विकर्षण रहित निर्णयके लिए हेतुता नहीं पायी जाती है । इसलिए उपदेशको प्राप्त करके इस विषयमें निर्णय करना चाहिए ।

प प्र २/२४/३१६/२ तिह्वचनक्रियाकारकसधिसमासविशेष्यविशेषणवाचयसमाप्तरयादिक वृणमत्र न ग्राह्य विह्वन्निरिति । — लिङ्ग, वचन, क्रिया, कारक, सम्बन्ध, समास, विशेष्य विशेषणके दोष विह्वदजन ग्रहण न करें ।

वसु श्रा ४४४ जं किं पि एरथ भणियं अयाणमाणेण पवयणविरुद्ध । खमिऊण पवयणधरा सोहिता त चयार्त्तु ॥४४४॥ — अज्ञानकार होने से जो कुछ भी इसमें प्रवचन विरुद्ध कहा गया हो सो प्रवचनके धारक (जानकार) आचार्य मुझे क्षमा करें और शोधकर प्रकाशित करें ।

६ पौरुषेय होनेके कारण अप्रमाण नहीं कहा जा सकता

रा बा १/२० ७/७१/३२ ततश्च पुरुषकृतिस्वादप्रामाण्य स्याद् । न चापुरुषकृतिर्ब्रह्म प्रामाण्यकारणम्, चौर्याद्व्युपदेशस्यास्मर्यमाणकर्तृकस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात् । अनिरस्य च प्रत्यक्षाये प्रामाण्ये को विरोध । — प्रश्न-पुरुषकृत होनेके कारण श्रुत अप्रमाण होगा । उत्तर-अपौरुषेयता प्रमाणताका कारण नहीं है । अन्यथा चोरी आदिके उपदेश भी प्रमाण हो जायेंगे क्योंकि इनका कोई आदि प्रणेतृता ज्ञात नहीं है । रस्य आदि प्रमाण अनिरस्य हैं पर इससे उनकी प्रमाणतामें कोई कसर नहीं आती है ।

७ आगम कथञ्चित् अपौरुषेय तथा नित्य है

घ १३/४,४४/२८६/२ अभूत इति भूतम्, भवतीति भव्यम्, भविष्यतीति भविष्यत्, अतीतानागत अस्मान्कालेऽप्यस्तीत्यर्थः । एषं मायागमस्य नित्यत्वम् । सत्येवमागमस्यापौरुषेयत्वं प्रमज्जतीति भेष-न, वाच्य-वाचकभावेन वर्ण-पद-पक्षिभिश्च प्रवाह रूपेण चापौरुषेयत्वाभ्युपगमात् । — आगम अतीत कालमें था इसलिए उसकी भूत सत्ता है वर्तमान कालमें है इसलिए उसकी भव्य सत्ता है और भविष्यत् कालमें रहेगा इसलिए उसकी भविष्य सत्ता है और आगम अतीत, अनागत और वर्तमान कालमें है, यह उक्त कथनना तात्पर्य है । इस प्रकार वह आगम नित्य है । — प्रश्न-ऐसा होनेपर आगमको अपौरुषेयताका प्रसंग आता है । उत्तर-नहीं, क्योंकि वाच्य वाचक भावसे तथा वर्ण, पद व पक्षियोंके द्वारा प्रवाह रूपमें आनेके कारण आगमको अपौरुषेय स्वीकार किया गया है ।

प घ/पृ ७३६ वेदा प्रमाणमत्र तु हेतु कालमपौरुषेयत्वम् । आगम गोचरतया हेतोरन्याप्रितादहेतुरत्वम् ॥७३६॥ — वेद प्रमाण है मर््यापर केवल अपौरुषेयपना हेतु है किन्तु अपौरुषेय रूप हेतुको आगम गोचर होनेसे अन्याप्रित है इसलिए वह समीचीन हेतु नहीं है ।

८ आगमको प्रमाण माननेका प्रयोजन

आप्त मो ३/पृ ६ प्रयोजन विशेष होय तर्हा प्रमाण सप्पन्न इष्ट है । पहले प्रमाण सिद्ध प्रामाण्य आगम तें सिद्ध भया तोऊ तथा हेतुर्क श्रयस देखि अनुमान तें सिद्ध करे पीछें ताह् प्रत्यक्ष जाणें तर्हा प्रयोजन विशेष होय है ऐसें प्रमाण सप्पन्न होय है । केवल आगम ही तें तथा आगमाप्रित हेतुजनित अनुमान तें प्रमाण कहि काहै वं प्रमाण सप्पन्न कर्ना ।

७ सूत्र निर्देश

१ सूत्रका अर्थ द्रव्य व भाव श्रुत

१ द्रव्य श्रुत

प्र सा/त प ३४ श्रुत हि तावत्सूत्र । तच्च भगवद्वर्तमानं शोषणं स्यात्कारकेतन पौद्गलिक शब्दमल । — श्रुत ही सूत्र है, और वह सूत्र भगवाद् अर्हन्त सर्वज्ञके द्वारा स्वयं जानकर उपदिष्ट, स्मारकार-चिह्नयुक्त पौद्गलिक शब्द मल है ।

स म ८/७४/६ सूत्र तु सूचनाकारि ग्रन्थे तन्तुव्यवस्थयो । — सूत्र शब्द ग्रन्थ, तन्तु और व्यवस्था इन तीन अर्थोंका सूचित करता है ।

२ भाव श्रुत

स सा/ता वृ १४/पृ ४० सूत्र परिच्छिद्रितरूप भावश्रुत ज्ञानसमय इति । — रिच्छिद्रित रूप भावश्रुत ज्ञान समयको सूत्र कहते हैं ।

२ सूत्रका अर्थ श्रुतकेवली

घ १४/४,६,१२/८/६ मुक्त मुदकेवली । — सूत्रका अर्थ श्रुतकेवली है ।

३. सूत्रका अर्थ अल्पाक्षर व महानार्थक

घ ६/४,१,४४/१७/३६ अथासुरमस दिग्धं सारवद् दृढनिर्णयम् । निर्दोषहेतुमत्तस्यै सुप्रतिपद्युच्यते मुधै ॥११७॥ — जो थोड़े अक्षरोंसे संयुक्त हो, सन्देहसे रहित हो परमार्थ सहित हो दृढ पदार्थोंका निर्णय करनेवाला हो, निर्दोष हो, युक्तियुक्त हो और यथार्थ हो, उसे पण्डित जन सूत्र कहते हैं ॥११७॥ (क पा १/१,१६/६८/१४४) (आवश्यक नियुक्ति सू ८८६)

क पा १/१ १६/७३/१७१ अर्थस्य सूचनास्तम्भ्यक् सूतेर्वार्थस्य सूत्रिणा । सूत्रमुक्तमनर्थार्थं सूत्रकारेण तत्त्वतः ॥७३॥ — जो भले प्रकार अर्थका सूचन करे, अथवा अर्थको जन्म दे उस बहुअर्थ गमित रचनाको सूत्रकार आचार्यने निश्चयसे सूत्र कहा है । (घ कणभाष्य पा ३१४), (पाराशरोपपुराण अ १८), (मध्व भाष्य १/११), (सुग्धमोघ व्याकरण

टीका), (न्यायवार्तिक तारपयं टी १/१/१२), (प्रमाणमीमांसा पृ ३५)
(कल्पभाष्य गा २८५)

आवरयकनिर्मुक्तिं सू ८८० अण्वग्रन्थमहत्त्वं द्वात्रिंशद्वेगविरहितं य
च । लक्षणयुक्तं सूत्रं अप्तेन च गुणेन उपमेयम् । —अणु परिमाण हो,
महत्त्वपूर्ण हो, वृत्ति स दोषों से रहित हो आठ गुणों से युक्त हो वह
सूत्र है । (अनुयोगद्वारा सूत्र गा सू १२७) (वृहत्कल्पभाष्य/गा २७७,
२८२), (व्यवहारभाष्य १६०)

४. वृत्तिसूत्रका लक्षण

क पा २/२/४२६/१४/६ सूत्रस्तेव विवरणाय सखित सहरयणाए सग-
हियसुत्तसेस्थाए वित्तिसुत्तत्रवरसादो । —जो सूत्रका हो व्याख्यान
करता है, किन्तु जिसकी शब्द रचना सक्षिप्त है और जिसमें सूत्रके
समस्त अर्थको सगृहीत कर लिया गया है, उसे वृत्ति सूत्र कहते हैं ।

५. जिसके द्वारा अनेक अर्थ सूचित न हो वह सूत्र नहीं असूत्र है

क पा १/१/६५/४३३/१६/५ सूचिदाणेगथा । अवरा असूत्रगाहा ।
—जिसके द्वारा अनेक अर्थ सूचित हों वह सूत्र गाथा है, और जिससे
विपरीत अर्थ अथवा जिसके द्वारा अनेक अर्थ सूचित न हों वह असूत्र
गाथा है ।

६ सूत्र वही है जो गणधरादिके द्वारा कथित हो

भ आ /मू ३४ सूत्र गणधरादिद तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च । सुदकेवलणा
कहिय अभिण्णदसपुविगधिद च ॥३४॥ —गणधर रचित आगमको
सूत्र कहते हैं । प्रत्येक बुद्ध ऋषियों के द्वारा कहे गये आगमको भी
सूत्र कहते हैं श्रुतकेवली और अभिज्ञवशपूर्व धारक आचार्यों के रचे
हुए आगम ग्रन्थको भी सूत्र कहते हैं । (यू आ २७७), (घ १३/६.५.
१२०/३४/३८१), (क पा १/६७/१६३)

७. सूत्र तो जिनदेव कथित हो है परन्तु गणधर कथित भी सूत्रके समान है

क पा १/१/६५/४२०/१५४ एद सख पि सुत्तलवण जिनवयणकमल-
विणिग्गयअथपदाण चैव सभवइ गणहरसुवविणिग्गयगथरयणाए.
तथ महापरिमाणसुत्तलभादो, ण, सच्च (सुत्त-) सारिच्छमस्सिदूण ।
—प्रश्न —यह सम्पूर्ण सूत्र लक्षण तो जिनदेव के मुख कमल से निकले
हुए अर्थ पदों में सम्म्व है, गणधर के मुख कमल से निकली ग्रन्थ रचना-
में नहीं, क्योंकि उनमें महापरिमाण पाया जाता है । उत्तर—नहीं,
क्योंकि गणधर के बचन भी सूत्रके समान होते हैं । इसलिए उनकी
रचना में भी सूत्रत्व के प्रति कोई विरोध नहीं है ।

८ प्रत्येक बुद्ध कथित में भी कथित सूत्रत्व पाया जाता है

क पा १/१/६५/४२६/१६३/६ जेदाओ गाहाओ सुत्त गणहर पत्तेय बुद्ध-
सुदकेवल-अभिण्णदसपुव्वीसु गुणहरभडारस्स अभावादो, ण, णिदोस-
पखरसहेउपताणेहि सुत्तेण सरिससममरियत्ति गुणहरादरियगाहाण
पि सुत्तचुत्तलभादो । —प्रश्न —यह (कपाय पाहुटकी १८०) गाथाए
सूत्र नहीं हो सकतीं क्योंकि (इनके कर्ता) गुणधर भट्टारक न गणधर
हैं, न प्रत्येक बुद्ध हैं, न श्रुतकेवली हैं, और न अभिज्ञवश पूर्व ही
हैं । उत्तर—नहीं, क्योंकि निर्दोषत्व, अणुभाक्षरत्व, और सहेतुकत्व
रूप प्रमाणों के द्वारा गुणधर भट्टारककी गाथाओंको सूत्र संज्ञाके साथ
समानता है ।

आगमन—जीवों के आगमन निर्गमन सम्बन्धी व्योरा —दे जन्म ६

आगम नय—दे नय १/१ ।

आगम पद्धति—दे पद्धति ।

आगम बाधित—दे बाधित ।

आगमाभास—दे आगम १/२ ।

आगाल—स सा /मो प्र ८८/१२३/६ द्वितीयस्थितिद्रव्यस्यापकर्षण-
वशात्प्रथमस्थितावागमनमागाल । —द्वितीय स्थितिके निपैकनिको
अपकर्षण करि प्रथम स्थितिके निपैकनि विषे प्राप्त करना ताका नाम
आगाल है ।

२. प्रत्यागालका लक्षण

स सा /मो प्र ८८/१२३/६ प्रथमस्थितिद्रव्यस्यापकर्षणवशाद् द्वितीयस्थितौ
गमन प्रत्यागाल इत्युच्यते । —प्रथम स्थितिके निपैकनिके द्रव्य को
उत्कर्षण करि द्वितीय स्थितिके निपैकनि विषे प्राप्त करना ताका
नाम प्रत्यागाल है ।

जैन सन्देश १३, १.५५ में श्री रत्नचन्द्र मुस्तयार । नोट —अन्तरकरण हो
जानेके पश्चात् पुरातन मिथ्यात्व कर्म तो प्रथम व द्वितीय स्थिति में
विभाजित हो जाता है परन्तु नया बन्धा कर्म द्वितीय स्थिति में पड़ता
है । उसमें-से कुछ द्रव्य अपकर्षण द्वारा प्रथम स्थितिके निपैक-
को प्राप्त होता है उसको आगाल कहते हैं । फिर इस प्रथम स्थिति-
को प्राप्त हुए द्रव्यों में-से कुछ द्रव्य उत्कर्षण द्वारा पुन द्वितीय स्थिति-
के निपैकको प्राप्त होता है उसको प्रत्यागाल कहते हैं ।

आग्नेय—पूर्व दक्षिणवाली विदिशा ।

आग्नेयीधारणा—दे अग्नि ।

आज्ञा—स म २१/२६३/७ आ सामस्येनानन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञाय-
तेन्द्रबुद्धधन्ते जीवाजीवाद्य पदार्था यया सा आज्ञा आगम शास-
नम् । —समस्त अनन्त धर्मों से विशिष्ट जीव अजीवादिक पदार्थ
जिसके द्वारा जाने जाते हैं वह आपकी आज्ञा आगम या जिनशासन
कहालाती है ।

आज्ञापिनी भाषा—दे भाषा ।

आज्ञाविचयधर्मध्यान—दे धर्मध्यान १ ।

आज्ञाव्यापादिकी क्रिया—दे क्रिया ३/२ ।

आज्ञासम्यक्दर्शन—दे सम्यक्दर्शन १/१ ।

आचरित—वसतिका एक दोष—दे वसति ।

आचाम्ल—भ आ /मू २६१/४७३ छद्मदसमदुबालसेहि भत्तेहि
अदिचिक्केहि । मिदलहणं आहार करेदि आर्याविलं बहुसो ॥२६१॥
—दो दिनका उपवास, तीन दिनका उपवास, चार दिनका उपवास,
पाँच दिनका उपवास, ऐसे उत्कृष्ट उपवास होनेके अनन्तर मित और
हलका ऐसा (आचाम्ल) काँजी-भोजन ही उपक बहुश करता है ।

वसु आ २ ६ की टिप्पणी में अभिधान राजेन्द्रकोश “आयविल-अम्ब
चतुर्थो रस, स एष प्रायेण व्यक्तेन यत्र भोजने ओदन-कृष्णमापसक्तु-
प्रभृतिके तदाचाम्लम् । आयविलमपि तिविह उक्लिद्धजहण-मज्झि-
मदरहि । तिविह ज विउत्तपूवाह पक्कपए तथ ॥१०२॥ मिय-सिधव-
सठि मीरोमेही सोबच्चलं च विउत्तवणे । हिणुसुगधिमु पाए पक्कपए
साह्य वस्य ॥१०३॥

सा घ /टी ४/३६ काँजी सहित केवल भातके आहारको आचाम्लाहार
कहते हैं ।

* आचाम्लाहारकी महत्ता—दे सत्त्वत्वना ४/१२ ।

आचाम्ल वर्द्धन—दे सौबोर भुक्ति व्रत ।

आचार—

१ आचार सामान्यके भेद व लक्षण

सा ध ७/३६ / योग्याच्छ्रद्धेयु तेषु सु ३३६। —अपनी शक्तिके अनुसार निर्मल किये गये सम्म्यग्दर्शनादिमें जो यत्न किया जाता है उसे आचार कहते हैं।

मू आ १६६ दसगणपरिते तत्रै विरियापरणि पचविपे । योच्यं अदिचारेहं कारिदं अनुमोदिये अ कदो ११६६। —सम्म्यग्दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारिताचार, तपाचार और योग्याचार—इस तरह पाँच आचारोंमें कृत कारित अनुमोदनासे होनेवाले अतिचारिका भी कहता हूँ। (न च ३३६) प्र सा /त प्र २०२ (नि सा /ता ग ७३)

२ दर्शनाचारके भेद व लक्षण

मू आ २०० २०१ दसगणपरिमृष्टो अद्विहा जिनवरेहि निहिह्वा १२००। निस्संकिद निक्ख विद निजिदगिच्छा अमुददिहो य । उवगूहण ठिक्किरण वचप्रलपहावणा य ते अद्व १२०१। —दर्शनाचारको निर्मलता जिनेन्द्र भगवातुं अष्ट प्रकारकी कही है।—नि गरित, निष्कांक्षित, निर्विचिक्रित, अमुददिह, उपपूत, स्थितोत्तरण, वास्तव्य और प्रभावना ये आठ सम्म्यक्त्वके गुण जानना १२०१।

प्र. सा /त प्र २०२/७५० अहो नि शक्तिरत्नं काट्मितरनिर्विचिक्रितरत्नमिमुददिरवोपयु हणस्थितिकरणवामग्यप्रभावनामगदो —नाचार । —अहो । नि शक्तिरत्न नि कांक्षितरत्न, निर्विचिक्रितरत्न, निमुददिरत्न, उपयु हण, स्थितोत्तरण, वास्तव्य और प्रभावना वस्वरूप दर्शनाचार है। (प प्र /टो ७/१३)

प प्र /टो ७/१३/३ यच्चिदानं दैकस्वभावं शुद्धामयत्नं तदेव सर्वप्रकारो-पोदेयभूतं तस्माच्च यदयत्नच्छ्रद्धेयमिति । चममनिनामगाद्वरहितत्वेन निरचयप्रदानमुद्धि सम्मक्त्व तत्राचरण परिणमनं दर्शनाचार । —जो चिदानन्दरूप शुद्धामय तत्त्व है वही सभ प्रकार आराधने योग्य है, उससे भिन्न जो वस्तु कुछ है वह सभ त्याज्य है। ऐसी वृत्त प्रतीति चंचलता रहित निर्मल अवगाढ परम भद्रा है, उसको सम्मक्त्व कहते हैं उसका जो आचरण अर्थात् उस स्वरूप परिणमन वह दर्शनाचार कहा जाता है।

प्र स /टो ६२/२१९ परमचैतन्यविलासलक्षण स्वशुद्धामयोपादेय इति कुरित्त्वं सम्म्यग्दर्शनं तत्राचरणं परिणमन निरचयदर्शनाचार । —(समस्त पर द्रव्योंसे भिन्न) और परम चैतन्यका विलासरूप लक्षण-वाली, यह निज शुद्धामा ही उपादेय है, ऐसी कुरि रूप सम्म्यग्दर्शन है, उस सम्म्यग्दर्शनमें जो आचरण अर्थात् परिणमन को निरचय दर्शनाचार है।

३ ज्ञानाचारके भेद व लक्षण

मू आ २६६ काले विणए उयहाणे महुमाणे तरेव जिण्हवणे । यजण अरथ तवुभयं गाणाचारो दु अद्विहो १२६६। —स्वाध्यायका काल मन वच कायमे शास्त्रका विनय यत्नमें करना, पूजा-संस्कारादिके पाठ करना, अपने पढ़ानेवाले गुरुका तथा पढ़े हुए शास्त्रका नाम प्रगट करना छिपाना नहीं, वर्ण पद वाक्यकी शुद्धिसे पचना, अनेकास्तस्वरूप अर्थको शुद्धि अर्थ सहित पाठादिको शुद्धि होना, इस तरह ज्ञानाचारके आठ भेद हैं।

प्र सा /त प्र २०२/२४६ कालविनयोपधानमहुमानानिगार्थव्यञ्जनतदु-भयसंपन्नत्वसंगज्ञानाचार । —काल, विनय, उपधान, महुमान, अनिद्वय, अर्थ, व्यञ्जन और तदुभय सम्पन्न ज्ञानाचार है।

प प्र ७/१३ तत्रैव मंशयविपर्ययानिगमसायरहितत्वेन स्वसंवेदनज्ञान-रूपेण ग्राहकबुद्धि सम्म्यग्ज्ञानं तत्राचरणं परिणमन ज्ञानाचार । —और उसी निज स्वरूपमें, संशय विमोह विभ्रम रहित जो स्वसंवेदनज्ञानरूपग्राहक बुद्धि वह सम्म्यग्ज्ञान हुआ उसका जो आचरण अर्थात् उस रूप परिणमन वह (निरचय) ज्ञानाचार है।

प्र स /टो ६२/२१९ तत्रैव दृष्टतमगा निगमादिब्रह्मवेदनाभ्यामे-र-ज्ञाने निगमादिव्यापादिरत्नवेदय गुणवर्गवर्तिना, सम्मत्तान तत्राचरण परिणमनं निरचयज्ञानाचार । —उसी दृष्टतमको ज्ञानि रहित स्वसंवेदन रूप भेदना ज्ञान निगमादिव्यापादिरत्नवेदनाभ्यामे-र-ज्ञाने निगमादिव्यापादिरत्नवेदय गुणवर्गवर्तिना, सम्मत्तान तत्राचरण परिणमनं निरचयज्ञानाचार है।

४ चारित्र्याचारके भेद व लक्षण

मू आ २८८ २८९ नातिवहमुमापादं तदसमेहं परिणमिद्विद, । एव चरित्याचारो पंचविहा णो ८-८३ १२८८। —निगमादिब्रह्मवेदनाभ्यामे-र-ज्ञाने निगमादिव्यापादिरत्नवेदय गुणवर्गवर्तिना, सम्मत्तान तत्राचरण परिणमनं निरचयज्ञानाचार है। (न च ३३६) प्र सा /त प्र २०२/७५० अहो नि शक्तिरत्नं काट्मितरनिर्विचिक्रितरत्नमिमुददिरवोपयु हणस्थितिकरणवामग्यप्रभावनामगदो —नाचार । —अहो । नि शक्तिरत्न नि कांक्षितरत्न, निर्विचिक्रितरत्न, निमुददिरत्न, उपयु हण, स्थितोत्तरण, वास्तव्य और प्रभावना ये आठ सम्म्यक्त्वके गुण जानना १२०१।

प प्र /टो ७/१३ तत्रैव शुभाशुभमदुष्टविशेषादिभ्यां निगमादिब्रह्मवेदनाभ्यामे-र-ज्ञाने निगमादिव्यापादिरत्नवेदय गुणवर्गवर्तिना, सम्मत्तान तत्राचरण परिणमनं निरचयज्ञानाचार है। (न च ३३६) प्र सा /त प्र २०२/७५० अहो नि शक्तिरत्नं काट्मितरनिर्विचिक्रितरत्नमिमुददिरवोपयु हणस्थितिकरणवामग्यप्रभावनामगदो —नाचार । —अहो । नि शक्तिरत्न नि कांक्षितरत्न, निर्विचिक्रितरत्न, निमुददिरत्न, उपयु हण, स्थितोत्तरण, वास्तव्य और प्रभावना ये आठ सम्म्यक्त्वके गुण जानना १२०१।

प्र स /टो ६२/२१९ तत्रैव रागादिविशेषोपाधिरहितस्वभावप्रभुत्वा-स्वादेन निरपनयित कीतरागचारि तत्राचरणं परिणमनं निरचय-चारित्र्याचार । —उसी दृष्ट तत्त्वमें शुभ अशुभ समाप्त नदुष्ट रहित जो निरवाग्रमें निरमग्न स्था-अनिद्वय दृष्ट, वह सम्मत्तचारि है। उसका जो आचरण उस रूप परिणमन वह चारित्र्याचार है।

५. तपाचारके भेद व लक्षण

मू आ ३७६ ३८६ ३९० दुविहो य तपाचारो चारि अणालो सुत्तवो । एवमेको विद्य तद्वा अणालम स परुषमो ३८६। अण-अणालमें रसपरिणाग य वृत्तिपरिमर्श। कायस्व य परिश्रवो विविक्त-सयणासाण दद्व ३९०। वायस्वित्तं निदम मज्जावच्च तदेव सज्जायं । काय च विदस्समा अम्भस्सओ तयो ऐको ३९०। —तपाचार के दो भेद हैं—वाय अम्भस्तर । उनमें से जो रस-द्वयके ग्राहक भेद जानना । उनको भी क्रमसे कहता हूँ ॥३८६॥ अनदाय अवमोदयं रसपरित्याग वृत्तिपरिमर्शान, वाय दोषणं और छट्ठा विविक्तशय्यासन इय तरह बाह्य तपके दो भेद हैं ॥३९०॥ प्राग्विषय, विनय वैभाष्य स्वध्याय ध्यान व्युत्कर्ष—ये दो भेद अन्तरात् तपके हैं।

प्र सा /त प्र २०२/२५० अनज्ञानममोदयं वृत्तिपरिमर्शानरसपरिरिणाग-विमिश्रशय्यासनकायवेदनामाग्विषयविमर्शमैवाशुभस्वाध्यायव्युत्कर्ष लक्षणतपाचार । —अज्ञान, अवमोदय, वृत्तिपरिमर्शान, रसपरि-त्याग, विविक्त शय्यासन, कायवेदना, प्राग्विषय विनय, वैभाष्य, स्वाध्याय ध्यान और व्युत्कर्ष स्वरूप तपाचार है।

प प्र /टो ७/१३ तत्रैव परद्रव्येच्छाविरोधेन सहजानन्दैकरूपेण प्रतपन तपश्चरण, तत्राचरण परिणमन तपश्चरणाचार । —आज्ञानादि-द्वादशभेदरूपी बाह्यतपश्चरणाचार । —उसी परमानन्द स्वरूपमें पर द्रव्यकी इच्छाका निरोधकर सहज आनन्द रूप तपश्चरणस्वरूप परिणमन तपश्चरणाचार है। अनज्ञानादि बाह्यतप रूप बाह्य तपाचार है।

प्र संटी ६२/२१६ समस्त परद्रव्येच्छानिरोधेन । तथैवानशन आदि द्वादशतपश्चरण बहिरङ्गसहकारिकारणेन च स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयन निश्चयतपश्चरण तत्राचरण, परिणमनं निश्चयतपश्चरणोपाचार । —समस्त परद्रव्यकी इच्छाके रोकनेसे तथा अनशन आदि बारह तप रूप बहिरङ्ग सहकारि कारणसे जो निज स्वरूपमें प्रतपन अर्थात् विजयन, वह निश्चय तपश्चरण है । उनमें जो आचरण अर्थात् परिणमन निश्चयतपश्चरणोपाचार है ।

६ वीर्याचारका लक्षण

यू आ-४१३ अणिगृह्यिमलविरिओ परकामादि जो जहूत्तमाउत्तो । पुञ्जदि य जहाथाणं विरियाचारो त्ति णादव्वो ॥४१३॥ —नहीं छिपाया है आहार आदिसे उपपन्न चल तथा शक्ति जिसने ऐसा साधु यथोक्त चारित्र्यमें तीन प्रकार अनुमति रहित ७० प्रकार समय विधान करनेके लिए आरमाको युक्त करता है वह वीर्याचार जानना ॥४१३॥
प्र सा/त प्र २२/२६१ समन्तेतगंचारप्रवर्तकस्वशक्या निगूहनलक्षणं वीर्याचार । —समस्त इतर आचारमें प्रवृत्ति करनेवाली स्वशक्तिके अगोपन स्वरूप वीर्याचार है ।

प प्र/टी ७/१४ तत्रैव शुद्धात्मस्वरूपे स्वशक्त्यानवगूहनेनाचरण परिणमन वीर्याचार । आह्वयशक्त्यनवगूहनरूपो माह्वीर्याचार । — उसी शुद्धात्म स्वरूपमें अपनी शक्तिको प्रकटकर आचरण परिणमन करना वह निश्चय वीर्याचार है । अपनी शक्ति प्रकटकर मुनिव्रतका आचरण यह व्यवहार वीर्याचार है ।

प्र सं/टी ६२/२१६ तस्यैव निश्चयचतुर्विधाचारस्य रक्षणार्थं स्वशक्त्यानवगूहन निश्चयवीर्याचार । —इन चार प्रकारके निश्चय आचारकी रक्षाके लिए अपनी शक्तिका नहीं छिपाना, निश्चय-वीर्याचार है ।

* निश्चय पञ्चाचारके अपर नाम—दे मोक्षमार्ग २/६ ।

* दर्शनादि आचार व विनयमें अन्तर्—दे विनय २ ।

आचारवत्त्व—प्र आ वि ४१६/६०८ आचार पञ्चविहं पञ्चप्रकार आचार । चरदि विनातिचार चरति । पर मा निरतिचारे पंचविधे आचारे प्रवर्तयति । उवदिसदि य आचार उपदिशति च आचार । एसो णाम एष आचारवात्तम ।

भ आ/यू ४२० दसविहतिदिक्पे वा हवेज्ज जो सुट्ठिठो समयारिओ । आचारवं तु एसो पयणमादासु आउत्तो ॥४२०॥ —जो मुनि पाँच प्रकारका आचार अतिचार रहित स्वयं पालता है, और इन पाँच आचारोंमें दूसरोंको भी प्रवृत्त करता है, जो आचारका शिष्योंको भी उपदेश करता है, वह आचारवत्त्व गुणका धारक समझना चाहिए । जो इस प्रकारके स्थिति कल्पमें स्थिर है वह आचार्य आचारवत्त्व गुणका धारक समझना चाहिए । यह आचार्य तीन शुद्धि और समितियोंका जिनको प्रवचनमाता कहते हैं धारक होता है । १ -

आचार वर्द्धनव्रत—व्रतविधानसंग्रह/पृ १०७ ।

गणना—कुलसमय—११६ दिन, उपवास—१००; पारणा १६ ।
सुदृष्टितरंगिणी/यन्त्र—१,२,३,४,५,६,७,८,९,१०, ६,८,९,१०, ३,२,१, विधि—निर्भंग रूपेण एक उपवास एक पारणा, फिर दो उपवास एक पारणा, इस प्रकार ऊपर दशयि रूपसे बढ़ाता हुआ १० उपवास एक पारणा फिर घटाता हुआ अन्तमें एक उपवास एक पारणा करे । उपरोक्त अक्रमें सर्व अकोंसे हो उठने-उतने उपवास जानना और मोक्षके (१) ऐसे स्थानोंमें सर्वत्र एक एक पारणा जानना ।

आचारसार—आ चोरनन्दि (ई श १२मध्य) कृत यथापाचार विषयक ग्रन्थ (ती ३/२७१) ।

आचारांग—व्यय श्रुतज्ञानका एक भेद —दे श्रुतज्ञान III ।

आचार्य—साधुओंको दीक्षा शिक्षा दायक, उनके दोष निवारक, तथा

अन्य अनेक गुण विशिष्ट, संघनायक साधुको आचार्य कहते हैं । वीतराग होनेके कारण पंचपरमेष्ठिमें उनका स्थान है । इनके अतिरिक्त गृहस्थियोंको धर्म-कर्मका विधि-विधान कराने वाला गृहस्थाचार्य है । पूजा-प्रतिष्ठा आदि करानेवाला प्रतिष्ठाचार्य है । सश्लेखनागत क्षपक साधुको चर्या करानेवाला नियर्पकाचार्य है । इनमें से साधु-रूपधारी आचार्य ही पूज्य हैं अन्य नहीं ।

१ साधु आचार्य निर्देश

१ आचार्य सामान्यका लक्षण

भ,आ/यू ४१६ आचार पञ्चविहं चरदि चरावेदि जो निरदिचार । उवदिसदि य आचार एसो आचारव नाम । —जो मुनि पाँच प्रकार के आचार निरतिचार स्वयं पालता है, और इन पाँच आचारोंमें दूसरोंको भी प्रवृत्त करता है तथा आचारका शिष्योंको भी उपदेश देता है उसे आचार्य कहते हैं (चा सा १६०/४) ।

यू आ ६०६,६१० सदा आचारविहङ्ग सदा आयरिय चरे । आचारमायारवतो आयरिओ तेण उच्चदे ॥६०६॥ जम्हा पञ्चविहाचार आचरतो पभासदि । आयरियाणि वेसतो आयरिओ तेण उच्चदे ॥६१०॥ —जो सर्वकाल सम्बन्धी आचारको जाने, आचरण योग्यको आचरण करता हो और अन्य साधुओंको आचरण कराता हो इसलिए वह आचार्य कहा जाता है ॥६०६॥ जिस कारण पाँच प्रकारके आचरणोंको पालता हुआ शोभता है, और आप कर किये आचरण दूसरोंको भी दिखाता है उपदेश करता है, इसलिए वह आचार्य कहा जाता है ।

नि सा/यू ७३ पंचाचारसमगा पचिदियदतिदपणिहलणा । धोरा गुणगभीरा आयरिया एरिसा होंति ॥७३॥ —पंचाचारोंसे परिपूर्ण पचेन्द्रिय रूपी हाथीके मदका दलन करनेवाले, धीर और गुणगम्भीर, ऐसे आचार्य होते हैं ।

स सि ६/२४/४४२ आचरन्ति तस्माद् व्रतानित्याचार्या । —जिसके निमित्तसे व्रतोंका आचरण करते हैं वह आचार्य कहलाता है । (रां वा ६/१४/३/६२३/११) ।

घ ११९,१/२६-३१/४६ पयण-जलहि जलोयर-गह्यामल-बुद्धिसुद्धि-वासो । मेरुव णिपकपो सूरौ पंचाणणो वण्णो ॥०६॥ देसकुलजा-मुद्धो सोमहो सग-संग उम्मुहो । गयणव णिरुवलेवो आयरिओ एरिसो होई ॥३०॥ सगह-णिगणह-कूसलो सुत्तरध विसारओ पहिय-कित्ती । सारण-वारण-साहण किरियुज्जुत्तो हु आयरिओ ॥३१॥

घ १/१,१,१/४८/८ पञ्चविधमाचारं चरन्ति चारयत्तेर्याचार्या । चतुर्दशविद्यास्थानपारणा एकादशाक्षधरा । आचाराक्षधरो वा तात्कालिकस्वपमयपरसमयपारो वा मेरुरिव निश्चल क्षितिर्वि सहिष्णु सागर इव बहिसिद्धमल सप्रभयविप्रमुक्त आचार्य । —प्रवचन रूपी समुद्रके जलके मध्यमें स्नान करनेसे अर्थात् परमारमाके परिपूर्ण अभ्यास और अनुभवसे जिनकी बुद्धि निर्मल हो गयी है, जो निर्दोष रीतिसे धृष्ट आवश्यकता पालन करते हैं, जो मेरुके समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर हैं, जो सिंहके समान निर्भीक हैं, जो बर्य अर्थात् श्रेष्ठ हैं, वेदा कुल और जातिसे शुद्ध हैं, सीम्य-मूर्ति हैं, अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रहसे रहित हैं, आकाशके समान निर्लेप हैं । ऐसे आचार्य परमेष्ठो होते हैं । (२६-३०) जो सबके संग्रह अर्थात् दीक्षा और निग्रह अर्थात् शिक्षा या प्रायश्चित्त देनेमें कुशल हैं, जो सूत्र अर्थात् परमागमके अर्थमें विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है, जो सारण अर्थात् आचरण, वारण अर्थात् निषेध और साधन अर्थात् व्रतोंकी रक्षा करनेवाली क्रियाओंमें निरन्तर उद्युक्त हैं उन्हें आचार्य परमेष्ठो समझना चाहिए । (यू आ ११८) जो दर्शन, ज्ञान, चोरित्र तप और वीर्य इन पाँच आचारोंका स्वयं मालन करते हैं, और दूसरे साधुओंसे पालन कराते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं । जो चौपह विद्या-

स्थानोंके पारद्वत हों, ग्यारह अर्द्धोंके घारी हों, अथवा आचारोग-
मात्रके घारी हों, अथवा तत्कालीन स्वसमय और परसमयमें पारद्वत
हों, मरुके समान निरपस हों, पृथ्वीके समान सहनशील हों, जिन्होंने
समुद्रके समान मल अर्थात् दोषोंको बाहिर फेंक दिया हो, जो सात
प्रकारके भयसे रहित हों, उन्हें आचार्य कहते हैं ।

भ आ वि ४६/१५४/१२ पञ्चस्वाचारेषु ये वर्तन्ते परस्परं वर्तयन्ति ते
आचार्याः । — बाँच आचार्योंमें जो मुनि स्वयं उद्युक्त होते हैं तथा
दूसरे साधुओंको उद्युक्त करते हैं, वे साधु आचार्य कहलाते हैं । (प्र
सं/पू १२), (पप्र/टी ७/१३), (द पा/टी १ जयचन्द २/पृ १३),
(किफ १/१)

प ध उ ६४५-६४६ आचार्योऽनादितां स्वैर्लोकादपि निरस्यते । पञ्चा-
चार्यं परेत्या स आचारयति संगमी ॥६४५॥ अपि हिते गते साधो
पुन सन्धानमिच्छत । तत्समावेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति
॥६४६॥ — अनादि रुद्धिमे और योगसे भी निरुत्तममें भी आचार्य
शब्दकी व्युत्पत्तिकी जाती है कि जो संगमी अन्य समयियोंमें
पंच प्रकारके आचार्योंका आचरण कराता है वह आचार्य कहलाता
है ॥६४५॥ अथवा जो व्रतके खण्डित होनेपर फिरसे प्रायश्चित्त सेवर
उस व्रतमें स्थिर होनेको इच्छा करनेवाले साधुको अतन्त्रित व्रतके
समान व्रतोंके आदेश दानके द्वारा प्रायश्चित्तको देता है वह आचार्य
कहलाता है ।

२. आचार्यके ३६ गुणोंका निर्देश

भ आ/पू ४१७-४१८ आचार्यश्च आधारश्च यवहारश्च पटुञ्जयः ।
आचार्याचार्योऽपि तत्रैव उच्यते चेव ॥४१७॥ अपरिस्माद्दिग्वा-
वजो य निज्जावजो पहिदकिति । निज्जागुणावेदो एरिसजो होवि
आयरिजो ॥४१८॥ — आचार्य आधारवान्, आधारवान्, व्यवहार
वान्, कर्ता, आचार्याचार्यदर्शनोक्त, और उरपीसक होता है ॥४१७॥
आचार्य अपरिस्माद्, निर्वापक, प्रसिद्ध, कीर्तिमान् और निर्वापकके
गुणोंसे परिपूर्ण होते हैं । इतने गुण आचार्यमें होते हैं ।

जो पा/टी में उद्धृत १/७२ आचारवान् श्रुताधार प्रायश्चित्तगना-
दिद आचार्याचार्यो दोषाभाषकोऽप्रायश्चित्त च ॥१॥ सन्तोषकारी
साधुनां नियामक इमेऽपि च । दिग्गमरोऽप्यनुविष्टम जी शय्या-
शनीति च ॥२॥ आरागभुक् क्रियायुक्ता व्रतवाञ्छ ज्येष्ठसद्गुण ।
प्रतिक्रमी च व्रतमासयोगो च सद्गुणनिपक्षक ॥३॥ द्वि पदत्तास्तथा
पदत्तावश्यकानि गुणा गुरोः ॥ — आचारवान्, श्रुताधार, प्रायश्चित्त,
आसनादिद आचार्याचार्यो, दापभाषक, अप्रायश्चित्त सन्तोषकारी
नियामक ये आठ गुण तथा अनुविष्ट भोजी, शय्याशान और आराग-
भुक्, क्रियायुक्त, व्रतवान्, ज्येष्ठ सद्गुण, प्रतिक्रमी, व्रतमासयोगी दो
निपक्षक, १२ तप तथा ६ आवश्यक यह ३६ गुण आचार्यके हैं ।

अन घ १/७६ अष्टाचारवर्त्तवाचास्तपांसि द्वादशारयते । कस्या
दशाऽवश्यकानि पद पदत्रिंशद्गुणा गणे ॥७६॥ — आचार्य गणो-
गुरुके छत्तीस विशेषगुण हैं यथा—आचारवर्त्त, आधारवर्त्त आदि
आठ गुण और छह अन्तरङ्ग तथा छह बहिरङ्ग मिलानेवारह
प्रकारका तप तथा चयमके अन्दर निष्ठाके सौष्ठव — उपमासाकी विशि-
ष्टताकी प्रगट करनेवाले आचैलक्ष्य आदि दश प्रकारके गुण—जिनको
कि स्थितिकण्य कहते हैं और सामायिकादि पूर्वोक्त छह प्रकारके
आवश्यक ।

र क भा ६ पं सद्गुणश्च कृत्त षोडशकारण भावनामे आचार्य भक्ति—
— १२ तप, ६ आवश्यक, ६ आधार, १० धर्म, ३ गुण । इस प्रकार
ये ३६ गुण आचार्यके हैं ।

३. आचार्यके भेद

(गृहस्थाचार्य, प्रतिष्ठाचार्य, ब्राह्मणाचार्य, निर्वापकाचार्य, एसाचार्य,
इतने प्रकारके आचार्योंका कथन आगममें पाया जाता है ।)

४. अन्य सम्बन्धित विषय

- * आचार्यके ३६ गुणोंके लक्षण —दे ५१ व ५६ नाम ।
- * आचार्योंका सामान्य आचरणादि —दे साधु ।
- * आचार्य आगममें मोर्दे बात अपनी छत्रपते नहीं पहनें —दे आगम ५/१ ।
- * आचार्यमें ययन्ति देवत्व —दे ६९ १/१ ।
- * आचार्य भक्ति —दे भक्ति १ ।
- * आचार्य उपाध्याय, साधु परम्परा भेदामे—दे, साधु ६ ।
- * श्रेणो आगेष्टणके समय स्वत आचार्य पदका त्याग हो जाता है । —दे साधु ६ ।
- * मल्लेखनाके समय आचार्य पदका त्याग कर दिया जाता है । —दे मल्लेखना ४ ।
- * गुरु शिष्य सम्बन्ध । —दे गुरु २ ।
- * आचार्य परम्परा । —दे, इतिहास ४ ।

२ गृहस्थाचार्य निर्देश

१ गृहस्थाचार्यका निर्देश

प ध उ ६४८ न निगट्टस्तदादेशो गृहिणी त्रयगणितान् । — गृहो
गृहस्थोंको भी आचार्यादि समान आदेश करना निषिद्ध नहीं है ।

२ गृहस्थाचार्यको आचार्यकी भाँति दीक्षा दी जाती है

प ध उ ६४८ / दीक्षाचार्येण दीक्षेन दायमानास्ति तद्विद्या ।
— दीक्षाचार्यके द्वारा दो दृष्टेदीक्षाके समान ही गृहस्थाचार्योंकी
क्रिया होती है ।

३. अग्रती गृहस्थाचार्य नहीं हो सकता

प ध उ ६४६, ६४७ न निषिद्धो यथास्नायादतिष्ठानि मनागपि । हित-
कथोपदेशोऽपि नोपयोग्योऽत्र कारणात् ॥६४६॥ नूनं प्र. स्नापदेशोऽपि
न रागाय विरागितान् । रागिनामेव रागाय उद्योऽप्यय निषेधित
॥६४७॥ — आदेश और उपदेशके विषयमें अग्रती गृहस्थोंको जिन
प्रकार दूसरेके लिए आस्नायके अनुमार धोखा छा भी उपदेश करना
निषिद्ध नहीं है उद्यो प्रकार किसी भी कारणसे दूसरेके लिए हिता-
का उपदेश देना उचित नहीं है ॥६४६॥ निरपम करके बौद्धरागियों-
का पूर्वोक्त उपदेश देना भी रागके लिए नहीं होता है किन्तु मरा-
गियोंका ही पूर्वोक्त उपदेश रागके लिए होता है । इसलिए रागियों-
को उपदेश देनेके लिए अवश्य निषेध किया है ॥६४७॥

३ अन्य आचार्य निर्देश

१ एसाचार्यका लक्षण

भ आ/पू १७७/१६ अनुगुरा पश्चाद्विद्वत्ति विधिते चरणममामममु-
द्विक एसाचार्यस्तस्मै विधिना । — गुरुके पश्चात् जो मुनि चारित्र्यका
क्रम मुनि और आर्यादिकोंको कहता है उसको अनुविष्ट अपादि
एसाचार्य कहते हैं ।

२ प्रतिष्ठाचार्यका लक्षण

मधु आ ३८८, ३८९ देस-कुल जाइ सुदो गिरुषम जंगो विशुद्धसम्पत्तौ ।
पवमानिओवकुसलो पद्महातवत्तणविहिद्विद्वन् ॥३८८॥ साधमगुणो-
बैदो उवासयज्जगणसरथमिदुदो । एवं गुणो पद्महारिजो जिनसा-
सणे भणितो ॥३८९॥ — जो देश कुल और जातिसे शुद्ध हो, निरुपम
जंगका धारक हो, विशुद्ध सम्पत्ति हो, प्रथमानुयोगमें कुशल हो,
प्रतिष्ठाकी लक्षण-विधिका आनकार हो, आवश्यकके गुणोंसे युक्त हो,

उपासकाध्ययन (आचकाचार) शास्त्रमें स्थिर बुद्धि हो, इस प्रकारके गुणवाला जिन शासनमें प्रतिष्ठाचार्य कहा गया है।

३. बालाचार्यका लक्षण

भ आ/मू २७३-२७४ कालं सभाविता स्ववगणमणुदिसं च बाहरियं । सोमतिहिकरणवत्तविलग्नो मगलागासे ॥२७३॥ गच्छानुपालनस्थ आहोइय अत्तगुणसम भिक्खू । तो तम्मि गणविसर्गं अप्पक्कहाए कुणदि घोरो ॥२७४॥ —अपनी आयु अभी कितनी रही है इसका विचार कर तदनन्तर अपने शिष्य समुदायको अपने स्थानमें जिसकी स्थापना की है, ऐसे बालाचार्यको बुलाकर सौम्य तिथि, करण, नक्षत्र और लग्नके समय शुभ प्रदेशमें, अपने गुणके समान जिसके गुण है, ऐसे वे बालाचार्य अपने गच्छका पालन करनेके योग्य हैं ऐसा विचार कर उसपर अपने गणको विसर्जित करते हैं अर्थात् अपना पद छोड़कर सम्पूर्ण गणको बालाचार्यके लिए छोड़ देते हैं। अर्थात् बालाचार्य ही यहाँसे उस गणका आचार्य सम्प्रा जाता है, उस समय पूर्व आचार्य उस बालाचार्यको धोड़ा-सा उपदेश भी देते हैं।

* निर्यापकाचार्यका लक्षण —दे निर्यापक ।

* निर्यापकाचार्य कर्तव्य विशेष —दे सल्लेखना/६ ।

आचेलक्य—दे अचेलकरव ।

आछेद्य—आहारका एक दोष ।—दे आहार II/४/४ ।

आजीव—१ आहारका एक दोष । दे आहार II/४/४ । २ वस्तिका का एक दोष । दे वस्तिका ।

आजीवक मत—दे 'पूरन कश्यप' व त्रैराशिवाद ।

आजीविका—साधुको आजीविका करनेका सर्वथा निषेध । दे मंत्र ।

आठ—दे अष्ट ।

आढक—तोलका प्रमाण विशेष । दे गणित I/१/२ ।

आतप—स सि ४/२४/२६६ आतप आदिरयादिनिमित्त उष्णप्रकाश-लक्षण । —जो सूर्यके निमित्तसे उष्ण प्रकाश होता है उसे आतप कहते हैं । रा वा ४/२४/१८/२०/४८६ (घ ६/१.६-१.२८/६०/४)

रा वा ४/२४/१८/१६ असद्वैद्योदयाद आतपत्यामानस्य, आतप्यतेऽनेन, आतपनमात्रं वा आतप । —असाता वेदनीयके उदयसे अपने स्वरूपको जो तपाता है, या जिसके द्वारा तपाया जाता है, या आतपन मात्रको आतप कहते हैं ।

त सा ३/७१ आतपनोऽपि प्रकाश स्मादुर्घ्वश्चादित्यकारण । ।—सूर्य से जो उष्णतायुक्त प्रकाश होता है उसे आतप कहते हैं ।

गो क/मू ३३ मूलहृणपहा अगो आदावो होदि उण्हसहियपहा । आइखे तेरिच्छे उण्हणपहा हु उजोत्तो ॥३३॥ —अग्नि है सो मूल ही उष्ण प्रभा सहित है, ठाते बाके स्पर्शका भेद उष्णताका उदय जानना बहुरि जाका प्रभा हो उष्ण होइ ताके आतप प्रकृतिका उदय जानना, सो सूर्यका बिम्ब विपै ऊपर जैसे बादर पर्याप्त पृथ्वीकायके तिर्यंच जीव तिन होके आतप प्रकृतिका उदय है ।

प्र सं/टो १६/४३ आतप आदिरयविमाने अय्यत्रापि सूर्यकान्तमणि-विशेषादौ पृथ्वीकायै ह्यस्तव्यः । —सूर्यके बिम्ब आदिमें तथा सूर्य-कांत विशेष मणि आदि पृथ्वीकायमें आतप जानना चाहिए ।

२ आतप नामकर्मका लक्षण

स सि ८/११/३६१ यदुदयात्रिषु त्मातपनं तदातपनाम । —जिसके उदय-से क्षत्रीयमें आतपको प्राप्ति होती है, वह आतप नामकर्म है । (रा वा ८/११/१४/४७८), (गो क/जी प्र ३३/२६/२१), (घ ६/१.६-१.२८/६०/४) (घ १३/४.६.१०१/३६६/१)

३. आतप तेज व उद्योतमें अन्तर —दे उदय/४ ।

आतपन—तीसरे नरकका चौथा पटल—दे नरक ४/११ ।

आतपन योग—दे कायभ्लेश ।

आत्म—१ आत्म ग्रहण दर्शन है । —दे दर्शन, २ आत्म रूपकी अपेक्षा वस्तुमें भेदाभेद । —दे सप्तमगी/४/८ ।

आत्मख्याति—आ अमृतचन्द्र (ई ६०५ ६४६) द्वारा संस्कृत भाषा-में रचित समयसारकी टीका । यह टीका इतनी गम्भीर है कि मानो आ कुन्दकुन्दका हृदय ही हो । इस टीकामें आये हुए कलश रूप श्लोकोंका संग्रह स्वयं 'परमाध्यात्मरसगिनी' नामके एक स्वतन्त्र ग्रन्थ रूपसे प्रसिद्ध हो गया है । (तो २/४१६)

आत्मद्रव्य—दे जीव ।

आत्मप्रवाद—द्रव्य श्रुतज्ञानका १३वाँ अंग । दे श्रुतज्ञान/ III ।

आत्मभूत कारण—दे कारण ।

आत्मभूत लक्षण—दे लक्षण ।

आत्ममुखहेत्वाभास—दे बाधित/स्ववचन ।

आत्मरक्ष देव—स सि ४/४/२३६ आत्मरक्षा शिरीरक्षोपमाना ।

—जो अंग रक्षकके समान हैं वे आत्मरक्ष कहलाते हैं । रा वा ४/४/४/२१३), (म पु १/२२/२७)

ति प ३/६६ चत्वारि लोयपाला सावण्णा होति तत्तवालणं । तणु-रक्खण समाणा सरीररक्खा सुरा सव्वे ॥६६॥ —चारों लोकपाल तत्र-पालोंके सदृश और सब तनु रक्षक देव राजाके अंग रक्षकके समान होते हैं ।

रा वा ४/४/४/२१३/१ आत्मानं रक्षन्तीति आत्मरक्षास्ते शिरीरक्षोपमा । आवृतावरणा प्रहरणोद्यता रौद्रा पृष्टतोऽवस्थायिन । —जो अंग-रक्षकके समान हैं, वे आत्मरक्ष कहलाते हैं । अंगरक्षकके समान कवच पहिने हुए सशस्त्र पीछे खड़े रहनेवाले आत्मरक्ष हैं ।

त्रि सा २२४—बहुरि जैसे राजाके अंगरक्षक तैसे तनुरक्षक हैं ।

२. कल्पवासी इन्द्रोंके आत्मरक्षकोंकी देवियोंका प्रमाण

ति प ८/३१६-३२० पडिह दादितियस्स य णियणियइ देहि सरिसदेवीओ ॥३१६॥ तपपरिवारा कमसो चउरक्खहस्सयाणि पचसया । अड्ढा-इज्जसयाणि तद्वल्ले सट्ठिउमत्तोसं ॥३२०॥ —प्रतीन्द्रादिक तीनकी देवियोंकी संख्या अपने अपने इन्द्रके सदृश होती है ॥३१६॥ उनके परिवारका प्रमाण क्रमसे चार हजार, एक हजार, पाँच सौ, अठ्ठाई सौ, इसका आधा अर्थात् एक सौ पच्चीस, तिरैसठ और बत्तीस है । अर्थात् सौधर्मेन्द्रके आत्मरक्षकों ४०००, ईशानेन्द्र की ४०००, सनत्कुमारन्द्र की २०००, माहेन्द्रकी १००० ब्रह्मेन्द्रकी ६००, लान्तवेन्द्रकी २६०, महाशुकेन्द्र की १२६, सहसारेन्द्र की ६१, आनतादि ४ इन्द्रोंके आत्म-रक्षकोंकी देवियोंका प्रमाण कुल ३२ है ।

३ इन्द्रो व अन्य देवोंके परिवारमें आत्मरक्षकोंका प्रमाण

—दे भवनवासों आदि भेद

आत्मवाद—

१ मिथ्या एकात्मकी अपेक्षा

गो क मू ८८१/१०६६ एकको चेव महप्पा पुरिसो देवो य सज्जवाभी य । सर्वगणियूढो वि य सच्चैयणो णिग्गुणो परमो । —एक ही महारमा है । सोई पुरुष है, देव है । सर्व विषे व्यापक है । सर्वांगने निर्गुण कहिये अगम्य है । चेतना सहित है । निर्गुण है । परम उत्कृष्ट है । ऐसे एक आत्मा करि सबको मानना सो आत्मवादका अर्थ है । (स सि ८/१/६ की टिप्पणी) जगत् रूप सहाय कृत ।

२ सम्प्रयोगान्तकी अपेक्षा

स सा/आ १४/क १२ व १४ भूतं भास्तरभूतमेव रभसाभिधिं च भयं सुधीर्मयान्त किल कोऽयमहो फलयति व्याख्या मोहं हठात् । आत्मा-
स्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोमयास्ते ध्रुवं, निरयं कर्मनक्षत्रपङ्क-
विकलो देव स्वयं दारवत् ॥१२॥ अखण्डतमनाकुल ज्वनदनन्तमन्त-
र्बहिर्मह, परममस्तु न सहजमुद्विगतां सदा । चिदुच्छलननिर्भरं
सकलकालमानम्यते यदेकरसमुलमलवणविविधलोसायितम् ॥१४॥
—यदि कोई सुबुद्धि (सम्यग्दृष्टि) जोष भूत, वर्तमान और भविष्य
तीनों कालमें कर्मों के बन्धको अपने आत्मासे तारकाल—शीघ्र भिन्न
करके तथा उस कर्मोदयके निमित्तसे होनेवाले मिथ्यात्व (अज्ञान)
को अपने बलसे (पुरुषार्थसे) रोककर अथवा नाश करके अन्तरंगमें
खम्मास करे—देखे तो यह आत्मा अपने अनुभवमें ही जानने योग्य
जिसको प्रगत महिमा है ऐसा व्यक्त (अनुभवगोचर) निश्चल, शाश्वत
निरयकर्मकर्मकर्मदमसे रहित स्वयं स्तुति करने योग्य देव विराज-
मान है ॥१२॥ आचार्य कहते हैं कि हमें वह उत्कृष्ट तेज प्राप्त हो कि
जो तेज सदा काल चैतन्यके परिणमनसे परिपूर्ण है, जैसे नमककी
ठली एक क्षार रसकी लोलाका आलम्बन करती है, उसी प्रकार जो
एक ज्ञानस्वरूपका आलम्बन करता है, जो तेज अखण्डित है—जो
होयोंके आकार रूपसे खण्डित नहीं होता, जो अनाहुन है—जिसमें
कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले रागादिसे उत्पन्न आकुलता नहीं है । जो
अविनाशी रूपसे अन्तरंगमें तो चैतन्य भावसे वेदीप्यमान अनुभवमें
आता है और बाहरमें बचन कायकी क्रियासे प्रगत देदीप्यमान होता
है—जाननेमें आता है, जो स्वभावसे हुआ है—जिसे किसीने नहीं
रचा और सदा जिसका विलास उदय रूप है—जो एक रूप प्रतिभास
मान है ।

प प्र/टी १८/२६ परमार्थनयाय सदा शिषाय नमोऽस्तु । —शुद्ध द्रव्या-
धिकनयसे सदा शिष्य अर्थात् सदा मुक्त उस शक्तिरूप परमात्माकी
नमस्कार हो ।

आत्मव्यवहार—प्र सा/त प्र ६४/१११ जबचलितचैतनाविलास-
मात्रादारमव्यवहारात् । —‘मात्र अधिचलित चेतना ही मैं हूँ ऐसा
मानना परिणमना सो आत्म व्यवहार है ।

आत्मसंस्कार काल—वे काल १ ।

आत्महत्या—वे मरण ४ ।

आत्मागुल—क्षेत्र प्रमाणका एक भेद । —वे गणित १/१/३ ।

आत्माजन—१ पूर्व विदेहका एक वक्षार, उसका एक कूट य उसका
रक्षक देव । —वे लोक ६/३. ४ ।

आत्मा—घ १३/६. ६. ७/२२२/६ आत्मा द्वादशाङ्गम् आत्मपरिणाम-
स्वात् । न च परिणाम परिणामिनो भिन्न, सुबुद्ध्यात् पृथग्भूतघटादि-
पर्यायानुत्पत्त्यात् । आगमस्य प्रत्यक्षिरोपतो द्रव्यश्रुतस्याप्यारमर्ष-
प्राप्नोतीति चेत्, न, तस्यान्तर्मर्षस्योपचारेण प्राप्तागमस्य पर-
मार्थस्य आगमस्याभावात् । —द्वादशाङ्गकानाम् आत्मा है, क्योंकि वह
आत्माका परिणाम है । और परिणाम परिणामीसे भिन्न होता नहीं
क्योंकि मिट्टी द्रव्यसे पृथक् भूत कोई घट आदि पर्याय पायी जाती
नहीं । प्रश्न—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत ये दोनों ही आगम सामान्य-
की अपेक्षा समान हैं । अतएव जिस प्रकार भावस्वरूप द्वादशाङ्गको
'आत्मा' माना है उसी प्रकार द्रव्य श्रुतके भी आत्म स्वरूपताका
प्रसंग प्राप्त होता है । उत्तर—नहीं, क्योंकि द्रव्यश्रुत आत्माका धर्म
नहीं है । उसे जो आगम संज्ञा प्राप्त है, वह उपचारसे है । वास्तवमें
वह आगम नहीं है ।

स मा/आ ८ दर्शनज्ञानाचारिप्राप्त्यततीत्यामेत्यामपदस्याभिधेयं ।
—दर्शन, ज्ञान, चारित्रिको जो सदा प्राप्त हो वह आत्मा है ।

प्र सं/टी १४/४६ शुद्धचैतन्यमज्ञान आत्मा ।

प्र सं/टी ७०/२६० अथारमद्रूपार्थं न्ययते । 'अत' धातु मातर्य-
गमनेऽयं वर्तते । गमनद्रव्येनात्र ज्ञानं मध्यमे 'म' गम्यार्थं ज्ञानार्थं
इति वचनम् । तेन कारणेन यथा रम्यं शां' सुखादिगुणेषु आर-
मन्तास्य अस्ति वर्तते य म आत्मा भण्यते । अथवा शुभं शुभमनो-
बचनवागव्यापारैर्यथागम्यं शीतमग्नादिरूपेण आरामन्तादतति
वर्तते य म आत्मा । अथवा उत्पादयगम्योऽगम्य' तादृशति वर्तते
य म आत्मा । —शुद्ध चैतन्य लगनका धारक आत्मा है । अब आत्मा
शब्द का अर्थ करते हैं । 'अत' धातु निरन्तर गमन करने रूप अर्थमें
है । और गम्य 'गमनार्थक' घातुसामान्यक अर्थमें होती है इस वचन-
से गहरा 'गमन' शब्दसे ज्ञान कहा जाता है । इस कारण जो यथा-
संभव ज्ञान सुखादि गुणों में रम्य प्रकार वर्तता है वह आत्मा है ।
अथवा शुभ अशुभ मन वचन-वागकी क्रियाके द्वारा यथासंभव शीघ्र
मन्द आदि रूपसे जो पूर्ण रूपेण व्रता है वह आत्मा है । अथवा
उत्पाद, व्यय और धौव्य इन तीनों धर्मोंके द्वारा जो पूर्ण रूपसे
वर्तता है वह आत्मा है ।

२ आत्माके वहिरात्मादि ३ भेद

मो पा/मू ४ त्रिपगारो सो अप्पा परमिस्तराएरो दू रिऊन् । तत्र
परो फादज्ज अतोयाण्ण चयहि बहिरप्पा ॥४॥—सो आत्मा प्राणीनि
के तीन प्रकार हैं—अन्तरात्मा वहिरात्मा और परमात्मा । तहाँ
अन्तरात्माके उपाय करि वहिरात्माको छोड़कर परमात्माको ध्याओ ।
(स श ४) (सा १२/६/३९०) (सा सा/मू २६) (प प्र/मू १/११)
(प्र सं/टी १४/४६) ।

का आ/मू १२० जीवा हाति त्रिविहा बहिरप्पा तह म अतरप्पा य ।
परमप्पा बि म दुमिहा अर ता तह म मिट्ठा य ॥१२०॥—जोब तीन
प्रकारके हैं—वहिरात्मा अन्तरात्मा तथा परमात्मा । परमात्माके भी
दो भेद हैं—अर'त और सिद्ध ।

३ गुण स्थानोंकी अपेक्षा वहिरात्मा आदि भेद

प्र सं/टी. १४/४६/१अथ त्रिधात्मानं गुणस्थानेषु योजयति। त्रिध्यासासा-
दनमिश्रगुणस्थानत्रये तारसम्यग्गुणस्थानाधिकभेदेन वहिरात्मा हातव्य,
अविरतगुणस्थाने तत्त्वोपायुषुभेदापरिणतो जघन्यान्तरात्मा, शीघ्र-
कषायगुणस्थाने पुनरुत्कृष्ट अविरतशीघ्रकषायगोर्मध्ये मध्यम,
सयोग्ययोगिगुणस्थानद्वये विवक्षितपदेशशुद्धनयेन मिद्धस्वश पर-
मात्मा । मिद्धमसु साक्षरपरमात्माति । —अब तीनों तरहके आत्माओं-
की गुणस्थानोंमें योजित करते हैं—मिथ्यात्व, साक्षादन और मिश्र
इन तीन गुणस्थानोंमें तारतम्य न्यूनाधिक भावसे वहिरात्मा जानना
चाहिए, अविरत गुणस्थानमें उसके योग्य अशुभ तेरयासे परिणत
जघन्य अन्तरात्मा है और शीघ्रकषाय गुणस्थानमें उत्कृष्ट अन्तरात्मा
है । अविरत और शीघ्रगुणस्थानोंके बीचमें जो सात गुणस्थान हैं
उनमें मध्यम अन्तरात्मा है । सयोगी और अयोगी इन दो गुण-
स्थानोंमें विवक्षित पददेश शुद्ध नयकी अपेक्षा सिद्धके समान पर-
मात्मा है और सिद्ध से साक्षात् परमात्मा है ही ।

* वहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा—दे वह वह नाम ।

४ एक आत्माके तीन भेद करनेका प्रयोजन

स श ४ बहिरन्त परचैत त्रिधात्मा सवर्हदु । उपेयात्तत्र परम
मधोपायाद् बहिरन्त्यजेत् ॥४॥—सर्व प्राणियोंमें वहिरात्मा अन्त-
रात्मा और परमात्मा इस तरह तीन प्रकारका आत्मा है । आत्माके
उन तीन भेदोंमेंसे अन्तरात्माके उपाय द्वारा परमात्माको अगोचर
करें—अपनावे और वहिरात्माको छोड़ें ।

प प्र/मू १/१२/१६ अप्पा त्रिविह मुणेवि लहु मूढव मेवत्ति भाउ ।
मुणि सण्णाणं णामउ जो परमप्प सहाउ ॥१२॥—हे प्रभाकर भट्ट,
तू आत्माको तीन प्रकारका जानकर वहिरात्मा स्वरूप भावको क्षीय

ही छोड़, और जो परमात्माका स्वभाव है उसे स्वसवेदन ज्ञानसे अन्तरात्मा होता हुआ जान । वह स्वभाव केवलज्ञान करि परिपूर्ण है ।
 २ सं / तो १४/४६ अत्र बहिरात्मा हैय उपादेयभूतस्यानन्तमुत्पत्ति-
 कत्वादन्तरात्मा उपादेय, परमात्मा पुन साक्षादुपादेय इत्यभिप्राय ।
 —यहाँ बहिरात्मा तो हैय है और उपादेयभूत (परमात्माके) अनन्त
 सुखका साधक होनेसे अन्तरात्मा उपादेय है, और परमात्मा साक्षात्
 उपादेय है ।

* जीवको आ मा कहनेकी विवक्षा—दे जीव

* आत्मा ही कयचित प्रमाण है—दे प्रमाण

* शुद्धात्माके अपर नाम— दे मोक्षमार्ग २/५

आत्माधीनता—दे कृतिकर्म २/२ ।

आत्मानुभव—दे अनुभव ।

आत्मानुभूति—दे अनुभव ।

आत्मानुशासन—आ गुणभद्र (ई ८०३-८६६) द्वारा रचित संस्कृत
 श्लोक बद्ध आध्यात्मिक शास्त्र है । इसमें २७० श्लोक हैं । इसपर
 पं टोडरमलजी (ई १७६७) ने भाषा में टीका लिखी है । (तो ३/११)

आत्माश्रय दोष—श्लो वा ४/न्या ४६६/५ ६६६/५ स्वस्मिन्
 स्वापेक्षस्वमात्माश्रयत्व ।—स्वयं अपने लिए अपनी अपेक्षा करने रहना
 आत्माश्रय दोष है ।

आश्रय—भरत क्षेत्र उत्तर आर्य खण्डका एक देश—दे मनुष्य ४ ।

आदर—दक्षिण जम्बूद्वीपका रक्षक ध्यन्तर देव—दे व्यन्तर/४ ।

आदान निक्षेपन—दे समिति १ ।

आदि—रा वा १/११/१/२२ अयमादिशब्दोऽनेकार्थवृत्ति । क्वचि-
 त्प्राथम्ये वर्तते 'अकारादयो वर्णा ऋभ्रादयस्तोयंकरा' इति ।
 क्वचित्प्रकारे, भुजङ्गादयः परिहर्तव्या इति । क्वचिद्व्यवस्थायाम्
 'सर्वादि सर्वनाम इति । क्वचित्सामान्ये 'नद्यादीनि क्षेत्राणि' इति ।
 क्वचिद्वचनये 'टिदादि' इति, अथवा 'ब्राह्मणादिचरवारो वर्णा'
 इति । (रा वा १/३०/२/६०) । —'आदि' शब्दका अनेक अर्थोंमें
 प्रयोग होता है । १ कहीं तो 'प्रथम' के अर्थमें प्रयुक्त होता है जैसे
 अकारादि वर्ण या ऋप्रभादि तोयंकर । २ कहीं 'प्रकार' के अर्थमें
 प्रयुक्त होता है जैसे भुजङ्गादि रमाज्य हैं । कहीं व्यवस्थाके अर्थमें
 प्रयुक्त होता है जैसे—'सर्वादि सर्वनाम' इस व्याकरण सूत्रसे विदित
 है । ४ कहीं समीप्यके अर्थमें आता है जैसे—नदी आदिक क्षेत्र ।
 ५ कहीं अवयवके अर्थमें आता है जैसे 'टिदादि' यह व्याकरण सूत्र
 (अथवा ब्राह्मणादि चार वर्ण) रा वा १/३०/२/६०) । ६ मुख अर्थात्
 First term Head of quadrant or first digit in
 number series—(विशेष दे गणित II/६/३)

* सादि अनादि विषयक—दे अनादि ।

आदित्य—१ लौकान्तिक देवोंका एक भेद—दे लौकान्तिक,
 २ अनुदिश स्वर्गका पटल व इन्द्रक विमान—दे स्वर्ग ६/३ ।

आदित्यनगर—विजयार्थ पर्वतकी उत्तर ओंठीका एक नगर—दे
 विद्याधर ।

आदित्यप्रभ—(म पु ६६/श्लोक) लाफ्तबस्वर्गका देव था (२८०)
 पूर्व भवके भाई मुनिका उपसर्ग दूर किया (१३१-१३२) तदनन्तर
 स्वर्गसे च्युत हो विमलनाथ भगवात्का मेरु नामक गणधर हुआ
 (३०२-३०६) ।

आदिधन—दे, गणित II/६ ।

आदिनाथ—दे ऋषभ ।

आदिनाथ जयती व्रत—व्रत विधान सं १०५ । विधि—
 भगवात् आदिनाथकी जन्म तिथि चैत्र कृ० ६ को उपवास व वृजन,
 मन्त्र—'ओं ह्रीं श्रीवृषभनाथाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य ।

आदिनाथ निर्वाणोत्सव व्रत—व्रत विधान सं १०५ विधि—
 भगवात् आदिनाथकी निर्वाण तिथि माघ कृ० १४ को उपवास ।
 मन्त्र—'ओं ह्रीं वृषभाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य ।

आदिनाथ शासन जयन्ती व्रत—व्रत विधान सं १०५
 विधि—भगवात्की दिव्य च्चनिके प्रथम दिवस फागुन कृ० ११ को
 उपवास करें । मन्त्र—'ओं ह्रीं श्री वृषभाय नमः' जाप्य करें ।

आदिपुराण—ऋषभदेवके पूर्व भवोंका पूरा कथन । १ जिनसेन द्वि
 (ई ८९८-८७८) कृत २६ पर्व तथा ८००० श्लोक प्रमाण संस्कृत ग्रन्थ ।
 (तो २/३४१) । २ मल्लिषेण (ई १०४७) कृत । (दे मल्लिषेण) ।
 ३ सकलकीर्ति (ई १४०६-१४४२) कृत २० सर्ग तथा ४६२८ पद्य
 प्रमाण संस्कृत ग्रन्थ । (तो ३/३३३) ।

आदिपुरुष—दे ऋषभ ।

आदिब्रह्मा—दे ऋषभ ।

आदेय—सं सि ८/११/३६२/५ प्रमोषेत्तदारीरकारणमादेयनाम ।
 निष्प्रभशरीरकारणमनादेयनाम ।—प्रययुक्त शरीरका कारण आदेय
 नाम कर्म है और निष्प्रभ शरीरका कारण अनादेय कर्म है । (रा वा
 ८/११/३६-३७/५७६) (गो क /जी प्र ३३/३०/१६) ।

घ ६/१६-१७, २८/६६/५ आदेयता प्रहणीयता बहुमान्यता इत्यर्थ । जस्स
 कम्मस्स उदएण जीवस्स आदेयत्तमुपज्जदितं कम्ममादेयं णाम ।
 सत्तिवरीयभावणिज्वत्तयकम्ममणादेयं णाम ।—आदेयता, प्रहणी-
 यता और बहुमान्यता ये तीनों शब्द एक अर्थवाले हैं । जिस कर्मके
 उदयसे जीवके बहुमान्यता उत्पन्न होती है, वह आदेय नामकर्म
 कहलाता है । उससे अर्थात् बहुमान्यतासे विपरीत भाव (अनादर-
 णीयता) को उत्पन्न करनेवाला अनादेय नामकर्म है ।

घ १३/६६, १०१/३६६/३ जस्स कम्मस्सुदएण जीवो आदेजो होदि तमा-
 देज्जाणाम् । जस्स कम्मस्सुदएण सोभणाणुद्वानो वि ण गउरविज्झादि
 तमणादेज्ज णाम ।—जिस कर्मके उदयसे आदेय होता है वह आदेय
 नामकर्म है । जिस कर्मके उदयसे अच्छा कार्य करनेपर भी जीव
 गौरवको प्राप्त नहीं होता वह अनादेय नामकर्म है ।

* आदेय प्रकृतिकी वन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणा—

—दे वह वह नाम

आदेश—१ उद्दिष्ट आहारका एक भेद ।—दे उद्दिष्ट ।

घ १/९८/१६०/३ अपर आदेशेन भवेन विशेषेण प्ररूपणमिति ।—आदेश,
 भेद या विशेष रूपसे निरूपण करना दूसरी आदेश प्ररूपणा है ।

घ ३/१, २, २/१०/१ आदेश पृथग्भाव पृथक्करण विभजन विभक्ती-
 करणमित्यादयः पर्यायशब्दाः । गत्यादिभिन्नचतुर्दशजीवसमास-
 प्ररूपणमादेशः ।—आदेश, पृथग्भाव, पृथक्करण, विभजन, विभक्ति-
 करण इत्यादि पर्यायवाची शब्द हैं । आदेश निर्देशका प्रकृतमें
 स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि गति आदि मार्गणाओंके भेदोंसे भेदको
 प्राप्त हुए चौदह गुणस्थानोंका प्ररूपण करना आदेश निर्देश है ।

गो जी/यू ३/२२ सखेओ ओघात्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा ।
 वित्थारावेसो त्ति य मग्गसण्णा सकम्मभवा ॥३॥ —सखेय या ओघ
 ऐसी गुणस्थानकी संज्ञा रूढ़ है । यह संज्ञा दशन चारित्र मोह तथा
 सून वचन कायके योगों करि उपजै हैं । 'च' अर्थात् इसको सामान्य
 भी कहते हैं । बहुत्र तैसे ही विस्तार या आदेश ऐसी मार्गणा स्थान-
 की संज्ञा है । यह संज्ञा अपनी अपनी मार्गणाके नामकर्मकी प्रतीति-

के व्यवहारको कारण जो कर्म ताकै उदयते हो है। अर्थात् ओष प्ररूपणाका आधार मोहनीय कर्म है आवेश प्ररूपणाका आधार स्व स्व कर्म है।

२ उपदेशके अर्थमें

पं घ/उ ६४७ आवेशस्थोपदेशेभ्य स्याद्विशेष स भेदभाक्। आवदे गुरुणा दत्तं नोपदेशेभ्यं विधिः ॥६४७॥—आवेशमें उपदेशोंसे वह भेद रखनेवाला विशेष होता है कि मैं गुरुके दिए हुए मतको ग्रहण करता हूँ, परन्तु यह विधि उपदेशोंमें नहीं होती है। (अर्थात् आवेश अधि-कार पूर्वक आज्ञाके रूपमें होता है और उपदेश साधारण सम्भाषण-का नाम है।

आद्धा—दे अद्धा।

आद्यतमरण—दे मरण/१।

आधार—१ (घ ४/प्र २७) Base (of Logarithm)

१ आधार सामान्यका लक्षण

स सि ४/१२/२७७/६ धर्मादीनां पुनरधिकरणमाकाशमिच्छ्यते व्यव-हारनयवशात्। एवंधूतनयापेक्षया तु सर्वाणि द्रव्याणि स्वप्रतिष्ठा-न्येव।—वर्मादिक द्रव्योंका आकाश अधिकरण है यह व्यवहार नयको अपेक्षा कहा जाता है। एवंधूत नयका अपेक्षा तो सम द्रव्य स्वप्रतिष्ठ ही है।

२ आधार सामान्यके भेद व लक्षण

पो जो/जी प्र ४८३ में उद्धृत “औपरलेपिको वैपयिकोऽभिध्यापक इत्यपि। आधारस्त्रिविध प्राक्त घटाकाशतितेषु च।”—आधार तीन प्रकार है—औपरलेपिक, वैपयिक, और अभिध्यापक। १ तहाँ चटाई बिपे कुमार बोवे है ऐसा कहिए तहाँ औपरलेपिक आधार जानना। २ महुरी आकाश बिपे घटादिक द्रव्य तिष्ठे हैं ऐसा कहिए तहाँ वैपयिक आधार जानना। ३ महुरी तिस बिपे तैल है ऐसा कहिए तहाँ अभिध्यापक आधार जानना।

* आधार आधेय भाव —दे संभध।

आधारवत्त्व—म आ/यू ४२८ चौहसदणमपुव्वी महामदी साय-रोठव गभोरो। कप्पववहारधारी होदि हु आधारवत्त्व नाम।—जो चौहहृय दसपूर्व, और नव पूर्वका ज्ञाता है जिसमें समुद्र तुल्य गम्भीरता गुण है, जो कपववहारका ज्ञाता है अर्थात् जो प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता है उसमें बतार हुए प्रयोगीका जिसने अनुसरण किया है अर्थात् अपराधी मुनियोंको जिसने अनेक बार प्रायश्चित्त देकर इस विषयमें विशेष ज्ञान प्राप्त कर लिया है ऐसे आचार्य आधारवत्त्व गुणके धारक माने जाते हैं।

आध्यान—१ म पु २१/२२८ आध्यानं स्यादनुध्यानम् अनिरय-रवादिचिन्तन। ध्येयं स्यात् परम तत्त्वम् अवाहमनसगोचरम्।—अनिरयरवादि १२ भावनाओंका बार-बार चिन्तन करना आध्यान कहलाता है तथा मन और वचन के अगोचर जो अतिशय उत्कृष्ट शुद्ध आरमत्तव है वह ध्येय कहलाता है। २ अध्यापनके अर्थमें—दे अपध्यान/१।

आनद—१ भगवान् धीरके तीर्थमें अनुचरोपपादक हुए थे अनुच-रोपपादक, २ विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे विजयाधर; ३ विजयाधरकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे विजयाधर, ४ गन्ध-मादन विजयार्थपर स्थित एक कूट व उसका रक्षक देव—दे लोक/४/४, ५ म प्र ७३/१लोक अयोध्या नगरके राजा यज्ञबाहुका पुत्र था (४१-४२) दोहा धारण कर ११ अंगोंके अध्ययनपूर्वक तीर्थकर प्रकृति-का मन्त्र किया। सन्ध्याके समय पूर्वक आठवें भवके बैरी भाई कमठने सिंह यनकर इनको भव लिया। इन्होंने फिर प्राणतेज्य पद

गाया (६१-६८) यह पार्वनाथ भगवान् प्रा पूर्वका तीसरा भग ई—दे पार्वनाथ, ६ परमात्माके अपर नाम—दे, मोक्षमार्ग २/४।

आनदवर्धन—४/प्र ६ पं पञ्चाला बापसीवान “काश्मीर नरेक्ष” अवन्तिवर्मके समकालीन थे। समय ई ८८४।

आनदा—रूचक पर्वत निवासिनी दिवकुमारी देवी—दे लोक ४/११

आनदिता—नन्दन यनके यज्ञकूटकी स्वामिनी दिवकुमारी देवी—दे लोक ४/४।

आनत—१ कृष्णवारी देवीका एक भेद—दे स्वर्ग ३, २ तथा उनका अवस्थान—दे, स्वर्ग ४/८, ३ कृष्ण स्वर्गोंका १२वाँ कृष्ण—दे स्वर्ग ४/२, ४ आनतस्वर्गका प्रथम पटल व इन्द्रव—दे स्वर्ग ४/३।

आनपान—दे उच्छवास।

आनयन—स सि ७/११/३६६/६ आरमता संकल्पिते देदे स्थितस्य प्रयोजनवशाद्यारिकचिदानयेयाह्यापनमानयनम्।—अपने द्वारा संक-ल्पित देशमें ठहरे हुए पुरुषको प्रयोजन वश किमी भी वस्तुके लानेकी आज्ञा करना आनयन है। (रा बा ७/११/१/४५६)

आनर्त—म पु/प्र ४६ पं पञ्चाला “वर्तमान गुजरात का उत्तर भाग।” द्वारावती (हारिका) इसकी प्रधान नगरी थी।

आनर्थक्य—स सि ७/३२/३००/२ यापताऽर्थनोपभोगपरिभोगो सोऽर्थस्ततोऽन्यस्याधिष्यमानर्थक्यम्।—उपयोग परिभागेके लिए जितनी वस्तुकी आवश्यकता है सो अर्थ है उससे अतिरिक्त अधिक वस्तु रखना उपभोग परिभोगानर्थक्य है।

आनुपूर्वी—

१ आनुपूर्विके भेद

ध. १/१.१.१/७३/१ पुष्पाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जयत्तथाणुपुव्वी चेदि तिबिहा आणुपुव्वी।—पूर्वानुपूर्वी, पश्चात्तानुपूर्वी और यथातथानु-पूर्वी इस प्रकार आनुपूर्विके तीन भेद हैं। (घ ६/४.१.४५/१३६/१) (क पा १/१.१/६२३/२८/१) (म प्र २/०४)

२ पूर्वानुपूर्वी आदिके लक्षण

घ १/१.१.१/७३/१ जं मूलादो परिवाहीए उच्चदे सा पुष्पाणुपुव्वी। तित्ते उदाहरणं—उत्तरमजिय च वन्दे इच्चेवमादि। ज उबरोदो हेहा परिवाहीए उच्चदि सा पच्छाणुपुव्वी। तित्ते उदाहरण—एस करेमि य पणम जिनवरवसहस्स वट्ठमाणस्स। सेसाण च जिणार्हं सिव-सुह-कंला विलोमेण ॥६५॥ इदि। जमणुलोम-विलोमेहि विणा जहा तथा उच्चदि सा जयत्तथाणुपुव्वी। तित्ते उदाहरण—गय-गवत्त-सजन-जलहर-परटुय-सिंह-गलय-भमर-स कासो। हरिउल-वसपईवो सिव-माउव-वच्छओ-जयऊ ॥६६॥ इच्चेवमादि।—जो वस्तुका विवे-चन मूलसे परिपाटी-द्वारा किया जाता है उसे पूर्वानुपूर्वी कहते हैं। उसका उदाहरण इस प्रकार है, प्रपभनाथकी वन्दना करता हूँ, अजितनाथकी वन्दना करता हूँ इत्यादि। क्रमसे प्रपभनाथको आदि लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त क्रमवार वन्दना करना सो पूर्वानुपूर्वी उपक्रम है। जो वस्तुका विवेचन ऊपरसे अर्थात् अन्तसे लेकर आदि तक परिपाटी क्रमसे (प्रतिलोम पद्धतिसे) किया जाता है उसे पश्चात्तानुपूर्वी उपक्रम कहते हैं। जैसे—मोक्ष सुखकी अभिलाषासे यह मैं जिनवरोंमें श्रेष्ठ ऐसे महावीर स्वामीको नमस्कार करता हूँ। और विलोम क्रमसे अर्थात् बर्द्धमानके बाद पार्वनाथका, पार्वनाथके बाद नेमिनाथको इत्यादि क्रमसे शेष जिनेन्द्रोंको भी नमस्कार करता हूँ ॥६५॥ जो कथन अनुलोम और प्रतिलोम क्रमके घिना जहाँ कहींसे भी किया जाता है उसे यथातथानुपूर्वी कहते हैं। जैसे—हाथी, अरण्य भैंसा, जलपरिपूर्ण और सघनमेघ, कोयल, मयूरका कण्ठ और भ्रमर-

के समान बर्णवाले हरिवंशके प्रदोष और शिवादेवी माताके लाल ऐसे नेमिनाथ भगवाद् जयवन्त हों । इत्यादि ।

क पा १/१,१/६२२/२८/२ जं जेण कमेण सुत्तकारेहि ठव्वमुत्पण्णं वा तस्स तेण कमेण गणणा पुब्बाणुपुब्बो णाम । तस्स विलोमेण गणणा पच्छाणुपुब्बो । जत्थ व तत्थ वा उत्पणो इच्छिदमादि कादूण गणणा जत्थ-त्तथाणुपुब्बो होदि । —जो पदार्थ जिस क्रमसे सूत्रकारके द्वारा स्थापित किया गया हो, अथवा, जो पदार्थ जिस क्रमसे उत्पन्न हुआ हो उसकी उसी क्रमसे गणना करना पूर्वानुपूर्वी है । उस पदार्थकी विलोम क्रमसे अर्थात् अन्तसे लेकर आदि तक गणना करना पश्चात्तानुपूर्वी है । और जहाँ कहींसे अपने इच्छित पदार्थको आदि करके गणना करना यत्रतत्रानुपूर्वी है । (घ ६/४,१/४४/१३४/१)

आनुपूर्वी नामकर्म—सं सि ८/११/३६०/११ पूर्वशरीराकाराविनाशो यस्योदयाद् भवति तदानुपूर्व्यनाम । —जिसके उदयसे पूर्व शरीरका आकार विनाश नहीं होता वह आनुपूर्वी नामकर्म है । (रा बा ८/११/११/४७७) (गो क/जी प्र ३३/२६/१६)

घ ६/१६ १,२८/४६/२ पुब्बुत्तरसरीराणमत्तरे एग दो तिण्णि समए वट्ठमाणजीवस्स जस्स कम्मस्स उदएण जीवपदेसाणं विधिदो संठाण-विसेसो होदि, तस्स आणुपुब्बि त्ति सण्णा । इच्छिदगदिगमणं आणुपुब्बोदो । —पूर्व और उत्तर शरीरोंके अन्तरालवर्ती एक, दो और तीन समयमें वर्तमान जीवके जिस कर्मके उदयसे जीव प्रवेशोंका विशिष्ट आकार-विशेष होता है, उस कर्मकी 'आनुपूर्वी' यह संज्ञा है । आनुपूर्वी नामकर्मसे इच्छित गतिमें गमन होता है ।

२ आनुपूर्वी नामकर्मके भेद

प त्वा ६/१,६-१/सू ४१/७६ जं आणुपुब्बोणामकम्म त चउविहं, गिरय-गदिपाओग्गाणुपुब्बोणाम तिरिक्खगदिपाओग्गाणुपुब्बोणामं मणुस-गदिपाओग्गाणुपुब्बोणाम देवगदिपाओग्गाणुपुब्बोणाम चेदि । —जो आनुपूर्वी नामकर्म है वह चार प्रकारका है—नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म तिर्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म, मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म और देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म ॥४१॥ (सं सि ८/११/३६१/१), (प सं/पा २/४), (घ १३/४,६,११४/३७१), (रा बा ८/११/११/४७७/२३), (गो क/जी प्र ३३/२६/१२) —दे नामकर्म (आनुपूर्वी कर्मके अंतर्गतात्ते भेद संभव है) ।

३ विग्रहगति-गत जीवके सत्थानमें आनुपूर्वीका स्थान

रा बा ८/११/११/४७७/२४ ननु च तत्तिमणिनामकर्मसाध्य फलं नानुपूर्व्य-नामोदयकृत्तव । नैप दोष, पुर्वायुक्छेदसमकाल एव पूर्वशरीर-निवृत्तौ निर्माणनामोदयो निवर्तते, तस्मिन्निवृत्तेऽष्टविधकर्म तैजस-कार्माणशरीरसम्बन्धित आरमन पूर्वशरीरसंस्थानाविनाशकारण-मानुपूर्व्यनामोदयसुपैति । तस्य कालो विग्रहगतौ जघन्येनैकसमय, उरकषेण त्रय समया । श्रजुगतौ तु पूर्वशरीराकारविनाशे सति उत्तर-शरीरयोग्यपुद्गलग्रहणाभिर्माणनामकर्मोदयव्यापार । —प्रश्न—(विग्रहगतिमें आकार बनाना) यह निर्माण नामकर्मका कार्य है आनुपूर्वी नामकर्मका नहीं । उत्तर—इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि पूर्व शरीरके नष्ट होते ही निर्माण नामकर्मका उदय समाप्त हो जाता है । उसके नष्ट होनेपर भी आठ कर्मोंका पिण्ड कार्माण शरीर और तैजस शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले आरम प्रवेशोंका आकार विग्रहगतिमें पूर्व शरीरके आकार बना रहता है । विग्रहगतिमें इसका काल क्रमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक तीन समय है । हाँ, श्रजु-गतिमें पूर्व शरीरके आकारका विनाश होनेपर तुरन्त उत्तर शरीरके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण हो जाता है, अतः वहाँ निर्माण नामकर्मका कार्य ही है ।

घ ६/१,६-१,२८/४६/४ संठाणणामकम्मादो संठाण होदि त्ति आणुपुब्बि-परियप्पणा गिरिथिया वे ण, तस्स सरीरगहिदपक्वमसमयादो उववि

उदयमाणच्छिमाणस्स विग्रहकाले उदयाभावा । यदि आणुपुब्बिकम्म ण होज्ज तो विग्रहकाले अणिदसठाणो जीवो होज्ज । —प्रश्न—सत्थान नामकर्मसे आकार-विशेष उत्पन्न होता है, इसलिए आनुपूर्वीकी परिकल्पना निरर्थक है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, शरीर ग्रहण करनेके प्रथम समयसे ऊपर उदयमें आनेवाले उस संस्थान नाम-कर्मका विग्रहगतिके कालमें उदयका अभाव पाया जाता है । यदि आनुपूर्वी नामकर्म न हो, तो विग्रहगतिके कालमें जीव अनियत सत्थान वाला हो जायेगा । (घ १३/४,६,११६/३७२/२)

४. विग्रहगति-गत जीवके गमनमें आनुपूर्वीका स्थान

घ ६/१६ १-१,२८/४६/७ पुब्बसरीर छद्दिय सरीरत्तरमघेतुण द्विदजीवस्स इच्छिदगतिगमण कुदो होदि । आणुपुब्बोदो । विहायगदीदो किण्ण होदि । ण, तस्स तिण्ह सरीराणमुदएण विणा उदयाभावा । आणु-पुब्बो संठाणमिह बाधदा कध गमणहेत्तु होदि त्ति वे ण, तस्सि दोसु वि कज्जेसु बावारे विरोहाभावा । अचत्तसरीरस्स जीवस्स विग्रह-गईए उज्जुगईए वा जं गमण तं कस्स फल । ण तस्स पुब्बहेत्तपरि-च्छायाभावेण गमणाभावा । जीवपदेसाण जो पसरो सो ण णिक्कारणो, तस्स आउअसत्तफलत्तादो । —प्रश्न—

पूर्व शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरको नहीं ग्रहण करके स्थित जीवका इच्छित गतिमें गमन किस कर्मसे होता है । उत्तर—आनुपूर्वी नामकर्मसे इच्छित गतिमें गमन होता है । प्रश्न—विहायगति नाम-कर्मसे इच्छित गतिमें गमन क्यों नहीं होता है । उत्तर—नहीं, क्योंकि विहायगति नामकर्मका औदारिकादि तीनों शरीरोंके उदयके बिना उदय नहीं होता है । प्रश्न—आकार विशेषको बनाये रखनेमें व्यापार करनेवाले आनुपूर्वी इच्छित गतिमें गमनका कारण कैसे होती है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, आनुपूर्वीका दोनों भी कार्यके व्यापारमें विरोधका अभाव है । अर्थात् विग्रहगतिमें आकार विशेषको बनाये रखना और इच्छितगतिमें गमन कराना, ये दोनों आनुपूर्वी नामकर्म-के कार्य हैं । प्रश्न—पूर्व शरीरको न छोड़ते हुए जीवके विग्रहगतिमें अथवा श्रजुगतिमें (मरण-समुद्रातके समय) जा गमन होता है वह किस कर्मका फल है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, पूर्व शरीरको नहीं छोड़ने वाले उस जीवके पूर्व क्षेत्रके परित्यागके अभावसे गमनका अभाव है । पूर्व शरीरको नहीं छोड़नेपर भी जीव प्रवेशोंका जो प्रसार होता है वह निष्कारण नहीं है, क्योंकि वह आगामी भव सम्बन्धी आयुर्कर्मके सत्त्वका फल है ।

* आनुपूर्वी प्रकृतिका बंध उदय व सत्त्व प्रलम्पणा

—दे वह वह नाम ।

आनुपूर्वी सक्रमण—दे संक्रमण १० ।

आपाततिचार—दे अतिचार ३ ।

आपृच्छना—दे समाचार ।

आपेक्षिक गुण—दे स्वभाव ।

आप्त—नि सा ५/७ णिस्सेस दोसरहिओ केवलणणाह परमविभव-जुदो । सो परमप्पा उच्चइ तन्निवरीओ ण परमप्पा ॥७॥

नि सा/ता ४ ६/११ आप्त शाकारहित । शका हि सकलमोहरागद्वेपादय । —नि शेष दोषोंसे जो रहित है और केवलज्ञान आदि परम वैभवसे जो संयुक्त है, वह परमात्मा कहलाता है, उससे विपरीत वह परमात्मा नहीं है । आप्त अर्थात् शंका रहित । शका अर्थात् सकल मोह राग-द्वेषादिक (दोष) ।

र क आ ५/५ ७ आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेक्षिना । भवितव्यं नियोगेन नाम्यथा ह्याप्तता भवेव ॥६॥ क्षुरिपपासाजरातद्वज्जन्मातद्व-भयसमया । न रागद्वेषमोहाद्य यस्यास प्रकोर्यते ॥६॥ परमेष्टी पर-ज्योतिर्विरागो विमल वृत्ती । सर्वज्ञोऽनादिमप्याप्त सार्व शास्त्री-पलाश्वत्ये ॥७॥ —नियमसे वीतराग और सर्वज्ञ, तथा आगमका ईश

हो (सञ्जा देव) होता है, निरावय करके ग्रन्थ किसी प्रकार आपसपना नहीं हो सकता ॥१॥ जिस देवके श्रुता, तृपा, बुद्ध्या, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, रति, विषाद, खेद, स्वेद, निद्रा, आश्चर्य नहीं हैं, वही बौतराग देव कहा जाता है ॥६॥ जो परम पदमें गृहीतवाला हो, उत्कृष्ट ज्योतिर्वाला हो, राग-द्वेष रहित बौतराग हो, कर्मफल रहित हो, कुनकुर्य हो, सर्वज्ञ हो अर्थात् धृत, भविष्यत्, वर्तमानको समस्त पर्यायों सहित समस्त पदार्थोंको जानने वाला हो, आदि मध्य अन्त कर रहित हो और समस्त जीवोंका हित करनेवाला हो, वही हितोपदेशी कहा जाता है । (अन घ २/१४)

प्र सं १/१०/२१० में उद्धृत "श्रुता तृपा भय द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम् । जरा रुजा च मृत्युश्च खेद स्वेदो मदोऽरति ॥१॥ विस्मयो जन्म निद्रा विषादोऽष्टादश स्मृता । एतैर्वैर्विनिर्मुक्त सोऽयमाप्तो निरञ्जन ॥२॥ — श्रुता, तृपा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, जरा, रुजा, मरण, स्वेद, खेद, मद, अरति, विस्मय, जन्म, निद्रा और विषाद इन अष्टादश दोषोंसे रहित निरञ्जन आप्त श्री जिनेन्द्र हैं ।

स म १/८/२१ आसिंहि रागद्वेषमोहानामेकान्तिक आर्यन्तिकश्च क्षय, सा येपामस्ति ते त्वत्वासा । — जिसके राग-द्वेष और मोहका सर्वथा क्षय हो गया है उसे आप्त कहते हैं । (स म १/७/२३६/११)

न्या दी ३/४७४/११३ आप्त प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्वे सति परम हितोपदेशक तत्तोऽनेन विशेषेण तत्र नास्तिव्याप्ति । — जो प्रत्यक्ष ज्ञानसे समस्त पदार्थोंका ज्ञाता है और परम हितोपदेशी है वह आप्त है । इस परम हितोपदेशी विशेषणसे सिद्धोंके साथ अतिव्याप्ति भी नहीं हो सकती । अर्थात् अन्तर्गत भगवान् ही उपदेशक होनेके कारण आप्त कहे जा सकते हैं सिद्ध नहीं ।

* आप्तमें सर्वदोषोंका अभाव समर्थ है—वे, मोक्ष ६/४ ।

* सर्वज्ञताकी सिद्धि—वे केवलज्ञान ३, ४ ।

* देव, भगवान्, परमात्मा, अर्हन्त आदि—वे वह वह नाम ।

आप्त परीक्षा—आ विद्यानन्दि (ई ७७५-८४०) द्वारा रचित १२४ संस्कृत श्लोकमय ईश्वर विषयक न्याय ग्रन्थ है । (ती २/२६३)

आप्त मोक्षा—उत्तरार्ध सूत्रके मंगलाचरणपर आ समन्तभद्र (ई हा २) द्वारा रचित ११५ संस्कृत श्लोकमय न्यायपूर्ण ग्रन्थ है । इसका दूसरा नाम देवागम स्तोत्र भी है । इसमें न्याय पूर्वक भाववाद अभाववाद आदि एकान्त मतोंका निराकरण करते हुए भगवान् महा-बोरमें आप्तत्वकी सिद्धि की है । इस ग्रन्थ पर निम्न टीकाएँ उप-लब्ध हैं—१ आचार्य अकलक भट्ट (ई ६२०-६८०) कृत ८०० श्लोक प्रमाण 'अष्टशती' । २ आ विद्यानन्दि (ई ७७५-८४०) कृत ८०० श्लोक प्रमाण अप्सहस्री । ३ आ वादीभसिंह (ई ७७०-८६०) कृत वृत्ति । ४ आ वसुनन्दि (ई १०४३-१०६३) कृत वृत्ति । ५ पं जयचन्द्र छावड़ा (ई १८२६) द्वारा लिखी गयी संक्षिप्त भाषा टीका । (जै २/३०३), (ती २/१६०)

आवाधा—कर्मका बन्ध हो जानेके परचाव वह तुरत ही उदय नहीं आता, अधिक कुछ काल परचाव परिपक्व दशाको प्राप्त होकर ही उदय आता है । इस कालको आवाधाकाल कहते हैं । इसी विषयकी अनेकों विशेषताओंका परिचय यहाँ दिया गया है ।

१ आवाधा निर्देश

१ आवाधा कालका लक्षण

घ ६/१६६, ६/१४८/४ ण भाधा अवाधा, अवाधा चैव आवाधा । — भाधाके अभावको अवाधा कहते हैं । और अवाधा ही आवाधा कहलाती है ।

गो क यू १४५ कम्मसरुवेणायदव्व ण य एदि उदयरुवेण । रुवेणुदी-रणस्व व आवाहा जाय ताव हवे । — कामणि शरीर नामा नामकर्मके

उदय तें अर जोवके प्रवेशनिका जो चंचनपना सोई योग तिसके निमित्तकरि कार्माण वर्णना रूप पुद्गलस्वरूप मूल प्रवृत्ति वा उत्तर प्रकृति रूप होई आत्माके प्रवेशनिर्विष परस्पर प्रवेश है लक्षण जाका ऐसे बन्ध रूपकरि जे तिष्ठै हैं ते यावत् उदय रूप वा उदीरणा रूप न प्रवर्तै तिसकालका आवाधा कहिये । (गो क / यू ६१४)

गो जो / जो प्र २४३/६२३/४ तत्र विवक्षितसमये भद्रस्य उत्कृष्टस्थिति-बंधस्य सप्तसिकोटाकोटिसागरोपममात्रस्य प्रथमसमयादारम्य सम-सहस्रवर्षकालपर्यन्तमाधाधेति । — तहाँ विवक्षित कोई एक समय विषे मन्ध्या कार्माणका समय प्रभृत् ताकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तरि षोडश-कोटि सागरकी बंधी तिस स्थितिके पहले समय ते लगाय सात हजार वर्ष पर्यन्त तौ आवाधा काल है तहाँ कोई निर्जरा न हाई तातें कोई निषेक रचना नाहीं ।

२. आवाधा स्थानका लक्षण

घ ११/४, २, ६, ४०/१६२/६ जहण्णामाहमुक्कस्सामाहादी सोहिय सद्ध-सेसेम्मि एरुव्वे पक्खित्ते आमाहाट्ठाणं । एसत्थो सव्वरयपरुवेदव्वो । — उत्कृष्ट आवाधामें-से जवन्म आवाधाको घटाकर जो दोष रहे उसमें एक अंक मिला देनेपर आवाधा स्थान होता है । इस अर्थकी प्ररूपणा सभी जगह करनी चाहिए ।

३ आवाधा काण्डकका लक्षण

घ ६/१, ६-६, ४/१४६/१ कथमावाधाकण्डकस्सुप्पत्ती । उवकस्सामावाधं विरत्तिय उवकस्सट्ठिदि समत्थं करिय दिण्णे रूय पठि आवाधा कण्डकपमाण पावेदि । — प्रश्न—आवाधा काण्डककी उत्पत्ति कैसे होती है । उत्तर—उत्कृष्ट आवाधाको विरतन करके उसके ऊपर उत्कृष्ट स्थितिके समान खंड करके एक-एक रूपके प्रति देनेपर आवाधा काण्डकका प्रमाण प्राप्त होता है । उदाहरण—मान लो उत्कृष्ट स्थिति ३० समय, आवाधा ३ समय । तो $\frac{१०}{१} \frac{१०}{१} \frac{१०}{१}$ अर्थात्

$\frac{३०}{३} = १०$ यह आवाधा काण्डकका प्रमाण हुआ । और उक्त स्थिति-बन्धके भीतर ३ आवाधाके भेद हुए ।

विशेषार्थ—कर्म स्थितिके जितने भेदोंमें एक प्रमाण बाटी आवाधा है उसने स्थितिके भेदोंको आवाधा काण्डक कहते हैं ।

घ ११/४, २, ६, ४०/१४३/४ अप्पण्णो जहण्णामाहाए समऊणाए अप्पप्पण्णो समऊणजहण्णट्ठिदीए ओवट्ठिदाए एगमावाधाकंदयमाणच्छदि । सगसगउक्कस्सामाहाए सग-सगउक्कस्सट्ठिदीए ओवट्ठिदाए एगमावाह कंदयमाणच्छदि ।

घ ११/४, २, ६, ४०/२६८/२ आमाहाचरिमसमय गिरु मिदूण उवकस्सियं टिठ्ठिदि बंधदि । तत्तो समऊण पि बंधदि । एव दुसमऊणादिकमेण नेदव्व जाव पत्तिदोवमस्स अस खेज्जदिभागेयूणाट्ठिदि त्ति । एवमेदेण आमाहाचरिमसमयण यथापयोगाट्ठिदित्तेसाणमेगमावाहाकंदयमिदि ण्णणा त्ति बुत्त होदि । आमावाधे दुचरिमसमयस्स गिरु भण कादूण एव चैव विदियमावाहाकंदयं परुवेदव्व । आमाहाए तिचरिमसमय-गिरु भण कादूण पुव्वं व तदिदो आमाहावद्वो परुवेदव्वो । एवं गेयव्वं जाव जहण्णिया टिठ्ठिदि । एदेण सुत्तेण एगमावाहाकंदयस्स पमाणपरुपणा कदा ।

घ ११/४, २, ६, ४०/२७१/३ एगेमावाहट्ठाणास्स पत्तिदोवमस्स असंखेज्जदि भागमेत्तट्ठिदिमघट्ठाणाणमावाहाकंदयसण्णिदाण । — १ एक समय कम अपनी-अपनी आवाधाका अपनी-अपनी एक समय कम जवन्म स्थितियें भाग देने पर एक आवाधा काण्डकका प्रमाण आता है ।

२ अपनी-अपनी उत्कृष्ट आवाधाका अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थितियें भाग देने पर एक आवाधा काण्डक आता है । ३ आवाधाके अन्तिम समयको विवक्षित करके उत्कृष्ट स्थितिको बाँधता है । उससे एक समय कम भी स्थितिको बाँधता है इन प्रकार दो समय कम इत्यादि क्रमसे पण्योपमके असंख्यासमं भागसे रहित स्थिति तक ले जाया

चाहिए। इस प्रकार आवाधाके इस अन्तिम समयमें बन्धके योग्य स्थिति विशेषोंकी एक आवाधा काण्डक संज्ञा है। यह अभिप्राय है। आवाधाके द्विचरम समयकी विवक्षा करके इसी प्रकारसे द्वितीय आवाधा काण्डककी प्ररूपणा करना चाहिए। आवाधाके त्रिचरम समयकी विवक्षा करके पहिलेके समान तृतीय आवाधाकाण्डककी प्ररूपणा करना चाहिए। इस प्रकार जघन्य स्थिति तक यही क्रम जानना चाहिए। इस सूत्रके द्वारा एक आवाधा काण्डकके प्रमाणकी प्ररूपणा की गयी है। एक-एक आवाधा स्थान सम्बन्धी जो पण्यो-पमके असंख्यातवर्गे भाग मात्र स्थितबन्ध स्थान हैं उनकी आवाधा काण्डक संज्ञा है।

२ आवाधा सम्बन्धी कुछ नियम—

१ आवाधा सम्बन्धी सारणी

प्रमाण	विषय	आवाधा काल	
		जघन्य	उत्कृष्ट
गो क/भा १५०/१८६	१ उदय अपेक्षा सज्ञो पंचे का मिथ्यात्व कर्म	समयोन मुहूर्त	७००० वर्ष
घ १५६/१८६	आयुके बिना कर्मोंकी सामान्य आवाधा	प्रतिसागर स्थिति पर साधिक	प्रतिको को सागर पर १०० वर्ष (घ ६/१७२)
घ ६१५/१९००	आयुर्कर्म (बद्धमान)	स उच्छ्वास असंक्षेपाद्धा अत- मुहूर्त आ/अस	कोटि पूर्व वर्ष/३
घ ६/१६६/१३	आयुर्कर्म (बद्धमान)	आयु बन्ध भये पीछे कोष भुज्य-	मानायु
गो क/घ ६१७	आयुर्कर्मका सामान्य नियम	अन्तर्मुहूर्त सं	अन्तर्मुहूर्त
गो क घ ६१६	२ उदीरणा अपेक्षा ६२५६२५६२३३ कोट सा बाला कर्म	आवली	×
गो घ १५६	आयु बिना ७ कर्मोंकी	×	×
गो घ ६२८	बध्यमानायु	×	×

भुज्यमानायु (केवल कर्मभूमिया) कदली घाट द्वारा उदीरणा होवे, इसलिए उसकी आवाधा भी नहीं है। देव, नारकी व भोग भूमियोंमें आयुकी उदीरणा सम्भव नहीं।

* कर्मोंकी जघन्य उत्कृष्ट स्थिति व तत्सम्बन्धित आवाधा काल—वे स्थिति ६।

२ आवाधा निकालनेका सामान्य उपाय

प्रत्येक एक कोड़ाकोटि स्थितिकी उत्कृष्ट आवाधा—१०० वर्ष
७० या ३० कोड़ाकोटि स्थितिकी उत्कृष्ट आवाधा—१०० × ७० या
१०० × ३० या १०० × १० = ७००० या ३००० या १००० वर्ष
१ लाख कोटि सागर स्थितिकी उत्कृष्ट आवाधा—१००
+ (१० × १०) = १ वर्ष
१०० काट सागरकी उत्कृष्ट आवाधा—१ वर्ष + (१० × १० × १०)
= १/१००० वर्ष
१० कोटि सागरकी उत्कृष्ट आवाधा— $\frac{365 \times 24 \times 60}{10,000} = 4.224$ मिनिट

६२५६२३३ कोटि सागरकी उत्कृष्ट आवाधा—उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त

नोट—उदीरणाकी अपेक्षा जघन्य आवाधा, सर्वत्र आवली मात्र जानना, क्योंकि बन्ध हुए पीछे इतने काल पर्यन्त उदीरणा नहीं हो सकती।

३. एक कोड़ाकोटि सागर स्थितिकी आवाधा १०० वर्ष होती है

घ ६/१.६-६.३१/१७२/८ सागरोबमकोडाकोटीए वाससदमायाहा होदि।
—एक कोड़ाकोटि सागरोपमकी आवाधा सौ वर्ष होती है।

४. इससे कम स्थितियोंकी आवाधा निकालनेकी विशेष प्रक्रिया

घ ६/१.६-७.४/१८३/६ सग सगजावि पडियद्धायाधाकडएहि सगसगट्टिदोसु ओवट्टिदामु सग सग आयाधासमुत्पत्तीदो। ण च सव्वजादीसु आया-
धाकडयाण सरिसत्त, सखेज्वस्सट्टदिनधेसु अत्तोमुहुत्तमेत्तआयाधोव-
ट्टिठेसु सखेज्वसमयमेत्तआयाधाकडयदंसणादो। तदो सखेज्वरुवेहि
जहण्णट्टिठदिमिह भागे हिदे सखेज्वालियमेत्ता णिसेगट्टिठदीदो
सखेज्व गुणहीणा जहण्णयाधा होदि। —अपनी-अपनी जातियोंमें
प्रतिबद्ध आवाधा काण्डकोंके द्वारा अपनी-अपनी स्थितियोंके अप-
वर्तित करनेपर अपनी-अपनी अर्थात् विवक्षित प्रकृतियोंकी, आवाधा
उत्पन्न होती है। तथा, सर्व जातिवाली प्रकृतियोंमें आवाधाकाण्डकों
के सदृशता नहीं है, क्योंकि सख्यात वर्षबाले स्थिति बन्धोंमें अन्त-
र्मुहूर्त मात्र आवाधासे अपवर्तन करनेपर सख्यात समयमात्र आवाधा-
काण्डक उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं। इसलिए सख्यात रूपोंसे
जघन्य स्थितिमें भाग देनेपर निपेक्ष स्थितिसे सख्यातगुणित हीन
सख्यात आवलिमात्र जघन्य आवाधा होती है।

५ एक आवाधाकाण्डक घटनेपर एक समय स्थिति घटती है

घ ६/१.६-४/१४६/४ णयायाधाकडएण्णउल्लस्सट्टिठदि बंधमाणस्स समज्जण-
तिण्णिवाससहस्साणि आवाधा हादि। एदेण सरुवेण सव्वट्टिठदीण
पि आवाधापरुवण जाणिय कादव्व। णवरि दीहि आवाधाकडएहि
अणियमुल्लस्सट्टिठदि बंधमाणस्स आवाधा उल्लस्सिया दुसमज्जणा
होदि। तीहि आवाधाकडएहि जणियमुल्लस्सट्टिठदि बंधमाणस्स
आवाधा उल्लस्सिया तिसमज्जणा। चउहि वदुसमज्जणा। एवं जेदव्व
जाव जहण्णट्टिठदि त्ति। सव्वआवाधाकडएसु बीचारट्टाणत्तं पत्तेसु
समज्जणायाधाकडयमेत्तट्टिठदीणमवट्टिठदा आवाधा होदि त्ति घेत्तव्व।
—एक आवाधा काण्डकसे हीन उत्कृष्ट स्थितिकी बाँधनेवाले समय-
प्रबद्धके एक समय कम तीन हजार वर्षकी आवाधा होती है। इसी
प्रकार सर्व कर्म स्थितियोंकी भी प्ररूपणा जानकर करना चाहिए।
विशेषता केवल यह है कि दो आवाधा काण्डकोंसे हीन उत्कृष्ट
स्थितिकी बाँधनेवाले जीवके समय प्रबद्धकी उत्कृष्ट आवाधा दो
समय कम होती है। तीन आवाधाकाण्डकोंसे हीन उत्कृष्ट स्थितिकी
बाँधनेवाले जीवके समयप्रबद्धकी उत्कृष्ट आवाधा तीन समय कम
होती है। चार आवाधा काण्डकोंसे हीनवालेके उत्कृष्ट आवाधा चार
समय कम होती है। इस प्रकार यह क्रम विवक्षित कर्मकी जघन्य
स्थिति तक ले जाना चाहिए। इस प्रकार सर्व आवाधा काण्डकोंके
विचारस्थानत्व अर्थात् स्थिति भेदोंको, प्राप्त होनेपर एक समय कम
आवाधा काण्डकमात्र स्थितियोंकी आवाधा अवस्थित अर्थात् एक-
सौ होती है, यह अर्थ जानना चाहिए।

उदाहरण—मान लो उत्कृष्ट स्थिति ६४ समय और उत्कृष्ट
आवाधा १६ समय है। अतएव आवाधाकाण्डका प्रमाण $\frac{64}{16} = 4$
होगा।

मान लो जघन्य स्थिति ४५ समय है। अतएव स्थितियोंके भेद
६४ से ४५ तक होंगे जिनकी रचना आवाधाकाण्डकोंके अनुसार इस
प्रकार होगी—

१ प्रथमकाण्डक—६४, ६३, ६२, ६१ समय स्थितिकी उ आवाधा

—१६ समय

- २ द्वितीयकाण्डक—६०, ६६, ६८, ६७ सम्य स्थितिकी उ आवाधा
—१४ समय
३ तृतीयकाण्डक—६६, ६६, ६६, ६६ सम्य स्थितिकी उ आवाधा
—१४ समय
४ चतुर्थकाण्डक—६२, ६१, ६०, ६६ सम्य स्थितिकी उ आवाधा
—१३ समय
५ पञ्चमकाण्डक—४८, ४७, ४६, ४५ सम्य स्थितिकी उ आवाधा
—१२ समय

यह उपरोक्त पाँच तो आवाधाके भेद हुए ।

स्थिति भेद—आवाधा काण्डक ५×हानि ४ समय—२० विचार स्थान अतः स्थिति भेद २०—१—१६

इन्हीं विचार स्थानोंको उत्कृष्ट स्थितिमें से मटानेपर जघन्य स्थिति प्राप्त होती है । स्थितिकी क्रम हानि भी इतने ही स्थानोंमें होती है ।

६ क्षपक श्रेणीमें आवाधा सर्वत्र अन्तर्मुहूर्त होती है

क पा ३/३, २२/६३०/२१०/३ सत्तरसागरोवमकोडाकोडीणं यदि सत्ता-वासमहत्समेत्तावाहा लम्भदि तो अट्ठणं वस्साण किं त्तामांति पमाणेनिकापुकिंफले ओवट्टिदे जेण एगसमयस्स असरोज्झिभागे आगच्छदि तेण अट्ठणं वस्साणमाहा। अतोमुहूर्तमेत्ता। चित्तं घट्टे। ण एस दोसो, संसारवरथ मोत्तूण त्वगसिद्धोए एव विज्ञानियमा-भावाद्दो। प्रश्न—सत्तरि कोडाकाडो सागरप्रमाण स्थितिकी यदि मात हजार वर्ष प्रमाण आवाधा पायी जाती है तो आठ वर्ष प्रमाण स्थिति की कितनी आवाधा प्राप्त होगी, इस प्रकार प्रैराशिक विधिके अनुसार इच्छाराशिके फलराशिकी गुणित करके प्रमाण राशिका भाग देनेपर चूँकि एक समयका असंख्यातवर्ष भाग आता है, इसलिए आठ वर्ष-की आवाधा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है, यह कथन नहीं बनता है । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि संसार अवस्थाको छोड़ कर क्षपक श्रेणीमें इस प्रकारका नियम नहीं पाया जाता है ।

७ उदीरणाकी आवाधा आवली मात्र ही होती है

गो क मू ६९८/१०९३ आवलियं आवाहा उदीरणमासिजसत्तकम्मान । ६९८—उदीरणाका आश्रय करि आयु बिना सात कर्मकी आवाधा आवली मात्र है बंधे पीछे उदीरणा होई तो आवली काल भए ही हो जाइ ।

८. भुज्यमान आयुका शेष भाग ही बद्धमान आयुकी आवाधा है

ध ६/१, ६—६ २२/१६६/६ एवमाउत्स आवाधा गितेयद्विदो अण्णोणाय-त्तादो ण होति चि जाणावणट्ठ गितेयद्विदी चेव वरुविदा । पुम्भ-कोष्ठितिभागमादि काट्टण जाव अंखेवात्ता चि एदेसु आवाधाविय-न्नेसु देव गिरयाण आउत्स उक्कत्स गितेयद्विदी संभवदि चि उच्च होदि । —उस प्रकार आयुकर्मकी आवाधा और निपेक स्थिति परस्पर एक दूसरेके अधीन नहीं है (जिस प्रकार कि अन्य कर्मोंकी होती है) । इसका यह अर्थ होता है कि पूर्वकोटी वर्षके त्रिभाग अर्थात् तीसरे भागकी आदि करके असंख्यवात्ता अर्थात् जिससे छोटा (संक्षिप्त) कोई काल न हो, ऐसे आवलीके असंख्यातवर्ष भागमात्र-काल तक जितने आवाधा कालके विकल्प होते हैं, उनमें देव और नारकियोंके आयुकी उत्कृष्ट निपेक स्थिति सम्भव है । (अर्थात् देव और नरकायुकी आवाधा मनुष्य व तिर्यक्चोंके बद्धमान भवमें ही पूरी हो जाती है) । तथा इसी प्रकार अन्य सर्व आयु कर्मोंकी आवाधा-के सम्बन्धमें भी यथायोग्य जानना ।

गो क भाषा १६०/१६६/१२ आयु कर्मकी आवाधा तो पहला भयमें होय गई पीछे जो पर्याय धखा चाहें आयु कर्मकी स्थितिके जेते निपेक हैं तिन सर्व समयनि विषे प्रथम समयस्थों लगाय अन्त समय पर्यन्त समय-समय प्रति परमाणु क्रममें त्वरे हैं ।

९. आयुकर्मकी आवाधा सम्बन्धी दावा समाधान

ध ६/१, ६—६ २२/१६६/१० पुत्रवकोष्ठितिभागादो आवाधा अहिमा किण्ण होदि । उचये—ण ताम्भवे देहएसु मट्टमाणाज्झमाउट्टिदएसु पुत्रवकोष्ठितिभागादो अहिमा आवाधा अरिथि, तिमि एवमाभावेणे भुज्जमाणाउ अमोपेपाटावज्झमादे गरी वग्भविमगाउत्तवधमाणाव सद्यंभवा । न तिरिमत मनुंसु विरुदो अहिमा आवाधा अरिथि, तरयपुत्रवकोष्ठिदो अहिमवग्भविदो अभावा । अमोपेपाटाव तिरिमा मनुसा अरिथि चि ये न, मति देव देहएसा व भुज्जमाणाउ एवमा सादो अरिथि गरी परमविमगाउत्तवध बंधाभावा ।

ध ६/१, ६—६ २२/१६६/१० पुत्रवकोष्ठितिभागा वि भुज्जमाणाउ गरी देवदेहएवसमायमहमगाउट्टिदवधसभावादे पुत्रवकोष्ठितिभागा आवाधा चि किण्ण वरुविदा । न एव गरी जहन्नाट्टिदए अभावा-सागादो । —प्रश्न—आयुकर्मकी आवाधा, पूर्वकोटीके त्रिभागमें अधिक क्यों नहीं होती? उत्तर—(मनु) जो और तिर्यक्चोंमें बन्ध हान योग्य आयु तो उपरोक्त दावा उठती ही नहीं। और न ही और नागरोवमकी आयु में स्थितिवाने देव और नारकियोंमें पूर्व कोटीके त्रिभागमें अधिक आवाधा होती है, क्योंकि उनका भुज्यमान आयुके (अधिकमें अधिक) यह माग अवशेष रहनेपर (तथा कर्ममें कम) अमोपेपाटा कालके अवशेष रहनेपर आगामीभब सम्बन्धी आयुको बंधीवाने उन देव और नारकियोंके पूर्व कोटीके त्रिभागमें अधिक आवाधाका हाना असम्भव है । न तिर्यक्च और मनुष्योंमें भी इससे अधिक आवाधा सम्भव है, क्योंकि उनमें पूर्व कोटीके अधिक भावस्थितिका अभाव है । प्रश्न—(योग भूमियोंमें) अमोपेपाट वर्षोंके आयुवाने तिर्यक् और मनुष्य होते हैं, (किन्तु उनके पूर्व कोटीके त्रिभागमें अधिक आवाधाका हाना सम्भव क्यों नहीं है) ? उत्तर—नहीं क्योंकि, उनके देव और नारकियों के समान भुज्यमान आयुके यह मागमें अधिक होनेपर भवसम्बन्धी आयुके बन्धका अभाव है (अतएव पूर्व कोटीके त्रिभागमें अधिक आवाधाका हाना सम्भव नहीं है) । (क्रमशः) प्रश्न—भुज्यमान आयु में पूर्वकोटी का त्रिभाग अवशिष्ट रहने पर भी देव और नारक सम्बन्धी दश हजार वर्षोंके जघन्य आयु स्थिति का बन्ध सम्भव है, किन्तु पूर्वकोटीका त्रिभाग आवाधा है ऐसा सूचने क्यों नहीं प्रवृत्त किया ? उत्तर—नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर जघन्यस्थितिके अभावका प्रसंग आता है अर्थात् पूर्वकोटीका त्रिभाग मात्र आवाधा काल जघन्य आयु स्थितिबन्ध के साथ सम्भव हो है, पर जघन्य कम स्थितिका प्रमाणनाने के लिए तो जघन्य आवाधाकाल ही प्रवृत्त करना चाहिये, उत्कृष्ट नहीं ।

१०. नोकर्मोंकी आवाधा सम्बन्धी

ध १४/६, २४६/३३२/११ गोक्मस्स आवाधामावेण किमदुमेत्थ पत्थि आवाधा । साभावियादो । —नोकर्मकी आवाधा नहीं होनेके कारण । प्रश्न—यहाँ आवाधा किस कारणसे नहीं है ? उत्तर—क्योंकि ऐसा स्वभाव है ।

* मूलोत्तर प्रकृतियोंकी जघन्य उत्कृष्ट आवाधा व उनकी स्वामित्व —दे स्थिति ६ ।

आमत्रिणी भावा—दे भाषा ।

आमर्षोपध ऋद्धि—दे श्रद्धि ७ ।

आमुन्डा—पर्व १०/६, ६ सू ३६/२४३ आवायो वससायो बुद्धि विष्णुणा आउठो पञ्चाउठी ३३६ आमुन्डपते सकोच्यते नित-चित्तोऽयं अनयेति आमन्डा । —अवाय व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञानि, आयुष्ठा, प्रत्यमुन्डा ये पर्याय नाम हैं ३३६ जिम्मे द्वारा वितर्कित अर्थ 'आमुन्डपते' अर्थात् संकाचित किया जाता है यह आमुन्डा है ।

आम्नाय—स सि ६/२५/४४३/५धोपशुद्ध परिवर्तनमाम्नाय ।—उच्चा-
रणकी शुद्धि पूर्वक पाठको पुन-पुन दोहराना आम्नाय है ।

(त सा ७/१६), (अन घ ७/८७/७१६)

रा वा ६/२५/४६२४/१६ व्रतितो वेदितसमाचारस्यैहलौकिकफलनिर-
पेक्षस्य द्रुतविलम्बितादिषोपविशुद्ध परिवर्तनमाम्नाय इत्युपदि-
श्यते ।—आचारपारगामो व्रतीका लौकिक फलकी अपेक्षा क्रिये बिना
द्रुतविलम्बितादि पाठ दोषोंसे रहित होकर पाठका फेरना, धोखना
आम्नाय है । (चा सा १५३/३)

आय—१ आयका वर्गीकरण—दे दान । २ सभ गुणस्थानों व
मार्गणा स्थानोंमें आयके अनुसार व्यय ।

—दे मार्गणा ।

आयत—१ आयत चतुरस्राकार—(ज प/प्र १०६) Rectangular ।

२ त्रिर्त्यक् आयत चतुरस्र—(ज प/प्र १०६) Cuboid । ३ आयत
सामान्य—ऊर्ध्वता सामान्य अर्थात् एक द्व्ययकी सर्व पर्यायों
में रहनेवाला एक अन्य सामान्य ।—वे क्रम ६ ।

आयतन—

१ आयतन व अनायतनका लक्षण

बो पा/मु ६—७ मणवयणकायदब्बा आसता जस्स इ दिया विसया ।
आयदणं जिणमग्गे णिदिट्ठ संजय ख्वं ॥६॥ मय राय दोस मोहो
कोहो लोहो य जस्स आयत्ता । पचमहव्ययधरा आयदणं महरिसी
भणियं ॥६॥ सिद्ध जस्स सदरथ विसुद्धमाणस्स णाणजुत्तस्स ।
सिद्धायदणं सिद्ध मुणिवरवसहस्स मुणिरथं ॥७॥—जिन मार्ग विषै
संयम सहित मुनिरूप है सो आयतन कहा है । कैसा है मुनिरूप—
जाके मन, वचन, काय तथा पचेन्द्रियोंके विषय अधीन हैं अर्थात्
जो इनके बश नहीं है परन्तु यह ही जिनके बशीभूत है ॥६॥ जाके
मद, राग द्वेष, मोह क्रोध और माया ये सर्व निग्रह हूँ प्राप्त भये हैं,
बहुरि पाँच महाव्रतोंको धारण करनेवाले हैं ॥६॥ जाके सदर्थ अर्थात्
शुद्धात्मा सिद्ध भया है, जो विशुद्ध शुबलध्यान कर युक्त हैं । जिन्हें
केवलज्ञान प्राप्त भया है, जो मुनिवर वृषभ अर्थात् मुनियोंमें प्रधान है
ऐसे भगवान् भी सिद्धायतन हैं ॥७॥

प्र स/टी ४१/६६ सम्मक्खादिगुणानामायतन गृहमावास आश्रय-
आधारकरणं निमित्तमायतनं भण्यते तद्विषयभूतमनायतनमिति ।
—सम्मक्खादि गुणोंका आयतन घर-आवास-आश्रय (आधार) करने
का निमित्त, उसको 'आयतन' कहते हैं और उससे विपरीत अनाय-
तन है ।

२ बौद्धके द्वादश आयतन निर्देश

बो पा/टी ६/७ ५ पर उद्धृत “पंचेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषया पञ्च-
मानस । धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च ।—बौद्ध मतमें आय-
तनका ऐसा लक्षण है—पाँच इन्द्रिय, शब्दादि पाँच विषय, मन व
धर्म इस प्रकार १२ आयतन होते हैं ।

३ पद अनायतन निर्देश

प्र स/टी ४१/६६६/२ अथानायतनपदकं कथयति । मिथ्यादेवो,
मिथ्यादेवाराधको, मिथ्यातपो, मिथ्यातपस्वी, मिथ्यागमो मिथ्या-
गमधरा पुरुषाश्चैत्युक्तलक्षणमनायतनपदक ।—अब छह अनायतनों-
का कथन करते हैं—मिथ्यादेव, मिथ्यादेवोंके सेवक, मिथ्यातप,
मिथ्यातपस्वी, मिथ्याशास्त्र और मिथ्याशास्त्रोंके धारक, इस प्रकारके
छह अनायतन सरासम्म्यदृष्टियोंको त्याग करने चाहिए ।

बा पा/टी ६/३४ पर उद्धृत “कुदेवगुरुदास्त्राणां तत्त्वतानां गृहे गति ।
पठनायतनमित्येवं वदन्ति विदितागमा ॥१॥ प्रभाचन्द्रस्त्वैवं वदति
मिथ्यादर्शनज्ञानचरित्राणि त्रीणि त्रयं च तत्त्वतः पुरुषा पठनाय-
तनानि । अथवा असर्वज्ञ १ असर्वज्ञायतन, २ असर्वज्ञान, ३ असर्व-

ज्ञानसमवेतपुरुष, ४ असर्वज्ञानुष्ठानं, ५ असर्वज्ञानुष्ठानसमवेतपुरुष-
श्चेति ।—कुदेव, कुगुरु, व कुशास्त्रके तथा इन तीनोंके उपासकोंके
घरोंमें आना-जाना, इनको आगमकारोंने पठनायतन ऐसा नाम दिय
है ॥१॥ प्रभाचन्द्र आचार्य ऐसा कहते हैं कि—मिथ्यादर्शन, मिथ्या-
ज्ञान, मिथ्याचारित्र ये तीन तथा इन तीनोंके धारक अर्थात् मिथ्या-
दृष्टि, मिथ्याज्ञानी व मिथ्या आचारवान् पुरुष, यह छह अनायतन
हैं । अथवा १ असर्वज्ञ, २ असर्वज्ञदेवका मन्दिर, ३ असर्वज्ञ ज्ञान,
४ असर्वज्ञ ज्ञानका धारक पुरुष, ५ असर्वज्ञज्ञानके अनुकूल आचार,
६ और उस आचारके धारक पुरुष यह छह अनायतन हैं ।

आयाम—१ Length (ज प/प्र १०६) । २ गुणहानि आयाम ।

—दे गणित II/६/२ । ३ गुणश्रेणी आयाम—दे सक्रमण ८ ।

आयु—जीवकी किसी विवक्षित क्षरीरमें टिके रहनेकी अवधि का नाम

ही आयु है । इस आयुका निमित्तकर्म आयुर्कर्म कहलाता है । यद्यपि
गतिकी भौति वह भी नरकादि चार प्रकारका है, पर गतिमें और
आयुमें अन्तर है । गति जीवकी हर समय बँधी है पर आयु
बन्धके योग्य सारे जीवनमें केवल आठ अवसर आते हैं जिन्हें
अपकर्ष कहते हैं । जिस आयुका उदय आता है उसी गतिका उदय
आता है अन्य गति नामक कर्म भी उसी रूपसे सक्रमण द्वारा अपना
फल देते हैं । आयुर्कर्म दो प्रकारसे जाना जाता है—भुज्यमान व
वर्तमान भवमें जिसका उदय आ रहा है वह भुज्यमान
है और इसीमें जो अगले भवकी आयु बँधी है सो वर्तमान है ।
भुज्यमान आयुका तो बदलीवात आदिके निमित्तसे केवल अपकर्षण
हो सकता है उत्कर्षण नहीं पर वर्तमान आयुका परिणामोंके निमित्त
से उत्कर्षण व अपकर्षण दोनों सम्भव हैं । किन्तु विवक्षित आयु-
कर्मका अन्य आयु रूपसे सक्रमण होना कभी भी सम्भव नहीं है ।
अर्थात् जिस जातिकी आयु बँधी है उसे अवश्य भोगना पड़ेगा ।

१ भेद व लक्षण

१ आयु सामान्यका लक्षण

२ आयुष्यका लक्षण

३ आयु सामान्यके दो भेद (भवायु व अद्वायु)

४ आयु सत्त्वके दो भेद (भुज्यमान व वद्व्यमान)

५ भवायु व अद्वायुके लक्षण

६ भुज्यमान व वद्व्यमान आयुके लक्षण

७ आयु कर्म सामान्यका लक्षण

* आयु कर्मके उदाहरण—दे प्रकृतिबन्ध/१

८ आयुर्कर्मके चार भेद (नरकादि)

९ आयुर्कर्मके असख्यात भेद

१० आयुर्कर्म विशेषके लक्षण

२ आयु निर्देश

१ आयुके लक्षण सन्ध्वी शका

२ गतिवन्ध जन्मका कारण नहीं आयुवन्ध है

३ जिस भवकी आयु बँधी नियमसे वही उत्पन्न होता है

* विग्रह गतिमें अगली आयुका उदय—दे उदय ४

४ देव नारकियोंकी बहुलताकी अपेक्षा असख्यात वर्षायुष्क
कहा है

३ आयु कर्मके बन्धयोग्य परिणाम

- १ मध्यम परिणामोमें ही आयु बँधती है
- २ अल्पायु बन्ध योग्य परिणाम
- ३ नरकायु सामान्यके बन्ध योग्य परिणाम
- ४ नरकायु विशेषके व घ योग्य परिणाम
- ५ कर्म भूमिज तिर्यञ्च आयुके बन्ध योग्य परिणाम
- ६ भोग " " " " " "
- ७ कर्म भूमिज मनुष्योंके बन्ध योग्य परिणाम
- ८ शालाका पुरुषोकी आयुके बन्ध योग्य परिणाम
- ९ सुभोग भूमिजोकी आयुके बन्ध योग्य परिणाम
- १० कुभोग भूमिज मनुष्यायुके बन्ध योग्य परिणाम
- ११ देवायु सामान्यके बन्ध योग्य परिणाम
- १२ भवनत्रिक आयु सामान्यके बन्ध योग्य परिणाम
- १३ भवनवासी देवायुके बन्ध योग्य परिणाम
- १४ व्यन्तर तथा नीच देवोकी आयुके बन्ध योग्य परिणाम
- १५ ज्योतिष देवायुके बन्ध योग्य परिणाम
- १६ कल्पवासी देवायु सामान्यके बन्ध योग्य परिणाम
- १७ कल्पवासी देवायु विशेषके बन्ध योग्य परिणाम
- १८ लौकान्तिक देवायुके बन्ध योग्य परिणाम
- १९ कपाय व लेश्याकी अपेक्षा आयु बन्धके २० स्थान
- * आयुके बन्धमें सक्लेश व विशुद्ध परिणामोका स्थान —दे स्थिति ४

४ आठ अपकर्ष काल निर्देश

- १ कर्म भूमिजोकी अपेक्षा आठ अपकर्ष
- २ भोग भूमिजो तथा देव नारकियोकी अपेक्षा ८ अपकर्ष
- ३ आठ अपकर्ष कालोमें न बँधे तो अन्त समयमें बँधती है
- ४ आयुके त्रिभाग शेष रहनेपर ही अपकर्ष काल आने सम्बन्धी दृष्टि भेद
- ५ अन्तिम समयमें केवल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही आयु बँधती है
- ६ आठ अपकर्ष कालोमें बँधी आयुका समीकरण
- ७ अन्य अपकर्षमें आयु बन्धके प्रमाणमें चार वृद्धि व हानि सम्भव है
- ८ उसी अपकर्ष कालके सर्व समयोमें उत्तरोत्तर हीन बन्ध होता है
- * आठ सात आदि अपकर्षोमें आयु बाँधने वालों का अल्पवृहत्त्व —दे अष्टमहापुराण ३/६/१६

५ आयुके उत्कर्षण व अपवर्तन सम्बन्धी नियम

- १ वद्धमान व भुज्यमान दोनों आयुओका अपवर्तन सम्भव है

- * भुज्यमान आयुके अपवर्तन सम्बन्धी नियम—दे मरण ४
- २ परन्तु वद्धमान आयुकी उदीरणा नहीं होती
- ३ उत्कृष्ट आयुके अनुभागका अपवर्तन सम्भव है
- ४ असख्यात वर्षायुको तथा चरम शरीरियोंकी आयुका अपवर्तन नहीं होता
- * आयुका स्थिति काण्डक घात नहीं होता—दे अपकर्षण ४
- ५ भुज्यमान आयुपर्यन्त वद्धमान आयुमें वाधा सम्भव है
- ६ चारो आयुओका परस्परमें सक्रमण नहीं होता
- ७ समयकी विराधनासे आयुका अपवर्तन हो जाता है
- * अकाल मृत्युमें आयुका अपवर्तन —दे मरण ४
- ८ आयुका अनुभाग व स्थिति घात साथ-साथ होते हैं

६ आयुबन्ध सम्बन्धी नियम

- १ तिर्यंचोकी उत्कृष्ट आयु भोगभूमि, स्वयम्भूरमण द्वीप व कर्मभूमिके चार कालोमें ही सम्भव है
- २ भोगभूमिजोंमें भी आयु हीनाधिक हो सकती है
- ३ वद्धायुष्क व घातायुष्क देवोंकी आयु सम्बन्धी स्पष्टीकरण
- ४ चारों गतियोंमें परस्पर आयुबन्ध सम्बन्धी
- ५ आयुके साथ वही गति प्रकृति बँधती है
- ६ एक भवमें एक ही आयुका बन्ध सम्भव है
- ७ वद्धायुष्कोमें सम्यक्त्व व गुणस्थान प्राप्ति सम्बन्धी
- ८ वद्धमान देवायुष्का सम्यक्त्व विराधित नहीं होता
- ९ बन्ध उदय सत्त्व सम्बन्धी सयोगी भग
- १० मिथयोगोमें आयुका बन्ध सम्भव नहीं
- * आयुकी आवाधा सम्बन्धी —दे आवाधा

७ आयुविषयक प्ररूपणार्थ

- १ नरक गति सम्बन्धी
- २ तिर्यंच गति सम्बन्धी
- ३ एक अन्तर्मुहूर्तमें ल' अप के सम्भव निरन्तर क्षुद्रभव
- ४ मनुष्य गति सम्बन्धी
- ५ भोग भूमिजों व कर्म भूमिजो सम्बन्धी
- * तीर्थंकरो व शालाका पुरुषोकी आयु —दे बह बह नाम
- ६ देवगतिमें व्यन्तर देवो सम्बन्धी
- ७ देवगतिमें भवनवासियो सम्बन्धी
- ८ देवगतिमें ज्योतिष देवो सम्बन्धी
- ९ देवगतिमें वैमानिक देव सामान्य सम्बन्धी
- १० वैमानिक देवोमें इन्द्रो व उनके परिवार देवों सम्बन्धी
- ११ वैमानिक इन्द्रो अथवा देवोंकी देवियों सम्बन्धी
- १२ देवो द्वारा बन्ध योग्य जघन्य आयु

- * काय सम्बन्धी स्थिति —दे काल ६, ६
- * भव स्थिति व काय स्थितिमें अन्तर —दे स्थिति २
- * गति अगति विषयक ओष आदेश प्ररूपणा—दे जन्म ६
- * आयु प्रकृतियोंकी बन्ध उदय व सत्त्व प्ररूपणा तथा तत्सम्बन्धी नियम व शका समाधान—दे 'वह वह नाम'
- * आयु प्रकरणमें ग्रहण किये गये पत्य सागर आदिका अर्थ —दे गणित 1/१/६

१. भेद व लक्षण

१ आयु सामान्यका लक्षण

रा बा ३/२७३/१६१/२४ आयुर्जीवितपरिणामम् ।

रा बा ८/१०/२/५७/१२ यस्य भावात् आत्मन जीवित भवति यस्य चाभावात् मृत इत्युच्यते तद्वधधारणमायुरित्युच्यते । —जीवनके परिणामका नाम आयु है । अथवा जिसके सद्भावसे आत्माका जीवित्व होता है तथा जिसके अभावसे मृत्यु कही जाती है उसी प्रकार भवधारणको ही आयु कहते हैं ।

प्र सा /त प्र १४६ भवधारणनिमित्तमायु प्राण । —भवधारणका निमित्त आयु प्राण है ।

२. आयुष्यका लक्षण

गो जो /भापा २५८/६६/१५ आयुका प्रमाण सो आयुष्य है ।

३ आयु सामान्यके दो भेद (भवायु व श्रद्धायु)

भ आ /वि २५/८६/१६ तत्रायुद्विभेद अद्यायुर्भवायुरिति च । अर्थपेक्षया द्रव्याणामनाथनिधनं भवत्यद्यायु । पर्यायायपेक्षया चतुर्विधं भवत्यनाथनिधन, साधनिधन, सनिधनमनादि, सादिसनिधनमिति । —आयुके दो भेद हैं— भवायु और अद्यायु । द्रव्याधिक नयकी अपेक्षा द्रव्योंका अद्यायु अनाथनिधन है अर्थात् द्रव्य अनादि कालसे चला आया है और वह अनन्त काल तक अपने स्वरूपसे च्युत न होगा, इसीलिए उसको अनादि अनिधन भी कहते हैं । पर्यायाधिक नयकी अपेक्षा जब विचार करते हैं तो अद्यायुके चार भेद होते हैं, वे इस प्रकार हैं—अनाथनिधन, साधनिधन, सनिधन अनादि, सादि सनिधनता ।

४. आयु सत्त्वके दो भेद (भुज्यमान व बद्धमान)

गो क /भापा ३३६/४८७/१० विद्यमान जिस आयुको भोगवे सो भुज्यमान अर आगामी जाका बन्ध किया सो बद्धमान ऐसे दोऊ प्रकार अपेक्षा करि आयुका सत्त्व है ।

५. भवायु व अद्यायुके लक्षण

भ आ /वि २८/८६/१६ भवधारणं भवायुर्भव शरीर तच्च ध्रियते आत्मन आयुष्कोदयेन ततो भवधारणमायुष्कास्थ कर्म सदेव भवायुरित्युच्यते । तथा चोक्तम्—वेदो भवोति उच्चदि धारिणश्च आरगेण य भवो सो । सो उच्चदि भवधारणमाउगकम् भवोत्ति । इति आयुर्वेदेनैव जीवो जायते जीवति च आयु प एवोदयेन । अन्यस्यायुष उदये सृति मृति-ध्रुपैति पूर्वस्य आयुष्कस्य विनाशो । तथा चोक्तम्—आउगवसेण जीवो जामदि जीवति य आउगसुदये । अण्णाउगोदये वा मरिदि य प्रव्वाउ-णासे वा इति । अद्या शब्देन काल इत्युच्यते । आउगशब्देन द्रव्यस्य स्थिति, तेन द्रव्याणां स्थितिका अद्यायुरित्युच्यते इति । —१ भव धारण करना वह भवायु है । शरीरको भव कहते हैं । इस शरीर-को आत्मा आयुका साहाय्य प्राप्त करके धारण करता है, अतः शरीर धारण करानेमें समर्थ ऐसे आयु कर्मको भवायु कहते हैं । इस ध्रियमें अन्य आचार्य ऐसा कहते हैं—वेहको भव कहते हैं । वह भव आयु

कर्मसे धारण किया जाता है, अतः भव धारण करानेवाले आयु कर्म को भवायु ऐसा कहा है, आयु कर्मके उदयसे ही उसका जीवन स्थिर है, और जब प्रस्तुत आयु कर्मसे भिन्न अन्य आयु कर्मका उदय होता है, तब यह जीव मरणवस्थाको प्राप्त होता है । मरण समयमें पूर्वायु-का विनाश होता है । इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—कि आयु कर्मके उदयसे जोष उत्पन्न होता है और आयु कर्मके उदयसे जीता है । अन्य आयुके उदयमें मर जाता है । उस समय पूर्व आयुका विनाश हो जाता है । २ अद्या शब्दका 'काल' ऐसा अर्थ है, और आयु शब्दसे द्रव्यकी स्थिति ऐसा अर्थ समझना चाहिए । द्रव्यका जो स्थितिकाल उसको अद्यायु कहते हैं ।

६. भुज्यमान व बद्धमान आयुके लक्षण

गो क /भापा ३३६/४८७/१० विद्यमान जिस आयुको भोगवे सो भुज्यमान अर अगामी जाका बन्ध किया सो बद्धमान (आयु कहलाती है) ।

७ आयु कर्म सामान्यका लक्षण

स सि ८/३/७७/६ प्रकृति स्वभाव । आयुषो भवधारणम् । तदेव-लक्षण कार्यम् । —प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है । भवधारण आयु कर्मकी प्रकृति है । इस प्रकारका लक्षण किया जाता है ।

स सि ८/४/३८०/६ इत्यनेन नारकादि भवमेत्तोस्यायु —जिसके द्वारा नारकादि भवोंको जाता है वह आयु कर्म है । (रा बा ८/४/२/६६८/२), (गो क /जी प्र ३३/२८/१९)

घ ६/१८-१८/१२/१० एति भवधारणं प्रति इत्यायु । —जो भव धारण-के प्रति जाता है वह आयु कर्म है । (घ १३/४ ५-६८/३६०/६) ।

गो क /यू १/१८ कम्मकयमोहवद्विपससारमिह य अणादिजुत्तेहि । जीवस्स अवद्वाण करेदि आऊ हल्लिन्न णरं १११ —आयु कर्मका उदय है सो कर्मकर किया अर अज्ञान असंयम मिथ्यात्व करि वृद्धिको प्राप्त भया ऐसा अनादि ससार तावपै च्यारि गतिनिर्मे जीव अव-स्थानको करे है । जैसे काष्ठका खोड़ा अपने छिद्रमें जाका पग आया होम ताकि तहाँ ही स्थिति करावे तैसे आयु कर्म जिस गति सम्बन्धी उदयरूप होइ तिस ही गति विपै जीवकी स्थिति करावे है । (प्र सं / टी ३३/६२) (गो क /जी प्र २०/१३)

८ आयु कर्मके चार भेद (नरकायु आदि)

त सु ८/१० नारकैर्यग्योनमानुषदेवानि १०८ —नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु ये चार आयु कर्मके भेद हैं । (प सं / प्रा २/४) (प ख ६-६/१/२५/४८), (प ख /पु १२/४२, १४/सु १३/४८३), (प ख १३/४ ४/सु ६६/३६२) (म भ /पु १/५४/२८) (गो क /जी प्र - ३३/२८/१९) (प सं /स २/१०)

९ आयु कर्मके असत्त्वात् भेद

घ १२/४, २, १४, १६/४८३/३ पञ्चवद्विगण एण अवलं विज्जमाणे आउअप-यडो वि असत्तेज्जलोगमेत्ता भवदि, कम्मोदयवियप्पाणमस खेत्तज्जलोग-मेत्ताणमुवलंभादो । —पर्यायाधिक नयका आवलम्बन करनेपर तो आयुकी प्रकृतियाँ भी असत्त्वात् लोकमात्र पाये जाते हैं ।

१०. आयु कर्म विशेषके लक्षण

स सि ८/१०/८ नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनेषु यन्निमित्त दीर्घजीवन तन्नारकम् । एवं शेषेष्वपि । —तीव्र शीत उष्ण वेदनावाले नरकोंमें जिसके निमित्तमे दीर्घ जीवन होता है वह नारक आयु है । इसी प्रकार शेष आयुओंमें भी जानना चाहिए ।

२ आयु निर्देश

१ आयुके लक्षण सम्बन्धी शका

र १ ८/१०/३/४७४/१४ स्यादेतच्च—अज्ञादि तन्निमित्तं तन्नामात्माभ-जीवितमरणदर्शनादिति, सन्न, कि कारणम् । तस्यानुग्राहकत्वात्

असंवेतत्वेन यत् क्षीणायुषोऽन्नादिसंनिधानेऽपि मरणं एवमते ।
वेधेषु नारकेषु चान्नाद्यभावाद् भयधारणमायुरधीनमेवेत्यवश्यमेवम् । —
प्रश्न—जीवनका निमित्त तो अन्नादिक हैं, क्योंकि, उसके लाभसे
जीवन और अनाभसे मरण देखा जाता है । उत्तर—ऐसा नहीं
है क्योंकि अन्नादि तो आयुके अनुप्राप्तकामात्र हैं, मूल कारण
नहीं है । क्योंकि आयुके क्षीण हो जानेपर अन्नादिकी प्राप्तिमें भी
मरण देखा जाता है । फिर सर्वत्र अन्नादिक अनुप्राप्त भी तो नहीं
होते, क्योंकि वेधों और नारकियोंके अन्नादिकका आहार नहीं होता
है । अतः यह सिद्ध होता है कि भयधारण आयुके ही आधीन है ।

२ गतिवन्ध जन्मका कारण नहीं आयुवन्ध है

घ १/१,१,८३/३२४/४ नापि नरकगतिकर्मणः सख्यं तस्य तत्रोत्पत्ते कारणं
तत्सख्यं प्रत्यक्षोपेतं सकलपञ्चवेन्द्रियानामपि नरकप्राप्तिं प्रमत्तात् ।
निश्चयनिगोदानामपि विद्यमानव्रतसर्वर्णां प्रत्येकवृत्तिप्रसङ्गात् ।
—नरकगतिका सख्यं ओ (सम्पत्कृष्टिके) नरकमें उत्पत्तिका कारण
कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, नरकगतिके सख्यके प्रति कोई विशेषता
न होनेसे सभी पञ्चेन्द्रियोंकी नरकगतिका प्रसंग आ जायेगा । तथा
निरय निगोदिया जीवोंके भी व्रतकर्मकी सत्ता विद्यमान रहती है,
इसलिए उनकी भी व्रतोंमें उत्पत्ति होने लगेगी ।

३ जिस भवकी आयु वैधौ नियमसे धर्हीं उत्पन्न होता है

रा वा ८/२१/१/४८३/१८ न हि नरकायुर्मुखेन त्रिपगायुर्मन्त्रयुग्मवर्षा
विपचयते । — नरकायुः नरकायु रूपसे ही फल देगी त्रिपगायु वा
मन्त्रयुग्म रूपसे नहीं ।

घ १०/४,२,४,४०/२१६/३ जिस्से गईए आउजं बद्ध सख्ये गच्छरण
उपजन्ति त्ति । —जिस गतिकी आयु बाँधी गयी है । निश्चयसे धर्हीं
ही उत्पन्न होता है ।

४ देव व नारकियोंकी बहुलताकी अपेक्षा असंख्यात वर्षायुष्क कहा गया है

घ. १०/४,२,४,८/६०/१ देवणेरष्टपु संखेज्जवासाउत्तमिदि भनिदे सच्चं
ण ते असंखेज्जवासाउत्ता, किंतु संखेज्ज वासाउत्ता चैव, समयाहिण-
पुत्रकोटिपुत्रुठि उवरिमआउअविषयणा असंखेज्जवासाउत्तन्नुव-
गमादो । कर्णं समयाहिणपुत्रकाठोए संखेज्जवासाए असंखेज्जवासा ।
ण रायकवत्तो व रुद्धिपत्तेण परिपत्तसगहुत्सं असंखेज्जवत्सहत्स
आउअविसेसम्मि वट्टमाणस्स गहणादो । —
प्रश्न—देव व नारकी तो संख्यात वर्षायुक्त भी होते हैं, फिर यहाँ
उनका ग्रहण असंख्यात वर्षायुक्त पदसे कैसे सम्भव है । उत्तर—इस
शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि सचमुचमें वे असंख्यात वर्षायुक्त नहीं
हैं, किन्तु संख्यात वर्षायुक्त ही हैं । परन्तु यहाँ एक समय अधिक
पूर्व कोटिकी आदि लेकर आगेके आयु विकल्पोको असंख्यातवर्षायु-
के भीतर स्वीकार किया गया है । प्रश्न—एक समय अधिक पूर्व
कोटिके असंख्यातवर्षरूपता कैसे सम्भव है । उत्तर—नहीं, क्योंकि,
राजवृष (शुभविशेष) के समान 'असंख्यात वर्ष' शब्द रुद्धिपत्त अपने
अर्थको छोड़कर आयुविशेषमें रहनेवाला यहाँ ग्रहण किया गया है ।

३ आयुवर्गिक वन्ययोग्य परिणाम

१ मध्यम परिणामोंमें ही आयु वैधौती है

घ १२/४,२,७,३२/२७/१२ अइजहणा आउमघस्स अप्पाओग । अइम-
हणत्ता पि अप्पाओग चैव, सभावियाओ तस्य दोण विच्चाणे द्विया
परियत्तमाणमज्जिपरिणामा वुत्तसि । —अति जघन्य परिणाम
आयु बन्धके अयोग्य हैं । अत्यन्त महात् परिणाम भी आयु बन्धके
अयोग्य ही हैं क्योंकि ऐसा स्वभाव है । किन्तु उन दोनोंके मध्यमें
अवस्थित परिणाम परिवर्तमान मध्यम परिणाम कहलाते हैं । (उनमें
प्रभाष्योग्य परिणामोंसे आयु बन्ध होता है ।)

गो क यू ४९८/६१३ मेरमानां रन्तु लंसा ररखीमा इति तत्पम
ज्जिमया । आउमघधणजोगा अइहणगिदधानमभा । —मेरमानिके
रख्यीम अश है तहाँ ररखी मेरमानिके जघन्य, मध्यम उत्कृष्ट मेर-
कर अठारह अश है बहुत विषय मेरमानिके उत्कृष्ट अश तो आगे
अर सेजो लेरमानिके उत्कृष्ट अश तै गहिं मयागिनिषा उदय मयाग-
गनिषिये आठ मध्यम अश है ठेमें ररखीम अश भण । तहाँ आयु
वर्गके बन्ध योग्य आठ मध्यम अश जानो । (रा वा ४/२०/१०/
२८०/१)

गो क/ओ प्र ४४६/८४६/३१ अयेणोपधवागामुत्तमोदमयागाम
संख्यातमाणमात्रपट्टानियुट्ठित्तमानम्यागानावमात्राणि संख्या-
रपातनोवभसत्तवृत्तमाणमात्राणि मयनेदममानानि तत्त्वमात्रमाण-
मात्राणि विमुत्तममानानि । तेर मेरमानानि चतुर्दशमेरमानां वट्ट-
विशति । तत्र मध्यमा अष्टौ आयुवर्गविषयना । —नगरत कोध
गयायके अणुमात्र रूप उदयमयाग अमंमयाग मोक्षमात्र पट्टमान-
पत्ति तानि चो लिमे अमंमयाग मोक्षमयाग है । तिरको मयागोम्य
अमंमयाग साराका भाग दिए तहाँ एक भाग बिना बहुमाण प्रमाण
तो संकेत स्थान है । एक भाग प्रमाण विमुत्तमान है । तिन त्रिपे
लेरयापद चौदह है । लेरमानिके अश रख्यीम है । तिन बिषे मध्यके
आठ अश आयुके मयाग कारण है ।

२ अल्पायुके वन्य योग्य परिणाम

भ आ वि ४४६/६४६/४ सदा परमाणिपात्तात्तत्तदोमप्रित्तमन्त्रोवित्त-
विनाशनाय प्रायेणात्तामुरेय भवति । —जो प्राणी हमेशा पर जीवोंका
घात करके उनके प्रिय जीवितका नाश करता है वह प्राण अन्त्यायुषी
ही होता है ।

३ नरकायु सामान्यके वन्य योग्य परिणाम

त यू ६/१६,१६ बहिरम्भपरिदृश्यं नारकस्यायुषः ३१६ निरशेन्द्रहित्यं
च सर्वेषाम् ३१६ । —बहुत आरम्भ और बहुत परिदृशनेका भाव
नरकायुका आसय है ३१६ औनरहित और अतरहित होना सब
आयुओंका आसय है ३१६ ।

स सि ६/१६/३३३/६ हिमादिमूरकर्मजस्तत्रतनपरस्वर्गाविपयाति-
शुद्धिपुण्यलेखमभिजातगौदध्यानमरणकान्तादिदक्षिणो नारकस्यायुष
आमयो भवति । —हिमादि मूर कायोंमें निश्चर प्रवृत्ति, दूसरेके
घनका हरण, इन्द्रियोंके विषयोंमें अरग्य आसक्ति, तथा मग्नेर
समय कृष्णलेखा और रौद्रध्यान आदिका होना नरकायके आसय है ।

ति प २/२६१-२६४ आउम्म बधममए सिनोव्व सेत्तो वपुन्नेय ।
किमिराययसायानं उदयमिं बधेदि निरयाउ ३२६१ किन्हाय
पोत्ताकपुदयादो मधिऊण निरयाउ । मरिजा ताहि जुत्तो पानह
निरयं महाधोर ३२६४ । —आयु बन्धके समय सिनकी रेखाके समान
क्रोध, शस्तेके समान मान, बाँसकी जड़के समान माया, और कुमि-
रागके समान लोभ कपायका उदय होनेपर नरक आयुषा बन्ध होता
है ३२६३। कृष्ण नील अथवा कापोत इन तीन लेखाओंका उदय
होनेसे नरकायुको बांधकर और मरकर उन्हीं लेखाओंमें मुक्त होकर
महाभयानक नरकको प्राप्त करता है । ३२६४।

त सा ४/३०-३४ उत्कृष्टमानता शैलराजोसदशरोपता । मिथ्याव सौम-
लोभत्वं नित्यं निरनुकम्पता ३३० अजस्र जीवधातित्व सततावृत्त-
वादिता । परावरणं नित्यं नित्यं मैथुनसेवनम् ३३१ कामभोगा-
भिलाषाणां नित्यं चातिप्रवृद्धता । जिनस्यासादन सायुसमयस्य च
भेदनम् ३३२। मार्जारताम्रचूडादिपापीय प्राणिपोषणम् । नै शीर्ष्यं
च महारम्भपरिग्रहतया सह ३३३। कृष्णलेखापरिणत रौद्रध्यान
चतुर्विधम् । आयुषो नारकस्येति भवन्त्यासवरेतव ३३४ । —कठोर
पथरके समान सौममान, पर्यतमाताओंके समान अमेय क्रोध रखना,
मिथ्याएहि होना, सौम लोभ होना सदा निर्दयी बने रहना, सदा
जीवघात करना, सदा ही झूठ बोलनेमें प्रेम मानना, सदा परधन

हरनेमें लगे रहना, निरय मैथुन सेवन करना, काम भोगोंकी अभि-
लाषा सदा ही जावश्यकमान रखना, जिन भगवत्की आसादना
करना, साधु धर्मका उच्छेद करना, भिखारी, कुत्ते, मुर्गे इत्यादि पापी
प्राणियोंको पालना, शीलवत् रहित बने रहना और आरम्भ परिग्रह-
को अति बढ़ाना, कृष्ण लेश्या रहना, चारों रौद्रध्यानमें लगे रहना,
इतने अशुभ कर्म नरकायुके आसव हेतु हैं। अर्थात् जिन कर्मोंको
भूतकर्म कहते हैं और जिन्हें व्यसन कहते हैं, वे सभी नरकायुके
कारण हैं। (रा बा ६/१६/३/४२६/३१) (म पु १०/२२-२७)

गो क मू ८०४/६८२ मिच्छो ह्रु महार भो गिस्तीलो तिब्बलोहुरुजुत्तो ।
गिरयात्तग गिष घग् पावमई रुद्रपरिणामो ॥८०४॥—जो जीव मिथ्या-
तमरूप मिथ्यादृष्टि होइ, बहुत आर भी होइ, शील रहित होइ, तीव्र
लोभ संयुक्त होइ, रौद्र परिणामो होइ, पाप कार्य विषै जाकी बुद्धि
होइ सो जीव नरकायुको बाँधे है ।

४ नरकायु विशेषके बन्धयोग्य परिणाम

ति प २/२६६ २६८, ३०१ धम्मदयापरिचत्तो अमुक्करो पयडकलहयुरो ।
बहुकोहो किण्हाए जम्मदि धूमादि चरिमते ॥२६६॥ । बहुसण्णा
गोल्लए जम्मदि त चेव धूमत ॥२६८॥ काऊण संजुत्तो जम्मदि
धम्मदिमेवत् ॥३०१॥—दया, धर्मसे रहित, वैरको न छोड़ने वाला,
प्रचंड कन्ह करने वाला और बहुत क्रोधो जीव कृष्ण लेश्याके साथ
धूमप्रभासे लेकर अन्तिम पृथ्वी तक जन्म लेता है ॥२६६॥ आहा-
रादि चारों सहायोंमें आसक्त ऐसा जीव नील लेश्याके साथ धूमप्रभा
पृथ्वी तकमें जन्म लेता है ॥२६८॥ । कापोत लेश्यासे संयुक्त होकर
घमति लेकर मेवा पृथ्वी तकमें जन्म लेता है ।

५ कर्मभूमिज तिर्यंच आयुके बन्धयोग्य परिणाम

त स ६/१६ माया तिर्यग्योनस्य ॥१६॥—माया तिर्यंचायुका आसव है ।
स सि ६/१६/३३४/३ तसपचवो मिथ्यात्वोपेतधर्मवेशना नि शीलताति-
सन्धानप्रियता नीलकापोतलेश्यातीर्धानमरणकालतादि ।—धर्मोप-
देशमें मिथ्या बातोंको मिलाकर उनका प्रचार करना, शीलरहित
जीवन बिताना अति संधानप्रियता तथा मरणके समय नील व
कापोत लेश्या और आर्त ध्यानका होना आदि तिर्यंचायुके आसव हैं ।

रा बा ६/१६/१/५२६/८ प्रपचस्तु — मिथ्यात्वोपेष्टमा धर्मदेशना-न-
श्चरम्भपरिग्रहा-तिनिर्कृति कूटकर्म बनिभेदसदृश रोषनि शीलता-
शब्दलिङ्गवचना-तिसन्धानप्रियता-भेदकरण नर्थोद्भावन वर्णगन्ध-
रसस्पर्शान्यस्वापादन-जातिकूलशीलसदृषण-विसवादनभिसन्धिनि-
ध्याजीविस्व-सद्गुणव्यपलोपा-सद्गुणव्यापन-नीलकापोतलेश्यापरि-
णाम आर्त ध्यानमरणकालतादिलक्षण प्रत्येत्यम् ।—मिथ्यात्वसंयुक्त
अधर्मका उपवेश, बहु आरम्भ, बहुपरिग्रह, अतिवचना, कूटकर्म,
पृथ्वीकी रेखाके समान रोपादि, नि शीलता, शब्द और सवैतादिसे
परिष्वनाका पङ्कज, छल-प्रपञ्चकी रुचि, भेद उत्पन्न करना
अनर्थोद्भावन, वर्ण, रस, गन्ध आदिको विकृत करनेकी अभिरुचि,
जातिकूलशीलसदृषण, विसवाद रुचि, मिथ्याजीविस्व सद्गुण लोप,
असद्गुणव्यापन, नीलकापोतलेश्या रूप परिणाम, आर्त ध्यान, मरण
समयमें आर्त रौद्र परिणाम इत्यादि तिर्यंचायुके आसवके कारण हैं ।
(त सा ४/३५-३६) (और भी देखो आगे आयु ३/१२)

गो क मू ८०६/६८२ उम्मगसेल्लो मग्गणसगो गूढहियमाहण्लो । सठ-
सीतो य ससल्लो तिरियाउ बहुये जीवो ॥८०६॥—जो जीव विपरीत
मार्गका उपवेशक होई भ्रमामार्गका नाशक होई, गूढ और जाननेमें
न आवै ऐसा जाका हृदय परिणाम होइ, मायावी कण्ठी होई अर
शठ मूर्खता संयुक्त जाका सहज स्वभाव होइ, शय्यकरि संयुक्त होइ
सो जीव तिर्यंच आयुको बाँधे है ।

६ भोग भूमिज तिर्यंच आयुके बन्धयोग्य परिणाम

ति प ४/३७२-३७४ दाहूण केइ दाण पचविसेसु के वि दाणाण अणु-
मोदणेण तिरिया भोगविदीए वि जार्यति ॥३७२॥ गहिदुण जिनलिंग

संजमसम्भतभावपरिचत्ता । मायाचारपयइ चारित्त णसर्यति जे
पावा ॥३७३॥ दाहूण कुल्लिगोणं णाणादाणाणि जे णरा मुद्धा । तव्वेसधरा
केइ भोगमहोए हुवंति ते तिरिया ॥३७४॥—कोई पात्र विशेषोंको दान
देकर और कोई दानोंकी अनुमोदना करके तिर्यंच भी भोगभूमिमें
उत्पन्न होते हैं ॥३७२॥ जो पापी जिनलिंगको (मुनिव्रत) को ग्रहण
करके समय एवं सम्यक्त्व भावको छोड़ देते हैं और पश्चात् माया-
चारमें प्रवृत्त होकर चारित्रको नष्ट कर देते हैं तथा जो कोई मूर्ख
मनुष्य कुल्लिगियों को नाना प्रकारके दान देते हैं या उनके भेषको
धारण करते हैं वे भोग-भूमिमें तिर्यंच होते हैं ।

७ कर्मभूमिज मनुष्यायुके बन्धयोग्य परिणाम

त स ६/१७ १८ अणपरम्भपरिग्रहस मानुपस्य ॥१७॥ स्वभावमार्दव
च ॥१८॥—अण आरम्भ और अण परिग्रह वालेका भाव मनुष्यायु
का आसव है ॥१७॥ स्वभावको मृदुता भी मनुष्यायुका आसव है ।

स सि ६/१७-१८/३३४/८ नारकायुरात्तवो व्यात्त्यात् । तद्विपरीतो
मानुपस्यायुप इति सक्षेप । तद्व्यास — विनीतस्वभाव प्रकृतिभद्रता
प्रगुणव्याहारता तनुकपात्यव मरणकालासववेशतादि ॥१७॥ स्व-
भावेन मार्दवम् । उपदेशानपेक्षमित्यर्थ । एतदपि मानुपस्यायुप
आसव ।—नरकायुका आसव पहले कह आये हैं। उससे विपरीत भाव
मनुष्यायुका आसव है । सक्षेपमें यह सूत्रका अभिप्राय है । उसका
विस्तारसे खुलासा इस प्रकार है—स्वभावका विनम्र होना, भद्र
प्रकृतिका होना, सरल व्यवहार करना, अण कपायका होना तथा
मरणके समय संकलेश रूप परिणतिका नहीं होना आदि मनुष्यायुके
आसव हैं । स्वभावसे मार्दव स्वभाव मार्दव है । आशय यह है कि
बिना किसी समझाये बुझाये मृदुता अपने जीवनमें उत्तरी हुई हो
इसमें किसीके उपवेशकी आवश्यकता न पड़े । यह भी मनुष्यायुका
आसव है । (रा बा ६/१८/१/५२६/२३)

रा बा ६/१७/१/५२६/१५ मिथ्यादर्शनालिङ्गितामिति-विनीतस्वभावता-
प्रकृतिभद्रता-मार्दवार्जवसमाचारसुखप्रज्ञापनीयता बाहुकाराजिसदृश-
रोष-प्रगुणव्यवहारप्रायसाश्चर्यपरिग्रह—संतोषाभिरति — प्राण्युप-
घातविरमणप्रदोषविकर्मनिवृत्ति — स्वागतार्जवप्रापणामौख्यप्रकृतिमधु-
रता — लोकयात्रानुग्रह — औदासीन्यानुसूयाणसंश्लेशता — गुरुदेवता-
तिथिपूजासविभागशीलता-कपोतपीतलेशयोपलेश-धर्मध्यानमरणका-
लतादिलक्षण ।—भद्रमिथ्यात्व विनीत स्वभाव, प्रकृतिभद्रता, मार्दव
आर्जव परिणाम, सुख समाचार कहनेकी रुचि, रेतकी रेखाके समान
क्रोधादि, सरल व्यवहार, अणपरिग्रह, संतोष सुख, हिसाविरक्ति,
दुष्ट कामसि निवृत्ति, स्वागततत्परता कम धोलना, प्रकृति मधुरता,
लोकयात्रानुग्रह, औदासीन्यवृत्ति, ईश्वरहित परिणाम, अणसंश्लेश,
देव-देवता तथा अतिथि पूजामें रुचि दानशीलता, कपोतपीत लेश्या-
रूप परिणाम, मरण कालमें धर्मध्यान परिणति आदि मनुष्यायुके
आसव कारण हैं ।

रा बा ६/२०/१५२७/१५ अव्यक्तसामायिक-विराघितसम्यग्दर्शनता भव-
नाणायुप महद्भिकमानुपस्य बा ।—अव्यक्त सामायिक और सम्य-
ग्दर्शनकी विराघना आदि महद्भिक मनुष्यकी आयुके आसवके
कारण हैं । (और भी देखो आयु ३/१२)

म आ वि ४४६/६६२/१३ तत्र ये हिसादय परिणामा मध्यमास्ते मनुज-
गतिनिर्घर्तका बालिकाराज्या दारुणा, मोक्षविक्रया, कर्दमरागेण च
समाना यथासरयेन क्रोधमानमामोलाभा परिणामा । जीवघातं
कृत्वा हा हुट्टं कृतं, यथा दुःखं मरण वास्माकं अग्रिच तथा सर्व-
जीवानां । अहिंसा शोभना वयं तु असमर्था हिसादिकं परिहर्तुमिति
च परिणाम । मृषापरदोषसूचकं परगुणानामसहन वचन वासज्जना-
चार । साधुनामयोग्यवचनं दुर्व्यापारे च प्रवृत्तानां वा नाम साधुता-
स्माकमिति परिणाम । तथा शस्त्रप्रहारादप्यर्थ परद्रव्यावहरणं,
द्रव्यविनाशो हि सकलकृद्व्यविनाशो, नैतरस तस्माद्वृष्टकृत

व लोभ कपायसे मोहको प्राप्त होते हैं, जो जिनलिंगको धारण कर घोर पापका करते हैं, जो अरहन्त तथा साधुओंकी भक्ति नहीं करते हैं, जो चातुर्वर्ण्य संघके विषयमें बास्त्व्य भावसे विहीन होते हैं, जो जिनलिंगके धारो होकर स्वर्णादिकको हर्षसे ग्रहण करते हैं, ज. समयको वेपसे कन्याविवाहकिक करते हैं, जो मौनके बिना भोजन करते हैं, जो घोर पापमेंसलग्न रहते हैं, जो अनन्तानुबन्धी चतुष्टयमेंसे किसी एकके उदित होनेसे सम्यक्त्वको नष्ट करते हैं, वे मृत्युको प्राप्त होकर विषम परिपाकवाले पापकर्मोंके फलसे समुद्रके इन द्वीपोंमें कुरिस्त रूपसे कुमानुप उत्पन्न होते हैं ॥२५०३-२५११॥ (ज प १०/५६-७६) (वि सा ६२२-६२४)

११ देवायु सामान्यके वन्धयोग्य परिणाम

त स १६/२०-२१ सरागसंयमसंयमासयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैव्य ॥२०॥सम्यक्त्व च ॥२१॥—सरागसंयम, संयमासयम, अकाम-निर्जरा, और बालतप ये देवायुके आस्त्र है ॥२०॥ सम्यक्त्व भी देवायु-का आस्त्र है ॥२१॥

स सि ६/१८/३३४/१२ स्वभावमार्दवं च ॥१८॥ एतदपि मानुषस्यायुष आस्त्रं । पृथग्योगकर्णं किमर्थम् । उत्तरार्थम् । देवायुष आस्त्रबोध्यमपि यथा स्यात् ।—स्वभावकी मृदुता भी मनुष्यायुका आस्त्र है ।—प्रश्न—इस सूत्रको पृथक् क्यों बनाया । उत्तर—स्वभावकी मृदुता देवायुका भी आस्त्र है इस बातके मतलबाने के लिए इस सूत्रको अलग बनाया है । (रा बा ६/१८/१-२/५२६/२४)

त सा ४/४२-४३ आकामनिर्जराबालतपो मन्दकपायता । सुधर्मश्रवणं दानं तयायतनसेवनम् ॥४२॥सरागसंयमश्चैव सम्यक्त्वं देशसंयम । इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्त्रवहेतवः ॥—बालतप व अकामनिर्जराके होनेसे, कपाय मन्द रखनेसे, श्रेष्ठ धर्मको सुननेसे दान देनेसे, आयुतन सेवी बननेसे, सराग साधुओंका संयम धारण करनेसे, देशसंयम धारण करनेसे, सम्यग्दृष्टि होनेसे, देवायुका आस्त्र होता है ।

गो क/मू ८०७/६८३ अणुव्दमहव्यवैहिं य बालतवाकामणिज्वरा य । देवायुषं गिष्वधम् सम्माह्वीय जो जीवो ॥—जो जीव सम्यग्दृष्टि है सो केवल सम्यक्त्व करि साक्षात् अणुवत् महाव्रतनिकरि देवायुको बाँधे है बहुरि जो मिथ्यादृष्टि जीव है सो उपचाररूप अणुवत् महाव्रतनिकरि वा अज्ञानरूप बाल तपक्षरण करि वा बिना इच्छा बन्धादिकतै भई ऐसी आकाम निर्जराकरि देवायुको बाँधे है ।

१२. भवन्त्रिकायु सामान्यके वन्धयोग्य परिणाम

स सि ६/२१/३३६/६ तेन सरागसंयमसंयमासयमावपि भवनवास्याधायुष आस्त्रो प्राप्नुत । नैप दोष सम्यक्त्वभावे सति तद्व्यवशेषाभावात् दुभयमप्यन्तर्भवति ।—प्रश्न—सरागसंयम और संयमासयम ये भवनवासी आदिको आयुके आस्त्र हैं यह प्राप्त होता है । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्वके अभावमें सरागसंयम और संयमासयम नहीं होते, इसलिए उन दोनोंका यहाँ अन्तर्भव होता है अर्थात् ये भी सौधर्मादि देवायुके आस्त्र हैं, क्योंकि ये सम्यक्त्वके होने पर ही होते हैं ।

रा बा ६/२०/१/५२७/१५ अशक्तसामायिक-विराघितसम्यग्दर्शनता भवनाधायुष महर्षिकमानुषस्य वा पञ्चाणुवत्धारिणोऽविराघित-सम्यग्दर्शना तिर्यङ्मनुष्या सौधर्मादिषु अच्युतावसानेयूरपन्तते, विनिपतितसम्यक्त्वा भवनादिषु । अनघिगज्जीवा जीवा बालतपस अनुपलभ्यते १२ स्वभावा अज्ञानकृतसंयमा सक्षेपाभाविशेषात् केचिद्वनव्यन्तरादिषु सहस्रारपर्यन्तेषु मनुष्यतिर्यङ्मपि च । आकामनिर्जरा क्षुत्पणानिरोध-नक्षत्र्य-भूशङ्क्या-मलधारण-परिता-पादिभिः परिखेदितमूर्त्य चाटकनिरोधबन्धनसह्य दीर्घकाल-रोगिण असंक्लिष्टा सरुगिरिशिखरपातिन अनशनज्वलनजलप्रवेशन-विषभक्षण धर्म युद्धं वपन्तरमानुषतिर्यङ्म । निशीलव्रता सानुकम्प-हृदया जलराजितुष्यरोपमोगभूमिसिन्धुपन्थाश्च व्यन्तरादिषु जन्म

प्रतिपन्तते इति ।—अव्यक्त सामायिक, और सम्यग्दर्शनकी विरा घना आदि भवनवासी आदिको आयुके अपवा महर्षिक मनुष्यकी आयुके आस्त्र कारण हैं । पञ्च अणुवर्तोंके धारक सम्यग्दृष्टि तिर्यङ् या मनुष्य सौधर्मा आदि अच्युत पर्यन्त स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं । यदि सम्यग्दर्शन विराघना हो जाये तो भवनवासी आदिमें उत्पन्न होते हैं । तत्त्वज्ञानसे रहित बालतपतपनेवाले अज्ञानी मन्द कपायके कारण कोई भवनवासी व्यन्तर आदि सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त उत्पन्न होते हैं कोई मरकर मनुष्य भी होते हैं, तथा तिर्यङ् भी । आकाम निर्जरा, भूख प्यासका सहना, श्रद्धाचर्य, पृथ्वीपर सोना, मल धारण आदि परिपहोंसे खेदवित्र न होना, युद्ध पुरुषोंके बन्धनमें पड़नेपर भी नहीं बचझाना, दीर्घकालीन रोग होनेपर भी असंक्लिष्ट रहना, या पर्वतके शिखरसे भ्रमपात करना, अनशन, अग्नि प्रवेश, विष-भक्षण आदिको धर्म माननेवाले कुतापस व्यन्तर और मनुष्य तथा तिर्यङ्गमें उत्पन्न होते हैं । जिनने व्रत या शीतोंको धारण नहीं किया किन्तु जो सदय हृदय हैं, जल रेखाके समान मन्द कपायों हैं तथा भोग भूमिमें उत्पन्न होनेवाले व्यन्तर आदिमें उत्पन्न होते हैं ।

त्रि सा ४/४० उन्मग्नचारि सणिदाणाणलादिमुदा अकामणिज्जरीणो । कुदवा समलचरित्ता भवन्तिय जति ते जीवा ॥४०॥—उन्मग्न-चारी, निदान करने वाले अग्नि, जल आदिसे भ्रमपात करनेवाले, बिना अभिलाष बन्धादिक के निमित्त हैं परिपह सहनादि करि जिनके निर्जरा भई, पचाग्नि आदि खोटे तपके करनेवाले, बहुरि सदोष चारित्रिके धरन हारे जे जीव हैं ते भवन्त्रिक विपै जाय ऊपजे हैं ।

१३. भवनवासी देवायुके वन्धयोग्य परिणाम

ति. प ३/१६६.१६६.२०६ अवमिदसंका केई णाणचरित्ते कलित्ठ-भावजुदा । भवणामरेसु आउ वधति हु मिच्छाभाव जुदा ॥१६६॥ अविणयसत्ता केई कामिणिचिरहज्जरेण जज्जरिदा कलहपिया पाविट्ठा जायंते भवणदेवेषु ॥१६६॥ जे कोहमाणमायालोहासत्ताकिविट्ठचारित्ता । बहराणुबद्धरुचिरा ते उपज्जंति अमुरेषु ॥२०६॥—ज्ञान और चारित्रिके विषयमें जिन्होंने शकाको अभीदूर नहीं किया है तथा जो क्लिष्ट भावसे युक्त हैं, ऐसे जो मिथ्यात्व भावसे सहित होते हुए भवनवासी सम्बन्धी देवोंकी आयुको बाँधते हैं ॥१६६॥ कामिनीके विरहलुपी ज्वरसे जर्जरित, कलहप्रिय और पापिष्ठ कितने ही अविनयी जीव भवनवासी देवोंमें उत्पन्न होते हैं ॥१६६॥ जो जीव क्रोध, मान, मायामें आसक्त हैं, अकृषिष्ठ चारित्र अर्थात् क्रूरचारी हैं, तथा वैर भावमें रुचि रखते हैं वे अमुरोंमें उत्पन्न होते हैं ।

१४ व्यन्तर तथा नीच देवोंकी आयुके वन्धयोग्य परिणाम

म आ/मू १८१-१८२/३६८ णाणस्स केवलीण धम्मसाहिरिय सव्व-साहूण । माइय अवणवादी त्विभिंसिय भावण कुण ॥१८१॥ मताभिओगकोहुगभूदोयम्मं पउज्जे जोहु । इदिहससादहेदु अभिओगं भावणं कुण ॥१८२॥—श्रुतज्ञान, केवली व धर्म, इन तीनोंके प्रति मायावी अर्थात् ऊपरसे इनके प्रति प्रेम व भक्त दिखाते हुए, परन्तु अन्दरसे इनके प्रतिक्रा बहुमान या आचरणसे रहित जीव, आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेश्वरोंमें दोषोंका आरोपण करनेवाले, और अवर्णवादी जन ऐसे अशुभ विचारोंसे मुनि किंविष जातिके देवोंमें जन्म लेते हैं ॥१८१॥ मन्त्राभियोग्य अर्थात् कुमारी वगैरहमें भूतका प्रवेश उत्पन्न करना, कौतुहलोपदर्शन क्रिया अर्थात् अकालमें जलवृष्टि आदि करके दिखाना आदि चमत्कार, भूतिकर्म अर्थात् बालकादिकोंकी रक्षाके अर्थ मन्त्र प्रयोगके द्वारा भूतोंकी क्रीड़ा दिखाना—ये सब क्रियाएँ ऋद्धि गौरव या रस गौरव, या सात गौरव दिखानेके लिए जो करता है सो आभियोग्य जातिके बाह्य देवोंमें उत्पन्न होता है ।

ति प ३/२०१-२०६ मरणे विराघिदम्मि य केई कंदप्पकिट्ठिसा देवा । अमियोगा संमोहपट्ठुदीसुरदुग्गदीसु जादते ॥२०१॥ जे सच्चवयण-

होना हस्त कुर्वति बहुजने नियमा । कदम्परत्तहिदया ते कदम्पेसु
जामेति ॥२०२॥ जे भूदिकम्ममसाभियोगकोदूहलाइसजुसा । जणवणे
य पअटा वाहणदेवसु ते होति ॥२०३॥ तिरययरसघमहिमाआगम-
गयादिएस पठिऊना । दुविणया गिणदिउला जायते किञ्चिसमुदेसु
॥२०४॥ उप्पहउबएसयरा विप्पडिवण्णा जिणिदमग्गमि । मोएण
संमोधा समोहसुदेसु जायते ॥२०५॥

ति प ८/५५६-५६६ समस्त चरित्ता कूटा उम्मगट्ठा जिदानकदभावा । मद-
कसायागुरदा यधते अप्पहइअसुराउ ॥५६६॥ ईसाणततवच्चु-
दकप्पस जाव होति कदप्पा । किञ्चिसिया अभियोगा नियक्कजह-
णठिदिसहिया ॥५६६॥ —मरणके विराधित करनेपर अर्थात् समाधि
मरणके बिना, कितने ही जो व दूर्गतियोंमें कन्दर्प, किश्वप, अभियोग्य
और सम्मोह इत्यादि देव उत्पन्न होते हैं । जो प्राणी मर्य वचनते
रहित हैं निरय हो बहुजनोंमें हास्य करते हैं और जिनका हृदय
कामासक्त रहता है वे क दर्प देवोंमें उत्पन्न होते हैं ॥२०२॥ जो
भूतिकर्म मन्त्राभियोग और कौतूहलादि आदिस समुक्त हैं तथा लोगों
के गुणगान (शुद्धामद) में प्रवृत्त रहते हैं, वे वाहन देवोंमें उत्पन्न होते
हैं ॥२०३॥ जो लोग तीर्थंकर व सधको महिमा एवं आगमग्रन्थादिके
विषयमें प्रतिकूल हैं, दुश्चिन्तियों, और मायाचारी हैं, वे किश्वप देवोंमें
उत्पन्न होते हैं ॥२०४॥ उरय अर्थात् कुमार्गका उपदेश करनेवाले,
जिनेन्द्रोपदिष्ट मार्गमें विरोधी और मोहसे समुग्ध जीव सम्माह
जातिके देवोंमें उत्पन्न होते हैं ॥२०५॥ दूषित चारित्रवाले, क्रूर,
उन्मार्गमें स्थित, निदान मात्रसे सहित और मन्द कपायोंमें अनुरक्त
जीव अवर्द्धिक देवोंको आयुको पाँधते हैं ॥५६६॥ कन्दर्प किश्वपिक
और अभियोग्य देव अपने-अपने कृष्णकी जघन्य स्थिति सहित
क्रमशः ईशान, सातव और अच्युत कृष्णपर्यन्त होते हैं ॥५६६॥

१५ ज्योतिषदेवायुके वध योग्य परिणाम

ति प ७/६१७ आयुवधभावं दसणहणस काण विविह । गुणठा-
णादि पवणण भावण लोएव खवत्तव्व ॥६१७॥ —आयुके मन्धक भाव,
सम्यग्दर्शन ग्रहणके विविध कारण और गुणस्थानादिका वर्णन,
भावनलोकके समान कहना चाहिए ॥६१७॥

१६ कल्पवासी देवायु सामान्यके वन्द्ययोग्य परिणाम

स सि ६/२१/३३६/५ सम्यक्ख च ॥२१॥ किम् । वैमत्यायुप आसवइयनु-
वरति । अविशेषाभिधानेऽपि सौधर्मादिविशेषणति । —सम्यक्ख भी
देवायु का आसव है । प्ररन—सम्यक्ख क्या है । उत्तर—‘देवायु का
आसव है’, इस पदकी पूर्व सूत्रसे अनुवृत्ति होती है । यद्यपि सम्यक्ख
को सामान्यसे देवायुका आसव कहा है, तो भी इससे सौधर्मादि
विशेषका ज्ञान होता है । (रा बा ६/२१/१/५२७/२७) ।

रा बा ६/२०/१/५२७/१३ कस्याणमित्रसम्मन्ध आयततोपेत्तवारुद्ध-
श्रवणगौरवदशना-डनवद्यप्रोपघोपवास-तपोभावना-बहुश्रुतागमपरख-
कपायनिग्रह-पात्रदान-पीतपत्रलेयापरिणाम-धर्मध्यानमरणादिलक्षण
सौधर्माद्यायुप आसव । —कस्याणमित्र ससर्ग, आयतन सेवा,
सद्धर्मश्रवण, स्वगौरवदर्शन, प्रोपघोपवास, सपत्नी भावना, बहुश्रुतत्व
आगमपरता कपायनिग्रह पात्रदान, पीत पत्रलेया परिणाम, मरण
कालमें धर्मध्यान रूप परिणति आदि सौधर्म आदि आयुके
आसव है । (और मो वे आयु ३/१२) मन्धयोग्य परिणाम ।

१७ कल्पवासी देवायु विशेषके वन्द्ययोग्य परिणाम

ति प ८/५५६-५६६ समस्तचरित्ता कूटा उम्मगट्ठा जिदानकदभावा । मद-
कसायागुरदा यधते अप्पहइअसुराउ ॥५५६॥ दसपुवधरा सोहम्मप-
हुदि सव्वट्ठसिद्धिपरियत्त । चोइसपुवधरा तट्ट लसक्कपादि वचचते
॥५५७॥ सोहम्मादि अच्युदपरियत्त जति देसवदजुसा । चउविहदा
णणण्ठा अकसाया पंचपुरुषत्ता ॥५५८॥ सम्मत्तणानज्जवत्तज्जासीला-
दिहइ परिपुण्णा । जायते इथीओ जा अच्युदकप्पपरियत्त ॥५५९॥
जिणसिगघारिणो जे उक्खिदवत्समेण सपुण्णा । ते जायति अभव्वा

उपरिमोगज्जपरियत्त ॥५६०॥ परतोअज्जणपदत्तवदगण्णानचरण संपण्णा
णिग्गथा जाणते भठ्ठा सव्वट्ठसिद्धि परियत्त ॥५६१॥ चरमापरियज्ज-
धरा मदकसाया पियवदा कई । कमसो भावणपट्टदि जायते मक्ककप्पत्त
॥५६२॥ जे पंचेदियतिरिया सण्णी हु आरामणिज्जण जुदा । मदकसाया
केई जति सहरमारपरियत्त ॥५६३॥ तणवट्टादिसहिया जीवाज
अमदकोहजुदा । कमसो भावणपट्टो केई जम्मति अन्नुद जाव
॥५६४॥ आ ईसाण कप्प उप्पत्ती हादि देवदवीण । तप्पग्दो उभम्मी
देयाण केवलाण पि ॥५६५॥ ईसाणनतत्तच्युदक्कप्पत्त जाव होति वप्पत्ता ।
किञ्चिसिया अभियोगा नियक्कजहणठिदिसहिया ॥५६६॥ —
दूषित चरित्रवाले, क्रूर, उन्मार्गमें स्थित, निदान भागमें रहित,
वयागोंमें अनुरक्त जीव अवर्द्धिक देवोंको आयु पाँधते हैं ॥५६६॥ दशम्य
के धारी जीव सौधर्मादि सर्वांगिणि पर्यन्त तथा चौदहपुवधरा
सौधर्म कृष्णनेकर सर्वांगिणि पर्यन्त जाते हैं ॥५६७॥ चार प्रकारके
दानमें प्रवृत्त, वयागोंमें रहित व पंचगुणोंकी प्रप्तिसे युक्त ऐसे
दशम्य संयुक्त जीव सौधर्म स्वगता आदि नेकर अच्युतस्वर्ग पर्यन्त
जते हैं ॥५६८॥ सम्पत्ति, ज्ञान अर्जित मज्जा एवं हीमादिसे
परिपूर्ण गियाँ अच्युत कृष्ण पर्यन्त जाते हैं ॥५६९॥ जो जघन्य
जिननिगमो धारण करनेवाले और उत्कृष्ट तपक श्रमसे परिपूर्ण वे
उपरिम्यदेव पर्यन्त उत्पन्न होते हैं ॥५७०॥ पूजा, ज्ञत तप दर्शन
ज्ञान और चारित्रसे सम्पन्न निर्मल्य भव्य इससे आगे सर्वांगिणि
पर्यन्त उत्पन्न होते हैं ॥५७१॥ मद् ययायो व प्रिय मात्नेवाजे कितने
ही चरक (साधुविशेष) और परित्राजक क्रमसे भवनतर्पणियों आदि
लेकर प्रत्यक्ष तपक उत्पन्न होते हैं ॥५७२॥ जो कोई पचेन्द्रगतिवच
सशो आकाम निर्जरासे युक्त है, और मद् ययायो है वे मरगार कृष्ण
तक उत्पन्न होते हैं ॥५७३॥ जो तनुदंडन अर्थात् कागवन्ध आदिमें
सहित और लोक कोषसे युक्त है ऐसे कितने ही आजीवक साधु क्रमशः
भवनवासियों से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते हैं ॥५७४॥
देव और देवियोंको उत्पत्ति ईशान कृष्ण तक होती है ।
इससे आगे केवल देवोंको उत्पत्ति ही है ॥५७५॥ कन्दर्प, किश्वपिक
और अभियोग्य देव अपने अपने कृष्णको जघन्य स्थिति सहित
क्रमशः ईशान, सातव और अच्युत कृष्ण पर्यन्त होते हैं ।

१८ लोकान्तिक देवायुके वन्द्ययोग्य परिणाम

ति प ८/५५६-५६१ इह खेत्ते वरगं बट्टभेय भावित्तु बहुकाल । सजम
भावहि मुणो देया लोयतिया होति ॥५५६॥ भूहणिदासु समानो सुह-
दुखेसु सधधुरित्तवणे । जो समणो सम्मत्तो सो श्रिय लोयतियो
होदि ॥५५७॥ जे निरवेक्खा देरे निछदा णिम्ममा गिरात्तमा । निर-
वज्जा समणवरा ते च्चिय लोयतिया होति ॥५५८॥ सजोगविप्पयोगे
नाहानाट्ठिम्मि जोविदे मरणे । जो समदिट्ठो समणो सो श्रिय लोय-
तियो होदि ॥५५९॥ अणारदसम पत्ता नंजमसमिदोसु माणजोगेसु
तिव्वतवचरणेजुत्ता समणा लोयतिया होति ॥५६०॥ पंचमहव्वय
सहिया पंचसु समिदोसु चिरम्मि चेदंठि । पचसलविसयविरदा
रिसिणो लोयतिया होति ॥५६१॥ —इस क्षेत्रमें बहुत काल तक बहुत
प्रकारके वैराग्यको भाकर संयमसे युक्त मुनि लौकान्तिक देव होते
हैं ॥५६६॥ जो सम्मट्टि श्रमण (मुनि) स्तुति और निन्दामें, सुख
और दुःखमें तथा बन्धु और रिपुमें समान है वही लौकान्तिक होता
है ॥५६७॥ जो देहके विषयमें निरपेक्ष निर्द्वन्द्व, निर्मम, निरारम्भ और
निरवध है वे ही श्रेष्ठ श्रमण लौकान्तिक देव होते हैं ॥५६८॥ जो
श्रमण संयोग और वियोगमें लाभ और अनाभमें, तथा जोषित और
मरणमें, समष्टि होते हैं वे लौकान्तिक होते हैं ॥५६९॥ समय,
समिति ध्यान एवं समारम्भके विषयमें जो निरन्तर श्रमको प्राप्त हैं
अर्थात् साधन हैं, तथा तीव्र तपश्चरणसे संयुक्त हैं वे श्रमण लौका-
न्तिक होते हैं ॥५७०॥ पाँच महाव्रतोंसे सहित, पाँच समितियोंका
चिरकाल तक आचरण करनेवाले, और पाँचों इन्द्रिय विषयोंसे निरक्त
अपि लौकान्तिक होते हैं ॥५७१॥

१६. कषाय च लेश्याकी अपेक्षा आयुबन्धके २० स्थान

गो जी / मू २६६-६३६ (विशेष देखो जन्म ६/७)

शक्ति स्थान ४		लेश्या स्थान १४		आयुबन्ध स्थान २०	
१	शिला भेद समान	१	कृष्ण उ	०	अबन्ध
१	पृथ्वी भेद समान	१	कृष्ण म	१	नरकायु
		२	कृष्णादि म उ	१	"
		३	कृष्णादि २ म + १ उ	१	"
				२	नरक तिर्यङ्मायु
				३	नरक तिर्यङ्ब
					मनुष्यायु
		४	कृष्णादि ३ म + १ ज	४	सर्व
		५	कृष्णादि ४ म + १ ज	४	"
		६	कृष्णादि ५ म + १ ज	४	"
३	धूलिरेखा समान	६	कृष्णादि १ ज + ५ म	४	सर्व सर्व
				३	मनुष्यवेव व
				२	तिर्यङ्बायु
		५	कृष्ण मिना १ ज + ४ म	१	मनुष्य देवायु
		४	कृष्ण, नील मिना १ ज + ३ म	१	देवायु
		३	पीतादि १ उ + २ म	१	"
		२	पद्म, शुक्ल १ ज + १ म	०	अबन्ध
		१	शुक्ल १ म	०	"
४	जलरेखा समान	१	शुक्ल १ उ	०	"

४ आठ अपकर्ष काल निर्देश

१. कर्मभूमिजोंकी अपेक्षा व अपकर्ष

घ १०/४, २४, ३६/२३३/४ जे सोवक्षमाउआते सग-सग भजमाणाउट्टिदोर वे तिभागे-अदिकते परभवियाउअबधपाओगा होंति जाव असले-यद्वाप्ति । तस्य बन्धपाओगकालअन्तरे आउबन्धपाओगपरिणामेहि के वि जीवा अट्टवार के वि सत्तवार के वि छव्वार के वि पंचवार के वि चत्तारिवार, के वि सिण्णिवार के वि दोवार के वि एक्कवार परिणमति । कुदो । साभावियादो । तस्य तदियत्तिभागपदमसमए जेहि परभवियाउअबन्धो पारद्वोते अंतोमुहुत्तेण बध समाणिय पुणो सयलाउट्टिदोर णवममाणे सेसे पुणो वि बन्धपाओगा होंति । सयलाउट्टिदोर सत्ताधोसभागावसेसे पुणो वि बन्धपाओगा होंति । एवं सेसतिभाग तिभागावसेसे बन्धपाओगा होंति त्ति जेदव्वं जा अट्टमो आगरिसा त्ति । ण च तिभागावसेसे आउअ गियमेण मज्झदि त्ति एयन्तो । किंतु तस्य आउअबधपाओगा होंति त्ति उच होदि । —जो जीव सोपक्रम आयुष्क हैं वे अपनी-अपनी भुज्यमान आयु स्थितिके दो त्रिभाग भोत जानेपर वहाँसे लेकर असंखेयाद्वा काल तक परभवसम्बन्धी आयुको बाँधनेके योग्य होते हैं । उनमें आयु बन्धके योग्य कालके भोतर कितने ही जीव आठ बार, कितने ही सात बार, कितने ही छह बार, कितने ही पाँच बार; कितने ही चार बार; कितने ही तीन बार, कितने ही दो बार; कितने ही एक

बार आयु बन्धके योग्य परिणामोंमें-से परिणत होते हैं । क्योंकि, ऐसा स्वभाव है । उसमें जिन जीवोंने तृतीय त्रिभागके प्रथम समयमें परभव सम्बन्धी आयुका बन्ध आरम्भ किया है वे अन्तर्मुहूर्तमें आयु बन्धको समाप्त कर फिर समस्त आयु स्थितिके नौवें भागके शेष रहनेपर फिरसे भी आयु बन्धके योग्य होते हैं । तथा समस्त आयु स्थितिका सत्ताईसवाँ भाग शेष रहनेपर पुनरपि बन्धके योग्य होते हैं । इस प्रकार उत्तरोत्तर जो त्रिभाग शेष रहता जाता है उसका त्रिभाग शेष रहनेपर यहाँ आठवें अपकर्षके प्राप्त होनेतक आयु बन्ध के योग्य होते हैं, ऐसा ग्रहण करना चाहिए । परन्तु त्रिभाग शेष रहने पर आयु नियमसे बाँधती है ऐसा एकाग्र नहीं है । किन्तु उस समय जीव आयु बन्धके योग्य होते हैं । यह एक वधनका तात्पर्य है । (गो क / जो प्र ६२६-६४३/८३६)

गो जी / जो प्र ६१८/६१३/१७ कर्मभूमितिर्यग्मनुष्याणां भुज्यमाना-युर्जघन्यमध्यमोत्कृष्ट विवक्षितमिदं ६६६१ । अत्र भागद्वयेऽतिशान्ते तृतायभागस्य २१७ प्रथमान्तर्मुहूर्त परभवायुर्बन्धयोग्य, तत्र न बधं तदा तदेक भागतृतीयभागस्य ७२६ प्रथमान्तर्मुहूर्त । तत्रापि न बध तदा तदेकभागतृतीयभागस्य २४३ प्रथमान्तर्मुहूर्त । एवमग्रेऽग्रे नेतव्य-मष्टवारं यावत् । इत्यष्टौ वापकर्षाः । स्वभावादेव तद्बन्ध प्रायोग्य-परिणमनं जीवानां कारणान्तरनिरपेक्षमित्यर्थः । —किसी कर्मभूमि या मनुष्य या तिर्यङ्चको आयु ६६६१ वर्ष है । तहाँ तिस/आयुका दो भाग गए २१७ वर्ष रहें तहाँ तीसरा भागकी लागते ही प्रथम समस्यास्यो लगाइ अन्तर्मुहूर्त पर्यंत काल मात्र प्रथम अपकर्ष है तहाँ परभव सम्बन्धी आयुका बन्ध होइ । बहुरि जो तहाँ न बन्धे तो तिस तीसरा भागका दोय भाग गये ७२६ वर्ष आयुके अवशेष रहें तहाँ अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त दूसरा अपकर्ष है तहाँ पर भवका आयु बाँधे । बहुरि तहाँ भी न बधे तो तिसका भी दोय भाग गये २४३ वर्ष आयुके अवशेष रहें अन्तर्मुहूर्त काल मात्र तीसरा अपकर्ष विषे परभवका आयु बाँधे । बहुरि तहाँ भी न बधे तो जिसका भी दोय भाग गये ८१ वर्ष रहें अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त चौथा अपकर्ष विषे परभवका आयु बाँधे ऐसे ही दोय दोय भाग गये २७ वर्ष वा ६ वर्ष रहें वा तीन वर्ष रहें अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त पाँचवाँ, छठा, सातवाँ वा आठवाँ अपकर्ष विषे परभवका आयुको बधनेकी योग्य-ज्ञानना । जैसेही जो भुज्यमान आयुका प्रमाण हाई ताके त्रिभाग-त्रिभाग विषे आयुके बन्ध योग्य परिणाम अपकर्षनि विषे ही होई सो ऐसा कोई स्वभाव सहज ही है अन्य कोई कारण नहीं ।

२. भोगभूमिजों तथा देव नारकियोंकी अपेक्षा आठ

अपकर्ष

घ ६/१, ६-६, २६/१७०/१ देव गेरइएसु छम्मासावसेसे भुजमाणाउए अस खेयाद्वापज्जवाणे संते परभवियाउअ बधमाणाण उदस भवा । असंखेज्ज तिरिक्खमणुसा देव गेरइयाण व भुजमाणाउए छम्मा-सादो अहिए सते परभवियाउअस्स बधाभावा । —भुज्यमान आयुके (अधिकसे अधिक) छह मास अवशेष रहने पर और (कमसे कम) असंखेयाद्वा कालके अवशेष रहने पर आगामी भव सम्बन्धी आयुको बाँधनेवाले देव और नारकियोंके पूर्व कोटिके त्रिभागसे अधिक आभाधा होना असम्भव है । (वहाँ तो अधिकसे अधिक छह मास ही आभाधा होती है) असंख्यात वर्षकी आयु वाले भोग-भूमिज तिर्यच व मनुष्योंके भी देव और नारकियोंके समान भुज्यमान आयुके छह माससे अधिक होने पर परभव सम्बन्धी आयुके बन्धका अभाव है ।

घ १०/४, २४, ३६/२३४/२ णिरुक्खमाउआ पुण छम्मासावसेसे आउअ-बधपाओगा होंति । तस्य वि एव चैव अट्टगारिसाओ वत्तव्वाओ । —जो निरुक्खमायुष्क हैं वे भुज्यमान आयुमें छह मास शेष रहने पर आयु बन्धके योग्य होते हैं । यहाँ भी इसी प्रकार आठ अपकर्षको कहना चाहिए ।

गो.क/जी प्र १६८/१६२/१ देवनारकाणी स्वस्थितौ पण्मासेषु भोगभूमि-
जानां नवमासेषु च अवशिष्टेषु त्रिभागेन आयुर्बन्धसमवायः । —देव
नारकी तिनिकै तो छह महीना आयुका अवशेष रहै और भोगभूमियां
कै नव महीना आयुका अवशेष रहै तब त्रिभाग करि आयु बंधै है ।

गो जी/जी प्र ६१८/६१४/२४ निरुपक्रमायुष्का अनपवर्तितायुष्का वैव-
नारका भुज्यमानायुषिषड्मासावशेषे परभवायुर्बन्धप्रायोग्या भवन्ति ।
अत्राप्यष्टापकर्षा स्युः । समयाधिकपूर्वकोटिप्रभृतित्रिपलितोपम पर्यंतं
संख्यातामसंख्यातवर्षायुष्कभोगभूमितिर्यग्मनुष्याऽपि निरुपक्रमायुष्का
इति ग्राह्यं । —निरुपक्रमायुष्क अर्थात् अनपवर्तित आयुष्क देव-
नारकी अपनी भुज्यमान आयुमें (अधिकसे अधिक) छह मास अवशेष
रहने पर परभव सम्बन्धी आयुके बन्ध योग्य होते हैं । यहाँ भी
(कर्म भूमिजों वद) आठ अपकर्ष होते हैं । समयाधिक पूर्व कोटिगे
लेकर तीन पक्षकी आयु तक संख्यात व असंख्यात वर्षायुष्क जो
भोगभूमिज तिर्यक् या मनुष्य हैं वे भी निरुपक्रमायुष्क ही हैं, ऐसा
जानना चाहिए । (गो क/जी प्र ६३६-६४३/८३६-८३७)

३. आठ अपकर्ष कालोंमें न बँधें तो अन्त समयमें बँधती है

गो जी/जी प्र ६१८/६१३/२० नाष्टमापकर्षेऽप्यायुर्बन्धनियमः नाप्य-
प्योऽपकर्षस्तर्हि आयुर्बन्धः कथः । असंख्याता भुज्यमानायुषोऽन्या-
वश्यसंख्येयभाग तस्मिन्नवशिष्टे प्रागेव अन्तर्मूर्तमात्रममगप्रमत्तात्
परभवानुनियमेन बद्धत्वा समान्नोतीति नियमो ज्ञातव्यः । —प्रश्न—
आठ अपकर्षोंमें भी आयु न बंधै है, तो आयुका बन्ध कैसे होई ?
उत्तर—सो कहें है—‘असंख्याता जो आवलीका असंख्यातवर्षा भाग
भुज्यमान आयुका अवशेष रहै ताकै पहिले (पर भविक आयुका
बन्ध करै है) ।

गो क/जी प्र १६८/१६२/२ यष्टापकर्षेषु षड्विंशत्यायुर्बन्ध तदावश्य-
संख्येयभागमात्राया समयोनसुहृत्मात्राया वा अन्तर्मात्राया प्रागे-
वोत्तरभवानुन्तर्मूर्तमात्रममगप्रमत्तात् बद्धत्वा निष्ठापयति । एतौ
द्वौपि पक्षौ प्रवाहोपवेशाव्यात् अङ्गीकृतौ । —यदि वदाचित् किसी
ही अपकर्षमें आयु न बँधे तो कौन आचार्यके मतसे तो आवलीका
असंख्यातवर्षा भागप्रमाण और कोई आचार्यके मतसे एक समय घाटि
सुहृत्प्रमाण आयुका अवशेष रहै ताँहिके पहले उत्तर भवकी आयुकर्म-
को बँधे है । ए दोऊ पक्ष आचार्यनिका परम्परा उपदेश करि
अगीकार किये हैं ।

४. आयुके त्रिभाग शेष रहनेपर ही अपकर्ष काल आने सम्बन्धी दृष्टिभेद

ध १०/४.२.४.१६/२३७/१० गोदम । जीवा बुविहा पण्णत्ता संखेज्जवत्सा-
उआ चैव असंखेज्जवत्साउआ चैव । तथ जे ते असंखेज्जवत्साउआ ते
छम्मासावसेसियसि याउगंसि परभविय आयुग निषधत्ता बधंति ।
तथ जे ते संखेज्जवत्साउआ ते बुविहा पण्णत्ता सोबक्कम्माउआ
गिरुवक्कम्माउआ ते त्रिभागावसेसियसि याउगंसि परभविय आयुर्ग
कम्म निषधत्ता बधंति । तथ जे ते सोवक्कम्माउआ ते सिआ त्रिभाग-
तिभागावसेसियसि यायुगंसि परभविय आउगं कम्म निषधत्ता
बधंति । एवेण विहृयापणत्तिमुत्तेण सह कथं ण विरोहो । ण एद-
म्हादो तत्स पुधसुदत्स आहरियमेएण भेदभावणत्स एयत्ताभावादो ।
—प्रश्न—‘‘हे गोतम । जीव दो प्रकारके कहे गये हैं—संख्यात वर्षा
युष्क और असंख्यात वर्षायुष्क । उनमें जो असंख्यात वर्षायुष्क
हैं वे आयुके छह मास शेष रहने पर पर भविक आयुको बँधते हुए
बौधते हैं । और जो संख्यात वर्षायुष्क जीव हैं वे दो प्रकारके कहे
गये हैं ।—सोपक्रमायुष्क और निरुपक्रमायुष्क । उनमें जो निरुप-
क्रमायुष्क हैं वे आयुमें त्रिभाग शेष रहने पर पर-भविक आयुकर्मको
बँधते हुए बौधते हैं । और जो सोपक्रमायुष्क जीव हैं वे कथंचित्

त्रिभाग (कथंचित् त्रिभागका त्रिभाग और कथंचित् त्रिभाग-त्रिभाग
का त्रिभाग) शेष रहने पर पर भव सम्बन्धी आयुकर्मको बँधते हैं ।’’
इस व्याख्या प्रह्लादि मूयके साथ कैसे विरोध न होगा । उत्तर—नहीं,
क्योंकि, इस सूत्रसे उक्त सूत्र भिन्न आचार्यके द्वारा बनाया हुआ
होनेके कारण पृथक् है । अतः उससे इसका मिलान नहीं हो सकता ।

५. अन्तिम समयमें केवल अन्तर्मूर्त प्रमाण ही आयु बँधती है

गो क/जी प्र ६१८/६१३/२० अन्तर्मात्राभुज्यमानायुषो न गायस्तेररये-
भाग तस्मिन्नावशिष्टे प्रागेव अन्तर्मूर्तमात्रममगप्रमत्तात् परभवानु-
नियमेन बद्धत्वा समान्नोतीति नियमो ज्ञातव्यः । —भुज्यमान आयु-
के कालमें अन्तिम आवलीका असंख्यातवर्षा भाग शेष रहने पर अन्त-
र्मूर्त कालमात्र ममग प्रमत्तके द्वारा परभवकी आयुको बँधकर
पूरा करै है ऐसा नियम है अर्थात् अन्तिम समय केवल अन्तर्मूर्त-
मात्र स्थितिवाली परभव सम्बन्धी आयुको बँध कर निष्ठापन
करै है ।

६. आठ अपकर्ष कालोंमें बँधी आयुका समीकरण

गो क/जी प्र ६४३/८३७/१६ अपकर्षेषु मध्येप्रथमवारं वजिरवा द्वितीया-
दिवा रे मध्यमानस्यायुषा वृद्धिर्निरस्यतिर्वा भवति । यदि वृद्धि-
स्तदा द्वितीयादिवा रे यत्नाधिकमितिरेव प्राधान्यः । अथ हानिस्तदा
पूर्वयत्नाधिकमितिरेव प्राधान्यः । —आठ अपकर्षनि विषे पल्ली बार
विना द्वितीयादिक यागविषे पूर्व जो आयु बँध्या था, तिसकी स्थिति
को वृद्धि वा हानि वा अवस्थिति हो है । तहाँ जो वृद्धि हाय तो पीछे
जो अधिक स्थिति बन्धी तिसकी प्रधानता जाननी । यहुरि जो
हानि होय तो पहिली अधिक स्थिति यधी थी ताकी प्रधानता
जाननी । (अथि आठ अपकर्षमें बँधी हीनाधिक सर्व स्थितियोंमें-
से जो अधिक है यह ही उस आयुकी बँधी हुई स्थिति समझनी
चाहिए) ।

७. अन्य अपकर्षोंमें आयु बन्धके प्रमाणमें चार वृद्धि व हानि सम्भव है

ध १६/पृ ३००/११ चतुष्पण्माउआणमत्रिद्विद-भुजगारसंकमाण कालो
जहणमुकत्सेण एगसमओ । पुव्ववधारेण समउत्तरं पव्वइत्स जट्ठिदि
पडुक्क जट्ठिदिसंक्रमो ति एथ चैत्तव । वैव-गिरयाउ-आण अप्प-
दरसंकमत्स जट्ठो अतोमुहुत्त, उक्क तेत्तोस सागरोवमाणि सादरे-
याणि । तिरिक्कवमणुमाउआण जह अतोमुहुत्त, उक्क तिण्णि-
पल्लिदोवमाणि सादरेयाणि । —चार आयु कर्मों अवस्थित और
भुजाकार मकनोंका काल जघन्य व उरकर्षसे एक समय मात्र है ।
पूर्व बन्धसे एक समय अधिक बँधे गये आयुकर्मका ज स्थितिकी
अपेक्षा यहाँ ज स्थिति सक्रम ग्रहण करना चाहिए । देवायु और
नरायुके अष्टपत्र संक्रमका काल जघन्यसे अन्तर्मूर्त और उरकर्षसे
साधिक तेहीस सागरोपम मात्र है । तिरिचायु और मनुष्यायुके अष्ट-
पत्र संक्रमका काल जघन्यसे अन्तर्मूर्त और उरकर्षसे साधिक तीन-
तीन पक्षोपम मात्र है ।

गो क/पृ ४४१/६६३ संक्रमणाकरणूणा णवकरणा होति सठव आऊण ।
—चायि आयु सिकके सक्रमणपरण विना नवकरण पाइए है ।

८. उसी अपकर्ष कालके सर्व समयमें उत्तरोत्तर हीन बन्ध होता है

म ब २/३२७१/१४६/१२ आयुगत्स अरिथ अवत्तवधघणा अप्पतरमधगाय ।
म ब २/३३६६/१८२/६ आयु अरिथ अवत्तवधघणा य असंखेज्जभाग-
हाणियधगाय । —१ आयु कर्मका अवत्तवध बन्ध करनेवाले जीव हैं,
और अष्टपत्र बन्ध करनेवाले जीव हैं । विशेषार्थ—आयु कर्मका
प्रथम समयमें जो स्थितिबन्ध होता है उससे द्वितीयादि समयोंमें
उत्तरोत्तर वह हीन होतार ही होता है ऐसा नियम है ।

२ आयु कर्मके अस्त्यपद का बन्ध करनेवाले और असत्यात भागहानि पदका बन्ध करनेवाले जोव हैं। विशेषार्थ— आयु कर्मका अस्त्यपद बन्ध होनेके बाद अष्टपद हो बन्ध होता है। आयु-कर्म का जन्म बन्ध प्रारम्भ होता है तब प्रथम समयमें एक मात्र अस्त्यपद ही होता है और अनन्तर अष्टपद होता है। फिर भी उस अष्टपद पदमें कौन-सो हानि होती है यही बलानेके लिये यहाँ वह असत्यात भागहानि ही होती है यह स्पष्ट निर्देश किया है।

५ आयुके उत्कर्षण अपवर्तन सम्बन्धी नियम

१ वद्धमान व भुज्यमान दोनों आयुओका अपवर्तन सम्भव है

गो क/जो प्र ६४३/८३७/१६ आयुर्मन्थ कुर्वता जीवानां परिणामवशेन वद्धमानस्यायुषोऽपवर्तनमपि भवति। तदेवापवर्तनघात इत्युच्यते उदीयमानायुषोऽपवर्तनस्यैव कदलीघाताभिधानात्। —बहुरि आयुके बन्धको करते जीव तिनके परिणामनिके वशते (वद्धमान आयुका) अपवर्तन भी हो है। अपवर्तन नाम घटनेका है। सौ या कौ अपवर्तन घात कहिए जातै उदय आया आयुके (अर्थात् भुज्यमान आयुके) अपवर्तनका नाम कदलीघात है।

२ परन्तु वद्धमान आयुकी उदीरणा नहीं होती

गो क/वृ ६१८/११०३ । परमविय आउगस्सय उदीरणा णरिथ णियमेण ॥६१८॥ बहुरि परमवका वद्धमान आयु ताकी उदीरणा नियम करि नाही है।

३. उत्कृष्ट आयुके अनुभागका अपवर्तन सम्भव है

ध १२/४,२,७,२०/२१/३ उक्कस्साणुभागे बधे ओवट्ठणाघादो णरिथ चि के वि भणति। तण्ण घट्टे, उक्कस्साउअ बधिय पुणो तं घादिय मिच्छत्त गत्तुणअग्निदेवेसु उप्पण्णदोवायणेण विग्रहिघारादो महाबधे आउअक्कस्साणुभागतस्स उवट्ठपोगल्लमेत्तकालपरुवण्णणह्णानुवत्तीदो वा। प्ररन—(उत्कृष्ट आयुको बाँधकर उसे अपवर्तनघातके द्वारा घातकर पश्चात् अधस्तन गृणस्थानोंको प्राप्त होनेपर उत्कृष्ट अनुभागका स्वामी क्यों नहीं होता)। उत्तर—(नहीं, क्योंकि घातित अनुभागके उत्कृष्ट होनेका विरोध है)। उत्कृष्ट अनुभागको बाँधनेपर उसका अपवर्तन घात नहीं होता, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। किन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा माननेपर एक तो उत्कृष्ट आयुको बाँधकर पश्चात् उसका घात करके मिथ्यात्वको प्राप्त हो अग्निकुमार देवोंमें उत्पन्न हुए द्विपायन मुनिके साथ व्यभिचार आता है, दूसरे इसका घात माने बिना महाबन्धमें प्ररुपित उत्कृष्ट अनुभागका उपार्थ पुद्गल प्रमाण अन्तर भी नहीं बन सकता।

४ असत्यात वर्षायुषको तथा चरम शरीरियोंकी आयुका अपवर्तन नहीं होता

त सु २/३३ औपपादिकाचरमोत्तमदेहास रयेयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुष ॥३३॥ —औपपादिक देहवाले देव व नारकी, चरमोत्तम देहवाले अर्थात् वर्तमान भवसे मोक्ष जानेवाले भोग भूमियाँ तिर्यच व मनुष्य अनपवर्ती आयुवाले होते हैं। अर्थात् उनको अपमृत्यु नहीं हाता। (स सि २/४३/२०१/४) (रा वा २/४३/२-१०/१५७) (ध ६/४,१,६६/३०६/६) (त सा २/१३४)।

५ भुज्यमान आयु पर्यन्त वद्धमान आयुमे वाधा असम्भव है

ध ६/१,६-६ २४/१६८/६ जघा णाणावरणादिसमयपमद्वान्ण घघावलियवदिवव ताण ओक्कट्ठण परपयडि-सकमेहि बाधा जलिय, तथा आउअस्स ओक्कट्ठण-परपयडिसकमादीहि बाधाभाव परुवण्णट्ठ बिदिय-वारमाप्पाणिदे सादो। —(जैसे) ज्ञानावरणादि कर्मके समयप्रबद्धो-

के अपकर्षण और पर-प्रकृति संक्रमणके द्वारा बाधा होती है, उस प्रकार आयुकर्मके आधाधाकालके पूर्ण होने तक अपकर्षण और पर प्रकृति संक्रमणके द्वारा बाधाका अभाव है। अर्थात् आगामी भव सम्बन्धी आयुकर्मकी नियेक स्थितिमें कोई व्याघात नहीं होता है, इस बातके प्ररूपणके लिए दूसरी बार 'आधाधा' इस सूत्रका निर्देश किया है।

६ चारो आयुओंका परस्परमे संक्रमण नहीं होता

गो क/वृ ८१०/५७३ बधे । आउचउवके ण सकमण ॥४१०॥—बहुरि चयारि आयु तिनके परस्पर संक्रमण नाही, देवायु, मनुष्यायु आदि रूप होइ न परिणमें ह्वादि ऐसा जानना।

७. समयको विराधनसे आयुका अपवर्तन हो जाता है

ध ४/१,६ ६६/३८३/३ एवको विराहियसजदो वेमाणियदेवेसु आउअ बधियूण तमोवट्ठणाघादेण घादिय भवणवासियदेवेसु उववण्णो। —विराधना की है समयकी जिसने ऐसा कोई सयत मनुष्य वैमानिक देवोंमें आयुको बाँध करके अपवर्तनघातसे घात करके भवणवासी देवोंमें उत्पन्न हुआ। (ध ४/१,६,६७/३८४/८ विशेषार्थ)

ध १२/४,२,७,२०/२१/३ उक्कस्साउअ बधिय पुणो तं घादियमिच्छत्त गत्तुण अग्निदेवेसु उप्पण्णदोवायण । —उत्कृष्ट आयुको बाँध करके मिथ्यात्वको प्राप्त हो द्विपायन मुनि अग्निकुमार देवोंमें उत्पन्न हुए।

८ आयुके अनुभाग व स्थितिघात साय-साय होते हैं

ध १२/४,२,७,२०/२१/३ ३६६ पर उवट्ठत्त "टिठिदादे हंमते अणुभागा आऊआण सव्वेसि। अणुभागेण विणा वि हु आउववज्जण टिठिदादो ॥१॥ अणुभागे हंमते टिठिदादो आउआण सव्वेसि। टिठिदादेण विणा वि हु आउववज्जणमणुभागे ॥२॥—स्थितिघात के अनुभागोंका नाश होता है। आयुको छोड़कर शेष कर्मोंका अनुभागके बिना भी स्थितिघात होता है ॥१॥ अनुभागका घात होनेपर सब आयुओंका स्थितिघात होता है। स्थिति घातके बिना भी आयुको छोड़कर शेष कर्मोंका अनुभागका घात होता है।

ध १२/४,२,७,२०/२१/८ उक्कस्साणुभागेण सह तेषीसाउअ बधिय अणुभाग मोत्तुण टिठ्ठीए चैव ओवट्ठणाघाद काट्ठण सोधम्मदिधु उप्पण्णण उक्कस्साभावसामित्ति किण्ण सम्भदे। ण विणा आउअस्स उक्कस्सटिठिदादाभावादो। —प्ररन—उत्कृष्ट अनुभागके साथ तैत्तीस सागरोपम प्रमाण आयुको बाँधकर अनुभागको छोड़ केवल स्थितिके अपवर्तन घातका करके सोधमर्मादि देवोंमें उत्पन्न हुए जीवोंके उत्कृष्ट अनुभागका स्वामित्व क्यों नहीं पाया जाता। उत्तर—नहीं, क्योंकि (अनुभाग घातके) बिना आयुको उत्कृष्ट स्थितिका घात सम्भव नहीं।

६ आयु वन्ध सम्बन्धी नियम

१ तिर्यचोकी उत्कृष्ट आयु भोगभूमि, स्वयम्भूरमण

द्वीप, व कर्मभूमिके प्रथम चार कालोंमें ही सम्भव है ति प ५/२८५-२८६ एदे उक्कस्साऊ पुव्वावरविदेहजादतिरियान्। कम्मावणिपडिभद्रे बाहिरभागे सयपहगिरीदो ॥२८४॥ तथेव सम्ब-काल केई जीवाण भरहे एरवदे। तुरियस्स पडमभागे एदेण होदि उक्कस्स ॥२८५॥—उत्पुष्ट उत्कृष्ट आयु पूर्वा पर विवेहोंमें उत्पन्न हुए तिर्यचोंके तथा स्वयंप्रभ पर्वतके बाल कर्मभूमि-भागमें उत्पन्न हुए तिर्यचोंके ही सर्वकाल पायी जाती है। भरत और देरावत क्षेत्रके भीतर चतुर्थ कालके प्रथम भागमें भी किन्हीं तिर्यचोंके उत्त उत्कृष्ट आयु पायी जाती है।

२ भोग भूमिजोंमें भी आयु होनाधिक हो सकती है

ध १४/४,२,६,८/८६/१३ अक्षखेजजामाउअस्स वा ति उते देवेगेर-याणां गहण, ण समयाहियपुव्वकोटिप्पहुडिउवरिमआउअतिरिक्ख-मणुत्तण गहण । —'असरायसवर्षायुष्क' से देव नारकियोंका ग्रहण

किया गया है, इस पदसे एक समय अधिक पूर्व कोटि आदि उपरिम आयु विकल्पोंसे संयुक्त तिर्यचों व मनुष्योंका ग्रहण नहीं करना चाहिए।

३ ब्रह्मायुष्कवधातायुष्क देवोंकी आयु सम्बन्धी स्पष्टीकरण
घ १/१.५.६७/३८५ पर विशेषार्थ "यहाँ पर जो ब्रह्मायुधातकी अपेक्षा सम्यग्रष्टि और मिथ्याष्टि देवोंके दो प्रकारके कालकी प्ररूपणाकी है, उसका अभिप्राय यह है कि, किसी मनुष्यने अपनी संयम अवस्थामें देवायुबन्ध किया। पीछे उसने स्वतन्त्र परिरामोंके निमित्तसे संयमकी विराधना कर दी और इसलिए अवर्तन घातकेद्वारा आयुका घात भी कर दिया। संयमकी विराधना कर देने पर भी यदि वह सम्यग्रष्टि है, तो मर कर जिस कल्पमें उत्पन्न होगा, वहाँकी साधारणतः निश्चित आयुसे अन्तर्मुहूर्त कम अर्ध सागरोपम प्रमाण अधिक आयुका धारक होगा। कल्पना कीजिए किसी मनुष्यने संयम अवस्थामें अच्युत कल्पमें सप्त षाईस सागर प्रमाण आयु ग्रहण किया। पीछे संयमकी विराधना और बाँधी हुई आयुकी अववर्तना कर असंयत सम्यग्रष्टि हो गया। पीछे मर कर यदि सहस्रार कल्पमें उत्पन्न हुआ, तो वहाँकी साधारण आयु जो अठारह सागरकी है, उससे घातायुष्क सम्यग्रष्टि देवकी आयु अन्तर्मुहूर्त कम आधा सागर अधिक होगी। यदि वही पुरुष संयमकी विराधना केसाथ ही सम्यक्त्वकी विराधना कर मिथ्याष्टि हो जाता है, और पीछे मरण कर उसी सहस्रार कल्पमें उत्पन्न होता है, तो उसकी वहाँकी निश्चित अठारह सागरकी आयुसे पश्योपमके असंयततावें भागसे अधिक होगी। ऐसे जीवको घातायुष्क मिथ्याष्टि कहते हैं।

४. चारों गतियोंमें परस्पर आयुवन्ध सम्बन्धी

१. नरक व देवगतिके जीवोंमें

घ १२/४.२.७.३२/२७/५ अपञ्जसत्तिरिक्त्वाऽथ देव-गेरहया न बधति।
—अपर्याप्त तिर्यच सम्बन्धी आयुको देव व नारकी जीव नहीं बाँधते।

गो क/जी प्र ४३६-४४०/८३६/६ परमवायु स्वभुज्यमानायुष्पुरुषेन पण्मासेऽवशिष्टे देवनारका नारं तैरन्धं गच्छन्ति तद्बन्धे योग्या स्मुरिरयर्थः। सप्तपृथ्वीनाथ तैरन्धम्।—भुज्यमान आयुके उत्कृष्ट छह मास अवधिपर ही देव नारकी हैं ते मनुष्यायु वा तिर्यचायुकी बाँधें हैं अर्थात् तिस कालमें बन्ध योग्य हों हैं। सप्त पृथ्वीके नारकी तिर्यचायु ही को बाँधें हैं।

२. कर्म भूमिज तिर्यच मनुष्य गतिके जीवोंमें

नोट—सम्यग्रष्टि मनुष्य व तिर्यच केवल देवायु व मनुष्यायुका ही बन्ध करते हैं—वे बन्धव्युच्छिन्न चार्त।

रा बा ३/४६/५/१५५/६ देवैरुपपन्नं च्युत मनुष्योऽपि तिर्यक्ष चोत्पन्न अपर्याप्त-कालमनु भुय पुनर्देवायुमद्बन्ध उत्पद्यते सन्धमन्तरम्।—देवोंमें उत्पन्न होकर बहसि च्युत हो मनुष्य वा तिर्यचोंमें उत्पन्न हुआ। अपर्याप्त काल मात्रका अनुभव कर पुन देवायुकी बाँधकर वहाँ ही उत्पन्न हो गया। इस प्रकार देव गतिके अन्तर अन्तर्मुहूर्त मात्र ही प्राप्त होता है। अर्थात् अपर्याप्त मनुष्य वा तिर्यच भी देवायु बन्ध कर सकते हैं।

गो क/जी प्र ४३६-४४०/८३६/७ नारतिर्यक्षिभागेऽवशिष्टे चरवारि। एक विकलेन्द्रिया नारं तैरन्धं च। तेजो वायव तैरन्धमेव बहुरि मनुष्य तिर्यच भुज्यमान आयुका तीसरा भाग अवकाश रहें च्यायों आयुकी बाँधें हैं एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय नारक और तिर्यच आयुकी बाँधें हैं। तेजकायिक वा वातकायिक तिर्यचायु ही बाँधें हैं।

गो क/जी प्र ७४५/६००/१ उहं सितानुद्वेसितमनुष्यद्विकतेजोवायुना मनुष्यायुष्कान्धादधनोत्पत्तेः।—मनुष्य-द्विककी उल्लेखना मये वा न भये तेज वातकायिकानिके मनुष्यायुके बन्धका अप्राप्तते मनुष्यनिर्विधे उपजना नाहीं।

३ भोगभूमि मनुष्य व तिर्यचगतिके जीवोंमें

गो क/जी प्र ६३६-६४०/८३६/८ भोगभूमिजा पण्मासेऽवशिष्टे देव।
—बहुरि भोग भूमिया छह मास अवधि रहें देवायु ही को बाँधें।

५ आयुके साथ वही गति प्रकृति वैधती है

नोट—आयुके साथ गतिके जो बन्ध होता है वह नियमसे आयुके समान ही होता है। क्योंकि गति नामकर्म व आयुकर्मकी व्युच्छिन्न एक साथ हो जाती है—वे बन्ध व्युच्छिन्न चार्त।

६. एक भवसे एक ही आयुका वन्ध सम्भव है

गो क/पू ६४२/८१७७ के एवम् आऊ एकभवे बधमेदि जोगपदे। अष्टवार वा तस्यपि तिभागेसे व स्ववश १६४२१—एक जीव एक समय विषे एक ही आयु को बाँधें ता भी गाम्गकाल विषे आठ बार ही बाँधें, तहाँ सर्व तीसरा तीसरा भाग अवधि रहें बाँधें हैं।

७ ब्रह्मायुष्कोमें सम्यक्त्व व गुणस्थान प्राप्ति सम्बन्धी

प स/प्रा १/२०१ चत्वारि वि छेत्ताऽह आउयमधेण होइ सम्मत्त। अनुवय-मरुत्वाङ्ग न सहै देवउअ मोत्त ॥२०१॥—जो चारों ही क्षेत्रों की (गतियोंकी) आयुका बन्ध होनेपर सम्यक्त्वको प्राप्त कर सकता है। किन्तु अनुवत्त और महावत्त देवायुको छोड़कर दोष आयुका बन्ध होने पर प्राप्त नहीं कर सकता। (घ १/१.१.५/१६६/३०६), (गा क/पू/३३४), (गो जी/पू/६५३/११०१)

घ १/१.१.२६/२०५/१ ब्रह्मायुरसंयतसम्यग्रष्टिमासादनानामिव न सम्यग्मिथ्याष्टिसंयतासयतानां च तत्रापराप्तिकाले संभव समस्तित तत्र तेन तयोर्विरोधात्।—जिस प्रकार ब्रह्मायुष्क असंयतसम्यग्रष्टि और सासादन गुणस्थानवालोंका तिर्यच गतिके अपर्याप्त कालमें सम्भव है, उस प्रकार सम्यग् मिथ्याष्टि और संयतासंयतोंका तिर्यचगतिके अपर्याप्त कालमें सम्भव नहीं है, क्योंकि, तिर्यचगतिके अपर्याप्तकालके साथ सम्यग्मिथ्याष्टि और संयतासंयतोंका विरोध है।

घ १२/१.२.७.१६/२०/१३ उहं सितानुद्वेसितमनुष्यद्विकतेजोवायुना मनुष्यायुष्कान्धादधनोत्पत्तेः।—उत्कृष्ट अनुभागके साथ आयुकी बाँधनेपर संयतासंयतोंका अग्रस्तन गुणस्थानोंमें गमन नहीं होता।

गो जी/जी प्र ७३१/१३२५/१४ ब्रह्मदेवायुष्कादन्यस्य उपशमश्रेण्यांमरणाभावात्। दोषत्रिकब्रह्मायुष्कानां च देशसकनसयमयोरेवासंभवात्।—देवायुका जाके बन्ध भया होइ तिहि बिना अन्य जीवका उपशम श्रेणी विषे मरण नाहीं। अन्य आयु जाके बंधा होइ ताके देशसयम सकलसंयम भी न होइ।

गो क/जी प्र ३३१/४८६/१३ नरकतिर्यचदेवायुस्तु भुज्यमानबद्धमानोभय-प्रकारेण सत्त्वेषु सत्सु यथासत्त्वदेशज्ञता सकलवता संपका नैव स्युः।

गो क/जी प्र ३४६/४६८/११ असंयते नारकमनुष्यायुषी व्युच्छिन्नं, तत्सर्वेऽणुवताघटनात्।—१ ब्रह्ममान और भुज्यमान दोउ प्रकार अपेक्षा करि नरकायुका सत्त्व होते देशवत्त न होई, तिर्यचायुका सत्त्व होते सकलवत्त न होई, नरक तिर्यच व देवायुका सत्त्व होते सत्त्व श्रेणी न होई। २ असंयत सम्यग्रष्टियुक्तिके नारक व मनुष्यायुकी व्युच्छिन्न हो जाती है क्योंकि उनके सत्त्वमें अनुवत्त नहीं होते।

८ ब्रह्ममान देवायुष्कका सम्यक्त्व विराधित नहीं होता

गो क/भाषा ३६६/४६६/३५ बहुरि ब्रह्ममान देवायु अर भुज्यमान मनुष्यायु युक्त असंयतावि च्यारि गुणस्थानवर्ती जीव सम्यक्त्व तै भ्रष्ट होइ मिथ्याष्टि विषे होते नाहीं।

९ वध उदय सत्त्व सम्बन्धी सयसी भग

गो क/पू ६४१/८३६ सगसगदीणमाउ उदेदि बधे उदिण्णगेण सम। दो सत्ता हु अयमे एवक उदयागद सत्त ॥६४॥—नारकादिकनिके अपनी-अपनी गति सम्बन्धी ही एक आयु उदय हो है। बहुरि

सर्व पर-भवकी आयुका मन्ध भये उदयागत आयु सहित दोय आयु का है—एकमद्वयमान और एक भुज्यमान। महरि अवद्यायुके एक उदय आया भुज्यमान आयु हो का सरन है।

गो क/सू ६४८/८३८ एवममधे मधे उवरदमधे वि होंति भंगा हु। एकास्तेक्ष्मि भवे एकाउ पडि तये गियमा।—ऐसे पूर्वोक्त रीति करि मन्ध वा अमन्ध वा उपरत मन्धकरि एक जीवके एक पर्याय विषे एक आयु प्रति तीन भंग नियम सँ होय है।

मन्धादि विषे	मन्ध वर्तमान मन्धक	अमन्ध (अमद्यायुष्क)	उपरत मन्ध (वद्यायुष्क)
मन्ध	१	×	×
उदय	१	१	१
सरन	२	१	२

१०. मिश्र योगोमे आयुका मन्ध सम्भव नहीं

गो क/भापा १०६/६०/६ जातँ मिश्र योग विषे आयुमन्ध होय नाहो।

७ आयु विषयक प्ररूपणाएँ—

१. नरक गति सम्बन्धी

सामान्य प्ररूपणा (सू आ १११४-१११६) (स सि ३६/२२ २३), (स सि ४/३५/११३), (जं प ११/१७८), (म पु १०/६३), (द्र स /टी ३५/११७)।

विशेष प्ररूपणा (ति प २/२०४-२१४), (रा वा ३/६/७/१६७/१८), (हरि पु ४/२५०-२६४) (घ ७/२,२,६/११६-१२०), (त्रि सा १६८-२००)

संकेत अस—असरव्यात, को—कोड़, पू—पूर्व (७०६६००००००००० वर्ष)

पटल सं	प्रथम पृथिवी		द्वितीय पृथिवी		तृतीय पृथिवी		चतुर्थ पृथिवी		पंचम पृथिवी		षष्ठ पृथिवी		सप्तम पृथिवी	
	जघन्य	उरकृष्ट	जघन्य	उरकृष्ट	जघन्य	उरकृष्ट	जघन्य	उरकृष्ट	जघन्य	उरकृष्ट	जघन्य	उरकृष्ट	जघन्य	उरकृष्ट
सामान्य	१०००० वर्ष	१ सागर	१	३	३	७	७	१०	१०	१७	१७	२२	२२	३३
१	१०००० वर्ष	६०,००० वर्ष	१	१-२/११	३	३-४/६	७	७-३/७	१०	११-२/५	१७	१८-२/३	२२	३३
२	६०,०००	६०,०००	१-२/११	१-४/११	३-४/६	३-८/६	७-३/७	७-६/७	११-२/५	१२-४/५	१८-२/३	२०-१/३	२२	३३
३	६०,०००,०००	अस को पू	१-४/११	१-६/११	३-८/६	४-३/६	७-६/७	८-२/७	१२-४/५	१४-१/५	२०-१/३	२२		
४	अस को पू	१/१० सागर	१-६/११	१-८/११	४-३/६	४-७/६	८-२/७	८-६/७	१४-१/५	१६-३/५				
५	१/१० सागर	१/५	१-८/११	१-१०/११	४-७/६	५-२/६	८-६/७	८-१/७	१६-३/५	१७				
६	१/५	३/१०	१-१०/११	२-१/११	५-२/६	६-६/६	८-१/७	८-४/७						
७	३/१०	२/५	२-१/११	२-३/११	६-६/६	६-१/६	८-४/७	१०						
८	२/५	१/२	२-३/११	२-५/११	६-१/६	६-५/६								
९	१/२	३/५	२-५/११	२-७/११	६-५/६	७								
१०	३/५	७/१०	२-७/११	२-९/११										
११	७/१०	४/५	२-९/११	३-०										
१२	४/५	६/१०												
१३	६/१०	१ सा												

२. तिर्यञ्च गति सम्बन्धी

प्रमाण (सू आ ११०५-११११), (ति प ५/२८१-२९०), (रा वा ३/३६/३-५/२०६) (त्रि सा ३२८-३३०), (गो जी/जी प्र २०८/४५८)

संकेत १ पूर्वांग—८४००,००० वर्ष १ पूर्व—७०६६०००००००० वर्ष।

क्रम	मार्गणा	विशेष	आयु	
			जघन्य	उरकृष्ट
	एकोन्द्रिय			
१	पृथिवी कायिक	शुद्ध खर	१२०००वर्ष	
२	" "		२२०००वर्ष	
३	अप् "		७००० "	
४	तेज "		३ दिन रात	
५	वायु "		३००० वर्ष	
६	ननस्पति साधारण		१०००० "	
	विकलेन्द्रिय			
७	द्वीन्द्रिय		१२ वर्ष	
८	त्रिन्द्रिय		४६ दिन रात	
९	चतुर्न्द्रिय		६ महोने	

क्रम	मार्गणा	विशेष	आयु	
			जघन्य	उरकृष्ट
१०	पंचेन्द्रिय			
११	जलचर	मत्स्यादि		१ कोड़ पूर्व
१२	परिसर्ग	गोह, नेवला, सरी-सृपादि		६ पूर्वांग
१३	उरग	सर्प		४२०००वर्ष
१४	पक्षी	कर्म भूमिज भैरु ह आदि		७२००० "
१५	चौपाये	कर्म भूमिज		१ पश्य
१६	असंज्ञी पंचेन्द्रिय	" "		१ कोड़ पूर्व
१७	भोग भूमिज			
१८	उत्तम भोगभूमिज	देवकुरु—उत्तर कुरु		३ पश्य
१९	मध्यम	हरि व रम्यक क्षेत्र		२ "
२०	जघन्य	हैमवत-हैरण्यवत		१ "
२१	कुभोग भूमिज	(अन्तर्द्वीप)		१ "
२२	कर्म			१ "

३ एक अन्तर्मुहूर्तमें लब्धपर्याप्तिकके सम्भव निरन्तर क्षुब्धभव

(गो जो /सू १२३-१२४/३३२-३३५), (का अ /टी १३७/७५)

क्रम	मार्गणा		एक अन्तर्मुहूर्तके भव	
	नाम	सूक्ष्म या बाह्य	प्रत्येक में	योग (जोड़)
	एकेन्द्रिय (ल अप)			
१	पृथिवी कायिक	सूक्ष्म	६०१२	
२	"	बाह्य	"	
३	अप	सूक्ष्म	"	
४	"	बाह्य	"	
५	तेज	सूक्ष्म	"	
६	"	बाह्य	"	
७	वायु	सूक्ष्म	"	
८	"	बाह्य	"	
९	बनस्पति साधारण	सूक्ष्म	"	
१०	"	बाह्य	"	
११	" अप्रति प्रत्येक	"	"	६६१३२
	विकलेन्द्रिय (ल अप)			
१२	द्वीन्द्रिय		८०	
१३	त्रीन्द्रिय		६०	
१४	चतुर्न्द्रिय		४०	१८०
	पंचेन्द्रिय (ल अप)			
१५	असंज्ञी		८	
१६	संज्ञी		८	
१७	मनुष्य		८	२४
	कुल योग			६६३३६

४. मनुष्य गति सम्बन्धी — १ पूर्ण = ७०६००००००००० वर्ष

१ क्षेत्रकी अपेक्षा

प्रमाण—(सू आ ११११-१११३), (ति प ४/गा), (स सि ३/२७-३१, ३७/५८-६६), (रा वा ३/२७-३१, ३७/१६१ १६२, १६८)

विषय	प्रमाण		प्रमाण		उत्कृष्ट आयु
	ति प गा	जघन्य आयु	ति प गा	अन्य प्रमाण	
भरत-देरावत क्षेत्र					
सुपमा सुपमा काल				देव कुरु उत्तर कुरुवध	
सुपमा काल				हरि-रम्यकवध	
सुपमा दुपमा काल				हैमवत हरिण्यवतवध	
दुपमा सुपमा काल				विदेह क्षेत्रवध	
दुपमा काल		२० वर्ष			१२० वर्ष
दुपमा दुपमा काल		१२ "			२० "
विदेह क्षेत्र	२२५५	अन्तर्मुहूर्त	२२५५		१ कोड़ पूर्व
हैमवत हरिण्यवत		१ कोड़ पूर्व			१ पश्य
हरि रम्यक	४०४	१ पश्य	३६६		२ "
दश-उत्तर कुरु		२ "	३३५		३ "
अन्तर्द्वीपजन्तेन्द्र		(१ कोड़ पूर्व)	२५१३		१

विषय	प्रमाण		प्रमाण		उत्कृष्ट आयु
	ति प गा	जघन्य आयु	ति प गा	अन्य प्रमाण	

२ कालकी अपेक्षा—(ति प ४/गा)

अवसर्पिणी :				
सुपमा सुपमा काल		२ पश्य	३३५	३ पश्य
सुपमा "		१ "	३६६	२ "
सुपमा दुपमा "		१ कोड़ पूर्व	४०४	१ "
दुपमा सुपमा "		१२० वर्ष	१२७७	१ कोड़ पूर्व
दुपमा "		२० "	१४७५	१२० वर्ष
दुपमा दुपमा "	१५५४	१५५१६ "	१५३६	२० "
वसर्पिणी				
दुपमा दुपमा काल	१५६४	१५-१६ वर्ष		२० वर्ष
दुपमा "	१५६८	२० "		१२० "
दुपमा सुपमा "	१५७६	१२० "	१५६५	१ कोड़ पूर्व
सुपमा दुपमा "	१५६६	१ कोड़ पूर्व	१५६८	१ पश्य
दुपमा "	१६००	१ पश्य		२ "
सुपमा सुपमा "	१६०२	२ "	१६०४	३ "

५. भोगभूमिजो व कर्म भूमिजो सम्बन्धी (ति प ५/गा)

उत्तम भोगभूमि	२६०	२ पश्य	२६०	३ पश्य
मध्यम "	२८६	१ "	२८६	२ "
जघन्य "	२८८	१ पूर्व कोड़	२८८	१ "
कर्म भूमि		देवी ऊपर भरत-देरावत क्षेत्र		

६. वेचगतिमे व्यन्तर देवी सम्बन्धी

१ (सू आ १११६-१११७), २ (त सू ४/३८-३९), ३ (ति प ४, ५, ६/गा), ४ (त्रि सा २४०-२६३), ५ (द्व सं /टी ३५/१४२)

संकेत—साधिक—अपनेसे ऊपरकी अपेक्षा यथायोग्य कुछ अधिक

प्रमाण	ति प गा	अन्य प्रमाण	नाम	आयु		विशेष
				जघन्य	उत्कृष्ट	

(१) देवीकी अपेक्षा

८३	१,२	व्यन्तर सामान्य			१ पश्य
८४	४,५	किन्नर आदि आठों इन्द्र			"
"	"	प्रतीन्द्र			"
"	"	सामानिक			"
"	"	महत्तर देवी			१/२ पश्य
"	"	शेष देव			यथायोग्य
८५	न ४	नीचोपपाद			१०,००० वर्ष
"	"	दिग्वासी			२०,००० "
"	"	अन्तर निवासी			३०,००० "
"	"	कृष्माण्ड			४०,००० "
"	"	उरपन्न			५०,००० "
"	"	अनुरपन्न			६०,००० "
"	"	प्रमाणक			७०,००० "
"	"	गन्ध			८०,००० "
"	"	महा गन्ध			८४ ००० "
"	"	भुजग (जुगल)			१/८ पश्य
"	"	प्राप्तिक			१/४ "
"	"	आकाशोत्पन्न			१/२ "

सर्वत्र १० ००० वर्ष

नाहनादिवालि
दिशाओंमें स्थित

प्रमाण		नाम	आयु		विशेष	प्रमाण		नाम	आयु		विशेष
ति प ४	ति प ५		ज्यन्म	उत्कृष्ट		ति प ४	ति प ५		ज्यन्म	उत्कृष्ट	
गा	गा					गा	गा				
७६	२७६	जम्बू द्वीपके रक्षक						(२) देवियोंकी अपेक्षा			
१७१३	१७१३	महोरग		१ पश्य		१६७२		श्री देवी	सर्वत्र १०,००० वर्ष	१ पश्य	
		वृषभदेव		"		१७२२		क्षी देवी	"	"	
		शाली देव		"		१७६२		वृष्टि	"	"	
		अन्य सर्व क्षीप समुद्रोंके		१ पश्य		२०६		मला देवी	"	"	
		अधिपति देव				३५८		लवणा	"	"	

नोट — इसी प्रकार अन्य सर्व देवियोंकी जानना

(३) घातायुष्की अपेक्षा—(घ ७/२,२,३०/१२६) (त्रि सा ६४१) सम्म्यग्दृष्टि—स्वस्व उत्कृष्ट + १/२ पश्य मिथ्यादृष्टि—स्व स्व उत्कृष्ट + पश्य/अस

७ देव गतिसे भवन्वासियों सम्बन्धी

समस्तितर आयु सम्बन्धी—(ति प ३/१४४-१७५), (त्रि सा २४०-२४७)

केवल इन्द्रो सम्बन्धी—(यु आ ११७-१२३), (व सु-४/२८), (ल प ११/१३७), (व सं ति, ३६/१४२)

संकेत साधिक—अपनेसे ऊपरकी अपेक्षा यथायोग्य कुछ अधिक।

क्रम	नाम	आयु		मूल भेद	आत्मरस		पारिवर्ष			सेनापति	आरोग्य या बाह्य या अर्थात्
		जं०	उ०		देव	देवी	अभ्यन्तर	मध्यम	बाह्य		
१	देव सामान्य	—	—	इन्द्राणि	१ पश्य	साधिक "	२ पश्य	२ पश्य	१ पश्य	१ पश्य	१/२ पश्य
२	अहर्कुमार	—	—	इन्द्र	साधिक "	साधिक "	३	२	२	साधिक "	साधिक "
३	वैरोचन	—	—	१ पश्य	१ कोष्ठ पूर्व	१ कोष्ठ पूर्व	१/२	१/२	१/२	१ कोष्ठ पूर्व	१ कोष्ठ पूर्व
४	भृगुमानन्द	—	—	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "
५	धरमानन्द	—	—	२ पश्य	१ कोष्ठ पूर्व	१ कोष्ठ पूर्व	२ कोष्ठ पूर्व	२ कोष्ठ पूर्व	१ कोष्ठ पूर्व	१ कोष्ठ पूर्व	१ कोष्ठ पूर्व
६	वैष्णवी	—	—	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "
७	वैष्णवी	—	—	२ पश्य	१ साल	१ साल	३ कोष्ठ वर्ष	२ कोष्ठ वर्ष	१ कोष्ठ वर्ष	१ साल	१ साल
८	वैशिष्ट	—	—	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "
९	जलरस	—	—	१ पश्य	१ साल	१ साल	३ कोष्ठ	२ कोष्ठ	१ कोष्ठ	१ साल	१ साल
१०	जलकान्त	—	—	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "
११	वैष्णवी	—	—	२ पश्य	१ साल	१ साल	३ कोष्ठ	२ कोष्ठ	१ कोष्ठ	१ साल	१ साल
१२	महावीर	—	—	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "
१३	हरिको	—	—	३ कोष्ठ	१ साल	१ साल	३ कोष्ठ	२ कोष्ठ	१ कोष्ठ	१ साल	१ साल
१४	हरिको	—	—	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "
१५	अभितराशि	—	—	३ कोष्ठ	१ साल	१ साल	३ कोष्ठ	२ कोष्ठ	१ कोष्ठ	१ साल	१ साल
१६	अभितराशि	—	—	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "
१७	अभितराशि	—	—	३ कोष्ठ	१ साल	१ साल	३ कोष्ठ	२ कोष्ठ	१ कोष्ठ	१ साल	१ साल
१८	अभितराशि	—	—	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "
१९	अभितराशि	—	—	३ कोष्ठ	१ साल	१ साल	३ कोष्ठ	२ कोष्ठ	१ कोष्ठ	१ साल	१ साल
२०	अभितराशि	—	—	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "	साधिक "

२ घातायुष्की अपेक्षा (घ ७/२,२,३०/१२६), (त्रि सा ६४१)

सम्म्यग्दृष्टि इन्द्र

स्व स्व उत्कृष्ट + १/२ सागर

" " " + पश्य/अस

क्रम	नाम	आयु सामान्य		ब्रह्मायुष्मकी अपेक्षा उत्कृष्ट	घातायुष्म सामान्य उत्कृष्ट
		अवस्थ	उत्कृष्ट		
२०	मेघ	१-२१/३० सागर	१-२३/३० सागर	१,३३३,३३३,३३३,३३३,३३३ पश्य	
२१	अश्र	१-२३/३० "	१-२४/३० "	१,४००,०००,०००,०००,००० "	
२२	हरित	१-२४/३० "	१-२७/३० "	१,४६६,६६६,६६६,६६६,६६६ " ३	
२३	पद्म	१-२७/३० "	१-२६/३० "	१,४३३,३३३,३३३,३३३,३३३ " ३	
२४	लोहिताङ्क	१-२६/३० "	२-१/३० "	१,६००,०००,०००,०००,००० "	
२५	वरिष्ठ	२-१/३० "	२-३/३० "	१,६६६,६६६,६६६,६६६,६६६ " ३	
२६	नन्दावर्त	२-३/३० "	२-४/३० "	१,७३३,३३३,३३३,३३३,३३३ " ३	
२७	प्रभंकर	२-४/३० "	२-७/३० "	१,८००,०००,०००,०००,००० "	
२८	पिष्टाक (पृष्ठक)	२-७/३० "	२-६/३० "	१,८६६,६६६,६६६,६६६,६६६ " ३	
२९	गज	२-६/३० "	२-११/३० "	१,८३३,३३३,३३३,३३३,३३३ " ३	
३०	मित्र	२-११/३० "	२-१३/३० "	२०,०००,०००,०००,०००,००० "	
३१	प्रभा	२-१३/३० "	२-१/२ "	साधिक २ सागर	

स्व स्व उत्कृष्ट आयुर्व

(२) सनत्कुमार माहेन्द्र युगल सम्बन्धी

	स्वर्ग सामान्य	साधिक २ सागर	साधिक ७ सागर	
	घातायुष्म —			
	सम्यग्दृष्टि	२-१/२ सागर	७-१/२ सागर	
	मिथ्यादृष्टि	२ सागर + $\frac{\text{पश्य}}{\text{अस}}$	७ सागर + $\frac{\text{पश्य}}{\text{अस}}$	
	प्रत्येक पटल—			
१	अजन	२-१/२ सागर	३-३/१४ सागर	२-४/७ सागर
२	वनमाला	३-३/१४ "	३-१/१४ "	३-३/७ "
३	नाग	३-१३/१४ "	४-६/१४ "	४-१/७ "
४	गरुड	४-६/१४ "	४-४/१४ "	४-६/७ "
५	लांगल	४-४/१४ "	६-१/१४ "	४-४/७ "
६	मलमद्र	६-१/१४ "	६-११/१४ "	६-३/७ "
७	शक्र	६-११/१४ "	७-१/२ "	साधिक ७ "

(३) ब्रह्म ब्रह्मोत्तर युगल सम्बन्धी

	स्वर्ग सामान्य	साधिक ७ सागर	साधिक १० सागर	
	घातायुष्म —			
	सम्यग्दृष्टि	७ + १/२ सागर	१० + १/२ सागर	
	मिथ्यादृष्टि	७ सागर + $\frac{\text{पश्य}}{\text{अस}}$	१० सागर + $\frac{\text{पश्य}}{\text{अस}}$	
	प्रत्येक पटल—			
१	हरिष्ठ	७-१/२ सागर	८-१/४ सागर	७-३/४ सागर
२	देवसमित	८-१/४ "	९ "	८-२/४ "
३	ब्रह्म	९ "	९-३/४ "	९-१/४ "
४	ब्रह्मोत्तर	९-३/४ "	१०-१/२ "	साधिक १० "
	लौकान्तिक देव	८ सागर	८ सागर	८ सागर

--- उत्कृष्ट आयु सामान्य धत् ---

(४) लातव कापिष्ठ युगल सम्बन्धी

	स्वर्ग सामान्य	साधिक १० सागर	साधिक १४ सागर	
	घातायुष्म —			
	सम्यग्दृष्टि	१० + १/२ सागर	१४ + १/२ सागर	
	मिथ्यादृष्टि	१० सागर + $\frac{\text{पश्य}}{\text{अस}}$	१४ सागर + $\frac{\text{पश्य}}{\text{अस}}$	
	प्रत्येक पटल—			
१	ब्रह्म निलय	१०-१/२ सागर	१२-१/२ सागर	साधिक १२ सागर
२	सान्त्व	१२-१/२ सागर	१४-१/२ सागर	" १४ सागर

क्रम	नाम	आयु सामान्य		मदायुष्कको अपेक्षा उत्कृष्ट	घातायुष्क सामान्य उत्कृष्ट
		जवन्य	उत्कृष्ट		

(५) शुष्क महाशुक्र युगल सम्बन्धी

१	स्वर्ग सामान्य	साधिक १४ सागर	साधिक १ सागर	साधिक १६ सागर
	घातायुष्क —			
	सम्यग्दृष्टि	१४-१/२ सागर	१६-१/२ सागर	
	मिथ्यादृष्टि	१४ सागर - $\frac{\text{पश्य}}{\text{अस}}$	१६ सागर + $\frac{\text{पश्य}}{\text{अस}}$	
	प्रत्येक पटल—			
	महा शुक्र	१४-१/२ सागर	१६-१/२ सागर	

(६) शतार-सहस्रार युगल सम्बन्धी

१	स्वर्ग सामान्य	साधिक १६ सागर	साधिक १८ सागर	साधिक १८ सागर	उत्कृष्ट आयु सामान्य
	घातायुष्क —				
	सम्यग्दृष्टि	१६-१/२ सागर	१८-१/२ सागर		
	मिथ्यादृष्टि	१६ सागर + $\frac{\text{पश्य}}{\text{अस}}$	१८ सागर + $\frac{\text{पश्य}}{\text{अस}}$		
	प्रत्येक पटल —				
	सहस्रार	१६-१/२ सागर	१८-१/२ सागर		

(७) आनत प्राणत युगल सम्बन्धी

१	स्वर्ग सामान्य	१८ सागर	२० सागर	१८-४/६ सागर
	घातायुष्क —	उत्पत्ति का अभाव (त्रि सा ६३३)		
	प्रत्येक पटल			
	आनत	१८-१/२ सागर	१६ सागर	
	प्राणत	१६ सागर	१६-१/२ "	
२	पुष्पक	१६-१/२ "	२० "	२० "

(८) आरण अच्युत युगल सम्बन्धी

१	स्वर्ग सामान्य	२० सागर	२२ सागर	२०-४/६ सागर
	घातायुष्क —	उत्पत्ति का अभाव (त्रि सा ६३३)		
	प्रत्येक पटल			
	आरण	२० सागर	२०-२/३ सागर	
	अच्युत	२०-२/३ "	२१-१/३ "	
२	अच्युत	२१-१/३ "	२२ "	२२ "

(९) नव ग्रहवैयक सम्बन्धी

१	स्वर्ग सामान्य	२२ सागर	३१ सागर	उत्पत्ति का अभाव
	घातायुष्क —	उत्पत्ति का अभाव (त्रि सा ६३३)		
	प्रत्येक पटल			
	ज्यो—सुदर्शन	२२ सागर	२३ सागर	
	ज्योष	२३ "	२४ "	
२	सुप्रसन्न	२४ "	२५ "	उत्पत्ति का अभाव
३	मध्यम—यशोधर	२५ "	२६ "	
४	सुभद्र	२६ "	२७ "	
५	सुनिशात	२७ "	२८ "	
६	सुनिशात	२८ "	२९ "	
७	सुनिशात	२९ "	३० "	उत्पत्ति का अभाव
८	सुनिशात	३० "	३१ "	
९	सुनिशात	३१ "	३२ "	
१०	सुनिशात	३२ "	३३ "	
११	सुनिशात	३३ "	३४ "	

क्रम	नाम	आयु सामान्य		मन्त्रायुष्क की अपेक्षा उत्कृष्ट	वातायुष्क सामान्य उत्कृष्ट
		जघन्य	उत्कृष्ट		

(१०) नव अनुदिश सम्बन्धी

१	स्वर्ग सामान्य	३१ सागर	३२ सागर		
	वातायुष्क —	उत्पत्तिका अभाव (त्रि सा ६३३)			
	प्रत्येक पटल :-				
	आदित्य				
	६ के ६ सर्व				
	विमान	३१ सागर	३२ सागर		

(११) पच अनुत्तर सम्बन्धी

१	स्वर्ग सामान्य	३२ सागर	३३ सागर		उत्पत्ति का अभाव
	वातायुष्क —	उत्पत्तिका अभाव (त्रि सा ६३३)			
	प्रत्येक विमान —				
	विजय	३२ सागर	३३ भागर		
२	वैजयन्त	" "	" "		उत्पत्ति का अभाव
३	जयन्त	" "	" "		
४	अपराजित	" "	" "		
५	सर्वार्थ सिद्धि	३३ सागर	" "		

१० वैमानिक देवोंमें इन्द्रों व उनके परिवार देवों सम्बन्धी

प्रमाण—(ति प ८/६१३-६२६)

सकेत—ऊन—किञ्चिदून।

इन्द्र त्रिक—इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक, व त्रायस्त्रिंश यह तीन सामन्त

तो वतु—लोकपालों सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद तथा अन्य सामन्त

प्रकी त्रिक—इन्द्र सम्बन्धी प्रकीर्णक, आभियोग्य व किञ्चिपक यह तीन प्रकार देव

नोट—उत्कृष्ट आयु दी गयी है। पहले-पहले स्वर्गकी उत्कृष्ट अगले-अगले स्वर्गमें जघन्य आयु है।

न	नाम स्वर्ग	इन्द्रादिक		लोकपालादिक				आरमरस	पारिषद			अनोक	प्रकी त्रिक
		इन्द्र	इन्द्रादिक	धम-सोम	कुशेर	वरुण	लो/वतु		अन्यन्तर	मध्यम	बाह्य		
१	सौधर्म			पश्य २-१/२	पश्य ३	पश्य ३		पश्य २-१/२	पश्य ३	पश्य ४	पश्य ५	पश्य १	
२	ईशान			३	ऊन ३	साधिक ३		"	"	"	"	"	
३	सनरकुमार			३-१/२	४	ऊन ४		३-१/२	४	५	६	२	
४	माहेन्द्र			४	ऊन ४	साधिक ४		"	"	"	"	"	
५	ब्रह्म			४-१/२	५	ऊन ५		४-१/२	५	६	७	३	
६	महोत्तर			५	ऊन ५	साधिक ५		"	"	"	"	"	
७	सान्ताब			५-१/२	६	ऊन ६		५-१/२	६	७	८	४	
८	कापिष्ठ			६	ऊन ६	साधिक ६		"	"	"	"	"	
९	शुक			६-१/२	७	ऊन ७		६-१/२	७	८	९	५	
१०	महाशुक			७	ऊन ७	साधिक ७		"	"	"	"	"	
११	शतार			७-१/२	८	ऊन ८		७-१/२	८	९	१०	६	
१२	सहस्रार			८	ऊन ८	साधिक ८		"	"	"	"	"	
१३	आनत			८-१/२	९	ऊन ९		८-१/२	९	१०	११	७	
१४	प्राणत			९	ऊन ९	साधिक ९		"	"	"	"	"	
१५	आरण			९-१/२	१०	ऊन १०		९-१/२	१०	११	१२	८	
१६	अच्युत			१०	ऊन १०	साधिक १०		"	"	"	"	"	

११ वैमानिक इन्द्रों अथवा देवोंकी देवियो सम्बन्धी

नोट—उत्कृष्ट आयु ही गयी है। जघन्य आयु सर्वत्र एक पश्य है।

संकेत—ऊन—किंचिदून

इन्द्रत्रिक—इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक, प्रायसिदा यह तीन सामन्त

तो चतु—सोकपालों सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक, प्रायसिदा, पारिषद य अन्य नामन्त

प्रकी त्रिक—प्रकीर्णक, अभियोग्य य किञ्चिपक देव

प्रमाण—सारे चार्टका आधार भूत—(सि प ६२०-६४०)

केवल इन्द्रोंकी देवियों सम्बन्धी—(मू आ ११२०-११२१), (सि प ८/६२०-६३२), (ध ७/६१,६६/गा १३१-३००) (त्रि गा ६/२)

क्रम	नाम स्वर्ग	इन्द्रकी देवियों			इन्द्रत्रिक	सोकपाल परिवारकी देवियों			आम-	गारिपद	अनोकी	प्रकी
		रुष्टि न १	रुष्टि न २	रुष्टि न ३		सोम-गम	कुवेर	वरुण				
		पश्य	पश्य	पश्य		पश्य	पश्य	पश्य				
१	सौधर्म	६	६	६	समस्त इन्द्र कि देवियोंवत्	१ १/४	१-१/२	ऊन १-१/२	म स सम्मानित	कथन नष्ट हो गया है	कथन नष्ट हो गया है	कथन नष्ट हो गया है
२	ईशान	७	७	"		१ १/२	"	साधिक १-१/२				
३	सनस्कुमार	६	६	१७		२-१/४	२-१/२	ऊन २-१/२				
४	माहेन्द्र	११	११	"		२-१/२	"	साधिक २-१/२				
५	मल्ल	१३	१३	२६		१-१/४	३/१/२	ऊन १-१/२				
६	ब्रह्मोत्तर	१६	१६	"		३-१/२	"	साधिक ३-१/२				
७	लान्तय	१७	१७	३६		४-१/४	४ १/२	ऊन ४-१/२				
८	कापिष्ठ	१६	१६	"		१/२	"	साधिक ४-१/२				
९	शुक	२१	२१	४०		६-१/४	६-१/२	ऊन ६-१/२				
१०	महाशुक	२३	२३	"		६ १/२	"	साधिक ६-१/२				
११	शतार	२६	२६	४६		६-१/४	६ १/२	ऊन ६-१/२				
१२	सहस्रार	२७	२७	"		६-१/२	"	साधिक ६-१/२				
१३	आनत	३४	२६	६०		७-१/४	७-१/२	ऊन ७-१/२				
१४	प्राणत	४१	३१	"		७-१/२	"	साधिक ७-१/२				
१५	आरण	४८	३३	६६		८-१/४	८ १/२	ऊन ८-१/२				
१६	अच्युत	६६	३६	"		८-१/२	"	साधिक ८-१/२				

१२. देवों-द्वारा बन्ध योग्य जघन्य आयु

घ ६/४,१,६६/३०६-३०८

क्रम	स्वर्ग	जघन्य आयु	
		तियर्थोंकी	मनुष्योंकी
१	सानस्कुमार माहेन्द्र	मुहूर्त पृथक्	मुहूर्त पृथक्
२	मल्ल-ब्रह्मोत्तर	दिवस	दिवस
३	लावन्त-कापिष्ठ	"	"
४	शुक-महाशुक	पक्ष	पक्ष
५	शतार-सहस्रार	"	"
६	आनत-प्राणत	मास	मास
७	आरण-अच्युत	"	"
८	नवधैवेयक	वर्ष	वर्ष
९	अनुदिश-अराजित	×	"
१०	सम्पद्विष्टि कोर्भी भी देव	×	"

आयोपाय—भ आ/यू, ४६२ तत्स आयोपायविदंसी खबयस्स

ओधपणवओ। आलोचेंस्स अणुज्जगस्स दंसेह गुणदोसे ॥४६२॥
—जो श्वक उपर्युक्त कारणोंसे दोषोंकी आलोचना करनेमें भययुक्त होता है उसको आयोपाय दर्शन गुणके धारक आचार्य आलोचना करनेमें गुण और न करनेमें हानि कैसी होती है इसका निरूपण करते हैं।

आरम्भ—म सि ६/८३२६/४ प्रक्रम आरम्भ।

स सि ६/१६/३३३/६ आरम्भ प्राणिपुङ्गवोव्यापार।—कार्य करने सगना सो आरम्भ है। (रा बा ६/८/४/१२), (पा सा ८७/६) प्राणियोंको दुःख पहुँचानेवाली प्रवृत्ति करना आरम्भ है।

रा बा ६/१६/३/६२६/२६ हिसनशीला हिता, तेषां कर्म हितम् आरम्भ इत्युच्यते।—हिसनशील अर्थात् हिता करना है स्वभाव जिनका वे हिता कहताते हैं। उनके ही कार्य हित कहताते हैं। उनको ही आरम्भ कहते हैं।

घ १३/६,४,२२/४६/१२ प्राणि-प्राणवियोजन आरम्भो नाम।—प्राणियों-के प्राणोंका वियोग करना आरम्भ कहताता है।

प्र सा/त प्र २२१ उपधिसद्भावे हि ममरवपरिणामसंज्ञाया मुच्यतां यास्तद्विषयकर्मप्रक्रमपरिणामसंज्ञायात्मभस्य।—उपाधिके सद्भाव में ममरव परिणाम जिसका लक्षण है ऐसी मुच्यतां और उपाधि सम्बन्धी कर्म प्रक्रमके परिणाम जिसका लक्षण है ऐसी आरम्भ।

आरंभ क्रिया— ये क्रिया ३/२।

आरंभ त्याग प्रतिमा—र क था १४४ तेषाकृषिबाणिज्यप्रमुता-दारम्भसोऽप्युपासिताप्राणातिपातहेतोर्द्योऽसाधारम्भविनिवृत्त ॥४४॥

—जो जीव हिमाके कारण नौकरी खेतो व्यापारादिके आरम्भसे विरक्त है वह आरम्भ त्याग प्रतिमाका धारो है। (गुण भा, १८०) (का आ ३८६) (सा घ ७/२४)

बहु या २६८ ज किं पि गिहारंभ बहु थोगं वा सयाविषज्जेह ।
आरम्भणियत्तमई सो अट्ठु सावओ भणियो ॥२६८॥ जो कुछ भी
थोड़ा या बहुत गृह सम्बन्धी आरम्भ होता है उसे जो सदाके लिए
त्याग करता है, वह आरम्भसे निवृत्त हुई है बुद्धि जिसकी, ऐसा
आरम्भ त्यागी आठवाँ श्रावक कहा गया है ।

प्र सं /टी ४४/१६६ आरम्भादिसमस्तव्यापारनिवृत्तोऽष्टम । —आर-
म्भादि सम्पूर्ण व्यापारके त्यागसे अष्टम प्रतिमा (होती है) ।

२ आरम्भ त्याग व सचित्त त्याग प्रतिमामें अन्तर

सा सं ७/३२-३३ इत पूर्वमतीचारो विद्यते वधकर्मण । सचित्तस्पर्श-
नत्वाह्वा स्वहस्तेनाभसां यथा ॥३२॥ इत प्रभृति यद्वद्व्य सचित्त सत्ति-
त्वादिनन्द । न स्पर्शति स्वहस्तेन ब्रह्मरम्भस्य का कथा ॥३३॥—इस
आठवाँ प्रतिमा स्वीकार करनेसे पहले वह सचित्त पदार्थोंका स्पर्श
करता था जैसे—अपने हाथसे जल भरता था, ध्यानता था और फिर
उसे प्राप्त करता था, इस प्रकार करनेसे उसे अहिंसा व्रतका अति-
चार लगता था, परन्तु इस आठवाँ प्रतिमाको धारणकर लेनेसे अनन्तर
वह जलादि सचित्त द्रव्योंको अपने हाथसे छूता भी नहीं है । फिर
भला अधिक आरम्भ करनेको सी बात ही क्या है ।

आर—चतुर्थ नरकका प्रथम पटल—वे नरक ६/११ ।

आरट्ट—१ (म प्र/म ६०/प पत्रालाल) पञ्चायके एक प्रदेशका
नाम, २ भरत क्षेत्रका एक देश—वे मनुष्य ४

आरण—१ कण्ठवासी देवोंका एक भेद व उनका अवस्थान—वे
स्वर्ग ३/६ २ स्वर्गोंका पन्द्रहवाँ कण्ठ—वे स्वर्ग ६/१३; ३ आरण स्वर्ग-
का द्वितीय पटल व इन्द्रक विमान—वे स्वर्ग ६/३ ।

आरातोय—उसि १/२०/१२४/१ आरातोयै पुनराचार्यै ।—आरा-
त्योंके द्वारा अर्थात् आचार्योंके द्वारा ।

आराधना—भ आ /यू /२ उज्जीवणमुज्जवणं णिवाहणं साहण च
णिच्छरणं । संसर्गणचरित्त तवाणमाराहण भणिया ।—सम्यग्दर्शन
सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य व सम्यक्त्व इन चारोंका यथायोग्य रीतिसे
उद्योतन करना, उनमें परिणति करना, इनको दृढ़तापूर्वक धारण
करना, उसके मन्द पड़ जानेपर पुन-पुन जागृत करना, उनका
आमरण पालन करना सो (निश्चय) आराधना कहलाती है । (प्र सं
६४/२२१ पर उद्धृत्त), (अन घ १/६२/१००)

स सा /यू ३०४-३०५ संसिद्धिराधसिद्ध साधिय माराधिय च एयट्ट ।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥३०४॥ जो पुण गिरव-
राधो चेया निस्संकिओ उ सो होइ । अवराहणाए णिच्चं वट्टेइ अह
वि आणतो ॥३०५॥—संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित
ये शब्द एकार्थ हैं । इसलिये जो आत्मा राधसे रहित हो वह अपराध
है ॥३०४॥ और जो चेतयिता आत्मा अपराधी नहीं है, वह शंका
रहित है और अपनेको 'मैं हूँ' ऐसा जानता हुआ आराधना कर
हमेशा भर्त्सता है ।

न च व ३६६ समदा तह मज्झम सुद्धो भावो य वीयरायत्त । तह
चारित्त धम्मो सहावआराहणा भणिया ॥३६६॥—समता तथा
माध्यस्थ, शुद्ध भाव तथा बोधरागता, चारित्र्य तथा धर्म यह सब ही
स्वभावकी आराधना कहलाते हैं ।

प्र सं /टी ६४/२२२ में उद्धृत "समत्त सण्णाणं सत्त्वारित्त हि सत्तवो
चेव । चउरो चिद्धि आदे तम्हा आदा हु मे सरण ।"—सम्यग्दर्शन
सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य और सम्यक्त्व, ये चारों आत्मामें निवास
करते हैं इसलिये आत्मा ही मेरे शरण भूत है ।

अन घ १/६८/१०६ वृत्तिजर्जसृष्टधावेत्सङ्गतातिशयेषु या । उद्धयोता-
दिषु सा तेषां भक्तिराधनोच्यते ॥६८॥—जिसके सम्यग्दर्शनादिक
परिणाम उत्पन्न हो चुके हैं, ऐसे पुरुषकी उन सम्यग्दर्शनादिकमें

रहनेवाले अतिशयो अथवा उद्योतादिक विशेषोंमें जो वृत्ति उसी
को दर्शनादिककी भक्ति कहते हैं । और इसी भक्तिका नाम ही
आराधना है ।

२ आराधनाके भेद

भ आ /यू २,३ दसणणाचरित्त तवाणमाराहणा भणिया ॥२॥ दुविहा
पुण जिणवयणे आराहणासमासेण । सम्मत्तम्मि य पट्ठा विदिमा य
हवे चरित्तम्मि ॥३॥—दशन, ज्ञान, चारित्र्य और तप इन चारको
आराधना कहा गया है ॥२॥ अथवा जिनागममें संक्षेपसे आराधनाके
दो भेद वहे हैं—एक सम्यक्त्वआराधना, दूसरा चारित्र्याराधना ।

नि सा /ता वृ ७५ दर्शनज्ञानचारित्रपरमतपश्चरणाभिधानचतुर्विधा-
राधनासदानुक्ता ।—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और परम तप नामकी
चतुर्विध आराधनामें सदा अनुरक्त ।

गो जी /जी प्र ३६८/७६०/१२ दीक्षाशिक्षागणपोषणात्मसंस्कारसञ्चलेख-
नोत्तमार्थस्थानगतोत्कृष्टाराधनाविशेष च वर्णयति ।—दीक्षा, शिक्षा,
गणपोषण, आत्मसंस्कार, अर्थात् यथायोग्य शरीरका समाधान,
सञ्चलेखना, उत्तम अर्थ स्थानको प्राप्त उत्तम आराधना इनिका विशेष
प्रकृपिये है ।

* निश्चय आराधनाके अपर नाम—दे मोक्षमार्ग २/६

३. उत्तम, मध्यम, जघन्य आराधनाके स्वामित्व

भ आ /यू १६१८-१६२१ सुक्खाँ लेस्साए उक्कस असय परिणमिता ।
जो मरदि सो ण्णियमा उक्कसाराधओ होई ॥१६१८॥ खाइयदसण-
चरणं खओबसमियं च णाणमिदि मग्गो । त होइ खीणमोहो आरा-
हिता य जो हु अरहंती ॥१६१९॥ जो सेसा सुक्खाए द्दु असया जे य
पम्मलेस्साए । तल्लेस्सापरिणामो द्दु मज्झिमाराधणा मरणे ॥१६२०॥
तेजाए लेस्साए ये असा तेसु जो परिणमिता । कालं करेइ तस्स हु
जहणियााराधणा भणदि ॥१६२१॥—शुक्ल लेश्याके उत्कृष्ट अंशोंसे
परिणत होकर जो क्षपक मरणको प्राप्त होता है, उस महात्माको
नियमसे उत्कृष्ट आराधक समझना चाहिए ॥१६१८॥ सायिक
सम्यक्त्व और चारित्र्य और क्षयोपशमिक ज्ञान इनकी आराधना
करके आत्मा क्षीणमाही बनता है और तदनन्तर अरहन्त होता है
॥१६१९॥ (सेपक गाथा) शुक्ल लेश्याके मध्यम अंश, और जघन्य
अंशोंसे तथा पद्म लेश्याके अंशोंसे जो आराधक मरणको प्राप्त करते
हैं, वे मध्यम आराधक माने जाते हैं ॥१६२०॥ पीठ लेश्याके जो
अंश हैं, उनसे परिणत होकर जो मरणवश होते हैं, वे जघन्य
आराधक माने जाते हैं ।

४ सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्टादि आराधनाओंका स्वामित्व

भ आ /यू ४१ उक्कस्ताकेवल्लिणो मज्झिमया सेससम्मविट्ठीण । अवि-
रतसम्मादिट्ठस्स संकिलिट्ठस्स हु जहण्णा ॥४१॥—उत्कृष्ट सम्य-
क्त्वकी आराधना अयोग्य केवलीकी होती है । मध्यम सम्यग्दर्शनकी
आराधना बाकीके सम्यग्दर्ष्टि जीवोंकी होती है । परन्तु परिपूर्वसे
जिसका मन उद्विग्न हुआ है ऐसे अविरत सम्यग्दर्ष्टिको जघन्य
आराधना होती है । (भ भा /वि ६१/१७४)

आराधना—भगवती आराधनाका अमिगतति (वि १०४०-१०७३)
कृत संस्कृत रूपान्तर । (ती २/३६४)

आराधना कथा कोश—दे कथाकोश ।

आराधना पजिका—भगवती आराधनाकी टीका है—दे भ आ ।

आराधना संग्रह—आ पञ्चनन्दि ८ (वि १३६२-१-१३०६) कृत ।

आराधना सार—१ आ देवसेन (वि ६६०-१०१२) कृत ११५ पञ्च-
मद चतुर्विध आराधना विषयक संस्कृत ग्रन्थ । २ आ रविचन्द्र

(ई सा १२-१३) कृत चतुर्विध आराधना विषयक संस्कृत पद्यमय ग्रन्थ
(सी २/३६६, ३/३१७)।

आरोहक—त सा/भाषा ३१३/३६७/१ उपशम (तथा संपक्) श्रेणी पर
चढ़नेवालेना नाम आरोहक कहिये है।

आर्जव धर्म—वा अ ७३ मोक्षण कुटिल भाव निम्नलहिदयेण
चरदि जो समणो। अज्जवधम्म तइयो तस्स दु सभविदि नियमेण ॥७३॥
—जो मनस्वो प्राणी (शुभ विचार वाला) कुटिल भाव व मायाचारी
परिणामोंको छोड़कर शुद्ध हृदयसे चारित्रिका पालन करता है, उसके
नियमसे तीसरा आर्जव नामका धर्म होता है।

स सि ६/६/१२३/६ योगस्यायकता आर्जवम्। —योगोंका बन्धन होना
आर्जव है। (रा बा ६/६/१/६६४)

भ आ/वि ५६/१४४ अकुटलद्वयवृत्तवद्वकताभाव आर्जवमिर्युच्यते।
—शरीरके दो छोर पकड़ कर खींचनेसे यह सरल होती है। उसी
तरह मनमें से कपट दूर करने पर वह सरल होता है अर्थात् मनकी
सरलताका नाम आर्जव है।

प वि १/८६ द्विदियत्तद्विचि बहि फलति तदेवार्जव भवयेतत्। धर्मो
निकृतिरधर्मो द्विचि सुरसधमरूपयो ॥८६॥ —जो विचार हृदयमें
स्थित है वही धर्ममें रहता है तथा वही बाहर फलता है अर्थात्
शरीरसे भी तदनुसार ही कार्य किया जाता है यह आर्जव धर्म है,
इससे बिपरीत दूसरोंको धोखा देना यह अधर्म है। ये दोनों यहाँ
क्रमसे देवगति और नरकगति के कारण हैं।

का अ/मू ३६६ जो चित्तेऽण वक्क ण कुणदि बंक्क ण जपवे वक्कं। ण य
गोबदि णिय दोस अज्जव धम्मो हवे तस्स ॥३६६॥ —जो मुनि कुटिल
विचार नहीं करता, कुटिल कार्य नहीं करता और कुटिल बात नहीं
बोलता तथा अपना दोष नहीं छिपाता वह आर्जव धर्मका धारी
होता है क्योंकि मन, वचन, कायकी सरलताका नाम आर्जव धर्म है।
(त सा ६/१४)

२ आर्जवधर्म पालनार्थ विशेष भावनाएँ

भ आ/मू १४३१-१४३६ अदिगृहिदा वि दोसा जणेण कालतरेणजज्जति।
मायाए पल्लवाए को इत्थ गुणो हवदि नद्धो ॥१४३१॥ पडि भोगम्मि
अमत्ते णियहि सहस्सेहि गृहमाणस्स। चदगगोळ्ळ दोसो खणेण सो
पायडो होइ ॥१४३२॥ जणपायडो वि दोसो दोसोस्सि ण घेप्पए सभा-
गस्स। जह समनत्ति ण घिप्पदि समत्तं पि जए तत्तायजल ॥१४३३॥
इममण्हि बहुगेहिं सुउत्तेहिं अपटिभोगस्स। हरथ ण एदि अरथो
अण्णादो सपटिभोगादो ॥१४३४॥ इह य परत्तय सोए दासे बहुए य
आवट्टइ माया। इदि अण्णो गणिता परिहरिदव्वा हवइ माया ॥१४३५॥
—दोषोंको अवशिष्ट छिपाने पर भी कालान्तर्गते कुछ काल व्यतीत
होनेके बाद ये दोष लोगोंको माझ्म पड़ते ही हैं, इसलिए मायाका
प्रयोग करनेपर भी क्या फायदा होता है। ध्यानमें नहीं आता ॥१४३१॥
उत्कृष्ट भाग्य यदि न होगा तो हजारों कपट करके दोषोंको छिपाने
पर भी वे प्रगट होते ही हैं। जैसे—चन्द्रको रातु प्रस सेता है यह
बात छिपती नहीं सर्वजन प्रसिद्ध होती है वैसे ही दोष छिपानेका
चिन्तना भी प्रयत्न करो, परन्तु यदि तुम पुण्यबाध न होगे तो तुम्हारे
दोष लोगोंको माझ्म होंगे ही ॥१४३३॥ जो पुण्यबाध पुरुष हैं उसका
दोष लोगोंको प्रत्यक्ष होने पर भी लोग उसको दोष मानते नहीं हैं,
जैसे तानाश्रवा पाना मलिन होने पर भी उसके मलिनपनाकी तरफ
जय नदय नहीं देते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि—पुण्यवान्को कपट
करनेकी कुदृष्ट भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि दोष प्रकट होने पर भी
श्रीमातृ माय्य होते ही हैं ॥१४३३॥ यैकुड़ों कपट प्रयोग करने पर भी
और वे माझ्म कपट प्रयोग करने पर भी पुण्यवान् मनुष्यसे भिन्न
अर्थात् पापो मनुष्यको धन प्राप्त नहीं होता, तारपर्य कपट करनेसे धन
प्राप्त नहीं होता पुण्यमे ही मिनता है ॥१४३४॥ इस प्रकार इस भव व
परभवमें मायासे जो दोष उपरन होते हैं ऐसा जानकर मायाका

रत्याग करना चाहिए ॥१४३५॥ (रा बा ६/६/२७/५६६/१५), (चा सा/६-६/२), (प वि १/६०), (झा १६/५८-६७)

अन घ ६/१७ २३/५७७ भावार्थ—‘यह कपटो है’ इस तरहकी अपकीर्ति
को जो सहन कर नहीं सकता उसको तो यात क्या, जो सहन भी
कर सकता है वह भी इस ससार मार्गको बढ़ाने वाली अनन्तानु-
बन्धी इस मायाको दूरसे छोड़ दे। क्योंकि नहीं तो तुम्हें पुस्तक
पर्याय प्राप्त न होगी। इस लोकमें तेरा कोई भी विश्वास न करेगा।
जिन्होंने आर्जव धर्म रूपी नौकाके द्वारा माया रूपी नदीको लाँच
लिया है वे लोकोत्तर पुरुष जयवन्त रहें। परन्तु मायापूर्ण वानधोसे
अर्थात् ‘कुजरी न नर’ ऐसे मायापूर्ण वाक्योंसे गुरु श्रोणाचार्यका
धोखा देनेके कारण युधिष्ठिरको इतनी ग्लानि हुई कि उन्होंने अपने
को सत्पुरुषोंसे छिपा लिया। इस प्रकार मायासे बढ़े-मड़े पुरुषोंको
क्लेश हुआ है ऐसा जानकर मायाका त्याग कर देना चाहिए।

३ दश धर्म सम्बन्धी विशेषताएँ—दे धर्म ८।

आर्त्त—स सि ६/२८/४४५/१० ऋतं दु खं, अथवा अर्दनमार्त्तिर्वा, तत्र
भवमार्त्तम्। —ऋत, दु ख अथवा अर्दन—आर्त्ति इनमें होना सो
आर्त्त है। रा बा ६/२८/१/६२७/२६), (भा पा/टी ७८/२२६)

आर्त्त अतिचार—दे अतिचार।

आर्त्तध्यान—वैसे तो ध्यान शब्द पारमार्थिक योग व समाधि के
अर्थमें प्रयुक्त होता है, परन्तु वास्तवमें किन्हीं भी शुभ वा अशुभ परि-
णामोंको एकाग्रताका हो जाना ही ध्यान है। संसारी जीवको चौबीस
घण्टे ही कष्टपित परिणाम वर्तते हैं। कुछ इष्ट वियोग जनित होते
हैं, कुछ अनिष्ट सयोग जनित, कुछ वेदना जनित और कुछ आगामी
भोगोंकी तृप्ता जनित, इत्यादि सभी प्रकारके परिणाम आर्त्तध्यान
कहाते हैं। जो जीवको पारमार्थिक अध पतनके कारण हैं और
व्यवहारसे अधोगतिके कारण हैं। यद्यपि मोक्षमार्गके साधकोंको भी
पूर्व अभ्यासके कारण वे कदाचित् होते हैं, परन्तु ज्यों-ज्यों वह ऊपर
चढ़ता है त्यों-त्यों ये दृश्य चले जाते हैं।

१. भेद व लक्षण

१. आर्त्तध्यानका सामान्य लक्षण

स सि ६/२८/४४५/१० ऋतं दु खं, अर्दनमार्त्तिर्वा, तत्र भवमार्त्तम्। —आर्त्त
शब्द ‘ऋत’ अथवा ‘अर्त्ति’ इनमेंसे किसी एकसे बना है। इनमेंसे
‘ऋत’का अर्थ दु ख है और ‘अर्त्ति’का ‘अर्दन अर्त्ति’ ऐसी निरुक्ति
होकर उसका अर्थ पीड़ा पहुँचाना है। इसमें (ऋतमें या अर्त्तिमें) जो
होता है वह आर्त्त (वा आर्त्तध्यान) है। (रा बा ६/२८/१/६२७/२६),
(भा पा/टी ७८/२२६)

म पु २१/४० ४१ सूच्छाकौशोऽथकेनारयकौशौद्याम्यसिगृच्यता। भयो-
हेगानुशोकाश्च लिङ्गान्यातै स्मृतानि वै ॥४०॥ बाह्य च लिङ्गमार्त्तस्य
गाग्रलानिचिविर्णता। हस्ताम्यस्तकपोलरवं साश्रुताम्यश्च तादृशम् ॥४१॥
—परिग्रहमें अत्यन्त आसक्त होना, कुशील रूप प्रवृत्ति करना, कृप-
णा करना, ब्याज लेकर आजीविका करना, अत्यन्त लोभ करना,
भय करना, उद्वेग करना और अवशिष्ट शोक करना ये आर्त्त ध्यानके
बाह्य चिह्न हैं ॥४०॥ इसी प्रकार शरीरका क्षीण हो जाना, शरीरकी
कान्ति नष्ट हो जाना, हाथोंपर कपोल रखकर पक्षात्पाप करना,
औंसू डालना, तथा इसी प्रकार और भी अनेक कार्य आर्त्तध्यानके
बाह्य चिह्न कहाते हैं। (चा सा १६७/४)

झा २४/२३/२४० ऋते भवमार्त्तस्य दसदधान शरीरिणाम्। दिग्मोहा-
न्मसतातुल्यमविद्यावासनावशात् ॥२३॥ —ऋत कहिये पीड़ा—दु ख
उपजै सो आर्त्तध्यान है। सो यह ध्यान अप्रशस्त है। जैसे किसी
प्राणीके दिशाओंके भूल जानेसे उन्मत्तता होती है उसके समान है।
यह ध्यान ब्याज अर्थात् मिथ्याज्ञानकी वासनाके वशसे उत्पन्न
होती है।

२ आर्त्तध्यानका आध्यात्मिक लक्षण

चा सा १६७/४ स्वतन्त्रमध्यात्मिकार्त्तध्यान । — (अन्य लोग जिसका अनुमान कर सकें वह बाह्य आर्त्तध्यान है) जिसे केवल अपना ही आत्मा जान सके उसे आध्यात्मिक आर्त्तध्यान कहते हैं ।

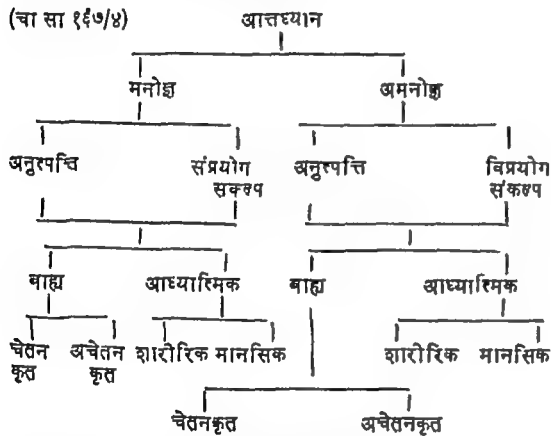
३ आर्त्तध्यानके भेद

ज्ञा २५/२४ अनिष्टयोगजन्याया तथेष्टार्थस्थित्यापरम् । रुचप्रकोपात्तृतीयं स्यान्निदानातुर्मङ्गिनाम् ॥२४॥ — पहिला आर्त्तध्यान तो जीवोंके अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे होता है । दूसरा आर्त्तध्यान इष्ट पदार्थके वियोगसे होता है । तीसरा आर्त्तध्यान रोगके प्रकापकी पीड़ासे होता है और चौथा आर्त्तध्यान निदान कहिये आगामी कालमें भोगोंकी बाँछाके होनेसे होता है । इस प्रकार चार भेद आर्त्तध्यानके हैं । (म पु २१/३१-३६), (चा सा १६७/४)

चा सा १६७/४ तत्रार्त्तं बाह्याध्यात्मिकभेदाद् द्विविधम् । — बाह्य और अध्यात्मिक भेदने आर्त्तध्यान दो प्रकारका है । — और वह आध्यात्मिक ध्यान चार प्रकारका होता है ।

द्र स 1/1 ४८/२०१ इष्टवियोगानिष्टसंयोगव्याधिप्रतिकारभोगनिदानेषु बाधरूपं चतुर्विधमार्त्तध्यानम् । — इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग और रोग इन तीनोंको दूर करनेमें तथा भोगों वा भागोंके कारणोंमें बाधा रूप चार प्रकारका आर्त्तध्यान होता है ।

(चा सा १६७/४)



४ अनिष्ट योगज आर्त्तध्यानका लक्षण

त सु ६/१० आर्त्तममनोज्ञस्य सप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहार ॥३०॥ — अमनोज्ञ पदार्थके प्राप्त होने पर उसके वियोगके लिए चिन्ता सातत्यका होना प्रथम आर्त्तध्यान है ।

स सि ६/३०/६ अमनोज्ञमप्रिय विपकण्टकशत्रुशस्त्रादि, तद्व्याधाकारण-त्वाद् 'अमनोज्ञम्' इत्युच्यते । तस्य सप्रयोगे, स कथं नाम न मे स्यादिति संकल्पश्चिन्ता प्रबन्ध स्मृतिसमन्वाहार प्रथममार्त्त मित्या-ख्यायते । — विप कण्टक, शत्रु और शस्त्र आदि जो अप्रिय पदार्थ हैं वे व्याधाके कारण होनेसे अमनोज्ञ कहे जाते हैं । उनका संयोग होने पर वे मेरे कैसे न हों इस प्रकारका संकल्प चिन्ता प्रबन्ध अर्थात् स्मृति समन्वाहार यह प्रथम आर्त्तध्यान कहलाता है । (रा बा ६/३०/१-२/६२५), (म पु २१/३२, ३६) ।

नि सा 1/ता वृ ८६ अनिष्टसंयोगाद्वा समुपजातमार्त्तध्यानम् । — अनिष्टके संयोगसे उत्पन्न होने वाला जो आर्त्तध्यान ।

बा सा १६८/५ एतद्दुःखसाधनसद्भावे तस्य विनाशकादुःशोऽपेक्षविनाश-संकल्पाध्यवसानं द्वितीयात् । — (शारीरिक, व मानसिक) दुःखोंके कारण उत्पन्न होनेपर उनके विनाशकी इच्छा उत्पन्न होनेसे उनके विनाशके संकल्पका बाद-बार चिन्तन करना दूसरा आर्त्तध्यान है ।

का अ/यू ४७३ दुःखयोर-विसय जोष-केम इमं चयदि इदि विचि-ततो । चेदृदि जो विविक्ततो अद्व ज्माण हवे तस्स ॥४७३॥ — दुःखकारी विषयोंका संयोग होने पर 'यह कैसे दूर हो' इस प्रकार विचारता हुआ जो विविक्षित चित्त हो चेष्टा करता है उसके आर्त्त ध्यान होता है ।

ज्ञा २४/२४-२८ ज्वलनजनविषास्त्रव्यालशार्त्तलक्ष्ये स्थलजलमिलसत्त्वे दुर्जनारातिभूते । स्वजनधनशरीरध्वसिभिरुत्तरनिर्णयति यद्विह योगादाद्यन्ततः तथेष्ट ॥२५॥ तथा चरस्थिरभिरुत्तरनेके समुपस्थिते । अनिष्टैर्मन्मन मिलतः स्यादार्त्त तत्प्रकीर्तितम् ॥२६॥ श्रुतेर्हृष्टे स्मृतैर्हृष्टे प्रयासति च संसृते । योऽनिष्टार्थमनं बलेश पूर्वमार्त्तं तदिष्यते ॥२७॥ अशेषानिष्टमयोगे तद्वियोगानुचिन्तनम् । यस्मात्तदपि तत्त्वज्ञैः पूर्वमार्त्तं प्रकीर्तितम् ॥२८॥ — इस जगत्में अपना स्वजन धन शरीर इनके नाश करनेवाले अग्नि, जल विष सर्प शस्त्र सिंह दैत्य तथा स्थलके जीव जलके जीव, मिलके जीव तथा दुष्ट जन, बैरी राजा इत्यादि अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे जो हो सो पहिला आर्त्तध्यान है ॥२५॥ तथा चर और स्थिर अनेक अनिष्ट पदार्थोंके संयोग होने पर जो मन बलेश रूप हा उसको भी आर्त्तध्यान कहा है ॥२६॥ जो सुने, देखे, स्मरणमें आये, जाने हुए तथा निकट प्राप्त हुए अनिष्ट पदार्थोंके मनको बलेश होता है उसे पहिला आर्त्तध्यान कहते हैं ॥२८॥ जो समस्त प्रकारके पदार्थोंके संयोग होने पर उनके वियोग होनेका बार बार चिन्तन हो उसे भी तत्त्वज्ञके जानने वालोंने पहिला अनिष्ट संयोगज नामा आर्त्तध्यान कहा है ॥२८॥

५ इष्ट वियोगज आर्त्तध्यानका लक्षण

त सु ६/३१ विपरीत मनोज्ञस्य ॥३१॥ — मनोज्ञ वस्तुके वियोग होनेपर उसकी प्राप्तिकी सतत चिन्ता करना दूसरा आर्त्तध्यान है । (म अ / यू १७०२)

स सि ६/३१/४४७/१ मनोज्ञस्येष्टस्य स्वपुत्रदारधनादेर्विप्रयोगे तत्संप्रयो-गाय संकल्पश्चिन्ता प्रबन्धो द्वितीयमार्त्तमवगन्तव्यम् । — मनोज्ञ अर्थात् अपने इष्ट पुत्र स्त्री और धनादिकके वियोग होनेपर उसकी प्राप्तिके लिए संकल्प अर्थात् निरन्तर चिन्ता करना दूसरा आर्त्तध्यान जानना चाहिए । (रा बा ६/३१/६/६२८) (म पु २१/३२ ३४)

बा सा १६६/१ मनोज्ञ नाम धनधान्यहिरण्यमुवर्णवस्तुवाहनशयना-सनसंकुचन्दनवनितादिमुखाधन मे स्यादिति गर्हणं । मनोज्ञस्य विप्रयोगस्य उत्पत्ति संकल्पाध्यवसानं तृतीयात् । धन, धान्य, चाँदो, मुवर्ण सवारी शय्या, आसन माला, चन्दन और स्त्री आदि सुखोंके साधनको मनोज्ञ कहते हैं । ये मनोज्ञ पदार्थ मेरे हों इस प्रकार चिन्तन करना मनोज्ञ पदार्थके वियोग होनेपर उनके उत्पन्न होनेका बार-बार चिन्तन करना आर्त्तध्यान है ।

का अ/यू ४७४ मणहर विसय विओगे-कह त वावेमि इदि वियप्पो जो । संतावेण पयटो सोखिय अट्ट हवे माण ॥४७४॥ — मनोहर विषयका वियोग होनेपर 'कैसे इसे प्राप्त करूँ' इस प्रकार विचारता हुआ जो दुःखसे प्रवृत्ति करता है यह भी आर्त्तध्यान है ।

ज्ञा २४/२६ ३१ राज्यैरव्ययकलत्रबान्धवमुहसोभाग्यभोगारण्यचित्त-प्रोत्तिकरप्रसन्नविषयप्रध्वसभावेऽथवा । संश्रयप्रमशोकमोहविषद्वैर्य-रिक्थतेऽहनिश तत्स्यादिष्टवियोगजं तनुमता ध्यानं कलङ्कास्पदम् ॥२६॥ इष्टश्रुतानुभूतैस्तैः पदार्थैश्चित्तरञ्जकैः । वियोगे यन्मनं खिन्नं स्यादार्त्तं तद्वितीयकम् ॥३०॥ मनोज्ञवस्तुविध्वसे मनस्तत्संगमार्थमिति । चिन्तयते यत्तदेतस्याद्वितीयोक्तस्य लक्षणम् ॥३१॥ — जो राज्य ऐश्वर्य स्त्री, कुटुम्ब, मित्र, सोभाग्य भोगादिके नाश होनेपर तथा चित्तको प्रीति उत्पन्न करनेवाले सुन्दर स्त्रियोंके विषयोंका प्रध्वस होते हुए, सन्त्रास, पीड़ा, श्रम, शोक, मोहके कारण निरन्तर खेद रूप होना सो जीवोंके इष्ट वियोग जनित आर्त्तध्यान है और यह ध्यान पापका स्थान है ॥२६॥ देखे, सुने, अनुभव किये, मनको रंजयमान करनेवाले पूर्वोक्त पदार्थोंका वियोग होनेसे जा मनको खेद हो वह भी दूसरा आर्त्तध्यान है ॥३०॥ अपने मनकी प्यारी वस्तुके विध्वस होनेपर पुनः

१. उसकी प्राप्ति के लिए जो वलेश रूप होना सो दूसरे आर्त्तध्यान का लक्षण है ।

नि सा /ता वृ ८६ स्वदेश्यागाद् द्रव्यनाशाद् मित्रजनविदेशगमनाय कमनीयकामिनीवियोगात्—समुपजातमार्त्तध्यानम् ।—स्वदेशकेत्याग से द्रव्यके नाशसे, मित्रजनके विदेश गमनसे कमनीय कामिनीके वियोगसे उत्पन्न होनेवाला आर्त्तध्यान है ।

६ वेदना सम्बन्धी आर्त्तध्यानका लक्षण

त मु ६/२ वेदनायाश्च ॥२॥ वेदनाके होनेपर (अर्थात् यासादि विकार जनित शारीरिक वेदनाके होनेपर) उसे दूर करनेकी सतत चिन्ता करना तीसरा आर्त्तध्यान है ।

शा २६/३२-३३ कामरवासभगन्दरजलोदरजगदुष्टातिसारज्वरैः, पित्तश्लेष्म-मूत्ररूपजनिता रोगे शरीरान्तर्कैः । श्यास्तपप्रभले प्रतिक्षणभवे-र्याङ्गनख नृणाम् तद्गोचार्त्तमनिन्दितं प्रकटितं दुर्बलं दुःखकारम् ॥३३॥ मन्थनानामपि रोगाणां माधुरस्कन्तेऽपि स भव । ममेतया मृणां चिन्ता म्यादात्तत्ततोयम् ॥३॥ —बात पित्त वफके प्रकोपसे उत्पन्न हुए शरीरकी नाश करनेवाले बीर्यमें प्रभल और क्षण-क्षणमें उत्पन्न होनेवाले कास श्वास भगन्दर जलादर जरा, कोढ़ अतिसार ज्वरादिक रोगोंमें मनुष्योंके जो व्याकुलता होती है, उसे अनिन्दित पुरुषोंने रोग पीड़ाचिन्तन नाम आर्त्तध्यान कहा है यह ध्यान दुर्निवार और दुर्बलका आकार है जो कि आगामी कालमें पाप बन्धका कारण है ॥३३॥ जोनोंके ऐसी चिन्ता हो कि मेरे किंचित् रोगकी उत्पत्ति स्वप्नमें भी न हो सो ऐसा चिन्तन तीसरा आर्त्तध्यान है ॥३॥

* निदान व अपध्यानके लक्षण—दे० यह वह नाम ।

२ आर्त्तध्यान निर्देश

१ आर्त्तध्यानमें सम्भव भाव व लेश्या

म पु २१/३८ अपशरततम लेख्या त्रयमाश्रित्य जन्मिन्तम् । अन्तर्हृत्-कानं तद् अपशरतायलम्बनम् ॥३८॥ —यह चारों प्रकारका आर्त्तध्यान अत्यन्त अशुभ कृष्ण नील और कापोत लेख्याका आश्रय कर उत्पन्न होता है, इसका काल अन्तर्हृत् है और आलम्बन अशुभ है । (शा २६/४०) (चा सा १६६/३)

२ आर्त्तध्यानका फल

त नि ६/२६ यह संसार का कारण है ।

रा बा ६/३३/१/६२६ तियग्भवगमनपर्ययसानम् ।—इस आर्त्तध्यानका फल तिर्यक् गति है । (ह पु ६६/१८), (चा सा १६६/४)

शा २६/२२ अनन्तदुःखसर्कोस्य तिर्यगगते, फलं ॥२२॥ —आर्त्तध्यानका फल अनन्त दुर्बलसे व्याप्त तिर्यक् गति है ।

३ मनोज्ञ व निदान आर्त्तध्यानमें अन्तर

रा बा ६/३/१/३३ विपरीत मनोहृत्स्थेयमेनैव निदानं संगृहीतमिति छन्दः, किं कारणम् । अप्राप्तपूर्वविषयवान्निदानस्य । सुखमात्रया प्रमथितस्याप्राप्तपूर्वप्रार्थनाभिमुख्यादानागतार्थप्राप्तिनिबन्धन निदानमिरयस्ति विशेष । प्रश्न—“विपरीत मनोहृत्स्थ” इस सूत्रसे निदान का संग्रह हो जाता है । उत्तर—नहीं, क्योंकि निदान अप्राप्तकी प्राप्ति के लिए होता है इसमें पारलौकिक विषय सुखकी गृह्णिते अनागत अर्थकी प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता रहती है । इस प्रकार इन दोनों में अन्तर है ।

३ आर्त्तध्यानका स्वामित्व

१ १-६ गुणस्थान तक होता है

त मु ६/१४ तद्विरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥१४॥ —यह आर्त्तध्यान अविरत दशविरत, और प्रमत्त संयत जीवोंके होता है ।

स नि ६/३४/४४०/१४ अविरता सम्यग्दृष्टान्ता देशविरता संयता संयता प्रमत्तसंयता तत्र विरतदेशविरतानां चतुर्विधमप्यार्त्तं भवति प्रमत्तसंयतानां तु निदानवर्ज्यमन्यदार्त्तत्रय प्रमाद द्यो द्वेकास्त्वदार्त्तस्यात् ।—असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तकके जीव अविरत कहलाते हैं, संयतासंयत जीव देशविरत कहलाते हैं, प्रमाद से युक्त क्रिया करनेवाले प्रमत्त संयत कहलाते हैं । इनमें से अविरत और देशविरत जीवोंके चारों ही प्रकारका आर्त्तध्यान होता है । प्रमत्त संयतोंके तो निदानके सिवा धाकीके तीन प्रमादकी सीमा वश कदाचित् होते हैं । (रा बा ६/३४/१/६२६) (ह पु ६६/१८) (म पु २१/३७) (चा सा १६६/३) (शा २६/३८-३६) (प्र स/टी ४८ ४८/२०१)

* साधु योग्य आर्त्तध्यानकी सीमा—दे संयत/३

२ आर्त्तध्यानके बाह्य चिह्न

शा २६/४३ शङ्काशोकभयप्रमादकलक्षितभ्रमोद्भ्रान्तय । उन्मादो विषयोत्सुकत्वमसकृन्निद्राङ्गज्ज्वरमा । मूर्च्छादीनि शरीरिणामविरत लिङ्गानि बाह्यान्त्यलमात्त—धिष्ठितचेतसां श्रुतधरैर्व्यभिक्तानि स्फुटम् ॥४३॥ —इस आर्त्तध्यानके आश्रितचित्तवाले पुरुषोंके बाह्य चिह्न शाल्मकि पारगामी विद्वानोंने इस प्रकार कहे हैं कि—प्रथम तो शंका, होती है, अर्थात् हर बातमें सन्देह होता है, फिर शोक होता है, भय होता है, प्रमाद होता है—सावधानी नहीं होती बरह करता है चित्तभ्रम हो जाता है, उद्भ्रान्त होती है, चित्त एक जगह नहीं ठहरता, विषय सेवनमें उत्कण्ठा होती है, निरन्तर निद्रा गमन होता है अंगमें जड़ता होती है खेद होता है, मूर्च्छा होती है, हृत्वादि चिह्न आर्त्तध्यानीके प्रगट होते हैं ।

आर्त्त परिणाम—दे आर्त्तध्यान ।

आर्द्रा—एक नक्षत्र—दे नक्षत्र ।

आर्य—ह पु १६/श्लोक “विजयार्धपर हरिपुर निवासी पवनवेग विधाधर का पुत्र था (२३-२४) पूर्व जन्म के बैरी ने इसकी समस्त विधाएँ हर लीं । परन्तु दया से चम्पापुर का राजा बना दिया (४६-४३) इसी के हरि नामक पुत्र से हरिवंश की उत्पत्ति हुई (६७-४८)

आर्य—

१ आर्य सामान्यका लक्षण

स नि ३/३६/२२६/६ गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्त इत्यार्या ।—जो गुणों या गुणबलोंके द्वारा माने जाते हैं—वे आर्य कहलाते हैं । (रा बा ३/३६/१/२००)

२ आर्यके भेद-प्रभेद

स नि ३/३६/२२६/६ ते द्विविधा—ऋद्धिप्राप्तार्या अर्द्धिप्राप्तार्यश्चेति ।—उसके दो भेद हैं—ऋद्धिप्राप्त आर्य और अर्द्धि रहित आर्य । (रा बा, ३/३६/१/२००)

३ ऋद्धि प्राप्त आर्य—दे ऋद्धि ।

४ अर्द्धि प्राप्तार्यके भेद

स नि ३/३६/२३०/१ अर्द्धिप्राप्तार्या पञ्चविधा—क्षेत्रार्या जार्यार्या; कर्मार्याक्षारित्रार्या दर्शनार्यश्चेति ।—ऋद्धिरहित आर्य पाँच प्रकारके हैं—क्षेत्रार्य, जार्यार्य, कर्मार्य चारित्रार्य और दर्शनार्य । (रा बा ३/३६/२/२००)

रा बा ३/३६/२/२०० तत्र कर्मार्यक्षेत्रा-सावद्यकर्मार्या अवपसावद्य-कर्मार्या असावद्यकर्मार्यश्चेति । सावद्यकर्मार्या पोद्दा-असि-मपी-कृषि-विद्या-शिल्प-वणिज्कर्म-भेदाश्च । चारित्रार्या द्वेधा-अधिगत चारित्रार्या अनधिगतचारित्रार्यश्चेति । दर्शनार्या दशधा-आद्या-मार्गोपदेशमूत्रवीजसंक्षेपवित्ताराधिकादपरमावगादरुचिभेदाश्च ।—

उपरोक्त अन्तर्द्वि प्राप्त आर्यों में भी कर्मार्थ तीन प्रकारके हैं—सावध कर्मार्थ, अणुसावध कर्मार्थ, असावध कर्मार्थ। अणु सावध कर्मार्थ छ प्रकारके होते हैं—असि, मसि, कृपि, बाणिज्य, विद्या व शिष्यके भेदसे। (इन सबके लक्षणोंके लिए—दे सावध) चारित्र्यार्थ दो प्रकारके हैं—अधिगत चारित्र्यार्थ और अनधिगत चारित्र्यार्थ। दर्शनार्थ दश प्रकारके हैं—आज्ञा मार्ग, उपदेश सूत्र, भोज, संसेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ, परमावगाढ रुचिके भेदसे। लक्षणोंके लिए—दे सम्यग्दर्शन I/१। दश प्रकारके सम्यग्दर्शनके भेद)

५ क्षेत्रार्थका लक्षण

रा वा ३/३६/२/२००/३० तत्र क्षेत्रार्थ काशीकौशलादिषु जाता । —काशी, कौशल आदि उत्तम देशोंमें उत्पन्न हुआँको क्षेत्रार्थ कहते हैं।

६ जात्यार्थका लक्षण

रा वा ३/३६/२/२००/३१ इक्ष्वाकुह्रातिभोजादिषु कुलेषु जाता जात्यार्थ । —इक्ष्वाकु ह्राति, भोज आदिक उत्तम कुलोंमें उत्पन्न हुआँको जात्यार्थ कहते हैं।

७ चारित्र्यार्थका लक्षण

रा वा ३/३६/२/२०१/६ तद्वभेद अनुपदेशोपवेशापेक्षभेदकृत । चारित्र मोहस्योपशमात् क्षयाच्च बाह्योपवेशानपेक्षा आरमप्रसादादेव चारित्रपरिणामास्कास्ति उपशान्तकषायार्चघिगतचारित्र्यार्थ । अन्तरचारित्र्यमोहक्षयोपशमसद्भावे सति बाह्योपवेशनिमित्तविरतिपरिणामा अनधिगतचारित्र्यार्थ । —उपरोक्त चारित्र्यार्थके दो भेद—उपदेश व अनुपदेशकी अपेक्षा किये गये हैं। जो बाह्योपवेशके बिना आरम प्रसाद मात्रसे चारित्र मोहके उपशम अथवा क्षय होनेसे चारित्र परिणामको प्राप्त होते हैं, ऐसे उपशान्त कषाय व क्षीण कषाय जीव अधिगत चारित्र्यार्थ हैं। और अन्तरचारित्र्य मोहके क्षयोपशमका सद्भाव होनेपर बाह्योपवेशके निमित्तसे विरति परिणामको प्राप्त अनधिगत चारित्र्यार्थ हैं।

आर्य कूष्माण्ड देवी—एक विद्याधर विद्या—वे विद्या ।

आर्यखण्ड—१ आर्यखण्ड निर्देश

ति प ४/२६६-२६७ गंगासिन्धुर्हर्षि वेवहृणगेण भरहखेत्तम् । अखण्ड संजाद ॥२६६॥ उत्तरदक्षिणभरहे खडाणि तिणिं हौति पत्तक । दक्षिण तियवहेसु मज्झिमखड्गसु बहुमज्जे । —गंगा व सिन्धु नदी और विजयार्थ पर्वतसे भरत क्षेत्रके छ खण्ड हो गये हैं ॥२६६॥ उत्तर और दक्षिण भरत क्षेत्रमें-से प्रत्येकके तीन तीन खण्ड हैं। इनमें-से दक्षिण भरतके तीन खण्डोंमें मध्यका आर्य खण्ड है।

२ आर्य खण्डमें काल परिवर्तन तथा जीवो व गुणस्थानो सम्बन्धी विशेषताएँ

ति प ४/३१३-३१४, ३१६ भरहखेत्तम् इमे अज्जखड्गस्मि कालपरिभागा । अवसत्पिणि उत्सत्पिणिपज्जाया दोणिं हौति पुड ॥३१३॥ णरतिरियाणं आऊ उच्छेह विभूदिपहुदियं सव्वं । अवसत्पिणिह ह्यादि उत्सत्पिणिमासु वड्ढेदि ॥३१४॥ दोणिं वि मिलिबे कप्पं छग्गेदा हौति तत्थ एक्केक । सुसमसुसम च सुसमं तज्जज्जं सुसम दुस्समय ॥३१६॥ दुस्समसुसम दुस्सममदिदुस्समय च तेसु पडमस्मि । —भरत क्षेत्रके आर्य खण्डमें ये कालके विभाग हैं। यहाँ पृथक् पृथक् अवसत्पिणी और उत्सत्पिणी रूप दोनों ही कालोंकी पर्याय होती हैं ॥३१३॥ अवसत्पिणी काल में मनुष्य एवं तिर्यचोंकी आयु शरीरकी ऊँचाई और विभूति इत्यादिक सब ही घटते तथा उत्सत्पिणी कालमें बढ़ते रहते हैं ॥३१४॥ दोनोंको मिलाने पर एक कल्प काल होता है। अवसत्पिणी और उत्सत्पिणीमें-से प्रत्येकके छह भेद हैं— सुपमासुपमा, सुपमा, सुपमा दुप्पमा, दुप्पमसुपमा, दुप्पमा और अतिदुप्पमा ।

ति प ४/२६३४-२६३६, २६३८ पज्जत्ताणिव्वत्तियपज्जत्ता लद्धियायपज्जत्ता । सत्तरिजुत्तसदज्जाखडे पुणिदरलद्धि णरा ॥२६३८॥ पणपण अज्जाखडे भरहेरावदस्मि मिच्छगुणट्ठाण । अवरे वरस्मि चोदसपेरत कयाइ दीसंति ॥२६३६॥ पच विदेहे सट्ठिसमणिदसद अज्जखडए अवरे । छगुणट्ठाणे तत्तो चोदसपेरत दीसंति ॥२६३६॥ विज्जाहरसेदीए तिगुणट्ठाणाणि सव्वकालस्मि । पणगुणट्ठाणा दीसइ छडिदविज्जाण चोदसट्ठाण ॥२६३८॥

ति प ४/३००-३०२ पणपणअज्जाखडे भरहेरावदखिदस्मि मिच्छत्त । अवरे वरस्मि पण गुणट्ठाणाणि कयाइ दीसंति ॥३००॥ पचविदेहेसट्ठिणिदसअज्जखडए तत्तो । विज्जाहरसेदीए बाहिरभागे सयंपहगिरीदो ॥३०१॥ सासणमिस्सविहीणा तिगुणट्ठाणाणि थोवकालस्मि । अवरेवरस्मि पण गुणट्ठाणाइ कयाइ दीसंति ॥३०२॥ —१ मनुष्यकी अपेक्षा—पर्याप्त, निवृत्त्यपर्याप्त और लघ्व्यपर्याप्तके भेदसे मनुष्य तीन प्रकारके होते हैं। एक सौ सत्तर आर्य खण्डोंमें पर्याप्त निवृत्त्यपर्याप्त और लघ्व्यपर्याप्त तीनों प्रकारके ही मनुष्य होते हैं ॥२६३४॥ भरत व ऐरावत क्षेत्रके भीतर पाँच पाँच आर्य खण्डोंमें जघन्य रूपसे मिथ्यात्व गुणस्थान और उत्कृष्ट रूपसे कदाचित् चौदह गुणस्थान पाये जाते हैं ॥२६३६॥ पाँच विदेह क्षेत्रोंके भीतर एकसौ साठ आर्य खण्डोंमें जघन्य रूपसे छ गुणस्थान और उत्कृष्ट रूपसे चौदह गुणस्थान तक पाये जाते हैं ॥२६३६॥ विद्याधर त्रेणियोंमें सदा तीन गुणस्थान (मिथ्यात्व असयत्त और देशसयत्त) और उत्कृष्ट रूपसे पाँच गुणस्थान होते हैं ॥२६३८॥ २ तिर्यचोंकी अपेक्षा—भरत और ऐरावत क्षेत्रके भीतर पाँच पाँच आर्य खण्डोंमें जघन्य रूपसे एक मिथ्यात्व गुणस्थान और उत्कृष्ट रूपसे कदाचित् पाँच गुणस्थान भी देखे जाते हैं ॥३००॥ पाँच विदेहोंके भीतर एक सौ साठ आर्य खण्डोंमें, विद्याधर त्रेणियोंमें और स्वयंभू पर्वतके बाह्य भागमें सासादन एवं मिश्र गुणस्थानका छोड़कर तीन गुणस्थान जघन्य रूपसे स्तोक कालके लिए होते हैं। उत्कृष्ट रूपसे पाँच गुणस्थान भी कदाचित् देखे जाते हैं ॥३०१-३०२॥

* आर्यखण्डमें सुपमा दुपमा आदिकाल—दे काल ४।

* आर्यखण्डमें नगर पर्वत व नगरियाँ—दे मनुष्य ४।

आर्यनन्दि—१ अक्षत्पु संघकी पट्टावलीके अनुसार (दे इतिहास ७/७)

चन्द्रसेनके शिष्य तथा वीरसेन (घबलाकार) के गुरु थे। तदनुसार इनका समय—ई० ७६७-७६८ आता है (आ अनु 'प्र ८/AN Up, H L Jain), (ह पु/५ पन्नालाल)।

आर्यमंडल—दिगम्बर आम्नायमें आपका स्थान आ० पुष्पदन्त तथा भूतभलीके समकक्ष है। आ० गुणधरसे आगत पेज्ज दोसपाहुड के ज्ञानको आचार्य परम्परा द्वारा प्राप्त करके आपने तथा नागहस्तिने यतिवृषभाचार्य को दिया था। समय—वी नि ६००-६५० (ई ७३-१२३)। विशेष दे कोश १। परिशिष्ट ३/३)।

आर्यवती—एक विद्याधर विद्या—दे विद्या

आर्यिका—१ आर्यिका योग्य लिंग—दे लिंग/१

२ आर्यिकाको महाव्रत कहना उपचार है—दे वेद/७

३ आर्यिकाको करने योग्य कार्य सामान्य—

मू आ १/१८८-१८९ - अणोण्णाणुज्जाओ अणोण्णहिरस्वणाभिजुत्ताओ । गयरोसवैरमाया सत्तज्जमज्जादिकरियाओ ॥१८८॥ अज्जकयणे परियट्ठे सवणे कण्ठेणहणुपेहाए । तवविणयसंजमेसु य अविरहिदुपओगजुत्ताओ ॥१८९॥ अविचारवरथवेसा जल्लमलमित्तचत्तदेहाओ । धम्मकुलकित्तिदक्खपाहिस्वरूपमिद्धचरियाओ ॥१९०॥ —आर्यिका परस्परमें अनुकूल रहती हैं, ईर्ष्या भाव नहीं करती, आपसमें

प्रतिपालनमें तत्पर रहती हैं, क्रोध, घृणा, मायाचारी इन तीनोंसे रहित होती हैं। लोकवादसे भय रूप सज्जा, परिणाम, व्याय मार्गमें प्रवर्तने रूप मर्यादा दोनों कुलके योग्य आचरण-इन गुणोंकर सहित होती हैं ॥१८८॥ शास्त्र पढ़नेमें, पढ़े शास्त्रके पाठ करनेमें शायर सुननेमें, सुनके चितवनमें अध्यास अनिर्यादि भाषनाओंमें और तप, विनय और संयम इन सबमें तत्पर रहती हैं तथा हानाभ्यास शुभ योगमें युक्त रहती हैं ॥१८९॥ जिनके यद्य विकार रहित होते हैं वारोका आकार भी विकार रहित होता है, शरीर पक्षेय व मनकर सिद्ध है तथा संस्कार (सजावट) रहित है। क्षमादि धर्म गुरु आदिकी सन्तान रूप कुल यद्य, इत इनके समान जिनका शुद्ध आचरण है ऐसी आर्थिकाएँ होती हैं।

४ आर्थिका को न करने योग्य कार्य

मू आ ॥१६३॥ रोदनगृहण भोगपयणं सुत च द्रव्यहारभे । विरदाण पादमवावण घोषण मेघ च ण य कुञ्जा ॥१६३॥—आर्थिकाओंकी अपनी वसतिकामें तथा अन्यके घरमें रोना नहीं चाहिए, शालका-दिकोंको स्नान नहीं करना। शालकादिकोंको जिमाना, रमोई करना, सूत काटना सोना, असि, मस आदि छ वर्म करना, नयमी जनकों पैर धोना, माफ करना राम पूरक गीत, इत्यादि क्रियाएँ नहीं करना चाहिए ॥१६३॥

५ आर्थिकाके विहार सम्बन्धी

मू आ ॥१६२॥ ण य परोहमकज्जे गच्छे कज्जे अवसरं गमणिज्जे । गणिणीमापुच्छित्ता सथाट्ठेण गच्छेज्जे ॥१६२॥—आर्थिकाओंको बिना प्रयोजन पराये स्थान पर नहीं जाना चाहिए। यदि अवसर जाना हो तो भिक्षा आदि वासलोंको आर्थिकाओंको पूछ कर अन्य आर्थिकाओंको साथ लेकर जाना चाहिए।

६ आर्थिकाके अन्य पुरुष व साधुके सग रहने सम्बन्धी —दे सगति ।

* आर्थिकाको नमस्कार करने सम्बन्धी —दे विनय ३ ।

आलव्य—कायोरसर्गका अतिचार—दे व्युत्सर्ग १ ।

आलय—स सि ४/२४/२४६/२ एय तस्मिन् सोयन्त इति आलय आवास । =आकर जिसमें लयको प्राप्त होते हैं वह आलय या आवास कहलाता है । (रा वा ४/२४/१/२४२)

आलयाग—कषप बुद्धोंका एक भेद—दे सूत्र १ ।

आलाप—गो जी/जी प्र ७०७/११४६/१४ गुणस्थाने चातुर्दश-मार्गणास्थाने च प्रसिद्धे विंशतिविधानां गुणजीवेत्यादीनां सामान्य-पर्याप्तपर्याप्तारत्र आलापा भवन्ति । तथा वेदकपायविभिन्नेषु अनि-वृत्तिकरणपञ्चभागेषु अपि पृथक् पृथक् भवन्ति ।

गो जी/जी प्र ७०६/११ तत्रापर्याप्त लाप लक्ष्यपर्याप्त निवृत्त्यपर्याप्त-एषेति द्विविधो भवति । =ओष जो गुणस्थान और चौदह मार्गणा स्थान ये परमागम विषय प्रसिद्ध हैं। सो इनविषय 'गुणजीवा पञ्जतो' (पं सं/मा १/२) इत्यादिक बौद्ध प्ररूपणानिका सामान्य पर्याप्त अपर्याप्त ए तीन आलाप हो हैं। पहुरि वेद अर कपाय करि भेद हैं जिन विषय ऐसे अनिवृत्तिकरणके पाँच भाग सिनि विषय पाँच आलाप जुदे जुदे जानना । (वे पाँच इस प्रकार हैं—सबेद भाग, सक्रोध भाग समान भाग, समाया भाग, बादर कृष्टि लोभ भाग ।) एहाँ अपर्याप्त आलाप दो प्रकारका है—लक्ष्यपर्याप्त निवृत्त्यपर्याप्त ।

आलाप पद्धति—आचार्य देवसेन (वि ६६०-१०१२) द्वारा संस्कृत गद्यमें रचित प्रमाण नव विषयक सूत्र ग्रन्थ (सी ३/८२)

आलापन बन्ध—दे बन्ध १ ।

आलुच्छन—दे, आलोचना १ ।

आलेपन—२ बन्ध १ ।

आलोक—ग्या १/म १/१२/२००/१४ आनीका दर्शनम् — आनीक-का नाम दर्शन है ।

आलोचना—प्रतिमण उदित हानेमाजी गवायों जित जो अन्त रंग व बाह्य दाप साधनकी प्रतीतिम् आगे है जीवन शोधार्थके लिए उक्त दूर करना अथवा तत्प्राप्तम् है इस प्रयासकी गतिके लिए आलोचना नामके उक्त मार्ग है। इसमें समस्त निष्पत्ति भावने अपने सर्व छोटे या बड़े दोषोंको गह दगा आलोचना कहलाता है। यह बीतरागी गुरुके समक्ष ही हो जाती है, रागी व्यापक मगम नहीं।

१ भेद व लक्षण

१ आलोचना सामान्यके लक्षण

स मा/मू य आ ॥३२॥ सप्तमसुहृदिदण संवर्तिम प्रानविशमरिगेन । त दोमं जो चेगइ गो यत्तु आनीगण पेगा ॥३२॥ —जो वर्तमान कालमें शुभ अशुभ वम रूप अनेक प्रकार हानावरणादि बिस्तार रूप विरोधोंको निपट्ट उदय आया है उम दोषोंको जो हाना अशुभ वरता है, त आत्मा निष्ठचामे आलोचना स्वरूप है। (स सा/आ ३८४)

नि सा/मू १०६ जो पम्पसिद अन्ताण ममभावे सट्टिहत्तु परिणाम । आलोचनमिदि जाण पम्पजिण्डरम उवण ॥१०६॥ —जो (जीव) परिणामकी ममभावमें स्थाय पर (निज) आत्माको देखता है, वह आलोचन है ऐसा परम जितेन्द्रका उद्देश जानना ।

म सि ६/२२/४००/६ तत्र गुरुवे प्रमादनिवेदन दददोषविबर्जितमानोच-नम् । —गुरुके समक्ष दश दोषोंको दान कर अपने प्रमादका निवेदन करना (व्यवहार) आलोचना है। (ग गा ६/२२/२/६२०) (त सा/७/२३), (अन घ ७/३८)

घ १०/४४/३६/६०/अनुमपपरिस्मयान मुदरस्मान्ना वीयगया तिरमये मेरु वष भिगण सगदोमनियेयमानोयणा नाम पायच्छिस्त । —अपरिस्मय अर्थात् आत्मने रहित, भ्रमे रहस्यकी जाननेवाले, बीतराग और रतनयममें मेरवे समान स्थिर ऐसे गुरुओंके सामने अपने दोषोंका निवेदन करना (व्यवहार) आलोचना नामका प्रायश्चित्त है।

भ आ/वि ६/३२/२ स्वकृतापराधयूननयजन्म आलोचना ।

भ आ/वि १०/४६/६ कृतातिचारलुपुत्तापुरगर बचनमानोचनेति । अपने द्वारा किये गये अपराधों या दोषोंको दबानेवाला प्रयत्न न करके अर्थात् छिपानेका प्रयत्न न करके उसका त्याग करना निश्चय आलोचना है। तथा चारित्राचरण करते समय जो अतिचार होते हैं। उसको पश्चात्ताप पूर्वक निन्दा करना व्यवहार आलोचना है।

२. आलोचनाके भेद

भ आ/मू ४/३३ आलोचनाहृदुविहा आपेय य हादि पदविभागीय । आघेण मूलपत्तस्य पयविभागीय इदरस ४/३३॥ —आलोचनाके दो ही प्रकार हैं—एक ओघानोचना दूसरी पदविभागी आलोचना अर्थात् सामान्य आलोचना और विशेष आलोचना ऐसे इनके और भी दो नाम हैं। मग्न सामान्य और विशेष, इन धर्माका आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, अत आलोचनाके उपर्युक्त दो भेद हैं।

मू आ ६/१६ आलोचन दिवसिय रादि अ हरियापध च बोधव । पविवय चाहुम्मासिय सक्छरपुत्तमट्ट च ६/१६॥ गुरुके समीप अपराधका कहना आलोचना है। यह दैवसिक रात्रिक, ईशपथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक सांमत्सरिक, उत्तमार्थ—इस तरह सात प्रकारकी है। नि सा/मू २०८ आलोचनमालच्छणवियधीकरण च भावमुदो य । चउविहमिह परिकहिय आलोचन लखण समर ३/१०८ —आलोचना का स्वरूप आलोचन, आलुच्छन, अधिकृतिकरण और भावमुदि ऐसे चार प्रकार शास्त्रमें कहा है।

३ आलोचनाके भेदोंके लक्षण

म आ /मू ५३४-५३५ आधेगालोचेदि हु अपरिमिदबराधसव्वधादी था । अजोपाए इथ सामणमठ खु तुच्छेति ॥५३४॥ पव्वज्जादी सव्व कमेण ज जथ जेण भावेण । पडिसेविद सहा त आलोचितो पदविभागी ॥५३५॥ —जिसने अपरिमित अपराध किये हैं अथवा जिसके रत्नत्रय-का—सर्व त्रतोंका नाश हुआ है वह मुनि सामान्य रीतिसे अपराधका निवेदन करता है । आजसे मैं पुन मुनिहोने की इच्छा करता हूँ मैं तुच्छ हूँ अर्थात् मैं रत्नत्रयसे आप लोगोंसे छोटा हूँ ऐसा कहना सामान्य आलोचना है ॥५३५॥ तीन कालमें, जिस देशमें, जिस परिणाम से जो दोष हो गया है उस दोषकी मैं आलोचना करता हूँ । ऐसा कहकर जो दोष क्रमसे आचार्यके आगे शपक कहता है उसकी वह पदविभागी आलोचना है ॥५३६॥

नि सा /मू ११०-११२ कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमर्थो सकीयपरिणामो । साहीणो समभावो आलुच्छणमिदि समुद्दिट्ठं ॥११०॥ कम्मादो अप्पण भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं मज्झमथ भावणाए विपट्ठी-करणं ति । विण्णेय ॥१११॥ मदमानमायालोहविर्वाण्य भावो दु भाव-सुद्धि ति । परिकहिद भव्वाण लोयालोयप्पद'रसीहि ॥११२॥ —कर्म रूपे ब्रह्मा मूल छेदनेमें समर्थ ऐसा जो समभाव रूप स्वाधीन निज परिणाम उसे आलच्छन कहा है ॥११०॥ जो मध्यस्थ भावनामें कर्मसे भिन्न आत्माको—जि जो विमल गुणोंका निवास है उसे भाता है उस जीवको अविकृति करण जानना ॥१११॥ मद, मान, माया और लोभ रहित भाव वह भावसुद्धि है । ऐसा भव्योंको लोकके द्रष्टाओंने कहा है ॥११२॥

२ आलोचनाके अतिचार व लक्षण

१. आलोचनाके १० अतिचार

म आ /मू ५६२ आकपिय अणुमाणिय ज दिट्ठं बादर च सुहुमं च । छण सहाउल्लयं बहुजन अव्वत्त तस्सेवी । —आलोचनाके दश दोष हैं—आकपित, अनुमानित यदृष्ट, स्थूल, सूक्ष्म, छत्र, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त, तस्सेवी । (मू आ १०३०) (स सि ६२२/४४०/४), (घा सा १३८/२)

२ आलोचनाके अतिचारोंके लक्षण

म आ /मू ५६३-६०३ भत्तेण व पाणेण व उवकरणेण किरियकम्मकरणेण । अणकपेज्ज गणि करेइ आलोयणं काई ॥५६३॥ जणहय मज्झम थाम अंगण दुक्खसदा अणारोगं । जेव समर्थोमि अठं तव विकट्ठं पि काटु जे ॥५७०॥ आलोचैमि य सव्व जइ मे पच्छा अणुगहं कुणह । तुज्ज सिरीए इच्छं सोधी जह णिच्छरेज्जामि ॥५७१॥ अणुमाणेदूण गुरु एव आलोचण तदो पच्छा । कुणह ससण्लो सो से विदिओ आलोयणा दोसो ॥५७२॥ जो होदि अणुदिट्ठं तं आलोचैदि गुरुसमा-सम्मि । अदिट्ठं गृहं तो मायिल्लो होदि णायव्वो ॥५७४॥ दिट्ठं वा अदिट्ठं वा जदिण कहेइ परमेण विणएण । आयरियपायमूले तदिओ आलोयणा दामो ॥५७५॥ बादरमालोचंती जत्तो जत्तो वदाओ पडि-भगो । सुहुमं पच्छादेतो जिणवयणपरं सुहो होइ ॥५७७॥ इह जो दोसं सहगु समालोचैदि गृहदे चूल । भयमयमायाहिदओ जिणपयण-पर सुहो होदि ॥५८१॥ जदि मूलगुणे उत्तरगुणे य कस्सइ तदिए चउ-त्तर पचमे व वदे ॥५८४॥ को ठस्स दिज्जइ तवो केण उवाएण वा न्वदि मुद्धो । इय पच्छण पुच्छदि पायच्छिच करिस्सदि ॥५८५॥

पच्छण पुच्छिय साधु जो कुणह अप्पणो सुद्धि । तो सो जणेहि बुत्तो छट्ठो आलोयणा दोसो ॥५८६॥ पक्खियचट्ठासिय संवच्छरि-एसु सोधि कालेसु । बहुजण सहाउल्लए कहेदि दोसो जहिच्छाए ॥५९०॥ इय अव्वत्त जइ साधेत्तो दोसो कहेइ सपुरुण । आलोचनाए दोसो सत्तमओ सो गुरुसयासे ॥५९१॥ तेसि असव्वहत्तो आइरियणं पुणोमि अण्णणं । जइ पुच्छइ सो आलोयणाए दोसो हु अट्ठमओ ॥५९६॥ आलोचिद असेस सव्व एद मएत्ति जाणादि । मालस्सालोचंती

णवमो आलोचनाए दोसो ॥५९६॥ पासत्थो पासत्थरस अणुगदो वृद्धं परिकहेइ । एसो वि मज्झसरित्तो सव्वथविदोम मचइओ ॥६०१॥ जाणादि मज्झ एसो सुहसीलत्त च सव्वदोसे य । तो एस मे ण दाहिदि पायच्छिच महिच्छिच ॥६०२॥ आलोचिदं असेस सव्व एदं मएत्ति जाणादि । सोपवयणपडिक्खो दसमो आलोचना दोसो ॥६०२॥ = १ आकपित—स्वत भिक्षालब्धसे युक्त होनेसे आचार्यको प्राप्तु आर उद्गममादि दायोंसे रहित आहार-पानीके द्वारा वैयवृत्त करना, पिष्टी, कमण्डलु वगैरह उपकरण देना, कृतिकर्म वन्दना करना इत्यादि प्रकारसे गुरुके मनमें दया उत्पन्न करके दोष कहता है सो आकपित दोषसे दूषित है ॥६०३॥ २ अनुमानित—हे प्रभो । आप मेरा सामर्थ्य कितना है यह तो जानते हो हैं, मेरी उदराग्नि अतिशय दुर्बल है, मेरे अंगके अवयव कृश हैं, इसलिए मैं उत्कृष्ट तप करनेमें असमर्थ हूँ मेरा शरीर हमेशा रोगी रहता है । यदि मेरे ऊपर आप अनुग्रह करेंगे, अर्थात् मेरेका आप यदि थोड़ा सा प्रायश्चित्त देंगे तो मैं अपने सम्पूर्ण अतिचारोंका कथन करूँगा और आगकी कृपासे शुद्धि युक्त होकर मैं अपराधोंसे मुक्त होऊँगा ॥६००-६०१॥ इस प्रकार गुरु मेरेको थोड़ा सा प्रायश्चित्त देकर मेरे ऊपर अनुग्रह करेंगे ऐसा अनुमन न करके माया भावसे जो मुनि पश्चात् आलोचना करता है, वह अनुमानित नामक आलोचनाका दूसरा दोष है । ३ यदृष्ट—जो अप-राध अन्य जनोंने देखे हैं, उतने ही गुरुके पास जाकर कोई मुनि कहता है और अन्यसे न देखे गये अपराधोंको छिपाता है, वह मायावी है ऐसा समझना चाहिए । दूसरोंके द्वारा देखे गये ही अथवा न देखे गये हों सम्पूर्ण अपराधोंका कथन गुरुके पास जाकर अतिशय विनयसे कहना चाहिए परन्तु जो मुनि ऐसा नहीं करता है वह आलोचनाके तीसरे दोषसे लिप्त होता है, ऐसा समझना चाहिए ॥६०४-६०५॥ ४ बादर—जिन जिन त्रतोंमें अतिचार लगे होंगे उन-उन त्रतोंमें स्थूल अतिचारोंकी तो आलोचना करके सूक्ष्म अति-चारोंको छिपाने वाला मुनि जिनेन्द्र भगवात्सुके वचनोंसे पराङ्मुख हुआ है ऐसा समझना चाहिए ॥६०७॥ ५ सूक्ष्म—जो छोटे-छोटे दोष कहकर बड़े दोष छिपाता है, वह मुनि भय, मद और कपट इन दोषोंसे भरा हुआ जिनवचनसे पराङ्मुख होता है । बड़े दोष यदि मैं कहूँगा तो आचार्य मुझे महा प्रायश्चित्त देंगे अथवा मेरा रयाग कर देंगे, ऐमे भयसे कोई बड़े दोष नहीं कहता है । मैं निरतिचार चारित्र हूँ ऐसा समझ कर स्थूल दोषोंको कोई मुनि कहता नहीं, कोई मुनि स्वभावसे ही कपटी रहता है अतः वह भी बड़े दोष कहता नहीं, वास्तवमें ये मुनि जिनवचनसे पराङ्मुख हैं ॥६०१॥ ६ प्रच्छन्न—यदि किसी मुनिको मूलगुणोंमें अर्थात् पाँच महाव्रतोंमें और उत्तर गुणोंमें तपश्चरणमें अनशनादि बारह तपोंमें अतिचार लगेगा तो उसको कौन-सा तप दिया जाता है, अथवा किस उपायसे उसकी शुद्धि होती है ऐसा प्रच्छन्न रूपसे पूछता है, अर्थात् मैंने ऐसा ऐसा अपराध किया है उसका क्या प्रायश्चित्त है । ऐसा न पूछकर प्रच्छन्न पूछता है, प्रच्छन्न पूछकर तदनन्तर मैं उस प्रायश्चित्तका आचरण करूँगा, ऐसा हेतु उसके मनमें रहता है । ऐसा गुप्त रीतिसे पूछ कर जो साधु अपनी शुद्धि कर लेता है वह आलोचनाका छठा दोष है ॥६०४-६०६॥ ७ शब्दाकुलित अथवा बहुजन—पाक्षिक दोषोंकी आलोचना, पातुमार्गिक दोषों की आलोचना, और वार्षिक दोषोंकी आलोचना सब यदि समुदाय मिलकर जय करते हैं तब अपने दोष स्वेच्छासे कहना यह बहुजन नामका दोष है । यदि अस्पृष्ट रीतिसे गुरुको सुनाता हुआ अपने दोष मुनि कहेगा तो गुरुके चरण साक्षिण्य में उसने सातवाँ शब्दाकुलित दोष किया है । ऐसा समझना ॥६००-६०१॥ ८ बहुजन पृच्छा—परन्तु उनके द्वारा (आचार्यके द्वारा) दिये हुए प्रायश्चित्तमें अग्रदान करके यह आलोचक मुनि यदि अन्यको पूछेगा अर्थात् आचार्य महाराजने दिया हुआ प्रायश्चित्त योग्य है या अयोग्य है ऐसा पूछेगा तो यह आलोचनाका बहुजन पृच्छा नामक आठवाँ दोष होगा ॥६०६॥ ९ अव्यक्त—और मैंने इसके

(आगम बाल वा चारित्र बाल मुनिके) पास सम्पूर्ण अपराधोंकी आलोचनाकी है मन, वचन, कायसे और कृत कारित अनुमोदनासे किये हुए अपराधोंकी मैंने आलोचना की है ऐसे जो समझता है उसको यह आलोचना करना नौबें दोषसे दृष्ट है ॥६६॥ १० तत्सेवी—पार्श्वस्थ मुनि, पार्श्वस्थ मुनिके पास जाकर उसका अपने दोष कहता है क्योंकि यह मुनि भी सर्व व्रतोंमें मेरे समान दोषोंसे भरा हुआ है ऐसा वह समझता है। यह मेरे मुखिया स्वभावको और व्रतोंके अतिचारोंको जानता है, इसका और मेरा आचरण समान है, इसलिए यह मेरेको बड़ा प्रायश्चित्त न देगा ऐसा विचार कर वह पार्श्वस्थ मुनि गुरुका अपने अतिचार कहता नहीं और समान शीलको अपने दोष बताता है। यह पार्श्वस्थ मुनि कहे हुए सम्पूर्ण अतिचारोंके स्वरूपको जानता है ऐसा समझ कर व्रत भ्रष्टोंसे प्रायश्चित्त लेना यह आगम निषिद्ध तत्सेवी नामका दसवाँ दोष है ॥६०१-६०३॥ (रा वा ६/२२/२/६२१/१), (वा सा ६३८/२), (द वा /टी ६ में उद्धृत), (अन घ ७/४० ४४)

३ आलोचना निर्देश

१. आलोचना वीतरागी गुरुके ही समक्ष की जानी चाहिए

भ आ /मू व वि ६८६ । आलोचना वि हु पसंथमेव कादम्बिया तरय ॥६८६॥ आलोचनागोचाराद्यतिचारविषया। तथा क्षपकसमीपे। पसंथमेव कादम्बा यथासौ न शृणोति तथा काया। बहुषु युक्ताचारैषु सूरिषु सप्तम् ।—योग्य आचारोंको जाननेवाले आचार्योंके पास ही सूक्ष्म अतिचार विषयक आलोचना करना हो तो वह भी प्रशस्त हो करनी चाहिए अर्थात् वह क्षपक सुन न सके ऐसी आलोचना करनी चाहिए।

२ आलोचना सुननेकी विधि

भ आ /मू व वि ६६० पाचीगोदीचिमुहो आयदणमुहो व सुहणिसण्णो हु। ॥६६०॥ निर्व्याकुलमात्तोत्तमस्य यत् प्रवर्णं तदालोचयितुं सम्माननं। यथा कथं चिच्छ्रवणे मयि अनादरो गुरोरिति नोस्साह परस्य स्यात् ।—पूर्वाभिमुख, उत्तराभिमुख अथवा जिनमन्दिराभिमुख होकर मुखसे बैठकर आचार्य आलोचना सुनते हैं। अथवा निर्व्याकुल बैठकर गुरु आलोचना सुनते हैं, इस प्रकारसे सुननेसे आलोचना करनेवाले का सम्मान होता है। इधर उधर लक्ष देकर सुननेसे गुरुका मेरे सम्बन्धमें अनादर भाव है ऐसी आलोचककी समझ हागी, जिससे दाप बहनेमें आलोचना करनेवालेका उत्साह नष्ट होगा।

३ एक आचार्यको एक ही शिष्यकी आलोचना सुननी चाहिए

भ आ /मू व वि ६६० आलोयण पडिच्छदि एक्को एक्कस्स विरहम्मि। एक एव शृणुयात्सूरित्तज्जापरो बहूना मध्ये नारमदोषं प्रकटयितुमोहेति। चित्छेदरक्षास्य भवति। तथा कथयत एकस्यैवालोचनां शृणुयात्। दु खधाररक्षाय गृह्णन्तेकवचनसदभस्य। तद्योपनिग्रहं नायं वराक प्रतीच्छति।—आचार्य एक क्षपककी ही आलोचना सुनता है। एक ही आचार्य एकके दोष सुने यदि बहुत गुरु सुनने बैठेंगे तो आलोचना करनेवाला क्षपक लज्जित होकर अपने दोष कहनेके लिए तैयार होनेपर भी उसके मनमें छेद उत्पन्न होगा। अतः एक ही आचार्य एक ही के दोष सुने, एक कालमें एक आचार्य अनेक क्षपकोंकी आलोचना सुननेकी इच्छा न करें, क्योंकि अनेकोंका बचन ध्यानमें रखना बड़ा कठिन कार्य है। इसलिए उनके दोष सुनकर योग्य प्रायश्चित्त नहीं दे सकेगा।

४ आलोचना एकान्तमें सुननी चाहिए

भ आ /मू व वि ६६० आलोयणं पडिच्छदि विरहम्मि ॥६६०॥ इत्यनेनैव गत्वा विरहम्मि इति वचनं निरर्थकं। यद्यप्येवमपि तत्र

स्युर्न एकैकैव श्रुतं स्यात् । न सज्जस्ययमस्य अपराधरक्षास्य अनेना-वगत एवेति नान्यस्य सकाशे शृणुमात् इति । एतस्युच्यते विरहम्मि एवान्ते आचार्यं शिरोति ।—एकान्तमें ही आचार्य आलोचना सुनता है ॥६६०॥ प्रश्न—(एक समयमें एक ही शिष्यकी तथा एक ही आचार्य आलोचना सुने उपरोक्त) इतने विवेचनमें ही एकान्तमें गुरुके बिना अन्य कोई नहीं होगा ऐसे समयमें आलोचना सुननी चाहिए तथा करनी चाहिए ऐसा सिद्ध होता है अतः 'विरहम्मि' यह पद व्यर्थ है। उत्तर—यदि यहाँ अन्य भी होंगे तो अतः चक्र द १५ बाहर पड़ने सम्भव है, एक गुरु यदि होंगे तो उस स्थानमें प्रच्छन्न रीतिसे दूसरेका प्रवेश होना योग्य नहीं है, यह सूचित करनेके लिए आचार्य ने 'विरहम्मि' ऐसा पद दिया है।

५ आलोचनाका माहात्म्य

रा वा ६/२२/०/६२१/१३ लज्जापरपरिभवादिगणनया निवेद्यातिचार यदि न क्षाधयेद् अपरोक्षितायकयमाधर्म्मवधवसीदति। महदपि तपस्कर्म अनालोचनपूर्वकम् नाभिप्रेतफलप्रदम् आविर्भूतकामगौप-धवत् कृतानालोचनस्यापि गुरुमतप्रायश्चित्तमर्ज्यत्। श्रमिकर्मसंस्थानत महाफलं न स्यात्। कृतानालोचनचित्तगतं प्रायश्चित्त परिमृष्टदर्पण-तत्परवत् परिभ्राजते।—लज्जा और पर तिरस्कार आदिके कारण दोषोंका निवेदन करके भी यदि उनका शोधन नहीं किया जाता है तो अपनी आमदनी और तर्बका हिसाब न रखनेवाले कर्जदारकी तरह दुखका पात्र होना पड़ता है। बड़ी भारी दुष्कर तपस्याएँ भी आलोचनाके बिना उसी तरह इष्ट फल नहीं दे सकती जिस प्रकार विवेचनसे शरीर मलकी शुद्धि किये बिना खायी गयी औषधि। आलोचना करके भी यदि गुरुके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तपत्र अनुष्ठान नहीं किया जाता है तो वह बिना सँवारे धान्यकी तरह महा फलदायक नहीं हो सकता। आलोचना युक्त चित्तसे किया गया प्रायश्चित्त मज्जे हुए दर्पणके रूपकी तरह निरंतर चमक जाता है।

६ अन्य सम्बन्धित विषय

* निश्चय व्यवहार आलोचनाकी मुख्यता गीणता

—दे चारित्र

* सातिचार आलोचना मायाचारो है—दे, माया २

* किस अपराधमें आलोचना प्रायश्चित्त किया जाता है

—दे प्रायश्चित्त

* तदुभय प्रायश्चित्त—दे प्रायश्चित्त

आवरक व आवरण—

स सि ८/४/३८०/३ आवुणोरात्रियतेऽनेनेति वा आवरणम्।—जो आवृत करता है या जिसके द्वारा आवृत किया जाता है वह आवरण कहलाता है। (गा जी /जी प्र ३२/२७/१०)।

घ ६/१,६ १ ४/८/४ अपणो विरोहिद्ववसर्णहाणे तंते वि ष गिम्मू सदो ण विणस्सदि तमावरिज्जमाणं इदं चारयं।—अपने विशेषी प्रव्यके सन्निधान अर्थात् सामोप्य होनेपर जो निर्मूलत नहीं विनष्ट होता, उसे आव्रियमाण कहते हैं, और दूसरे अर्थात् आवरण करनेवाले विशेषी प्रव्यकी आवरक कहते हैं।

आवर्जित करण—स सा /मू ६२१ ६२३ हेटटा दटस्सतो सुहुत्तमा यज्जिद हवे करणं। त च समुधादस्स य अहिमुहभाभो जिण्दिदस्स। सट्ठणे आबज्जिद करणे वि य णरथ टिदिरसाण हदो। उदयादि अवट्टिदया गुणसेवो तस्स दब्बं च। जोगिस्स सेसकालो गय जोगो तस्स संवमाणो य। जावदिदं तावदिद्या आबज्जिदकरणगुणसेवो। सयागकेवलो जिनको केवली समुदघात करनेके अन्तर्मुहूर्त पहिले आवर्जित नामा करण हो है। समुदघात क्रियाको सम्मुखपना, सो ही आवर्जित करण कहिए। आवर्जित यहाँ स्थिति व अनुभागका काष्ठक घात नहीं होता। अवस्थित गुणश्रेणी आगम द्वारा घात

होता है। विशेष इतना कि मस्थान केवलीकी अपेक्षा यहाँ गुणश्रेणी आयाम तो असम्बन्धित गुणाघात है। और अपकर्षण किया गया द्रव्य अंतराघात गुणा है।

आवर्त—१ एक यक्ष—दे यक्ष २ भरतक्षेत्र विन्ध्यावलस्थ एक देश—वे मनुष्य ४, ३ भरत क्षेत्रके उत्तरमें मध्यमें मध्यम्लेच्छ खण्डका एक देश—दे मनुष्य ४, ४ विजयार्धको दक्षिणश्रेणीका एक नगर—दे विद्याधर, ५ पूर्व विवेका एक क्षेत्र—दे लोक ५/२।

आवर्त—अन घ ८/८८-८९ शुभयोगपरावर्तनावर्तान्त द्वारशाहुरा-यन्ते साम्यस्य हि स्तवस्य च मनोङ्गगी संयतं परावर्त्यम् ॥८८॥ —मन, वचन और शरीरकी चेष्टाको अथवा उसके द्वारा होनेवाले आरम्भ प्रदेशोंके परिस्पन्दनको योग कहते हैं। हिसादिक अशुभ प्रवृत्तियोंसे रहित योग प्रशस्त समझा जाता है। इसी प्रशस्त योगको एक अवस्थासे हटाकर दूसरी अवस्थामें ले जानेका नाम परावर्तन है और इसका दूसरा नाम आवर्त भी है। इसके मन वचन कायकी अपेक्षा तीन भेद हैं और यह सामायिक तथा स्तवकी आदिमें तथा अन्तमें किया जाता है। अतएव इसके बारह भेद होते हैं। जा सुमुष्ट साधु बन्धना करनेके लिए उद्यत हैं उन्हें यह बारह प्रकारका आवर्त करना चाहिए अर्थात् उन्हें, अपने मन वचन व काय सामायिक तथा स्तवकी आदि एवं अन्तमें पाप व्यापारसे हटाकर अवस्थान्तरको प्राप्त कराने चाहिए ॥८८॥

क्रि १/१३ कथिता द्वादशावर्ता बभूवचनचैतसाधु। स्तवसामायिका-धन्तपरावर्तनलक्षणः । —मन, वचन, कायके पलटनेको आवर्त कहते हैं। ये आवर्त बारह होते हैं। जा सामायिक दण्डके आरम्भ और समाप्तिमें तथा चतुर्विंशतिस्तव दण्डके आरम्भ और समाप्तिके समय किये जाते हैं। घ (१३/५४, २८/६०/३)

भाष्यकार—जैसे 'गमो अरहन्ताण' इत्यादि सामायिक दण्डके पहले क्रिया विज्ञापन रूप मनोविकल्प होता है, उस मनोविकल्पको छाड़कर सामायिक दण्डके उच्चारणके प्रति मनको लगाना सो मन परावर्तन है। उसी सामायिक दण्डके पहले भूमि स्पश रूप नमस्कार किया जाता है उस वक्त बन्धना मुद्राकी जाती है, उस बन्धना मुद्राको रथागकर पुन खड़ा होकर मुक्ताशुक्ति मुद्रा रूप दोनों हाथोंको करके तीन बार घुमाना कायपरावर्तन है। 'चैर्यभक्तिकायो-रसर्गं करोमि' इत्यादि उच्चारणको छोड़कर 'गमो अरहन्ताण' इत्यादि पाठका उच्चारण करना सो वाक्परावर्तन है। इस तरह सामायिक दण्डके पहले मन, वचन और काय परावर्तन रूप तीन आवर्त होते हैं। इसी तरह सामायिक दण्डके अन्तमें तीन-तीन आवर्त यथायोग्य होते हैं। एवं सप्त मिलकर एक कायोत्सर्गमें १२ आवर्त होते हैं।

★ कृतिकर्ममें आवर्त करनेका विधान

—दे कृतिकर्म २/८, ४/२।

आवली—१ क्षेत्रका एक प्रमाण विशेष—दे गणत १/१३ ३ अथन्य युक्तारस्यात समर्थो-की एक आवली होती है। इसका छ भेद रूपसे उल्लेख मिलता है यथा अचलावली—गो क अर्थ स/पृ २४ प्रकृति बन्ध भये पीछे आवली काल मात्र उदय उदीरणादि रूप होने योग्य नाहीं सो अचलावली है। (इसे बन्धावली भी कहते हैं।) (गो क/भाषा ५६९/१६४/४), अतिस्थावली—ल सा/भाषा ६८/६०/१३ स्थितिका अन्त निषेकका द्रव्य को अपकर्षण करि नोचले निषेकनिषेप निषेपण करतें तिस अन्त निषेकके नीचे आवलि मात्र निषेक तो अति स्थापनरूप है अर समय अधिक दोग आवली करि हीन उत्कृष्ट स्थिति मात्र निषेप हो है सो यह उत्कृष्ट निषेप जानना। इहाँ बध भए पीछे आवली कालपर्यन्त तो उदीरणा होइ नाहीं तातें एक आवली तो आनाधा विषे गई अर एक आवली अतिस्थापन रूप रही अन्तका

द्रव्य ग्रहा ही है तातें उत्कृष्ट स्थिति विषे दोग आवली एव समय घटाया है। अक सट्टि करि जैसे उत्कृष्ट स्थिति हजार समय तहाँ सोलह समय तो आधाधाविषे गये अर नवसे चौरासी निषेक है तहाँ अन्त निषेकका द्रव्य अपकर्षण करि प्रथमादि नवरे सतसठ निषेकान विषे दीया सो यह उत्कृष्ट निषेप है। अर ताकै ऊपर सोलह निषेकनिषेप न दीया सो यह अतिस्थापनावली है। (विशेष—दे अपकर्षण) उत्कृष्टावली—गो क/भाषा/२४२/४६४/८ 'उदयको प्राप्त नाहीं जे नुसक वेद आदि तिनिकी क्षय भये पीछे अवशेष उत्कृष्ट रही सर्व स्थिति समय अधिक आवली प्रमाण है। गो क/जी प्र ७४४/५ एतावरिथतावर्तशायी विसयोजनपशमन-क्षणका क्रिया नेरीदमुच्छिष्टावलिनाम् ।—इतनी स्थिति अवशेष रहे विसयोजनका उपशमन वा क्षणका क्रिया न होइ सके तातें याको उत्कृष्टावली कहिए। गो क अर्थ स/पृ २४ (सम्पूर्ण कर्म स्थिति-की अन्तिम आवली) अन्तके आवली प्रमाण निषेक अवशेष रहें सो उत्कृष्टावली है। उदयावली—गो अर्थ स/पृ २४ बहुतरि (आधाधा काल भये पीछे) आवली विषे आधने योग्य समूह ता उदयावली है। द्वितीयावली—उदयावलीसे ऊपरके आवली प्रमाण कालको द्वितीयावली या प्रयावली कहते हैं। प्रयावली—दे अपर द्वितीयावली, बन्धावली—दे अचलावली, बन्धावली—(आवलि के समय) ३।

आवश्यक—आवक व साधुको अपने उपयोगकी रक्षाके लिए निरय हो छह क्रिया करनी आवश्यक होती है। उन्हींका आवक या साधु-के पट आवश्यक कहते हैं। जिसका विशेष परिचय १ स अधिकारम दिया गया है।

१ आवश्यक सामान्यका लक्षण

यू आ ५/१५ णवसो अवसा अवसस्स कम्ममावासग त्ति बोधत्वा। जुत्तिन्ति उवायत्ति य निरयया होदि जिजुत्ति ॥५१५॥—जो कपाय राग द्वेष आदिके बन्धीभूत न हो वह अवश है, उस अवशका जो आचरण वह आवश्यक है। तथा युक्ति उपायको कहते हैं जा अलङ्घ्यत युक्ति वह निर्युक्ति है, आवश्यककी जो निर्युक्ति वह आवश्यक निर्युक्ति है। (नि सा/यू १४२)

नि सा/यू १४० आवास जइ इच्छसि अप्सहावेसु कुणदि थिर भाव। तेण वु सामणगुण होदि जीवस्स ॥१४०॥—यदि तू आवश्यकको चाहता है तो तू आरम्भस्वभावमें थिरभाव कर उसमें जीवका सामायिक गुण सम्पूर्ण होता है।

भ आ/वि ११६/२७४/१२ आवासयाण आवश्यकानां। ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावसग इति व्युत्पत्तावि सामायिकादिबन्धाय शब्दो वर्तते। व्याधिदोर्भस्यादिना व्याकुलो भण्यते अवश परवश इति यावत्। तेनापि कर्तव्यं कर्मैत। यथा आशु गच्छतीत्यथ इति व्युत्पत्तावि न व्याघादो वर्तते अवशान्दोऽपि तु प्रसिद्धिबशात् सुरग एव। एवमिहापि अवश्य यत्किंचन कर्म इतस्तत् परावृत्तिरा-क्रन्दन, पूरकण वा तद्गण्यते। अथवा आवासकानां इत्ययमर्थ आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनोति।—ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममादसं बाधव्वा' ऐसो आवश्यक शब्दकी निरुक्ति है। व्याधि-रोग अशक्तपना इत्यादि विकार जिसमें हैं ऐसे व्यक्तिको अवश कहते हैं, ऐसे व्यक्तिको जो क्रियाएँ करना योग्य है उनका आवश्यक कहते हैं। जैसे—'आशु गच्छतीत्यथ' अर्थात् जो शीघ्र दौड़ता है उसको अवश कहते हैं, अर्थात् व्याध आदि कोई भी प्राणी जो शीघ्र दौड़ सके हैं वे सभी अवश शब्दसे संगृहीत होते हैं। परन्तु अवश शब्द प्रसिद्धिके वश होकर बोधा इस अर्थमें ही रुद्ध है। वैसे अवश्य करने योग्य जो कोई भी कार्य वह आवश्यक शब्दसे कहा जाना चाहिए जैसे—लोटना, करवट धरना, विसीको बुलाना वगैरह कर्तव्य अवश्य करने पड़ते हैं परन्तु आवश्यक शब्द यहाँ सामायिकादि क्रियाओंमें ही प्रसिद्ध है। अथवा आवासक ऐसा शब्द

मानकर 'आवासयन्ति रत्नत्रयमपि इति आवश्यक' ऐसी भी निरुक्ति करते हैं, अर्थात् जो आराममें रत्नत्रयका निवास कराते हैं उनको आवासक कहते हैं।

अन घ ८/१६ यद्व्याध्यादिवशेनापि क्रियतेऽक्षावशेन च। आवश्यक-मवशस्य कर्महोरात्रिकं मुने ॥१६॥ —जो इन्द्रियोंके वश्य—आधीन नहीं होता उसको अवश्य कहते हैं। ऐसे समयोंके अहोरात्रिक—दिन और रातमें करने योग्य कर्मोंका नाम ही आवश्यक है। अतएव व्याधि आदिसे ग्रस्त हो जानेपर भी इन्द्रियोंके वश न पड़कर जो दिन और रातके काम मुनियोंको करने ही चाहिए उन्हींको आवश्यक कहते हैं।

२ साधुके पट् आवश्यकोका नाम निर्देश

मू आ २२० समदा यजो य वंदन पाक्षिगमण तहव णादवर्ज। पञ्च-बलाण विसग्गो करणीयावासया छप्पि ॥२२॥—सामायिक, चतुर्वि-शतिस्तव, वेदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग—ये छह आवश्यक सदा करने चाहिए। (मू आ ६/१६) (रा बा ६/२२/११/६३०/१९) (म आ / वि ११६/२७४/१६) (ध ५/३१/८३/१०) (पु सि उ २०१) (बा सा ६६/३) (अन घ ५/१७) (भा पा /टो ७७)

३ अन्य सम्बन्धित विषय

१ साधुके पडावश्यक विशेष—वे बह बह नाम

२ श्रावकके पडावश्यक—वे श्रावक

३ त्रिकरणोंके चार-चार आवश्यक—वे करण ४/६

४ निश्चय व्यवहार आवश्यकोको मुख्यता गौणता

—दे चारित्र

आवश्यकपरिहाणि—स सि ६/२४/३३६/४ पण्णामावश्यक-क्रियाणां यथाकालप्रवर्तनाभावश्यकपरिहाणि। —छह आवश्यक क्रियाओंका (बिना नाम) यथा काल करना आवश्यकपरिहाणि है। (रा बा ६/२४/११/६३०/१६) (ध ८/३,४१/८६/३) (बा सा ६६/३), (भा पा /टो ७७)

२. एक आवश्यकपरिहाणिसे शेष १५ भावोंका समावेश

ध ५/३,४१/८६/४ तीर आवासयापरिहीणदाए एकाए वि तित्थयरणाम-कमत्स मघो होदि। ण च एत्थ सेसकारणानामभावो, ण च, दसण-विमुद्धि (आदि) विणा छावासएसु गिरदिचारदा णाम संभवदि। तन्हा एद तित्थयरणामकम्मबंधधरस चउत्थकारण। —उस एक ही आवश्यकपरिहाणिनासे तीथकर नामकर्मका मन्ध होता है। इसमें छेप कारणोंका अभाव भी नहीं है, क्योंकि दर्शनविमुद्धि (आदि) के बिना छह आवश्यकोंमें निरतिचारता संभव ही नहीं है।

३ अन्य सम्बन्धित विषय

* एक आवश्यकपरिहाणिसे ही तीर्थीकरत्वका वन्ध सम्भव है—वे भावना २

* साधुको आवश्यक कर्म नित्य करनेका उपदेश —वे कृतिकर्म २

* श्रावकको आवश्यक कर्म नित्य करनेका उपदेश —वे श्रावक ४

* साधुके दैनिक कार्यक्रम—वे कृतिकर्म

आवास—सि प ३/२३ दहसलपुमादीन रम्माण उवरि होति आवास। णागादीन बेसि तियणिलया भावमेयकमसुराण ॥२३॥ —रमणीय तालाम, पर्वत और वृक्षादिकके ऊपर स्थित व्यन्तर आदिक देवोंके निवास स्थानोंको आवास कहते हैं।

ति प ६/७ रयणप्पहपुदवीए भवणणि दीयउदहि उवरिम्मि। भवण पुराणि दहगिरिपुद्वीण उवरि आवास ॥७॥—रत्नप्रभा पृथिवीमें भवन, द्वीप समुद्रोंके ऊपर भवनपुर और द्रव एवं पर्वतादिकोंके ऊपर (व्यन्तरी) आवास होते हैं।

ध १४/६,६ ६३/८६/६ अउरम्म अतोद्वियो कच्छउउभंउर तोटिठयव-बत्तारममाणो आवासो णाम। ण्यवेकम्मि आवासे ताओ अरुत्तेज्ज-लोगमेत्ताओ होति। एयवेकम्मि पुलवियाए जसंखेज्जामेत्ताणि णिगोटसरीराणि। —जो अण्डरके भीतर स्थित हैं तथा कच्छउउ-अण्डरके भीतर स्थित वगैरारके समान हैं उन्हें आवास कहते हैं। एक एक आवासमें वे (पुनर्विय)—दे पुनर्वि) असंख्यात लोक प्रमाण होती हैं। तथा एक एक आवासकी अलग अलग एफ-एफ पुलविमें असंख्यात लोक प्रमाण शरीर होते हैं—(विशेष दे वनस्पति ३/७)

त्रि सा २६४ येत्तरणिलयतियाणि य भवणपुरावासभवणणामाणि। दीव समुद्वे दहगिरितरुल्लि चित्तावणिम्मि कमे ॥२६४॥—भवनपुर, आवास अर भवन ए वितरनिनयनिके तीन ही नाम हैं। तर्हो कर्म करि द्वीप समुद्रनिमिपे भवनपुर पाइए है। यहूति द्रव पर्वत वृक्ष इनमिपे आवास पाइए हैं यहूति चित्तापृथिवी विपे नीचे भवन पाइए है।

आवासक—वे आवश्यक

आविद्ध करण—पधनन्दि नं २ का अपरनाम—दे पधनन्दि न २

आविष्कार—(ध ६/प्र २७) Discovery, Invention

आवीचिका मरण—वे मरण १

आवृत्तकरण—स सा ४६७ अन्य प्रकृति रूप करके कर्मका नाश करना सो आवृत्तकरण है।

आवृष्ट—भरत क्षेत्र मध्य आर्य खण्डका एक देश—दे मनुष्य ४

आशसा—रा बा ७/३०/१/६६८/२३ आकाङ्क्षमभिलाप आशसैर्यु-चयते। —आकांक्षा अर्थात् अभिलाषाको आशसा कहते हैं।

आशय—औदारिक शरीरमें आशयोंका प्रमाण—दे औदारिक १/७

आशा—१—वे राग तथा अभिलाषा, २—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे लोक ६/१३।

आशाघर—१ प लालाराम कृत सागारधर्मावृतका प्राकथन। जैन हितैषी पत्रमें प्रकाशित ८ जोके परिचयके आधारपर 'आपका जन्म नागौरके पास सपादलस (सबा लाव) देशमें माण्डलगढ़ नगरमें वि १२३० में हुआ। बादशाह शाहजुबोइन वृत्त अर्याचारके भयसे आप देश छोड़कर वि. १२४६ में मालवा देशकी धारा नगरीमें जा बसे। उस समय वहाँके राजा विन्ध्यवर्माके मन्त्री विशहण थे। उन्होंने उनका बहुत सरकार किया। पीछे उनके पुत्र सुभट वर्माका राज्य होनेपर आप वहाँसे छोड़कर १० मील दूर नलगच्छ ग्राममें चले गये। आपके पिताका नाम सल्लखण (सलखण) और माताका नाम श्री रत्नी था। आपकी जाति बघेरवाल थी। धारा नगरीमें ५ महा-वीरसे आपने व्याकरणका ज्ञान प्राप्त किया और उच्च काटिके विद्वान् हो गये तथा ५ आशाधर नामसे प्रसिद्ध हुए। आपके अनेकों शिष्य हुए—१ प देवचन्द्र, २ मुनि वादीन्द्र ३ विशालकीर्ति ४ भट्टारक देवभद्र, ५ विनयभद्र, ६ मदनकीर्ति (उपाध्याय), ७ उदय-सैन मुनि। आप अनेकों विद्वानों व साधुओंके प्रशसा-पात्र हुए हैं—१ धारा नगरीके राजा विन्ध्यवर्माके मन्त्री विशहण, २ दिगम्बर मुनि उदयसेनने आपका बहुत-बहुत अभिनन्दन किया है और आपके शास्त्रोंको प्रमाण बताया है, ३ उपाध्याय मदनकीर्ति आदि इनके सभी शिष्योंने इनकी स्तुति की है। (अन घ /प्रशस्ति) समय—वि १२३०—१२०० (ई ११७३—१२४३) (प वि /प्र ३४/A N up) कृतियाँ—१ क्रिया कलाप (अमर कोश टीका-व्याकरण) सस्कृत,

२ व्यासप्रालङ्कार टोका (रुद्रट कृत काव्यालंकार टोका) सं, ३ प्रमेय रत्नाकर (न्याय) संस्कृत, ४ वाग्भट्ट संहिता (न्याय) संस्कृत, ५ भव्य कुमुदचन्द्रिका (न्याय) संस्कृत, ६ अध्यात्म रहस्य (अध्यात्म), ७ ईशानदेश टोका (अध्यात्म) संस्कृत, ८ ज्ञान दीपिका संस्कृत, ९ अष्टाद्वयदोषोक्त संस्कृत, १० अनंगार धर्ममृत (यस्याचार) संस्कृत, ११ मूलाराधना (भगवती आराधनाकी टोका) संस्कृत, १२ सांगार धर्ममृत (श्रावकाचार) संस्कृत, १३ भरतेश्वराम्युदय काव्य संस्कृत १४ त्रिषष्टि स्मृति शास्त्र संस्कृत, १५ राजमति विप्रलम्भ सटीक संस्कृत, १६ भूपाल चतुर्विंशतिका टोका संस्कृत, १७ जिनयज्ञ काव्य संस्कृत, १८ प्रतिष्ठा पाठ संस्कृत, १९ सहस्रनाम स्तव संस्कृत, २० रत्नत्रय विधान टोका संस्कृत। (ती ४/४१), (जै २/१२८)।

आशिष—घ ६/४, १, २०/५६/५ अविद्यमानस्यार्थस्य आशसनमाशो।

—अविद्यमान अर्थको इच्छाका नाम आशीष है।

आशीर्वाद—दे ऋद्धि ८/१।

आशीर्विष—अपर विदेहस्य वशार, व कृत व उसका रसक वेव।

—दे लोक ६/३।

आशीर्विष रस ऋद्धि—दे ऋद्धि ८

आश्चर्य—पद्मदमे स्थित एक कृत—दे लोक ६/१७।

आश्रम—प्र सा/ता वृ ६६ विशुद्धज्ञानदर्शनप्रधानाश्रमम्। —विशुद्ध ज्ञान व दर्शनकी प्रधानता रूप आश्रम अर्थात् ज्ञान दर्शनकी प्रधानता हो आश्रमका लक्षण है।

२ चतु आश्रम निर्देश

म पु १६/१६२ ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुक। इत्याश्रमास्तु जेनानामुत्तरोत्तरशुद्धिः ॥१६२॥ —ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये जैनियोंके चार आश्रम हैं जो कि उत्तरोत्तर विशुद्धिको प्राप्त होते हैं। (चा सा ४१/६ में उपासकाध्ययनसे उद्धृत) (सा घ ७/२०)

आश्रय—१ आश्रय आश्रयी भाव—दे सम्बन्ध, २ आत्माश्रय दाप—दे आत्माश्रय, ३ अन्योन्याश्रय दोष—दे अन्योन्याश्रय, ४ आश्रयासिद्धत्व हेत्वाभास—दे असिद्ध।

आश्लेषा—एक नक्षत्र—दे नक्षत्र।

आषाढ—विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे विद्याधर।

आसन—

१. आसनके भेद

ज्ञा २८/१० पर्यङ्कमर्धपर्यङ्क वज्र बीरासन तथा। सुखारविन्दपूर्व व कायोत्सर्गश्च सम्मत ॥१०॥ —पर्यङ्कासन, अर्द्धपर्यङ्कासन, वज्रासन बीरासन सुखासन, कमलासन, कायोत्सर्ग ये ध्यानके योग्य आसन माने गये हैं।

२ आसन विशेषके लक्षण

अन घ ८/२३ में उद्धृत 'जह्वाया जह्वाया शिलप्टे मध्यभागे प्रकीर्ति-सम्। पत्रासन' सुखाघाति सुसाध्य सकलेर्जनै। बुधैरुपयधोभागे जह्वायोरुभयोरपि। समस्तयो कृते ह्येयं पर्यङ्कासनमासनम् ॥२॥ उर्वोरुपरि निक्षेपे पादयोर्विहिते सति। बीरासन चिरं कर्तुं शक्य धीरैर्न कावरे ॥३॥ जह्वाया मध्यभागे तु सश्लेषो यत्र जह्वाया। पत्रासनमिति प्रोक्तं तदासनविचक्षणै। स्याज्जह्वायोरधोभागे पादोपरि कृते सति। पर्यङ्को नाभिगतानदक्षिणोत्तरपार्श्वक। वामो-त्रिदक्षिणोर्लुक्च वामोरुपरि दक्षिण। क्रियते यत्र तस्मिन्नीरौ चित्त बीरासनं स्मृतम् ॥१॥ —जघाका दूसरी जंघाके मध्य भागसे मिल जाने पर पत्रासन हुआ करता है। इस आसनमें बहुत सुख होता है, और समस्त लोक इसे बड़ी सुगमतासे धारण कर सकते हैं। दोनों जंघाओं

को आपसमें मिलाकर ऊपर नीचे रखनेसे पर्यङ्कासन कहते हैं। पैरों-को दोनों जंघाओंके ऊपर नीचे रखनेसे बीरासन होता है। वातर पुरुष इसे अधिक देर तक नहीं कर सकते, धीर वीर ही कर सकते हैं। (क्रि क १/६) किसी-किसीने इन आसनोंका स्वरूप इस प्रकार बताया है कि—जब एक जंघाका मध्य भाग दूसरी जघासे मिल जाये तब उस आसनको पत्रासन कहते हैं। दोनों पैरोंके ऊपर जघाओंके नीचेके भागको रखकर नाभिके नीचे ऊपरको हथेली करके ऊपर नीचे दोनों हाथोंको रखनेसे पर्यङ्कासन होता है। दक्षिण जघाके ऊपर वाम पैर और वाम जंघाके ऊपर दक्षिण पैर रखनेसे बीरासन बताया है जो कि धीर पुरुषोंके योग्य है।

बो पा/टी ६१ में उद्धृत "गुणकोत्तानकरागुष्ठरेखारोमालिनासिका। समदृष्टि समा कुर्यान्नातिस्तब्धो न वामन ॥"—दोनों पाँवके टखने ऊपरकी ओर करके अर्थात् दोनों पाँवको जघाओंपर रखकर उनके ऊपर दोनों हाथोंको ऊपर नीचे रखें ताकि हाथके दोनों अँगूठे दोनों टखनोंके ऊपर आ जायें। पैर व छातीकी रोमावली व नासिका एक सीधमें रहें। दोनों नेत्रोंकी दृष्टि भी नासिकापर पड़ती रहे। इस प्रकार सबको समान सीधमें करके सोधे बैठें। न अधिक अकड़ कर और न झुककर। (इसको सुखासन कहते हैं)।

* आसनोकी प्रयोग विधि—दे कृतिकर्म ३।

आसन्न भव्य—दे भव्य।

आसन्न मरण—दे मरण १

आसादन—सू आ ६४ पञ्च अर्थिकाया छज्जीवणिकाय महवया पच। पचयणमादु पदत्या तेतीसञ्चासणा भणिया ॥६४॥ —जीव आदि पाँच अस्तिकाय, पृथ्वीकायादि स्थावर व दो इन्द्रियसे पाँच इन्द्रिय तक प्रसकाय—इस तरह छह जीवणिकाय, अहिंसा आदि पाँच महा-व्रत, ईर्ष्या आदि पाँच समिति, व काय गुप्ति आदि तीन गुप्ति—ऐसे आठ प्रवचन माता और जीवादि नव पदार्थ—इस प्रकार ये तेतीस पदार्थ हैं। इनकी आसादनाके भी ये ही नाम हैं। इन पदार्थोंका स्वरूप अन्यथा कहना, शका आदि चरपन करना उसे आसादना कहते हैं। ऐसा करनेसे दोष लगता है इसलिए उसका त्याग कराना गया है।

स सि ६/१०/६२०/१३ कायेन वाचा च परप्रकाशास्य ज्ञानस्य वर्जनामा-सादनम्। —(कोई ज्ञानका प्रकाश कर रहा है) तब शरीर या वचनसे उसका निषेध करना आसादना है।

* उपघात और आसादनमें अन्तर—दे उपघात।

आसिका—दे समाचार।

आसुरी—म आ/मू १८३ अणुबधरोसविग्गहससत्तबो णिमित्तपिडि-सेवो। णिक्खिणिराणुतावी आसुरिय भावण होदि। —जिसका कोप अन्य भवमें भी गमन करनेवाला है, और कलह करना जिसका स्वभाव बन गया है वह मुनि रोप और कलहके साथ ही तप करता है ऐसे तपसे उसको असुरगतिकी प्राप्ति होती है।

मू आ ६८ खुदो कोही माणी मायो तह संक्खित्ठतव चरिते। अणु-बधमद्वेराई अमुरेसुव बज्जदे जीवो ॥६८॥ —दुष्ट, क्राधी, मानी, मायाचारी, तप तथा चारित्र पालनेमें बलेशित परिणामोंसे सहित और जिसने वैर करनेमें बहुत प्रीति की है ऐसा जीव आसुरी भावना से असुरजातिके अघोष नामा भवनावसी देवोंमें उत्पन्न होता है ॥६८॥

आस्तिक्य—गो जी/जी प्र ६६१ में उद्धृत 'आप्ते श्रुते तत्त्वचित्त-मस्तिवसंयुत। आस्तिक्यमास्तिकेरुक्त सम्यक्त्वेन युते नरे ॥२॥ —जो सम्यग्दृष्टि जीव, सर्वज्ञ देवविषय, व्रतविषय, शास्त्रविषय तत्त्वविषय 'ऐसे हो है' ऐसा अस्तित्व भाव करि संयुक्त चित्त हो है सो सम्यक्त्व सहित जीव विषय आस्तिक्य गुण है।

३५५ दो ३/४६/६८/७ आस्तिक्यं हि सवज्ञोत्तरागमनोत्त जोषादितर-
रुचिररूपमणम् । —सर्वज्ञ योत्तराग देव द्वारा प्रणीत जोषादिक तारको
में रुचि होनेको आस्तिक्य कहते हैं ।

५ ध/उ ४६२, ४६३ आस्तिक्य तत्परराद्वये स्वत सिद्धे निनिश्चयः ।
धर्म ऐतौ च धर्मस्य फले पादस्तरादि धर्मविष्य ॥४६०॥ स्वामागु-
भूतिमात्रं स्वादास्तिक्यं परमो गुणः । भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रं
(त्रे) परवत् ॥४६३॥ —स्वत सिद्ध नव तारकोके सदायमें तथा धर्ममें
धर्मके ऐतुमें और धर्मके फलमें जो निश्चय रखना है यह जोषादि
पदार्थोंमें अस्तित्व मुद्धि रखीयाना आस्तिक्य गुण है ॥४६२॥ केवल
स्वामानुभूति रूप आस्तिक्य परम गुण है, परद्रव्यमें पररूपपत्ते
ज्ञानमात्र जो स्वामानुभूति है वह हो व न हो ॥४६३॥

आत्म्याविषं ऋद्धि—वे ऋद्धि ७

आत्मव—जोषके द्वारा प्रतिक्षण मनसे बचनसे या कायसे जो बुर भी
शुभ या अशुभ प्रवृत्ति होती है उसे जोषका भावात्म्य कहते हैं । उसके
निमित्तसे कोई विशेष प्रकारकी जड़पुद्गल वर्णनारे आकर्षित होकर
उसके प्रवेशमें प्रवेश करती है जो प्रव्यास है । सर्व साधारणजनको
तो कयायवदा होनेके कारण यह आसव आगामी बन्धका कारण
पड़ता है, इसलिये साम्प्रदायिक कहलाता है, परन्तु बीतरागी जनको
बहु हृच्छासे निरपेक्ष कर्मवश होती है इसलिये आगामी बन्धका
कारण नहीं होता । और जानेके अनन्तर क्षणमें ही कड़ जानेसे ईर्ष्या-
पथ नाम पाता है ।

१. आसवके भेद व लक्षण

१. आसव सामान्यका लक्षण

त सु ६/१-२ कायबाह्यमन कर्मयोगः ॥१॥ स आसव ॥३॥ —काय, बचन,
व मनको क्रिया योग है ॥१॥ वही आसव ॥३॥

रा वा १/४/६ १६/२६ आसवमनेन आसवणमात्र वा आसव ॥६॥ पुण्य-
पापगमद्वारलक्षण आसव ॥१६॥ आसव इवास्त । क उपमाय ।
यथा महोदधे सलिलमापगामुत्तरहरहराभूयते तथा मिथ्यादर्शनादि-
द्वारानुप्रविष्टे कर्मभिरनिशमारमा समाभूयते इति । —जिससे कम
आवे सो आसव है, यह करण साधनसे लक्षण है । आसवण मात्र
अर्थात् कर्मका आना मात्र आसव है यह भावसाधन द्वारा लक्षण है ।
॥६॥ पुण्यपाप रूप कर्मके आगमनके द्वाराको आसव कहते हैं । जैसे
नदियके द्वारा समुद्र प्रतिदिन जलसे भर जाता है, वैसे ही मिथ्या-
दर्शनादि स्रोतोंमें आत्मामें कर्म आते हैं (रा वा ६/२/४६/६०६)

२. आसवके भेद प्रभेद

(न च वृ/मू आसव १६२)

द्रव्य भाव
(त सु ६/४), (स सि ६/४/३२०/८)
ईर्ष्यापथ साम्प्रदायिक

दृष्टि न

- १ इन्द्रिय, कपाय, अवत और २५ क्रिया रूप भेद
(त सु ६/६) (त सा ४/८)
- २ मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और योग
(मा अणु ४०) (स सा/मू १६४), गो क/मू ८८६
- ३ मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय और योग
(प्र सं/वृ मू ३०), (अन घ २/३०)
- ४ शुभ और अशुभ

(रा वा १/१४/३६/२६)
मन वचन काय

३ प्रव्यासयका लक्षण

न च वृ १६२ मद्रथार्थ निमित्त जाग उ पुगने पदेमथ परिमद
कर्मभायं तं निगु दव्यामय ॥३॥ १६२१ —अपने अपने निमित्त
रूप मोगका प्राप्त करने आत्म प्रदेदोमें निगु पुद्गल कर्म भाव स्वयं
परिमित हो जाती है, उसे प्रव्यासय कहते हैं ॥१६२॥

प्र ग/मू ३१ नागानरलोदोग आगं उ पुगण समासार्थ । दव्यामय
य मेधा अणयमेधो जिनव्यादा ॥३॥ १६२२ —नागानरलोदि कर्मों का योग
जा पुद्गल आता है उसमें प्रव्यासय आता पाता है । वह एक
भेदों वाला है, ऐसा जिनो देवों कहा है ॥१६२॥

४ भावात्म्यका लक्षण

प्र आ/वि ३८/१४/१० आगमने रयासव । आसवय, गत्यति आगतै
कर्मत्वपर्याप्तपुद्गलनाई कारणभूरीनामरति, मेन स परिण म आसव ।
—आत्मके जिस परिणाममें पुद्गल इत्या कर्म बनकर आगममें आता
है उस परिणामको (भावात्म्य) आसव कहते हैं । (प्र ग/मू २६)

प्र सं/टी २२ निरासवमन विनिन—पुमागुभपरिणामेन पुमागुमकर्म-
गमनमात्रम् । —आसव रहित निरासवमन, विनगल उ पुम
अशुभ परिणाम है, उसमें जो शुभ अशुभ कर्मका आगमन है सो
आसव है ।

५ साम्प्रदायिक आसवका लक्षण

त सु ६/४ मकपायययोगा सासवर्षा विर्गपयया ॥१॥ —कपाय सहित
य कपाय रहित आसवाय योग क्षममें साम्प्रदायिक और ईर्ष्यापथ
कर्मके आसव रूप है ।

स सि ६/४/३२१/१ सम्प्रगम संसार । सारगामन कर्म साम्प्रगमिकम् ।
—सम्प्रगम संसारका पर्यायवाची है । जो कर्म संसारका प्रयोजक है
वह साम्प्रदायिक है ।

ग वा ६/४/२-७/६०८ कर्मणि मगमतादात्मन पराभबोद्धिभय सम्प्र-
राय द्रपुचयते ॥२॥ सारगोजन कर्म साम्प्रदायिकमिदमुच्यते मया
ऐममहिमिति ॥३॥ मिथ्यादर्शनादीनां गुणसाम्प्रदाय गतां
कषाभोदगपितिरित्यनगरिगमानां गगनगानोत्त कर्म भावेनोपदिश्य
मान आर्द्रचर्मिहित रेणुवत् रातिमापयमाता साम्प्रदायिकमिदमुच्यते ।
—कर्मों द्वारा चाहे जोसे तरुवत् अमिषव हा साम्प्रदाय
है ॥२॥ इस साम्प्रदायिक निण जो आसव होता है वह साम्प्रदायिक
आसव है ॥३॥ मिथ्यादर्शने नेकर सुहम साम्प्रदाय दशमें पु-
नराव कपायका चेतनेसे मोगके द्वारा आये हुए कर्म गोले चमड़ेव
धुनकी तरह चिपक जाते हैं । अर्थात् उनमें स्थिति बन्ध हो जाता
है । यही साम्प्रदायिकासव है ।

* ईर्ष्यापथ आसवका लक्षण — ईर्ष्यापथ कर्म ।

६ शुभ अशुभ मानसिक वाचनिक व काविक आसवोंके
लक्षण

रा वा १/०/१४/३६/२६ तत्र कायिको हिंसादृष्टस्तयोपपत्तादिषु प्रवृत्ति-
निवृत्तिसङ्ग । वाचिक परुषाक्रोशविशुनपरोपघातादिषु बचसु
प्रवृत्तिनिवृत्तिसङ्ग । मानसो मिथ्याभूत्यभिधातेर्यामृयादिषु मनस
प्रवृत्तिनिवृत्तिसङ्ग । —हिंसा, अस्तरण, चोरी, कुदोल आदिमें प्रवृत्ति
अशुभ कायात्म्य है । तथा निवृत्ति शुभ कायात्म्य है । कठोर गाली
पुगली आदि रूपसे परमाधक बचनको प्रवृत्ति वाचनिक अशुभात्म्य
है और इनसे निवृत्ति वाचनिक शुभात्म्य है । मिथ्याभूति ईर्ष्या
माहस्य पद्वय आदि रूपसे मन्की प्रवृत्ति मानस अशुभात्म्य है
और निवृत्ति मानस शुभात्म्य है ।

आस्रव निर्देश

१. अगृहीत पुद्गलोंका आस्रव कम होता है और गृहीत का अधिक

ध ४/१.४.४/३३१/४ जे णोक्कम्मपज्जण्ण परिणमिय अकम्मभाव गतुण तेण अकम्मभावेण जे थोवकालमच्छिदा ते बहुवारमागच्छति, अविणट्ठ चउत्विहपाओग्गादो । जे पुण अप्पिदपोग्गलपरियट्ठम्भतरे ण गहिदा ते चिरेण आगच्छति, अकम्मभाव गतुण तरथ चिरकालवट्ठाणेण विणट्ठचउत्विहपाओग्गादो । = जो पुद्गल नोक्कर्म पर्याय से परिणमित होकर पुन अकर्म भावको प्राप्त हा, उस अकर्म भावसे अल्पकाल तक रहते हैं, वे पुद्गल तो बहुत बार आते हैं, क्योंकि उनकी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप चार प्रकारकी योग्यता नष्ट नहीं होती है। किन्तु जो पुद्गल विवक्षित पुद्गल परिवर्तनके भीतर नहीं ग्रहण किये गये हैं, वे चिरकालके बाद आते हैं। क्योंकि, अकर्म भावको प्राप्त होकर उस अवस्थामें चिरकाल तक रहनेसे द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव रूप संस्कारका विनाश हो जाता है।

२ आस्रवमें तरतमताका कारण

त सु ६/६ तीव्रमन्दज्ञाज्ञातभावधिकरणवीर्यविशेष्यस्तद्विशेष । = तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्य विशेषके भेदसे उसकी अर्थात् आस्रवकी विशेषता होती है।

३ योगद्वारको आस्रव कहनेका कारण

स ति ६/२/३१६/६ यथा सरस्सलिलावाहिद्वार तदास्रवकारणत्वात् आस्रव इत्याख्यायते तथा योगप्रणालिकया आरमन कर्म आस्रवतीति योग आस्रव इति व्यपदेशमर्थति । = जिस प्रकार तालाबमें जल लाने का दरवाजा जलक आनेका कारण होनेसे आस्रव कहलाता है उसी प्रकार आरमने बँधनेके लिए कर्म यागरूपी नालीके द्वारा आते हैं इसलिए योग आस्रव सज्ञाको प्राप्त होता है।

४. विसृतोपचय ही कर्म रूपसे परिणत होते हैं, फिर भी कर्मोंका आना क्यों कहते हो

भ आ /वि ३८/१३४/११ ननु कर्मपुद्गलानां नान्यत् आगमनमस्ति यमाकाशप्रदेशमाश्रित आरमा तत्रैवावस्थिता पुद्गला अनन्तप्रवेशिन कर्मपर्याय भजन्ते । तत् किमुच्यते आगच्छतीति । न दोष । आगच्छन्ति ढौकन्ते ज्ञानावरणादिपर्यायामित्येव ग्रहीतव्यं । = प्रश्न—कर्मोंका अन्य स्थानसे आगमन नहीं होता है, जिस आकाश प्रदेशमें आरमा है उसी आकाश प्रदेशमें अनन्तप्रदेशी पुद्गल द्रव्य भी है, और वह कर्म स्वरूप बन जाता है। इसलिए "पुद्गल द्रव्य आरमामें आते हैं" आप ऐसा क्यों कहते हो। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है। यहाँ "पुद्गल द्रव्य आता है" इसका अभिप्राय "ज्ञानावरणादि पर्याय को प्राप्त होता है" ऐसा समझना। देशान्तरसे आकर पुद्गल कर्मवस्थाको धारण करते हैं ऐसा अभिप्राय नहीं है।

५. आस्रवसे निवृत्त होनेका उपाय

मू आ २४१ मिच्छात्तिरिदोहिं य कसायजोहेहिं णं च आस्रवदि । दंसण विरमणणिम्मह गिरोधेहिं तु णास्रवदि ॥२४१॥ = मिथ्यास्र, अविरति, कपाय और योगोंसे जो कर्म आते हैं वे कर्म सम्यग्दर्शन विरति, क्षमादिभाव और योग निरोधसे नहीं आने पाते—रुक जाते हैं।

स सा /मू ७३ ७४ अहमिको खलु सुद्धो णिम्मओ णाणदसणसमग्गो । तस्मिं ठिओ तच्चित्तो सव्वे एए खय पेमि ॥७३॥ जीवणिमद्दा एए अयुव अणिग्गा तहा असरणा य । धुक्खा दुक्खफलात्ति य णादूण णिवत्त एतेहिं ॥७४॥

स सा /आ ७४ यथा यथा विज्ञानस्वभावो भवतीति । तावद्विज्ञानघनस्वभावो भवति यावरसम्यग्गस्रवेभ्यो निवर्त्तते । इति ज्ञानास्रवनिवृत्त्यो समकालत्व । = प्रश्न—आस्रवोंसे किस प्रकार निवृत्ति होती है। उत्तर—ज्ञानी विचारता है कि मैं निश्चयसे पृथक् हूँ, शुद्ध हूँ, ममता रहित हूँ, ज्ञान दर्शनसे पूर्ण हूँ, ऐसे स्वभावमें स्थित उसी चेतन्य अनुभवमें लीन हुआ मैं इन क्लृप्तादि समस्त आस्रवोंको क्षय कर देता हूँ ॥७३॥ ये आस्रव जीवके साथ निमज्ज हैं, अध व हैं, और अनिरय हैं, तथा अशरण हैं, दुःखरूप हैं, और जिनका फल दुःख ही है ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष उनसे निवृत्ति करता है ॥७४॥ जैसा जैसा आस्रवोंसे निवृत्त होता जाता है, वैसा वैसा विज्ञान घनस्वभाव होता जाता है। उतना विज्ञान घनस्वभाव होता है, जितना आस्रवोंसे सम्यक् निवृत्त हुआ है। इस प्रकार ज्ञान और आस्रवकी निवृत्तिके समकालता है।

भाषाकार—प्रश्न—आरमा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है' अर्थात् क्या। उत्तर—आरमा ज्ञानमें स्थिर होता जाता है।

६. आस्रव व बन्धमें अन्तर

प्र सं /टी ३३/६४ आस्रवे बन्धे च मिथ्यात्वाविरत्यादि कारणानि समानानि को विशेष । इति चेत, नैव, प्रथमक्षणे कर्मस्कन्धानामागमनमास्रव, आगमनान्तर द्वितीयक्षणार्थी जीवप्रदेशेष्ववस्थान बन्ध इति भेद । = प्रश्न—आस्रव बन्ध होनेके मिथ्यात्व, अविरति आदि कारण समान हैं इसलिए आस्रव व बन्धमें क्या भेद है। उत्तर—यह शका ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम क्षणमें जो कर्म स्कन्धोंका आगमन है, वह तो आस्रव है और कर्मस्कन्धोंके आगमनके पीछे द्वितीय क्षणमें जो उन कर्म स्कन्धोंका जीव प्रवेशोंमें स्थित होना सो बन्ध है। यह भेद आस्रव और बन्धमें है।

७. आस्रव व बन्ध दोनों युगपत् होते हैं

त सु ८/२ 'सकपायस्वाज्जीव कर्मणो योग्यापुद्गलानादत्ते स बन्ध ।' = कपाय सहित होनेसे जीव कर्मके योग्य जो पुद्गलोंको ग्रहण करता है वह आस्रव है। (और भी वे साम्प्रदायिक आस्रवका लक्षण)।

= अन्य सम्बन्धित विषय

* आठ कर्मोंके आस्रव योग्य परिणाम—दे वह वह नाम

* पुण्यपापका आस्रव तत्त्वमें अन्तर्भाव—दे तरव २

* कपाय अन्न व क्रियारूप आस्रवोंमें अन्तर—दे क्रिया

* व्यवहार व निश्चय धर्ममें आस्रव व सवर सम्बन्धी चर्चा—दे संवर २

* ज्ञानी-अज्ञानीके आस्रव तत्त्वके कर्तृत्वमें अन्तर

—दे मिथ्यादि ४

आस्रवानुप्रेक्षा—दे अनुप्रेक्षा

आहवनीय अग्नि—दे अग्नि

आहार—आहार अनेकों प्रकारका होता है। एक तो सर्व जगत् प्रसिद्ध मुख द्वारा किया जानेवाला खाने-पीने का चाटनेकी वस्तुओंका है। उसे कषलाहार कहते हैं। जीवके परिणामों द्वारा प्रतियोग कर्म वर्गणाओंका ग्रहण कर्महार है। बायुमण्डलसे प्रतियोग स्वत प्राप्त वर्गणाओंका ग्रहण नोक्कर्महार है। गभस्थ बालक द्वारा ग्रहण किया गया माताका रज्जा भी उसका आहार है। पक्षी अपने अण्डोंको सेते हैं वह ऊष्माहार है—इत्यादि। साधुजन इन्द्रियोंको वशमें रखनेके लिए दिनमें एक बार, स्वदे होकर, यथास्थ, गृद्धि व रस निरपेक्ष, तथा पुष्टिहीन आहार सेते हैं।

I आहार सामान्य

१ भेद व लक्षण

- १ आहार सामान्यका लक्षण
- २ आहार के भेद प्रभेद
- ३ नोकर्माहार व क्यलाहारके लक्षण
- * खाद्यस्वाद्यादि आहार —दे यह वह नाम
- * पानक व काजी आदिके लक्षण —दे यह वह नाम
- * निर्विकृति आहार का लक्षण —दे निर्विकृति

२ भोजन शुद्धि

- १ भोजन शुद्धि सामान्य
- * भक्ष्याभक्ष्य विचार, जलगालन, रात्रि भोजन त्याग अन्तराय —दे यह वह नाम
- २ अन्न शोधन विधि
- ३ आहार शुद्धिका लक्षण
- * चौकेके बाहरसे लाये गये आहारकी ग्राह्यता —दे आहार II/१
- * मन, वचन, काय आदि शुद्धियाँ —दे शुद्धि

३ आहार व आहार कालका प्रमाण

- १ कर्म भूमिया स्त्री, पुरुषका उत्कृष्ट आहार
- २ आहारके प्रमाण सम्बन्धी सामान्य नियम
- * भोग भूमियाके आहारका प्रमाण —दे भूमि
- ३ भोजन मौनपूर्वक करना चाहिए

II आहार (साधुचर्या)

१ साधुकी भोजन ग्रहण विधि

- * भिक्षा विधि —दे भिक्षा
- १ दिनमें एकवार खड़े होकर भिक्षावृत्तिसे व पाणि पात्रमें लेते हैं
- २ भोजन करते समय खड़े होने की विधि व विवेक
- ३ खड़े होकर भोजन करनेका तात्पर्य
- ४ नवधा भक्ति पूर्वक लेते हैं
- * नवधा भक्ति —दे भक्ति ३
- * योग्यायोग्य घर व कुलादि —दे भिक्षा ३
- ५ एक चौकेमें एक साथ अनेक साधु भोजन कर सकते हैं
- ६ चौकेसे बाहरका लाया आहार भी कर लेते हैं
- ७ पत्तिचट्ट सात घरोंसे लाया आहार ले लेते हैं पर अन्यथा नहीं
- * क्षपकको माँगकर लाया गया आहार ग्राह्य है —दे सखेलखना ४

२ साधुके योग्य ओहार शुद्धि

- १ छियालीस दोषोमे रहित लेते हैं
- २ अघ कर्मादि दोषोमे रहित लेते हैं
- ३ अघ कर्मादि दोषोका नियम केवल प्रथम व अन्तिम तीर्थमें ही हैं
- * परिस्थिति वय नौकोटि शुद्धकी वजाय पाँच फोटि शुद्धका भी ग्रहण —दे उपवाद १
- * दातार योग्य आहार शुद्धि —दे शुद्धि
- ४ योग मात्रा व प्रमाणमें लेते हैं
- ५ यथालब्ध व रम निरपेक्ष लेते हैं
- ६ पोटिक भोजन नहीं लेते हैं
- * भक्ष्याभक्ष्य मध्वन्धी विचार —दे भक्ष्याभक्ष्य
- ७ गृद्धता या स्वच्छन्दता सहित नहीं लेते
- ८ दातार पर भार न पड़े इस प्रकार लेते हैं
- ९ भाव सहित दिया व लिया गया आहार ही वास्तवमें शुद्ध है

३ आहार व आहार कालका प्रमाण

- १ स्वस्य साधुके आहारका प्रमाण
- २ साधुके आहार ग्रहण करनेके कालकी मर्यादा
- * साधुके आहार ग्रहणका काल —दे भिक्षा १ व रात्रि भोजन १

४ आहारके ४६ दोष

- १ छियालीस दोषोका नाम निर्देश
- २ चौदह मल दोष
- ३ सात विशेष दोष
- * उद्देशिक व अघ कर्म दोष —दे यह वह नाम
- ४ छियालीस दोषो के लक्षण ।
- * आहारके अतिचार —दे अतिचार
- * आहार सम्बन्धी अन्तराय —दे अन्तराय २
- * आहार छोड़ने योग्य व अन्यथा उठ कर चले जाने योग्य अवसर —दे अन्तराय २

५ दातार सम्बन्धी विचार

- १ दातारके गुण व दोष
- २ दान देने योग्य अवस्थाएँ विशेष
- ६ भोजन ग्रहण करनेके कारण व प्रयोजन
- १ समय रक्षार्थ करते हैं शरीर रक्षार्थ नहीं
- २ शरीरके रक्षणार्थ भी कयचित् ग्रहण
- ३ शरीरके रक्षणार्थ ओषध आदिकी भी इच्छा नहीं
- ४ शरीर व समयार्थ ग्रहणका समन्वय
- * केवलीको कवलाहारका निषेध —दे केवली ४

I आहार सामान्य

१. भेद व लक्षण

१ आहार सामान्यका लक्षण

स सि २/३०/१८६/६ प्रयाणां शरीराणां पण्णां पर्याप्तिना योग्यपुद्गल-ग्रहणमाहार । —तोम शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंके ग्रहण करनेको आहार कहते हैं । (रा वा २/३०/४/१४०), (घ, १/१, १, ४/१५२/७)

रा वा ६/७/११/६०४/१६ उपभोगशरीरमायोग्यपुद्गलग्रहणमाहार तत्राहार शरीरनामोदयाव विग्रहगतिनामोदयाभावाच्च भवति । —उपभोग्य शरीरके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण आहार है । वह आहार शरीर नामकर्मके उदय तथा विग्रह गति नामके उदयके अभावसे होता है ।

२ आहारके भेद-प्रभेद

नोट—आगममें चार प्रकारसे आहारके भेदोंका उल्लेख मिलता है ।
उन्हींकी अपेक्षासे नीचे सूची दी जाती है ।

आहार			
कर्महारादि	खाद्यादि	कांजीआदि	पानकादि
१	२	३	४
कर्महार	अशन	कांजी	स्वच्छ
नोकर्महार	पान	आंबली या	बहुल
कबलाहार	भक्ष्य या खाद्य	आचाम्ल	लेबड़
लेप्याहार	लेह्य	मेलङ्गी	अलेषड़
ओजाहार	स्वाद्य	एकलटाना	ससिन्ध
मानसाहार			असिन्ध

उपरोक्त सूचीके प्रमाण

- १ (घ १/१, १, ४/४०६/१०) (नि सा /ता वृ ६३ में उद्धृत) (प सा /ता वृ २० में उद्धृत प्रसेक गाथा न २) (स सा /ता वृ ४०६)
२ (घ आ ६०६) (रा वा ७/२१/८/४८८/८), (अन घ ७/१३/६६७), (ला सं २/१६-१७)
३ (वत विधान सग्रह पृ २६)
४ (भ आ /मृ ७००), (सा घ ८/६६)

३ नोकर्महार व कवलाहारका लक्षण

नो पा /टी ३४ समय समयं प्रत्यन्ता परमाणवोऽनन्यजनासाधारणा शरीरस्थितिहेतव पुण्यरूपा शरीरे सम्बन्धं यान्ति नोकर्मरूपा अर्हन्त आहार उच्यते न रिषतरमनुष्यवद्भगवति कबलाहारो भवति । —अन्य जनको असाधारण ऐसे शरीरकी स्थितिसे हेतु भूत तथा पुण्यरूप अनन्ते परमाणु समय-समय प्रति अर्हन्त भगवात्के शरीरसे सम्बन्ध-को प्राप्त होते हैं । ऐसा नोकर्म रूप आहार ही भगवात्का कहा गया है । इतर मनुष्योंको भीति कबलाहार भगवात्को नहीं होता ।

२. भोजन शुद्धि

१ भोजन शुद्धि सामान्य

भोजन शुद्धिके चार प्रमुख अंग हैं—मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि व आहार शुद्धि । इनमेंसे आहार शुद्धिके भी चार अंग हैं—द्रव्य शुद्धि, सेवशुद्धि, कालशुद्धि व भाव शुद्धि । इनमेंसे भाव शुद्धि मन शुद्धिमें गमिष्ठ हो जाती है । इस प्रकार भोजन शुद्धिके प्रकरणमें ६ बातें व्याख्यात हैं—मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, सेवशुद्धि व कालशुद्धि ।

२ अन्न शोधन विधि

श्रा स २/१६-३२ विद्ध प्रसाश्रित यावद्वर्जयेत्तभक्ष्यवत् । शतश शोधितं चापि सावधानेन गार्हपि ॥१६॥ सदिग्धं च यदन्नादि श्रित वा नाश्रित प्रसै । मन शुद्धिप्रसिद्धयर्थं श्रावक कापि नाहरेत् ॥२०॥ अविद्धमपि निर्दोषं योग्य चानाश्रिते प्रसै । आचरेच्छ्रावक सम्य-ग्दण्ड नाहृष्टमीक्षणे ॥२१॥ ननु शुद्ध यदन्नादि कृतशोधनयानया । मैवं प्रमाददोषत्वारक्षमपस्यास्तवो भवेत् ॥२२॥ गालित दृढवस्त्रेण सर्पिस्तैल पयो द्वयम् । तोयं जिनागाम्नायादाहरेत्स न चान्यथा ॥२३॥ अन्यथा दोष एव स्यान्मासाठीचारसङ्गक । अस्ति तत्र प्रसा-दोनां मृतस्याक्षस्य शेषता ॥२४॥ दुरवधानता मोहात्प्रमादाद्वापि शोधितम् । दुःशोधितं तदेव स्याद्दृष्टेयं चाशोधितं यथा ॥२५॥ तस्मा-त्सद्वन्तरक्षार्थं पलदोषनिवृत्तये । आत्मदग्निं स्वहृत्तैश्च सम्यगन्नादि शोधयेत् ॥२६॥ यथारमार्थं सुवर्णादिप्रियाथार्थं सम्यगीभयेत् । व्रतवानपि गृहीयादाहारं सुनिरीक्षितम् ॥२७॥ रुध्मेणानभिज्ञेन साभिज्ञेन विधर्मिणा । शोधितं पाचितं चापि नाहरेद् व्रतगृहक ॥२८॥ ननु केनापि स्वीयेन सधर्मेण विधर्मिणा । शोधितं पाचितं भोज्यं मुज्ञेन स्पष्टचक्षुष ॥२९॥ मैवं यथोदितस्याश्चैविद्यासो व्रतहानये । अनार्य-स्याप्यनार्द्रस्य संयमे नाधिकारता ॥३०॥ चलितत्वारसीम्नश्चैव नून भाविन्नतक्षति । शैथिल्याद्वीर्यमानस्य संयमस्य कुत स्थिति ॥३१॥ शोधितस्य चिरात्तस्य न कुर्यात् ग्रहणं कृत्वा । कालस्यातिक्रमाद् भूयो दृष्टिप्लुत समाचरेत् ॥३२॥ —(केवल भावार्थ) घुने हुए वा भीधे अन्नमें भी अनेक प्रस जीव होते हैं, सैकड़ों धार शोधा जाये तो भी उसमें-से जीव निकलने असम्भव हैं । इसलिए वह अभक्ष्य है । जिसमें प्रस जीवका सन्देह हो कि इसमें जीव हैं या नहीं' ऐसे अन्नका भी त्याग कर देना चाहिए । जो अन्नादि पदार्थ घुने हुए नहीं हैं, जिनमें प्रस जीव नहीं हैं, ऐसे पदार्थ अच्छी तरह देख शोधकर काममें लाने चाहिए । शोधा हुआ अन्न, यदि मनकी असावधानीसे शोधा गया है, होशहवाश रहित अवस्थामें शोधा गया है, प्रमाद पूर्वक शोधा गया है तो वह अन्न दुःशोधित कहलाता है । ऐसे अन्नको पुन अपने हाथसे अच्छी तरह शोध लेना चाहिए । शोधनकी विधिका अज्ञान-कार साधर्म्य, अथवा शोधन विधिके जानकारी विधर्मिके द्वारा शोधा गया अन्न कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो पुरुष अनार्य है अथवा निर्दय है, उसको समयके काममें संयमकी रक्षा करनेमें कोई अधिकार नहीं है । जिस अन्नको शोधे हुए बहुत काल व्यतीत हो गया है, अथवा उनकी मर्यादासे अधिक काल हो गया है, ऐसे अन्नादिको पुन अच्छी तरह शोधकर काममें लेना चाहिए । ताकि हिंसाका अतिचार न लगे ।

३ आहार शुद्धिका लक्षण

वसु आ २३१ चउदसमत्परिमुद्ध ज दाण सोहिऊण जण्णाए । सज-मिजणस्स दिज्जइ सा णेया एसणासुद्धी ॥२३॥ —चौदह मल दोषोंसे रहित, यतनसे शोधकर समयो जनको आहार दान दिया जाता है, वह एवणा शुद्धि जानना चाहिए ।

३ आहार व आहार कालका प्रमाण

१ कर्म भूमिया स्त्री पुरुषका उत्कृष्ट आहार

भ आ /मृ २११ बत्तीस किर कवला आहारो कुशिवपूरणो होइ । पुरि-सस्स महिलियाए अट्ठावीस हवे कवला ॥२१॥ —पुरुषके आहारका प्रमाण बत्तीस प्रास है, इतने प्रासोंसे पुरुषका पेट पूर्ण भरता है । स्त्रियोंके आहारका प्रमाण अट्ठाईस प्रास है । (घ १३/५ ४, २६/७/५६) ह पु ११/१२५ सहस्रसिन्ध कवल्लो द्वाविंशत तेऽपि चक्रिण । एकदासौ सुभद्राया, एकोऽन्येणां तु तृत्ये ॥२२॥ —एक हजार चावलोंका एक कवल होता है ऐसे बत्तीस कवल प्रमाण चक्रवर्तीका आहार था, सुभद्राका आहार एक कवल था और वह एक कवल समस्त लोगोंकी तुष्टिके लिए पर्याप्त था ।

आचार सार १/४६ एकद्विप्रिमुहूर्त स्यादेकमक्त दिने मुने ॥४६॥
—एक दो व तीन मुहूर्त तक एकाच दिनके समय मुनि आहार सेवे ।

अनघ ६/६४ । चतुरश्रुलान्तरसमक्रम ॥६४॥ जिस समय क्षुपि
अनगार भोजन करे उसी समय उनको अपने दोनों पैर उनमें चार
अंगुलका अन्तर रखकर सप्रूप से स्थापित करने चाहिए ।

अन घ ६/६३ यावत्स्वी पृथीकृत्य भोवत्सुमुद्र समेद्धम्सु । तामन्नै-
वान्यथेरयागुत्संयमायं स्थिताज्ञानम् ॥६३॥ — जब तक खड़े होकर और
अपने हाथको जोड़कर या उनका ही पात्र बनाकर उन्हींके द्वारा
भोजन करनेकी सामर्थ्य रखता हूँ, सभी तक भोजन करनेमें प्रवृत्ति
करूँगा, अन्यथा नहीं । इस प्रतिज्ञाका निर्वाह और इन्द्रिय-संयम
तथा प्राणि संयम साधन करनेके लिए मुनियोंको खड़े होकर भोजन
का विधान किया है ।

श्रुत्वा ४८२ । विहिंसु दिण्ण ॥४८२॥=विधिमे अर्थात् नवधा भक्ति दाताके मात गुण सहित क्रियासे दिया गया हो । (ऐसा भोजन साधु ग्रहण करें ।)

५ एक चौकमें एक साथ अनेक सावु भोजन कर सकते हैं
 यो सा अ ८/१४ निष्ठ पाणिनितोऽन्यस्मै दातु योग्यो न युज्यते ।
 दीयते चेन्न भोक्तव्यं भुङ्क्ते चेच्छेदभायसि १४१॥—आहार देते समय
 गृहस्थको चाहिए कि वह जिस मुनिको देनेके लिए हाथमें आहार ले
 उसे उसी मुनिको दे अन्य मुनिको देना योग्य नहीं यदि कदाचित्
 अन्यको भी दे दिया जायें तो मुनिको खाना न चाहिए क्योंकि
 यदि मुनि उसे खा लेगा तो वह क्षेद प्रायश्चित्तका प्राणी गिना
 जायेगा १४१॥

अनेक गृह भोजी कुशलक अनेक घरोंमें से अपने पात्रमें भोजन लाकर, अन्य किसी ग्राहकके घर जहाँ पानी मिल जाये वहाँ पर गृहस्थकी

सा ध ४/१४ ३६ गृह्यै हृद्गाराविसर्गा. संमलेश च पुरोऽनृ च । सुच-
म्यौनमदन्कुर्यति तप सयमवृ हणम् ॥३४॥ अभिमानावनेगृहिरो-
द्याद्वर्धयते तप । मौन तनोति श्रेयश्च श्रुतप्रप्रयतायनात् ॥३५॥
नखाने योयि पदार्थकी प्राप्तिके लिए अथवा भोजन विषयक इच्छा-
को प्रगट करनेके लिए हृद्गारना और लसकारना आदि इशारोंको
तथा भोजनक पीछे संमलेशका छोड़ना हुआ, भोजन करनेवाला वृत्ती
श्रावक तप और संयमको बढ़ानेवाले मौनको करे ॥३४॥ मौन स्वाभि-
मानकी अयाचकस्वरूप व्रतकी रक्षा होनेपर तथा भोजन विषयक
लोलुपताक निरोधके तपकी बढ़ावा है और श्रुतज्ञानकी विनयके
सम्बन्धसे प्रयुक्त बढ़ावा है ।

मू या ३५.१११.६३७ उदयरथमणे काले णालोत्तिययज्जियमिह्मज्जम्हि ।
 एकम्हि दुव तिए वा मुहुत्तकानेयमत्त तु ३५ । ' भुंजति पाणिपत्ते
 परेव दत्त परपरम्मि ॥११॥ जोगे मूजोणो भिमखाचरियि च
 णणियि उदये । अणे य पुणे जोमा विष्णुपाणिवीरणहि कया ॥६३७॥
 -मूर्यके सत्ते और अस्तास्तक्यो तीन घड़ी धोइकर वा. मय्यकाल-

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

भक्ति मुनिको आहार देकर पीछे स्वयं करता है।—दे शुक्लक १ तथा सखलेखना गत साधुको कदाचित् क्षुधाकी वेदना बढ़ जानेपर गृहस्थोंके घरसे मगाकर आहार जिमा दिया जाता है।—दे सखलेखना ५। उपरोक्त विषय परसे सिद्ध होता है कि साधु कदाचित् चौकेसे बाहरका भी आहार ग्रहण कर लेते हैं।

जम्बू स्वामो चरित्र १६३ प्रासुक शुद्धमाहारं कृतकारितवर्जित। आदत्त भिक्षयानोत्तं मित्रेण दृढधर्मणा ॥१६३॥—दृढधर्म नामके मित्र द्वारा भिक्षासे लाया हुआ, कृत कारित, दोषोंसे वर्जित शुद्ध प्रासुक आहार विरक्त शिवकुमार (श्रावक) घर बैठकर कर लेता था।

७ पक्त्वद्ध सात घरोंसे लाया हुआ आहार ले लेते हैं पर अन्यत्रका नहीं

यू आ ४३८-४४० वेसत्तिय सञ्चत्तियदुविह पुण अभिहट्ठ वियाणाहि। आचिण्णमणाचिण्णदेसाविहट्ठ हवे दुविह ॥४३८॥ उज्जु तिहि सत्तहि वा घरेहि जदि आगद द्दु आचिण्ण। परदो वा तेहि भवे तत्त्विवरीदं अणाचिण्ण ॥४३८॥ सव्वाभिघट्ट चतुधा समपरगमे सवेसपरदेसे। पुत्रपरपाठययठ पढम ससपि गाणव्वं ॥४४०॥—अभिघट्ट दोषके दो भेद हैं—एक देश व सर्व। देशाभिघट्टके दो भेद हैं—आचिन्न व अनाचिन्न ॥४३८॥ पक्ति मद्ध सोधे तीन अथवा सात घरोंसे लाया भान आदि अन्न आचिन्न अर्थात् ग्रहण करने योग्य है। और इससे उल्टे—सोधे घर न हों ऐसे सात घरोंसे भी लाया अन्न अथवा आठवाँ आदि घरसे आया अदनादि भोजन अनाचिन्न अर्थात् ग्रहण करने योग्य नहीं है। सर्वाभिघट्ट दोषके चार भेद हैं—स्वग्राम, परग्राम, स्वदेश परदेश। पूर्व दिशाके मोहल्लेसे पश्चिम दिशाके मोहल्लेमें भोजन से जाना स्वग्रामाभिघट्ट दोष है।

२ साधु के योग्य आहार शुद्धि

१ छियालीस दोषों से रहित लेते हैं

यू आ ४२१, ४८२ ४८३, ८९२ उग्गम उप्पादण एसण च सज्जोणं पमाणं च। गालधूमकारण अट्ठविहा पिड्ढसुद्धो ॥४२१॥ णवकोटोपरिमुद्ध असण मादालदोसपरिहीणं। सज्जोणयाहीणं पमाणसहिं विहिंसु दिण्ण ॥४८२॥ विगदिगाल विधुम छक्कारणसंजुद्ध कमविमुद्ध। जत्तासाधणमत्त चोद्धसमलवज्जिदं भजे ॥४८३॥ उद्देशिय कोदयहं अण्णादं सकिदं अभिहट्ठं च। सुत्तप्पडिक्कुणाणि पठिसिद्धं तं विवज्जेति ॥८९२॥—उद्गम उप्पादन, अशन, संयोजन प्रमाण, अणार, धूम कारण—इन आठ दोषों कर रहित जो भोजन लेना वह आठ प्रकारकी पिड्डशुद्धि कही है ॥४२१॥ ऐसे आहारको लेना चाहिए—जो नवकोटि अर्थात् मन, बचन, काय, कृत, कारित अनुमोदनासे शुद्ध हो, ग्यालीस दोषों कर रहित हो मात्रा प्रमाण हो, संयोजना दोषसे रहित हो, बिधिसे अर्थात् नवधा भक्ति दाताके सात गुणसहित क्रियासे बिया गया हो। अणार दोष, धूमदोष इन दोनोंसे रहित हो छह कारणोंसे सहित हो, क्रम विमुद्ध हो, प्राणोंके धारणके लिए हो, अथवा मोक्ष यात्राके साधनेके लिए हो, चौदह मलोंसे रहित हो, ऐसा भोजन साधु ग्रहण करें ॥४८२ ४८३॥ (यू आ ८९२) और्वे-शिक क्रोत्तर, अक्षात, शक्ति, अन्यस्थानसे आया सूत्रसे विरुद्ध और सूत्रसे निषिद्ध ऐसे आहारको मुनि त्याग देते हैं।

भा पा /यू १०१ छायासदोस दूसियमसणं गसिच अमुद्धभावेण। पत्तोसि महावसण तिरियगईए अणप्पवमो ॥१०१॥—हे मुने! तँ अशुद्ध भाव-करि छियालीस दोष करि दूषित अशुद्ध अशन कहिए आहार ग्रहणा लाया ताकारण करि तिरियग गति विषे पराधीन भया सता महान् बड़ा अप्रसन्न कहिए कष्ट ताकें प्राप्त भया ॥१०१॥

भा पा /प्र ६/२००/६ महुरि जहाँ मुनिके धात्रीदूत आदि छयालीस दोष आहारादिबिषे कही हैं तहाँ गृहस्थनिके भालकनिकों प्रसन्न करना इत्यादि क्रियाका निषेध किया है। और भी—दे आहार १/२।

२ अध कर्मादि दोषोंसे रहित लेते हैं

यू आ ६२२-६३४ जो ठाणमोणवीरासणहि अरथादि चउत्थछट्ठेहि। भुज्जदि आधाकम्मं सव्वेवि णिरथा जोगा ॥६२२॥ जो भुज्जदि आधा-कम्मं छज्जजीवाण घायण किञ्चा। अमुद्धो लोल सज्जम्भो णवि समणो सावओ होज्ज ॥६२७॥ आधाकम्मं परिणदो पासुगदव्वेदि घघणो-भणिदो। सुद्ध गवेसमाणो आधाकम्ममेवि सो सुद्धो ॥६३४॥—जो साधुस्थान मौन और वीरासनसे उपवास वेला तेला आदि कर तिष्ठता है और अध कर्म सहित भोजन करता है उसके सभी योग निरर्थक हैं ॥६२२॥ जो मूढ़ मुनि छह वायके जीवोंका घात वरके अध कर्म सहित भोजन करता है वह लोलुपी जिहाके बन्ध हुआ मुनि नहीं है श्रावक है ॥६२७॥ प्रासुक द्रव्य होनेपर भी जो साधु अध कर्म कर परिणत है वह आगममें बन्धका वर्ता है, और जो शुद्ध भोजन देखकर ग्रहण करता है वह अध कर्म दोषके परिणाम शुद्धिसे शुद्ध है ॥६३४॥

मो पा /यू ७६। आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोखमग्गम्मि।—अध कर्म जे पापकर्म ताविये रत है, सदोप आहार करें हैं ते मोक्ष मार्ग तँ च्युत हैं।

रा वा ६/६/१६६/१६ भिक्षा शुद्धि प्रासुकाहारगवेषणप्रणिधाना।—प्रासुक आहार ढूँढना ही मुख्य लक्ष्य है ऐसी भिक्षा-शुद्धि है। भ आ /वि ४२२/६१३/६ अमणानुद्दिश्य कृत भक्तादिक उद्देशे सिगमित्यु-च्यते। तच्च पौठशविध आधाकर्मादि विक्षेपेन। तत्परिहारो द्वितीय स्थितिकथं।—मुनिके उद्देश्यसे किया हुआ आहार, वस्तुतः का बगैरहको उद्देशिक कहते हैं। उसके आधाकर्मादि विक्षेपसे सोलह प्रकार हैं। उसका त्याग करना यही द्वितीय स्थिति कथं है।

स सा /आ २८६-२८७ अध कर्मनिष्पन्नमुद्देशोनिष्पन्न च पुद्गलद्रव्य निमित्तभूतमप्रयाचक्षणाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधक भाव न प्रया-चष्टे तथा समस्तमपि परद्रव्यमप्रयाचक्षणाणस्तत्तन्निमित्तकं भावं न प्रयाचष्टे।—अध कर्मसे तथा उद्देशसे उत्पन्न निमित्त भूत पुद्गल द्रव्य न त्यागता हुआ नैमित्तिक भूत बन्ध साधक भावोंको भी वास्तवमें नहीं त्यागता है, ऐसा ही द्रव्य व भावका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है।

प्र सा /त प्र २२६ समस्तहिंसायत्तनघ्नान्य एवाहारो युक्ताहार।—समस्त हिंसाके निमित्तोंसे रहित आहार ही योग्य है।

चा सा ६८/२ उपद्रवणविद्रावणपरितपनारम्भक्रियया निष्पन्न मन्न स्वेन कृत परेण कारितं वानुमानितं बाध कर्म (जनित) तत्सेविनोऽनशनादितपस्यभ्रावकाशादियोगविशेषाश्च भिन्नभाजनभरितामृतवत्पर-रक्षन्ति, उत्तरत्र तदभस्यमिव परिहरतो भिभो।—उपद्रवण, विद्रा-वण, परितपन और आरम्भ रूप क्रियाओंके द्वारा जो आहार तैयार किया गया है—वह चाहे अपने हाथसे किया है अथवा दूसरेसे कराया है अथवा करते हुएकी अनुमोदना की है अथवा जो नीच कर्मसे बनाया गया है ऐसे अध कर्मयुक्त आहारको ग्रहण करनेवाले मुनियोंके उपवासादि तपश्चरण, अभ्रावकाशादि योग और वीरासनादि विशेष योग सब फूटे बर्तनमें भरे हुए अमृतके समान नष्ट हो जाते हैं।

३ अध कर्मादि दोषोंका नियम केवल प्रथम व अन्तिम तीर्थमें ही है

भ आ /वि ४२२/६१३/६ तथा चोत्त कण्णे—सोलसविधमुद्देश वज्जे-द्वयसि पुत्रिमचरिमाण। तित्थगराणं तित्थे ठिदिक्क्यो होदि विदिओ हू।—कण्ण नामक ग्रन्थ (कण सूत्र) में ऐसा वर्णन है—श्री आदिनाथ तीर्थकर और श्री महावीर स्वामी इनके तीर्थमें सोलह प्रकारके उद्देशका परिहार करके आहारादिक ग्रहण करना चाहिए, यह दूसरा स्थिति कथं है।

४ योग्य मात्रा व प्रमाणमें लेते हैं

यू आ ४८२। पमाण सहिय ॥४८२॥—जोमात्रा प्रमाण हो ऐसा आहार साधु ग्रहण करते हैं।

५ यथा लब्धं व रस निरपेक्ष लेते हैं

प्र सा /मू २२६ जघा लब्ध । ण रसावेकस्य ण मधुमस ॥२२६॥ —वह शुद्ध आहार यथालभ्य तथा रससे निरपेक्ष तथा मधु मांसादि अभ्यन्तसे रहित किया जाता है ।

लिं /पा /मू १२ कदम्प (प्या) इय वट्टह वरमाणो भोयणेषु रसगिद्धि । माई लिगविनाई तिरिखलजेणो ण सो समणो ॥१२॥ —जो लिग धार कर भी भोजनमें रसकी गृह्ण करता है, सो कदम्पादि विषय यत्ते हैं । उसको काम सेवनकी इच्छा तथा प्रमाण निद्रादि प्रचुर रूपसे बढ़ते हैं तब वह लिग व्यापादी अर्थात् व्यभिचारी कहलाता है । माया-चारो होता है इसलिए वह तिरिख योनि है मनुष्य नहीं । इसलिए वह भ्रमण नहीं ।

र सा ११३ भुजेज्ज जहालाह लहेइ जह्णणसजमणिमित्त । म्हाणज्ज-यणणिमित्त अणियारो मोक्खवग्गखो ॥११३॥ —जो मुनि केवल संयम ज्ञानकी वृद्धि के लिए तथा ध्यान अध्ययन करनेके लिए जो मिल गया भक्ति पूर्वक जिसने जो शुद्ध आहार दे दिया उसीको ग्रहण कर लेते हैं । वे मुनि अवश्य ही मोक्ष मार्गमें लौन रहते हैं ।

मू आ ४८१, ८१४, ६२८ —साध अट्ठं ण । भुजेज्जो ॥४८१॥ सीदसम-सीदल वा सुक्क लुक्क सुणिद्ध सुद्ध वा । लोणिदमलाणिस वा भुज्जति सुणी अणासाद ॥८१४॥ पयण व पायण वा अनुमणचित्तो ण तत्थ मोहेदि । जेम तोवि सघादी णवि समणो दिट्ठिसण्णो ॥६२८॥ —साधु स्वादके लिए भोजन नहीं करते हैं ॥४८१॥ शीतल गरम अथवा सुखा रुखा चिकना विकार रहित लौन सहित अथवा लौन रहित ऐसे भोजनको वे मुनि स्वाद रहित जीमते हैं ॥८१४॥ पाच करनेमें अथवा पाक करानेमें पाँच उपकरणोंसे अध कर्ममें प्रवृत्त हुआ और अनुमोदना प्रसन्न जो मुनि उस पचनादिने नहीं डरता वह मुनि भोजन करता हुआ भी आत्मघाती है । न तो मुनि है और न सम्यग्दृष्टि है ।

प्र प /मू १११/२, ४ प्रसेपक गाथा “काऊण णग्गस्सुं बीभरसं दडुम-डयसारिच्छं । अहिलससि किं ण लज्जसि भवलाए भोयण मिट्ठं ॥१११॥” जे सरसि संतुट्ठ मण विरसि कसाठ वह ति । ते मुनि भोयणधार गणि णवि परमत्थु मुणंति ॥१११॥४॥ —भयानक देहके मैलसे युक्त जले हुए मुरदेके समान रूप रहित ऐसे वस्त्र रहित नग्न रूपको धारण करके हे साधु तू परके घर भिक्षाका श्रमता हुआ उस भिक्षामें स्वाद युक्त आहारकी इच्छा करता है, तो तू क्यों नहीं शर-माता । यह बड़ा आश्चर्य है ॥१११॥२॥ जो योगी स्वादिष्ट आहारसे हर्षित होते हैं और नीरस आहारमें क्रोधादि कषाय करते हैं वे मुनि भोजनके विषयमें गूढ़ पक्षीके समान हैं, ऐसा तू समझ । वे परम तत्त्वको नहीं समझते हैं ॥१११॥४॥

आचारसार ४/६४ रोगोंका कारण होनेसे लाहू, पेड़ा, चावलक बने पदार्थ वा चिकने द्रव्यका श्याग द्रव्य शुद्धि है ।

अन ध ७/१० इप्पमूरोरकटरसीराहारे रुद्धरीकृता । यथेष्टमिन्द्रियभटा भ्रमयति महिर्मन ॥१०॥ —इन इन्द्रियरूपी सुभटोंको यदि अभीष्ट तथा स्वादु और उत्कृष्ट रससे परिपूर्ण—ताजी बने हुए भोजनोंके द्वारा उद्धत—दुर्द्धम बना दिया जाये तो ये अपनी इच्छाानुसार—जो-जाने इन्हें इष्ट हों उन सभी बाह्य पदार्थोंमें मनको भ्रमाने लगते हैं । अर्थात् इष्ट सरस और स्वादु भोजनके निमित्तसे इन्द्रियाँ स्वाधीन नहीं रह सकतीं ।

६ पौष्टिक भोजन नहीं लेते हैं

त मू ७/७, ३५ वृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारस्यागा पञ्च ॥७॥ सचित्त-सम्पन्नसन्मिभ्राभिपवदुष्पक्वाहारा ॥२४॥

द्रवो वृष्योवाभिपव (स सि) —गर्भि और इष्ट रसका श्याग तथा अपने शरीरके संस्कारका श्याग ये ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेके लिए ब्रह्मचर्य व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ॥७॥ सचित्ताहार, सम्पन्नाहार सन्मिभ्राहार अर्थात् सचित्त या सचित्तसे सम्पन्नको प्राप्त अथवा

सचित्तसे मिला हुआ आहार, अभिपवाहार और ठीक न पक्का हुआ आहार, इनका ग्रहण उपभोग परिभोग परिमाण व्रतन अतिचार है ॥७॥ यहाँ द्रव, वृष्य और अभिपव इनका एक अर्थ है अर्थात् पौष्टिक आहार इसका अर्थ है । (स सि ७/३५/३०१/६)

अन.ध ४/१०२ को न माजोवृत्ता दम वन्तु वदन्त्येयत । उर्ध्वमूल-मध शालमृषय, पुरुष विदु ॥१०२॥ —मनुष्योंको घोड़ेके समान बना देनेवाले दुग्ध प्रभृति वीर्य प्रार्थक पदार्थोंको याजीकरण करते हैं । इसमें ऐसा कौन सा पदार्थ है जो कि उद्धत—उत्तेजित होकर काम-सेवको उद्धृत नहीं कर वेता अर्थात् सभी सगर्भ पदार्थ ऐसे ही हैं । क्योंकि ऋषियोंने पुरषका स्वरूप उर्ध्वमूल और अध शाल्य माना है । जिगा और कण्ठ प्रभृति अवयव मनुष्यके मूल हैं और हस्तादि अवयव शाखाएँ हैं । जिस प्रकार वृन्दे मूलमें मिथुन क्रिये गये सिद्धनका प्रभाव उसकी शाखाओंपर पड़ता है उसी प्रकार जिगादिक के द्वारा उपयुक्त आहारादिका प्रभाव हस्तादिक अंगोंपर पड़ता है । कि को हृत् अतिवृद्ध आहार जे मत्तु गरिष्ठ सुहाय । नहीं जोग जिनवर कहें तजें धर्य हैं सोय ॥६८२॥ —जो अत्यन्त गरिष्ठ आहार है उसको ग्रहण करना योग्य नहीं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है । जो नर उसका श्याग करते हैं वे धन्य हैं ।

७ गूढता या स्वच्छन्दता सहित नहीं लेते

भ आ /मू २६० २६२ एसा गणधरमेरा आयरथाण वणियाहुत्ते । लोणसुहाणुरदाण अप्पच्छदो जह्छिच्छाए ॥२६०॥ पिह उवधि सेज्जा-मविसोधि य जो लु भुजमाणो हु । मूलदृढाण पत्तो मालो चि य णो समणमाला ॥२६२॥ —यह अच्छा समय मुनि है, ऐसा मेरा जगतमें यश फैले अथवा अपने मतका प्रकाशन करनेसे मेरेको लाभ होगा ऐसे भाव मनमें धारण करके वेवत्त चारित्र रक्षणार्थ ही निर्दोष आहारादिकको जो ग्रहण करता है वही संचारित्र मुनि समझना चाहिये ॥२६०॥ उद्गममादि दोषोंसे युक्त आहार उपकरण वसतिका इनका जो साधु ग्रहण करता है जिसको प्राणि समय व इन्द्रिय समय हैं ही नहीं वह साधु मूल स्थान प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है वह अज्ञानी है, वह केवल नग्न है, वह यति भी नहीं है और न गणधर ही है ।

मू आ ६३१ जो जट्टा जहा लब्ध गेणहि आहारमुवधियादीयं । समण-गुणसुखयोगी ससारपवड्डओ हादि ॥६३१॥ —जो साधु जिस शुद्ध अशुद्ध वेशमें जैसा शुद्ध अशुद्ध मिला आहार व उपकरण ग्रहण करता है वह भ्रमण गुणसे रहित योगी संसारक बद्वानेवाला ही होता है ।

सू पा /मू ६ उज्झिस्सीहचरिय बहुपरियम्मो य गत्तयभारो य । जो विहरइ सच्छद पाव गच्छेदि होदि मिच्छत ॥६॥

लिं पा /मू १३ धावदि पिडणिमित्त कलहं काऊण भुज्जे पिड । अव-रुपकई सतो जिणमणि ण होई सा समणो ॥१३॥ —जो मुनि होकर उत्कृष्ट सिंहवत् निर्भय हुआ आचरण करता है और बहुत परिकर्म कहिए तपश्चरणादि क्रिया कर युक्त है तथा गुरुके मारवाला है अर्थात् बड़े पदवाला है, सब नायक कहलाता है, और जिन सूत्रसे च्युत हुआ स्वच्छन्द प्रवर्तता है तो वह पाप ही को प्राप्त होय है, मिथ्यात्वको प्राप्त होय है ॥६॥ जो लिगधारी पिण्ड अर्थात् आहारके लिए दौड़े हैं आहारके लिए कसह करके उसे खाता है तथा उमके निमित्त परस्पर अन्यसे ईर्ष्या करता है वह भ्रमण जिनमार्गी नहीं है ॥१३॥ (और भी वे साधु ४)

८ दातारपर भार न पड़े इस प्रकार लेते हैं

रा वा ६/६/१६/६७/२६ दातुज्जमाधया मिन वृशलो मुनिभवदाहार-मित्त भ्रमाहार इत्यपि परिभाष्यते । —दातु जनकों की किसी भी प्रकारकी बाधा पहुँचाये मिन मुनि कुशलसे भ्रमरकी तरह आहार लेते हैं । अतः उनकी भिक्षा वृत्तिको भ्रमरवृत्ति और आहारको भ्रमराहार कहते हैं ।

मो मा प्र ६/२७० मुनिकै भ्रमरी आदि आहार लेनेकी विधि कही है। ए आसक्त होय दातारके प्राण पीछि आहारादिक ग्रहें हैं। इत्यादि अनेक विपरीतता प्रत्यक्ष प्रति भासे अर आपकी मुनि मानै, मूल पुणादिकके धारक कहवैं।

९ भाव सहित दिया व लिया गया आहार ही वास्तवमें शुद्ध है

यू आ ४८५ पगदा असजो जहा तहादो दव्व दोत्ति तं दव्व । पासुग-मिदि सिद्धे वि य अप्वट्ठकद असुद्ध तु ४८५। —साधु द्रव्य व भाव दोनोंसे प्राप्त क द्रव्यका भोजन करे। जिसमें से एकैन्द्रो जीव निकल गये वह द्रव्य प्राप्तक है और जो प्राप्तक आहार होनेपर भी “मेरे लिए किया गया है” ऐसा चिन्तन करे वह भावसे अशुद्ध जानना, तथा चिन्तन नहीं करना वह भाव शुद्ध आहार है।

अन घ ६/६७ द्रव्यत शुद्धमध्यन्नं भावाशुद्धया प्रपुण्यते । भावो ह्यशुद्धो बन्धाय शुद्धो मोक्षाय निरचित ६७। —यदि अन्न—भोज्य सामग्री द्रव्यत शुद्ध भी हो किन्तु भावत —“मेरे लिए इसने यह बहुत अच्छा किया” इत्यादि परिणामोंकी दृष्टि से अशुद्ध है तो उसको अशुद्ध—सर्वथा दूषित ही समझना चाहिए। क्योंकि बन्ध मोक्षके कारण परिणाम ही माने हैं। आगममें अशुद्ध परिणामोंको कर्मबन्ध का और विशुद्ध परिणामोंको मोक्षका कारण बताया है। अतएव जो अन्न द्रव्यसे शुद्ध रहते हुये भी भावसे भी शुद्ध हो वही ग्रहण करना चाहिये।

३. आहार व आहार कालका प्रमाण

१ स्वस्थ साधुके आहारका प्रमाण

यू आ ४६१ अन्नमसनस्स सज्जिज्जणस्स उदरस्स तदियमुदयेण । वाऊ सचरणद्व चउथमवसेसये भिक्खु ४६१। —साधु उदरके चार भागोंमें—से दो भाग तो व्यजन सहित भोजनसे भरे, तीसरा भाग जलसे परिपूर्ण करे और चौथा भाग पवनके विचरणके लिए खाली छोड़े ४६१।

प्र सा / यू २२६ प्रपरिपूर्णेदो यथातव्व । २२६। —यथातव्व तथा पेट न भरे इतना भोजन दिनमें एक बार करते हैं।

२ साधुके आहार ग्रहण करनेके कालकी मर्यादा

यू आ ४६२ / तिगवुगएगमुहुते जहणमज्झिम्मसुक्खे । —भोजन कालमें तीन मुहूर्त लगना वह जघन्य आचरण है, दो मुहूर्त लगना वह मध्यम आचरण है, और एक मुहूर्त लगना वह उत्कृष्ट आचरण है। (यू आ ३६) (अन घ ६/६२)

४ आहारके ४६ दोष

१ छियालीस दोषोंका नाम निर्देश

यू आ ४२१ ४७७ उगम उप्पादन एसण सज्जो जण पमाण च । इंगाल-धूमकारण अट्ठविहा पिहसुद्धो ह ४२१। आधाकमुहोसिय अज्झा-वसोम पूदि मिस्से य । पामिच्छे वलि पाहुहिदे पाहुकारे य कोये य ४२२। पामिच्छे परिगट्ठे अभिहम्मच्छिण्ण मालआरोहे । आच्छिज्जे अणिसट्ठे उगदीसाहु तेलसिमे ४२२। घादीदूदणिमिसे आजोवे वणि वगे य तेगिखे । कोधो माणी मायो लोभी य हवति दस एवे ४२४। पुणोपच्छा संभुदि विज्जमते य चुण्णजोगे य । उप्पादणा य दोसो सोलसमो मूलकम्मे य ४२४। सकिदमविखदपिहिदसं वहरणदाय-युग्मिस्सि । अपरिणदलितधोठिद एसणदोसाहं दस एवे ४२४। —

१ सामान्य दोष—उद्गम, उत्पादन अशन, संयोजन प्रमाण, अंगार या आगर और धूम कारण—इन आठ दोषों पर रहित, जो भोजन लेना वह आठ प्रकारकी पिण्ड शुद्धि कही है। २ उद्गम दोष—गृहस्थके आश्रित जो चको आदि आरम्भ रूप कर्म वह अध कर्म है उसका तो सामान्य रीतिसे साधुकी रयाग ही होता है। तथा उपरोक्त मूल आठ दोषोंमेंसे उद्गम दोषके सोलह भेद कहते हैं—औदृष्टिक

दोष, अध्यधि दोष, प्रतिदोष, मिश्र दोष, स्थापित दोष, वलि दोष, प्रान्तित दोष, प्राचिष्करण दोष क्रीत दोष, प्रामुश्य दोष, परिवर्तक दोष, अभिषट्ट दोष, अच्छिन्न दोष, मालारोह दोष, अच्छेद्य दोष, अनिसृष्ट दोष, ३ उत्पादन दोष—सोलह दोष उत्पादनके हैं—धात्री दोष, दूत, निमित्त आजीव, वनीपक, चिकित्सक, कोधी, मानी, मायावी, लोभी, ये दस दोष। तथा पूर्व सस्तुति पश्चात् सस्तुति, विद्या, मन्त्र, चूर्णयोग, मूल कर्म छह दोष ये हैं। ४ अशन दोष—शक्ति, मृक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संयवहरण, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त, व्यक्त ये दस दोष अशनके हैं। (घा सा ६८-७२/४) (अन, घ ६/६-३७) (मा पा / टी ६६)

२ चौदह मूल दोष

यू आ ४८४ णहरोमजतुअहोक्कणकुडयपुमिचम्मरुहरिमसाणि । वीय-फलकदमूला छिण्णाणि मला चउदसा हीति ४८४। नख रोम (माल) प्राण रहित शरीर, हाड गेहूँ आदिका कण, चालका कण ताराच-लोही (राशि) चाम, लोही चाम, उकुर होने योग्य गेहूँ आदि, आद्य आदि फल कद मूल—ये चौदह मूल हैं। इनको देखकर आहार त्याग देना चाहिए। (वमु आ २३१ का विशेषार्थ)

अन घ ६/३६ पुयात्तपयसस्यजिन नख कचमृतविकलत्रके कद । बीज मूलफले कणकुण्डौ च मलाश्चतुर्दशात्रगता ३६। —जिनमें कि संसक्त—स्पृष्ट होनेपर अन्नादिक आहार्य सामग्री साधुओंको ग्रहण न करनी चाहिए उनको मल कहते हैं। उनके चौदह भेद हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं। —पीब-फोड़े आदिमें हो जानेवाला कच्चा रुधिर तथा साधारण रुधिर, मांस, हड्डी, चर्म नख केश मरा हुआ विकलप्रय, बन्द सूरण आदि जो उत्पन्न हो सकता है ऐसा गेहूँ आदि बीज, मूलो अदरक आदि मूल, वेर आदि फल, तथा कण—गेहूँ आदिका माहा खण्ड, और कुण्ड—शाली आदिके सूक्ष्म अम्बन्तर अवयव अथवा बाहरसे पक और भीतरसे अपकको कुण्ड कहते हैं।

३ सात विशेष दोष

यू आ ८२२ उहोसिय कीदयड अण्णाद सकिद अभिहड च । सत्तप्प-डिक्कुहाणि य पडिसिद्ध तं भिक्खुवेति ८२२। —औदृष्टिक, क्रीत-तर, अज्ञात, शक्ति, अन्य स्थानसे आया सूत्रके विरुद्ध और सूत्रसे निषिद्ध ऐसे आहारको वे मुनि रयाग देते हैं ८२२।

४ छियालीस दोषोंके लक्षण

यू आ ४२७ ४४४—उद्गम दोष जलतंदुल पखिबो दाणदट्ठं सजदाण समयणे । अज्झोयोज्जं गेयं अहवा पाणं तु जाव राहो वा ४२७। अपासुरण मिस्सं पासुयदव्व तु पूदिकम्म तु । चुल्ली उवत्तलिदव्वो भायणमंघत्ति पचविहं ४२८। पासडेहि य सद्ध सागरेहि य जदण्ण-मुविसिंयं । दाहुमिदि सजदाण सिद्ध मिस्सं वियाणाहि ४२९। पागादु भायणाओ अण्णहि य भायणाहपवत्तविम । सवरे वा परवरे वा णिहिद ठविदं विमाणाहि ४३०। जक्कयणागदीण वल्लिसेसं स कलित्ति पण्णत्त । सजदआगमण्डुं अनियम्मं वा वलि जाणे ४३१। पाहुहिद दुविह बादर सुहुम च दुविहमेवकेकं । ओक्कम्ममुक्कत्तसण-मह कालोवट्ठणावड्ढो ४३२। दिवसे पवसे मासे वासे परसीय बादर दुविहं । पुक्कपरमज्झवेल परियत्त दुविह सुहुम च ४३३। पाहुकारो दुविहो सकमण पयासणा य बोधव्वो । भायण भोयणादीण मडव-विरलादिय कमसो ४३४। कीदयडं पुण दुविहं दव्वं भाव च सगपरं दुविहं । सच्चितादी दव्व विज्जामत्तादि भाव च ४३५। लहरिय रिण तु भणिय पामिच्छे ओदणादि अण्णदर । त पुण दुविहं भणिद सव-हितयमवहित्यं चावि ४३६। मोहीकूरादीहि य सालीकूरादिय तु ज गहिद । दाहुमिति सजदाण, परिपट्ट होदि णायव ४३७। देसत्ति य सव्वत्ति य दुविहं पुण अभिहडं वियाणाहि । आचिण्णमणाचिण्ण देसाविहड हवे दुविहं ४३८। उज्जत्तिहि सत्ति वा धरेहि जदि आगद दु आचिण्ण । परदो वा तेहि भवे ठव्विक्खीद अणाचिण्ण

१७३६। सव्वाभिघट चतुधा सयपरगामे सवेसपरदेसे । पुत्रवपरपाडण यष्ट पवम सेस पि नादव्य १७४०। पिहिदं लछिदग या ओसहृदिद-सकरादि जं दव्वं । उम्भिणज्जण देयं उम्भिण ह्रीदि नादव्य १७४१। निस्सेनिकहादोहि निहिद पूवादियं तु धित्तण । मालारोहि किच्चा देयं मालारोहणं नाम १७४२। रायाचोरादीहि य सजदभिषत्तसम तु दट्ठणं । मोहेदूण निजुज्ज अच्चिज्ज ह्रीदि नादव्य १७४३। अणिसट्ट पुण बुविह इस्सरसह निस्सर चतुविचय्य । पदमिस्सर सायलं बत्तायत्त च सपाठ १७४४।

मू आ ४४० ४६१ सालह उत्पादन दोष—मज्जनमण्डणादी खेलावलीर-अयघादी य । पचविधघादिदम्मेणुष्पादी घादद सो दु १७४७। जलथलआयासगद सयपरगामे सवेसपरदेसे । सयं धिवयणयण दूदोदासो भवदि एसो १७४८। वजणमर्गं च सरं छिण्ण भूमं च अत-रिक्खं च । लयलण सुविण च तहा अट्ठविह होए नेमिच १७४९। जादो कुलं च सिण्ण तवकम्म ईसरत्त आजीय । तेहि पुण उप्पादो आजीव दोसो हवदि एसो १७५०। साणकिविणत्तिधिमाहणपासडिय-सवणकागदाणादी । पुण्णं णवेत्ति पु ट्ठे पुण्णोत्ति वणीयत्त वयण १७५१। कोमारतणुत्तिगिछारसायणविसधुद्वारत्तं च । सालं किय च सल्लं तिगिछदोसो दु अट्ठविहो १७५२। कोधेण य माणेण य माया-लोभेण चावि उप्पादो । उप्पादणा य दोसो चतुविहो ह्रीदि नायव्वो १७५३। दायपपुरदो कित्ति त दाणववो जसोधरो वेत्ति । पुत्रवीसधुदि दोसो विस्सरिदं बोधण चावि १७५४। पच्चासंधुदिदोसो दाणगहि-दूण त पुगो कित्ति । विक्खदादो दाणववो तुक्क जसो विस्सुदो वेत्ति १७५५। विज्जासाधित सिद्धा तित्से आसापदाणकरणेहि । तत्से माहप्पेण य विज्जादोसो दु उप्पादो १७५७। सिद्धे पडिदे मंते तत्स य आसापदाणकरणेण । तत्स य माहप्पेण य उप्पादो मंतेदोसो दु १७५८। आहारदायणाण मिज्जामतेहि दवदाण तु । आहुय साधिदव्वा विज्जामतो हवे दोसो १७५९। नेत्तस्सजणचुण्ण भूषणचुण्ण च गत्त-सोमयर । चुण्ण तेणुप्पदो चुण्णयदोसो हवदि एसो १७६०। अवसाणं वसियसण सजोजयण च विप्पजुत्ताणं । भणिदं तु मूलकम्म ण्हे उप्पादणा दोसा १७६१।

मू आ ४६१ ४७५ १० अशन दोष—असण च पाणयं वा खादियमध सादिय च अन्नकप्पे । कप्पियमकप्पियमत्ति य सद्विद्व सकिं जाणे । १७६३। ससिण्णद्वेण य देयं हरथेण य भायणेण दव्वीए । एसो मफिखद-दोसो परिहरदव्वो सदा मुणिणा १७६४। सच्चिचपुडियआऊत्तेऊहरिद च वीयत्तसोबीवा । जं तेसिमुवरि हठविद निक्खित होदि छम्मेय । १७६५। सच्चित्तेण व पिहिद अथवा अचित्तगुरुगपिहिद च । जं छट्ठिय जं देयं पिहिदं त होदि मोधव्व १७६६। संवमहरणं किच्चा पदादुमिदि चेल भायणादीण । असमिपत्तय ज देय सववहरणा हवदि दोसो १७६७। सूदो सूडो गोगीमदयणपसय पिसायणगो य । उच्चारपडिद-वंतरुहिरवेसी समणी अगमथिलया १७६८। अतिमात्ता अतिमुद्वत्ता मासत्ती गम्भिणी य अधलिय । अतरिदाव विसण्णा उच्चारथा अहव णोचत्था १७६९। पूयण पञ्जलणं वा मारण पच्छादणं च विज्जवर्ण । किच्चा तहणिकज्ज णिव्वाद वट्ठणं चावि १७७०। लेवणमज्जणकम्म पियमाणं दारयं च निपिलविय । एव विहादिया पुण दाणं जदि दित्ति दायणा दोसा १७७१। पुत्रवो आऊ य तहा हरिदा वीया तसा य सज्जीवा । पंचेहि तेहि मिस्स आहारं ह्रीदि उम्मिस्स १७७२। तिलसङ्गतजसोदय चणोदय तुषोदय अवधुधुध । अण्णं तहाविह वा अपरिणद णेव गेण्हिज्जो १७७३। गेरुय हरिदासेण व सेहोम मणो-सिलामगिट्ठेण । सपमालोदणलेवे ण व देय करभायेण लिच १७७४। महुपरिसाठणमुच्छिन्न आहारा परिगलत्त दिज्जत्तं । छट्ठिय भुज्ज-महवा छट्ठियदोसो हवेणेओ १७७५।

मू आ ४७६-४७७ समयोजना आदि ४ दोष—सजोजणा य दोसो जो सजोएदि भसपाण तु । अदिमत्तो आहारो पमाणदोसा हवदि एसो

१७७६। तं होदि सयंगलं जं आहारिदि मुच्छिदो गतो । त पुण होदि साधुम ज आहारिदि निदिदो १७७७।

१ अध कर्मादि १६ उदगम दोष—

१ अध कर्मदोष—ये अध कर्म । २ अद्यधि दोष—सयमी साधुको आता वेळ उनको देनेके लिण अपने निमित्त चूखेपर गले हुए जन और चावलमें और अधिक जन और चावल मिलाकर फिर पकाये । अथवा जय तक भोजन तैयार न हो तब तक धर्म प्ररनक बराने साधुको रोक रखे, वह अद्यधि दोष है । ३ पूतिदोष—प्रासुक आहारादिक वस्तु सचित्तादि वस्तुमें मिश्रित हो वह पूति दोष है । प्रासुक द्रव्य भी पूतिकर्ममें मिला पूतिकर्म कहलाता है । उसके पाँच भेद हैं—चूखी (चूखी), ओखली, कड़की, पकायेके भासन तथा गन्ध युक्त द्रव्य । इन पाँचोंमें मक्षक करना कि इन चूनि आदि से पका भोजन जय तक साधुको न दे दे तब तक अन्य किसीको नहीं देने । ये ही पाँच आरम्भ दोष हैं जो पूति दोषमें गमित हैं १७८८। ४ मिषदाय—प्रासुक तैयार हुआ भोजन अन्य भेषधारियों के साथ तथा गृहस्थोंके साथ तयमी साधुओंको देनेका उद्योग करने को मिष दोष जानना १७८९। ५ म्यापित दोष—जिस मासनमें पकाया था उससे दूसरे भाजनमें पके भोजनको रखकर अपने घरमें तथा दूसरेके घरमें जाकर उस अयको रख दे उसे म्यापित दोष जानना १७९०। ६ वसिदोष—यस नागादि देवताओंके लिए जो वनि(पूजन) किया हो उससे छेप रहा भोजन वसिदोष सहित है । अथवा सयमियोंके आगमनके लिए जो वलिकर्म (सायक पूजन) करे वहाँ भी वसिदोष जानना १७९१। ७ प्राभूतदोष—प्राभूत दोषके दो भेद हैं—बादर और सूक्ष्म । इन दोनोंके भी दो-दो भेद हैं—अपकर्षण और उत्कर्षण । कानकी हानिका नाम अपकर्षण है, और कातकी वृद्धिको उत्कर्षण कहते हैं १७९२। दिन पस, महीना वर्ष इनको बदल कर जो आहार दान देना वह बादर प्राभूत दोष है । वह बादर दोष उत्कर्षण व अपकर्षण करनेसे दो प्रकारका है । सूक्ष्म प्राभूत दोष भी दो प्रकारका है । पूर्वाह्न समय व अपराह्न समयको पलतनेसे कालको बदलना घटाना रूप है १७९३। ८ प्रादुष्कार दोष—प्रादुष्कार दोषके दो भेद हैं—संक्रमण और प्रकाशन । साधुके आ जानेपर भोजन भाजन आदिको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर लेजाना संक्रमण है और भाजनको भाजना या दोषकाका प्रकाश करना अथवा मण्डपका उद्योतन करना आदि प्रकाशन दोष है १८०४। ९ क्रीत दोष—क्रीततर दोषके दो भेद हैं—द्रव्य और भाव । हरे एकके पुन दो भेद हैं—स्व व पर । सयमीके भिक्षार्थ प्रवेश करनेपर गाय आदि देकर बदलेमें भोजन लेकर साधुको देना द्रव्य क्रीत है । प्रक्षति आदि विद्या या चेतकादि मन्त्रोंके बदलेमें आहार लेके साधुका देना भावक्रीत दोष है १८१५। १० प्रामृष्य दोष—साधुओंको आहार करनेके लिए दूसरेसे उधार भात आदिक भोजन सामग्री लाकर देना प्रामृष्य दोष है । उसके दो भेद हैं—समृद्धिक और अवृद्धिक । कर्जसे अधिक देना समृद्धिक है । जितना कर्ज लिया उसना हो देना अवृद्धिक है १८३६। ११ परिवर्त दोष—साधुओंको आहार देनेके लिए अपने साठीके चावल आदिक देकर दूसरेसे बदिया चावलआदिक लेकर साधुको आहार दे वह परिवर्त दोष जानना १८३७। १२ अभिघट दोष—अभिघट दोषके दो भेद हैं—एक देश और सर्वदेश । उसमें भी देशाभिघटके दो भेद हैं—आचिप्त और अनाचिप्त । पक्षिमन्न सीधे सीधे अथवा सात घरोंसे आया याग्य भोजन आचिप्त अर्थात्त ग्रहण करने योग्य है । और छितर छितर बिन्हीं सात घरोंसे आया अथवा पक्षिमन्न आठवाँ आदि घरोंसे आया हुआ भोजन अनाचिप्त है अर्थात्त ग्रहण करने योग्य नहीं है १८३८। सर्वाभिघट दोषके चार भेद हैं—स्वग्राम, पर-ग्राम, स्वदेश और परदेश । पूर्वदि दिशाके मोहल्लेसे पश्चिमादि दिशाके मोहल्लेमें भाजन ले जाना स्वग्रामाभिघट दोष है । इसी तरह

शेष तीन भी जान लेने। इसमें ईर्यापथका दोष आता है ॥४४०॥
 १३ उद्भिन्न दोष—मिट्टी लाख आदिसे ढका हुआ अथवा नामकी मोहर कर चिह्नित जो औषध घी या शक्कर आदि द्रव्य हैं अथवा सोल बन्द पदार्थोंको उघाड़कर या खोलकर देना उद्भिन्न दोष है। इसमें चींटी आदिके प्रवेशका दोष लगता है ॥४४१॥ १४ मालारोहण दोष—काष्ठ आदिकी बनी हुई सीढ़ी अथवा पैड़ोसे घरके ऊपरके खनपर चढ़कर वहाँ रखे हुए पूवा लहू आदि अन्नको लाकर साधुको देना मालारोहण दोष है। इसमें दाताको विघ्न होता है ॥४४२॥ १५ आछेय दोष—सयमी साधुओंके भिक्षाके परिश्रमको देख राजा, पोर आदि गृहस्थियोंको ऐसा डर दिखाकर ऐसा कहें कि यदि तू इस साधुओंको भिक्षा नहीं दोगे तो हम तुम्हारा द्रव्य छीन लेंगे ऐसा डर दिखाकर दिया गया आहार वह आछेय दोष है ॥४४३॥ १६ अनिमृष्ट दोष—अनौशार्थके दो भेद हैं—ईश्वर और अनौश्वर दोनोंके भी मिलाकर चार भेद हैं। पहला भेद ईश्वर सारक्ष तथा ईश्वरके तीन भेद—अयुक्त, अव्यक्त व सघाट। दानका स्वामी देने की इच्छा करे और मन्त्री आदि मना करे तो दिया हुआ भोजन भी अनौशार्थ है। स्वामीसे अन्य जनोंका निषेध किया अनौश्वर कहलाता है। वह व्यक्त अर्थात् बृद्ध, अव्यक्त अर्थात् बाल और सन्नाट अर्थात् दोनोंके भेदसे तीन प्रकारका है ॥४४४॥ (चा सा ६६/२) (अन ध ६/६-६)

० धात्री आदि १६ उत्पादन दोष

१ धात्री दोष—पोषण करे वह धाय कहलाती है। वह पाँच प्रकारकी होती है—स्नान करानेवाली आभूषण पहनानेवाली बच्चोंको रमानेवाली, दूध पिलानेवाली तथा मातावल अपने पास सुलानेवाली। इनका उपदेश करके जो साधु भोजन ले तो धात्री दोष युक्त होता है। इससे स्वाध्यायका नाश होता है तथा साधु मार्गमें दूषण लगता है ॥४४७॥ २ दूत दोष—कोई साधु अपने ग्रामसे व अपने देशसे दूसरे ग्राममें व दूसरे देशमें जलके मार्ग नावमें बैठकर व स्थलमार्ग व आकाशमार्गसे होकर जाय। वहाँ पहुँचकर किसीके सन्देशको उसके सम्बन्धीसे कह वे, फिर भोजन ले तो वह दूत दोष युक्त होता है ॥४४८॥ ३ निमित्त दोष—निमित्त ज्ञानके आठ भेद हैं—मसा, तिल आदि व्यञ्जन, मस्तक आदि अङ्ग, शब्द रूप स्वर, वस्त्रादिकका छेद वा तल-वारादिका प्रहार, भूमिविभाग, सूर्यादि ग्रहोंका उदय अस्त होना, पत्र चक्रादि लक्षण और स्वप्न। इन अष्टांग निमित्तोंसे शुभाशुभ कहकर भोजन-लेनेसे साधु निमित्त दोष युक्त होता है ॥४४९॥ ४ आजीव दोष—जाति कुल, चित्रादि शिष्य सपश्चरणीकी क्रिया आदि द्वारा अपनेको महात् प्रगट करने रूप बचन गृहस्थोंको कहकर आहार लेना आजीव दोष है। इसमें मलहीनपना व दीनपनाका दोष आता है ॥४५०॥ ५ बनीपक दोष—कोई दाता ऐसे पूछे कि कृपा, कृपण, भिलारी, असदाचारी, ब्राह्मण, भेषी साधु तथा त्रिदण्डी आदि साधु और कौआ इनको आहारादि देनेमें पुण्य होता है या नहीं। तो उसको रुचिके अनुकूल ऐसा कहा कि पुण्य ही होता है। फिर भोजन करे तो बनीपक दोष युक्त होता है। इसमें दीनता प्रगट होती है ॥४५१॥ ६ चिकित्सा दोष—चिकित्सा शास्त्रके आठ भेद हैं—बालचिकित्सा, शरीरचिकित्सा, रसायन, विषतन्त्र, भूततन्त्र, क्षारतन्त्र, शलाकाक्रिया, शय्यचिकित्सा। इनका उपदेश देकर आहार लेनेसे चिकित्सा दोष होता है ॥४५२॥ ७-१० क्रोधी, मानी, मायी लोभी दोष—क्रोधसे भिक्षा लेना, मानसे आहार लेना, मायासे आहार लेना, लोभसे आहार लेना, इस प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ रूप उत्पादन दोष होता है ॥४५३॥ ११ पूर्वस्तुति दोष—दातादेक आगेतुम दानपति हो, यशोधर हो, तुम्हारी कीर्ति लोक प्रसिद्ध है' इस प्रकार के वचनों द्वारा उसकी प्रशंसा करके आहार लेना, अथवा दातार यदि मूल गया हो वो उसे याद दिलाया कि पहले तो सुप्त, बड़े दानी थे,

अप कैसे मूल गये, इस प्रकार प्रशंसा करके आहार लेना पूर्व स्तुति दोष है ॥४५४॥ १२ पश्चात् स्तुति दोष—आहार लेकर पीछे जा साधु दाताकी प्रशंसा करे कि तू प्रसिद्ध दानपति हो तुम्हारा यश प्रसिद्ध है, ऐसा कहनेसे पश्चात् स्तुति दोष लगता है ॥४५५॥ १३ विद्या दोष—जो साधने से सिद्ध हो वह विद्या है, उस विद्याकी आशा देनेसे कि हम तुमको विद्या देंगे तथा उस विद्याकी महिमा वर्णन करनेसे जो आहार ले उस साधुके विद्या दोष आता है ॥४५७॥ १४ मन्त्र दोष—पढ़ने मात्रसे जो मन्त्र सिद्ध हो वह पठित सिद्ध मन्त्र होता है, उस मन्त्रकी आशा लेकर और उसकी महिमा कहकर जो साधु आहार ग्रहण करता है उसके मन्त्र दोष होता है ॥४५८॥ आहार देनेवाले व्यन्तरादि देशोंको विद्या तथा मन्त्रसे मुलाकर साधन करे वह विद्या मन्त्र दोष है। अथवा आहार देनेवाले गृहस्थोंके देवताको मुलाकर साधना वह भी विद्या मन्त्र दोष है ॥४५९॥ १५ चूर्ण दोष—नेत्रोंका अञ्जन, भूषण साफ करनेका चूर्ण, शरीरकी शोभा बढ़ानेवाला चूर्ण—इन चूर्णोंकी विधि बतलाकर आहार ले वहाँ चूर्ण दोष होता है ॥४६०॥ १६ मूल कर्म दोष—जा वशमें नहीं है उनको वशमें करना, जो स्त्री पुरुष विमुक्त हैं उनका सयोग कराना—ऐसे मन्त्र-तन्त्र आदि उपाय बतलाकर गृहस्थोंसे आहार लेना मूलकर्म दोष है। (चा सा ७१/१), (अन ध १/२०-२७)

२ शङ्कितादि १० अशन दोष

१ शङ्किता दोष—अशन, पान, स्वाद्य व स्वाद्य यह चार प्रकार भोजन आगमानुसार मेरे लेने योग्य है अथवा नहीं ऐसे सन्देह सहित आहार को लेना शङ्किता दोष है ॥४६१॥ २ मृक्षित दोष—चिकने हाथ व पात्र तथा कड़खीसे भात आदि भोजन देना मृक्षित दोष है। उसका सदा त्याग करे ॥४६४॥ ३ निक्षिप्त दोष—अप्राप्तक सचित् पृथिवी, जल, तेज, हरितकाय, धीजकाय, त्रसकाय, जीवोंके ऊपर रखा हुआ आहार इस प्रकार छह भेद वाला निक्षिप्त दोष है ॥४६५॥ ४ पिहित दोष—जो आहार अप्राप्तक वस्तुसे ढँका हो, उसे उघाड़ कर दिये गये आहार को लेना पिहित दोष है ॥४६६॥ ५ सव्यवहरण दोष—भोजनादिका बेन लेन शीघ्रतासे करते हुए, घिना देखे भोजन-पान वे तो उसको लेनेमें सव्यवहरण दोष होता है ॥४६७॥ ६ दायक दोष—जो स्त्री-बालकका शृङ्गार कर रही हो, मदिरा पीनेमें लब्ध हो, रोगी हो, मुरदेको जलाकर आया हो, नपुंसक हो, आयु आदिसे पीडित हो, वस्त्रादि ओढ़े हुए न हो, सूत्रादि करके आया हो, सूखसे गिर पड़ा हो, बमन करके आया हो, लाह सहित हो, दास या दासी हो, अशिका रक्तपटिका आदि हो, अंगका मर्दन करने वाली हो,—इन सबोंके हाथसे मुनि आहार न लें ॥४६८॥ अति बालक हो, अधिक बूढ़ो हो, भोजन करती जूटे मुह हो, पाँच महीना आदिक गर्भसे युक्त हो, अन्धी हो, भीत आदिके आँतरेसे या सहारेसे बैठी हो ऊँची जगहपर बैठी हो, नीची जगहपर बैठी हो ॥४६९॥ मुँहसे फूँककर अग्नि जलाना, काठ आदि ढालकर आग जलाना, काठको जलानेके लिए सरकाना, राखसे अग्निको ढँकना, जलादिसे अग्निका बुझाना, तथा अन्य भी अग्निको निर्वर्तन व घट्टन आदि करने रूप कार्य करते हुए भोजन देना ॥४७०॥ गोबर आदिसे भीतिका सीपना, स्नानादि क्रिया करना, दूध पीते बालकको छोड़कर आहार देना, हरयादि क्रियाओंसे युक्त होते हुए आहार दे तो दायक दोष जानना ॥४७१॥ ७ उन्मिश्र दोष—मिट्टी, अप्राप्तक जल, पान—फल, फल आदि हरी, जौ, गेहूँ आदि बीज, द्रोनिद्र्यादिक त्रस जीव—इन पाँचोंसे मिला हुआ आहार देनेसे उन्मिश्र दोष होता है ॥४७२॥ ८ अपरिणत दोष—सिलके धोनेका जल, चावलका जल, गरम होके ठण्डा हुआ जल, तुपका जल, हरण चूरण आदि कर भी परिणित न हुआ जल हो वह नहीं ग्रहण करना। ग्रहण करनेसे अपरिणत दोष आता है ॥४७३॥ ९ लिप्त दोष—गेरू, हरताल, लड्डिया, मैनशिल, चावल आदिका चून,

कथा शाक—इनसे लिप्त हाथ तथा पात्र अथवा अप्राप्तक जलसे भीणा हाथ तथा पात्र इन दोनोंसे भोजन वे तो निषिद्ध दोष आता है ॥४७॥ १० त्यक्त दोष—महुत भोजनको थोड़ा भोजन करे अर्थात् जूठ छोड़ना या बहुत सा भोजन कर पात्रमें से नीचे गिराता भोजन करे छाछ आदिने भरते हुए हाथसे भोजन करे अथवा किसी एक आहार-को (अशन, पान, त्राग स्वाद्यादिमें-से किसी एकको) छोड़कर भोजन करे तो त्यक्त दोष आता है ॥४८॥ (चा सा ७२/१), (अन घ ४/२६-२६)

४ संयोजनादि ४ दोष

१ संयोजना दोष—जो ठण्डा भोजन गर्म जलसे मिलाना अथवा ठण्डा जल गर्म भोजनसे मिलाना, सो संयोजना दोष है ॥४९॥ २ प्रमाण दोष—मात्रासे अधिक भोजन करना प्रमाण दोष है ॥४९॥ ३ अङ्गार दोष—जो मूर्च्छित हुआ अति सृष्णासे आहार ग्रहण करता है उससे अङ्गार दोष होता है । ४ धूम दोष—जो निम्दा अर्थात् ग्लानि करता हुआ भोजन करता है उसके धूम दोष होता है ॥४९॥ (चा सा ७२/४) (अन घ ४/३०)

५ दातार सम्बन्धी विचार

१ दाताक के गुण व दोष

रा बा ७/३६/४/६६६/२६ प्रतिग्रहीतर अनसूया रयागेऽविपाद विस्सतो दत्तो दत्तवत्तरच प्रीतियोग कुदालाभिसन्धितादृष्टफलानपेक्षिता निरुपरोधत्वमनिदानत्वमिरयेवमादि दातृविशेषोऽवसेय । —पात्रमें ईर्ष्या न होना, रयागमें विपाद न होना, देनेकी इच्छा करने वालेमें तथा देने वालोंमें या जिसने दान दिया है सयमें प्रीति होना कुशल अभिप्राय प्रत्यक्ष फलकी आर्षासा न करना निदान नहीं करना किसीसे विसदाद नहीं करना आदि दाताकी विशेषताएँ हैं । (स सि ७/३६/६७३/६)

म पु २०/८२-८४ श्रद्धा शक्तिश्च भक्तिश्च विज्ञानेऽप्यलुम्ब्यता । समा रयागश्च संप्लेते प्रीक्षा दानपतेर्गुणा ॥८२॥ श्रद्धास्तिष्कमनारितवये प्रदाने स्यादनादय । भवेच्छक्तिरनालस्य भक्ति स्यात्कृष्णगादय ॥८३॥ विज्ञान स्यात् क्रमज्ञाय देवासक्तिरलुम्ब्यताममातितिक्षाददत्तस्याग सन्नयमशीलता ॥८४॥ इति सप्तगुणापेत्ता दाता स्यात् पात्रसपदि । अपेत्तरच निदानादे दोषाग्निश्रेयोघट ॥८४॥—श्रद्धा शक्ति भक्ति विज्ञान अलुम्ब्यता, समा और रयाग ये दानपति अर्थात् दान देने वालेके सात गुण कहलाते हैं ॥८२॥ श्रद्धा आरितवय बुद्धिको कहते हैं आरितवय बुद्धि अर्थात् श्रद्धाके न होनेपर दान देनेमें अनादय हो सकता है । दान देनेमें आलस्य नहीं करना सो शक्ति नामका गुण है, पात्रके गुणोंमें आदर करना सो भक्ति नामका गुण है ॥८३॥ दान देने आदिके क्रमका ज्ञान होना सो विज्ञान नामका गुण है, दान देनेकी आसक्तिको अलुम्ब्यता कहते हैं, सहनशीलता होना समा गुण है और उत्तम द्रव्य दानमें देना सा रयाग है ॥८४॥ इस प्रकार जो दाता ऊपर कहे सात गुणों सहित है और निदानादि दापसे रहित होकर पात्ररूपी नम्पदामें दान देता है वह मोक्ष प्राप्त करनेके लिए तत्पर होता है ॥८५॥

गुण सा १६१ श्रद्धा भक्तिश्च विज्ञान पुष्टि शक्तिरलुम्ब्यता । समा च यत्र संप्लेते गुणा दाता प्रशस्यते ॥१६१॥—श्रद्धा, भक्ति, विज्ञान, संप्लेप, शक्ति अलुम्ब्यता और समा ये सात गुण जिसमें पाये जायें, वह दातार प्रशसनीय है ।

पु सि च १६६ ऐहिकलानपेक्षा सान्तिनिष्पटतानसूयत्वम् । अविपादिरवमुदिखे निरश्रद्धास्त्वमिति हि दातृगुणा ॥१६६॥—इस लोक सम्बन्धी फलकी अपेक्षारहित, समा, निष्पटता, ईपरहितता, अविषमता, हृषभाव और निरभिमानीता, इस प्रकार ये सात निश्चय करके दाताके गुण हैं ।

चा सा २६/६ में उद्धृत “श्रद्धा शक्तिरलुम्ब्यश्च भक्तिर्ज्ञानं दया समा । इति श्रद्धादयः सप्त गुणा स्मृर्गृहमेधनाम् ॥”—श्रद्धा, भक्ति, नितो-भता, भक्ति, ज्ञान, दया और समा आदि सात दान देने वाले गृहस्थों के गुण हैं । (वसु शा १६१)

सा घ ४/७७ भक्तिप्रज्ञासर्वतुष्टि ज्ञानालौक्यसमागुण । नवकोटि-विशुद्धस्य दाता दानस्य य पति ॥४७॥—भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, अलौक्य और समा इनके साथ असाधारण गुण सहित जो श्रावक मन, वचन, काय तथा कृत, कारित और अनुमोदना इन नौ कोटियों के द्वारा विशुद्ध दानका अर्थात् देने योग्य द्रव्यका स्वामी होता है वह दाता कहलाता है ।

२ दान देने योग्य अवस्थाएँ विशेष

भ आ/वि १२०६/१२०४/१७ स्तनं प्रयच्छन्त्या, गर्भिण्या वा दीयमान न गृह्णीयात् । रोगिणा, अतिशुद्धेन, शालेनान्मत्तेन, पिशाचेन, सुग्धेनान्धेन, मूकेन दुर्भलेन भीतेन, शङ्कितेन, अस्यासन्नेन, अदूरेण लज्जाव्यावृत्तमुखा, आवृत्तपुरया उपानदुपरिचर्यस्तपादेन वा दीयमान न गृह्णीयात् । सण्डेन भिन्नेन वा कटकच्छूकेन दीयमान वा । —जो अपने बालकको स्तन पान करा रही है और जो गर्भिणी है ऐसी स्त्रियाँ दिया हुआ आहार न लेना चाहिए । रागी अतिशय वृद्ध, मालक, उन्मत्त, अथा, गू या, अशक्त, भययुक्त, शकायुक्त, अति-शय नजदीक जो खड़ा हुआ है, जो दूर खड़ा हुआ है ऐसे पुरुषों आहार नहीं लेना चाहिए । लज्जासे जिसने अपना मुँह फेर लिया है, जिसने जूता अथवा चप्पल पर पाँव रखा है जो ऊँची जगह पर खड़ा हुआ है, ऐसे मनुष्यका दिया हुआ आहार नहीं लेना चाहिए । दूरी हुई अथवा खण्डयुक्त हुई ऐसी बड़छोके द्वारा दिया हुआ नहीं लेना चाहिए । (अन घ ४/३४ में उद्धृत) (और भी विशेष—दे आहार II ४/३ में दायक दोष)

६. भोजन ग्रहणके कारण व प्रयोजन

१ समय रक्षार्थ करते हैं शरीर रक्षार्थ नहीं

मू आ ४८९ ४८३ ण बलाउसाउअट्ठ ण शरीरस्सुवसुवचयट्ठ तेजट्ठ णाणट्ठ सजमट्ठं फाड्ठं चैव भुजेज्जो ॥४८१॥ । जत्तासाधणमत्त चाइसमलवज्जिद भुजे ॥४८३॥ —माधु बलके लिए, आयु बढ़ानेके लिए, स्वादके लिए, शरीरके पुष्ट होनेके लिए शरीरके तेज बढ़नेके लिए भोजन नहीं करते । किन्तु वे ज्ञान (स्वाध्याय) के लिए, समय पालनेके लिए, ध्यान होनेके लिए भोजन करते हैं ॥४८१॥ प्राणोंके धारणके लिए हो अथवा मोक्ष यात्राके साधनेके लिए हो, और चौदह मनोसे रहित हो ऐसा भोजन साधु करे ॥४८३॥

र सा ११३ भुजेइ जहालाई लहेइ जइ णाणसजमणिमत्त । फाणउभयण-णिमत्त अणिआरो मोक्षमग्गरओ ॥११३॥ —मुनि केवल समय और ज्ञानकी वृद्धिके लिए तथा ध्यान और अध्ययन करनेके लिए जो मिल गया शुद्ध भोजन, उसको ग्रहण करते हैं वे मुनि अवश्य ही मोक्ष मार्गमें लीन रहते हैं ।

अन घ ४/६१ सुच्छम संयम स्वान्धैवायचयसुस्थितिम् । बाच्छन्ता-वयस्कं ज्ञानध्यानादींश्चाहे मुनि ॥६१॥—शुद्धा बाधाका उपशमन, समयकी सिद्धि, और स्व परकी वैयवस्थ्य, —आपत्तियोंका प्रतिकार करनेके लिए तथा प्राणोंकी स्थिति बनाये रखनेके लिये एवं आभ-श्यकों और ध्यानाध्ययनादिकोंको निर्वहण करते रहनेके लिए सुनियोंको आहार ग्रहण करना चाहिए । और भी—द नीचे मू, आ ४७६ ।

२ शरीरके रक्षणार्थ भी कथंचित् ग्रहण

मू आ ४७६ वैयणवेज्जावच्चे किरियाठाणे य समयट्ठाए । तद्यपाण घम्म-चिंता कुज्जा एदेहि आहर् ॥४७६॥ —शुद्धाकी वेदनाके उपशमार्थ,

वैवावृत्त करनेके लिए, छह आवश्यक क्रियाके अर्थ, तेरह प्रकार चारित्र्यके लिए, प्राण रक्षाके लिए, उत्तम क्षमादि धर्मके पालनके लिए भोजन करना चाहिए। और भी वे ऊपर—(अन ध ५/६१) र सा ११६ बहुदुःखभायण कम्मकारणं भिण्णमपणो देहो। त देह धम्माणुट्ठान कारण चेदि पोसप भिक्खु ॥११६॥—यह शरीर दुखोंका पात्र है कर्म आनेका कारण है और आत्मासे सर्वथा भिन्न है। ऐसे शरीरको मुनिराज कभी पोषण नहीं करते हैं, किन्तु यही शरीर धमनिष्ठानका कारण है, यही समझकर इस शरीरसे धर्म सेवन करनेके लिए और मोक्षमें पहुँचनेके लिए मुनिराज इसको थोड़ा सा आहार देते हैं।

पृ ५/६७। भुञ्जते प्राणधूर्यर्थं प्राणा धर्मस्य हेतव ॥७६॥—(मुनि) भोजन प्राणों को रक्षके लिए ही करते हैं, क्योंकि प्राण धर्मके कारण हैं।

३ शरीरके उपचारार्थ औषध आदिकी भी इच्छा नहीं

मू आ ८३६ ८४० उप्पणम्मि य बाही सिरवेयण कुविलवेयण चैव। अधियासितं सुधियया फ्यातिपिणं ण इच्छति ॥३६॥ ण य दुम्मणा ण विह्वला अणाउला हौति चैय सप्पुरिसा। निप्प-
डियम्मसरीरा दैति उर बाहिरोगाण ॥८४०॥—उदररोगादिक उरपत्र होने पर भी तथा मस्तकमें पीडा होने पर भी चारित्र्यमें दृढ़ परिणाम वाले वे मुनि पीडाको सहन कर लेते हैं परन्तु शरीरका इलाज करने का इच्छा नहीं रखते ॥३६॥ वे सत्पुरुष रोगादिकके आने पर भी मन में खेद विन्न नहीं होते, न विचारश्चान्य होते हैं न आवुल हाते हैं किन्तु शरीरमें प्रतिकार रहित हुए व्याधि रोगोंके लिए हृदय दे देते हैं। अर्थात् सबको सहते हैं।

४ शरीर व सयमार्य ग्रहणका समन्वय

मू आ ८१५ अक्खोमवखणमेत्त भुजति मुणी पाणधारणमिम्भत्त। पाण धम्मणिमित्तं चम्मपि चरति माखलट्ठं ८१५॥—गाड़ोके भुग। चुप-
रनेके समान, प्राणोंके धारणके निमित्त वे मुनि आहार लेते हैं, प्राणोंको धारण करना धर्मक निमित्त है और धर्मको मोक्षके निमित्त प्राप्त है ॥८१५॥

प्र सा/त प्र २३० बालवृद्धप्रान्तग्लानेन सयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा सयतस्य स्वस्य याग्यमति-
वर्कशमाचरणमाचरता शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतस्यसाधन-
त्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात् तथा बालवृद्धप्रान्त-
ग्लानस्य स्वस्य योग्य मृद्वप्याचरणमाचरणीयमित्यापवादसापेक्ष उरसर्ग ॥—बाल वृद्ध प्रान्त-ग्लानके सयमका जो कि शुद्धात्म तत्त्व का साधनभूत होनेसे मूलभूत है उसका छेद जैसे न हो उस प्रकारका सयत ऐसा अपने योग्य अतिफिठोर आचरण आचरते हुए (उसके) शरीरका—जोकि शुद्धात्मतत्त्वके साधनभूत सयमका साधन होनेसे मूलभूत है उसका (भी) छेद जैसे न हो उस प्रकार बाल वृद्ध-
प्रान्त-ग्लानके (अपने) योग्य मृदु आचरण भी आचरना। इस प्रकार अपवाद सापेक्ष उरसर्ग है।

अ। अतु ११६-११७ अमो प्रलुडैराग्यास्तनुमप्यनुपास्य यत्। तपस्यन्ति चिर तद्धि ज्ञात ज्ञानस्य वैभवम् ॥११६॥ क्षणार्थमपि देहेन साहचर्यं नहेत क। यदि प्रकाशमादाय न स्याद्व्योधो निरोधक ॥११७॥—जिनके हृदयमें चिरकि उत्पन्न हुई है, वे शरीरकी रक्षा करके जो चिरकाल तक तपश्चरण करते हैं, वह निश्चयसे ज्ञानका ही प्रभाव है ऐसा प्रतीत होता है ॥११६॥ यदि ज्ञान पाँचे (क्षेत्रीके ऊपरका भाग) को ग्रहण करके रोकने वाला न होता तो कौन सा विवेक? जीव उस शरीरके साथ आधे क्षणके लिए भी रहना सहन करता। अर्थात् नहीं करता।

अन ध ४/१४० शरीर धर्मसयुक्तं रक्षितव्यं प्रयत्नत। इत्याप्तवाच-
स्वव्येहस्तयाज्य एवेति ॥१४०॥

अन ध ७/६ शरीरमाद्य किल धर्मसाधनं तदस्य यस्येव स्थितयेऽशना-
दिना। तथा यथाक्षणि वशे स्युरूपध, न वानुधावन्यनुमदृष्ट-
वशात् ॥६॥—जिससे धर्मका साधन हो सकता है उस शरीरको प्रयत्नपूर्वक रक्षा करना चाहिए इस शिक्षाको आश्र भगवान्के उप-
दिष्ट प्रवचनका तुष्ट—छिलका समझना चाहिए, क्योंकि आत्म-सिद्धि के लिए शरीर रक्षाका प्रयत्न निरुपयोगी है ॥६४०॥ शरीरने मना तप तथा और भी ऐसे ही धर्मोंका साधन नहीं हो सकता। अतएव आगममें ऐसा कहा है कि रत्नत्रय रूप धर्मका आद्य साधन शरीर है। इसीलिये साधुओंको भी भोजन पान शयन आदि के द्वारा इससे स्थिर रखनेका प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु हम बातको नश्यमें रखना चाहिए कि भोजनादिमें प्रवृत्ति ऐसी व उतनी हो हो जिससे कि इन्द्रियों अपने अधीन बनी रहें। ऐसा नहीं होना चाहिए कि अनादिकालकी वासनाके बशवर्ती होकर वे उन्मार्गीकी तरफ भी दौड़ने लगें ॥६॥

आहारक—जीव हर अवस्थामें निरन्तर नोकर्माहार ग्रहण करता रहता है इसलिए भले ही कवलाहार करे अथवा न करे वह आहारक कहलाता है। जन्म धारणके प्रथम क्षणसे ही वह आहारक हो जाता है। परन्तु विप्रगति व केशवी समुद्रवातमें वह उस आहारका ग्रहण न करनेके कारण अनाहारक कहलाता है। इसके अतिरिक्त विन्हीं बड़े ज्ञपियाका एक प्रसिद्ध प्रगट हो जाती है, जिसक प्रताप से वह इन्द्रियागोचर एक विशेष प्रकारका शरीर धारण करके इस पंच भौतिक शरीरसे बाहर निकल जाते हैं, और जहाँ वहाँ भी अर्हन्त भगवान् स्थित हों वहाँ तक शीघ्रतासे जाकर उनका स्पर्श कर शीघ्र लौट आते हैं, पुन पूर्ववत् शरीरमें प्रवेश कर जाते हैं, ऐसे शरीरक आहारक शरीर कहते हैं। यद्यपि इन्द्रियों द्वारा देखा नहीं जाता पर विशेष योगियाँको ज्ञान द्वारा इसका वर्ण धवल दिखाई देता है। इस प्रकार आहारक शरीर धारकका शरीरसे बाहर निकलना आहारक समुद्रवात कहलाता है। नोकर्माहारके ग्रहण करते रहनेके कारण इसकी आहारक संज्ञा है।

१ आहारक मार्गणा निर्देश

१ आहारक मार्गणाके भेद

२ आहारक जीवका लक्षण

३ अनाहारक जीवका लक्षण

४ आहारक जीव निर्देश

५ अनाहारक जीव निर्देश

६ आहारक मार्गणामें नोकर्माका ग्रहण है, कवलाहारका नहीं

* आहारक व अनाहारक मार्गणामें गुणस्थानोका स्वामित्व

—दे आहारक १/४-५

७ पर्याप्त मनुष्य भी अनाहारक कैसे हो सकते हैं

८ कार्माण कर्मयोगीको अनाहारक कैसे कहते हैं

* आहारक व अनाहारकके स्वामित्व सम्बन्धी जीव-समाम, मार्गणा स्थानादि २० प्ररूपणाएँ

—दे सव

* आहारक व अनाहारकके सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पवहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ

—दे वह वह नाम

* आहारक मार्गणामें कर्मोका वन्ध उदय व सत्त्व

—दे वह वह नाम

* भाव मार्गणाकी इष्टता तथा वहाँ आयके अनुसार व्यय होनेका नियम —दे मार्गणा

२ आहारक शरीर निर्देश

१ आहारक शरीरका लक्षण

* पाँचो शरीरकोका उत्तरोत्तर सूक्ष्मत्व व उनका स्वामित्व —दे शरीर १,२

२ आहारक शरीरका वर्ण घवल ही होता है

३ मस्तकसे उत्पन्न होता है

४ कई लाख योजन तक अप्रतिहत गमन करनेमें समर्थ

* आहारक शरीर सर्वथा अप्रतिघाती नहीं है —दे वैकृतिक

* आहारक शरीर नामकर्म का वन्ध उदय सत्त्व —दे वह वह नाम

* आहारक शरीरकी सघातन परिशातन कृति —दे घ ६/पृ ३६६ ४६१

५ आहारक शरीरमें निगोद राशि नहीं होती

६ आहारक शरीरकी स्थिति

७ आहारक शरीरका स्वामित्व

* आहारक शरीरके उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट प्रदेशोके सचय का स्वामित्व —दे प लं १४/६,६/सू ४४६-४६०/४१४

८ आहारक शरीरका कारण व प्रयोजन

३ आहारक समुद्धात निर्देश

१ आहारक ऋद्धिका लक्षण

२ आहारक समुद्धातका लक्षण

३ आहारक समुद्धातका स्वामित्व

४ इष्टस्थान पर्यन्त सख्यात योजन लंवे सूच्यगुल योजन चौडे ऊँचे क्षेत्र प्रमाण विस्तार है

* केवल एकही दिशामें गमन करता है तथा स्थिति सख्यात समय है —दे समुद्धात

५ समुद्धात गत आत्म प्रदेशोका पुन औदारिक शरीरमें सघटन कैसे हो

* सातो समुद्धातके स्वामित्वकी ओघ आदेश प्ररूपणा —दे समुद्धात

* आहारक समुद्धातमें वर्ण शक्ति आदि —दे आहारक शरीरवत्

४ आहारक व मिश्र काययोग निर्देश

१ आहारक व आहारक मिश्र काययोगका लक्षण

२ आहारक काययोगका स्वामित्व

३ आहारक योगका स्त्री व नपु सक वेदके साथ विरोध तथा तत्सम्बन्धी शका समाधान आदि

* आहारक शरीर व योगका मन पर्ययज्ञान, प्रथमोप-क्षमसम्पक्त्व परिहार विषुद्धि मयमसे विरोध है —दे परिहार विषुद्धि

* आहारक काययोग और वैकृतिक काययोगकी युगपत् प्रवृत्ति सम्व नही —दे आदि १०

४ आहारक काययोगीको अपर्याप्तपना कैसे

५ आहारक काय योगमें कथचित् पर्याप्त अपर्याप्तपना

* पर्याप्तावस्थामें भी कार्माण शरीर तो होता है, फिर तहाँ मिश्र योग क्यों नहीं कहते ? —दे काय ३

६ आहारक मिश्रयोगीमें अपर्याप्तपना कैसे सम्व है

७ यदि है तो वहाँ अपर्याप्तावस्थामें भी संयम कैसे सम्व है

* आहारक व मिश्र योगमें मरण सम्बन्धी —दे मरण ३

१ आहारक मार्गणा निर्देश

१ आहारक मार्गणाके भेद

प ल १/१,१/सू १७४/४०६ आहारानुवादेण अस्थि आहारा अनाहारा १७६। —आहारक मार्गणाके अनुवादसे आहारक और अनाहारक जीव होते हैं १७६।

प्र स वृ/टी १३/४० आहारकानाहारकजीवभेदेनाहारकमार्गणापि द्विधा । —आहारक अनाहारक जीवके भेदसे आहारक मार्गणा भी दो प्रकार की है ।

२ आहारक जीवका लक्षण

प सं/प्रा १/१७६ आहारक जीवान् तिष्ठन् एकदरवगणाजो य । भासा मणत्स नियम तन्हा आहारको भणितो १७६। —जो जीव औदारिक वैकृतिक और आहारक इन शरीरोंमें से उदयको प्राप्त हुए किसी एक शरीरके योग्य शरीर वर्णणाको तथा भगवा वर्णणा और मनो-वर्णणाको नियमसे ग्रहण करता है, वह आहारक कहा गया है १७६। (प सं/प्रा १/१७७), (घ १/१,१,६/६७-६८/१६३), (प सं/स १/२४०), (गो जी/सू ६६४-६६६) ।

स सि २/३०/१८६/१० त्रयाणां शरीराणां पण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गल-ग्रहणमाहारः । —तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करनेको आहार कहते हैं (रा वा २/३०/४/१४०), (उ सा २/६४) रा वा ६/७/११/६०४/१६ उपभोगशरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणमाहार तद्वि-परीतोऽनाहार । तत्राहार शरीरनामोदयात् विग्रहगतिनामोदया भाषाश्च भवति । अनाहार शरीरनामप्रयोदयाभावात् विग्रहगतिनामोदयाश्च भवति । —उपभोग्य शरीरके योग्य पुद्गलोंका आहार है । उससे विपरीत अनाहार है । शरीर नामकर्मके उदय और विग्रह-गति नामकर्मके उदयाभावासे आहार होता है । शरीर नामकर्मके उदयाभाव और विग्रहगति नामकर्मके उदयसे अनाहार होता है ।

३ अनाहारक जीवका लक्षण

स सि २/३०/१८६/१० तदभावनाहारक १३०। —तीन शरीरों और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंके रूप आहार जिनके नहीं होता, वह अनाहारक कहलाते हैं । (रा वा २/३०/४/१४०), (रा वा ६/७/११-६०४/१६), (त सा २/६४)

४ अहारक जीव निर्देश

प सं/प्रा १/१७७ विग्रहगताभावणा केवलिणो समुहो अजोगी य । सिद्धा य अणहारा सेना आहारया जीवा १७७। —विग्रहगत जीव, प्रतर व लोक पूरण प्राप्त सयोग केवली और अयोग केवली, तथा सिद्ध

भगवान्के अतिरिक्त शेष जीव आहारक होते हैं। (ध १/१,१४/६६/१४३), (गो जी/मू/६६६)

स सि २/३०/१८६/११ उपपादक्षेत्र प्रति ऋजुव्यो गतो आहारक । — जत्र यह जीव उपपाद क्षेत्रके प्रति ऋजुगतिमें रहता है तब आहारक होता है। (क्योंकि शरीर छोड़ने व शरीर ग्रहणके बीच एक समय का भी अन्तर पड़ने नहीं पाता।)

५ अनाहारक जीव निर्देश

प ख १/१,१/सू १७७/४१० अणाहारा चद्रुस दृष्टोऽसि विग्रहगृहसमाव-
ण्णान् केवलीणं वा समुग्धाद गदाणं अजोगिकेवली सिद्धा चेदि। १७७।
— विग्रहगतिको प्राप्त मिथ्याव सासादन और अविरति सम्पृष्टि
गुणस्थान गत जीव तथा समुद्घातगत सयोगि केवली, इन चार गुण-
स्थानोंमें रहनेवाले जीव और अयोगी केवली तथा सिद्ध अनाहारक
होते हैं। (स सि १/८/३३/६), (स सा २/६६)

त सू २/३० एक द्वौ त्रीन्नाहाराहारा । — विग्रहगतिमें एक, दो तथा
तीन समयके लिए जीव अनाहारक होता है।

प सं/प्रा १/१७७ विग्रहगृहसमावण्णा केवलितो समुद्घातो अजोगी य।
सिद्धाय अणाहारा जीवा। १७७। — विग्रहगतिको प्राप्त हुए चारों
गतिके जीव, प्रतर और लोक समुद्घातको प्राप्त सयोगि केवली और
अयोगि केवली तथा सिद्ध ये सब अनाहारक होते हैं। (ध १/१,१४/६६/१४३), (गो जी/मू ६६६)

रा वा २/३०/६/१४०/१२ विग्रहगती शेषस्याहारस्याभाव । — विग्रहगति
में नोकर्मसे अतिरिक्त बाकीके कबलाहार, लेपाहार आदि कोई भी
आहार नहीं होते।

गो जी/मू ६६८ । कम्हय अणाहारी अजोगिसिद्धेऽविनायवो ।
— मिथ्यादृष्टि, सासादन और असंयत व सयोगि इनके कर्मण अवस्था
विषे और अयोगी जिन व सिद्ध भगवान् इन विषे अनाहार है।

स सा/मू ६१६/७३० णवरि समुग्धादगवे पदरे तह लोगपूरणे पदरे ।
णत्थि तिसमये गियमा णोकम्माहारयं तथ ६१६। — इतना विशेष
जो केवली समुद्घातको प्राप्त केवली विषे दो तो प्रतर समुद्घातके
समय (आरोहण व अवरोहण) और एक लोकपूर्णका समय इन तीन
समयनिविषे नोकर्मका आहार नियमसे नहीं होता।

६ आहारक मार्गणामें नोकर्माहारका ग्रहण है कबलाहार का नहीं

ध १/१,१७६/४०६/१० अत्र कवललेपोधमन कर्महारान् परिउयय
नाकर्महारो ग्राह्य अन्यथाहारकालविरहान्मां सह विरोधात् । —
यहाँपर आहार शब्दसे कबलाहार, लेपाहार, उष्माहार, मानसिकाहार,
कर्महारको छोड़कर नोकर्माहारका ही ग्रहण करना चाहिए।
अन्यथा आहारकाल और विरहके साथ विरोध आता है।

७ पर्याप्त मनुष्य भी अनाहारक कैसे हो सकते हैं

ध १/१,१/५०३/१ अजोगिभगवत्सत्तरी-णिमित्तमागच्छमाणपरमाणु-
णामभाव पेयित्थुण पञ्जाणमणाहरित लब्धमि । — प्रश्न—मनुष्यों
में पर्याप्त अवस्थामें भी अनाहारक होनेका कारण क्या है। उत्तर—
मनुष्योंमें पर्याप्त अवस्थामें अनाहारक होनेका कारण यह है कि
अयोगिकेवली भगवान्के शरीरके निमित्तभूष आनेवाले परमाणुओंका
अभाव देखकर पर्याप्त मनुष्यको भी अनाहारकपना मन जाता है।

८ कर्मण काययोगीको अनाहारक कैसे कहते हो

ध २/१,१/६६६/५ कम्ममगहणमरियत्त पडुअ आहारित्ति किण्ण उच्चदि
त्ति भणिदे ण उच्चदि, आहारित्ति तिणिण-समय-विरहकालोवत्तद्धानो ।
— प्रश्न—कर्मण काययोगीको अवस्थामें भी कर्म वर्गणाओंके ग्रहणका
अस्तित्व पाया जाता है। इस अपेक्षासे कर्मण योगी जीवोंको
आहारक क्यों नहीं कहा जाता। उत्तर—उन्हें आहारक नहीं कहा

जाता है, क्योंकि कर्मण काययोगिके समय नोकर्म वर्गणाओंके आहार
का अधिकसे अधिक तीन समय तक विरहकाल पाया जाता है।
(आहारक मार्गणामें नोकर्माहार ग्रहण किया गया है कबलाहार नहीं।
वे आहार १/६)

२ आहारक शरीर निर्देश

१ आहारक शरीरका लक्षण

स सि २/३६/१६१/७ सूक्ष्मपदार्थ निर्णानार्थम संयमपरिजिहीर्षया वा
प्रमत्तसयतेनाहियते निर्वर्यते तदिश्याहारकम् । — सूक्ष्म पदार्थका
ज्ञान करनेके लिए या असंयमको दूर करनेकी इच्छासे प्रमत्त सयत
जिस शरीरको रचना करता है वह आहारक शरीर है। (रा वा २/
३६/७/१४६/६)

रा वा २/४६/३/१४२/२६ न ह्याहारकशरीरेणान्यस्य व्याघातो नाप्य-
न्येनाहारकस्यैरयुभयतो व्याघाताभावादव्याघातीति व्यपदिश्यते ।
रा वा २/४६/८/१४३/१४ दुरधिगमसूक्ष्मपदार्थ निर्णयलक्षणमाहारकम् ।
— न तो आहारक शरीर किसीका व्याघात करता है, न किसीसे
व्याघातित ही होता है, इसलिए अव्याघाती है। सूक्ष्म पदार्थके
निर्णयके लिए आहारक शरीर होता है।

ध १/१,१४६/१६४/२६४ आहरदि अणेण सुणी सुहुमे अट्ठे सयस्स
सवेह । गत्ता केवल्लि-पास । १६४। — छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि अपने
को सन्देह होने पर जिस शरीरके द्वारा केवलीके पास जाकर सूक्ष्म
पदार्थका आहरण करता है, उसे आहारक शरीर कहते हैं।

ध १,१,४६/२६२/३ आहरति आत्मासारकरोति सूक्ष्मानर्थानेनेति
आहार । — जिसके द्वारा आत्मा सूक्ष्म पदार्थका ग्रहण करता है,
उसको आहारक शरीर कहते हैं।

प ख १/४/६/६/मू २३६/३२६ णियुणाण वा णिण्णान सुहुवाण वा
आहारदव्वाण सुट्टमदरमिदि आहारय २३६।

ध, १/४/६, २४०/३२७/४ णिज्जा, अण्हा, मज्जा णिण्हां धवला सुअधा
मुदु सुदरा त्ति अप्पहिहया सुहुमा णाम । आहारदव्वाण मच्चे
णिउणदरं णिण्णदर खध आहारसरीरणिप्पायणट्ठं आहारदि गेण्हदि
त्ति आहारयं । — निपुण, स्निग्ध और सूक्ष्म आहारक द्रव्योंमें सूक्ष्मतर
है, इसलिए आहारक है। २३६। निपुण अर्थात् अण्हा और मुदु स्निग्ध
अर्थात् धवल, सुगन्ध, मुण्ड और सुन्दर अप्रतिहतका नाम सूक्ष्म है।
आहार द्रव्योंमें-से आहारक शरीरको उत्पन्न करनेके लिए निपुणतर
और स्निग्धतर स्कन्दको आहरण करता है अर्थात् ग्रहण करता है,
इसलिए आहारक कहलाता है।

गो जी/मू २३७ उत्तमअगम्हि हवे धादुविहीण सुह असहण । सुह-
सठाणं धवलं हत्थपमाण पसथुदयं २३७। — सो आहारक
शरीर कैसा हो रसादिक सप्तधातु करि रहित हो है। बहुरि
शुभ नामकर्मके उदय तै प्रशस्त अवयवका धारी प्रशस्त
हो है, बहुरि संहनन करि रहित हो है बहुरि शुभ जो सम-
चतुरस्र संस्थान वा अगोपगका आकार ताका धारक हो है।
बहुरि चन्द्रमणि समान श्वेत वर्ण, हस्त प्रमाण हो है। प्रशस्त आहा-
रक शरीर बन्धननादिक पुण्यरूप प्रकृति तिनिका उदय जाका ऐसा
हो है। ऐसा आहारक शरीर उत्तमांग जो है मुनिका मस्तक तहाँ
उत्पन्न हो है।

२ आहारक शरीरका वर्ण धवल ही होता है

ध ४/१,३,२/२८/६ त च हत्थुस्सेधं हसधवल सर्वगमुन्दर । — एक हाथ
ऊँचा, हसके समान धवल वर्ण वाला तथा सर्वांग सुन्दर होता है।
(गो जी/मू २३७)

३ मस्तकसे उत्पन्न होता है

ध ४/१,३,२/२८/७ उत्तमंगसभव । — उत्तमांग अर्थात् मस्तकसे उत्पन्न
होने वाला है। (गो जी/मू २३७)

४ कई लाख योजन तक अप्रतिहत गमन करनेमें समर्थ

घ ४/१३,२/२८/६ अणयोजनजलस्रवणमणखर्म अपष्टिहयगमण । — अण-
मात्रमें कई लाख योजन गमन करनेमें समर्थ, ऐसा अप्रतिहत गमन
वाला । (गो जी /वू २३८)

५ आहारक शरीरमें निगोद राशि नहीं होती

घ १४/५ ६,६१/८१/८ आहारसरोरा पमत्तसजदा पत्तेयसरीरा
वृच्चति, एदेसि निगोदजीवेहि सह समधाभावादा । — आहारक
शरीरी, प्रमत्तसयत ये जीव प्रत्येक शरीरवाले होते हैं । क्योंकि
इनकी निगोद जीवोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता ।

६ आहारक शरीरकी स्थिति

गो जी /वू २३८ अतोमुहुत्तकालिट्ठो जहण्णिदरे । २३८ । — बहुतरि
जाकी (आहारक शरीरकी) जघन्य वा उरुकृ स्थिति अन्तर्मुहूर्त
काल प्रमाण है ।

७ आहारक शरीरका स्वामित्व

रा वा २/४६/१६३/६ यदा आहारकशरीरं निर्वर्तयितुमारभते तदा
प्रमत्तो भवतीति प्रमत्तसयतस्येयुच्यते । — जिस समय मुनि आहा-
रक शरीरकी रचना करता है, उस समय प्रमत्तसयत हो होता है ।
(विशेष दे आहारक/३/३)

८ आहारक शरीरका कारण व प्रयोजन

रा वा २/४६/१६३/१ कदाचित्तन्धिनिधेषोपसद्भावान्नाम कदाचि-
त्सुम्पदार्थं निर्धारणाथ सयमपरिपालनार्थं च भरते रायतेषु केवली-
विरहे जातसशयस्तत्त्रिण्यार्थं महाविदेहेषु केवलिसकाश जगिमधु-
रौदारिकेण मे महानसयमो भवतीति विद्वानाहारक निर्वर्तयति ।
— कदाचित् श्रद्धिका सद्भाव जाननेके लिए, कदाचित् सूक्ष्म पार्थीका
निर्णय करनेके लिए, समयके परिपालनके अर्थ, भरत रेरावत क्षेत्रमें
केवली का अभाव होनेसे, तत्त्वोंमें, संशयको दूर करनेके लिए महा
विदेह क्षेत्रमें और शरीरसे जाना तो शक्य नहीं है, और इससे मुझे
असयम भी बहुत होगा, इसलिए विद्वान् मुनि आहारक शरीरकी
रचना करता है । (गो जी /वू २३६-२३६,२३६)

घ ४/१ ३,२/२८/७ आणाकणिट्ठदा एसजममहुलदा एच लद्धप्पसरुव ।
— जो आहारीक अर्थात् श्रुतज्ञानकी कनिष्ठता अर्थात् हीनताके होने-
पर और असयमकी बहुलता होने पर जिसने अपना स्वरूप प्राप्त
किया है ऐसा है ।

घ १४/५ ६ २३६/३२६/३ अर्जजममहुलदा आणाकणिट्ठदा सगखेत्ते केवलि
विरहो चि एदेहि तोहि कारणेहि साहू आहारशरं पडिवज्जति ।
जल-थल-आगासेसु अक्रमेण सुहुमजीवेहि दुप्परिहणज्जेहि आऊरि-
देसु अर्जजममहुलदा होदि । तत्परिणट्ठं आहारशरीरं साहू पडि-
वज्जति । तैदेमाहारपडिवज्जणमसज्जमहुलदाणिमिचामिदि
भण्णिदि । तिस्ते कणिट्ठदा सगखेत्ते थोमत्त आणाकणिट्ठदा नाम ।
एद विदियं कारणं । आगम मोत्तण अणपमाण गोयरमहम्मिदूण
टिट्ठेसुव्वपज्जाएसु सदेहे समुप्पण्णो सगसदेहे विणासण टट्ठं परखेत्त-
टिट्ठय सुदकेवलि-केवलीण वा पादमूलं गच्छामि णि चित्तविदूण
आहारशरीरेण परिणमिय गिरि सरि सायर मेरु कुलसेलपायालान्
गंतूण विणएण पुच्छिय विणट्ठस वेहा होदूण पडिणियसिदूण आग-
च्छति चि भणिद होह । परखेत्तमिह महामुणीण केवसाणाणुप्पत्ति ।
परिणिवाणगमणं परिणिवलमणं वा तिरथयरानं तदियं कारणं ।
विहअण रिद्धिविरिहदा आहारलद्धिसपण्णा साहू ओहणाणेण सुद-
णाणेण वा दवागमचित्तेण वा केवलणाणुप्पत्तिमगत्तूण वदणाभलीए
गच्छामि चि चित्तविदूण आहारशरीरेण परिणमिय तत्पदेस गत्तूण तैसि
कवनीणमण्णेसि च जिण-जिणहराण वदण काऊण आपगच्छति ।
— असयम बहुलता आहारा कनिष्ठता और अपने क्षेत्रमें केवली विरह
इम प्रकार इन तीन कारणोंसे साधु आहारक शरीरको प्राप्त होते हैं ।

जल, स्थल और आकाशके एक साथ सुप्परिहार्य सूक्ष्म जीवोंसे आ-
वृत्त होनेपर असयम बहुलता होती है । उसका परिहार करनेकेलिए
साधु आहारक शरीरका प्राप्त होते हैं । इसलिए आहारक शरीरका
प्राप्त करना असयम बहुलता निमित्तक कहा जाता है । आहारा
उसकी कनिष्ठता अर्थात् उसका अपने क्षेत्रमें थोड़ा होना आहारा
कनिष्ठता कहलाती है । यह द्वितीय कारण है । आगमको छाड़कर
द्रव्य और पर्यायोंके अन्य प्रमाणोंके विषय न होने पर अपने सन्देह
को दूर करनेके लिए परस्परमें श्रुतकेवली और केवलीक पादमूलमें
जाता हूँ ऐसा विचार कर आहारक शरीर रूपसे परिणमन करके
गिरि, नदी, सागर मेरुपर्वत, कुलाचल और पातालमें केवली और
श्रुतकेवलीक पास जाकर तथा विनयसे पुछकर सन्देहमें रहित होकर
लौट आते हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है । परस्परमें महामुनियोंके
केवलज्ञानकी उत्पत्ति और परिनिर्माणगमन तथा तीर्थंकरोंके
परिनिष्क्रमण कथानक यह तीसरा कारण है । विविधश्रद्धासे रहित
और आहारक लब्धसे युक्त साधु अवधिज्ञानसे या श्रुतज्ञानसे देवोंके
आगमनके विचारसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति जानकर वन्दना भक्तिसे
जाता हूँ ऐसा विचार कर आहारक शरीर रूपसे परिणमन कर उस
प्रदेशमें जाकर उन केवलियोंकी और दूसरे जिनोंकी व जिनालयोंकी
वन्दना करके वापिस आते हैं ।

३ आहारक समुद्धात निर्देश

१ आहारक श्रद्धिका लक्षण

घ १/१,१,६०/२६८/४ संयमविशेषेणजिताहारशरीरोत्पादनशक्तिराहा-
रिदिति । — संयम विशेषसे उत्पन्न हुई आहारक शरीरके उत्पादन
रूप शक्तिको आहारक श्रद्धा कहते हैं ।

२ आहारक समुद्धातका लक्षण

रा वा १/२०/१२/७७/१८ अणपसावयसूक्ष्मार्थं प्रहणप्रयोजनाहारक-
शरीरनिर्वर्त्यय आहारकसमुद्धात । आहारकशरीरमारमा निर्वर्त-
यत् प्रेणिगतिराश्व आरमदेशानसरयात्तार्त्तिगम्य आहारकशरीरम्
निर्वर्तयति । — अण हिंसा और सूक्ष्मार्थ परिज्ञान आदि प्रयोजनों
के लिए आहारक शरीरकी रचनाके निमित्त आहारक समुद्धात होता
है । आहारक शरीरकी रचनाके समय प्रेणी गति होनेके कारण
असंख्य आरामप्रदेश निकल कर एक अरारिण प्रमाण आहारक शरीर
को बनाते हैं ।

घ ७/२ ६,१/३००/६ आहारसमुद्धादो नाम हृथपमाणेण सव्वगुरुदरेण
समचउरससंठाणेण हसघयलेण रसकधिर मांस-मेदट्ठि-मज्ज सुक्कसत्ताधा
उवज्जिएण विसग्गि सरयादिसयलमाहामुवकेण वज्ज-सिला-थ भ-जल
पव्वयगमणदच्छेण सीसादो उरगएण वेहेण तिरथयरपादमूलगमण ।
— हस्त प्रमाण सर्वांग सुन्दर, समचतुरस्र-मस्थानसे युक्त, इसके
समान धवल, रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्ल इन
सात धातुओंसे रहित, विष अग्नि एवं शस्त्रादि समस्त बाधाओंसे
मुक्त वज्र, शिला, स्तम्भ, जल व पर्वतोंमें से गमन करनेमें दक्ष, तथा
मस्तकसे उत्पन्न हुए शरीरसे तीर्थंकरक पादमूलमें जानेका नाम आहा-
रक समुद्धात है ।

प्र स /टी १०/२६ समुत्पन्नपदार्थं भ्रान्ते परमद्विसपन्नस्य महर्षेर्मु-
ल-शरीरं परित्यज्य शुद्धस्फटिकाकृतिरेकहस्तप्रमाणं पुरुषो मस्तकमध्या
त्रिगम्य यत्र कुत्रचिदन्तर्मुहूर्तं मध्ये कवलज्ञानिनं पश्यति तद्वर्तनाच्च
स्वाभयस्य मुने पदपदाथ निश्चयं समुत्पन्नं पुन रवस्थाने प्रवर्तयति,
असावाहारकसमुद्धात । — पद और पदार्थमें जिसका कुछ संशय
उत्पन्न हुआ हो, उस परम आधिक्य मरतकमें-से मूल शरीरका न
छोड़कर, निमल स्फटिकके रंगका एक हाथका पुतला निकल कर
अन्तर्मुहूर्तमें लहीं कहीं भी केवलीको देखता है तब उन केवलीके
दर्शनसे अपने आहार्य मुनिको पद और पदार्थका निश्चय उत्पन्न
कराकर फिर अपने स्थानमें प्रवेशकर जावे सो आहारक समुद्धात है ।

३ आहारक समुद्धातका स्वामित्व

त सू २/४६ शुभं विद्युद्धमव्याघाति आहारक प्रमत्तसयत्स्यैव ।४६।
आहारक शरीर शुभ, विद्युद्ध व्याघात रहित है और वह प्रमत्तसयत्
के ही होता है ।

स सि ८/१३७६/२ आहारककाययोगाहारकमिश्रकाययोगयो प्रमत्त-
सयते संभाव्य । — प्रमत्तसयत् गुणस्थानमें आहारक श्रद्धिधारो
मुनिके आहारक काय योग और आहारक मिश्र योग भी सम्भव है ।
रा वा २/४६/७/१६३/८ प्रमत्तसयत्स्यैवाहारकं नान्यस्य । — प्रमत्त-
सयत्के ही आहारक शरीर होता है ।

ध ४/१ ३,२/२८/४ आहारसमुद्धातो नाम पत्तिहृदोण महारिसोण होदि ।

ध ४/१ ३,२/३८/६ मिच्छाहृदिस्स सेस-तिणिण विसेसणाणि ण सभवति,
तत्कारणसजमादिगुणानमभावादो ।

ध ४/१,३,६१/१२३/७ णवरि पमत्तसजधे तेजाहार णरिथ ।

ध ४/१,३,८२/१३६/६ णवरि परिहारविद्युद्धो पमत्तसजदस्स उवसमसम्मत्तेण
तेजाहार णरिथ । — १ जिनको श्रद्धि प्राप्त हुई है ऐसे महर्षियोंके
होता है । २ मिथ्यादृष्टि जीव राशिके (आहारक समुद्धात) सम्भव
नहीं, क्योंकि इसके कारणभूत गुणोंका मिथ्यादृष्टि और असयत् व
सयत्तासयत्तोंके अभाव हैं । ३ (प्रमत्त सयत्तमें भी) परिहार विद्युद्धि
संयत्के आहारक व तैजस समुद्धात नहीं होता । ४ प्रमत्तसयत्तके
उपशम सम्पत्तवके साथ आहारक समुद्धात नहीं होता है । (ध /
४/१,४,१३६/२८६/११)

४ इष्टस्थान पर्यन्त सस्यात योजन लम्बे सूच्यगुल योजन चौड़े ऊँचे क्षेत्र प्रमाण विस्तार हैं

गो जो/भापा ४४/६४६/६ आहारक समुद्धात विषे एक जीवके शरीर
तै बाह्य निकसे प्रदेश तै संरयात योजन प्रमाणलम्बा अर सूच्यगुल
का सरयातवर्ग भाग प्रमाण चौड़ा ऊँचा क्षेत्रकौ रोकें । याका घनरूप
क्षेत्रफल सरयात घनागुल प्रमाण भया । इसकरि आहारक समुद्धात
वाले जीवनि का सस्यात प्रमाण है ताकी गुणें जा प्रमाण होह तितना
आहारक समुद्धातविषे क्षेत्र जानना । ल शरीर तै निकसि आहा-
रक शरीर जहाँ जाह तहाँ पर्यन्त लम्बी आत्माके प्रदेशानिकी श्रेणी
सूच्यगुलका सस्यातवर्ग भाग प्रमाण चौड़ा अर ऊँची आकाश विषे है

५ समुद्धात गत आत्म प्रदेशोका पुन औदारिक शरीर मे सघटन कैसे हो

ध १/१,१,६६/२६२/८ न च गतितायुषमिव शरीरे पुनरुत्पत्तिविरो-
धात् । ततो न सत्यौदारिकशरीरेण पुन सघटनमिति ।

ध १/१,१ ६६/२६३/३ सर्वास्मिन्ना तयोर्वियोगो मरणं नैकदेशेन आगला-
दप्युपमं दूतजोबावयवानी मरणानुपलम्भात् जीविताधिन्नहस्तेन
व्यभिचाराद्यन पुनरस्यार्थ सर्वव्ययै पूर्वशरीरपरित्याग समस्ति
येनास्य मरण जायेत । — प्रश्न—जिसकी आयु नष्ट हो गयी है ऐसे
जीवकी पुन उस शरीरमें उत्पत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि, ऐसा
माननेमें विरोध आता है । अत जीवका औदारिक शरीरके साथ
पुन सघटन नहीं बन सकता अर्थात् एक बार जीव प्रदेशोंका आहा-
रक शरीरके साथ सम्बन्ध हो जानेपर पुन उन प्रदेशोंका पूर्व औदा-
रिक शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता । उत्तर—ऐसा नहीं है,
ता भी जीव और शरीरका सम्पूर्ण रूपसे वियोग ही मरण हो
सकता है । उनका एकदेश रूपसे वियोग मरण नहीं हो सकता,
क्योंकि जिनके कण्ठ पर्यन्त जीव प्रदेश संकुचित हो गये हैं, ऐसे
जीवोंका मरण भी नहीं पाया जाता है । यदि एकदेश वियोगको
भी मरण माना जावे, तो जीवित शरीरसे छिन्न होकर जिसका हाथ
अलग हो गया है उसके साथ व्यभिचार आयेगा । इसी प्रकार

आहारक शरीरको धारण करना इसका अर्थ सम्पूर्ण रूपसे पूर्व (औदा-
रिक) शरीरका त्याग करना नहीं है जिससे कि आहारक शरीरके
धारण करने वालेका मरण माना जावे ।

४ आहारक व मिश्र काययोग निर्देश

१ आहारक व आहारक मिश्र काययोगका लक्षण

प /स /प्रा १/६७-६८ आहारक अणेण मुणि सुहुमे अट्ठे सयस्स सदेहे ।
गत्ता केवलपास तम्हा आहारकाय आगा सो ।६७। अतामुहत्तमज्जं
वियाणमिस्स च अपरिपुण्णो ति । जा तेण सपआगो आहारय-
मिस्सकायजोगो सो ।६८। — स्वयं सूक्ष्म अर्थमें सन्दह उत्पन्न होनेपर
मुनि जिसके द्वारा केवली भगवान्क पास जाकर अपने सन्देह
को दूर करता है, उसे आहारक काय कहते हैं । उसके द्वारा
उत्पन्न होने वाले योगका आहारक काययोग कहते हैं । ।६७। आहारक
शरीरकी उत्पत्ति प्रारम्भ होनेके प्रथम समयसे लगाकर शरीर पर्याप्ति
पूण होने तक अन्तर्मुहूर्तके मध्यवर्ती अपरिपूर्ण शरीरको आहारक
मिश्र काय कहते हैं । उसके द्वारा जो याग उत्पन्न होता है वह
आहारक मिश्र काययोग कहलाता है । (गो जी /मू २३६)

ध १/१,१/१६४-१६६/२६४ । तम्हा आहारका जागो ।१६४।
आहारयमुत्तर्ध वियाणमिस्स च अपरिपुण्ण । । जा तेण सपआगो
आहारयमिस्सका जागो ।१६५। — आहारक शरीरक द्वारा होने वाले
योगको आहारक काययाग कहते हैं ।१६५। आहारकका अर्थ कह
आय हैं । वह आहारक शरीर जब तक पूर्ण नहीं होता तब तक
उसको आहारक मिश्र कहते हैं । और उसके द्वारा, जो संप्रयाग
होता है उसे आहारक मिश्र काययाग कहते हैं ।१६६। (गो जी /
मू २४०)

ध १/१,१,६६/२६२/६ आहारकामणस्कन्धत समुत्पन्नयोर्येण योग
आहारमिश्रकाययाग । — आहारक और कामाणिकी वर्गणाओंसे
उत्पन्न हुए कीयोंके द्वारा जा योग होता है वह आहारक मिश्र काय-
योग है ।

२. आहारक काययोगका स्वामित्व

प र्व १/१,१,६१/सू ६६,६३/२६७,३०६ आहारकायजोगो आहारमिस्स-
कायजागा सज्जदानमिद्ध पत्ताण ।६६। आहारकायजागा आहार-
मिस्सकायजोगा एकन्दि चैव पमत्तसज्ज द्वाणे ।६७। — आहारक
काययोग और आहारक मिश्रकाययोग श्रद्धि प्राप्त छठे गुणस्थानवर्ती
सयत्तोंके होता है ।६८। आहारक काययोग और आहारकमिश्रकाययाग
एक प्रमत्त गुणस्थानमें ही होते हैं ।६९। (सि सि ८/२/३७६/३)

३. आहारक योगका स्त्री व नपुंसक वेदके साथ विरोध

तथा तत्सम्बन्धी शका समाधान

ध २/१,१,६१/१ मणुसिणीं भणमाणे आहारआहारमिस्सकाय
जोगा णरिथ । किं कारणं । जेसि भावा इत्थिवेदा दव्वं पुण पुरिस-
वेदो, ते जीवा सज्ज पठिबज्जति । दव्विथिवेदा स जज्ज पठि-
वज्जति, सचेलत्तास । भाविथिवेदाण दव्वेण पुवेदाण पिसज्जदाण
णाहाररिद्धिसमुप्पज्जाद दव्व-भावोह पुरिसवेदाणमेव समुप्पज्जाद
तेणिथिवेदे पि गिरुद्धे आहारकुण णरिथ । — मनुष्यकी श्रद्धाओंके
आलाप कहने पर आहारक मिश्रकाययाग नहीं होता । प्रश्न—
मनुष्य-रिद्धियोंके आहारक काययाग और आहारक मिश्रकाययाग नहीं
होनेका कारण क्या है । उत्तर—यद्यपि जिनके भावकी अपेक्षा स्त्री-
वेद और द्रव्यकी अपेक्षा पुरुषवेद होता है वे (भाव स्त्री) जीव भी
सयमको प्राप्त होते हैं । किन्तु द्रव्यकी अपेक्षा स्त्री वेदवाले जीव सयम
को प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि, वे सचेत अर्थात् बस्त्र सहित होते
हैं । फिर भी भावकी अपेक्षा स्त्री वेदी और द्रव्यकी अपेक्षा पुरुष
वेदी सयमधारी जीवोंके आहारक श्रद्धि नहीं हाती । किन्तु द्रव्य

और भाव इन दोनों ही वेदोंकी अपेक्षासे पुरुष वेद मालिके आहारक श्रुति होती है। (और भी वे वेद/६/३)

घ २/१.१/६७/३ अन्वसत्यवेदेति साहारिन्दी ण उत्पज्जदि सि।
—अप्रदास्त वेदोंके साथ आहारक श्रुति नहीं उत्पन्न होते हैं (क, पा/ पु ३/२/४४२६/२४१/१३)

घ २/१.१/६८१/६ आहारयुगं वेददुगोदयस्त विरोहादौ। —आहारक-
द्विक के साथ स्त्रीवेद और नपुंसक वेदके उदय होनेका अभ्यास है।
(गो जी/यु ७/१६)

४. आहारक काययोगिको अपर्याप्तपत्ता कैसे

घ २/१.१/४४१/४ सजदा-सजदट्ठाणे निगमा पज्जत्ता। आहारमिस्त
कायजोगो अपज्जत्ताण च्छि अणगत्तात्तादो। अणेतिसादो
किमेवेण जाणाविज्जदि। एव सुत्तमजिज्जिमिदि। —प्रश्न—(जिमा
मानसे) संयत्तास्यत्त और सयत्तोके स्थानमें जोब निगमसे पर्याप्त
होते हैं। (यह सूत्र कि) “आहारक मिश्रकाययोग अपर्याप्तकी
होता है” माधा जाता है। उत्तर—इस सूत्रमें अनेकास्त दोष आ
जाता है (क्योंकि अन्य सूत्रोंसे यह भी माधित हो जाता है।)
प्रश्न—(सूत्रमें पड़े) इस नियम कादसे क्या शापित होता है।
उत्तर—इससे ज्ञात होता है कि यह सूत्र अनियम है। वही
प्रवृत्ति हो और कहीं प्रवृत्ति न हो इसका नाम अनियता है।

५ आहारक काययोगमे कथंचित् पर्याप्त अपर्याप्तपत्ता

घ १/१.१.६०/३३०/६ पुत्रम्यस्तवस्तुविस्मरणमन्तरेण शरीरोपादानाद्वा
वु (मन्तरेण पूर्वशरीरपरिणामाद्वा प्रमत्तस्तवस्थायी पर्याप्त इत्युप-
चर्यते। निश्चयनयाश्रयेण तु पुनरपर्याप्त। —एहले अन्यास की
हुई वस्तुके विस्मरणके बिना ही आहारक शरीरका प्रण होता है,
या वु (वके बिना ही पूर्व शरीर (औदारिक) का परिणाम होता है
अतएव प्रमत्त सयत्त अपर्याप्त अवस्थामें भी पर्याप्त है, इस प्रकारका
उपचार किया जाता है। निश्चय नगका आश्रय करने पर तो वह
अपर्याप्त ही है।

६ आहारक मिश्रयोगीमे अपर्याप्तपत्ता कैसे सम्भव है

घ १/१.१.७०/३९७/१० आहारकशरीरोरथापक पर्याप्त सयत्तत्वाव्याधा-
नुपपत्ते। तथा चाहारमिश्रकाययोगोऽपर्याप्तकस्येति न घटामटेदिति
चेन्न, अनवगतसुत्राभिप्रायभावात्। तद्यथा, भवत्त्वसो पर्याप्तक औदा-
रिकशरीरगतपर्याप्तपक्षेया, आहारशरीरगतपर्याप्तनिष्पक्ष-
भावापेक्षया स्वपर्याप्तकोऽसौ। पर्याप्तपर्याप्तस्थयोर्नैकत्राक्रमेण सभबो
विरोधादिति चेन्न इतिष्टत्वात्। कथं न पूर्वोऽभ्युपगम इति विरोध
इति चेन्न, भूतपूर्वगतन्यायापेक्षया विरोधासिद्धे। —प्रश्न—
आहारक शरीरको उत्पन्न करने वाला साधु पर्याप्तक ही होता है।
अन्याथा उसके संयत्तपत्ता नहीं बन सकता। ऐसी हालतमें आहारक
मिश्रकाययोग अपर्याप्तके होता है, यह कथन नहीं बन सकता।
उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऐसा कहने वाला आगमके अभिप्रायको नहीं
समझा है। आगमका अभिप्राय तो इस प्रकार है कि आहारक शरीर-
को उत्पन्न करने वाला साधु औदारिक शरीरगत छह पर्याप्तियों-
की अपेक्षा पर्याप्तक भले ही रहा आवे, किन्तु आहारक शरीर
सम्बन्धी पर्याप्तिके पूर्ण नहीं होने की अपेक्षा वह अपर्याप्तक है।
प्रश्न—पर्याप्त और अपर्याप्तना एक साथ एक जीवमें सम्भव नहीं,
क्योंकि एक साथ एक जीवमें इन दोनोंके रहनेमें विरोध है।
उत्तर—नहीं, क्योंकि यह तो हमें इष्ट ही है। प्रश्न—तो फिर
हमारा पूर्व कथन क्यों न मान लिया जाये, अत आपके कथनमें
विरोध आता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि भूतपूर्व न्यायकी अपेक्षा
विरोध असिद्ध है। अर्थात् औदारिक शरीर संयन्धी पर्याप्तपत्तेकी
अपेक्षा आहारक मिश्र अवस्थामें भी पर्याप्तपत्तेका व्यवहार किया जा
सकता है।

७ यदि है तो वहाँ अपर्याप्तपत्तायस्यामें भी सयम कैसे सम्भव है

घ १/१.१.७०/३९८/६ गिनदीदारिकशरीरगमपदपुर्वात्परिनिष्ठ-
आहारशरीरगतपर्याप्तोरपर्याप्तस्य मभ २ मभ इति चेत्, सयमस्या
सबनिरोधमक्षणस्य मन्दसागेन सह निरोधानिदुषे। विरोधे वा न
कवत्तिनोऽपि सधुद्रागतस्य सयम तत्राप्यपर्याप्तयोगागितान
प्रत्यक्षिषेया। ‘मज्झिमज्झट्ठाणे निगमा पज्जत्ता इत्येता’ न स
कथं न विरोध रयादिति चेन्न, द्रव्याधिकतयायेमा प्रवृत्तमूत्र-
स्याभिप्रायेणाहारशरीरानिष्पक्षमस्यागामापि पर्याप्तमिनी मन्वा-
विरोधात्। —प्रश्न—जिगने औदारिक शरीर सम्बन्धी तह
पर्याप्तियाँ नष्ट हैं। चूँकि ई, प्रोत्र आहारक शरीर सम्बन्धी
पर्याप्तियों ज्यों पूर्ण नहीं हुई हैं। ऐम अवगमिक साधुद सयम कैसा
हो सकता है। उत्तर—नहीं क्योंकि निगमा जगल आसवका विरोध
करना है, ऐसे समयका मन्द योग (आहारक मिश्र) क माध होनेमें
कोई विरोध नहीं आता है। यदि इय मन्द योगन माध समयमें
होनेमें कोई विरोध आता हो है ऐसा माना जाव, ता मनुष्यका
प्राप्त हुए केवत्तिके भी समय नहीं हो मवका क्योंकि वहाँ पर भी
अपर्याप्त सम्बन्धी मागका मन्वाव वागा जाता है। हमें कोई बि पत्ता
नहीं है। प्रश्न—‘संयत्तास्यत्तमे नेकर मभी गुलस्थानामि जीम नियम
से पर्याप्त होते हैं’ इस आर्ष कथनके माध उपर्युक्त कथनका विरोध
क्यों नहीं आता। उत्तर—नहीं, क्योंकि द्रव्याधिक तगकी अपेक्षा
प्रवृत्त हुए इस सूत्रके अभिप्रायमें आहारक शरीरकी जगमसि अवस्थामें
भी औदारिक शरीर सम्बन्धी तह पर्याप्तियाँके होनेमें कोई विरोध
नहीं आता है। (घ १/१.१.६०/३९८/६)।

आहार पर्याप्त—२ पर्याप्त।

आहार वर्णना—२ वर्णना।

आहार सज्ञा—२ मज्ञा।

आहार्य विपर्यय—२ विपर्यय।

आहुति मन्त्र—२ मन्त्र १/६।

[३]

इगाल—वसतिका एक दोष दे—वसति।

इगिनी—दे सखलेखना १।

इन्द्र—१ प पु ७/१८०। रथनूपुरके राजा सह्यारक। पुत्र था। रावण-
के दादा मालीको मारकर स्वयं इन्द्रके सदृश राज्य किया (८८) फिर
आगे रावणके द्वारा युद्धमें हराया गया (३४६-३८७) अतः दोषा
लेकर निर्माण प्राप्त किया (१०६) २ मगध देशकी राज्यवशावलीके
अनुसार यह राजा शिशुपालका पिता और कर्णकी राजा चतुर्मुखका
दादा था। यद्यपि इसे कर्णकी नहीं कहा गया है, परन्तु जैसा कि
वशावलीमें बताया है, यह भी अरयाचारी न कर्णकी था। समय बी
नि ६६८-१००० (ई ४३२-४७४)। (दे इतिहास ३/४)। ३ लोचपान
का एक भेद—दे लोकपाल।

१. इन्द्र सामान्यका लक्षण

ति प ३/६६ इदा रायसरिच्छा। —देवोंमें इन्द्र राजाके सदृश होता है।
स सि १/४/१००/३ इन्द्रोति इन्द्र आरमा। अथवा इन्द्र इति नाम-
कर्मोच्यते।

स सि ४/४/२३६/१ अन्यदेवासाधारणाणिमादिगुणयोगादिन्दन्तीति इन्द्रा । —इन्द्र शब्दका व्युत्पत्तिरन्वयार्थ है 'इन्द्रतीति इन्द्र' जो आकाश और ऐश्वर्य वाला है वह इन्द्र है । इन्द्र शब्दका अर्थ आरमा है । अथवा इन्द्र शब्द नामकर्मका बाची है (रा वा १/१/१४/४६/१४), (घ १/१/१, ३३/२३३/१) जो अन्य देवोंमें असाधारण अणिमादि गुणोंके सम्बन्धसे शोभते हैं वे इन्द्र कहलाते हैं । (रा वा ४/४/१/२१२/१६) ।

२. अहमिन्द्रका लक्षण

त्रि सा २२५ । भवणे कप्ये सव्वे हवति अहमिन्द्रया तत्तो ॥२२५॥ —स्वर्गनिके उपरि अहमिन्द्र हैं ते सर्व ही समान हैं । होनाविकपना तहाँ नहीं है ।

अन घ १/४६/६६ पर चद्रधृत "अहमिन्द्रोऽस्मि नेन्द्रोऽन्यो मत्तोऽ-स्तीत्याचक्षरथना । अहमिन्द्रारख्यया ख्यातिं गतास्ते हि स्रोतमा । नासूया परनिन्दा वा नारमश्लाघा न मरसर । केवल मुखसाद्भुता दीव्यन्त्येते दिवौकस । —मेरे सिवाय और इन्द्र कौन है । मैं ही तो इन्द्र हूँ । इस प्रकार अपनेको इन्द्र उद्घोषित करनेवाले कण्पासीत है वह अहमिन्द्र नामसे प्रख्यात हैं । न तो उनमें असूया है और न मरसरता ही है, एवं न ये परको निन्दा करते और न अपनी प्रशंसा ही करते हैं । केवल परम विभूतिके साथ मुखका अनुभव करते हैं ।

३. दिगिन्द्रका लक्षण

त्रि सा २२३-२२४ दिगिन्द्रा । ॥२२३॥ तत्तराए । २२४। —बहुति जेसे तंत्रादि राजा कहिये सेनापति तैसे लोकपाल हैं ।

४. प्रतीन्द्रका लक्षण

ति प ३/६४, ६६ जुवरायसमा हवति पडिइदा ॥६४॥ इदसमा पडिइ दा । ॥६६॥ —प्रतीन्द्र युवराजके समान होते हैं (त्रि सा २२४) प्रतीन्द्र इन्द्रके बराबर हैं ॥६६॥

अ प ११/३०४, ३०६ । पडिइदा इदस वु चद्रुसु वि दिसासु णायव्वा ॥३०४॥ तुल्लमल्लरुवविक्कमपयावजुता हवति ते सव्वे ॥३०६॥ —इन्द्रके प्रतीन्द्र चारों ही दिशाओंमें जानने चाहिए ॥३०४॥ वे सम तुल्य बल, रूप, विक्रम एवं प्रतापसे युक्त होते हैं ।

* इन्द्रकी सुघर्मा सभाका वर्णन—दे लौघर्म ।

* भवनवासी आदि देवोंमें इन्द्रोका नाम निर्देश

—दे वह वह नाम ।

५. शत इन्द्र निर्देश

द्र स /टी १/४ पर उद्धृत "भवणालयचालीसा विसरवेवान्होंति ऋत्तीसा । कप्पामरचउवीसा चन्दो सूरो णरो तिरिओ । —भवन, वासी देवोंके ४० इन्द्र, व्यन्तर देवोंके ३२ इन्द्र, कण्पवासी देवोंके २४ इन्द्र, ज्योतिष देवोंके चन्द्र और सूर्य ये दो, मनुष्योंका एक इन्द्र चक्रवर्ती, तथा तिर्यचोंका इन्द्र सिंह ऐसे मिलकर १०० इन्द्र हैं । (विशेष दे वह वह नामकी देवगति) ।

इन्द्रक—घ १४/४, ६४४/४६४/६ उडु आदोणि विमानाणिदियाणि णाम । —उडु आदिक विमान इन्द्रक कहलाते हैं ।

द्र सं /टी ३४/११६ इन्द्रका अन्तर्भूमय । —इन्द्रकका अर्थ अन्तर्भूमि है । ति प २/३६ का विशेषार्थ "जो अपने पटलके सब भिलोंके बीचमें हो वह इन्द्रक मिल कहलाता है ।" (घ १४/४/६४४/४६४/६) ।

ति सा ४७६ भाषा "अपने-अपने पटलके बीचमें जो एक एक विमान पाए तिनका नाम इन्द्रक विमान है ।

* स्वर्गके इन्द्रक विमानोका प्रमाणादि—दे स्वर्ग ४/३, ४ ।

* नरकके इन्द्रक विलोका प्रमाणादि—दे नरक ४/३ ।

इन्द्रजीत—(प पु /सर्ग/१/श्लोक) "रावणका पुत्र था (८/१४४) रावण-की मृत्यु पर विरक्त हो दीक्षा धारण कर ली । (७८/८१-८२) तथा मुक्तिकी प्राप्ति किया (८०/१२८) ।

इद्रत्याग—गर्भान्वयादि क्रियाओंमें-से एक—दे संस्कार २ ।

इन्द्रध्वज—पूजाओंका एक भेद—दे पूजा १ ।

इन्द्रनन्दि—(जैन साहित्य और इतिहास पृ २७०/प्रेमीजी), (जे / १/३८३), (ती २/४१६, ३/१८०) —देशीयगणके आचार्य दीक्षा गुरु वासवनन्दिके शिष्य ऋष्यनन्दि । शिक्षागुरु अभयनन्दि । ज्येष्ठ गुरु भाईके नाते नेमिचन्द्र सि चक्रवर्तिके शिक्षा गुरु । (दे इतिहास/ ७/४) । कृतियों—१ नीतिसार, २ समय भूषण, ३ इन्द्रनन्दि संहिता, ४ मुनि प्रायश्चित्त (प्रा), ५ प्रतिष्ठापाठ, ६ पूजा कण्प, ७ शान्ति-चक्र पूजा, ८ अकुरारोपण, ९ प्रतिभा संस्कारारोपण पूजा, १० ज्वालामालिनी, ११, औपधि कण्प, १२ भूमिकण्प, १३ श्रुता-वतार । समय—ज्वालामालिनी कण्पका रचनाकाल शक ८६१ । तदनुसार ई श १० का मध्य ।

इन्द्रानन्दि संहिता—आचार्य इन्द्रनन्दि ई श १० की अपभ्रंश भाषान्त्र कृति ।

इन्द्रपथ—पा पु १६ श्लोक "प्रवारासे लौटनेपर युधिष्ठिर इन्द्रपथ नगर बसाकर रहने लगे थे (४) क्योंकि यह कुरुक्षेत्रके पास है इसलिए वर्तमान देहलो हो इन्द्रपथ है । यह सर्व प्रसिद्ध भी है ।"

इन्द्रपुर—१ (म पु /प्र ४६ प पन्नालाल) वर्तमान इन्दौर, २ रेवा-नदी पर स्थित एक नगर—दे मनुष्य ४ ।

इन्द्रभूति—पूर्व भवमें आदित्य विमानमें देव थे । (म पु ७४/३४७) यह गौतम गौत्रीय ब्राह्मण थे । वेदपाठी थे । भगवात् वीरके समव-क्षणमें मानस्तम्भ देखकर मानभग हो गया और ४०० शिष्योंके साथ दीक्षा धारण कर ली । तभी सात ऋषिर्ग्यो प्राप्त हो गयीं (म पु ७४/ ३६६-३७०) । भगवात् महावीरके प्रथम गणधर थे । (म पु ७४/ ३६६-३७२) । आपको प्रावण कृष्ण १ के पूर्वार्द्ध कालमें श्रुतज्ञान जागृत हुआ था । उसी तिथिकी पूर्व रात्रिमें आपने अर्गोंकी रचना करके सारे श्रुतको आगम निबद्ध कर दिया । (म पु ७४/३६६-३७२) । कार्तिक कृ १६ को आपको केवलज्ञान प्रगट हुआ और विपुलाचल पर आपने निवर्ण प्राप्त किया । (म पु ६६/४१६-४१६) ।

इन्द्रराज—(क पा १/प्र ७३ पं महेंद्र) गुर्जर नरेन्द्र जगत्तुगका छोटा भाई था । इसने लाट देशके राजा श्रीवर्णभक्तो जीतकर जगत्तुगको वहाँका राजा बना दिया था । जगत्तुगका ही पुत्र अमोघवर्ष प्रथम हुआ । इन्द्रराज राजाका पुत्र कर्कराज था । इसने अमोघवर्षके लिए राष्ट्रकूटोंको जीतकर उसे राष्ट्रकूटका राज्य दिलाया था । राजाजगत्तुग के अनुसार आपका समय ई ७६४-८१४ (विशेष दे इतिहास ३/४)

इन्द्रसेन—१ (वर्गंग चरित्र/सर्ग/श्लोक) मथुराका राजा (१६/४) ललितपुरके राजासे युद्ध होनेपर बरग द्वारा युद्धमें भगाया गया (१८/१११) २ (प पु /प्र १२३/१६७ 'मूल'), (प पु /प्र ६ पं पन्नालाल) सेनसंघकी शुर्वावलीके अनुसार यह दिवाकरसेनके गुरु थे । समय—वि ६२०-६६० (ई ६६३-६०३)—दे इतिहास ७/६ ।

इन्द्रभिषेक—गर्भान्वयादि क्रियाओंमें-से एक—दे संस्कार २ ।

इन्द्रायुध—(ह पु. ६६/४२-४३) उत्तर भारतका राजा था । इसके समयमें ही जिनपेणाचार्यने हरिवंशकी रचना प्रारम्भ की थी । तदनुसार इनका समय-श स ७०६ (वि. ८४०) ई ७५०-७८३ ।

(ह पु /प्र ४ पं पन्नालाल) स्व ओम्भाके अनुसार इन्द्रायुध और चक्रायुध राठौर वंशमें थे । स्व चिन्तामणि विनायक वैद्यके अनु-

सार यह भण्डकून (वर्मवंश) के थे। इसका पुत्र चक्रायुध था। इसका राज्य कन्नौजमें लेकर मारवाड़ तक फैला हुआ था।

इन्द्रावतार—गभनिरयादि क्रियाओंमें से एक—दे सस्कार २।

इन्द्रिय—शरीरधारी जीवको जाननेके साधन रूप स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। मनको ईश्वर इन्द्रिय स्वीकार किया गया है। ऊपर दिखाई देनेवाली तो साक्षात् इन्द्रियाँ हैं। इन्हें द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। इनमें भी चक्षुषटलादि तो उस उग इन्द्रियमें उपकरण होनेके कारण उपकरण कहलाते हैं, और अदरम रहने वाला आँखीय आत्म प्रवेशार्थी रज्ज्या विशेष निवृत्ति इन्द्रिय कहलाती है। यगोकि वास्तवमें जाननेका काम इन्होंने इन्द्रियसे हाता है उपकरणमें नहीं। परन्तु इनके पीछे रहनेवाले जीवके ज्ञानका क्षयापशम व उपयोग भावेन्द्रिय है, जो साक्षात् जाननेका साधन है। उपरोक्त छहों इन्द्रियोंमें चक्षु और मन अपने विषयको स्पर्श किये बिना ही जानती हैं, इसलिये अप्राप्यकारी हैं। शेष इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं। समग्रको अपेक्षा जिज्ञा व उपस्थ ये दो इन्द्रियाँ अत्यन्त प्रमल हैं और इसलिये योगीजन इनका पूर्णतया निराधर करते हैं।

१ भेद व लक्षण तथा तत्सम्बन्धी शका समाधान

- १ इन्द्रिय सामान्यका लक्षण
- २ इन्द्रिय सामान्यके भेद
- ३ द्रव्येन्द्रियके उत्तर भेद
- ४ भावेन्द्रियके उत्तर भेद
- * लट्टि व उपयोग इन्द्रिय —दे बह बह नाम
- * इन्द्रिय व मन जीतनेका उपाय —दे संयम २
- ५ निर्वृत्ति व उपकरण भावेन्द्रियोंके लक्षण
- ६ भावेन्द्रिय सामान्यका लक्षण
- ७ पाँचों इन्द्रियोंके लक्षण
- ८ उपयोगको इन्द्रिय कैसे कह सकते हैं
- ९ चल रूप आत्मप्रदेशमें इन्द्रियपना कैसे घटितहोता है
- २ इन्द्रियोंमें प्राप्यकारी व अप्राप्यकारीपन
- १ इन्द्रियोंमें प्राप्यकारी व अप्राप्यकारीपनेका निर्देश
- * चार इन्द्रियाँ प्राप्त व अप्राप्त सब विषयको ग्रहण करती हैं —दे अवग्रह ३/४
- २ चक्षुको अप्राप्यकारी कैसे कहते हो
- ३ श्रोत्रको भी अप्राप्यकारी क्यों नहीं मानते
- ४ स्पर्शनादि सभी इन्द्रियोंमें भी कथंचित् अप्राप्यकारीपने सम्बन्धी
- ५ फिर प्राप्यकारी व अप्राप्यकारीपनेमें क्या प्रयोजन
- ३ इन्द्रिय-निर्देश
- १ भावेन्द्रिय ही वास्तविक इन्द्रिय है
- २ भावेन्द्रियको ही इन्द्रिय मानते हो तो उपयोग शून्य दशामें या सशयादि दशामें जीव अनिन्द्रिय हो जायेगा
- ३ भावेन्द्रिय होनेपर ही द्रव्येन्द्रिय होती है
- ४ द्रव्येन्द्रियोंका आकार

५ इन्द्रियोंकी अवगाहना

६ इन्द्रियोंका द्रव्य व क्षेत्रकी अधा विषय ग्रहण

७ इन्द्रियोंके विषयका नाम व भोग रूप विभाजन

८ इन्द्रियोंके विषयो सम्बन्धी दृष्टिभेद

९ जानने अर्थमें चक्षुगा निर्देश

* मन व इन्द्रियोंमें अन्तर सम्बन्धी —दे मन ३

* इन्द्रिय व इन्द्रिय प्रणामें अन्तर —दे प्राण

* इन्द्रियाग्राय व क्रियास्य आग्रायोंमें अन्तर—दे क्रिया

* इन्द्रियोंमें उपस्थ व जिज्ञा इन्द्रियको प्रमानता —दे संयम २

४ इन्द्रिय मार्गणा व गुणस्थान निर्देश

१ इन्द्रिय मार्गणार्थी अपेक्षा जीवोंके भेद

* दो चार इन्द्रियवाले विकलेन्द्रिय, और पचेन्द्रिय मकलेन्द्रिय कहलाते हैं —दे प्राण

२ एकेन्द्रियादि जीवोंके लक्षण

३ एकेन्द्रियमें पचेन्द्रिय पर्यन्त इन्द्रियोंका स्वामित्व

* एकेन्द्रियादि जीवोंके भेद —दे जीव समाग

* एकेन्द्रियादि जीवोंकी अवगाहना —दे अवगाहना २

४ एकेन्द्रिय आदिकोंमें गुणस्थानोंका स्वामित्व

* संयोग व अयोग केवलीको पचेन्द्रिय कहने सम्बन्धी —दे केवली ४

५ जीव अनिन्द्रिय कैसे हो सकता है

* इन्द्रियोंके स्वामित्व सम्बन्धी गुणस्थान, जीवसमाग मार्गणा स्यान्तारि २० प्ररूपणार्थ —दे यव

* इन्द्रिय सम्बन्धी सत् (स्वामित्व), संस्था, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर भाव व अत्युत्कृष्ट रूप आठ प्ररूपणार्थ —दे पह बह नाम

* इन्द्रिय मार्गणामें आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम —दे मार्गणा

* इन्द्रिय मार्गणामें सम्भव कर्मोंका वच उदय सत्त्व —दे बह बह नाम

* कीन-कीन जीव मरकर कहाँ-कहाँ उत्पन्न हो और क्या क्या गुण उत्पन्न करे —दे ब्रह्म ६

* इन्द्रिय मार्गणामें भावेन्द्रिय इष्ट है —दे इन्द्रिय ३

५ एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय निर्देश

* भ्रम व स्थावर —दे बह बह नाम

* एकेन्द्रियोंमें जीवत्वकी सिद्धि —दे स्थावर

* एकेन्द्रियोंका लोकमें अवस्थान —दे स्थावर

* एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय नियमसे सम्मूर्छित ही होते हैं —दे समूर्च्छन

* एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रियोंमें अगोपाग, सस्थान, महान व दु स्वर सम्बन्धी नियम —दे उदय

१ एकेन्द्रिय असंज्ञी होते हैं

* एकेन्द्रिय आदिकोमें मनके अभाव सम्बन्धी —दे सञ्ज्ञो

* एकेन्द्रिय जाति नामकर्मके बन्ध योग्य परिणाम
—दे जाति

* एकेन्द्रियोंमें सासादन गुणस्थान सम्बन्धी चर्चा
—दे जन्म

* एकेन्द्रिय आदिकोमें क्षायिक सम्यक्त्वके अभाव
सम्बन्धी —दे तिर्यञ्च गति

* एकेन्द्रियोंसे सीधा निकल मनुष्य हो क्षायिक सम्यक्त्व
व मोक्ष प्राप्त करनेकी सम्भावना —दे जन्म ५

* विकलेन्द्रिय व पचेन्द्रिय जीवोका लोकमें अवस्थान
—दे तिर्यञ्च ३

१ भेद व लक्षण तथा तत्सम्बन्धी शका-समाधान

१ इन्द्रिय सामान्यका लक्षण

प स १/१६५ अहमिदा जह देवा अविसेस अहमह त्ति मण्णता ।
ईसत्ति पक्खमेक इदा इव इन्द्रियं जाणे ॥६५॥ —जिस प्रकार अहमिन्द्र-
देव बिना किसी विशेषताके 'मैं इन्द्र हूँ, मैं इन्द्र हूँ' इस प्रकार मानते
हुए ऐश्वर्यका स्वतन्त्र रूपसे अनुभव करते हैं उसी प्रकार इन्द्रियों-
को जानना चाहिए । अर्थात् इन्द्रियों अपने अपने विषयोंका सेवन
करनेमें स्वतन्त्र हैं । (प १/१.१४/८५/१.७), (गो जो /मू १६४),
(पं स /सं १/७८)

स सि १/१४/१०८/३ इन्दतोति इन्द्र आत्मा । तस्य ह्रस्वभावस्य तदा-
वरणक्षयोपशाने सति स्वयमर्थात् गृहीतुमसमर्थस्य यदर्शपक्षान्धलिङ्ग
तदिन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियमित्युच्यते । अथवा लीनमर्थं गमयतीति
लिङ्गम् । आत्मन सूक्ष्मस्यास्तित्वाधिगमे लिङ्गमिन्द्रियम् । यथा
इह धूमोऽग्ने । अथवा इन्द्र इति नामकर्मोच्यते । तेन सृष्टिमिन्द्रिय-
मिति । —१ इन्द्र शब्दका बहुवचनस्वरूप अर्थ है, 'इन्दतोति इन्द्र'
जो आत्मा और ऐश्वर्य वाला है वह इन्द्र है । यहाँ इन्द्र शब्दका अर्थ
आत्मा है । वह यद्यपि ह्रस्वभाव है तो भी मतिज्ञानावरणके क्षयोप-
शमके रहते हुए स्वयं पदार्थोंको जाननेमें असमर्थ है । अतः उसको
जो जाननेमें लिंग (निमित्त) होता है वह इन्द्रका लिंग इन्द्रिय कहो
जाती है । २ अथवा जो लीन अर्थात् गूढ़ पदार्थका ज्ञान कराता है
उसे लिंग कहते हैं । इसके अनुसार इन्द्रिय शब्दका अर्थ हुआ कि जो
सूक्ष्म आत्माके अस्तित्वका ज्ञान करानेमें लिंग अर्थात् कारण है उसे
इन्द्रिय कहते हैं । जैसे लोकमें धूम अग्निका ज्ञान करानेमें कारण
होता है । ३ अथवा इन्द्र शब्द नामकर्मका वाची है । अतः यह अर्थ
हुआ कि जिससे रची गयी इन्द्रिय है । (रा वा १/१४/१/६१),
(रा वा २/१६/१-२/१२६), (रा वा ६/७/११/६०३/२८), (घ १/१.२३/२३२/१), (घ ७/२.१.२/६/७)

प १/१.४/१३५-१३७/६ प्रत्यक्षनिरतानीन्द्रियाणि । अक्षानीन्द्रियाणि ।
असमर्थं प्रतिवर्तत इति प्रत्यक्षविषयोऽस्यो मोक्षो वा । तत्र निरतानि
व्यापृतानि इन्द्रियाणि । स्वेषां विषय स्वविषयस्त्वत्र निश्चयेन
निगूढेन रतानीन्द्रियाणि । अथवा इन्दनादाधिपर्यादि द्रव्याणि ।
—१ जो प्रत्यक्षमें व्यापार करती है उन्हें इन्द्रियों कहते हैं । जिसका
खुलासा इस प्रकार है अक्ष इन्द्रियोंको कहते हैं और जो असंयके
प्रति अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके प्रति रहता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं ।
जो कि इन्द्रियोंका विषय अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञानरूप पड़ता है ।
इस इन्द्रिय विषय अथवा इन्द्रिय ज्ञान रूप जो प्रत्यक्षमें व्यापार

करती है, उन्हें इन्द्रियों कहते हैं । २ इन्द्रियों अपने-अपने विषयमें
रत हैं । अर्थात् व्यापार करती हैं । (घ ७/२.१.२/६/७) । ३ अथवा
अपने-अपने विषयका स्वतन्त्र आधिपत्य करनेसे इन्द्रियों कहलाती हैं ।

गो जो /जी प्र १६५ में उद्धृत "यदिन्द्रस्यात्मनो लिङ्गं यदि वा इन्द्रेण
कर्मणा । सृष्टं जुष्टं तथा दृष्टं सत् वेति तदिन्द्रियम् । —इन्द्र जो
आत्मा ताका चिह्न सो इन्द्रिय है । अथवा इन्द्र जो कर्म साकार
निपज्या वा सेवा वा तैसे देख्या वा दीया सो इन्द्रिय है ।

२. इन्द्रिय सामान्यके भेद

त सू २/१५.१६ १६ पञ्चेन्द्रियाणि ॥१६॥ द्विविधानि ॥१६॥ स्पर्शनरसन-
घ्राणचक्षु श्रोत्राणि ॥१६॥ —इन्द्रियों पाँच हैं ॥१६॥ व प्रत्येक दो-दो
प्रकारकी हैं ॥१६॥ स्पर्शन, रसन घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये इन्द्रियाँ
हैं ॥१६॥ (रा वा ६/१७/११/६०३/२६)

स सि २/१६/१७६/१ को पुनस्तौ द्वौ प्रकारौ द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियमिति ।
—प्रश्न—वे दो प्रकार कीन से हैं १ उत्तर—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय
(रा वा २/१६/१३०/२), (घ १/१.१.३३/२३२/२), (गो जो /मू १६५)

३ द्रव्येन्द्रियके उत्तर-भेद

त सू २/१७ निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥ सा द्विविधा, बाह्याभ्य-
न्तरभेदात् (स सि) । —निर्वृत्ति और उपकरण रूप द्रव्येन्द्रिय है
॥१७॥ निर्वृत्ति दो प्रकारकी है—बाह्य निर्वृत्ति और आभ्यन्तर-
निर्वृत्ति । (स सि २/१७/१७५/१), (रा वा २/१७/२/१३०), (घ १/१,
१ ३३/२३२/२)

स सि २/१७/१७५/८ पूर्ववत्तदपि द्विविधम् । —निर्वृत्तिक समान यह
भी दो प्रकारकी है—बाह्य और आभ्यन्तर । (रा वा २/१७/६/१३०/१६)
(घ १/१.२.३३/२३६/२)

४ भावेन्द्रियके उत्तर-भेद

त सू २/१८ लब्ध्युपयोगी भावेन्द्रियम् ॥१८॥ —लब्धि और उपयोग रूप
भावेन्द्रिय है । (घ १/१.२.३३/२३६/४)

५ निर्वृत्ति व उपकरण भावेन्द्रियोंके लक्षण

स सि २/१७/१७५/३ निर्वृत्त्यते इति निर्वृत्ति । केन निर्वृत्त्यते ।
कर्मणा । सा द्विविधा बाह्याभ्यन्तरभेदात् । उत्तरेषां गुलासरण्य-
भागप्रमितानां शुद्धात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीं द्रव्यसंरथानेना-
वस्थितानां वृत्तिरारम्भन्तरी निर्वृत्ति । तेष्वारम्भप्रदेशेष्विन्द्रियव्यप-
देशाभास्तु यं प्रतिनियतमस्थाननामकर्मद्वयापादितत्वाविशेष
पुद्गलप्रचय सा बाह्या निर्वृत्ति । येन निर्वृत्तेरुपकार क्रियते तदुप-
करणम् । पूर्ववत्तदपि द्विविधम् । तत्राभ्यन्तरकृष्णशुक्लमण्डल बाह्य-
मक्षिपत्रपद्मद्वयादि । एवं केव्येष्वपिन्द्रियेषु होयम् । —रचनाका नाम
निर्वृत्ति है । प्रश्न—यह रचना कौन करता है । उत्तर—कर्म ।
निर्वृत्ति दो प्रकारकी है—बाह्य और आभ्यन्तर । उत्तरेषां गुलके
असंरथात्तत्वे भाग प्रमाण और प्रतिनियत चक्षु आदि इन्द्रियोंके
आकार रूपसे अवस्थित शुद्ध आत्म प्रदेशोंकी रचनाको आभ्यन्तर
निर्वृत्ति कहते हैं । तथा इन्द्रिय नामवाले उन्हें आत्मप्रदेशोंमें
प्रतिनियत आकार रूप और नामकर्मके उदयसे विशेष अवस्थाको
प्राप्त जो पुद्गल प्रचय होता है उस बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं । जो
निर्वृत्तिका उपकार करता है उसे उपकरण कहते हैं । यह भी दो
प्रकारका है । नेत्र इन्द्रियमें कृष्ण और शुक्लमण्डल आभ्यन्तर
उपकरण हैं तथा पलक और दानों मरीनों आदि बाह्य उपकरण हैं ।
इसी प्रकार शेष इन्द्रियोंमें भी जानना चाहिए । (रा वा २/१७/२-७/
१३०), (घ १/१.१.३३/२३२/२), (घ १/१.२.३३/२३६/६), (घ १/१.१
३३/२३६/३) (त सा २/४३)

त सा २/४१-४२ नेत्रादीन्द्रियसंस्थानावस्थितानां हि वर्तनम् । विशुद्धा-
त्मप्रदेशानां तत्र निर्वृत्तिरारम्भन्तरी ॥४१॥ तेष्वारम्भप्रदेशेषु कर्मव्यप-
देशेषु । नामकर्मकृतावस्था पुद्गलप्रचयोऽपरा ॥४२॥ —बाह्य व

ओत्तर निर्मुक्तिगोमं-रो अत्तर निर्मुक्ति यह है कि जो मार आग
 प्रवेशोकी रचना नेत्रादि इन्द्रियोंके आकारको धारण करके उत्पन्न
 होती है। ये आग प्रददा क्तर प्रदेशोमे अधिक विद्युत् होम है।
 शाक के वृक्षान सामाके प्रकरणमें शाकावरणक्षयोपदामज्जम निर्ममता-
 को विमुक्ति गहते हैं ॥४४॥ इन्द्रियागार भारण करीवाने अत्तरग
 इन्द्रिय नामक आगप्रदेशोके साथ उा आगप्रदेशोको प्रयत्नका
 सेने गले जो दारीरकार अवयव इकट्ठे होते हैं उमे बाज निर्मुक्ति
 कहते हैं। इन दारीरवयवोंके इकट्ठे हुएर इन्द्रियागारका बाध
 लिए अगोर्वाग आदि नामवर्गके गुर भेद मद्राग्य होते हैं।

मो जो /टो १६६/३९१/८ पुनस्तोन्विदिप्रोपु तसदाभरन्ममोपममिति
 दाम्कप्रदेशंस्थानमप्यस्तरनिर्मुत्ति । तदनन्तरादारीप्रदेशंमरथाप-
 नात्निर्मुत्ति । इ दिप्रवर्गपर्यागतोक्तमर्मणास्वर्गाम्परदापि-
 दानसहकारि यदाभन्तरमुपकरणम् । तदाप्रमभतावगाधिक्यात्-
 मुपकरणमिति दाहउभयम् । १६६ । —दारी नामकर्ममे रणे गम दारी
 के पिन्हु विशेषे री द्रव्येन्द्रिय है । तहाँ जो निज निज इन्द्रियागम-
 की दामोपशमहाणी विशेषता निप आत्मा मे प्रदेशातिवा मरथाप मो
 आम्गप्यस्तर निर्मुत्ति है । बहुरि तिस ही क्षेत्रमिपे जो दारीमे प्रदेश-
 निका सरथान मो माह्य निर्मुत्ति है । बहुरि उपकरण भा तहाँ
 इन्द्रिय पर्याप्तकरि आमी जो लोकर्ममर्णा तिनका स्वग्रथरूप जो
 स्वर्गादिविषय शानका सादारी होइ मो तो आम्भगत उपकरण है
 अरु ताके आम्भभूत जो पागड़ो आदि सो माह्य उपकरण है । ऐसा
 विशेष जानना ।

६ भावेन्द्रिय सामान्यता लक्षण

रा. वा. १/१५/१३/६२/७ इन्द्रियभावपरिणतो हि जीवो भावेन्द्रिय-
मिष्यते।—इन्द्रिय भाव से परिणत जीव ही भावेन्द्रिय दाता से कहना
इष्ट है।

गो जो / मृ १६५ मदिवारणलजोवसमुयमिनुदो हू तज्जोहो ।
भायेंदियम् । १६६ ।—मतिशानावरण बर्मिजे क्षगोपशमो उरण
जो आरमाकी (शानके क्षगोपशम रूप) मिशुदि लगतो उरण जो शाग
वह हो भावेन्द्रिय है ।

७ पाँचो इन्द्रियोफे लक्षण

स ति २/१६/१७७२ नाथ इन्द्रियाणां पारतन्त्र्यमविशया इत्यग्रे । अनेनाह्वा मुञ्चु परमामि अनेन वर्णेन मुञ्चु शृणोमीति । तत्र पार-
तन्त्र्यास्पृशनादीनां वरणत्वम् । योर्मात्तरागमतिष्ठानापरस्परहाव-
शमाह्वाप्राप्तनामताभाववद्वशादात्मना स्पृश्यतेऽनेनेति तत्परमम् । स्वयते
ऽनेनेति रसनम् । घ्रायतेऽनेनेति घ्राणम् । चणोरेवेमार्थत्वाददर्शनाथ-
विषयतायां चण्टे अर्थात्परममनेनेति चक्षु । श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रम् ।
स्वातन्त्र्यमविशया च दृश्यते । इदं मे अस्ति मुञ्चु परमति । अयं मे
कर्णं मुञ्चु शृणोति । तत् स्पृशनादीनां वर्तते निष्पत्ति । स्पृश-
तीति स्पृशनम् । रसतीति रसनम् । जिमतीति घ्राणम् । चण्टे इति
चक्षु । शृणोति इति श्रोत्रम् । —लोकमै इन्द्रियोंकी पारतन्त्र्य विषयता
वेली जाती है जैसे इस आँखसे मैं अच्छा देखता हूँ इस
कानसे मैं अच्छा सुनता हूँ वत पारतन्त्र्य विषयतामें स्पर्शनआदि
इन्द्रियोंका करणपना मन जाता है । योर्मात्तराय और मतिष्ठाना-
परणकर्मके हाथोपशमसे तथा अंगोपगंग नामकर्मके आत्मन्वनसे आत्मा
जिसके द्वारा स्पर्श करता है वह स्पर्शन इन्द्रिय है जिसके द्वारा
स्वाद लेता है वर रसनाइन्द्रिय है, जिसके द्वारा सु घटा है वह घ्राण
इन्द्रिय है । चक्षि घातुके अनेक अर्थ हैं । तामेंसे यहाँ दर्शन
रूप अर्थ लिया गया है, इसलिय जिसके द्वारा पदार्थको देखता
है वह चक्षु इन्द्रिय है तथा जिसके द्वारा सुनता है वह श्रोत्र इन्द्रिय
है । इसी प्रकार इन इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्य विषयता भी वेली जाती
है । जैसे यह मेरी आँख अच्छी तरह देखती है, यह मेरा मन
अच्छी तरह सुनता है । और इसलिय इन स्पर्शन आदि इन्द्रियोंकी

મગી જામ મ (મિલિ દોતી) ની મામા - જામ જામ રે મગદન ન
હરિદમ દી, જામ જામ મતી દી મગ જામ હરિદમ દી, જામ જામ દી મગ
જામ હરિદમ દી જો યવન: દી મગ જામ હરિદમ દી, જામ જામ દી મગ
જામ હરિદમ દી । આ મા ૩/૧/૧/૧૩૦/૨) ૧૫, ૧/૧ ૧/૩/૧
૩૧/૧/૧, ૩૨/૧/૧, ૩૩/૧/૧ ૨૪/૧/૧ ૨૫/૧/૧)

८ उपयोगकी दृष्टिसे वैसे वह मपने हैं

[illegible]

६. चलरूप आत्म प्रदेर्गोर्मे इन्द्रियपता बर्मे घटित होना है

[illegible][illegible]

जीवप्रदेपोंका भ्रमण नहीं माना जावे, तो अत्यन्त द्रुतगतिसे भ्रमण करते हुए जीवोंको भ्रमण करती हुई पृथिवी आदिका ज्ञान नहीं हो सकता है।

२ इन्द्रियोमे प्राप्यकारी व अप्राप्यकारीपना

१. इन्द्रियोमे प्राप्यकारी व अप्राप्यकारीपनेका निर्वेश

स सि १/६८/२७ सुणेइ सइ अपुट्ठ पुण वि पस्सदे रुअ । फास रसं च गधं बद्ध पुट्ठ वियाणेइ । ६८। — श्रोत्रेन्द्रिय स्पृष्ट शब्दको सुनती है। चक्षुरिन्द्रिय अस्पृष्ट रूपको देखती है। स्पर्शनेन्द्रिय रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय क्रमशः बद्ध और स्पृष्ट, स्पर्श, रस और गन्धको जानती है। ६८।

स सि १/१६/१२८ पर उद्धुत्त “पुट्ठ सुणेदि सइ अपुट्ठ चैव पस्सदे रुअ गधं रसं च फास पुट्ठमपुट्ठ वियाणादि । — श्रोत्र स्पृष्ट शब्दको सुनता है और अस्पृष्ट शब्दको भी सुनता है, नेत्र अस्पृष्ट रूपको ही देखता है। तथा घ्राण रसना और स्पर्शन इन्द्रियाँ क्रमसे स्पृष्ट और अस्पृष्ट गन्ध, रस और स्पर्शको जानती हैं।

घ १/३६/२७/२८/१३ सज्जेइ इविस्स अपत्तत्थगहणसत्तिसंभावो । — सभी इन्द्रियोमें अप्राप्त ग्रहणकी शक्ति। पाया जाना सम्भव है।

२ चक्षुको अप्राप्यकारी कैसे कहते हो

स सि १/१६/१२८/६ चक्षुपोऽप्राप्यकारित्वं कथमध्यवसीयते । आगमतो युक्तिश्च । आगमत (दे २/१/१) । युक्तिश्च अप्राप्यकारि चक्षुः, स्पृष्टानवग्रहात् । यदि प्राप्यकारि स्यात् त्वगिन्द्रियवत् स्पृष्टमञ्जन गृह्णीयात् न तु गृह्णीयतो मनोवदप्राप्यकारीत्यवसेयम् । — प्रश्न—चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है यह कैसे जाना जाता है । उत्तर—आगम और युक्तिसे जाना जाता है । आगमसे (दे २/१/१) युक्तिसे यथा—चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है, क्योंकि वह स्पृष्ट पदार्थको नहीं ग्रहण करती । यदि चक्षु इन्द्रिय प्राप्यकारी होती तो वह त्वचा इन्द्रियके समान स्पृष्ट हुए अजनको ग्रहण करती । किन्तु वह स्पृष्ट अजनको नहीं ग्रहण करती है इससे मालूम होता है कि मनके समान चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है । (रा वा १/१६/२/६७/१२) ।

रा वा १/१६/२/६७/२३ अत्र केचिदाहु — प्राप्यकारि चक्षुः आवृत्तानवग्रहात् त्वगिन्द्रियवदिति, अत्रोच्यते—काचाभ्रपटलस्फटिकावृत्तार्थवग्रहे सति अव्यापकत्वादसिद्धा हेतु भौतिकत्वात् प्राप्यकारि चक्षुरग्निवदिति चेत्, न अयस्कान्तेनैव प्रत्युत्पत्तत्वात् । अयस्कान्तोपलम् अप्राप्यलोहमाकर्षदपि न व्यवहितमाकर्षति नातिविप्रकृष्टमिति संशयावस्थमेतदिति । अप्राप्यकारित्वे संशयविपर्ययभाव इति चेत्, न, प्राप्यकारित्वेऽपि तदविशेषात् । कश्चिदाह—रश्मिवच्चक्षुः तैजसत्वात्, तस्मात्प्राप्यकारीति, अग्निवदिति; एतच्चायुक्तम् अनम्युपगमात् । तेजोलक्षणमौप्यमिति कृत्वा चक्षुरिन्द्रियस्थानमुष्ण स्यात् । न च तद्देशे स्पर्शनेन्द्रियम् उष्णस्पर्शोपलम्भि दृष्टमिति । इतश्च, अतैजस चक्षुः भासुरत्वानुपलम्भः । नवतंचररश्मिदर्शनाद् रश्मिवच्चक्षुरिति चेत्, न, अतैजसोऽपि पुद्गलद्रव्यस्य भासुरत्वपरिणामोपपत्तेरिति । किंच, गतिमग्नैर्धर्म्यात् । इह यद् गतिमद्भवति न तत् सनिकृष्टविप्रकृष्टार्थविभक्तकाल प्राप्नोति, न च तथा चक्षुः । चक्षुर्हि शालाचन्द्रमसाविभक्तकालमुपलभते, तस्मान्न गतिमच्चक्षुरिति । यदि च प्राप्यकारि चक्षुः स्यात्, तमिस्रायां रात्रौ दूरेऽनी प्रज्वलति तस्मिन्पणतदभ्योपलम्भं भवति कुतो नान्तरालगतद्रव्यालोचनम् । किंच, यदि प्राप्यकारि चक्षुः स्यात् सान्तरालाधिकग्रहणं न प्राप्नोति । नहोन्द्रियान्तरविषये गन्धादौ सान्तरग्रहणं दृष्टं नाप्यधिग्रहणम् । पूर्वपक्ष—चक्षुः प्राप्यकारी है क्योंकि वह वके हुए पदार्थको नहीं देखती । जैसे कि स्पर्शनेन्द्रिय । उत्तर—कौंच अग्रक, स्फटिक आदिसे आवृत पदार्थोंको चक्षुः बराबर देखती है ।

अतः पक्षमें भी अव्यापक होनेसे उक्त हेतु असिद्ध है । पूर्व—भौतिक होनेसे अग्निवत् चक्षुः प्राप्यकारी है । उत्तर—चुम्बक भौतिक होकर भी अप्राप्यकारी है । जिस प्रकार चुम्बक अप्राप्त तोहेंको खींचता है परन्तु अति दूरवर्ती अतीत अनागत या व्यवहित तोहेंको नहीं खींचता । उसी प्रकार चक्षुः भी न व्यवहितको देखता है न अति दूरवर्तीको ही, क्योंकि पदार्थोंकी शक्तियाँ मर्यादित हैं । पूर्व—चक्षुके अप्राप्यकारी हो जानेपर चाक्षुष ज्ञान संशय व विपर्यययुक्त हो जाएगा । उत्तर—नहीं, क्योंकि प्राप्यकारीमें भी वह पाये हो जाते हैं । पूर्व—चक्षुः चू कि तेजो द्रव्य है । अतः इसके किरणें होती हैं, और यहाँकिरणोंके द्वारा पदार्थसे सम्बन्ध करके ही ज्ञान करता है जैसे कि अग्नि । उत्तर—चक्षुको तेजो द्रव्य मानना अयुक्त है । क्योंकि अग्नि तो गरम होती है, अतः चक्षु इन्द्रियका स्थान उष्ण होना चाहिए । अग्निकी तरह चक्षुः भी रूप (प्रकाश) भी होना चाहिए पर न तो चक्षुः उष्ण है और न भासुररूपवाली है । पूर्व—मिहलो आदि निशाचर जानवरों की आँखें रातको चमकती हैं अतः आँखें तेजो द्रव्य हैं । उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि पार्थिव आदि पुद्गल द्रव्योंमें भी कारणवश चमक उरपन्न हो जाती है—जैसे पार्थिव मणि व जलीय बर्फ । पूर्व—चक्षुः गतिमान है, अतः पदार्थोंके पास जाकर उसे ग्रहण करती है । उत्तर—जो गतिमान होता है, वह समीपवर्ती व दूरवर्ती पदार्थोंसे एक साथ सम्बन्ध नहीं कर सकता जैसे कि—स्पर्शनेन्द्रिय । किन्तु चक्षुः समीपवर्ती शाला और दूरवर्ती चन्द्रमाको एक साथ जानता है । अतः गतिमानसे विलक्षण प्रकारका होनेसे चक्षुः अप्राप्यकारी है । यदि गतिमान होकर चक्षुः प्राप्यकारी होता तो आँधियारी रातमें दूर देशवर्ती प्रकाशको देखते समय उसे प्रकाशके पासमें रखे पदार्थोंका तथा मध्यके अन्तरालमें स्थित पदार्थोंका ज्ञान भी होना चाहिए । यदि चक्षुः प्राप्यकारी होता तो जैसे शब्द कानके भीतर सुनाई देता है उसी तरह रूप भी आँखके भीतर हो दिखाई देना चाहिए था । आँखके द्वारा जो अन्तरालका ग्रहण और अपनेसे बड़े पदार्थोंका अधिक रूपमें ग्रहण होता है वह नहीं होना चाहिए ।

३. श्रोत्र को भी अप्राप्यकारी क्यों नहीं मानते

रा वा १/१६/२/६८/२४ कश्चिदाह—श्रोत्रमप्राप्यकारि विप्रकृष्टविषयग्रहणादिति, एतच्चायुक्तम्, असिद्धत्वात् । साध्यं तावदेतत्—विप्रकृष्टं शब्द गृह्णाति श्रोत्रम् उत घ्राणेन्द्रियवदवगाढं स्वविषयभाषपरिणत पुद्गलद्रव्यं गृह्णाति इति । विप्रकृष्ट शब्द ग्रहणे च स्वकर्णान्तर्विलग्न मशकशब्दो नोपलभ्येत । नहोन्द्रिय किंचिदेक दूरस्पृष्टविषयग्राहि दृष्टमिति । प्राप्तावग्रहे श्रोत्रस्य दिग्देशभेदविशिष्टविषयग्रहणभाव इति चेत्, न, शब्दपरिणतविषयस्पृष्टगलवेगशक्तिविशेषस्य तथा भावोपपत्तेः, सूक्ष्मत्वात् अप्रतिवातात् समन्तत् प्रवेशाच्च । — पूर्व—(बौद्ध कहते हैं) श्रोत्र भी चक्षुको तरह अप्राप्यकारी है, क्योंकि वह दूरवर्ती शब्दको सुन लेता है । उत्तर—यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि श्रोत्रका दूरसे शब्द सुनना असिद्ध है । वह तो नाककी तरह अपने देशमें आये हुए शब्द पुद्गलोंको सुनता है । शब्द वर्गणार्थ कानके भीतरही पहुँचकर सुनायी देती है । यदि कान दूरवर्ती शब्दको सुनता है तो उसे कानके भीतर घुसे हुए मच्छरका भ्रमभ्रमाना नहीं सुनाई देना चाहिए, क्योंकि कोई भी इन्द्रिय अति निकटवर्ती व दूरवर्ती दोनों प्रकारके पदार्थोंको नहीं जान सकता । पूर्व—श्रोत्रका प्राप्यकारी माननेपर भी ‘अमुक देशको अमुक दिशामें’ शब्द है’ इस प्रकार दिग्देशविशिष्टताके विरोध आता है । उत्तर—नहीं, क्योंकि वेगवात् शब्द परिणत पुद्गलोंके स्वरित और नियत वैशादिसे आनेके कारण उस प्रकारका ज्ञान हो जाता है । शब्द पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म हैं, वे चारों ओर फैलकर श्रोत्रोंके कानोंमें प्रविष्ट होते हैं । वहाँ प्रतिघात भी प्रतिकूल वायु और दोवार आदि से हो जाता है ।

४ स्पर्शनादि सभी इन्द्रियोमें भी कथंचित् अप्राप्य कारीपने सवन्धी

ध १/२ १.११४/३५४/२ शेषेन्द्रियेन्द्रप्रप्तार्थं ग्रहणं नोपलभ्यत इति चेन्न, एकेन्द्रियेयु योग्यदेशस्थितिनिधिषु निधिस्थित प्रवेश एव प्रागोह-मुक्तयन्मथानुपत्तिस्तत् स्पर्शनाद्याप्राप्तार्थं ग्रहणसिद्धे । शेषेन्द्रियाणा-मप्राप्तार्थं ग्रहणं नोपलभ्यत इति । चेन्माभ्युपलम्बस्तथापि तदगत्येव । ययु पनम्भादिप्रकाशानुचरमशेष पर्यन्तरेष्यदनुपलम्बस्याभावेऽभिव्यक्त । न चेत्तन्मनुपलम्भात् । —प्रश्न शेष इन्द्रियार्थं अप्राप्तका ग्रहणं नहीं पाया जाता है इसलिए उनसे अर्थाभिग्रह नहीं होना चाहिए । उत्तर—नहीं, क्योंकि एकेन्द्रियोमें उनका याग्य देशमें स्थित निधियोंके प्रवेशमें हो अकुरोंका फेलाव अन्वया भन नहीं सकता, इसलिए स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण, अर्थात् अर्थाभिग्रह भन जाता है । प्रश्न—इस प्रकार यदि स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना भन जाता है तो भन जाय । फिर भी शेष इन्द्रियोके अप्राप्त अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है । उत्तर—नहीं क्योंकि, यदि शेष इन्द्रियो से अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना शायोपश-मिक ज्ञानके द्वारा नहीं पाया जाता है तो मत पाया जावे । तो भी यह है ही क्योंकि यदि हमारा ज्ञान त्रिकाल गोचर समस्त पदार्थोंको जाननेवाला होता तो अनुपलम्बका अभाव सिद्ध हो जाता अर्थात् हमारा ज्ञान यदि सभी पदार्थोंको जानता तो कोई भी पदार्थ उसके लिए अनुपलम्ब न होता । किन्तु हमारा ज्ञान तो त्रिकालवर्ती पदार्थोंको जाननेवाला है नहीं, क्योंकि सर्वपदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानकी हमारे उपलब्धि ही नहीं होती है ।

ध १३/४.५. २७/२५/१३ होबु नाम अपरथग्रहणं चरिगदियगोइदियाणं तेसिदियाणं, तहोवत्तभाभावादो ति । न, एइदिएसु फासिदियस्त अपत्तनिहिगहणुवत्तभादो । तदुवत्तमो च तथ पारोहमोच्छणादुव लम्भदे । तेसिदियाणपत्तरथग्रहण कुदाभगम्भदे । जुचोदो । तं जहा-घाणिदिय-जिम्भदिय फासिदियाणमुक्तस्सविसओ नवजोयणाणि । जदि एदेसिमिदिया मुक्तस्सलज्जावसमगदजीवो नवसु जोयणेषु ट्ठिददव्वेहिंतो विप्पडिय आगदपोगलाणं जिम्भा-वाण-फासिदिपसु लग्गाण रस गंध फामे जाणदि ता समतदो नवजोयणम्भतरद्विददूह भगवणं तग्गपजणिदयमाद च तस्स पसज्जेज्ज । न च एव, तिज्विदि यपल्लओवसमगचवकयट्ठोणं पि असायसायरं तोपवेसप्पमगादो । किं च तिठल्लओवसमगदजीवाणं मूरणं पि होज्ज, नवजोयणम्भतर-द्वियविसेण जिम्भाए स भवेण घादियाणं नवजोयणम्भतरद्विदअग्गिणा दक्कमाणं च जीवणाणुवत्तदो । किं च—ण तेसि महुरभोयणं वि स भवदि, सगक्खेत्तोत्ठियतियमुअ-पिचुमदक्कडहरसेण मिलिद-दुदस्स महुरत्ताभावादो । तग्हा तेसिदियाणं पि अपत्तगहणम्भरि-त्तिइच्छिदव । —पूर्व—चक्षुइन्द्रिय और नोइन्द्रियके अप्राप्त अर्थ करना रहा आवे किन्तु शेष इन्द्रियोके यह नहीं भन सकता, क्योंकि वे अप्राप्त अर्थको ग्रहण करती हुई नहीं उपलब्ध होती । उत्तर—नहीं, क्योंकि एकेन्द्रियोमें स्पर्शन इन्द्रिय अप्राप्त निधियोंको ग्रहण करती हुई उपलब्ध होती है, और यह मात उस और प्रारोह छोड़नेमें जानी जाती है । पूर्व—शेष इन्द्रियो अप्राप्त अर्थको ग्रहण करती हैं, यह किस प्रमाणसे जाना जाता है । उत्तर—१ युक्तसे जाना जाता है । यथा-घ्राणेन्द्रिय, जिह्वा-न्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रियका उत्कृष्ट विषय नो योजन है । यदि इन इन्द्रियोके उत्कृष्ट शायोपशमको प्राप्त हुआ जोय नो योजनके भीतर स्थित द्रव्योंमें से निकलकर आवे हुए तथा जिह्वा, घ्राण और स्पर्शन इन्द्रियोसे लगे हुए पुद्गलोंके, रस, गन्ध और स्पर्शको जानता है तो उनके चारों ओरसे नो योजनके भीतर स्थित विष्ठाके भक्षण करनेका और उसकी गंधके सुँवनेसे उत्पन्न हुए दु खका प्रसंग प्राप्त होगा । परन्तु ऐसा नहीं, क्योंकि ऐसा

माननेव इन्द्रियोंके तीव्र शायोपशमको प्राप्त हुए पचयसियों के भी असाता रूपी मागरेके भीतर प्रवेश करनेका प्रसंग आता है । २ दूसरे तीव्र शायोपशम को प्राप्त हुए जीविका मरण भी हो जायेगा क्योंकि नो योजनके भीतर स्थित अग्निसे जनते हुए जीविका जीना नहीं भन सकता है । ३ तीसरे ऐसे जीविके मधुर भोजन-का करना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि, अपने शेषव भीतर स्थित तीव्र रसवाले दूध और नीमके बहुत रससे मिले हुए दूधमें मधुर रसका अपावहा जायेगा । इमोनिण शेष इन्द्रियो भी अप्राप्त अर्थको ग्रहण करती हैं, ऐसा स्वीकार करना चाहिए ।

५ फिर प्राप्यकारी व अप्राप्यकारीसे क्या प्रयोजन

ध १/२ १.११४/३५४/३ न कारस्स्येनाप्राप्तमर्थस्यानि मृतममुत्तरव वा न महे यस्तदप्रवृत्तादिनिदानमिन्द्रियाणामप्राप्यकारित्वमिति । किं तर्हि । कथं चक्षुर्गन्धिद्रव्याभ्यामनि मृतामृतावप्रवृत्तादि तमोरपि प्राप्य कारित्वप्रसंगादिति चेन्न योग्यदेशावस्थितेरेव प्राप्तेर्गमिधानात् । तथा च रसगंधस्पर्शानां स्वप्राप्तिभिर्मिन्द्रियै स्पष्ट स्वयाग्यदेशाव स्थिति शब्दस्य च । रूपस्य चक्षुषाभिमुखतया, न तत्परिच्छेदिना चक्षुषा प्राप्यकारित्व मनि मृतामृतावप्रवृत्तादिदिद्धे । —पदार्थं पूरी तरहसे अनिसृतपनेको और अनुक्तपनेको हम प्राप्त नहीं कहते हैं । जिससे उनके अवग्रहादिका कारण इन्द्रियोंका अप्राप्यकारीपना होवे । प्रश्न—तो फिर अप्राप्यकारीपनेसे क्या प्रयोजन है । और यदि पूरी तरहसे अनि मृतव और अनुक्तवको अप्राप्त नहीं कहते हो तो चक्षु और मनमें अनि मृत और अनुक्त अवग्रहादि कैसे हो सकेंगे । यदि चक्षु और मनमें भी पूर्वोक्त अनि मृत और अनुक्त अवग्रहादि माने जावेंगे तो उन्हें भी प्राप्यकारित्वका प्रसंग आ जायेगा । उत्तर—नहीं क्योंकि, इन्द्रियके ग्रहण करनेके याग्य देशमें पदार्थोंकी अवस्थितिको ही प्राप्त कहते हैं । ऐसी अवस्थामें रस, गंध और रस-का उनको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंके साथ अपने-अपने योग्य देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है । शब्दका भी उसको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियके साथ अपने योग्य देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है । उसी प्रकार रूपका चक्षुके साथ अभिमुख रूपसे अपने देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है क्योंकि, रूपको ग्रहण करनेवाले चक्षुके साथ रूपका प्राप्यकारीपना तथा अनि मृत व अनुक्त अवग्रह आदि नहीं भनता है ।

३ इन्द्रिय-निर्देश

१ भावेन्द्रिय ही वास्तविक इन्द्रिय है

ध ११.१.३७/२६३/४ केवनिभिर्धर्मिचारादिति नैप दोष भावेन्द्रियत पञ्चेन्द्रियत्वाभ्युपगमात् । प्रश्न—केवलीमें पञ्चेन्द्रिय होते हुए भी भावेन्द्रिय नहीं पायी जाती है, इसीलिए व्यभिचार दोष आता है । उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँपर भावेन्द्रियोंकी अपेक्षा पञ्चेन्द्रियपना स्वीकार किया है ।

ध २/ १.१/४४४/४ दव्वेदियाण निष्पत्ति पट्टसुके वि दस पाणे भण ति । तण्ण घट्टे । कुदो । भाविदियाभावादो । भाविदियं नाम पचण्हमि दियाणं खओवसमो । न सो खोणावरणे अरिय । अथ दव्वेदियस्स जदि गहणं कीरदि तो मण्णीणमपज्जत्तकाले सत्त पाणा पिडिदूण दो चेव पाणा भवति, पचण्ह दव्वेदियाणमभावादो । —कितने ही आचार्य द्रव्येन्द्रियोंकी पूर्णताकी अपेक्षा वेबलीके दश प्राण कहते हैं, परन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता, क्योंकि, सयोगी जिनके भावेन्द्रिय नहीं पायी जाती हैं । पाँचों इन्द्रियादरन बर्मके शायो-पशमको भावेन्द्रियो कहते हैं । परन्तु जिनका आवरण बर्म समूल नष्ट हो गया है उनके वह शायोपशम नहीं होता है । और यदि प्राणोंमें द्रव्येन्द्रियोंका हो ग्रहण किया जावे तो सभी जीवोंके अपर्याप्त-

कालमें सात भागके स्थानपर कुल दस ही प्राण कहे जायेंगे, क्योंकि, उनके पाँच द्रव्येन्द्रियोंका अभाव होता है।

घ ६/२ १ १५/६१/६ तस्मिन्निन्द्रियावरणस्य सव्यधादिफट्टयाण सतोमस-
मेग देसवादिफट्टयाणमुदरण चत्तु सोद घाण-जिम्भदियावरणाण
देसधादिफट्टयाणमुदयवत्तण तेसि चैत्र संतावसमेण तेसि सव्यधादि-
फट्टयाणमुदरण जो उत्पण्णो जीवपरिणामो साखओवसमिओ मुचुद्धे ।
कुदो । पुव्वुत्ताणं फट्टयाण खओवसमे हि उत्पण्णत्तादा । तस्स जीव-
परिणामस्स एह दियमिदि सण्णा ।

घ ६/२ १ १५/६१/५ फास्मिदियावरणादोण मदिआवरणे अत्तभावादो ।
= स्पर्शेन्द्रियावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके सत्त्वोपशमसे, उसीके
देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण और जिह्वा इन्द्रिया-
वरण कर्मके देशघाती स्पर्धकोंके उदय क्षयसे जा जीव परिणाम
उत्पन्न होता है उसे क्षयोपशम कहते हैं क्योंकि, वह भाव पूर्वोक्त
स्पर्धकोंके क्षय और उपशम भावोंसे हो उत्पन्न होता है। इसी जीव
परिणामको एकेन्द्रिय संज्ञा है। स्पर्शनेन्द्रियादिक आवरणोंका मति
आवरणमें ही अन्तर्भाव हो जानेसे उनके पृथक् उपदेशकी आवश्यक-
ता नहीं समझी गयी।

२ भावेन्द्रियको ही इन्द्रिय मानते ही तो उपयोग शून्य

दशमे या सशयादि दशामें जीव अनिन्द्रिय हो जायेगा

घ १/१, १, ४/१६१/१ इन्द्रियवैकल्पमनोऽनवस्थानाध्यवसायालोकाद्य-
भावावस्थायां क्षयोपशमस्य प्रत्यक्षविषयव्यापाराभावात्तन्नात्मनोऽ-
निन्द्रियत्वं स्यादिति चेन्न, गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्तिरस्य
गोशब्दस्यागच्छद्गोपदार्थेऽपि प्रवृत्त्युपलम्भात् । भवतु तत्र रूढिबल-
लाभादिति चेदत्रापि तस्मात्तादेवास्तु, न कश्चिद्दोषः । विशेषभाव-
त्तस्तेषां सङ्गव्यतिकाररूपेण व्यापृतिरव्याप्नोतीति चेन्न, प्रत्यक्षे
नोत्तिरियमिति रतानीति प्रतिपादनात् । सशयविषयभावस्याप्य-
निष्पत्त्यामन्तरत्वाभावात्तन्नात्मनोऽनिन्द्रियत्वं स्यादिति चेन्न, रूढि-
बललाभाद्भयम् प्रवृत्त्यविरोधात् । अथवा स्वचिन्तितानीन्द्रियाणि ।
संशयविषयनिर्णयादौ वर्तनं वृत्तिरस्य स्ववृत्ती रतानीन्द्रि-
याणि । निष्पत्त्यावस्थायां नेन्द्रियव्यपदेशः स्यादिति चेन्न, उक्तो-
त्तरत्वात् । = प्रश्न—इन्द्रियोंकी विकलता, मनकी चंचलता और
अनध्यवसायके सद्भावमें तथा प्रकाशादिकके अभावरूप अवस्थामें
क्षयोपशमका प्रत्यक्ष विषयमें व्यापार नहीं हो सकता है, इसलिए
उस अवस्थामें आत्माके अनिन्द्रियपणा प्राप्त हो जायेगा । उत्तर—
ऐसा नहीं है, क्योंकि जो गमन करती है उसे गौ कहते हैं । इस तरह
'गौ' शब्दकी व्युत्पत्ति हो जानेपर भी नहीं गमन करनेवाली गौ पदार्थ
में भी उस शब्दकी प्रवृत्ति पायी जाती है । प्रश्न—भले ही गौ पदार्थ-
में रूढिके बलसे गमन नहीं करती हुई अवस्थामें भी 'गौ' शब्दकी
प्रवृत्ति होजा । किन्तु इन्द्रिय वैकल्यादिरूप अवस्थामें आत्माके
इन्द्रियपणा प्राप्त नहीं हो सकता है । उत्तर—यदि ऐसा है तो आत्मा-
में भी इन्द्रियोंकी विकलतादि कारणोंके रहनेपर रूढिके बलसे इन्द्रिय
शब्दका व्यवहार मान लेना चाहिए । ऐसा मान लेनेमें कोई दोष
नहीं आता है । प्रश्न—इन्द्रियाके नियामक विशेष कारणोंका अभाव
हानेमें उनका सत्त्व और व्यतिकार रूपसे व्यापार हाने नयेगा ।
अर्थात् या तो वे इन्द्रियों एक दूसरी इन्द्रियके विषयके विषयकी
ग्रहण करगी या समस्त इन्द्रियोंका एक ही साथ व्यापार होगा ।
उत्तर ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों अपने नियमित
विषयमें ही रह हैं, अर्थात् व्यापार करती हैं, ऐसा पहले ही कथन कर
आये हैं । इसलिए सत्त्व और व्यतिकार दोष नहीं आता है । प्रश्न—
संशय और विषय रूप ज्ञानको अवस्थामें निर्णयार्थक रति अ वृत्ति
प्रवृत्तिना अभाव होनेसे उस अवस्थामें आत्माको अनिन्द्रियपनेकी
प्राप्ति हो जायेगी । उत्तर—१ नहीं, क्योंकि रूढिके बलसे निर्णय-
ार्थक और अनिर्णयार्थक इन दोनों अवस्थाओंमें इन्द्रिय शब्दकी

प्रवृत्ति माननेमें कोई विरोध नहीं आता है । २ अथवा अपनी-अपनी
प्रवृत्तिमें जो रह हैं उन्हें इन्द्रियों कहते हैं इसका खलनामा इस प्रकार
है । संशय और विषय ज्ञानके निर्णय आदिबे करनेमें जो प्रवृत्ति
होती है उसे वृत्ति कहते हैं । उस अपनी वृत्तिमें जो रह हैं उन्हें
इन्द्रियों कहते हैं । प्रश्न—जब इन्द्रियों अपने विषयमें व्यापार नहीं
करती हैं, तब उन्हें व्यापार रहित अवस्थामें इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त नहीं
हो सकती । उत्तर—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि इसका उत्तर पहले
दे आये हैं कि रूढिके बलसे ऐसी अवस्थामें भी इन्द्रिय व्यवहार
होता है ।

३ भावेन्द्रिय होनेपर ही द्रव्येन्द्रिय होती है

घ १/२, १, ४/१३५/७ शब्दस्पर्शरसरूपगन्धज्ञानावरणकर्मणा क्षयोपशमाद्
द्रव्येन्द्रियनिवन्धनादिन्द्रियाणीति यावत् । भावेन्द्रियमर्थस्वाद्
द्रव्येन्द्रियस्य व्यपदेशः । नेयमदृष्टपरिकल्पना कार्यकारणोपचारस्य
जगति सुप्रसिद्धस्योपलम्भात् । = (वे इन्द्रियों) शब्द, स्पर्श, रस,
रूप और गन्ध नामके ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे और द्रव्येन्द्रियों
के निमित्तसे उत्पन्न होती हैं । क्षयोपशमरूप भावेन्द्रियोंके होनेपर
ही द्रव्येन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है, इसलिए भावेन्द्रियों कारण हैं,
और द्रव्येन्द्रियों कार्य हैं और इसलिए द्रव्येन्द्रियोंको भी इन्द्रिय
संज्ञा प्राप्त होती है । अथवा, उपयोग रूप भावेन्द्रियोंकी उत्पत्ति
द्रव्येन्द्रियोंके निमित्तसे होती है इसलिए भावेन्द्रिय कार्य हैं और
द्रव्येन्द्रियों कारण हैं, इसलिए भी द्रव्येन्द्रियोंको इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त
है । यह कोई अदृष्ट कल्पना नहीं है, क्योंकि कार्यगत धर्मका कारणमें
और कारणगत धर्मका कार्यमें उपचार जगत्में निमित्त रूपसे पाया
जाता है ।

४ द्रव्येन्द्रियोंका आकार

घ आ १०६१ जगज्जगता ममृत्ति अतिमुक्तगचदण खुरप्पे य । ६ दिय-
सठाणा खलु फासम्म अणेममठाण ॥१०६१॥ = श्रोत्र, चक्षु, घ्राण
जिह्वा इन चार इन्द्रियोंका आकार क्रमसे जीकी नली, मसूर, अति-
मुक्त पुष्प, अर्धचन्द्र अथवा खुरपा इनके समान हैं और स्पर्शन
इन्द्रिय अनेक आकार रूप है । (घ स/१ १/६६) (रा वा १/१६६/६६/२६),
(घ १/१, १ ३३/१३२/२३६), (घ १/१, १ ३३/२३४/७),
(गा जी/म १७१ १७२), (प म/स १/१२३)

५ इन्द्रियोंकी अवगाहना

घ १/१ १ ३३/२३४/७ ममृत्ति काका अद्भुतस्यासख्येयभागप्रमिता चसु-
रिन्द्रियस्य बाहान्वृत्ति । गवनालिकाकारा अद्भुतस्यासख्येय-
भागप्रमिता श्रोत्रस्य बाहान्वृत्ति । अतिमुक्तपुष्पस्थाना अद्भुत-
स्यासख्येयभागप्रमिता घ्राणनिवृत्ति । अर्धचन्द्राकारा सुग्राकारा
बाहुलस्य संख्येयभागप्रमिता स्पर्शननिवृत्ति । स्पर्शनेन्द्रियनिवृत्ति-
रनितसस्थाना । सा जघन्येन अद्भुतस्यासख्येयभागप्रमिता मूष्म-
शरीरेषु, उत्कर्षेण सख्येयपदानुनप्रमिता महामस्स्यादिवसजीवेषु ।
सर्वतः स्तोकाश्चमप्य प्रदेशा, श्रोत्रेन्द्रियप्रदेशा सरयेयगुणा घ्राणे-
न्द्रियप्रदेशा बिणेयाधिका जिह्वायामसंख्येयगुणा स्पर्शने सख्येय-
गुणा । = मसूरेके समान आकारवाली और घनांगुलके असख्यातवे
भागप्रमाण चक्षु इन्द्रियकी बाह्य निवृत्ति होती है । यवकी नालीके
समान आकारवाली और घनांगुलके असख्यातवे भागप्रमाण श्रोत्र
इन्द्रियकी बाह्य निवृत्ति होती है । अर्धचन्द्र के फूलके समान आकार-
वाली और घनांगुलके असख्यातवे भागप्रमाण घ्राण इन्द्रियकी बाह्य
निवृत्ति होती है । अर्धचन्द्र अथवा खुरपाके समान आकारवाली
और घनांगुलके सरयेय भाग प्रमाण रसना इन्द्रियकी बाह्य निवृत्ति
होती है । स्पर्शनेन्द्रियकी बाह्यनिवृत्ति अनित्य आकारवाली होती
है । यह जघन्य प्रमाणकी अपेक्षा घनांगुलके असख्यातवे भागप्रमाण
मूष्म निगोदिया लब्ध्यापमात्र जीवके (प्रजुगतिसे उत्पन्न होनेके
तृतीय समयवर्ती) शरीरमें पायी जाती है, और उत्कृष्ट प्रमाणकी

अपेक्षा संख्यात घनांगुल प्रमाण महामस्य आदि त्रस जीवोंके शरीरमें पायी जाती है। चक्षु इन्द्रियके अवगाहनारूप प्रदेश समस्त कम हैं, उनसे सख्यातगुणे श्रोत्र इन्द्रियके प्रदेश हैं। उनसे अधिक घ्राण इन्द्रियके प्रदेश हैं। उनसे असख्यात गुणे जिह्वाइन्द्रियके प्रदेश है। और उनसे असख्यातगुणे स्पर्शन इन्द्रियके प्रदेश हैं।

६ इन्द्रियोका द्रव्य व क्षेत्रकी अपेक्षा विषय ग्रहण

१ द्रव्य की अपेक्षा

त सू २/१६-२१ स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु श्रोत्राणि। १६। स्पर्शरसनघनघर्ष-शब्दास्तदर्थ। २०। श्रुतमनिन्द्रियस्य। २१। —स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये इन्द्रियाँ हैं ११६। इनके क्रमसे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये विषय हैं। २०। श्रुत (ज्ञान) मनका विषय है। (प सं/प्रा १/६८), (प सं (सं १/१९)

रा वा ५/१६/३१/४७२/३० मनोलब्धिमता आत्मना मनस्वेन परिणा-मिता पुद्गला तिमिरान्धकारादिबाह्याभ्यन्तरेन्द्रियप्रतिपाद्यहेतु-सन्निधानेऽपि गुणदोषविचारस्मरणदिब्यापारे साचिव्यमनुभवन्ति, अतोऽस्त्यन्त करण मन । —मनोलब्धि वाले आत्माके जो पुद्गल मनरूपसे परिणत हुए हैं वे अन्धकार तिमिरादि बाह्योन्द्रियोंके उप-घातक कारणके रहते हुए भी गुणदोष विचार और स्मरण आदि व्यापारमें सहायक होते ही हैं। इसलिए मनका स्वतन्त्र अस्तित्व है।

घ १३/५,५,२५/२२८/१३ नोइन्द्रियादो दृष्ट सुदानुभूतेश्च अथेष्ट नोई-दियादो पुद्गलैश्च ज्ञानमुपपज्जति सो नोइन्द्रिय अथोग्रहो नाम। सुदानुभूतेश्च द्रव्ये लोगतद्विषेऽपि अथाग्राहो चि कार-णेण अज्ञानगिन्यामाभावादो । —नोइन्द्रियक द्वारा उससे पृथक्भूत दृष्ट, श्रुत और अनुभूत पदार्थोंका जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह नोइन्द्रिय अर्थाविग्रह है। क्योंकि लोकके भीतर स्थित हुए श्रुत और अनुभूत विषयका भी नोइन्द्रियके द्वारा अर्थाविग्रह होता है, इस कारणसे यहाँ क्षेत्रका नियम नहीं है।

प घ/पू ७/१५ स्पर्शनरसनघ्राण चक्षु श्रोत्र च पञ्चक यावत्। मूर्त-ग्राहकमेक मूर्तमूर्तस्य वेदक च मन। १५। —स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों ही इन्द्रियाँ एक मूर्तक पदार्थको जानने-वाली हैं। मन मूर्तक तथा अमूर्तक दोनों पदार्थोंको जानने वाला है।

२ क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट विषय

(मू आ १०६२-१०६८), (रा वा १/१६/६/७०/३), (घ ६/४,१,४५/५२ ५७/१५८), (घ १३/५,५,२५/२२७/५)

सकेत—घ = घनुप, यो = योजन, सर्वलोकवर्ती = सर्वलोकवर्ती दृष्ट व अनुभूत विषय—दे घ १३।

इन्द्रिय	एकेन्द्रिय	द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	असङ्गी पं	सङ्गी पं
स्पर्शन	४०० घ	८०० घ	१६०० घ	३२०० घ	६४०० घ	६ यो
रसना		६४ घ	१२८ घ	२५६ घ	५१२ घ	६ यो
घ्राण			१०० घ	२०० घ	४०० घ	६ यो
चक्षु				२६५४ यो	५६०८ यो	४७२६२८०
श्रोत्र					८००० घ	१२ यो
मन						सर्वलोकवर्ती

७ इन्द्रियोंके विषयका काम व भोगरूप विभाजन

मू आ ११३८ कामा दुवे तज्ज भोग इन्द्रियरथा विदूहि पणत्ता। कामो रमो य फासा सेसा भोगेति आहोया। ११३८। —दो इन्द्रियोंके विषय काम है, तीन इन्द्रियोंके विषय भोग है, ऐसा विद्वानोंने कहा है।

रस और स्पर्श तो काम हैं और गन्ध, रूप, शब्द भोग हैं, ऐसा कहा है। ११३८। (स सा/ता व ४/११)

८ इन्द्रियोंके विषयो सम्बन्धी दृष्टि-भेद

घ ६/४,१,४५/१५६/१ नवयोजनान्तरस्थितपुद्गलद्रव्यस्कन्धैकदेशमा-गम्येन्द्रियसमग्र जानन्तीति केचिदाचक्षते। तत्र घटते, अध्वान-प्ररूपणा वैकल्यप्रसगात् । —नौ योजनके अन्तरसे स्थित पुद्गल द्रव्य स्कन्धके एक देशको प्राप्त कर इन्द्रिय सम्मग्र अर्थको जानते हैं ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। किन्तु वह पटित नहीं होता, क्योंकि, ऐसा माननेपर अध्वान प्ररूपणाके निष्फल होनेका प्रसंग आता है।

९ ज्ञानके अर्थमें चक्षुका निर्देश

प्र सा/पू २३४ आगमचक्षु साहू इन्द्रियचक्षुणि सखभूदाणि। देवा य आहिचखु सिद्धा पुण सखदो चखु। २३४। —साधु आगम चक्षु हैं, सर्व प्राणी इन्द्रिय चक्षु वाले हैं, देव अवधि चक्षु वाले हैं और सिद्ध सर्वत चक्षु (सर्व ओरसे चक्षु वाले अर्थात् सर्वारम्भदेशोंसे चक्षु-वान्) हैं।

४ इन्द्रिय मार्गणा व गुणस्थान निर्देश

१ इन्द्रिय मार्गणाकी अपेक्षा जीवोंके भेद

प ख १/१ १/सू ३३/२३१ इन्द्रियाणुवादेण अथि एइन्द्रिया, भौंदिया, तोइन्द्रिया, चक्षुरिन्द्रिया, पंचिन्द्रिया, अणिन्द्रिया चेदि। —इन्द्रिय मार्गणाकी अपेक्षा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय जीव होते हैं। (प्र स/टी १३/३७)

२ एकेन्द्रियादि जीवोंके लक्षण

पं का/मू ११२-११७ एवे जीवणिकाया पचविधा पुढविकाइयादीया। मणपरिणामाविरहिदा जीवा एवेन्द्रिया भणिया। ११२। समुद्रमादुवाहा संखा सिप्पो अवादाया य किमो। जाणति रसं फास जे ते वेइन्द्रिया जीवा। ११४। जूगागुभीमकणपिपोलिया विच्छयादिया कीडा। जाणति रस फासं गधं तेइन्द्रिया जीवा। ११५। उद्द समसयमस्त्रिय-मधुकरिभमरा पतगमादीया। रुव रस च गध फास पुण ते विजा-णति। ११६। मुरणरायाहिरिया वणरसफासगधसहणू। जलचर-थलचरखचरा मलिया पचेन्द्रिया जीवा। ११७। —इन पृष्ठीकायिक आदि पाँच प्रकारके जीवनिष्कायोंको मनपरिणाम रहित एकेन्द्रिय जीव (सर्वज्ञाने) कहा है। ११२। शङ्ख, मातृकवाह, शत्रु, सोप और पग रहित कृमि—जो कि रस और स्पर्शको जानते हैं, वे द्वीन्द्रिय जीव हैं। ११४। खूँ, कुम्भी, खटमल, चींटी और भिच्छू आदि जल-रस, रस और गन्धको जानते हैं, वे त्रीन्द्रिय जीव हैं। ११५। डाँस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भँवरा और पतंग आदि जीव रूप, रस, गन्ध और स्पर्शको जानते हैं। (वे चतुरिन्द्रिय जीव हैं)। ११६। बर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्दको जाननेवाले देव-मनुष्य-नारक-सिंघ-जो थलचर, खेचर, जलचर होते हैं वे मलवाच पचेन्द्रिय जीव हैं। ११७। (पं स/प्रा १/६६-७३) (घ ६/१,१,३३/१३६-१३७/२४१-२४५), (पं स/स १/१४३-१५०)।

३ एकेन्द्रियसे पचेन्द्रिय पर्यन्त इन्द्रियोका स्वामित्व

त सू २/२२ २३ वनस्पत्यन्तानामेकम्। २२। कृमिपिपोलकाभ्रमरमनुष्या-दीनामेककृद्धानि। २३। —वनस्पतिकायिक तकके जीवोंके अर्थात् पृथिवी अप्, तेज, वायु व वनस्पति इन पाँच स्थावरोंमें एक अथवा प्रथम इन्द्रिय (स्पर्शन) होती है। २२। कृमि पिपोलिका, भ्रमर और मनुष्य आदिके क्रमसे एक-एक इन्द्रिय अधिक होती है। २३। (प सं/प्रा १/६७) (घ १/१ १ ३३/१४२/२५८), (प सं/स १/८२-८६), (गो जी/मू १६६)।

स सि २/२२-२३/१८०/४ एकं प्रथममिर्यर्थ। किं तत्। स्पर्शनम्। तस्केपायम्। पृथिव्यादीनां वनस्पत्यन्तानां वेदितव्यम्। २२। कृम्या-दीनां स्पर्शनं रसनाधिकम्, पिपोलिकादीनां स्पर्शनरसने घ्राणाधिकं,

भ्रमरादीनां स्पर्शनरसनघ्राणानि चक्षुरधिकानि, मनुष्यादीनां सान्ध्यं श्रोताधिकानीति । —सूत्रमें आये हुए 'एक' शब्दका अर्थ प्रथम है । प्रश्न—वह कौन है । उत्तर—स्पर्शन । प्रश्न—वह कितने जीवोंके होती है । उत्तर—पृथिवीकायिक जीवोंसे लेकर वनस्पतिकायिक तकके जीवोंके जानना चाहिए । २२। कृमि आदि जीवोंके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती हैं । पिपीलिका आदि जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं । भ्रमर आदि जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं । मनुष्यादिके श्रोत्र इन्द्रियके मिला देनेपर पाँच इन्द्रियाँ होती हैं । (रा वा २/२२/४/१३६), (घ १/१,१,३३/२,७ २४१,२४३,२४६,२४७)

४ एकेन्द्रिय आदिकोंमें गुणस्थानोंका स्वामित्व

प ख १/१२/सू ३६-३७/२६१ एहदिया मोहदिया तीह्दिया चउरि-दिया असणि पचिदिया एकम्मि चैव मिच्छाह्दुद्वाणे । ३६। पचि-दिया असणिपचिदिय प्पहुडि जाव अयोगिकेवलि च्ति । ३७। — एकेन्द्रिय द्वोन्द्रिय त्रोन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टि नामक गुणस्थानमें ही होते हैं । ३६। असंज्ञी—पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान तक पंचेन्द्रिय जीव होते हैं । ३७। (रा वा १/७/११/६०६/२४), (सि प्र ४/२६६), गो जी/सू न जी प्र ६०८/११२१), गो क/जी प्र ३०६/४३८/८ पृष्ठमध्यस्थेकवत्तत्पि सासादनस्यापेत्ते । —पृथ्वी, अप, और प्रत्येक वनस्पतिकायिकोंमें सासादन गुणस्थानवर्ती जीव मरकर उपपन्न हो जाता है । अन्य एकेन्द्रियोंमें नहीं । विशेष ये जन्म ४/सासादन सम्बन्धी दृष्टिभेद ।

५ जीव अनिन्द्रिय कैसे हो सकता है

प ख ७/२ १/सू १६ १७/६८ अणिदो णाम कध भवदि । १६। खइयाए लक्षोए । १७। —प्रश्न—जीव अनिन्द्रिय किस प्रकार होता है । उत्तर—क्षायिक लक्षित जीव अनिन्द्रिय होता है ।

घ ७/२, १ १७/६८/८ इदिस्स विणट्ठेसु णाणस्स विणासो णाणाभावे जीवविणासो, जीवाभावे ण खइयालक्षो वि, णेद जुज्जवे । कुदो । जीवो णाम णाणसहावो, तदो इन्द्रियविणासे ण णाणस्स विणासो । णाणसहकारिकाणइन्द्रियाणमभावे कध णाणस्स अस्थित्तिमदि चे ण च छदुमस्थान्थाप णाणकारणत्तेण पड्विण्णिदियार्णि खीणा-वरणे भिण्णज दोए णाणुप्पत्तिह सहकारिकारण हाति च्ति णियमो, अह्वसगादो, अण्णहा मोक्खभावाप्पमगा । —प्रश्न—इन्द्रियोंके विनष्ट हो जानेपर ज्ञानका भी विनाश हो जायेगा, और ज्ञानके अभावमें जीवका भी अभाव हो जायेगा । जीवका अभाव हो जानेपर क्षायिक लक्षित न हो सकेगी । उत्तर—यह शका उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जीव ज्ञान स्वभावी है । इसलिए इन्द्रियोंका विनाश हो जानेपर ज्ञानका विनाश नहीं होता । प्रश्न—ज्ञानके सहकारी कारण-भूत इन्द्रियोंके अभावमें ज्ञानका अस्तित्व किस प्रकार हो सकता है । उत्तर—छद्मस्थ अस्त्वार्थ कारण रूपसे ग्रहणकी गयी इन्द्रियाँ क्षीणा-वरण जीवोंके भिन्न जातीय ज्ञानकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण हों ऐसा नियम नहीं है । क्योंकि ऐसा माननेपर अतिप्रसंग दोष आ जायेगा अन्यथा मोक्षके अभावका ही प्रसंग आ जायेगा ।

५ एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय निर्देश

१. एकेन्द्रिय असंज्ञी होते हैं

प का/सू ११९ मणपरिणामविरहिदा जीवा एहदिया णेमा ११११॥ — मन परिणामसे रहित एकेन्द्रिय जीव जानना ।

इन्द्रिय जय—दे संयम २ ।

इन्द्रिय ज्ञान—दे मतिज्ञान ।

इन्द्रिय पर्याप्ति—दे पर्याप्ति ।

इन्द्रिय प्रमाण—दे प्रमाण ।

इन्द्रोपाद—गर्भान्वयादि क्रियाओंमेंसे एक—दे सस्कार २ ।

इन्द्रकटो—यादाल २ = १८४४६७ ४४०३७०६४४१६१६ ।

इक्षुमती—भरतक्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे मनुष्य ४ ।

इक्षुरस—दे रस ।

इक्षुवर—मध्यलोकका सप्तम द्वीप व सागर—दे लोक ४/१ ।

इक्ष्वाकुवश—दे इतिहास १०/२ ।

इच्छा—दे अभिलाषा ।

इच्छाकार—

यू आ १२६, १३१ इट्टे इच्छाकारो तहेव अवराधे । १२६। सजमणा-णुवकरणे अणुवकरणे च जायणे अण्णे । जोगगहणादिस्स अ इच्छा-कारो बु कादव्वा । १३१॥ —सम्यग्दर्शनादि शुद्ध परिणाम व व्रतादिक शुभपरिणामोंमें हर्ष होना अपनी इच्छासे प्रवर्तना वह इच्छाकार है ।

१२६। समयके पीछे आदि उपकरणोंमें तथा भुत्तज्ञानके पुस्त-कादि उपकरणोंमें और अन्य भी तप आदिके कमण्डलु आहारादि उपकरणोंमें, औषधिमें, उष्णकान्नादिमें, आतापनादि यागोंमें इच्छा-कार करना अर्थात् मनको प्रवर्तना १३१॥

सू पा/सू १४-१५ इच्छायार महत्थं सुसंठओ जो हु छहए कम्म । ठाणे द्वियसम्मत्त परलोयसुहकरो होइ १४। अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइ करेदि निरवसेसाई । तह वि ण पायादि सिद्धि ससारथो पुणो मणियो १५। —जो पुरुष जिन सूत्र विषे तिष्ठता सत्ता इच्छा-कार शब्दका महापुत्र साहिजाने है, वहुरि स्थान जो श्रावकके भेद रूप प्रतिमा सिनिमे तिष्ठता सम्यक्वर सहित वर्तता आरम्भ आदि कर्मनिकू छाडे है सो परलोकविषे सुख करनेवाला हाय है १४। इच्छाकारका प्रधान अर्थ आरमाका चाहना है अपने स्वरूप विषे रुचि करना है सो याकू जा नाही इष्ट करे है अन्य धर्मके सर्व आचरण करे है तोउ सिद्धि कहिये मोक्ष क नहीं पावे है ताक ससारविषे ही तिष्ठनेवाला कहा ।

* श्रावक श्राविका व आर्यिका तीनोंकी विनयके लिए 'इच्छाकार' शब्दका प्रयोग किया जाता है ।

—दे विनय ३ ।

इच्छादेवी—रुचक पर्वत निवासिनी दिवकुमारी देवी ।

—दे लोक ७ ।

इच्छानिरोध—दे तप ।

इच्छा निषेध—दे राग ।

इच्छानुलोमा भाषा—दे भाषा ।

इच्छा राशि—गो जी, सद्दृष्टि 'गणित' सम्बन्धी त्रैराशिक विधिमें अपना इच्छित प्रमाण (विशेष—दे गणित II/४)

इच्छा विभाग—वसतिकाका एक दोष—दे धमत्तिका ।

इज्या—म पु ६७/१६३ याज्ञो यश्च ऋतु सपर्येज्याध्वरो मख । मह इत्यपि पर्यायवचनान्यर्चनाविधे १६३॥ —याग, यज्ञ, ऋतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख, और मह ये सब पूजा विधिके पर्याय-वाचक शब्द हैं १६३॥

चा सा ४३/१ तत्रार्हत्तुज्ज्या, सा च निरयमहश्चतुर्मुख कर्णवृक्षोऽष्टा-हिक ऐन्द्रध्वज इति । —अर्हन्त भगवाञ्चो पूजा करना इज्या कह-लाती है उसके निरयमह, चतुर्मुख कर्णवृक्ष अष्टाहिक और इन्द्र-ध्वज यह पाँच भेद हैं ।

इत्तरनिगोद—दे वनस्पति २।

इत्तरेतराभाव—दे अभाव।

इति—रा वा १/१३/१/५७/११ इतिशब्दोऽनेकार्थः संभवति। क्वचि-
द्व्येतौ वर्तते—'हन्तीति पलायते, वर्पतीति धावति'। क्वचिदेवमित्य-
स्यापि वर्तते—'इति स्म उपाध्याय कथयति' एवं स्म इति गम्यते।
क्वचिरप्रकारे वर्तते—यथा 'गौरश्व' शुक्लो नील, चरति प्लवते, जिन
दत्तो देवदत्त' इति, एवं प्रकारा इत्यर्थः। क्वचिद्व्यवस्थायां वर्तते—
यथा ज्वलितकिससाण्ण' [जिने० २/११२] इति। क्वचिदर्थ-
विपर्यासे वर्तते—यथा 'गौरित्ययमाह—गौरिति जानीते इति।
क्वचित्समाप्ति वर्तते—'इति प्रथममाहिकम्, इति द्वितीयमाहिकम्'
इति। क्वचिद्व्यप्रादुर्भावे वर्तते—'इति श्रौतत्तम, इति सिद्धसेन-
मिति।'—इति शब्दके अनेक अर्थ होते हैं—यथा—१ हन्तीति
पलायते—'मारा इसलिए भाग' यहाँ इति शब्दका अर्थ है।
२ इति स्म उपाध्याय कथयति—उपाध्याय इस प्रकार कहता है।
यहाँ 'इस प्रकार' अर्थ है। ३ 'गो अश्व इति'—गाय, घोड़ा
आदि प्रकार। यहाँ इति शब्द प्रकारवाची है। ४ प्रथममाहिकमिति'
यहाँ इति शब्दका अर्थ समाप्ति है। ५ इसी तरह व्यवस्था अर्थ-
विपर्यास शब्द प्रादुर्भाव आदि अनेक अर्थ हैं।

इतिवृत्त—इतिहासका एकार्थवाची है—दे इतिहास।

इतिहास—किसी भी जाति या संस्कृतिका विशेष परिचय पानेके
लिए तत्सम्बन्धी साहित्य हो एक मात्र आधार है और उसकी प्रामा-
णिकता उसके रचयिता व प्राचीनतापर निर्भर है। अतः जैन संस्कृति
का परिचय पानेके लिए हमें जैन साहित्य व उनके रचयिताओंके
काल आदिका अनुशीलन करना चाहिए। परन्तु यह कार्य आसान
नहीं है, क्योंकि रयातिलाभकी भावनाओंसे अतीत वीतरागीजन
प्राय अपने नाम, गाँव व कानका परिचय नहीं दिया करते। फिर
भी उनकी कथन शैली पर से अथवा अन्यत्र पाये जानेवाले उन
सम्बन्धी उल्लेखों परसे, अथवा उनकी रचनामें ग्रहण किये गये अन्य
शास्त्रोंके उद्धरणों परसे, अथवा उनके द्वारा गुरुजनोंके स्मरण रूप
अभिप्रायसे लिखी गयी प्रशस्तियों परसे, अथवा आगममें ही उपलब्ध
दो-चार पट्टावलियों परसे, अथवा भूगर्भसे प्राप्त किन्हीं शिलालेखों या
आयागपट्टोंमें उल्लिखित उनके नामों परसे इस विषय सम्बन्धी कुछ
अनुमान होता है। अनेकों विद्वानोंने इस दिशामें खोज की है,
जो ग्रन्थोंमें दी गयी उसकी प्रस्तावनाओंसे विदित है। उन प्रस्ता-
वनाओंमें से लेकर ही मैंने भी यहाँ कुछ विशेष विशेष आचार्यों व
तरकालीन प्रसिद्ध राजाओं आदिका परिचय संकलित किया है।
यह विषय बड़ा विस्तृत है। यदि इसकी गहराइयोंमें घुसकर देखा
जाये तो एकके पश्चात् एक करके अनेकों शाखाएँ तथा प्रतिशाखाएँ
मिलती रहनेके कारण इसका अन्त पाना कठिन प्रतीत होता है,
अथवा इस विषय सम्बन्धी एक पुथक ही कोप बनाना जा सकता है।
परन्तु फिर भी कुछ प्रसिद्ध व निरूप परिचय में आनेवाले ग्रन्थों व
आचार्योंका उल्लेख किया जाना आवश्यक समझकर यहाँ कुछ
मात्रका संकलन किया है। विशेष जानकारोंके लिए अन्य उपयोगी
साहित्य देखनेकी आवश्यकता है।

१ इतिहास निर्देश व लक्षण

१ इतिहासका लक्षण

२ ऐतिह्य प्रमाणका श्रुतज्ञानमें अन्तर्भाव

२ सवस्तर निर्देश

१ सवस्तर सामान्य व उसके भेद। २ वीर निर्वाण सवत्।

३ विक्रम सवत्। ४ शक सवत्। ५ शालिवाहन सवत्।

६ ईशवी सवत्। ७ गुप्त सवत्। ८ हिजरी सवत्।

९ मघा सवत्। १० सव सवतोका परस्पर सम्बन्ध।

३ ऐतिहासिक राज्य वंश

१ भोज वंश। २ कुरु वंश ३ मगध देशके राज्य वंश
(१ सामान्य, २ कल्की, ३ हून, ४ काल निर्णय)

४ राष्ट्रकूट वंश।

४ दिगम्बर मूलसघ

१ मूल सघ। २ मूल सघकी पट्टावली। ३ पट्टावलीका
समन्वय। ४ मूलसघ का विघटन। ५ श्रुत तीर्थकी
उत्पत्ति। ६ श्रुतज्ञानका क्रमिक ह्रास।

५ दिगम्बर जैन सघ

१ सामान्य परिचय। २ नन्दिसघ। ३ अन्य सघ।

६ दिगम्बर जैनाभासी सघ

१ सामान्य परिचय। २ यापनीय सघ। ३ द्वाविड सघ
४ काष्ठा सघ। ५ मायूर सघ। ६ भिल्लक सघ। ७ अन्य
सघ तथा शास्त्रार्थे।

७ पट्टावलियों तथा गुर्वावलियों

१ मूल सघ विभाजन। २ नन्दिसघ वलात्कार गण।
३ नन्दिसघ वलात्कार गणकी भट्टारक आम्नाय। ४ नदि-
सघवलात्कार गणकी शुभचन्द्र आम्नाय। ५ नन्दिसघ देशी-
यगण। ६ सेन या ऋषभ सघ। ७ पंचस्तूप सघ।
८ पुत्राट सघ। ९ काष्ठा सघ। १० लाड वागड गच्छ
११ मायूर गच्छ।

८ आचार्य समयानुक्रमणिका

९ पौराणिक राज्य वंश

१ सामान्य वंश। २ इक्ष्वाकु वंश। ३ उग्र वंश। ४ ऋषि
वंश। ५ कुरुवंश। ६ चन्द्र वंश। ७ नाय वंश।
८ भोज वंश। ९ मातङ्ग वंश। १० यादव वंश।
११ रघुवंश। १२ राक्षस वंश। १३ वानर वंश।
१४ विद्याधर वंश। १५ श्रीवंश। १६ सूर्य वंश।
१७ सोम वंश। १८ हरिवंश।

१० आगम समयानुक्रमणिका

* परिशिष्ट

१ सवत्, २ मूलसघ, ३ गुणवर आम्नाय, ४ नन्दिसघ

१ इतिहास निर्देश व लक्षण

१ इतिहासका लक्षण

म पृ १/२५ इतिहास इतीमत् तद् इति हासीदिति श्रुते। इति वृत्तमर्थे
सिद्धमात्रायां चामनस्ति तत् १२५। —'इति इह आसीत्' (यहाँ ऐसा
हुआ) ऐसी अनेक कथायाँ इसमें निरूपण होनेसे ऋषिगण इसे
(महापुराणका) 'इतिहास' 'इतिवृत्त' 'ऐतिह्य' भी कहते हैं। १२५।

२ ऐतिह्य प्रमाणका श्रुतज्ञानमे अन्तर्भाव

रा वा १/२०/१५/७८/१६ ऐतिह्यस्य च 'इत्याह म भगवात् श्रुतम्' इति परंपरीणपुरुषाणामाह गृह्यते इति श्रुतेऽन्तर्भावः । —'भगवात् श्रुतम्' इति परंपरीणपुरुषाणामाह गृह्यते इति श्रुतेऽन्तर्भावः । —'भगवात् श्रुतम्' इति परंपरीणपुरुषाणामाह गृह्यते इति श्रुतेऽन्तर्भावः । —'भगवात् श्रुतम्' इति परंपरीणपुरुषाणामाह गृह्यते इति श्रुतेऽन्तर्भावः ।

२ सवत्सर निर्देश

१ सवत्सर सामान्य व उसके भेद

इतिहास विषयक इस प्रकरणमें क्योंकि जैनगमके रचयिता आचार्योंका, साधुसंघकी परम्पराका, सांस्कृतिक राजाओंका, तथा शास्त्रोंका ठीक ठीक कालनिर्णय करनेकी आवश्यकता पड़ेगी, अतः सवत्सरका परिचय सर्वप्रथम पाना आवश्यक है । जैनगममें मुख्यतः चार सवत्सरोंका प्रयोग पाया जाता है—१ वीर निर्वाणसंवत् २ विक्रम संवत् ३ ईश्वरी संवत्, ४ शक संवत्, परन्तु इनके अतिरिक्त भी कुछ अन्य संवत्तोंका व्यवहार होता है—जैसे १ गुप्त संवत्, २ हिजरी संवत्, ३ महा संवत्, आदि ।

२ वीर निर्वाण संवत् निर्देश

क पा १/६५६/७५/१० पदाणि [पणरसदिवसेहि अट्ठमासेहि य अहिय-] पचहत्तरवासिस्स सोहिदे बह्वत्तमाज्जिणेदे णिव्वुदे सत्ते जो सेसो चउत्थकाला तत्स पमाण हादि । —उद बहत्तर वर्ष प्रमाण कालको (महावीरका जन्मकाल—दे महावीर) पन्द्रह दिन और आठ महोना अधिक पचहत्तरवर्षमेंसे घटा देनेपर, वर्द्धमान जिनेन्द्रके मोक्ष जानेपर जितना चतुर्थ कालका प्रमाण [या पचम कालका प्रारम्भ] शेष रहता है, उसका प्रमाण होता है । अर्थात् ३ वर्ष ८ महोने और पन्द्रह दिन । (ति प ४/१२७४) ।

ध १ (प्र ३२ H L Jain) साधारणतः वीर निर्वाण संवत् व विक्रम संवत्में ४७० वर्षका अन्तर रहता है । परन्तु विक्रम संवत्के प्रारम्भके सम्बन्धमें प्राचीन कालसे बहुत मतभेद चला आ रहा है जिसके कारण भगवात् महावीरके निर्वाण कालके सम्बन्धमें भी कुछ मतभेद उत्पन्न हो गया है । उदाहरणार्थ—नन्दि संघकी पट्टावलीमें आ इन्द्रनन्दिने वीरके निर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमका जन्म और ४८८ वर्ष पश्चात् उसका राज्याभिषेक बताया है । इसे प्रमाण मानकर बेरिस्टर श्री काशीराम जयसवाल वीर निर्वाणके कालको १८ वर्ष ऊपर उठानेका सुझाव देते हैं क्योंकि उनके अनुसार विक्रम संवत्का प्रारम्भ उसके राज्याभिषेकमें हुआ था । परन्तु दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों ही धर्माचार्योंमें विक्रम संवत्का प्रचार वीर निर्वाणके ४७० वर्ष पश्चात् माना गया है । इसका कारण यह है कि सभी प्राचीन शास्त्रोंमें शक संवत्का प्रचार वीर निर्वाणके ६०५ वर्ष पश्चात् कहा गया है और उसमें तथा प्रचलित विक्रम संवत्में १२५ वर्षका अन्तर प्रसिद्ध है । (जे पी २८४) (विशेष दे परिशिष्ट १) ।

दूसरी बात यह भी है कि ऐसा मानने पर भगवात् वीर का प्रतिस्पर्धी शास्ताके रूपमें महारामा युद्धके साथ १२-१३ वर्ष तक साथ-साथ रहनेका अवसर भी प्राप्त हो जाता है क्योंकि बोधि लाभसे निर्वाण तक भगवात् वीरका काल उक्त मान्यताके अनुसार ई पू ५५७-४२७ आता है जबकि युद्धा ई पू ५८८-५४४ माना गया है । (जे सा रू पी ३८३)

३ विक्रम संवत् निर्देश

यद्यपि दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों धर्माचार्योंमें विक्रम संवत्का प्रचार वीर निर्वाणके ४७० वर्ष पश्चात् माना गया है, तथापि यह सद्यः विक्रमके जन्मसे प्रारम्भ होता है अथवा उनके राज्याभिषेकसे या मृत्युकालसे, इस विषयमें मतभेद है । दिगम्बरके अनुसार वीर निर्वाणके पश्चात् ६० वर्ष तक पालकका राज्य रहा, तत्पश्चात् १५५ वर्ष तक नन्द वंशका और तत्पश्चात् २२५ वर्ष तक मौर्य वंशका । इस समयमें ही अर्थात् वी नि ४७० तक ही विक्रमका राज्य रहा

परन्तु श्वेताम्बरके अनुसार वीर निर्वाणके पश्चात् १५५ वर्ष तक पालक तथा नन्दका, तत्पश्चात् २२५ वर्ष तक मौर्य वंशका और तत्पश्चात् ६० वर्ष तक विक्रमका राज्य रहा । यद्यपि दोनोंका जोड़ ४७० वर्ष आता है तदपि पहली मान्यतामें विक्रमका राज्य मौर्य कालके भीतर आ गया है और दूसरी मान्यतामें वह उससे बाहर रह गया है क्योंकि जन्मके १८ वर्ष पश्चात् विक्रमका राज्याभिषेक और ६० वर्ष तक उसका राज्य रहना लोक-प्रसिद्ध है इसलिये उक्त दोनों ही मान्यताओं से उसका राज्याभिषेक वी नि ४१० में और जन्म ३६२ में प्राप्त होता है, परन्तु नन्दि संघकी पट्टावलीमें उसका जन्म वी नि ४७० में और राज्याभिषेक ४८८ में कहा गया है इसलिये विद्वान् लोग उसे भ्रान्तिपूर्ण मानते हैं । (विशेष दे परिशिष्ट १)

इसी प्रकार विक्रम संवत्को जो कहीं-कहीं शक संवत् अथवा शालिवाहन संवत् माननेकी प्रवृत्ति है वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ये तीनों संवत् स्वतन्त्र हैं । विक्रम संवत्का प्रारम्भ वी नि ४७० में होता है, शक संवत्का वी नि ६०५ में और शालिवाहन संवत्का वी नि ७४१ में । (दे अगले शीर्षक)

४. शक संवत् निर्देश

यद्यपि 'शक' शब्दका प्रयोग संवत् सामान्यके अर्थमें भी किया जाता है, जैसे वर्द्धमान शक विक्रम शक शालिवाहन शक इत्यादि, और कहीं-कहीं विक्रम संवत्को भी शक संवत् मान लिया जाता है, परन्तु जिस 'शक' की चर्चा यहाँ करनी है वह एक स्वतन्त्र संवत् है । यद्यपि आज इसका प्रयोग प्रायः लुप्त हो चुका है, तदपि किन्नी समय दक्षिण देशमें इस ही का प्रचार था क्योंकि दक्षिण देशके आचार्यों द्वारा लिखित प्रायः सभी शास्त्रोंमें इसका प्रयोग देखा जाता है । इतिहासकारोंके अनुसार भूयवक्षी गौतमी पुत्र राजा सातकर्णी शालिवाहनने ई ७६ (वी नि ६०६) में शक वंशी राजा नरवाहनको परागत कर देनेके उपलक्ष्यमें इस संवत्को प्रचलित किया था । जैन शास्त्रोंक अनुसार भी वीर निर्वाणके ६०५ वर्ष ५ मास पश्चात् शक राजाकी उत्पत्ति हुई थी । इससे प्रतीत होता है कि शकराजको जीत लेनेके कारण शालिवाहनका नाम ही शक पड़ गया था, इसलिये कहीं-कहीं शालिवाहन संवत्को ही शक संवत् कहने की प्रवृत्ति चल गई परन्तु वास्तवमें वह इससे पृथक् एक स्वतन्त्र संवत् है जिसका उल्लेख नीचे किया गया है । प्रचलित शक संवत् वीर-निर्वाणके ६०५ वर्ष पश्चात् और विक्रम संवत्के १३५ वर्ष पश्चात् माना गया है । (विशेष दे परिशिष्ट १)

५ शालिवाहन संवत्

शक संवत् इसका प्रचार आज प्रायः लुप्त हो चुका है तदपि जैसा कि कुछ शिलालेखोंसे विदित है किसी समय दक्षिण देशमें इसका प्रचार अवश्य रहा है । शकके नामसे प्रसिद्ध उपर्युक्त शालिवाहनसे यह पृथक् है क्योंकि इनकी गणना वीर निर्वाणके ७४१ वर्ष पश्चात् मानी गई है । (विशेष दे परिशिष्ट १)

६ ईसवी संवत्

यह संवत् ईसा मसीहके स्वर्गवासके पश्चात् यार्रपमें प्रचलित हुआ और अंग्रेजी साम्राज्यके साथ सारी दुनियामें फैल गया । यह आज विश्वका सर्वमान्य संवत् है । इसकी प्रवृत्ति वीर निर्वाणके ७२५ वर्ष पश्चात् और विक्रम संवत्से ५७ वर्ष पश्चात् होनी प्रसिद्ध है ।

७ गुप्त संवत् निर्देश

इसकी स्थापना गुप्त साम्राज्यके प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्तने अपने राज्याभिषेकके समय ईसवी ३२० अर्थात् वी नि ८४६ वर्ष पश्चात् की थी । इसका प्रचार गुप्त साम्राज्य पथस्थ हो रहा ।

८ हिजरी संवत् निर्देश

इस संवत्का प्रचार मुसलमानोंमें है क्योंकि यह उनके पैगम्बर मुहम्मद माह्यके मक्का मदीना जानेके समयसे उनकी हिजरतमें विक्रम

संवत् ६५० में अर्थात् वीर निर्वाणके ११२० वर्ष परचाव स्थापित हुआ था। इसीको मुहरम या शाबाग सत् भी कहते हैं।

२. मघा संवत् निर्देश

म पु ७६/३६६ कश्की राजाको उत्पत्ति बताते हुए कहा है कि दुपमा काल प्रारम्भ होनेके १००० वर्ष बीतने पर मघा नामके सबसेमें कश्की नामक राजा होगा। आगमके अनुसार दुपमा कालका प्रादुर्भाव यो नि के ३ वर्ष व च मास परचाव हुआ है। अतः मघा संवत्सर वीर निर्वाणके १००३ वर्ष परचाव प्राप्त होता है। इस संवत्सरका प्रयोग कहीं भी देखनेमें नहीं आता।

१० सर्व संवत्सरोंका परस्पर सम्बन्ध

निम्न सारणीको सहायतासे कोई भी एक संवत् दूसरेमें परिवर्तित किया जा सकता है।

क्रम	नाम	संकेत	१वीं नि	२ विक्रम	ईसवी	४ शक	५ गुप्त	६ हिजरी
१	वीर निर्वाण	बी नि	१	पूर्व ४००	पूर्व ६००	पूर्व ६०६	पूर्व ८४६	पूर्व ११२०
२	विक्रम	वि	४००	१	५०	१३६	८३६	८६०
३	ईसवी	ई	४२७	५७	१	७८	८१६	८६३
४	शक	श	६०६	१३६	७८	१	८२४	८६६
५	गुप्त	गु	८४६	३७६	३१६	२४१	१	८२७
६	हिजरी	हि	११२०	६६०	६६४	४३६	२७४	१

३ ऐतिहासिक राज्यवश

१ भोज वंश

द सा / प्र ३६-३७ (मगल एजियेटिक सोसाइटी नाव्यूम ४/५ ३७८ पर छपा हुआ अर्जुनदेवका दानपत्र), (सा / प्र / प पत्राला) — यह वंश मालवा देशपर राज्य करता था। उज्जैनी इनकी राजधानी थी। अपने समयका बड़ा प्रसिद्ध व प्रतापी वंश रहा है। इस वंशमें धर्म व विद्याका बड़ा प्रचार था। मगल एजियेटिक सोसाइटी नाव्यूम ४/५ ३७८ पर छपे हुए अर्जुनदेवके अनुसार इसकी वंशावली निम्न प्रकार है।

सं	नाम	समय		विशेष
		वि स	ईसवी सत्	
१	सिंहल	६५७-६६७	६००-६४०	दानपत्रसे बाहर
२	हर्ष	६६७-१०३१	६४०-६७४	इतिहासके अनुसार
३	मुज	१०३१-१०६०	६७४-१००३	दानपत्र तथा इतिहास
४	सिन्धु राज	१०६०-१०६५	१००३-१००८	इतिहासके अनुसार
५	भोज	१०६५-१११२	१००८-१०६५	दानपत्र तथा इतिहास
६	जयसिंह राज	१११२-१११६	१०६५-१०६८	समय निश्चित है
७	उदयादिरय	१११६-११६०	१०६८-१०६३	
८	नरधर्म	११६०-१२००	१०६३-११४३	
९	यशोधर्म	१२००-१२१०	११४३-११६३	दानपत्रसे बाहर
१०	अजयवर्म	१२१०-१२४६	११६३-११६२	इसका समय निश्चित है
११	विन्ध्य वर्मा	१२४६-१२५५	११६२-१२००	
१२	विजय वर्मा			
१३	सुभटवर्मा	१२५५-१२६४	१२००-१२०७	
१४	अर्जुनवर्मा	१२६४-१२७५	१२०७-१२१८	
१५	देवपाल	१२७५-१२८५	१२१८-१२२८	
१६	जैतुगिदेव (जयसिंह)	१२८५-१२८६	१२२८-१२३६	

नोट इस वंशावलीमें दशमि गये समय, उदयादिरय व विन्ध्यवर्माके

गमयके आधारपर अनुमानसे भर गये हैं। क्योंकि उन दोनोंके समय निश्चित हैं, इनपर यह समय भी ठीक समझना चाहिए।

२. कुरु वंश

इस वंशके राजा पाण्ड्याना देशपर राज्य करते थे। कुरुदेश दक्षिणी राजधानी थी। इस वंशमें कुल चार राजाओंका उल्लेख पाया जाता है—१ प्रभाण जैमिनि (ई पू १४००), २ दातानीक (ई पू १४००-१४००), ३ जन्मेजय (ई पू १४२०-१४४०) ४ परीक्षित (ई पू १४४०-१४४०)।

३ मगध देशके राज्यवश

१ सामान्य परिचय

जै पो / पु—जैन परम्परामें तथा भारतीय इतिहासमें किसी समय मगध देश बहुत प्रसिद्ध रहा है। यद्यपि यह देश बिहार प्रांतके दक्षिण भागमें अवस्थित है, तथापि महावीर तथा बुद्धकालमें पञ्जाब, गौराष्ट्र, मद्रान, बिहार तथा मानवा आदिमें सभी राज्य इसमें सम्मिलित हो गये थे। उसमें पहले जब ये सब राज्य स्वतंत्र थे तब मालवा या अवन्ती राज्य और मगध राज्यमें परस्पर झड़ो चलती रहती थीं। मानवा या अवन्तीकी राजधानी उज्जयनी थी जिसपर 'प्रद्योत' राज्य करता था और मगधकी राजधानी पाटलीपुत्र (पटना) या राजगृह थी जिसपर श्रेणिक बिम्बसार राज्य करते थे।

प्रद्योत तथा श्रेणिक प्रायः समकालीन थे। प्रद्योतका पुत्र पात्सक था और श्रेणिकके दो पुत्र थे, अमय कुमार और अजातशत्रु कुण्डिक। अमयकुमार श्रेणिकका मन्त्री था जिसने प्रद्योतकी मन्दी बनाकर उसके आधीनकर दिया था। ३२० वीर निर्वाणवाले दिन अवन्ती राज्यपर प्रद्योतका पुत्र पात्सक गद्दीपर बैठा। दूसरी ओर मगध राज्यमें भी नि से ६ नव पूर्व श्रेणिकका पुत्र अजातशत्रु राज्यासीन हुआ। ३२६। पात्सकका राज्य ६० वर्ष तक रहा। इसके राज्यकालमें ही मगधकी गद्दीपर अजातशत्रुका पुत्र उदयी आसीन हो गया था। इसने अपनी शक्ति बढ़ा नी थी जिसके द्वारा उसने पात्सककी परास्त करके अवन्तीपर अधिकारकर लिया परन्तु उसे अपने राज्यमें नहीं मिला सका। यह काम इसके उत्तराधिकारी नन्दिबर्धनने किया। यहाँ आकर अवन्ती राज्यकी सत्ता समाप्त हो गई। ३२८ ३३१।

श्रेणिकके वंशमें पुत्र परम्परासे अनेकों राजा हुए। सब अपने-अपने पिताकी मारकर राज्यपर अधिकार करते रहे, इसलिये यह सारा वंश पितृघाती कुलके रूपमें बदनाम हो गया। जनताने इसके अन्तिम राजा नागदासको गद्दीसे उतारकर उसके मन्त्री सुसुनागकी राजा बना दिया। अवन्तीकी अपने राज्यमें मिलाकर मगध देशकी शक्ति करनेके कारण इसीका नाम नन्दिबर्धन पड़ गया। ३३१। यह नन्द वंशका प्रथम राजा हुआ। इस वंशने १६६ वर्ष राज्य किया। अन्तिम राजा धनानन्द था जो भोग विलासमें पड़ जानेके कारण जनताकी दृष्टिसे उतर गया। उसके मन्त्री शाकटालने क्रूरनीतिसे चाणक्यकी सहायतासे इसके सारे कुलको नष्ट कर दिया और चन्द्रगुप्त मौर्यकी राजा बना दिया। ३६२।

चन्द्रगुप्त मौर्य या मुरुड वंशकी स्थापना हुई जिसका राज्यकाल २४६ वर्ष रहा कहा जाता है। परन्तु जैन इतिहासके अनुसार वह ११६ वर्ष और लोक इतिहासके अनुसार १३७ वर्ष प्राप्त होता है। इस वंशके प्रथम राजा चन्द्रगुप्त जैन थे, परन्तु उसके उत्तराधिकारी बिम्बुसार अशोक, कुनाल और समप्रति ये चारों राजा बौद्ध हो गये थे। इसीलिये बौद्धान्तायमें इन चारोंका उल्लेख पाया जाता है, जबकि जैनान्तायमें केवल एक चन्द्रगुप्तका ही बाल देकर समाप्त कर दिया गया है। ३६६।

इसके पश्चात् मगध देशपर शक वंशने राज्य किया जिसमें पुष्यमित्र आदि अनेकों राजा हुए जिनका शासन २३० वर्ष रहा। अन्तिम राजा नरयाहन हुआ। सदनन्तर यहाँ भूय अधवा कुशान्

वंशका राज्य आया जिनके राजा शालिवाहनने बी नि ६०६ (ई ७६) में शक वंशी नरवाहनको परास्त करनेके उपलक्ष्यमें शक सभत्की स्थापनाकी। (दे इतिहास २/४)। इस वंशका शासन २४२वर्ष तक रहा।

भूय वंशके पश्चात् इस देशमें गुप्तवंशका राज्य २३१ वर्ष पर्यन्त रहा, जिसमें चन्द्रगुप्त द्वि तथा समुद्रगुप्त आदि ६ राजा हुए। परन्तु तृतीय राजा स्कन्दगुप्त तक ही इसकी स्थिति अच्छी रही, क्योंकि इसके कालमें हूणवंशी सरदार काफी जोर पकड़ चुके थे। यद्यपि स्कन्दगुप्तने इन्हें परास्तकर दिया था तदपि इसके उत्तराधिकारी कुमारगुप्तसे उन्होंने राज्यका बहुभाग छीन लिया। यहाँ तक कि ई ५०० (बी नि १०२७) में इस वंशके अन्तिम राजा भानुगुप्तको जोतक हूणराज तारामाणेने सारे पञ्जाब तथा मालवा (अवन्ती) पर अपना अधिकार जमा लिया, और इसके पुत्र मिहिरपालने इस वंशको नष्ट कर दिया। (क पा १/प्र ४४, ६६/पं महेन्द्र)। इसलिये शासकारोंने इस वंशकी स्थिति बी नि ६४८ (ई ४३१) तक ही स्वीकार की। जैनआम्नायके अनुसार बी नि ६४८ (ई ४३१) में इन्द्रसुत कर्ककी राजप्राप्ति हुआ, जिसने प्रजापर बड़े अत्याचार किये, यहाँ तक कि साधुओंसे भी उनका आहारका प्रथम ग्रास शुकके रूपमें माँगना प्रारम्भ कर दिया। इसका राज ४२ वर्ष अर्थात् बी नि १००० (ई ४७३) तक रहा। इस कुनका विशेष परिचय आगे पृथक्से दिया गया है (दे अगला उपशीर्षक)।

२ कल्की वंश

ति प ४/१५०६-१५११ तत्तो कक्की जादो इद्रसुदो तस्स चसुहो नामो। सत्तरि वरिसा आज्ज विगुणियङ्गिगीस रज्जतो ॥१५०६॥ आचार्यागधरादो पणहत्तरिजुसदुसमावसेसु। बोलीगेस बद्धो पट्टो कम्मि सण्वइणो ॥१५१०॥ अहमाहियाण कक्की गियजोगे जणपदे पयत्तेण। सुक्क जाचदि लुद्धो िङ्गण जाव ताव समणाओ ॥१५११॥ = गुप्त कालके पश्चात् अर्थात् बी नि ६४८ में 'इन्द्र' का सुत कर्ककी अपर नाम चतुर्मुख राजा हुआ। इसकी आयु ७० वर्ष थी और ४२ वर्ष अर्थात् बी नि १००० तक उसने राज्य किया ॥१५०६॥ आचार्यागधरों (बी नि ६८३) के पश्चात् २७५ वर्ष व्यतीत होनेपर अर्थात् बी नि ६४८ में कर्ककी राजाको पट्ट बाँधा गया ॥१५१०॥ तदनन्तर वह कर्ककी प्रयत्न पूर्वक अपने अपने योग्य जनपदोंको सिद्ध करके लोभको प्राप्त होता हुआ सुनियोंने आहारमें-से भी अग्रपण्डको शुकमें माँगने लगा ॥१५११॥ (ह पु ६०/४६९-४६२)

त्रि सा ८८० पण्णस्यवत्स पणमासजुड गमिय बीरणिञ्जुदे। सगराजो तो कक्को चदुणवत्तियमहिय सगमास ॥ — बीर निर्वाणके ६०६ वर्ष ५ मास पश्चात् शक राजा हुआ और उसके ३६४ वर्ष ७ मास पश्चात् अर्थात् बीर निर्वाणके १००० वर्ष पश्चात् कर्ककी राजा हुआ। उ पु ७६/३६७-४०० दुप्पमयां सहसाव्दव्यतीतो धर्महान्ति ॥३६७॥ पुरे पाटलिपुत्रारम्ये शिशुपालमहोपते। पापो तत्तज्ज पृथिवीमुन्दर्या धूर्जनादिम ॥३६८॥ चतुर्मुखाद्वय कश्चिराजो वैजितभुतल ॥ ३६९॥ समानां सप्तितस्य परमायु प्रकीर्तितम्। चत्वारिंशत्समा राज्यस्थितिक्षाक्रमकारिण ॥४००॥ = जन्म दुःखम कालके १००० वर्ष पश्चात्। आयु ७० वर्ष। राज्यकाल ४० वर्ष। राजधानी पाटलीपुत्र। नाम चतुर्मुख। पिता शिशुपाल।

नोट—शासोश्लिखित उपयुक्त तीन उद्धरणोंसे कर्ककी राजके विषयमें तीन दृष्टिमें प्राप्त होती हैं। तीनों ही के अनुसार उसका नाम चतु

र्मुख था, आयु ७० वर्ष तथा राज्यकाल ४० अथवा ४२ वर्ष था। परन्तु ति प में उसे इन्द्र का पुत्र बताया गया है और उत्तर पुराणमें शिशुपालका। राज्यारोहण कालमें भी अन्तर है। ति प के अनुसार वह बी नि ६४८ में गद्दीपर बैठा, त्रि सा के अनुसार बी नि १००० में और उ पु के अनुसार दुपम काल (बी नि ३) के १००० वर्ष पश्चात् अर्थात् १००३ में उसका जन्म हुआ और १०३३ से १०७३ तक उसने राज्य किया। यहाँ चतुर्मुखको शिशुपालका पुत्र भी कहा है। हमपरसे यह जाना जाता है कि यह कोई एक राजा नहीं था, सन्तान परम्परामें होनेवाले तीन राजा थे—इन्द्र इसका पुत्र शिशुपाल और उसका पुत्र चतुर्मुख। उत्तरपुराणमें दिये गए निश्चित काल के आधारपर इन तीनोंका पृथक्-पृथक् काल भी निश्चित हो जाता है। इन्द्रका बी नि ६४८-१०००, शिशुपालका १०००-१०३३, और चतुर्मुखका १०३३-१०७३। तीनों ही अत्यन्त अत्याचारी थे।

३ हूण वंश

क पा १/प्र ४४/६६ (पं महेन्द्र कुमार)—लोक-इतिहासमें गुप्त वंशके पश्चात् कर्ककी स्थानपर हूणवंश प्राप्त होता है। इसके राजा भी अत्यन्त अत्याचारी बताये गये हैं और काल भी लगभग वही है, हमलिये कहा जा सकता है कि शालोक्त कर्ककी और इतिहासोक्त हूण एक ही बात है। जैसा कि मगध राज्य वंशोंका सामान्य परिचय देते हुए बताया जा चुका है इस वंशके सरदार गुप्तकालमें बराबर ज़ार पकड़ते जा रहे थे और गुप्त राजाओंके साथ इनकी मुठभेड़ बराबर चलती रहती थी। यद्यपि स्कन्द गुप्त (ई ४१३-४३५) ने अपने शासन कालमें इसे पनपने नहीं दिया, तदपि उसके पश्चात् इसके आक्रमण बढ़ते चले गए। यद्यपि कुमार गुप्त (ई ४३५-४६०) को परास्त करनेमें यह सफल नहीं हो सका तदपि उसकी शक्तिको इसने क्षीण अवश्य कर दिया, यहाँ तक कि इसके द्वितीय सरदार तोरमाणने ई ५०० में गुप्त वंशके अन्तिम राजा भानुगुप्तके राज्यको अस्त व्यस्त करके सारे पञ्जाब तथा मालवापर अपना अधिकार जमा लिया। ई ५०७ में इसके पुत्र मिहिरकुलने भानुगुप्तको परास्तकरके सारे मगधपर अपना एक छत्र राज्य स्थापित कर दिया।

परन्तु अत्याचारों प्रवृत्तिके कारण इसका राज्य अधिक काल टिक न सका। इसके अत्याचारोंसे तग आकर विष्णु-यशोधर्म नामक एक हिन्दू सरदारने मगधकी बिल्वरी हुई शक्तिको संगठित किया और ई ५२८ में मिहिरकुलको मार भगाया। उसने कश्मीरमें शरण ली और ई ५४० में वहाँ ही उसकी मृत्यु हो गई।

विष्णु यशोधर्म कट्टर वैष्णव था इसलिये उसने यद्यपि हिन्दू धर्मकी बहुत वृद्धिकी तदपि साम्प्रदायिक विद्वेषके कारण जैन संस्कृतिपर तथा श्रमणोंपर बहुत अत्याचार किये जिसके कारण जैनान्नायमें यह कर्ककी नामसे प्रसिद्ध हो गया और हिन्दुओंने इसे अपना अन्तिम अवतार (कर्ककी अवतार) स्वीकार किया।

जैन मान्य कर्क वंशकी हूण वंशके साथ तुलना करनेपर हम कह सकते हैं बी नि ६४८-१००० (ई ४३१-४७३) में होनेवाला राजा इन्द्र इस कुलका प्रथम सरदार था, बी नि १०००-१०३३ (ई ४७३-५०६) का शिशुपाल यहाँ तोरमाण है, बी नि १०३३-१०७३ वाला चतुर्मुख यहाँ ई ५०६-५४६ का मिहिरकुल है। विष्णु यशोधर्मके स्थानपर किसी अन्य नामका उल्लेख न करके उसके कालको भी यहाँ चतुर्मुखके कालमें सम्मिलित कर लिया गया है।

४ काल निर्णय

अगले पृष्ठकी सारणीमें मगधके राज्यवंशों तथा उनके राजाओंका शासन काल विषयक सुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

आधार—जैन शास्त्र—ति प ४/१५०६-१५०८ ह पु ६०/४७७-४८१।

सन्धान—ति प २/प्र ७, १४। उपाध्ये तथा एच ऐल जैन घ १/प्र ३३/एच एल जैन क पा १/प्र ५२-५४ (६४-६६)। प महेन्द्र कुमार, द सा, प्र २८/० नाथूराम प्रेमो, पं, कैलाश चन्द जी कृत जैन साहित्य इतिहास पूर्व पीठिका।

प्रमाण—जैन इतिहास—जैन साहित्य इतिहास पूर्व पोटिका/पृष्ठ संख्या

संकेत—वी नि =वीर निवर्ण सवण, ई पू =ईसवी पूर्व, ई =ईसवी, पू =पूर्व, स =सवण, वर्ष =वर्ष शासन गाल,

लोक इतिहास =वर्तमान इतिहास ।

नाम	जैन शास (ति प ४/१६०६)			मरहम्य पुराण		जैन इतिहास			विशेषता
	प्रमाण	वी नि	ई पू	प्रमाण	वर्ष	प्रमाण	ई पू	वर्ष	
अवन्ती राज्य १ प्रद्योत वंश सामान्य प्रद्योत				३१७	१२६				
				"	२३	३२६	६६०-६२७	३३	श्रेणिक तथा अजातशत्रुका समकालीन १२२०। श्रेणिकके मन्त्री अभयवर्माने यन्दी बनाकर श्रेणिकक आधान किया था १३२०।
पालक विशाखयूप आयक सुयक अजक(उदयी)	३२६	१-६०	६२७-४६७		६३	"	६२७-६६७	६०	इमे गहरीसे उत्तारकर जनताने मगध नरेश उदयी (अजक) को राजा स्वीकार कर लिया १३३०।
				३१८	२१		४६६-६६७	३२	मगध शासनने ६३ वर्षोंमें से अन्तिम ३० वर्ष इमने अवन्ती पर शासन किया १२८१। परन्तु दुष्टताके कारण विभी भूत राजकुमारके हाथी धोरोमे नि मत्तान माग गया १२३१।
नन्दि नर्द्धन मगध राज्य							६६७-६२६	१८	इसने मगधमें मिनाकर इस राज्यका अन्त कर दिया १३२०।
२ शिशुनाग वंश सामान्य शिशुनाग काकवर्ण क्षेत्रधर्मा क्षेत्रीजा					१२६				
				३१८	४०				जायमपानजीके अनुसार श्रेणिक ५ शीय दशक अपर नाम है। शिशुनाग तथा काकवर्ण उसके विद्यमान हैं १३२१।
				"	२६				
				"	३६				
				"	२४				

नाम	बौद्ध शास महावर्ष			मरहम्य पुराण		जैन इतिहास			विशेषता
	प्रमाण	वी नि	ई पू	वर्ष	वर्ष	प्रमाण	ई पू	वर्ष	
२ श्रेणिक वंश सामान्य									
श्रेणिक (विष्णुसार)					२८	३०८	६०४-६६२	५२	राज्यके लोभसे अपने अपने पिताकी हत्या करनेके कारण यह कुल पितृघाती नामसे प्रसिद्ध है १३१४।
अजातशत्रु (कुणिक)	३१६	पू ८- स २४	६६२-६२०	३२	२८	"	६६२-६२०	३२	बुद्ध तथा महावीरके समकालीन १२०४। इसके पुत्र अजात- शत्रुका राज्याभिषेक ई पू ६६२ में निश्चित है ।
भूमिमित्र दर्शक					१४				बौद्ध ग्रन्थमें इसका उल्लेख नहीं है १३२०।
					२७				इसकी सहन पद्मावतीका विवाह उदयीके साथ होना माना गया है १३२३।
					२४				
वशाक उदयी	३१४	२४-४०	६२०-६०४	१६	३३	३३३	६२०-६६७	५३	अजातशत्रुका पुत्र १३१४। अपरनाम अजक १३२८। ई पू ४२६ में पालकको गहरीसे हटाकर जनताने इसे अवन्तीका शासक बना दिया परन्तु यह उसे अपने देशमें नहीं मिला सका १३२८।
अनुरुद्ध	"	४०-४४	६०४-६००	४		३३६	४६७-४६८	६	
मुण्ड	"	४४-४८	६००-४६६	४		"	४६८-४४६	८	
नागदास	"	४८-७२	४६६-४७२	२४		३१४	४४६-४४६	०	पितृघाती कुलको समाप्त करनेके लिए जनताने उसके स्थानपर इसके मन्त्रीको राजा बना दिया १३१४।
सुसुनाग (नन्दिवर्धन)	३१६	७२-६०	४७२-४६४	१८	४०	"	४४६-४०६	४०	नागदासका मन्त्री जिमे जनताने राजा बनाया १३१४। अवन्ती राज्यको मिलाकर अपने देशका वृद्धि करनेके कारण नन्दिवर्द्धन नाम पड़ा १३३१।
कालासोक	"	६०-११८	४६४-४२६	२८					

नाम	जैन शास्त्र (ति प ४) १५०६			मत्स्य पुराण		जैन इतिहास			विशेषताएँ
	प्रमाण	बी नी	ई पू	वर्ष	वर्ष	प्रमाण	ई पू	वर्ष	
३ नन्द वंश *									
सामान्य	३२६	६०-२१५	४६७-३१२	१५५*	१८३	३३४	४६७	८५८	६
अनुरोध									
नन्दवर्द्धन									
(समुद्रग)						४०	"	४५८-४९८	४०
मुष्ट								४९८-४९०	८
नव नन्द —									
महानन्द						४३	"	४९०-३२६	८४
								४९०-३७४	३६
महानन्दकेरपुत्र								३७४-३६६	८
						८८	"	३६६-३३८	२८
महापद्मनन्द									
(तथा इनके ४ पुत्र)						१०	"	३३८-३२६	१२
धनानन्द									

स्वर्खेन शिलालेखके आधारपर वर्णित नन्दवर्द्धनका राज्याभिषेक ई पू ४५८ में होना सिद्ध होता है इस-लिए जायसवाल जीने राजाओंके उपर्युक्त क्रममें कुछ हेर फेर करके मंगति बैठानेका प्रयत्न किया है। १३३४। श्रेणिक वंशीय नामदासका मन्त्री हो नन्दवर्द्धनसे प्रसिद्ध हो गया था। (दे ऊपर)। वास्तवमें यह नन्द वंशके राजाओंमें सम्मिलित नहीं थे। इस वंशमें नव नन्द प्रसिद्ध है। जिनका उल्लेख आगे किया गया है। १३३५।

नन्दवर्द्धनका उत्तराधिकारी तथा नन्द वंशका प्रथम राजा। १३३५।

८८ तथा २८ वर्ष की गणनामें ६० वर्षका अन्तर है। इसके समाधानके लिए देखो नीचे टिप्पणी। भोग विलासमें पड़ जानेके कारण इसके कुलको नष्ट कर के इसके मन्त्री शाकटालने चाणक्यकी सहायतामें चन्द्र गुप्त मौर्यका राजा बना दिया। १३६४।

*—जैन शास्त्रके अनुसार पालकका काल ६० वर्ष और नन्द वंशका १५५ वर्ष है। तदनन्तर अर्थात् बी नि २१५ में चन्द्रगुप्त मौर्यका राज्याभिषेक हुआ। श्रुतकेवली भद्रबाहु (बी नि १६२) के समकालीन बनानेके अर्थ से आचार्य श्री हेमचन्द्र मूरिने इसे बी नि १५५ में राज्यास्तुत होनेकी कल्पना की। जिसके लिए उन्हें नन्द वंशके कालको १५५ में घटा कर १५ वर्ष करना पड़ा। इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्यके कालको लेकर ६० वर्षका मतभेद पाया जाता है। १३१५। दूसरी ओर पुराणोंमें नन्द वंशीय महापद्मनन्दके कालको लेकर ६० वर्षका मतभेद है। वायु पुराणमें उसका काल २८ वर्ष है और अन्य पुराणोंमें ८८ वर्ष। ८८ वर्ष मानने पर नन्द वंशका काल १८३ वर्ष आता है और २८ वर्ष मानने पर १२३ वर्ष। इस कालमें उद्यो (अजक) के अवन्ती राज्यपाले ३० वर्ष मिलाने पर पालकके पश्चात् नन्द वंशका काल १५५ वर्ष आ जाता है। इसलिए उद्यो (अजक) तथा उसके उत्तराधिकारी नन्दवर्द्धनकी गणना नन्द वंशमें करनेकी भ्रान्ति चल पड़ी है। वास्तवमें ये दोनों राजा श्रेणिक वंशमें हैं, नन्द वंशमें नहीं। नन्द वंशमें नव नन्द प्रसिद्ध है जिनका काल महापद्मनन्दसे प्रारम्भ होता है। १३३५।

नाम	जैन शास्त्र ति प ४/१५०६			जैन इतिहास		लोक इतिहास		विशेष घटनाएँ
	बी नि	ई पू	वर्ष	प्रमाण	ई पू	वर्ष	ई पू	वर्ष
४ मौर्य या मुरुड वंश—								
सामान्य	२१५-४७०	३१२-५७	२५५		३२६-२११	११५	३२२-१८५	१३७
चन्द्रगुप्त प्र	२१५-२५५	३१२-२७२	४०	३५८	३२६-३०२	२४	३२२-२८८	२८
				३३६				
मिन्दुसार					३०२-२७७	२५	२८८-२७३	२५
अशोक					२७७-२३६	४१	२७३-२३२	४१
कुनाल				३५६	२३६-२२८	८	२३२-१८५	४७
दशरथ				"	२२८-२२०	८		
सम्प्रति				३५८	२२०-२११	९		
(चन्द्रगुप्त द्वि)								
विक्रमादित्य*	४१०-४७०	११७-५७	६०					

जिन दोषा धारण करने वाले थे अन्तिम राजा थे। ति प ४/१४८१। बुद्ध निर्वाण (ई पू ४८४) से २१८ वर्ष पश्चात् गद्दी पर बैठे। १२८७। श्रुतकेवली भद्र बाहु (बी नि १६२) के साथ दक्षिण गये। (दे इतिहास ४)। चन्द्रगुप्तका पुत्र। १३५८।

कुनालके ज्येष्ठ पुत्र अशोकका पोता। १३५१। कुनालका लघु पुत्र अशोक। पोता चन्द्रगुप्तके १०५ वर्ष पश्चात् और अशोकके १६ वर्ष पश्चात् गद्दी पर बैठे। १३५६।

* यह नाम क्रमवाहक है।

वशका नाम सामान्य/विशेष	जैन शास्य ति प ४/१६०७			लाक इतिहास		विशेष घटनायें
	बी नि	ई पू	वर्ष	ई पू	वर्ष	
५ शक वश-						
सामान्य	२६४-४६६	२७२-४२	२३०	१८६-१२०	६६	<p>गहू रास्तयमें कोई एक अखण्ड वश न था, बल्कि छोटे-छोटे सगदार थे, जिनका राज्य मगध देशकी सीमाओंपर मिलता हुआ था। यद्यपि विक्रम वशका राज्य बी नि ४७० में समाप्त हुआ है, परन्तु यद्यपि चन्द्रगुप्तने पालमें ही इन्होंने छोटी-छोटी गिमासतों पर अधिकार कर लिया था इसलिए इनका पाल बी नि, २४४ में प्रारम्भ करने में कोई विरोध नहीं आता।</p> <p>यमुनिमथ और अग्निमिथ समकालीन थे, तथा पृथक् पृथक् प्रान्तों में राज्य करते थे।</p> <p>यद्यपि गर्दभिल्ल व नरवाहनका काल यहाँ ई पू १४२-८२ दिया है, पर गग ठीक नहीं है क्योंकि आगे राजा शालिवाहन द्वारा बी नि ६०६ (ई ७६) में नरवाहनका परास्त किया जाना सिद्ध है। उन मानना होगा कि अवश्य ही इन दोनोंके बीच कोई अन्य सरदार रहे होंगे जिनका उल्लेख नहीं किया गया है। यदि इनके मध्यमें ६ या ६ सरदार और भी मान लिए जायें तो नरवाहनकी अन्तिम अवधि ई १०० को स्पष्ट कर जायेगी। और इस प्रकार इतिहासकारोंके समयके साथ भी इसका मेल खा जायेगा और शालिवाहनके समयके साथ भी।</p> <p>इतिहासकारोंकी कुशान जाति ही आगमवारोंका भूय वश है क्योंकि दोनोंका कथन सगभग मिलता है। दोनों ही शकों पर विजय पानेवाले थे। उधर शालिवाहन और उधर कनिष्क दोनोंने समान समय में ही शकोंका नाश किया है। उधर शालिवाहन और उधर कनिष्क दोनों ही समान पराक्रमी शासक थे। दोनोंका ही साम्राज्य विस्तृत था। कुशान जाति एक महिष्कृत चीनी जाति थी जिसे ई पू दूसरी शताब्दीमें देशमें निकाल दिया गया था। यहाँमें चमत्कर बलसिंहार व यायुलके मार्गमें ई पू ४१ के लगभग भारतमें प्रवेश कर गये। यद्यपि कुछ छाटे माटे प्रदेशों पर इन्होंने अधिकार कर लिया था परन्तु ई. ४० में उत्तरी पंजाब पर अधिकार कर लेनेके पश्चात् ही इनकी सत्ता प्रगट हुई। यही कारण है कि आगम व इतिहासकी मान्यताओंमें इस वशकी पूर्ववर्षिके सम्बन्धमें ८० वर्षका अन्तर है।</p>
प्रारम्भिक अवस्था में	२६६-२८६	२७२-१८२	६०			
१ पुष्य मित्र	२६६-२८६	२७२-२४२	३०			
२ चक्षु मित्र (यमुनिमिथ)	२८६-३४६	२४२-१८२	६०			
अग्निमिथ (भानुमिथ)	३४६-३४६	२४२-१८२	६०			
प्रबल अवस्थामें				अनुमानत		
गद भिल्ल (गम्धर्व)	३४६-४४६	१८२-८२	१००	१८१-१४१	४०	<p>यद्यपि गर्दभिल्ल व नरवाहनका काल यहाँ ई पू १४२-८२ दिया है, पर गग ठीक नहीं है क्योंकि आगे राजा शालिवाहन द्वारा बी नि ६०६ (ई ७६) में नरवाहनका परास्त किया जाना सिद्ध है। उन मानना होगा कि अवश्य ही इन दोनोंके बीच कोई अन्य सरदार रहे होंगे जिनका उल्लेख नहीं किया गया है। यदि इनके मध्यमें ६ या ६ सरदार और भी मान लिए जायें तो नरवाहनकी अन्तिम अवधि ई १०० को स्पष्ट कर जायेगी। और इस प्रकार इतिहासकारोंके समयके साथ भी इसका मेल खा जायेगा और शालिवाहनके समयके साथ भी।</p> <p>इतिहासकारोंकी कुशान जाति ही आगमवारोंका भूय वश है क्योंकि दोनोंका कथन सगभग मिलता है। दोनों ही शकों पर विजय पानेवाले थे। उधर शालिवाहन और उधर कनिष्क दोनोंने समान समय में ही शकोंका नाश किया है। उधर शालिवाहन और उधर कनिष्क दोनों ही समान पराक्रमी शासक थे। दोनोंका ही साम्राज्य विस्तृत था। कुशान जाति एक महिष्कृत चीनी जाति थी जिसे ई पू दूसरी शताब्दीमें देशमें निकाल दिया गया था। यहाँमें चमत्कर बलसिंहार व यायुलके मार्गमें ई पू ४१ के लगभग भारतमें प्रवेश कर गये। यद्यपि कुछ छाटे माटे प्रदेशों पर इन्होंने अधिकार कर लिया था परन्तु ई. ४० में उत्तरी पंजाब पर अधिकार कर लेनेके पश्चात् ही इनकी सत्ता प्रगट हुई। यही कारण है कि आगम व इतिहासकी मान्यताओंमें इस वशकी पूर्ववर्षिके सम्बन्धमें ८० वर्षका अन्तर है।</p>
अन्य सरदार	४४६-६६६	ई पू ८२-ई ३६	१२२	१४१-ई ८०	२२१	
नरवाहन (नम सेन)	६६६-६०६	३६-७६	४०	८०-१२०	४०	
६ भूय वश (कुशान वश)-						
सामान्य	४८६-७२७	पू ४२-ई २००	२४२	४०-१२०	२८०	<p>यद्यपि गर्दभिल्ल व नरवाहनका काल यहाँ ई पू १४२-८२ दिया है, पर गग ठीक नहीं है क्योंकि आगे राजा शालिवाहन द्वारा बी नि ६०६ (ई ७६) में नरवाहनका परास्त किया जाना सिद्ध है। उन मानना होगा कि अवश्य ही इन दोनोंके बीच कोई अन्य सरदार रहे होंगे जिनका उल्लेख नहीं किया गया है। यदि इनके मध्यमें ६ या ६ सरदार और भी मान लिए जायें तो नरवाहनकी अन्तिम अवधि ई १०० को स्पष्ट कर जायेगी। और इस प्रकार इतिहासकारोंके समयके साथ भी इसका मेल खा जायेगा और शालिवाहनके समयके साथ भी।</p> <p>इतिहासकारोंकी कुशान जाति ही आगमवारोंका भूय वश है क्योंकि दोनोंका कथन सगभग मिलता है। दोनों ही शकों पर विजय पानेवाले थे। उधर शालिवाहन और उधर कनिष्क दोनोंने समान समय में ही शकोंका नाश किया है। उधर शालिवाहन और उधर कनिष्क दोनों ही समान पराक्रमी शासक थे। दोनोंका ही साम्राज्य विस्तृत था। कुशान जाति एक महिष्कृत चीनी जाति थी जिसे ई पू दूसरी शताब्दीमें देशमें निकाल दिया गया था। यहाँमें चमत्कर बलसिंहार व यायुलके मार्गमें ई पू ४१ के लगभग भारतमें प्रवेश कर गये। यद्यपि कुछ छाटे माटे प्रदेशों पर इन्होंने अधिकार कर लिया था परन्तु ई. ४० में उत्तरी पंजाब पर अधिकार कर लेनेके पश्चात् ही इनकी सत्ता प्रगट हुई। यही कारण है कि आगम व इतिहासकी मान्यताओंमें इस वशकी पूर्ववर्षिके सम्बन्धमें ८० वर्षका अन्तर है।</p>
प्रारम्भिक-अवस्थामें	४८६-६६६	पू ४२-ई ३६	८१			

वशका नाम सामान्य/विशेष	लाक इतिहास		विशेष घटनायें
	ईसवी	वर्ष	
प्रबल स्थितिमें			
गौतम	४०-७४	३४	<p>ई ४० में ही इसकी स्थिति मजबूत हुई और गहू जाति शकोंके साथ टक्कर लेने लगी। इस वशके दूसरे राजा गौतमी पुत्र सातकर्णी (शालिवाहन) ने शकोंके अन्तिम राजा नरवाहनकी बी नि ६०६ (ई ७६) में परास्त करके शक संवत्की स्थापना की। (क पा १/१/६३/६४/५ महेन्द्र)</p>
शालिवाहन (सातकर्णी)	७४-१२०	४६	
	बी नि		
	६०१-६४७		
कनिष्क	१२०-१६२	४२	<p>राजा कनिष्क इस वशका तीसरा राजा था, जिसने शकोंका मूलच्छेद करके भारतमें एकछत्र विशाल राज्यकी स्थापना की।</p> <p>कनिष्कके पश्चात् भी इस जातिकी एकछत्र शासन ई २०१ तक चलता रहा इसी कारण आगम-कारोंने यहाँ तक ही इसकी अवधि अन्तिम स्वीकार की है। परन्तु इसके पश्चात् भी इस वंशका मूलोच्छेद नहीं हुआ। गुप्त वंशके साथ टक्कर हो जानेके कारण इसकी शक्ति क्षीण होती चली गयी। इस स्थितिमें इसकी सत्ता ई २०१-३२० तक बनी रही। यही कारण है कि इतिहासकार इसकी अन्तिम अवधि ई २०१ को बजाये ३२० स्वीकार करते हैं।</p>
अन्य राजा	१६२-२०१	३६	
क्षीण अवस्थामें	२०१-३२०	११६	

वंशका नाम सामान्य/विशेष	नोक इतिहास		विशेष घटनायें
	ईसवी	वर्ष	
७ गुप्त वंश— सामान्य	जैन शाख	२३१	आगमकारों व इतिहासकारोंकी अपेक्षा इस वंशकी पूर्वावधिके सन्बन्धमें समाधान ऊपर कर दिया गया है कि ई २०१—३२० तक यह कुछ प्रारम्भिक अवस्थामें रहा है।
प्रारम्भिक- अवस्थामें	इतिहास	१४०	इसने एकछत्र गुप्त साम्राज्य की स्थापना करनेके उपलक्ष्यमें गुप्त सम्बन्ध चलाया। इसका विवाह लिच्छिव जातिकी एक कन्याके साथ हुआ था। यह विद्वानोंका बड़ा सरकार करता था। प्रसिद्ध कवि कालिदास (शकुन्तला नाटककार) इसके दरबारका ही रत्न था।
चन्द्रगुप्त	३२०—३३०	१०	
समुद्रगुप्त	३३०—३७५	४५	
चन्द्रगुप्त— (विक्रमादित्य)	३७५—४१३	३८	
स्कन्द गुप्त	४१३—४३५	२२	इसके समयमें हूणवंशी (कश्मी) सरदार काफी घोर पकड़ चुके थे। उन्होंने आक्रमण भी किया परन्तु स्कन्द गुप्तके द्वारा परास्त कर दिये गये। ई ४३७ में जबकि गुप्त सबसे ११७ था यही राजा राज्य करता था। (क पा १/प्र ५४/६५/९ महेन्द्र)
कुमार गुप्त	४३५—४६०	२५	इस वंशकी अखण्ड स्थिति वास्तवमें स्कन्दगुप्त तक ही रही। इसके पश्चात्, हूणोंके आक्रमणके द्वारा इसकी शक्ति जर्जरित हो गयी। यही कारण है कि आगमकारोंने इस वंशकी अन्तिम अवधि स्कन्दगुप्त, वो नि ६५) तक ही स्वीकार की है। कुमारगुप्तके कालमें भी हूणों के अनेकों आक्रमण हुए जिसके कारण इस राज्यका बहुभाग उनके हाथमें चला गया और भानुगुप्तके समयमें तो यह वंश इतना कमजोर हो गया कि ई ६०० में हूणराज तोरमाणने सारे पञ्जाब व मालवा पर अधिकार जमा लिया। तथा तोरमाणके पुत्र मिहर्पालने उसे परास्त करके नष्ट ही कर दिया।
भानु गुप्त	४६०—५०७	४७	

८ कच्छी तथा हूण वंश

जैन शास्त्रका कच्छी वंश			इतिहासका हूण वंश		
नाम	बी० नि०	वर्ष	नाम	ईसवी	वर्ष
सामान्य	६५८—१०७३	११५	सामान्य	४३१—५४६	११५
इन्द्र	६५८—१०००	४२		४३१—४७३	४२
शिशुपाल	१०००—१०३३	३३	तोरमाण	४७३—५०६	३३
चतुर्मुख	१०३३—१०५५	४०	मिहिरकुल	५०६—५२८	२
	१०५५—१०७३		विष्णु यशोधर्म	५२८—५४६	१८

आगमकारोंका कच्छी वंश ही इतिहासकारोंका हूणवंश है, क्योंकि यह एक वर्षर जंगली जाति थी, जिसके समस्त राजा अत्यन्त अत्याचारी होनेके कारण कच्छी कहलाते थे। आगम व इतिहास दोनोंकी अपेक्षा समय लगभग मिलता है। इस जातिने गुप्त राजाओंपर स्कन्द गुप्तके समयसे ई० ४३२ से ही आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिये थे। (विशेष देखें अध्याय २ व ३)

नोट—जैनागममें प्रायः सभी मूल शाखाओंमें इस राज्य वंशका उल्लेख किया गया है। इसके कारण भी दा हैं—एक तो राजा 'कच्छी' का परिचय देना और दूसरे वीरप्रभुके पश्चात् आचार्योंकी मूल परम्पराका ठीक प्रकारसे सत्य निर्णय करना। यद्यपि अन्य राज्य वंशोंका कोई उल्लेख आगममें नहीं है, परन्तु मूल परम्पराके पश्चात्के आचार्यों व शास्त्र रचयिताओंका विशद परिचय पानेके लिए तारकालिक राजाओंका परिचय भी होना आवश्यक है। इसलिये कुछ अन्य भी प्रसिद्ध राज्य वंशोंका, जिनका कि सम्बन्ध किन्हीं प्रसिद्ध आचार्योंके साथ रहा है परिचय यहाँ दिया जाता है।

४ राष्ट्रकूट वंश (प्रमाणके लिए—दे वह वह नाम)

सामान्य—जैनागमके रचयिता आचार्योंका सम्बन्ध उनमें—से सर्व प्रथम राष्ट्रकूट राज्य वंशके साथ है जो भारतके इतिहासमें अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस वंशमें चार ही राजाओंका नामविशेष उल्लेखनीय है—जगत्पुत्र, अमोघवर्ष, अकालवर्ष और कृष्ण तृतीय। उत्तर उत्तरवाला राजा अपनेसे पूर्व पूर्वका पुत्र था। इस वंशका राज्य मालवा प्रान्तमें था। इसकी राजधानी मान्यखेट थी। पोछेसे बढ़ते-बढ़ते इन्होंने लाट देश व अवन्ती देशको भी अपने राज्यमें मिला लिया था।

१ जगत्पुत्र—राष्ट्रकूट वंशके सर्वप्रथम राजा थे। अमोघवर्षके पिता और इन्द्रराजके बड़े भाई थे अतः राज्यके अधिकारी यही हुए। बड़े प्रतापी थे इनके समयसे पहले लाट देशमें 'शत्रु-भयकर कृष्णराज' प्रथम नामके अत्यन्त पराक्रमी और व प्रसिद्ध राजा राज्य करते थे। इनके पुत्र श्री वल्लभ गोविन्द द्वितीय कहलाते थे। राजा जगत्पुत्रने अपने छोटे भाई इन्द्रराजकी सहायतासे लाट नरेश 'श्रीवल्लभ' को जीतकर उसके देशपर अपना अधिकार कर लिया था, और इसलिये वे गोविन्द तृतीयकी उपाधि को प्राप्त हो गये थे। इनका काल श ७१६—७३५ (ई ७६४—८१३) निश्चित किया गया है। २ अमोघवर्ष—इस वंशके द्वितीय प्रसिद्ध राजा अमोघवर्ष हुये। जगत्पुत्र अर्थात् गोविन्द तृतीय के पुत्र होने के कारण गोविन्द चतुर्थ की उपाधिको प्राप्त हुये। कृष्णराज प्रथम (देखो ऊपर) के छोटे पुत्र ध्रुवराज अमोघ वर्ष के समकालीन थे। ध्रुवराज ने अवन्ती नरेश वरसराज को युद्ध में परास्त करके उसके देशपर अधिकार कर लिया था जिससे उसे अभिमान हो गया और अमोघवर्षपर भी चढ़ाई कर दी। अमोघवर्षने अपने चचेरे भाई कर्कराज (जगत्पुत्रके छोटे भाई इन्द्रराजका पुत्र) को सहायतासे जीत लिया। इनका काल वि ८७१—६३५ (ई ८१४—७८८) निश्चित है। ३ अकालवर्ष—वरसराजसे अवन्ती देश जीतकर अमोघवर्षका दे दिया। कृष्णराज प्रथमके पुत्रके राज्य पर अधिकार करनेके कारण यह कृष्णराज द्वितीयकी उपाधिको प्राप्त हुये। अमोघवर्षके पुत्र होनेके कारण अमोघवर्ष द्वितीय भी कहलाने लगे। इनका समय ई ८७८—६१२ निश्चित है। ४ कृष्णराज तृतीय—अकालवर्षके पुत्र और कृष्ण तृतीयकी उपाधिको प्राप्त थे।

४ दिगम्बर मूल सघ—

१ मूलसघ—

भगवात् महावीरके निर्वाणके पश्चात् उनका यह मूल सघ १६२ वर्षके अन्तरालमें होने वाले गौतम गणधरसे लेकर अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी तक अविच्छिन्न रूपसे चलता रहा। इनके समयमें अवन्ती देशमें पड़नेवाले द्वादश वर्षोंय दुर्भिक्षके कारण इस सघके कुछ आचार्योंने शिथिलाचारको अपनाकर आ स्थूलभद्रकी आनान्य में इससे बिलग एक स्वतन्त्र श्वेताम्बर सघकी स्थापना कर दी जिससे भगवानका एक अखण्ड दो शाखाओंमें विभाजित हो गया

आ अर्द्धमणिको यत्र तत्र विद्यते ह्ये जायायां तथा मयिमणिको यत्र-
 दित्तं यत्र । ते निच दक्षिण मध्यम मणिमा तत्र (जित्वा गतामा) मे एक
 महा मणि मयमेव जायाजित्वा विद्या जित्वा १००-१०० यत्रतम
 आकर मयित्तन मयिमणित ह्ये । एव जायत यत्र एक जायत
 मय जित्वा अथात यत्रम विद्यते जायत कृतामा १। मया (विद्यते)
 यत्रित्त २/३

दृष्टि न ३-जै पो ३५४ (प कैनाश चन्द) ।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

न	नाम	दृष्टि १	दृष्टि २				दृष्टि नं ३		विशेष
		नोट	ज्ञान	कुल वर्ष	वी नि स	समुदित काल	वी नि स	कुल वर्ष	
२८	लोहाचार्य	इन नामों का उल्लेख तिखलीय पणति आदिमें नहीं है। लोहाचार्य एक ६८३ वर्ष की गणना पूरी कर हो गई है।	८ अगधारी	५२ (४०)	५१४-५६५	५६५	५२४-५६५	५०	श्रुतावतारकी मूल पढ़ावलीमें इन चारोंका नाम नहीं है। (ध १/प्र २४/H L Jain)। एकसाथ उल्लेख होनेसे समकालीन है। इनका समुदित बाल २०वर्ष माना जा सकता है (मुख्तार माह्य) गुरु परम्परासे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है (दे परिशिष्ट २) आचार्य काल। सध विघटनके पश्चात्से समाधिमरण तक (विशेष दे परिशिष्ट २)
२९	विनयदत्त		१ अगधारी	२०	५६५-६८५	↑			
३०	श्रीदत्त न १		"	"	"	↓			
३१	शिवदत्त		"	"	"				
३२	अर्हदत्त		"	"	"				
३३	अर्हद्वलि (गुप्तिगुप्त)		अगाशधर अथवा पूर्वविद	२८	६६५-६९३	↑	६६५-६७५ ६७५-६९३	१० २८	
३४	माघनन्दि		"	२१	६९३-६९४	१८ वर्ष	६७५-६७६ ६७६-६९४	४ ३५	
३५	धरसेन	इन नामों का उल्लेख तिखलीय पणति आदिमें नहीं है। लोहाचार्य एक ६८३ वर्ष की गणना पूरी कर हो गई है।	"	१९	६९४-६९३		६६५-६९३	६८	नन्दि संघके पट्ट पर। पट्ट भ्रष्ट हो जानेके पश्चात् समाधिमरण तक। (विशेष दे परिशिष्ट २) अर्हद्वलीके समकालीन थे। वी नि ६९३ में समाधि। (विशेष दे परिशिष्ट २) धरसेनाचार्यके पादमूलमें ज्ञान प्राप्त करके इन दोनोंने पटखण्डगमकी रचना की (विशेष दे परिशिष्ट २)
३६	पुष्पवन्त		"	३०	६९३-६६३		६९३-६९३	४०	
३७	धृतमलि		"	२०	६६३-६८३	↓	६९३-६८३	६०	
						६८३			

३ पढ़ावली का समन्वय—

ध १/प्र/H L Jain/पृष्ठ संख्या—प्रत्येक आचार्यके कालका पृथक्-पृथक् निर्देश होनेसे द्वितीय दृष्टि प्रथमकी अपेक्षा अधिक ग्राह्य है। १२८। इसके अन्य भी अनेक हेतु हैं। यथा—(१) प्रथम दृष्टिमें नक्षत्रादि पाँच एकादशांग धारियोंका २२० वर्ष समुदित काल बहुत अधिक है। १२६। (२) प जुगल किशोरजीके अनुसार विनयदत्तादि चार आचार्योंका समुदित काल २० वर्ष और अर्हद्वलि तथा माघनन्दिका १० १० वर्ष कल्पित कर लिया जाये तो प्रथम दृष्टिसे धरसेनाचार्यका काल वी नि ७२३ के पश्चात् हो जाता है, जबकि आगे इनका समय वी नि ५६५-६९३ सिद्ध किया गया है। १२४। (३) सम्भवतः मूलसधका विभक्तिकरण हो जानेके कारण प्रथम दृष्टिकारने अर्हद्वली आदिका नाम वी नि के पश्चात्वाली ६८३ वर्षकी गणनामें नहीं ग्ला है परन्तु जैसा कि परिशिष्ट २ में सिद्ध किया गया है इनकी सत्ता ६८३ वर्षके भीतर अवश्य है। १२५। इसलिये द्वितीय दृष्टि ने इन नामोंका भी संग्रहकर लिया है। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि इनके कालकी जो स्थापना यहाँ की गई है उसमें पट्टपरम्परा या गुरु शिष्य परम्पराकी कोई अपेक्षा नहीं है, क्योंकि लोहाचार्यके पश्चात् वी नि ५७४ में अर्हद्वलीके द्वारा सधका विभक्तिकरण हो जानेपर मूल सधकी सत्ता समाप्त हो जाती है (दे परिशिष्ट २ में 'अर्हद्वली')। ऐसी स्थितिमें यह सहज सिद्ध हो जाता है कि इनकी काल गणना पूर्वविधिकी वजाय उत्तरावधिकी अर्थात् उनके समाधिमरणका लक्ष्यमें रखकर की गई है। वस्तुतः इनमें कोई पूर्वपरिचय नहीं है। पहले पहले बालेकी उत्तरावधि ही आगे आगे बालेकी पूर्वविधि बन गई है। यही कारण है कि सारणीमें निर्दिष्ट कालोंके साथ इनके जीवन वृत्तोंकी सगति ठीक ठीक घटित नहीं होती है। (४) दृष्टि न ३ में जैन इतिहासकारोंने इनका समुचितकृत काल निर्धारित किया है जिसका विचार परिशिष्ट २ के अन्तर्गत विस्तारके साथ किया गया है। (५) एक चतुर्थ दृष्टि भी

प्राप्त है। वह यह कि द्वितीय दृष्टिका प्रतिपादन करनेवाले श्रुतवतार में प्राप्त एक श्लोक (दे परिशिष्ट ४) के अनुसार यशोभद्र तथा भद्रबाहु द्वि के मध्य ४-५ आचार्य और भी हैं जिनका ज्ञान श्रुतावतारके कर्त्ता श्री हन्त्रनन्दिका नहीं है। इनका समुदित काल ११८ वर्ष मान लिया जाय तो द्वि दृष्टिसे भी लोहाचार्य तक ६८३ वर्ष पूरे हो जाने चाहिए। (प स/प्र/H L Jain), (म सि/प्र ७८/प फूलचन्द)। परन्तु इस दृष्टिको विद्वानोंका समर्थन प्राप्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर अर्हद्वली आदिका काल उनके जीवन वृत्तोंसे बहुत आगे चला जाता है।

४ मूल सधका विघटन

जैसा कि उपर्युक्त सारणीमें दर्शाया गया है भगवान् वीरके निर्वाणके पश्चात् गौतम गणधरसे लेकर अर्हद्वली तक उनका मूलसध अविच्छिन्न रूपसे चलता रहा। आ० अर्हद्वलीने पञ्चवर्षीय युगप्रतिक्रमणके अवसर पर महिमानगर जिला मतारामें एक महान् यतिमम्मेलन किया जिसमें सौ योजन तकके साधुसम्मिलित हुए। उस समय उन साधुओंमें अपने अपने शिष्योंके प्रति कुछ पक्षपातकी सूँ देखकर उन्होंने मूलसधकी सत्ता समाप्त करके उसे पृथक् पृथक् नामोंवाले अनेक अवान्तर सधोंमें विभाजित कर दिया जिसमें से कुछके नाम ये हैं—१ नन्दि, २ धृषभ ३ सिंह, ४ देव, ५ काष्ठा, ६ वीर, ७ अपराजित, ८ पञ्चस्तूप, ९ सेन, १० भद्र, ११ गुणधर, १२ गुप्त, १३ मिह, १४ चन्द्र इत्यादि (ध १/प्र १४ H L Jain)।

इनके अतिरिक्त भी अनेकों अवान्तर सध भी भिन्न भिन्न समयोंपर परिस्थितिवश उत्पन्न होते रहे। ध २ धीरे धीरे इनमेंसे कुछ सधों में शिथिलाचार आता चला गया जिनके कारण वे जनाभासी पहलाने लगे (इनमें छ प्रसिद्ध हैं—१ प्रवेताम्भर, २ गोपुच्छ या काष्ठा, ३ द्रविष्ठ, ४ यापनीय या गोप्य, ५ निपिच्छ या माथुर और ६ भिल्लक

५ श्रुत तीर्थकी उत्पत्ति —

ध ४/१ ४४/१३० चौहसपड्णयाणमगधज्जाण च माघनमास-बहुल-पक्ष-जुगादिपडिबयपुव्वदिवसे जेण रयणा वदा तेजिद्वद्भिदभाज्जा

बहुतमानजित्तरथगच्छात्तारो । उक्तं च—“याम्म पदममारे गढमे
पक्षलम्बि सायणे बहुले । पठित्वदुष्प्रविशसे तिलुप्यसौ द्रु अभि
जिन्मि ४० ।”

घ १/१ १/६५ तिरथयरादौ सुदपज्जण गोदमो परिणदां चि दवण सुदस्स
गोदमा कत्ता ।— बाह्य अवयवा प्ररौणकको ब्रावण मामके वृष्ण
पक्षमें युगके आदिम प्रतिपदा दिनाक पूर्वाह्निक रचणा यो गई थी ।
अतएव इन्द्रभूति भट्टारक मन्त्र माग जिन्व सौर्गमें प्रायश्चित्त हुण ।
कहा भी है कि ‘वर्षके प्रथम (श्रावण) मासमें प्रथम (वृष्ण) पक्षमें
अथत्ति ब्रावण कृ प्रतिपदाके दिन मयैरे अभिजित नयणमें तीथयो
उत्पत्ति हुई । सौर्गने आगत उपदेशाका गीतमने भूतके रूपमें परि-
णत किया । इमलिये गीतम गणधर द्रव्य श्रुता कर्ता है ।

६ श्रुतज्ञानका क्रमिक ह्रास—

भगवात् महावीरके निर्वाण जानेके पश्चात् ६२ वर्ष तक इन्द्र-
भूति (गीतम गणधर) आदि तीन बचनी हुए । इनक परचात् मणपि
केवलज्ञानकी व्युत्पत्ति हो गई तदपि ११ अग १२ पूर्वके धारी पूर्ण
श्रुतकेवली बने रहे इनकी परम्परा १०० वर्ष तक (विद्वानके अनुसार
१६० वर्ष तक) चलती रही । तत्पश्चात् श्रुत ज्ञानका क्रमिक ह्रास
होना प्रारम्भ हो गया । यो नि ४६५ तक १०६८ अगधारियोंकी
परम्परा चलनी और तदुपरांत वर भी लुप्त हो गई । इसमें परचात् यो
नि ६८३ तक श्रुतज्ञानके आचार्यगंधारी अथवा किसी एक आध अंग-
के अंशधारी हो मत्र तत्र शेष रह गण ।

इस विषयका उल्लेख दिगम्बर साहित्यमें दो स्थानोंपर प्राप्त
होता है, एक तो सिन्धुनाय पणत्ति हरिश्च पुराण, धवल आदि ग्रन्थ
ग्रन्थोंमें और दूसरा आ इन्द्रनन्दि (पि ६६६) कृत् श्रुतगारमें । पहले
स्थानपर श्रुतज्ञानके क्रमिक ह्रासका दृष्टिमें रखते हुए कथन उस उस
परम्पराका समुद्धृत कान दिया गया है, जब कि द्वितीय स्थान पर
समुद्धृत कालके साथ साथ उस-उस परम्परामें उल्लिखित आचार्यों-
का पृथक् पृथक् कान भी निर्दिष्ट किया है, जिसके कारण सन्धाता
विद्वानाके लिये यह बहुत महत्व रखता है । इन दोनों दृष्टिका
समन्वय करते हुए अनेक ऐतिहासिक गृथियोंका सुनमानेके लिए
विद्वानोंने थोड़े हरेरक साथ इस विषयमें अपनी एक तृतीय दृष्टि
स्थापित की है । मूलसंघकी अप्राक्त पट्टावलीमें इन तीनों दृष्टिका
तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ।

५ दिगम्बर जैन सघ

१ सामान्य परिचय

तो म आ ४/३४८ पर उद्धृत नीतिसार-तस्मिन् श्रीमूलसघे मुनिजन-
विमने मेन नन्दो च संघो । स्वातां मिहारव्यसघोऽभवदुरमहिमा
वससघश्चरुर्ध्व । अर्द्धनीगुरुकथके सघसघटन परम् । सिंहसघा नन्दि
सघ सेनसघस्थापर ।—मुनिजनार्थ अत्यन्त विमल श्रीमूलसघमें
सेनसघ, नन्दिंसघ, सिंहसघ और अत्यन्त महिमावन्त वससघ ये
चार सघ हुए । श्री गुरु अर्द्धब्रह्मलाक समयमें सिंहसघ, नन्दिंसघ, सेन-
सघ (और देवसघ) का सघटन किया गया ।

श्रुतकीर्ति कृत पट्टावली-सत पर शास्त्रविदां मुनिनामधेसरोऽबुद्धकल्लक
सूरि । तस्मिन्गते स्वर्गभुक् महर्षौ दिव स योगि सघधत्तुर प्रमे-
दासाध भूवानाविरुद्धस्तात् । येन नन्दि-सिंह-सेन सघभेद वर्त्तिनां
देशभेदत प्रमादभाजि देवयोगिनां ।—इन (पूज्यपाद जिनेन्द्र बुद्धि)
के पक्षात् शास्त्रवेत्ता मुनियोंमें असेसर अकलंकसूरि हुए । इनके दिव-
गत हो जानेपर जिनेन्द्र भगवात् संघके चार भेदोंकी लेकर शोभित
हाने लगे—देवसघ, नन्दिंसघ, सिंहसघ और सेनसघ ।

नीतीसार (तो १/३५८) अर्द्धब्रह्मो गुरुभ्यो गणमभट्टां गम्मानिहर्षो
नन्दिंसघे गैरामभट्टायां १२ वर्षां इतिहरेत् १२५२ नन्दिंसघिदि १८
—अर्द्धनी गुरु बचनमें गमान तथा मि तिनी असेरामो मिहर्षो,
नन्दिंसघ, गैरामभट्टा देवसघ हा पार मणिका संगठन हुआ । यहाँ
गमानिहर्षसिंहोपमा इस पदपर गौ मिमपदइम पटनाका गम्मान
उन कथाम साथ जोड़ा है जिसके अनुसार जो अर्द्धनीम पक्षेय
नेनेके लिए अनेक पार तपस दी दायगी । इसका गमाना म वर्षा योग
धारण करीका आदेश दिया था । तत्पुनरा गिद म् व मोषे पक्ष
योग धारण कर जवान मागतिना गीतम गिदम्य पटनाया मूना-
तनम नयमान धारण करीका भी ज्ञातमना नाम मृगम पदा नीर
उत्ता मय वृषभ मय गटनाया । मिहर्ष, मुकाम क्षर्षा योग धारण
कर वाजेय मिहर्षम और नैव दणा मेदमा नन्दिंसघम नयमान धारण
करीताने का दवमय नाम पदा । (वि प द गिदित्त/२/८)

२. नन्दि सघ

१ सामान्य परिचय

आ अर्द्धनीके प्राग रचापित सघम इमगा रचात् सर्वोपरि समना
जाता । मणपि इसकी पट्टावलीमें भद्रम, द्रु तथा अर्द्धनीका नाम भी
दिया गया परन्तु वह परम्परा शुरूके रूपमें उल्लेख नमस्कार करने मात्र
के प्रयोजनसे है । संयत्ता प्रारम्भ गच्छताने माधमसिद्धि होता है ।
गुरु अर्द्धनीकी आज्ञागत गिद मृषके ती ४ वर्षा माग धाव करके
फाण हर्षा गिदको गणपि, प्रातः कृत् भी ऊपर उठी बरतन इनके इस
मंसका नाम गिदमंस पदा । मागगिदमे वृत्तपदा तथा उमागामो
सक यह मूल रूपमें चन्ता रहा । उत्पदाय यह दो दम्पतीजि
विभक्त हो गया । पूर्व शाखा नन्दिंसघ चन्ताकार ग-ने नामके प्रसिद्ध
हुई और दूसरी शाखा जैनागामो काया मयका और चन्ते गई ।
“नाहाचार्यस्ततो जाता ज्ञातम्पदरोऽमरेः । तत पट्टावली जाता
प्राच्युगीच्युपनयणतः” (वि प द ज्ञाने नीर्षक ६/२) ।

२ वयत्तान गण—

इस मसघी एक पट्टावली प्रसिद्ध है । आचार्योंका मृषक् मृषक् कान
निर्देश करनेके कारण यह जैन इतिहासकारोंके लिये आध्यात्मिक
समझी जाओ चन्तु इसमें दिये गण कान मूल सघकी पूर्वोक्त पट्टावली
के साथ मेन नहीं गते हैं और न ही कुम्भक तथा उमागामोके
जीवन त्वाके साथ हाकी मणपि भटित होती प्रतीत होती है ।
पट्टावली आगे शीर्षक ७८ अत्यन्त विमल की जावेचना है । तत्स-
म्बन्धी विव्रतिपत्तियोंका समुच्चय समाना मणपि परिचित भूमे
किया गया है उपरि उक्त समानागके अनुसार आगे दी गई पट्टावली
में जो मसिद्ध सघत दिये गये हैं उन्हें समझनेके लिए उसका मंत्रि म
मात्र दे देना उचित प्रतीत होता है ।

पट्टावलीगार श्री इन्द्रनन्दिने आचार्योंके पानकी गन्ना विद्वम
के गज्याभिषेकसे प्रारम्भ की है और उमे प्रातिपदा की नि ४८८
मागपर भी है । (विधेय दे गिदित्त १) । ऐसा मानो पर बुद्धबुद्धके
मालमें ११७ वर्षकी कमो रह जाती है । इसे पाटोने लिये ४ स्थानों
पर बुद्धि की गई है—१ भद्रपाहे कालमें १ वर्षकी बुद्धि करके उसे
२० वर्षकी बजाया २३ वर्ष बजाया गया है । २ भद्रपाह तथा मुनिगुप्त
(अर्द्धनी) के मध्यमें मूल संघकी पट्टावलीके अनुसार मोहाचार्यका
नाम जोड़कर उनसे ६० वर्ष बढ़ाये गए हैं । ३ माघनन्दिनीके उत्तरा-
वधि की नि ४७६ में ३६ वर्ष जोड़कर उमे मूलसघके अनुसार भी
नि ६१४ तक ले जाया गया है । ४ इस प्रकार १+६०+३६+६६ वर्ष
की बुद्धि हो जानेपर माघनन्दि तथा कुन्दबुद्ध के गुरु जिनचन्द्रके
मध्य ३१ वर्षका अन्तर शेष रह जाता है, जिसे पाटनेके लिये या तो
यहाँ एक और नाम कल्पित किया जा सकता है और या जिनचन्द्रके
कालकी पूर्वावधिकी ३१ वर्ष ऊपर उठाकर भी नि ६४४ की बजाय
६१४ किया जा सकता है ।

ऐसा करने पर क्योंकि वी नि ४८८ में विक्रम राज्य मानकर की गई आ इन्द्रनन्दिको काल गणना वी नि ४८८+११७=६०५ होकर शक सवत्के साथ ऐक्यको प्राप्त हो जाती है, इसलिए कुन्दकुन्द से आगे वाले सभी को कालों में ११७ वर्षकी वृद्धि करते जानेकी बजाये उनकी गणना पट्टावली में शक संवत्की अपेक्षा से कर दी गई है। (विशेष दे परिशिष्ट ४)।

३. देशीय गण

कुन्दकुन्दके प्राप्त होने पर नन्दिसघ दो शाखाओंमें विभक्त हो गया। एक तो उमास्वामीकी आश्रयकी ओर चली गई और दूसरीसमन्तभद्रकी ओर जिस में आगे जाकर अकलक भट्ट हुए। उमास्वामीकी आश्रय पुन दो शाखाओंमें विभक्त हो गई। एक तो मलात्कारगण की मूल शाखा जिसकी अध्यक्ष गालाचार्य तृ हूप और दूसरी मलाकपिच्छको शाखा जो देशीय गणके नामसे प्रसिद्ध हुई। यह गण पुन तीन शाखाओंमें विभक्त हुआ, गुणनन्दि शाखा, गोलाचार्य शाखा और नयकीर्ति शाखा। (विशेष दे शीर्षक ७/१,५)।

३. अन्य सघ

आचार्य अर्हबल्लोके द्वारा स्थापित चार प्रसिद्ध संघोंमें से नन्दिसघ का परिचय देनेके पश्चात् अब सिंहसंघ आदि तीनका कथन प्राप्त होता है। सिंहकी युगा पर वर्षा योग धारण करने वाले आचार्यकी अध्यक्षतामें जिस सघ का गठन हुआ उसका नाम सिंह संघ पड़ा। इसी प्रकार देव दत्ता नामक गणिकाके नगरमें वर्षा योग धारण करनेवाले तपस्वीके द्वारा गठित सघ देव संघ कहलाया और तृणतल में वर्षा योग धारण करने वाले जिनसेन का नाम वृषभ पड़ गया था उनके द्वारा गठित संघ वृषभ सघ कहलाया इसका ही दूसरा नाम सेन सघ है। इसकी एक छोटी-सी गुर्वावली उपलब्ध है जो आगे दो जानेवाली है। धवलाकार श्री वीरसेन स्वामी ने जिस सघको महिमान्वित किया उसका नाम पचस्तूप सघ है इसीमें आगे जाकर जैनाभासी काष्ठा संघ के प्रवर्तक श्री कुमारसेन जी हुए। हरिवंश पुराणके रचयिता श्री जिनसेनाचार्य जिस सघमें हुए वह पुननाट सघ के नामसे प्रसिद्ध है। इसकी एक पट्टावली है जो आगे दो जाने वाली है।

६ दिगम्बर जैनाभासी सघ

१ सामान्य परिचय—

नौविसार (तो म आ ४/३५८ पर उद्धृत)—पूर्व श्रीमूल सघस्तदनु सितपट काष्ठस्ततो हि तामाध्वद्वाद्विगच्छा पुनरजनि ततो यापुनीसंघ एक ।—मूल सघमें पहले (मद्रबाहु प्रथमके कालमें) श्वेताम्बर सघ उत्पन्न हुआ था (दे श्वेताम्बर)। तत्पश्चात् (किसी कालमें) काष्ठा संघ हुआ जो पीछे अनेकों गच्छोंमें विभक्त हो गया। उसके कुछ ही काल पश्चात् यापुनी सघ हुआ।

नौविसार (दे पा/टी ११में उद्धृत)—गोपुच्छकश्वेतवासा द्रविडो यापनीय निरिपच्छक्षेति चैते पक्ष जैनाभासा प्रकीर्तिता ।—गोपुच्छ (काष्ठा सघ), श्वेताम्बर, द्रविड, यापनीय और निरिपच्छ (माथुर संघ) ये चार जैनाभासी कहे गये हैं।

हरिभद्र सूरिकृत पट्टदशन समुच्चयकी आ गुणरत्नकृत टीका—“दिगम्बरा पुनर्नग्न्यलिगा पाणिपात्रश्च । ते चतुर्धा काष्ठसंघ—मूलसघ—माथुरसघ गोप्यसंघ भेदात् । आयास्त्रयोऽपि सघा वन्द्यमाना धर्मवृद्धि भणन्ति गोप्यास्तु वन्द्यमाना धर्मलाभ भणन्ति । स्त्रीणां मुक्ति केवलीना भुक्ति सहस्रतस्यापि सचीवरस्य मुक्ति च न मन्वते ।—सर्वेषां च भिक्षाटने भाजने च द्वाविंशदन्तराया मलाश चतुर्विंश वर्जनीया । शेषमाचारे गुरौ च देवे च सर्वश्वेताम्बरैस्तुल्यम् । नास्ति तेषां मिथ शास्त्रेषु धर्केषु परो भेद ।—दिगम्बर नग्न रहते हैं और हाथमें भोजन करते हैं। इनके चार भेद हैं, काष्ठासंघ, मूलसघ, माथुरसघ और गोप्य (यापनीय) संघ। पहलेके तीन (काष्ठा, मूल तथा माथुर) बन्दना

करनेवालेकी धर्मवृद्धि करते हैं और स्त्री मुक्ति, केवल भुक्ति तथा सहस्रतोंके मद्रभावमें भी सबस मुक्ति नहीं मानते हैं। चारों हीसघों के माधु भिक्षाटनमें तथा भोजनमें ३२ अन्तराय और १४ मलोंको टालते हैं। इसके सिवाय शेष आचार (अनुदिशहार, शून्यवास आदि तथा देव गुरुके विषयमें (मन्दिर तथा मूर्तिपूजा आदिके विषयमें) सम श्वेताम्बरोंके तुल्य हैं। इन दोनोंके शास्त्रोंमें तथा तर्कोंमें (सचेलता, स्त्रीमुक्ति और केवल भुक्तिका छोड़कर) अन्य कोई भेद नहीं है

द सा/प्र ४० प्रेमी जी—ये सघ वर्तमानमें प्राय लुप्त हो चुके हैं। गापुच्छकी पिच्छका धारण करने वाले कतिपय भट्टारकोंके रूपमें केवल काष्ठा संघका ही कोई अन्तिम अवशेष कहीं कहीं देखनेमें आता है।

२ यापनीय संघ

१ उत्पत्ति तथा काल

भद्रबाहुचारित्र ४/१५४—ततो यापनसघोऽभूत्तेषां कापथवर्तिनाम् ।—उन श्वेताम्बरियोंमें से कापथवर्ती यापनीय सघ उत्पन्न हुआ।

द सा/मू २६ कलाणे वरणयरे सत्तसं पच उत्तरे जादे । जावणियसघभावा सिरिक्कलसादो हु सेवडदो १२६।—कव्याण नामक नगरमें विक्रमकी मृत्युके ७०५ वर्ष बीतने पर (दूसरी प्रतिके अनुसार २०५ वर्ष बीतनेपर) श्रीकलश नामक श्वेताम्बर साधुसे यापनीय सघका सद्भाव हुआ।

२ मान्यतायें

द पा/टी ११/११/१५—यापनीयास्तु वेसरा इवोभय मन्यन्ते, रत्नत्रयं पूजयन्ति, कर्ण च वाचयन्ति, स्त्रीणां तद्वे माक्षं, केवलजिनानां कवलाहार, परशासने समन्यानां मोक्ष च कथयन्ति ।—यापनीय सघ (दिगम्बर तथा श्वेताम्बर) दोनोंको मानते हैं। रत्नत्रयको पूजते हैं, (श्वेताम्बरोंके) कवपसूत्रको बाँधते हैं, (श्वेताम्बरियोंकी भाँति) स्त्रियोंका उसी भवसे मुक्त होना केवलियोंका कवलाहार ग्रहण करना तथा अन्य मतावलम्बियोंको और परिग्रहधारियोंको भी मोक्ष होना मानते हैं।

हरिभद्र सूरिकृत पट्टदशन समुच्चयकी आ गुणरत्नकृत टीका—गोप्यास्तु वन्द्यमाना धर्मलाभ भणन्ति । स्त्रीणां मुक्ति केवलियां भुक्ति च मन्यन्ते । गोप्या यापनीया इत्युच्यन्ते । सर्वेषां च भिक्षाटने भाजने च द्वाविंशदन्तराया मलाश चतुर्विंश वर्जनीया । शेषमाचारे गुरौ च देवे च सर्व श्वेताम्बरैस्तुल्यम् ।—गोप्य संघ वाले साधु बन्दना करनेवालेकी धर्मलाभ कहते हैं। स्त्रीमुक्ति तथा केवलभुक्ति भी मानते हैं। गोप्यसंघको यापनीय भी कहते हैं। सभी (अर्थात् काष्ठा सघ आदिके साथ यापनीय सघ भी) भिक्षाटनमें और भोजनमें ३२ अन्तराय और १४ मलोंको टालते हैं। इनके सिवाय शेष आचारमें (महाव्रतादिमें) और देव गुरुके विषयमें (मूर्ति पूजा आदिके विषयमें) सघ (यापनीय भी) श्वेताम्बरके तुल्य हैं।

३ जैनाभासत्व

उक्त मर्म कथनपरसे यह स्पष्ट है कि यह सघ श्वेताम्बर मतमें से उत्पन्न हुआ है और श्वेताम्बर तथा दिगम्बरके मिश्रण रूप है। इसलिये जैनाभास कहना युक्ति सगत है।

४ काल निर्णय

इसके समयके सम्यन्धमें कुछ विवाद है क्योंकि दर्शनसार ग्रन्थकी दो प्रतियाँ उपलब्ध हैं। एकमें वि ७०५ लिखा है और दूसरेमें वि २०५। प्रेमीजीके अनुसार वि २०५ युक्त है क्योंकि आ शाकटायन और पाण्य कीर्ति जो इसी संघके आचार्य माने गये हैं उन्होंने ‘स्त्री मुक्ति और केवलभुक्ति’ नामक एक ग्रन्थ रचा है जिसका समय वि ७०५ से बहुत पहले है।

३ द्राविड सध

दे सा / प्र २४ २७ सिरिपुञ्जपादसीसो दाविडमधस्स कारगो दुट्ठो । जामेण वज्जज्जदो पाहुडवेदो महात्तसो । २४। अप्पासुयचणयान् भवत्त-
णदो यज्जिज्जदो मुणिदहि । परिइय विवरीत विसेसय धम्मण चोउज्ज
। २५। ओएसु णरिथ जोरो उम्भसण् णरिथ फासुग णरिथ । सबज्ज ण
हु मण्णण गणइ गिहकप्पिअ उट्ठं ॥ २६। कच्छं ऐत्त वसहि वाणिज्ज
कारिज्ज जोवैत्तो । ण्हत्ता सयिल्लोरे पाव वउर स सजेदि । २७। —
श्री पुञ्जपाद या देवनन्दि आचार्यका शिष्य वज्जनन्दि द्रविडगणको
उत्पन्न करने वाला हुआ । यह गमयसाग आदि प्राभुत ग्रन्थोंका ज्ञाता
और महान् पराक्रमी था । मुनिाराजने उसे अप्राप्तु क या सचित्त
चने खानेसे रोका, परन्तु वह न माना और विगड क प्रागश्चित्तादि
विषयक शास्त्रोंकी विपरीत रचनाकर डाली । २४ २५। उसके विचार-
ानुसार बोजोंमें जीव नहीं होते, जगतमें कोई भी वस्तु अप्राप्तु क नहीं
है । वह न तो मुनियोकलिये खड़े खड़े भाजनकी विधिकोअपनता है,
न कुछ साधक मानता है और न ही गृहकल्पित अर्थको कुछ गिनता
है । २६। कच्छार खेत वसतिगा और वाणिज्य आदि ऋके जीवन
निर्वाह करते हुए उसने प्रचुर पापका समग्र किया । अर्थात् उसने
ऐसा उपदेश दिया कि मुनिजन यदि खेती करावें, वसतिगा निर्माण
करावें, वाणिज्य करावें और अप्राप्तु क जलमें स्नान करें तो कोई पाप
नहीं है ।

दे सा / टो ११ द्राविडा सावय प्राप्तु क च न मन्यते, उड्ढभोजन
निराकुर्वन्ति — द्रविड सधके मुनिजन सावय तथा प्राप्तु कको नहीं
मानते और मुनियोंको खड़े होकर भोजन करनेका निषेध करते हैं ।
दे सा / प्र ५४ प्रेमी जी — “द्रविड सधके विषयमें दर्शनसारकी यचनि-
रुके कर्ता एक जगह जिन सहिताका प्रमाण देकर करते हैं कि
‘मधुपर्ण सवस्त्रस्यात् मिम्भ द्राविडमधय’ अर्थात् द्राविड सधकी
प्रतिमामें वस्त्र और मधुपर्ण सहित होती है । न मालूम यह
जिनसहिता हिंसकी निजो हुई और कहीं तक प्रामाणिक है । अभी
तक हमें इस विषयमें बहुत सदेह है कि द्राविड सध सम्प्रथ प्रति-
माओंका पूजक होगा ।

२ प्रमाणिकता

यद्यपि देवसेनाचार्यने दर्शनसार की उपर्युक्त भाषाओंमें इसके प्रवर्तक
वज्जनन्दिके प्रति दुष्ट आदि अपशब्दोंका प्रयोग किया है, परन्तु
भोजन विषयक मान्यताओंके अतिरिक्त मूलसधके साथ इसका
हटना पार्थक्य नहीं है कि जनाभासी कहकर इसकी रूपप्रकारनिन्दा
की जाये । (दे सा / प्र ४६ प्रेमीजी) । इस बातकी पुष्टि निम्न उद्ध-
रणपर से होती है—

ह पु १/३२ वज्जसूरेविचारण्य मरेखोवन्धमोसया । प्रमाण धमशा-
स्त्राणां प्रवत्तणामिवोक्तय । ३२। — ज। हेतु सहित विचार करती है,
वज्जनन्दिका । उक्तार्थ धर्मशास्त्रोंवा व्याख्यान करने वाले गणधर्माकी
उत्तिथीके समान प्रमाण है ।

दे सा / प्र पृष्ठ सख्या (प्रेमी जी) — इसपर से यह अनुमान किया जा
सकता है कि हरिवंश पुराणके र्त्ता श्री जिनसेनाचार्य स्वयं द्राविड
सधो हर्ष, परन्तु वे अपने सधके आचार्य बताते हैं । यह भी सम्भव
है कि द्राविड सधका ही अपर नाम पुत्राट सध है क्योंकि ‘नाट
शब्द षण्टिक देशके लिये प्रयुक्त होता है जा कि द्राविड देश माना
गया है । द्रमिल सध भी इसीका अपर नाम है । ३२। २ (कुछ भी हो,
इसकी महिमासे इन्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि) त्रैविद्यावि-
श्वेश्वर श्रीबालदेव, वैयाकरण दयापाल, मतिसागर स्याद्वाद् विद्या-
पति श्री बगदिराज सूरि जैसे बड़े बड़े विद्वान इस सधमें हुए हैं ।
३२। ३-तीसरी बात यह भी है कि आ देवसेनने जितनी बातें इस
सधके लिये कही हैं, उनमेंही बीजाको प्राप्तु कमानेके अतिरिक्त अन्य
बातोंका अर्थ स्पष्ट नहीं है, क्योंकि सावय अर्थात् पापको न मानने-

वाला कोई भी जैन सध नहीं है । सम्भवतः सावयका अर्थ भी
(यहाँ) कुछ और ही हो । ३३। ४-तारपम यह है कि यह सध मूल
दिगम्बर सधसे विपरीत नहीं है । जैनाभास कहना सा दूर यह
आचार्योंको अत्यन्त प्रमाणिक रूपसे सम्मत है ।

३ गच्छ तथा शाखायें

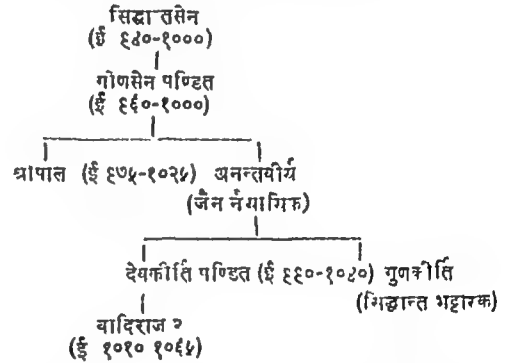
इस सधके अनेकों गच्छ हैं, यथा—१ नन्दि अन्वय २ उरुकुल गण
३ परेगित्तर गण ४ मूनिस्तल गच्छ इत्यादि । (दे सा / प्र ४० प्रेमीजी) ।

४ काल निर्णय

दे सा प्र २८-१४ सए छापासे विममगासम मणपसस । दविखण-
गहुगदो द्राविड सधा महामा । २८। — विममगासमी मृत्युमें ६२६
वर्ष बीसनेपर दक्षिण मथुरा नगरमें (पुञ्जपाद देवनन्दिद्वय शिष्य श्री
वज्जनन्दिके द्वारा) यह सध उत्पन्न हुआ ।

५ गुर्विली

इस सधके नन्दिगण उरुड्ढास्वग शाखाकी एक छाटी सी गुर्विली
उपलब्ध है । जिसमें अनन्तवीर्य, देवकीर्ति पण्डित तथा वादिराजका
काल विद्वद सम्मत है । दोषके गान इन्होंने आधार पर वर्णित कि-
ये गए हैं । (सि वि / प्र ७५ प मरेन्द्र) (ता ३/४०-४१, ८८-९०) ।



४ काष्ठा सध

जैनाभासी सधार्थ यह सधसे अधिक प्रसिद्ध है । इसका कुछ एक अन्तिम
अवशेष अब भी गाणपुच्छकी पीछीके रूपने किन्हीं एक भट्टारकार्थ
पाया जाता है । गोपुच्छकी पीछीको अपना लेनेके कारण इस सध
का नाम गोपुच्छ सध भी सुननेमें आता है । इसकी उत्पत्तिये विषय
नं दा धारणार्थ है । पहलीक अनुसार इसके प्रवर्तक नन्दिसध सध-
रकार गणमें कथिम उमास्वामीक शिष्य श्री लोहाचार्य तु, हुए ।
दूसरीके अनुसार पचरत्न सधमें प्राप्त कुमार सेन हुए । सधलेखना
व्रतका रयाग करके चरित्रसे भ्रष्ट हो जानेकी कथा दोनोंके विषयमें
प्रसिद्ध है, तथापि विद्वानोंको कुमार सेनवानी द्वितीय मान्यता ही
अधिक सम्मत है ।

प्रथम दृष्टि

नन्दिसध सत्तास्कार गणकी पहचाली । श्ल ६७—(ती ४/३६२) पर
उद्धृत) — “लोहाचार्यस्ततो जाता जास्त रूपधरोऽगरे । तत पट्ट-
द्वयी जाता प्राच्युदीच्युपलक्षणत । ६७। — नन्दिसधमें कूदकुन्द
उमास्वामी (गृहपिच्छ) के पश्चात् लोहाचार्य तृतीय हुए । इनके
कालसे सधमें दा भेद उत्पन्न हो गए । पूर्व शाखा (नन्दिसधकी रही)
और उत्तर शाखा (काष्ठा सधकी और चली गई) ।

ती ४/३६१ दिल्लीकी भट्टारक गदियोंसे प्राप्त लेखोंके अनुसार इस
सधकी स्थापनाका सक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है — दक्षिण देशस्थ
भट्टपुरम विराजमान श्री लोहाचार्य तु को असाध्य रोगसे आक्रान्त
हो जानेके कारण, श्रावकाने वृच्छविन्धममें यावुज्जीवन सन्यास
मरणकी प्रतिज्ञा दिला दी । परन्तु पीछे रोग दान्त हो गया । तब

आचार्यने भिक्षार्थ उठनेकी भावना व्यक्तकी जिसे भावकोंने स्वीकार नहीं किया। तब वे उस नगरको छाड़कर अग्रोहा चले गए और वहाँके लोगोंको जैन धर्ममें दीक्षित करके एक नये संघकी स्थापना कर दी।

द्वितीय दृष्टि

६ सा / मू ३३, ३५, ३६—आसी कुमारसेणो नंदियडे विणयसेणदियख-यओ। सण्णासमजणेण य अगहिय पुण दिखलओ जादो। ३३। सत्तसए तेवणे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। नंदियवरगमे कट्ठो सधो मुण्य-व्वो ३४। नंदियडे वग्गमे कुमारसेणोय सय विण्णाणी। कट्ठो समणभट्ठो जादो सल्लेहणकाले ३५। —आ विनयसेनके द्वारा दीक्षित आ कुमारसेन जिन्होंने संन्यास मरणकी प्रतिज्ञाकी भंग करके पुन गुरुसे दोसा नहीं ली, और सल्लेखनाके अवसरपर निष्क्रम की मृत्युके ७५ वर्ष पश्चात् नन्दिदत्त ग्राममें काण्डा संघो हो गये।

६ सा / मू ३७ सो समणसववज्जो कुमारसेणो हु समयमिच्छत्तो। चत्तो व समो रुद्धो कट्ठ सव पल्लवेदी ३७। —मुनिसंघसे वर्जित समय मिध्यादृष्टि, उपशम भावको छोड़ देने वाले और रौद्र परिणामी कुमार सेनने काण्डा संघकी प्ररूपणा की।

स्वरूप

६ सा / मू ३४-३६ परिवज्जिऊण पिच्छ चमरं वित्तूण मोहकनिण। उम्मग सकलिय मागडुविमएसु सव्वेसु ३४। इत्थीण पुण दिखल। तुल्लयलोयस्स वीर चरियत्त। कक्कसकेसगहणं छट्ठं च गुणव्वद गाम ३५। आयमसत्थपुराण पायच्छित्त च अण्णहा किं पि। विरइत्ता मिच्छत्त पवट्ठियं मूळोपसु ३६। —मयूर पिच्छीको रयागकर तथा चँवरी गायकी धृष्टको ग्रहण करके उस अज्ञानीने सारे मागड़ प्रान्तमें उन्मार्गका प्रचार किया। ३४। उसने स्त्रियोंको दोसा देनेका, छुल्लकों को धोयारका मुनियोंको कड़े बालोंको पिच्छी रखनेका और रात्रि भोजन नामक छठे गुणवत् (अणुवत्) का विधान किया। ३५। इसके विवाय हमने आने आगम शास्त्र पुराण और प्रायश्चित्त विषयक ग्रन्थोंको कुछ और ही प्रकार रचकर मूर्ख लोगोंमें मिथ्यात्वका प्रचार किया। ३६।

६ ऊपर शीर्षक ६/१ में हरि भद्रसुरि कृत पट्टदर्शन का उद्धरण—बन्दना करने वालेको धर्म वृद्धि कहता है। स्त्री मुक्ति, केवल भुक्ति तथा सबल मुक्ति नहीं मानता।

निन्दनीय

६ सा / मू ३७ सो समणसववज्जो कुमारसेणो हु समयमिच्छत्तो। चत्तो-वसमो रुद्धो कट्ठ सव पल्लवेदी ३७। —मुनिसंघसे बहिष्कृत, समय-मिध्यादृष्टि, उपशम भाव का छोड़ देने वाले और रौद्र परिणामी कुमारसेनने काण्डा संघकी प्ररूपणाकी।

सेनसंघ पट्टावली २६ (ती ४/४२६ पर उद्धृत) —'दारुसंघ सशयतमो निमग्नाशायर मूलसघोपदेश — काण्डा संघके सशय रूपी अन्ध-कारमें डूबे हुआको आशा प्रदान करने वाले मूलसंघके उपदेशसे।

६ सा / प्र ४६ प्रेमी जो —मूलसंघसे पार्थक्य होते हुए भी यह इतना निन्दनीय नहीं है कि इसे रौद्र परिणामी आदि कहा जा सके। पट्टावलीकारने इसका सम्बन्ध गौतमके साथ जोड़ा है (दे आगे शीर्षक ७)।

विविध गच्छ

आ सुरेन्द्रकीर्ति—काण्डासंघो भुविस्स्यातो जानन्ति मुसुरासुरा। तत्र गच्छाश्च चरवारी राजन्ते विश्रुता सितौ। श्रीनन्दितटसंज्ञाश्च माथुरो मागडाभिध। लाडमागड इत्येते विरयाता क्षितिमण्डले। —पृथिवी पर प्रसिद्ध काण्डा संघको नर सुर तथा असुर सय जानते हैं। इसके चार गच्छपृथिवीपर शोभितसुनेजाते हैं—नन्दितटगच्छ माथुरगच्छ, मागड़ गच्छ और लाडमागड़गच्छ। (इनमेंसे नन्दितट गच्छ तो स्वयं इस संघ का ही अवान्तर नाम है जो नन्दितट ग्राममें उत्पन्न होनेके कारण इसे

प्राप्त हो गया है। माथुर गच्छ जैनभासी माथुर संघके नामसे प्रसिद्ध है जिसका परिचय आगे दिया जानेवाला है। मागड़ देशमें उत्पन्न होनेवाली इसकी एक शाखाका नाम मागड़ गच्छ है और लाडमागड़ देशमें प्रसिद्ध व प्रचारित होनेवाली शाखाका नाम लाडमागड़ गच्छ है। इसकी एक छोटीसी पूर्वावली भी उपलब्ध है जो आगे शीर्षक ७ के अन्तर्गत दी जाने वाली है।

काल निर्णय

यद्यपि संघकी उत्पत्ति लोहाचार्य तृ और कुमारसेन दोनोंसे बताई गई है और मन्यास मरणकी प्रतिज्ञा भंग करनेवाली कथा भी दोनों के साथ निम्न है, तथापि देवसेनाचार्य की कुमारसेन बानी द्वितीय मान्यता अधिक सगत है, क्योंकि लोहाचार्य के साथ इसका सामाजिक सम्बन्ध माननेपर इसके कालकी सर्गति संतुष्टी सम्भव नहीं है। इसलिये भले ही लोहाचार्य के साथ इसका परम्परा सम्बन्ध रहा आवे परन्तु इसका सामाजिक सम्बन्ध कुमारसेनके साथ ही है।

इसकी उत्पत्तिके कालके विषयमें मतभेद है। आ देवसेनके अनुसार वह वि ७५३ है और प्रेमीजो के अनुसार वि ६४६ (६ सा / प्र ३६)। इसका सम्बन्ध इस प्रकार किया जा सकता है कि इस संघ की जो पट्टावली आगे दी जाने वाली है उसमें कुमारसेन नामके दो आचार्योंका उल्लेख है। एकका नाम लाहाचार्यक पश्चात् २६वें नम्बर पर आता है और दूसरेका ४०वें नम्बरपर। बहुत सम्भव है कि पहले का समय वि ७५३ हो और दूसरेका वि ६४६। देवसेनाचार्यकी अपेक्षा इसकी उत्पत्ति कुमारसेन प्रथमके कालमें हुई जबकि प्रद्युम्न चारित्रके जिस प्रवृत्ति पाठके आधार पर प्रेमीजो ने अपना सन्धा प्रारम्भ किया है उसमें कुमारसेन द्वितीयका उल्लेख किया गया है क्योंकि इस नामके पश्चात् हेमचन्द्र आदिके जो नाम प्रशस्तिमें लिखे गए हैं वे सब ज्योंके त्यों इस पट्टावलीमें कुमारसेन द्वितीयके पश्चात् निम्न लिखे गये हैं।

अप्रोक्त माथुर संघ अनुसार भी इस संघका काल वि ७५३ ही सिद्ध होता है, क्योंकि ६ सा ग्रन्थमें उसकी उत्पत्ति इसके २०० वर्ष पश्चात् बताई गई है। इसका काल ६४६ माननेपर वह वि ९१६ प्राप्त होता है जब कि उक्त ग्रन्थकी रचना ही वि ६६० में होना सिद्ध है। उसमें ९१६ की घटनाका उल्लेख कैसे सम्भव हो सकता है।

५ माथुर संघ

जैसाकि पहले कहा गया है यह काण्डा संघकी ही एक शाखा या गच्छ है जो उसके २०० वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुआ है। मथुरा नगरीमें उत्पन्न होनेके कारणही इसका यह नाम पड़ गया है। पीछीका सर्वथा निषेध करनेके कारण यह निष्पिच्छक संघके नामसे प्रसिद्ध है।

६ पा / मू ४०, ४२ तत्तो वुनपतीदे म राण माहुगण गुरुणाहो। नामेण रामसेणा निष्पिच्छं वणिणय तेण ४०। सम्मतपयडिमिच्छत्त वट्ठियं ज जिणिद्विसेसु। अपपरणिट्ठिएसु य ममत्तबुद्धोए परिवसण ४१। एतो मम होउ गुरु अवगो णरिध त्ति चित्तपरियरण। मगगुरुकुलाहि माणो इगरेसु वि भगकरण च ४२। —इस (काण्डा संघ) के २०० वर्ष पश्चात् अर्थात् वि ६५३ में मथुरा नगरीमें माथुरसंघका प्रधान गुरु रामसेन हुआ। उसने निष्पिच्छक रहनेका उपदेश दिया, उसने पीछीका सर्वथा निषेध कर दिया। ४२। उसने अपने और पराये प्रतिष्ठित किये हुये जिनविम्बोंकी ममत्व बुद्धि द्वारा न्यूनाधिक भावसे पूजा बन्दना करने, मेरा यह गुरु है दूसरा नहीं इस प्रकारके भाव रखने, अपने गुरुकुल (संघ) का अभिमान करने और दूसरे गुरुकुलोंका भग्न भग्न करने रूप सम्यक्वच प्रकृति मिथ्यात्वका उपदेश दिया।

६ पा / टी ११/११/१८ निष्पिच्छिका मयूरपिच्छादिव न मन्यन्ते। उक्तं च दाढसीगाथासु—पिच्छेण हु सम्मत्तं करगहिए मोरचमर-डंवर। अप्पा सारइ अप्पा सप्पा अप्पा वि म्मायव्वो १। सेयवरो य

आमचरो म सुटो म सह य अणो म । समभावभावियण्णा लहेय मोचय न मयेहो । ११ - निपिच्छिक मयुर आदिको पिच्छीको नहीं मानते । दादसी गायामें कहा भी है - मोर पख या चमरगायके चान्नी की विछो हाथमें लेनेसे सम्मयवत् नहीं है । आरमाको आरमा ही तागता है, इसनिए आरमा ध्याने योग्य है । १२। खेत वस्त्र पहने हो या दिग्गमन हो, बुद्ध हो या कोई अन्य हो, समभावसे भायी गयी आरमा ही मोक्ष प्राप्त करती है, इसमें सन्देह नहीं है । १२।

द सा १२/४४ प्रेमी जी 'माधुरसधे मूलतोऽपि पिच्छिका नाहता ।
-माधुरसधे पोछीका आदर सर्वथा नहीं किया जाता ।

दे शीर्षक/६/१ में हजिभद्र सुरिकृत पट्टदर्शनका उट्टरण-बन्दना करने बालेको धर्मबुद्धि कहता है । स्त्री मुक्ति, केवल भुक्ति मवस्य मुक्ति नहीं मानता ।

काल निर्णय

जैसा कि ऊपर कहा गया है द सा १० के अनुसार इसकी उत्पत्ति काष्ठसंघमें २०० वर्ष पश्चात् हुई भी तदनुसार इसका काल ७४३ + २०० = वि ६४३ (वि डा १०) प्राप्त होता है । परन्तु इसके प्रसक्तका नाम वहाँ रामसेन बताया गया है जसकि काष्ठसंघकी गुर्वावलीमें वि ६४३के आसपास रामसेन नाम के कोई आचार्य प्राप्त नहीं होते हैं । अमिस्त गति द्वि (वि १०४०-१०५३) कृत सुभाषित रत्नसन्दोहमें अवश्य दम नामका उल्लेख प्राप्त होता है । इसीका लेखक प्रेमोजी अमिस्त गति द्वि को इसका प्रसक्त मानकर काष्ठसंघको वि ६४३ में स्थापित करते हैं, जिसका निराकरण पहले किया जा चुका है ।

६ भिन्नलक संघ-

द मा/मू ४४ ४६ दबिलदेसे बिभे पुक्कनए वीरचदमुणिणाहो । अट्टारसप्तोदे भिन्नयसध पल्लवेदि । ४४। भोगियगच्छे किच्चा पट्टिमण सह य भिन्नकिरियाओ । वण्णाचार विवाई जिणमग सुदट्ट गिएदेदि । ४६। -दक्षिणदेशमें विन्ध्य पर्वतके समीप पुक्कर नामके ग्राममें वीरचन्द नामका मुनिपति विक्रम राज्यकी मृत्युके १८०० वर्ष भीतनेरे पश्चात् भिन्नलकसंघकी चनायेगा । ४४। वह अपना एकअन्नग गच्छ बनाकर जुदा हो प्रतिममण विधि बनायेगा । भिन्न क्रियाओंका उपदेश देगा और वर्णाचारका विवाद खड़ा करेगा । इस तरह वह मच्छे जैनधर्म का नाश करेगा ।

द मा १२/४५ प्रेमीजा-उत्पुक्त गायार्थोंमें ग्रन्थकर्ता (श्रो देवसेनाचार्य) ने जो भविष्य गायत्री की वह टीक प्रतीत नहीं होती क्योंकि वि १८०० का आज २०० वर्ष भीत चुके हैं, परन्तु इस नाममें किसी संघ की उत्पत्ति सुननेमें नहीं आई है । अतः भिन्नलक नामका कोई भी संघ आज तक नहीं हुआ है ।

७ अन्य संघ तथा शाखायें

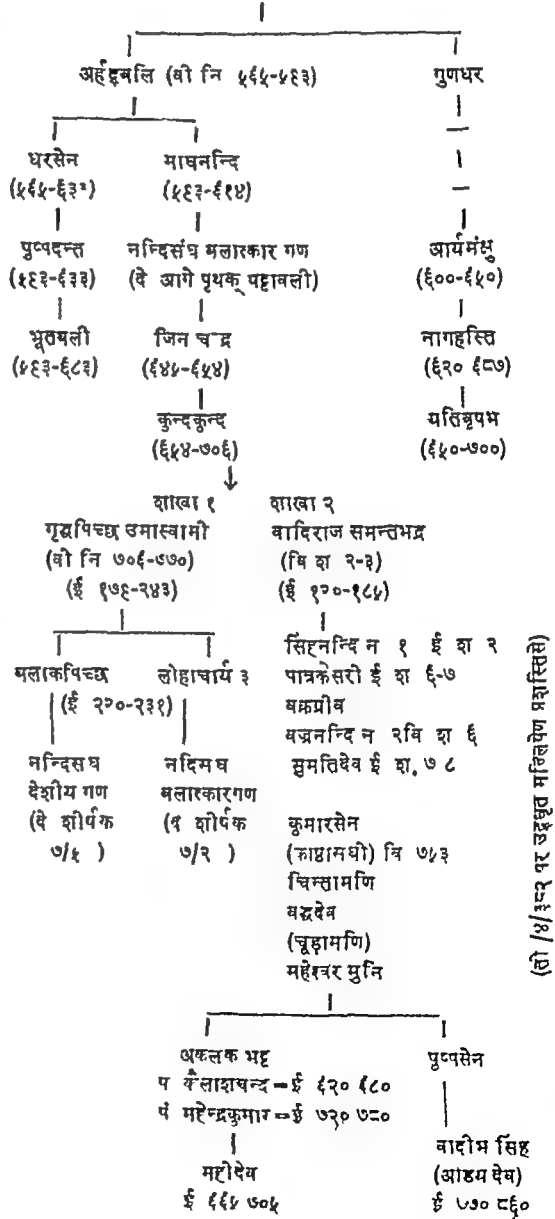
जैसा कि उक्त संघका परिचय देते हुए कहा गया है, प्रत्येक जैनाभासी संघकी अनेकानेक शाखायें या गच्छ हैं जिसमें से कुछ ये हैं - १. भोग्य संघ या पत्नीय संघका अपर नाम है । प्राविद्धसंघके अन्तर्गत चार शाखायें प्रसिद्ध हैं २. नदि अश्वय गच्छ, ३. उरकुल गण, ४. परिगित्त गण और ५. मनिस्तल गच्छ । इसी प्रकार काष्ठसंघमें भी गच्छ हैं ६. नदिदठ गच्छ बास्तवमें काष्ठसंघ की कोई शाखा न होकर नदिदठ ग्राममें उत्पन्न होनेवाली दम संघकी एक शाखा अथवा नाम है । मधुरामे उत्पन्न होनेवाली दम संघकी एक शाखा ७. माधुर गच्छ के नामसे प्रसिद्ध है, जिसका परिचय माधुर संघ के सामने दिया जा चुका है । काष्ठसंघकी दो शाखायें ८. वागङ्ग गच्छ और ९. साङ्गगङ्ग गच्छ के नामसे प्रसिद्ध हैं जिनके ये नाम उस देश में उत्पन्न होनेके कारण पड़ गए हैं ।

७ पट्टावलिये तथा गुर्वावलिये

१. मूलसंघ विभाजन

मूल संघकी पट्टावली पहले दे दी गई (दे शीर्षक ४/२) जिसमें वीर-निर्वाणके ६८३ वर्ष पश्चात् तक की श्रुतधर परम्पराका उल्लेख किया गया और यह भी बताया गया कि आर्हद्भवलीके द्वारा यह मूल संघ अनेक अवान्तर २. धर्म विभाजित हो गया था आगे चलने पर ये अवान्तर संघ भी शाखाओं तथा उपशाखाओंमें विभक्त होते हुए विस्तारको प्राप्त हो गए । इसका यह विभक्तिकरण किस क्रमसे हुआ, यह बात नीचे चित्रित करनेका प्रयास किया गया है ।

अर्गाशधारियोंको परम्परामें
लोहाचार्य २ (बी नि ४१६-४६४)



(तो ४/३२२ पर उद्धृत मल्लिकेण प्रशस्तिसे)

२ नन्दि सध वलात्कारगण—

प्रमाण—दृष्टि १=वि रा स =शक संवत्, दृष्टि २=वि रा स =वी नि ४८८। विधि—भद्रबाहुके कालमें १ वर्षकी वृद्धि करके उसके आगे अगले-अगलेका पट्टकाल जोड़ते जाना तथा साथ-साथ उस पट्टकालमें यथोक्त वृद्धि भी करते जाना—(विशेष दे शीर्षक ५/२)

नाम	प्र दृष्टि		द्वि दृष्टि		
	वि रा स	वी नि	वि	वी नि	विशेषता
१ भद्रबाहु २	४-२६	६०६-६३१	२२	४६२-६१४	मूलसधको
लोहाचार्य २			१	६१४-६१६	तुष्य
२ गुप्तिगुप्त	२६-३६	६३१-६४१	१०	६६५-६७५	नन्दिसधो-
३ माधनन्दि—					रपति सक
प्र आचार्यरव	३६-४०	६४१-६४६	४	६७५-६७६	भट्ट हानेसे
					पहले
द्वि आचार्यरव			३६	६७६-६१४	पुन दोहाके
					बाद
४ जिनचन्द्र	४०-४६	६४६-६४८	६	६१४-६२३	काल वृद्धि
			३१	६२३-६५४	अपर नाम
५ पद्मनन्दि	४६-१०१	६५४-७०६	५२	६५४-७०६	कुन्दकुन्द
					उमास्वामी
६ गृहपिच्छ	१०१-१४२	७०६-७७७	४१	७०६-७७७	का नाम
			२३	७७७-७७७	

नोट—इसमें आगे शक सत्र चटित हो जानेसे द्वि दृष्टिका प्रयोजन समाप्त हो जाता है

७ लोहाचार्य ३ | १४२-१६३ | ७४७-७५८ |

क्रम	नाम	शक स	ई स	वर्ष	विशेष
७	लोहाचार्य ३	१४२-१५३	२२०-२३१	११	
८	यशकीर्ति १	१६३-२११	२३१-२८६	५८	
९	यशोनान्द १	२११-२५८	२८६-३३६	४७	
१०	देवनन्द	२५८-३०८	३३६-३८६	५०	जिनेन्द्रबुद्धि पूज्य-
११	जयनन्द	३०८-३५८	३८६-४३६	५०	पाद
१२	गुणनन्द	३५८-३६६	४३६-४४२	६	
१३	वज्रनन्दन १	३६६-४८६	४४२-४६४	२२	द्रविड़ संघके प्रवर्तक
१४	कुमारनन्द	४८६-४८७	४६४-४०५	४१	
१५	लाकचन्द्र	४८७-४८३	४०५-४३१	२६	
१६	प्रभाचन्द्रन १	४८३-४७८	४३१-४६६	३४	
१७	नेमीचन्द्रन १	४७८-४८७	४६६-४६६	९	
१८	भागुनन्द	४८७-४८८	४६६-४८६	११	
१९	सिंहनन्द २	४८८-४८५	४८६-६०३	१७	
२०	वसुनन्द १	४८५-४८९	६०३-६०६	३	
२१	वीरनन्द १	४८९-४६९	६०६-६३६	३०	
२२	रत्ननन्द	४६९-४८६	६३६-६६३	२४	
२३	माणिक्यनन्द १	४८६-६०९	६६३-६७६	१६	
२४	मेघचन्द्रन १	६०९-६२७	६७६-७०६	२६	
२५	शान्तिकीर्ति	६२७-६४२	७०६-७२०	१५	
२६	मेरुकीर्ति	६४२-६८०	७२०-७५८	३८	

३ नन्दिसध वलात्कारगण की भट्टारक आ नाय

नोट—इन्द्र नन्दिकृत भूतावतारकी उपर्युक्त पट्टावली इस संघकी भद्र पुर या भद्रिलपुर गद्दीसे सम्बन्ध रखती है। इण्डियन एण्टीक्वेरी-

के आधारपर हा नेमिचन्दने इसकी अन्य गद्दियोंसे सम्बन्धित भी पट्टावलिये ती ४/४४१ पर भरी हैं—

सं व नाम	। वि० । वर्ष	सं व नाम	। वि० । वर्ष
२ उज्जयनी गद्दी—		७ ग्वालियर गद्दी	
२७ महाकीर्ति	६८६ १८	६६ हैमकीर्ति	१२०६ ७
२८ विष्णुनन्दि (विरवचन्द्र)	७०४ २२	६६ चारु कीर्ति	१२१६ ७
२९ श्री भूषण	७२६ ६	६७ नेमिनन्दि	१२२३ ७
३० शीतचन्द्र	७३५ १४	६८ नाभिकीर्ति	१२२० २
३१ श्रीनन्दि	७४६ १६	६९ नरेन्द्रकीर्ति	१२३२ ६
३२ देशभूषण	७६६ १०	७० श्रीचन्द्र	१२४१ ७
३३ अनन्तकीर्ति	७७५ १०	७१ पद्मकीर्ति	१२४८ ६
३४ धर्मनन्दि	७८५ २३	७२ वर्द्ध मानकीर्ति	१२५३ ३
३५ विद्यानन्दि	८०८ ३२	७३ अकलकचन्द्र	१२५६ १
३६ रामचन्द्र	८४० १७	७४ ललितकीर्ति	१२५७ ४
३७ रामकीर्ति	८५७ २१	७५ केशवचन्द्र	१२६१ १
३८ अभय या निर्भयचन्द्र	८७८ १६	७६ चारुकीर्ति	१२६२ २
३९ नरचन्द्र	८९७ १६	७७ अभयकीर्ति	१२६४ ०
४० नागचन्द्र	९१६ २३	७८ वसन्तकीर्ति	१२६४ २
४१ नयनन्दि	९३६ ६	८ अजमेर गद्दी	
४२ हरिनन्दि	९४८ २६	७९ प्रख्यातकीर्ति	१२६६ ०
४३ महीचन्द्र	९७४ १६	८० शुभकीर्ति	१२६८ ३
४४ माधचन्द्र (माधवचन्द्र)	९९० २३	८१ धर्मचन्द्र	१२७१ २५
३ चन्देरी गद्दी		८२ रत्नकीर्ति	१२६६ १४
४५ लक्ष्मीचन्द्र	१०२३ १४	८३ प्रभाचन्द्र	१२७० ७५
४६ गुणनन्दि (गुणकीर्ति)	१०३७ ११	९. दिल्ली गद्दी	
४७ गुणचन्द्र	१०४८ १८	८४ पद्मनन्दि	१२८६ ६५
४८ लोकचन्द्र	१०६६ १३	८५ शुभचन्द्र	१२५० ६७
४ भेलसा (भोपाल) गद्दी		८६ जिनचन्द्र	१२७७ ७०
४९ श्रुतकीर्ति	१०७६ १६	१० चितौड़ गद्दी	
५० भावचन्द्र (भातुचन्द्र)	१०९४ २१	८७ प्रभाचन्द्र	१२७१ १०
५१ महीचन्द्र	१११५ २६	८८ धर्मचन्द्र	१२८१ २२
५ कुण्डलपुर (दमोह) गद्दी		८९ ललितकीर्ति	१२८३ १६
५२ मोघचन्द्र (मेघचन्द्र)	११४० ४	९० चन्द्रकीर्ति	१२८२ ४०
६ वारा की गद्दी		९१ देवेन्द्रकीर्ति	१२८२ २६
५३ ब्रह्मनन्दि	११४४ ४	९२ नरेन्द्रकीर्ति	१२९१ ३१
५४ शिवनन्दि	११४८ ७	९३ सुरेन्द्रकीर्ति	१२९२ ११
५५ विशवचन्द्र	११५५ १	९४ जगत्कीर्ति	१२९३ ३७
५६ हृदिनन्दि	११६६ ४	९५ देवेन्द्रकीर्ति	१२७० २२
५७ भावनन्दि	११६० ७	९६ महेन्द्रकीर्ति	१२६२ २३
५८ सूर (स्वर) कीर्ति	११६७ ३	९७ क्षेमेन्द्रकीर्ति	१२९६ ७
५९ विद्याचन्द्र	११७० ६	९८ सुरेन्द्रकीर्ति	१२९२ ३७
६० सूर (राम) चन्द्र	११७६ ८	९९ सुखेन्द्रकीर्ति	१२५६ २०
६१ माघनन्दि	११८४ ४	१०० नयनकीर्ति	१२७६ ४
६२ ज्ञाननन्दि	११८८ ११	१०१ देवेन्द्रकीर्ति	१२८३ ५६
६३ गङ्गकीर्ति	११९६ ७	१०२ महेन्द्रकीर्ति	१२९२ ७
६४ सिंहकीर्ति	१२०६ ३	११ नागौर गद्दी	
		१ रत्नकीर्ति	१२८१ ६
		२ भुवनकीर्ति	१२८६ ४
		३ धर्मकीर्ति	१२९० ११
		४ विशालकीर्ति	१२९१ ७
		५ लक्ष्मीचन्द्र	

सं. व. नाम	वि. । वर्ष	सं. व. नाम	वि. । वर्ष
६ सहस्रकीर्ति		१६ ज्ञानभूषण	श० १८
७ नेमिचन्द्र		१६ चन्द्रकीर्ति	
८ यशकीर्ति		१७ पद्मनन्दी	
९ भुवनकीर्ति		१८ सकलभूषण	
१० श्रीभूषण		१९ सहस्रकीर्ति	
११ धम्मचन्द्र		२० अनन्तकीर्ति	
१२ देवेन्द्रकीर्ति		२१ हर्षकीर्ति	
१३ अमरेन्द्रकीर्ति		२२ विद्याभूषण	
१४ रत्नकीर्ति		२३ हेमकीर्ति*	१९१०

* हेमकीर्ति भट्टारक माघ शु० २ सं० १९१० को पट्टपर बैठे ।

५ नन्दिसद्य देशीयगण

(तीन प्रसिद्ध शाखायें)

प्रमाण—१ ती ४/३/६३ पर उद्धृत नयकीर्ति पट्टावली ।

(ध २/प्र २/H L Jain), (त व/प्र ६७) ।

२ ध २/प्र ११/H L Jain/शिलालेख नं० ६४ में उद्धृत गुणनन्द परम्परा । ३ ती ४/३/७३ पर उद्धृत मेघचन्द्र प्रशस्ति तथा ती ४/३/८७ पर उद्धृत देवकीर्ति प्रशस्ति ।

पद्मनन्द (कुन्दकुन्द) (ई १२७-१७६)

गुदपिच्छ उमास्वामी (ई १७६-२४३)

मलाकपिच्छ (ई २२०-२३१)

गुणनन्द (ई ८४३-८७३)

देवेन्द्रसैद्धान्तिक (ई ८५८-८९८)

कनघौतनन्द (कनकनन्द)
(ई ८६०-८८०)

गुणनन्द शाखा
(प्रमाण नं २)

गोलाचार्य शाखा
(प्रमाण नं ३)

नयकीर्ति शाखा
(प्रमाण नं १)

वसुनन्द
(वि ६५०, ई ८६३)

महेन्द्रकीर्ति
(ई ८७०-८८५)

रविचन्द्र
(सम्पूर्ण चन्द्र)

सर्वचन्द्र
(वि ६७२, ई ८२८)

वीरनन्द
(ई ८८५-९००)

दामनन्द
(वि ९००-९४३)

वीरनन्द १०२५ ६६८ (ई ९००-९२०)

गोलाचार्य १०५० ६६३ (ई ९२०-९३०)

श्रीधरदेव न १ मल्लधारीदेव न १ (ई ९३०-९४०)

मल्लधारी-देवन १ १०७५ १०९८ (ई ९२०-९३०)

श्रीधरदेव न २ माघनन्द १ गुणचन्द्र २ मेघचन्द्र ३ चन्द्रकीर्ति ११०० १०४३ (ई ९३०-९५०)

उदयचन्द्र (पण्डितदेव)

चन्द्रकीर्ति ११०० १०४३

दिवार-नन्द ११२५ १०६८ (वि १११ प्र चरण)

अभयनन्द (ई ९३०-९५०)

शुभचन्द्र-नं २ ११५० १०६३

सिद्धान्तिक-देव ११७२ १११५

आगे वे अगला पृ

टिप्पणी —

१ माघनन्द के सधर्मा—आदिचक्रण पद्मनन्द कौमारदेव, प्रभाचन्द्र तथा नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती । रत्न ३५-३६ । तदनुसार इनका समय ई श १०-११ (वे अगला पृ) ।

२ गुणचन्द्र के शिष्य माणिक्यनन्द और नयकीर्ति योगिन्द्रदेव हैं नयकीर्तिकी समाधि शक १०६६ (ई ११७७) में हुई । तदनुसार इनका समय लगभग ई ११५५ ।

३ मेघचन्द्र के सधर्मा—मल्लधारीदेव, श्रीधर, दामनन्द त्रैविद्य, भानुकीर्ति और मालचन्द्र (रत्न २४-३४) । तदनुसार इनका समय वि श ११ (ई १०९८-१०४८) ।

४ नन्दिसद्य बलात्कारगणकी शुभचन्द्र आगनाय

(गुजरात वीरनगरके भट्टारकों दो प्रसिद्ध गद्दियें) —

प्रमाण—जै १/४६६-४६६, मै २/३७७ ३७८, सी ३/३६६ ।

देवो वोछे—गालियट गद्दीके वसन्तकीर्ति (वि १२६६), शुभकीर्ति (वि १२६८), अजमेर गद्दीके प्रख्यातकीर्ति (वि १२६६), शुभकीर्ति (वि १२६८), धर्मचन्द्र (वि १२७१), रत्नकीर्ति (वि १२६६), प्रभाचन्द्र न ७ वि १३१०-१३८६)

ईठर गद्दी

दिवली गद्दी

सुरतगद्दी

सकलकीर्ति

शुभचन्द्र

देवेन्द्रकीर्ति

(कर्म विपाककेकर्ता) (वि १४५०-१४७७) (वि १४११ में मूर्ति स्थापन) (वि १४६३-१४६६)

जिनचन्द्र

विद्यानन्द

भुवनकीर्ति

जै २/३७७

त्रिभुवनकीर्ति

(वि १४६६-१४७२)

मल्लभूषण

श्रुतसागर

ज्ञानभूषण न० १

(सागवाठ गद्दीके भट्टारक)

श्रुतकीर्ति

(वि १४७२-१४८६)

विजयकीर्ति

जै २/३७८

(वि १४८६-१४९०)

सिंहनन्द

लक्ष्मीचन्द्र

भरतचन्द्र

म० नेमिदत्त

वीरचन्द्र

(वि १४६६-१४७३)

(वि १४८६-१४८८)

शुभचन्द्र (शिक्षागुरु वीरचन्द्र)

ज्ञानभूषण

वि १४७३-१६१३

(वि १४८६-१६१६)

सकलभूषण सुमतिकीर्ति

प्रभाचन्द्र

(वि १६१३-१६३०)

(वि १६१६-१६३७)

गुणकीर्ति

वादिचन्द्र

(वि १६३०-१६५०)

(वि १६३७-१६६४)

वादिभूषण

महीचन्द्र

(वि १६५०-१६७५)

(वि १६६४-१७२२)

मेरुचन्द्र

(वि १७२२-१७३२)

जैनन्द्र सिद्धान्त कोश

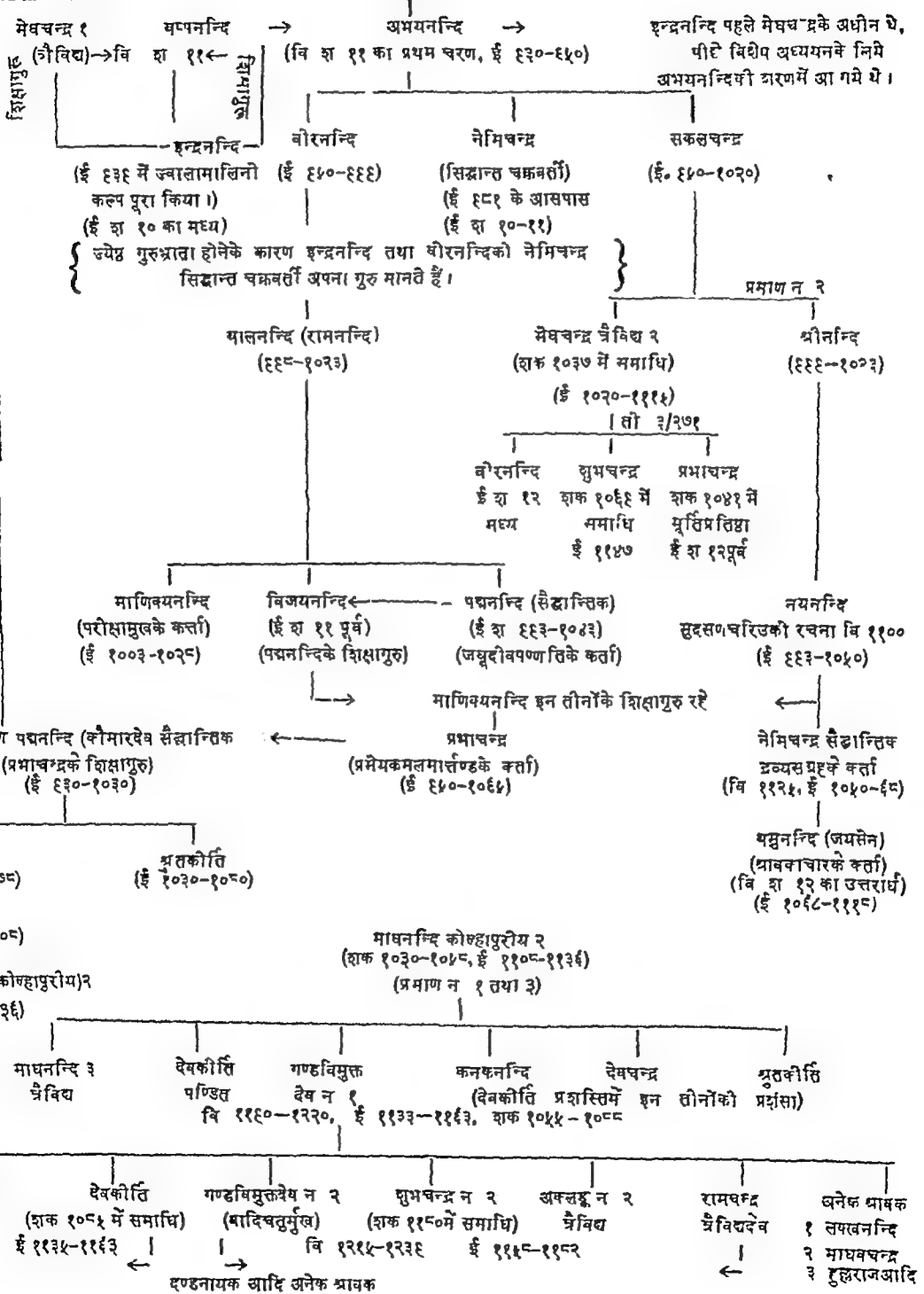
५ क्रमशः—नन्दीसख देशीयगण गोलाचार्य शाखा

प्रमाण — १ ती ४/३०३ पर उद्धृत मेघचन्द्रकी प्रशस्ति विपयक शिलालेख न ४७/ती ४/१८६ पर उद्धृत देवकीर्तिकी प्रशस्ति विपयक शिलालेख न ४०। २ ती ३/२२४ पर उद्धृत वसुनन्दि श्रावकाचारकी अन्तिम प्रशस्ति। ३ (घ २/प्र ४/H. L. Jain), (५ वि./प्र २८/H L Jain)

गोलाचार्यके शिष्य "त्रैकाग्र्य योगी" (ई ६२०-६३०) (दे. इससे पूर्ववर्ती पृष्ठ)

प्रमाण नं १

प्रमाण नं १, ३



जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

(ह पु ६०/२५ ६२) (म पु/प्र ४८ प पत्रालाल) (ती २/४६१)

नं	नाम	बो नि	न	नाम	वि सं	ई स
१	लोहाचार्य	४१५-४६५	१८	दीपसेन		
२	विनयधर	४३०	१९	धरसेन	२	ई श ५
३	गुप्तिभ्रुति	४४०	२०	सुधर्मसेन		
४	गुप्तशुद्धि	४५०	२१	सिंहसेन		
५	शिवगुप्त	४६०	२२	सुनन्दसेन	१	
६	अर्हद्वलि	४६५-४६३	२३	ईशरसेन		
७	मन्दरार्य	४८०	२४	सुनन्दियेन	२	
८	मित्रवीर	४९०	२५	अभयसेन		
९	मलदेव		२६	सिद्धसेन		
१०	मित्रक		२७	अभयसेन		
११	सिंहमल		२८	भीमसेन		
१२	वीरवित		२९	जिनसेन	१	ई श ७ अन्त
१३	पद्मसेन		३०	शान्तिसेन		वि श ७-८ ई श ८ पूर्व
१४	व्यासहस्त		३१	जयसेन	२	७८०-८३० ७२३-७७३
१५	नागहस्ती		३२	अमितसेन		८००-८५० ७४३-७९३
१६	जितदण्ड		३३	कीर्तिपेण		८२०-८७० ७६१-८१३
१७	नन्दियेण		३४	जिनसेन	२	८३५-८८५ ७७८-८२८

६ श स ७०५ में हरिवंश पुराणकी रचना ह पु ६६/१२

६. काण्डासधकी पट्टावली—

गौतमसे लाहाचार्य तकके नामोंका उल्लेख करके पट्टावलीकारने इस सधका माहावत् सम्बन्ध मूलसधके साथ स्थापित किया है, परन्तु आचार्योंका काल निर्देश नहीं किया है। कुमारसेन प्र तथा द्वि का काल पहले निर्धारित किया जा चुका है (दे शोर्पक ६/४)। उन्होंने-क आधार पर अन्य कुछ आचार्योंका काल यहाँ अनुमानसे लिखा गया है जिसे असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता।

(ती ४/३६०-३६६ पर उद्धृत)।

सं	नाम	सं	नाम	सं	नाम
१	गौतमसे लेकर	१६	रामचन्द्र	३६	कमलकीर्ति २
२	लाहाचार्य द्वि	२०	विजयचन्द्र	४०	कुमारसेन २
३	तकके सर्व नाम	२१	यश कीर्ति १	(वि ६५५)	
४	जयसेन	२२	अभयकीर्ति	४१	हेमचन्द्र
५	वीरसेन	२३	महासेन	४२	पद्मनन्द
६	ब्रह्मसेन	२४	कुशकीर्ति	४३	यश कीर्ति २
७	रुद्रसेन	२५	त्रिभुवनचन्द्र	४४	सोमकीर्ति २
८	भद्रमेन	२६	रामसेन	४५	त्रिभुवनकीर्ति
९	कीर्तिसेन	२७	हृपसेन	४६	सहस्रकीर्ति
१०	जयकीर्ति	२८	गुणसेन	४७	महीचन्द्र
११	विश्वकीर्ति	२९	कुमारसेन १	४८	देवेन्द्रकीर्ति
१२	अभयसेन		(वि ७५३)	४९	जगतकीर्ति
१३	भूतमेन	३०	प्रतापसेन	५०	ललितकीर्ति
१४	भावकीर्ति	३१	महावसेन	५१	राजेन्द्रकीर्ति
१५	विश्वचन्द्र	३२	विजयसेन	५२	शुभकीर्ति
१६	अभयचन्द्र	३३	नयसेन	५३	रामसेन
१७	माधवचन्द्र	३४	श्रेयाससेन	(वि १४३१)	
१८	नेमिचन्द्र	३५	अनन्तकीर्ति	५४	रत्नकीर्ति
१९	विनय चन्द्र	३६	कमलकीर्ति १	५५	लक्ष्मणसेन
२०	मालचन्द्र	३७	सोमकीर्ति १	५६	भीमसेन
२१	त्रिभुवनचन्द्र १	३८	हेमकीर्ति	५७	सोमकीर्ति

प्रद्युम्न चारित्रिकी अन्तिम प्रशस्तिके आधारपर प्रेमोजी कुमारसेन २ की इस सधका सस्थापक मानते हैं, और इनका सम्बन्ध पञ्चस्तुप-

सधके साथ घटित करके इन्होंने वि ६५५ में स्थापित करते हैं। साथ ही 'रामसेन' जिनका नाम ऊपर ५३वें नम्बर पर आया है उन्हें वि १४३१ में स्थापित करके माथुर सधका सस्थापक सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं (परन्तु इसका निराकरण शोर्पक ६/४ में किया जा चुका है)। तथापि उनके द्वारा निर्धारित इन दोनों आचार्योंके काल को प्रमाण मानकर अन्य आचार्योंके कालका अनुमान करते हुए प्रद्युम्न चारित्रिकी उक्त प्रशस्तिमें निर्दिष्ट गुर्वावली नीचे दी जाती है।

(प्रद्युम्न चारित्रिकी अन्तिम प्रशस्ति) प्रद्युम्न चारित्रिकी प्रस्तावना/प्रेमीजी), (द सा/प ३६/प्रेमीजी), (ना स १/६४-७०)।

सं	नाम	वि सं	ई स	सं	नाम	वि सं	ई स
४०	कुमारसेन २	६५५	८६८	५३	रामसेन	१४३१	१३७४
४१	हेमचन्द्र १	६८०	६२३	५४	रत्नकीर्ति	१४५६	१३६६
४२	पद्मनन्द २	१००५	६४८	५५	लक्ष्मणसेन	१४८१	१४२४
४३	यश कीर्ति २	१०३०	६७३	५६	भीमसेन	१५०६	१४४६
४४	सोमकीर्ति १	१०५५	६९८	५७	सोमकीर्ति	१५३१	१४७४

नोट—प्रशस्तिमें ४५ से ५२ तकके ८ नाम छोड़कर सं ५३ पर कथित राममेनसे पुन प्रारम्भ करके सोमकीर्ति तकके पाँचों नाम दे दिये गये हैं।

१० लाडवागड गच्छ की गुर्वावली—

यह काठा सधका ही एक अवान्तर गच्छ है। इसकी एक छोटी सी गुर्वावली उपलब्ध है जो नीचे दी जाती है। इसमें केवल आ नरेन्द्र मेनका काल निर्धारित है। अन्यका उल्लेख यहाँ उसीके आधार पर अनुमान करके निख दिया गया है।

(आ जयसेन कृत धम रत्नाकार रत्नकण्ड श्रावकाचारकी अन्तिम प्रशस्ति), (सिद्धान्तसार संग्रह १०/८८-९५ प्रशस्ति), (सिद्धान्तसार संग्रह प्र ८/AN Up)।

वि सं	ई स	वि सं	ई स
१	धर्मसेन ६५५	५	जयसेन ४ १०५५
२	शान्तिसेन ६८०	६	ब्रह्मसेन १०८०
३	गोपसेन १००५	७	वीरसेन ३ ११०५
४	भावसेन १०३०	८	गुणसेन १ ११३१

नरेन्द्रसेन वि ११५५ उदयसेन १

गुणसेन २ जयसेन ६ उदयसेन २
(वि ११८०, ई ११२३)

११. माथुर गच्छ या सधकी गुर्वावली—

(सुभाषित रत्नसन्दीह तथा अमितगति श्रावकाधारकी अन्तिम प्रशस्ति) (द सा/प्र ४०/प्रेमीजी)।

सं	नाम	वि सं	सं	नाम	वि सं
१	रामसेन १	८८०	५	नेमियेण	१०००-१०४०
२	वीरसेन २	९४०-९८०	६	माधवमेन	१०२०-१०६०
३	देवसेन २	९६०-१०००	७	अमितगति २	१०४०-१०८०
४	अमितगति १	९८०-१०२०			

१-प्रेमीजी के अनुसार इन दोनोंके मध्य तीन पीढ़ियोंका अन्तर है।

*-वि १०५० में सुभाषित रत्नसन्दीह पूरा किया।

८ आचार्य समयानुक्रमणिका—

नोट - प्रमाणके लिए दे यह यह नाम

क्र.सं.	समय (ई.पू.)	नाम	गुरु	विशेष	क्र.सं.	समय ई.सन्	नाम	गुरु या विशेषता	प्रधान कृति
१ ईसवी पूर्व —					४२	मध्य पाद	रत्न नन्दि	शुभन दिनेशधर्मा	
१	१५००	अर्जुन (अपरमेघ)	गणित	गणित	४३	"	शुभ नन्दि	यन्त्रदेवके गुरु	
२	५०७-४६५	गीतम (गणधर)	भगवात् महावीर	केतली	४४	"	मत्तपद	शुभाभि	व्यासपात्रासि
३	५१५-४०३	सुधर्माचार्य (लोहार्य १)	"	"	४६	"	कुमार नन्दि		महेश्वरीआम्ने
४	४०३-४६५	जम्बूस्वामी	"	"	४६	"	इलगावधिगन		शिक्षणिकार
५	४६५-४५१	विष्णु	जम्बू स्वामी	हृदयार्थ धारी	४८	१८-४८	गुप्तिगुप्त		
६	४५१-४३५	नन्दिमित्र	विष्णु	"	४९	१८-५६	(अर्द्धनि)	अर्द्धधारी	
७	४३५-४१३	अपराजित	नन्दिमित्र	"	५०	१८-५६	अर्द्धदत्त	नाहाचार्य	"
८	४१३-३९४	गोवर्धन	अपराजित	"	५१	३८-५६	शिवदत्त	"	"
९	३९४-३६५	भद्रबाहु १	गोवर्धन	"	५२	३८-५६	मिनगदल	"	"
१०	३६५-३६०	स्थूलभद्र	भद्रबाहु १	"	५३	३८-५६	श्रीदत्त	"	"
		स्थूलाचार्यरामरथ		श्वेताम्बर सध	५४	३८-५६	अर्द्धनि	"	"
११	३६५-३६५	विशाखाचार्य	"	प्रवर्तक	५५	४८-८०	माधनन्दि	अर्द्धनि	"
१२	३६५-३६५	प्रोष्ठिल	विशाखाचार्य	११ अग १००० धर	५६	४८-८०	धरसेन १	धर्मबाहु	पट्टवन्धन
१३	३६५-३६५	सत्रिय	प्रोष्ठिल	"	५७	४८-८०	पुष्पदन्त	धरसेन	"
१४	३६५-३६५	जयसेन १	सत्रिय	"	५८	४८-८०	भूतमनी	"	"
१५	३६५-३६५	नागसेन	जयसेन १	"	५९	४८-८०	मन्दार्य	अर्द्धनि	"
१६	३६५-३६५	सिद्धार्थ	नागसेन	"	६०	४८-८०	(पुगाट सधो)		
१७	३६५-३६५	धृतिपेण	सिद्धार्थ	"	६१	६३	मित्रवीर	मन्दार्य	
१८	३६५-३६५	विजय	धृतिपेण	"	६२	६३-१२३	हृन्मनेन	हृन्मनेन	
१९	३६५-३६५	बुद्धिलिंग	विजय	"	६३	८०-१५०	दिवानरसेन	हृन्मनेन	
२०	३६५-३६५	गंगदेव	बुद्धिलिंग	"	६४	८०-८८	यशोबाहु	यशोभद्र के शिष्य	
२१	३६५-३६५	धर्मसेन १	गंगदेव	"	६५	८०-८८	(भद्रबाहु द्वि)	नाहाचार्य के गुरु	
२२	३६५-३६५	नमत्र	धर्मसेन	११ अगधारी	६६	७३-१०३	आर्यमंथु		कपायपाहुड
२३	३६५-३६५	जयपाल	नमत्र	"	६७	८०-८८	यशयश		
२४	३६५-३६५	पाण्डु	जयपाल	"	६८	८०-८८	(श्वेताम्बर)		
२५	३६५-३६५	ध्रुवसेन	पाण्डु	"	६९	८०-८८	नागहस्ति	नागहस्ति	कपायपाहुड
२६	३६५-३६५	कस	ध्रुवसेन	"	७०	८०-८८	यतिवृषभ		"
२७	३६५-३६५	सुभद्राचार्य	कस	१० अगधारी	७१	८०-८८			
२८	३६५-३६५	यशोभद्र १	सुभद्राचार्य	८ "	७२	८०-८८			
२९	३६५-३६५	भद्रबाहु २	यशोभद्र	८ "	७३	८०-८८			
३०	३६५-३६५	लोहाचार्य २	भद्रबाहु २	८ "	७४	८०-८८			
२ ईसवी शताब्दी १ —					३ ईसवी शताब्दी २ —				
३१	पूर्वपाद	गुणधर	लोहाचार्य	कपायपाहुड	३१	१२७-१२७	जिनचन्द्र	कुन्दकुन्दके गुरु	
३२	"	चन्द्रनन्दि १	"	"	३२	१२७-१२७	कुन्दकुन्द	जिनचन्द्र	समयसार
३३	"	मलदेव १	चन्द्रनन्दि	"	३३	१२७-१२७	(पञ्चनदि)		
३४	"	जिननन्दि	मलदेव १	"	३४	१२७-१२७	महेश्वर		मूलाचार
३५	"	आर्य सर्व गुप्त	जिननन्दि	"	३५	१२७-१२७	उमास्वामी	कुन्दकुन्द	
३६	"	मित्रनन्दि	सर्वगुप्त	"	३६	१२७-१२७	(गुह्यपिच्छ)		
३७	"	शिवकोटि	मित्रनन्दि	"	३७	१२७-१२७	देवशुद्धिगणी	रव के अनुसार	घे आगम
३८	३३०	विनयधर	पुजाट संघो	भगवती आरा	३८	१२७-१२७	समन्तभद्र		आप्त मीमांसा
३९	१५५	गुप्ति श्रुति	"	"	३९	१२७-१२७	अर्द्धसेन	दिवाकरसेन	
४०	२०-५०	गुप्ति श्रुति	"	"	४०	१२७-१२७	मिहानन्दि १	भानुनदि	
४१	३६५	शिव गुप्त	"	"	४१	१२७-१२७	(योगी द्वि)		कार्तिकेयानुपेक्षा
४ ईसवी शताब्दी ३ —					४२	२२०-२३१	कुमार स्वामी		
					४३	२२०-२३१	बलाक पिच्छ	गुह्यपिच्छ	
					४४	२२०-२३१	लोहाचार्य ३		
					४५	२३१-२५६	यश कीर्ति	लोहाचार्य ३	
					४६	२५६-३३६	यशोनन्दि	यश कीर्ति	
					४७	३३६-३३६	उत्तरार्ध	शामकुण्ड	पद्धति टीका

क्र.सं.	समय ई. सव.	नाम	गुरु या विशेषता	प्रधान कृति	क्र.सं.	समय ई. सव.	नाम	गुरु या विशेषता	प्रधान कृति
५ ईसवी शताब्दी ४ —					१२५	६५०	मलदेव	कनकसेन	
८३	पूर्व पाद	बिमल सूरि		पञ्चमचरित	१२६	६६३-६७६	माणिक्यनन्दि १	रत्ननन्दि	
८४	३३६-३८६	देवनन्दि	यशोनन्दि		१२७	६७५	धर्मसेन		पद्म पुराण
८५	मध्यपाद	श्री दत्त		जल्प निर्णय	१२८	६७७	रविपेण	लक्ष्मणसेन	
८६	३५७	मल्लवादी		द्वादशारनयचक्र	१२९	६७६-७०५	मेघचन्द्र	माणिक्यनन्दि १	
८७	३८६-४३६	जयनन्दि	देवनन्दि		१३०	६९६	कुमारसेन	प्रभाचन्द्र ४ के गुरु	आरम मोमासा विवृति
६ ईसवी शताब्दी ५ —					१३१	अन्तिम पाद	सिद्धसेन गणी	श्वेताम्बराचार्य	न्यायावतार
८८	मध्यपाद	धरसेन २	दीपसेन		१३२	७००	बालचन्द्र	धर्मसेन	
८९	"	पूज्यपाददेवनन्दि		सर्वार्थसिद्धि	१३३	ई.श. ७-८	अर्चट (बौद्ध)		हेतु विन्दु टीका
९०	४३६-४४२	गुणनन्दि	जयनन्दि		१३४	"	सुमतिदेव		सन्मतिस्तर्कटीका
९१	४३७	अपराजित	सुमति आचार्य		१३५	"	जटासिंह नन्दि		बराहचरित
९२	४४२-४६४	वज्रनन्दि	गुणनन्दि		१३६	"	चतुर्मुखदेव	अपभ्रंशकवि	
९३	४४३	शिवशर्म सूरि (घोताम्बर)		कर्म प्रकृति	९ ईसवी शताब्दी ८ —				
९४	४४३	देवाक्षि गणी	दि के अनुसार	घो आगम	१३७	७०५-७२९	शान्तिकीर्ति	मेघचन्द्र	
९५	४५८	सर्वनन्दि		स लोक विभाग	१३८	७१६	चन्द्रनन्दि २		
९६	४६४ ५१५	कुमारनन्दि	वज्रनन्दि		१३९	७२०-७५८	मेरुकीर्ति	शान्तिकीर्ति	
९७	४८०-५२८	हरिभद्र सूरि (घोताम्बर)	वज्रनन्दि (घोताम्बर)	पददर्शन सप्त	१४०	७२०-७८०	पुष्पसेन	अकलङ्क के सधर्मा	
७ ईसवी शताब्दी ६ —					१४१	७२३-७७३	जयसेन २	शान्तिसेन	
९८	पूर्व पाद	वज्रनन्दि	पूज्यपाद	प्रमाण ग्रन्थ	१४२	७२५-८२५	जयराशि (अजैन नैयायिक)		तत्त्वोपप्लव-सिंह
९९	५०५ ५३९	लोक चन्द्र	कुमारनन्दि		१४३	मध्य पाद	बुद्ध स्वामी		वृ. कथा श्लोक संग्रह
१००	५३९-५५६	प्रभाचन्द्र १	लोकचन्द्र		१४४	"	हरिभद्र २ (याकिनीसुत)		तत्त्वार्थाधिगम भाष्यकी टीका
१०१	उत्तरार्ध	योगेन्द्र		परमार्थप्रकाश	१४५	"	श्रीवच द्वि०		जल्प निर्णय
१०२	५६६ ५६६	नेमिचन्द्र १	प्रभाचन्द्र		१४६	"	काणभिक्षु		चरित्रग्रन्थ
१०३	५६६-५८६	भानुनन्दि	नेमि चन्द्र १ (विगम्बर)	सन्मतिस्तर्क	१४७	७३६	अपराजित	विजय	विजयोदया (भग आ टीका पञ्चमचरित)
१०४	५८८	सिद्धसेन दिवा			१४८	७३८-८४०	स्वयम्भू		
१०५	५८३ ६२३	दिवाकरसेन	हृन्द्रसेन		१४९	७४२ ७७३	चन्द्रसेन	पञ्चस्तूपसवी	
१०६	५८६-६१३	सिद्धनन्दि २	भानुनन्दि		१५०	७४३ ७६३	अमितसेन	पुत्राटस वी	
१०७	६१३	जिनभद्र गणी (घोताम्बराचार्य)		विशेषावश्यक-भाष्य	१५१	७४८-८१८	जिनसेन १		हरिवंश पुराण
१०८	ई.श. ७सेपूर्व	शोलासुखितेवर		चूलामणि	१५२	७५७-८१५	चारित्र्यभूषण	विद्यानन्दिके गुरु	प्रामाण्य ग्रंथ
१०९	अन्तिम पाद	सिंह सूरि (घो)	जिनसेन प्र	नयचक्र वृत्ति	१५३	७६२	अनन्तकीर्ति		
११०	"	शान्तिपेण	समन्तभद्र	पात्रकेसरी स्तोत्र	१५४	७६२	उत्तरार्ध		
१११	श. ६७	पात्रकेसरी		निमित्त शास्त्र	१५५	७६३-८१३	आविर्भूतकरण (नैयायिक)		
११२	"	श्रुति पुत्र			१५६	७६७ ७८८	कोटिपेण	जयसेन २	
८ ईसवी शताब्दी ७ —					१५७	७७०-८२७	आर्यनन्दि	पञ्चस्तूपसवी	
११३	पूर्व पाद	सिंहसूरि (घो)	सिद्धसेन गणी के दादा गुरु	द्वादशार नयचक्र की वृत्ति	१५८	७७०-८६०	जयसेन ३	आर्यनन्दि	
११४	६०३-६१६	वसुनन्दि १	सिद्धनन्दि		१५९	७७५-८४०	बादोर्भसिंह	पुष्पसेन	सप्तचूड़ामणि
११५	६०३-६४३	अर्हरसेन	दिवाकरसेन		१६०	७८३	विद्यानन्दि १		आप्त परीक्षा
११६	६०६-६३६	वीरनन्दि १	वसुनन्दि		१६१	७८३	उद्योतन सूरि		कुवलय माला
११७	६१८	मानसुख		भक्तमर स्तोत्र	१६२	७८७	प्रभाचन्द्र ३	सोरणाचार्य	
११८	६२०-६८०	अकलङ्क भट्ट		राजवार्तिक	१६३	७९०	एलाचार्य		
११९	६२३-६६३	लक्ष्मणसेन	अर्हरसेन		१६४	७९०-८२७	वीरसेन स्वामी	एलाचार्य	धवला
१२०	६२५	कनकसेन	मलदेवके गुरु		१६५	ई.श. ८-९	धनरुजय	दशरथ	विपापहार
१२१	६२५-६५०	धर्मकीर्ति (बौद्ध)			१६६	"	कुमारनन्दि	चन्द्रनन्दि	वादन्याय
१२२	६३६-६६३	रत्ननदि	वीरनन्दि		१६७	"	महासेन		मुलोचना कथा
१२३	मध्य पाद	तिरुवक्तेश्वर		जीवनचिन्तामणि	१६८	"	श्रीपाल	वीरसेन स्वामी	
१२४	उत्तरार्ध	प्रभाचन्द्र २		तत्त्वार्थसूत्र द्वि	१६९	"	श्रीधर १		गणितसार संग्रह

क्र.सं.	समय ई. सव.	नाम	गुरु या विशेषता	प्रधान कृति	क्र.सं.	समय ई. सव.	नाम	गुरु या विशेषता	प्रधान कृति
१० ईसवी शताब्दी ९ —					१२१	६३६-६६६	गो.चन्द्रशिवदा	शैलशाला में	जगन्नाथसिंह
१६६	पूर्वपाद	परमेश्वरी	अपभ्रंश कवि	मत्तमर्थ संग्रह	१२२	६३६	कृतमन्त्र		मत्तमसुख
१७०	८००-८२०	महावीराचार्य		मनिसार संग्रह	१२३	६३६	शिवसिंह	मन्त्राचार्य	भूषणसिंह
१७१	८१४	शाकटाया-	माधवीमगधी	शाकटात्मन-	१२४	६३६	नारायण		मन्त्राचार्य
		पाण्यनीति		शाकटात्मन-	१२५	६३६-६००	मिहिरात्मनः	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१७२	८१४	तृपयुग	कृतमन्त्र	मन्त्राचार्य	१२६	६३६-६६६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१७३	८१८-८७८	जिनसेन ३	वीरसेन रायगो	आदिपुराण	१२७	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१७४	८२०-८७०	दशरथ	"	"	१२८	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१७५	"	पद्मसेन	"	"	१२९	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१७६	"	देवसेन १	"	"	१३०	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१७७	८२८	उपमादिराज	श्रीनन्द	वृत्तान्तकार	१३१	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१७८	मध्य पाद	मन्त्राचार्य (शैव)		वृत्तान्तकार	१३२	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१७९	८४३-८७३	गुणनन्द	मन्त्राचार्य	वृत्तान्तकार	१३३	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१८०	उत्तराध	अनन्तकान्ति			१३४	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१८१	"	क्रिष्णन स्वयम्भू	कवि स्वयम्भू	वृत्तान्तकार	१३५	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१८२	८५८-८६८	देशेन्द्र मैत्राचार्य	गुणनन्द		१३६	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१८३	८८३-९२३	वीरसेन २	रामसेन		१३७	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१८४	८८३-९२३	मन्त्राचार्य	देशेन्द्र मैत्राचार्य		१३८	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१८५	"	यमुनान्द २			१३९	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१८६	८६८	कुमारसेन	काश्याचार्य		१४०	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१८७	८६८	धर्मसेन २	साङ्गणिक		१४१	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१८८	८६८	गुणभद्र १	जिनसेन ३	उत्तरपुराण	१४२	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१८९	अन्तिम पाद	धनपाल		मन्त्राचार्य	१४३	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१९०	ई. स. ९-१०	चन्द्रविमलसिंह		मन्त्राचार्य	१४४	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
११ ईसवी शताब्दी १० —					१४५	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१९१	९००-९२०	गोलाचार्य	मन्त्राचार्य	उत्तरपुराण (धन)	१४६	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१९२	९००-९४०	लोकसेन	गुणभद्र १		१४७	६३६-६३६	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१९३	९०३-९४३	देवसेन १	वीरसेन २		१४८	९०३-९०३	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१९४	९०५	मिहिराचार्य	दुर्गा स्वामी	उपनिषद् भवन	१४९	९०३-९०३	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१९५	९०५-९३५	अमृतचन्द्र	प्रपञ्चकथा		१५०	९०३-९०३	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१९६	९०६	विमलदेव	देवसेनके गुरु	आरम्भकाल	१५१	९०३-९०३	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१९७	९०६	मन्त्राचार्य			१५२	९०३-९०३	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१९८	९१८-९४३	नेमिदेव	माद विजेता	कोई काव्यग्रन्थ	१५३	९०३-९०३	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
१९९	९१८-९४८	सर्वचन्द्र	यमुनान्द		१५४	९०३-९०३	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
२००	९२०-९३०	शैलशालायोगी	गोलाचार्य		१५५	९०३-९०३	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
२०१	९२३	शान्तिसेन	धर्मसेन		१५६	९०३-९०३	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
२०२	९२३	रैमचन्द्र	कुमारसेन		१५७	९०३-९०३	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
२०३	९२३	विजयसेन	नागसेनके गुरु		१५८	९०३-९०३	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
२०४	"	अभयदेव (शैव)			१५९	९०३-९०३	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
२०५	"	हरिचन्द्र	एक कवि	बाद महार्णव	१६०	९०३-९०३	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
२०६	"	माधवचन्द्र	नेमिचन्द्र	धर्मशालामुद्र	१६१	९०३-९०३	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
२०७	९२३-९६३	अमृतगति १	सिद्धान्त चक्रवर्ती	प्रिलोकसार टीका	१६२	९०३-९०३	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
२०८	९३०-९५०	अभयनन्द	देवसेन सूरि	योगसार प्राभूत	१६३	९०३-९०३	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
२०९	९३०-९०२३	पद्मनन्द	वीरनन्दके गुरु	जैनेन्द्रमहावृत्ति	१६४	९०३-९०३	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
२१०	९३१	(आविष्करण)	शैलशालायोगी		१६५	९०३-९०३	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
२११	९३३-९६६	हरिवेण	भरतसेन	वृहत्कथाकोश	१६६	९०३-९०३	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य	मन्त्राचार्य
			विमलदेव	दर्शनसार					

क्र.सं.	समय ई.स.	नाम	गुरु या विशेषता	प्रधान कृति	क्र.सं.	समय ई.स.	नाम	गुरु या विशेषता	प्रधान कृति
२४७	६६८	क्षेमकीर्ति १	यश कीर्ति		३०५	"	देवचन्द्र १	वासवचन्द्र	पासणाह चरित
२४८	६६८	जयसेन ४	भावसेन		३०६	"	ब्रह्मदेव		द्रव्यसंग्रह टीका
२४९	६६८-१०२३	बालनन्दि	वीरनन्दि		३०७	"	नरेन्द्रसेन १	गुणसेन	सिद्धिसारसंग्रह
२५०	६६८-१०२३	श्रीनन्दि	सकलचन्द्र		३०८	१०६३-११२३	शुभचन्द्र २	दिवाकरनन्दि	
२५१	अन्तिमपाद	दण्डा	श्रीपालके पुत्र	पञ्चसंग्रहअनुवाद	३०९	१०६३-११२५	बृचिराज	शुभचन्द्र	
२५२	१०००	क्षेमचन्द्र		शृ. कथामञ्जरी	३१०	११००	नागचन्द्र (पम्प)	कन्नड़ कवि	महिम्नाथ पुराण
२५३	ई.श. १०-११	हृन्मनन्दि २		छेदपिण्ड	३११	ई.श. ११-१२	सुभद्राचार्य	अपभ्रंश कवि	वैराग्यसार
१२	ईसवी शताब्दी ११ —				३१२	"	जयसेन ५	सोमसेन	कुन्दकुन्दप्रगी टीका
२५४	१००३-१०२८	माणिक्यनन्दि २	रामनन्दि	परीक्षामुख	३१३	"	जिनचन्द्र ३		सिद्धान्तसार
२५५	१००३-१०६८	शुभचन्द्र १		ज्ञानार्णव	३१४	"	वसुनन्दि ३	नेमिचन्द्र	भावकाचार
२५६	पूर्वार्ध	विजयनन्दि	बालनन्दि						
२५७	१०१०-१०६५	वादिगण २	मति सागर	एकीभाव स्तोत्र	१३	ईसवी शताब्दी १२ —			
२५८	१०१५-१०४५	सिद्धान्तिक देव	शुभचन्द्र २		३१५	पूर्व पाद	बालचन्द्र २	नयतीर्ति	कुन्दकुन्दप्रगी टीका
२५९	१०१६	वीर कवि		जङ्घसामि चरित	३१६	"	वक्रग्रीवाचार्य	द्रविड सदी	
२६०	१०२०-१११०	मेघचन्द्र त्रैविद्य	सकलचन्द्र		३१७	"	विमलकीर्ति	रामकीर्ति	सोखमङ्ग विहाण
२६१	१०२३	ब्रह्मसेन	जयसेन		३१८	११०२	चन्द्रप्रभ		प्रमेय रत्नकोश
२६२	१०२३-१०६६	उदयसेन	गुणसेन		३१९	११०३	बादोभ सिंह	बादिराज द्वि	स्थावाङ्गसिद्धि
२६३	१०२३-१०७८	कुल भूषण	पद्मनन्दि आविष्ट	ज्ञानसार	३२०	११०८-१११६	माधनदि(कोष्ठा)	कुल चन्द्र	
२६४	१०२६	पद्मसिंह			३२१	१११५	हरिभद्र सुरि	जिनदेव उपा	
२६५	१०३०-१०८०	शुभकीर्ति	पद्मनन्दि आविष्ट	चन्द्रपह चरित	३२२	१११५-१२२१	गाविन्दाचार्य		कर्मरत्न वृत्ति
२६६	मध्य पाद	यश कीर्ति	अपभ्रंश कवि	नवांग वृत्ति	३२३	१११६	प्रभाचन्द्र ६	मेघचन्द्र त्रैविद्य	
२६७	१०३१-१०७८	अभयदेव (१वे)		रिष्ट समुच्चय	३२४	११२०-११४७	शुभचन्द्र ३		
२६८	१०३२	दुर्गादेव	सयमदेव		३२५	११२०	राजादिरथ	कन्नड़ गणितज्ञ	व्यवहार गणित
२६९	१०४३-१०७३	चन्द्रकीर्ति	मल्लधारीदेव १		३२६	११२३	जयसेन ६	नरेन्द्रसेन	
२७०	१०४३	नयनन्दि	नेमिचन्द्रके गुरु		३२७	११२३	गुणसेन २	नरेन्द्रसेन	
२७१	१०४६	कीर्ति वर्मा	आयुर्वेद विद्वान्	जाततिलक	३२८	११२५	नयसेन		धर्ममृत
२७२	१०४७	महेन्द्र देव	नागसेनके गुरु		३२९	मध्य पाद	योगचन्द्र		दोहासार
२७३	१०४७	मल्लिपेण	जिनसेन	महापुराण	३३०	"	अनन्तवीर्य लघु		प्रमेयरत्नमाला
२७४	१०४७	नागमेन	महेन्द्रदेव		३३१	"	वीरनन्दि ४		आचारसार
२७५	१०४८	वीरसेन ३	ब्रह्मसेन		३३२	"	श्रीधर ४		पासणाह चरित
२७६	उत्तरार्ध	रामसेन	नागसेन		३३३	"	पद्मप्रभ	वीर नान्द तथा	नियमसार टीका
२७७	"	धवलचार्य		हरिवंश			मल्लधारी देव	श्रीधर १	
२७८	"	मलयगिरि(१वे)	१वे टीकाकार		३३४	"	सिंह	भ अमृतचन्द्र	प्रद्युम्नचरित
२७९	"	पद्मनन्दि ५	वीरनन्दि	पञ्चविंशतिका	३३५	"	मल्लिपेण		सज्जनचित्त
२८०	१०६२-१०८१	सोमदेव २		कथा सरित सागर			(मल्लधारीदेव)		वर्णलभ
२८१	१०६६	श्रीचन्द्र	वीरचन्द्र	पुराणसार संग्रह	३३६	११३२	गुणधरकीर्ति	कुवलयचन्द्र	अध्यात्म त
२८२	१०६६	नेमिचन्द्र ३	नयनन्दि						टीका
२८३	१०६८	सैद्धान्तिक देव							
२८४	१०६८-१०८८	दिवाकरनन्दि	चन्द्रकीर्ति		३३७	११३३-११६३	देवचन्द्र	माधनदि(कोष्ठा)	
२८५	१०६८-१११८	वसुनन्दि तु		प्रतिष्ठापाठ	३३८	"	कनकनन्दि	"	
२८६	१०७२-१०८३	नेमिचन्द्र(१वे)	आग्रदेव	प्रवचनसारोद्धार	३३९	"	गण्ड विमुक्त देव १	"	
२८७	१०७४	गुणसेन १	वीरसेन ३		३४०	"	शेवकीर्ति ३	"	
२८८	१०७५-१११०	जिनवर्णलभ गणो	जिनेश्वर सुरि	पठशोति	३४१	"	माधनदि त्रैविद्य ३	"	
२८९	१०७५-११२५	वामदेव १		नेमिनिर्वाणकाव्य	३४२	"	शुभकीर्ति	"	
२९०	१०७५-११३५	देवसेन ३	विमलसेन गणधर	सुलोयणा चरित	३४३	११४०	कर्ण पार्य	कन्नड़ कवि	नेमिनाथ पुराण
२९१	१०७७	पद्मकीर्ति (भ)	जिनसेन	पासणाह चरित	३४४	११४२-११७३	श्रीधर (विमुक्त)	अपभ्रंश कवि	मविसयत्त चरित
२९२	१०८८-११७३	हेमचन्द्र (१वे)		शब्दानुशासन	३४५	११४५	नागवर्म २	कन्नड़ कवि	काव्यालोचन
२९३	१०८८	शुभकीर्ति	अगल के गुरु	चन्द्रप्रभ चरित	३४६	११५०	उदयादित्य	"	उदयदित्याल वार
२९४	१०८८	अगल कवि	शुभकीर्ति						
२९५	अन्तिम पाद	वृत्ति विनास	कन्नड़ कवि	धर्मपरीक्षा					

क्र.सं.	समय ई. सन्	नाम	गुरु या विशेषता	प्रधान कृति	क्र.सं.	समय ई. सन्	नाम	गुरु या विशेषता	प्रधान कृति
३४८	११५०	सोमनाथ	वैद्यक विद्वान्	कल्याण कारक	३६३	मध्य पाद	गमचन्द्रमुमुक्षु	वेदायनन्दि	पुण्यासवकथा
३४९	११५०	केशवराज	कन्नड़ कवि	शब्दमणिदर्पण	३६४	१२३०-१२५८	द्युमचन्द्र ई	गण्डविमुक्तदेव	
३५०	११५०-११६६	उदयचन्द्र	अपभ्रंश कवि	सुअधरहमोषहा	३६५	१२३५	कमलभग	कन्नड़ कवि	शान्तीश्वर पु
३५१	"	मालचन्द्र	उदय चन्द्र	निद्रमुपलसत्तमी	३६६	१२४५-१२७०	देवेन्द्रगुर्गि (श्वे)	जगन्नाथगुर्गि	कर्मस्तय
३५२	११५१	श्रीधर ई	अपभ्रंश कवि	सुकुमान चरित	३६७	१२४६-१२७६	अभयचन्द्र २	श्रुतमुनिदे गुरु	गो सा /न द-
३५३	उत्तरार्ध	विनयचन्द्र	"	कल्याणक रास					प्रभापिनी टीका
३५४	११५५-११६३	देवकीर्ति ४	गण्डविमुक्तदेव १		३६८	१२४०-१२६०	अजितसेन		श्रुतार गजरी
३५५	११५८-११८२	गण्डविमुक्त वेमर	"		३६९	उत्तरार्ध	विजय वर्णी	विजयकीर्ति	श्रंगारार्णव
३५६	"	अकलंक २	"		३७०	ई. श. १३	धरयो	मुनितेन	विश्वनाचन
३५७	"	भानुकीर्ति	"		३७१	उत्तरार्ध	अर्द्धदास	५ आशाधर	पुरदेव चम्पू
३५८	"	रामचन्द्र त्रैविद्य	"		३७२	१२४३-१२८८	प्रभाचन्द्र ८	रत्नकार्तिके गुरु	
३५९	११६१-११८१	हस्तिमल	सेनस घो	विक्रान्त कौरव	३७३	१२४६	प्रभाचन्द्र ९	श्रुतमुनिदे गुरु	
३६०	११६३	द्युमचन्द्र ४	देवेन्द्रकीर्ति		३७४	१२६०	माधवादि ४	द्युमचन्द्र	शागसार समु
३६१	११७०	ओष्ठय	कन्नड़ कवि	कव्यर वाक्य	३७५	१२७५	पृथुदत्त	कन्नड़ कवि	गमायण
३६२	११७०-११८५	जय	"	यशोधर चरित्र	३७६	१२६२	मणिलेख (श्वे)		स्याह्लादमजरी
३६३	११७३-१२४३	५ आशाधर	वं महावीर	अनगरधममृत	३७७	१२६६	जिनचन्द्र ५	भास्कर के गुरु	तथार्थमृच्छकृ
३६४	११८५-१२४३	प्रभाचन्द्र ६	मालचन्द्र भट्टारक	क्रियाकलाप	३७८	१२६६	भास्करनन्दि	जिनचन्द्र ५	ध्यानस्तव
३६५	११८७-११९०	अमरकीर्ति गणी	चन्द्रकीर्ति	गेमिणाहचरित	३७९	१२६८-१२७३	धर्मभूषण १	द्युमकीर्ति	
३६६	११८९	अमल	कन्नड़ कवि	चन्द्रप्रभु पुराण	३८०	अन्तिम पाद	हृन्मनन्दि		नन्दि संहिता
३६७	११९३	माघनन्दि ४	कुमुदचन्द्रके गुरु	शाखसार समुच्चय	३८१	"	नरसेन	अपभ्रंश कवि	सिद्धचक्र कथा
३६८	११९३-१२६०	माघनन्दि ४ (योगीन्द्र)		कर्म प्रकृति	३८२	"	नागदेव		मदन पराजय
३६९	अन्तिम पाद	नेमिचन्द्र सैद्धा ४		वर्द्धमान पुराण	३८३	"	नरमण देव	अपभ्रंश कवि	गेमिणाह चरित
३७०	"	आचचण	कन्नड़ कवि	सिद्धोत्तसारटोका	३८४	"	वाग्भट्ट द्वि		छन्दाशुशासन
३७१	"	प्रभाचन्द्र ७		अपभ्रंश कवि	३८५	"	श्रुतमुनि	अभयचन्द्र सं	परमागमसार
३७२	"	लखण	यशदेवाचार्य	संगीतसमयसार	३८६	ई. श. १३-१४	वामदेव पंडित	विनयचन्द्र	भाव-ग्रह
३७३	"	पार्ष्वदेव	आयुर्वेदि विद्वान्	पालग्रहचिकित्सा	१५ ईसवी शताब्दी १४ —				
३७४	१२००	देवेन्द्र मुनि	कन्नड़ कवि	हरिवंश पुराण	३८७	१३०५	पद्मनन्दि लघु ८		गत्याचार
३७५	१२००	धन्यु वर्मा		नरविगल	३८८	१३११	वानचन्द्र सै	अभयचन्द्र	द्रव्यमप्रटोका
३७६	१२००	द्युमचन्द्र ५		आराधनासार	३८९	पूर्वार्ध	हरिदेव	अपभ्रंश कवि	मयणपराजय
३७७	ई. श. १२-१३	रवि चन्द्र		समुच्चय	३९०	१३२८-१३६३	पद्मनन्दि ९	प्रभाचन्द्र	भावनापद्धति
३७८	"	वामन मुनि	तमिल कवि	मेमन्वर पुराण	३९१	मध्यपाद	श्रीधर ७		श्रुतावतार
१४ ईसवी शताब्दी १३ —					३९२	"	जयसिंहक सुति		चार कर्म ग्रन्थ
३७९	पूर्वपाद	गुणभद्र २	नेमिसेन	धन्यकुमारचरित	३९३	१३४८-१३७३	धर्मभूषण २	अमरकीर्ति	
३८०	१२०५	पार्ष्व पण्डित	कन्नड़ कवि	पार्ष्वनाथ पुराण	३९४	१३४०-१३६०	मुनिभद्र		वरागचरितकाव्य
३८१	१२१३	माधवचन्द्र		क्षणसार	३९५	उत्तरार्ध	वर्द्धमान भट्टा		
		त्रैविद्य			३९६	१३४८-१४१८	धर्मभूषण ३	वर्द्धमान मुनि	गो सा कर्णाटक
३८२	१२१३-१२४६	लाखू	अपभ्रंश कवि	जिणयत्तकहा	३९७	१३४६	केशव वर्णी	अभयचन्द्र सै	वृत्ति
३८३	१२२५	गुणवर्ण	कन्नड़ कवि	पुष्पदन्त पुराण	३९८	१३८४	श्रुतकीर्ति	प्रभाचन्द्र	
३८४	१२२८	जगन्नाथसूरि (श्वे)	देलवाड़ा मन्दिर के निर्माता	गेमिणाह चरित	३९९	१०८५	मधुर	कन्नड़ कवि	धर्मनाथ पुराण
३८५	१२३०	दामोदर	अपभ्रंश कवि	स्याह्लाद भूषण	४००	१०८५-१३६२	विनोदो लाल	भाषा कवि	भक्तामर कथा
३८६	मध्य पाद	अभयचन्द्र १		जगन्नाथचरित	४०१	१३६३-१४४२	देवेन्द्रकीर्ति भ		जन्मस्वामीचरित
३८७	"	विनयचन्द्र	अपभ्रंश कवि	उपसमाप्ता	४०२	१३६३-१४६८	जिनदास १	सकलकीर्ति	माह्यविल चरित
३८८	"	यश कीर्ति ३		जगन्नाथचरित	४०३	१३६९	धनपाल २	अपभ्रंश कवि	
३८९	१२३४	ललितकीर्ति	यश कीर्ति ३	धर्मशर्माम्बुदय	४०४	१३६९	रत्नकीर्ति २	रामसेन	
३९०	१२३६	यश कीर्ति ४	ललितकीर्ति	अर्धनेमि पुराण	४०५	अन्तिम पाद	हरिचन्द्र २	अपभ्रंश कवि	अणस्थिमिकहा
३९१	मध्य पाद	नेमिचन्द्र ५	कन्नड़ कवि	प्रमाप्रमेय	४०६	"	जगिहमले	"	अनुपेहारास
३९२	"	भावसेनत्रैविद्य			४०७	"	देवनन्दि	"	रोहिणी विहाण
					४०८	ई. श. १४-१५	नेमिचन्द्र ६	"	रविवय कथा
					४०९	१४००-१४७६	रक्षु	"	महेशचरित

क्र.सं.	समय ई.सं.	नाम	गुरु या विशेषता	प्रधान कृति	क्र.सं.	समय ई.सं.	नाम	गुरु या विशेषता	प्रधान कृति
१६ ईसवी शताब्दी १५ -					४८८	१५००-१५४९	विद्यानन्द ३	विशालकीर्ति	नेमिनाथ रास
४४०	पूर्वपाद	जयमित्रहल	अपभ्रंश कवि	मशिलगाह कव्य	४८९	१५०१	जिनसेन भट्टा, ४	यश कीर्ति	गो सा टीका
४४१	१४०४-१४२५	पद्मनाभ	गुणकीर्ति भट्टा	यशोधर चरित्र	४९०	पूर्वार्ध	नेमिचन्द्र ७	ज्ञानभूषण	सम्यक्वर कौ
४४२	१४०६-१४२२	सकलकीर्ति		मूलाचार प्रदीप	४९१	१५०८	मङ्गलम	कन्नड कवि	
४४३	पूर्वपाद	ब्रह्म साधारण	नरेन्द्र कीर्ति	अणुपेहा	४९२	१५१३-१५२८	जिनसेन भट्टा ५	सोमसेन	
४४४	१४२२	असवाल	अपभ्रंश कवि	पासगाह चरित्र	४९३	१५१४-२६	प्रभाचन्द्र १९	जिनचन्द्र भट्टा	
४४५	१४२४	लक्ष्मण सेन २	रत्नकीर्ति		४९४	१५१४-२६	रत्न कीर्ति ३	नलितकीर्ति	भद्रमाह चरित
४४६	१४२४	भास्कर	कन्नड कवि	जीवन्धर चरित	४९५	१५१६-४६	शुभचन्द्र ४	विजयकीर्ति	करकण्डु चरित
४४७	१४२५	लक्ष्मीचन्द्र	अपभ्रंश कवि	सावयधम्म दोहा	४९६	१५१८-२८	नेमिदत्त	मल्लिभूषण	नेमिनाथ पुराण
४४८	१४२६-१४४०	यश कीर्ति ६	गुणकीर्ति	जिगरत्ति कहा	४९७	१५१८	शान्तिकीर्ति	कन्नड कवि	शान्तिनाथ पुराण
४४९	मध्यपाद	सिंहसूरि (रवे)		लोक विभाग	४९८	१५२४-४६	माणिक्यराज	अपभ्रंश कवि	नागकुमार चरित्र
४५०	"	गुणभद्र ३	अपभ्रंश कवि	पक्कडवयकहा	४९९	१५३०	ज्ञानभूषण २	वीरचन्द्र	कर्मप्रकृति टीका
४५१	"	सोमदेव २	प्रतिष्ठाचार्य	आसवत्रिभंगी को	५००	१५३४	महोन्दु	अपभ्रंश कवि	संतिगाह चरित्र
४५२	"	विमलदास	अनन्तदेव	लाटी भापाटीका	५०१	१५३८	सूचिराज	"	म जुवम्
४५३	"	पं यागदेव	अपभ्रंश कवि		५०२	१५३८	सालिवाहन	हिन्दी कवि	हरिवंशका
४५४	१४३२	प्रभाचन्द्र १०	धर्मचन्द्र	भारस अणुवेक्ता	५०३	१५४२	वर्द्धमान द्वि	देवेन्द्र कीर्ति	अनुवाद
४५५	१४३६	मलयकीर्ति	धर्मकीर्ति	सर्वार्थ रत्न	५०४	१५४३-६३	पं जिनराज	आयुर्वेद विद्वाद्	दशभस्त्रयादि
४५६	१४३७	शुभकीर्ति	देवकीर्ति	मूलाचारप्रशस्ति	५०५	१५४४	चारुकीर्ति प		होली रेणुका
४५७	१४३८	कल्याणकीर्ति	कन्नड कवि	संतिगाहचरित्र	५०६	१५४४	दोहडैटय	कन्नड कवि	प्रमेयरत्नालंकार
४५८	१४४२-१४८१	विद्यानन्द ७	देवेन्द्रकीर्ति	ज्ञानचन्द्रामृत्युदय	५०७	१५४५	मगराज	"	खगेन्द्रमणि
४५९	१४४२-१४८३	भानुकीर्ति भट्ट	सकलकीर्ति	सुदर्शनचरित	५०८	१५४५	साधव	"	रसरत्नाकर
४६०	१४४३-१४५८	तेजपाल	अपभ्रंश कवि	जीवन्धर रास	५०९	१५४५	योगदेव	"	सर्वार्थसूत्र टी
४६१	१४४८	विजय सिंह		वर गचरित्र	५१०	१५४५	रत्नाकरवर्णी	"	भरतेश वैभव
४६२	१४४८-१५१५	तारण स्वामी		अजितपुराण	५११	१५४५-७३	सकल भूषण	शुभचन्द्र भट्टा	उपदेश रत्नमाला
४६३	१४४९	भीमसेन	लक्ष्मणसेन	उपदेशशुद्धसार	५१२	१५४६-७३	सुमतिकीर्ति	"	कर्मकाण्ड
४६४	१४५०-१५१४	जिनचन्द्र भट्टा	शुभचन्द्र		५१३	१५४६-७३	गुणचन्द्र	यश कीर्ति	मौनवत्त कथा
४६५	१४५०-१५१४	ब्रह्म रामोदर	जिनचन्द्र भट्टा	सिद्धान्तसार	५१४	१५४६-७३	क्षेम चन्द्र		कार्तिकेयानुप्रेक्षा
४६६	१४५४	धर्मधर		तिरिपालचरित्र	५१५	१५४६-७३			टीका
४६७	१४६१-१४८३	सोमकीर्ति भट्टा	भीमसेन	नागकुमारचरित्र	५१६	१५४७	पं पद्म सुन्दर	पं पद्मसेन	भविष्यदत्तचरित्र
४६८	१४६२-१४८४	मेधावी	जिनचन्द्र भट्टा	समव्यसन कथा	५१७	१५४७	यश कीर्ति ७	क्षेमकीर्ति	
४६९	१४६८-१४८८	ज्ञानभूषण १	भुवनकीर्ति	धर्मसंग्रहश्रावका	५१८	१५४८-१६०६	रायमल	अनन्तकीर्ति	भविष्यदत्त च
४७०	१४८१-१४८६	मल्लिभूषण	विद्यानन्द २	सर्वज्ञानतर गिनी	५१९	१५४८-१६०६	प्रभाचन्द्र १२	ज्ञानभूषण	
४७१	१४८१-१४८६	श्रुतसागर	"	सत्त्वार्थवृत्ति	५२०	१५४८-१६०६	बाहुमणि	कन्नड कवि	नागकुमार च
४७२	१४८५	वोम्मरस	कन्नड कवि	सन्तकुमार चरित	५२१	१५४८-१६०६	गुणकीर्ति	सुमतिकीर्ति	
४७३	१४८५-१५१३	विजयकीर्ति	ज्ञानभूषण १		५२२	१५४८-१६०६	शिरोमणि दास	" गगदाम	धर्मसार
४७४	१४८६-१५१८	सिंहनन्द	मल्लिभूषण		५२३	१५४८-१६०६	पं राजमल	रामचन्द्र भट्टा	
४७५	१४८६-१५१८	लक्ष्मीचन्द्र	"	जयसामि वेलि	५२४	१५४८-१६०६	श्रीभूषण	विद्याभूषण	द्वादशांग पूजा
४७६	१४८६-१५१८	वीरचन्द्र	लक्ष्मीचन्द्र		५२५	१५४८-१६०६	माणिक्यचन्द्र	अपभ्रंश कवि	सत्त्ववसणकहा
४७७	१४८६-१५१८	श्रीचन्द्र	श्रुतसागर		५२६	१५४८-१६०६	पद्मनाभ	यश कीर्ति	राम पुराण
४७८	अन्तिम पाद	महानन्द	वीरचन्द्र	पाहुड़ दोहा	५२७	१५४८-१६०६	क्षेमकीर्ति	प्रभाचन्द्र	
४७९	"	श्रुतकीर्ति	भुवनकीर्ति	हरिवंश पुराण	५२८	१५४८-१६०६	वादिचन्द्र		पवनदूत
४८०	"	दीडुय्य	पण्डित मुनि	भुजमल चरितम्	५२९	१५४८-१६०६	देवेन्द्र कीर्ति	ललितकीर्ति	कथाकाश
४८१	"	जीवन्धर	यश कीर्ति	गुणस्थान वेलि	५३०	१५४८-१६०६	धर्मकीर्ति	देवकीर्ति	पद्मपुराण
४८२	१५००	श्रीधर	कन्नड विद्वान्	वैद्यामृत	५३१	१५४८-१६०६	विद्यानन्द ४	विशालकीर्ति	
४८३	१५००	कोटेश्वर	कन्नड कवि	जीवन्धरपठपादि	५३२	१५४८-१६०६	शाहट्टाकुर	गुणकीर्ति	संतिगाह चरित्र
१७ ईसवी शताब्दी १६ -					५३३	१५४८-१६०६	वादि भूषण		
४८४	पूर्वपाद	अशू	अपभ्रंश कवि	अणुवेक्ता	५३४	१५४८-१६०६	सुन्दरदास		
४८५	"	सिंहनन्द	नमस्कार मन्त्र	माहात्म्य	५३५	१५४८-१६०६	चन्द्र कीर्ति	श्रीभूषण	पार्वनाथ पुराण
					५३६	१५४८-१६०६	सोमसेन	गुणभद्र	शब्दरत्न प्रदीप

क्रमांक	समय ई सन्	नाम	गुरु या विशेषता	प्रधान कृति	क्रमांक	समय ई सन्	नाम	गुरु या विशेषता	प्रधान कृति
१८. ईसवी शताब्दी १७ —									
४३३	१६०४	अकलक	कन्नड़ कवि	शब्दानुशासन	४७७	१७२१-२६	देवेन्द्रकीर्ति	धर्मचन्द्र	विपापहार पूजा
४३४	१६०५	चन्द्रभ	"	गोमटेश्वरचरित	४७८	१७२१-४०	जिनदास	भुवनकीर्ति	हरिवंश पुराण
४३५	१६०२	ज्ञानकीर्ति	वादि भूषण	यशोधरचरित स	४७९	१७२२	दीपचन्द शाह	आध्यात्मिक	चिह्निलास
४३६	१६००-१६६५	महोचन्द्र	प्रभाचन्द्र		४८०	१७२४-४४	जिनसागर	देवेन्द्रकीर्ति	जिन कथा
४३७	पूर्वपाद	ज्ञानसागर	श्री भूषण	अगर भावनी	४८१	१७२४-३२	भूषणदास	हिन्दी कवि	जिन शतक
४३८	पूर्वार्ध	कुंवरपाल	हिन्दी कवि		४८२	१७२८	लक्ष्मीचन्द्र	मराठी कवि	मेधमाला
४३९	"	रूपचन्द पाण्डेय	"	गीत वरमार्थी	४८३	१७३०-३३	नरेन्द्रमेन २	छत्र सेन	प्रमाणप्रमेय
४४०	१६१०	रायमल	सकलचन्द्र	भक्तामर कथा	४८४	१७४१	प टोडरमल	प्रकाण्ड विद्वान	गोमटसार टीका
४४१	१६१६	अभयकीर्ति	अजितकीर्ति	अनन्तवत्त कथा	४८५	१७४१	रूपचन्द पाण्डेय		समयसार नाटक
४४२	१६१७	जयसागर १	रत्न भूषण	तीर्थ जयमाला	४८६	१७४१	रायमल ३	टोडरमल	टीका
४४३	१६१७	कृष्णदास	रत्नकीर्ति	मुनिमुक्त पुराण	४८७	१७६१	शिवलाल	विद्वान्	चर्चामग्न
४४४	१६१३-१६४३	प यशसीदास	हिन्दी कवि	समयसार नाटक	४८८	१७६७-७८	नथमल विलाल	हिन्दी कवि	जिनगुणविलास
४४५	१६२३-१६४३	भगवत्तोदास	महोचन्द्र	दृष्टाणारास	४८९	१७६८	जनार्दन	मराठी कवि	श्रेणिकचारित्र
४४६	१६२८	चुर्भुज	जयपुरसे लाहौर		४९०	१७७०-१८४०	पञ्चालाल	सदासुखके गुरु	राजवातिक वच
४४७	१६३१	केशवमेन		कर्णमुक्त पुराण	४९१	१७७३-१८३३	मुद्रा लाल	"	
४४८	मध्यपाद	पासकीर्ति	भट्टा धर्मचन्द २	सुदर्शन चरित	४९२	१७८०	गुमानोराम	टोडरमलके पुत्र	
४४९		जगजोवनदास	हिन्दी कवि	भगवत्तोदास	४९३	१७८८	रघु	मराठी कवि	सोठ माहात्म्य
४५०	"	जयसागर २	महोचन्द्र	का सम्पादन	४९४	१७६५-१८६७	सदासुखदाम	पञ्चालाल	रत्नकण्ठ वचन
४५१	"	हेमराज पाण्डेय	रूपचन्द पाण्डे	सीता हरण	४९५	१७६८-१८६६	दौलतराम २	हिन्दी कवि	छहठाला
४५२	"	प हीरा चन्द	प्रवचनसार वच	प्रवचनसार वच	४९६	अन्तिम पाद	नयनसुख	"	
४५३	१६३८-१६८८	यशविजय (रवे)	लाभ विजय	अध्यात्मसार	४९७	१८००-३०	मनरग लाल	"	सर्पि पूजा
४५४	१६४०-१६४६	प जगन्नाथ	नरेन्द्र कीर्ति	सुखनिधान	४९८	१८००-४८	वृन्दावन	"	चौबीसी पूजा
४५५	१६४३-१७०३	जोधराज गान्धिका	हिन्दी कवि	श्रीतर्कर चारित्र	४९९	१८०१-३२	महिलासागर	मराठी कवि	रत्नत्रय पूजा
४५६	१६४६	खड्ग सेन	"	त्रिलोक दर्पण	५००	१८०४-३०	जयचन्द छावड़ा	हिन्दी भाष्यकार	समयसार वच
४५७	१६४६	अरुणमणि	सुधराधय	अजित पुराण	५०१	१८०८	प जगन्नाथ	हिन्दी कवि	धर्मरत्नोद्योत
४५८	१६६५	साताजी	मराठी कवि	सुगन्ध दशमी	५०२	१८१२	रत्नकीर्ति	मराठी कवि	वपदेश सिद्धान्त
४५९	१६६५-१६७५	मेरुचन्द्र	महोचन्द्र		५०३	१८१३	दया सागर		रत्नमाला
४६०	१६७६-१७२३	यानत राम	हिन्दी कवि	रूपक यात्रा	५०४	१८१४-३५	बुधजन	हिन्दी कवि	हनुमान पुराण
४६१	१६८७-१७१६	सुरेन्द्र कीर्ति	भट्ट भूषण	पद्मावती पूजा	५०५	१८१७	विशालकीर्ति	मराठी कवि	तत्त्वार्थबोध
४६२	१६८०-१६८३	गंगा दाम	धर्मचन्द्र भट्टा	श्रुतस्कन्ध पूजा	५०६	मध्यपाद	परमेश्वरी सहाय	हिन्दी कवि	धर्मपरीक्षा
४६३	१६८६	महोचन्द्र	मराठी कवि	आदि पुराण	५०७	१८२१	जिनमेन ई	मराठी कवि	अर्थ प्रकाशिका
४६४	१६८७	पुलाकी दास	हिन्दी कवि	पाण्डव पुराण	५०८	१८२८	नलितकीर्ति	जगत्कीर्ति	जवृत्तामीपुराण
४६५	"	अत पाद	समन्तभद्र २	द्रौपदी हरण	५०९	१८५०	ठकापा	मराठी कवि	अनेकों कथायें
४६६	"	मैया भगवतीदास	हिन्दी कवि	ब्रह्म विलास	५१०	१८५६	प भागचन्द	हिन्दी कवि	पाण्डव पुराण
४६७	ई श १७-१८	सन्तसात	"	सिद्धचक्र विधान	५११	१८५६	छत्रपति		प्रमाण परीक्षा
४६८	"	महेन्द्र सेन	विजयकीर्ति		५१२	१८६७	मा विहारिलाल	विद्वान्	वचनिका
४६९	१७०३-१७३४	सुरेन्द्र भूषण	देवेन्द्र भूषण	शुषिपचमी कथा	५१३	१८७८-१८४८	म शीतल	आध्यात्मिक	द्वादशावतुपेक्षा
४७०	१७०५	गोवर्द्धन दास	पानीपतवासी प	शकुन विचार	५१४	१८८६-१८६६	प्रसाद	विद्वान्	वृहत्संज्ञ
४७१	पूर्वार्ध	खुशालचन्द	भट्टा लक्ष्मीचन्द्र	वत्त कथाकोप	५१५	१८८६-१८६६	आ शान्ति	वर्तमान	शब्दार्णव
४७२	१७१६-१७२८	गाला	हिन्दी कवि	क्रियाकोश	५१६	१८२४-१८६७	वीर सागर	संघाधिपति	समयसार की
४७३	१७१७	सहवा	मराठी कवि	नेमिनाथ पुराण	५१७	१८३३	गजधर लाल	शान्तिसागर	भाषा टीका
४७४	१७१८	ज्ञान चन्द		पञ्चास्ति टी	५१८	१८४६-६६	शिवसागर		
४७५	१७१८	मनोहरलाल	हिन्दी कवि	धर्मपरीक्षा	५१९	१८६६-८२	धर्मसागर	वीरसागर	पंचविहिका
४७६	१७२०-७२	प दौलतराम	"	क्रियाकोश	५२०	१८६६-८२	शिवसागर	शिवसागर	

१९ ईसवी शताब्दी १८ —

४७७	१७३४-१७३४	सुरेन्द्र भूषण	देवेन्द्र भूषण	शुषिपचमी कथा	५२१	१८७८-१८४८	म शीतल	आध्यात्मिक	समयसार की
४७८	१७०५	गोवर्द्धन दास	पानीपतवासी प	शकुन विचार	५२२	१८७८-१८४८	प्रसाद	विद्वान्	भाषा टीका
४७९	पूर्वार्ध	खुशालचन्द	भट्टा लक्ष्मीचन्द्र	वत्त कथाकोप	५२३	१८८६-१८६६	आ शान्ति	वर्तमान	
४८०	१७१६-१७२८	गाला	हिन्दी कवि	क्रियाकोश	५२४	१८२४-१८६७	वीर सागर	संघाधिपति	
४८१	१७१७	सहवा	मराठी कवि	नेमिनाथ पुराण	५२५	१८३३	गजधर लाल	शान्तिसागर	
४८२	१७१८	ज्ञान चन्द		पञ्चास्ति टी	५२६	१८४६-६६	शिवसागर		
४८३	१७१८	मनोहरलाल	हिन्दी कवि	धर्मपरीक्षा	५२७	१८६६-८२	धर्मसागर	वीरसागर	
४८४	१७२०-७२	प दौलतराम	"	क्रियाकोश	५२८	१८६६-८२	शिवसागर	शिवसागर	

१० पौराणिक राज्यवश

१ सामान्य वश

म प्र १६/२५८-२६४ भ० ऋषभदेवने हरि, अकम्पन, कश्यप और सोमप्रभ नामक महाक्षत्रियोंको बुलाकर उनको महामण्डलेश्वर बनाया। तदनन्तर सोमप्रभ राजा भगवात्से कुरुराज नाम पाकर कुरुवंशका शिरोमणि हुआ हरि भगवात्से हरिकान्त नाम पाकर हरिवंशको अलंकृत करने लगा, क्योंकि वह हरि पराक्रममें इन्द्र अथवा सिंहके समान पराक्रमी था। अकम्पन भी भगवात्से श्रीधर नाम प्राप्त कर नाथवंशका नायक हुआ। कश्यप भगवात्से मधवा नाम प्राप्त कर उग्रवंशका मुख्य हुआ। उस समय भगवात्से मनुष्योंको इष्टका रससंग्रह करनेका उपदेश दिया था, इसलिए जगतके लोग उन्हें इक्ष्वाकु कहने लगे।

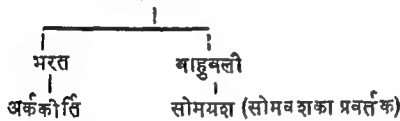
२ इक्ष्वाकुवंश

सर्व प्रथम भगवात् आदिनाथसे यह वंश प्रारम्भ हुआ। पीछे इसकी दो शाखाएँ हो गयीं एक सूर्यवंश दूसरी चन्द्रवंश। (ह पु १३/३३) सूर्यवंशकी शाखा भरतचक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिसे प्रारम्भ हुई, क्योंकि अर्क नाम सूर्यका है। (प पु ४/४) इस सूर्यवंशका नाम ही सर्वत्र इक्ष्वाकु वंश प्रसिद्ध है। (प प्र ४/२६१) चन्द्रवंशकी शाखा बाहुमलीके पुत्र सोमयशसे प्रारम्भ हुई (ह पु १३/१६)। इसीका नाम सोमवंश भी है, क्योंकि सोम और चन्द्र एकार्थवाची हैं (प पु ४/१२) और भी देखें सामान्य राज्य वंश।

इसकी वंशावली निम्न प्रकार है—

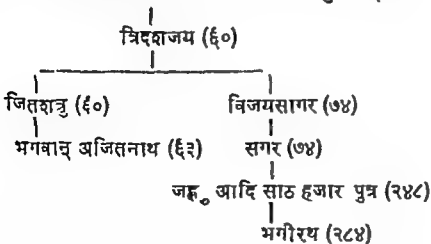
(ह पु १३/१-१६) (प पु ४/४-६)

भगवात् आदिनाथ



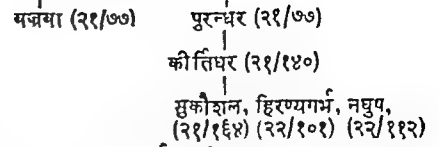
स्मितयश, भल, सुबल, महाबल, अतिमल, अमृतमल, सुमद्रसागर, भद्र, रवितेज, शशि, प्रभूततेज, तेजस्वी, तपस्, प्रतापवान, अनिरार्य, सुवीर्य उदितपराक्रम, महेन्द्र विक्रम, सूर्य इन्द्र-दशमन, महेन्द्रजित, प्रभु विभु, अविघ्नस—बोतभी, वृषभध्वज, गुरुडाङ्ग, मृगाङ्ग आदि अनेक राजा अपने-अपने पुत्रोंको राज्य देकर मुक्ति गये। इस प्रकार (१४०००००) चौदह लाख राजा धराधर इस वंशसे मोक्ष गये, तत्पश्चात् एक अहमिन्द्र पदको प्राप्त हुआ, फिर अस्सी राजा मोक्षको गये, परन्तु इनके बीचमें एक-एक राजा इन्द्र पदको प्राप्त होता रहा।

प पु ६/१०० न भगवात् आदिनाथका युगसमाप्त होनेपर जय धार्मिक क्रियाओंमें शिथिलता आने लगी, तब अनेकों राजाओंके व्यतीत होनेपर अयोध्या नगरीमें एक धर्माधीश नामक राजा हुआ (६७-६६)



प पु/सग/१००० मुनिमुवतनाथ भगवात्का अन्तराल शुरू होनेपर अयोध्या नामक विशाल नगरीमें विजय नामक बड़ा राजा हुआ। (२१/७३-७४) इसके भी महापुत्रात् 'सुरेन्द्रमन्यु' नामक पुत्र हुआ। (२१/७५)

सुरेन्द्रमन्यु



सौदास, सिंहरथ, बलरथ, चतुर्मुख, हेमन्थ, शतरथ, मान्वाता, (२२/१३१) (२२/१४६)

वीरसेन, प्रतिमन्यु, दीप्ति, कमलमन्यु प्रताप रविमन्यु मसन्ततिलक कुवेरदत्त, कीर्तिमात्, कुन्धुभक्ति, शरभरथ, द्विरदरथ सिंहदमन हिरण्यकशिपु, पुनस्थल, ककुरथ, रघु,। (अनुमानत ये ही रघुवंशके प्रवर्तक हों अतः दे —रघुवंश। २२/१६३-१६८)।

३ उग्रवंश

ह पु १७/३३ सर्वप्रथम इक्ष्वाकुवंश उत्पन्न हुआ। उससे सूर्यवंश व चन्द्रवंशकी तथा उसी समय कुरुवंश और उग्रवंशकी उत्पत्ति हुई। ह पु २२/६१-६३ जिस समय भगवात् आदिनाथ भरतको राज्य देकर दीक्षित हुए उसी समय चार हजार भाजवंशीय तथा उग्रवंशीय आदि राजा भी तपमें रियत हुए। पीछे चलकर तप भ्रष्ट हो गये। उन भ्रष्ट राजाओंमेंसे नमि विनमि हैं। दे —'सामान्य राज्यवश'। नोट—इस प्रकार इस वंशका केवल नामोश्लेष मात्र मिलता है।

४ ऋषिवंश

प पु ६/२ "चन्द्रवंश (सोमवंश) को ही ऋषिवंश कहा है। विशेष दे —'सोमवंश'

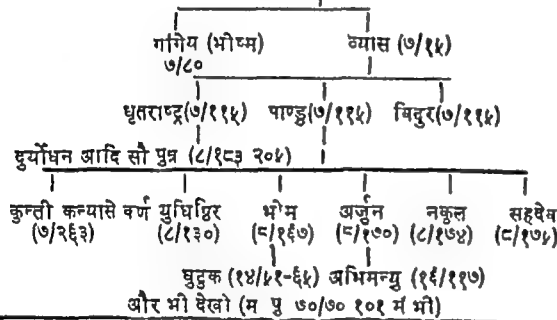
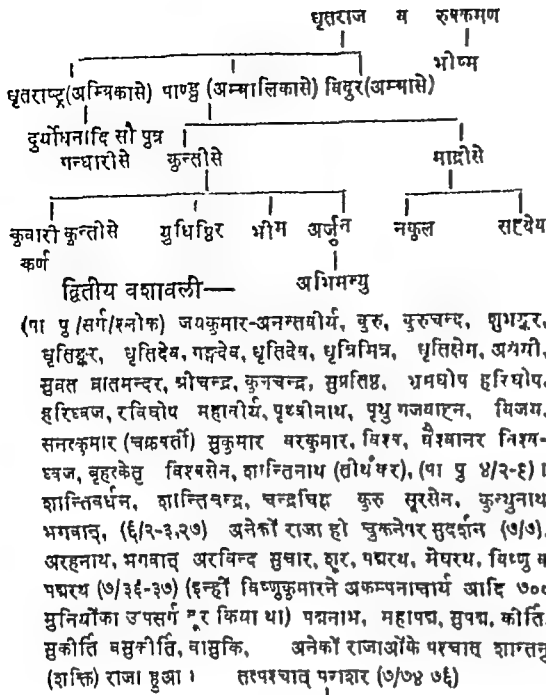
५ कुरुवंश

म पु २०/१११ "ऋषभ भगवात्को हस्तिनापुरमें सर्वप्रथम आहारदान करके दान तीर्थको प्रवृत्ति करने वाला राजा श्रेयात् कुरुवंशी थे। अतः उनकी सर्व सन्तति भी कुरुवंशीय है। और भी दे — सामान्य राज्यवंश'

नोट—हरिवंश पुराण व महापुराण दोनोंमें इसकी वंशावली दी गयी है। पर दानोंमें अन्तर है। इसलिए दोनोंकी वंशावली दी जाती है।

प्रथम वंशावली—(ह पु ४४/६-३८)

श्रेयात् व सोमप्रभ, जयकुमार, कुरु, कुरुचन्द्र, धुमकर, धृतिकर, करोड़ों राजाओं पश्चात् तथा अनेक सागर काल व्यतीत होनेपर, धृतिदेव, धृतिकर, गरुदेव, धृतिमित्र, धृतिसेम सुव्रत, प्रात, मन्दर, श्रीचन्द्र, सुप्रतिष्ठ आदि करोड़ों राजा धृतपद्म धृतेन्द्र, धृतवीर्य, प्रतिष्ठित आदि सैकड़ों राजा धृतिदृष्टि, धृतिकर प्रीतिकर, आदि हुए भ्रमरघाप, हरिघाप हरिध्वज, सूर्यबोध, सुतेजस, पृथु, इभवाहन आदि राजा हुए विजय महाराज, जयराज इनके पश्चात् इसी वंशमें चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार, सुकुमार, वरकुमार, विश्व, वैश्वानर, विश्वकेतु बृहध्वज तदनन्तर विश्वसेन, १६ वें तीर्थकर शान्तिनाथ, इनके पश्चात् नारायण, नरहरि, प्रशान्ति, शान्तिवर्धन, शान्तिचन्द्र, शशाङ्काङ्ग, कुरु इसी वंशमें सूर्य भगवात्-कुन्धनाथ (ये तीर्थकर व चक्रवर्ती थे) तदनन्तर अनेक राजाओंके पश्चात् सुदर्शन अरहनाथ (सप्तम चक्रवर्ती व १८ वें तीर्थकर) सुचारु, चारु, चारुरूप, चारुपद्म, अनेक राजाओंके पश्चात् पद्ममाल, सुभौम, पद्मरथ, महापद्म (चक्रवर्ती), विष्णु व पद्म सुपद्म, पद्मदेव, कुलकीर्ति कीर्ति, सुकीर्ति, कीर्ति, वसुकीर्ति, वासुकि, वासव, वसु, सुवसु, श्री-सु, वसुन्धर वसुस्थ, इन्द्रवीर्य, चित्रविचित्र, वीर्य, विचित्र, विचित्रवीर्य, चित्ररथ, महारथ, धृतरथ, वृषानन्त, वृषध्वज, श्रीव्रत वसुधर्मा, धृत धारण, महासर, प्रतिसर, शर पराशर, शरद्वीप, द्वीप, द्वीपायन सुशान्ति, शान्तिप्रभ, शान्तिपेण शान्तनु, धृतव्यास, धृतधर्मा, धृतोदय, धृततेज, धृतयश, धृतमान, धृत,



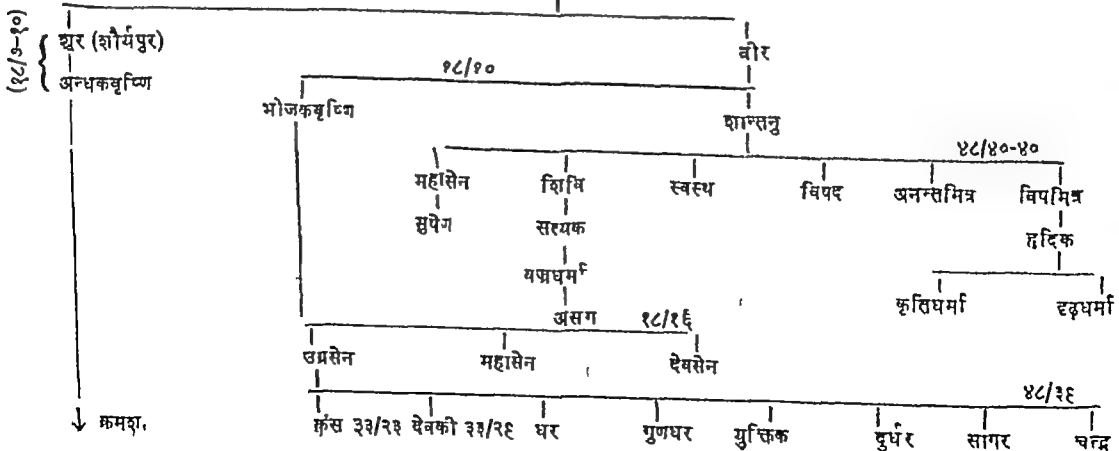
१० यादव वंश

ह पु १८/६-६ हरिवंशमें उपपन्न यदु राजासे यादववंशकी उत्पत्ति हुई। देखो 'हरिवंश'।

ययु (१८/६-६)

रि पु/सर्ग/१२०

नरपति (१८/७)



जनेन्द्र सिद्धान्त कोश

६ चन्द्रवंश

प पु ४/१२ 'सोम नाम चन्द्रमाया' सो मासमाद्यो ही चन्द्रवंश कहते हैं। (ह पु १३/१६) विदोष दे—'गोमास'।

७ नायकवंश

पा पु २/१६१ १६६ 'इमका केचन नाम निर्देश मान ही उपन्यस्य है। दे.—'माताम्य राज्य पदा'।

८ भोजकवंश

ह पु २२/४१-४३ जय आदिनाथ भगवान् भरतेश्वरको राज्य देकर द्रोहिष्ठ हुए थे, तब उनके साथ उग्रमंश्रीय, भोजकमंश्रीय आदि बार हजार राजा भी तबमें स्थित हुए थे। परन्तु पीछे तब ग्रह हुआ गये। उग्रमेंने नमी व विनमि दो भाई भी थे।

ह पु ६४/७२, १११ 'कृष्णने नेमिनाथके लिये जिन कुमारी राजीमद्रीकी याचनाकी थी वह भोजकवंशियों की थी। नाट-रम बंदाका विस्तार उपन्यस्य नहीं है।

९ मातङ्गवंश

ह पु २२/११०-११३ 'राजा विनमिके पुत्रमिं जा मातङ्ग नामका पुत्र था, उसीसे मातङ्गवंशकी उत्पत्ति हुई। सर्व प्रथम राजा विनमि का पुत्र मातङ्ग हुआ। उसके मृत पुत्र पीत्र थे, जो अपनी अपनी क्रियाओंके अनुसार स्वर्ग व मोक्षको प्राप्त हुए। इमके मृत दिन परचात् इसी वंशमें एक प्रहसित राजा हुआ, उग्रका पुत्र सिंहदत्त था। नोट—इस वंशका अधिक विस्तार उपन्यस्य नहीं है।

१ मातङ्ग विद्याधरोंके चिन्ह—

ह पु २६/१६-२२ मातङ्ग जाति विद्याधरोंके भी सात उत्तर भेद हैं, जिनके चिन्ह व नाम निम्न हैं—मातङ्ग—नीले वस्त्र व नीली माताओं सहित। रमशान निलग—धूमि धूमरति तथा रमशानकी लक्ष्मियोंने निर्मित आभूषणोंसे युक्त। पाण्डुक—नील वैदूर्य मणिने रमश नीले वस्त्रोंसे युक्त। कालरनपाको—काले मृग वस्त्र व चमड़ेने निर्मित वस्त्र व मालाओंसे युक्त। पार्वतये—हरे रंगके वस्त्रोंसे तथा नाना प्रकारकी माला व मुकुटोंसे युक्त। वशानग—बौमके पत्रोंकी मालाओंसे युक्त। वार्मयूनि—सर्प चिन्हके आभूषणसे युक्त।

अन्धकवृष्णि

समुद्रविजय	अक्षोभ्य	स्तिमितसागर	हिमवान	विजय	अचल	धारण	पूग्न	अभिचन्द्र	वसुदेव	कुन्ती	मद्री
महानेमि सत्यनेमि दृढनेमि अरिष्टनेमि सुनेमि जयसेन महोजय सुफल्गु तेजसेन मय मेघ शिवनन्द गौरम आदि	उद्भव अम्भोध्रि जलधि वामदेव दृढव्रत	ऊर्मिमान वसुमान बोर पाताल स्थिर	विद्युराध भाष्यवान् गन्धमादन	निष्कम्प अकम्प भलि युगन्त केशरिन अञ्जम्बुष	महेन्द्र मलय सह्य गिरि शैल नग अचल	वासुकि धनञ्जय कर्कोटक शतमुख विश्वरूप	दुष्टूर दुर्मुख दुर्दश दुर्धर	चन्द्र शशाङ्क चन्द्राम शशिन् सोम अमृतप्रभ	(क) नि पाण्डु राजासे विवाही (इसकी सन्तति है)		

↓
४८/४३-५१
↑

वसुदेवकी २३ स्त्रियाँ व उनकी सत्तान (ह पृ ४८/४८-६१)

१ विजयसेना	२ श्यामा	३ गन्धर्वसेना	४ पद्मावती	५ नीलयश	६ सोमश्री	७ मित्रश्री	८ कपिला
अमर कूर	उबलन अग्निवेग	वायुवेग अमिताभि महेन्द्रगिर-	दारु वृद्धार्थ दारुक	सिंह मत्तगज	नारद मरुदेव	सुमित्र	कपिल
९ पद्मावती	१० अरवसेना	११ पौण्ड्र	१२ रत्नवती	१३ सोमदत्तकी पुत्री	१४ वेगवती	१५ मदनवेगा	१६ बन्धुमति
पद्म	पद्मक अरवसेन	पौण्ड्र	रत्नगर्भ सुगर्भ	चन्द्रकान्त शशिप्रभ	वेगमान वायुवेग दृढमुष्टि	अनादृष्टि हिममुष्टि बन्धुसेन	विहसेन

[illegible]

११ रघुवंश

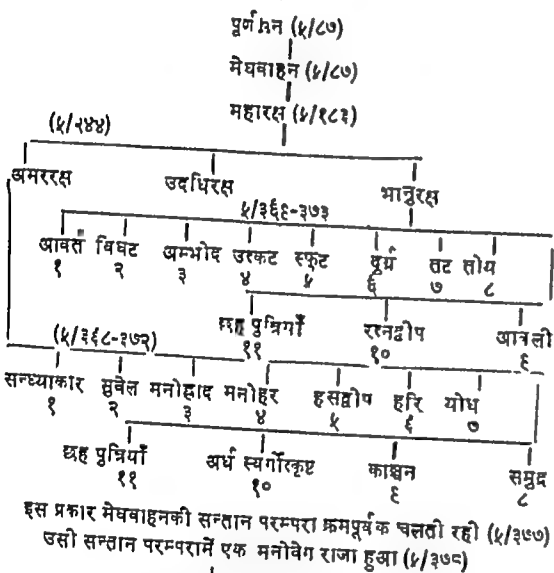
इस्वाकु वंशमें उत्पन्न रघु राजासे हो सम्भवतः इस वंशकी उत्पत्ति है—
वे इस्वाकुवंश—

प पु /सर्ग/श्लोक २२/१६०-१६२ रघु

अनरय्य			
अनन्तरथ		दशरथ	
(अपराजितासे)	(सुमित्रासे)	(केकयीसे)	(सुप्रभासे)
पद्म	लक्ष्मण	भरत	शत्रुघ्न
राम या यत्	या हरि	(२५/३५)	(२५/३६)
(२५/२३)	(२५/२६)		

१२ राक्षसवंश

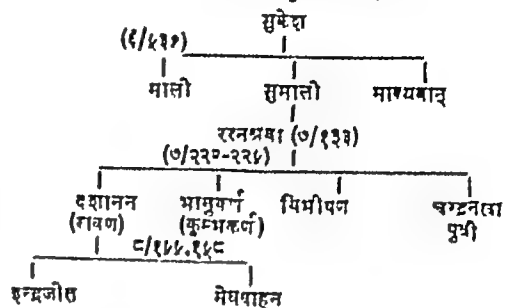
प पु /सर्ग/श्लोक मेघवाहन नामक विद्याधरको राक्षसोंके इन्द्र भीम व सुभीमने भगवात् अजितनाथके समवशरणमें प्रसन्न होकर रामार्थ राक्षस द्वीपमें लकाका राज्य दिया था (५/१५६-१६०) तथा पाताल लका व राक्षसी विद्या भी प्रदान की थी। (५/१६१-१६७) इसी मेघवाहनकी सन्तान परम्परामें एक राक्षस नामा राजा हुआ है, उसीके नामपर इस वंशका नाम 'राक्षसवंश' प्रसिद्ध हुआ। (५/२७८) इसकी वंशावली निम्न प्रकार है—



भोमप्रभ, पूजाह आदि १०८ पुत्र, जिनभास्कर सपरिकीर्ति सुप्रोव, हरिप्रोव, प्रीप्रोव, सुमुख, सुगन्ध, अमृतवेग, भानुगति, चिन्तागति, इन्द्र, इन्द्रप्रभ, मेघ, मृगारिदमन, पवन, इन्द्रजित, भानुवर्मा, भानु, भानुप्रभ, सुरारि, त्रिजट, भीम, मोहन उद्धारक, रवि, चकार, वज्रमध्य, प्रमोद, सिंहविक्रम, चामुण्ड, मारण, भोष्म द्वीपवाह, अरमर्दन, निर्वाणभक्ति, उपग्रही, अहङ्गभक्ति, अनुत्तर, गतप्रभ, अनिल, चण्ड लकाशोक मयूरवान, महामाहु, मनोरम्य, भास्कराभ, वृहद्गति, वृहत्कान्त, अरिस्तत्रास, चन्द्रावर्त, महारव, मेघध्वान,

गृहशोभ, तक्षप्रदम आदि करोड़ों विद्याधर इस वंशमें हुए • अनन्त, कीर्तिधवल। (५/३८२-३८८)

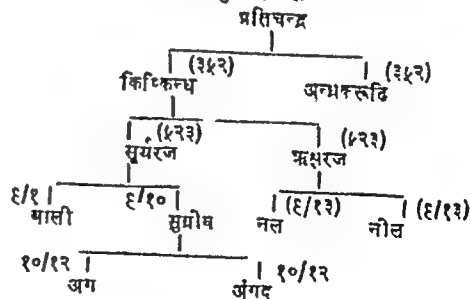
भगवात् मुनिमुनयके तीर्थमें विद्यारूपा नामक राजा हुआ। (६/२२२-२२३) इसका पुत्र सुवक्ष हुआ। (६/३४१)।



१३ धानरव्यश

प पु /सर्ग/श्लोक न रामस वंशीय राजा कीर्तिध्वजने राजा श्रीकण्ठकी (जन्म पर पञ्चोत्तर विद्याधरमें हार गया) सुरक्षित रूपसे रहनेके लिए बार बार द्वीप प्रदान किया था (६/२३-२४)। वहाँ पर उसने किङ्क पर्वतपर किङ्कपुर नगरकी रचना की। वहाँ पर बानर अधिक रहते थे जिनसे राजा श्रीकण्ठको बहुत अधिक प्रेम हो गया था। (६/१०७-१२२)। तदनन्तर इसी श्रीकण्ठकी पुत्र परम्परामें अमरप्रभ नामक राजा हुआ। उसके विवाहके समय मण्डपमें बानरोंकी पक्षियाँ विहलित की गयी थीं, तब अमरप्रभने वृद्ध मन्त्रियोंसे यह जाना कि "हमारे पूर्वजोंने बानरोंसे प्रेम किया था तथा इन्हें मंगन रूप मानकर इनका पोषण किया था।" यह जानकर राजाने अपने सुहृदोंमें बानरोंके चिह्न कराये। उसी समयसे इन वंशका नाम बानरवंश पड़ गया। (६/१७५-२१७) (इसको वंशावली निम्न प्रकार है) —

प पु ६/श्लोक विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका राजा अतीन्द्र (३) था। तदनन्तर श्रीकण्ठ (४), वज्रवट (१६२), वज्रप्रभ (१६०), इन्द्रमत्त (१६१), मेरु (१६१), मन्दर (१६१), समोरजगति (१६१), रविप्रभ (१६१), अमरप्रभ (१६२), कविसेतु (२८), प्रतिभल (२००), गगनानन्द (२०५), खेचरानन्द (२०५), गिरिनन्दन (२०५), इस प्रकार सैबद्धों राजा इन वंशमें हुए, उनमें से पितृवर्गोंने स्वर्ग व कितनों ने मोक्ष प्राप्त किया। (२०६)। जिस समय भगवात् मुनिमुनयका तीर्थ चला रहा था (२२०) तब इसीवंशमें एक महोदधि राजा हुआ (२१८)। उसका भी पुत्र प्रतिचन्द्र हुआ (१४६)।



१४. विद्याधर वंश

जिस समय भगवात् ऋषभदेव भरतेश्वरको राज्य देकर दीक्षित हुए, उस समय उनके साथ चार हजार भोजवंशीय व उपवंशीय आदि राजा भी तपमें स्थित हुए थे। पीछे चलकर वे सब भ्रष्ट हो गये। उनमेंसे नमि और विनमि जाकर भगवात्के चरणोंमें राजकी इच्छासे बैठ गये। उसी समय रक्षामें निपुण धरणेन्द्रने अनेकों देवों

तथा अपनी दोति ओर अदोति नामक देवियों के साथ आकर इन दोनोंको अनेकों विद्याएँ तथा औपधियाँ दीं। (ह पु २२/५१-५३) इन दोनोंके वंशमें उत्पन्न हुए पुरुष विद्याएँ धारण करनेके कारण विद्याधर कहलाये। (प पु ६/१०)

१ विद्याधर जातियाँ

ह पु २२/७६-८३ नमि तथा विनमिने सब लोगोंको अनेक औपधियाँ तथा विद्याएँ दीं। इसलिए वे वे विद्याधर उस उस विद्यानिकायके नामसे प्रसिद्ध हो गये। जैसे—गौरी विद्यासे गौरिक, कौशिकीसे कौशिक, भूमितुण्डसे भूमितुण्ड, मूलवीर्यसे मूलवीर्यक, शंकुकसे शंकुक, पाण्डुकोसे पाण्डुक, कालकसे काल, श्वपाकसे श्वपाकज, मातंगीसे मातंग, पर्वतसे पार्वतिय, वंशालयसे वंशालयगण, पांशु-मूलकसे पांशुमूलक, वृक्षमूलसे वार्क्षमूल, इस प्रकार विद्यानिकायोंसे सिद्ध होनेवाले विद्याधरोंका वर्णन हुआ।

नोट—कथनपरसे अनुमान होता है कि विद्याधर जातियाँ दो भागोंमें विभक्त हो गयीं—आर्य व मातंग।

२ आर्य विद्याधरोंके चिन्ह

ह पु २६/६-१४ आर्य विद्याधरोंकी आठ उत्तर जातियाँ हैं, जिनके चिन्ह व नाम निम्न हैं—गौरिक—हाथमें कमल तथा कमलोंकी माला सहित। गान्धार—लाल मालाएँ तथा लाल कम्बलके वस्त्रोंसे युक्त। मानवपुत्रक—नाना वर्णोंसेयुक्त पीले वस्त्रोंसहित। मनुपुत्रक—कुछ-कुछ लाल वस्त्रोंसे युक्त एवं मणियोंके आभूषणोंसे सहित। मूनवीर्य—हाथमें औपधि तथा शरीरपर नाना प्रकारके आभूषणों और मालाओं सहित। भूमितुण्ड—सर्व ऋतुओंकी सुगन्धिसे युक्त स्वर्णमय आभरण व मालाओं सहित। शंकुक—चित्रविचित्र कुण्डल तथा सर्पाकार बाजूबन्दसे युक्त। कौशिक—मुकुटोंपर सेहरे व मणि मय कुण्डलोंसे युक्त।

३ मातंग विद्याधरोंके चिन्ह—दे मातंगवश सं ६।

४ विद्याधरकी वंशावली

१ विनमिके पुत्र—ह पु २२/१०३-१०६ “राजा विनमिके संजय, अरिजय, शत्रुजय, घनंजय, मणिधूल, हरिश्मश्रु, मेघानीक, प्रमंजन, चूडामणि, शतानीक, सहस्रानीक, सर्वजय, वज्रबाहु, और अरिंदम आदि अनेक पुत्र हुए। पुत्रोंके सिवाय भद्रा और सुभद्रा नामकी दो कन्याएँ हुई। इनमेंसे सुभद्रा भरत चक्रवर्तिके चौदह रत्नोंमेंसे एक स्त्री रत्न थी।

२ नमिके पुत्र—ह पु २२/१०७-१०८ नमिके भी रवि, सोम, पुरुहूत, अशुमान, हरिजय, पुलस्त्य, विजय, मातंग, वासव, रत्नमाली (ह पु ११/२०) आदि अत्यधिक कान्तिके धारक अनेक पुत्र हुए और कनकपुत्रात्री तथा कनकमंजरी नामकी दो कन्याएँ भी हुई।

ह पु १३/२०-२६ नमिके पुत्र रत्नमालीके आगे उत्तरोत्तर रत्नवज्र, रत्नरथ, रत्नचित्र, चन्द्ररथ, वज्रजय, वज्रसेन, वज्रदट्ट, वज्रध्वज, वज्रायुध, वज्र, सुवज्र, वज्रभृद, वज्राभ, वज्रबाहु, वज्रसंज्ञ, वज्रास्थ, वज्रपाणि, वज्रजात्रु, वज्रवान, विद्वयन्मुख, सुवधन, विद्वयुदट्ट, विद्वयुस्वाद्, विद्वयुदाभ, विद्वयुवेग, वैद्वयुत, इस प्रकार अनेक राजा हुए। (प पु ५/१६-२१)

प पु ५/२५-२६ तदनन्तर इसी वंशमें विद्वयुहृद राजा हुआ (इसने संजयन्त मुनिपर उपसर्ग किया था)। तदनन्तर

प पु ५/४८-५४ हवरथ, अश्वधर्मा, अश्वायु, अश्वध्वज, पद्मनिभ, पद्ममाली, पद्मरथ, सिंहयान, मृगोद्धर्मा, सिंहसप्रभु, सिंहकेसु, शशांकमुख, चन्द्र, चन्द्रशेखर इन्द्र, चन्द्ररथ, चक्रधर्मा, चक्रायुध, चक्रध्वज, मणिप्रवी, मण्यक मणिभासुर, मणिस्थन्दन, मण्यास्थ, विम्बोष्ठ, लम्बितधर रत्नोष्ठ हरिवन्द, पुण्यचन्द्र, पुर्णचन्द्र बालेन्दु, चन्द्रचूड़, व्योमेन्दु छड्डपालन, एकचूड़, द्विचूड़, त्रिचूड़, वज्राचूड़, भरिचूड़, अर्कचूड़, वह्निजरी, वह्नितेज, इस प्रकार बहुत राजा हुए।

अजितनाथ भगवान्के समयमें इस वंशमें एक पूर्णधन नामक राजा हुआ (प पु ५/७८) जिसके मेघवाहनने धरणिन्द्रसे लकाका राज्य प्राप्त किया (प पु ५/१४६-१६०)। उससे राक्षसवंशकी उत्पत्ति हुई।—दे राक्षस वंश

१५. श्री वंश

ह पु १३/३३ भगवान् अप्रभवेवसे दीक्षा लेकर अनेक अपि उत्पन्न हुए उनका उत्कृष्ट वंश श्री वंश प्रचलित हुआ। नोट—इस वंशका नामोश्लेखके अतिरिक्त अधिक विस्तार उपलब्ध नहीं।

१६ सूर्यवंश—

ह पु १३/३३ अप्रभनाथ भगवान्के पश्चात् इक्ष्वाकु वंशकी दो शाखाएँ हो गयीं—एक सूर्यवंश व दूसरी चन्द्रवंश।

प पु ५/४ सूर्यवंशकी शाखा भरतके पुत्र अर्ककीर्तिसे प्रारम्भ हुई। क्योंकि अर्क नाम सूर्यका है।

प पु ५/५६१ इस सूर्यवंशका नाम ही सर्वत्र इक्ष्वाकुवंश प्रसिद्ध है।

—दे इक्ष्वाकुवंश।

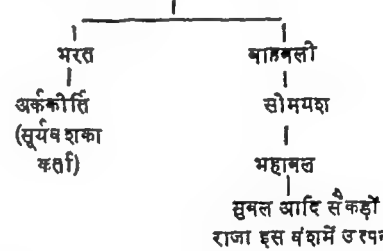
१७ सोमवंश

ह पु १३/१६ भगवान् अप्रभदेवकी दूसरी रानीसे बाहुबली नामका पुत्र उत्पन्न हुआ, उसक भो सोमयश नामका सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। ‘सोम’ नाम चन्द्रमाका है सो उसी सोमयशसे सोमवंश अथवा चन्द्रवंशकी परम्परा चली। (प पु १०/१३)

प पु ५/२ चन्द्रवंशका दूसरा नाम अप्रिवंश भी है।

ह पु १३/१६ १७, प पु ५/११-१४।

अप्रभदेव

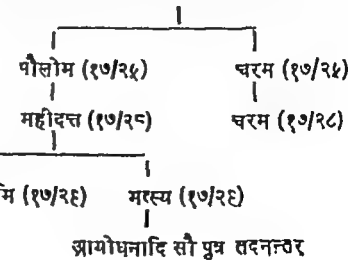


१८ हरिवंश

ह पु १५/५७ ५८ हरि राजाके नामपर इस वंशकी उत्पत्ति हुई। (और भी वे सामान्य राज्य वंश स १) इस वंशकी वंशावली आगममें तीन प्रकारसे वर्णनकी गयी। जिसमें कुछ भेद हैं। तीनों ही नीचे दी जाती हैं।

१ हरिवंश पुराणकी अपेक्षा

ह पु/सर्ग/श्लोक सर्व प्रथम आर्य नामक राजाका पुत्र हरि हुआ। इसीसे इस वंशकी उत्पत्ति हुई। इसके पश्चात् उत्तरोत्तर क्रमसे महागिरी, गिरि, आदि सैकड़ों राजा इस वंशमें हुए (१५/५७-६१)। फिर भगवान् मुनिमुत्तम (१६/१२), सुव्रत (१६/५५) दस, ऐसेय (१७/२,३), कुणिम (१७/२२) पुलोम, (१७/२४)



मूल, शाल, सूर्य, अमर देवदत्त, हरिपेण, नभसेन, शंख, भद्र अभिचन्द्र, वसु, (अमरयसे नरक गया) (१७/३१-३७)।

→ १७/३१-३७ ←

बृहद्वसु चित्रासु वासव अर्क महावसु विश्ववसु रवि सूर्य सुवसु बृहद्वसु
(दे आगे)

कुजरावर्त,

तदनन्तर बृहदथ, दृढरथ, सुखरथ, क्षीपन, सागरसेन, सुमित्र, प्रभु, वप्रभु, निन्दुसार, देवगर्भ, शरधनु, लाखों राजाओंके पश्चात् निहतशत्रु सप्तपति, बृहदथ, जरासन्ध व अपराजित, तथा जरासन्ध के कालयवनादि सैकड़ों पुत्र हुए थे। (१८/१७-२५) बृहद्वसुका पुत्र सुभाहू, तदनन्तर, दीर्घबाहू, वृषभाहू, लम्बाभिमान, भानु, यजु, सुभानु, कुभानु भीम आदि सैकड़ों राजा हुए। (१८/१-५) भगवान् नमिनाथके तीर्थमें राजा यदु (१८/५) हुआ जिससे यादववंशकी उत्पत्ति हुई।—दे यादववंश।

२ पद्यपुराणकी अपेक्षा

प पृ २१/श्लोक सं हरि महागिरि वसुगिरि इन्द्रगिरि रत्नमाला, सम्भूत, भूतदेव, आदि सैकड़ों राजा हुए (—६)। तदनन्तर इसी वंशमें सुमित्र (१०) मुनिमुव्रतनाथ (२२), सुव्रत, दक्ष, इलावर्धन, श्रीवर्धन, श्रीवृक्ष, सजयन्त, कुणिम, महारथ, पुनोमदि हजारों राजा भीतनेपर वासवकेतु राजा जनक मिथिलाका राजा हुआ। (४६-५५)

३ महापुराण व पाण्डवपुराणकी अपेक्षा

म पृ ७०/६०-१०१ मार्कण्डेय, हरिगिरि, हिमगिरि, वसुगिरि आदि सैकड़ों राजा हुए। तदनन्तर इसी वंशमें

श्वर व वीर
अन्धकवृष्णि भोजकवृष्णि
समुद्रविजयादि
सौ पुत्र (दे यादववंश)

उग्रसेन महासेन देवसेन गान्धारी कन्या
पा पृ ७/१२७ १४५

१० आगम समयानुक्रमिका

नोट—प्रमाणके लिए दे उस उसके रचयिताका नाम।

संकेत स.—संस्कृत, प्रा.—प्राकृत, अप.—अपभ्रंश, टी.—टीका
वृ.—वृत्ति, व.—वचनिका, प्र.—प्रथम, सि.—सिद्धान्त श्वे.—श्वेताम्बर, क.—कण्ठ भ.—भट्टारक भा.—भाषा; त.—तमिल, मरा.—मराठी, हिं.—हिन्दी, आ.—आवकाचार।

क्रमांक	ग्रन्थ	समय ई सन्	रचयिता	विषय	भाषा
---------	--------	-----------	--------	------	------

१ ईसवी शताब्दी १ —

१	लोकविनिश्चय	अज्ञात	अज्ञात	यथानाम (गद्य)	प्रा
२	भगवतो आरा	पूर्व पाद	शिवकोटि	यस्याचार	"
३	कथाय पाहुड़	"	गुणधर	मूल १८० गाथा	"
४	शिष्यदिष्टकार	मध्य पाद	इलंगोषडि	जीवनवृत्त (काव्य)	स
५	जोगि पाहुड़	४३	धरसेन	मन्त्रे तन्त्र	प्रा
६	पट्टखण्डागम	६६-१५६	भूतमलि	कर्मसिद्धान्त मूलसूत्र	"
७	व्याख्या प्र	मध्य पाद	मण्णदेव	आद्य ५ खण्डोंकी टी	"

क्रमांक	ग्रन्थ	समय ई सन्	रचयिता	विषय	भाषा
---------	--------	-----------	--------	------	------

२ ईसवी शताब्दी २ —

८	आसमीमांसा	१२०-१५५	स, मन्त्रभद्र	न्याय	
९	स्तुति विद्या (जिनशतक)			भक्ति	
१०	स्वयंभूस्तोत्र			न्याययुक्त भक्ति	
११	जीव सिद्धि			न्याय	
१२	तत्त्वानुशासन			"	
१३	युक्तरथानुशासन			"	
१४	कर्मप्राभूत टी			कर्म सिद्धान्त	
१५	पट्टखण्ड टी			आद्य ५ खण्डों पर	
१६	गन्धहृत्ती-महाभाष्य			तत्त्वार्थसूत्र टी	
१७	रत्नकरण्ड आ	१२७-१७६	शामकुण्ड (कुन्दकुन्द)	श्रावकाचार	
१८	पद्मसि टी			कपाय पा तथापट्ट	
१९	परिकर्म	१२७ १७६	कुन्दकुन्द	खण्डागमकी टीका	
२०	समयसार			पट्टखण्डके आद्य ५	
२१	प्रवचनसार			खण्डोंकी टीका	
२२	नियमसार			अध्यात्म	
२३	रयणसार			"	
२४	अष्ट पाहुड़			"	
२५	पञ्चास्तिकाय			तत्त्वार्थ	
२६	वारस अणुवेखवा			वैराग्य	
२७	मूलाचार			यस्याचार	
२८	वदा भक्ति			भक्ति	
२९	कार्तिकेयामुने	मध्य पाद	कुमार स्वामी	वैराग्य	
३०	कपाय पाहुड़	१४३-१७३	यतिवृषभ	मूल १०० गाथाओं	
३१	तिश्लोय-पण्णत्ति			चूर्णिसूत्र	
३२	जम्बूद्वीप समास	१७६-२४३	उमा स्वामी	लोक विभाग	
३३	तत्त्वार्थसूत्र			"	

३ ईसवी शताब्दी ३ —

३४	तत्त्वार्थधिगम भाष्य		उमा स्वाति	तत्त्वार्थसूत्र टीका	
----	----------------------	--	------------	----------------------	--

४ ईसवी शताब्दी ४ —

३५	पठम चरित	पूर्व पाद	विमलसूरि	प्रथमानुयोग	
३६	छादशा चक्र	३५७	मल्लवादी	न्याय (नयवाद)	

५ ईसवी शताब्दी ५ —

३७	जैनेन्द्र व्याकरण	मध्यपाद	पूज्यपाद	संस्कृत व्याकरण	
३८	मुग्धबोध			"	
३९	शब्दावतार			संस्कृत शब्दकोश	
४०	छन्द शास्त्र			संस्कृत छन्द शास्त्र	
४१	बैद्यसार			आयुर्वेद	
४२	सिद्धि प्रिय स्तोत्र			चतुर्विंशतिस्तव	
४३	दश भक्ति			भक्ति	
४४	शान्त्यष्टक			"	
४५	सार समग्र			"	

क्रमांक	ग्रन्थ	समय ई सव	रचयिता	विषय	भाषा	क्रमांक	ग्रन्थ	समय ई सव	रचयिता	विषय	भाषा
४६	सर्वार्थ सिद्धि			तत्त्वार्थसूत्र टीका	सं	८७	भक्तामर स्तोत्र	६१८	मानतुंग	भक्ति	सं
४७	आरमानुशासन			त्रिविध आरमा	"	८८	राजवार्तिक	६२० ६२०	अकलंक भट्ट	तत्त्वार्थसूत्र टी	"
४८	समाधि तन्त्र			अध्यात्म	"	८९	अष्टशती	"	"	आप्त मी टीका	"
४९	इष्टोपदेश			प्रेरणापरक उपदेश	"	९०	लघुयस्त्रय	"	"	न्याय	"
५०	कर्म प्रकृति सग्रहिणी	४४३	शिखशर्म सूरि (रवे)	कर्म सिद्धान्त	प्रा	९१	ब्रह्म त्रयम्	"	"	"	"
५१	शतक			"	"	९२	न्यायविनिश्चय	"	"	"	"
५२	शतक चूर्णि			"	"	९३	सिद्धि	"	"	"	"
५३	लोक विभाग	४४८	सर्वनन्द	यथा नाम	"	९४	प्रमाण संग्रह	"	"	"	"
५४	बन्ध स्वात्मस्व	४८०-४२८	हरिभद्रसूरि (रवे)	कर्म सिद्धान्त	"	९५	न्याय चूर्णिका	"	"	"	"
५५	जंबूद्वीप मधायणी			लोक विभाग	"	९६	स्वरूप सम्मो	"	"	अध्यात्म	"
५६	पटुदर्शन समु			यथा नाम	"	९७	अकलंक स्तोत्र	"	"	भक्ति	"
५७	कर्मप्रकृति चूर्णि	४६३-६६३	अज्ञात	कर्म सिद्धान्त	प्रा	९८	जोषक चिन्ता मणि	मध्यपाद	तिरुत्तकतेवर	तमिल काव्य	त
६ ईसवी शताब्दी ६						९९	पञ्चपुराण	६७७	रविपेज	जैन रामायण	सं
५८	परमार्थप्रकाश	उत्तरार्ध	योगेन्द्रदेव	अध्यात्म	अप	१००	लघु तत्त्वार्थ सूत्र	७००	प्रभाचन्द्रवृ	तत्त्वार्थ	"
५९	योगसार			"	"	१०१	कर्म स्तव	ई श ७८	अज्ञात	कर्म सिद्धान्त	प्रा
६०	दोहापाहुड़			"	"	८ ईसवी शताब्दी ८					
६१	अध्यात्म स दोह			"	"	१०२	तत्त्वार्थाधिगम	मध्यपाद	हरिभद्र	तत्त्वार्थ	सं
६२	सुभाषित तन्त्र			"	"	१०३	भाष्य लघु वृत्ति		(याकिनीसूत्र)	"	"
६३	तत्त्वप्रकाशिका	श ६ उत्तरार्ध		तत्त्वार्थसूत्र टी	प्रा	१०४	पञ्चमचरित	७३४ ८४०	कविस्वर्यभू	जैन रामायण	अप
६४	अमृताशीति			अध्यात्म	अप	१०५	रिद्धौमि चरित	"	"	नेमिनाथ चारित्र	"
६५	निजाएक			"	"	१०६	स्वयम्भू छन्द	"	"	छन्द शास्त्र	"
६६	नवकार आ			श्रावकाचार	"	१०७	विजयोदया	७३६	अपराजित	भगवती आराधना	सं
६७	पञ्चसंग्रह	श १-८	अज्ञात	कर्म सिद्धान्त	प्रा	१०८	प्रमाण्य भग	मध्यपाद	सूरि	टीका	"
६८	चन्द्रप्रज्ञप्ति	लगभग ६६०	अज्ञात (रवे)	ज्योतिष लोक	प्रा	१०९	सरकर्म	७७०-८२७	अनन्तकीर्ति	न्याय	"
६९	सूर्यप्रज्ञप्ति			"	"	११०	धवला	"	वीरसेन	पटुखण्डागमका	प्रा
७०	ज्योतिष्करण्ड			"	"	१११	जय धवला	७७०-८६०	अज्ञात (रवे)	अतिरिक्त अधि	"
७१	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति			लोक विभाग	"	११२	शतकचूर्णि वृत्त	"	वादीभसिंह	पटुखण्डागम टी	"
७२	कल्याण मन्दिर	१६८	सिद्धसेन	भक्ति (स्तोत्र)	सं	११३	गद्य चिन्तामणि	"	"	कर्म सिद्धान्त	"
७३	सन्मति सूत्र		दिवाकर	तत्त्वार्थ, नयवाद	प्रा	११४	छत्र चूडामणि,	"	"	जीवनधर चरित्र	सं
७४	हार्त्रिज्ञिका			भक्ति	सं	११५	अष्ट सहस्री	"	विद्यानन्द	"	"
७५	एकविंशतिगुण स्थान प्रकरण			जीव काण्ड	"	११६	आप्त परीक्षा	"	"	अष्टशतीकी टी	"
७६	शाश्वत जिन-स्तुति			भक्ति	"	११७	पञ्च परीक्षा	"	"	न्याय	"
७७	रामकथा	६००	कीर्तिधर	इसोके आधार पर	"	११८	प्रमाण परीक्षा	"	"	"	"
७८	विशेषावश्यक भाष्य	६६३	जिनभद्रगणी (रवे)	पञ्चपुराण रचा गया	प्रा	११९	प्रमाण मोर्मासा	"	"	"	"
७९	त्रिलक्षण कर्धर्न	ई श ६ ७	पात्रकेसरी	जैन दर्शन	सं	१२०	जल्प निर्णय	"	"	"	"
८०	जिनगुण स्तुति (पात्रकेसरी स्त)			न्याय	"	१२१	नय विवरण	"	"	"	"
७. ईसवी शताब्दी ७						१२२	युक्तरथानुशासन	"	"	"	"
८१	सप्ततिका (सत्तर)	पूर्वपाद	अज्ञात	कर्म सिद्धान्त	प्रा	१२३	सत्य शासन	"	"	"	"
८२	वृ क्षेत्र समाप्त	६०६	जिनभद्र गणी	अष्टाई द्वीप	"	१२४	परीक्षा	"	"	तत्त्वार्थसूत्र टी	"
८३	वृ संघायणी सुत			आशु अवगाहना आदि	"	१२५	रत्नोक्तवार्तिक	"	"	सर्वप्रथम रचना	"
						१२६	विद्यानन्द	"	"	न्याय	"
						१२७	महोदय	"	"	"	"
						१२८	बुद्धेशभवन	"	"	"	"
						१२९	व्याख्यान	"	"	"	"
						१३०	श्रीपुर पार्वनाथ स्तोत्र	"	"	अन्तरिक्ष पार्वनाथ	"
						१३१	वाद न्याय	७६६	कुमार नन्द	स्तोत्र	"
						१३२	हरिवंश पुराण	७८३	जिनसेन १	न्याय	"
										प्रथमानुयोग	"

क्र.सं.	ग्रन्थ	समय ई. सन्	रचयिता	विषय	क्र.सं.	ग्रन्थ	समय ई. सन्	रचयिता	विषय
१२६	चन्द्रोदय	७६७से पहले	प्रभाचन्द्र १		१६४	भाव संग्रह	१४८	देवसेन	अन्य मत निम्ना
१२७	ज्योतिर्ज्ञान-विधि	७६६	श्रीधर	ज्योतिष शास्त्र	१६५	दर्शन	१४३	"	"
१२८	द्विसन्धान महाकाव्य	अन्तपाद	धनञ्जय	पाण्डव चरित्र	१६६	तत्त्वसार	१४३-१४४		अध्यात्म
१२९	विपापहार			स्तोत्र	१६७	ज्ञान सार		"	"
१३०	धनञ्जय निघण्टु			संस्कृत शब्दकोश	१६८	आराधनासार			चतुर्विध आराधना
१३१	तत्त्वार्थविधिम भाष्यवृत्ति	ई.श. ८-६	सिद्धसेनगणौ	तत्त्वार्थ भाष्यकी टीका	१६९	आलाप पद्धति			नयवाद
१३२	जातक तिलक		श्रीधर	ज्योतिष	१७०	नय चक्र		"	"
१३३	ज्योतिर्ज्ञानविधि			"	१७१	सार समुच्चय	१४७	कुलभद्र	तत्त्वार्थ
१३४	गणितसार संग्रह	८००-८३०	महावीराचार्य	"	१७२	ज्वालाभालिनी	१४६	इन्द्रनन्द	मन्त्र तन्त्र
९ ईसवी शताब्दी ९ —									
१३५	केवलभुक्ति प्रकरण	८१४	शाकटायन	यथा नाम	१७३	सत्य त्रिभंगी	१४६	कनकनन्द	कर्म सिद्धान्त
१३६	खीमुक्ति प्रकरण		पाण्यकीर्ति	"	१७४	पार्वतपुराण	१४२	पद्मकीर्ति	यथा नाम
१३७	शब्दानुशासन			सं व्याकरण	१७५	तत्त्वार्थवृत्ति	१४३	समन्तभद्र २	अष्टमहसो टीका
१३८	आदिपुराण	८१८-८७८	जिनसेन २	श्रुतमन्त्र चरित	१७६	योग सार	१४४	अमितगति १	अध्यात्म
१३९	पार्वाम्युदय			कमठ उपसर्ग	१७७	पुराण संग्रह	१४५-१७३	दामनन्द	यथा नाम
१४०	कर्मविपाक	मध्यपाद	गर्गपि श्वे	कर्मसिद्धान्त	१७८	महावृत्ति	१४३-१६३	अभयनन्द	जैन व्याकरण टी
१४१	कश्यपकारक	८२८	उग्रदिग्ग	आयुर्वेद	१७९	कर्मप्रकृति रहस्य			कर्म सिद्धान्त
१४२	वार्थसंग्रह	८३७	कविपरमेष्ठी	६३ शलाका पु	१८०	तत्त्वार्थवृत्ति			तत्त्वार्थ सूत्र टीका
१४३	संस्कृत वज्रिका	८२७के पश्चात्	अज्ञात		१८१	आयज्ञान	उत्तरार्ध	भट्टबोसरि	ज्योतिष
१४४	लोलाविस्तार टीका	८४०-८५२	हेमचन्द्र	सूरि (श्वे)	१८२	जसहृर चरित	"	पुष्पदन्तकवि	यशोधर चरित्र
१४५	लघुसर्वज्ञ सिद्धि	उत्तरार्ध	अनन्तकीर्ति	न्याय	१८३	नायकमार चरित			नागकुमार चरित्र
१४६	श्रु " "			"	१८४	नीतिवाक्यामृत	१४३-१६८	सोमदेव	राज्यनीति
१४७	जिनदत्त चरित	८७०-१००	गुणभद्र	यथा नाम	१८५	यशस्विलक			यशोधर चरित्र
१४८	उत्तरपुराण	८६८		२३ तीर्थकरो का जीवन वृत्त	१८६	अध्यात्मतर गिनो			अध्यात्म
१४९	आरमानुशासन			त्रिविध आरमा	१८७	स्वादादी ० नपद्			न्याय
१५०	भविष्यत् कथा	अन्तपाद	धनपाल कवि	यथा नाम	१८८	गुणवर्ति करण			"
१० ईसवी शताब्दी १० —									
१५१	उपमिति भव-प्रपञ्च कथा	१०५	सिद्धार्थ (श्वे)	अध्यात्म	१८९	चन्द्रप्रभ चरित्र	१५०-१६६	वीरनन्द	यथानाम काव्य
१५२	आरमस्याति	१०५-१५५	अमृतचन्द्र	समयसार टीका	१९०	शिखि संहित			
१५३	समयसार कलश			प्रवचनसार टीका	१९१	अर्धप्रवचन	१५०-१०२०	प्रभाचन्द्र ४	तत्त्वार्थ
१५४	तत्त्वप्रदीपिका			पञ्चास्तिकाय टीका	१९२	अवचन सारोद्धार			प्रवचनसार टीका
१५५	"			अध्यात्म	१९३	पञ्चास्तिक प्रदीप			पञ्चास्तिकाय टी
१५६	तत्त्वार्थसार			"	१९४	गद्यकथा कोष			यथा नाम
१५७	पुरुषार्थ सिद्धि उपाय			"	१९५	तत्त्वार्थवृत्तिपद			सर्वार्थ सिद्धि टीका
१५८	जीवन्धर चम्पू	मध्यपाद	हरिचन्द्र	जीवन्धर चरित्र	२००	समाधितन्त्रटी			यथा नाम
१५९	त्रिलोकसार टी		माधवचन्द्र	लोक विभाग	२०१	महापुराणतिस	१६५	पुष्पदन्तकवि	आदिपुराण व
१६०	नीतिसार		इन्द्रनन्द	यथानाम	२०२	हिमहापुरिस			उत्तरपुराण
१६१	वाद महार्णव		अमरदेव (श्वे)	न्याय	२०३	करकण्ड चरित	१६५-१०५१	कनकामर	महाराजा करकण्ड
१६२	सप्ततिका चूर्ण		अज्ञात (श्वे)	कर्मसिद्धान्त	२०४	प्रद्युम्न चरित	१७४	महासेन	यथा नाम
१६३	श्रु कथा कोष	१६१	हरिषेण	यथानाम	२०५	सिद्धिविनिर्णय	१७५-१०२२	अनन्तवीर्य	यथा नाम न्याय
					२०६	टीका			
					२०७	प्रमाणसंग्रहा-लंकार			प्रमाण संग्रह टीका
					२०८	जम्बूद्वीपपण्डित	१७७-१०४३	पद्मनन्द	लोक विभाग
					२०९	पञ्चसंग्रह वृत्ति			जीवकाण्ड
					२१०	धम्मरसायण			वैराग्य
					२११	गोमहसार	१८१ के	नेमिचन्द्र	कर्म सिद्धान्त
					२१२	त्रिलोकसार	आसपास	(सिद्धान्त चक्रवर्ती)	लोक विभाग

क्र.सं.	ग्रन्थ	समय ई. सन्	रचयिता	विषय	भाषा	क्र.सं.	ग्रन्थ	समय ई. सन्	रचयिता	विषय	भाषा
२११	लब्धिसार			उपशम विधान	प्रा	२११	पञ्चसंग्रह			कर्म सिद्धान्त	सं.
२१२	क्षपणसार			क्षपणा विधान	"	२१२	द्रव्य संग्रह लघु			(मूलके आधारपर)	प्रा
२१३	वीर मातण्डी	६८१ के	शामुण्डराय	गा सा वृत्ति	क	२१३	द्रव्य संग्रह बृ	१०१८-१०६८	नेमिचन्द्र २	तत्त्वार्थ	प्रा
२१४	चारित्रसार	आस-पास		यस्याचार	स	२१४	द्रव्य संग्रह वृत्ति	६८०-१०६६	सिद्धा देव	लघु द्रव्यसंग्रह टी	म
२१५	शामुण्डराय पुराण			शलाका पुरुष	"	२१५	जम्बूसामिचरित	१०१६	कवि वीर	यथा नाम	अप
२१६	धम्म परिपत्ता	६८७	हरिपेण	वैदिकका उपहास	अप	२१६	कथाकोष	मध्यपाद	ब्रह्मदेव	"	म
२१७	धर्मशर्माभ्युदय	६८८	असग कवि	धर्मनाथ चरित	सं	२१७	वृ द्रव्य संग्रह टी			तत्त्वार्थ	"
२१८	वर्द्धमान चरित्र			यथानाम	"	२१८	तत्त्वदीपिका			"	"
२१९	शान्तिनाथ			"	"	२१९	प्रतिष्ठा सिलक			पूजापाठ	"
२२०	छन्दोविन्दु	६६०	नागवर्म	छन्दशास्त्र	"	२२०	चदप्पह चरित	"	यश कीर्ति	यथा नाम	अप
२२१	महापुराण	६६०	मणिलेण	शलाका पुरुष	"	२२१	पारवनाथ चरित्र	१०२६	बादिराज २	"	स
२२२	पञ्चसंग्रह	अन्तपाद	बुद्धा	मूलका रूपान्तर	"	२२२	ज्ञानसार	१०२६		कमहेतुक भ्रमण	"
२२३	धर्म रत्नाकर	६६८	जयसेन १	आवकाचार	"	२२३	अर्थकाण्ड	१०३२	दुर्गा देव	मन्त्र तन्त्र	"
२२४	दोहा पाहुठ	१०००	अनुमानत		प्रा	२२४	मन्त्र महोदधि			"	"
२२५	जैनतर्क वार्तिक	६६३-१११८	शान्त्याचार्य	मूलके आधार पर	स	२२५	मरण काण्डिका			"	"
२२६	पञ्चसंग्रह	६६३-१०२३	अमितगति १	अर्थाई द्वीप	"	२२६	रिष्ट समुच्चय			"	"
२२७	सार्धद्वय प्रकृति			जम्बू द्वीप	"	२२७	सयलविह्विहाण	१०४३	नय नन्द	आवकाचार	अप
२२८	जम्बूद्वीप			जम्बू द्वीप	"	२२८	सुदसन चरित			यथा नाम	"
२२९	चन्द्र			ज्योतिष लोक	"	२२९	काम चाण्डाली	१०४७	मणिलेण	मन्त्र तन्त्र	सं
२३०	व्याख्या			कर्म सिद्धान्त	"	२३०	ज्वालितनी कल्प			"	"
२३१	आराधना			भगवती आरा	"	२३१	भैरव पद्यावली			"	"
२३२	आवकाचार			के मूलार्थक श्ल	"	२३२	सरस्वती मन्त्र			"	"
२३३	द्वात्रिंशतिका			यथानाम	"	२३३	वज्रपञ्च विधान			"	"
२३४	(सामायिक पाठ)			वैराग्य	"	२३४	नागकुमार काव्य			यथा नाम	"
२३५	सुभाषित रत्न			अध्यात्ममाचार	"	२३५	सज्जन चित्त			अध्यात्मोपदेश	"
२३६	सन्दोह			यस्याचार	"	२३६	कर्म प्रकृति	उत्तरार्ध	नेमिचन्द्र ३	कर्म सिद्धान्त	"
२३७	खेद पिण्ड	श १०-११	हन्त्रनन्द		"	२३७	तरवानुशासन	"	रामसेन	ध्यान	"
						२३८	पञ्चविंशतिका	"	पद्मनन्द	अध्यात्ममाचार	"
						२३९	चरणसार			"	"
						२४०	एकलव्य सप्ततिका			शुद्धात्मस्वरूप	"
						२४१	निश्चय पञ्चाशत			"	"
						२४२	हरिवंश पुराण		कवि धवल	यथानाम	अप
						२४३	कथाकोष	१०६६	श्रीचन्द्र	"	"
						२४४	दसनकह रथण			कथाओंके द्वारा	"
						२४५	प्रवचन सारोद्धार	१०६२-१०६३	नेमिचन्द्र ४	गति अगति	"
						२४६	सुख भोविनी वृ	१०७२	"	आयु आदि	"
						२४७	आवकाचार	१०६८-१११८	वसुनन्द	उत्तराध्ययन सूत्र	सं
						२४८	प्रतिष्ठासार संग्रह			यथा नाम	स
						२४९	सार्ध शतक	१०७५-१११०	जिनवत्तभ	"	"
						२५०	नेमिनिर्वाणकाव्य	१०७५-११२६	वाग्भट्ट	"	प्रा
						२५१	सुलोमणा चरित	१०७५	देवसेन मुनि	"	स
						२५२	पारसणाह चरित	१०७७	पद्मकीर्ति	"	अप
						२५३	"	अन्तपाद	कवि देवचन्द्र	"	"
						२५४	सिद्धान्तसारसंग्रह	"	नरेन्द्र सेन	तत्त्वार्थसूत्रका सार	सं
						२५५	प्रमाण मीमांसा	१०८८-१११७	हेमचन्द्रसूरि	न्याय	"
						२५६	शब्दानुशासन			संस्कृत शब्दकोश	"
						२५७	अभिधान-			"	"
						२५८	चिन्तामणि			"	"

११ ईसवी शताब्दी ११ —

२३६	परीक्षामुख	१००३	माणिक्यन दि	न्याय सूत्र	स	२३६	निश्चय पञ्चाशत				
२३७	प्रमेयकमल	१००३-१०६६	प्राभाचन्द्र ५	परीक्षामुख टी	"	२३७	हरिवंश पुराण		कवि धवल	यथानाम	अप
	मार्तण्ड	(६८० १०६६)		न्याय	"	२३८	कथाकोष	१०६६	श्रीचन्द्र	"	"
२३८	न्यायकुसुमचन्द्र			लघोत्तर टीका	"	२३९	दसनकह रथण			कथाओंके द्वारा	"
	(लघोत्तरयाल कार)			न्याय	"	२४०	प्रवचन सारोद्धार	१०६२-१०६३	नेमिचन्द्र ४	गति अगति	"
२३९	शाकटायन न्यास			व्याकरण	"	२४१	(श्वे)	(१०८०)	(श्वे)	आयु आदि	"
२४०	शब्दानुगो			शब्दकोश	"	२४२	सुख भोविनी वृ	१०७२	"	उत्तराध्ययन सूत्र	सं
	भास्कर				"	२४३	आवकाचार	१०६८-१११८	वसुनन्द	यथा नाम	स
२४१	महापुराण			प्रथमानुयोग	"	२४४	प्रतिष्ठासार संग्रह			"	"
	टिप्पणी				"	२४५	सार्ध शतक	१०७५-१११०	जिनवत्तभ	"	प्रा
२४२	क्रियाकलाप टी			अध्यात्म	"	२४६	नेमिनिर्वाणकाव्य	१०७५-११२६	वाग्भट्ट	"	स
२४३	समयसार टी			अध्यात्ममाचार	"	२४७	सुलोमणा चरित	१०७५	देवसेन मुनि	"	अप
२४४	ज्ञानार्णव	१००३-१०६८	शुभचन्द्र	यथा नाम	"	२४८	पारसणाह चरित	१०७७	पद्मकीर्ति	"	"
२४५	पुराणसार संग्रह	१००६	श्री चन्द्र	भक्ति	"	२४९	"	अन्तपाद	कवि देवचन्द्र	"	"
२४६	एकीभाव स्तोत्र	१०१०-१०६६	बादिराज	न्याय वि टीका	सं	२५०	सिद्धान्तसारसंग्रह	"	नरेन्द्र सेन	तत्त्वार्थसूत्रका सार	सं
२४७	न्यायविनिश्चय			न्याय	"	२५१	प्रमाण मीमांसा	१०८८-१११७	हेमचन्द्रसूरि	न्याय	"
	विवरण			यथा नाम	"	२५२	शब्दानुशासन			संस्कृत शब्दकोश	"
२४८	प्रमाण निर्णय				"	२५३	अभिधान-			"	"
२४९	यशोधर चरित्र				"	२५४	चिन्तामणि			"	"
२५०	धर्म परीक्षा	१०१३	अमितगति १	अन्यमत उपहास	"						

क्र.सं.	ग्रन्थ	समय ई. सन्	रचयिता	विषय	क्र.सं.	ग्रन्थ	समय ई. सन्	रचयिता	विषय
२६८	देशीयमामला			मंत्रपुत्र द्वाभ्यः कोश	३३२	प्रमथकाय टीका			मंत्रपुत्र द्वाभ्यः
२६९	काव्यानुशासन			काव्य शिक्षा	३३३	मध्यमपुर			
३००	व्याख्यानमहाकाव्य				३३४	चन्द्रिका			
३०१	योगशास्त्र			ध्याना मगामि	३३५	अष्टाङ्ग हृदयोक्त			
३०२	ट्रायिश्चिका				३३६	भक्तधाराधनम्			भक्त धरो चरित्र
३०३	चन्द्रमधुचरित्र	१०८६	मधु अग्रत	मथानाम	३३७	काव्य			
३०४	सारपर्व वृत्ति	११-१२	जगदीश	समयसार टीका	३३८	त्रिपट्टि मूर्ति			१-११११ ५४४
				प्रवचनसार टीका	३३९	मन्त्रमूर्ति			
				पञ्चाङ्गिकाय टीका	३४०	मन्त्रमूर्ति			मन्त्रमूर्ति मन्त्र
३०५	वैराग्यसार	..	सुभद्राचार्य	मथानाम	३४१	मन्त्रमूर्ति			
१२ ईसवी शताब्दी १२ —									
३०६	प्रमेयरत्नकोष	११०२	चन्द्रमधु मूर्ति	व्याय	३४२	निरय मन्त्रोक्त			वृत्ति पाठ
			(रवे)		३४३	जिज्ञासा कथा			" "
३०७	व्याख्या सिद्धि	११०३	बादीभ मित्र		३४४	प्रतिष्ठा पाठ			" "
३०८	सर्वार्थसूत्र वृत्ति	पूर्व पाठ	मानचन्द्र मुनि	मथा नाम	३४५	मन्त्रनाम मन्त्र			" "
३०९	धर्म परोक्षा	पूर्वार्ध	वृत्ति विलास	वैदिकोक्त उद्घाटन	३४६	मन्त्रप्रवृत्ति			
३१०	प्रमाणनय	१११७-६६	नादिदेव मुनि	व्याय	३४७	मन्त्रमूर्ति			
			(ध)		३४८	मन्त्रमूर्ति			
३११	सर्वार्थसूत्र	मध्यपाठ	वीर नन्दि	मन्त्राचार	३४९	मन्त्रमूर्ति	११८०	मन्त्रमूर्ति	मथानाम काव्य
३१२	पार्वनाथ स्तोत्र	"	पद्मप्रभ	मथा नाम	३५०	मन्त्रमूर्ति	११८०	मन्त्रमूर्ति	" "
३१३	नियमसार टीका		मन्त्रधारी देव	अप्यारम	३५१	मन्त्रमूर्ति			मन्त्रमूर्ति
३१४	कण्ड व्याकरण	११२६	नयमेन	मथा नाम	३५२	मन्त्रमूर्ति			मन्त्रमूर्ति
३१५	धर्ममृत			कथा मन्त्र	३५३	मन्त्रमूर्ति			मन्त्रमूर्ति
३१६	मन्त्र विद्या	११२८	मन्त्रिलेख	अप्यारम	३५४	मन्त्रमूर्ति	११२८	मन्त्रमूर्ति	मन्त्रमूर्ति
३१७	पामणाह चरित	११३२	कवि श्रीधर	पार्वनाथ चरित्र	३५५	मन्त्रमूर्ति			मन्त्रमूर्ति
३१८	मन्त्रमन्त्र चरित			मन्त्रमन्त्र	३५६	मन्त्रमूर्ति			मन्त्रमूर्ति
३१९	सतिगाह चरित			शान्तिनाथ	३५७	मन्त्रमूर्ति	११८०	मन्त्रमूर्ति	मन्त्रमूर्ति
३२०	मन्त्रमन्त्र चरित	११४३		मन्त्रमन्त्र	३५८	मन्त्रमूर्ति			मन्त्रमूर्ति
३२१	सितपट चौरासी	११४३-११६७	हेम चन्द	मन्त्रमन्त्र	३५९	मन्त्रमूर्ति			मन्त्रमूर्ति
३२२	सुबोध वहीनी कथा	११६०-६६	उदय चन्द	मन्त्रमन्त्र	३६०	मन्त्रमूर्ति			मन्त्रमूर्ति
३२३	सुकुमान चरित	११६१	श्रीधर	सुकुमान चरित्र	३६१	मन्त्रमूर्ति	११८०	मन्त्रमूर्ति	मन्त्रमूर्ति
३२४	अज्ञानपवनजय	११६१ ११८१	हस्तिमन	मथा नाम नाटक	३६२	मन्त्रमूर्ति			मन्त्रमूर्ति
३२५	मैथिली कल्याणम्			सीता-राम प्रेम	३६३	मन्त्रमूर्ति	पूर्व पाठ	मन्त्रमूर्ति	मथानाम
				नाटक	३६४	मन्त्रमूर्ति			मथानाम
३२६	विक्रान्त कौरव			सुलोचना नाटक	३६५	मन्त्रमूर्ति			मथानाम
३२७	सुभद्रा नाटिका			भरत-सुभद्रा प्रेम	३६६	मन्त्रमूर्ति	मध्य पाठ	भक्तमेन	मथानाम
३२८	अनगार धर्मा	११७३-११८३	आशाधर	मन्त्राचार	३६७	मन्त्रमूर्ति			मथानाम
३२९	मूलाराधना			"	३६८	मन्त्रमूर्ति			मथानाम
	दर्पण				३६९	मन्त्रमूर्ति			मथानाम
३३०	सागर धर्ममृत			आवकाचार	३७०	मन्त्रमूर्ति			मथानाम
३३१	क्रिया कलाप			व्याकरण	३७१	मन्त्रमूर्ति			मथानाम
३३२	अप्यारम रहस्य			अप्यारम	३७२	मन्त्रमूर्ति			मथानाम
३३३	इष्टोपदेश टीका			अप्यारमोपदेश	३७३	मन्त्रमूर्ति			मथानाम
३३४	ज्ञानदीपिका			अप्यारम	३७४	मन्त्रमूर्ति			मथानाम
३३५	प्रमेय रत्नाकर			व्याय	३७५	मन्त्रमूर्ति			मथानाम
३३६	वाग्मयस हिता			"	३७६	मन्त्रमूर्ति			मथानाम
३३७	काव्यालङ्कार टी			काव्य शिक्षा	३७७	मन्त्रमूर्ति			मथानाम

१३ ईसवी शताब्दी १३ —

क्र.सं.	ग्रन्थ	समय ई. सन्	रचयिता	विषय	भाषा	क्र.सं.	ग्रन्थ	समय ई. सन्	रचयिता	विषय	भाषा
३७५	पुण्यासव कथा कोप	मध्यपाद	रामचन्द्र मुमुक्षु	यथानाम	स०	१४	ईसवी शताब्दी १४ —				
३७६	जगत्सुन्दरी-प्रयोगमाता	"	यश कीर्ति	"	"	४१३	गेमिणाह चरित	पूर्वपाद	लक्ष्मणदेव	यथानाम	अप
३७७	स्याह्लाद भूषण	"	अभयचन्द्र	न्याय	"	४१४	मयणपराजय चरित	"	हरिदेव	उपमित कथा (खण्ड काव्य)	"
३७८	गेमिणाह चरित	१२३०	ब्रह्मदामोदर	यथानाम	अप	४१५	भविष्यदत्त कथा	मध्यपाद	श्रीधर ४	यथानाम	स०
३७९	पुष्पदन्त पुराण	"	गुण वर्म	"	स	४१६	अनन्तवत्त कथा	१३२५-६३	पद्मनन्दि	"	"
३८०	सागार धर्ममृत	१२३६	प आशाधर	श्रावकाचार	"	४१७	जोरापल्लीपारव	"	भट्टारक	"	"
३८१	त्रिपष्टि स्मृति शास्त्र	१२३४	"	शालाका पुरुष	"	"	नाथ स्तोत्र	"	"	"	"
३८२	कर्म विपाक	१२४०-६७	देवेन्द्रसूरि (रवे)	कर्म सिद्धान्त	प्रा	४१८	भावना पद्धति	"	"	भक्तिपूर्ण स्तव	"
३८३	कर्म स्तव	"	"	"	"	४१९	वर्द्धमान चरित्र	"	"	यथानाम	"
३८४	धन्य स्वामित्व	"	"	"	"	४२०	श्रावकाचार	"	"	"	"
३८५	पञ्चपीति (सुसमर्थ विचार)	उत्तरार्ध	अभयचन्द्र	कर्म सिद्धान्त	"	"	मारोद्धार	"	"	"	"
३८६	कर्म प्रकृति	"	सिद्धान्त चक्र	गो सा टी	"	४२१	परमागमसार	१३४१	श्रुत मुनि	आगमका स्वरूप	प्रा
३८७	मन्दप्रबोधिनी	"	अर्हह्रास	प्रपञ्च चरित्र	"	४२२	वरांग चरित्र	उत्तरार्ध	वर्द्धमानभट्टा	यथानाम	स
३८८	पुरुष चम्पू	"	"	"	"	४२३	गोमट्टसार टी	१३६६	केशव वर्णा	"	"
३८९	भक्त्यजन कण्ठाभरण	"	"	"	"	४२४	न्यायदीपिका	१३६०-१४१८	धर्मभूषण	न्याय	स
३९०	मुनिसुवर्ण काव्य	"	"	यथानाम	"	४२५	जम्बूस्वामीचरित्र	१३६३-१४६८	जल जिनदास	यथानाम	"
३९१	विश्वलोचन कोप	"	धरसेन	नानाथक कोप	"	४२६	राम चरित्र	"	"	"	"
३९२	शु गारार्णव चन्द्रिका	"	विजयवर्णी	कठ्य शिक्षा (छन्द अलंकार)	"	४२७	हरिवंश पुराण	"	"	"	"
३९३	अलंकार चिन्तामणि	१२५०-६०	अजितसेन	"	"	४२८	बाहूबलि चरित	१३६७	कवि धनपाल	"	अप
३९४	शृ गार मञ्जरी	"	"	"	"	४२९	अनर्थमिय कहा	"	हरिचन्द	रात्रिभुक्ति हानि	"
३९५	अणुवययण पर्व	१२५६	प लावू	अणुवत्तर रत्न प्रदीप	अप	१५	ईसवी शताब्दी १५ —				
३९६	त्रिभंगीसार टीका	अन्त पाद	श्रुत मुनि	कर्म सिद्धान्त	प्रा	४३०	अनर्थमिड कहा	१४००-७६	कवि रङ्गधु	रात्रिभुक्ति त्याग	अप
३९७	आलव त्रिभंगी	"	"	"	"	४३१	घण्टकुमार चरित	"	"	यथानाम	"
३९८	भाव त्रिभंगी	"	"	"	"	४३२	पडम चरित	"	"	जैन रामायण	"
३९९	काव्यानुशासन	"	वाग्भट्ट	औपशमिकादि काव्य शिक्षा	"	४३३	मलहर्ष चरित	"	"	मलभद्र चरित्र	"
४००	छन्दानुशासन	"	"	छन्द शिक्षा	स	४३४	मेहेस चरित	"	"	मुनोचना चरित्र	"
४०१	जिगरत्तिविहाण (बहुवर्णमात्रकहा)	"	नरसेन	यथानाम	अप	४३५	वित्तसार	पूर्वपाद	जयमित्रहल	श्रावक मुनि धर्म	"
४०२	मयणपराजय	"	"	उपमित कथा	"	४३६	सम्महजिणचरित	"	"	भगवाद् महावीर	"
४०३	सिद्धचक्रकहा	"	"	श्रीपाल मैना	"	४३७	सिद्धान्तसार	"	"	श्रावक मुनि धर्म	"
४०४	स्याह्लादमञ्जरी	१२६२	मल्लिपेण	न्याय	"	४३८	सिरिपाल चरित	"	"	श्रीपाल चरित्र	"
४०५	महापुराण कालिका	१२६३	शाह ठाकुर	शालाका पुरुष	अप	४३९	हरिवंश पुराण	"	"	यथा नाम	"
४०६	सतिगाह चरित	१२६६	"	यथानाम	"	४४०	जसहर चरित	"	"	यशोधर चरित्र	"
४०७	तत्त्वार्थसूत्र वृत्ति	१२६६	भास्करनन्दि	"	"	४४१	बहुवर्णमात्र चरित (सेणिय चरित)	पूर्वपाद	"	यथा नाम	"
४०८	ध्यान स्तव	"	"	ध्यान	"	४४२	मल्लिणाहकव्य	"	"	यथा नाम	"
४०९	सुखबोध वृत्ति	"	"	तत्त्वार्थसूत्र टीका	"	४४३	यशोधर चरित्र	"	पद्मनाभ	"	"
४१०	सुदर्शन चरित	१२६८	विद्यानन्दि २	यथानाम	"	४४४	कर्म विपाक	१४०६-१४८०	सकलकीर्ति	कर्म सिद्धान्त	स
४११	त्रैलोक्य दीपक	श १३-१४	वामदेव	लोक विभाग	"	४४५	प्रश्नोत्तर श्राव	"	"	श्रावकाचार	"
४१२	भावसंग्रह	"	"	देवमेन कृतका स रूपान्तर	"	४४६	तत्त्वार्थसारदीपक	"	"	तत्त्वार्थ	"
						४४७	सद्भाषितानलो	"	"	अध्यात्मोप	"
						४४८	परमात्मराजस्तोत्र	"	"	भक्ति	"
						४४९	आदि पुराण	"	"	प्रपञ्च चरित्र	"
						४५०	उत्तर पुराण	"	"	२३ तीर्थकर	"
						४५१	पुराणसार संग्रह	"	"	६ तीर्थकर	"
						४५२	शान्तिनाथचरित	"	"	यथा नाम	"
						४५३	मल्लिनाथ	"	"	"	"
						४५४	पार्ष्वनाथ पुराण	"	"	"	"
						४५५	महावीर	"	"	"	"

क्र.सं.	ग्रन्थ	समय ई. सन्	रचयिता	विषय	क्र.सं.	ग्रन्थ	समय ई. सन्	रचयिता	विषय	क्र.सं.
४६६	वर्द्धमान चरित्र			यथा नाम	४६६	तत्त्वार्थ वृत्ति			तत्त्वार्थसूत्र टीका	सं
४६७	श्रीपाल			"	४६६	पट्टाभूत टीका			बुन्दकुन्दके प्रामृती	"
४६८	यशोधर			"	४६७	तत्त्वत्रय			की टीका	"
४६९	धन्यकुमार			"	"	प्रकाशिका			ज्ञानार्णव कथित	"
४७०	सुकुमाल			"	"	यशस्तिनक			गद्य भागकी टीका	"
४७१	सुदर्शन			"	"	चन्द्रिका			यशस्तिनक	"
४७२	वसु कथाकोष			"	"	४७६	यशोधर चरित्र		चम्पूकी टीका	"
४७३	मूलाचार प्रदीप	१४२४		यस्याचार	"	४७७	श्रीपाल चरित्र		यथानाम	"
४७४	सिद्धान्तसार			"	स	४७८	श्रुतस्कन्ध पूजा		"	"
	दीपक				४७९	योगसार		अन्तपाद	श्रुतकीर्ति	अप.
४७५	लोक विभाग	मध्यपाद	सिंहसुरि	प्राचीन कृतिका	"	४८०	धम्म परिखवा		श्रावकमुनि आचार	"
			(रवे)	स रूपान्तर	"	४८१	परमेष्ठी प्रकाश		वैदिक का उपहास	"
४७६	पासणाह चरित्र	१४२२	कवि असवाल	यथानाम	अप	४८२	सार		यथानाम	"
४७७	धर्मदत्त चरित्र	१४२६	दयासागर	"	स	४८३	हरिवंश पुराण		"	अप
			सुरि	"	"	४८४	भुजमलि चरितम्		दोष्टम्य	स.
४७८	हरिवंश पुराण	१४२६-४०	यश कीर्ति	"	अप	४८५	पाहुड़ दोहा		गोमटेश मूर्तिका	"
४७९	जिगरत्ति कहा			रात्रिभुक्ति	"	४८६	पुराणसार	१४६८-१४९८	महानन्दि	अप
४८०	रविबन्धु कहा			यथानाम	"	४८७	वैराग्य माना		अध्यात्म	स
४८१	तत्त्वार्थ रत्न	१४३२	प्रभाचन्द्र	तत्त्वार्थसूत्र	सं				यथानाम	"
	प्रभाकर			टीका						
४८२	संतिगाह चरित्र	१४३७	शुभकीर्ति	यथानाम	अप	१६ ईसवी	शताब्दी १६ —			
४८३	पासणाह चरित्र	१४३६		"	४८८	सम्पन्नक कौमुदी	१४०८	जोधराज	तत्त्वार्थ	हि
४८४	सक्कोसल चरित्र			"	"	४८९	जीवतन्त्र	१४१६	मगरस	कन्नड़
४८५	सम्पत्तगुणविहाण	१४४२		लोकप्रिय	"	४९०	जीवतन्त्र		नेमिचन्द्र	गो० सा० टीका
	कव्य			आरम्यान	"	४९१	प्रदीपिका			"
४८६	सुदर्शन चरित्र	१४४२-८२	विद्यानन्दि	यथानाम	सं	४९२	भद्रबाहु चरित्र	१४१६	रत्नकीर्ति	यथानाम
			भट्टारक	"	४९३	अप पण्णसि	१४१६-१४१६	शुभचन्द्र	सं शब्दकोष	स
४८७	संभव चरित्र	१४४३	कवि तेजपाल	यथानाम	अप	४९४	शब्द चिन्तामणि		भट्टारक	सं
४८८	आरम सम्बोधन	१४४३-१४०६	ज्ञानभूषण	अध्यात्म	स	४९५	स्वाद्वाद्बदन			न्याय
४८९	अजित पुराण	१४४८	कवि विजय	यथानाम	अप	४९६	विदारण			"
४९०	जिनचतुर्विंशति	१४५०-१४१४	जिनचन्द्रभट्टा	स्तोत्र	सं	४९७	सम्पन्नक कौमुदी			"
४९१	सिद्धान्तसार			जीवकाण्ड	सं	४९८	तत्त्व निर्णय		तत्त्वार्थ	"
४९२	सिरिपाल चरित्र	१४५०-१४१४	ब्रह्म दामोदर	यथानाम	अप	४९९	अध्यात्मपद टी		"	"
४९३	वरग चरित्र	१४५०	कवि तेजपाल	"	"	५००	परमाध्यात्म		अध्यात्म	"
४९४	नागकुमार चरित्र	१४५४	धर्मधर	"	"	५०१	तरंगिनी		"	"
४९५	पासपुराण	१४५८	कवि तेजपाल	यथानाम	अप	५०२	सुभाषितार्णव		"	"
४९६	यशोधर चरित्र	१४६१	सोमकीर्ति	"	सं	५०३	चन्द्रमय चरित्र		यथानाम	"
४९७	सप्तम्यसनकथा	१४६१-१४८३		"	"	५०४	पार्श्वनाथ काव्य		"	"
४९८	चारुदत्त चरित्र	१४७७		"	"	५०५	पञ्जिका		"	"
४९९	प्रद्युम्न चरित्र	१४७७		"	"	५०६	महावीर पुराण		"	"
५००	तत्त्वज्ञान	१४७९	ज्ञानभूषण	अध्यात्म	सं	५०७	पञ्चनाभ चरित्र		"	"
	तरंगिनी			"	"	५०८	चन्दना चरित्र		"	"
५०१	आरम सम्बोधन	१४८३-१४०६		"	"	५०९	चन्दन कथा		चन्दना चरित्र	"
	आराधना	१४६६	अज्ञात	पञ्चसग्रह प्रा की	प्रा	५१०	अमरसेन चरित्र	१४१६	माणिक्यराज	मुनि अमरसेनका
				प्राकृत टीका	अप	५११	नागकुमार चरित्र	१४२२	जीवन वृत्त	अप
५०२	पाण्डव पुराण	१४७८-१४६६	यश कीर्ति	यथानाम	स	५१२	आराधना	१४१८	यथानाम	"
५०३	धर्मसंग्रहश्रावका	१४८४	मेघाबी	श्रावकाचार	स	५१३	कथाकोष		"	"
५०४	औदार्य चिन्ता	१४८७-१४६६	श्रुतसागर	प्राकृत व्याकरण	प्रा	५१४	धर्मोपदेश पीयूष	१४९८-२८	श्रावकाचार	"
						५१५	रात्रि भोजनरयाग		यथानाम	"
							वसु कथा			"

क्रमांश	ग्रन्थ	समय ई० सत्	रचयिता	विषय	भाषा	क्रमांश	ग्रन्थ	समय ई० सत्	रचयिता	विषय	भाषा
४३२	नेमिनाथ पुराण	१५२८		यथा नाम	स	४७५	कथाकोष	१५८३-१६०५	वेवेन्द्रकीर्ति	यथा नाम	स
४३३	श्रीपाल चरित्र			"	"	४७६	श्रीपाल चरित्र	१५९४	कवि परिमल	"	"
४३४	सिद्धांतसारभाष्य	१५२८-५६	ज्ञानभूषण	"	"	४७७	पार्श्वनाथ पुराण	१५९७-१६२४	चन्द्रकीर्ति	"	"
४३५	संतिणाह चरित्र		कवि महीचन्द्र	"	अप	४७८	शब्दरत्न प्रदीप	१५९६-१६१०	सोमसेन	सं० शब्दकोष	"
४३६	चेतनप्रवृत्तिलघुमाल	१५३२	भूचिराज	यथानाम रूपक	"	४७९	धर्मरसिक (प्रिवर्णाचार)			पंचामृत अभिषेक	"
४३७	मयण जुम्ह			मदनयुद्ध	"	४८०	रामपुराण			आदि	"
४३८	मोहविवेक युद्ध			यथानाम	"					यथानाम	"
४३९	संतोषतिल			संतोष द्वारा लोभको	"						
	जयमाल			जीतना (रूपक)	"						
४४०	ट हाणा गीत			ससार दुःखदर्शन	"	४८१	अध्यात्म सवैया	१६००-१६२४	रूपचन्द्रपाण्डे	अध्यात्म	हि
४४१	भुवनकीर्ति गीत			भुवनकीर्तिकी प्रशस्ति	"	४८२	खटोलनागीत			(रूपक) चार	"
४४२	नेमिनाथ			राजमतिके	"					कपायरूप पायों	"
	बारहमासा			उद्धार	"					का खटोलना	"
४४३	नेमिनाथ वसंत			नेमिनाथ वैराग्य	"	४८३	परमार्थगीत			अध्यात्म	"
४४४	कार्तिकेयानु-प्रेक्षा टीका	१५४३	शुभचन्द्र भट्टारक	यथानाम	सं	४८४	" दोहा शतक			"	"
४४५	जीवन्धर चरित्र	१५४६		"	"	४८५	स्फुटपद			भक्ति	"
४४६	प्रमेयरत्नाकर	१५४४	चारुकीर्ति	न्याय	"	४८६	यशोधर चरित्र	१६०२	ज्ञानकीर्ति	यथानाम	स
४४७	गीत बीतराग			श्रुपभदेवके १० जन्म	"	४८७	शब्दानुशासन	१६०४	भट्टाकलक	सं शब्द कोश	"
४४८	पाण्डवपुराण	१५५१	शुभचन्द्र भट्टारक	यथानाम	सं	४८८	चूड़ामणि	१६०४	तुम्बुलाचार्य	पदवण्ड टीका	"
४४९	भरतेशवैभव	१५५१	रत्नाकर	"	"	४८९	भक्तामर कथा	१६१०	रायमल	यथानाम	"
४५०	होलीरेणुकाचरित्र		प जिनदास	पञ्चमस्कारमहात्म्य	हि	४९०	विमल पुराण	१६१७	ब्र कृष्णदास	"	"
४५१	करकण्ठ चरित्र	१५५४	शुभचन्द्र भ	यथानाम	सं	४९१	मुनिमुवत पुराण	१६२४		"	"
४५२	कर्म प्रकृति टी	१५५६-७३	ज्ञानभूषण	कर्मसिद्धान्त	"	४९२	महा विलास	१६२४-१६४३	भगवती दास	अध्यात्म	हि
४५३	भविष्यदत्तचरित्र	१५५८	सुन्दरदास	यथानाम	"	४९३	नाममाला	(१६१३)	पं बनारसी	एकार्थक शब्द	"
४५४	रायमल्लाम्युदय			२४ तीर्थश्रुतिका	"	४९४	समयसार नाटक	(१६३६)	दास	"	"
४५५	कर्म प्रकृति टी	१५६३-७३	सुमतिकार्ति	कर्म सिद्धान्त	"	४९५	अर्धकथानक	(१६४४)		अपनी आत्मकथा	"
४५६	कर्मकाण्ड			"	"	४९६	बनारसी विलास	(१७०९)		"	"
४५७	पंच संग्रह वृत्ति			"	"	४९७	अध्यात्मोपनिषद	१६३८-१६८८	यशोविजय	अध्यात्म	स
४५८	सुखबोध वृत्ति	लगभग १५७०	पं योगदेव भट्टारक	तत्त्वार्थ सूत्र टी	"	४९८	अध्यात्मसार		(श्वे)	पदसंग्रह	"
४५९	अनन्तनाथपूजा	१५७३	गुणचन्द्र	यथानाम	"	४९९	जय विलास			न्याय	"
४६०	अध्यात्मकमल मार्तण्ड	१५७५-१५८३	पं राजमल	अध्यात्म	"	५००	जैन शक			"	"
४६१	पञ्चाध्यायी	१५८३		पदार्थ विज्ञान	"	५०१	स्याह्वाइ मञ्जूपा			"	"
४६२	पिंगल शास्त्र			छन्द शास्त्र	"	५०२	शास्त्रवार्ता			"	"
४६३	खाटी संहिता	(१५८४)		भावकाचार	"	५०३	समुच्चय			"	"
४६४	जम्बूस्वामीचरित्र			यथानाम	"	५०४	दिग्पद चौरासी	१६४२	प जगन्नाथ	दिग्गम्बरका खडन	हि
४६५	हनुमन्त चरित्र			"	"	५०५	चतुर्विंशति			२४ अर्थों वाला	सं
४६६	द्वादशांग पूजा	१५७९ १६१९	श्रीभूषण	"	"	५०६	सन्धानकाव्य	१६४६		एक पद्य	"
४६७	प्रतिमोघ चिंतामणि			यथानाम	"	५०७	श्वे पराजय			केवल भक्ति	"
४६८	शान्तिनाथपुराण			यथानाम	"	५०८	सुखनिधान	१६४३		निराकृति	"
४६९	सत्त्वसनकहा	१५८०	मणिक्यराज	यथानाम	"	५०९	श्रीपालकथा	१६६६	श्रीपालकथा	सोताकी अग्नि	मरा
४७०	ज्ञानसुयोदय ना	१५८०-१६०७	बादिचन्द्र	रूपक काव्य	अप	५१०	सीतापताका			परीक्षा	"
४७१	पवनदूत			मेघदूतकी नक़ल	"	५११	पद साहित्य	१७२४-३२		अध्यात्म पद	"
४७२	पार्श्व पुराण			यथानाम	"	५१२	पाश्वर्षपुराण	१७३२		यथानाम	"
४७३	श्रीपाल आर्यायान			"	"						"
४७४	सुभग सुलोचना चरित्र			"	"						"

१७ ईसवी शताब्दी १७ —

१८ ईसवी शताब्दी १८ —

क्र.सं.	ग्रन्थ	समय ई.सन्	रचयिता	विषय	भाषा
६१४	क्रिया क'प	१३२३	पं किशनचंद	गृहस्थोचित क्रियायें	हिं
६१५	प्रमादमेय कानिका	१३७०-७३	नन्दरीत	न्याय	स
६१६	क्रियाकाय	१३७८	प दीनतराम १	गृहस्थोचित क्रियायें	हिं
६१७	शोधन चामित्र	१७३०-८२		यथानाम	"
६१८	गामटुमार टीका	१७५६-८०	प टोटरमल	कर्म मिष्टान्त	"
६१९	नक्षत्रमार टी			"	"
६२०	सप्तमार टीका			"	"
६२१	गामटुमार पूजा	१७३६		यथानाम	"
६२२	अर्थमष्टि	१७४०-६७		नो सा गणित	"
६२३	रहस्यपूर्ण चिट्ठी	१७५३		अध्यात्म	"
६२४	सम्मानन तद्विधा	(१७६१)		"	"
६२५	मोगमोग प्रता	(१८६७)		"	"
६२६	परमानन्दविनायक	१८४५-६७	प देवीदयान	पदसंग्रह	"
६२७	दान कथा	१८५६	भारामल	गथानाम	"
६२८	दान कथा			"	"
६२९	निगिरथा			"	"
६३०	दान कथा			"	"
६३१	दान कथा	१७६८-७८६	प दीनतराम २	तत्त्वार्थ	"

१९ इगवी जतादी १९ —

[illegible]

इत्य—८ ३, ४७१३ ।

द्वयारिका—न नि २/२८/३१/११ पञ्चपुर्यापोति गच्छतीत्येव-
 " अत्राग्रे । इतिग्राह्ये । कुर्यात्तु य इत्यारिका । —जिमहा
 रम्भाज्जगत्पुत्रेयं पाम जाना जाना ई वट (प्री) इत्येवरी यद्वानाती

है। इस्वरी अर्थात् अभिसारिका। इनमें भी जो अत्यन्त अचरत होती है वह इस्वरिका कहा जाती है, यहाँ क्रिस्त अर्थ-में 'क' प्रत्यय होकर इस्वरिका शब्द बना है। (रा बा ७/२२/२६/४४)

इति सग—मि वि/प्र/२१ प महेन्द्रकुमार "चीनी यात्री था।
ई ६७१ ई६९५ तक भारतकी यात्रा की।" समय—ई श ७।

इला—१ हिमवाज् पर्वतका एक कूट व तन्निवासिनी देवी—दे लोक ५/४
२ रुचक पर्वत निवासिनी दिषकुमारी --दे लोक ५/१३।

इलावर्धन—दुर्ग देशका एक नगर—दे मनुष्य ४ ।

इलावृत वर्ष—ज प/प्र १४१/Α N Up, H L Jain)

पुराणों के अनुसार इलायत चतुरस्र है। इधर वर्तमान भूगोल के अनुसार पामीर प्रदेश का मान 150×150 मील है। अतः चतुरस्र होने के कारण यह 'पामीर' ही इलायत है।

इषुगति—दे विग्रह गति २

इष्ट—पदार्थकी इष्टानिष्टता रागके कारणसे है वास्तवमें कोई भी पदार्थ इष्टानिष्ट नहीं- दे राग २ ।

इष्टवियोगज आर्तध्यान—दे आर्तध्यान १।

इष्टोपदेश—आ पुन्यपाद (ई श ५) द्वारा रचित यह ग्रन्थ ५१ श्लोकोर्मि आध्यात्मिक उपदेश वेत्ता है। इस पर पं आशाधर कृत (ई ११७३) संस्कृत टीका है (तो २/२२६), (जे २/१६६)।

इष्वाकार—१ (ज ५/प्र १०५ + Arc), २ धातकीखण्ड व पुष्परार्ध इन दोनों द्वीपोंकी उत्तर व दक्षिण दिशाओंमें एक-एक पर्वत स्थित है। इस प्रकार चार इष्वाकार पर्वत हैं जो उन-उन द्वीपों की आधे-आधे भागोंमें विभाजित करते हैं। (विशेष—दे लोक ४/२)

5

ईतभीत—सकट व भय । सात ईति व सात भय हैं ।—दे गृहव जैन
शास्त्रार्थ द्वितीय खंड ।

ईर्या—स सि ६/४/३२१/१ ईरणमीर्या योगो गतिरित्यर्थ । —ईर्या-
की व्युत्पत्ति ईरण होगी । इसका अर्थ गति है । (रा वा ६/४/६/
६०=१७) ध ३/६ ४ २८/४७ १०ईर्या योग । —ईर्याका अर्थ योग है ।

ईर्यापथकर्म—जिन तमों का आसन्न होता है पर मरुघ नहीं होता। उन्हें ईर्यापथकर्म कहते हैं। आनेके जगले भूमि ही बिना फल दिये वे फल जाते हैं। अत इन्में एक सगर मात्रकी स्थिति होती है अधिक नहीं। मोक्ष का सर्वथा उपशम अथवा क्षय हो जाने पर ही ऐसे कर्म आया करते हैं। एवं गुणस्थान तक जयतक मोक्ष का किंचिद भी सद्भाव है तमक ईर्यापथकर्म सम्भवा नहीं, क्योंकि कपागके सद्भावमें स्थिति सम्भवेना नियम है।

१ ईर्यापयत्तुर्मका लक्षण

प रा १२/१५/सू २८/८० त इन्द्रमत्स्ययोगरायाण सजोगिवेबनोण वा
त सञ्जवमोगिया-हम्म नाम १२/१५ -वह इन्द्रस्थ यीतरागोके और
मगोगि केवलमिने होता है, वह मय ईर्ष्यापथकम् है।

त मु ६/१ सत्पायाय पागयो साम्परायिके र्यापथगो १४१-वपायतहित
और वपाय रहित आमाया याग क्रममे साम्परायिक और ईर्यापथ
कर्मके आयाम स्पष्ट ।

स सि. ६/४/३२१/१ ईरणमीर्या योगो गतिरित्यर्थः । तद्द्वारकं कर्म ईर्यापथम् । — ईर्याको व्युत्पत्ति 'ईरण' होगी इसका अर्थ गति है । जो कर्म इसके द्वारा प्राप्त होता है वह ईर्यापथकर्म है ।

रा वा ६/४/७/५०८/१८ ईरणमीर्या योगगति । १६। उपशान्तक्षीणकपाययो समीगिनश्च योगवशादुपात्त कर्म कपायाभावाद् बन्धाभावे शुष्ककुट्यपतितलोष्ठवद् अनन्तरसमये निवर्तमानमीर्यापथमित्युच्यते । — ईर्याको व्युत्पत्ति ईरणं होतो है, उसका अर्थ गति है । ६। उपशान्तकपाय, क्षीणकपाय, और समीगकेवलीके योगसे आये हुए कर्म कपायोंका चेप न होनेसे सूखी दीवारपर पड़े हुए पत्थरकी तरह द्वितीय क्षणमें ही भङ्ग जाते हैं, बन्धते नहीं हैं । यह ईर्यापथ आसव कहलाता है । (त सा ४/७)

घ १३/४.४.२४/४७/१० ईर्या योग स पन्था मार्ग हेतु यस्य कर्मण तदोर्यापथकर्म । जोगणित्तेणेव ज बज्जई तमोरियावहकम्म प्ति भणिद् होदि ।

घ १३/४.४.२४/४१/१ मधमागयपरमाणू विदियसमए चेव गित्सेसं गिज्जरति त्ति महव्वयं । — ईर्याका अर्थ योग है । वह जिस कामिण शरीर का पथ, मार्ग, हेतु है वह ईर्यापथकर्म कहलाता है । योगमात्रके कारण जो कर्म बन्धता है वह ईर्यापथकर्म है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है । बन्धको प्राप्त हुए कर्म परमाणु दूसरे समयमें ही सामान्य भावसे निर्जराको प्राप्त होते हैं, इसलिए ईर्यापथ कर्मस्कन्ध महात्त्वयवाले बड़े गये हैं ।

२ नारकियोंके तथा सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान पर्यन्त ईर्यापथ कर्म नहीं होता

घ १३/४.४.३१/६१-६२/४ आधाकम्म इरियावथकम्म-तुवोक्कम्मणि गत्थि, गेरह्वरु ओरालियसरीरस्स उदयाभावाद् पंचमहव्वयाभावाद् । सुहुमत्तापराइप्पसु इरियावथकम्म पि गत्थि, सक्साएसु तदसंभवाद् । — अथ कर्म, ईर्यापथकर्म, और तपकर्म नहीं होते, क्योंकि नारकियोंके औदारिक शरीरका उदय और पाँच महान्त नहीं होते । सूक्ष्मसाम्पराय सयत्त जीवोंके ईर्यापथकर्म नहीं होता, क्योंकि कपाय सहित जीवोंका ईर्यापथकर्म नहीं हो सकता ।

३. ईर्यापथ कर्ममें वर्ण रसादिकी अपेक्षा विशेषताएँ

घ १३/४.४.२४/२-४/४८ अप्प भादरं मवुअ बहुअ ण्हुक्ख च सुक्किल चेव । मद्द महव्वय पि य सादम्भहियं च त कम्म । १। गहिदमगहिद् च तहा बद्धममद्द च पुट्टमपुट्ठ च । उदिदाणुदिद वेदिदमवेदिद् चेव तं जाणे । २। गिज्जरिदाणिज्जरिद उदोरिद चेव होदि जायव्व अणुदोरिदं त्ति य पुणे इरियावहलक्खण एद् ४४।

घ १३/४.४.२४/४८-५०/१२ इरियावहकम्मक्खधा वक्खहादिगुणेण अबोहा मउअसासगुणेण सहिया चेव मधमागच्छंति त्ति इरियावहकम्मं मउअ त्ति भण्णवे । सक्सायजीववैयणीयसमयपमत्ताद्दो पदेसेहि सखेज्जगुणत्त दट्ठूण बहुअमिदि भण्णवे । पोगलपदेसेसु चिरकाला-वद्धानिषधणजिदगुणपडिक्खल्लगुणेण पडिगगहियत्ताद्दो णुक्ख । इरियावहकम्मस्स कम्मक्खधा सुअधा सच्छाया त्ति जाणावणफलो । इरियावहकम्मक्खधा पचवण्णा ण होति, हंसघवसा चेव होति त्ति जाणावणट्ठ सुक्किलिण्णसे कद्दो । इरियावहकम्मक्खधा रसेण सक्कराद्दो अहियमहुरत्तजुत्ता त्ति जाणावणट्ठं मंदिण्णदेसो कद्दो । — वह ईर्यापथकर्म अणु है, भादर है, मृदु है, बहुत है, रूक्ष है, शुक्ल है, मन्द है, अर्थात्त मधुर, महात्त्वयवाता है और अत्यधिक सात्ता रूप है । २। उसे गृहीत होकर भी अगृहीत, बद्ध होकर भी अबद्ध, स्पृष्ट होकर भी अस्पृष्ट, उदित होकर भी अनुदित और वेदित होकर भी अवेदित जानना । ३। वह निर्जरित होकर भी निर्जरित नहीं है, और उदोरित होकर भी अनुदोरित है । इस प्रकार यह ईर्यापथकर्मका लक्षण है । ४। (इसे अणु व भादर कहनेका कारण—दे अगला शीर्षक) ईर्यापथकर्म स्कन्ध कर्कशादि गुणोंसे रहित है, वह मृदु स्पर्शगुणसे

सयुक्त होकर ही बन्धको प्राप्त होता है । इसलिए हमें 'मृदु' कहा गया है । कपाय सहित जीवके वेदनीय कर्मके समयप्रमदसे यहाँ बंधने-वाला समय प्रमद प्रदेशोंकी अपेक्षा सख्यात गुणा होता है इसलिए ऐसा देखकर ईर्यापथकर्मको बहुत कहा । ईर्यापथकर्म स्कन्ध रूक्ष है, क्योंकि पुद्गल प्रदेशोंमें चिरकाल तक अवस्थानका कारण स्निग्ध गुणका प्रतिपक्षीभूत गुण उसमें स्वीकार किया गया है । ईर्यापथकर्मके स्कन्ध अच्छी गन्धवाले और अच्छी कान्तिवाले होते हैं, यह जलाना च शब्दका फल है । ईर्यापथकर्म स्कन्ध पाँचवर्णवाले नहीं होते, किन्तु इसके समान धवल वर्णवाले ही होते हैं, इस बातका ज्ञान करानेके लिए गाथामें शुक्ल पदका निर्देश किया है । ईर्यापथकर्म रसकी अपेक्षा शक्करसे भी अधिक माधुर्ययुक्त होते हैं । इस बातका ज्ञान करानेके लिए गाथामें मन्द पदका निर्देश किया है । (गृह त-अगृहीत, बन्ध अवन्ध, स्पृष्ट अस्पृष्ट कहनेका कारण—दे शीर्षक सं ४, १२, निर्जरित कहनेका कारण—दे शीर्षक सं ४, उदोरित कहनेका कारण—दे शीर्षक सं ६)

४. ईर्यापथकर्ममें वन्वकी अपेक्षा विशेषता

घ १३/४.४.२४/४८/१० कसायाभावेण द्विदिग्घाजोगरस्स कम्मभावेण परिणयविदियसमए चेव अकम्मभाव गच्छेत्तस्स जोगेणागदपोगल-क्खधस्स द्विदिग्घिरिहिएगसमए बट्टमाणस्स कालणिषधणअप्पत्त दसणाद्दो इरियावहकम्ममप्पमिदि भणिद् । उप्पणविदियादि-समयाणमवद्धानववणसुवल भादो । ण उप्पत्तिसमओ अवद्धान होदि, उप्पत्तीए अभावप्पसगादो । अट्टण कम्माण समयमद्दपवेसेहिदो इरियावहसमयपद्दस्स पदेसा सखेज्जगुणा होति, साद मोत्तूण अण्णेसि बंधाभावादो । तेण ठुक्कमाणकम्मक्खधेहि धूलमिदि भादरं भणिद् । कसायाभावेण अणुभागवधाभावादो । सक्सायजीववैय-णीयसमपमद्दा पवेसेहि सखेज्जगुणत्त दट्ठूण बहुअमिदि भण्णवे । घ १३/४.४.२४/४१ ४२/१० इरिवहकम्म गहिद् पि तण्ण गहिद् । कुदो । सरागकम्मगहणमेव अणं तरस्स सारफलणिक्कत्तणत्तचिरहादो । बद्ध पि तण्ण बद्ध चेव, विदियसमए चेव गिज्जरुक्खलभादो पुट्ठ पि तण्ण पुट्ठं चेव इरियावहक्खधस्स संतसहावेण जिदिदम्भि अव-द्धानाभावादो । — कपायका अभाव होनेसे स्थिति बन्धके अयोग्य है । कर्म रूपसे परिणत होनेके दूसरे समयमें ही अकर्म भावको प्राप्त हो जाता है, और स्थिति बन्ध न होनेसे मात्र एक समय तक विद्यमान रहता है, ऐसे योगके निमित्त से आये हुए पुद्गल स्कन्धमें काल निमित्तक अणुत्व देखा जाता है । इसलिए ईर्यापथकर्म अणु है । क्योंकि उत्पन्न होनेके पश्चात् द्वितीयादि समयोंकी अवस्थान सहा पायी जाती है । उत्पत्तिके समयको ही अवस्थान नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि ऐसा माननेसे उत्पत्तिके अभावका प्रसंग आ जायेगा । आठों कर्मोंके समयप्रमद प्रदेशोंसे ईर्यापथकर्मके समय प्रमद प्रदेश सख्यात गुणे होते हैं, क्योंकि यहाँ सात्ता वेदनीयके सिवाय अन्य कर्मोंका बन्ध नहीं होता । इसलिए ईर्यापथ रूपसे जो कर्म आते हैं, वे स्थूल हैं, अतः उन्हें 'भादर' कहा है । कपायका अभाव होनेसे अनुभाग बन्ध नहीं पाया जाता है । कपाय सहित जीवके वेदनीय कर्मके समयप्रमदसे यहाँ बन्धनेवाला समयप्रमद प्रदेशोंकी अपेक्षा सख्यात गुणा होता है । ऐसा देखकर ईर्यापथकर्मको बहुत कहा है । गृहीत होकर भी वह गृहीत नहीं है, क्योंकि वह सरागीके द्वारा ग्रहण किये गये कर्मके समान ससारको उत्पन्न करने-वाली शक्तिये रहित है । बद्ध होकर भी बद्ध नहीं है, क्योंकि दूसरे समयमें ही उनकी निर्जरा देखी जाती है । स्पृष्ट होकर भी स्पृष्ट नहीं है, कारण कि ईर्यापथ बन्धका सत्त्व रूपसे जिनेन्द्र भगवाद्देके अवस्थान नहीं पाया जाता है । (और भी—दे ईर्यापथ ३/१)

५. ईर्यापथकर्ममें निर्जराकी अपेक्षा विशेषता

घ १३/४.४.२४/४१.४४/१ मधमागयपरमाणू विदियसमए च गित्सेस गिज्जरति त्ति महव्वयं । गिज्जरिदमाप तण्ण गिज्जरिद, सक्काय-

कम्मणिज्जरा इव अण्णेसिमणसाणं कम्मसकधानं बंधमकाऊण निजिज्जणत्तादो । बन्धको प्राप्त हुए परमाणु दूसरे समयमें ही सामस्रय भावसे निर्जराको प्राप्त होते हैं, इसलिए ईर्यापथकर्म स्कन्ध महात् व्ययवाले कहे गये हैं । निजिरित होकर भी वह ईर्यापथकर्म निजिरित नहीं है, क्योंकि कथायके सद्भावमें जैसी कर्मोंकी निर्जरा होती है वैसी अन्य अनन्त कर्म स्कन्धोंकी, बन्धके बिना ही निर्जरा होती है । (और भी—दे ईर्यापथ ४/२)

६ ईर्यापथकर्ममें उदय उदीरणाकी अपेक्षा विशेषता

घ १३/४.४.२४/४२-४४/कमश ७.२.६ उदिणमपि तण्ण उदिण्णं दज्जोहमरासि व्व पत्तणिव्वीयावत्तादो । (४२/७) वेदिह पि अमाद-वेदणीयं वेदिह, सगसहकारिकारणधादिक्कमाभावेण दुक्खजण-सत्तिरोहादो (४३/२) । उदीरिह पि न उदीरिह, बंधाभावेण जम्मसहृपायणसत्तीए अभावेण च जिज्जराए फत्ताभावादो (४४/६) । —उदीरणा होकर भी उदीरित नहीं हैं, क्योंकि वे दग्ध गेहूँके समान निर्बल भावको प्राप्त हो गये हैं । (१०) । असाता वेदिह होकर भी वेदिह नहीं हैं, क्योंकि अपने सहकारो कारण रूप घातिया कर्मोंका अभाव हो जानेसे उसमें दुःखको उत्पन्न करनेकी शक्ति मानने में विरोध आता है । (११) । उदीरित होकर भी वे उदीरित नहीं हैं क्योंकि बन्धका अभाव होनेसे और जन्मान्तरको उत्पन्न करनेकी शक्तिका अभाव होनेसे निर्जराका कोई फल नहीं देला जाता ।

७ ईर्यापथकर्ममें सुखकी विशेषता

घ १३/४.४.२४/४१/३ देव-माणुससुहेहिहो भट्टयसुहृपायणत्तादो इरियावहकम्मं सादग्गहिं । —देव और मनुष्योंके सुखमें अधिक सुखका उत्पादक है, इसलिए ईर्यापथकर्मको अत्यधिक साता रूप कहा है ।

८ ईर्यापथके रूक्ष परमाणुओंका बन्ध कैसे सम्भव है

घ १३/४.४.२४/४०/६ जइ एव्वं तो इरियावहकम्ममिण वल्लो, वहुवलेग-गुणाण परोप्परबंधाभावादो । न, तत्थ दुग्गहियाणं मधुवल्लभादो । —प्रश्न—यहाँपर रूक्षगुण यदि इस प्रकार हैं तो (ईर्यापथ कर्म-बन्धके नियममें कथित रूपसे) ईर्यापथ कर्मका स्कन्ध नहीं बन सकता क्योंकि एक मात्र रूक्ष गुणवालोंका परस्पर मध्य नहीं हो सकत । उत्तर—नहीं क्योंकि वहाँ भी द्विअधिक गुणवालोंका बन्ध पाया जाता है ।

९ ईर्यापथकर्ममें स्थितिका अभाव कैसे कहते हो

घ १३/४.४.२४/४८/१३ कम्मभावेण एगसमयवट्ठिहस्स कधमवट्ठानाभावो भण्णदे । न, उप्पणविदियादिसमयाणवट्ठानववपसुवलादो । न, उप्पत्तिसमओ अवट्ठान होदि, उप्पत्तीए अभायप-संगादो । न च अणुप्पणस्स अवट्ठानमरिय, अण्णरथ तज्जाणु-लभादो । न च उप्पत्तिअट्ठानाणमेयत्तं, पुब्बुसरकालभाविमाण-मेयत्तविरोहादो । —प्रश्न—अर्थात् ईर्यापथ कर्म कर्मरूपसे एक समय तक अवस्थित रहता है तब उसके अवस्थानका अभाव क्यों बताया । उत्तर—नहीं क्योंकि उपपन्न होनेके पश्चात् द्वितीयादि समयोंकी अवस्थान संज्ञा पायी जाती है । उपपत्तिके समयको ही अवस्थान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे उपपत्तिके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है । यदि कहा जाये कि अनुत्पन्न वस्तुका अवस्थान बन जायेगा, सो भी बात नहीं है, क्योंकि अन्यत्र ऐसा देला नहीं जाता । यदि उपपत्ति और अवस्थानको एक कहा जाये सो भी बात नहीं क्योंकि ये दोनों पूर्वोत्तर कालभावी हैं, इसलिए इन्हें एक माननेमें विरोध आता है । यही कारण है कि यहाँ ईर्यापथ कर्मके अवस्थानका अभाव है ।

१० ईर्यापथकर्ममें अनुभागका अभाव कैसे है

घ १३/४.४.२४/४६/६ न कसायाभावेण अनुभागबंधाभावादो । कम्मइय-सकधान कम्मभावेण परिणमणकालेसवज्जीवेहि अणंतगुणेण अनुभागेण

होदधं, अण्णहा कम्मभावपरिणानाणुसयत्तीदो ति । न एस दोसो जल्लणाणुभागट्ठानग्गस जल्लणकद्वयादो अण तणुए होण, अनुभागेण कम्म यवंधो बधमागच्छदि ति वाट्ठण अनुभागबंधो णरिय ति भण्णद । तेण बंधो एगसमयवट्ठिदिजियत्तगअणुभागसहिंया अरियि च्चेवे ति येत्तवो । —प्रश्न—कामाणि स्कन्धाका कर्मरूपसे परिणमन करनेके एक समयमें ही सम्म जो दोसे अनन्तगुणा अनुभाग होना चाहिए, क्योंकि अन्यथा उनका कर्मरूपसे परिणमन करना नहीं बन सकता । उत्तर—यह कोई दाव नहीं है, क्योंकि यहाँ पर जपय्य अनुभाग स्थानके जपय्य स्पर्धकसे अनन्तगुणे हीन अनुभागसे युक्त कम्मस्कन्ध बन्धको प्राप्त होते हैं ऐसा समझकर अनुभाग भ्रम नहीं है, ऐसा कहा है । इसलिये एक समयकी स्थितिका निवर्तक ईर्यापथ कर्मभ्रम अणुभाग संहित है ही, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए ।

११ ईर्यापथकर्मके साथ गोत्रादिका भी बन्ध नहीं होता

घ १३/४.४.२४/४२/८ इरियावहकम्मस्स लवणणे ण्णमाणे हेमकम्मं वावारी किमिदि पत्तुविज्जे । न, इरियावहकम्मसहृपरिदत्तेसकम्मं पि इरियावहत्तसिद्धोए तल्लवणत्तम पि इरियावहत्तल्लवणत्तु-वत्तीदो । —प्रश्न—ईर्यापथ कर्मका लक्षण कहते समय दोष कर्मोंके (गोत्र आदिके) व्यापारका बंधन क्यों किया जा रहा है । उत्तर—नहीं, क्योंकि ईर्यापथके साथ गृहेवाले दोष कर्मोंमें भी ईर्यापथक सिद्ध है । इसलिए उनके लक्षणमें भी ईर्यापथका लक्षण घटित हो जाता है ।

१२ ईर्यापथकर्मोंमें स्थित जीवोंके देवत्व कैसे है

घ, १३/४.४.२४/४१/८ जलमज्जकणिबियदित्ततोहंउओ व्व इरियावह-कम्मजल समसवज्जीवपदेहेहि गेण्णमाणे व्ववो कध परमप्पएण समानत्त पडिआजदि ति भणिदे तणिणययत्तमिदं युत्तचदे—इरियावह कम्म गहिं पि तण्ण गहिं । पुदो । मरागकम्मगहणस्सेव अणंत-संसारफलनिवृत्तगसत्तिसिंहहादो । —प्रश्न—जन्तके कीध पड़े हुए तल्लोह पिण्डके समान ईर्यापथकर्मरूपो जन्तको अपने सर्वप्रदेशोंसे ग्रहण करते हुए 'केवली जिन' परमारमाके समान कैसे हो सकते हैं । उत्तर—ऐसा पुछनेपर उसका निर्णय करनेके लिए यह कहा गया है कि ईर्यापथकर्म गृहीत होकर भी गृहीत नहीं है, क्योंकि सरागोके द्वारा ग्रहण किये कर्मसे समान पुनर्जन्म रूप संसार फलको उत्पन्न करनेवाली शक्तिते रहित है ।

* ईर्यापथकर्मविषयक सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पवहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ—
—दे वह वह नाम ।

ईर्यापथ क्रिया—दे क्रिया ३/२ ।

ईर्यापथ शुद्धि—दे समिति १ ।

ईर्यापथ शुद्धि पाठ व विधि—दे कृतिकर्म ४ ।

ईर्यासमिति—दे समिति १ ।

ईशान—१ कण्वपासी स्वर्गोंका दूसरा कण्व—दे स्वर्ग ४/२, २ पूर्ण-उत्तर कोणवाली विदिशा ।

ईशित्व ऋद्धि—दे ऋद्धि ३ ।

ईश्वर—दे परमारमा ३

ईश्वर अतीश्वर नय—दे नय १/४ ।

ईश्वरवाद—दे, परमारमा ३ ।

ईश्वरसेन—पुष्पाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप नन्दिपेणप्रथमके शिष्य तथा नन्दिपेण द्वि के गुरु थे ।—दे इतिहास ७/८ ।

ईष्टप्राग्भार—दे मोक्ष १ ।

ईसवी सवत्—दे इतिहास २।

ईहा—यद्यपि साधारणतः प्रतीतिमें नहीं आता परन्तु इन्द्रियों द्वारा पदार्थको जाननेमें क्रम पड़ता है। पहले अवग्रह होता है, तत्पश्चात् ईहा आदि। अवग्रहके द्वारा ग्रहण किये गये अत्यन्त अस्पष्ट ग्रहण को स्पष्ट करनेके प्रति उपयोगकी उन्मुखता विशेषकी ईहा कहते हैं। इसलिए इसे मतिज्ञानका भेदमाना है।

* मतिज्ञान सम्बन्धी भेद—दे मतिज्ञान १।

१ ईहाके लक्षण सम्बन्धी शंका

घ १३/४, ४, २६/२३०/२ अणवगहिदे अथे ईहा किण्ण उपपज्जे। ण अब गहिदरथविसेसाकलणमीहे त्ति वयणेण सह विरोहावत्तोदे। — प्रश्न—अनवग्रहीत अर्थमें ईहाज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न होता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि ऐसा माननेपर अवग्रहके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थमें उसके विशेषकी जाननेकी इच्छा होना ईहा है, इस वचनके साथ विरोध होता है।

* अवग्रह ईहादिका क्रम—दे मतिज्ञान ३।

२ ईहाके प्रमाणपनेकी सिद्धि

रा वा १/२४/११/६१/२ ननु ईहाया निर्णयविराधिनेत्वात् सशयस्व-प्रसङ्ग इति, तन्न, किं कारणम्। अर्थादानात्। अवग्रहान्तरात् तद्विधेयो-पलब्ध्यर्थमर्थदानमोहा। संशय पुनर्नार्थविशेषालम्बन। एवं-सशयितत्प्राप्तिकालं विशेषोपपत्तिस्तौ प्रति यत्तनमीहेति सशयादर्थ-न्तरत्वम्। —प्रश्न—निर्णयार्थक न होनेके कारण ईहाज्ञान सशय रूप है। उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ईहामें पदार्थ विशेषके निर्णयकी ओर झुकाव होता है जबकि संशयमें किसी एक कोटिकी ओर कोई झुकाव नहीं होता। सशयका उच्छेद करनेके लिए 'दक्षिणी होना चाहिए' इस प्रकारके एक कोटिके निर्णयके लिए ईहा होती है।

घ ६/१, ६-२, १४/१७/३ नेहा संवेहस्सवा, विचारयुद्धीदे संवेहविणासुव-संभा। —ईहाज्ञान संवेह रूप नहीं है, क्योंकि ईहात्मक विचार बुद्धिसे सन्वेहका विनाश पाया जाता है।

घ ६/४, १, ४४/१४६/७ पुरुषमवग्रह किमयं दाक्षिणात्य तत उदीच्य इत्येव-मादिविशेषोपपत्तिस्तौ सशयानस्योत्तरकालं विशेषोपपत्तिस्तौ प्रति यत्तनमीहा। ततोऽवग्रहगृहीतग्रहणात् संशयात्मकत्वाच्च न प्रमाण-मोहाप्रत्यय इति चेदुच्यते—न तावद् गृहीतग्रहणप्रमाण्यनिश्चयनम्, तस्य सशय विपर्ययावध्यवसायनिश्चयनत्वात्। न चैकान्तेन ईहा गृहीतप्राप्तिर्गो, अवग्रहेण गृहीतवस्त्वश्रित्य निर्णयोत्पत्तिनिमित्तलिङ्गमव-ग्रहागृहीतमध्यवस्यन्त्या गृहीतप्राप्तिरवाभावात्। न चैकान्तेन अवग्रहीतमेव प्रमाणीकृत्यते, अवग्रहीतत्वात् त्वरविपाणवदसत्-ग्रहणविरो-धात्। न चेहाप्रत्ययसशय, विमर्शप्रत्ययस्य निर्णयप्रत्ययोत्पत्ति-निमित्तलिङ्गपरिच्छेदनद्वारेण संशयमुपस्य तस्य सशयस्वविरोधात्। न च संशयाधारजोवसमवेतत्वादप्रमाणम्, संशयविरोधिन स्वरूपेण संशयतो व्यावृत्तस्य अप्रमाणत्वविरोधात्। नानध्ययारूपत्वादप्रमाण-मोहा, अध्ययसितकृतिपयविशेषस्य निराकृतसंशयस्य प्रत्ययस्य अनध्यवसायस्वविरोधात्। तस्मात्प्रमाण परीक्षाप्रत्यय इति सिद्ध। —प्रश्न—अवग्रहसे पुरुषको ग्रहण करके, क्या यह दक्षिणका रहने-वाला है या उत्तरका, इत्यादि विशेष ज्ञानके बिना सशयको प्राप्त हुए व्यक्तिके उत्तरकालमें विशेष जिज्ञासाके प्रति जो प्रयत्न होता है वह ईहा है। इस कारण अवग्रहसे गृहीत विषयको ग्रहण करने तथा संशयात्मक होनेसे ईहा प्रत्यय प्रमाण नहीं है। उत्तर—इस शकाके उत्तरमें कहते हैं कि गृहीत ग्रहण अप्रामाण्यका कारण नहीं है क्योंकि उसका कारण संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय है। दूसरे ईहा प्रत्यय सर्वथा गृहीतप्राप्ति भी नहीं है, क्योंकि अवग्रहसे गृहीत वस्तुके

उस अंशके निर्णयकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत लिंगको, जो कि अव-ग्रहसे नहीं ग्रहण किया है, ग्रहण करनेवाला ईहाज्ञान गृहीतप्राप्ति भी नहीं हो सकता, और एकान्ततः अवग्रहीतको ही प्रमाण ग्रहण कहते हैं जो सो भी बात नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर अवग्रहीत होनेके कारण त्वरविपाणके समान असत् होनेसे वस्तुके ग्रहणका विरोध होगा। (घ १३/४, ४, २३/२१६/२) ईहा प्रत्यय सशय भी नहीं हो सकता, क्योंकि निर्णयकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत लिंगके ग्रहण द्वारा संशयको दूर करनेवाला विमर्श प्रत्ययके सशयरूप होने-में विरोध है। सशयके आधारभूत जीवमें समवेत होने से भी वह ईहा-प्रत्यय अप्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि, सशयके विरोधी और स्वरूपतः संशयसे भिन्न उक्त प्रत्ययके अप्रमाण होनेका विरोध है। अनध्यवसाय रूप होनेसे भी ईहा अप्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि कुछ विशेषोंका अध्यवसाय करते हुए संशयको दूर करने वाले उक्त प्रत्ययके अध्यवसाय रूप होनेका विरोध है, अतएव परीक्षा प्रत्यय प्रमाण है, यह सिद्ध होता है। (घ १३/४, ४, २३/२१६/४)

घ १३/४, ४, २३/२१८/३ न चाविशदावग्रहपुष्टभाविनी ईहा अप्रमाणम्, वस्तुविशेषपरिच्छित्तिनिमित्तभूताया परिच्छिन्नतदेवदेशाया, सशय-विपर्ययज्ञानाभ्यां व्यतिरिक्तया अप्रमाणत्वविरोधात्। —अवि-शद अवग्रहके बाद होनेवाली ईहा अप्रमाण है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह वस्तु विशेषकी परिच्छित्तिका कारण है और वह वस्तुके एकदेशको जान चुकी है तथा वह सशय और विपर्यय ज्ञानसे भिन्न है। अतः उसे अप्रमाण माननेमें विरोध आता है।

३ ईहा व धारणामें ज्ञानपनेकी सिद्धि

लघोयस्त्रय/स्वोपलब्धत्ति ६ ईहाधारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वमुन्नेयं तदुप-योगविशेषात्। —ईहा और धारणाका भी उनके उपयोग विशेषसे ज्ञानात्मकत्व लगा लेना चाहिए।

प्रमाणमीमांसा १/१/२७ अज्ञानात्मकतायां तु सत्कारस्येह तस्य वा। ज्ञानोपादानता न स्याद्रपादेरिव सास्ति च। ईहा च यद्यपि चेतोच्यते तथापि चेतनस्य 'सति' ज्ञानरूपवेति युक्तं प्रत्यक्षभेदरवमस्या।

प्रमाणमीमांसा १/१/३६ ईहाधारणयोर्ज्ञानापादानत्वात् ज्ञानरूपतोन्नेया। ईहा और धारणा ज्ञानके जनक होनेसे ज्ञानरूप मानना चाहिए।

श्लो वा ३/१/१६/२०-२१/४४७/१८ ज्ञानं नेहाभिलाषास्मा सत्कारात्म-न धारणा। २० तच्च न व्यवतिष्ठते। विशेषवेदनस्येह दृष्टमेहास्व-सूचनात्। २१। —प्रश्न—अभिलाषारूप माना गया ईहाज्ञान और संस्कार स्वरूप धारणा ज्ञान नहीं सिद्ध हो पाते। क्योंकि अभिलाषा तो इच्छा है, वह आरम्भका ज्ञानने भिन्न स्वतन्त्र गुण है। तथा भावना रूप संस्कार भी ज्ञानसे न्यारा स्वतन्त्र गुण है। अतः इच्छा और संस्कार ज्ञान रूप नहीं हो सकते। उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, इस प्रकरणमें वस्तुके अंशोंकी आकांक्षारूप दृष्टविशेष ज्ञानकी ईहापना सूचित किया है।

४ ईहाज्ञान अविशद अवग्रहका ही नहीं अपितु सर्व अवग्रहोका होता है

घ १३/४, ४, २३/२१७/६ न चाविशदावग्रहपुष्टभाविन्येव ईहेति नियम, विशदावग्रहेण पुरुषोऽयमिति अवग्रहीतेऽपि वस्तुनि किमयं दाक्षि-णात्य किमुदीच्य इति सशयानस्य ईहाप्रत्ययोरप्युपलम्भात्। —अविशद अवग्रहके पीछे होनेवाली ही ईहा है, ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है, क्योंकि, विशद अवग्रहके द्वारा 'यह पुरुष है' इस प्रकार ग्रहण किये गये पदार्थमें भी 'क्या यह दक्षिणार्थ है या उदीच्य है' इस प्रकारके संशयको प्राप्त हुए मनुष्यके भी ईहा ज्ञानकी उत्पत्ति उपलब्ध होती है।

* ईहा व सशयमें अन्तर—दे ईहा २।

* ईहा कथंचित् संशय रूप है—दे अवग्रह २/१/२।

५ ईहा व अनुमानमें अन्तर

घ १३/४.६.२३/२१७/११ नातुमानमोहा, सत्य अवगृहीतार्थविषय-त्वात् न च अवगृहीतानवगृहीतार्थविषययो ईहानुमानयोरकत्वम्, भिन्नाधिकरणयोस्तद्विरोधात् । किं च—नानयोरैकत्वम् स्वविषयाद-भिन्न-भिन्नलिङ्गजनितयोरैकत्वविरोधात् । —ईहा अनुमान ज्ञान नहीं है, क्योंकि अनुमान ज्ञान अवगृहीत अर्थको विषय करता है, और अवगृहीत अर्थका विषय करनेवाले ईहाज्ञान तथा अवगृहीत अर्थको विषय करनेवाले अनुमान ज्ञानको एक मानना ठीक नहीं, क्योंकि भिन्न भिन्न अधिकरणवाले होनेसे उन्हें एक माननेमें विरोध आता है । एक कारण यह भी है कि ईहा ज्ञान अपने विषयमें अभिन्न रूप लिंगसे उत्पन्न होता है, और अनुमान ज्ञान अपने विषयसे भिन्न रूप लिंगसे उत्पन्न होता है, इसलिए ईहें एक माननेमें विरोध आता है ।

* ईहा व श्रुतज्ञानमें अन्तर—दे श्रुतज्ञान १/३ ।

* ईहा व अवग्रहमें अन्तर—दे अवग्रह ७/१२ ।

* ईहादि तीन ज्ञानोको मतिज्ञान व्यपदेश सम्बन्धी ज्ञका समाधान—दे मतिज्ञान ३ ।

* ईहा व धारणामें अन्तर—(दे धारणा २)

[उ]

उक्त—मतिज्ञानका एक विकल्प—दे मतिज्ञान ४ ।

उग्रतप—एक श्रद्धा—दे श्रद्धा ६ ।

उग्रवश—एक पौराणिक वंश—दे इतिहास १०/३ ।

उग्रसेन—(भारतीय इतिहास १/२८६)—अपर नाम जनक था—अतः दे जनक । राजुनके पिता । —दे बृहत् जैन शब्दार्णव द्वितीय खंड । म पु सर्ग १० मथुराका राजा व कंसका पिता था । ३३-२७ । पूर्वभवके वैसे कंसने इनको जेलमें डाल दिया था । ३६-२६ । कृष्ण द्वारा कंसके मारे जानेपर पुन इनको राज्यकी प्राप्ति हो गयी । ३६ ६१

उग्रादित्याचार्य—(यु अनु / प्र ४६ पं जुगलकिशोर) यह ई श / ६ पूर्वधिके एक ब्राह्मण आचार्य थे । आपने 'कश्याणकारण' नामक एक वैद्यक ग्रन्थ लिखा है (ती ३/२६०)

उच्चकुल—दे वर्णव्यवस्था १ ।

उच्चगोत्र—दे वर्णव्यवस्था १ ।

उच्चार—विशको उच्चार कहते हैं । औदारिक शरीरमें उसका प्रमाण—दे औदारिक १/७

उच्चारणाचार्य—आपने यतिवृषभाचार्य कृत कपाय प्राभूतके चूर्ण सूत्रोंपर विस्तृत उच्चारणवृत्ति लिखी थी । अतः यतिवृषभाचार्यके अनुसार आपका समय लगभग ई श २ तथा ३ के मध्य कहीं होना चाहिए । (ती ३/६६) ।

उच्छ्वास—स ति ६/१६/२८८/१ वीर्यन्तरायज्ञानावरणक्षयोपश-माहोपाङ्गनामोदयपेक्षिणात्मनाउदस्यमान कोष्ठयो वायुरुच्छ्वास-सक्षण प्राण ह्युच्यते । —वीर्यन्तराय और ह्यानावरणके क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवाला आत्मा कोष्ठतः

जित मायुग्रा बाह्य नियानता है, उच्छ्वासान्तर उम वायुकी प्राण कहते हैं । (रा बा ६/१६/३६/२०३/२०) (गो जी / जी प्र ६०६/१०६२/११) (घ ६/१६-१, २८/६०/१) "उच्छ्वासमनुच्छ्वास" मति से तो उच्छ्वास कहते हैं ।

२ स्वामोच्छ्वास या आनप्राणका लक्षण

प्र मा / त प्र ६४६ उदस्यनम्यज्ञानामका मरुदानपानप्राण । —नीच और ऊपर जाना जिसका स्वरूप है, ऐसी वायु स्वामोच्छ्वास या आनप्राण है ।

गो जी / जी प्र ६७२/१०१८/११ में उद्भूत अहम्स अणनम्स य निरु बहस्स य हवज्ज जीवस्स । उस्सामाणिस्सामो एमा पाणोत्ति आहीदो । —जो कोई मनुष्य 'आद्य' अर्थात् सुखी हाई आनस्य रागादिकरि रहित होइ, स्वाधीनताका स्वामोच्छ्वास नामा एक प्राण कहा है इसीमें अन्तर्मुहूर्तकी गणना होती है ।

३ उच्छ्वास नाम कर्मका लक्षण

स मि ८/११/३६१/६ यद्धेतुरुच्छ्वासस्तदुच्छ्वासनामा । —जिसके निमित्तसे उच्छ्वास होता है वह उच्छ्वास नामकर्म है (रा बा ८/११/१७/६०८/६), (गो म / जी प्र ३०/१६/२१)

घ ६/१, ६-१, २८/६०/१ जन्म कम्मस्स उदएण जीवो उस्ससवज्जुत्पा-यणस्समो होदि तस्स कम्मस्स उस्ससो त्ति सत्ता कारमे वज्जु-मगारादो । —जिस कर्मके उदयसे जीव उच्छ्वास और निश्वासरूप कार्यके उत्पादनमें समर्थ होता है, उस कर्मकी 'उच्छ्वास' यह संज्ञा कारणमें कार्यके उपचाराते है ।

४ उच्छ्वास पर्याप्ति व नामकर्ममें अन्तर

रा बा ८/११/३२/६०६/१४ अत्राह—प्राणापानवर्मादये वायोनिष्क्रमण-प्रवेशारम्भकं फलम्, उच्छ्वासवर्मादयेऽपि तदेवेति नाम्प्रयनवाविदेप इति उच्यते शोतोऽप्यमध्यजनितु त्वस्य पचैन्द्रियस्य वायुच्छ्वा-ससि स्वामी दीर्घनादो श्रोत्रस्पर्शनेन्द्रियप्रसङ्गो वायुच्छ्वासनामो-दयजो, यौ सु प्राणापानपर्याप्तिनामादयवृत्तौ [तौ] सर्वससारिणां श्रोत्रस्पर्शानुपसर्पश्वदातोन्द्रियौ । —प्रश्न—प्राणापानपर्याप्ति नाम कर्मक उदयका भी वायुग्रा निकलना और प्रवेश करना फल है, और उच्छ्वास नामकर्मके उदयका भी यही फल है । इन दोनोंमें कोई भी विशेषता नहीं है । उत्तर—पचैन्द्रिय जीवोंके जा शीत उष्ण आदिसे लम्बे उच्छ्वास निश्वास होते हैं वे प्राण और स्पर्शन इन्द्रियके प्रसङ्ग होते हैं और स्वामोच्छ्वास पर्याप्ति तो सर्व ससारी जीवोंके होती है, वह श्रोत्र स्पर्शन इन्द्रियसे ग्रहण नहीं की जा सकती ।

५ नाडो व स्वामोच्छ्वासके गमनागमनका नियम

शा २६/६० ६१ षोडशप्रमित पैरिचिन्विर्तो वायुमंक्रम । अहोरात्रमिते काले द्वयोर्नाडयोर्मयाक्रमम्, ६० षट्शान्त्याधिकाभ्याह सहस्राभ्ये-कविंशसिम् । अहोरात्रे नचि स्वस्थे प्राणवायोर्गमागमौ । ६१ । —यह पवन है सो एक नाडोमें नालीद्वयसाक्ष कहिए अर्थात् घड़ी तक रहता है, तत्परचाव उसे छगड़ अन्य नाडोमें रहता है । यह पवनके ठहरनेके कालका परिमाण है । ६६ । किन्हीं-किन्हीं आचार्योंने दोनों नाडियोंमें एक अहोरात्र परिमाण कालमें पवनका सक्रम क्रमसे १६ बार होना निर्णय किया है । ६० । स्वस्थ मनुष्यके शरीरमें प्राणवायु स्वामोच्छ्वासका गमनागमन एक दिन और रात्रिमें २१६०० बार होता है । ६१ ।

६ अन्य सम्बन्धित विषय

* प्राणपान सम्बन्धी विषय—दे प्राण ।

* उच्छ्वास प्रकृतिके वध उदय सत्त्व—दे वध वध नाम ।

* उच्छ्वास निश्वास नामक काल प्रमाणका एक भेद—
—दे गणित १/१/४

उच्छादन—म सि ६/२४/३१६/१३ प्रतिबन्धकहेतुमनिधाने मति अनुद्भूतवृत्तिता अनाविर्भाव उच्छादनम् । = राकनेवाले कारणोंके रहनेपर प्रकट नहीं करनेकी वृत्ति होना उच्छादन है ।

उच्छिष्टावली—ये आवली

उज्जिह्वि—दूमेरे नरकका आठवाँ पटल—दे नरक ५/११

उज्ज्वलशुद्धि—दे शुद्धि ।

उज्ज्वल—विद्युत्प्रभ गजदन्त पर्वतपर स्थित एक वृट तथा उसका रसक देव—दे नोक ५/१२ ।

उज्ज्वलित—नीसरे नरकका मातवाँ पटल—दे नरक ५/११ ।

उदुबरी—आर्ध खण्डकी एक नदी—दे मनुष्य ४ ।

उडडदशमीव्रत—(व्रत-विधान सग्रह पृ १३१), (नवलसाहकृत वर्द्धमान पुराण), विधि—दशमी उडड उडड आहार । पाँच घरनि मिलि जो अधिकार ।

नोट—यह व्रत रवैताम्बर व स्थानकवासी आम्नायमें प्रचलित है ।

उत्कर्षण—घ १०/४, २, ४, २१/४२/४ कम्पसदेसट्टिद्विद्विषावणमुष्क-द्वुणा । = कर्मप्रदेशोंकी स्थिति (व अनुभाग) को बढ़ाना उत्कर्षण कहनाता है ।

गो क/जो प ४३८/५६१/१४ स्थितयनुभागयोर्वृद्धि उत्कर्षण । = स्थित और अनुभागकी वृद्धिको उत्कर्षण कहते हैं ।

गो जो/भापा २५८/५६६/१७ नोचने निपेकनिका परमाणू ऊपरिके निपेकनिविपे मिलावना सो उत्कर्षण है । (ल सा/भापा ५५/८७/४)

२ उत्कर्षण योग्य प्रकृतियाँ

गो क/मू ४४४/५६५ यदुल्लङ्घनं मगमगबधोत्ति होदि णियमेण । = बन्धकग और उत्कर्षकगमें दोनों, जिस जिस प्रकृतिकी जहाँ बन्ध व्युत्पत्ति भई, तिस-तिस प्रकृतिका (बन्ध व उत्कर्षण भी) तहाँ ही पर्यंत नियमकरि जानने ।

३ उत्कर्षण सम्बन्धी कुछ नियम

स सा/मू ४०२ मकमेदुल्लङ्घि जे असेते अवट्टिदा होंति । आवलियं मे काले तेण पर होंति मजियव्व ४७०१ नियम नं १—सक्रमणविपे जे प्रकृतिके परमाणू उत्कर्षणरूप करिए है, ते अपने कालविधि आवलिकाल पर्यंत तौ अवस्थित हो रहें । ताते परे भजनीय हो है, अवस्थित भी रहें और स्थिति आदिकी वृद्धि हानि आदि रूप भी होई ।

क पा ५/४-२२/४४७२, ३३६/३३६ उल्लङ्घिदे अणुभागद्वानाविभागपट्टिच्छे-दाण बुद्धोए अभावादो यधेण विणा तदुल्लङ्घणाणुवत्तोदो । ३३६ १ । परमाणूय बहुत्तमपत्तं वा अणुभागवट्टिदहाणीण ण कारणमिदि बहुसो पत्तविदत्तादो । ३३६-१२१ नियम न २—उत्कर्षणके होनेपर अनुभागस्थानके अविभागी प्रतियच्छेदोंकी वृद्धि नहीं होती है, क्योंकि बन्धके बिना उसका उत्कर्षण नहीं बन सकता । नियम न ३—परमाणुओंका बहुत्तपना या अवनता, अनुभागकी वृद्धि और हानिका कारण नहीं है, अर्थात् यदि परमाणु बहुत हो तो अनुभाग भी बहुत हो और यदि परमाणु कम हों तो अनुभाग भी कम हो ऐसा नहीं है, यह अनेक बार कहा जा चुका है ।

घ १०/४, २, ४, २१/४३/५ यथाणुमारिणीए उल्लङ्घणाएयुधपदेसविण्णा-साणुवत्तोदो ।

घ १०/४, २, ४, २४/४६/६ जस्स समयपमदस्स सत्तिट्टिदो बट्टमाण-यधट्टिसमाणा सो समयपचद्धो बट्टमाणयधचरियट्टिदि ति उल्लङ्घिज्जि ।

घ १०/४, २, ४, २१/४२/५ उदयावलियट्टिदिपदेमा ण उल्लङ्घिज्जति । उदयावलियथाहिरट्टिदोओ सन्वाओ [ण] उल्लङ्घिज्जति । किंतु चरिमट्टिदो आवलियाए असखेज्जिभागमइच्छिद्रूण आवलियाए असखेज्जिदिभागे उल्लङ्घिज्जिदि, उवरि ट्टिदिमथाभावादो । अइच्छा वणाणियखेवाभावा णस्थि उल्लङ्घणा हेत्ता । = नियम न ४—उत्कर्षण बन्धका अनुसरण करने वाला होता है, इसलिए उसमें दूसरे प्रकारसे प्रदेशोंकी रचना नहीं बन सकती । नियम नं ५—जिस समयप्रयत्नकी शक्तिस्थिति वर्तमानमें बाँधे हुए कर्मकी अन्तिम स्थितिके समान है उस समयप्रयत्नका वर्तमानमें बाँधे हुए कर्मकी अन्तिम स्थिति तक उत्कर्षण किया जाता है । नियम न ६—उदयावलीकी स्थितिके प्रदेशोंका उत्कर्षण नहीं किया जाता है । नियम न ७—उदयावलीके बाहरकी सभी स्थितियोंका (भी) उत्कर्षण (नहीं) किया जाता है । किन्तु घरम स्थितिके आवलीके असम्प्राप्त भागको अतिस्थापना रूपसे स्थापित करके आवलिके अर्धस्यात बट्टमाणका उत्कर्षण होता है । क्योंकि इससे ऊपर स्थितियधका अभाव है । अतिस्थापना और नितेपका अभाव होनेसे नीचे उत्कर्षण नहीं होता है ।

क पा ७/५ २२/४४३१/२४४ विधेयार्थ—“यह पहले बतला आये हैं कि उत्कर्षण सच कर्मपरमाणुओंका न होकर कुछका होता है और कुछका नहीं । जिनका नहीं होता उनका सक्षेपे व्यापार इम प्रकार है—१ उदयावलीके भीतर स्थित कमपरमाणुओंका उत्कर्षण नहीं होता । २ उदयावलीके बाहर भी सत्तामें स्थित जिन कर्मपरमाणुओंकी कर्मस्थिति (स्थिति) उत्कर्षणके समय बाँधेवाले कर्मोंकी आभावाके बराबर या उससे कम घोष रही है, उनका भी उत्कर्षण नहीं होता । ३ निर्व्याघात दशामें उत्कर्षणको प्राप्त होनेवाले कर्मपरमाणुओंकी अतिस्थापना कमसे कम एक आवली प्रमाण बतलायी है, इसलिए अतिस्थापनारूप द्रव्यमें उत्कर्षित द्रव्यका नितेप नहीं होता । ४ व्याघात दशामें कमसे कम आवलिके असम्प्राप्त भाग-प्रमाण अतिस्थापना और इतना ही नितेप प्राप्त होनेपर उत्कर्षण होता है । अन्यथा नहीं होता । नोट—इस विषयका विस्तार—दे (क पा सुत्त ६ २२/सूत्र ४-४७ / पृ २१४-२१६), (क पा ७/५-२२/४४२६-४७०/पृ २४२ २७३)

४ व्याघात व अव्याघात उत्कर्षण निर्देश

क पा ७/५-२२/४४३१/२४५/५ विधेयार्थ—“जहाँ अति स्थापना एक आवली और नितेप आवलीका—असम्प्राप्त भाग आदि बन जाता है वहाँ निर्व्याघात दशा होती है । और जहाँ अतिस्थापनाके एक आवली प्रमाण होनेमें बाधा आती है वहाँ व्याघात दशा होती है । जय प्राचीन सत्तामें स्थित कर्म परमाणुओंकी स्थितिसे नूतनबन्ध अधिक हो, पर इस अधिकता प्रमाण एक आवली और एक आवलिके असम्प्राप्त भागके भीतर ही प्राप्त हो तम यह व्याघात दशा होती है । इसके सिवा उत्कर्षणमें सर्वत्र निर्व्याघात दशा ही जानना ।”

५ स्थिति बन्धोत्तरण निर्देश

ल सा/भापा ३१४/३६६/३ जैसे स्थिति बन्धापमरणकरि (दे अक्कर्षण/३) चक्रेत् स्थितियध घटाइ एक-एक अन्तर्मुहूर्तविपे समान बन्ध करै था, तैसे वहाँ स्थितियधोत्तरणकरि स्थिति यध यघाइ एक एक अन्तर्मुहूर्तविपे समान बन्ध करै है ।

६ उत्कर्षण विधान तथा जघन्य उत्कृष्ट अतिस्थापना व निक्षेप

१. वृष्टि न १

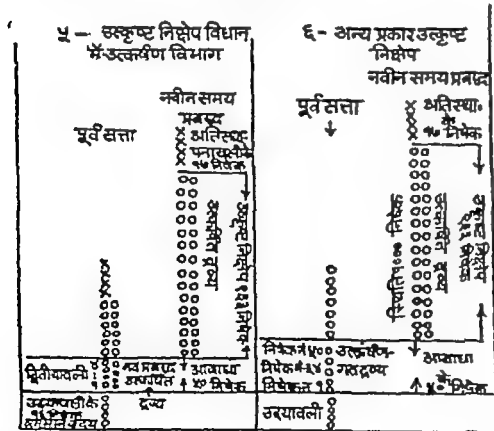
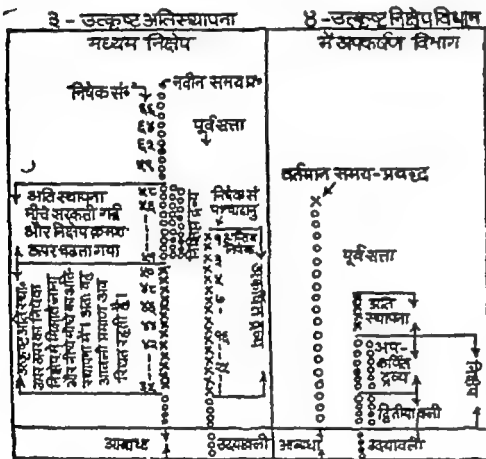
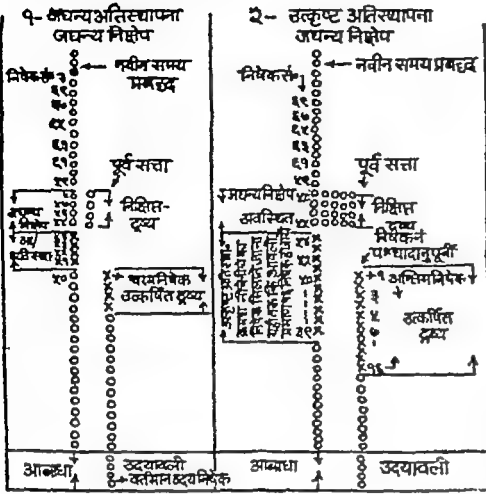
ल सा/मू ६१-६४ सत्ताग्गाट्टिमिधो अदिट्टिदुल्लङ्घणे जहण्णेण । आवलि-असखभाग तेचियसेत्तेव णिबिम्बादि । ६१ । सत्तोदिस्थावण वट्टदि

जायावली तदुक्तसं। उवरोदो निमलेओ वर तु भंधिय ठिदि जेट्ठ। १६२। भोलिय भंधावलिउ उक्कट्टिय उदयदो दु निमिलविय। उवरिमसमये विदियावल्लिपडमुक्कणे जादो। १६३। सत्तालवज्जमाणे वारट्टिदोए अदरिययावाहं। समयजुदावलीयाभाहणे उक्कस्सठिदि-
म रो १३।—पूज भावाकार कृत विस्तार—अध्याघात विषे स्थितिका उत्कर्षण होते विधान कहिए है। पूर्व जे सत्ता रूप निपेक थे तिन-
विषे जो अन्तका निपेक था ताका द्रव्यको उत्कर्षण करनेका समय विषे बन्ध्या जो समयप्रमद हीहि विषे जो पूर्व सत्ताका अन्तनिपेक जिस समय उदय आवने योग्य है तिसविषे उदय आवनेयोग्य बन्ध्या समयप्रमदका निपेक, तिस निपेकके उपरिवर्ती आवलीका अस-
रपात भागमात्र निपेकको अतिस्थापना रूप राखि तिनिके उपरि-
वर्ती जे तितने ही आवलीके असरपातभागमात्र निपेक तिन विषे तिस सत्ताका अन्त निपेकका द्रव्यको निक्षेपण करिए है। यह उत्कर्ष-
ण विषे जघन्य अतिस्थापना और जघन्य निक्षेप जानना। सट्टि—कथना करो कि पूर्व सत्ताका अन्तम निपेक जिस समय उदय होगा उस समयमें वर्तमान समयप्रमदका ४०वाँ निपेक उदय होना है तहाँ तिस ४०वेंसे ऊपर ५१ आदि आ ५०/अस निपेक अर्थात् १६/४=४ निपेक अर्थात् ५१-५४ निपेकोंको अतिस्थापना रूप रख-
कर तिनके ऊपरवाले आवलीके असरपातभागमात्र (५४-५८) निपेकों-
में निक्षेपण करता है। तहाँ ५१ ५४ तो आ/अस मात्र निपेक अति-
स्थापना रूप है और (५४-५८) आ/अस मात्र निपेक ही निक्षेप रूप हैं। यह जघन्य अतिस्थापना व जघन्य निक्षेप है।—दे आगे यंत्र। तिस पूर्व सत्यके अन्त निपेकते लगाय ते नीचेके (सत्ताके उपात्तादि) निपेक तिनिका (पूर्वोक्त ही विधानके अनुसार) उत्कर्षण होते, निक्षेप तो पूर्वोक्त प्रमाण ही रहै अर अतिस्थापना क्रमते एक एक समय भँधता होइ सो यावत आवली मात्र उत्कृष्ट अति-
स्थापना होइ तावत् यह क्रम जानना। (यहाँ अतिस्थापना सा ३६-५४ और निक्षेप ५४-५८ हो जाती है यथा—सट्टि—अक सट्टि करि सत्ताके अन्त निपेकको उपांत निपेक जिस समय विषे उदय होगा तिस समय हाल बन्ध्या समयप्रमदका ४५वाँ निपेक उदय होगा। सो तिस उपांत निपेकका द्रव्य उत्कर्षण करि ताको ४०वाँ आदि (५०-५४) पाँच निपेकनिको अतिस्थापना रूप राखि ऊपरि ५५वाँ आदि (५५-५८) चार निपेकनिविषे निक्षेपण करिए। यहुरि ऐसे ही उपांत निपेकते निचले निपेकनिका द्रव्य उत्कर्षण करते, बन्ध्या समय प्रमदका क्रमते ४६वाँ, ४७वाँ आदिसे लगाइ छ, सात, आठ आदि एक-एक भँधते निपेक अतिस्थापना रूप राखि ५५वाँ आदि (पूर्वोक्त ही ५५-५८) निपेकनिविषे निक्षेपण करिए है। तहाँ हाल बन्ध्या समय प्रमदका ३८वाँ निपेक जिस समयविषे उदय होगा तिस समय विषे उदय आवने योग्य जो पूर्व सत्ताका निपेक ताका द्रव्यको उत्कर्षण करतै हालबन्ध्या समयप्रमदका ३९वाँ आदि १६ निपेकनिको (अर्थात् आवली प्रमाण निपेकनिको) अतिस्थापना-
रूप राखै है। सो यह उत्कृष्ट अतिस्थापना है। इहाँ पर्यन्त (पूर्वोक्त ही) ५५ आदि (५५-५८) चार निपेकनिविषे निक्षेपण जानना।
यहुरि आवलीमात्र अतिस्थापना भये पीछे, ताके नीचे-नीचेके निपेकनिका उत्कर्षण करते अतिस्थापना सो आवलीमात्र ही रहै अर निक्षेप क्रमते एक एक निपेककरि भँधता हो है। अक सट्टि करि जैसे हाल बन्ध्या समयप्रमदका ३७वाँ निपेक जिस समय उदय होगा तिस समय विषे उदय आवने योग्य सत्ताके निपेकको उत्कर्षण होतै (पक्षादायुर्वर्षिसे) ३८वाँ आदि १६ निपेक (३८-५३) अतिस्थापना रूप हो हैं, ५४वाँ आदि पाँच निपेक (५४-५८) निक्षेप रूप हो हैं। यहुरि ताके नीचेके निपेकका उत्कर्षण होतै ३७वाँ आदि (३७ ५२) १६ निपेक अतिस्थापना रूप हो हैं। ५३वाँ आदि (५३-५८) छ निपेक निक्षेप रूप हो हैं। ऐसे अतिस्थापना सो तितना ही अर निक्षेप क्रमते भँधता जानता। उत्कृष्ट तिसेप कहाँ होइ सो कहिए

है। कोई जीव पहिले उत्कृष्ट स्थिति मान्य पीछे ताकी आधाधा विषे एक आवली गमाइ ताके अनन्तर तिस समयप्रमदका जो अन्त-
का निपेक था ताका अपकर्षण कीया। तहाँ ताके द्रव्यको (सत्ता-
के) अन्तके एक समयाधिक आवलीमात्र निपेकनिविषे तो न दीया, अवशेष वर्तमान समय विषे उदय योग्य निपेक ते लगाइ सर्व निपेक-
कनि विषे दीया। ऐसे पहिले अपकर्षण कीया करी। यहुरि ताके उपरिवर्ती अनन्तर समय विषे, पूर्व अपकर्षण किया करतै जो द्रव्य उदयावली (द्वितीयावली) का प्रथम निपेक विषे दीया था ताका उत्कर्षण किया। तस ताके द्रव्यको तिस उत्कर्षण करनेका समय विषे बन्ध्या जो उत्कृष्ट स्थिति लिये सययप्रमद, ताके आधाधा-
को उल्लंघ पाइये है जे प्रथमादि निपेक, तिनविषे, अन्तके समय अधिक आवलीमात्र निपेक छोड़ि अन्य सर्व निपेकनि विषे निक्षेपण करिए है। इहाँ एक समय अधिक आवली करि युक्त जो आधाधा काल तीहि प्रमाण तो अतिस्थापना जानना। काहेतै सो कहिए है—जिस द्वितीयावलीका प्रथम निपेकका उत्कर्षण किया सो तो वर्तमान समयतै लगाइ एक एक समय अधिक आवलीकाल भए उदय आवने योग्य है। अर जिन निपेकनिविषे निक्षेपण किया है, तै वर्तमान समयतै लगाइ बन्धी स्थितिका आधाधाकाल भये उदय आवने योग्य है। सो हनि दोऊनिके बीच एक समय अधिक आवलीकरि युक्त आधाधाकाल मात्र अन्तराल भया। द्वितीयावलीके प्रथम निपेकका द्रव्यको, बीचमें इतने निपेक उत्पन्न उपरिसे निपे-
कनि विषे दीया सोइ इहाँ अतिस्थापनाका प्रमाण जानना। यहुरि इहाँ एक समय अधिक आवली करि युक्त जो आधाधाकाल तीहि करि होन जो उत्कृष्ट कर्म स्थिति तीहि प्रमाण उत्कृष्ट निक्षेप जानना। काहेतै सो कहिए है—

एक समय—अधिक आवली मात्र तो अन्तक निपेकनिविषे न दीया अर आधाधाकाल विषे निपेक रचना ही नहीं, ताँते उत्कृष्ट स्थिति विषे इतना घटाया। इहाँ इतना जानना—अपकर्षण द्रव्यका नीचले निपेकनिविषे निक्षेपण कीया ताका जो उत्कर्षण होइ तो जेती बाकी शक्तिस्थिति होइ तहाँ पर्यंत ही उत्कर्षण होइ, ऊपरि न होइ। शक्तिस्थिति कहा सो कहिये है—विवक्षित समय प्रमदका जो अन्तका निपेक ताको तो सर्व ही स्थिति व्यतिस्थिति है, यहुरि ताके नीचे नीचेके निपेकनिके क्रमते एक समय घाटि, दोय समय घाटि, आदि स्थिति व्यतिस्थिति है। यहुरि प्रथमादि निपेकनिसे सर्व ही स्थिति शक्तिस्थिति है। सो उत्कर्षण कीया द्रव्यको, जेती शक्तिस्थिति होइ तहाँ पर्यंत ही दीजये है, यहुरि पूर्व निक्षेप अति-
स्थापना कहा ताका अक सट्टि करि स्वरूप दर्शाइये है—सट्टि—जैसे पूर्व समयप्रमद हजार समयकी स्थिति लिये बन्ध्या। तामें सोलह समय व्यतीत भये अत निपेकका द्रव्यको अपकर्षणकरि आधाधाके ऊपरि तिस स्थितिके निपेक थे, तिनविषे १७ निपेक (समय अधिक आवली) को छोड़ि अन्य सर्व निपेकनिविषे द्रव्य दीया। यहुरि ताके अनन्तर समय विषे जो तिस अन्त निपेकका द्रव्य, जो उत्कर्षण करनेका समय तै लगाय १७ समय विषे उदय आवने योग्य ऐसा द्वितीयावलीका प्रथम निपेक तिसविषे दीया था ताका उत्कर्षण किया, तस तीहि समय विषे १००० समय प्रमद प्रमाण स्थितिबन्ध भया। ताकी ५० समय प्रमाण सो आधाधाई और ६५० निपेक हैं। तिन निपेकनि विषे अन्तके १७ निपेक छोड़ि अन्य सर्व निपेकनि विषे तिस उत्कर्षण कीया द्रव्यको निक्षेपण करिए है। ऐसे इहाँ वर्तमान समय तै लगाय जाका उत्कर्षण कीया सो तो सतरहवें (१७वें) समय विषे उदय आवने योग्य था, जिस बन्ध्या समय-
प्रमदको प्रथम निपेकविषे दीया, सो ५९वाँ समय विषे उदय आवने योग्य भया। सो हनिके बीच अन्तराल ३३ समय भया। सोई अति-
स्थापना जानना। यहुरि १००० समयकी स्थिति विषे ५० समय आधाधाके और १७ निपेक अन्तके घटाय अवशेष ६३३ निपेकनिविषे

द्रव्य दीया सो यह उत्कृष्ट निक्षेप जानना ।—(इसी बातको नीचे यन्त्रों-द्वारा स्पष्ट किया गया है) —



२ दृष्टि न २

स सा/भापा/६५-६७ अथवा कोई आचार्यनिके मतकर निक्षेपणविषे ऐसे निरूपण है—उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बांधा था ताकी बन्धावली-को गमाय पोछे ताका प्रथम निषेकका उत्कर्षणकरि ताके द्रव्यको

तिम उत्कर्षण करनेके समयविषे बांध्या जो उत्कृष्ट स्थिति तिसरे समय प्रबद्ध ताका द्वितीय निषेकका आदि दैकर अन्त विषे अति-स्थापनावली मात्र निषेक छोड़ि सर्व निषेकनिषेप निक्षेपण किया तहाँ एक समय अर एक आवली अर बन्धी स्थितिका आभाधकाल हुनिकरि हीन उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण उत्कृष्ट निक्षेप हो है। इहाँ बन्धी जो उत्कृष्ट स्थिति ताविषे आभाधकालविषे तो निषेक रचना नाहीं, अर प्रथम निषेकविषे द्रव्य दीया नाहीं, अर अन्तविषे अतिस्थापनावली विषे द्रव्य न दीया तातें पूर्वोक्त प्रमाण उत्कृष्ट निक्षेप जानना। इहाँ पूर्वोक्त प्रकार एक सदृष्टिकरि कथन जानना। इहाँ उत्कृष्ट स्थिति लीए जो उत्कर्षण करनेके समय विषय बन्ध्या समयप्रबद्ध ताकी आभाधकालका जो अग्र कहिए अन्त समय तोहि सेतो लगाय एक समय अधिक आवली मात्र समय पहिले उदय आवने योग्य ऐसा जो पूर्व सत्ताका निषेक ताका उत्कर्षण करतें आवली-मात्र जवन्ध अतिस्थापना हो है जातें तिस द्रव्यको आभाधा विषे जो एक आवलीमात्र काल रह्या, 'ताको उल्लघ करि तिम बन्ध्या समयप्रबद्धके प्रथमादि निषेकनिषेप, अन्तविषे अतिस्थापनावली छोड़ि निक्षेपण करिए है।

एक सदृष्टिकरि—जैसे १००० समयकी स्थिति लीए समय प्रबद्ध बांध्या ताका ५० समय आभाधकाल ताके अन्त समयतें लगाइ १७ समय पहिले उदय आवने योग्य ऐसा वर्तमान समयतें ३४वां समय विषे उदय आवने योग्य पूर्व सत्ताका निषेक ताका उत्कर्षण करि तरकाल बन्ध्या समय प्रबद्धका आभाधा काल व्यतीत भये पीछे प्रथमादि समय विषे उदय आवने योग्य १५० निषेक तिनिविषे अन्तके १७ निषेक छोड़ि प्रथमादि ६३३ निषेक विषे निक्षेपण करिए है। इहाँ उत्कर्षण कीया निषेकनिके और दीये गये प्रथमादि निषेकनिके बीच अन्तराल १६ समयका भया। सोई जवन्ध अति-स्थापना जानना। इहाँ उतरि तिसतें पहिले उदय आवने योग्य ऐसा अन्य कोई सत्तास्वरूप समय प्रबद्ध सम्बन्धी द्वितीयावलीका प्रथम निषेक जो वर्तमान समयतें आवलीकाल भर पीछे उदय आवने योग्य है ताका उत्कर्षण होतें नोचै एक समय अधिक आवलीकरि हीन आभाधा काल प्रमाण उत्कृष्ट अतिस्थापना हो है। समय-अधिक आवलीकरि हीन जो आभाधा ताकी उल्लघ ऊपरिके जे निषेक तिनिविषे अन्तके अतिस्थापनावली मात्र निषेक छोड़ि अन्य निषेकनिषेप तिस द्रव्यको दीजिए है। इहाँ पूर्वोक्त प्रकार एक सदृष्टि आदिकरि कथन जानि लेना।

उत्कर्षण समा—न्याय सू/५-१/४ साध्यदृष्टान्तयोद्धर्म विकल्पा-दुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षणसमा। ४४।

न्या सू/भाष्य ५-१/४ दृष्टान्तधर्म साध्ये समाह्वन् उत्कर्षणसम। यदि क्रियाहेतुगुणयोगाश्लक्ष्ण क्रियावानारमा लोष्टवदेव स्पर्श-वानपि प्राप्नोति। अथ न स्पर्शवाद् लोष्टवद क्रियावानपि न प्राप्नोति विपर्यये वा विशेषो वक्तव्य इति। —दृष्टान्तधर्मको साध्यके साथ मिलानेवालेको 'उत्कर्षणसमा' कहते हैं। जैसे—आत्मा यदि डेलके समान क्रियावान है तो डेलके समान ही स्पर्शवान भी हो जाओ। अववादी यदि आत्मा डेलके समान स्पर्शवान नहीं मानना चाहेंगा तब तो वह आत्मा उसी प्रकार क्रियावाद् भी नहीं हो सकेगा। (श्लो वा ४/न्या ३४०/४४-४५/१)

उत्कल—(म पु/प्र ४६/५ पन्नालाल) उडोसादेश।

उत्कलिका—(घ १/प्र ६२/H L Jaid) भीमरथ और कृष्णमेख (कृष्णा) नदीके बीचका प्रदेश जो अथ बेलगाँव व घारवाड कह-लाता है।

उत्कीरण काल—वे काल/१।

उत्तमवर्ण—भरतसेत्रमें बिन्ध्याचल पर स्थित एक देश—दे मनुष्य ४।

उत्तमार्थकाल—दे काल १।

उत्तर—१ चय अर्थात् Comm in difference (विशेष दे गणित II/४/३), २ दक्षिण घृतवर द्वीपका रक्षक देव—दे व्यतर ४।

उत्तर कुमार—(या पु सर्ग श्रुति) राजा विराटका पुत्र था (१८/४२) इसके पिताके कौरवों द्वारा मौघ लिये जानेपर अर्जुनने इसका सारथी बनकर कौरवोंसे युद्ध किया (१८/६१) फिर कृष्ण जरासन्ध युद्धमें राजा शल्य द्वारा मारा गया (१६/१८३)।

उत्तरकुरु—१ विदेह क्षेत्रमें स्थित उत्तम भोगभूमि है। इसके उत्तरमें नील पर्वत, दक्षिणमें सुमेरु, पूर्वमें माष्यवान गजदन्त और पश्चिममें गन्धमादन गजदन्त पर्वत स्थित है—दे लोक ३/१२। २ उत्तरकुरु सम्पन्धी कुछ विशेषताएँ—दे भूमि ४।

(ज प/प्र १४०/A N Up & H L Jain) दूसरी सदीके प्रसिद्ध इतिहासज्ञ टालमी के अनुसार 'उत्तर कुरु' पामीर देशमें अवस्थित है। ऐतरेय ब्राह्मणके अनुसार यह हिमालयके परे है। इण्डियन ऐटि-बवेरी १६१६ पृ ६६ के अनुसार यह शकों और हूणोंके सोमान्त धियानसान पर्वतके नले था। वायुपुराण ४५-४८ के अनुसार "उत्तराणां कुरुणां तु पाश्च्ये ज्ञेयं तु दक्षिणे। समु-मूमिमालाढ्य नाना-स्वरविभूषितम्।" इस श्लोकके अनुसार उत्तरकुरु पश्चिम तुर्किस्तान ठहरता है, क्योंकि, उसका समुद्र 'अरलसागर' जो प्राचीनकालमें कैस्पियनसे मिला हुआ था वस्तुतः प्रकृत प्रदेशके दाहिने पारमें पड़ता है। श्री राय कृष्णदासके अनुसार यह देश धियासानके अचलमें बसा हुआ है।

उत्तरकुरु कूट—गन्धमादन पर्वतपर स्थित एक कूट। माष्यवान गजदन्तपर स्थित एक कूट व उसका स्वामी देव—दे लोक ४/४।

उत्तरकुरुद्रह—उत्तरकुरुमें स्थित १० द्रहोंमें-से दोका नाम उत्तर-कुरु है—दे लोक ४/६।

उत्तरगुण—म आ/वि ११६/२७७/८ प्रगृहीतसयमस्य सामायिका-दिकं अनशनादिकं च वर्तते इति उत्तरगुणस्य सामायिकावेस्त-पसरच। —जिसने सयम धारण किया है, उसको सामायिकादिक और अनशनादिक भी रहते हैं। अतः सामायिकादिकों और तपको उत्तरगुणपना है।

* साधु व श्रावकके उत्तर गुण—दे, साधु २ तथा श्रावक ५।

उत्तरचरहेतु—दे हेतु।

उत्तरचूलिका—कायस्वर्गका एक अतिचार—दे व्युत्सर्ग १।

उत्तरदिशा—उत्तर दिशाकी प्रधानता—दे दिशा।

उत्तरधन—चयधन—दे गणित II/४/३।

उत्तरपुराण—१ आचार्य जिनमेन (ई ८१८ ८७८) के 'आदि-पुराण' की पुस्तिके अर्थ उनकं शिष्य आचार्य गुणभद्र (ई ८६८) ने इसे लिखा था। इसमें भगवान् श्वभदेवके अतिरिक्त शेष २३ शोधकरीका वर्णन है। वास्तवमें आचार्य गुणभद्र भी स्वयं इसे पूरा नहीं कर पाये थे। अतः इस ग्रन्थके अन्तिम कुछ पथ उनके भी शिष्य लोकवन्दने ई ८६८ में पूरे किये थे। इस ग्रन्थमें २६ पर्व हैं तथा ८००० श्लोक प्रमाण है। (ती ३/६) २ आचार्य सकलकीर्ति (ई १४०६-१४४२) द्वारा रचित दूसरा उत्तर पुराण है। (ती ३/३३३)

उत्तरप्रतिपत्ति—ध ४/१,६,३७/३२/६ उत्तरमणुज्युय आहरिय परंपराएणागदमिदि एयट्टो। —उत्तर, अत्रुजु और आचार्य परम्परासे अनागत ये तीनों एकार्थवाची हैं।

ध १/प्र ६७(H L Jain) आगममें आचार्य परम्परागत उपदेशोंसे याहरकी जिन श्रुतिपाँका उल्लेख मिलता है वह अत्रुजु होनेके

कारणसे उत्तर प्रतिपत्ति कही गयी है। धनलाकार श्री बीरसेन स्वामी इसको प्रधानता नहीं देते थे। (ध १/३ प्र १६ H L Jain)

उत्तरमीमांसा—दे 'दर्शन'।

उत्तराध्ययन—ब्राह्मण श्रुतज्ञानका चर्चा अगभाह्य—दे श्रुत-ज्ञान III।

उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र—दे नक्षत्र।

उत्तराभाद्रपद नक्षत्र—दे नक्षत्र।

उत्तराषाढ नक्षत्र—दे नक्षत्र।

उत्तरित—कायस्वर्गका एक अतिचार—दे व्युत्सर्ग १।

उत्तरोत्तर—(ध ४/प्र २७) गणितप्रकरणमें successive

उत्पत्ति—जीवोंकी उत्पत्ति—दे जन्म।

उत्पत्त्यस्थानसत्त्व—दे सत्त्व १।

उत्पल—पद्म हृदमें स्थित एक कूट—दे लोक ४/७।

उत्पला—सुमेरु पर्वतके नन्दन आदि तीन वनोंमें स्थित पुष्करिणी दे लोक ४/६।

उत्पलोज्ज्वला—सुमेरु पर्वतके नन्दनादि तीनों वनोंमें स्थित पुष्करिणी—दे लोक ४/६।

उत्पात—एक ग्रह—दे ग्रह।

उत्पातिनी—एक औषधि विद्या—दे विद्या।

उत्पादन—१ आहारका एक दोष—दे आहार II/४/१,४,२ वस्ति-काका एक दोष—दे वस्तिता।

उत्पादनोच्छेद—दे व्युच्छिन्ति।

उत्पादपूर्व—श्रुतज्ञानका प्रथम पूर्व दे श्रुतज्ञान III

उत्पादलब्धिस्थान—दे लब्धि ४।

उत्पादव्ययधौव्य—सत् यद्यपि त्रिकाल निरय है, परन्तु उसमें बराबर परिणमन होते रहनेके कारण उसमें निरय ही किसी एक अवस्थाका उत्पाद तथा किसी पूर्ववाली अन्य अवस्थाका व्यय होता रहता है इसलिए पदार्थ निरय होते हुए भी कथंचित् अनिरय है और अनिरय होते हुए भी कथंचित् निरय है। वस्तुमें ही नहीं उसके प्रत्येक गुणमें भी यह स्वाभाविक व्यवस्था निराबाध सिद्ध है।

१ भेद व लक्षण

१ उत्पाद सामान्यका लक्षण

२ उत्पादके भेद

३ स्वनिमित्तक उत्पाद

४ परप्रत्यय उत्पाद

५ सदुत्पाद

६ असदुत्पाद

७ व्ययका लक्षण

८ धौव्यका लक्षण

२ उत्पादिक तीनोंका समन्वय

* द्रव्य अपने परिणमनमें स्वतन्त्र है—दे कारण II/१

१ उत्पादादिक तीनोंसे युक्त ही वस्तु सत् है

- २ तीनों एक सत्के ही अर्थात् हैं
 ३ वस्तु सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य नहीं है
 ४ कथंचित् नित्यता व अनित्यता तथा समन्वय
 * वस्तु जिस अपेक्षामें नित्य है उसी अपेक्षामें अनित्य नहीं है —दे अनेकान्त ५

- ५ उत्पादिकमें परस्पर भेद व अभेदका समन्वय
 ६ उत्पादादिकमें समय भेद नहीं है
 ७ उत्पादादिकमें समयके भेदाभेद विषयक समन्वय
 ८ द्रव्य गुण पर्याय तीनों त्रिलक्षणात्मक हैं
 १ सम्पूर्ण द्रव्य परिणमन करता है द्रव्याग नहीं
 २ द्रव्य जिस समय जैसा परिणमन करता है, उस समय वैसा ही होता है
 ३ उत्पाद व्यय द्रव्याशमें नहीं पर्यायाशमें होते हैं
 ४ उत्पाद व्ययको द्रव्यका अक्ष कहनेका कारण
 ५ पर्याय भी कथंचित् ध्रुव है
 ६ द्रव्य गुण पर्याय भी तीनों सत् हैं
 ७ पर्याय सर्वथा सत् नहीं है
 ८ लोकाकाशमें भी तीनों पाये जाते हैं
 ९ धर्मादि द्रव्योंमें परिणमन है पर परिस्पन्द नहीं
 १० मुक्त आत्माओंमें भी तीनों देखे जा सकते हैं

१ भेद व लक्षण

१ उत्पाद सामान्यका लक्षण

स सि ५/३०/५ चेतनस्याचेतनस्य वा द्रव्यस्य स्वां जातिमजहत् उभय-
 निमित्तवशाद् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पाद मृत्पिण्डस्य घटपर्याय-
 वद् । —चेतन व अचेतन दोनों ही द्रव्य अपनी जातिको कभी नहीं
 छाड़ते । फिर भी अन्तराग और बहिराग निमित्तके वशासे प्रति समय
 जो नवीन अवस्थाको प्राप्ति होता है उसे उत्पाद कहते हैं । (रा वा /
 ५/३०/१/५६४/३२)

प्र सा /त प्रा ६५ उत्पाद प्रादुर्भाव । यथा खड्गचरीयमुपात्तमलिना
 वस्थ प्रमासि समलावस्थयोऽप्यधमान तेनोत्पादेन लक्ष्यते । न च तेन
 स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथावधित्वमवलम्ब्यते । तथा
 द्रव्यमपि समुपात्तप्राप्तनावस्थं समुचितमहिरह्मसाधनसनिधिसद्भावे
 विचित्रबहुतरावस्थान स्वरूपकत्वं करणसामर्थ्यस्वभावेनान्तरद्वाराधन-
 तामुपागतानामुपहीतमुत्तरावस्थयाऽप्यधमान तेनोत्पादेन लक्ष्यते । —जैसे
 मलिन अवस्थाको प्राप्त वस्त्र धानेपर निर्मल अवस्थासे उत्पन्न होता
 हुआ उस उत्पादसे लक्षित होता है किन्तु उसका उस उत्पादके साथ
 स्वरूप भेद नहीं है, स्वरूपसे ही वैसा है, उसी प्रकार जिसने पूर्व
 अवस्था प्राप्त की है ऐसा द्रव्य भी, जो कि उचित बहिराग साधनोंके
 साक्षिण्यके सद्भावमें अनेक प्रकारकी बहुत-सी अवस्थाएँ करता है
 वह —अन्तरागसाधनभूत स्वरूपकर्ता और स्वरूपकरणके सामर्थ्यरूप
 स्वभावसे अनुगृहीत होनेपर उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होता हुआ, वह
 उत्पादसे लक्षित होता है ।

प ध /पू २०१ सत्त्वोत्पादोऽवस्था प्रत्यग परिणतस्य तस्य सत् । सद-
 सद्भावनिबद्ध तदसद्भावत्वप्रयादेशात् । —सत्-तद्भाव और असद्भाव-
 को विषय करनेवाले नयकी अपेक्षासे सद्भाव तथा असद्भावसे युक्त है ।

हमलिए उत्पादादिकमें नवीनरूपसे परिणत उस सत्की अवस्थाका
 नाम उत्पाद है । (और भी—दे परिणाम)

२ उत्पादके भेद

स सि ५/७/२७/५ द्विविध उत्पाद स्वनिमित्त परप्रत्यय । —उत्पाद
 दो प्रकारका है—स्वनिमित्तक उत्पाद और परप्रत्यय उत्पाद । (रा
 वा ५/७/३/४४६/१४)

प्र सा /पू १११ परिधिं सहावे दत्त दन्वयपञ्जगत्येहि । मदमग्ना-
 वणिमद् प्रादुर्भाव गदा लभति । —मेसा (पूर्वोक्त) द्रव्य स्वभावमें
 द्रव्याधिक और पर्यायाधिक नयोंके द्वारा सद्भाव, सम्बन्ध और
 असद्भावसम्बद्ध उत्पादका सदा प्राप्त करता है । (प ध /पू २०१)

३ स्वनिमित्तक उत्पाद

स सि ५/७/२७/५ स्वनिमित्तस्तावदन्तानामगुरुलघुगुणानामागम
 प्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां पदस्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च
 प्रवर्तमानानां स्वभावावैतेषामुत्पादो व्ययश्च । —स्वनिमित्तक
 उत्पाद यथा—प्रत्येक द्रव्यमें आगम प्रमाणसे अन्तर अगुरुलघुगुण
 स्वीकार किये गये हैं । जिनका छह स्थान पतित हानि और वृद्धिके
 द्वारा वतन होछा रहता है । अतः इनका उत्पाद और व्यय स्वभावमें
 होता है । (रा वा ५/७/३/४४६/१४)

४ परप्रत्यय उत्पाद

स सि ५/७/२७/७ परप्रत्ययोऽपि अणवादिगतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वा-
 रक्षणे क्षणे तेषां भेदात्तद्वेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो
 विनाशश्च व्यवहियते । —परप्रत्यय भी उत्पाद और व्यय होता है ।
 यथा—ये धर्मादिक द्रव्य क्रममें अणवादिकों गति, स्थिति और अव-
 गाहनमें कारण हैं । चूँकि इन गति आदिकमें क्षण क्षणमें अन्तर पड़ता
 है, इसलिए इनके कारण भी भिन्न-भिन्न होने चाहिए । इस प्रकार
 धर्मादिक द्रव्योंमें परप्रत्ययकी अपेक्षा उत्पाद और व्ययका व्यवहार
 किया जाता है । (रा वा ५/७/३/४४६/१६)

५ सत्त्वत्पाद

प्र सा /त प्र ११२ द्रव्यस्य पर्यायभूताया व्यतिरेकव्यक्ते प्रादुर्भाव
 तस्मिन्नपि द्रव्यस्वभूताया अन्वयशक्तेरप्रच्यवनात् द्रव्यमनन्यदेव ।
 ततोऽनन्यत्वेन निश्चियते द्रव्यस्स सत्त्वत्पाद । —द्रव्यके जो पर्यायभूत
 व्यतिरेकव्यक्तिका उत्पाद होता है उसमें भी द्रव्यस्वभूत अन्वयशक्ति-
 का अच्युतत्व होनेसे द्रव्य अनन्य ही है । इसलिए अनन्यत्वके द्वारा
 द्रव्यका सत्त्वत्पाद निश्चित होता है । (प ध /पू २०१)

६ असत्त्वत्पाद

प्र सा /त प्र ११३ पर्याया हि पर्यायभूताया आरमव्यतिरेकव्यक्ते काल
 एव सत्त्वात्तत्ताऽन्यकालेषु भवत्यसन्त एव । यश्च पर्यायाणां
 द्रव्यस्वभूतयान्वयशक्त्यानुस्यूत क्रमानुपाती स्वकाले प्रादुर्भाव
 तस्मिन्पर्यायभूताया आरमव्यतिरेकव्यक्ते पूर्वमसत्त्वात्पर्याया अन्य
 एव । तत् पर्यायाणामन्यत्वेन निश्चियते द्रव्यस्यासत्त्वत्पाद ।
 —पर्यायों पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्तिक कालमें ही सत् होनेसे उससे
 अन्य कालोंमें असत् ही हैं । और पर्यायोंका द्रव्यस्वभूत अन्वयशक्ति
 के साथ गुथा हुआ जो क्रमानुपाती स्वकालमें उत्पाद होता है, उसमें
 पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्तिका पहले असत्त्व होनेसे पर्यायों अन्य
 हैं । इसलिए पर्यायोंकी अन्यताके द्वारा द्रव्यका असत्त्वत्पाद निश्चित
 होता है ।

७ व्ययका लक्षण

स सि ५/३०/५ पूर्वभावविगमन व्यय । यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृति-
 व्यय । —पूर्व अवस्थाके रयागको व्यय कहते हैं । जैसे घटकी
 उत्पत्ति होनेपर पिण्डरूप आकारका रयाग हो जाता है । (रा वा /
 ५/३०/२/४६४/१)

प्र सा / त प्र ६६ व्यय प्रच्यवन । — व्यय प्रच्युति है । (अर्थात् पूर्व अवस्थाका नष्ट होना)

८ ध्रौव्यका लक्षण

स सि १/३०/३००/७ अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावाद् ध्रुवति स्थिराभवतीति ध्रुव । ध्रुवस्य भाव कर्म वा ध्रौव्यम् । यथा मृत्पिण्डघटाद्यवस्थासु मृदाद्यन्वय । — जो अनादिकालीन पारिणामिक स्वभाव है उसका व्यय और उदय नहीं होता किन्तु वह ध्रुवति अर्थात् स्थिर रहता है । इसलिए उसे ध्रुव कहते हैं । तथा इस ध्रुवका भाव या कर्म ध्रौव्य कहलाता है । जैसे मिट्टीके पिण्ड और घटादि अवस्थाओंमें मिट्टीका अन्वय बना रहता है । (रा वा / १/३०/३/४६१/३)

प्र सा / त प्र ६६ ध्रौव्यमवस्थिति । — ध्रौव्य अवस्थिति है ।

पं घ / पू २०४ तद्भावव्ययमिति वा ध्रौव्य तत्रापि सम्यग्यमर्थ । य पूर्वपरिणामो भवति स पश्चात् स एव परिणाम । — तद्भावसे वस्तुका नाश न होना, यह जो ध्रौव्यका लक्षण बताया गया है, उसका भी ठीक अर्थ यह है कि जो जो परिणाम (स्वभाव) पहिले था वह वह परिणाम ही पीछे होता रहता है ।

२ उत्पादादिक तीनोंका समन्वय

१. उत्पादादिक तीनोंसे युक्त ही वस्तु सत् है

प्र सू १/३० उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् ३०१ — जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंसे युक्त है वह सत् है । (प का/पू १०) (स सा / आ १२) (प्र सा / त प्र ६६) (का अ / यू २३७)

पं घ / पू ८६ वस्त्वस्ति स्वत सिद्ध यथा तथा तस्त्वत्तस्य परिणामी । तस्मादुत्पादस्थितभङ्गमय तत् सदेतदिह नियमात् । — जैसे वस्तु स्वत सिद्ध है वैसे ही वह स्वत परिणमनशील भी है, इसलिए यहाँ पर यह सत् नियमसे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है । (पं घ / पू ८६)

२ तीनों एक सत्के ही अश हैं

प्र सा / त प्र १०१ पर्यायास्तुत्पादव्ययध्रौव्यैरालम्ब्यन्ते उत्पादव्यय-ध्रौव्याणामशधमत्वाद्भीजोद्भूतत्वात्पञ्च । द्रव्यस्योच्छ्रयानोत्पत्त्यानावावृत्तिरामात्रलक्षणाद्ययोऽंश प्रतिभान्ति । — पर्याय उत्पाद-व्ययध्रौव्यके द्वारा अवलम्बित हैं, क्योंकि, उत्पाद-व्यय ध्रौव्य अशोंके धर्म हैं — बीज अकुर व वृक्षत्वकी भाँति । द्रव्यके नष्ट होता हुआ भाव, उत्पन्न होता हुआ भाव और अवस्थित रहनेवाला भाव, ये तीनों अश भासित होते हैं ।

पं घ / पू २०३-२२८ ध्रौव्य सत् कथंचिद् पर्यायार्थाच्च केवलं न सत् । उत्पादव्ययवदिदं तच्चर्चाश न सर्वदेश स्यात् २०९ । तत्रानिरय-निदानं ध्वसोत्पादद्वयं सतस्तस्य । निरयनिदानं ध्रुवमिति तत् प्रत्य-मप्यशभेद स्यात् २०६ । ननु चोत्पादध्वसौ द्वावप्यंशात्मकौभवेतां हि । ध्रौव्य प्रिकालविषयं तरुणमशारमकं भवेदिति चेत् २१८ । न पुन सतो हि सर्म केनचिदशोभभागमाशेन । सहारो वा ध्रौव्य वृक्षे फलपुष्पवन्न स्यात् २२६ । — पर्यायार्थिकनयसे 'ध्रौव्य' भी कथ-चिच्च सत्वा होता है, केवल सत्वा नहीं । इसलिए उत्पादव्ययकी तरह यह ध्रौव्य भी सत्वा एक अश है सर्वदेश नहीं है २०३ । उस सत्यकी अनिरयताका मूलकारण व्यय और उत्पाद हैं, तथा निरयताका मूलकारण ध्रौव्य है । इस प्रकार वे तीनों ही सत्के अशात्मक भेद हैं २०६ । प्रश्न — निश्चयसे उत्पाद और व्यय ये दोनों भले अशस्वरूप हों, किन्तु त्रिकालगोचर जो ध्रौव्य है, वह कैसे अशात्मक होगा । २१८ उत्तर — यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि ये तीनों अश अर्थात्तरागी तरह अनेक नहीं हैं २१६ । याँक ये तीनों एक सत्के ही अश हैं २२४ । चूँकि फल पुन तथा पत्तकी तरह किसी अशरूप एक भागसे सत्का उत्पाद अथवा व्यय और ध्रौव्य होते हैं, ऐसा

भी नहीं है २२५ । वास्तवमें वे उत्पादिक न स्वतन्त्र अशोंके होते हैं और न केवल अशोंके । शक्ति अशोंसे युक्त अशोंके होते हैं २२८ ।

३. वस्तु सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य नहीं है ।

स स्तो २/४ न सर्वथा नित्यमुदेयैषिति, न च क्रियाकारकमत्र युक्तम् । नैवासतो जन्म सतो न नाशो, दोषस्तम् पुद्गलभावतोऽस्ति २२४ । — यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो वह उत्पाद व अस्तको प्राप्त नहीं हो सकती और न उसमें क्रिया कारककी ही योजना बन सकती है । जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता और जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता । दोषक भी बुझनेपर सर्वथा नाशको प्राप्त नहीं होता, किन्तु उस समय अन्धकाररूप पुद्गलपर्यायको धारण किये हुए अपना अस्तित्व रखता है ।

आ मो ३/७, ४१ निर्येकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते । प्रागेव कारकाभाव क प्रमाण के तत्फलम् ३७ । क्षणिककान्तपक्षेऽपि प्रेरयभावाच्च भव । प्रत्यभिज्ञानाद्यभावाच्च कार्यारम्भ कुत फलम् ४१ । — नित्य एकान्त पक्षमें पूर्व अवस्थाके परिणाम रूप और उत्तर अवस्थाके ग्रहण रूप विक्रिया घटित नहीं होती, अतः कार्योत्पत्तिके पूर्वमें ही कर्ता आदि कारकोंका अभाव रहेगा । और जब कारक ही न रहेंगे तब भला फिर प्रमाण और उसके फलकी सम्भावना कैसे की जा सकती है । अर्थात् उनका भी अभाव ही रहेगा ३७ । क्षणिक एकान्त पक्षमें भी प्रेरय-भावादि अर्थात् परलोक, यन्त्र, मोक्ष आदि असम्भव हो जायेंगे । और प्रत्यभिज्ञान व स्मरणज्ञान आदिके अभावसे कार्यका प्रारम्भ ही सम्भव न हो सकेगा । तब कार्यके आरम्भ बिना पुण्य पाप व सुख-दुःख आदि फल काहे से होंगे ४१ ।

पं का / त प्र ८/१६/७ न सर्वथा नित्यतया सर्वथा क्षणिकतया वा विद्यमानमात्रं वस्तु । सर्वथानिरयवस्तुनस्तत्त्वतः क्रमधुर्वा भावा-नामभावात्कृतो विकारवचस्वम् । सर्वथा क्षणिकस्य च तत्त्वतः प्रत्यभि-ज्ञानाभावात् कुत एक सतान्वयम् । तत् प्रत्यभिज्ञानहेतुभूतेन केन-चिरस्वरूपेण ध्रौव्यमालम्ब्यमानं काम्यां चिरक्रमप्रवृत्ताभ्यां स्वरूपाभ्यां प्रतीयमानमुपजायमानं चैककालमेव परमार्थं तच्चित्तयौमवस्थां विश्राणं वस्तु सदवबोधयम् । — विद्यमानमात्र वस्तु न तो सर्वथा नित्यरूप होती है और न सर्वथा क्षणिकरूप होती है । सर्वथा नित्य वस्तुको वास्तवमें क्रमभावी भावोंका अभाव होनेसे विकार (परि-णाम) कहाँसे होगा । और सर्वथा क्षणिक वस्तुमें वास्तवमें प्रत्यभि-ज्ञानका अभाव होनेसे एक प्रवाहपना कहाँसे रहेगा । इसलिए प्रत्यभि-ज्ञानके हेतुभूत किसी स्वरूपमें ध्रुव रहतो हुई और किन्हीं दो क्रम-वर्ती स्वरूपोंसे नष्ट होती हुई तथा उत्पन्न, हाती हुई — इस प्रकार पर-मार्थत एक ही कालमें त्रिगुणी अवस्थाको धारण करती हुई वस्तु सत् जानना ।

४ कथंचित् नित्यता व अनित्यता तथा समन्वय

त सू १/३२ अप्रितानपितसिद्धे ३२ । — मुख्यता और गौणताकी अपेक्षा एक वस्तुमें विरोधी माद्यम पड़नेवाले दो धर्मोंकी सिद्धि होती है । द्रव्य भी सामान्यकी अपेक्षा निरय है और विशेषकी अपेक्षा अनिरय है ।

पं का / पू ६४ एवं सदो विनाशो असदो जीवस्स होइ उपादो । इदि जिणवरेहि भण्दि अण्णोणविरुद्धम् विरुद्धम् ६४ । (प का / त प्र ६४) द्रव्याधिकनयोपदेशेन न सत्प्रणाशो नासदुत्पादः । तस्यैव पर्याया-धिकनयादेशेन सत्प्रणाशो शत्रुत्पादश्च । — इस प्रकार जीवकी सत्वा विनाश और असत्का उत्पाद होता है, ऐसा जिनवराने कहा है, जो कि अन्योन्य विरुद्ध तथापि अविरोध है ६४ । क्योंकि जीवकी द्रव्याधिकनयके कथनसे सत्का नाश नहीं है और असत्का उत्पाद नहीं है तथा उसीकी पर्यायाधिकनयके कथनसे सत्का नाश है और असत्का उत्पाद भी है ।

आश मो ६/७ न सामान्यात्मनादेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ६/७ । — वस्तु सामान्यकी अपेक्षा तो न उत्पन्न है और न विनष्ट, क्योंकि

प्रगत अन्वय स्वरूप है। और विशेष स्वरूपसे उपजै भी है, विनशु भी है। युगपत् एक वस्तुको देखनेपर वह उपजै भी है, विनशु भी है और स्थिर भी रहे है।

प्या वि / मू १/११८/४३६ भेदज्ञानात् प्रतीयेते प्रादुर्भावार्थयो यदि । अमेदज्ञानत् सिद्धा स्थितिरप्येन केनचित् ॥१८॥ — भेद ज्ञानसे यदि उत्पाद और विनाश प्रतीत होता है तो अमेदज्ञानसे वह सत् या द्रव्य किसी एक स्थिति अश रूपसे भी सिद्ध है। (विशेष देखा टीका)

क पा १/१,१३/४३६/४११ न च जीवस्स दव्वत्तमसिद्ध, मज्झमावत्थाए अक्रमेण दव्वत्ताविणाभावि तिलवत्तु वत्ताभादो ।

क पा १/१,१३/४१८०/२१६/४ सत् आविर्भाव एव उत्पाद, तस्यैव तिरोभाव एव विनाश इति । द्रव्यार्थिकस्य सर्वस्य वस्तु नित्य-त्वाज्ञोत्पद्यते न विनश्यति चेति स्थितम् । = मध्यम अवस्थामे द्रव्य-त्वः अविनाभावो उत्पाद व्यय और ध्वंस्वरूप त्रिलक्षणत्वकी युगपत् उपलब्धि होनेसे जीवमें द्रव्यपना सिद्ध हो है। विशेषार्थ—जिस प्रकार मध्यम अवस्थाके अर्थात् जवानीके चैतन्यमें अनन्तरपूर्ववर्ती वचनके चैतन्यका विनाश, जवानीके चैतन्यका उत्पाद और चैतन्य सामान्यकी सिद्धि होती है इसी प्रकार उत्पादव्ययघ्नोऽप्यरूप त्रिलक्षणत्वको एक साथ उपलब्धि होती है। उसी प्रकार जन्मके प्रथम समयका चैतन्य भी त्रिलक्षणत्वमक हो सिद्ध होता है। अर्थ—सघका आविर्भाव हो उत्पाद है और उसका तिरोभाव हो विनाश है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे समस्त वस्तुएँ नित्य हैं। इसलिए न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है, और न विनष्ट होती है, ऐसा निश्चित हो जाता है। (यो सा अ २७) (प घ / पृ ६१, १६८)

प घ / पृ ६०, ६१ न हि पुनरुत्पादस्थितिभङ्गमय तद्विनापि परिणामात् । असतो जन्मस्वादिव सतो विनाशस्य दुर्निवारत्वात् ॥६०॥ द्रव्य सत् कथं विदुष्यते हि भावेन । व्येति तदन्येन पुनर्नैव द्वितय हि वस्तु-तया ॥६१॥ = वह सत् भी परिणामके बिना उत्पादस्थिति भगरूप नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा माननेपर जगत्में असत्का जन्म और सत्का विनाश दुर्निवार हो जायेगा ॥६०॥ इसलिए निश्चयसे द्रव्य कथंचित् किसी अवस्थामे उत्पन्न होता है और किसी अन्य अवस्थासे नष्ट होता है, किन्तु परमार्थ रीतिसे निश्चय करके ये दोनों (उत्पाद और विनाश) है ही नहीं ॥६१॥

प घ / पृ १२०-१२३, १८४, ३३६-३४० नियत परिणामित्वात्प्रादव्यय-मया एव गुणा । टङ्कोर्लोपन्यायात् एव नित्या यथा स्वरूपत्वात् ॥२०॥ न हि पुनरेकेषामिह भवति गुणानां निरन्वयो नाश । अप-रेषामुत्पादो द्रव्यं यच्च द्रव्याधारम् ॥२१॥ दृष्टान्ताभासोऽप्यस्याद्वि-विषयस्य मृत्तिकायां हि । एके नश्यन्ति गुणा जायन्ते पाक्वा गुणास्त्वन्ये ॥२२॥ तत्रोत्तरमिति सम्यक् सत्यां तत्र च तथाविधयां हि । किं पृथिवीरव नष्ट न नष्टमथ चैतन्य कथं न स्यात् ॥२३॥ अयमर्थ पूर्व या भाव सोऽप्युत्तरं भावश्च । भूत्वा भवन भावो नष्टात्पन्न न भाव इह कश्चित् ॥२४॥ अयमर्थ वस्तु यथा केवलमिह दृश्यते न परिणाम । नित्य तदव्ययादिव सर्व स्यादन्वयार्थनय-योगात् ॥३३॥ अपि च यदा परिणाम केवलमिह दृश्यते न किल वस्तु । अभिनवभावाभावादित्यमज्ञानयात् ॥३४॥ = नियमसे जो गुण हां परिणमनशील होनेके कारणसे उत्पादव्ययमयी कहलाते हैं, वही गुण टङ्कोर्लोपन्यायसे अपने-अपने स्वरूपको कभी भी उल्ल-घन न करनेके कारण नित्य कहलाते हैं ॥२०॥ परन्तु ऐसा नहीं है कि यहाँ किसी गुणका तो निरन्वय नाश होना माना गया हो तथा दूसरे गुणोंका उत्पाद माना गया हो । और इसी प्रकार नवीन-नवीन गुणों-के उत्पाद और व्ययका आधारभूत कोई द्रव्य होता हो ॥२१॥ गुणोंको नष्ट व उत्पन्न माननेवाले वैशेषिकोंका 'पिठरपाक' विषयक यह दृष्टान्ताभास है कि मिट्टीरूप द्रव्यमें घड़ा बन जाने पर कुछ गुण तो नष्ट हो जाते हैं और दूसरे पक्कगुण उत्पन्न हो जाते हैं ॥२२॥ इस

विषयमें यह उत्तर है कि इस मिट्टीमें-से क्या उसका मिट्टीपना नाश हो गया । यदि नष्ट नहीं होता तो वह निरूपण कैसे न मानी जाय ॥२३॥ सारांश यह है कि पहले जो भाव था, उत्तरकालमें भी वही भाव है, क्योंकि यहाँ हो होकर होना यही भाव है । नाश होकर उत्पन्न होना ऐसा भाव माना नहीं गया ॥२४॥ सारांश यह है कि जिस समय केवल वस्तु दृष्टित हाती है और परिणाम दृष्टित नहीं होते, उस समय तहाँ द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे वस्तुत्प्रेषा नाश नहीं होनेके कारण सम्पूर्ण वस्तु नित्य है ॥२६॥ अथवा जिस समय यहाँ निश्चयसे केवल परिणाम दृष्टित होते हैं और वस्तु दृष्टित नहीं होती, उस समय पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे नवीन पर्यायकी उत्पत्ति तथा पूर्व पर्यायका अभाव होनेके कारण सम्पूर्ण वस्तु ही अनित्य है ॥३४॥

५. उत्पादादिकमे परस्पर भेद व अमेदका समन्वय

प्र सा / मू १००-१०१ न भवा भंगविहिणा भंगा वा गत्थि स भवविहीणो । उत्पादो वि य भगो न विणा धोव्वेण अरथेण ॥१०॥ उत्पादद्विदिभगा विज्जते पज्जएसु पज्जाया । दव्वे हि संति णियद सन्हा दव्व हवदि सव्व ॥१०१॥ = उत्पाद भगसे रहित नहीं होता और भंग विना उत्पादके नहीं होता । उत्पाद तथा भग (ये दोनों ही) धौव्य पर्याय-के बिना नहीं होते ॥१००॥ उत्पाद धौव्य और व्यय पर्यायोंमें वर्तते हैं, पर्यायों नियमसे द्रव्यमें हाती हैं, इसलिए वह सब द्रव्य है ॥१०१॥ (विशेष दे त प्र टीका)

रा वा ४/३०/६-११/४६६-४६६ व्ययोत्पादाव्यतिरेकाद् द्रव्यस्य धौव्या-नुपपत्तिरिति चेत्, न, अभिहितानवधोघातः ॥ स्ववचनविरो-धाच्च ॥१०॥ उत्पादादीनां द्रव्यस्य चोभयथा लक्ष्यलक्षणभावानुप-पत्तिरिति चेत्, न अन्यस्वानन्वय प्रत्ययेकान्तोपपत्तेः ॥११॥ = प्रश्न—व्यय और उत्पाद क्योंकि द्रव्यमें अभिन्न होते हैं, अतः द्रव्य ध्वंस् नहीं रह सकता । उत्तर—शकाकारनेहमारा अभिप्राय नहीं समझा । क्योंकि हम द्रव्यसे व्यय और उत्पादको सर्वथा अभिन्न नहीं कहते, किन्तु कथंचित् कहते हैं । दूसरे इस प्रकारको शकाओंसे स्ववचन विरोध भी आता है, क्योंकि यदि आपका हेतु साधकत्वसे सर्वथा अभिन्न है तो स्वपक्षकी तरह परपक्षका भी साधक हो होगा । प्रश्न—उत्पादादिकोंका तथा द्रव्यका एकरव हो जानसे दोनोंमें लक्ष्यलक्षण भावका अभाव हो जायेगा । उत्तर—ऐसा भी नहीं है, क्योंकि इनमें कथंचित् भेद और कथंचित् अमेद है ऐसा अनेकान्त है ।

घ १०/४, २, ३, ३/१६/१ अपिदपज्जायभावाभावसलवण-उत्पादविणास-वदिरित्तअवट्टाणाणुवलभादो । न च पदमसमए उप्पणस्स विदि-यादिसमएसु अवट्टाण, तत्थ पदमविदियादिसमयकप्पणए कारणा-भावादो । न च उत्पादो चैव अवट्टाण, विरोहादो उत्पादसलवण-भाववदिरित्तअवट्टाणसलवणाणुवलभादो च । तदो अवट्टाणाभावादो उत्पादविणासलवण दव्वमिदि सिद्ध । = (श्रुतुसूत्र नयसे) विव-क्षित पर्यायिका सद्भावे ही उत्पाद है और विवक्षित पर्यायका अभाव ही व्यय है । इसके सिवा अवस्थान स्वतन्त्र रूपसे नहीं पाया जाता यदि कहा जाय कि प्रथम समयमें पर्याय उत्पन्न होता है और द्वितीयादि समयोंमें उसका अवस्थान होता है, सो यह बात भी नहीं बनती, क्योंकि उस (नय) में प्रथम द्वितीयादि समयोंकी कल्पनाका कोई कारण नहीं है । यदि कहा जाय कि उत्पाद हो अवस्थान है सो भी बात नहीं है, क्योंकि, एक तो ऐसा मानने में विरोध आता है, दूसरे उरगदस्वरूप भावको छोड़कर अवस्थान का और कोई लक्षण (इस नयमें) पाया नहीं जाता । इस कारण अव-स्थानका अभाव होनेसे उत्पाद व विनाश स्वरूप द्रव्य है, यह सिद्ध हुआ ।

स म २६/२६६/१६ ननुत्पादादय परस्परं भिद्यन्ते न वा । यदि भिद्यन्ते कथमेकं वस्तुत्रयामेकम् । न भिद्यन्ते चेत् तथापि कथमेकं त्रयामेकम् । उत्पादविनाशधौव्याणि स्याद् भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वात् रूपादिवदिति । नच भिन्ननभणत्वमसिद्धम् । न चामो भिन्ननभणा अपि परस्परानपेक्षा खण्ड्यवदसम्भवत् । तथाहि । उत्पाद केवलतो नास्ति । स्थितिविगमरहितत्वात् तद्वत् । एव स्थिति केवलतो नास्ति विनाशोत्पादव्युत्पत्त्यात् तद्वदेव । ह्ययम्योग्यायेक्षणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्व प्रतिपत्तव्यम् । तथा चाक्षुष्य—घटमौलिसुवर्णयोः नाशोत्पादस्थितिव्ययम् । शोकप्रमोदमाध्यम्ये जनो याति सहेतुकम् । पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽस्ति दधिवत् । अगारसव्रतो नोभे तस्माद् वस्तुत्रयामेकम् । २। —प्रश्न—उत्पाद, व्यय और धौव्य परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न । यदि उत्पादादि परस्पर भिन्न हैं तो वस्तुका स्वरूप उत्पाद व्यय और धौव्यरूप नहीं रहा जा सकता । यदि वे परस्पर अभिन्न हैं तो उत्पादादिमें से किसी एकको ही स्वीकार करना चाहिए । उत्तर—यह ठीक नहीं है क्योंकि हम लोग उत्पाद, व्यय और धौव्यमें कथार्थात् भेद मानते हैं अतएव उत्पाद व्यय और धौव्यका लक्षण भिन्न-भिन्न नहीं है, इसलिए रूपादिकी तरह उत्पाद व्यय धौव्यभी कथचित् भिन्न है । उत्पाद आदिका भिन्न लक्षणपना असिद्ध भी नहीं है । उत्पाद आदि परस्पर भिन्न होकर भी एक दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं क्योंकि, ऐसा माननेसे उनका आकाशपुष्पकी तरह अभाव मानना पड़ेगा । अतएव जैसे कछुवेकी पीठपर भालोंके नाश और स्थितिके बिना भालोंका केवल उत्पाद होना सम्भव नहीं है, उसी तरह व्यय और धौव्यसे रहित कबल उत्पादका होना नहीं बन सकता । इसी प्रकार उत्पाद और धौव्यसे रहित केवल व्यय, तथा उत्पाद और नाशसे रहित केवल स्थिति भी संभव नहीं है । अतएव एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाले उत्पाद, व्यय और धौव्यरूप वस्तुका लक्षण स्वीकार करना चाहिए । समन्तभद्राचार्यने कहा भी है—(आप्त भी ५६ ६०) । “वडे, मुकुट और सोनेके चाहने वाले पुरुष (सोनेके) वडेके नाश, मुकुटके उत्पाद और सोनेकी स्थिति में क्रमसे शोक हर्ष और माध्यस्थ भाव रखते हैं । दूधका व्रत लेने वाला पुरुष दही नहीं खाता, दहीका नियम लेनेवाला पुरुष दूध नहीं पीता और गोरसका व्रत लेनेवाला पुरुष दूध और दही दोनों नहीं खाता । इसलिए प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्यय और धौव्यरूप है । (प्र सा/त प्र १००)

प्या दो ३/३७६/१२३/५ तस्माज्जीवद्रव्यरूपेणभेदो मनुष्यदेवपर्यायरूपेण भेद इति प्रतिनियतनयविस्तारविरोधो भेदाभेदो प्रामाणिकावेव । —जीवद्रव्यकी अपेक्षासे अभेद है और मनुष्य तथा देव पर्यायोंकी अपेक्षासे भेद है । इस प्रकार भिन्न-भिन्न नयोंकी दृष्टिसे भेद और अभेदके माननेमें कोई विरोध नहीं है दोनों प्रामाणिक हैं ।

प घ/पू २१७ अयमर्थो यदि भेद स्यादुन्मज्जति तदा हि तत् त्रितयम् अपि तत्त्रितय निमज्जति यदा निमज्जति स मूलता भेद । २१७१ । —माराश यह है कि जिस समय भेद विवक्षित होता है उस समय निरवयवसे वे उत्पादादिक तीनों प्रतीत होने लगते हैं और जिस समय वह भेद मूलसे ही विवक्षित नहीं किया जाता उस समय वे तीनों भी प्रतीत नहीं होते हैं ।

६ उत्पादादिक मे समय भेद नहीं है

आप्त मो ५६ घटमौलिसुवर्णयोः नाशोत्पादस्थितिव्ययम् । शोकप्रमोदमाध्यम्ये जनो याति सहेतुकम् । ५६ । —स्वर्ण कलश, स्वर्ण माला तथा पात्र इनके अर्थ पुरुष घटका तोड़ माला करनेमें युगपत् शोक, प्रमोद व माध्यम्यताकी प्राप्ति होती है । यो स यह सब सहेतुक है । धर्मादिक घट का नाश तथा मालाके उत्पाद व स्वर्णकी स्थिति इन तीनों बातोंका एक ही काल है ।

घ ४/१७४/३३५/६ सम्मत्तागृहपथमगमणं गृहो मित्तस्तपज्जाया । कथमुत्पत्तिविगमसाधनमेव । समञ्जः । न एतन्निगमणं पितागारेण विगृह्यतागरेणुपपन्नमिष्टिमदन्तरसुतनम् । —सम्यक्तरा प्रहण करने के प्रथम समयमें ही मिथ्यात्वा पर्याय विगृह्यता जाता है । प्रश्न—सम्यक्तरागी उत्पत्ति और मिथ्यात्वाका तादात्म्य दानों विभिन्न कार्यका एक समय है । सक्तता है । उत्तर—नहीं क्योंकि, जैसे एक ही समयमें पिण्डरूप आगारी विगृह्यता था तदन्व आगारी उत्पन्न हुआ मृत्तिका रूप द्रव्य पाया जाता है ।

प्र सा/त प्र १०२ यो हि नाम वस्तुना जन्ममण न जन्मव व्याप्तत्वात् स्थितिमणो नाशमणश्च न भवति । मरच स्थितिमण सत्त्व-भयोरन्तरालद्वुल्लिखत्वाज्जन्मणो नाशमणश्च न भवति । मरच नाशमण स तूराद्यवस्थाय च नरगता जन्ममण स्थितिमणश्च न भवति । ह्युत्पादादीनां विवर्तमाना मणभेदादुदगभूमिमवतरति । अवतरत्येव यदि द्रव्यमात्मनोयोरन्यत आत्मनोवापि स्थितोऽस्मात्मेव नरगतीत्यस्युगम्यते । तत्तु नाम्युपपत्त्यात् । पर्यायमिति तादात्म्यं कुत मणभेद । —प्रश्न—वस्तुना जो जन्ममण है वह जन्ममे ही व्याप्त होनेमें स्थितिमण और नाशमण नहीं है जो स्थितिमण है वह दोनों (उत्पादमण और नाशमण) के अन्तरालमें दृढतया रहता है इसीलिए (यह) जन्ममण और नाशमण नहीं है, और जो नाशमण है वह वस्तु उत्पन्न होकर और स्थिर रहकर फिर नाशको प्राप्त होता है, इसीलिए जन्ममण और स्थितिमण नहीं है । इस प्रकार तत्पूर्वक विचार करनेपर उत्पादादिना मणभेद दृढतया निमित्त अवतरति होता है । उत्तर—यह लक्षणमे पर्यायमिति तभी उत्तर सकता है जन्म यह माना जाय कि द्रव्य सत्य है उत्पन्न होता है, स्वयं ही भव्य रहता है और स्वयं ही नाशका प्राप्त होता है । किन्तु ऐसा ता माना नहीं गया है । (क्योंकि यह मित्र कर दिया गया है कि) पर्यायिक ही उत्पादादिक है । (तम किं) वही मणभेद कहसि हो सकता है ।

गो जी/मं प्र ८३/२०५/७ परमार्थत विग्रहगतो प्रथमसमय उत्तर-मभयमपर्यायप्रादुर्भावो जन्म । पूर्वपर्याय विनाशोत्पत्तिपर्यायप्रादुर्भावो योरद्वुल्लिखत्वाज्जन्ममणो नाशमणश्च न भवति । —परमार्थत विग्रहगतिके प्रथम समयमें ही उत्तर भवती प्रथम पर्यायिके प्रादुर्भाव-रूप जन्म हो जाता है । क्योंकि, जिस प्रकार जगुनीका टैली करनेपर उत्तक सीधेपनका विनाश तथा टैलेपनका उत्पाद एक ही समयमें दिव्यादि होता है, उसी प्रकार पूर्वपर्यायका विनाश और उत्तर पर्यायका प्रादुर्भाव इन दोनोंका भी एक ही काल है ।

प घ/पू २३३-२३६ एवं च क्षणभेद स्यादुन्मज्जति तदा हि तत् त्रितयम् अपि तत्त्रितय निमज्जति यदा निमज्जति स मूलता भेद । २३३ । तन्न यत् क्षणभेदो न स्यादेकसमयमात्रं तत् । उत्पादादित्रयमपि तैतो सहाष्टाऽपि निद्रत्वात् । २३४ । अपि चाहकुटुम्बेरेति य एव समय स कीजनाशस्य । उभयोरप्यात्मनोवात् स एव कालश्च पादपरस्परम् । २३६ । —प्रश्न—यदि अकुर आर वृषपत्नेकी भौति लव की उत्पादादिक तीनों अवस्थाओंमें मणभेद होता है । २३३ । उत्तर—ऐसा तहना ठीक नहीं है, क्योंकि तीनोंमें क्षणभेद नहीं है । परन्तु हेतुसे तथा स धक्क दृष्टान्तोंसे भी मित्र होनेके कारण ये उत्पादादिक तीनों केवल एक समयवर्ती हैं । २३४ । वह इस प्रकार कि जिस समय अकुर की उत्पत्ति होती है उसी समय कीजका नाश होता है और दानांमें वृक्षत्व पाया जानेके कारण वृक्षत्वका भी वही काल है । २३६ ।

७ उत्पादादिकमे समयके भेदाभेद विषयक समन्वय

घ १२/४ २.१३ २५४/४५०/६ सुहृत्सर्पापराइयचरित्समय वेयणायस उल्लास्थानुभागधवा जाता । न च सुहृत्सर्पापराइय माहृणीयभावो पत्थि, भावेण विणा द्रव्यव्यमरस अस्थितारोहादो सुहृत्सर्पापराइय-संणानुवयवत्तीदो वा । तस्मा माहृणीयवेयणाभावविसया पत्थि त्ति न जुज्जये । एतय परिहारा उच्चये । त जहा—विणासविसय दोषिण

गया होंति उत्पादानुच्छेदो अनुत्पादानुच्छेदो चेदि । तस्य उत्पादानुच्छेदो नाम दम्बद्वयोः । तेन सत्तावस्थाए चैव विनाशसिद्धिदि, असन्ते बुद्धिविसयं चाश्चकृतभावेण वयणगायराश्वकते अभावववहाराणुवयचोदो । न च अभावा नाम अस्थि, तत्परिच्छेद तपमाणाभावादो, मन्तविसयाण पमाणमसते वावारविरोहादो । अविराहो वा गृहहसिं प पमाणविसय हाज्ज । न च एव, अनुवलभादो । तन्हा भावा चैव अभावा त्ति सिद्धं । अनुत्पादानुच्छेदो नाम पञ्जवटिठओ गयो । तेन अस्ततावस्थाए अभावववपसमिच्छदि, भावे उवनम्भमाणे अभावचविराहादो । न च पडितेहविसआ भावो भावच मल्लियम्, पडितेहस्स फलाभावप्सगादो । न च विनासो गस्थि घट्टियादीण सव्वद्वमयट्टाणाणुवलंभादो । न च भावो अभावा होदि, भावाभावाणमण्णोणविरुद्धाणमेयसविरोहादो । एथ जेण दम्बटिठयणयो उत्पादानुच्छेदो अवलविदो तेण मोहणीयभाववेयणा गस्थि त्ति भणिद । पञ्जवटिठयणये पुण अवलविज्जमाणे मोहणीयभाववेयणा अणतगुणहीणा होदूण अस्थि त्ति वत्तव्वं । = सूक्ष्मसाम्प्रायिक गुणस्थानके अन्तिम समयमें वेदनीयका अनुभागबन्ध उत्पन्न हो जाता है । परन्तु उस सूक्ष्मसाम्प्रायिक गुणस्थानमें मोहनीयका भाव नहीं है, ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि भावके बिना द्रव्य कर्मके रहनेका विरोध है अथवा वहाँ भावके माननेपर 'सूक्ष्म साम्प्रायिक' यह संज्ञा ही नहीं बनती है । इस कारण (तहाँ) मोहनीयकी भावविषयक वेदना नहीं है यह कहना उचित नहीं है । उत्तर—यहाँ इस शकाका परिहार करते हैं । विनाशके विषयमें दो नय हैं—उत्पादानुच्छेद और अनुत्पादानुच्छेद । उत्पादानुच्छेदका अर्थ द्रव्याधिकनय है इसलिए वह सद्भावकी अवस्थामें ही विनाशका स्वीकार करता है, क्योंकि अमत् और बुद्धिविपयतासे अतिक्रान्त होनेके कारण वचनके अविषयभूत पदार्थमें अभावका व्यवहार नहीं बन सकता । दूसरी बात यह है कि अभाव नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है क्योंकि उसके ग्राहक प्रमाणका अभाव है । कारण कि सत्को विषय करनेवाले प्रमाणोंके असत्में प्रवृत्त होनेका विरोध है । अथवा असत्के विषयमें उनकी प्रवृत्तिका विरोध न माननेपर गधेका सींग भी प्रमाण का विषय होना चाहिए । परन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि, वह पाया नहीं जाता । इस प्रकार भावस्वरूप ही अभाव है यह सिद्ध होता है ।

अनुत्पादानुच्छेदका अर्थ पर्यायाधिकनय है । इसी कारण वह असत् अवस्थामें अभाव सज्ञाको स्वीकार करता है, क्योंकि, इस नयकी दृष्टिमें भावकी उपलब्धि होनेपर अभाव रूपताका विरोध है । और प्रतिषेधका विषयभूत, भाव भावरूपताको प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि, ऐसा होनेपर प्रतिषेध निष्फल होनेका प्रसंग आता है । विनाश नहीं है यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, घटिका आदिकोंका सर्वकाल अवस्थान नहीं पाया जाता । यदि कहा जाय कि भाव ही अभाव है (भावका छोड़कर तुच्छाभाव नहीं है) तो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, भाव और अभाव ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, अतएव उनके एक होनेका विरोध है । यहाँ चूँकि द्रव्याधिक नयस्वरूप उत्पादानुच्छेदका अवलम्बन किया गया है, अतएव 'मोहनीय कर्मकी भाव वेदना यहाँ नहीं है' ऐसा कहा गया है । परन्तु यदि पर्यायाधिकनयका अवलम्बन किया जाय तो मोहनीयकी भाववेदना अनन्तगुणी होन होकर यहाँ विद्यमान है ऐसा कहना चाहिए ।

गो क/जी प्र ६४/८०/११ द्रव्याधिकनयापेक्षया स्वस्वगुणस्थानचरमसमये बन्धवुच्छिन्ति बन्धविनाश । पर्यायाधिकनयेन तु अनन्तरसमये बन्धनाश । द्रव्याधिकनयकी अपेक्षासे स्व स्व गुणस्थानके चरमसमयमें बन्धवुच्छिन्ति या बन्धविनाश होता है । और पर्यायाधिकनयकी अपेक्षासे उस उस गुणस्थानके अनन्तर समय में बन्धविनाश होता है ।

३ द्रव्य गुण पर्याय तीनों त्रिलक्षणात्मक हैं

१. सम्पूर्ण द्रव्य परिणमन करता है द्रव्यांश नहीं

प घ/पू २११-२१६ ननु भवतु वस्तु नित्य गुणाश्च नित्या भवन्तु वार्धिरिव । भावा कलालादिबहुपन्नध्वंसिनो भवन्तिवति चेत् । १२११। तन्न यतो दृष्टान्त प्रकृतार्थस्यैव बाधका भवति । अपि तदनुक्तस्यास्य प्रकृतविषयस्य साधकत्वाच्च । १२१२। अर्थान्तर हि न सत् परिणामेभ्यो गुणस्य कस्यापि । एकत्वाज्जलधेरिव कलितस्य तरङ्गमालाभ्यम् । १२१३। किन्तु य एव समुद्रस्तरङ्गमाला भवन्ति ता एव । यस्मात्स्वयं स जलधिरतरङ्गरूपेण परिणमति । १२१४। तस्मात् स्वयमुत्पाद मदिति धौव्य व्याप्तिरिति । न सताऽतिरिक्त एव हि व्युत्पादो वा व्ययोऽपि वा धौव्यम् । १२१५। — प्रश्न—समुद्रकी तरह वस्तुको ता नित्य माना जावे और गुण भी नित्य माने जावे, तथा पर्यायों कलोल आदिकी तरह उत्पन्न व नाश होनेवाली मानो जावें । यदि ऐसा कहा तो ? १२११। उत्तर—ठीक नहीं है, क्योंकि समुद्र और तरङ्गोंका दृष्टान्त शकाकारके प्रकृत अर्थका ही साधक है, तथा शकाकारके द्वारा नहीं कहे गये प्रकृत अर्थके विषयभूत इस उद्दयमान कर्थाचित नित्यानित्यात्मक अभेद अर्थका साधक है । १२१२। सा कैसे—तरंगमालाओंसे व्याप्त समुद्रकी तरह निश्चयसे किसी भी गुणके परिणामसे अर्थात् पर्यायोंसे सत्को अभिन्नता होनेसे उस सत्का अपने परिणामोंमें कुछ भा भेद नहीं है । १२१३। किन्तु जा हो समुद्र है वे हो तरंगमालाएँ हैं क्योंकि वह समुद्र स्वयं तरंगरूपसे परिणमन करता है । १२१४। इसलिये 'नत् यह स्वयं उत्पाद है स्वयं धौव्य है और स्वयं ही व्यय भी है । क्योंकि सत्से भिन्न कोई उत्पाद अथवा व्यय अथवा धौव्य कुछ नहीं है । १२१५। (विशेष दे उत्पाद २/६)

रा वा/पू ६/२२६ द्रव्यकी पर्यायिक परिवर्तन होनेपर अपरिवर्तिष्णु अश कोई नहीं रहता । यदि कोई अश परिवर्तनशील और कोई अश अपरिवर्तनशील हो ता द्रव्यमें सर्वथा नित्य या सवथा अनित्यका दोष आता है ।

२ द्रव्य जिस समय जैसा परिणमन करता है उस समय वैसा ही होता है

प्र सा/मू ८-९ परिणमदि जेण दम्बं तवकाल तम्मयं त्ति पणत्त । तन्हा धम्म परिणदो आदा धम्मा मुणेयव्वा । ८। जीवा परिणमदि जदा सुहेण असहेण वा सुहो असुहो । सुद्वेण तदा सुद्वो हवदि हि परिणामसम्भावो । ९। —द्रव्य जिस समय जिस भावरूपसे परिणमन करता है उस समय तत्समय है, ऐसा कहा है । इसलिए धमपरिणत आत्माको धर्म समझना चाहिए । ८। जीव परिणामस्वभावों होनेसे जब शुभ या अशुभभावरूप परिणमन करता है, तब शुभ या अशुभ होता है और जब शुद्धभावरूप परिणमित होता है तब शुद्ध होता है । ९।

३ उत्पाद व्यय द्रव्यांशमें नहीं पर्यायांशमें होते हैं

प का/मू ११ उत्पात्तो व विनासा दम्बस्स य गस्थि अस्थि सम्भावो । विगमुत्पादधुवत् करेत्ति तस्सेव पज्जाया । —द्रव्यका उत्पाद या विनाश नहीं है, सद्भाव है । उसको पर्यायों विनाश उत्पाद व ध्रुवता करते हैं । ११। (प्र सा/मू २०१) ।

प घ/मू १७९ इदं भवति पूर्वपूर्वभावविनाशेन नश्यतोऽशम्यम् । यदि वा तदुत्तरोत्तरभावोत्पादनं जायमानस्य । १७९। —वह परिणमन पूर्वपूर्व भावके विनाश रूपसे नष्ट होनेवाले अशका और केवल उत्तर उत्तर भावके उत्पादरूप उत्पन्न होनेवाले अशका है, परन्तु द्रव्यका नहीं है ।

४ उत्पादव्ययको द्रव्यका अश कहनेका कारण

प्र सा/मू २०१ उत्पादद्विदिग्धगा विज्जते पज्जप्प पज्जाया । दम्ब हि सति णियदं तन्हा दम्बं हवदि सव्वम् । १०१। —उत्पाद, स्थिति और

भग पर्यायोंमें होता है, पर्याय नियमसे द्रव्यमें होती हैं, इसलिए साराका सारा एक द्रव्य ही है। (विशेष दे उत्पाद २/४)।

घ घ/पू २०० उत्पादस्थितिभट्ट्या पर्यायानां भवन्ति यिन न सत । ते पर्याया द्रव्य तस्माद्द्रव्य ए तद्व्यतिरिक्तम् । २००१—निरूपयते उत्पाद व्यय तथा धौव्य ये तोनो पर्यायोंमें होते हैं सत्ये नहीं, और क्योंकि ये पर्याय ही द्रव्य हैं, इसलिए द्रव्य ही उत्पादादि तोनाला कहा जाता है।

५ पर्याय भी कयचित् ध्रुव है

श्लो वा २/१ ६/१३/३४/२० एकमणस्थायित्वस्याभिधानात् ।

श्लो वा २/१ ७/२४/५८/२२ कवल यथाजुसुप्रारक्षणस्थितिरयेति प्रतिषेधमपे सर्वथाप्यनाधितप्रत्ययात्सिद्धिरिति स्थितिरधिगम्या । —एक क्षणमें स्थितित्वभावसे रहनेका अर्थ अक्षयिकपना कहा गया है अर्थात् जो एक क्षण भी स्थितिशील है वह ध्रुव है जैसे श्रुजुसुप्रनयसे एक क्षण तक ही ठहरनेवाला पदार्थ अपने कारणोंसे उत्पन्न हुआ है तिस प्रकार द्रव्याधिकनयसे जाना गया अधिक काल ठहरनेवाला पदार्थ भी अपने कारणोंसे उत्पन्न हुआ है, यह हम व्यक्त रूपमें कहते हैं। सभी प्रकारों करके साधारणतः प्रमाणसे उस कालान्तरस्थायी ध्रुव पर्यायको सिद्धि हो जाती है।

घ घ/१,४,४/३३६/१२ मिच्छत्त नाम पञ्जाओ । सो च उत्पादविनास-लक्षणो, द्विदोष अभावाद्दो । अह जद तस्स द्विदो वि इच्छिज्जज्जदि, तो मिच्छत्तस्स दव्वत्त पसज्जदे, ण एस दोसा, जमव्वमण तिलवल्लण तं दव्वं, ज पुण कमेण उत्पादद्विदिभंगलं सा पञ्जाओ त्ति जिणोवदेसादो । —प्रश्न—मिध्याय नाम पर्यायिका है, यह पर्याय उत्पाद और व्यय लक्षणवाली है, क्योंकि, उसमें स्थितिका अभाव है, और यदि उसके स्थिति भी मानते हैं तो मिध्यायक द्रव्यपना प्राप्त होता है। उत्तर—यह कोश दोष नहीं क्योंकि, जो अक्रमसे उत्पाद व्यय और धौव्य इन तीनों लक्षणोंवाला होता है वह द्रव्य होता है और जो क्रमसे उत्पाद स्थिति और व्यय वाला होता है वह पर्याय है, इस प्रकारसे जिनैन्द्रका उपपेश है।

प्र सा/त प्र ८ अखिलद्रव्याणां केनचित्पर्यायिणोत्पाद, केनचित्विनाश केनचिद्भौव्यमित्यवबोद्धव्यम् । —सर्व द्रव्याका किसी पर्यायसे उत्पाद, किसी पर्यायसे विनाश और किसी पर्यायसे भौव्य होता है।

घ घ/पू २०३ भौव्यं तत् कथंचित् पर्यायात्तच्च केवल न सत । उत्पादव्ययवदिदं तत्त्वैकांश न सर्व देश स्यात् २०३१—पर्यायाधिक नयसे भौव्य भी कथंचित् सत्का होता है, केवल सत्का नहीं। इसलिए उत्पाद व्यय की भाँति वह भौव्य भी सत् का अंश (पर्याय) है परन्तु सर्व देश नहीं।

६ द्रव्य गुण पर्याय तीनो सत् हैं

प्र सा/मू १०७ सद्व्य सच्च गुणो सच्चेत्र य पज्जओ त्ति विरथारो । जा खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतभावो । —सह द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्याय इस प्रकार सत्ता गुणका विस्तार है।

७ पर्याय सर्वथा सत् नहीं है

घ घ/१/१७ असदकरणादुपादानमहणत् सर्वसभवाभावात् । शक्तस्य क्षम्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् । १। (सारय कारिका ६)—इति के वि भण ति । एय पि ण जुज्जदे । कुदो । एयतेण सते कत्तार भावारस्स विहलत्तपसंगादो, उवायाण गहणाणुववत्तीदो, सव्वहा संतस्य स भवविरोहादो, सव्वहा सते कज्जकारणाभावाणुववत्तीदो । किंच—विपच्छिदेहादो ण संतस्स उत्पत्तो । जदि अरिय, कथं तस्सुत्पत्तो । अह उत्पज्जई, कथं तस्स अरिथत्तमिदि । —प्रश्न—यूँ कि असत् कार्य किया नहीं जा सकता है, उपादानोंके साथ कार्यका सम्बन्ध रहता है, किसी एक कारणसे भी कार्योंकी उत्पत्ति सम्भव

नहीं है, समर्थ कारणके द्वारा क्षम्य कार्य ही किया जाता है, तथा कार्य कारण—स्वभाव है—उसमें भिन्न सम्भव नहीं है, अतएव इन ऐतद्विके द्वारा कारण व्यापारमें पूर्व भी कार्य सत् ही है, यह मिट है । १। (माग्य) उत्तर—इस प्रकार किन्हीं वचन लाटिका करना है जो योग्य नहीं है। कारण कि कार्यको सर्वथा सत् माननपर कदाकि व्यापारके निष्पन्न होनेका प्रगम आता है। इसी प्रकार सर्वथा कार्यके सत् होनेपर उपादानना ग्रहण भी नहीं होता। सर्वथा सत् कार्यको उत्पत्तिना विरोध है। कार्यके सर्वथा सत् होने पर कार्यकारणभाव हा पटित नहीं होता। इसका प्रतिपत्ति असंगत होनेसे सत्-कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि, यदि 'कार्य' कारणव्यापारके पूर्वमें भी विद्यमाना है तो फिर उसका उत्पत्ति कैसे हो सकती है। और यदि वह कारण व्यापारस उत्पन्न होता है, तो फिर उसका पूर्वमें विद्यमान रहना कैसे संगत रहा जायेगा।

८ लोकाकाशमें भी तोनो पाये जाते हैं

का अ/मू ११७ परिणाम गहायादा पटिममम परिणमति दव्वानि । तेणि परिणामादो सोयरस वि मुण्ह परिणाम ११७। —परिणमन परता वस्तुषा स्वभाव है अत द्रव्य प्रति समय परिणमन करते हैं। उनक परिणमनसे लोकका भी परिणमन जाना।

९ धर्मादि द्रव्योमें परिणमन है पर परिस्वन्द नहीं

म मि ६/७/२०३/१ अत्रचाग्ने-धर्मादीनि द्रव्यानि यदि निष्क्रियानि ततस्तेषामुत्पादा न भवेत् । क्रियापूर्वका हि घटादीनामुत्पादो दृष्ट । उत्पादाभावाच्च व्यापारभाव इति । अत सर्वद्रव्यानामुत्पादादित्रितय-कत्वाभावात् इति । तत्र, त्रि कारणम् । अन्यथापत्तेः । क्रिया-निमित्तोत्पादाभावेऽप्येवं धर्मादीनामन्यथोत्पाद वक्ष्यते । तद्यथा द्विविध उत्पाद स्वनिमित्त परप्रत्ययश्च । पटस्थानपतितया वृद्धया हाण्या च प्रवर्तमानानां व्यापारादेस्तेषामुत्पादो व्ययश्च । —प्रश्न यदि धर्मादि द्रव्य निष्क्रिय हैं तो उनका उत्पाद नहीं बन सकता क्योंकि घटादिकका क्रियापूर्वक ही उत्पाद देता जाता है और उत्पाद नहीं बननेसे इनका व्यय भी नहीं बनता। अत 'सम द्रव्य उत्पाद आदि तीन रूप होते हैं' इस कथनका व्याघात हो जाता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि इनमें उत्पादादि तीन अन्य प्रकारसे बन जाते हैं। यद्यपि इन धर्मादि द्रव्योंमें क्रिया निमित्तक उत्पाद नहीं है तो भी इनमें अन्य प्रकारसे उत्पाद माना गया है। यथा—उत्पाद दो प्रकारक है—स्वनिमित्तक उत्पाद और परप्रत्यय उत्पाद। तहाँ इनमें ग्रह स्थानपतित पृथ्वी और हानिक द्वारा वर्तन होता रहता है। अत इनका उत्पाद और व्यय स्वभावसे (स्वनिमित्तक) होता है। (रा वा ६/७/३/४४६/१०)

१० मुक्त आत्माओंमें भी तोनो देखे जा सकते हैं

प्र गा/मू १७ भगविरोहो य भवो सभय परिविज्जदो विणासो हि । विज्जदि तस्सेय पुणो ठिदिन भवणाससमवाया १७। —उसके (शुद्धात्मस्वभावको) प्राप्त आत्माके) विनाश रहित उत्पाद है और उत्पादरहित विनाश है। उसके ही फिर धौव्य, उत्पाद और विनाशका समय विद्यमान है। १७।

प्र सा/ता घ १८/१२ सुवर्णगोरसमुत्तिकापुरुषादिमूर्तपदार्थेषु यथो-त्पादादिप्रय लोके प्रसिद्ध तथैवायूतंऽपि मुक्तजीवे । यद्यपि १ संसारवसानोत्पत्तिकारणसमयसारपर्यायस्य विनाशोभवति तथैव केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारपर्यायस्योत्पादस भवति, तथाप्युभयपर्यायपरिणतारमद्रव्यत्वेन धौव्यत्वं पदार्थत्वादिति । अथवा २ ज्ञेयपदार्था प्रतिक्षणं भद्रत्रयेण परिणमन्ति तथा ज्ञानमपि परिच्छिन्नरूपेक्षया भद्रत्रयेण परिणमति । ३ पटस्थानगतगुरुतपुक-गुणवृद्धिहान्यापेक्षया वा भद्रत्रयमवबोद्धव्यमिति सूत्रात्पर्यम् । —जिस प्रकार स्वर्ण, गोरस, मिट्टी व पुरुषादि मूर्तद्रव्योंमें उत्पा-

गुणों से आत्म की ज्योति है। आप अगर क्रांति में आ गईं तो आपका राक्षसी कहा जायेगा। वासना में आ गईं तो आप नरक का द्वार कहलायेगी। माया में आ गईं तो मिथ्यात्व में चली जायेंगी। दुर्गुणों से आपका अपना पतन तो होगा ही, किन्तु पीहर और ससुराल दोनों को बदनाम करने वाली भी बन जायेगी।

आप घर के आगन को चाहे जितना धोले उसमें रज आने ही वाली है। आगन पर पैर ही रखे जायेंगे। आप चाहे जितने इत्र के फुहारे लगा ले कानो में ठेठी ही निकलेगी।

नारी की अग्रणी भूमिका

श्राविकाओं से, माताओं से, नारियों से मेरा कथन है कि आप हमेशा धर्म में आगे रही हैं। महावीर प्रभु के शासन में सन्त कितने और साध्विया कितनी? श्रावक कितने और श्राविकाएँ कितनी? सन्तो से साध्वियों की एव श्रावकों से श्राविकाओं की संख्या अधिक ही रही है। सन्त १४ हजार थे तो साध्वियाँ ३६ हजार। श्रावक १ लाख ५९ हजार थे तो श्राविकाओं की संख्या ३ लाख १८ हजार थी। भगवन्त की भाषा में कहूँ— मिथ्यात्वी को सम्यक्त्वी बनाने वाली भी माताएँ हुई हैं। शिकार करने वाले श्रेणिक को महासती चेलना ने रास्ता बताया। प्राण लेने वाले कोणिक को सस्कार देकर पिंजरा तुड़वाने वाली भी माता ही थी।

आप श्राविका सम्मेलन में आई हैं तो खुद ज्ञानार्जन में आगे बढ़ें। स्वयं को ज्ञान होगा तो आप अपने बच्चों को ज्ञानाभ्यास में आगे बढ़ा सकेंगी। कहीं किसी बात का खण्डन-मण्डन करना हुआ तो कर सकेंगी। आप ज्ञान का बल बढ़ायेगी तो आपका जीवन बनेगा और आपके कारण घर-परिवार में सस्कार सुजित होंगे।

आप माता हैं, तो धर्मपत्नी भी हैं। धर्मपत्नी हैं तो अपने पति को धर्म-मार्ग में आगे बढ़ाने वाली भी आप ही हैं। भगवन्त फरमाते थे— कई ठकुराईनों ने ठाकुरों का मास खाना छुड़वा दिया। आप धर्म की एव नीति की ज्योति परिवार में जगा सकती हैं। सौ गुरुओं की शिक्षा से भी अधिक शिक्षा एक माता दे सकती है।

आपका सम्मेलन गुणों का सम्मेलन बने। आपका सम्मेलन श्रद्धा का सम्मेलन बने, विनय का सम्मेलन बने। आप गुणों के वर्धन की दिशा में प्रयास करें और सस्कार देने की ओर आगे बढ़ें तो स्वयं में शान्ति का अनुभव होगा तथा परिवार, समाज एव राष्ट्र में भी शान्ति होगी।

उदय

बिना चोरे हुए भटा बगै-
फली न खावे।

दुपलक्षणम् । तेन साधा-
नीजा यथा प्रोक्ता फल-
णाम्यौपधच्छलात् १८०।
साश्रितं विशेषेण सद्बहि-
मूत स्वच्छत्वात् १८०।

च १६१। कुपलानि च
न्येव प्रोक्तानावधेरध-
क्षणरूप है। अतः सर्व
६। मूलबीज, अग्रबीज,
यक फल जैसे अदरख
। गेखाने चाहिए और
२०। इसी प्रकारसे अन्य
प्रसजियों को आश्रयभूत
सी वृक्षकी जड़ साधा-
पत्र, पुष्प व पर्व आदि
प्रथवा क्षीर फल (जिन
। हाते हैं १६१। कुपलें
अनुसार यथाकालकी
जाते हैं। उनका भी

१। भक्ष्य ४

प्रधानता—दे दिशा,
१. एक व्यंजन देव—दे
लोक ४/६, ६ लवण
लोक ४/६।

वत—दे लोक ४/६,
दे लोक ४/६।

—दे भवन/१, ४।

उसकी चित्तभूमि पर
रिपक्ष दशाक्षी प्राप्त
कर्माँका उदय कहते
अपेक्षा रखकर आता
। कृत्तिके अनुसार ही
। राभव करनेवाला

उत्सव—Height ऊँचाई

उत्सेधागुल—क्षेत्र प्रमाणका एक भेद—दे गणित १/१/३।

उदक—अपर नाम 'प्रभादेव'। यह भावी चौबीसीमें आठने तीर्थकर
है—दे तीर्थकर ४।

उदवर—बड़ बटो, पीपल बटो, ऊमर, कटुमर, पाकर, गूलर, अजीर
आदि फल उदवर फल हैं इनमें उड़ते हुए व्रस जीव प्रत्यक्ष देखे
जा सकते हैं। उदम्बर फल यद्यपि पाँच बताये जाते हैं, परन्तु इसी
जातिके अन्य भी फल इन्होंने गभित समझना।

१ उदवर फलोंके अतिचार

सा घ ३/१४ स' फलमविज्ञात वार्ताकादि रक्षारितं। उद्वह भलादि-
सिबीय खावेबोदुमरवती। १४। —उदम्बर द्यागवतको पालन करने-

१ भेद, लक्षण व प्रकृतियाँ

१ अनेक अपेक्षाओंसे उदयके भेद

१ स्वमुखोदय परमुखोदय, २ सविपाक अविपाक, ३ तीव्र
मन्दादि।

२ द्रव्य कर्मादयका लक्षण

३ भाव कर्मादयका लक्षण

४ स्वमुखोदय व परमुखोदयके लक्षण

५ सम्प्राप्ति जनित व निपेक जनित उदयका लक्षण

६ उदयस्थानका लक्षण

७ सामान्य उदय योग्य प्रकृतियाँ

भंग पर्यायोंमें होता है, पर्याय नियमसे द्रव्यमें होती है, इसलिए साराका सारा एक द्रव्य ही है। (विशेष दे उत्पाद २/६)।

घ ४/५ २०० उत्पादस्थितिभङ्गा पर्यायाणां भवन्ति किल न सतः। ते पर्याया द्रव्य तन्माहद्रव्यं हि तत्प्रतिपत्त्यम्। २००॥ — निश्चयसे उत्पाद व्यय तथा धौव्य ये तीनों पर्यायोंके होते हैं सत्के नहीं, और क्योंकि ये पर्याय ही द्रव्य हैं, इसलिए द्रव्य ही उत्पादादि तीनोंवाला कहा जाता है।

५ पर्याय भी कथञ्चित् ध्रुव है

श्लो वा २/१-६/१३/३५१/२७ एकभणस्थापित्वस्याभिधानात्।
श्लो वा २/१-७/२४/५८०/२२ कथं यथार्जुनस्यारक्षणस्थितिरिव भाव स्वहेतोरपन्नस्तथा द्रव्याधिकनयात्कालान्तरस्थितिरिवेति प्रतिचक्ष्महे सर्वथाप्यबाधितप्रत्ययात्तत्सिद्धिरिति स्थितिर्धिगम्या। — एक क्षणमें स्थितिस्वभावेसे रहनेका अर्थ अक्षणीकणना कहा गया है अर्थात् जो एक क्षण भी स्थितिशील है वह ध्रुव है जैसे श्रुजुसूत्रनयसे एक क्षण तक ही ठहरनेवाला पदार्थ अपने कारणोंसे उत्पन्न हुआ है, तिस प्रकार द्रव्याधिकनयसे जाना गया अधिक काल ठहरनेवाला पदार्थ भी अपने कारणोंसे उत्पन्न हुआ है, यह हम व्यक्त रूपसे कहते हैं। सभी प्रकारों करके आधारहित प्रमाणोंसे उस कालान्तरस्थायी ध्रुव पर्यायको सिद्ध हो जाती है।

घ ४/१,६,४/३६/१२ मिच्छन्त नाम पञ्जाओ। सो च उत्पादविनास-लक्षणयो, द्विदोष अभावान्दो। अहं जहं तस्मिं द्विदो वि इच्छिज्जन्दि, तो मिच्छन्तस्स दन्वत्त पसज्जहे, 'ण एस दोसो, जमवक्कमण तिलक्कलण तं दव्वं, च पुण क्कमेण उत्पादद्विदिर्भगिलं सो पञ्जाओ त्ति जिनोवदेसादो। — प्रश्न—मिथ्यात्व नाम पर्यायका है, वह पर्याय उत्पाद और व्यय लक्षणवाला है, क्योंकि, उसमें स्थायता अभाव है, और यदि उसके स्थिति भी मानते हैं तो मिथ्यात्वके द्रव्यपना प्राप्त होता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं क्योंकि, जो अक्रमसे उत्पाद व्यय और धौव्य इन तीनों लक्षणोंवाला होता है वह द्रव्य होता है और जो क्रमसे उत्पाद स्थिति और व्यय वाला होता है वह पर्याय है, इस प्रकारसे जिनेन्द्रका उपदेश है।

प्र सा १/८ अखिलद्रव्याणां केनचिपर्याययोगोत्पादो, केनचिद्विनाश केनचिद्व्यययोगमयवबोद्धव्यम्। — सर्व द्रव्याका किसी पर्यायसे उत्पाद, किसी पर्यायसे विनाश और किसी पर्यायसे धौव्य होता है।

घ ४/५ २०३ धौव्यं तत् कथञ्चित् पर्यायार्थाच्च केवलं न सतः। उत्पादव्ययवदित् तच्चैकाश न सर्वं देशं स्यात् २०३॥ — पर्यायाधिक नयसे धौव्य भी कथञ्चित् सत्का होता है, केवल सत्का नहीं। इसलिए उत्पाद व्यय की भाँति वह धौव्य भी सत् का अर्थ (पर्याय) है परन्तु सर्व देश नहीं।

६ द्रव्य गुण पर्याय तीनों सत् हैं

प्र सा १/९ सद्रव्य सत्त्व गुणो सत्त्वैव य पञ्जाओ त्ति विस्धारो। जा खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतःभावो। — सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्याय इस प्रकार सत्ता गुणका विस्धार है।

७ पर्याय सर्वथा सत् नहीं है

घ १६/१/१० असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्। शक्तस्य व्ययकरणत्वा कारणभावाच्च सत्कार्यम्। १॥ (सौख्य कारिका ६) — इति के वि भणति। एष पि न जुज्जदे। कुदो। एयतेण सत्ते कत्तार भावारस्स विहलत्तप्पसगादो, उवायाण गहणाणुववत्तीदो, सव्यहा संतत्स संभवविरोहादो, सव्यहा संते कज्जकारणाभावाणुववत्तीदो। किंच—विष्णुसिंहेहादो संतत्स उपपत्ती। जदि अरिथ, कथं तत्सुप्पत्ती। अहं उपपज्जहि, कथं तस्स अरिथत्तमिदि। — प्रश्न—यूँकि असत् कार्य किया नहीं जा सकता है, उपादानोंके साथ कार्यका सम्बन्ध रहता है, किसी एक कारणसे भी कार्यको उत्पत्ति सम्भव

नहीं है, समर्थ कारणके द्वारा कार्य कार्य ही किया जाता है, तथा कार्य कारण-स्वरूपही है—उसमें भिन्न सम्भव नहीं है, अतएव इन हेतुअंकि द्वारा कारण व्यापारसे पूर्व भी कार्य सत् ही है, यह सिद्ध है। १॥ (नारय) उत्तर—इस प्रकार किन्हीं कथित आदिवा यचना है जो योग्य नहीं है। कारण कि कार्यको सर्वथा गत् माननेपर कथिके व्यापारके निष्फल होनेका प्रमाण आता है। इसी प्रकार सर्वथा कार्य-के गत् होनेपर उपादानका ग्रहण भी नहीं होता। सर्वथा सत् कार्यको उत्पत्ति का विरोध है। कार्यके सर्वथा गत् होने पर कार्यकारणभाव ही घटित नहीं होता। इससे अतिरिक्त असंगत होनेसे सत्-कार्यको उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि, यदि 'कार्य' कारणव्यापारके पूर्वमें भी विद्यमान है तो फिर उसको उत्पत्ति कैसे हो सकती है। और यदि वह कारण व्यापारमें उत्पन्न होता है, तो फिर उसका पूर्वमें विद्यमान रहना कैसे संगत कहा जावेगा।

८ लोकाकाशमें भी तीनों पाये जाते हैं

का अ १/५ ११७ परिणाम साध्यादा पट्टिममं परिणमति दव्यानि। तेनि परिणामादो लोमग्गं वि मुणहं परिणम ११७॥ — परिणमन करना वस्तुका स्वभाव है अतः द्रव्य प्रति समय परिणमन करते हैं। उनका परिणमनसे लोका भी परिणमन जाना।

९ धर्मादि द्रव्योमें परिणमन है पर परिस्पन्द नहीं

म नि ४/७/७३/१ अत्रचाणते-धर्मादीनि द्रव्यानि यदि निष्क्रियानि ततस्तेषामुत्पादो न भवेत्। क्रियापूर्वको हि घटादीनामुत्पादो ह्य। उत्पादाभावाच्च व्यापारभावात् इति। अतः सर्वद्रव्याणामुत्पादादिविषय-वक्ष्यनाव्याघात इति। तत्र किं कारणम्। अन्यथोपपत्तेः। क्रिया-निमित्तोत्पादाभावेऽप्येवं धर्मादीनामन्यथात्पादो वन्यते। तद्यथा द्विविध उत्पाद स्वनिमित्त परप्रत्ययश्च। पटस्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेस्तेषामुत्पादो व्ययश्च। — प्रश्न - यदि धर्मादि द्रव्य निष्क्रिय हैं तो उनका उत्पाद नहीं बन सकता, क्योंकि घटादिकता क्रियापूर्वक ही उत्पाद दला जाता है, और उत्पाद नहीं बननेसे इनका व्यय भी नहीं बनता। अतः 'सम द्रव्य उत्पाद आदि तीन रूप होते हैं' इस वक्ष्यनाका व्याघात हो जाता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि इनमें उत्पादादि तीन अन्य प्रकारसे मन जाते हैं। यद्यपि इन धर्मादि द्रव्योंमें क्रिया निमित्तत्व उत्पाद नहीं है तो भी इनमें अन्य प्रकारसे उत्पाद माना गया है। यथा—उत्पाद दो प्रकारका है—स्वनिमित्तक उत्पाद और परप्रत्यय उत्पाद। तहाँ इनमें घट स्थानपतित वृद्धि और हानिके द्वारा वर्तन होता रहता है। अतः इनका उत्पाद और व्यय स्वभावसे (स्वनिमित्तक) होता है। (रा वा ४/७/३/४४६/१०)

१० मुक्त आत्माओंमें भी तीनों देखे जा सकते हैं

प्र सा १/९ भगविहीणो य भवो सभव परिवज्जिदो विणासो हि। विज्जदि तस्सेव पुणा ठिदिणं प्रवणसममयायो १९॥ — उसके (शुद्धात्मस्वभावको प्राप्त आत्माके) विनाश रहित उत्पाद है, और उत्पादरहित विनाश है। उसके ही फिर धौव्य, उत्पाद और विनाशका समय विद्यमान है। १९॥

प्र सा १/९ १८/१२ सुवर्णगोरसमृत्तिकापुरुषादिमूर्तपदार्थेषु ययो-त्पादादिद्रव्यं लोके प्रसिद्धं तथैवास्मृतेऽपि मुक्तजीवे। यद्यपि १ संसारवसानोत्पत्तिकारणसमयसारपर्यायस्य विनाशोभवति तथैव केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारपर्यायस्योत्पादश्च भवति, तथाम्युभयपर्यायपरिणतारमद्रव्यत्वेन धौव्यत्वं पदार्थत्वादिति। अथवा २ होयपदार्थ प्रतिक्षणं भङ्गप्रयेण परिणमन्ति तथा ज्ञानमपि परिच्छिन्नपक्षेया भङ्गप्रयेण परिणमन्ति। ३ पटस्थानगतागुरुलघु-गुणवृद्धिहान्यपेक्षया वा भङ्गप्रयमवबोद्धव्यमिति सूत्रात्पर्यम्। — जिन प्रकार स्वर्ण गोरस, मिट्टी व पुरुषादि मूर्तद्रव्योंमें उत्पा-

दादि तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार अमूर्त मुक्तजीवमें भी जानना । १ यद्यपि ससारकी जन्ममरण रूप कारणसमयसारकी पर्यायिका विनाश हो जाता है परन्तु केवलज्ञानादिकी व्याप्तिरूप कार्यसमयसाररूप पर्यायिका उत्पाद भी हो जाता है, और दोनों पर्यायोंसे परिणत आत्मद्रव्यरूपसे औपम्यत्व भी बना रहता है, क्योंकि, वह एक पदार्थ है । २ अथवा दूसरी प्रकारसे—ज्ञेय पदार्थोंमें प्रतिक्षणतीनों भङ्गों द्वारा परिणमन होता रहता है और ज्ञान भी परिच्छिन्नचित्तकी अपेक्षा तदनुसार ही तीनों भङ्गोंसे परिणमन करता रहता है । ३ तीसरी प्रकारसे पदस्थानगत अयुक्तलघुगणमें होनेवाली वृद्धिहानिकी अपेक्षा भी तीनों भङ्ग तहाँ जानने चाहिए । ऐसा सूत्रका तात्पर्य है । (प ३/टी १/५६), (ब्र स/टी १४/४६/१)

* उत्पादव्यय सापेक्ष निरपेक्ष द्रव्याधिक नय—दे नय IV/२।

उत्प्रेक्षा—एक अर्थालंकार । इसमें भेदज्ञानपूर्वक उपमेयमें उपमानकी प्रतीति होती है ।

उत्सन्नासन्न—अपर नाम अवसन्नासन्न । क्षेत्र प्रमाणका एक भेद है—दे गणित I/१ ।

उत्सरण—स्थिति घन्योत्सरण—दे उत्कर्षण ।

उत्सर्ग—स सि १/३३/१४०/६ द्रव्य सामान्यमुत्सर्ग अनुवृत्तिरित्यर्थ । —द्रव्यका अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति है । उसको विषय करनेवाला नय द्रव्याधिकनय है ।

द पा/टी २४/२१/२० सामान्याक्तो विधिरुसण । —सामान्य रूपसे कही जानेवाली विधिकी उत्सर्ग कहते हैं ।

२ अप्रत्यवेक्षित अप्रमाजितोत्सर्ग

स सि ७/३४/३७०/११ अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितायां भूमौ मूत्रपुरोत्सर्ग अप्रत्ययवेक्षिताप्रमाजितात्सर्ग । —मिना देखी और मिना प्रमाजित (पीछी आदिसे झाड़ी गयी) भूमिमें मलमूत्रका त्याग करना अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितोत्सर्ग है ।

उत्सर्ग तप—दे व्युत्सर्ग २ ।

उत्सर्ग व अपवाद पद्धति—दे पद्धति ।

उत्सर्ग मार्ग—दे अपवाद ।

उत्सर्ग लिंग—दे लिंग १ ।

उत्सर्ग समिति—प्रतिष्ठापना समिति—दे समिति १ ।

उत्सर्पिणि—१० कोड़ाकोठी सागरोंका एक उत्सर्पिणी काल होता है । इस काल सम्मन्धी विशेषताएँ—दे काल ४

उत्साह—मूल कालीन १५वें तीर्थंकर—दे तीर्थंकर १ ।

उत्सेध—Height ऊँचाई

उत्सेधागुल—क्षेत्र प्रमाणका एक भेद—दे गणित I/१/३ ।

उदक—अपर नाम 'प्रभादेव' । यह भावी चौथोसोमें आठवें तीर्थंकर है—दे तीर्थंकर ५ ।

उदवर—बड़ बटो, पीपल बटो, ऊमर, कदमर, पाकर, शूलर, अजीर आदि फल उदवर फल हैं इनमें उड़ते हुए प्रस जीव प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं । उदम्बर फल यद्यपि पाँच भूतोंसे जाते हैं, परन्तु इसी जातिके अन्य भी फल इन्हींमें गर्भित समझना ।

१ उदवर फलोंके अतिचार

सा ध ३/१४ स'फलमविज्ञात वार्ताकादि त्वदाहित । सद्बद्ध भक्षादि-सिन्धो त्वादेशोद्धमव्रता । १४ । —उदम्बर त्यागव्रतको पालन करने-

वाला श्रावक सम्पूर्ण अज्ञात फलोंको तथा मिना चीरे हुए भटा बगै-रहको और उसी तरह मिना चीरो सेमकी फली न खावे ।

ला स २/७६ १०३ अत्रोदम्बरशब्दस्तु नून स्यादुपलक्षणम् । तेन साधारणस्याज्या ये वनस्पतिकायिका । ७६ । मलमूत्रा यथा प्रोक्ता फलकाद्याद्रकादयः । न भक्ष्या दैवयोगाद्वा रोगिणाऽप्युपच्युताः । ८० । एवमन्यदपि त्याज्य ग्रसाधारणलक्षणम् । प्रसाधितं विशेषेण तद्विद्वि-युक्तस्य का कथा । १० । साधारण च वैर्पाचन्मूल स्वन्धस्वधागमात् । शाखा पत्राणि पुष्पाणि पर्व दुग्धफलानि च । ११ । कुपलानि च सर्वेषां मूत्रानि च यथागमम् । सन्ति साधारणान्येव प्रोक्तालावधेरध । १७ । —यहाँपर उदम्बर शब्दका ग्रहण उपलक्षणरूप है । अतः सर्व ही साधारण वनस्पतिकायिक त्याज्य हैं । ७६ । मूलबीज, अग्रबीज, पोरबीज और किसी प्रकारके भी अनन्तकायिक फल जैसे अदरक आदि उन्हें नहीं खाना चाहिए । न दैवयोगसे खाने चाहिए और न ही रोगमें औषधिके रूपमें खाने चाहिए । ८० । इसी प्रकारसे अन्य भी साधारण लक्षणवाली तथा विशेषतः प्रसजीवोंके आश्रयभूत वनस्पतिका त्याग कर देना चाहिए । १० । किसी वृक्षकी जड़ साधारण होती है और किसीकी शाखा, स्कन्ध, पत्र, पुष्प व पर्व आदि साधारण होते हैं । किसी वृक्षका दूध व फल अथवा क्षीर फल (जिन फलोंको तोड़नेपर दूध निकलता हो) साधारण होते हैं । ११ । कुपल तथा सर्व ही कोमल पत्ते व फल आगमके अनुसार यथाकालकी अवधि पर्यंत साधारण रहते हैं, पीछे प्रत्येक हो जाते हैं । उनका भी त्याग करना चाहिए । १७ ।

* पच उदम्बर फलोका निषेध—दे भक्ष्याभक्ष्य ४

उदक—१ उत्तर दिशा, २ उत्तर दिशा की प्रधानता—दे दिशा ३ जलके अर्थमें—दे जल, ४ राक्षस जातिका एक व्यंजन देव—दे राक्षस, ५ लवण समुद्रमें स्थित एक पर्वत—दे लोक ४/६, ६ लवण समुद्रमें स्थित शाल पर्वतका रक्षक एक देव—दे लोक ४/६ ।

उदक वर्ण—एक ग्रह—दे ग्रह ।

उदकावास—१ लवणसमुद्रमें स्थित एक पर्वत—दे लोक ४/६, २ लवणसमुद्रमें महाशाल पर्वतका रक्षक देव—दे लोक ४/६ ।

उदधि कुमार—भवनवासी देवोंका एक भेद—दे भवन/१, ४ ।

उदय—जीवके पूर्वकृत जो शुभ या अशुभ कर्म उसकी चित्तभूमिपर अंकित पड़े रहते हैं, वे अपने-अपने समयपर परिपक्व दशाको प्राप्त होकर जीवको फल देकर खिर जाते हैं । इसे ही कर्मोंका उदय कहते हैं । कर्मोंका यह उदय द्रव्य क्षेत्र काल व भवकी अपेक्षा रखकर आता है । कर्मके उदयमें जीवके परिणाम उस कर्मकी प्रकृतिके अनुसार ही नियमसे हो जाते हैं, इसीसे कर्मोंका जीवका पराभव करनेवाला कहा गया है ।

१ भेद, लक्षण व प्रकृतियाँ

१ अनेक अपेक्षाओंसे उदयके भेद

१ स्वमुखोदय परमुखोदय, २ सविपाक अविपाक, ३ तीक्ष्ण मृन्दादि ।

२ द्रव्य कर्मोदयका लक्षण

३ भाव कर्मोदयका लक्षण

४ स्वमुखोदय व परमुखोदयके लक्षण

५ सम्प्राप्ति जनित व निषेक जनित उदयका लक्षण

६ उदयस्थानका लक्षण

७ सामान्य उदय योग्य प्रकृतियाँ

- ८ ध्रुवोदयो प्रकृतियाँ
- * स्वोदय परोदय वन्धी आदि प्रकृतियाँ—दे उदय/७
- २ उदय सामान्य निर्देश
- १ कर्म कभी बिना फल दिये नहीं झटते
- * कर्मोदयके अनुसार ही जीवके परिणाम होते हैं
—दे कारण III/४
- * कर्मोदयानुसार परिणाम व मोक्षका सम्बन्ध
दे कारण IV/७
- * कर्मोदयकी उपेक्षा की जाती सम्भव है—दे विभाव/४
- २ उदयका अभाव होनेपर जीवमें शुद्धता आती है
- ३ कर्मका उदय द्रव्य क्षेत्रादिके निमित्त से होता है
- ४ द्रव्य क्षेत्रादिकी अनुकूलतामें स्वमुखेन और प्रतिकूलतामें परमुखेन उदय होता है
- ५ बिना फल दिये निर्जोर्ण होनेवाले कर्मोंकी उदय राजा कैसे हो सकती है ?
- ६ कर्मोदयके निमित्तभूत कुछ द्रव्योका निर्देश
- ७ कर्मप्रकृतियोंका फल यथाकाल भी होता है और अयथाकाल भी
- ८ वन्ध, उदय व सत्त्वमें अन्तर
- * कपायोदय व स्थितिवन्धाध्यवसाय स्थानोंमें अन्तर
—दे अध्यवसाय
- * उदय व उदीरणमें अन्तर—दे उदीरण।
- * ईर्यापयकर्म—दे ईर्यापय
- ३ निपेक रचना
- १ उदय सामान्यकी निपेक रचना
- २ सत्त्वकी निपेक रचना
- ३ सत्त्व व उदयागत द्रव्य विभाजन
- ४ उदयागत निपेकोका त्रिकोण यन्त्र
- ५ सत्त्वगत निपेकोका त्रिकोण यन्त्र
- ६ उपशमकरण द्वारा उदयागत निपेक रचनानोंमें परिवर्तन
- ४ उदय प्ररूपणा सम्बन्धी कुछ नियम
- १ मूल प्रकृतिका स्वमुख तथा उत्तर प्रकृतियोंका स्व व परमुख उदय होता है
- २ सर्वघातीमें देशघातीका उदय होता है, पर देशघातीमें सर्वघातीका नहीं
- * निद्रा प्रकृतिके उदय सम्बन्धी नियम—दे निद्रा
- ३ ऊपर ऊपरकी चारित्र्यमोह प्रकृतियोंमें नीचे-नीचेवाली तज्जातीय प्रकृतियोंका उदय अवश्य होता है
- ४ अनन्तानुबन्धीके उदय सम्बन्धी विशेषताएँ
- ५ दर्शनमोहनीयके उदय सम्बन्धी नियम

६ चारित्र्यमोहनीयकी प्रकृतियोंमें महदती उदय सम्बन्धी नियम

७ नामकर्मकी प्रकृतिमें उदय सम्बन्धी

१ चार जाति व स्थानर इन पाँच प्रकृतियोंकी उदय व्युत्पत्ति सम्बन्धी नीचे मता । २ मर्यादाका उदय विप्रगतिमें नहीं होता । ३ गति, आत्म व प्राप्ति का उदय भवने प्रथम समयमें ही हो जाता है । ४ आत्मगतता उदय से, बाद व मृत्युमें नहीं होता । ५ आहारकक्षित व तीर्थद्वार प्रकृतिका उदय गुणवशात् ही सम्भव है ।

* तीर्थद्वार प्रकृतिके उदय सम्बन्धी—दे तीर्थद्वार ।

८ नामकर्मकी प्रकृतियोंमें महदती उदय सम्बन्धी

९ उदयके स्वाभिव्यक्त सम्बन्धी साम्प्रती

* गोत्र प्रकृतिके उदय सम्बन्धी—दे वर्ण व्यवस्था

* कपायोदय व नाता वेदनीयता उदयकाल

—दे महेश्वर नाम

५ प्रकृतियोंके उदय सम्बन्धी क्षका सन्नाधान

* पुद्गल जीव पर प्रभाव कैसा डाले—दे कारण IV/२

* प्रत्येक कर्मका उदय हर समय वषों नहीं रहता ?

—दे उदय २/३

१ अमजियोंमें देवादि गतिता उदय कैसे होता है ?

* तेजकायिकोंमें आतप वा उद्योग क्यों नहीं ?

—दे उदय ४/७

२ देवगतिमें उद्योगके बिना दीप्ति कैसे है ?

३ एकेन्द्रियोंमें अगोपाग व मस्थान क्यों नहीं ?

४ विकलेन्द्रियोंमें हुँटक मस्थान व दुस्वर ही क्यों ?

६ कर्म प्रकृतियोंकी उदय व उदयस्थान प्ररूपणाएँ

१ गारिणीमें प्रयुक्त सौतेलके अर्थ ।

२ उदय व्युत्पत्ति की ओघ प्ररूपणा

३ उदय व्युत्पत्तिकी आदेश प्ररूपणा

४ सातिशय मिथ्यादृष्टिमें मूलोत्तर प्रकृतिके चार प्रकार उदयकी प्ररूपणा

५ मूलोत्तर प्रकृति सामान्य उदयस्थान प्ररूपणा

६ मोहनीयकी सामान्य व ओघ उदयस्थान प्ररूपणा

७ नामकर्मकी उदयस्थान प्ररूपणाएँ

१ युगपत् उदय आने योग्य विवरण तथा संकेत । २ नामकर्म के कुछ स्थान व भद्र । ३ नामकर्मके उदय स्थानोंकी ओघ प्ररूपणा । ४ उदय स्थान जीव समास प्ररूपणा । ५ उदय स्थान आदेश प्ररूपणा । ६ पाँच कालोंकी अपेक्षा नामकर्मोदय स्थानों की सामान्य प्ररूपणा । ७ पाँच कालोंकी अपेक्षा नामकर्मोदय स्थानोंकी चतुर्गति प्ररूपणा । ८ प्रकृति स्थिति आदि उदयों की अपेक्षा ओघ आदेश प्ररूपणाओंकी सूची ।

७ उदय उदीरणा व वन्धकी सयोगी स्थान प्ररूपणाएँ

१ उदय व्युत्पत्तिके पश्चात्, पूर्व व युगपत् वन्ध व्युत्पत्ति योग्य प्रकृतियाँ

२ स्वोदय परोदय व उभयवन्धी प्रकृतियाँ

* आतप व उद्योतका परोदय बन्ध होता है—दे उदय ४/७

* यद्यपि मोहनीयका जघन्य उदय स्व प्रकृतिका बन्ध करनेको असमर्थ है परन्तु वह भी सामान्य बन्धमें कारण है—दे बन्ध/३

३ किन्ही प्रकृतियोंके बन्ध व उदयमें अविनाभावी सामानाधिकरण्य

४ मूल व उत्तर बन्ध उदय सम्बन्धी सयोगी प्ररूपणा

५ मूल प्रकृति बन्ध, उदय व उदीरणा सम्बन्धी सयोगी प्ररूपणा

* सभी प्रकृतियोंका उदय बन्धका कारण नहीं

—दे उदय ६

८ बन्ध उदय सत्त्वकी त्रिसयोगी स्थान-प्ररूपणा

१ मूलोत्तर प्रकृति स्थानोकी त्रिसयोगी ओघप्ररूपणा

२ चार गतियोंमें आयुर्कर्म स्थानोकी त्रिसयोगी सामान्य व ओघ प्ररूपणा

३ मोहनीय कर्मकी सामान्य त्रिसयोगी स्थान प्ररूपणा

१ बन्ध आधार—उदय सत्त्व आधेय । २ उदय आधार—बन्ध सत्त्व आधेय । ३ सत्त्व आधार—बन्ध उदय आधेय । ४ बन्ध उदय आधार—सत्त्व आधेय । ५ बन्ध सत्त्व आधार—उदय आधेय । ६ उदय सत्त्व आधार—बन्ध आधेय ।

४ मोहनीय कर्म स्थानोकी त्रिसयोगी ओघ प्ररूपणा

५ नामकर्मकी सामान्य त्रिसयोगी स्थान प्ररूपणा

१ बन्ध आधार—उदय सत्त्व आधेय । २ उदय आधार—बन्ध सत्त्व आधेय । ३ सत्त्व आधार—बन्ध उदय आधेय । ४ बन्ध उदय आधार—सत्त्व आधेय । ५ बन्ध सत्त्व आधार—उदय आधेय । उदय सत्त्व आधार—बन्ध आधेय ।

६ नामकर्म स्थानोकी त्रिसयोगी ओघ प्ररूपणा

७ जीव ममासोकी अपेक्षा नामकर्म स्थानकी त्रिसयोगी प्ररूपणा

८ नामकर्म स्थानोकी त्रिसयोगी आदेश प्ररूपणा

* मूलोत्तर प्रकृतियोंके चारो प्रकारके उदय व उनके स्वामियों सम्बन्धी सख्या, क्षेत्र, काल, अन्तर व अल्प-बहुत्व प्ररूपणाएँ—दे बह बह नाम

६ औदयिक भाव निर्देश

१ औदयिक भावका लक्षण

२ औदयिक भावके भेद

* औदयिक भाव बन्धका कारण है—दे भाव/२

३ मोहज औदयिक भाव ही बन्धके कारण है अन्य नहीं

४ वास्तवमें मोहजनित भाव ही औदयिक है, उसके बिना सब औदयिक भी क्षायिक है

* असिद्धत्वादि भावोंमें औदयिकपना—दे बह बह नाम

* क्षायोपशमिक भावमें कथञ्चित् औदायिकपना

—दे क्षयोपशम

* गुणस्थानो व मार्गणास्थानोमें औदायिकभावपना तथा तत्सम्बन्धी शका समाधान—दे बह बह नाम

* कपाय व जीवत्वभावमें कथञ्चित् औदयिक व पारिणामिकपना—दे बह बह नाम

* औदयिक भाव जीवका निज तत्त्व है—दे भाव/२

* औदयिक भावका आगम व अव्यात्म पद्धतिसे निर्देश—दे पद्धति

१ भेद, लक्षण व प्रकृतियाँ

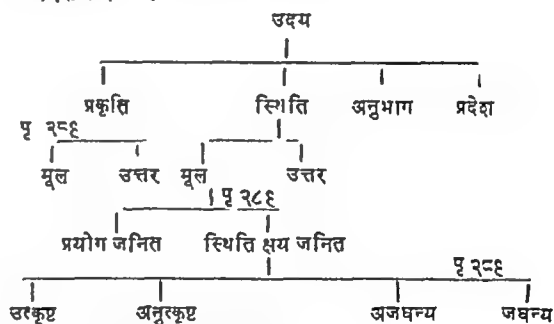
१ अनेक अपेक्षाओंसे उदयके भेद

स सि ८/२१/३६८/७ स एव प्रत्ययवशादुपात्तोऽनुभवो द्विधा वर्तते स्वमुखेन परमुखेन च । —इस प्रकार कारणवशासे प्राप्त हुआ वह अनुभव दो प्रकारसे प्रवृत्त होता है—१ स्वमुखसे और २ परमुखसे । (रा बा ८/२१/१/२८३/१६)

प स/प्रा ४/६१३ काल-भव क्षेत्रपेही उदयो सविभाग अविभागो । —काल, भव और क्षेत्रका निमित्त पाकर कर्मका उदय होता है । वह दो प्रकारका है—१ सविपाक उदय और २ अविपाक उदय । (प स/स ४/३६८) । तीव्र मन्दादिउदय घ १/१,१३६/३८८/३ पद्धविघ कपायोदय । तथापि तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर, मन्दतम इति । —कपायका उदय छह प्रकारका होता है । वह इस प्रकार है । तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर, मन्दतम ।

प्रकृति स्थिति आदिकी अपेक्षा भेद —

घ १/६/२८६-२८६



२. द्रव्य कर्मादयका लक्षण

प स/प्रा ३/३ धणस्म मगहा वा मत ज पुठसन्धिय कम्म । भु जण-कालो उदयो उदीरणाऽपचयपाचनफल व । ३। —द्रव्यके सग्रहके समान जो पूर्व संचित कर्म है, उनके आराममें अवस्थित रहनेको सत्त्व कहते हैं । कर्मोंके फल भोगनेके कालको उदय कहते हैं । तथा अपचय कर्मोंके पाचनको उदीरणा कहते हैं ।

स सि २/१/१४६/८ द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मणां फलप्राप्तिरद्वय । —द्रव्य, क्षेत्र, काल व भवके निमित्तके वशमे कर्मोंके फलका प्राप्त होना उदय है । (रा बा २/१/४/१००/१६) (रा बा ६/१/१/६२४/२६) (प्र सा/त प्र ६/६/१०६/१)

क पा/वेदक अधिकार नई कम्मणे उदयो कम्मोदयो, अवक्कपाचनए विणा जहाकालजणितो कम्मण ठिदिम्वरण जो विवागो सो कम्मादयोत्ति भण्णदे । सो पुण खेत्त भव काल पोग्गल द्विदो विवागोदय ति एदस्सगाहायच्छदस्स समुदाय रथो भवदि । बुदो । खेत्त भव काल पोग्गले अस्सिज्ज जा । द्विदिम्वरणो उदिग्गफलसख

परिस्तणलवतणो सोदयो ति सुत्तरयावर्लवणादो । —कर्मरूपसे उदयमें आनेको कर्मोदय कहते हैं। अपवषपाचनके बिना यथाकाल जनित स्थितिभयसे जो कर्मोंका विपाक होता है, उसको कर्मोदय कहते हैं। ऐसा इस गाथाके उत्तरार्धका अर्थ है। सो कैसे ! क्षेत्र भय, काल और पृथगन द्रव्यके आश्रयसे स्थितिका क्षय होना तथा कर्मस्कन्धोंका अपना फल देकर भूख जाना उदय है। ऐसा सूत्रके अवलम्बनमें जाना जाता है।

गो जी/जो प्र ८/२६/१२ स्वस्थितिक्षयवशाद्दुष्टयनिपेके गलतां कामगणस्कन्धानां फलदानपरिणति उदय । —अपनी अपनी स्थिति क्षयके वशसे उदयरूप निपेकोंके गलनेपर कर्मस्कन्धोंकी जो फलदान परिणति होती है, उसे उदय कहते हैं। (गो क/जो प्र ४३६/६६२/८)। गो क/जो प्र २६४/३६७/११ स्वभावामिब्यक्ति उदय, स्वकार्यं कृत्वा रूपपरिरयागो वा । —अपने अनुभागरूप स्वभावको प्रगटताकी उदय कहिए है। अथवा अपना कार्यकरि कर्मणाको छोड़ै ताको उदय कहिये।

३ भावकर्मोदयका लक्षण

स सा/सू १३२ १३३ अण्णाणस्स उदो जा जीवाण अतच्च उवलदी । मिच्छत्तस्स दु उदो जीवस्स असव्हाणस ॥३२॥ उदो असज्मस्स दु ज जीवाण हवेइ अविरमण । जो वु कलुसोवओगो जीवाण सो वसायउदो ॥३३॥ —जोवोंके तो जो तत्त्वका अज्ञान है वह अज्ञानका उदय है और जोवोंके जो अग्रहान है वह मिथ्याग्रहका उदय है। और जोवोंके अविरमण या अस्यागभाव है वह असयमका उदय है और जोवोंके मलिन उपयोग है वह कपायका उदय है।

स सि ६/१४/३३२/७ उदयो विपाक । —कर्मके विपाकको उदय कहते हैं।

४ स्वमुखोदय व परमुखोदयके लक्षण

गो क/जो प्र ३७२/४६३/१० अनुदयगतानां परमुखोदयत्वेन स्वसमयो-दया एकैकनिपेका स्थितोक्तसंक्रमणे सक्रम्य गच्छन्तीति स्वमुख-परमुखोदयविशेषा अवगन्तव्य । —उदयको प्राप्ति नहीं जे नपुसक वेदादि परमुख उदयकरि समान समयनिविषे उदयरूप एक-एक निपेक, कहा अनुक्रमकरि सक्रम्यरूप होइ प्रवर्त्त (विशेष वे स्तुविक संक्रमण) ऐसे स्वमुख व परमुख उदयका विशेष जानना। जो प्रकृति आपरूप ही होइ उदय आवै तहाँ स्वमुख उदय है। जा प्रकृति अन्य प्रकृतिरूप होइ (उदय आवै) तहाँ पर-मुख उदय है। पृ ४६४/१० (रा वा/हि ८/२१/६२६)

५ सम्प्राप्तिजनित व निपेक जनित उदय

ध १४/२८६/६ सत्तत्तदो एगा टिठ्ठि उदिण्णा, सपहि उदिण्णपरमाणू-णमेगसमयावद्वृत्तां मोत्तूण हुसमयादि अवद्वृत्ताणतराणुवलभादो । तेचियादो अणेगाओ टिठ्ठिओ उदिण्णाओ, एहिं ज पदेसग उदिण्णं तस्स दम्भट्ठियण्यं पडुच्च पुत्थिलभावोवयारसभवादो । —सप्राप्तिकी अपेसा एक स्थिति उदीर्ण होती है, क्योंकि, इस समय उदय प्राप्त परमाणुओंके एक समयरूप अवस्थानको छोड़कर दो समय आदिरूप अवस्थानान्तर पाया नहीं जाता। निपेककी अपेसा अनेक स्थितियाँ उदीर्ण होती हैं, क्योंकि इस समय जो प्रवेशा उदीर्ण हुआ है उसके द्रव्याधिक नयकी अपेसा पूर्वायभावके उपचारकी संभावना है।

६ उदयस्थानका लक्षण

ग वा २/४/४/००/१३ —एकप्रदेशा जघन्यगुण परिगृहीत, तस्य चानुभागाविभागप्रतिच्छेदाः पूर्ववत्कृताः । एवं समगुणा वर्गा समुदिता वर्गणा भवति । एकाविभागपरिच्छेदाधिका पूर्ववत्त्रिलो-कता वर्गावर्गणारव भवति मावदन्तर भवति तावदेव स्पर्धक भवति । एवमेव क्रमेण विभागोऽभ्युपगमनामनन्तगुणानि

सिद्धानामनन्तभागप्रमाणानि स्पर्धकानि भवन्ति । तदेतस्समुदित मेकमुदयस्थानं भवति । —एक प्रदेशके जघन्य गुणको ग्रहण करके उसके अविभाग प्रतिच्छेद करने चाहिए। समान अविभाग प्रतिच्छेदोंकी पत्तिसे वर्ग सथा वर्गोंके समूहसे वर्गणा होती है। इस क्रमसे समगुणवाले वर्गोंके समुदायरूप वर्गणा बनानी चाहिए। इस तरह जहाँ तक एक-एक अविभाग परिच्छेदशा लाभ हो वहाँ तककी वर्गणाओंके समूहका एक स्पर्धक होता है। इसके आगे एक दो आदि अविभागप्रतिच्छेद अधिकवाले वर्ग नहीं मिलते अनन्त अविभागप्रतिच्छेद अधिकवाले ही मिलते हैं। तहाँ से आगे पुन जब तक क्रम वृद्धि प्राप्त होती रहे और अन्तर न पड़े तब तक स्पर्धक जाता है। इस तरह सम गुणवाले वर्गोंके समुदायरूप वर्गणाओं के समूहरूप स्पर्धक एक उदयस्थानमें अभिव्यक्तिसे अनन्तगुण तथा सिद्धोंके अनन्तभाग प्रमाण होते हैं।

म म ६/६६४८/१८६/१२ याणि चैव अनुभागबन्धज्जवसाणट्ठाणाणि ताणि चैव अनुभागबन्धट्ठाणाणि । अण्णाणि पुणो परिणामट्ठाणि ताणि चैव कसायउदयट्ठाणाणि ति भणति । —जो अनुभाग बन्धाध्यवसायस्थान हैं वे ही अनुभाग बन्धस्थान हैं। तथा अन्य जो परिणामस्थान हैं वे ही कपाय उदयस्थान कहे जाते हैं।

स सा/आ ६३ याणि स्वफलसम्पादनसमर्थकमवस्थालक्षणाव्युदय-स्थानानि । —अपने फलके उपपन्न करनेमें समर्थ कर्मव्यवस्था जिनका लक्षण है ऐसे जो उदयस्थान ।

१० सामान्य उदय योग्य प्रकृतियाँ

प स/प्रा २/७ वर्ण-रस-गन्ध फामा चउ चउ सत्तेक्कमणुदयपयडोओ । ए ए पुण सोलसयं बन्धन-सघाय पचेव ॥७॥ —चार वर्ण, चार रस, एक गन्ध, सात स्पर्श, पाँच, बन्धन और पाँच संघात ये ध्व्नीस प्रकृतियाँ उदयके अयोग्य हैं। शेष १२२ प्रकृतियाँ उदयके योग्य होती हैं। (प स/सं २/३८)।

गो क/जो प्र ३७/४२/१ उदये भेदविवक्षायां सर्वा अष्टचत्वारिंशच्छत अभेदविवक्षायां द्वाविंशत्युत्तरशत । —उदयमें भेदकी अपेक्षा सर्व १४८ प्रकृतियाँ उदय योग्य हैं और अभेदकी अपेक्षा १२२ प्रकृतियाँ उदय योग्य हैं। (प स/सं १४८)।

८ ध्रुवोदयी प्रकृतियाँ

गो क/सू ६८८/७६२ णामध्रुवोदयवारस गज्जाईण च सत्ततिजुम्माण । सुभगादेज्जजसाण जुम्मेक्क विरगहे वाण । —तैजस, कर्मण, वर्णादिक ४, स्थिर, अस्थिर शुभ, अशुभ, अगुत्तल्ल, निर्माण ये नाम कर्मकी १२ प्रकृतियाँ ध्रुवोदयी हैं।

२ उदय सामान्य निर्देश

१. कर्म कभी बिना फल दिये नहीं झटते

क पा ३/२२/६४३०/२४६/२ ण च कम्म सगरुवेण परसरुवेण वा अदत्त-फलकम्मभाव गच्छदि, विरोहादो । एगसमय सगसरुवेणच्छिय विदियसमए परपटिसरुवेणच्छिय तदियसमए अकम्मभाव गच्छदि ति तुममयकालटिठ्ठिदिहिं सो कदो । —कर्म स्वरूपसे या पररूपसे फल बिना दिये अकर्मभावको प्राप्त होते नहीं क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है। किन्तु अनुदयरूप प्रकृतियोंके प्रत्येक निपेक एक समय तक स्वरूपसे रहकर और दूसरे समयमें परप्रकृतिरूपसे रहकर तीसरे समयमें अकर्मभावको प्राप्त होते हैं, ऐसा नियम है। अत सूत्रमें (सम्यग्मिध्याय के) दो समय काल प्रमाण स्थितिका निर्देश दिया है। (म आ/सू ६८८/१६६१)।

२ उदयका अवस्य होने पर जीवसे शुद्धता आती है

प ल ७/२,१/सू ३४-३५/७८ अजोगि णाम कध भवदि ॥३४॥ लव्हाए लद्धीए ॥३५॥ —जोव अयोगी कैसे होता है। ३४। क्षायिक लब्धिसे जीव अयोगी होता है ३५।

३ कर्मका उदय द्रव्य क्षेत्र आविके निमित्तसे होता है

क पा मुत्त/मू गा १६/४६६ । खेत भव काल पोगलट्टिदिविवागी-
दयखयो दु १६।—क्षेत्र, भव, काल और पुद्गलद्रव्यका आश्रय
लेकर जो स्थिति विपाक होता है उसे उदीरणा कहते हैं और उदय-
क्षयको उदय कहते हैं ।

प स/भा ४/११३ । कालभवेत्तेतपेही उदयो ।—काल, भव और
क्षेत्रका निमित्त पाकर कर्मोंका उदय होता है । (भ आ /वि १७०/८
१६३७/८)

क पा १/११३, १४/४७२/२६/१ द्रव्यकम्मस्स उदएण जीवो काहो
त्ति ज भणिद एथ चोअओ मणदि, दव्वकम्महा जीवसबधाई
सताइ किमिदि सगकज्ज कसायरूव सव्वदं ण कुणंति । अल्ल
विसिट्ठभावत्तादो । तदलंसे कारण वत्तव्व । पागभावो कारण ।
पागभावस्स विणासो वि दव्वत्तेसकालमवा वेत्ताए जायवे । तदो ण
सव्वद दव्वकम्महा सगफल कुणंति त्ति सिद्ध ।—द्रव्यकर्मके
उदयसे जीव क्रीडरूप होता है, ऐसा जो कथन किया है उसपर
शकाकार कहता है—प्रश्न—जब द्रव्यकर्मोंका जीवके साथ सम्बन्ध
पाया जाता है तो वे कपायरूप अपने कायको सर्वदा क्यों नहीं उत्पन्न
करते हैं । उत्तर—सभी अवस्थाओंमें फल देनेरूप विशिष्ट अवस्थाको
प्राप्त न होनेके कारण द्रव्य कर्म सर्वदा अपने कपायरूप कार्यको नहीं
करते हैं । प्रश्न—द्रव्यकर्म फल देनेरूप विशिष्ट अवस्थाको सर्वदा
प्राप्त नहीं होते, इसमें क्या कारण है उसका कथन करना चाहिए ।
उत्तर—जिस कारणसे द्रव्यकर्म सर्वदा विशिष्टपनेको प्राप्त नहीं होते
वह कारण प्रागभाव है । प्रागभावका विनाश हुए बिना कार्यको
उत्पत्ति नहीं हो सकती है । और प्रागभावका विनाश द्रव्य क्षेत्र
काल और भवकी अपेक्षा लेकर होता है । इसलिए द्रव्यकर्म सर्वदा
अपने कार्यको उत्पन्न नहीं करते हैं, यह सिद्ध होता है ।

भ आ /वि ११७०/११६६/४ बाह्यद्रव्य मज्जसा स्वीकृत रागद्वेषयोर्भाजं
तस्मिन्नसति सहकारिकाणे न च कर्ममात्राद्वागद्वेषवृत्तिर्यथा
सरयपि मृत्पिण्डे दण्डाद्यन्तर कारणवैकल्ये न घटीरपत्तिर्येति
मन्यते ।—मनमें विचारकर जब जीव बाह्यद्रव्यका अर्थात् बाह्य
परिग्रहका स्वीकार करता है तब राग द्वेष उत्पन्न होते हैं । यदि
सहकारोकारण न होगा तो केवल कर्ममात्रसे रागद्वेष उत्पन्न होते
नहीं । जैसे कि मृत्पिण्डसे उत्पन्न होते हुए भी दण्डादि के अभावमें
उत्पन्न नहीं होता है और भी दे (उदय १/२/३), (उदय/२/४)

४ द्रव्यक्षेत्रादिकी अनुकूलतामें स्वमुखेन और प्रति- कूलतामें परमुखेन उदय होता है ।

क पा ३/२२/४२०/२४४/६ उदयाभावेण उदयणित्थेयद्विदी परसरूवेण
गदाए ।—जिस प्रकृतिका उदय नहीं होता उसकी उदय निषेक
स्थिति उपायन्य समयमें पररूपसे सक्रमित हो जाती है ।

५ बिना फल दिये निर्जीर्ण होनेवाले कर्मोंकी उदय सज्ञा कैसे हो सकती है ?

घ १/४, २, ७, २६/१ णिप्फलस्स परमाणुजस्स समय पठि परिससत्तस्स
कथं उदयववएसो । ण, जीवकम्मविबेगेमत्तफल दट्ठण उदयस्स फल-
त्तम्बुवगमादो । जदि एव तो असादावेदणीयोदयकाले सादावेदणीयस्स
उदयो णरिथ, असादावेदणीयस्सेव उदयो अरिथ त्ति ण वत्तव्व,
सगफलाणुप्पायणेण दोण्ण पि सत्तिसत्तुवलभादो ण असादपरमाणुणं
व सादपरमाणुण सगसरूवेण णिज्जराभावादो । सादपरमाणुओ
असादसरूवेण विणस्सावरयाए परिणमिद्वण विस्संते दट्ठण सादावे-
दणीयस्स उदयो णरिथ त्ति वुत्तच्चेदं ण च असादावेदणीयस्स एसो
कमो अरिथ, [असाद] परमाणुण सगसरूवेणेण णिज्जरुवलभादो ।

तम्हा दुक्खरूपफलाभावे वि असादावेदणीयस्स उदयाभावो जुज्जदे
त्ति सिद्ध ।—प्रश्न—बिना फल दिये ही प्रतिममय निर्जीर्ण
होनेवाले (ईयापथ रूप) परमाणु समूहकी उदय सज्ञा कैसे बन
सकती है । उत्तर—नहीं, क्योंकि जीव व कर्मके निवेकमात्र फलको
देखकर उदयको फलरूपसे स्वीकार किया गया है । प्रश्न—यदि
ऐसा है तो 'असादावेदनीयके उदयकालमें सादावेदनीयका उदय नहीं
होता, केवल असादा वेदनीयका ही उदय रहता है' ऐसा नहीं कहना
चाहिए, क्योंकि, अपने फलको नहीं उत्पन्न करनेकी अपेक्षा दोनोंमें
ही समानता पायी जाती है । उत्तर—नहीं क्योंकि, तब असादावेद-
नीयके परमाणुओंके समान सादावेदनीयके परमाणुओंकी अपने रूपसे
निर्जरा नहीं होती । किन्तु विनाश होनेकी अवस्थामें असादारूपसे
परिणमकर उनका विनाश होता है, यह देखकर सादावेदनीयका
उदय नहीं है, ऐसा कहा जाता है । परन्तु असादावेदनीयका यह
कर्म नहीं है, क्योंकि, तब असादाके परमाणुओंकी अपने रूपसे ही
निर्जरा पायी जाती है । इस कारण दुक्खरूप फलके अभावमें भी
असादावेदनीयका उदय मानना युक्तियुक्त है, यह सिद्ध होता है ।

६ कर्मोदयके निमित्तमूल कुछ द्रव्योंका निर्देश—

गो क /भापा ६/६१/११ जिस जिस प्रकृतिका जो जो उदय फलरूप
कार्य है तिस तिस कार्यको जा बाह्यवस्तु कारणभूत होइ सो सो वस्तु
तिस प्रकृतिका नोर्म द्रव्य जानना (जैसे)—

(गो क ६६-८८/६१-७१) ।

गा	नाम प्रकृति	नोर्म द्रव्य
७०	मति ज्ञानावरण	वस्त्रादि ज्ञानकी आवरक वस्तुएँ
७१	श्रुत ज्ञानावरण	इन्द्रिय विषय आदि
७२	अवधि व मन पर्यय	सक्लेशको कारणभूत वस्तुएँ
७३	केवल ज्ञानावरण	X
७४	पाँच निद्रा दर्शनावरण	दही, सशुन, खल इत्यादि
७५	वस्तु अवक्षु दर्शनावरण	वस्त्र आदि
७६	अवधि व केवल दर्शनावरण	उस उस ज्ञानावरणवत्
७७	साता असाता वेदनीय	इष्ट अनिष्ट अन्नपात्र आदि
७८	सम्यक्वर प्रकृति	जिन मन्दिर आदि
७९	मिथ्यावर प्रकृति	बुद्धे, कुमन्दिर, कुशास्त्रादि
८०	मित्र प्रकृति	सम्यक् व मिथ्या दोनों आयतन
८१	अनन्तानुबन्धी	कुदेबादि
८२	अप्रत्याख्यादि १२ कपाय	काव्यग्रन्थ, कोकशास्त्र, पापीपुरुष आदि
८३	तीनों वेद	स्त्री, पुरुष व नपुंसकके शरीर
८४	हास्य	बहुरूपिया आदि
८५	रति	सुपुत्रादि
८६	अरति	इष्ट वियोग अनिष्ट सयोग
८७	शोक	सुपुत्रादिकी मृत्यु
८८	मय	मिहादिक
८९	जुगुप्सा	निन्दित वस्तु
९०	आयु	सहाँ तहाँ प्राप्त इष्टानिष्ट आहारादि
९१	नाम कर्म	तिसतिस गतिका क्षेत्र व इन्द्रिय
९२	ऊँच नीच गोत्र	शरीरादि के योग्य पुद्गल स्कन्ध
९३	अन्तराय	ऊँच नीच कुल दानादि में विघ्नकारी पुरुष आदि

७ कर्मप्रकृतियोंका फल यथाकाल भी होता है और अयथाकाल भी

क पा सुत/वेदक अधिकार न ६/मू गा ६६/४६६ कदि आवलिय पवेतेह कदि च पविस्सति कस्स आवलिय ।—प्रयोग विशेषके द्वारा कितनी कर्मप्रकृतियोंको उदयावलीके भीतर प्रवेश करता है । तथा किस जीवके कितनी कर्मप्रकृतियोंको उदीरणाके विना (यथा काल) ही स्थितिभयसे उदयावलीके भीतर प्रवेश करता है ।

श्ल बा २/मू ६३/वा २ कर्मणामयथाकाले विपाकोपपत्ते च आग्र-फलदायक ।—आग्र फलके अयथाकालपाककी भौतिक कर्मोंका अयथा-काल भी विपाक हो जाता है ।

झा ३६/२६-२७ मन्दबोयणि जायन्ते कर्मण्यतिथिलान्यपि । अणक-पाचानायोगफलानीव वनस्पते २६ । अणकपाक क्रियतेऽस्ततस्त-स्त्वोभिरुपैर्वशुद्विभुक्ते । क्रमाद्गुणश्रेणिसमाश्रयेण सुसहृतान्त-करणैर्मुनीन्द्र २७ ।—पूर्वोक्त अष्ट कर्म अतिशय शलिल हैं, तथापि जिस प्रकार वनस्पतिके फल विना पके भी पवनके निमित्तने (पाल आदिसे) पक जाते हैं उसी प्रकार इन कर्मोंके स्थिति पूरी होनेसे पहले भी तपश्चरणादिकसे मन्दबोय हो जाते हैं । २६ । नष्ट हुआ है प्रमाद जिनका और सम्यक् प्रकारसे सबरूप हुआ है चित्त जिनका ऐसे मुनीन्द्र उच्छृष्ट विद्वत्सत्तासहित तपोंसे अनुक्रमसे गुणश्रेणी निर्जरा का आग्रय करके विना पके कर्मोंको भी पकाकर स्थिति पूरी हुए विना ही निर्जरा करते हैं । २७ ।

८ बन्ध, उदय व सत्त्वमे अन्तर

क पा १/१२७०/२६१/३ बंधमतोदयसत्त्वमेव चेव दम्ब । तं जहा, - कसायजोगवसेण लागमेत्तजीवपदेसेषु अक्रमेण आगतूण समधकम्म-फलधा अण ताण ताभरमाणुसमुदयसमागमुपपणा कम्मपज्जाएण परिणयपटमसमए बधववएस पटिवज्जति । ते चेव विदियसमयप-हुळि जाव फलदाणहेट्टिमसमओ त्ति ताव सत्त्ववएस पटिवज्जति । ते च्चेय फलदाणसमए उदयववएस पटिवज्जति । ण च णामभेदेण दम्बभेओ । ण कोट्टजणजाजणसहावेण द्विदिभेएण च भिण्णदम्बा-णमेयत्तविरोहादो । ण च लवणभेदे संते दम्बाणमेयत्तं होदि तिहु-वणस्स भिण्णलवणस्स एयत्तपसगादो तम्हा ण बधसत्तदम्बाण कम्मत्तमरिज जेण कोटोदय पटुळ जीवो कोट्टसमाओ जादो त कम्म-मुदयगयं पचयकसाएण कसाओ त्ति सिद्ध ण च एरध दम्बकम्मस्स उवयारेण कसायत्त, उजुत्तुदे उवयाराभावो ।—प्रश्न—एक ही कर्म-द्रव्य बन्ध, सत्त्व और उदयरूप होता है । इसका खुलासा इस प्रकार है कि अनन्तान्त परमाणुओंके समुदायके समागमसे उत्पन्न हुए कर्मस्कन्ध आकार कपाय और योगके निमित्तसे एक साथ लोक-प्रमाण जीवके प्रदर्शने सम्पन्न होकर कर्मपर्याय रूपसे परिणत होनेके प्रथम समयमें 'बन्ध' इस सत्ताको प्राप्त होते हैं । जीवसे सम्पन्न हुए वे ही कर्मस्कन्ध दूसरे समयसे लेकर फल देनेमें पहले समय तक 'सत्त्व' इस सत्ताको प्राप्त होते हैं, तथा जीवसे सम्पन्न हुए वे ही कर्मस्कन्ध फल देनेके समयमें 'उदय' इस सत्ताको प्राप्त होते हैं । यदि कहा जाय कि द्रव्य एक ही है, फिर भी बन्ध आदि नाम भेदसे द्रव्यमें भेद हो ही जाता है सो भी कहना ठीक नहीं है । उत्तर—नहीं, क्योंकि बन्ध उदय और सत्त्वरूप कर्मद्रव्यमें क्रोध (आदि) को उत्पन्न करने और न करने की अपेक्षा तथा स्थितिकी अपेक्षा भेद पाया जाता है । (अर्थात् उदयागत कर्म क्रोधको उत्पन्न करता है बन्ध व सत्त्व नहीं । तथा बन्ध व उदयकी स्थिति एक-एक समय है, जब कि सत्त्वकी स्थिति अपने-अपने कर्मकी स्थितिके अनुरूप है) । अतः उन्हें सर्वथा एक माननेमें विरोध आता है । यदि कहा जाय कि लगणकी अपेक्षा भेद होनेपर भी द्रव्यमें एकत्व हो सकता है सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेपर भिन्न-भिन्न लक्षण-मते (ऊर्ध्व, मध्य व अधो) तीनों लोहोंको भी एकत्रका प्रमाण

प्राप्त हो जाता है । इसलिए ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा बन्ध और सत्त्व रूप द्रव्यके कर्मपना नहीं बनता है । अतः तृतीये क्रोधके उदयकी अपेक्षा करके जीव क्रोध वषायरूप होता है, इसलिए ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिमें उदयको प्राप्त हुआ क्रोधकर्म ही प्रथम कपायकी अपेक्षा कपाय है यह सिद्ध होता है । यदि कहा जाय कि उदय द्रव्यकर्मका ही होता है अतः ऋजुसूत्र नय उपचारमें द्रव्यकर्मका भी प्रथम कपाय मान लेगा सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, ऋजुसूत्र नयमें उपचार नहीं होता है ।

३ निपेक रचना

१ उदय सामान्यकी निपेक रचना

गो जी/जी प्र २६८/४८८/४ ननु एकैकसमये जीवेन बद्धैकसमय-प्रयत्नस्य आभावावजितस्थितिप्रथमसमयादारभ्य तत्परमसमयपर्यन्त प्रतिसमयमेकैकनिपेक एवोदेति । कथमेकैकसमयप्रयत्न उदेति प्रश्ने उच्यते—अनादिबंधनिषधनबद्धविवक्षितसमयप्रयत्ननिपेक ६ उदेति, तदा तदन्तरसमये बद्धसमयप्रयत्नस्य द्विचरमनिपेक उदेति १० तदन्तरसमये बद्धसमयप्रयत्नस्य त्रिचरमनिपेक उदेति ११ एव चतुर्थीदिसमयेषु बद्धसमयप्रयत्नानीं चतुर्थरमादिनिपेकोदयक्रमेण आभावावजितविवक्षितसमयमात्रस्थानेषु गत्या चरमतारसमयप्रयत्नस्य प्रथमनिपेक उदेति, एवं विवक्षितसमये एक समयप्रयत्नो घट्नास्ति एक उदेति किंचिदुत्तमार्थगुहाणिमात्रसमयप्रयत्नस्य भवति ।

—प्रश्न—एक समयविषे जीवकरि बान्ध्या जो एक समयप्रयत्न ताके आभावा रहित अपनी स्थितिका प्रथम समयसे लगाइ अतममय पर्यंत समय-समय प्रति एक एक निपेक उदय आवै है । पूर्वे गथा-विषे समयप्रति एक एक समयप्रयत्नका उदय आवना कैसे कहा है । उत्तर—समय-समय प्रति बन्धे समयप्रयत्ननिका एक-एक निपेक एकदृष्टे होइ विवक्षित एक समयविषे समय प्रयत्न मात्र हो है । कैसे । सो कहिए है—अनादि बन्धनका निमित्तकरि बन्ध्या विवक्षित समयप्रयत्न ताका जिस कालविषे अन्तनिपेक उदय हो है तिस काल-विषे, ताके अनन्तर बन्ध्या समयप्रयत्नका उपान्त्य निपेक उदय हो है, ताके भी अनन्तर बन्ध्या समयप्रयत्नका अन्तसे तीसरा निपेक उदय हो है । ऐसे चौथे आदिनमयनिविषे बन्धे समयप्रयत्ननिका अन्तसे चौथा आदि निपेकनिका उदय क्रमकरि आभावाकाल रहित विवक्षित स्थितिके जेते समय तितने स्थान जाय, अतविषे जो समयप्रयत्न बन्ध्या ताका आदि निपेक उदय हो है । ऐसे सप्तनिको जोडै विवक्षित एक समयविषे एक समय प्रयत्न उदय आवै है । अक संदृष्टि करि जैसे (स्थिति बन्ध्या निपेक रचनाके अनुसार (देखो आगे) ६ गुण हानियोंके ४८ निपेकोंमें से) जिन समयप्रयत्ननिके सर्व निपेक गलि गये तिनिका उदय ता है नाहीं । बहुहुरि जिस समयप्रयत्नके ४७ निपेक पूर्वे गले ताका अन्तिम ६ (प्रदेशों) का निपेक वर्तमान समयविषे उदय आवै है । बहुहुरि जाके ४६ निपेक पूर्वे गले ताका अन्तिमसे पहला १० (प्रदेशों) का निपेक उदय हो है । और ऐसे ही क्रमसे जाका एक हू निपेक पूर्वे न गला ताका प्रथम ६१२ का निपेक उदय हो है । ऐसे वर्तमान कोई एक समयविषे सर्व उदयरूप निपेकनिका उदय हो है । ६, १० ११, १२ १३, १४, १५, १६/ १८, २०, २२, २४ २६, २८, ३०, ३२/ ३६, ४०, ४४, ४८ ५२ ५६ ६० ६४/ ७२, ८०, ८८, ९६ १०४, ११२ १२०, १२८/ १४४, १६०, १७६ १८४ २०८, २२४ २४० २६६/ २८८, ३२० ३६४, ४०८, ४४८ ४८८ ५२८/ ऐसे हनिको जोडै सम्पूर्ण समयप्रयत्नमात्र प्रमाण हो है । आगामी कालविषे जैसे-जैसे नवीन समयप्रयत्नके निपेकनिके उदयका सद्भाव होता जायेगा, तैसे-तैसे पुराने समयप्रयत्नके निपेकनिके उदय अभाव होता जायेगा । जैसे—आगामी समयविषे नवीन समयप्रयत्नका प्रथम ६१२ का निपेक उदय आवेगा तहाँ वर्तमानविषे जिस समयप्रयत्नका ६१२ का निपेक उदय था ताका ६१२ वाले निपेकका अभाव होइ दूसरा ४८० का

[क्रमशः पृ ३७१]

[illegible]

प्रमाण — (गो क ६४३/४९४३)

→ निषेकन. ←
रुक समय प्रबद्ध के

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८	४९	५०	५१	५२	५३	५४	५५	५६	५७	५८	५९	६०	६१	६२	६३	६४	६५	६६	६७	६८	६९	७०	७१	७२	७३	७४	७५	७६	७७	७८	७९	८०	८१	८२	८३	८४	८५	८६	८७	८८	८९	९०	९१	९२	९३	९४	९५	९६	९७	९८	९९	१००
<p style="text-align: center;">स्थितिगत अनेक समय प्रबद्धों के निषेक</p> <p style="text-align: center;">कुल जोड़ = १३ गुणहानि भुगित एक समय प्रबद्ध</p> <p style="text-align: center;">उदयागत निषेको से अवशेष बचे द्रव्य या समय प्रबद्धों के भाग</p>																																																																																																			

निपेक उदय आवेगा। बहुति जिस समयप्रबद्धका वर्तमानविषे ४८० का निपेक उदय था ताका तिस निपेकका अभाव होइ ४४८के निपेकका उदय होगा। ऐसे क्रमसे जिस समयप्रबद्धका वर्तमान विषे ६ का अन्तिम निपेक उदय था ताका आगामी समय विषे सर्व अभाव होगा। ऐसे प्रति समय जानना।

२. सत्त्वकी निपेक रचना

गो जी/जी प्र/भाषा ६४२/११४१ ताते समय प्रति समय एक-एक समयप्रबद्धका एक-एक निपेक मिलि (कुल) एक समयप्रबद्धका उदय हो है। बहुति गले पोछे अवशेष रहे सर्व-निपेक तिनिको जोड़ै किंचिदून अर्धगुणहानिगुणित समय प्रमाण सत्त्व हो है। कैसे—सो कहिये है। जिस समयप्रबद्धका एक हू निपेक गय्या नाहीं ताके सर्व निपेक नीचे पक्तिविषे लिखिये। बहुति ताके ऊपर जिस समयप्रबद्धका एक निपेक गय्या होइ ताके आदि (६१२वाले) निपेक बिना अवशेष निपेक पक्ति विषे लिखिये। बहुति ताके ऊपर जिस समयप्रबद्धके दोय निपेक गले होइ ताके आदि के दोय (६१२,४८०) बिना अवशेष निपेक पक्तिविषे लिखिये। ऐसे ही ऊपर-ऊपर एक-एक निपेक घटता लिखि सर्व ऊपर जिस समयप्रबद्धके अन्य निपेक गलि गये, एक अवशेष रहा होइ ताका अन्त (६ का) निपेक लिखना। ऐसे करते त्रिकोण रचना हो है। अक सृष्टि करि जैमै—नीचे हो ४८ निपेक लिखे ताके ऊपर ६१२ वाले के बिना ८० निपेक लिखे। ऐसे ही क्रमसे ऊपर हो ऊपर ६ वाला निपेक लिख्या। ऐसे लिखत त्रिकूण हू रचना हो है। ताते तिम त्रिकोण यन्त्रका जोड़ा हुआ सर्व द्रव्यप्रमाण सत्त्व द्रव्य जानना। सो कितना हो है सो कहिये है—किंचिदून द्वयर्ध गुणहानि गुणित समयप्रबद्धप्रमाण हो है।

३ सत्त्व व उदयगत द्रव्य विभाजन

१ सत्त्व गत—एक समयप्रबद्धमें कुल द्रव्यका प्रमाण ६३०० है। तो प्रथम समयसे लेकर सत्ताके अन्तसमय पर्यन्त यथायोग्य अनेकों गुण हानियोंद्वारा विशेष चय होन क्रमसे उसका विभाजन निम्न प्रकार है। यद्यपि यहाँ प्रत्येक गुणहानिको बराबर बराबर दर्शाया है, परन्तु इसको एक दूसरेके ऊपर रखकर प्रत्येक सत्ताका द्रव्य जानना। अर्थात् पष्ठ गुणहानिके ऊपर पंचमको और उसके ऊपर षष्ठ्य आदिको रखकर प्रथम निपेक अन्तिम निपेक पर्यन्त क्रमिक हानि जाननी चाहिए।

निपेक सं०	गुण हानि आयाम					
	१	२	३	४	५	६
	गुण हानि चय प्रमाण					
	३२	१६	८	४	२	१
८	२८८	१४४	७२	३६	१८	९
७	३२०	१६०	८०	४०	२०	१०
६	३६२	१८१	९०	४५	२२	११
५	४०४	२०२	१०४	५२	२६	१३
४	४४८	२२४	११२	५६	२८	१४
३	४८०	२४०	१२०	६०	३०	१५
२	५१२	२५६	१२८	६४	३२	१६
कुल द्रव्य ६३००	३२००	१६००	८००	४००	२००	१००

२ उदय गत—प्रत्येक समयप्रबद्ध या प्रत्येक समयका द्रव्य उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता जाता है। क्योंकि उसमें अधिक-अधिक सत्त्वगत निपेक मिलते जाते हैं। सो प्रथम समयसे लेकर अन्तिम समय पर्यन्त विशेष वृद्धिका क्रम निम्न प्रकार है। यहाँ भी बराबर बराबर लिखी

गुण हानियोंको एक दूसरेके ऊपर रखकर प्रथम निपेकसे अन्तिम-पर्यन्त वृद्धि क्रम देखना चाहिए।

निपेक सं	गुण हानि आयाम					
	१	२	३	४	५	६
१	६	११८	३३६	७७२	१६४४	३३८८
२	१६	१३८	३७६	८६२	१८०४	३७०८
३	३०	१६०	४२०	९४०	२१८०	४०६०
४	४२	१८४	४६८	१०२६	२१७०	४४४४
५	५४	२१०	५२०	११४०	२३८०	४८६०
६	६६	२३८	५७६	१२६२	२६०४	५३०८
७	८४	२६८	६३६	१३७२	२८४४	५७८८
८	१००	३००	७००	१६००	३१००	६३००
कुल द्रव्य	४०८	१६१६	४०३२	८८६४	१८६२८	३७८६६

इन उपरोक्त दोनों यन्त्रोंको परस्परमें सम्मेलन देनेके लिए देखो यन्त्र (गो जी/भाषा २५८/४)

४ उदयागत निपेककोका त्रिकोण यन्त्र—२ पृ ३६६

५. सत्त्वगत निपेककोका त्रिकोण यन्त्र—२ पृ ३७०

६. उपशमकरण द्वारा उदयागत निपेक रचनामें परिवर्तन

स/भाषा २४७/३०३/२० जब उदयावलीका एक समय व्यतीत होइ तब गुणश्रेणी निर्जराका एक समय उदयावली बिट मिलै। और तब ही गुणश्रेणीविषे अन्तरायामका एक समय मिलै और तब ही अन्तरायामविषे द्वितीयस्थितिका (उपरला) एक निपेक मिलै, द्वितीय स्थिति घटे है। प्रथम स्थिति और अन्तरायाम जेताका ठेठा रहे।

४ उदय प्ररूपणा सम्बन्धी कुछ नियम

१. मूल प्रकृतिका स्वमुख तथा उत्तर प्रकृतिधोंका स्व व परमुख उदय होता है

पं स/भा ४/४४६ ४६० पंचचत मूलपयडो गुण समुहेण सव्वजीवाण। समुहेण परमुहेण यमोहाउविबज्जिया सेसा ४४६। पञ्च गे मणुयाउ णिरयाउमुहेण समयणिद्विट्ठ। तह चरियमोहणीयं दसणमोहेण सजुत्त ४४०।—मूल प्रकृतियों नियमसे सर्व जीवोंके स्वमुख द्वारा ही पचती हैं, अर्थात् स्वोदय द्वारा ही विपाकको प्राप्त होती हैं। किन्तु मोह और आयुर्कर्मको छोड़कर शेष (तुल्य जातीय) उत्तर प्रकृतियों स्व-मुखसे भी विपाकको प्राप्त होती हैं और परमुखसे भी विपाकको प्राप्त होती हैं, अर्थात् फल देती हैं। ४४६। भुज्यमान मनुष्यायु नरकायुमुखसे विपाकका प्राप्त नहीं होती है, ऐसा परमाण्वमें कहा है अर्थात् कोई भी विवक्षित आयु किसी भी अन्य आयुके रूपसे फल नहीं देती है (दे आयु/५) तथा चारित्र्य-मोहनीय कर्म भी दर्शनमोहनीयसे सयुक्त होकर अर्थात् दर्शन-मोहनीय रूपसे फल नहीं देता है। इसी प्रकार दर्शनमोहनीय कर्म भी चारित्र्यमोहनीयके रूपसे फल नहीं देता है ४४०। (सं सि ८/२१/३६८/८), (रा वा ८२१/४८३/१६), (प सं/स ४/२७०-२७२)

२ सर्वघातीमें देशघातीका उदय होता है पर देशघातीमें सर्वघातीका नहीं

गो जी/भाषा ६५१/६ यद्यपि सायामशमिकविषे तिम आवरणके देशघाती स्पर्शकनिका उदय पाह्ये है, तथापि वह तिस ज्ञानका घात करनेकू समर्थ नाहीं है, ताते ताकी मुख्यता न करी। याका उदाहरण कहिये है—अवधिज्ञानावरण कर्म सामान्यपने देशघाती है तथापि

उदय विग्रह गतिमें हो होनेका नियम है, क्योंकि तहाँ ही भवका प्रथमसमय उस अवस्थामें प्राप्त होता है।

गो क/जी प्र २२६/११७/१८ विवक्षितभवप्रथमसमये एव तद्व्यतिरिक्तदानु-पूर्व्यतदायुष्योदय सपदे सदृशस्थाने युगपदेवैकजीवे उद्येतीत्यर्थः ।
—विवक्षित पर्यायका पहिला समय ही तीहि विवक्षित पर्याय सम्बन्धी गति वा आनुपूर्वीका उदय हो है । एक ही गतिका वा आनुपूर्वीका वा आयुका उदय युगपत् एक जीवके हो है (असमान का नहीं) ।

४ आतप-उद्योतका उदय तेज, वात व सूक्ष्ममें नहीं होता
घ-८/३ १३८/१६६/११ आदाउज्जोवाण परोदयो यधो । हावु णाम वाउ-काइएसु आदावुज्जोवाणमुदयाभावो, तथ्य तदणुवलभादो । ण तेउ-काइएसु तदभावावो । पञ्चखेणुवल भमाणत्तादो । एरथ परिहारो बुद्धदो-ण ताम तेउकाइएसु आदाओ अरिथ, उण्हप्पहाए तथ्याभावादो । तेउम्हि वि उण्हत्तमुवल भइ च्चे उवलम्भउ णाम, [ण] तस्स आदा-भवएसा किनु तेजासणा, “मूलोप्यवती प्रभा तेज, सर्वागव्याप्युप्यव-वती प्रभा आतप, उण्णरहिता प्रमोथोत्त” इति तिण्ह भेदोव-लभादो । तन्हा ण उज्जोवो वि तथ्यरिथ मूलोप्यवत्तस्स तेजववए-सादो । —आतप व उद्योतका परोदय बन्ध होता है । प्रश्न—वायु-कायिक जीवोंमें आतप व उद्योतका अभाव भले हो होवे, क्योंकि, उनमें वह पाया नहीं जाता किन्तु तेजकायिक जीवोंमें उन दोनोंका उदयाभाव सम्भव नहीं है, क्योंकि, यहाँ उनका उदय प्रत्यक्षसे देखा जाता है । उत्तर यहाँ उक्त शंकाका परिहार करते हैं—तेजकायिक जीवोंमें आतपका उदय नहीं है, क्योंकि वहाँ उष्ण प्रभाका अभाव है । प्रश्न—तेजकायमें तो उष्णता पायी जाती है, फिर वहाँ आतप-का उदय क्यों न माना जाये । उत्तर—तेजकायमें भले ही उष्णता पायी जाती हो परन्तु उसका नाम आतप [नहीं] हो सकता, किन्तु तेज मन्त्रा होगो, क्योंकि मूलमें उष्णवती प्रभाका नाम तेज है, सर्वागव्यापी उष्णवती (सूर्य) प्रभाका नाम आतप और उष्णसारहित प्रभाका नाम उद्योत है इस प्रकार तीनोंके भेद पाया जाता है । इसी कारण वहाँ उद्योत भी नहीं, क्योंकि, मूलोप्य उद्योतका नाम तेज है [न कि उद्योत] (घ ६/१, ६-१, २८/६०४)

गो क/भापा ७४५/६०४/१० तेज, वात, साधारण, सूक्ष्म, अपर्याप्तनिके हाका (आतप व उद्योतका) उदय नहीं ।

५ आहारकद्विक व तीर्थकर प्रकृतिका उदय पुरुषवेदीको ही सम्भव है

गो क/जी प्र ११६/१११/१५ क्षीणवृद्धेदयोरपि तीर्थहारकमन्वो न विरुध्यते उदयस्यैव पुरुषवेदिषु नियमात् । —तीर्थकर व आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियोंका बन्ध तो खो व नपुंसकवेदीको भी होनेमें कोई विरोध नहीं है, परन्तु इनका उदय नियमसे पुरुषवेदीको ही होता है ।

८ नामकर्मकी प्रकृतियोंमें सहवर्ती उदय सम्बन्धी

गो क/सू ४६६-६०२/८०३-८०५ सठाणे सहवणे विहायजुम्मे य चरिम-चदुजुम्मे । अवरुद्धे वदरोदो उदयद्वारेण भगा हु १५६१ । तथ्यासरथा णारयसाहारणमुहुमगे अपुणे य । सेसगविलणसण्णीजुदठाणे जसजुदे भगा १६००। सण्णिम्मि मुणुसम्मि य ओधेक्कर सु केवले वज्ज । सुभगादेज्जसाणि य तित्थजुदे सरयमेदीदि १६०१। देवाहारे सथ्य कालावयप्पेसु भगमाणेज्जो । वोच्छिण्ण जाणित्त गुणपडिवण्णेसु सव्वेसु १६०२। —छह स स्थान, छह सहनन, दो विहायोगति, सुभग-युगल स्वरयुगल, आदेययुगल, यश कोटियुगल, इन विषे अवरुद्ध एक-एक ग्रहण करते भग हो हैं १५६१। तिन उदय प्रकृतिनिविषे नारकी और साधारण वनस्पति, सर्व ही सूक्ष्म, सर्व ही लम्बपर्याप्तक इन विषे अप्रशस्त प्रकृति ही का उदय है । ताँ तिनिके पाँच काल सम्बन्धी सर्व उदयस्थाननिविषे एक-एक ही भग है । अवशेष

एकेन्द्रिय (बादर पृथिवी, अप, तेज, वायु व प्रत्येक शरीर पर्याप्त) विक्लेन्द्रिय पर्याप्त, असेनी पचोन्द्रिय, इनविषे और तो अप्रशस्त प्रकृतिनिका ही उदय है और यशस्कीर्ति और अयशस्कीर्ति इन दोऊनि विषे एक किसीका उदय है, ताँ तिनिके उदयस्थाननि विषे दो दो भंग जानने १६००। सही जीव विषे, मनुष्य विषे छह संस्थान, छह सहनन, विहायोगति आदिके उपरोक्त पाँच युगल इन विषे अन्यतम (प्रशस्त या अप्रशस्त) एक एकका उदय पादमे है । ताँ सामान्यवत् ११५२ भंग हैं । $(६ \times ६ \times २ \times २ \times २ \times २ = ११५२)$ । केवलज्ञानविषे यज्ञग्रहभनागच, सुभग, आदेय, यशस्कीर्ति इनका ही उदय पादमे (शेष जो छ स स्थान व दो युगल उनमें से अन्यतम-का उदय है) ताँ केवलज्ञान सम्बन्धी स्थानविषे $(६ \times २ \times २)$ चौबीस-चौबीस ही भंग जानने । तीर्थकर केवलीके सर्वप्रशस्त प्रकृतिका उदय हो है ताँ ताँके उदयस्थाननि विषे एक एक ही भग है १६०१। च्यारि प्रकार देवनिविषे या आहारक सहित प्रमत्तविषे सर्व प्रशस्त प्रकृतिनि ही का उदय है, ताँ तिनिके सर्व काल सम्बन्धी उदय स्थाननि विषे एक-एक ही भग है । बहुरि मासाद-नादिक गुणस्थाननिको प्राप्त भये तिनविषे वा विग्रह गाँत वा कर्मणकालनिविषे व्युच्छिस्त भई प्रकृतिनि कौ जानि अवशेष प्रकृतिनिके यथा सम्भव भंग जानने ।

९ उदयके स्वामित्व सम्बन्धी सारणी

(गो क २८५-२८६)

क्रम	नाम प्रकृति	स्वामित्व
१	स्थानगुट्टि आदि ३ निद्रा	इन्द्रिय पर्याप्त पूरी कर चुकनेवाले केवल कर्म भूमिया मनुष्य व तिर्यच । तिनमें भी आहारक व वैक्रियक श्रुतिधारीको नहीं ।
२	शोवेद	निवृत्त्यपर्याप्त असंयत गुणस्थानमें नहीं ।
३	नपुंसकवेदी असंयत सम्प	निवृत्त्यपर्याप्त दशामें केवल प्रथम नरकमें, पर्याप्त दशामें देवोंसे अतिरिक्त सबमें ।
४	गति	विवक्षित पर्यायका पहला समय ।
५	आनुपूर्वी	उपरोक्तवत्, परन्तु छी वेदी असंयतसम्यग्रहि-की नहीं ।
६	आतप	बादर पर्याप्त पृथिवीकायिकमें ही ।
७	उद्योत	तेज, वात व साधारण शरीर तथा इनके अति-रिक्त शेष बादर पर्याप्त तिर्यच ।
८	छह सहनन	केवल मनुष्य व तिर्यच ।
९	औदारिक द्वि	मनुष्य तिर्यच ।
१०	वैक्रियक द्वि	देव नारकी ।
११	उच्छगोत्र	सर्व देव व कुछ मनुष्य ।

५ प्रकृतियोंके उदय सम्बन्धी शका-समाधान

१ असंज्ञियोंमें देवादि गतिका उदय कैसे है ?

घ १५/३१६/५ त्रिरय-देव-मणुमर्गण देव-निरय मणुस्माउआणमुच्चा-गोइस्स य कधममण्णीमुदया । ण, असण्णिपच्छायदाण णेइयादीण-मुवयारेण असण्णित्तभुवगमादो । —प्रश्न—नरकगति, देवगति, मनुष्यगति, देवायु, नरकायु, मनुष्यायु और उच्छगोत्रका उदय असंज्ञी जीवोंमें कैसे सम्भव है । उत्तर—नहीं क्योंकि असंज्ञी जीवोंमें-से पोछे आये हुये नारकी आदिकोंको उपचारसे असंज्ञी स्वीकार किया गया है ।

२ देवगतिमें उद्योतके विना दीप्ति कैसे है ?

घ ६/१ ६-२ १०२/१२६/२ देवेसुउज्जोवमुदयाभावे देवान देहदित्ती बुदो होदि । नण्णणामरुम्मोदयादो । —प्रश्न—देवोंमें उद्योत प्रकृति

उदय नहीं होने पर देवोंके शरीरकी दीप्ति गहरी होती है। उत्तर—
देवोंके शरीरमें दीप्ति वर्णनामकर्मके उदयसे होती है।

३ एकैन्द्रियोंमें अंगोपांग व संस्थान क्यों नहीं ?

घ ६/१.६-२.७६/११२/८ एददियाणमंगोपग विण्ण पस्सिदं । न, तेसि
जलय-माह-गिदं व-पट्ठि सीसा राजयभावाधो तदभावा । एददियाण
छ संठाणाणि किण्ण पस्सिदाणि । न पशययपस्सिदसत्तणपच-
सठाणाण समुत्तरूपाण छसंठाणरिपत्तयिरोहा । —प्रश्न—एकैन्द्रिय
जीवोंमें अंगोपांग क्यों नहीं बतलाये । उत्तर—नहीं, क्योंकि उनके
पैर, हाथ, नितम्ब, पीठ, शिर और उर (उदर) का अभाग होनेसे
अंगोपांग नहीं होते । प्रश्न—एकैन्द्रियोंके छह संस्थान क्यों नहीं
बतलाये । उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्रत्येक अवयवसे प्ररूपित लक्षणवाने
पाँच संस्थानोंको समुत्तरूपसे धारण करनेवाले एकैन्द्रियोंके पृथक्-
पृथक् छह संस्थानोंके अस्तित्वका विरोध है।

४ विकलेन्द्रियोंमें हुडक संस्थान व सुस्वर ही क्यों ?

घ ६/१.६-२.६८/१०८/७ विगल्लिदियाणं वंधो उदओ विहु डसठाणमेवेत्ति
सुत्ते उच । वेदं घडदे, विगल्लिदियाणं छस्सठाणुयत्तमा । न एम दोसो,
सम्भावयवेसु णियदस्सवपचमठाणेषु ये-त्तिणि-चटु पच सठाणाणि
रूपोणेण हु डसठाणमणेयभेदभिण्णमुपज्जदि । न च पचमठाणाणि
पञ्चवयवमैरिसाणि सति गज्जते, संपट्ठि तथाविधोवदेसाभावा । न च
तेसु अविण्णदेसु एवेत्तिमेसो गजागो सति णाम्, मज्जिज्जदे । तदो
सव्वे वि विगल्लिदियाणु डसठाणा वि होता न गज्जति सति सिद्ध ।
विगल्लिदियाण धवो उदओ वा सुस्सरं चैव होदि सति सुत्ते उच ।
भमरादओ सुस्सरा वि विस्सत्ति, तदो वधमेगं घडदे । न, भमरादिषु
कोइलासु व मधुरो व रुचच्च्, सति तस्स मररस मधुरत्त किण्ण
इच्छिज्जदि । न एत दोसो, पुरिसिच्छादो वरपुवरिणामाणुयत्तमा ।
न च णिभो केदि पि रुचदि सति मधुरत्त पडिबज्जदे, अवयवत्था-
वसोदो । —१ प्रश्न—'विकलेन्द्रिय जीवोंके हु डक संस्थान इन एक
प्रकृतिका ही बन्ध और उदय होता है यह सूत्रमें कहा है । किन्तु यह
घटित नहीं होता, क्योंकि विकलेन्द्रिय जीवोंके छह संस्थान पाये
जाते हैं । उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, सर्व अवयवोंमें नियत
स्वरूपवाले पाँच संस्थानोंके होनेपर दो, तीन चार और पाँच
संस्थानोंके संयोगसे हु डक संस्थान अनेक भेदभिन्न उत्पन्न होता है ।
वे पाँच संस्थान प्रत्येक अवयवके प्रति इस प्रकारके आकार वाले होते
हैं, यह नहीं जाना जाता है क्योंकि आज उस प्रकारके उपदेशका
अभाव है । और उन संयोगों भेदोंके नहीं ज्ञात होनेपर इन जीवोंके
'असुक्त संस्थानोंके संयोगारम्भक ये भंग हैं,' यह नहीं जाना जाता
है । अतएव सभी विकलेन्द्रिय जीव हु डक संस्थानवाने होते हुए भी
आज नहीं जानेजाते हैं, यह बात सिद्ध हुई । २ प्रश्न—'विकलेन्द्रिय
जीवोंके बन्ध भी और उदय भी पु स्वर प्रकृतिका होता है' यह
सूत्रमें कहा है । किन्तु भ्रमरादिक कुछ विकलेन्द्रिय जीव सुस्वरवाले
भी दिखलाई देते हैं इसलिये यह बात कैसे घटित होती है, कि
उनके सुस्वर प्रकृतिका उदय व बन्ध नहीं होता है । उत्तर—नहीं,
क्योंकि, भ्रमरादिमें कोकिलाओंके समान स्वर नहीं पाया जाता
है । प्रश्न—भिन्न रुचि होनेसे किन्तु ही जीवोंको अमधुर स्वर भी
मधुरके समान रुचता है । इसलिये उसके अर्थात् भ्रमरके स्वरकी
मधुरता क्यों नहीं मान ली जाती । उत्तर—यह कोई दोष नहीं
क्योंकि, पुरुषोंकी इच्छासे वस्तुका परिणमन नहीं पाया जाता है ।
नीम कितने ही जीवोंको रुचता है इसलिये वह मधुरताको नहीं
प्राप्त हो जाता है, क्योंकि, वैसा मानने पर अव्यवस्था प्राप्त
होती है ।

६ कर्म प्रकृतियोंकी उदय व उदयम्यान प्रस्पणार्ण

१ सारणीमें प्रयुक्त संकेतोंके अर्थ

संके	अर्थ	संकेत	अर्थ
१ कर्म प्रकृतियोंके लिए छोटे नाम			
१ दशनासरणी	१ दशनासरणी	१ पैर	नख द्वि, देव द्वि, वैक्रियिक द्वि
विद्या द्विक-निद्रा प्रचना	विद्या द्विक-निद्रा प्रचना	आनु	आनुपूर्वी
रमानाश्रय रमानागृहि, निद्रानिद्रा	रमानाश्रय रमानागृहि, निद्रानिद्रा	विद्या	विद्यागति
प्रचनाप्रचना	प्रचनाप्रचना	विद्या द्वि	प्रदाश्रयप्रस्त विद्यामो- गति
निद्राप्रचय निद्रा विद्यानिद्रा,	निद्राप्रचय निद्रा विद्यानिद्रा,	अगु	अगुत्तपु
प्रचत्ता प्रचनाप्रचना	प्रचत्ता प्रचनाप्रचना	अगु द्वि	अगुत्तपु उपपाठ
स्वयानगृहि	स्वयानगृहि	अगु चतु	अगुत्तपु, उपपाठ परपाठ, उच्चाचार्य
दर्शन चतु	चतु अचतु, अवधि व मन्त्रदशनासरण	अगु चतु	अगुत्तपु उपपाठ
२ मोहनीय			
मिथ्या	मिथ्यार	वर्ण चतु	वर्ण, रंग, गंध, स्पर्श
मिश्र	मिश्र मोहनीय या मन्मथमिथ्यार प्रकृति	प्रम चतु	प्रम, बादर, प्रमेद, पर्याप्त
सम्य	सम्यक्प्रकृति मिथ्यार या मन्मथमोहनीय	प्रम दशक	प्रम, बादर पर्याप्त, प्रमेद, स्थिर, सुभ, सुभग सुम्भ आदेय, यदा कीर्ति
अनंतचतु	अनन्तागुम्भी चतुष्प	रथार-	स्थायर, गृहम, अव्यभि
अप्र चतु	अप्रचारयान चतुष्प	दशक	साधारण, अस्थिर, जुगुप्सु, दुर्मग, दुस्वर, अनादेय, अगद शक्ति
प्र चतु	प्रचारयान चतुष्प	सुभग प्रम	सुभग आदेय सुस्वर, सदर चतुष्प
स चतु	संजनन चतुष्प	सदर चतुष्प	तिय चगति, आनुपूर्वी, आनु उद्योत
स्थो	गो वेद	तिगमेना-	तिगमेना- (गति दश
पु.	पुरुष वेद	दश	आनुपूर्वी) आपजाति चतुष्प (१-४ इन्द्रिय)
नपु	नपुंसक वेद	भु. १/२	आप, उद्योत स्थार, सूस्म, साधारण
वेदत्रिक	शो, पुरुष व नपुंसक वेद	यु. १/२	यु. १/२ प्रकृ- तियों (तैजस, कामिन, बर्णादि चार, स्थिर, अस्थिर, सुभ, जुगुप्सु, अगुत्तपु निर्माण)
भयद्विक	भय जुगुप्सा	यु. ८	८ युगल्लोकी २१ प्रकृ- तियोंमें अव्ययतम उदय योग्य ८ प्रकृति (चार गति, पाँच जाति, प्रस स्थार, बादर सूस्म पर्याप्त-अव्यभि, सुभग- दुर्मग, आदेय अना- देय, यश-अयदा)
हास्य द्विक	हास्य रति	श. १/१	शरीर, संस्थान तथा प्रत्येक व साधारणमें से एक
३. नागकर्म			
तिगं	तिगं गति	औ	औदागिक शरीर
मनु	मनु गति	वै	वैक्रियिक शरीर
नरक द्विक	नरकगति व आनुपूर्वी	आ	आहारक शरीर
तिर्य द्विक	तिर्यचगति व आनुपूर्वी	औ. वै,	औदागिकादि शरीर
मनु द्विक	मनुगति व आनुपूर्वी	आ द्वि	व अंगोपांग
देव द्विक	देवगति व आनुपूर्वी	औ. वै,	औदागिकादि शरीर
नरकादि-	नरकादि गति आनु-	आ. चतु	अंगोपांग, मन्धन, सघात
त्रिक	पूर्वी व आनु		
देवादिचतु	गति, आनुपूर्वी, यथा- योग्य शरीर व अंगोपांग		
औ	औदागिक शरीर		
वै	वैक्रियिक शरीर		
आ	आहारक शरीर		
औ. वै,	औदागिकादि शरीर		
आ द्वि	व अंगोपांग		
औ. वै,	औदागिकादि शरीर		
आ. चतु	अंगोपांग, मन्धन, सघात		

संकेत	अर्थ	संकेत	अर्थ	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदय	पुन उदय	मोक्ष	मोक्ष	मोक्ष	मोक्ष
२ उदय योग्य पाँच काल	विग्रह गति काल	तिर्य	तिर्यक्ष	४	अप्र चसु, वैक्रि द्वि., नरक त्रि, देव त्रि, मनु-तिर्य-आनु, दुर्मग, अना-देय, अयश - १७		चारों आनुपूर्वी सम्म				
मि श	मिश्र शरीर काल (आहार ग्रहण करनेसे शरीर पर्याप्ति की पूर्णता तक)	मनु	मनुष्य	५	प्रचतु तिर्य आयु, नीच गोत्र, तिर्य गति, उवात = ८		- ५ ६६			१०४	
श प	शरीर पर्याप्ति काल (शरीर पर्याप्तिके पश्चात् आनपान पर्याप्तिकी पूर्णता तक)	प	पर्याप्ति	६	आहारक द्वि, स्यान्-गृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचना - ५		आहारक द्वि - २			८७	८७
आ प	आनपान पर्याप्ति काल (आनपान पर्याप्तिके पश्चात् भापा पर्याप्ति की पूर्णता तक)	अप	अपर्याप्ति	७	सम्यक्त्व मोहनीय, अर्ध नाराच, कोलित, सृपा-टिका - ४					२	८१
भा प	भापा पर्याप्ति काल (पूर्ण पर्याप्ति होने के पश्चात् आयुके अन्त तक)	सू	सूक्ष्म	८/१	हास्य, रति, भय, जुगुप्सा - ४					७६	७६
३ मार्गणा सम्बन्धी	पचैन्द्रिय	बा	बादर	८/अ	अरति, शोक - २					७२	७२
सा	सामान्य	नि अप	निवृत्त्यपर्याप्ति	८/१-५	(सवेद भाग) तीनों वेद - ३					६८	६८
				८/६	क्रोध - १					६६	६६
				८/७	मान - १					६३	६३
				८/८	माया - १					६२	६२
				८/९	लोभ (बादर) - ५					६१	६१
				८/१०	लोभ (सूक्ष्म) - १					६०	६०
				८/११	वज्र नाराच, नाराच - २					६०	६०
				८/१२	(द्विचरम समय) निद्रा, प्रचला - २					५९	५९
				८/१३	(चरम समय) ५ ज्ञाना-वरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय - १४					५७	५७
				८/१४	(नाना जीवापेक्षया) - वज्र वृषभ नाराच, निर्माण, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुस्वर-दुस्वर, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायो, औदा द्वि, तैजस-कामणि, ६ सस्यान, वर्णादि चतु, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रत्येक शरीर - २६					५५	५५
				८/१५	(एक जीवापेक्षा) उपरोक्त २६ + अन्यतम वेदनीय - ३०					५४	५४
				८/१६	(नाना जीवापेक्षया) निम्न १२ + १ वेदनीय - १३					५३	५३
				८/१७	(एक जीवापेक्षया) शेष अन्यतम एक वेदनीय, मनु गति व आयु, पचैन्द्रिय जाति, सुभग, प्रस, बादर, पर्याप्ति, आदेय, यशकीर्ति, तीर्थकर, उच्च गोत्र - १२					५२	५२
				८/१८						५१	५१
				८/१९						५०	५०
				८/२०						४९	४९
				८/२१						४८	४८
				८/२२						४७	४७
				८/२३						४६	४६
				८/२४						४५	४५
				८/२५						४४	४४
				८/२६						४३	४३
				८/२७						४२	४२
				८/२८						४१	४१
				८/२९						४०	४०
				८/३०						३९	३९
				८/३१						३८	३८
				८/३२						३७	३७
				८/३३						३६	३६
				८/३४						३५	३५
				८/३५						३४	३४
				८/३६						३३	३३
				८/३७						३२	३२
				८/३८						३१	३१
				८/३९						३०	३०
				८/४०						२९	२९
				८/४१						२८	२८
				८/४२						२७	२७
				८/४३						२६	२६
				८/४४						२५	२५
				८/४५						२४	२४
				८/४६						२३	२३
				८/४७						२२	२२
				८/४८						२१	२१
				८/४९						२०	२०
				८/५०						१९	१९
				८/५१						१८	१८
				८/५२						१७	१७
				८/५३						१६	१६
				८/५४						१५	१५
				८/५५						१४	१४
				८/५६						१३	१३
				८/५७						१२	१२
				८/५८						११	११
				८/५९						१०	१०
				८/६०						९	९
				८/६१						८	८
				८/६२						७	७
				८/६३						६	६
				८/६४						५	५
				८/६५						४	४
				८/६६						३	३
				८/६७						२	२
				८/६८						१	१
				८/६९						०	०
				८/७०						०	०
				८/७१						०	०
				८/७२						०	०
				८/७३						०	०
				८/७४						०	०
				८/७५						०	०
				८/७६						०	०
				८/७७						०	०
				८/७८						०	०
				८/७९						०	०
				८/८०						०	०
				८/८१						०	०
				८/८२						०	०
				८/८३						०	०
				८/८४						०	०
				८/८५						०	०
				८/८६						०	०
				८/८७						०	०
				८/८८						०	०
				८/८९						०	०
				८/९०						०	०
				८/९१						०	०
				८/९२						०	०
				८/९३						०	०
				८/९४						०	०
				८/९५						०	०
				८/९६						०	०
				८/९७						०	०
				८/९८						०	०
				८/९९						०	०
				८/१००						०	०

३. उदय व्युत्पत्तिकी आवेश प्ररूपणा

१ गतिमार्गणा

प्रमाण — गा क / जो प्र २८४-३०६/४१२ ४३४)

मार्गणा	गुण स्थान	व्युत्पत्ति प्रकृतियाँ	अनुदय	पुन उदय	उदय गोमय	अनुदय	उदय	पुन उदय	व्युत्पत्ति
१ नरक गति—(गा क / जो प्र २६० २६२/४१४ ४१८)									
उदय योग्य—स्थानगृहि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, गी पुत्र वेद इन ६ गृह्य पातिया गी । ४३-१-२२									
नरकायु, नीच गोत्र साता अमाता, नरकापुत्रों, वैति द्वि सैजग, गार्मणि रिग-अग्निग दाम-अनुम, अपराधम विहायो गति, हुंडक, संस्थान, निर्माण, पचेन्द्रिय, गम्भ गति, दुर्भग दु र्भग, अनादय, अयदा, अगृन्तयु, उपपाठ, पगपाठ, उच्छ्वास, प्रस, मादर, पर्याप्त, प्रत्येक, गणादि चतु — २४ । ४२ + ३४ = ७६									
प्रथम पृथिवी	१	मिथ्यात्व	—१	मिश्र सम्म —२	७६	२		७४	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतुष्क	—४	गारकानुपूर्वी—१	७३	१		७२	४
	३	मिश्र मोहनीय	—१		६८		१	६६	१
	४	अप्रया चतु, दुर्भग, अनादेय, अयदा, नरक प्रिक यैग द्वि	—१२		६८		१	७०	१२
२-७ पृथिवी	१	मिथ्यात्व, नरकानुपूर्वी	—२	मिश्र सम्म —२	७६	२		७४	२
	२	अनन्तानुबन्धी चतुष्क	—४		७३			७२	४
	३	मिश्र मोह	—१		६८		१	६६	१
	४	नरकानुपूर्वी रहित प्रथम पृथिवीवत्	—११		६८		१	६६	११
२ तिर्यच गति—(गा क / जो प्र २६४-२६७/४१८ ४२३)									
उदय योग्य—देव त्रिक, नारक त्रिक, मनु त्रिक, वैकि त्रिक, आहा द्विक, उच गोत्र, शीर्षद्वर—इन १६ के बिना—१०३									
तिर्यच सा	१	मिथ्यात्व, आतप, सुहम, अपर्याप्त, साधारण—६	मिश्र सम्म —२		१०३	२		१०६	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतु, १४ इन्द्रिय, स्थावर—६			१००			१००	६
	३	मिश्र मोह	—१	तिर्यचानुपूर्वी—१	६१	१	१	६१	१
	४	अप्रया चतु, तिर्यगानुपूर्वी, दुर्भग अनादेय, अयदाकोति	—८		६०		२	६२	८
५	प्रया चतु, तिर्यगानु, तिर्यच गति नीच गोत्र, उद्योत	—८			८४			८४	८
	५	उदय योग्य—स्थायर, सुहम साधारण, आतप, १-४ इन्द्रिय इन ८ के बिना तिर्यच सामान्यकी सक्त १०७-८-६६			६६	२		६७	२
	२	मिथ्यात्व, अपर्याप्त, अनन्तानुबन्धी चतुष्क	—४		६६			६६	४
	३	मिश्र मोह	—१	तिर्यगानुपूर्वी—१	६१	१	१	६१	१
५	तिर्यच सामान्यवत्	—८		तिर्य आनु, सम्म —२	६०		२	६२	८
	५	"	—८		८४			८४	८
पञ्च प,	१	उदय योग्य—सो वेद व अपर्याप्त इन दो के बिना पचेन्द्रिय सामान्यवत् ६६-२-६७			६७	२		६६	२
	२	मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी चतुष्क	—४		६४			६४	४
	३	मिश्र मोह	—१	तिर्यगानुपूर्वी—१	६०	१	१	६०	१
	४	तिर्यच सामान्यवत्	—८		८६		२	८१	८
५	"	"	—८		८३			८३	८
	५	उदय योग्य—अपर्याप्त, पुरुष वेद, नपु सक वेद इन तीनों के बिना पचेन्द्रिय सामान्यवत् ६६-३-६६			६६	२		६४	२
	२	मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी चतुष्क तिर्यगानुपूर्वी—६	मिश्र सम्म —		६३			६३	६
	३	(सम्यग्दृष्टि मरकर तिर्यचनीमें न उपजे)			६०			६०	३
तिर्य मोनिमसि	४	मिश्र होम	—१		८८		१	८६	१
	५	तिर्यगानुपूर्वी के बिना तिर्यच सा	—७		८८		१	८६	७
	५	तिर्यच सामान्यवत्	—८		२			८३	८

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदय	पुन उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुन उदय	कुल उदय	व्यु-च्छिन्ति
तिर्य अप	—	उदय योग्य—स्त्री व पुरुष वेद, स्थान त्रिक, परधात, उच्छ्वास, पर्याप्त, उद्योत, सुस्वर, दु स्वर, प्रशस्त-अप्रशस्त-विहायो, यश आदेय, आदिके ६ संस्थान व संहनन, मुभग, सम्य, मिश्र इन २८ के बिना पंचे सा वत्=७१							
भोगभूमिज तिर्य	—	उदय योग्य—भोगभूमिज मनुष्योंकी ७८—मनुष्य त्रिक व उच्छगोत्र+तिर्य त्रिक, नीच गोत्र व उद्योत=७६ प्रमाण —(गो क /भाषा ३०१/४३१/१)							
	१	मिथ्यात्व —१			७१			७१	१
	१	मिथ्यात्व —१	सम्य, मिश्र =२		७६	२		७७	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतुष्क —४			७६			७६	४
	३	मिश्र मोह —१	तिर्यगानुपूर्वी=१	मिश्र —१	७२	१	१	७२	१
	४	अप्रत्या चतुष्क, तिर्यगानुपूर्वी —५		सम्य, तिर्यगानु =२	७१		२	७३	५

३ मनुष्य गति—(गो क /जी प्र २६८-३०३/४२३-४३१)

मनुष्य सामान्य	—	उदय योग्य—स्थावर, सूक्ष्म, तिर्य त्रिक, नरक त्रिक, देव त्रिक, वैकि द्विक, १-४ इन्द्रिय, आत्तप, उद्योत, साधारण इन २० के बिना सर्व १२२-२०=१०२							
	१	मिथ्यात्व, अपर्याप्त —२	मिश्र सम्य आ द्वि तीर्थ=५		१०२	५	०	१०७	२
	२	अनन्तानुबन्धी चतुष्क —४			१६			१६	४
	३	मिश्र मोह —१	मनुष्यानुपूर्वी=१	मिश्र मोह=१	११	१	१	११	१
	४	अप्रत्या चतु, मनु आनु, बुभग, अनादेय, अयश, —८		सम्य मनु आनु =२	१०		२	१२	८
	५	प्रत्या चतु, नीच गोत्र —५			८४			८४	५

मनुष्य पर्याप्त	६-१४	← मूलोषवत् →							
—	—	उदय योग्य—स्त्री वेद व अपर्याप्तके बिना मनुष्य सामान्यवत् १०२-२=१००							
	१	मिथ्यात्व —१	मनु सा वत्=५		१००	५		१०५	१
	२-८	← मनुष्य सामान्यवत् →							
	६	क्रोध, मान, माया, पुरुष व नपुंसक वेद —५			६५			६५	५

मनुष्यणी पर्याप्त	१०-१४	← मूलोषवत् →							
—	—	उदय योग्य—अपर्याप्त, पुरुष व नपुंसक वेद, आहारक द्विक, तीर्थद्वर इन ६ के बिना मनुष्य सामान्यवत्=१६							
	१	मिथ्यात्व —१	सम्य, मिश्र =२		१६	२		१८	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतु, मनुष्यानुपूर्वी=५			१३			१३	५
	३	मिश्र मोह —१		मिश्र मोह=१	८८		१	८९	१
	४	अप्रत्या चतु, बुभग, अनादेय, अयश —७		सम्य =१	८८		१	८९	७
	५	प्रत्या चतु, नीच गोत्र —५			८२			८२	५
	६	स्थानगृहि निदानिद्रा, प्रचला-प्रचला —३			७७			७७	३

मनुष्य अप	७-८	← मूलोषवत् →							
६/१-५	—	(सवेद भाग) स्त्री वेद —१			६३			६३	१
६-१२	—	← मूलोषवत् →							
१३/१४	—	तीर्थकर बिना मूलोषवत्							

मनुष्य भोगभूमिजमनु	—	उदय योग्य —तिर्यक् अप वत् ७१-तिर्यक् त्रिक+ मनुष्य त्रिक=७६							
	१	मिथ्यात्व —१			७१			७१	१
	—	उदय योग्य —दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयश, नीच गोत्र, नपुंसक, स्थान-त्रिक, अप्रशस्तविहा, तीर्थ, अपर्याप्त, वज्र वृषभ नाराच बिना ५ संहनन, समचतुरस्र बिना ५ संस्थान, आहारकद्विक, इन २४ के बिना मनु सा वत्=७८							

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदय	पुन उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुन उदय	पुन उदय	व्युच्छिन्न
	१	मिथ्यात्व	—१	सम्य, मिश्र—२	७८	२		७६	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतु	—४		७५			७५	४
	३	मिश्र मोह	—१	मनु आनु—१	७१	१	१	७१	१
	४	अप्रत्या चतु, मनुष्यापूर्वी	—४	सम्य, आनु—२	७०		२	७२	४

४ देव गति—(गो क/जी प्र/३०४-३०५/४३२-४३४)

देव सामान्य	—	उदय योग्य —भोगभूमिया मनुष्यकी ७८—मनुष्य त्रिक व औदा. द्वि व यज्ञ गुणभ नाराच महता+देवत्रिक व वैक्रि द्विक—७७							
	१	मिथ्यात्व	—१	मिश्र, सम्य—२	७७	२		७५	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतु	—४		७५			७५	४
	३	मिश्र मोह	—१	देवानुपूर्वी—१	७०	१	१	७०	१
	४	अप्रत्या चतु, देवत्रिक, वैक्रि द्वि—६		सम्य, आनु—२	६६		२	७१	६
भवनत्रिक देव	१-४	उदय योग्य —देव सामान्यवत्—७७	—	—	—	—	—	—	—
सौधर्म-देशान	१-४	—	—	—	—	—	—	—	—
सनस्कृ-नवग्रहे	१-४	—	—	—	—	—	—	—	—
यक तकके देव	१-४	—	—	—	—	—	—	—	—
नव अनुदिश	—	उदय योग्य —देव सामान्यकी ७७—मिथ्यात्व, अनन्त चतु, मिश्र मोह यी वेद—७०							
से सर्वार्थि-	४	अप्रत्या चतु, देवत्रिक, वैक्रि द्वि—६			७०			७०	६
सिद्धिके देव	—	उदय योग्य —पुरुष वेद बिना देव सामान्यकी ७७—१—७६							
भवनत्रिकसे	१	मिथ्यात्व	—१	मिश्र, सम्य—२	७६	२		७४	१
सौधर्म	२	अनन्तानुबन्धी चतु, देवगगानुपूर्वी—४			७३			७३	४
ईशानकी	३	मिश्र मोह	—१	मिश्र मोह—१	६८		१	६६	१
देवियाँ	४	अप्रत्या चतु, देवगति व आयु वैक्रि द्वि—८		सम्य—१	६८		१	६६	८

२ इन्द्रिय मार्गणा—गो क/जी प्र/३०६-३०८/४३६-४३७

एकेन्द्रिय	—	उदय योग्य —स्त्री व पुरुष वेद, सुस्वर, दुस्वर, प्रशस्त व अप्रशस्त विहा, आदेय, छाहों सहनन, हुडक बिना ५ सस्थान सुभग, सम्य, मिश्र, औ अंगोपांग, प्रस, २-५ इन्द्रिय, देवत्रिक, नरक त्रिक, मनु, त्रिक, उशगोत्र, तीर्थद्वार, आहा द्विक, वैक्रि द्विक, इन ४२ के बिना सर्व १२२-४२—८०							
	१	मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त साधारण, स्थानगृद्धि, निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला, परघात, उद्योत, उच्छ्वास —११			८०			८०	११
	२	अनन्तानुबन्धी चतु, एकेन्द्रिय, स्थावर —६			६६			६६	६
विकलेन्द्रिय	—	उदय योग्य —स्थायर सूक्ष्म, साधारण, एकेन्द्रिय, आतप इन पाँच रहित एकेन्द्रियकी ८० अर्थात् कुल ७५+प्रस, अप्रशस्त विहा, दुस्वर, औ अंगोपांग स्व स्व १ जाति, मृषाटिका सहनन यह ६—८१							
	१	मिथ्यात्व अपर्याप्त, स्थान-त्रिक परघात उच्छ्वास, उद्योत, अप्रशस्त-विहा, दुस्वर —१०			८१			८१	१०
	२	अनन्तानुबन्धी चतु, स्व स्व योग्य १ जाति —५			७१			७१	५
पंचेन्द्रिय	—	उदय योग्य —साधारण, १-४ इन्द्रिय, आतप, स्थावर, सूक्ष्म इन ८ रहित सर्व १२२-८—११४							
	१	मिथ्यात्व, अपर्याप्त —२ तीर्थ, आ द्वि —५			११४	५		१०६	२
	२	अनन्तानुबन्धी चतु —४ नरकानु—१			१०७	१		१०६	४

३-१४

← प्रलोघवम् →

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदय	पुन उदय	उदय योग्य	मुदय	पुन उदय	कुल उदय	व्युच्छिन्न
३ काय मार्गणा—(गो क/जी प्र. ३०६-३१०/४३६ ४४१)									
स्थावर सामान्य	—	उदय योग्य — एकेन्द्रियवत् = ८०							
मा प वृनि अप	—	उदय योग्य — साधारण रहित स्थावर सामान्यकी ८० अर्थात् ८०-१=७९							
पृथिवी काय	१	मिथ्यात्व, आतप, उद्योत, सूक्ष्म अपयसि, स्थान त्रिक, उच्छ्वास परधा — १०			७९			७९	१०
प व अप	१	अनन्तानुबन्धी चतुष्क, एकेन्द्रिय, स्थावर — ६			६६			६६	६
नि अप	२								
अप काय	—	उदय योग्य — साधारण व आपातके बिना स्थावर सामान्यवत् ८०-२=७८							
प व अप	१	आपात बिना पृथिवी कायवत् — ६			७८			७८	६
नि अप	२	अनन्तानुबन्धी चतु, एकेन्द्रिय, स्थावर — ६			६६			६६	६
तेज काय व	—	उदय योग्य — साधारण, आतप, उद्योत इन तीन बिना स्थावर सामान्य ८०-२=७८							
वात काय	१	आतप उद्योत बिना पृ कायवत् — ८			७७			७७	८
वनस्पति काय	—	उदय योग्य — आपत रहित स्थावर सामान्यवत् ८०-१=७९							
अप्रति प्रत्येक	१	मिथ्यात्व, सूक्ष्म, अपयसि, साधारण, स्थान त्रिक परधात, उच्छ्वास, उद्योत — १०			७९			७९	१०
नि अप०	२	अनन्तानुबन्धी चतु, एकेन्द्रिय, स्थावर — ६			६६			६६	६
क्षेप सर्व विकल्प-	१								
'सू प अप'									
व 'मा अप'									
← मिथ्यादृष्टि पृथिवी कायवत् →									

४ योग मार्गणा (गा क/जी प्र ३१० ३१४/४४१-४४३)

चारों मनोयोगी	—	उदय योग्य — आतप, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, सूक्ष्म, अपयसि, साधारण, आतु चतु इन १३ बिना सर्व = १०६							
सत्य असत्य व	१	मिथ्यात्व — १ तीर्थ, आ द्वि, मिश्र सम्य — १			१०६	४		१०४	१
उभय वचन	२	अनन्तानुबन्धी चतु — ४			१०३			१०३	४
योगी = ७	३	मिश्र मोह — १			६६		१	१००	१
	४	अभरया चतु, वैक्रि द्वि, नरक गति व आयु, वेमगति व आयु, दुर्भग, अनादेय, अयश — १३			६६		१	१००	१३
	५-११								
	१३	ओषवत् १३वें को ३० तथा १४वें को १२=४२			तीर्थ = १	४१		१	४२
अनुभय वचन	—	उदय योग्य — आतप, एकेन्द्रिय, स्थावर, सूक्ष्म, अपयसि, साधारण, आनुपूर्वी चतु इन १० के बिना सर्व = ११२							
	१	मिथ्यात्व — १ तीर्थ, आ द्वि, मिश्र सम्य — १			११२	४		१०७	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतु, २-४ इन्द्रिय = ७			१०६			१०६	७
	३	मिश्र मोह — १			६६		१	१००	१
४-१२									
१३		ओषवत् १३वें को ३० तथा १४वें को १२=४२।			तीर्थ = १	४१		१	४२

मार्गणा	गुण स्थान	व्युत्पन्न प्रकृतियों	अनुदय	गुण उदय	उदय योग्य	प्रमुदय	गुण उदय	उदय योग्य	व्युत्पन्न
औदारिक काय योग	—	उदय योग्य—आहा द्वि, वैकि द्वि, देव नारक त्रिक, मनु म तिर्ग आत्र, प्रपममि ११ १३ व बिना मव—१०२							
	१	मिध्यावर, आतप, सुहम साधारण—४	तीर्थ, मिश्र मय्य—३		१०६	३		१०६	४
	२	अनन्तानुमन्धी चतु, १-४ इन्द्रिय स्थावर—६			१०२			१०२	१
	३	मिश्र मोह—१		मिश्र मोह—१	६३		१	६३	१
	४	अप्रत्या चतु, दुर्भग, अनादेय अगदा—७	मय्य—३		६३		१	६३	७
	५	उद्योत, नोच गोत्र तिर्ग गति म आयु प्रत्या चतु—८			८३			८३	८
	६	सत्यात्र त्रिक—३			७६			७६	३
०-१२		← गुणस्थान सम्भव नहीं →							
औदारिक मिश्र	—	औद्योग्य १३वें व १४वें की मिनकर—४२। उदय योग्य—आहा द्वि, वैकि द्वि, देव त्रिक, नारक त्रिक, मनु ति आत्र, प्रपममि त्रिक सुस्वर दुस्वर, प्रशस्ताप्रशस्त विहायो, परयात आतप, उद्योत उच्छ्वास, मिश्र इन २२ व बिना मव १०२-१०६	तीर्थ—१	४१	१	१	४२	४०	
	१	मिध्यावर सुहम, अपममि साधारण—४	तीर्थ मय्य—३		८६	३		८६	४
	२	अनन्तानुमन्धी चतु, १-४ इन्द्रिय स्थावर, अनादेय, दुर्भग, अगदा, गो नपु मव वेद—१४			६३			६३	१४
	३	← गुणस्थान सम्भव नहीं →							
	४	अप्रत्या चतु + आ द्वि सत्यात्र त्रिक, री नपु वेद, उच्छ्वास इन ८ रहित ६-१३ तक की ४८ अर्थात् ४०—४४	मय्य—३		७८		१	७८	४४
४-१०		← गुणस्थान सम्भव नहीं →							
समुद्रात केवली	—	सुस्वर, दुस्वर, प्रशस्ताप्रशस्त विहा परयात, उच्छ्वास इन ६के बिना १३वें १४वें की सर्व ४२-६-३६	तीर्थकर—१	३६			१	३६	३६
वैक्रियक काय योग	—	उदय योग्य—ग्यावर, सुहम, तिर्ग त्रिक, मनु त्रिक, आतप उद्योत, १-४ इन्द्रिय साधारण, स्वान त्रिक, तीर्थकर अपममि, इहो सहनन, समचतुरस म दुष्टक बिना ४२ स्थान, आहा द्वि औ द्वि नारक व देव आत्र, इन ३६ के बिना मव १२२-३६-८६।							
	१	मिध्यावर—१	मिश्र, मय्य—३		८६	३		८६	१
	२	अनन्तानुमन्धी चतुष्य—४			८३			८३	४
	३	मिश्र मोह—१		मिश्र मोह—१	७६		१	७६	१
	४	अप्रत्या चतु, देवगति आयु, नरक-गति आयु, वैकि द्विक, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय—१३	मय्य—३		७६		१	७६	१३
वैक्रियक मिश्रकाय	—	उदय योग्य—मिश्रमोह, परयात, उच्छ्वास, सुस्वर, दुस्वर, प्रशस्ताप्रशस्त विहा इन ७ रहित वैक्रियक काय योग्यव ८६-७-७६							
	१	मिध्यावर—१	मय्य—३		७६	१		७६	१
	२	अनन्तानुमन्धी चतु, री वेद—५	दुष्टक नपुसव दुर्भग अनादेय दुस्वर, नरक गति म आयु, नोच गोत्र—८		७३			६८	५
	३	← गुणस्थान सम्भव नहीं →							
	४	अप्रत्या चतु, वैकि द्वि, देव नरक गति व आयु, दुर्भग, अनादेय दुस्वर—१३	मय्य सासादन के अनुदय वाली—६		६४		१	७३	१३
आहारक काय योग	—	उदय योग्य—स्त्रीन त्रिक, री नपु वेद, अशस्त विहायो, दुस्वर, ६ सहनन, औदा द्वि, समचतुरसके बिना ६ संस्थान इन २० रहित औद्योग्य ६ के गुणस्थानकी ८१-२०-६१							
	६	आहारक द्विक—२			६१			६१	२

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदय	पुन उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुन उदय	कुल उदय	व्युच्छिन्न
आहारक मिश्र	—	उदय योग्य—सुस्वर, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहा इन ४ रहित आहारक काय यागकी ६१=५७							
६	आहारक द्विक	=२			५७			५७	२
कार्माण काय योग	—	उदय योग्य—सुस्वर, वु स्वर, प्रशस्ताप्रशस्त विहायो, प्रत्येक, साधारण, आहारक द्वि, औदा द्वि, वैक्रि द्वि, मिश्र, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, स्थान त्रिक, छह सस्थान, छह सहनन इन ३३ के बिना सर्व १२२-३३=८९							
१	मिथ्यात्व, सूक्ष्म, अपर्याप्त	=३	सम्य, तीर्थ=२		८९	२		८७	३
२	अनन्ता चतु, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, स्त्रीवेद=१०		नरक त्रिक=३		८९	३		८९	१०
३		←	गुणस्थान सम्भव नहीं	→					
४	वैक्रि द्वि बिना मूलोषके ४थे वाली १५+(उद्योत, आहा द्वि, स्थान त्रिक औ वेद प्रथम रहित ५ सहनन इन १२ के बिना ओषकी ५-१२ गुणस्थान वाली ४८-१२=३६) ३६+१५=५१		सम्य, नरकत्रिक		७१		४	७५	५१
५-१२		←	गुणस्थान सम्भव नहीं	→					
१३	(समुदात केवलीकी) वज्रवृषभनाराच, स्वरद्विक विहायो द्विक, औ द्वि, ६ सस्थान, उपघात परघात प्रत्येक उच्छ्वास इन १७के बिना ओषके १३वे, १४वे गुणस्थानोंकी ४२-१७=२५		तीर्थकर		२४		१	२५	२५

५ वेद मार्गणा—(गो क/जी प्र ३२० ३२१/४५४ ४५८)

पुरुष वेद	उदय योग्य—स्थायर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, नारक त्रिक, १-४ इन्द्रिय, स्त्री वेद, नपुंसक वेद, तीर्थकर, आतप इन १५ रहित सर्व—१२२-१५=१०७								
१	मिथ्यात्व	=१	आ द्वि, सम्य मिश्र		१०७	४		१०३	१
२	अनन्तापुष्पधी चतु	=४			१०२			१०२	४
३	मिश्र मोह	=१	देव, मनु व मिश्र	=१	६८	३	१	६६	१
४	अप्रत्या चतु, वैक्रि द्वि, देवत्रिक, मनु व तिर्य आनु, दुर्भग, अनादेय अयश	=१४	तिर्य गरया-नुपूर्वी=३		६५		४	६९	१४
५-८	मूलोषवत्	=२३	वेव, मनु व तिर्य आनु सम्य	=४	८५		२	८७	२३
९	पुरुषवेद, क्रोध, माग, माया	=४	आहा द्वि	=२	६४			६४	४
१०-१४		←	गुणस्थान सम्भव नहीं	→					
स्त्री वेद	उदय योग्य—पुरुष वेदकी १०७-(आहा द्वि, पुरुष वेद)+स्त्री वेद=१०५								
१	मिथ्यात्व	=१	सम्य मिश्र=२		१०५	२		१०३	१
२	अनन्ता चतु, देव मनुष्य तिर्य आनु	=७			१०२			१०२	७
३	मिश्र मोह	=१	मिश्रमोह	=१	६५		१	६६	१
४	अप्रत्या ४, देवगति व आयु, वैक्रि द्वि, दुर्भग, अनादेय, अयश	=११	सम्य	=१	६५		१	६६	११
५	मूलोषवत्	=८			८५			८५	८
६	स्थानगुद्वि त्रिक	=३			७७			७७	३
७	सम्य मोह, ३ अशुभ सहनन	=४			७४			७४	४
८	मूलोषवत्	=६			७०			७०	६
९	स्त्री वेद, क्रोध, मान, माया	=४			६४			६४	४
१०-१४		←	गुणस्थान सम्भव नहीं	→					

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियों	अनुदय	पुन उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुनः उदय	कुल उदय	व्युच्छि
नपुंसक वेद		उदय योग्य—देवत्रिक, आहा द्वि, ओ पुरुष वेद, तीर्थकर इन ८ के बिना सर्व १२२-८=११४							
१		मिथ्यारव, आत्म, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण —५	सम्य, मिश्र —२		११४	२		११२	५
२		अनन्ता चतु, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, मनु तिर्य आनु —११	नरकानु —१		१०७	१		१०६	११
३		मिश्रमोह —१		मिश्रमोह —१	६५			६६	१
४		अप्रया चतु, वैक्रि द्वि, नरक त्रिक, दुर्भग, दुस्वर अयश —१२		सम्य, नर-कानु —२	६५		१ २	६७	१२
५		प्रया चतु, तिर्य आयु व गति, नीच गोत्र, उद्योत —८			८५			८५	८
६		स्थान त्रिक —३			७७			७७	३
७		सम्य मोह, ३ अशुभ सहनन —४			७४			७४	४
८		हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा —६			७०			७०	६
९		नपुंसक वेद, क्रोध, मान, माया —४			६४			६४	४
१० १४									

← गुणस्थान सम्भव नहीं →

६ कपाय मार्गणा—(गो क/मू ३२२-३२३/४५६-४६१)

चतुर्विध क्रोध		उदय योग्य—शेष १२ कपाय (चारों प्रकार मान, माया, लोभ) और तीर्थकर इन १३ के बिना सर्व—१२२-१३=१०९							
१		मिथ्यारव, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण —५	सम्य, मिश्र, आहा द्वि —४		१०९	४		१०५	५
२		अनन्ता क्रोध, १-४ इन्द्रिय, स्थावर —६	नरकानुपूर्वी —१		१००	१		९९	६
३		मिश्र —१	मनु शेष तिर्य आनु —३	मिश्रमोह —१	९३	३	१	९१	१
४		वैक्रि द्वि, देव त्रिक, नारक त्रिक, मनु तिर्य आनु, अप्रया क्रोध, दुर्भग, अनाशय, अयश —१४		सम्य, चारों आनु —५	९०		५	९५	१४
५		प्रया क्रोध, तिर्य गति व आयु, नीचगोत्र, उद्योत —५			८१			८१	५
६-८		मूलोद्यवत् —१५		आहा, द्वि	७६		२	७८	१५
९/१		तीनों वेद —३	—२		६३			६३	३
९/२		संज्वलन क्रोध —१			६०			६०	१
आगे									

← गुणस्थान सम्भव नहीं →

अप्रया, प्रया व संज्वलन क्रोध स्थान—अनन्तानुयन्धीका विसंयोजन करके मिथ्यादृष्टि गुणस्थान विपै प्राप्त भया, ताके बेते इक काल अनन्तानु-यन्धीका उदय न होय, ताकी अपेक्षा यह कथन है।

उदय योग्य—१-४ इन्द्रिय, चारों आनु, आत्म, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अनन्ता क्रोध, चारों प्रकार मान माया-लोभ, तीर्थकर, मिश्र, सम्य मोह, आहा द्वि, इन ३१ के बिना सर्व—९१

उपरोक्त चारों क्रोधवत्। विशेषे इतना कि अपने उदयके अयोग्य प्रकृतियोंको व्युच्छिन्न में न गिनाना।

उदय योग्य—१ चारों प्रकार क्रोधवाली १०९ में स्व स्व कपाय चतुष्कको उदय योग्य करके शेष १२३का अनुदय है। २ अप्रया, प्रया व संज्वलन इन तीन कपायोंवाले विकल्पमें भी ९१ में स्व स्व कपायका ही ग्रहण करके अन्यका अनुदय है।

३ लोभ कपायमें गुण स्थान ९ की बजाय १० बताना। और सूक्ष्म लोभकी व्युच्छिन्न १०वें गुणस्थानमें मूलोद्यवत् करनी।

← क्रोधवत् →

← केवल लोभ कपायमें मूलोद्यवत् सूक्ष्म लोभकी व्युच्छिन्न →

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियों	अनुदय	पुन उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुन उदय	कुल उदय	व्युच्छिन्न
---------	-----------	------------------------	-------	---------	-----------	-------	---------	---------	-------------

७ ज्ञान मार्गणा—(गो क/मू ३२३-३२४/४६२-४६६)

मतिश्रुत अज्ञान	—	उदय योग्य—आहा द्वि, तीर्थंकर, मिश्र, सम्य, इन ६ के बिना सर्व १२२-६=११७			११७			११७	६
	१	मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, नारक आनु =६						१११	६
	२	अनन्तानुबन्धी चतु, १-४ इन्द्रिय, स्थावर =६							
विभग ज्ञान	३-१४	← गुणस्थान सम्भव नहीं → उदय योग्य—१ ४ इन्द्रिय, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, आनु चतु, आहा, द्वि, तीर्थंकर, मिश्र, सम्य मोह इन १८ बिना सर्व १२२-१८=१०४							
	१	मिथ्यात्व =१			१०४			१०४	१
	२	अनन्तानुबन्धी चतु =४			१०३			१०३	४
मति, श्रुत, अवविज्ञान	३-१४	← गुणस्थान सम्भव नहीं → उदय योग्य—मिथ्यात्व आतप, सूक्ष्म अपर्याप्त, साधारण, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, अनन्ता चतु मिश्र मोह इन १६ के बिना सर्व—१२२-१६=१०७							
	४	मूलोद्यवत् =१७ तीर्थ, आ द्वि=३			१०७	३		१०४	१७
मन पर्यय ज्ञान	६-१२	← मूलोद्यवत् → उदय योग्य—१-६ तक के गुण स्थानोंमें ओद्यवत् व्युच्छिन्न ४०+तीर्थंकर, आहा, द्वि व स्त्री नपुंसक वेद इन ४६ के बिना सर्व—१२२-४६=७७							
	६	स्थानगृद्धि त्रिक			७७			७७	३
केवल ज्ञान	७-१०	← मूलोद्यवत् । विशेष इतना कि १३वें में एक पुरुषवेदकी ही व्युच्छिन्ति कहना । → उदय योग्य—आद्य प्ररूपणाके १३वें १४वें गुणस्थानोंमें व्युच्छिन्न कुल ४२							
	१३-१४	← मूलोद्यवत् । १३वें में तीर्थंकर का पुन उदय न कहना →							

८. समय मार्गणा—(गो क/जी प्र ३२४/४६६-४६६)

सामायिक छेदोप	—	उदय योग्य—ओद्य प्ररूपणामें कथित ६० गुणस्थानमें उदय योग्य=८१							
परिहार विशुद्धि	६-६	← मूलोद्यवत् → उदय योग्य—स्त्री व नपुंसकवेद तथा आहारक द्वि इन ४ के बिना सामायिक समयवत् ८१-४=७७							
	६	स्थानत्रिक =३			७७			७७	३
	७	सम्य, ३ अक्षुभ सहनन =४			७४			७४	४
सूक्ष्म साम्पराय	—	उदय योग्य—ओद्य प्ररूपणाके १०वें गुणस्थान में उदय योग्य=६०							
यथा रयात्	१०	← मूलोद्यवत् → उदय योग्य—ओद्य प्ररूपणाके ११वें गुणस्थानमें उदय योग्य=६६							
देश सयत्	११-१४	← मूलोद्यवत् → उदय योग्य—ओद्य प्ररूपणाके ६वें गुणस्थानमें उदय योग्य=८७							
असंयत्	६	← मूलोद्यवत् → उदय योग्य—तीर्थंकर व आहा द्वि इन ३ के बिना सर्व १२२-३=११९							
	१	आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, मिश्र, सम्य=२			११९	२		११७	६
	२	मिथ्या =६							
	२-४	← मूलोद्यवत् →							

९ दर्शन मार्गणा—(गो क/जी प्र ६२६/४६६-४७०)

चक्षुदर्शन	—	उदय योग्य—साधारण, आतप, १-३ इन्द्रिय, स्थावर सूक्ष्म, तीर्थंकर इन ८ के बिना सर्व १२२-८=११४							
	१	मिथ्यात्व, अपर्याप्त =२ सम्य, मिश्र, आ द्वि=४			११४	४		११०	२
	२	अनन्तानुबन्धी ४, चतुर्दिन्द्रिय =६ नारकावुपूर्वी			१०८	१		१०७	६
	३-१२	← मूलोद्यवत् →							

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदय	पुन उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुन उदय	कुल उदय	व्युच्छिन्न
अवशु दर्शन	—	उदय योग्य — तीर्थकर बिना सर्व १२२-१=१२१							
अवधि दर्शन	१-१२		←	मूलोषवत्	→				
केवल दर्शन	—		←	सर्व विकल्प अवधिज्ञानवत्	→				
	—		←	सर्व विकल्प केवलज्ञानवत्	→				

१० लेश्या मार्गणा—(गो क/जी प्र ६२५/४७०-४७४)

कृष्ण लेश्या	—	उदय योग्य — तीर्थकर, आहा, द्वि, इन ३ के बिना सर्व १२२-३=११९							
१	मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, नारकानुपूर्वी — ६	मिश्र सम्य = २		११९	२		११७	६	
२	अनन्तानुपन्धी चतु, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, देवत्रिक, तिर्यगानुपूर्वी, — १३			१११			१११	१३	
	नोट—अशुभ लेश्यावाले भवन त्रिक- में भी न उपजे								
३	मिश्र मोह — १	मनुष्यानुप = १	मिश्र = १	६८	१	१	६८	१	
४	अप्रत्या चतु नरकगति व आयु, वैक्रि द्वि मनुष्यानुपूर्वी, दुर्मग, अनादेय, अयश — १२	मनुष्यानु, सम्य = २		६७		२	६६	१२	
नील लेश्या	—	←	सर्व विकल्प कृष्ण लेश्यावत्	→					
कापोठ लेश्या	—	उदय योग्य — कृष्णवत् = ११९							
१	मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म साधारण, अपर्याप्त — ६	सम्य मिश्र = २		११९	२		११७	६	
२	अनन्ता चतु, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, देवत्रिक — १२	नारकानु = १		११२	१		१११	१२	
३	मिश्र — १	मनु तिर्य आनु = २	मिश्र = १	६६	२	१	६८	१	
४	अप्रत्या चतु, नरक त्रिक, वैक्रि द्वि, मनु तिर्य, आनु, दुर्मग, अनादेय, अयश — १४	मनु तिर्य, नारक-आनु, सम्य = ४		६७		४	१०१	१४	
पीत व पद्मलेश्या	—	उदय योग्य — आतप, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, सूक्ष्म अपर्याप्त, साधारण, नरक त्रिक, तिर्यगानुपूर्वी, तीर्थकर इन १४ के बिना सर्व १२२-१४=१०८							
१	मिथ्यात्व — १	सम्य, मिश्र, आ द्वि, मनु आनु = ६		१०८	६		१०२	१	
२	अनन्तानुपन्धी चतु, — ४			१०१			१०१	४	
३	मिश्र — ३	देवानुपूर्वी = १	मिश्र = १	६८	१	१	६८	१	
४	नरक त्रिक व तिर्य आनु इन ४ के बिना मूलोषवत् — १३	सम्य, मनु तिर्य आनु = ३		६७		३	१००	१३	
शुक्ल लेश्या	—	←	मूलोषवत्	→					
१	उदय योग्य — आतप, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, अपर्याप्त, साधारण, नारक त्रिक, तिर्य आनु इन १३ के बिना सर्व १२२-१३=१०९								
१	मिथ्यात्व — १	सम्य, मिश्र, आ द्वि, तीर्थ, मनु आनु = ६		१०९	६		१०३	१	
२-४		←	पीत पद्मवत्	→					
६-१४		←	मूलोषवत्	→					

११ भव्यत्व मार्गणा—(गो क/जी प्र ३२८/४७४)

भव्य	१४	←	सर्व विकल्प मूलोषवत्	→
अभय	—	उदययोग्य—सम्य, मिश्र, आ द्वि, तीर्थ, इन ६ के बिना सर्व १२२-६=११७		
१		←	मूलोषवत्	→
		←	अन्य गुणस्थान सम्भव नहीं	→

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित प्रकृतियाँ	अनुदय	पुन उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुन उदय	कुल उदय	व्युच्छित
१२ सम्यक्त्व मार्गणा—(गो क/जी प्र ३२८ ३३१/४७५-४८१)									
सायिक सम्य	—	उदय योग्य—मिथ्यात्व, सूक्ष्म, आप्तप, अपर्याप्त, साधारण, अनन्तानुबन्धी चतु, १-४ इन्द्रिय, स्थावर मिश्र, सम्य, इन १६ के बिना सर्व—१२२-१६ = १०६							
	४	अप्रत्या चतु वै द्वि, नारक त्रिक, देव त्रिक, मनु तिर्य आनु, तिर्य गति व आयु, दुर्भग, अनादेय, अयश, उद्योत —२०	आ द्वि तीर्थ —३		१०६	३		१०३	२०
	५	प्रत्या चतु, नीच गोत्र —५			८३			८३	५
	६	आ द्वि, स्थान त्रिक —५		आ द्वि २	७८		२	८०	५
	७	तीन अशुभ सहनन —३			७५			७५	३
	८-१४	← मूलोपबन्ध →							
वेदक सम्य	—	उदय योग्य—मिथ्यात्व, सूक्ष्म, अपर्याप्त, आप्तप, साधारण, अनन्तानुबन्धी चतु, १-४ इन्द्रिय, स्थावर मिश्र, तीर्थकर, इन १६ के बिना सर्व—१२२-१६ = १०६							
	४	अप्र चतु, वै द्वि, नरक त्रिक, देव त्रिक, मनु व तिर्य आनु, दुर्भग, अनादेय, अयश —१७	आ द्वि —२		१०६	२		१०४	१७
	५-७	← मूलोपबन्ध →							
प्रथमोपशम सम्यक्त्व	—	उदय योग्य—मिथ्यात्व, सूक्ष्म, अपर्याप्त, आप्तप, अनन्तानुबन्धी चतु, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, मिश्र, तीर्थकर, आहा द्विक, नारक-तिर्य-मनु आनु, सम्य, इन २२ के बिना सर्व = १००							
	४	अप्रत्या चतु, देव त्रिक, नरक गति व आयु, गौत्रि द्वि, दुर्भग, अनादेय, अयश —१४			१००			१००	१४
	५	प्रत्या चतु, तिर्य गति व आयु, नीच गोत्र, उद्योत —८			८६			८६	८
	६	स्थान त्रिक —३			७८			७८	३
	७	अशुभ सहनन —३			७५			७५	३
	८-११	← मूलोपबन्ध →							
द्वितीयोपशम सम्यक्त्व	—	उदय योग्य—नरक-तिर्य गति व आयु, नीच गोत्र, उद्योत इन ६ के बिना प्रथमोपशम की सर्व = ६४							
	४	अप्रत्या चतु, देव त्रिक, वैक्रि द्वि, दुर्भग, अनादेय, अयश —१२			६४			६४	१२
	५	प्रत्या चतु —४			८२			८२	४
	६	स्थान त्रिक —३			७८			७८	३
	७	तीनों अशुभ सहनन —३			७५			७५	३
	८-११	← मूलोपबन्ध →							
मिथ्यात्व	१	उदय योग्य १२२, अनुदय ५, व्युच्छित ५। विशेष दे मूलोप।							
सासादन	२	उदय योग्य ११२, अनुदय १, व्युच्छित ६। विशेष दे मूलोप।							
सम्यग्मिथ्यात्व	३	उदय योग्य १०२, अनुदय ३, व्युच्छित १। विशेष दे मूलोप।							
१३ सजी मार्गणा—(गो क/जी प्र ३३१/४८२/१)									
सद्यी	—	उदय योग्य—आप्तप, साधारण, स्थावर सूक्ष्म, १-४ इन्द्रिय, तीर्थकर, इन ६ के बिना सर्व १२२-६ = ११६							
	१	मिथ्यात्व, अपर्याप्त —२ सम्य, मिश्र, आ द्वि —४			११६	४		१०६	२
	२-१२	अनन्तानुबन्धी चतु —४ नरकानुपूर्वी —१			१०७	१		१०६	४
	३-१२	← मूलोपबन्ध →							
असंक्षी	—	उदय योग्य—मनु त्रिक, देव त्रिक, नरक त्रिक, वैक्रि द्वि, सृष्टिका रहित ५ सहनन, प्रशस्त विहा, उच्च गोत्र, सुभग, सुस्वर, आदेय, तीर्थ, मिश्र, सम्य, आहा द्वि, हुँडक रहित ५ संस्थान, इन ३१ के बिना सर्व— १२२-३१ = ९१							
	१	मिथ्या, आप्तप, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, स्थान त्रिक, परघात उद्योत उच्छ्वास, दुस्वर, अप्रशस्त विहा (पर्याप्त के उदय योग्य) —१३			९१			९१	१३
	२	← मूलोपबन्ध →							

मार्गणा	गुण स्थान	[व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ]	अनुदय	पुन उदय	उदय योग्य	अनुदय	पुन उदय	कुल उदय	व्युच्छिन्न
१४ आहारक मार्गणा—(गो क/जी प्र ३३१/४८३/३)									
आहारक	—	उदय योग्य—चार आनुपूर्वी के बिना सर्व—१२२-४ = ११८							
	१	आतप, सूक्ष्म, अपयामि, साधारण, मिथ्या —५	तीर्थ, आ द्वि मिश्र, स		११८	५		११३	५
	२	१-४ इन्द्रिय, स्थावर, अनन्ता चतु —६			१०८			१०८	६
	३	मिश्र मोह —१							
	४	आनु, चतु के बिना मूलोषवत् —१३	मिश्र मोह—१ सम्य —१		६६		१	१००	१
अनाहारक	५-१३	←	मूलोषवत्		६६		१	१००	१३
	—	उदय योग्य—निर्माण काय योगवत् —८६							
	१,२,३	कार्मण काय योगवत्							
	४	वै द्वि, बिना मूलाषके ४थे वाली —१५							
	१३	(समुद्रात् केवलीको) अन्यतम वेदनी, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श अगुरुलघु —१३							
	१४	←	मूलोषवत्						

४ सातिशय मिथ्यादृष्टिमे मूलोत्तर प्रकृतियोंके चार प्रकार उदयकी प्ररूपणा

संकेत—चतु —गुड़, खण्ड, शर्करा, [अमृत रूप चतु स्थानीय अनुभाग, द्वि —निम्ब व काकजीर रूप द्वि स्थानीय अनुभाग, अज —अजघन्य प्रदेशोदय । (घ ६/१, ६-८, ४/२०७-२१३)

न	प्रकृति	विशेषता	उदय	स्थिति	अनुभाग	प्रदेश
१-१	१ क्षानावरणी— पाँचों		है	१ समय	द्वि	अज
१-३	२ दर्शनावरणी— स्थान त्रिक		नहीं	१ समय	द्वि	अज
४	निद्रा	निद्रा व प्रचलामे अन्यतम	है	१ समय	द्वि	अज
५	प्रचला		है	१	"	"
६-६	शेष चारों		"	"	"	"
१	३ वेदनीय—		"	"	"	"
२	साता	दोनों में अन्यतम	है	१ समय	चतु	अज
३	असाता		"	"	"	"
४	मोहनीय—		"	"	"	"
१	(१) दर्शन मोह		है	१ समय	द्वि	अज
२-३	मिथ्याव		नहीं	१ समय	द्वि	अज
१-१६	सम्य मिश्र		है	१ समय	द्वि	अज
१७-१६	(२) चारित्र मोह		है	१ समय	द्वि	अज
२०-२१	१६ कपाय	अन्यतम	है	१ समय	द्वि	अज
२२-२३	३ वेद	"	"	"	"	"
२४-२५	हास्य-रति	दोनों युगलों में	"	"	"	"
	अरति शोक	अन्यतम युगल	"	"	"	"
	भय-क्रुण्णसा	है वा नहीं भी	"	"	"	"

न	प्रकृति	विशेषता	उदय	स्थिति	अनुभाग	प्रदेश
१	५ आयु—		नहीं	१ समय	द्वि	अज
२	नरक	चारों में अन्यतम	है	१ समय	द्वि	अज
३	तिर्यंच	"	"	"	"	"
४	मनुष्य	"	"	"	"	"
५	देव	"	"	"	"	"
६	नाम—		"	"	"	"
१	गति —		है	१ समय	द्वि	अज
२	नरक-तिर्यंच		"	"	"	"
३	मनुष्य-देव		"	"	"	"
४	जाति —		है	१ समय	चतु	अज
५	१-४ इन्द्रिय		नहीं	१ समय	चतु	अज
६	चेन्द्रिय	चारों गतियों में	है	१ समय	चतु	अज
७	शरीर —		"	"	"	"
८	औदारिक	मनुष्य व तिर्यंच	"	"	"	"
९	वै क्रियक	गति में	है	१ समय	चतु	अज
१०	आहारक	देव व नरक	है	१ समय	चतु	अज
११	तैजस	गति में	नहीं	१ समय	चतु	अज
१२	कार्मण	चारों गतियों में	है	१ समय	चतु	अज
१३	अगोपांग	"	स्व स्व	शरीरवत्	"	"
१४	निर्माण	चारों गतियों में	है	१ समय	चतु	अज
१५	गन्धन		स्व स्व	शरीरवत्	"	"
१६	संघात		स्व स्व	शरीरवत्	"	"
१७	संस्थान —		स्व स्व	शरीरवत्	"	"
१८	समचतुरस	देवगति में नियम से मनु तिर्यं गति में भाज्य	है	१ समय	चतु	अज

न	प्रकृति	विशेषता	ह्रस्व	उदय			न	प्रकृति	विशेष	ह्रस्व	उदय		
				स्थिति	अनुभाग	प्रदेश					स्थिति	अनुभाग	प्रदेश
६	हुँडक	नरक गतिमें नियमसे मनु तिर्य में भाज्य	है	१ समय	द्वि	अज	३८	स्थिर	चारों गतियोंमें अन्यतम	है	१ समय	चतु	अज
	शेष चार	मनु तिर्य में अन्यतम	"	"	"	"	३९	अस्थिर	"	"	"	द्वि	"
	सहनन—						४०	यश कीर्ति	सुभगवत् (देखो न २६)	"	"	चतु	"
	वज्र वृषभ नाराच	मनु तिर्य में अन्यतम	है	१ समय	चतु	अज	४१	अयश कीर्ति	दुर्भगवत् (देखो न २७)	"	"	द्वि	"
	शेष पाँच	"	"	"	द्वि	"	४२	तीर्थकर	नहीं	—	—	—	—
	१०-१३ स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण —		"	"	"	"	१	उच्च	देवोंमें नियमसे मनु में भाज्य	है	१ समय	चतु	अज
	प्रशस्त	चारों गतियोंमें	है	१ समय	चतु	अज	२	नीच	नरक तिर्य में नियमसे मनु में भाज्य	"	"	द्वि	"
	अप्रशस्त	"	"	"	द्वि	"	१-५	अन्तराय— पाँचों	चारों गतियोंमें	है	"	द्वि	"
	१४ आनुपूर्वी चतु		नहीं	१ समय	चतु	अज							
	१५ अगुल्लवृ	चारों गतियोंमें	है	१ समय	चतु	अज							
१६	उपधात	"	"	"	द्वि	"							
१७	परधात	"	"	"	चतु	"							
१८	आतप		नहीं	१ समय	चतु	अज							
१९	उद्योत	तिर्य गतिमें भाज्य	है	१ समय	चतु	अज							
२०	उच्छ्वास	चारों गतियोंमें	"	"	"	"							
२१	विहायोगति—												
	प्रशस्त	देवगतिमें नियम से मनु तिर्य में भाज्य	है	१ समय	चतु	अज							
	अप्रशस्त	नरकगति में नियमसे मनु तिर्य में भाज्य	"	"	द्वि	"							
	प्रत्येक	चारों गतियोंमें	है	१ समय	चतु	अज							
	साधारण		नहीं	१ समय	चतु	अज							
	प्रस		है	१ समय	चतु	अज							
	स्थावर		नहीं	—	—	—							
	सुभग	देवगतिमें नियम से मनु तिर्य में भाज्य	है	१ समय	चतु	अज							
	दुर्भग	नरकगति में नियमसे मनु तिर्य में भाज्य	"	"	द्वि	"							
			"	"	द्वि	"							
२२	सुस्वर	सुभगवत्	"	"	चतु	"							
२३	दु स्वर	दुर्भगवत्	"	"	द्वि	"							
२४	आदेय	सुभगवत्	"	"	चतु	"							
२५	अनादेय	दुर्भगवत्	"	"	द्वि	"							
२६	शुभ	चारों गतियोंमें अन्यतम	"	"	चतु	"							
२७	अशुभ		"	"	द्वि	"							
२८	मादर	चारों गतियोंमें	"	"	चतु	"							
२९	सूक्ष्म		नहीं	—	—	—							
३०	पर्याप्त	चारों गतियोंमें	है	१ समय	चतु	अज							
३१	अपर्याप्त		नहीं	—	—	—							

५. मूलोत्तर प्रकृति सामान्यकी उदय स्थान प्ररूपणा

१ मूल प्रकृतिस्थान प्ररूपणा

देखो अगला उत्तर शीर्षक सं २ 'मूलप्रकृति ओष प्ररूपणा'

क्रम	नाम प्रकृति	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति भग	विशेष विवरण	
१	ज्ञानावरण	१	५	१	पाँचोंका सर्वदा उदय रहता है
२	दर्शनावरण	२	४	१	चक्षु अचक्षु, अवधि व केवल चारोंका उदय
			५	५	अन्यतम पाँच निद्रा सहित उपरोक्त ४
					इस प्रकार पाँच प्रकृति सहित ५ भग हैं
३	वेदनीय	१	१	२	दोनों वेदनीयमें-से अन्यतम १ का उदय होनेसे १ प्रकृतिके दो भग हैं
४	मोहनीय	—	—	—	देखो आगे न ६ वाली पृथक् प्ररूपणा—
५	आयु	१	१	७	१-४ गुणस्थानमें अन्यतम आयु से ४ भग
					५ गुणस्थानमें मनु तिर्य, आयु से २ भग
					६-१४ गुणस्थानमें मनु आयुसे १ भग
६	नाम	—	—	—	दे आगे न ७ पृथक् प्ररूपणा—
७	गोत्र	१	१	३	१-५ गुणस्थानमें अन्यतमके उदयसे २ भग
					६-१४ गुणस्थानमें केवल उच्च का १ भग
८	अन्तराय	१	५	१	पाँचोंका निरन्तर उदय

२ मूल प्रकृति ओघ प्ररूपणा
(प स/प्रा ३/५ व १३), (प स/सं ४/८ व २२१)

गुण स्थान	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भग	प्रकृतियोंका विवरण	भगोंका विवरण
१	१	८	१	सर्व प्रकृति	×
२	१	८	१	"	×
३	१	८	१	"	×
४	१	८	१	"	×
५	१	८	१	"	×
६	१	८	१	"	×
७	१	८	१	"	×
८	१	८	१	"	×
९	१	८	१	"	×
१०	१	८	१	"	×
११	१	७	१	मोहनीय रहित सर्व	—७
१२	१	७	१	"	×
१३	१	४	१	आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय—४	×
१४	१	४	१	"	×

३ उत्तर प्रकृति ओघ प्ररूपणा

गुण स्थान	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भग	प्रकृतियोंका विवरण	भगोंका विवरण
-----------	-----------	---------------------	----------------	--------------------	--------------

१ हानावरणीय—(प स/प्रा ५/८), (घ १५/८१),
(गो क ६३०/८३१), (प स/सं ५/६)

१-१२	१	५	१	पाँचों प्रकृतियोंका उदय	निरन्तर उदय
------	---	---	---	-------------------------	-------------

२ दर्शनावरणी—(प स/प्रा ५/६), (घ १५/८१), (गो क ६३०/८३१),
(प स/सं ५/६)

१-१२	१	४	१	चक्षु, अक्षु, अवधि, केवल	चारोंका निरन्तर उदय
जागृत	१	५	५	चक्षुरादि चार+ अन्यतम निद्रा=५	अन्यतम निद्राके उदयसे ५ प्रकृतिके ५ भग
सुष					

३ वेदनीय—(प स/प्रा ५/१६-२०) (घ १५/८१), गो क ६३३-६३४/८३०) (प स/सं ५/२३-२४)

१-१३	१	१	२	माता असातामें अन्य-तमका ही उदय=१	अन्यतमोदयसे १ प्रकृतिके २ भग
------	---	---	---	----------------------------------	------------------------------

४ मोहनीय—नोट देखो आगे नं ६ वाली पृथक् प्ररूपणा—

५ आयु—(प स/प्रा ५/२१-२४), (घ १५/८६), (गो क ६४४/८३८),
(प स/सं ५/२५-३०)

१-४	१	१	४	अन्यतम एकका उदय	चारोंमें-से अन्य-तमका उदय होनेसे ४ भग
५	१	१	२	मनु व तिर्य मेंसे अन्यतमका उदय	दोनोंमें से अन्य-तमका उदय होनेसे २ भग
६-१४	१	१	१	केवल मनु आयुका उदय	

गुण स्थान	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भग	प्रकृतियोंका विवरण	भगोंका विवरण
-----------	-----------	---------------------	----------------	--------------------	--------------

६ नाम-नोट देखो आगे स ७ वाली पृथक् प्ररूपणा—

७ गोत्र—(प स/प्रा ५/१५-१८), (घ १५/८७), (गो क ६३५/८३३),
(प स/सं ५/१८-२२)

१-५	१	१	२	दोनोंमें अन्यतमका उदय	अन्यतमोदयसे २ भग
६-१४	१	१	१	केवल उच्च गोत्रका उदय	×

८ अन्तराय—प स/प्रा ५/८), (घ १५/८१), (गो क ६३०/८३१),
(प स/सं ५/६)

१-१२	१	५	१	पाँचों का निरन्तर उदय	×
------	---	---	---	-----------------------	---

६ मोहनीयकी सामान्य व ओघ उदयस्थान प्ररूपणा

१ भग निकालनेके उपाय

स्थान भग	उपाय
----------	------

१२ क्रोधादि चार कपायोंमें अन्यतम उदयके साथ अन्यतम वेदका उदय ४×३ = १२

२४ उपरोक्तवत् १२ भग या तो हास्य रति युगल सहित हों या अरति शोक युगल सहित हों १२×२ = २४

४८ उपरोक्त २४ भग या तो भय प्रकृति सहित हों या जुगुप्सा प्रकृति सहित हों २४×२ = ४८

सकेत—१ अनन्ता आदि ४—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व सज्जलन ये चार प्रकार क्रोध या मान या माया या लोभ ।

२ अप्रत्या आदि ३—अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, सज्जलन ये तीन प्रकार क्रोध या मान या माया या लोभ ।

३ अप्रत्या आदि २—प्रत्याख्यान व सज्जलन ये दो प्रकार क्रोध या मान या माया या लोभ ।

४ सज्जलन १—सज्जलन यह एक प्रकार क्रोध या मान या माया या लोभ ।

५ कपाय चतुष्क—क्रोध मान, माया, लोभ ये चारों ।

६ दो युगल—हास्य-रति व अरति शोक ।

७ उप—उपशम सम्यग्दृष्टि, क्षा—क्षायिक सम्यग्दृष्टि ।

८ वेदक—वेदक सम्यग्दृष्टि ।

२ कुल स्थान व भग

कुल स्थान—६ (प स/प्रा ५/२०-२२), (घ १५/८१) (गो क ६५६-६५६/८४६-८४८) (प स/सं ५/३८-४१) ।

प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भग	गुण स्थान	सम्यक्त्व विशेष	प्रकृति	भग	विशेषता
१	४	६	अवेदभाग	१	४	सज्जलन कपाय चतु में अन्यतम केवल सज्जलन लोभ (यह भग ऊपर वालों में ही गर्भित है)
		१०		१	१	

प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	विवरण				गुण स्थान	कुल उदय स्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	प्रकृतियों का विवरण	भर्गों का विवरण
		गुण स्थान	सम्यक्त्व विशेष	प्रकृति	भंग						
२	१२	६	सवेदभाग	२	१२	उपरोक्त ४x अन्यतम वेद ४x३=१२		६	४८	उपरोक्त ८+भय जुगुप्सा=६ अन्यतम १	६ भंग निकालने के उपाय
४	२४	६-७	क्षा व उप सम्यक्त्व	४	२४	देखो ऊपर नं १ में उपाय	२	३	७	उपरोक्त ८+भय और जुगुप्सा दानों	"
६	६६	६	"	६	२४	दे ओघ प्ररूपणा				अनन्ता आदि चतुष्क, अन्य- तम वेद १ अन्यतम युगल २=७	"
		६-७	वेदक सम्य	६	२४	"				उपरोक्त ७+भय या जुगुप्सा=८	"
		६-८	क्षा उप सम्य	६	४८	"				" , +भय और जुगुप्सा =६	"
६	१६८	४	"	६	२४	"	३	३	७	मिश्र १ अप्रत्या आदि ३, अन्य- तम वेद १, अन्यतम युगल २=७	"
		६	वेदक	६	२४	"				उपरोक्त ७+भय या जुगुप्सा=८	"
		"	क्षा उप सम्य	६	४८	"				" , +, और , =६	"
		६-७	वेदक	६	२४	"	४	३	७	सम्य १, अप्रत्या आदि ३ अन्य- तम वेद १, अन्यतम युगल २=७	"
७	२४०	"	क्षा उप सम्य	७	२४	"				उपरोक्त ७+भय या जुगुप्सा=८	"
		१	"	७	२४	"				" , +, और , =६	"
		३	"	७	२४	"				अप्रत्या आदि ३ अन्यतम वेद १, अन्यतम युगल २=६	"
		४	वेदक	७	२४	"	४	३	६	उपरोक्त ६+भय या जुगुप्सा=७	"
		"	क्षा उप सम्य	७	४८	"				" , +, और , =८	"
		६	वेदक	७	४८	"				प्रत्या आदि २, अन्यतम वेद १ अन्यतम युगल २, सम्य १=६	"
		"	क्षा उप	७	२४	"				उपरोक्त ६+भय या जुगुप्सा=७	"
		६-७	वेदक	७	२४	"	६	३	७	" , +, और , =८	"
"	२१६	१	"	८	२४	"				प्रत्या आदि २, अन्यतम वेद १ अन्यतम युगल २=६	"
		३	"	८	४८	"	६	३	६	उपरोक्त ६+भय या जुगुप्सा=६	"
		४	वेदक	८	४८	"				" , +, और , =७	"
		"	क्षा उप	८	२४	"				उपरोक्त ६+भय या जुगुप्सा=७	"
		६	वेदक	८	४८	"	६	३	६	" , +, और , =८	"
८	१४४	१	"	९	४८	"	६	३	६	प्रत्या आदि २, अन्यतम वेद १ अन्यतम युगल २=६	"
		२	"	९	२४	"				उपरोक्त ६+भय या जुगुप्सा=६	"
		४	वेदक	९	२४	"				" , +, और , =७	"
१०	२४	१	"	१०	२४	"	६	३	६	सम्य १, संज्वलन १, अन्यतम वेद १ अन्यतम युगल २=६	"
	१२८						६	३	६	उपरोक्त ६+भय या जुगुप्सा=६	"
							७	३	७	" , +, और , =७	"
							४	३	४	संज्वलन १, अन्यतम वेद १, अन्यतम युगल २=४	"
							६	३	६	उपरोक्त ६+भय या जुगुप्सा=६	"
							७	३	७	" , +, और , =७	"
							४	३	४	उपरोक्त ६+भय या जुगुप्सा=६	"
							६	३	६	" , +, और , =८	"
							७	३	७	उपरोक्त ६+भय या जुगुप्सा=६	"
							४	३	४	" , +, और , =७	"
							६	३	६	उपरोक्त ६+भय या जुगुप्सा=६	"
							७	३	७	" , +, और , =७	"
							४	३	४	उपरोक्त ६+भय या जुगुप्सा=६	"
							६	३	६	" , +, और , =८	"
							७	३	७	उपरोक्त ६+भय या जुगुप्सा=६	"
							४	३	४	" , +, और , =७	"

७ नाम कर्मकी उदय स्थान प्ररूपणाएँ

१. युगपत् उदय आने योग्य विकल्प तथा सकेत

क्रम	सकेत	अर्थ	विवरण
१	धु.१२	धु.बोदयी १२	तैजस, कामाणि, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ अगुरुलघु, निर्माण — १२
२	यु.८	युगल ८	चारगति, पाँच जाति, त्रस-स्थावर बादर सूक्ष्म पर्याप्त अपर्याप्त, सुभग दुर्भग, आदेय-अनादेय, यश अयश (इन ८ युगलों की २१ प्रकृतियों में से प्रत्येक युगलकी अन्यतम एक एक करके युगपत् ८ ही उदय में आती हैं) — २१
३	आनु/१	आनुपूर्वी १	विग्रह गति में चारों आनुपूर्वियों में से अन्यतम एक ही उदय में आती है — ४
४	श/३	शरीर आदि-की तीन	आहा, वैक्रि आहा यह तीन शरीर ६ स्थान प्रत्येक-साधारण इन ३ समूहों की ११ प्रकृतियों में से प्रत्येक समूहकी अन्यतम एक एक करके युगपत् ३ का ही उदय होता है — ११
५	उप/१	उपघातादि १	उपघात व परघात इन दोनों में से अन्यतम एकका ही उदय आवे — २

क्रम	सकेत	अर्थ	विवरण
६	अग/२	अगोपांग आदि २	तीन अगोपांग तथा छह संहनन में से अन्यतम अगोपांग तथा अन्यतम एक संहनन इस प्रकार इन ६ प्रकृतियों में से युगपत् २ का ही उदय होता है — ६
७	आतप/२	आतपादि २	आतप-उद्योत, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायो, इन दो युगलों की चार प्रकृतियों में से प्रत्येक युगलकी अन्यतम एक-एक करके युगपत् २ ही का उदय होय — ४
८	उच्छ/२	उच्छ्वासादि २	उच्छ्वास, सुस्वर, दुस्वर, इन तीन प्रकृतियों में से एक उच्छ्वास तथा अगली दो में अन्यतम एक करके युगपत् २ ही का उदय होय — ३
९	तीर्थ/१	तीर्थकर/१	तीर्थकर प्रकृति किसीको उदय आवे किसीको नहीं — १

नोट—वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श इनके २० भेदों का ग्रहण न करके केवल मूल ४ का ही ग्रहण है, अतः १६ तो ये कम हुई। मन्थन ५ व सघात ५ ये १० स्व-स्व शरीरों में गर्भित हो गयीं, अतः १० ये कम हुई। नाम कर्मकी कुल ६३ प्रकृतियों में से ये २६ कम कर देने पर कुल उदय योग्य ६७ रहती हैं, जिनके उदयके उपरोक्त ६ विकल्प हैं।

२. नाम कर्मके कुछ स्थान व भग

प्रमाण—(पं सं / मा ५/६७-१००), (घ १५/८६-८७) (गो क ५६३-५६७/७६५-८०२), (गो क / यु व टी ६०३-६०५/८०६-८११),

(प सं/सं ५/११२ १६८) सकेत—ये उदय ६/७/१, कामाणि काल आदि—ये उदय ६/७/६ कुल स्थान— १२

विकल्प स	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	विवरण			भगों का विवरण	
			स्वामित्व	प्रकृति भंग	प्रकृतियों का विवरण		
१	२०	१	सामान्य समुद्रघात केवलीके प्रतर व लोकपूर्ण का कामाणि काल	२०	१	ध्रुव/१२+यु/८ (मनु गति, पंचे जाति त्रस, बादर, पर्याप्ति, सुभग, आदेय यश) =२०	४ आनुपूर्वमें अन्यतम
२	२१	५	चारों गतियों सम्बन्धी वक्रविग्रह-गति का कामाणि काल	२१	४	ध्रुव/१२+यु/८+आनुपूर्वी/१(अन्यतम आनु) =२१	
३			तीर्थकर केवलीका कामाणि काल	२१	१	ध्रुव/१२+यु/८+तीर्थ/१ =२१	
४	२४	१	एकेन्द्रिय अपर्याप्तके मिश्र शरीर-का काल	२४	१	ध्रुव/१२+यु/८+श/३+उप/१ =२४	
५	२५	३	एकेन्द्रियका शरीर पर्याप्ति काल	२५	१	उपरोक्त २४+परघात =२५	आतप उद्योतमें अन्यतम
६			आहारक शरीरका मिश्र काल	२५	१	ध्रुव/१२+यु/८+श/३+उपघात+अग/१ (आहा) =२५	
७			देव नारकके शरीरोंका मिश्र काल	२५	१	ध्रुव/१२+यु/८+श/३+उपघात+अग/१ (वैक्रि) =२५	
८	२६	६	एकेन्द्रियका शरीर पर्याप्ति काल	२६	२	ध्रुव/१२+यु/८+श/३+उपघात+परघात+आतप या उद्योत =२६	
९			एकेन्द्रियका उच्छ्वासपर्याप्ति काल	२६	१	ध्रुव/१२+यु/८+श/३+उपघात+परघात+उच्छ्वास =२६	

विक्रम सं	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भग	विवरण		भंगोंका विवरण
			स्वामित्व	प्रकृतियोंका विवरण	
१०			२-६ इन्द्रिय सामान्य तिर्य मनु व निरतिशय केवलीका औदारिक मिश्र काल	२६ ६ ध्रुव/१२+यु ८+श/३+उपधात+औदा अगोपीग+अन्यतम सहनन -२६	अन्यतम सहननसे ६ भग होते हैं
११	२७	६	आहारक शरीर पर्याप्ति काल	२७ १ ध्रुव/१२+यु ८+श/३+उपधात+परधात+आहा अग+प्रशस्त विहायो -२७	
१२			तीर्थंकर समुद्रात केवलीका औ मिश्र काल	२७ १ ध्रुव/१२+यु ८+श/३+उपधात+औ अग+वज्रश्रपम नाराचसहनन+तीर्थंकर-२७	
१३			देव नारकीका शरीर पर्याप्ति काल	२७ २ ध्रुव/१२+यु ८+श/३+उप +परधात+वैक्रि अग+देवके प्रशस्त व नारकीके अप्रशस्त विहायो	प्रशस्त अप्रशस्त विहायो में अन्यतम आतप उद्योतमें
१४			एकेन्द्रियका उच्छ्वास पर्याप्तिकाल	२७ २ ध्रुव/१२+यु ८+श/३+उपधात+परधात +उच्छ्वास+आतप या उद्योत -२७	अन्यतम
१५	२८	१७	सामान्य मनुष्य और मूलशरीरमें प्रवेश करता सामान्य केवलीका शरीर पर्याप्ति काल	२८ १२ ध्रुव/१२+यु ८+श/३+उपधात+परधात +औ अग+अन्यतम सहनन+अन्यतम विहायो -२८	६ सहनन×२ विहायो में अन्यतम युगल
१६			२-६ इन्द्रियका शरीर पर्याप्ति काल	२८ २ ध्रुव/१२+यु ८+श/३+उप +परधात+औ अग +असंप्राप्त सृपाटिकासहनन+अन्यतम विहायो	२ विहायोगतिमें अन्यतम
१७			आहारकका उच्छ्वास पर्याप्ति काल	२८ १ ध्रुव/१२+यु ८+श/३+उपधात+परधात +आहा अग+उच्छ्वास+प्रशस्त विहायो	
१८			देव नारकीका उच्छ्वास पर्याप्ति काल	२८ २ ध्रुव/१२+यु ८+श/३+उपधात+परधात+ वैक्रि अग+उच्छ्वास+देवकी प्रशस्त और नारकीकी अप्रशस्त विहायो -२८	२ विहायो में अन्यतम
१९	२९	२०	सामान्य मनुष्य व मूल शरीरमें प्रवेश करते केवलीका उच्छ्वास पर्याप्ति काल	२९ १२ ध्रुव/१२+यु ८+श/३+उपधात+परधात औ अग+अन्यतम सहनन+अन्यतम विहायो +उच्छ्वास -२९	६ सहनन×२ विहायो में अन्यतम युगल
२०			२-६ इन्द्रियका शरीरपर्याप्ति काल	२९ २ ध्रुव/१२+यु ८+श/३+उपधात+परधात +उद्योत+औ भंग+असंप्राप्त सृपाटिका सहनन+अन्यतम विहायो -२९	२ विहायोमें अन्यतम
२१			२-६ इन्द्रियका उच्छ्वासपर्याप्ति काल	२९ २ उपरोक्त २९-उद्योत+उच्छ्वास -२९	"
२२			समुद्रात तीर्थंकरका शरीर पर्याप्ति-काल	२९ १ ध्रुव/१२+यु ८+श/३+उपधात+परधात +औ अग+वज्र श्रपम नाराच सहनन+ प्रशस्त विहायो +तीर्थंकर -२९	
२३			आहारक शरीरका भाषा पर्याप्ति काल	२९ १ ध्रुव/१२+यु ८+श/३+उपधात+परधात+ आहा अग+उच्छ्वास+प्रशस्त विहायो +सुस्वर -२९	
२४			देव नारकीका भाषा पर्याप्ति काल	२९ २ ध्रुव/१२+यु ८+श/३+उपधात+परधात +वैक्रि अग+उच्छ्वास+देवकी प्रशस्त और नारकीकी अप्रशस्त विहायो+देवका सुस्वर और नारकीका दु स्वर -२९	देव व नारकीके दो विक्रम
२५	३०	६	२-६ इन्द्रियका उच्छ्वास पर्याप्ति काल	३० २ ध्रुव/१२+यु ८+श/३+उपधात+परधात +उद्योत+औ अग+असंप्राप्त सृपाटिका सहनन+अन्यतम विहायो +उच्छ्वास-३०	२ विहायो में अन्यतम
२६			२-४ इन्द्रिय तथा सामान्य पचेन्द्रिय व सामान्य मनुष्यका भाषा पर्याप्ति काल	३० ४ ध्रुव/१२+यु ८+श/३+उपधात+परधात औ अग+सृपाटिका सहनन+अन्यतम-विहायो+उच्छ्वास+अन्यतम स्वर -३०	२ विहायो व २ स्वर में अन्यतम
२७			समुद्रात तीर्थंकरका उच्छ्वास पर्याप्ति काल	३० १ ध्रुव/१२+यु ८+श/३+उपधात+परधात +औ अग+वज्र श्रपम नाराच+प्रशस्त विहायो +तीर्थ +उच्छ्वास -३०	
२८			सामान्य समुद्रात केवलीका भाषा पर्याप्ति काल	३० २ उपरोक्त विक्रमकी ३०-तीर्थंकर+अन्यतम स्वर -३०	२ स्वरोंमें अन्यतम

विकल्प स	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भग	विवरण		भगों का विवरण		
			स्वामित्व	प्रकृति			
२६	३१	६	तीर्थङ्कर केवलीका भाषा पर्याप्ति काल	३१	१	ध्रुव/१२+यु/८+श/३+उपघात + परघात + औ अग+वप्राप्तपभ नाराच+प्रशस्त विहायो + तीर्थङ्कर+उच्छ्वास+सुस्वर = ३१	२विहायो. व २स्वरो में अन्यतम युगल
३०			२-६ इन्द्रियका भाषा पर्याप्ति काल	३१	४	ध्रुव/१२+यु/८+श/३+उपघात + परघात + उच्चात+औ अग+सृपाटिका+अन्यतम-विहायो + उच्छ्वास+अन्यतम स्वर = ३१	
३१	८	१	अयोग केवली सामान्यके उदय योग्य	८	१	मनु गति+पचेन्द्रिय जाति+सुभग+आदेय +यश कीर्ति +प्रस+भादर पर्याप्ति = ८	
३२	६	१	अयोग केवली तीर्थङ्करके उदययोग्य	६	१	उपरोक्त विकल्पको ८+तीर्थङ्कर = ६	

३५ नाम कर्म उदय स्थानोंकी ओघ आदेश प्ररूपणा

नोट—प्रत्येक स्थानमें प्रकृतियोंका विवरण देखो इसी प्रकारका न २ "नाम कर्मके कुल स्थान व भग"। प्रति स्थान भग यथायोग्य रूपसे लगा लेना। विशेषके लिए दे आगे ६ उदय कालोंकी अपेक्षा सारणी न ७

क्रम	गुण स्थान	कुल स्थान	स्थान विशेष
------	-----------	-----------	-------------

३ उदय स्थान ओघ प्ररूपणा

(पं सं / प्रा ४/४०२-४१७) (गो क ६६२-७०३/८७२-८७७), (प स/स ४/४१६-४२८)

१	मिथ्यात्व	६	२१, २४, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१
२	साक्षादन	७	२१, २४, २६, २६, २६, ३०, ३१
३	सम्यग्मिथ्यात्व	३	२६, ३०, ३१
४	अविरत सम्य	८	२१, २६, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१
५	विरताविरत	२	३०, ३१
६	प्रमत्त सयत	६	२६, २७, २८, २९, ३०
७	अप्रमत्त सयत	१	३०
८	अपूर्व करण	१	३०
९	अनिवृत्ति करण	१	३०
१०	सूक्ष्म साम्पराय	१	३०
११	उपशान्त कपाय	१	३०
१२	क्षीण कपाय	१	३०
१३	सयोग केवली सामान्य	१	३०
१४	सयोग केवली तीर्थङ्कर	१	३१
१५	अयोग केवली सामान्य	१	८
१६	अयोग केवली तीर्थङ्कर	१	६

क्रम	जीव समास	कुल स्थान	स्थान विशेष
------	----------	-----------	-------------

४ उदय स्थान जीव समास प्ररूपणा

(पं सं / प्रा ४/२६८-२८०), (गो क ७०४-७११/८७८-८८१)

१	सम्यगपर्याप्ति		
	सूक्ष्म भादर एकेन्द्रिय	२	२१, २४
	विकलेन्द्रिय	२	२१, २६
	सक्षी अमक्षी पचे,	२	"
२	पर्याप्ति		
	सूक्ष्म एकेन्द्रिय	४	२१, २४, २६, २६
	भादर एकेन्द्रिय	६	२१, २४, २६, २६, २७
	विकलेन्द्रिय	६	२१, २६, २८, २९, ३१
	असक्षी पचेन्द्रिय	६	"
	सक्षी पचेन्द्रिय	८	२१, २६, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१

क्रम	मार्गणा स्थान	कुल स्थान	स्थान विशेष
------	---------------	-----------	-------------

५ उदय स्थान आदेश प्ररूपणा

प्रमाण सामान्य (प स/प्रा व स), (गो क ७१२-७३८/८८१/८८६),
१ गति मार्गणा—(प स/प्रा ४/६७-१६० ४१६-४२६) (प सं/स ४, ११२-२२० ४३१-४३६)

१	नरक गति	६	२१, २४, २७, २८, २९
२	तिर्यच गति	६	२१, २४, २६, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१
३	मनुष्य गति	११	२०, २१, २६, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ८, ६,
४	देव गति	६	२१, २६, २७, २८, २९

२ इन्द्रिय मार्गणा—(प स/प्रा ४/१६२-१६४, ४२६-४३१) (प स, स ४/४३७-४४१)

१	एकेन्द्रिय सामान्य	६	२१, २४, २६, २६, २७
२	विकलेन्द्रिय	६	२१, २६, २८, २९, ३०, ३१
३	पचेन्द्रिय	१०	२१, २६, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ६, ८

३ काय मार्गणा—(प सं/प्रा ४/१६४, ४३२-४३४)

१	पृथिवी, अप मनस्पति	६	२१, २४, २६, २६, २७
२	तेज वायु कायिक	४	२१, २४, २६, २६
३	प्रस	१०	२१, २६, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ६, ८

४ योग मार्गणा—(प सं/प्रा ४/१६६-१६६, ४३६-४४०)

१	चारों मनोयोग	३	२६, ३०, ३१ (पचेन्द्रिय सक्षी पर्याप्ति वत्)
२	संय असंय उभय वचन	३	२६, ३०, ३१ (पचेन्द्रिय सक्षी पर्याप्ति वत्)
३	अनुभव वचन योग	३	२६, ३०, ३१ (प्रस पर्याप्ति वत्)
४	औदारिक काय योग	७	२६, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, (प्रस पर्याप्ति वत्)
५	औदारिक मिश्रकाययोग	३	२४, २६, २७ (सार्ता अपर्याप्ति वत्)
६	कार्माण काय योग	२	२०, २१
७	वैक्रिय काय योग	३	२७, २८, २९
८	वैक्रिय मिश्रकाय योग	१	२६
९	आहारक काय योग	३	२७, २८, २९
१०	आहारक मिश्र योग	१	२६

५ वेद मार्गणा—(प सं/प्रा ४/२००, ४४१)

१	स्री वेद	८	२१, २६, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१
२	पुरुष वेद	८	"
३	नपुंसक वेद	६	२१, २४, २६, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१

क्रम	मार्गणा स्थान	कुल स्थान	स्थान विशेष	क्रम	मार्गणा व स्थान	कुल स्थान	स्थान विशेष
६ कपाड मार्गणा—(पं स /प्रा ६/२००, ४४२)				१० लेण्या मार्गणा—(प स /प्रा २०४, ४५५-४५८)			
१	क्रोधादि चारों कपाय	६	२१, २४, २६, २६, २७, २८, २६, २०, ३१	१	कृष्ण नील कापीत	६	२१, २४, २६, २६, २७, २८, २६, २०, ३१
७ ज्ञान मार्गणा—(पं स /प्रा ६/२०१, ४४३-४४६)				२	पीत, पथ	७	२१, २६, २७, २८, २६, २०, ३१
१	मति श्रुत अज्ञान	६	२१, २४, २६, २६, २७, २८, २६, २०, ३१	३	शुक्ललेश्या सामान्य	७	"
२	विमग ज्ञान	३	२६, ३०, ३१	"	(केवली समुद्रात)	८	२०, २१, २६, २६, २७, २८, २६, २०, ३१
३	मति श्रुत अवधि ज्ञान	८	२१, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१	११	भव्य मार्गणा—(पं स /प्रा ६/२०६, ४५६-४६०)		
४	मन पर्याय ज्ञान	१	३०	१	भव्य	१२	२०, २१, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ६, ८
५	केवल ज्ञान	१०	२०, २१, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ६, ८	२	अभव्य	६	२१, २४, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१
८ स्यम मार्गणा—(प स /प्रा ६/२०२ २०३, ४४७-४५३)				१२	सम्यक्त्व मार्गणा—(प स /प्रा ६/२०५-२०६, ४६१-४६६)		
१	सामायिक छेदोपस्था	६	२६, २७, २८, २६, ३०	१	क्षायिक सम्यक्त्व	११	२०, २१, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ६, ८
२	परिहार विमुद्धि	१	३०	२	वेदक	८	२१, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१
३	सूक्ष्म साम्पराय	१	३०	३	उपशम	६	२१, २६, २६, ३०, ३१
४	यथा ख्यात (दृष्टि न १)	४	३०, ३१, ६, ८	४	सम्यग्मिध्याय	३	२६, ३०, ३१
	(दृष्टि नं २)	१०	२०, २१, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ६, ८	५	सासादन	७	२१, २४, २६, २६, २६, ३०, ३१
५	देश समय	२	३०, ३१	६	मिध्या दृष्टि	६	२१, २४, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१
६	असंयम	६	२१, २४, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१	१३ सद्गी मार्गणा—(प स/प्रा ६/२०६, ४६७-४६६)			
९ दर्शन मार्गणा—(प स /प्रा ६/२०३-२०४, ४५४)				१	संज्ञी	८	२१, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१
१	चक्षु दर्शन	८	२१, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१	२	असंज्ञी	७	२१, २४, २६, २६, २६, ३०, ३१
२	अचक्षु दर्शन	६	२१, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१	१४ आहारक मार्गणा—(पं स /प्रा ६/२०७, ४७०-४७२)			
३	अवधि दर्शन	८	२१, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१	१	आहारक	८	२४, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१
४	कवल दर्शन	१०	२०, २१, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ६, ८	२	अनाहार सयोगी	२	२०, २१
					अयोगी	२	६, ८

६ पाँच उदय कालोकी अपेक्षा नामकर्मोदय स्थानोकी चतुर्गति प्ररूपणा

(पं स /प्रा ६/६७ १६०); (प २, १, ११/७/३३-४६), (घ १६/८१-६७), (गा क ६६२-७३८/८८१-८६४), प स /सं ६/११२-२२०)

प्रमाण प सं / गा	मार्गणा	उदय काल	भंग	प्रकृतियोंका विवरण	भगोंका विवरण
१ नरक गति युक्त—उदय योग्य—३०, उदय स्थान—५ (२१, २५, २७, २८, २९), कुल भग—५					
६६	नारक सामान्य	कामाणि काल	२१	१	नरक गति, पचे जाति, तैजस कामाणि शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, त्रस, बादर, पर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति, निर्माण—२०+नारकानुपूर्वी—२१
१०१		मिश्र शरीर	२५	१	उपरोक्त २०+वैकि द्वि, उपघात, हुडक, प्रत्येक—२५
१०३		शरीर पर्या	२७	१	उपरोक्त २५+परघात, अप्रशस्त विहाया—२७
१०४		उच्छ्वास	२८	१	उपरोक्त २७+उच्छ्वास—२८
१०५		भाषा पर्या	२९	१	उपरोक्त २८+दु स्वर—२९
२ तिर्यच गति युक्त—उदय योग्य—५३, उदय स्थान—९ (२१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१), कुल भग—८९९०					
१६२	एकेन्द्रिय सामान्य	उदय योग्य—३२ उदय स्थान—६ (२१, २४, २६, २६, २७)	२१	१	एकेन्द्रिय सामान्य—उदय योग्य—३२ उदय स्थान—६ (२१, २४, २६, २६, २७), कुल भग—२४+८=३२
११०	उपरोक्त सामान्य	कामाणि काल	२१	६	आतप उद्योत रहित एकेन्द्रिय—उदय योग्य—३१ उदय स्थान—४ (२१, २४, २४, २६), कुल भंग—२४
११३		मिश्र शरीर	२४	६	तिर्यच गति एके जाति, तैजस कामाणि शरीर, अगुरुलघु, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, निर्माण—१६+(सूक्ष्म-बादर पर्याप्त-अपयसि, यश-अयश) इन ३ युगलों में अन्यतम एक एक तथा स्थावर यह ४। १६+४=२०+तिर्यगानुपूर्वी—२१
					उपरोक्त २०+औ शरीर, हुडक उपघात, प्रत्येक या साधारण—२४
					यश के साथ केवल बादर—१ अयश के साथ बादर, सूक्ष्मके पर्याप्त अपयसि इस प्रकार—४ १+४=५ अयशकी उपरोक्त ४+प्रत्येक व साधारण+यशके साथ केवल प्रत्येक—६

प्रमाण पं. स. गा	मार्गणा	उदय काल	स्थान	भग	प्रकृतियोंका विवरण	भगोंका विवरण
११५		शरीर पर्या काल	२५	१	उपरोक्त १६+पर्याप्त, (सूक्ष्म बादर, यश-अयश) इन २ युगलोंमें अन्यतम एक एक, स्थावर, औदा शरीर, हुडक, उपघात, परघात, प्रत्येक या साधारण —२५	अयशके साथ सूक्ष्म, बादर, प्रत्येक साधारणके ४ भग तथा यशके साथ बादर प्रत्येकका केवल एक भग —१
११६		उच्छ्वास "	२६	५	उपरोक्त २५+उच्छ्वास —२७	"
		—	—	२४		
		उदय योग्य=३०, उदय स्थान=४ (११,२४,२६,२७) कुल भंग=८+४ पुनरुक्त=१२				
११८	आतप उद्योत सहित एकेन्द्रिय सामान्य	कामाणि काल	२१	२*	उद्योत रहित की उपरोक्त १६+बादर, पर्याप्त, स्थावर, तिर्यगानुपूर्वी —२० यश या अयश —२१	यश या अयश (ये भग ऊपर वहे जा चुके हैं)
"		मिश्र शरीर "	२४	२*	उपरोक्त २१+औ शरीर, हुडक, उपघात, प्रत्येक —२५- तिर्य आनु —२४	"
११९		शरीर पर्या "	२६	४	उपरोक्त २४+परघात, आतप या उद्योत —२६	यश, अयश+आतप, उद्योत
१२०		उच्छ्वास "	२७	४	उपरोक्त २६+उच्छ्वास —२७	"
		—	—	८		
					*नोट —२१ व २४ के दो दो भग आतप उद्योत सहित एकेन्द्रियमें गिने जा चुके हैं अत पुनरुक्त हैं ।	

विकनेन्द्रिय सामान्य—उदय योग्य=३४ उदय स्थान=६ (२१,२६,२८,२९,३०,३१), कुल भंग=५४

१२२	उद्योत रहित	सामान्य	५	३६	उदय स्थान=५ (२१,२६,२८,२९,३०), भंग=१२×३=३६	
"	उद्योत सहित	सामान्य	५	१८	उदय स्थान=५ (२१,२६,२९,३०,३१), भंग=६×३=१८	
१२३	उद्योत रहित द्वीन्द्रिय	कामाणि काल	२१	३	तिर्य गति, द्वीन्द्रिय जाति लैजस कामाणि शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अणुरूप, त्रस, बादर, स्थिर, अस्थिर, शुभ अशुभ, दुर्भग, अनादेय, निर्माण यह १८+पर्याप्त या अपर्याप्त, यश या अयश इस प्रकार २०+तिर्य आनु —२१	अयशके साथ पर्याप्त, अपर्याप्त २ भग और यशके साथ केवल पर्याप्तका १ भंग —३
१२६		मिश्र शरीर काल	२६	३	उपरोक्त २० (२१-आनु)+औ शरीर हुडक, सृपाटिका, औ अगोपांग, प्रत्येक, उपघात, —२६	"
१२८		शरीर पर्याप्त काल	२८	२	उपरोक्त २१ में से १८+पर्याप्त, उपघात, औ शरीर अगोपांग, हुडक सृपाटिका, प्रत्येक, परघात, अप्रशस्त विहायो यश या अयश —२८	यश या अयश सहित
१२९		उच्छ्वास पर्याप्त काल	२९	२	उपरोक्त २८+उच्छ्वास —२९	"
१३०			३०	२	उपरोक्त २९+दुस्वर —३०	"
१३१	उद्योत सहित द्वीन्द्रिय	कामाणि काल	२१	२*	उद्योत रहित उपरोक्त १८+पर्याप्त, तिर्यगानु, यश या अयश —२१	यश या अयश सहित
"		मिश्रशरीर काल	२६	२*	उपरोक्त १८+पर्याप्त, औ शरीर, अगोपांग, हुडक, सृपाटिका, प्रत्येक, उपघात, यश या अयश —२६	" (यह २,२ भंग उद्योत रहितमें आ चुके हैं)
१३२		शरीर पर्याप्त ,,	२९	२	उपरोक्त २६+परघात उद्योत अप्रशस्त विहायो —२९	यश व अयश सहित
१३३		उच्छ्वास ,,	३०	२	उपरोक्त २९+उच्छ्वास —३०	"
१३४		भाषा ,,	३१	२	उपरोक्त ३०+दुस्वर —३१	"
१३५	त्रीन्द्रिय चतु-रिन्द्रिय उद्योत रहित		६	१२	द्वीन्द्रियवत्	द्वीन्द्रियवत्

उद्योत सहित पंचेन्द्रिय सा—उदय योग्य=३६, उदय स्थान=६ (२१,२६,२८,२९,३०,३१), कुल भंग=४६०६

१३८ उद्योत रहित—उदय योग्य=३८; उदय स्थान=५ (२१,२६,२८,२९,३०), भंग=२६०२

" उद्योत सहित—उदय योग्य=३६, उदय स्थान=५ (२१,२६,२९,३०,३१), भंग=२३०४

प्रमाण पं.सं./ गा	मार्गणा	उदय काल	मं.	मंग	प्रकृतियों का विवरण	भगों का विवरण
१३६	उद्योत रहित पंचेन्द्रिय	कर्मणि काल	२१	६	तिर्य गति पंचेन्द्रिय जाति, तैजस कामणि शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, प्रस, बादर, स्थिर, अस्थिर, धुम, अशुभ, निर्माण, १६+सुभग दुर्भग, यश-अयश, पर्याप्त-अपर्याप्त, आदेय-अनादेय इन ४ युगलों में अन्य- तम एक-एक=२०+तिर्यगानुपूर्वी —२१	पर्याप्त के साथ तो सुभग, यश व आदेय इन तीन युगलों में-से कोई भी एक एकका उदय सम्भव है अतः पर्याप्त के भग=२०×२=८ और अपर्याप्त के साथ केवल दुर्भग, अयश व अनादेय का एक भग —६
१४२		मिश्रशरीर काल	२६	२८६	उपरोक्त २०+औ शरीर, अगोपांग, ६ सस्थानों में-से अन्यतम, छ सहननों में-से अन्यतम, उपघात, प्रत्येक —२६	उपरोक्त पर्याप्त के ८×६×६=२८८ अपर्याप्त का उपरोक्त १ सृष्टिका व हु डक के साथ केवल १ भग पर्याप्त के उपरोक्त २८८×२ विहायो गति —६७६
१४५		शरीर पर्या काल	२८	६७६	२१ वाले स्थान की उपरोक्त १६+पर्याप्त, सुभग-दुर्भग, यश-अयश, आदेय-अनादेय में-से अन्यतम एक-एक करके तीन, प्रशस्त या अप्रशस्त विहायो में अन्यतम, परघात, औ शरीर, अगोपांग, ६ सस्थानों में अन्यतम, ६ सहननों में अन्यतम, उपघात, प्रत्येक —२८	
१४७		उच्छ्वास पर्या काल	२६	६७६	उपरोक्त २८+उच्छ्वास —२६	"
१४८		भाषा पर्या काल	३०	११५२	उपरोक्त २६+सुस्वर-दु स्वर में अन्यतम —३०	उपरोक्त ६७६×२ स्वर=११५२
		कूल भग		२६०२		
	उद्योत सहित पंचेन्द्रिय	कामणि काल	२१	८*	उद्योत रहित पंचेन्द्रिय वत परतु अपर्याप्त के भंग रहित —२१	पर्याप्त सहित ३ युगल के ८ भंग —८
		मिश्र शरीर ,,	२६	२८८*	उपरोक्त २१+उपघात, प्रत्येक व ६ सस्थान, ६ सहननों में अन्यतम	उपरोक्त ८×६×६ (संस्थान, सहनन) —२८८
		शरीर पर्या ,,	२६	६७६	उपरोक्त २६+परघात, उद्योत, प्रशस्ताप्रशस्त विहायो में अन्यतम —२६	उपरोक्त २८८×२ विहायो —६७६
		उच्छ्वास पर्या काल	३०	६७६	उपरोक्त २६+उच्छ्वास —६७६	
		भाषा पर्या काल	३१	११५२	उपरोक्त ३०+सुस्वर या दुस्वर —३१	उपरोक्त ६७६×स्वर द्वय=११५२
		सर्व भंग		२३०४	(२१ व २६ वाले दोनों के भंग उद्योत रहित पंचेन्द्रिय में गिना दिये जाने से पुनरुक्त हैं। अतः यहाँ नहीं जोड़े)	
	३ मनुष्य गति					
१५६	मनुष्य सामान्य	उदय योग्य	४६		उदय स्थान=११ (२०,२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३१,५,६) कुल भग=२६०६	
१५७	आहारक शरीर रहित मनुष्य	उदय योग्य	४७		उदय स्थान=५ (२१,२५,२८,२९,३०), कुल भग=२६०२	
१६०		कामणि काल	२१	६	मनुष्य गति, पंचे जाति, तैजस कामणि शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श अगुरुलघु, प्रस, बादर, स्थिर, अस्थिर, धुम अशुभ, निर्माण=१६+सुभग-दुर्भग, यश-अयश, पर्याप्त अपर्याप्त, आदेय-अनादेय में अन्यतम=२०+मनु आनु —२१	पर्याप्त के साथ तो सुभगादि तीन युगलों में अन्यतम होते हैं २× २×२=८ भंग और अपर्याप्त के केवल दुर्भग, अयश व अनादेय सहित —६
१६३		मिश्रशरीर काल	२६	२८६	उपरोक्त २० (२१-आनु)+औदा शरीर व अगोपांग उपघात, प्रत्येक, ६ सस्थान व ६ सहननों में अन्यतम —२६	पर्याप्त के उपरोक्त ८×६ सस्था, ६ सहनन=२८८ तथा अपर्याप्त- का केवल उपरोक्त १ सृष्टिका व हु डक सहित —२८८
१६६		शरीर पर्या काल	२८	६७६	२१ वाले स्थान में उपरोक्त १६+पर्याप्त, परघात=१८+ सुभग दुर्भग, यश-अयश, आदेय-अनादेय, ६ सस्थान, ६ सहननों में अन्यतम, औ शरीर अगोपांग, उपघात, प्रत्येक, अन्यतम विहायो —२८	सुभग यश, आदेय, सस्थान, सहनन, विहायो, इन युगलों- के परस्पर गुणन से २×२×२× ६×६×२ —६७६
१६८		उच्छ्वास पर्या काल	२६	६७६	उपरोक्त २८+उच्छ्वास —२६	"
१६९		भाषा पर्या काल	३०	११५२	उपरोक्त २६+सुस्वर या दुस्वर —३०	उपरोक्त ६७६×स्वर द्वय=११५२
				२६०२		

प्रमाण पं.स./ गा	मार्गणा	उदय काल	पं. सं.	भंग	प्रकृतियाँका विवरण	भंगिका विवरण
१७०	आहारक शरीर सहित मनुष्य—उदय योग्य—२६, उदय स्थान—४ (२६, २७, २८, २९), भंग—४					
१७१		मिश्र शरीर काल	२५	१	मनु गति, तैजस कामाणि शरीर, पंचे जाति, आहारक शरीर, अंगी, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, उपधात, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, आदेय, व्रम, पर्याप्त, बादर, प्रत्येक, समचतुरस्र सस्थान, सुभग, यश, निर्माण —२६	
१७३		शरीर पर्याप्त काल	२७	१	उपरोक्त २६ + परधात, प्रशस्त विहायो —२	
१७४		उच्छ्वास " "	२८	१	उपरोक्त २७ + उच्छ्वास —२८	
१७५		भाषा " "	२९	१	उपरोक्त २८ + सुस्वर —२९	
			४			
केवली मनुष्य—उदययोग्य—३१, उदय स्थान—४ (३१, ३०, ६, ८)						
१७६	तीर्थकर सयोगी		३१	१	मनु गति, पंचे जाति, औ शरीर, अंगोपांग, तैजस कामाणि शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, समचतुरस्र सस्थान, वज्र, अशुभ नाराच सहनन, अगुरुलघु उपधात, परधात-उच्छ्वास, व्रम, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, प्रशस्त विहायो, शुभ, अशुभ, सुभग, सुस्वर, यश कीर्ति, निर्माण, आदेय, तीर्थकर —३१	
१७९	सामान्य सयोगी		३०	१	उपरोक्त ३१-तीर्थकर —३०	
१८०	तीर्थकर अयोगी		६	१	मनुष्य गति, पंचे जाति, सुभग, व्रम, बादर पर्याप्त, आदेय, यश, तीर्थकर —६	
१८०	सामान्य अयोगी		८	१	उपरोक्त ६-१ —८	
			४			
समुद्रधात गत केवली (घ ७/२, १, ११/४६-५६)						
सामान्य केवली	प्रतर व लोकोपूर्ण शरीर पर्याप्त काल	२०	१	१	मनुष्य आहारक रहितकी २१ स्थानकी १६ + पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश —२०	
तीर्थकर "		२१	१	१	उपरोक्त २० + तीर्थकर —२१	
सामान्य "	कषाट गत शरीर पर्याप्त काल	२६	६	१	उपरोक्त २० + औ द्वि, ६ सस्थानमें एक, वज्र, उप प्रत्येक —२६	६ सस्थानमें अन्यतम
तीर्थकर "		२७	१	१	उपरोक्त २६ (परन्तु केवल एक समचतुरस्र सस्थान) + तीर्थकर —२७	समचतु ही सस्थान है
सामान्य "	दंड गत शरीर पर्याप्त काल	२८	१२	१	उपरोक्त २६ + परधात, २ विहायो में अन्यतम —२८	६ सस्थान × २ विहायो
तीर्थकर "		२९	१	१	उपरोक्त २८ (परन्तु केवल एक शुभ सस्थान व विहायो) + तीर्थकर —२९	शुभ ही सस्थान व विहायो
सामान्य "	उच्छ्वास पर्याप्त काल	२९	१२	१	उपरोक्त २८ + उच्छ्वास —२९	६ सस्थान × २ विहायो
तीर्थकर "	" "	३०	१	१	उपरोक्त २९ (परन्तु केवल एक शुभ सस्थान व विहायो) + तीर्थकर —३०	शुभ ही संस्थान व विहायो
	सर्व भंग		३६			
४ देवगति—उदय योग्य—३०, उदय स्थान—६ (२१ २६ २७, २८, २९) भंग—६						
देवगति सामान्य	कामाणि काल	२१	१	१	देवगति, पंचे जाति, तैजस कामाणि शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, व्रम, बादर, अशुभ, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, आदेय, यश, निर्माण, देवआनु —२१	
	मिश्रशरीर पर्याप्त काल	२६	१	१	उपरोक्तमें से पहली २० + वैक्रि द्वि, उपधात, समचतुरस्र, प्रत्येक —२६	
	शरीर पर्याप्त " "	२७	१	१	उपरोक्त २६ + परधात, प्रशस्त विहायो —२७	
	उच्छ्वास " "	२८	१	१	उपरोक्त २७ + उच्छ्वास —२८	
	भाषा " "	२९	१	१	उपरोक्त २८ + सुस्वर —२९	
	सर्व भंग—		६			

७ पाँच उदय कालोकी अपेक्षा नामकर्मोदय स्थानोकी सामान्य प्ररूपणा

संकेत — १ कर्मण काल — विग्रह गति का काल; कर्मण शरीरका काल, प्रारंभ व लोक पूर्ण संयुक्तताका काल

२ मिश्र शरीर काल — आहार ग्रहणसे शरीर पर्याप्त तकका काल

३ शरीर पर्याप्त काल — शरीर पर्याप्तसे उच्छ्वास पर्याप्त तकका काल

४ उच्छ्वास पर्याप्त काल — उच्छ्वास पर्याप्तसे भाषा पर्याप्त तकका काल

(गो क ६०३-६०५/८०६-८११)

६ भाषा पर्याप्त काल — भाषा पर्याप्तसे आयुके अन्त तकका काल

६ स्थान — स्थान विशेषमें कितनी प्रकृतियोंका उदय है।

७ भ्रम — प्रति स्थान अत्र परिवर्तनसे कितने भ्रम बनने सम्भव है।

८ विकल्प स — २ इसी प्रकारकी सारणी स २ नाम कर्मके कुल स्थानोंकी प्ररूपणमें

कोष्ठक स १ में डाले गये

९ × — यह काल सम्भव नहीं

क्र.	मार्ग या समास	कर्मण काल		मिश्र शरीर काल		शरीर पर्याप्त काल		उच्छ्वास पर्याप्त काल		भाषा पर्याप्त काल		
		प्र. क्र.	दि.	प्र. क्र.	दि.	प्र. क्र.	दि.	प्र. क्र.	दि.	प्र. क्र.	दि.	विशेष
१	१० प्रकार ल अप	२१	१	२४	१	२६	२	२६	१	२६	१	×
२	{ वन साधारण सूक्ष्म व वादर पर्याप्त	"	"	"	"	२६	१	२६	१	२६	१	×
३	{ पृथिवी, अप, तेज, वायु वन अप्रतिष्ठित प्रत्यक्ष सु पर्याप्त	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"	×
४	उपरोक्त मार्गणा भा पर्याप्त	"	"	"	"	२६	२	२६	२	२६	२	×
५	{ २-४ द्वन्द्व अप असङ्गी व द्वैतद्वय अप	"	"	२६	२	२६	२	२६	२	२६	२	द्वैतद्वय अप या अप या अप
६	सङ्गी व द्वैतद्वय पर्याप्त	"	"	"	"	२६	२	२६	२	२६	२	द्वैतद्वय अप या अप या अप

नोट — १, ६, ६ के उद्योत सहित व उद्योत रहित के दो दो स्थान बन जाते हैं। भग यथा योग्य लगा लेना।

क्र.	मार्ग या समास	कर्मण काल		मिश्र शरीर काल		शरीर पर्याप्त काल		उच्छ्वास पर्याप्त काल		भाषा पर्याप्त काल		
		प्र. क्र.	दि.	प्र. क्र.	दि.	प्र. क्र.	दि.	प्र. क्र.	दि.	प्र. क्र.	दि.	विशेष
७	मनुष्य	२१	१	२४	१	२६	२	२६	१	२६	१	×
८	आहार शरीर शुक्त मनु	२१	१	२४	१	२६	२	२६	१	२६	१	×
९	सामान्य केवली	२१	१	२४	१	२६	२	२६	१	२६	१	×
१०	तीर्थदूर केवली	२१	१	२४	१	२६	२	२६	१	२६	१	×
११	समुद्रातगत सामान्य केव	२१	१	२४	१	२६	२	२६	१	२६	१	केवल अपरास्त
१२	" तीर्थ	२१	१	२४	१	२६	२	२६	१	२६	१	"
१३	नारकी	२१	१	२४	१	२६	२	२६	१	२६	१	प्रशस्त
१४	देव	२१	१	२४	१	२६	२	२६	१	२६	१	"
१५	सामान्य अयोग केवली	२१	१	२४	१	२६	२	२६	१	२६	१	प्रशस्त
१६	तीर्थदूर "	२१	१	२४	१	२६	२	२६	१	२६	१	प्रशस्त

८ प्रकृति स्थिति आवि उदयोकी अपेक्षा ओघ आवेश प्ररूपणाओंकी सूची—

- ध १५/२८८ प्रकृति उदयका नानाजीवापेक्षा भंग विचय, मधिकर्ष व स्वाभिस्वादि ।
 ध १५/२८९ मूल प्रकृतियोंकी स्थितिके उदयका प्रमाण ।
 ध १५/२९२ मूल प्रकृतियोंके स्थिति उदयका नानाजीवापेक्षा भंगविचय
 ध १५/२९३ उपरोक्तका नाना जीवापेक्षा सन्निकर्ष ।
 ध १५/२९४ उत्तर प्रकृतियोंके स्थिति उदयका प्रमाण ।
 ध १५/२९५ उपरोक्तका नाना जीवापेक्षा भंग विचय ।
 ध १५/३०६ उपरोक्तका नाना जीवापेक्षा सन्निकर्ष ।

७ उदय उदीरणा व वन्धकी सयोगी स्थान प्रस्पणाएँ

१ उदयव्युच्छित्तिके पदचात् पूर्व व युगपत् वन्ध व्युच्छित्तित योग्य प्रकृतियाँ

प सं/प्रा ३/६७ ७० देवात् अजसक्ति वेदव्याहार देवयुनान् ।
 पुर्व उदयो नस्स पच्छा मन्धा वि अदुष्णं । ६७। हस्स रइ भय
 दुगुच्छा सुहम साहारणं अपज्जतं । जाइ चवक्क धावर सव्वे व
 कसाय अत्त लोहणा । ६८। पुवेदो मिच्छसि जराणुपुव्वो य आगव
 चेव । इक्कीसं पयडोण जुगवं बहुदयणासो त्ति । ६९। एक्कासो पय-
 डोणं गाणावरणाइयाण सेसाणं । पुअं मंधो छिज्जइ पच्छा उदयो
 त्ति नियमेण । ७०। — देवायु, अयश कीर्ति, नैकियकमुगत्त (अर्थात्
 वैक्रियक शरीर व अगोपंग), आहाररुगल और वेनयुगल (गति
 व आनुपूर्वी), इन आठ प्रकृतियोंका पहिले उदय नष्ट होता है,
 पीछे मन्धव्युच्छित्ति होती है । ६७। हास्य, रति, भय, जुगप्सा,
 सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, प्केन्द्रियादि चार जातियाँ, स्थावर,
 अन्तिम सज्जनलभके बिना समी कपाग (१५), पुरुषवेद, मिथ्यात्व,
 मनुष्यगत्यानुपूर्वी और आतप इन इक्कीस प्रकृतियोंके मन्ध और
 उदयका नाश एक साथ होता है । ६८-६९। शेष मन्धो ज्ञानावरणादि
 कर्मोंकी इक्कीस प्रकृतियोंकी नियमसे पहिले मन्ध व्युच्छित्ति
 होती है और पीछे उदयव्युच्छित्ति होती है । [ज्ञानावरण ५,
 दर्शनावरण ६, वेदनीय २, संज्जलन लोभ, नपुसकवेद, अरति,
 शोक, नरक तिर्यक्मनुष्यायु ३ नरक तिर्यक् मनुष्य गति ३,
 पचेन्द्रिय जाति, औदारिक तैजस कार्माणि क्षरीर ३, औदारिक
 अगोपंग, (छ) संहनन ६, (छ) संस्थान ६, वर्ण-रस गन्ध स्पर्श ४,
 नरक तिर्यगानुपूर्वी २, अगुरुलघु-उपघात पघात-उचोत्त ४,
 उच्छ्रवास, विद्यायोगतिद्विक (प्रशस्त व अप्रशस्त) २, प्रस-मादर-
 प्रत्येक पर्याप्त ४, स्थिर अस्थिर २, शुभ-अशुभ २, सुभग दुर्भग २,
 सुस्वर-दु स्वर २, आदेय-अनादेय २, यश कीर्ति, निर्माण, तोषकर,
 नीच व उच्च गोत्र २ अन्तराय ५-८९] (प ८/३,५/७-६/११-१२),
 (गो क/मू व टी ४००-४०१/६६) (प सं/सं ३/८० ८७), (विशेष
 वे दोनोंकी व्युच्छित्ति विषयक सारिणियों) ।

२ स्वोदय परोदय व उभयवन्धी प्रकृतियाँ

प सं/प्रा ३/७१-७३ तिर्ययराहारदुअं वेदव्यवच्छ्रक निरय देवाज ।
 पयारह पयडोओ मज्जति परस्स उदयार्हि । ७१। गाण तरागदसयं
 दंसणचउ तेय कम्म निमिणं च । थिरसुहजुयले य तहा वण्णचउ
 अगुरु मिच्छसं । ७२। रुसाहिक्खवीसाए पयडोण सोदया दु मधो त्ति ।
 सपरोदया दु मधो ह्वेज वासीदि सेसाण । — तीर्थकर, आहारक-
 द्विक, वैक्रियकपदक, नरकायु और देवायु—ये ग्यारह परके उदयमें
 मँधती हैं । ७१। ज्ञानावरणकी पाँच, अन्तराय पाँच, दर्शनावरणकी
 चक्षुदर्शनावरणादि चार, तैजस क्षरीर, कार्माणिक्षरीर, निर्माण,
 स्थिरयुगल, शुभयुगल, तथा वर्णचतुष्क, अगुरुलघु और मिथ्यात्व,
 इन सत्ताईस प्रकृतियोंका स्वोदयसे मन्ध होता है । ७२। शेष रही ८२
 प्रकृतियोंका मन्ध स्वोदयसे भी होता है परोदयसे भी होता है । ७३।

दर्शनावरणयोगी पाँच त्रिडा ६, वेदनीय २, चाग्रिय गोहनीय २,
 तिर्यग्मनुष्यायु २, तिर्यग्मनुष्यगति २, जाति ५, औदारिक क्षरीर
 व अगोपंग २, महनन ६, संस्था ६, तिर्यग्मनुष्य आनुपूर्वी २,
 उपघात, परघात, आतप, उचोत्त, उच्छ्रवास, विद्यायोगतिद्विक २,
 मादर सूक्ष्म २, पर्याप्त अपर्याप्त २, प्रत्येक साधारण २ सुभग-दुर्भग
 २ सुस्वर-दु स्वर २ आदेय-अनादेय २, यश अयश २, उच्च-नीच
 गात्र २, प्रस स्थायर २, — ८२ (विशेष देखो उत्तरी व्युच्छित्ति
 विषयक सारिणियों) । (प ८/३,५/११-१३/१४-१५), (गो क/मू
 व टी ४०२-४०३/६६-६७), (प सं/मं, ३/८८-९०)

३ किन्हीं प्रकृतियोंके वन्ध व उदयमें अविनाशवी सामानाधिकरण्य

ध ६/१,६-२, २२/३ मिच्छसाणत्थ मंधाभावा । तं पि वृद्धो । अन्तरय
 मिच्छसोदयाभावा । ण च कामेण विना कज्जरसुप्पसो अत्थि,
 अहप्पसंगादो । तस्मा मिच्छादिद्वि चेव मामी हादी । — मिथ्यात्व
 प्रकृतिका मिथ्यावृष्टिके सिपाग अन्यत्र मन्ध नहीं होता है । और
 इसका भी कारण यह है कि अन्यत्र मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय नहीं
 होता है, तथा कारणके बिना कामगी उत्पत्ति नहीं होती है । यदि
 ऐसा न माना जाये तो अतिमसग दाप प्राप्त होता है ।
 ध ६/१,६-२, ६/१०२/६ निरयगदीए सह पदंदिम-वेहंदिम ठेइ दिव-
 चउरिदिमजादोआ विण मज्जति ३ ण निरयगमधेण सह एदासि
 मधानं उत्तिगिरोहादो । एवेमि संताणमज्जेम एयजीवमिह उत्ति-
 दंसणदोण विराहो त्ति चे, होदु गत पडि गिरोहाभावा इत्तिरज्ज-
 मानत्तादो । ण मधेण अविरोहो तथोयदेसाभावा । ण च सत्तमि
 विरोहाभावाददुष्ण मधमिह नि तदभावा वोत्तु सत्तिज्जइ मधसत्ता-
 मेयसाभावा । तदा निरयगदीए जातिमुएओ नात्थि, एतेण तासि
 मधो नात्थि चेव । जाति पुण उदयो अत्थि, तासि निरयगदीए सह
 केसि पि मंधो होदि, केमि पि न हादि ति पेतत्तव । एव अणासि
 पि निरयगदीए मधेण विरुद्धमधमघटीए परवना वादव्वा ।
 — प्रन-नरकगतिके साथ एकेन्द्रिय, द्वोन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतु-
 रिन्द्रिय जाति नामवाली प्रकृतियाँ क्यों नहीं मँधती हैं । उत्तर—
 नहीं क्योंकि, नरकगतिके मन्धके साथ इन द्वोन्द्रियजाति आदि
 प्रकृतियोंके मँधनेका विरोध है । प्रन—इन प्रकृतियोंके मन्धका एक
 साथ एक जीवमें अवस्थान देखा जाता है, इसलिए मन्धका विरोध
 नहीं होना चाहिए । उत्तर—सर्वत्रकी अपेक्षा उत्त प्रकृतियोंके एक
 साथ रहनेका विराध भले ही न हो, पराकि, नैमा माना गया है ।
 किन्तु मन्धकी अपेक्षा उन प्रकृतियोंके एक साथ रहनेमें विरोधका
 अभाव नहीं है । अर्थात् विरोध ही है, क्योंकि उस प्रकारका उप-
 देश नहीं पाया जाता है । और सर्वत्रमें विरोधका अभाव देखकर
 मन्धमें भी उसका अभाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, मन्ध
 व मन्धमें एकरत्नका विरोध है । इसलिए नरकगतिके म.ध.जिन
 प्रकृतियोंका उदय नहीं है, एकान्तसे उनका मन्ध नहीं ही होता है ।
 किन्तु जिन प्रकृतियोंका एक साथ उदय होता है, उनका नरकगतिके
 साथ कितनी ही प्रकृतियोंका मन्ध होता है और कितनी ही
 प्रकृतियोंका नहीं होता है, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए । इसी
 प्रकार अन्य भी नरकगति (प्रकृति) के मन्धके साथ विरुद्ध पड़ने
 वाली मन्ध प्रकृतियोंकी प्रस्पणा करनी चाहिए ।
 ध ११/४,२,६ १६५/३१०/६ सर्वमूसपयडोणं सग सग-उदयादो समुप्पण
 परिणामाणं सग-सगद्विदिसंधकारणत्तेण द्विदिषधज्जकवसाणट्ठाण-
 सणिणादाणं । एत्थ गहणं कायव्वं अण्णाए उदोसप्पसगादो । — सम
 मूल प्रकृतियोंके अपने अपने उदयसे जो परिणाम उत्पन्न होते हैं
 उनकी ही अपनी-अपनी स्थितिके मन्धमें कारण होनेसे स्थिति-
 मन्धाध्यवसायस्थान सद्धा है, उनका ही ग्रहण यहाँ करना चाहिए,
 क्योंकि, अन्यथा पुनरुक्त दोषका प्रसंग आता है ।

४ मूल व उत्तर प्रकृति बन्ध उदय सम्बन्धी सयोगी प्ररूपणा

(घ ८/३,६-३८/७-७३) ओष या निर्देशके जिस स्थानमें जिस विवक्षित प्रकृतिके प्रतिपक्षीका भी उदय सम्भव हो उस स्थानमें स्वपरोदयका, तथा जहाँ प्रतिपक्षीका उदय सम्भव नहीं वहाँ स्वोदयका, तथा जहाँ प्रतिपक्षीका हो उदय है वहाँ परोदय बन्धी प्रकृतियोंका बन्ध जानना।
सकेत—स्वो—स्वोदय बन्धी प्रकृति; परो—परोदय बन्धी प्रकृति, स्व-परो—स्वपरोदयबन्धी प्रकृति, सा—सान्तरबन्धी प्रकृति, नि—निरंतर बन्धी प्रकृति, सा नि—सान्तर निरन्तर बन्धी प्रकृति।

पृष्ठ संख्या	संख्या	प्रकृति	स्वोदयबन्धी आदि	सान्तरबन्धी आदि	किससे किस गुण स्थान तक	
					बन्ध	उदय
७	१-६	ज्ञानावरण ४	स्वो-बन्धी	निरंतरबन्धी	१-१०	१-१२
"	६-६	चक्षुदर्शनावरणादि ४	"	"	"	"
३६	१०-११	निद्रा प्रचला	स्व परो	"	१-८	"
३०	१२-१४	निद्रानिद्रादि ३	"	"	१-२	१-६
३८	१६	सातावेदनीय	"	सा निर	१-१३	१-१४
४०	१६	असातावेदनीय	"	सान्तर बन्धी	१-६	"
४२	१७	मिथ्यात्व	स्वो	नि	१	१
३०	१८-२१	अनन्तानुबन्धी ४	स्व-परो	"	१-२	१-२
४६	२२-२६	अप्रत्याख्यानावरण ४	"	"	१-४	१-४
४०	२६-२६	प्रत्याख्यानावरण ४	"	"	१-४	१-४
६२	३०-३२	संज्वलनकोधादि ३	"	"	१-६	१-६
६६	३३	संज्वलनलोभ	"	"	"	१-१०
६६	३३-३६	हास्य, रति	"	सा निर	१-८	१-८
४०	३६-३७	अरति, शोक	"	सा	१-६	"
६६	३८-३९	भय, जुगुप्सा	"	नि	१-८	"
४२	४०	नपुंसकवेद	"	सा	१	१-६
३०	४१	बोवेद	"	"	१-२	"
६२	४२	पुरुषवेद	"	सा नि	१-६	"
४२	४३	नारकायु	परो	नि	१	१-४
३०	४४	तिर्यगायु	स्व परो	"	१-२	१-६
६१	४६	मनुष्यायु	"	"	१-२, ४	१-१४
६४	४६	देवायु	परो	"	१-७	१-४
४२	४७	नरकगति	"	सा	१	"
३०	४८	तिर्यग्गति	स्व-परो	सा नि	१-२	१-६
४६	४९	मनुष्यगति	"	"	१-४	१-१४
६६	५०	देवगति	परो	"	१-८	१०४
४२	६१-६४	केन्द्रियादि ४ जा	स्व-परो	सा	१	१
६६	६६	पञ्चेन्द्रियजाति	"	सा नि	१-८	१-१४
४६	६६	औदारिक शरीर	"	"	१-४	१-१३
६६	६७	वैक्रियक	परो	"	१-८	१-४
७१	६८	आहारक	"	नि	७-८	६
६६	६९, ६०	तैजस	स्वो	"	१-८	१-१३
४६	६१	औदारिक अद्रोपाक्ष	स्व परो	सा नि	१-४	"
६६	६२	वैक्रियक	परो	"	१-८	१-४
७१	६३	आहारक	"	नि	७-८	६
६६	६४	निर्माण	स्वो	"	१-८	१-१३
६६	६५	समचतुरस्र संस्थान	स्व-परो	सा नि	"	"
३०	६६	न्य परिमण्डल	"	सा	१-२	"

पृष्ठ संख्या	संख्या	प्रकृति	स्वोदयबन्धी आदि	सान्तरबन्धी आदि	किससे किस गुण स्थान तक	
					बन्ध	उदय
३०	६७	स्वाति संस्थान	स्व-परो	सा	१-२	१-१३
"	६८	कुञ्जक	"	"	"	"
"	६९	वामन	"	"	"	"
४२	७०	हुण्डक	"	"	"	"
४६	७१	ब्रह्मपुत्रनाराच स	"	सा नि	१-४	"
३०	७२	वज्रनाराच सहनन	"	सा	१-२	१-११
"	७३	नाराच	"	"	"	"
"	७४	अर्धनाराच	"	"	"	१-७
"	७५	कोलित	"	"	"	"
४२	७६	असप्राप्तस्पाटि	"	"	१-८	"
६६	७७	स्पर्श	"	नि	१-	१-१३
"	७८	रस	स्वो	"	"	"
"	७९	गन्ध	"	"	"	"
"	८०	वर्ण	"	"	"	"
४२	८१	नरकगत्यानुपूर्वी	परो	सा	१	१, २, ४
"	८२	तिर्यग्गत्यानुपूर्वी	स्व-परो	सा नि	१-२	"
"	८३	मनुष्यगत्यानुपूर्वी	"	"	१-४	"
"	८४	देवगत्यानुपूर्वी	परो	"	१-८	"
"	८५	अणुलघु	स्वो	नि	"	१-१३
"	८६	उपधात	स्व-परो	"	"	"
"	८७	परधात	"	सा नि	"	"
४२	८८	आताप	"	सा	१	१
"	८९	उद्योत	"	"	१-७	१-६
६६	९०	उच्छ्वास	"	सा नि	१-८	१-१३
६१	९१	प्रशस्तविहायोगति	"	"	"	"
"	९२	अप्रशस्त	"	सा	१-२	१-१३
६३	९३	प्रत्येक शरीर	"	सा नि	१-८	"
"	९४	साधारण	"	सा	१	१
"	९५	प्रस	"	सा नि	१-८	१-१४
"	९६	स्थावर	"	सा	१	१
"	९७	सुभग	"	सा नि	१-८	१-१४
"	९८	दुर्भग	"	सा	१-२	१-४
"	९९	सुस्वर	"	सा नि	१-८	१-१३
"	१००	दुस्वर	"	सा,	१-२	"
६६	१०१	शुभ	स्वो	सा नि	१-८	"
"	१०२	अशुभ	"	सा	१-६	"
६६	१०३	मादर	स्व-परो	सा नि	१-८	१-१४
४२	१०४	सूक्ष्म	"	सा	१	१
६६	१०५	पथिष्ठि	"	सा नि	१-८	१-१४
४२	१०६	अपथिष्ठि	"	सा	१	१
६६	१०७	स्थिर	स्वो	सा नि	१०८	१-१३
"	१०८	अस्थिर	"	सा	१-६	"
"	१०९	आदेय	स्व-परो	सा नि	१-८	१-१४
"	११०	अनादेय	"	सा	१-२	१-४
"	१११	यश कीर्ति	"	सा नि	१-१०	१-१४
"	११२	अयश कीर्ति	"	सा	१-६	१-४
"	११३	तीर्थङ्कर	परो	नि	४-८	१३-१४
"	११४	उच्चगोत्र	स्व-परो	सा नि	१-१०	१-१४
"	११५	नीचगोत्र	"	"	१-२	१-६
७	११६-१२०	अन्तरायः	स्वो	नि	१-१०	१-१२

५ मूल प्रकृति वन्ध, उदय व उदीरणा सबधी मयोगी प्ररूपणा
(प स / प्रा ४/२२७-२३१), (प म / म ४/६२-६७), (शतक ३४-३७)

गुण स्थान	वन्ध		उदय		उदीरणा	
	कर्म	विशेषता	कर्म	विशेषता	कर्म	विशेषता
१	आठों कर्म आयु रहित ७		आठों कर्म आयु रहित ७		आठों कर्म आयु रहित ७	आयुमें आयली मात्र शेष रहनेपर आयु रहित ७ व सात उससे पहले पकी
२	"		"		"	"
३	"		"		"	"
४	"		"		"	"
५	"		"		"	"
७	आयु रहित ७	आयु कर्म वन्ध का अभाव प्रारम्भ करने की अपेक्षा है निष्पन्नकी अपेक्षा नहीं इसका वन्ध ६ ठे में प्रारम्भ होकर ७ वें में पूरा हो सकता है उस अवस्थामें प्रकृतिका वन्धक होगा	"		कर्म ६	आयु वेदनीय रहित
८	७ कर्म	आयु बिना	"		कर्म ६	आयु वेदनीय रहित
९	"	"	"		"	"
१०	६ कर्म	मोह व आयु बिना	"		"	"
११	६ कर्म	ईर्ष्यापथ आसन्न	७	मोह रहित	५	आयु वेदनीय मोह रहित
१२	"	"	"	मोह रहित	"	"
१३	३ कर्म	वेदनीय नाम गोत्र का ईर्ष्यापथ आसन्न	४	आयु नाम गोत्र वेदनीय कर्म अधातिया	२	नाम मात्र
१४	×	×	"	"	×	×

१ छानावरणीय — (प स / प्रा ५/८)

गुण स्थान	स्थान			गुण स्थान	स्थान		
	वन्ध	उदय	सत्त्व		वन्ध	उदय	सत्त्व
१	५	५	५	८	५	५	"
२	"	"	"	९	"	"	"
३	"	"	"	१०	"	"	"
४	"	"	"	११	"	"	"
५	"	"	"	१२	"	"	"
६	"	"	"	१३	"	"	"
७	"	"	"	१४	"	"	"

२ दर्शनावरणी — (प स / प्रा ५/९-१४)

गुण स्थान	वन्ध	उदय		सत्त्व
		जागृत	सुषुप्तस्था	
१		४	५	६
२		"	"	"
३	६	"	"	"
४	"	"	"	"
५	"	"	"	"
६	"	"	"	"
७	"	"	"	"
८ उप	६, ४	"	५, ४	"
९ उप	६, ५	"	"	"
१० उप	४	"	५	६, ६
११ उप	"	"	"	"
१२ उप	"	"	"	"
१३	"	"	"	"
१४	"	"	"	६

३ वेदनीय — (प स / प्रा ५/१६-२०)

गुण स्थान	भग	स्थान		
		वन्ध	उदय	सत्त्व
१-६	४	साता	साता	दोनो
		"	असाता	"
		असाता	साता	"
		"	असाता	"
७-१३	२	साता	साता	"
		"	असाता	"
१४	४	साता	साता	"
		"	असाता	"
		असाता	साता	साता
		असाता	असाता	असाता

४ आयु (देखो आगे पृथक् सारणी न २)
५ मोहनीय (देखो आगे पृथक् सारणी न ३-४)
६ नाम (देखो आगे पृथक् सारणी न ५)

८ वन्ध उदय सत्त्वकी त्रिसयोगी स्थान प्ररूपणा

१ मूलोत्तर प्रकृति स्थानोकी त्रिसयोगी ओघ प्ररूपणा

(प स / प्रा ५/४-२१, २२-२६), (गो क ६२६-६५६/२७६-२८५),
(प स / स ५/५-३०, ३०७-३३६)

१ मूल प्रकृतिकी अपेक्षा — (प म / प्रा ५/४ ६)

गुण स्थान	स्थान				गुण स्थान	स्थान			
	वन्ध	अयु	उ	म		वन्ध	अयु	उ	म
	युष्क	युष्क	युष्क	युष्क		युष्क	युष्क	युष्क	युष्क
१	८	७	२	५	८	८	८	८	८
२	"	"	"	"	९		७	"	"
३	"	"	"	"	१०	६	"	"	"
४	"	"	"	"	११	१	७	"	"
५	"	"	"	"	१२	"	"	७	"
६	"	"	"	"	१३	"	"	४	४
७	"	"	"	"	१४	"	"	४	"

७ गोत्र--(पं स / प्रा ५/१६-१८)

गुण		स्थान			गुण		स्थान		
स्थान	भग	वन्ध	उदय	सन्ध	स्थान	भग	वन्ध	उदय	सन्ध
१	४	नीच	नीच	नीच			ऊँच	ऊँच	दोनो
		"	"	दोनो			"	नीच	"
		"	ऊँच	"	३-४	२	"	ऊँच	"
		ऊँच	"	"			"	नीच	"
		"	नीच	"	६-१०	१	"	ऊँच	"
२	४	नीच	"	"	१-१४	१	"	"	"
		"	ऊँच	"					

८ अन्तराय (झानावरणीयव)

२ चार गतियोंमें आयु कर्म स्थानोंकी त्रिसंयोगी सामान्य व ओघ प्ररूपणा

(प स /प्रा ५/२१-२४), (प स /सं ५/२५-३०), (गो क ६३६-६४६/८३६-८४३)

सकेत—अर्धन्ध काल—नवीन आयु कर्म बन्धनेसे पहलैका काल।
 बन्ध काल—नवीन आयु बन्धने वाला काल। उपरत बन्ध
 काल—नवीन आयु बन्धनेके पश्चात्तका काल। तिर्य—
 तिर्यगायु। नरक—नरकायु। मनु—मनुष्यायु, देव—देवायु।

भग	काल	स्थान		
		वन्ध	उदय	सख

१ नरक गति सम्यन्धी पाँच भग (पं स / प्रा ६/२१)

१	अमन्थ		नरक	नरकागु एक
२	बन्ध	तिर्य	"	नरक तिर्य द
३	"	मनु	"	नरक मनु दो
४	उपरत		"	नरक तिर्य द
५	"		"	नरक मनु दा

२ त्रियंच गति सम्बन्धी नौ भग (प सं / प्रा ५/२२)

१	अबन्ध		तिर्य	तिर्यगाय एक
२	बन्ध	नरक	"	तिर्य नरक दो
३	"	तिर्य	"	तिर्य तिर्य दो
४	"	मनु	"	तिर्य मनु दो
५	"	देव	"	तिर्य देव दो
६	उपरत	नरक	"	तिर्य नरक दो
७	"	तिर्य	"	तिर्य तिर्य दो
८	"	मनु	"	तिर्य मनु दो
९	"	देव	"	तिर्य देव दो

३ मनुष्य गति सम्यन्धी नौ भंग (पं स / प्रा ५/२३)

१	अन्ध	मनु	मनुष्यायु एक
२	अन्ध	नरक	मनु नरक दो
३	"	तिर्य	मनु तिर्य दो
४	"	मनु	मनु मनु दो
५	"	देव	मनु देव दो
६	उपरत	नरक	मनु नरक दो
७	"	तिर्य	मनु तिर्य दो
८	"	मनु	मनु मनु दो
९	"	देव	मनु देव दो

४ सेव गति सम्बन्धी पाँच भग (प सं / प्रा ५/२४)

१	अयन्ध	देव	देवाय एक
२	धन्ध	तिर्य	देव तिर्य दो
३	"	मनु	देव मनु दो
४	उपरल	तिर्य	देव तिर्य दो
५	"	मनु	देव मनु दो

चारों गतियों सम्बन्धी भंग

गुण स्थान ।	नरक ।	तिर्य्यच ।	मनुष्य ।	देव ।
५. ओष प्ररूपणा (गो.क ई४६-६४६/८४१-८४३)				
१	५	६ (२,६ रहित)	७ (२,६ रहित)	५
२	५	७ (२,६ रहित)	८ (२,६ रहित)	६
३	३(२-३रहित)	८ (२,६ रहित)	९ (२,६ रहित)	३(२-३रहित)
४	४ (२ रहित)	९ (२,४ रहित)	९ (२-४ रहित)	४ (२ रहित)
५		३ (१,६,६)	३ (१,६,६)	
६			३ (१,६,६)	
७			"	
८-१०				
(उपशामक)			२ (१,६)	
क्षपक			१ (नं १)	
११			२ (१,६)	
१२			१ (नं १)	
१३			"	
१४			"	

३. मोहनीय कर्म स्थानोंकी त्रिसप्तगो सामान्य स्थान प्ररूपणा

संकेत—‘आधार’ अर्थात् अमुक बन्ध स्थान विशेष या उदय स्थान विशेष या सत्त्व स्थान विशेषके साथ ‘आधेय’ अर्थात् अमुक अमुक उदय, सत्त्व या बन्ध स्थान होने सम्भव है। उन-उन स्थानोंका विशेष ज्योरा उन-उन विषयोंके अन्तर्गत दो गयी सारणियोंमें देखिए।

कुल बन्ध स्थान = १० (१, २, ३, ४, ५, ६, १३, १७, २१, २२)

કુલ ઉદય સ્થાન = ૬(૧,૨,૪,૬,૮, ૧૦)

कुल सचिव स्थान-१४(१,२,३,४,५,११,१२,१३,२१,२२,२३,२४,२६,२७,२८)

सत्त्व विशेष—न १—मिथ्यात्व, न २—वेदक सम्यक्त्व, न ३—उपशम सम्यक्त्व, न ४—उपशम सम्यक्त्व उपशम श्रेणी, न ५—कृतकृत्य वेदक सम्यक्त्व, न ६—सायिक सम्यक्त्व न ७—सायिक सम्यक्त्व उपशम श्रेणी, न ८—सायिक सम्यक्त्व क्षपक श्रेणी ।

१. वन्ध आधार—उदय सत्त्व आधेयकी स्थान प्ररूपणा
(गो. क. ६६२-६६४/८४०-८४१)

क्रम	उदय स्थान आधार		सत्त्व स्थान आधार							
	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	१४ में स्थान विशेष	कुल स्थान	१ में स्थान विशेष	कुल स्थान	१,७ में स्थान विशेष	कुल स्थान	८ में स्थान विशेष
१	२२	४ ७,८,९ १०	३ २६,२७, २८							
२	२१	३ ७,८,९	१ २८							
३	१७	४ ६,७,८,९	२ २८,२४	२	२२,२३	१	२१			
४	१३	४ ५,६,७,८	२ "	२	"	१	"			
५	८	४ ४,५,६,७	२ "	२	"	१	"	१	२१	
६	५	१ २	२ "			१	"	३	११,१२,१३	
७	४	१ "	२ "			१	"	५	११,१२,१३, १४,१५	
८	४	१ १	३ "			१	"	५	"	
९	३	१ "	२ "			१	"	२	३,४	
१०	२	१ "	२ "			१	"	२	२,३	
११	१	१ "	२ "			१	"	२	१,२	

२ उदय आधार—वन्ध सत्त्व आधेयकी स्थान प्ररूपणा

(गो क ६६६-६६६/८५२-८५४)

क्रम	वन्ध स्थान आधार		सत्त्व स्थान आधेय					
	आधेय							
	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	१-४ में स्थान विशेष	५ में स्थान विशेष	कुल स्थान	६-७ में स्थान विशेष	८ में स्थान विशेष
१	१०	१ २२	३ २६, २७					
२	८	३ १७, २१ २२	४ २४, २६, २७, २८	२ २०, २३	१ २१			
३	८	४ १३, १७, २१, २२	४ "	२ "				
४	७	५ ६, १३, १७, २१, २२	३ २४, २८	२ "	१ "			
५	६	६ १३, १७	२ "	२ "	१ "	१ २१		
६	५	७ ६, १३	२ "	२ "	१ "	१ "		
७	४	८ ६	२ "	२ "	१ "	१ १३, १२		
८	१	९ १, २, ३, ४	२ "		१ "	६ ११, ६, ४, ३, २, १		

३ सत्त्व आधार—वन्ध उदय आधेयकी स्थान प्ररूपणा

(गो क ६६६-६७२/८५४-८५६)

क्रम	सत्त्व-आधार				वन्ध-आधेय		उदय-आधेय	
					स्थान विशेष		स्थान विशेष	
	सत्त्व १-४	सत्त्व ५	सत्त्व ६-७	सत्त्व ८	कुल स्थान		कुल स्थान	
१	२८				१० १, २, ३, ४, ६, ६, १३, १७, २१, २२		८ १, २, ४, ६, ६, ७, ८, ९, १०	
२	२७				१ २२		३ ८, ९, १०	
३	२६				१ "		३ "	
४	२४				८ १, २, ३, ४, ६, ६, १३, १७		८ १, २, ४, ६, ६, ७, ८, ९	
५	२३, २३				३ ६, १३, १७		५ ६, ६, ७, ८, ९	
६		२१			८ १, २, ३, ४, ६, ६, १३, १७		७ १, २, ४, ६, ६, ७, ८, ९	
७		१२, १३			२ ४, ६		१ "	
८		११			२ "		२ १, २	
९		४			१ ४		१ १	
१०		४			२ ३, ४		" "	
११		३			२ २, ३		" "	
१२		२			२ १, २		" "	
१३		१			१ १		" "	

४ वन्ध उदय आधार—सत्त्व आधेयकी स्थान प्ररूपणा

(गो क ६७६-६७६/८५८-८६०)

क्रम	वन्ध-आधार		उदय-आधार		सत्त्व-आधेय							
					सत्त्व १-४				सत्त्व ५			
	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष
१	१	२२	३	८, ९, १०	३	२६, २७, २८						
२	"	"	१	७	१	२८						
३	"	२१	३	७, ८, ९	१	"						
४	"	१७	१	८	२	२४-२८	२	२२-२३				
५	"	७	२	७, ८		"	२	"	१	२१		
६	"	१३	४	६, ६, ७, ८	"	"	२	"	"	"		
७	"	"	"	"	"	"	२	"	"	"		
८	"	"	"	"	"	"	२	"	"	"		
९	"	"	"	"	"	"	२	"	"	"		
१०	"	"	"	"	"	"	२	"	"	"		
११	"	"	"	"	"	"	२	"	"	"		
१२	"	"	३	४, ६, ६	"	"	"	"	"	"		
१३	"	५	१	२	"	"	"	"	"	"		
१४	"	४	"	२	"	"	"	"	"	"		
१५	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"		
१६	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"		
१७	"	३	"	"	"	"	२	"	"	"		
१८	२	२, ३	"	"	"	"	२	"	"	"		
१९	२	१, २	"	"	"	"	२	"	"	"		

५ वन्ध सत्त्व आधार—उदय आधेयकी स्थान प्ररूपणा

(गो क ६८०-६८४/८६४-८६७)

क्रम	गुण स्थान	वन्ध आधार	सत्त्व आधार								उदय आधार	
			सत्त्व १-४		सत्त्व ५		सत्त्व ६-७		सत्त्व ८		कुल स्थान	स्थान विशेष
			कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष	कुल स्थान	स्थान विशेष		
१	१	१	१	२८							४	७, ८, ९
२	१	१	२	२६, २७							३	८, ९, १०
३	२	१	२	२८							३	७, ८, ९
४	४	१	१	२४, २८							४	६, ७, ८, ९
५	३	१	२								३	७, ८, ९
६	४	१	"								३	६, ७, ८, ९
७	४	१	"								३	७, ८, ९
८	५	१	२								३	६, ७, ८
९	५-७	१	"								३	६, ७, ८
१०	५	१	"								३	६, ७, ८
११	६-८	१	२								३	६, ७, ८
१२	६-७	१	"								३	४, ६, ६
१३	८	१	"								३	"
१४	६/१	१	५								१	२
१५	६/११	२	४, ६								१	"
१६	६/५	१	५								१	१
१७	६/५	१	४								१	"
१८	६/५	१	३								१	"
१९	६/५	१	२								१	"
२०	६/५	१	३								१	"

४. मोहनीय कर्मस्थानकी प्रिययोगी ओषधप्ररूपणा-

(प स /प्रा ४/४०-४१), (प स /सं ४/१०-१०), (प स ४/४१-४१/४४-४४)

क्रम	गुण स्थान	उदय		सत्त्व आधार				वन्य आधार	
		प्रा	सं	सत्त्व १-४	सत्त्व ५	सत्त्व ६-७	सत्त्व ८	स्थान विषय	स्थान विषय
१	१	१	१०	३	२६,२७	२८	२९	१	२२
२	२	१	१	१	२८	२९	३०	३	१०,२१,२२
३	३	१	१	१	२९	३०	३१	४	१२,१७,२१,२२
४	४	१	१	१	३०	३१	३२	५	२२
५	५	१	१	१	३१	३२	३३	६	१
६	६	१	१	१	३२	३३	३४	७	१
७	७	१	१	१	३३	३४	३५	८	१
८	८	१	१	१	३४	३५	३६	९	१
९	९	१	१	१	३५	३६	३७	१०	१
१०	१०	१	१	१	३६	३७	३८	११	१
११	११	१	१	१	३७	३८	३९	१२	१
१२	१२	१	१	१	३८	३९	४०	१३	१
१३	१३	१	१	१	३९	४०	४१	१४	१
१४	१४	१	१	१	४०	४१	४२	१५	१
१५	१५	१	१	१	४१	४२	४३	१६	१
१६	१६	१	१	१	४२	४३	४४	१७	१
१७	१७	१	१	१	४३	४४	४५	१८	१
१८	१८	१	१	१	४४	४५	४६	१९	१
१९	१९	१	१	१	४५	४६	४७	२०	१
२०	२०	१	१	१	४६	४७	४८	२१	१
२१	२१	१	१	१	४७	४८	४९	२२	१
२२	२२	१	१	१	४८	४९	५०	२३	१
२३	२३	१	१	१	४९	५०	५१	२४	१
२४	२४	१	१	१	५०	५१	५२	२५	१
२५	२५	१	१	१	५१	५२	५३	२६	१
२६	२६	१	१	१	५२	५३	५४	२७	१
२७	२७	१	१	१	५३	५४	५५	२८	१
२८	२८	१	१	१	५४	५५	५६	२९	१
२९	२९	१	१	१	५५	५६	५७	३०	१
३०	३०	१	१	१	५६	५७	५८	३१	१

४. नामकर्म स्थानोंकी त्रिसयोगी सामान्य प्ररूपणा

सकेत—'आधार' अर्थात् अमुक बन्ध स्थान या उदय स्थान या सत्त्व स्थान विशेषके साथ 'आधेय' अर्थात् अमुक-अमुक उदय, सत्त्व या बन्ध स्थान होने सम्भव हैं। उन-उन स्थानोंका विशेष ग्योरा उन उन विषयोंके अन्तर्गत दी गयी सारणियोंमें देखिए।

कुल बन्ध स्थान = ८ (१, २३, २६, २८, २९, ३०, ३१)

कुल उदय स्थान = १२ (२०, २१, २४, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३)

कुल सत्त्व स्थान = १३ (१, १०, ७७, ७८, ८०, ८२, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९)

१ वन्ध आधार—उदय सत्त्व आधेयकी स्थान प्ररूपणा

(पं स/प्रा ४/२२२-२२४, २२६-२४२), (गो क ७४२-७४४/८६७),

(पं स/सं ४/२३६-२३८, २७०, २४० २७०)

क्रम	बन्ध आधार		उदय आधेय		सत्त्व आधेय	
	स्थान	विशेष	स्थान	विशेष	स्थान	विशेष
१	३	२३, २४, २६	६	२१, २४, २६, २८, २७, २८, २९, ३०, ३१	४	८२, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९
२	१	२८	८	२१, २६, २८, २७, २८, २९, ३०, ३१	४	८५, ८६, ८७, ८८, ८९
३	२	२६, ३०	६	२१, २४, २६, २८, २७, २८, २९, ३०, ३१	७	८२, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९
४	१	३१	१	३०	१	८३
५	१	२	१	३०	८	७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९
६	५	५	१०	२०, २१, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३	१०	७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९

२. उदय आधार—वन्ध सत्त्व आधेयकी स्थान प्ररूपणा

(गो क ७४६ ७४७/८०६-८२४)

क्रम	उदय आधार		बन्ध आधेय		सत्त्व स्थान	
	स्थान	विशेष	स्थान	विशेष	स्थान	विशेष
१	१	२०	३	२३, २४, २६, २८, २९, ३०	३	७७, ७८, ७९
२	१	२१	६	२३, २४, २६, २८, २९, ३०	६	७८, ८०, ८२, ८४, ८६, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३
३	१	२४	४	२३, २४, २६, २८, २९, ३०	४	८२, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३
४	१	२६	६	२३, २४, २६, २८, २९, ३०	७	८२, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३
५	१	२८	६	२३, २४, २६, २८, २९, ३०	८	७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३
६	१	२७	६	२३, २४, २६, २८, २९, ३०	८	७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३
७	१	२८	६	२३, २४, २६, २८, २९, ३०	८	७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३
८	१	२९	६	२३, २४, २६, २८, २९, ३०	१०	७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३
९	१	३०	८	२३, २४, २६, २८, २९, ३०	१०	७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३
१०	१	३१	६	२३, २४, २६, २८, २९, ३०	६	७७, ८०, ८२, ८४, ८६, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३
११	१	३२	३	७७, ७८, ७९	३	७७, ७८, ७९
१२	१	३३	३	७७, ७८, ७९	३	७७, ७८, ७९

३ मत्त्व आधार—वन्ध उदय आधेयकी स्थान प्ररूपणा—
(गो क ७४३-७४६/८२६ ८२९)

सत्त्व आधार			यन्त्र आधेय			उदय आधेय		
क्रम	स्थान	स्थान विशेष	स्थान	स्थान विशेष	स्थान	स्थान	स्थान विशेष	
१	१	६			१	८		
२	१	१०			१	६		
३	१	७७	१	१ (यज्ञ कीर्ति)	६	२६, २८, २९, ३०, ३१		
४	१	७८	१	"	६	२१, २४, २६, २८, २९, ३०, ३१		
५	१	७९	१	"	६	२६, २८, २९, ३०, ३१		
६	१	८०	१	"	६	२१, २४, २६, २८, २९, ३०, ३१		
७	१	८२	४	२३, २४, २६, २८, २९, ३०	४	२१, २४, २६, २८		
८	१	८४	४	"	६	२१, २४, २६, २८, २९, ३०, ३१		
९	१	८५	६	२३, २४, २६, २८, २९, ३०	६	"		
१०	१	८६	७	२३, २४, २६, २८, २९, ३०, ३१	६	"		
११	१	८७	४	२३, २४, २६, २८, २९, ३०, ३१	७	२१, २४, २६, २८, २९, ३०, ३१		
१२	१	८८	७	२३, २४, २६, २८, २९, ३०, ३१	६	२१, २४, २६, २८, २९, ३०, ३१		
१३	१	८९	४	२६, २८, २९, ३०, ३१	७	२१, २४, २६, २८, २९, ३०, ३१		

४ वन्ध उदय दोनों आधार—सत्त्व आधेयकी स्थान प्ररूपणा

(प स/प्रा ४/२२६-२४१), (गो क ७६० ७६१/८३६-८४०), (स स/प्रा ४/२४०-२६६)

बन्ध-आधार			उदय-आधार			सत्त्व-आधेय		
क्रम	स्थान	स्थान विशेष	स्थान	स्थान विशेष	स्थान	स्थान विशेष		
१	१	२३	४	२१, २४, २६, २८	४	८२, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९		
२	१	२३	४	२७, २८, २९, ३०, ३१	४	८४, ८६, ८८, ८९		
३	२	२६, २८	४	२१, २४, २६, २८	४	८२, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९		
४	२	२६, २८	४	२७, २८, २९, ३०, ३१	४	८४, ८६, ८८, ८९		
५	१	२८	२	२१, २६		६०, ६२ (देव उत्तर कुक्ष का क्षा सम्पद्यष्टि)		
६	१	२८	४	२६, २८, २७, २८, २९	२	६०, ६२ (२६, २७ उदय ६० सत्त्व वैक्रि को अपेक्षा है)		
७	१	२८	२	२६, २७	१	६२ (आहारक शरीर उदय सहित प्रमत्त विरह)		
८	१	२८	१	३०	४	८५, ८६, ८७, ८८, ८९		
९	१	२८	१	३१	३	८५, ८६, ८७, ८८, ८९		
१०	१	२८	१	२९	७	८२, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३		
११	१	२८	२	२६, २८	७			

बन्ध आधार			उदय-आधार			सत्त्व आधेय		
क्रम	स्थान	विशेष	स्थान	विशेष	स्थान	स्थान	विशेष	स्थान
१२	१	२६	१	२४	४	२२, २४, २६, २८, ३०, ३२		
१३	१	२६	४	२७, २८, २९, ३०	६	२४, २६, २८, ३०, ३२, ३४		
१४	१	२६	१	३१	४	२४, २६, २८, ३०		
१५	१	३०	३	२७, २८, २९	६	२४, २६, २८, ३०, ३२, ३४		
१६	१	३०	२	२१, २५	७	२२, २४, २६, २८, ३०, ३२, ३४		
१७	१	३०	२	२४, २६	४	२२, २४, २६, २८, ३०, ३२		
१८	१	३०	२	३०, ३१	४	२४, २६, २८, ३०, ३२		
१९	१	३१	१	३०	१	२३, (गुणस्थान ७ व ८)		
२०	१	१	१	३०	४	२०, २१, २२, २३ (उप-शामक)		
२१	१	१	१	३०	४	७७, ७८, ७९, ८० (संपक)		

५ वन्ध सत्त्व दोनो आधार—उदय आधेयकी स्थान प्ररूपणा—
(गो क ७६६-७७४/६४०-६४३)

बन्ध-आधार			सत्त्व-आधार			उदय स्थान		
क्रम	स्थान	विशेष	स्थान	विशेष	स्थान	स्थान	विशेष	स्थान
१	१	२३	४	२४, २६, २८, ३०, ३२	६	२१, २४, २६, २८, ३०, ३२		
२	१	२३	१	२२	४	२१, २४, २६, २८, ३०, ३२		
३	२	२४, २६	१	२२	४	२१, २४, २६, २८, ३०, ३२		
४	१	२८	१	२२	८	२१, २४, २६, २८, ३०, ३२		
५	१	२८	१	२१	१	३०		
६	१	२८	१	२०	१	२१, २६, २८, ३०, ३२ (संज्ञी तिर्यं बाले स्थान)		
७	१	२८	१	२८	२	३०, ३१		
८	१	२६	१	२३	७	२१, २४, २६, २८, ३०, ३२		
९	१	२६	१	२२	६	२१, २४, २६, २८, ३०, ३२		
१०	१	२६	३	२४, २६, २८	६	२१, २४, २६, २८, ३०, ३२		
११	१	२६	१	२१	७	२१, २४, २६, २८, ३०, ३२		
१२	१	२६	१	२२	४	२१, २४, २६, २८, ३०, ३२		
१३	१	३०	१	२१, २६	४	२१, २४, २६, २८, ३०, ३२		
१४	१	३०	१	२२	६	२१, २४, २६, २८, ३०, ३२		
१५	१	३०	१	२२, २४, २६, २८, ३०, ३२	६	२१, २४, २६, २८, ३०, ३२		
१६	१	३०	१	२२	४	२१, २४, २६, २८, ३०, ३२		
१७	१	३१	१	२३	१	३०		
१८	१	१	१	२०, २१, २२, २३	१	३०		
१९	१	१	४	७७, ७८, ७९, ८०	१	३०		

६ उदय सत्त्व दोनो आधार—वन्ध आधेयकी स्थान प्ररूपणा
(गो क ७७५-७८३/६४४-६४८)

उदय-आधार			मरध आधार			बन्ध-आधेय		
क्रम	स्थान	विशेष	स्थान	विशेष	स्थान	स्थान	विशेष	स्थान
१	१	२१	२	२१, २३	२	२६, ३०		
२	१	२१	२	२०, २२	६	२३, २४, २६, २८, ३०, ३२		
३	१	२१	३	२२, २४, २६	४	२३, २४, २६, २८, ३०		
४	१	२४	२	२१, २३	२	२६, ३०		
५	१	२४	१	२२	६	२३, २४, २६, २८, ३०, ३२		
६	१	२४	४	२२, २४, २६, २८, ३०	४	२३, २४, २६, २८, ३०		
७	१	२६	२	२१, २३	१	२६		
८	१	२६	२	२०, २२	६	२३, २४, २६, २८, ३०, ३२		
९	१	२६	३	२२, २४, २६	४	२३, २४, २६, २८, ३०		
१०	१	२७	२	२१, २३	२	२६, ३०		
११	१	२७	१	२२	६	२३, २४, २६, २८, ३०, ३२		
१२	१	२७	३	२२, २४, २६	४	२३, २४, २६, २८, ३०		
१३	१	२८	२	२१, २३	२	२६, ३०		
१४	१	२८	१	२२	६	२३, २४, २६, २८, ३०, ३२		
१५	१	२८	३	२२, २४, २६, २८, ३०	४	२३, २४, २६, २८, ३०		
१६	१	२६	२	२१, २३	२	२६, ३०		
१७	१	२६	२	२०, २२	६	२३, २४, २६, २८, ३०, ३२		
१८	१	२६	२	२४, २६	४	२३, २४, २६, २८, ३०		
१९	१	३०	१	२३	२	२६, ३१		
२०	१	३०	१	२१	२	२८, २९ (नरक सम्मुख तीर्थ प्रकृति युक्त)		
२१	१	३०	३	२२, २४, २६, २८, ३०, ३२	६	२३, २४, २६, २८, ३०, ३२		
२२	१	३०	१	२४	४	२३, २४, २६, २८, ३०		
२३	१	३१	३	२२, २४, २६, २८, ३०, ३२	६	२३, २४, २६, २८, ३०, ३२		
२४	१	३१	१	२४	४	२३, २४, २६, २८, ३०		
२५	१	३०	४	२०, २१, २२, २३	×	(उपशान्त कपाय)		
२६	१	३०	४	७७, ७८, ७९, ८०	×	(भीम मोह)		
२७	२	३०, ३१	४	११	×	(सयोग केवली)		
२८	२	३१	४	११	×	(अयोग केवली)		
२९	२	८, ९	२	९, १०	×	(अयोग केवली)		

६ नामकर्म स्थानोंकी त्रिसयोगी ओघ प्ररूपणा

(प स / प्रा ४/३६६ ४१७), (गो क ६६२ ७०३/८७१-८७७), (प स ४/४११-४२८)

बन्ध स्थान			उदय स्थान			सत्त्व स्थान		
क्रम	गुण स्थान	स्थान	स्थान	विशेष	स्थान	स्थान	विशेष	स्थान
१	मिथ्यात्व	६	२३, २४, २६, २८, ३०	६	२१, २४, २६, २८, ३०, ३२	६	२२, २४, २६, २८, ३०, ३२	
२	सासादन	३	२८, २९, ३०	७	२१, २४, २६, २८, ३०, ३२	१	२०	

क्रम	गुण स्थान	बन्ध स्थान		उदय स्थान		सत्त्व स्थान	
		स्थान	स्थान विशेष	स्थान	स्थान विशेष	स्थान	स्थान विशेष
३	सम्यग्- मिध्यात्म	२	२८, २९	३	२९, ३०, ३१	४	३०, ३२
४	अवि- सम्य	३	२८, २९, ३०	८	२९, २९, २९, २७, २८, २९, ३०, ३१	४	३०, ३१, ३२ ३३
५	देश विरत	२	२८, २९	२	३०, ३१	४	"
६	प्रमत्त विरत	२	२८, २९	५	२७, २७, २८, २९, ३०	४	"
७	अप्रमत्त "	४	२८, २९, ३०, ३१	१	३०	४	"
८	अपूर्वकरण	५	२८, २९, ३०, ३१, १	१	"	४	"
९	अनिवृत्ति- करण	१	१	१	"	८	३०, ३१, ३२, ३३ उपशामक ७७, ७८, ७९ ८० क्षपक
१०	सूक्ष्म साम्पराय	१	१	१	"	८	उपरोक्त वत्
११	उपशान्त कपाय			१	"	४	३० ३१, ३२ ३३
१२	स्तीन मोक्ष			१	"	४	७७, ७८ ७९, ८०
१३	सयोग केवली			२	३० ३१	४	"
१४	समुद्र केवली			१०	२०, २१, २२, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३	६	७७, ७८, ७९, ८० ३१, ३२
१५	अयोग केवली			२	३८	६	"

७ जीवसमासकी अपेक्षा नामकर्म स्थानकी त्रिसयीगी प्ररूपणा

(प सं / प्रा १/२६८-२८०), (गो क ७०४-७११/८७८-८८१), (प सं / सं ५/२६४-३०६)

१	लब्धपर्याप्त सूक्ष्म एके	५	२३, २४, २६, २६, ३०	१	२१	५	८२ ८४, ८८, ९०, ९२
	बा एके	५	"	१	२४	५	"
	विकलेन्द्रिय	५	"	२	२४, २६	५	"
	असङ्गी पंचे	५	"	२	"	५	"
	सङ्गी "	५	"	२	"	५	"
२	पर्याप्त सूक्ष्म एके	५	२३ २४, २६, २६, ३०	४	२१, २४, २४, २६	५	"
	बादर "	५	"	५	२१, २४, २४, २६ २७	५	"
	विकलेन्द्रिय	५	"	६	२१, २६ २८, २९, ३० ३१	५	"
	असङ्गी पंचे	६	२३ २४, २६, २८, २९, ३०	६	"	५	"
	सङ्गी पंचे	८	२३, २४, २६, २८, २९, ३०, ३१, १	८	२१, २४ २६, २७, २८, २९, ३०, ३१	११	७७, ७८, ७९, ८० ८२, ८४, ८८ ९०, ९१, ९२ ९३, ९४, ९५

८ नामकर्म स्थानोंकी त्रिसयीगी आदेश प्ररूपणा

(प सं / प्रा ५/१२-२५२, ४५६-४७१); (गो क ७१२ ७३८/८८१-८८७)

(प सं / सं ५/६०-२७०, ४३१-४४१)

क्रम	मार्गणा	बन्ध स्थान		उदय स्थान		सत्त्व स्थान	
		स्थान विशेष	स्थान विशेष	स्थान विशेष	स्थान विशेष		
१ गति मार्गणा							
१	नरकगति	२	२६, ३०	५	२१ २४, २७, २८, २९	३	३०, ३१, ३२, ३३
२	तिर्यङ्गगति	६	२३, २४, २६, २८, २९, ३०	६	२१, २४, २४, २६, २७, २८, २९ ३०, ३१	५	८२, ८४, ८८, ९०, ९२
३	मनुष्यगति	८	२३ २४, २६, २८, २९, ३०, ३१, १	११	२०, २१, २४, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२	१२	७७, ७८, ७९, ८०, ८२, ८४, ८८, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५
४	देवगति	४	२४, २६, २९, ३०	५	२१, २४, २७, २८, २९	४	३०, ३१, ३२, ३३
२ इन्द्रियमार्गणा							
१	एकेन्द्रिय	५	२३, २४, २६, २९, ३०	५	२१, २४, २४, २६, २७	५	८२, ८४, ८८, ९०, ९१
२	विकलेन्द्रिय	५	"	६	२१, २६, २८, २९, ३०, ३१,	५	"
३	पंचेन्द्रिय	८	२३, २४, २६, २८, २९, ३०, ३१, १	११	२०, २१ २४, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२ (प सं में २०का स्थान नहीं)	१३	७७, ७८, ७९, ८०, ८२, ८४, ८८, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५
३ काय मार्गणा							
१	पृथिवी काय	५	२३, २४, २६, २९ ३०	५	२१, २४, २४, २६, २७	५	८२, ८४, ८८, ९०, ९२
२	अप काय	५	"	५	"	५	"
३	तैज काय	५	"	४	२१, २४, २४, २६	५	"
४	वायु काय	५	"	४	"	५	"
५	अनस्पति काय	५	"	५	२१, २४, २४, २६ २७	५	"
६	अस काय	८	२३, २४, २६, २८, २९, ३०, ३१, १	११	२०, २१, २४, २६, २७, २८, २९ ३०, ३१, ३२ (प सं में २०का स्थान नहीं)	१४	७७, ७८, ७९, ८०, ८२, ८४, ८८ ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५
४ योग मार्गणा							
१	४ प्रकार मनो-योग	८	२३, २४, २६, २८, २९, ३०, ३१, १	३	२९, ३०, ३१	१०	७७ ७८, ७९, ८० ८२ ८८, ९०, ९१, ९२, ९३
२	" " " वचनयोग	८	"	३	"	१०	"

क्रम	मार्गणा	वन्ध स्थान		उदय स्थान		सख स्थान	
		स्थान विशेष	स्थान विशेष	स्थान विशेष	स्थान विशेष	स्थान विशेष	स्थान विशेष
१	११ मध्यमार्गणा भव्य	२३, २६, २६, २८, २६, ३०, ३१, १	२०, २१, २४, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ५, ६, (पं स में २०, ६, ८ के स्थान नहीं)	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९० (प स में ६, १० के स्थान नहीं)	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०
२	अभव्य	२३, २६, २६, २८, २६, ३०, ३१, १	२०, २१, २४, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ५, ६, (पं स में २०, ६, ८ के स्थान नहीं)	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०
३	न भव्यनअभव्य १२ सम्यक्त्व मार्गणा	२३, २६, २६, २८, २६, ३०, ३१, १	२०, २१, २४, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ५, ६, (पं स में २०, ६, ८ के स्थान नहीं)	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०
४	उपशम सम्यक्त्व	२३, २६, २६, २८, २६, ३०, ३१, १	२०, २१, २४, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ५, ६, (पं स में २०, ६, ८ के स्थान नहीं)	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०
५	वेदक सम्यक्त्व	२३, २६, २६, २८, २६, ३०, ३१, १	२०, २१, २४, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ५, ६, (पं स में २०, ६, ८ के स्थान नहीं)	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०
६	क्षायिक "	२३, २६, २६, २८, २६, ३०, ३१, १	२०, २१, २४, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ५, ६, (पं स में २०, ६, ८ के स्थान नहीं)	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०
७	सासादन "	२३, २६, २६, २८, २६, ३०, ३१, १	२०, २१, २४, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ५, ६, (पं स में २०, ६, ८ के स्थान नहीं)	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०
८	सम्यग्मिध्यात्व मिध्यात्व	२३, २६, २६, २८, २६, ३०, ३१, १	२०, २१, २४, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ५, ६, (पं स में २०, ६, ८ के स्थान नहीं)	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०
९	१३ सहीमार्गणा संक्षी	२३, २६, २६, २८, २६, ३०, ३१, १	२०, २१, २४, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ५, ६, (पं स में २०, ६, ८ के स्थान नहीं)	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०
१०	असंक्षी	२३, २६, २६, २८, २६, ३०, ३१, १	२०, २१, २४, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ५, ६, (पं स में २०, ६, ८ के स्थान नहीं)	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०
११	१४ आहारक मार्गणा आहारक	२३, २६, २६, २८, २६, ३०, ३१, १	२०, २१, २४, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ५, ६, (पं स में २०, ६, ८ के स्थान नहीं)	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०
१२	अनाहारक सामान्य	२३, २६, २६, २८, २६, ३०, ३१, १	२०, २१, २४, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ५, ६, (पं स में २०, ६, ८ के स्थान नहीं)	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०
१३	अनाहारक अयोगी	२३, २६, २६, २८, २६, ३०, ३१, १	२०, २१, २४, २६, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ५, ६, (पं स में २०, ६, ८ के स्थान नहीं)	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०	१३ ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०

९ औदयिक भाव निर्देश

१ औदयिक भावका लक्षण

स सि २/१/१४६/६ उपशम प्रयोजनमस्यैवोपशमिक । एव " औदयिक ।—जिस भावका प्रयोजन अर्थात् कारण उपशम है वह औपशमिक भाव है । इसी प्रकार औदयिक भावकी भी व्युत्पत्ति करनी चाहिए । अर्थात् उदय ही है प्रयोजन जिसका सो औदयिक भाव है । (रा वा २/१/६/१००/२४) ।

घ १/१, १/८/१६१/१ कर्मणामुदयादुत्पन्नो गुण औदयिक ।—जो कर्मके उदयसे उत्पन्न होता है उसे औदयिक भाव कहते हैं । (घ ४/१, १/१८५/१३), (प का/त प्र ६६/१०६), (गो क/यू ८१५/६८८), (गो जो/जो प्र ८/२६/१२), (प घ/उ ६७०, १०२४) ।

२ औदयिक भावके भेद

त, सू २/६ गतिकपायनिर्दिष्टमिध्यादर्शनाज्ञानास यत्तासिद्धिदेश्यारचतुर्ष्व-सुख्योक्तैकैकपदभेद । ६ ।—औदयिक भावके इक्कीस भेद हैं—चार गति, चार कपाय, तीन लिंग, एक मिध्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्ध भाव और छह लेश्याएँ । (प ख १४/१५/१०), (स सि २/६/१५६), (रा वा २/६/१००), (घ ४/१, १/६/१८६), (गो क/यू ८१८/६८६) (न च वृ ३००), (त सा/२/७), (नि सा/ता वृ ४१), (प घ/उ ६७३-६७५) ।

३-मोहज औदयिक भाव ही वन्धके कारण हैं अन्य नहीं

ध ७/२, १, ७/६/६ यदि चत्तारि चैव मिच्छत्तादीणि बधकारणानि ह्येति तो—'औदयिका बधयरा उवसम खयमिस्स्या य मोयत्वयरा । /३ ।' एदीए सुत्तागहाए सह विरोहो होति चि वुत्तेण होदि, आदिहया बधयरा चि वुत्तेण सव्वेसिमिद्वयाण भावाणं गहण गदि-जादिआदिण पि औदय्यभावाण बधकारणप्पसंगादो । —प्रश्न—यदि ये ही मिध्यास्वादि(मिध्यास्व, अविरत कपाय और योग) चार वन्धके कारण हैं तो औदयिक भाव वन्ध करनेवाले हैं, औपशमिक, क्षायिक और क्षयोपशमिक भाव मोक्षके कारण हैं । इस सूत्रापा-के साथ विरोधको प्राप्त होता है । उत्तर—विरोध नहीं उत्पन्न होता है, क्योंकि, 'औदयिक भाव वन्धके कारण हैं' ऐसा कहने पर सभी औदयिक भावोंका ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि, वैसा मानने पर गति, जाति आदि नामकर्म सम्बन्धा औदयिक भावोंके भी वन्धके कारण होनेका प्रसंग आ जायेगा ।

४ वास्तवमे मोहजनित भाव ही औदयिक हैं, उसके

बिना सब क्षायिक हैं

प्र सा/यू ४४ पुणफला अरहता तेसि किरिया पुणो हि औदयिया । मोहादीहि विरहिदा तप्पहा सा ग्वाहगत्ति मदा । ४४ । प्र सा/त प्र ४४ क्रिया वु तेण औदयियेव । अर्थयंभूतापि सा समस्तमहामोहसुखीभिपित्तकन्धावारस्यात्यन्तस्ये संभूतस्यान्मोहराग द्वेयरूपाणामुपरज्जकानामभावाच्चैतन्यविकारकारणतामनासाद्यन्ती नित्यमौदयिकी कार्यभूतस्य वन्धस्याकारणभूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायियेव । —अर्हन्त भगवान् पुण्यफलवाले हैं, और उनकी क्रिया औदयिकी है, मोहादिमे रहित है, इसलिए वह क्षायिका माना गया है ४४ । अर्हन्त भगवात्की विहार म उपदेश आदि सब क्रियाएँ यद्यपि पुण्यके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण औद-यिकी ही हैं । किन्तु ऐसी होनेपर भी वह सदा औदयिकी क्रिया, महामोह राजाकी समस्त सेनाके सर्वथा शयसे उत्पन्न होती है, इस-लिए मोह रागद्वेष रूपी उपरज्जकोंका अभाव होनेसे चैतन्यके विकार-का कारण नहीं होता इसलिए कार्यभूत वन्धकी अकारणभूततासे और कार्यभूत मोक्षकी कारणभूततासे क्षायिकी ही क्यों न माननी चाहिए । ५ घ/उ १०२४-१०२५ न्यायादप्येवमन्येदो मोहादिधातुिकर्मणाम् । यायास्तात्रोदयिकाज्जातो भावोऽस्यौदयिकोऽस्ति । १०२४ तत्राप्यस्ति

विवेकोऽयं श्रेयानवादिता यथा । वैकृतो मोहजो भाव रोप सर्षोऽपि लौकिक । १०२५। —इसी न्यायमे मोहादिक घातिया कर्मोक्त उदयसे तथा अघातिया कर्मोक्त उदयसे आत्मामें जितने भी भाव होते हैं, उतने वे सब औदयिक भाव हैं । १०२५। परन्तु इन भावोंमें भी यह भेद है कि केवल मोहजन्य वैकृति भाव ही सच्चा विकारयुक्त भाव है और बाकीके सब लोकरूढ़िसे विकारयुक्त औदयिक भाव हैं ऐसा समझना चाहिए । १०२५।

उदयकाल—दे काल १।

उदयदेव—(जीवन्धर चरित्र प्र ८/ANUp) आप ई ७७०-८६० के एक दिगम्बर आचार्य थे । वादीभरसिंह आपकी उपाधि थी—वे वादीभरसिंह । (तो ३/२५)

उदयनाचार्य—किरणावलीके रचयिता नैयायिक भाष्यकार । समय—ई ६८४ (तो २/३५१), (विशेष दे म्याय १/७) ।

उदय पर्वत—विजयार्थकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे विद्याधर ।

उदयसेन—१ लाङ्गनागड संघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे इतिहास ७/१०) आप गुणसेन प्रथमके शिष्य तथा नरेन्द्रसेनके सघर्षा थे । समय—वि ११५५ (ई १०६८) २ उवरात ही सघर्षा की गुर्वावलीमें नरेन्द्रसेनाचार्यके शिष्य । समय—वि ११८० (ई ११२३/ANUp) (सिद्धान्तसार सग्रहकी प्रशस्ति १२/८८ ६५) (आ जयसेनकृत धर्मरत्नाकर ग्रन्थकी प्रशस्ति १), (सिद्धान्तसार सग्रह/प्र ८/ANUp (दे इतिहास ७/१०)

उदया—भारतीय इतिहास १/५०१) शिशु नागवंशका एक राजा ।

उदयादित्य—१ भोजवंशी राजा जयसिंहके पुत्र, नरवर्मके पिता, मालवा देशके राजा । समय—वि १११५-११४० (ई १०५८-१०६३) । (दे इतिहास ३/१) । २ उदयादित्यालंकारके रचयिता एक कन्नड़ कवि । समय—ई ११५० । (तो ४/३११) ।

उदयाभावी क्षय—दे क्षय ।

उदयावली—दे आवली ।

उदराग्नि प्रशमन वृत्ति—दे भिक्षा १/७ ।

उदासीन निमित्त—लक्षण—दे निमित्त १ इसकी कथंचित् मुख्यता—गौणता सम्बन्धी विषय—दे कारण III

उदाहरण—दे दृष्टान्त

उदीच्य—उत्तर दिशा

उदीरणा—कर्मके उदयकी भौति उदीरणा भी कर्मफलकी व्यक्तताका नाम है परन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि किन्हीं क्रियाओं या अनुष्ठान विशेषोंके द्वारा कर्मको अपने समयसे पहले ही पका लिया जाता है । या अपकर्षण द्वारा अपने कालसे पहले ही उदयमें ले आया जाता है । रोप सर्व कथन उदयवत् ही जानना चाहिए । कर्म प्रकृतियोंके उदय व उदीरणाकी प्ररूपणाओंमें भी कोई विशेष अन्तर नहीं है । जो है वह इस अधिकारमें दर्शा दिया गया है ।

१ उदीरणाका लक्षण व निर्देश

१ उदीरणाका लक्षण

२ उदीरणाके भेद

३ उदय व उदीरणाके स्वरूपमें अन्तर

४ उदीरणासे तीव्र परिणाम उत्पन्न होते हैं

५ उदीरणा उदयावलीकी नहीं सत्ताकी होती है

६ उदयगत प्रकृतियों की ही उदीरणा होती है

* वध्यमान आयुकी उदीरणा नहीं होती —दे आयु ६

* उदीरणाकी आवाधा —दे आवाधा

२ कर्म प्रकृतियोंकी उदीरणा व उदीरणास्थान प्ररूपणाएँ

१ उदय व उदीरणाकी प्ररूपणाओंमें कथंचित् समानता व असमानता

२ उदीरणा व्युच्छित्ति की ओघ आदेश प्ररूपणा

३ उत्तर प्रकृति उदीरणाकी ओघ प्ररूपणा

(सामान्य व विशेष कालकी अपेक्षा)

४ एक व नाना जीवापेक्षा मूल प्रकृति उदीरणाकी ओघ आदेश प्ररूपणा

५ मूल प्रकृति उदीरणास्थान ओघ प्ररूपणा

* मूलोत्तर प्रकृतियोंकी सामान्य उदय स्थान प्ररूपणाएँ (प्रकृति विशेषता सहित उदयस्थानवत्)

* प्रकृति उदीरणाकी स्वामित्व सन्निकर्ष व स्थान प्ररूपणा —दे ध १५/४४-६७

* स्थिति उदीरणाकी समुत्कीर्तना, भगविचय व सन्नि-कप प्ररूपणा —दे ध १५/१००-१०७

* अनुभाग उदीरणाकी देश व सर्वधातीपना, सन्नि-कर्ष, भगविचय व भुजगारादि प्ररूपणाएँ

—दे ध १५/१७०-२३५

* भुजगारादि पदोंके उदीरणाकी काल, अन्तर व अल्प बहुत्व प्ररूपणा —दे ध १५/५०

* वन्ध उदय व उदीरणाकी त्रिसंयोगी प्ररूपणा

—दे उदय ७

१ उदीरणाका लक्षण व निर्देश

१ उदीरणाका लक्षण

प स/प्रा ३/३ भु जणकालो उदयो उदीरणापक्षपाचनफल । —कर्मोंके फल भोगनेके कालको उदय कहते हैं और अपक्षकर्मोंके पाचनको उदीरणा कहते हैं । (प स/स ३/३-४)

घ १५/४३/७ का उदीरणा नाम । अपक्षपाचनमुदीरणा । आवलियाए बाहिरद्विदिमार्दि काटून उवरिमाण ठिदीण मधावलियवदिक्कत्त-पदेसगममखेज्जलोपपट्ठिभागेण पत्तिदोषमत्स अस्सखेज्जदिभापट्ठि-भागेण वा ओल्लिद्वण उदयावलियाए देदि सा उदीरणा । —प्रन—उदीरणा किसे कहते हैं । उत्तर—(अपक्ष अर्थात्) नहीं पके हुए कर्मोंको पकानेका नाम उदीरणा है । आवली (उदयावली) में बाहरकी स्थितिको लेकर आगेकी स्थितियोंके, बन्धावली जितकान्त प्रदेशाप्रको अर्थस्यासलोक प्रतिभागसे अथवा पक्षोपमके असंख्यासर्वे भाग रूप प्रतिभागसे अपकर्षण करके उदयावलीमें देना यह उदीरणा कहलाती है । (घ ६/१, ६-८, ४/२१४), (गो क/जी प्र ४३६/४६२/८)

प स/प्रा टी ३/४७/५ उदीरणा नाम अणकपाचन दीर्घकाले उदे-प्यतोऽप्रनिपेकाद् अपकृष्णाणपस्थितिकाघस्तननिपेकपु उदयावन्ध्या दत्त्वा उदयमुलेनानुभूय कर्मरूप रयाजयिरवा पुद्गलान्तररूपेण परि-णमयतीत्यर्थ । —उदीरणा नाम अपक्षपाचनका है । दीर्घकाल पीछे

उदय आने योग्य अग्रिम निपेकोंको अपकर्षण करके अरण स्थितिवाले अधस्तन निपेकोंमें या उदयावलीमें देकर उदयमुख रूपसे उनका अनुभवकर लेनेपर वह कर्मस्कन्ध कर्मरूपकी छोड़कर अन्य पुद्गलरूप से परिणमन कर जाता है। ऐसा सार्वभौम है। विशेष दे — उदय २/७

२ उदीरणाके भेद

घ १५/४३/५ उदीरणा चउविहा—पयडि द्विदि—अणुभागपदेसउदीरणा चेदि । —उदीरणा चार प्रकारकी है —प्रकृतिउदीरणा, स्थितिउदीरणा, अनुभागउदीरणा और प्रवेशउदीरणा ।

३ उदय व उदीरणाके स्वरूपमें अन्तर

प स/प्रा ३/३ भु जगकालो उदओ उदीरणापकपाचनकालं । —कर्मका फल भोगनेके कालको उदय कहते हैं और अपक कर्मोंके पाचनको उदीरणा कहते हैं ।

घ ६/१६-८/४/२३/११ उदय उदीरणाण को विसेसो । उच्चदे-जे कम्म-सर्वधा ओकड्डुमड्डुणादिपओमेण विणा द्विदिसखय पाविदूण अप्प-प्पणो फल वेत्ति, तेसि कम्मख धाणमुदओ त्ति सण्णा । जे कम्मसर्वधा महत्तसु द्विदि-अणुभागेसु अवट्टिदधा ओकड्डुण फलदाणो कीर ति तेसिमुदीरणा त्ति सण्णा, अपपकाचनस्य उदीरणाठयपदेशाव । —प्रश्न—उदय और उदीरणामें क्या भेद है । उत्तर—कहते हैं—जो कर्म-स्कन्ध अपकर्षण, उरकर्षण आदि प्रयोगके बिना स्थिति सयको प्राप्त होकर अपना-अपना फल देते हैं, उन कर्मस्कन्धोंकी 'उदय' यह सज्ञा है । जो महात् स्थिति और अनुभागोंमें अवस्थित कर्म-स्कन्ध अपकर्षण करके फल देनेवाले किये जाते हैं, उन कर्मस्कन्धोंकी 'उदीरणा' यह सज्ञा है, क्योंकि, अपक कर्म-स्कन्ध पाचन करनेको उदीरणा कहा गया है । (क पा सुत्त/मू गा ४६/प ४६६)

४ उदीरणासे तीव्र परिणाम उत्पन्न होते हैं

रा वा ६/६/१-२/१११/३२ बाह्याभ्यन्तरहेतूदीरणवशादुद्दिष्ट परिणाम तीव्रता स्थूलभावात् तीव्र इत्युच्यते । १। अनुदीरणप्रत्ययसन्निधानात् उत्पद्यमानोऽनुद्दिष्ट परिणामो मन्दनात् पमनात् मन्दः इत्युच्यते । —बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे कपायोंकी उदीरणा होनेपर अत्यन्त प्रवृद्ध परिणामोंको तीव्र कहते हैं । इससे विपरीत अनुद्दिष्ट परिणाम मन्द हैं । अर्थात् केवल अनुदीर्ण प्रत्यय(उदय)के सन्निधानसे होनेवाले परिणाम मन्द हैं ।

५ उदीरणा उदयावलीकी नहीं सत्ताकी होती है

घ १६/४४/१ णाणावरणीय-इसणवरणीय-अतराइयण मिच्छाहट्ठिमार्दि कादूण जाव खीणकसाओ त्ति ताव एदे उदीरया । णवरि खीणकसा-यद्वाए समयाहियावलिमसेसाए एदासि तिण्णं पयडोणं उदीरणा वोच्छिण्णा । —ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, और अन्तराय तीन कर्मोंके मिच्छाहट्ठिसे लेकर क्षीणकपाय पर्यन्त, ये जीव उदीरक हैं । विशेष इसना है कि क्षीण कपायके कालमें एक समय अधिक आवलीके शेष रहनेपर इन तीनों प्रकृतियोंकी उदीरणा व्युच्छिन्न हो जाती है । (इसी प्रकार अन्य ४ प्रकृतियोंकी भी प्ररूपणा की गयी है । तहाँ सर्वत्र ही उदय व्युच्छिन्नवाले गुणस्थानकी अन्तिम आवली शेष रहनेपर उन-उन प्रकृतियोंकी उदीरणाकी व्युच्छिन्नति बताया है ।)

प स/प्रा टो ४/२२६ पृ १७८ अत्रापकपाचनमुदीरणेति वचनापुदया-वलिमायां प्रविष्टाया कर्मस्थितेर्नोदीरणेति मरणावलिफायामायुप उदीरणा नास्ति । —'अपकपाचन उदीरणा है' इस वचनपर-से यह भात जानी जाती है कि उदयावलीमें प्रवेश किये हुए निपेकों या कर्मस्थितिकी उदीरणा नहीं होती है । इसी प्रकार मरणावलीके शेष रहनेपर आयुकी उदीरणा नहीं होती है ।

६ उदयगत प्रकृतियोंकी ही उदीरणा होती है

, स/प्रा ४७३ उदयस्सुदीरणस्स य सामिच्चादो ण विज्जदि विसेसो । मोत्तण य इगिदालं सेसाणं सव्वपयडोणं । —वक्ष्यमाण ४१ प्रकृ-

तियोंको छोड़कर (देखो आगे सारणी) शेष सर्व प्रकृतियोंके उदय और उदीरणामें स्वामिरवकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है । विशेषार्थ—सामान्य नियम यह है कि जहाँपर जिस कर्मका उदय होता है, वहाँपर उस कर्मकी उदीरणा अवश्य होती है—किन्तु इसमें कुछ अपवाद है (देखो आगे सारणी) (प स/सं ५/४४२)

ल सा/जी प्र व भापा ३०/६७/३ पुनरुदयवतां प्रकृतिस्थिरयनुभागप्रदेशानां चतुर्णामुदीरको भवति स जीव, उदयादीरणयो स्वामिभेदाभावात् । —प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग जे उदयरूप वहे तिनिही-का यह उदीरणा करनेवाला हो है जातै जाके जिनका उदय ताकौ तिनिहीकी उदीरणा भी संभवै ।

२ कर्म प्रकृतियोंकी उदीरणा व उदीरणा स्थान प्ररूपणाएँ

१ उदय व उदीरणाकी प्ररूपणाओंमें कथंचित् समा-नता व असमानता

सं प्रा ३/४४-४७ उदयस्सुदीरणस्स य सामिच्चादो ण विज्जदि विसेसो । मोत्तण तिण्णं-आणं पमत्त जोई अजोई य १४४ । —स्वामित्व की अपेक्षा उदय और उदीरणामें प्रमत्त विरत, समोर्ग केवली और अयोगिकेवली इन तीन गुणस्थानोंको छोड़कर कोई विशेष नहीं है । (गो क/मू २७८/४०७), (कर्मस्त ३८-३९)

प स/प्रा ५/४७३ उदयस्सुदीरणस्स य सामिच्चादो ण विज्जदि विसेसो । मोत्तण य इगिदालं सेसाणं सव्वपयडोणं १४७३ । —वक्ष्यमाण इकतालीस प्रकृतियोंको छोड़कर शेष सर्व प्रकृतियोंके उदय और उदीरणामें स्वामिरवकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है । (प स/प्रा ५/४७३-४७६), (गो क/मू २७८-२८१), (कर्मस्त ३९-४३), (प स/सं ३/६६-६०/)

अपवाद संख्या	अपवाद गत ४१ प्रकृतियाँ
१	साता, असाता व मनुष्यायु इन तीनोंकी उदय व्युच्छिन्न १४वें गुणस्थानमें होती है पर उदीरणा व्युच्छिन्न ६ठे में ।
२	मनुष्यगति, पचेन्द्रिय जाति, सुभग, व्रस, बादर, पर्याप्त, आवेय, यश, तीर्थकर उच्चगोत्र इन १० प्रकृतियोंकी उदय व्युच्छिन्न १४वें में होती है पर उदीरणा व्युच्छिन्न १३वें में ।
३	ज्ञानावरण ६, दर्शनावरण ४, अन्तराय ५, इन १४ की उदय व्युच्छिन्न १२वें में एक आवली काल परचात होती है और उदीरणा व्युच्छिन्न तहाँ ही एक आवली पहले होती है ।
४	चारों आयुका उदय भवके अन्तिम समय तक रहता है परन्तु उदीरणाकी व्युच्छिन्नति एक आवली काल पहले होती है ।
५	पाँचों निद्राओं का शरीर पर्याप्त स पूर्ण होनेके परचात इन्द्रिय पर्याप्त पूर्ण होने तक उदय होता है उदीरणा नहीं ।
६	अन्तरकरण करनेके परचात प्रथम स्थितिमें एक आवली शेष रहनेपर— उपशम सम्पत्तव सन्मुखके मिथ्यात्वका क्षायिक सन्मुखके सम्मक प्रकृतिका, और उपशम श्रेणी आरुहके यथा-योग्य तीनों वेदोंका (जो जिस वेदके उदयसे श्रेणी चढ़ा है उसके उस वेदका) इन सात प्रकृतियोंका उदय होता है उदीरणा नहीं ।
७	जिन प्रकृतियोंका उदय १४वें गुणस्थान तक होता है उनकी उदीरणा १३वें तक होती है (देखो ऊपर नं २) -

ये सात अपवादवाली कुल प्रकृतियाँ ४१ हैं—इनको छोड़कर शेष १०७ प्रकृतियोंकी उदय और उदीरणामें स्वामित्वकी अपेक्षा कोई भेद नहीं ।

२ उदीरणा व्युच्छित्ति की ओघ आदेश प्ररूपणा

(पं स / प्रा / परिशिष्ट / पृ ७४८), पं स / प्रा ३/४४-४८, ६६-६०),

(गो क २०८-२०९/४००-४१०)

उदीरणा योग्य प्रकृतियाँ—उदय योग्यवाली ही—१२२

संकेत—प्रकृतियों के छोटे नाम (देखो उदय ६/१)

गुण स्थान	व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ	अनुदीरणा	पुन उदीरणा	उदीरणा योग्य	अनुदीरणा	पुन उदीरणा	कुल उदीरणा
ओघ प्ररूपणा							
१	आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, मिथ्यात्व	तीर्थ, आहा द्वि सम्म्य, मिश्र=६	१२२	४	११		
२	१४ इन्द्रिय, स्थावर, अनन्तानुमन्धी चतुष्क	नारकानुपूर्वी=१	११२	१	१११		
३	मिश्र मोहनीय	मनु तिर्य देव-आनु=३	१०२	३	१००		
४	अप्र चतु, वैक्रि द्वि, नरक त्रिक, देव त्रिक, मनु तिर्य आनु, दुर्भग, अनादेय, अयश	चारों आनु, सम्य=४	६६	४	१०४		
५	प्रत्या चतु, तिर्य आयु नीच गोत्र, तिर्य गति, उद्योत=	आहा द्वि=२	७६	२	८१		
७	सम्य मोह, अर्धनाराच, कौलित, सुपादिका		७३		७३		
८/१	हास्य, रति भय, जुगुप्सा		६६		६६		
८/२	अरति, शोक		६६		६६		
अत			६३		६३		
९/१५	सवेद भागमें तीनों वेद		६०		६०		
९/६	क्रोध		६६		६६		
९/७	मान		६६		६६		
९/८	माया		६७		६७		
९/९	लोभ (मादर)		६७		६७		
१०	लोभ (सूक्ष्म)		६६		६६		
११	वज्र नाराच, नाराच		६४		६४		
१२/१	निद्रा, प्रचला		६३		६३		
१२/४	ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण,		६३		६३		
१३	५ अन्तराय		३८		३८		
१४	(नाना जीवापेक्षा) —वज्ररूपमनाराच, निर्माण, स्थिर अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर दु स्वर, प्रशस्त-अप्रशस्त, विहायो, औदा द्वि, तैजस, कामाणि, ई संस्थान, वर्ण रस, गन्ध, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात परघात, उच्छ्वास, प्रत्येक शरीर—२६ मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, सुभग, वस, मादर, पर्याप्त, आदेय, यश, तीर्थङ्कर, उच्छगोत्र	तीर्थङ्कर=१	३८	१	३८		
१४	X						

आदेश प्ररूपणा

यथा योग्य रूपसे उदयवत् जान लेना, केवल ओघवत् ईडे, १३वें व १४वें गुणस्थानमें निर्दिष्ट अन्तर ठाल देना

३. उत्तर प्रकृति उदीरणा की ओघ प्ररूपणा

(पं स / प्रा ३/६७), (रा - १ ६/३६/६/३१), (पं स. ३/१४-१६)

गुण स्थान	प्रकृत गुण स्थान की अवस्थामें कभी भी	प्रकृत गुण स्थानमें अन्यतम प्रकृति की	मरण कालसे १ आवली पूर्व
गुण स्थान	विशेष	विशेष	विशेष
१ १८ ६	१-४ इन्द्रिय जाति-आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त साधारण	६ अनन्तानुमन्धी चतुष्क, चारों आनुपूर्वी, मनु-मनुष्ययु	१ मनुष्यायु
२ ६ १	सम्यग्मिथ्यात्व	६	
३ १ १	अप्रवारयानावरण ४, नरक व देवगति, वै क्रियक शरीर व अगोपांग	७ दुर्भग, अनादेय, अयश, सम्यक प्रकृति, मनु-प्यायु	७ चारों आनु-पूर्वी, मनु-प्य-व नरक आयु
४ ११ ८	प्रत्याख्यानावरण ४, तिर्यचगति, उद्योत, नीचगोत्र	२ सम्यक प्रकृति, मनुष्यायु	२ मनुष्य व तिर्यच आयु
५ ६ ६	निद्रा निद्रा, प्रचला, प्रचला, स्त्यानगृष्टि साता असाता	४ सम्यक् प्रकृति, मनुष्यायु, आहारक शरीर व अगोपांग	३ मनुष्यायु, आहारक शरीर व अगोपांग
६ ७ ३	नीचेवाली तीनों सहनन	१ सम्यक् प्रकृति	
७ ८ ६	हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा		
८ ९ ६	तीनों वेद, सज्जलन क्रोध मान, माया		
९ १० १	सज्जलन लोभ		
१० ११ २	वज्र नाराच, नाराच सहनन		
११ १२ २	X		
१२ १३ १४			
१३ ३८ ३८	मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर व अगोपांग, तैजस व कामाणि शरीर, इहों संस्थान, वज्ररूपमनाराच सहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, उच्छ्वास, प्रशस्ताप्रशस्त-विहायोगति, वस, मादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर शुभ, अशुभ सुभग, सुस्वर, दु स्वर, आदेय, यश, निर्माण, उच्छगोत्र, तीर्थङ्कर		२ निद्रा, प्रचला १४ ४ ज्ञानावरण ४ दर्शनावरण ५ अन्तराय
१४ X X			

४ एक व नानाजीवापेक्षा मूलप्रकृति उदीरणाकी ओघ आवेश प्ररूपणा

१ ओघ प्ररूपणा (प सं/प्रा ४/२२२-२२६), (प सं/स ४/८६-६१), (शतक २६-३२) (घ १६/४४)

नाम प्रकृति	गुण स्थान	एक जीवापेक्षया काल		एक जीवापेक्षया अन्तर		नाना जीवापेक्षया अक्षप बहुत्व	
		जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट	अक्षप बहुत्व	विशेषका प्रमाण
आयु— (केवल आवली काल अवशेष रहते)	१	१ या २ समय	१ आवली कम ३३ सागर	१ आवली	अन्तर्मुहूर्त	सर्वत स्तोक	
स्व स्थितिके अन्त तक वेदनाय	२-६	"	"	"	"	"	
मोहनीय	१-१०	अन्तर्मुहूर्त	अर्ध पु परिव	१ समय	"	विशेषाधिक	अन्तिम आवलीमें सचित अनन्त
ज्ञानावरणी	१-१२	अनादि सान्त	अनादि अनन्त	निरन्तर	निरन्तर	"	७-१० गुण स्थान वाले जीव
दर्शनावरणी	१-१२	"	"	"	"	उपरोक्तवत्	१-१२ " " "
अन्तराय	१-१२	"	"	"	"	"	उपरोक्तवत्
नाम	१-१३	"	"	"	"	विशेषाधिक	सयोगी केवली प्रमाण
गोत्र	१-१३	"	"	"	"	उपरोक्तवत्	उपरोक्तवत्

२ आवेश प्ररूपणा (दे घ १६/४७)

५ मूल प्रकृति उदीरणा स्थान ओघ प्ररूपणा

(प म/प्रा ३/६), (प सं/प्रा ४/२२२ २२६), (प सं/स ३/१४) (प सं/स ४/८६-६१), (शतक २६-३२), (घ १६/४८-५०)

मंकेत - आ = आवली

भग स	स्थानका विवरण	गुण स्थान	गुण स्थानके अन्त तक या कुछ काल शेष रहते	एक जीवापेक्षया काल		एक जीवापेक्षया अन्त	
				जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट
१	आठों कर्म	१-६	अन्त तक	१,२ समय	३३ सागर-१आ	१ आवली	अन्तर्मुहूर्त
२	आयु बिना ७ कर्म	१,२,४,६,६	अन्तर्मुहूर्त शेष रहनेपर	"	१ आवली	क्षुद्र भव— १ आवली	३३ सागर— १ आवली
३	आयु व वेदनी बिना ६	३	अन्त तक	—	यह गुण स्थान नहीं होता	अन्तर्मुहूर्त	—
४	आयु वेदनी व मोहके बिना—६ कर्म	७-१० १०	आ शेष रहनेपर	१,२ समय	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अर्ध पु परि
५	नाम व गोत्र = २ कर्म	११-१२ १२	अन्त तक आ शेष रहनेपर	"	"	"	"
		१३	अन्त तक	अन्तर्मुहूर्त	कुछ कम १ पूर्व कोटि	निरन्तर	निरन्तर
		१४	"	"	"	"	"

भग स	स्थानका विवरण	गुण स्थान	गुण स्थानके अन्त तक या कुछ काल शेष रहते	नाना जीवापेक्षया काल		नाना जीवापेक्षया अन्तर		अक्षप बहुत्व
				जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट	
१	आयु मोह वेदनीयके बिना ६ कर्म	११-१२		१ समय	अन्तर्मुहूर्त	१ समय	६ मास	सर्वत स्तोक
२	नाम गात्र २ कर्म	१३		सर्वदा	सर्वदा	निरन्तर	निरन्तर	स गुणे
३	आयु वेदनी बिना ६ कर्म	७		"	"	"	"	"
४	आयु बिना ७ कर्म	१-६		"	"	"	"	अनन्त गुणे
५	सर्व ही = ४ कर्म	"		"	"	"	"	सं गुणे

उदीर्ण—घ १३/४, २, १०, २/३०३/३ फलदातृत्वेन परिणत कर्मपुद्गल-

स्कन्ध उदीर्ण । —फलदान रूपसे परिणत हुआ कर्म-पुद्गल स्कन्ध उदीर्ण हुआ कहा जाता है ।

उद्गम—१ आहारका एक दोष—दे आहार II/४/१, ४, १ वसतिका का एक दोष—दे वसतिका ।

उद्वावण—(घ १३/२, ४, २२/३६/११) जीवस्य उपद्रवण उद्वावण नाम ।

—जीवका उपद्रव करना ओद्वावण कहा जाता है ।

उद्दिष्ट—१ आहारकका औद्देशिक दोष

१ दातार अपेक्षा

मू आ/मू ४२५-४२६ देवदपास डट्ट किविणट्टं चावि जं तु उद्दिसियं कदमण्णसमुद्देसं चतुर्विधं वा समासेण । ४२५। जावदिय उद्दे सो पासडोत्ति य हवे समुद्दे सो । समणोत्ति य आवेसो णिग्गंधोत्ति य हवे समावेसो । ४२६। —नाग यक्षादि देवताके लिए, अन्यमयी पार्व-हियोंके लिए दीनजन कृपणजनोंके लिए उनके नामसे बनाया गया भोजन औद्देशिक है । अथवा ससेपसे समौद्देशिकक कहे जानेवाले चार भेद हैं । ४२६। १-जो कोई आयेगा सबको दोगे ऐसे उद्देशसे किया (लंगर खोलना) अन्न याचानुद्देश है, २ पार्वडो अन्यलिङ्गो-के निमित्तसे बना हुआ अन्न समुद्देश है, ३ तापस परित्राजक आदिके निमित्त बनाया भोजन आवेदश है, ४ निर्ग्रन्थ दिग्गम्यर साधुओंके निमित्त बनाया गया समावेश दोष सहित है । ये चार औद्देशिकके भेद हैं ।

प पु ४/११-१७ इत्युक्ते भगवानाह भरतये न कषपते । साधूनामोदशी भिक्षा या तदुद्देशसंस्कृता । १६। —एक बार भगवान् श्रृणुभवेव ससंघ अयोध्या नगरोमें पधारे । तब भरत अच्छे-अच्छे भोजन बनवाकर नौकरके हाथ उनके स्थान पर ले गया और भक्ति पूर्वक भगवान्से प्रार्थना करने लगा कि समस्त संघ उस आहारका ग्रहण करके उसे सन्तुष्ट करे । ११-१४। भरतके ऐसा कहने पर भगवान्ने कहा कि हे भरत ! जो भिक्षा मुनियोंके उद्देशसे तैयार की जाती है, वह उनके योग्य नहीं है—मुनिजन उद्दिष्ट भोजन ग्रहण नहीं करते । १६। श्रावकोंके घर ही भोजनके लिए जाते हैं और वहाँ प्राप्त हुई निर्दोष भिक्षाको मौनसे खड़े रहकर ग्रहण करते हैं । १६-१७।

म आ/वि ४२१/६१३/८ श्रमणानुद्दिश्य कृतं भक्तादिक उद्देशिगमित्यु-च्यते । तच्च बोधशविध आधाकर्मदिविकल्पेन । तत्परिहारो द्वितीय स्थितिकल्प । तथा चोक्त कषपे—सोलसविधमुद्देशे वज्जेदवर्तित मुनिमर्चरिमाण । तित्थगाराण तित्थे ठिदिकप्पो होदि विदिओ ह । —मुनिके उद्देशसे किया हुआ आहार, वसतिका वगैरहको उद्देशिक कहते हैं । उसके आधाकर्मदिक विकल्पसे सोलह प्रकार हैं । (देखो आहार II/४ में १६ उद्गमदोष) । उसका रत्याग करना सो द्वितीय स्थिति कषप है । कषप नामक ग्रन्थ अर्थात् कषपसूत्रमें इसका ऐसा वर्णन है—श्री आदिनाथ तीर्थंकर और श्री महावीर स्वामी (आदि और अन्तिम तीर्थंकरों) के तीर्थमें १६ प्रकारके उद्देशका परिहार करके आहारदि ग्रहण करना चाहिए, यह दूसरा स्थितिकल्प है ।

स सा/ता वृ २२७ आहारग्रहणारपूर्व तस्य पात्रस्य निमित्त यत्किमप्य-दानपानादिकं कृतं तदीपदेशिक भण्यते । अथ कर्मोपदेशिकं च पुद्गलमयत्वमेतद्द्रव्यं । —आहार ग्रहण करनेसे पूर्व उस पात्रके निमित्तसे जो कुछ भी अशनपानादिक बनाये गये हैं उन्हें औपदेशिक कहते हैं । अथ कर्म और औपदेशिक ये दोनों ही द्रव्य पुद्गलमयी हैं ।

२ पात्रकी अपेक्षा

मू आ ४८५, ६२२ पगदा असओ जन्हा सन्हादो दन्वदोत्ति तं दन्व । फासुगमिदि सिद्धे वि य अप्पट्टकद असुद्धं तु । ४८५। पयणं वा

पायण वा अणुमणचित्तो ण तस्य माहेदि । जेम-तोवि सवादी णवि समणो दिट्ठि सण्णो । ६२८। —साधु द्रव्य और भाव दोनोंसे प्राप्त क द्रव्यका भोजन करे । जिसमेंसे एकेंद्रिय जीव निकल गये वह द्रव्य-प्राप्तक आहार है । और जो प्राप्तक आहार होनेपर भी 'मरे लिए किया है' ऐसा चिन्तन करे वह भावसे अशुद्ध जानना । चिन्तन नहीं करना वह भाव-प्राप्तक आहार है । ४८५। पाक करनेमें अथवा पाक करानेमें पाँच उपकरणोंके (पचसूनासे) अथ कर्ममें प्रवृत्त हुआ, और अनुमोदनासे प्रवृत्त जो मुनि उस पचनादिसे नहीं डरता है, वह मुनि भोजन करता हुआ भी आत्मघाती है । न तो मुनि है और न सम्यग्दृष्टि है । ६२८।

३ भावाथ

उद्दिष्ट वास्तवमें एक सामान्याथ बाची शब्द है इसलिए इसका पृथक्त्वे कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं है । आहारके ४६ दोषोंमें जो अथ कर्मदि १६ उद्गम दोष हैं वे सर्व मिलकर एक उद्दिष्ट शब्दके द्वारा कहे जाते हैं । इसलिए उद्दिष्ट नामक किसी पृथक् दापका ग्रहण नहीं किया गया है । जिसमें भी दो विकल्प हैं—एक दातारकी अपेक्षा उद्दिष्ट और दूसरा पात्रकी अपेक्षा उद्दिष्ट । दातार यदि उपरोक्त १६ दोषोंसे युक्त आहार बनाता है तो वह द्रव्यसे उद्दिष्ट है, और यदि पात्र अपने चित्तमें अपने लिए बनेका अथवा भोजनके उत्पादन सम्यग्धी किसी प्रकार विकल्प करता है तो वह भावसे उद्दिष्ट है । ऐसा आहार साधु-को ग्रहण करना नहीं चाहिए ।

२ वसतिकाका दोष (म आ/वि २३०/४४३/१३)

यावन्तो दीनानाकृपणा आगच्छन्ति लिङ्गिणो वा, तेषामयमिष्ट-द्विर्य कृता पार्ष्णिनामेवेति वा, श्रमणानामेवेति वा, निर्ग्रन्थानामे-वेति सा उद्देशिगा वसदिति भण्यते । —'दीन खनाथ अथवा कृपण आवेंगे, अथवा सर्वधर्मके साधु आवेंगे, किंवा जैनधर्मसे भिन्न ऐसे साधु अथवा निर्ग्रन्थ मुनि आवेंगे उन सब जनोंको यह वसति होगी' इस उद्देश्यसे बाँधो गई वसतिका उद्देशिक दापसे दृष्ट है ।

३ उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा (अ ग धा ७/७७)

यो बधुराभधुरतुष्यचित्तो गृह्णाति भाज्यं नवकोटिशुद्ध । उद्दिष्टवर्जं गुणिभि स गीतो, विभोलुक् मसृति यातुधान्या । ७७। जो पुरुष भले-बुरे आहारम समान है चित्त जाफ़ ऐसा जो पुरुष नवकोटिशुद्ध कहिये मन बचनकायकार करया नाहीं करायो नाहीं करे हुएका अनुमोदो नाहीं ऐसे आहारको ग्रहण करे हैं सो उद्दिष्ट श्यागी गुणवर्तनने कहा है । कैसा है, सो ससार रूपी राक्षसीसे विशेष भयभीत है ।

* उद्दिष्ट आहारमें अनुमति का दोष—दे अनुमति ३

* उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाके भेद रूप क्षुल्लक व ऐलकका निर्देश—दे श्रावक १

* क्षुल्लक व ऐलकका स्वरूप—दे वह वह नाम

उद्देश—न्या सू/भा १/१/२/८६ नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधात् शुद्देशः । —पदार्थके नाममात्र ब्यनका उद्देश कहते हैं । न्यायदो १/४३ विवेक्तव्यनाममात्रकथनमुद्देशः । —विवेचनीय वस्तु के केवल नामोन्मेष करनेका उद्देश कहते हैं ।

उद्देशिक—दे उद्दिष्ट ।

उद्देश्य—विवक्षित धर्मी ।

उद्देश्यता—उद्देश्यमें रहनेवाला धर्म—जैसे घटमें घटरव ।

उद्देश्यतावच्छेदक—एक धर्मीको अन्य धर्मोंसे व्यावृत्त करने-वाला 'त्व' प्रत्यय युक्त धर्म विशेष ।

उद्धार देव—भूत चौबोसीमें सबसे तीर्थंकर—दे तीर्थंकर ५

उद्धार पत्न्य—कालका प्रमाण—दे गणित I/१/५

उद्धार सागर—कालका प्रमाण—दे गणित I/१/५

उद्घृत—(गो जी /सदृष्टि अधिकार) भाग की हुई राशि ।

उद्भाव—उत्पत्ति ।

उद्भिन्न—१ आहारका एक दोष—दे आहार II/४/४, २ वस्तिका एक दोष—दे वस्तिका ।

उद्भ्रान्त—प्र नरकका पाँचवाँ पटल—दे नरक ५/११ व रत्नप्रभा

उद्यवन—(भ आ /वि २/१४/१५) उत्कृष्ट यवन उद्यवन । तत्कथ दर्शनादिभिरात्मनो मिश्रणमिति । असकृदर्शनादिपरिणतिरुद्यवन । —उत्कृष्ट मिश्रण होना उद्यवन है, अर्थात् आत्माकी सम्यग्दर्शनादि परिणति होना उद्यवन शब्दका अर्थ है । प्रश्न—सम्यग्दर्शनादि तो आत्मासे अभिन्न हैं, तब उनका उसके साथ सम्मिश्रण होना कैसे कहा जा सकता है । उत्तर—यहाँ पर उद्यवन शब्दका सामान्य सम्बन्ध ऐसा अर्थ समझना चाहिए । अर्थात् भार्गव सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे आत्माका परिणत हो जाना उद्यवन शब्दका अर्थ है ।

अन घ १/१६/१०४ इष्टयादीनां मलनिरसन द्योतनं तेषु शरवद्,— वृत्ति स्वस्योद्भवमनुदित धारणं निस्पृहस्य । —दर्शन ज्ञान चारित्र और तप इन चारों आराधनाओंमें लगनेवाले मलोंके दूर करनेको उद्योत कहते हैं । इन्होंने इनके आराधकके निरय एकतान होकर रहनेको उद्यवन कहते हैं ।

उद्यापन—उपवासके पश्चात् उद्यापनका विधान ।

५—दे प्रोपधोपवास ३

उद्योत—१ आध्यात्मिक लक्षण

भ आ /वि १/१४/६ उद्योतन शङ्कादिनिरसनं सम्यक्स्वाराधना श्रुत- निरूपिते वस्तुनि सशयप्रतिज्ञाया अपाकृति । अनिरचयो वैपरीत्यं वा ज्ञानस्य मल, निरचयेनानिरचयव्युदास । यथार्थतया वैपरीत्यस्य निरासो ज्ञानस्योद्योतन भावनाविरहो मलं चारित्रस्य, ताप्त भावनास्तु वृत्तिरुद्योतनं चारित्रस्य । तपसोऽसयमपरिणाम कलङ्कतया स्थितितत्त्वापप्रकृति सयमभावनया तपस उद्योतन । —शका काँसा आदि दोषोंको दूर करना यह उद्योतन है । इसको सम्यक्स्वाराधना कहते हैं । जिसको सदाय भो कहते हैं ऐसी शकादि-को अपने हृदयसे दूर करना (सम्यक्स्वराधना) उद्योतन है । निश्चय न होना अथवा उलटा निश्चय होना, यह ज्ञानका मल है । जब निश्चय होता है, तब अनिरचय नहीं रहता । यथार्थ वस्तुज्ञान होनेसे विपरीतता चली जाती है । यह ज्ञानका उद्योतन है । भावनाओंका रयाग होना चारित्रका मल है अर्थात् भावनाओंमें तत्पर होना ही चारित्रका उद्योतन है । असयम परिणाम होना, यह तपका कलंक है संयम भावनामें तत्पर रहकर उस कलंकको हटाकर तपश्चरण निर्मल बनाना तपका उद्योतन है ।

भौतिक लक्षण—(स सि ५/२४/२६/१०) उद्योतश्चन्द्रमणित्वयोस्तादि- प्रभव प्रकाश । —चन्द्र, मणि और जुगनु आदिके निमित्त जो प्रकाश पैदा होता है उसे उद्योत कहते हैं । (रा वा ५/२४/१६/ ४८६/२१) (त सा ३/७१), (प्र स /टी १६/५३)

घ ६/१६--१,२८/६०/६ उद्योतनमुद्योत । —उद्योतन अर्थात् चमकने को उद्योत कहते हैं ।

गो क /मू १३/२६ अणूपहा उज्जोओ । —उज्जता रहित प्रभाको उद्योत कहते हैं ।

२. उद्योत नाम कर्मका लक्षण

स सि ८/११/६६१/५ यत्त्रिमत्तमुद्योतनं तदुद्योतनाम् । तच्चन्द्रत्वयोता- दिषु वर्तते । —जिसके निमित्तसे शरीरमें उद्योत होता है वह उद्योत नाम-कर्म है । वह चन्द्रविम्ब और जुगनु आदिमें होता है । (रा, वा ८/११/१६/७७८/७), (घ ६/१६-१,२८/६०/६), (घ १३/५.५.१०/३६६/१), (गो क /जी प्र ३३/२६/२९)

उद्योतन सूरि—आप 'कुललयमाला' नाम ग्रन्थके रचयिता एक श्वेताम्बराराम्य थे । यह कृति आपने वि ८३४ (ई ७७८) में समाप्त की थी । (ह पु /प्र ५/५, पञ्चालात), (वरांगचरित्र/प्र २१/५ खुशास चम्प), (ती ३/२८७) ।

उद्वेग—नि सा /ता वृ ६ इष्टवियोगेषु निवृत्तवभाव एवोद्वेग । — इष्टके वियोगमें विरक्तवभाव या घबराहटका भाव होना उद्वेग है ।

उद्वेघ—पृथिवी उत्तरपर या धीचमें चौड़ाई ।

उद्वेलन—दे सक्रमण ४ ।

उद्वेल्लिम—तद्व्यतिरिक्त द्रव्य नित्येका एक भेद । —दे नित्य ५/६

उन्मग्ना—विजयार्थकी गुफाओंमें स्थित नदी । दे लोक ३/५ । ति प ४/२३८ गियजनपवाहपठिद द्रव्य गरुवं गेदि उवरिम्मि । जम्हा तम्हा भण्णइ उम्मग्गा बोहिणो एसा । —क्योंकि, यह अपने जलप्रवाहमें गिरे हुए भारीसे भारी द्रव्यको भी ऊपर से जाती है । इसलिए यह नदी उन्मग्ना कही जाती है । (रा वा ३/१०/४/१०१/ ३३), (त्रि सा ५६४)

* उन्मग्ना नदीका लोकमें अवस्थानादी—दे लोक ३/७

उन्मत्त—कायोत्सर्गका एक अतिचार—(दे व्युत्सर्ग १) ।

उन्मत्तजला—पूर्व विदेह की एक विभ्रगा नदी । दे लोक ५/८

उन्मान—दे प्रमाण ५ ।

उन्मिश्र—१ आहारका एक दोष—दे आहार II/४/४, २ वस्तिकाका एक दोष—दे वस्तिका ।

उपकरण—घ ६/१, २, ३३/२३६/३ उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम्—जिसके द्वारा उपकार किया जाता है उसे उपकरण कहते हैं ।

सयमोपकरण—(प्र सा /ता वृ २२३/१) निश्चयव्यवहारमोक्षमार्ग- सहकारिकारणत्वेनाप्रतिपिद्धमुपकरणरूपोपधि अप्राथनीयं—भाव- सयमरहितत्वासायतजनस्यानभिलषणीयम् । —निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गके सहकारीकारण रूपसे अप्रतिपिद्ध जो उपकरण रूप उपाधि वह भाव संयमसे रहित असयत जनोंके द्वारा प्रार्थना या अभिलाषा की जाने योग्य नहीं होनी चाहिए ।

* उपकरण इन्द्रिय—दे इन्द्रिय १

* जिन प्रतिमाके १०८ उपकरण द्रव्य—दे चैरय १/११

उपकार—उपकरणाका सामान्य अर्थ निमित्त रूपसे सहायक होना है । वह दो प्रकार है—स्वोपकार व परोपकार । यद्यपि व्यवहार मार्गमें परोपकार की महत्ता है, पर अध्यारम मार्गमें स्वोपकार ही अत्यन्त इष्ट है, परोपकार नहीं ।

१. उपकार सामान्यका लक्षण

स सि ५/१७/२८२/२ उपक्रियत इत्युपकार । क पुनरसौ । गत्युप- ग्रह स्थिरग्रुपग्रहच । —उपकारकी व्युत्पत्ति 'उपक्रियते' है । प्रश्न—यह उपकार क्या है । उत्तर—(धर्म द्रव्यका) गति उपग्रह और (अधर्म द्रव्यका) स्थिति उपग्रह, यही उपकार है ।

२ स्व व पर उपकार (और भी दे आगे न १) ,

स सि ७/३८/३७२/१३ स्वपरापकारऽनुग्रह । स्वोपकार पुण्यसंचय परोपकार सम्यग्ज्ञानादिबुद्धि । —स्वयं अपना अथवा दूसरेका उपकार करना अनुग्रह है । दान देनेसे जो पुण्यका संचय होता है वह अपना उपकार है (क्योंकि उसका फल भोग स्वयंको प्राप्त होता है) , तथा जिन्हें दान दिया जाता है उनके सम्यग्ज्ञानादिकी बुद्धि होती है, यह परका उपकार है, (क्योंकि इसका फल दूसरेको प्राप्त होता है) । (रा वा ७/३८/१/५५६/१६) ।

३ उपकार व कर्तृत्वमें अन्तर

रा वा ५/१७/१६/४६२/६ स्यादेतत् — गतिस्थितयो धर्मा-धर्मो कर्तारौ इत्ययमर्थः प्रसक्त इति तत्र किं कारणम् । उपकारवचनात् । उपकारो भलाधानम् अवलम्बनमित्यनर्थान्तरम् । तेन धर्मधर्मयो गतिस्थितिनिर्वर्तने प्रधानकर्तृत्वमपोदितं भवति । यया अन्धस्येत रस्य वा स्वजह्वाबलाद्गच्छत एष्टया उपकारक भवति न तु प्रेरक तथा जीवपुद्गलानां स्वशक्त्यैव गच्छतां तद्वृत्तिं च धर्मधर्मोपकारको न प्रेरको इत्युक्तं भवति । —प्रश्न—धर्म और अधर्म द्रव्योंको गति स्थितिका उपकारक कहनेसे उनको गति स्थिति कानेका कर्तापना प्राप्त हो जाएगा । उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, 'उपकार' शब्द दिया गया है । उपकार, भलाधान व अवलम्बन इन शब्दोंका एक ही अर्थ होता है अतः इसके द्वारा धर्म और अधर्म द्रव्योंका गति स्थिति उत्पन्न करनेमें प्रधान कर्तापनेका निषेध कर दिया गया । जैसे कि स्वयं अपने जघामलसे चलनेवाले अन्धके लिए लाठी उपकारक है प्रेरक नहीं, उसी प्रकार अपनी अपनी शक्तिले चलने अथवा ठहरने वाले जीव व पुद्गलद्रव्योंको धर्म और अधर्म उपकारक है प्रेरक नहीं ।

४ उपकार करके बदला चाहना योग्य नहीं

कुरल २२/१ नोपकारपरा सन्त प्रतिदानजिघृक्षया । समृद्ध किमसौ लोको मेघाय प्रतिपद्यति ॥१॥ —महापुरुष जो उपकार करते हैं, उसका बदला नहीं चाहते । भला संसार जल भरसानेवाले बादलोंका बदला किस प्रकार चुका सकता है ।

५ शरीरका उपकार अपना अपकार है और इसका अपकार अपना उपकार है ।

४ उ १६ यन्जीवस्योपकाराय तद्वेहस्योपकारकम् । यद्वेहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥१६॥ —जो तथादिक आचरण जीवका उपकारक है वह शरीरका अपकारक है । और जो घनादिक शरीरके उपकारक हैं वे जीवके अपकारक हैं ।

अन घ ४/१४१—१४२/४५७ योगाय कायमनुपालयताऽपि युक्तया, बलेरयो ममस्वहृत्ते तव सोऽपि शक्त्या । भिक्षोऽन्यथासुखजीवीतन्धना-भात् तृष्णासरिद्धिधुरियिष्यति सत्तपोऽग्निम् ॥१४१॥ नैर्ग्रन्थव्रतमा-स्थितोपि वपुषि स्निह्यन्नसह्यग्या, भीरुर्जीवितवित्तलालसतया पञ्चत्वचेक्रोयितम् । यास्मादैर्न्यमुपेय विश्वमहिता न्यकृष्य देवो प्रप्रा, निर्मानो धनिनिष्पय सघटनयास्पृश्यां विधत्ते गिरम् ॥१४२॥ —हे चारित्रमात्रगात्र भिक्षो ! योगसिद्धिके लिए पालते हुए भी इस शरीरको, युक्तिके साथ- शक्तिको न छिपाकर ममत्व बुद्धि दूर करने के लिए क्लेश देकर कृश कर देना चाहिए । अन्यथा यह निश्चित जानकि यह तृष्णारूपी नदी, ऐन्द्रिय सुख और जीवन स्वरूप दो छिद्रोंको पाकर समीचीन तपस्वी पर्वतको जर्जरित कर डालेगी ॥१४१॥ नैर्ग्रन्थ व्रतको भी प्राप्त करके भी जो साधु शरीरके विषयमें स्नेह करता है, वह अवश्य ही सदा असह्य दुःखोंसे भयभीत रहता है । और इसीलिए वह जीवन व धनमें रीब लालसा रखकर याचनाजनित दोनताको प्राप्त कर, अत्यन्त प्रभावयुक्त देवी लज्जाका अभिभव करके, अपनी जगपूज्य बाणीको अन्त्यजनोंके समान,

दयादाक्षिण्यादिसे रहित धनियसि सम्पर्क कराकर अस्पृश्य बना देता है ॥१४२॥

६ निश्चयसे कोई किसीका उपकार या अपकार नहीं कर सकता

स सा पु २६६ दुर्विषदसुहिदे जीवे करेमि वधेमि तह विमोचेमि । जा एसा बूढमई गिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥२६६॥ —हे भाई ! मैं जीवों-को दुःखी-सुखी करता हूँ, बाँधता हूँ तथा छुड़ाता हूँ, ऐसी जो तेरी यह मूर्खमति है वह निरर्थक होनेसे वास्तवमें मिथ्या है ।

यो सा अ ५/१० निग्रहानुग्रहौ कर्तुं कोऽपि शक्तोऽस्ति नात्मन । रोपतापो न कुत्रापि कर्त्तव्याविति तात्त्विकैः । —इस आत्माका निग्रह या अनुग्रह करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है, अतः किसीसे भी राग या द्वेष नहीं करना चाहिए ।

७ स्वोपकारके सामने परोपकारका निषेध

मो पा पु १६ परदवाद्दो दुर्गई सद्दवाद्दो हु सगई हवइ । इण णाऊण सदव्वे कुणह रई विरइ इयरम्मि ॥१६॥ —परद्रव्यसे दुर्गति और स्व-द्रव्यसे सुगति होती है, ऐसा जानकर स्वद्रव्यमें रति करनी चाहिए और परद्रव्यसे विरत रहना चाहिए ।

४ उ ३२ परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव । उपकुर्वन्परस्याज्जो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥३२॥ —हे आत्मन ! तू लोकके समान मूढ़ मनकर दृश्यमान शरीरादि परपदार्थोंका उपकार कर रहा है, यह सब तेरा अज्ञान है । अब तू परके उपकारकी इच्छा न कर, अपने ही उपकारमें लीन हो ।

म पु ३८/१७६ नि सङ्गवृत्तिरेकाकी विहरत् स महातप । विविर्षु-रारमसस्कारं नान्यं सस्कर्तुमर्हति ॥१७६॥ —जिसकी वृत्ति समस्त परिग्रहसे रहित है, जो अकेला ही विहार करता है, महातपस्वी है, जो केवल अपने आत्माका ही संस्कार करना चाहता है, उसे किसी अन्य पदार्थका संस्कार नहीं करना चाहिए, अर्थात् अपने आत्मा-को छोड़कर किसी अन्य साधु या गृहस्थके सुधारकी चिन्तामें नहीं पड़ना चाहिए ।

८ परोपकार व स्वोपकारमें स्वोपकार प्रधान है

भ आ वि १५४/३५१ में उद्धृत "अप्पहिय कायव्व जइ सङ्गं परहिय व कायव्व । अप्पहियपरहियादो अप्पहिदं सुटठु कादव्व ।" —अपना हित करना चाहिए । शक्य हो तो परका भी हित करना चाहिए परन्तु आत्महित और परहित इन दोनोंमें-से कौन-सा सुरयतया करना चाहिए ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर अवश्य ही उच्चम प्रकारसे आत्महित करना चाहिए । (अन घ १/१२/१६ में उद्धृत), (व घ उ ८०४ में उद्धृत)

प घ उ ८०४, ८०६ धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्त्तव्योऽनुग्रह परे । नारम-व्रत विहायस्तु तत्पर पररक्षणे ॥८०४॥ तद्विधाय च वात्सल्य भेदास्त्वपरगोचरात् । प्रधानं स्वात्मसम्बन्धि गुणो यावत्परारामनि ॥८०६॥ —धर्मके आदेश और उपदेशके द्वारा ही दूसरे जीवोंपर अनु-ग्रह करना चाहिए । किन्तु अपने व्रतोंको छोड़कर दूसरे जीवोंकी रक्षा करनेमें तत्पर नहीं होना चाहिए ॥८०४॥ तथा वह वात्सल्य अग भी स्व व परके विषयके भेदसे दो प्रकारका है । उनमें-से अपनी आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाला वात्सल्य प्रधान है तथा सम्पूर्ण पर आत्माओंसे सम्बन्ध रखनेवाला जो वात्सल्य है वह गौण है ॥८०६॥ (ला सं ४/३०५)

परोपकारको कथंचित् प्रधानता

कुरल ११/१२/२२/१० या दया क्रियते भवदैराभारस्थापनं मित्ना । स्वर्ग्यमर्यादुभौ तस्या प्रतिपादनाय नक्षमौ ॥१॥ शिष्टैरवशर भीक्ष्य यानुक्त्वा विधीयते । स्वर्ग्यापि दर्शने किन्तु विश्वस्मात् सा गरी-यसी ॥२॥ उपकारो विनाशेन सहिताऽपि प्रशस्यते । विक्रोयापि

निजामानं भव्योत्तम विधेहितम् । १०० — आभारी बनानेको इच्छा से रहित होकर जो दया दिखाई जातो है, स्वर्ग और पृथिवी दोनों मिलकर भी उसका बदला नहीं चुका सकते । १। अबसर पर जो उपकार किया जाता है, वह देखनेमें छाटा भले ही हो पर जगत्में सबसे भारी है । २। यदि परोपकार करनेके फलस्वरूप सर्वनाश उपस्थित हो तो दासत्वमें फँसनेके लिए आरमधिक्रय करके भी उसको सम्पादन करना उचित है ।

भ आ /पृ ४८/१०४ आदृष्टमेव चितेदुमुद्रिता जे परद्रुमवि लोए । कहुय फुरुमेहि सहैति ते हु अदिदुल्ला लोए । ४८५३ — जो पुरुष आरमहित करनेके लिए कटिबद्ध होकर आरमहितके साथ कटु और कठोर बचन तक सहकर परहित भी साधते हैं, वे जगत्में अतिशय दुर्लभ समझने चाहिए ।

म पु ३८/१६६-१७१ श्रावकानायािकासदृश श्राविका सयतानपि । सन्मार्गे वर्तयन्ने गणपोषणमाचरेत् । १६६। श्रुताधिम्य श्रुतं दद्याद् दीक्षाधिम्यश्च दीक्षणम् । धर्माधिभ्योऽपि सत्तमं स शश्वत् प्रतिपादयेत् । १७०। सद्वृत्ताद् धारयत् सूरिरसद्वृत्तात्त्रिवारयत् । शोधयश्च कृतादागोमलात् स चिभूयाद् गणम् । १७१। — इस आचार्यको चाहिए कि वह मुनि, आधिका श्रावक और श्राविकाओंका समीचीन मार्गमें लगाता हुआ अच्छी तरह सबका पोषण करे । १६६। उसे यह भी चाहिए कि वह शास्त्राध्ययनकी इच्छा करनेवालेको शास्त्र पढ़ावे तथा दीक्षाधियोंको दीक्षा देवे और धर्माधियोंके लिए धर्मका प्रतिपादन करे । १७०। वह आचार्य सदाचार धारण करनेवालोंको प्रेरित करे और दुराचारियोंको दूर हटावे । और किये हुए स्वकीय अपराधरूपी मलका शोधता हुआ अपने आश्रितगणकी रक्षा करे । १७१।

भ आ /वि ३४/४६१/१८ किन्न वैति स्वयमपि हितोपेक्षितव्यम् । परोपकार कार्य एवेति कथयति । तथाहि—तीर्थकृत विनियजनसंशोधनार्थ एव तीर्थविहार कुर्वन्ति । महत्ता नामैव यत्—परोपकार-बद्धपरिकरता । तथा चोक्त — 'क्षुद्रा सन्ति सहस्रा स्वभरणव्यापारमात्रोद्यता स्वार्थे यस्य परार्थ एव स प्रुमानेक सतामग्रणी । दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति तोत्रं पति माष्टवो जीमूतस्तु निदाघसभृत-जगरसतापमिच्छित्तये ।' — 'यया दूसरा मनुष्य अपना हित स्वयं नहीं जानता है ।' ऐसा विचार करके दूसरोंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । परोपकार करनेका कार्य करना ही चाहिए । देखो तीर्थकर परमदेव भव्य जनोंका उपदेश देनेके लिए ही तीर्थ विहार करते हैं । परोपकारके कार्यमें कमर कसना यही बड़प्पन है । कहा भी है— 'जगत्में अपना कार्य करनेमें ही तपस्वरहनेवाले मनुष्य हजारों हैं, परन्तु परोपकार ही जिसका स्वार्थ है, ऐसा सत्पुरुषोंमें अग्रणी पुरुष एकाध ही है । बड़वानल अपना दुभर पेट भरनेके लिए समुद्रका सदा पान करता है, क्योंकि वह क्षुद्र मनुष्यके समान स्वार्थी है । किन्तु मेघ ग्रीष्मकालकी उष्णतासे पीड़ित समस्त प्राणियोंका सताप मिटानेके लिए समुद्रका पान करता है । मेघ परोपकारी है और बड़वानल स्वार्थी है ।

अन घ १/११/३६ पर उद्धृत 'स्वदु खनिष्ट' नारम्भा परबु खेपु हु तिता । निर्वपेक्षं परार्थेषु बद्धका सुमुखः ।' — सुमुख पुरुष अपने दु खोंको दूर करनेके लिए अधिक प्रयत्न नहीं करते, किन्तु दूसरोंके दु खोंको देखकर अधिक दु खी हाते हैं । और इसलिए वे किसी भी प्रकारकी अपेक्षा न रखकर परोपकार करनेमें दृढ़ताके साथ सदा तत्पर रहते हैं ।

१० अन्य सम्बन्धित विषय

- * स्वोपकार व परोपकारका समन्वय—दे उपकार १/६
- * उपकारार्थ धर्मोपदेशका विधि निषेध—दे उपदेश
- * उपकारकी अपेक्षा द्रव्यमें भेदाभेद—दे, सप्तमंगी ६

* उपकारक निमित्तकारण—दे निमित्त १

* छ द्रव्योमें परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव

—दे कारण III/२

* उपकार्य उपकारक सम्बन्ध निर्देश—दे सम्बन्ध

उपक्रम—

घ १/१,१,१/७२/१ उपक्रम इत्यर्थं मारमन उप समीप क्राम्यति करोती-र्युपक्रम । — जो अर्थको अपने समीप करता है उसे उपक्रम कहते हैं । (घ ६/४ १,४४ (१३४/१०), (क पा १/१,१/६/१३/४)

म पु, २/१०३ प्रकृतार्थतत्त्वस्य श्रोतुवुद्धी समर्पणम् । उपक्रमोऽसौ विज्ञेय-स्तथोपोद्घात इत्यपि । १०३। — प्रकृत-पदार्थको श्रोताओंकी बुद्धिमें बैठा देना उपक्रम है । इसका दूसरा नाम उपोद्घात भी है ।

२ उपक्रमके भेद

घ—१/१,१,१/पृ ५

		उपक्रम			
		७२/६			
		आनुपूर्वी	नाम	प्रमाण	वस्तुव्यवस्था
					अर्थाधिकार
पूर्व पश्चात् यथातथा	१ नाम	१ नाम	—	—	२/११
	२. स्थापना	२. स्थापना	—	—	प्रमाण प्रमेय तदुभय
१ गोप्यपद	३ द्रव्य	३ द्रव्य	—	—	—
	४ क्षेत्र	४ क्षेत्र	—	—	—
२ नोगोप्यपद	५ काल	५ काल	—	—	स्व- पर- तदुभय
३ आदानपद	६ भाव	६ भाव	—	—	समय समय
४ प्रतिपक्षपद	—	—	—	—	—
५ अनादि सि-	—	—	—	—	—
६ घान्तपद	—	—	—	—	—
६ प्राधान्यपद	—	—	—	—	—
७ नाम-पद	—	—	—	—	—
८ प्रमाणपद	—	—	—	—	—
९ अवयवपद	—	—	—	—	—
१० संयोगपद	—	—	—	—	—
		नैगम	सग्रह	व्यवहार	शब्द समभि- एवं- भूत

३ प्रक्रमका लक्षण

घ १६/१६/३ प्रकामतीति प्रक्रम कर्माणिपुद्गलप्रचयः । — 'प्रकाम-तीति प्रक्रम' इस निरुक्तिके अनुसार कर्माणि पुद्गल प्रचयको प्रक्रम कहा गया है ।

४ उपक्रम व प्रक्रममें अन्तर

घ ११/४२/४ पक्कम उपवक्कमाणं को भेदो । पयट्टिट्ठिद अणुभागेऽनुवक्कमाणपदेसगपरुवणं पक्कमो कुणह, उपवक्कमो पुण वधविदिय-समयप्पहुट्ठि सत्तसरुवेण द्विदकम्मपोगल्लाण वावारां परुवेदि । तेण अरिय विसेसो । — प्रश्न—प्रक्रम और उपक्रममें क्या भेद है ? उत्तर—प्रक्रम अनुयोगद्वारा प्रकृति स्थिति और अनुभागमें धानेवाले प्रदेशाग्रणी प्ररूपणा करता है, परन्तु उपक्रम अनुयोगद्वारा मन्धके द्वितीय समयसे लेकर सत्त्वरूपसे स्थिति कर्म-पुद्गलोंके व्यापारकी प्ररूपणा करता है । इसलिये इन दोनोंमें विशेषता है ।

उपगूहन—१ व्यवहार लक्षण

यू आ २६१ दसणचरणविषण्णे जीवे ददह्ण धम्ममत्तीए । उपगूहनं करोती दसणसुद्धो हवदि एसो । २६१। — सम्म्यग्दर्शनज्ञानाचारित्र्यमें

ग्लानि सहित जीवोंको देखकर धर्मकी भक्ति कर उनके दोषोंको दूर करता है, वह शुद्ध-सम्यग्दर्शनवाला होता है।

र क आ १६ "स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनप्रयासम्। वाच्यतां यत्प्रमार्जितं तद्वदन्त्युपगूहनम्। १६।—जो अपने आप ही पवित्र ऐसे जैनधर्मको, अज्ञानो तथा असमर्थ जनोके आश्रयसे उत्पन्न हुई निन्दाको दूर करते हैं, उसको उपगूहन अंग कहते हैं। (प्र स /टी ४१/१७४)

पु सि उ २७ परदोपनिगूहनमपि निधेयमुपवृ हणगुणार्थम्।—उपवृ हण गुणके अर्थ अन्य पुरुषोंके दोषोंको भी गुण रखना कर्तव्य है।

का अ/मू ४१६ जो परदोस गोवदि णियसुकय जो ण पवडदे लोए। भवियव्व भावणरओ उवगूहणकारओ सो हु।—जो सम्यग्दृष्टि दूसरोंके दोषोंको ढांकता है, और अपने सुकृतको नोकमें प्रकाशित नहीं करता, तथा भविष्यकी भावनामें रत रहता है। उसे उपगूहन-गुणका धारी कहते हैं।

२ निश्चय लक्षण

स सा/मू २३३ जो सिद्धमत्तिजुत्तो उपगूहणगोदु सव्वधम्माम्। सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठो गुणेयव्वो। २३३।—जा चेतयिता सिद्धोंकी शुद्धात्माकी भक्तियुक्त है और पर-वस्तुओंके सर्वधर्मोंको गोपन करनेवाला है (अर्थात् रागादि भावोंमें युक्त नहीं होता है) उसको उपगूहन करनेवाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

स सा/ता वृ २३३ शुद्धात्मभावनारूपपारमार्थिकसिद्धमत्तियुक्त मिथ्यास्वरगादिविभावधर्माणामुपगूहक प्रच्छादको विनाशक। स सम्यग्दृष्टि उपगूहनकारी मन्तव्य।—उपगूहनका अर्थ छिपानेका है। निश्चयको प्रधानकरि ऐसा कहा है कि जो सिद्धमत्तिमें अपना उपयोग लगाया तब अन्य धर्म पर दृष्टि ही न रहो, तब सभी धर्म छिप गये। इस प्रकार शुद्धात्माकी भावनारूप पारमार्थिक-सिद्धभक्तियुक्त होकर मिथ्यास्व रागादि विभावधर्मोंका उपगूहन करता है, प्रच्छादन करता है, विनाश करता है उस सम्यग्दृष्टिको उपगूहनकारी जानना चाहिए।

प्र स/टी ४१/१७४/१० निश्चयनयेन पुनस्तत्स्यैव व्यवहारोपगूहणगुणस्य सहकारित्वेन निजनिरञ्जननिर्दोषपरमार्थमन प्रच्छादका ये मिथ्यास्व-रागादिदोषास्तेषां तस्मिन्नेव परमार्थमनि सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूप यद्वयानं तेन प्रच्छादनं विनाशनं गोपनं कम्पनं तदेवोपगूहनमिति।—निश्चयनयसे व्यवहार उपगूहन-गुणकी सहायतासे, अपने निरञ्जन निर्दोष परमार्थको ढकनेवाले रागादि दोषोंको, उसी परमार्थमें सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान अनुष्ठानरूप ध्यानके द्वारा ढकना, नाश करना, छिपाना कम्पन करना, सो उपगूहन गुण है।

२ उपवृ हण का लक्षण

रा बा ६/२४/१/६२६/१३ उत्तमक्षमादिभावनया आत्मनो वर्मपरि-वृद्धिकरणमुपवृ हणम्।—उत्तमक्षमादि भावनाओंके द्वारा आत्माके धर्मकी वृद्धि करना उपवृ हण-गुण है। (पु सि उ २७)

भ आ/वि ४६/१४६/१० उपवृ हण णम वर्द्धनं। वृह वृहि वृद्धाविति वचनात्। धारवर्धनश्रुतौ चोपसर्ग उप इति। स्पष्टेनाप्राप्त्येण श्रोत्रमन प्रीतिदायिना वस्तुयाथात्म्यप्रकाशनप्रवणेन धर्मोपदेशेन परस्य तत्त्वश्रद्धानयर्द्धनं उपवृ हण। सर्वजनविस्मयकारिणीं शतमुखबभ्रुमुखगीर्वाणसमिति विरचितपचिससहस्रीं पूजां संपाद्य दुर्धरतपोयोगानुष्ठानेन वा आत्मनि श्रद्धास्थिरीकरणम्।—'उप-वृ हण', इसका अर्थ बढ़ाना ऐसा होता है। 'वृह वृहि वृद्धौ' इस धातुसे वृ हण शब्दकी उत्पत्ति होती है। 'उप' इस उपसर्गके 'योगसे' 'वृह' धातुका अर्थ बढ़ना नहीं है। स्पष्ट अप्राप्त्य, ज्ञान और मनको प्रसन्न करनेवाले, वस्तुकी यथार्थताको भव्योंके आगे दर्पणके समान दिखानेवाले, ऐसे धर्मोपदेशके द्वारा तत्त्व-श्रद्धान बढ़ाना वह उप-वृ हण-गुण है। इन्द्र प्रभु के वैश्वोंके द्वारा जैसी महत्त्वयुक्त पूजा की

जाती है, वैसी जिनपूजा करके अपनेको जिनधर्ममें, जिनभक्तिमें स्थिर करना, अथवा दुर्धर तपश्चरण वा आतापनादि योग धारण करके अपने आत्मामें श्रद्धा गुण उत्पन्न करना इसको भी उपवृ हण कहते हैं।

स सा/आ २३३ यतो हि सम्यग्दृष्टि टट्कोरकीर्णवज्ञायकभावमयत्वेन समस्तारमशकीनामुपवृ हणादुवृ हक ततोऽस्य जीवशक्तिसौम्य-कृतो नास्ति मन्थ किमु निर्जरैव।—मर्थोंकि, सम्यग्दृष्टि टको रकीर्ण एक शायकभावमयताके कारण ममस्त आत्मशक्तियोंकी वृद्धि करता है, इसलिए उपवृ हक है। इसलिए उस जीवकी शक्तिकी दुर्बलतामें हानेवाला मन्थ नहीं किन्तु निर्जरा हो है।

पं घ/उ ७७८ आरमशुद्धरदौर्मध्यकरण चोपवृ हणम्। अर्थाद्विज्ञप्ति-चारित्रभावादस्त्वलितं हि तत् ७७८।—आत्माकी धृष्टिमें कभी दुर्बलता न आने सेना ही उपवृ हण अंग कहलाता है। अर्थात् सम्य-ग्दर्शन ज्ञान और चारित्र रूप अपने भावोंसे जो च्युत नहीं होता है वही उपवृ हण-गुण कहलाता है।

उपग्रह—

रा बा/६/१७/३/४६०/२६ द्रव्याणां शक्त्यन्तराविभावे कारणभावोऽनुग्रह उपग्रह इत्यारयायते।—द्रव्यकी शक्तिका आविर्भाव करनेमें कारण होना रूप अनुग्रह कहा जाता है।

उपग्रह व्यभिचार—इ नय III/६/७-८।

उपघात—स सि ६/१०/३२७/१३ प्रशस्तज्ञानदूषणमुपघात। आसादनमेवेति चेत्। सतो ज्ञानस्य विनयप्रदानादिगुणकीर्तनाननु-ष्ठानमासादनम्। उपघातस्तु ज्ञानमज्ञानमेवेति ज्ञाननाशाभिप्राय। इत्यनयोरयं भेद।—प्रशस्तनीय ज्ञानमें दूषण लगाना उपघात है। प्रश्न—उपघातका जो लक्षण किया है उससे वह आसादन ही ज्ञात होता है। उत्तर—प्रशस्त ज्ञानकी विनय न करना, उसकी अच्छाई की प्रशंसा न करना आदि आसादन है। परन्तु ज्ञानको अज्ञान समक-कर ज्ञानके नाशका इरादा रखना उपघात है इस प्रकार दोनोंमें अन्तर है। (रा बा ६/१०/६/१७/२३)।

रा बा ६/१०/६/६१७/२१ स्वमते कलुषभावाद युक्तस्याप्ययुक्तवरप्रतीते दोषोद्भावन दूषणमुपघात इति विज्ञायते।—हृदयकी क्लृप्तताके कारण अपनी बुद्धिमें युक्तकी भी अयुक्तत्व प्रतीति होनेपर, दोषोंको प्रगट करके उत्तम ज्ञानको दूषण लगाना उपघात है।

गो क/जी प्र ८००/९७६/८ मनसा वाचा वा प्रशस्तज्ञानदूषणमप्येतुषु शुद्धभाषाकरण वा उपघात।—मनकरि वा वचनकरि प्रशस्तज्ञानका दोषी होना, वा अभ्यासक जीवनिकी शुभादिक बाधाका करना सो उपघात कहिए।

३ उपघात नाम कर्मका लक्षण

स सि ८/११/३६१/३ यदुपोदयारम्ययुक्तोऽहन्धनमेरुप्रपतनादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम।—जिसके निमित्तसे स्वयंकृत अहन्धन और पहाड़से गिरना आदि निमित्तक उपघात हाता है वह उपघात नामकर्म है। (रा बा ८/११/११/७८/१)।

घ ६/१.६.१.२८/६६/१ उपेय घात उपघात आरमघात इत्यर्थ। अ कम्म जीवपीडाहेउ अवयवे कुणदि, जीवपीठ हेवुदत्वाणि वा विसासिपासादीणि जीवस्स ढाएदि त उवघाद णाम। के जीवपीडा कार्यवयवा इति चेत्तमहाशुद्ध-तन्मस्स त तुटोदरादय। जदि उवघाद-णामकम्मं जीवस्स ण हाज्ज, सो सरीराद। वाद-पिच सेभद्विसादो जीवस्स पीडा ण होज्ज। ण च एव, अणुवत्तमादा।—स्वय प्राप्त होनेवाले घातका उपघात अर्थात् आरमघात कहते हैं। जो कर्म अवयवोंको जीवकी पीड़ाका कारण बना देता है, अथवा विष, शूर्प, खड़्ग पाश आदि जीव पीड़ाके कारण स्वरूप द्रव्योंका जीमके लिए होता है, अर्थात् लाकर सङ्गठन करता है, वह उपघात नामकर्म कहलाता है। प्रश्न—जीवको पीड़ा करनेवाले अवयव कौन कौन हैं।

उत्तर—महाशू ग (पारहसिगके समान घड़े गौंग), नम्यो रतन, विशाल
तोंदवाला पेट आदि जीवको पीड़ा करनेवाले अशुभ हैं। यदि
उपघात-नामकर्म न हो तो मात, पिता और बच्चे मृतिश शरीरमें
जीवके पीड़ा नहीं होनी चाहिए। किन्तु ऐसा है नहीं, पर्याप्त वैसा
पाया नहीं जाता। (ध १३/४ ६, १०१/३४/११), (भाष/जी,
प्र ३३/२६/१८)।

* उपघात नामकर्म व अमाता वेदनीयमें परस्पर सम्बन्ध
—दे वेदनीय ७

* उपघात प्रकृतिकी वन्ध उदय सत्य प्ररूपणामें
—दे बह ३६ नाम

उपचरित नय—दे नय V/५।

* उपचरित नयके विदोष भेद—दे उपचार १

उपचरित स्वभाव—दे स्वभाव १

उपचार—अन्य वस्तुके धर्मको प्रयोजनवद् अन्य वस्तुमें आरोपित
करना उपचार कहना जाता है जैसे मूर्त पदार्थमें स्थापन ज्ञानको दूर
करना अथवा मूर्तके अभावमें विनी पदार्थके स्थानपर अस्थान
आरोप करना उपचार कहना जाता है जैसे शरीर पर सम्बन्धित कारण
शरीरको ही जीव कहना। अथवा निमित्तक वस्तुमें स्थित अन्य
पदार्थको अस्थान कहना उपचार है—जैसे शीश पड़ा कहना।
और इस प्रकार यह उपचार एक द्रव्यका अन्य द्रव्यमें एक गुण
अन्य गुणमें एक पर्यायका अन्य पर्यायमें, स्वजाति द्रव्यगुण पर्याय-
का विजाति द्रव्यगुण पर्यायमें, मत्वासाय पर्यायों का मय सम्बन्ध
रूपमें, कारणका कार्यमें, कार्यका कारणमें इत्यादि अन्य प्रकारमें
करनेमें आता है। यद्यपि यमार्थ दृष्टिमें देखनेपर यह भिन्ना है,
परन्तु अपेक्षा या प्रयोजनकी दृष्टिमें सब एक सममें ही कार्यक्षिप्त
सम्यक् है। इसीसे उपचारको भी एक नय स्वीकार किया गया है।
व्यवहार नयको ही उपचार कहा जाता है। व्यवहारनय सद्वृत्त
और असद्वृत्त रूपसे दो प्रकार है तथा इसी प्रकार उपचार भी दो
प्रकारका है। अर्थात् वस्तुमें गुण गुणों आदि का भेद करना भेदोपचार
या सद्वृत्त-व्यवहार है। तथा भिन्न वस्तुओंमें प्रयोजन वद् एकता
का व्यवहार अदोपेक्षा या असद्वृत्त व्यवहार है। ना भी दो प्रकार
का है—अनुचरित असद्वृत्त और उपचरित-असद्वृत्त। तहाँ सन्नेष
सम्बन्ध-युक्त पदार्थोंमें एकताका उपचार अनुचरित असद्वृत्त व्यव-
हार है और भिन्न प्रदेशों द्रव्योंमें एकताका उपचार उपचरित-
असद्वृत्त-व्यवहार है। दोनों ही प्रकारके व्यवहार रज्जाति पदार्थों-
में अथवा विभाजित पदार्थोंमें अथवा उभयरूप पदार्थोंमें होनेके
कारण तीन-तीन प्रकारका हो जाता है। इस प्रकार गुणाचार करनेसे
इसके अनेक भग्न बन जाते हैं, जिनका प्रयोग लौकिक क्षेत्रमें अपना
आगममें निरय स्थल-स्थल पर किया जाता है।

१ उपचार के भेद व लक्षण

१ उपचार सामान्यका लक्षण

२ उपचारके भेद प्रभेद

३ उपचारके भेदोंके लक्षण

१ असद्वृत्त व्यवहारके भेदोंकी अपेक्षा

२ उपचरित असद्वृत्त-व्यवहारके भेदोंकी अपेक्षा

२ कारण कार्य आदि उपचार निर्देश

१ कारणमें कार्यके उपचारके उदाहरण

२ कार्यमें कारणके उपचारके उदाहरण

३ अल्पमें पूर्णके उपचारके उदाहरण

४ कार्यमें भूतके उपचारके उदाहरण

५ आचारमें आश्रयके उपचारके उदाहरण

६ सदानमें तात्पर्य उपचारके उदाहरण

७ अन्य अनेकों प्रकार उपचारके उदाहरण

३ द्रव्यगुण पर्यायमें उपचार निर्देश

१ द्रव्यको गुणरूपमें स्थित करना

२ पर्यायको द्रव्यरूपमें स्थित करना

३ द्रव्यको पर्यायरूपमें स्थित करना

४ पर्यायको गुणरूपमें स्थित करना

४ उपचारकी सत्यार्थता व व्यस्यार्थता

१ पर्यायार्थ उपचार सत्य नहीं है

२ अन्य धर्मों का लोप करनेवाला उपचार मिथ्या है

३ उपचार सर्वथा अप्रमाण नहीं है

४ निर्दिष्ट व पर्याय अस्तित्वमें ही उपचार होता है
मार्ग का अभावमें नहीं

५ मूर्तके स्वरूपमें भी अतिशयोक्ति सम्बन्धों में ही
परस्पर उपचार होता है

६ उपचार प्रयोगका कारण व प्रयोजन

५ उपचार व नय सम्बन्धों विचार

१ उपचार कोई पृथक् नय नहीं

२ असद्वृत्त व्यवहार नय ही उपचार है

* व्यवहार नयके भेदों निर्देश—दे नय ५

उपचार शुद्ध नयमें नहीं नैगमादि नयोंमें ही सम्भव है

१ उपचारके भेद व लक्षण

१ उपचार सामान्यका लक्षण

भा. प ६ अन्यत्र निमित्त धर्मस्थान पर नमोऽप-मद्वृत्त व्यवहार।
असद्वृत्त व्यवहार उदाहरण। उपचारानुचरित-व्यवहार व करोति स
उपचरितानुचरित व्यवहार। मु-य्याभावे गति प्रयत्नने निमित्त
उपचार प्रवर्तते। गौडि संख्याविनामाय। —अन्यत्र निमित्त
धर्मका अर्थमें सम रूप करने का जो असद्वृत्त व्यवहार है।
असद्वृत्त व्यवहार ही उपचार कहते हैं। (जमे गु-गुनीमें भेद
करकल, गका, हा, गव, कहना अथवा मूर्त पदार्थोंमें उत्पन्न ज्ञानको
भी मूर्त करना।) इस उपचारका भी जो उपचार करता है सो उप-
चरित असद्वृत्त व्यवहार है (जैसे शरीरको या घन आदिको जीव
करना अथवा अस्मको प्राण करना इत्यादि)। (तुन प/पुत
२२, २६)। यह उपचार मुख्यपदार्थक अभावमें, प्रयोजनमें और
निमित्तमें प्रवर्तता है, और यह भी अविनाशको-सम्बन्धोंमें ही
किया जाता है।

सू. प/५ अन्यत्र ६/५ प्रयोजन साधने के लिए वस्तु कूट करना
सो तो प्रयोजनाभिध व्यवहार है (जैसे जलमें भीगे हुए वस्त्रको ही
जल धारणके कारण घट कर देना)। घट्टि का वस्तुके
निमित्त घटमें अवस्था भई तात्पर्य घटरूप कहना सो निमित्तानुचरित
व्यवहार है (जैसे घोड़ा घड़ा कहना अथवा अग्निमें वस्त्रनेपर घड़ेको
पका हुआ कहना)।

२. उपचारके भेद-प्रमेद

आ प /५,६ असद्वभूतव्यवहारस्त्रेधा । स्वजात्यसद्वभूतव्यवहारो,

विजात्यसद्वभूतव्यवहारो, स्वजातिविजात्यसद्वभूतव्यवहारो । उप

चरितासद्वभूतव्यवहारस्त्रेधा । स्वजात्यसद्वभूतव्यवहारो, विजात्य

सद्वभूत व्यवहारो स्वजातिविजात्यसद्वभूतव्यवहारो, १५। गुण-

गुणिनो पर्यायपर्यायिणो स्वभावस्वभाविनो कारककारकणोभेद

सद्वभूतव्यवहारस्यार्थः । द्रव्ये द्रव्योपचारः, पर्यायि पर्यायोपचारः, गुणे

गुणोपचारः, द्रव्ये गुणोपचारः, द्रव्ये पर्यायोपचारः, गुणे द्रव्योप-

चारः, गुणे पर्यायोपचारः, पर्यायि द्रव्योपचारः, पर्यायि गुणोपचारः

इति नवविधोऽसद्वभूतव्यवहारस्यार्थः द्रष्टव्यः । सोऽपि सम्बन्धा-

विनाभावः । संश्लेषसंयन्ध परिणाम-परिणामिसंयन्ध, श्रद्धा-

श्रद्धेय-संयन्धः ज्ञानश्लेषसंयन्धः, चारित्र्यचर्यासंयन्धचर्यादि

सत्यार्थ असत्यार्थः, सत्यार्थसत्यार्थश्चेत्तुपचरितासद्वभूतव्यवहार-

नयस्यार्थः । = भावार्थः—१ उपचार दो प्रकारका है भेदोपचार और

अभेदोपचार । गुणगुणोंमें भेद करके कहना भेदोपचार है । इसे

सद्वभूत व्यवहार कहते हैं क्योंकि गुणगुणोंका तादात्म्य सम्बन्ध

पारमार्थिक है । भिन्न द्रव्योंमें एकत्व करके कहना अभेदो-

पचार है । इसे असद्वभूत व्यवहार कहते हैं, क्योंकि भिन्न

द्रव्योंका संश्लेष या संयोग सम्बन्ध अपारमार्थिक है । यह

अभेदोपचार भी दो प्रकारका है—संश्लेष युक्त द्रव्यों या गुणों आदि-

में और संयोगी द्रव्यों या गुणोंमें । तहाँ संश्लेषयुक्त अभेदको असद्व-

भूत कहते हैं और संयोगी-अभेदको उपचरित असद्वभूत कहते हैं,

क्योंकि यहाँ उपचारका भी उपचार करनेमें आता है, जैसे कि धन

पुत्रादिका सम्बन्ध शरीरसे है और शरीरका सम्बन्ध जीवसे । इस-

लिए धनपुत्रादिको जीवका कह दिया जाता है । २ गुण-गुणोंमें,

पर्याय-पर्यायोंमें, स्वभाव-स्वभावोंमें, कारक-कारकोंमें भेद करना

सद्वभूत या भेदोपचारका विषय है । (विशेष दे नय V/५/४) ६

३ एक द्रव्यमें अन्य द्रव्यका, एक पर्यायमें अन्य पर्यायका, एक गुणमें

अन्य गुणका, द्रव्यमें गुणका, द्रव्यमें पर्यायका, गुणमें द्रव्यका, गुणमें

पर्यायका, पर्यायमें द्रव्यका तथा पर्यायमें गुणका इस तरह नौ प्रकार

असद्वभूत-अभेदोपचारका विषय है । सो भी स्वजाति-असद्वभूत-

व्यवहार, विजाति असद्वभूत-व्यवहार, और स्वजाति-विजाति-

असद्वभूत-व्यवहारके भेदसे तीन-तीन प्रकारका है । ४ अविनाभावो—

सम्बन्ध कई प्रकारका होता है । जैसे—संश्लेष सम्बन्ध, परिणाम-

परिणामी सम्बन्ध, श्रद्धा श्रद्धेय सम्बन्ध, ज्ञान-श्लेष सम्बन्ध, चारित्र-

चर्या सम्बन्ध इत्यादि । ये सब उपचरित-असद्वभूत व्यवहार

रूप अभेदोपचारके विषय हैं । सो भी स्वजाति-उपचरित-असद्वभूत-

व्यवहार, विजाति-उपचरित-असद्वभूत-व्यवहार और स्वजाति-

विजाति-उपचरित-असद्वभूत व्यवहारके भेदसे तीन-तीन प्रकारके

हैं । अथवा सत्यार्थ, असत्यार्थ व सत्यासत्यार्थके भेदसे तीन-तीन

प्रकार हैं । यथा—१ स्वजाति द्रव्यमें विजाति-द्रव्यका आरोप,

२ स्वजाति-गुणमें विजाति गुणका आरोप, ३ स्वजाति पर्यायमें

विजाति पर्यायका आरोप, ४ स्वजाति द्रव्यमें विजाति गुणका

आरोप ५ स्वजाति द्रव्यमें विजाति पर्यायका आरोप, ६ स्वजाति

गुणमें विजाति द्रव्यका आरोप, ७ स्वजाति गुणमें विजाति पर्याय-

का आरोप ८ स्वजाति पर्यायमें विजाति द्रव्यका आरोप, ९ स्व-

जाति पर्यायमें विजाति गुणका आरोप ।

६ इसी प्रकार द्रव्य गुण पर्यायमें स्वजाति, विजाति व स्वजाति-

विजाति (उभयरूप) भेदोंमें परस्पर अविनाभावो-सम्बन्ध देखकर

यथासम्भव अन्य भी भग बना लेने चाहिए । (न च /वृ १८८, १८९,

२२३-२३६/२४० न च /सूत २२) ६ इनके अतिरिक्त भी प्रयोजनके

वशसे अनेकों प्रकारका उपचार करनेमें आता है । यथा—कारणमें

कार्यका उपचार, कार्यमें कारणका उपचार, अण्वमें पूर्णका उपचार,

आधारमें आधेयका उपचार, तद्वानमें तत्का उपचार, अतिसमीपमें तत्पनेका उपचार इत्यादि-इत्यादि । (इनमें-से कुछका परिचय आगेवाले शीर्षकमें यथासम्भव दिया गया है ।)

३. उपचारके भेदोंके लक्षण

न च /वृ २२६-२३१ स्वजातिपर्यायि स्वजातिपर्यायारोपणोऽसद्वभूत व्यवहार—“दृष्टूण पठिचिभ भवदि हुतं चैव एस पज्जाओ । सज्जाइ असम्भूओ उपयारिओ गियज्जाइपज्जाओ । २२६-१” विजातिगुणे विजातिगुणारोपणोऽसद्वभूतव्यवहारः—“मुत्त इह मङ्गण मुत्तिमद्वेण जण्णिओ जम्हा । जह्णु मुत्तणण सो किं खल्लो हु मुत्तेण । २२६-२” स्वजातिविजातिद्रव्ये स्वाजातिविजातिगुणारोपणोऽसद्वभूतव्यवहार—“जेयं जीवमजीवं त पि य गणं खु तस्स विसयादो । जो भण्णइ एरिसरथं सो बवहारोऽसम्भूदो । २२७-१” स्वजातिद्रव्ये स्वजातिविभावपर्यायारोपणोऽसद्वभूतव्यवहार—“परमाणु एयदेसी बहुप्पदेसी य अपय जो हु । सा बवहारो गेया दव्वे पज्जाय उवयारो । २२७-२” स्वजातिगुणे स्वजातिद्रव्यारोपणोऽसद्वभूतव्यवहार—“रूवं पि भण्णइ दव्व बवहारो अण्ण अरथसम्भूदो । सो खल्ल जधोपदेसं गुणेषु दव्वण उवयारो । २२८ । ‘स्वजातिगुणे स्वजातिपर्यारोपणोऽसद्वभूतव्यवहार—“णणं पि हु पज्जाय परिणममाणो दु गिहणए जम्हा । बवहारो खल्ल जंपइ गुणेषु उवयरिय पज्जाओ । २२९।” स्वजातिविभावपर्यायि स्वजातिद्रव्यारोपणोऽसद्वभूतव्यवहारः—“दृष्टूणभुल्लखं पुगलदव्वेत्ति जंपए लाए । उवयारो पज्जाए पुगलदव्वस्स भण्णइ बवहारो । २३०।” स्वजातिपर्यायि स्वजातिगुणारोपणोऽसद्वभूतव्यवहार—“दृष्टूण देहठाणं वण्ण ता होइ उत्तमं ऋव । गुण उवयारो भण्णिओ पज्जाए णस्थि सदेहो । २३१।”

न च /वृ २४१-२४४ देसवइ देसरथौ अरथवण्णज्जो तहेव जपतो । मे देस मे दव्वं सप्पासच्चपि उभयरथ । २४१। पुत्ताइभधुवग्गं अहं च मम संपदादि जप्पतो । उवयारा सम्भूओ सज्जाइ दव्वेसु नायव्वो । २४२। आहरणहेमरयणाच्छादीया ममेति जप्पतो । उवयरियअसम्भूओ, विजाइदव्वेसु नायव्वो । २४३। देसरथरज्जकुग्गं मिस्सं अण्ण च भण्णइ मम दव्व । उहयरथे उवयरिदो होइ असत्थुयववहारो । २४४।

१ असद्वभूत व्यवहारके भेदोंकी अपेक्षा

१ स्वजाति पर्यायमें स्वजाति पर्यायका आरोप इस प्रकार है । जैसे—दर्पणमें प्रतिबिम्बको देखकर ‘यह दर्पणकी पर्याय है’ ऐसा कहना । यहाँ प्रतिबिम्ब व दर्पण दोनों पृष्ठगल पर्याय हैं । एकका दूसरेमें आरोप किया गया है । २ विजाति गुणमें विजाति गुणका आरोप इस प्रकार है । जैसे—मूर्त इन्द्रियों में या विषयोंसे उत्पन्न होनेके कारण मतिज्ञानको मूर्त कहना । तथा ऐसा तर्क उपस्थित करना यदि यह ज्ञान मूर्त न होता तो मूर्त द्रव्योंसे स्वलित कैसे हो जाता । यहाँ ज्ञान गुणका विजाति मूर्त गुणका आरोप किया गया है । ३ स्वजाति-विजाति द्रव्यमें स्वजाति विजाति गुणका आरोप इस प्रकार है । जैसे—जीव व अजीव द्रव्योंको द्वेय रूपसे विषय करने पर ज्ञानको जीवज्ञान व अजीवज्ञान कह देना । यहाँ चेतन अचेतन द्रव्योंमें ज्ञान गुणका आरोप किया गया है । ४ स्वजाति द्रव्यमें स्वजाति विभावपर्यायका आरोप इस प्रकार है । जैसे—परमाणु यद्यपि एकप्रदेशी है, परन्तु परस्परमें छेदकर बहु-प्रदेशी स्कन्ध होनेकी शक्ति होनेके कारण बहुप्रदेशी कहा जाता है । यहाँ पृष्ठगल द्रव्य (परमाणु) का पृष्ठगल पर्याय (स्कन्ध) में आरोप किया गया है । ५ स्वजाति गुणमें स्वजाति द्रव्यका आरोप इस प्रकार है । जैसे—द्रव्यके रूपको ही द्रव्य कहना यथा—रूपपरमाणु, गन्धपरमाणु आदि । यहाँ पृष्ठगलके गुणमें पृष्ठगल द्रव्य (परमाणु) का आरोप किया गया है । ६ स्वजाति गुणमें स्वजाति पर्यायका आरोप इस प्रकार है । जैसे—परिणमनके द्वारा प्राप्त होनेके कारण ज्ञानको ही पर्याय कह देना । यहाँ ज्ञान गुणमें स्वजाति ज्ञान पर्याय-

का आरोप है। ७ स्वजाति विभाव पर्यायमें स्वजाति द्रव्यका आरोप इस प्रकार है। जैसे—स्थूल स्वन्धको ही पृष्ठगत द्रव्य कह देना। यही स्वन्धरूप पृष्ठगतको विभाव पर्यायमें पृष्ठगत द्रव्यका उपचार किया गया है। ८ स्वजाति पर्यायमें स्वजाति गुणका आरोप इस प्रकार है। जैसे—देहके वर्णविशेषको देखकर 'यह उत्तम रूपवाला है' ऐसा कहना। यहाँ देह पृष्ठगत पर्याय है। उसमें पृष्ठगत रूपगुणका आरोप किया गया है।

२ उपचरित असद्भूत व्यवहारके भेदोंकी अपेक्षा

१ सार्वार्थ उपचरित असद्भूत व्यवहार इस प्रकार है। जैसे—किसी देशके राजाको देशपति कहना। क्योंकि व्यवहारसे यह उस देशका स्वामी है। १२४१। २ अमर्याद उपचरित असद्भूत व्यवहार इस प्रकार है। जैसे—किसी नगर या देशमें रहनेके कारण यह मेरा नगर है' ऐसा कहना। क्योंकि व्यवहारसे भी वह उस नगरका स्वामी नहीं है। १२४१। ३ मर्यादसर्वार्थ उपचरित असद्भूत व्यवहार इस प्रकार है जैसे—'मेरा द्रव्य' ऐसा कहना। क्योंकि व्यवहारसे भी कुछ मात्र द्रव्य उसका है सर्व नहीं। १२४१। स्वजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार इस प्रकार है। जैसे—'पुत्र मन्थु-नगादि मेरी सम्पदा है' ऐसा कहना। क्योंकि यहाँ चेतनया चेतन पदार्थोंमें ही स्वामित्व कहा गया है। ४ विजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार इस प्रकार है। जैसे 'आभरण ऐम रत्नादि मेरे हैं' ऐसा कहना, क्योंकि यहाँ चेतनका अचेतनमें स्वामित्व सम्बन्ध कहा गया है। ५ स्वजाति विजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार इस प्रकार है। जैसे—'दहा, राज्य दुर्गादि मेरे हैं' ऐसा कहना, क्योंकि यह सर्व पदार्थ चेतन व अचेतनमें समुदाय रूप हैं। इनमें चेतनका स्वामित्व वतलाया गया है।

नोट—इसी प्रकार अन्य भी उपचार यथा सम्भव जानना (न च / श्रुत २३) (आ ५ ५)।

२ कारण कार्य आदि उपचार निर्देश

१ कारणोंमें कार्यके उपचारके उदाहरण

ग सि ७/१०/१८८/११ हिमादयो दुःखमेवेति भावयितव्यम्। कथं हिमादयो दुःखम्। दुःखकारणत्वात्। यथा 'अन्नं नै प्राणा' इति। कारणत्वात् कारणरत्नाद् वा यथा धनं प्राणा इति। धनकारणमन्नवान्नमन्नान्नकारणा प्राणा इति। तथा हिमादयोऽ-मद्वेष्टकारणम्। अमद्वेष्टकर्म च दुःखकारणमिति। दुःखकारणे दुःख-कारणकारणे वा दुःखोपचारः।—हिमादिक दुःख हो है ऐसा चिन्तन करना चाहिए।—प्रश्न—हिमादिक दुःख कैसे है। उत्तर—दुःखके कारण हो। यथा—'अन्न हो प्राण है। अन्न प्राणधारणका कारण है पर कारणमें कार्यका उपचार करके अन्नका ही प्राण कहते हैं। या कारणका कारण होनामें हिमादिक दुःख है। यथा 'धन हो प्राण है'। यहाँ अन्नवान्नका कारण धन है और प्राणका कारण अन्नवान्न है, इसप्रकार जिस प्रकार धनकी प्राण कहते हैं उसी प्रकार हिमादिक असादा वेदनीयकर्मके कारण है और असादा वेदनीय दुःखका कारण है इसप्रकार दुःखके कारण या दुःखक कारणके कारण हिमादिकमें दुःखका उपचार है। (रा या ७/१०/१/४०२/२१)

रत्नो वा २/१/१/४६/४६/२३ 'धृतमायुस्त्वं नै प्राणा इति, कारणे वार्थोपचारः'।—निरपेक्षकर पृष्ठ हो जायु है। अन्न हो प्राण है। इन भावयामें कारणोंमें वार्थका उपचार किया गया है।

क १/१/१३-१४/१/२४/२००/४ कारण रूप द्रव्यवर्गमें कार्यरूप कारणकारण उपचार कर लेनेसे द्रव्य वर्गमें कौध भावकी सिद्धि हो जाती है।

घ १/४/१/४/१४/२० (भागेन्द्रियोंके कारण कार्यभूत द्रव्येन्द्रियोंकी भी इन्द्रिय मानकी प्राप्ति)

घ १/१,१,६०/२६८/७ (कारणमें कार्यका उपचार करके श्रुद्धिके कारणभूत मयमका ही श्रुद्धि कहना)।

घ ६/१/१,१,२०/४१/३ (कारणमें कार्यके उपचारसे ही जाति नामकर्म-को 'जाति' सज्ञा की प्राप्ति।)

घ ६/४,१,४६/१६०/३ (कारणमें कार्यका उपचार करके शब्द या उसकी स्थापनाको भी 'श्रुत' सज्ञाकी प्राप्ति।)

घ ६/४,१,६०/३२३/६ (कारणमें कार्यका उपचार करके क्षेत्रादिकोंको भी 'भावग्रन्थ' सज्ञाकी प्राप्ति।)

प्र सा / त प्र ३४ (कारणमें कार्यका उपचार करके ही द्रव्य श्रुतको 'ज्ञान' सज्ञाकी प्राप्ति।)

२ कार्यमें कारणके उपचारके उदाहरण

स सि १/१२/१०२/८ भूतमपि कश्चित्तरित्युपचर्यते मतिपूर्वकत्वा-दिति।—भूतज्ञान भी यहाँ पर मतिज्ञानरूपसे उपचरित किया जाता है क्योंकि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। (अर्थात् श्रुत-ज्ञान कार्य है और मतिज्ञान उसका कारण)।

रा, या २/१८/३/१३१/१ कार्यं हि लाके कारणमनुवर्तमानं दृष्टं यथा घटकारपरिणतं विज्ञानं घट इति, तथेन्द्रियनिमित्त उपयोगोऽपि इन्द्रियमिति व्यवहिरयते।—लोकमें कारणकी भी कार्यमें अनुवृत्ति देखी जाती है जैसे घटकारपरिणत ज्ञानको घट कह देते हैं। उसी प्रकार उपयोगका भी इन्द्रियके निमित्तसे इन्द्रिय कह देते हैं।

घ १/१,१,२४/२०२/६ (कार्यमें कारणका उपचार करके मनुष्य गति नामकर्मक कारणसे उत्पन्न मनुष्य पर्यायके समूहको मनुष्य गति कहा जाता है।)

घ ४/१,४,१/३१६/६ (कार्यमें कारणका उपचार करके पृष्ठगतादि द्रव्योंके परिणमनको भी 'काल' सज्ञाकी प्राप्ति।)

प्र सा / त प्र ३० (कार्यमें कारणके उपचारसे ज्ञानको ह्येयगत कहा जाता है।)

३ अल्पमें पूर्णके उपचारके उदाहरण

स नि ७/१/३६१/१ उपचाराद् राजकुले सर्वगतचैत्राभिधानम्।—जैसे राजकुलमें चैत्रको सर्वगत उपचारसे कहा जाता है इसी प्रकार सामायिक वतके महावतपना उपचारसे जानना चाहिए।

४ भावीमें भूतके उपचारके उदाहरण

घ १,१,१६/१८२/४ कर्मणा क्षयापक्षमाभ्यामभावे कथं तयोस्तत्र सखमिति चेन्नैव दोषः, तयोस्तत्र सखस्योपचारनिबन्धनत्वात्।—प्रश्न—कर्मके क्षय और अपक्षमें अभावमें भी 'तयो' गुणस्थानमें शायिक या औपशमिक भाव कैसे हो सकता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, इस गुणस्थानमें शायिक और औपशमिक भाव-का सन्नाह उपचारसे माना गया है। विशेषदे अपूर्वकरण ४

५ आधारका आधेयसे उपचार

रत्नो वा २/१/१/४६/०६८/२४ मन्वा क्रोधान्ति इति तास्त्व्यासच्छब्दो-पचारः।—मन्वान पर मन्वर किसान चिन्ताते हैं, पर कहा जाता है कि मन्वान चिन्ताते हैं। यहाँ आधारका आधेयमें आरोप है।

६ सद्धानमें तत्का उपचार

रत्नो वा २/१/१/४६/२४/२४ साहचर्यादिति पुरुष इति।—साठोवाते पुरुषका साठिया या गाड़ीवाते पुरुषको गाड़ी कहना सद्धानमें तत्का उपचार है।

७ समीपस्थमें तत्का उपचार

रत्नो वा २/१/१/४६/२४/२४ सामीप्यद्वयभा ग्राम इति।—किसी पथि-यके प्रवृत्ते पर यह कह दिया जाता है कि ये सामने दीवनेवाले वृक्ष ही ग्राम है अर्थात् अत्यन्त समीप है। यहाँ समीपमें तद्का उपचार है।

८ अन्य अनेकों उपचारोंके उदाहरण

स सि ७/१८/३६६/६ शक्यमिव शक्य। यथा तत् प्राणिनो बाघाकरं तथा शरीरमानसबाधहेतुस्वाकर्मोदयविकार शक्यमित्युपचर्यते । —जिस प्रकार काँटा आदि शक्यप्राणियोंको बाघाकारी होती हैं, उसी प्रकार शरीर और मन सम्बन्धी बाघाका कारण होनेसे कर्मोदय जनित विकारमें भी शक्यका उपचार कर लेते हैं । (यहाँ तब सदृश कारणमें तत्का उपचार है ।)

रा बा ४/२६/४/२४४/२८ चरमके पासवाला अव्यवहित पूर्वका मनुष्य-भव भी उपचारसे चरम कहा जाता है । (यहाँ काल सामीप्यमें तत्का उपचार है)

रत्तो बा २/१/५/५—१४/१८८/५ (यह भी गौ है वह भी गौ थी । यहाँ धर्मके एकत्व कारण धर्मियोंमें एकत्व का उपचार किया है ।)

घ २/१,१/४४६/३ आयोगकेबलीके एक आयु प्राण ही होता है, किन्तु उपचारसे एक, छ अथवा सात प्राण भी होते हैं । (यहाँ सरलेप सम्बन्धको प्राप्त द्रव्येन्द्रिय व शरीरादिमें जीवकी पर्यायिका उपचार किया गया है) ।

स सा /आ १०८ (प्रजाके गुण दोषको उपजानेवाला राजा है । ऐसा कहना । यहाँ आश्रयमें आश्रयीका उपचार किया है ।)

प्र स /टी १६/५७/१३ (मुक्त जीवोंके अवस्थाके कारण लोकाग्रको भी मोक्ष सन्ना प्राप्त है । यहाँ आधारमें आधेयका उपचार है ।)

न्याय दी १/४१४ (औखसे जानते हैं इत्यादि व्यवहार तो उपचारसे प्रवृत्त होता है । उपचारको प्रवृत्तिमें सहकारिता निमित्त है ।)

पं घ/पू ७०२ (अवधि व मन पर्यायज्ञानको एकदेश प्रत्यक्ष कहना उपचार है ।)

३ द्रव्यगुण पर्यायमे उपचार निर्देश

१ द्रव्यको गुणरूपसे लक्षित करना

घ १/१,१,१,६/१६१/३ गुणसहचरितत्वादास्मापि गुणसङ्गा प्रतिलभते । उक्त च—“जेहि दु लखिजजते उदयादिसु सवेहि भावेहि । जीवा ते गुणसङ्गा निहिङ्गा सबदरिहीहि । १०४।” —गुणोंके साहचर्यसे आत्मा भी गुणसङ्गाको प्राप्त होता है । कहा भी है—“दर्शनमोहनीय आदि कर्मोंके उदय उपशम आदि अवस्थाओंके होनेपर उत्पन्न हुए जीव-परिणामोंसे युक्त जो जीव देखे जाते हैं, उन जीवोंको सर्वज्ञ-देवने उसी (औपशमिक आदि) गुण सङ्गावाला कहा है ।” (गो क/मू ८२/६८६) (और भी दे उपचार १/३)

२ पर्यायको द्रव्यरूपसे लक्षित करना

घ ४/१,४,४/३३७/५ अशुद्ध द्रव्यद्विगुण्ये अवलम्बिते पुत्रविआदीणि अणेषाणि द्रव्याणि हाति त्ति वज्जपज्जायस्स दब्बत्तधुवगमादो । —अशुद्ध द्रव्याधिकनयका अवलम्बन करनेपर पृथिवी जल आदिक अनेक द्रव्य होते हैं, क्योंकि व्यंजन पर्यायिके द्रव्यपना माना गया है । (और भी दे उपचार १/३)

घ ८/३,४/६/३ कथमस्थियवसेण अद्रव्याण पज्जायाण दब्बत्त । ण, दब्बदो एयतेण तेसि पुष्पभूदानमपुष्पलभादो, दब्बसहावाण चेवुलभा । दब्बद्विगुण्यस्स कथमभावव्यवहारो । ण एस दोसो, ‘यदस्ति न तद् द्वयमतिलब्धं वर्तते’ इति दो वि ण ए अविलम्बिउण द्विद-जेमणयस्स भावाभावव्यवहारपिरोहाभावादो । —प्रश्न—द्रव्याधिक नयसे द्रव्यसे भिन्न पर्यायोंके द्रव्यत्व कैसे सम्भव है । उत्तर—पर्याय द्रव्यसे सर्वथा भिन्न नहीं पायो जाती, किन्तु द्रव्य स्वरूप ही वे उपलब्ध होती हैं । प्रश्न—द्रव्याधिककी अपेक्षा पर्यायोंमें अभावका व्यवहार कैसे होता है । उत्तर—‘जो है वह दोनोंका अतिक्रमण करके नहीं रहता’ इसलिए दोनों नयोंका आश्रय कर स्थित नैगम नयके भाव अभावरूप (दोनों प्रकारके) व्यवहारमें कोई विरोध नहीं है ।

स. सा /आ २६४ प्रवर्तमानं यद्यदभिव्याप्य प्रवर्तते, निवर्तमानं च यद्गुणादाय निवर्तते तत्समस्तमपि सहप्रवृत्त क्रमप्रवृत्त वा पर्याय-जातमेति लक्षणीय तदेकलक्षण-लक्ष्यत्वात् । —वह (चैतन्य) प्रवर्तमान होता हुआ जिस जिस पर्यायको व्याप्त होकर प्रवर्तता है और निवर्तमान होता हुआ जिस जिस पर्यायको ग्रहण करके निवर्तता है, वे समस्त सहवर्ती (गुण) या क्रमवर्ती पर्यायों आत्मा हैं, इस प्रकार लक्षित करना चाहिए, क्योंकि आत्मा उसी एक लक्षणसे लक्ष्य है ।

३ द्रव्यको पर्यायरूपसे लक्षित करना

घ ६/१,७,१/१/१८०/६ भावोणाम किं । दब्बपरिणामो पुंवावरकोडिबदि-रित्तकट्टमाणपरिणामुवतल्लिययदव्व वा । —प्रश्न—भाव नाम किस वस्तुका है । उत्तर—द्रव्यके परिणामको (पर्यायको) अथवा पूर्वपर काटिसे व्यतिरिक्त वर्तमान पर्यायसे उपलक्षित द्रव्यको भाव कहते हैं । (और भी दे उपचार १/३)

४ पर्यायको गुणरूपसे लक्षित करना

म आ /मू ६७/१८२ अहिंसादिगुणा ।
म आ /वि ६७/१८३/६ एते अहिंसादयो गुणा परिणामा धर्म इत्यर्थ । ननु सहभुवो गुणा इति वचनात् चैतन्यामूर्तित्वादीनमेवारमन सधुषां गुणात् । हिंसादिभ्यो विरतिपरिणाम पुन कादाचि-रत्वात् मनुष्यत्वादिको धादिवत् पर्याय इति चेन्न गुणपर्ययवद्द्रव्य-मिष्यानुमयोपादाने अवान्तरभेदोपदर्शनमेतत्तथा ‘गोमलीवर्षम्’ इत्युभयोरुपादाने पुनरुक्ततापरिहृतये क्षीगोशब्दवाच्या इति कथन-मेकस्यैव गुणशब्दस्य ग्रहणे धर्ममात्रवचनात् । —अहिंसादि गुण आत्माके परिणाम हैं अर्थात् धर्म हैं प्रश्न—‘सहभुवो गुणा’ ऐसा आगमका वचन होनेके कारण चैतन्य अमूर्तिरवादि ही आत्माके गुण हैं क्योंकि ये कभी उससे पृथक् नहीं होते । परन्तु हिंसा आदिसे विरतिरूप परिणाम कादाचिर्क होनेके कारण, ये भाव मनुष्यत्वादि अथवा क्षोधादिकी भाँति पर्याय हैं । उत्तर—‘गुणपर्ययवद्द्रव्यम्’ इस सूत्रमें दोनोंका ग्रहण किया है । यहाँ गुण शब्द उपलक्षण वाचक समझना चाहिए, अर्थात् वह ज्ञानादि गुणोंके समान अहिंसादि धर्मोंका भी वाचक है । जैसे—‘गोमलीवर्षम्’ इस शब्दसे एक ही गौ पदार्थका गो और बलीवर्ष दोनों शब्दोंके द्वारा ग्रहण होनेसे एकको पुनरुक्तता प्राप्त होती है । इसे दूर करनेके लिए यहाँ गो शब्द का अर्थ ‘स्त्री’ करना पड़ता है । उसी तरह ‘अहिंसादिगुणा’ इस गाथाके शब्दसे यहाँ धर्ममात्रको गुण कहा है, ऐसा समझना चाहिए । (फिर वे धर्म गुण ही या पर्याय, इससे क्या प्रयोजन)

दे उपचार ३/१ औपशमिकादि भावोंको जीवके कहा जाता है ।
ल सा /मू ६७/१३६ उपशमगुण गुहाति । —(अन्त कोटाकोटी मात्र कर्मों की स्थिति रह जानेपर जीव) उपशम सम्यक्त्व गुणको ग्रहणकरे है ।
१ का/ता. वृ ६/१४/१२ केवलज्ञानादय स्वभावागुणा मतिज्ञानादयो विभावगुणा । —केवलज्ञानादि (शुद्ध पर्याय) स्वभाव गुण हैं और मति ज्ञानादि (अशुद्ध पर्यायों) विभाव गुण हैं । (१ प्रा /टी १/६७) (विशेष दे उपचार १/३)

५ गुणको पर्यायरूपसे लक्षित करना

स सा /मू ३४६ केहिचि दु पज्जएहि विणस्सए जेव केहिचि दु जीवो । जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व जेयतो । ३४६। —क्योंकि जीव कितनी ही पर्यायोंसे नष्ट होता है और कितनी ही पर्यायों (गुणों) से नष्ट नहीं होता । इसलिए ‘वही करता’ है अथवा ‘दूसरा ही करता है’ ऐसा एकान्त नहीं है ।

प्र सा /मू १८ सप्पादो व विणसो विज्जदि सव्वस्स अट्ठादास्स । पज्जा-एण दु केणपि अट्ठो खलु होदि सट्ठदो । —किसी पर्यायसे उत्पाद, किसी पर्यायसे विनाश सर्व पदार्थ मात्रके होता है । और किसी पर्यायसे (गुणसे) पदार्थवास्तवमें ध्रुव है । (विशेष दे उपचार १/३)

४ उपचारकी सत्यार्थता व असत्यार्थता

१ परमार्थतः उपचार सत्य नहीं होता

घ ७/२,१, ३३/७६/४ उचयारेण खनोसमियं भाव णत्तस्स ओदइयस्स ओगस्स तत्थाभावविरोहादो । —योगसे क्षयोपशम भावतो उपचारसे माना गया है । असलमें तो योग औदयिक भाव ही है । और औदयिक योगका सयोगिकेवलियोंमें अभाव माननेमें विरोध आता है । (अतः सयोगिकेवलियोंमें योग पाया जाता है)

घ १४/६, ६१/१३/४ सिद्धाण पि जीवत्तं किण्ण इच्छिज्जणे न, उचयारस्स सञ्जात्ताभावादो । —प्रश्न—सिद्धों के भी जीवत्व क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है । उत्तर—नहीं, क्योंकि सिद्धोंमें जीवत्व उपचारसे है, और उपचारको सत्य मानना ठीक नहीं है ।

स सा १०१ पौद्गलिकं कर्मरिना कृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघन-भ्रष्टानां विकल्पपरायणानां पर्यायस्ति विकल्प स तु उपचार एव न तु परमार्थ । —पौद्गलिक कर्म आरमाने किया है ऐसा निर्विकल्पविज्ञानघनसे भ्रष्ट विकल्प परायण अज्ञानियोंका विकल्प है । वह विकल्प उपचार हो है परमार्थ नहीं ।

प्र सा १/ठा वृ २२६ प्रसेपका ८/३०४/२६ न उपचार साक्षाद्वित्तुमर्हति अग्निवत् क्रूरोऽय देवदत्त इत्यादि । —उपचार कभी साक्षात् या परमार्थ नहीं होता । जैसे—‘यह देवदत्त अग्निवत् क्रोधी है’ ऐसा कहना । (इसी प्रकार आदिकालोंके महाव्रत उपचारसे है । सत्य नहीं)

न्या दी १/११४ चक्षुषा प्रतीयत इत्यादि व्यवहारे पुनरुपचार धारणम् । उपचारप्रवृत्तौ तु सहकारित्व नियन्धनम् । न हि सहकारित्वेन तत्साधकमिति करण नाम, साधकविशेषस्यातिशयवत् करणत्वात् । —औलसे जानते हैं ‘इत्यादि व्यवहार तो उपचारसे प्रवृत्त होता है और उपचारकी प्रवृत्तिमें सहकारिता निमित्त है । इसलिए इन्द्रियादि प्रमितिक्तियोंमें मात्र साधक है पर साधकतम नहीं । और इसीलिए करण नहीं है, क्योंकि, अतिशयवात् साधकविशेष (असाधारण कारण) ही कारण होता है ।

२. अन्य धर्मोंका लोप करनेवाला उपचार मिथ्या है

सं स्तो २२ अनेकमेक च तथैव तत्त्वं, भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम् । मृषोपचाराऽन्यत्तस्य लोपे, तच्छ्रेयलोपोऽपि ततोऽनुपारम्यम् । —वह मृषुत्तिनीव वस्तु तत्त्वं अनेक तथा एक रूप है, जो भेदाभेद ज्ञानका विषय है और वह ज्ञान ही सत्य है । जो लोग इनमेंसे एकको भी असत्य मानकर दूसरेमें उपचारका व्यवहार करते हैं वह मिथ्या है, क्योंकि, दोनोंमें से एकका अभाव माननेपर दूसरेका भी अभाव हो जाता है । और दोनोंका अभाव हो जानेपर वस्तुतत्त्वं अनुपारम्य अर्थात् नि स्वभाव हो जाता है ।

३. उपचार सर्वथा अप्रमाण नहीं है

घ १/१, १, ४/१२४/६ नेयमदृष्टपरिकल्पना कार्यकारणोपचारस्य जगति सुप्रसिद्धस्योपलम्भात् । —यह (द्रव्येन्द्रियको उपचारसे इन्द्रिय कहना) कोई अदृष्ट कल्पना नहीं है, क्योंकि, कार्यगत धर्मका कारणमें और कारणगत धर्मका कार्यमें उपचार जगत्में प्रसिद्ध रूपसे पाया जाता है ।

स म ६/२६/२६ लौकिकानामपि घटाकाश पटाकाशमिति व्यवहार-प्रसिद्धे राकाशस्य निरयानिरयत्वम् । न चायमौपचारिकत्वादप्रमाण-मेव । उपचारस्यापि किंचित्साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थरूपशिक्षात् । —आकाश निरयानिरय है, क्योंकि सर्व-साधारणमें भी ‘यह घटका आकाश है’, ‘यह पटका आकाश है’ यह व्यवहार होता है । यह व्यवहारसे उत्पन्न होता है इसलिए अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, उपचार भी किसी न किसी साधर्म्यसे ही मुख्य अर्थको चोखित करनेवाला होता है ।

४. निश्चित व मुख्यके अस्तित्वमें ही उपचार होता है सर्वथा अभावसे नहीं

रा बा १/१२/१४/६६/१७ सति मुख्ये लोके उपचारे दृश्यते, यथा सति सिंहे अन्यत्र कार्यक्षीर्यादिगुणसाधर्म्यात् सिंहापवात् क्रियते । न च तथेह मुख्यं प्रमाणमस्ति । तदभावात् फले प्रमाणोपचारे न युज्यते । —उपचार तम होता है जब मुख्य वस्तु स्वतन्त्रभावसे प्रसिद्ध हो । जैसे सिंह अपने द्युत्वत्त ब्रह्मत्वादि गुणसे प्रसिद्ध है तभी उसका सादरयसे बालकमें उपचार किया जाता है । पर यहाँ जब मुख्य प्रमाण ही प्रसिद्ध नहीं है तब उसके फलमें उसके उपचारकी कल्पना ही नहीं हो सकती ।

भ १/१, १, ६/१८१/४ अक्षपकानुपशमकानां यथं तद्व्यपदेशरचेत्, भाविनि भूतयदुपचारतत्सिद्धे सत्येवमतिप्रसङ्ग स्यादिति चेत्, असति प्रतिबन्धरि मरणे नियमेन चारित्रमोहक्षपकोपशमकारिणां तदुन्मुक्तानामुपचारभावात्तत्सम्भात् । —प्रश्न—इस आठवें गुण-स्थानमें न तो कर्मोंका क्षय ही होता है और न उपशम ही । ऐसी अवस्थामें यहाँ पर क्षायिक या औपशमिक भावका सद्भाव कैसे हो सकता है । उत्तर—नहीं, भावोंमें भूतके उपचारसे उसकी सिद्धि ही जाती है । प्रश्न—ऐसा माननेपर तो अतिप्रसंग आता है । उत्तर—नहीं, क्योंकि प्रतिबन्धक कर्मका उदय अथवा मरण यदि न हो तो वह चारित्रमोहका उपशम या क्षय अवश्य कर लेता है । उपशम या क्षपणके सम्मुख हुए ऐसे व्यक्तिके उपचारसे क्षपक या उपशमक संज्ञा बन जाती है । (घ ६/१, ७, ६/२०६/६), (घ ७/२, १, ४६/६३/२)

घ ६/१, ७, ६/२०६/४ उचयारे आमद्वजमाने अद्वयसगो किण्ण होदीदि । चे न, पञ्चासत्तोदा अद्वयसगपडिसेहादा । —प्रश्न—इस प्रकार सर्वत्र उपचार करनेपर अतिप्रसंग दोष नहीं प्राप्त होगा । उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्रयासति अर्थात् समीपवर्त्ती अर्थके प्रसंगसे अतिप्रसंग दोषका प्रतिषेध हो जाता है । (इसलिए अपूर्वकरण गुण-स्थानमें तो उपचारसे क्षायिक व औपशमिक भाव कहा जा सकता है पर इससे नीचेके अन्य गुणस्थानोंमें नहीं)

घ ७/२, १, ६/६८/२ न चोचयारेण दसणावरणहिंसे मुहियस्ताभावे उचयाराणुवक्षतोदो । —(दर्शन गुणका अस्वीकार करनेपर) यह भी नहीं कहा जा सकता कि दशनावरणका निर्देश केवल उपचारसे किया गया है, क्योंकि, मुख्य वस्तुके अभावमें उपचारकी उपपत्ति नहीं बनती ।

५. अविनाभावो सम्बन्धोंमें ही परस्पर उपचार होता है

आ पा, ६ मुरयाभावे सति प्रयाजने निमित्ते चोपचार प्रवर्त्तते सोऽपि सधन्वाविनाभाव । —मुख्यका अभाव होनेपर प्रयोजन या निमित्त के बशसे उपचार किया जाता है और वह प्रयोजन कार्य कारण या निमित्त नैमित्तिकादि भावोंमें अविनाभाव सम्बन्ध ही है ।

६ उपचार-प्रयोगका कारण व प्रयोजन

घ ७/२ १ ६६/१०१/४ कथमतराण चत्विदिद्ययितपडिबद्धाए सत्तीए चत्विदिद्यस्स पउत्तो । न अतरगे बहिरंगत्थावयारेण बालजण-बोहणदुत्तं चसवूण ज दिस्सदि त्तं चनखुदसणमिदि परव्वणादो । गाहाए गलभजणमकाज्जण उजुवरथो किण्ण घेप्पदि । न तत्थ, पुव्वुत्ता-सेसोदोसप्पसगादो । —प्रश्न—उस चक्षु इन्द्रियके विषयसे प्रतिबद्ध अंतरंग (दर्शन) शक्तिमें चक्षु इन्द्रियकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है । उत्तर—नहीं, यथार्थमें तो चक्षु इन्द्रियकी अंतरगमें ही प्रवृत्ति होती है, किन्तु बालक जनोका ज्ञान करानेके लिए अंतरगमें बहिरंग पदार्थके उपचारसे ‘चक्षुओंको जो दिखता है वही चक्षु दर्शन है’ ऐसा प्ररूपण किया गया है । प्रश्न—गाथाका गलन घोटकर सोधा अर्थ क्यों नहीं करते । उत्तर—नहीं करते, क्योंकि, वैसा करनेमें तो पूर्वोक्त समस्ता दोषोंका प्रसंग आता है ।

व ध/यु ५४२-५४३ असदपि लक्षणमेतत्तस्मान्नात्रवे सुनिर्विकल्पत्वात् । तदपि न विनायलम्पान्निविषय शक्यते वस्तु ५४२। तस्मादनन्य-
शरण सदपि ज्ञान स्वरूपसिद्धत्वात् । उपचरित हेतुवशात् तदिह
ज्ञान तदन्यशरणमिव ॥२४३॥ — निश्चयनयसे तत्पक्षः स्वरूप केवल
सत्वरूप मानते हुए, निर्विकल्पताके कारण यद्यपि उक्त लक्षण (अर्थ-
विकरणो ज्ञान) ठीक नहीं है । इसलिए ज्ञान स्वरूपसे सिद्ध
होनेसे अनन्य शरण होते हुए भी यहाँपर वह ज्ञान हेतु (या प्रयो-
जन) के वशसे उपचरित होकर उससे भिन्नके (ज्ञायी) के शरणकी
तरह माधुम होता है । अर्थात् स्वपर व्यवसायारमक प्रतीत होता है ।
(और भी वे नय V/५४४)

५ उपचार व नय सम्बन्ध विचार

१. उपचार कोई पृथक् नय नहीं है

आ प. ६ उपचार पृथक् नयो नास्तीति न पृथक् कृत । — उपचार नय
कोई पृथक् नय नहीं है, इसलिए असद्वृत्त व्यवहार नयसे पृथक्
उसका ग्रहण नयोंकी गणनामें नहीं किया है ।

२ असद्वृत्त व्यवहार ही उपचार है

आ प. ६ असद्वृत्तव्यवहार एवोपचार, उपचारादप्युपचार य करोति
स उपचरितासद्वृत्तव्यवहार । — असद्वृत्त व्यवहार ही उपचार है ।
और उपचारका भी जो उपचार करता है सो उपचरितासद्वृत्त व्यव-
हार है । (विशेष देखो नय V)

३ उपचार शुद्ध नयमें नहीं नैगमादि नयोंमें ही सम्भव है

क पा १/१.१३-१४/४२४८/२६०/१ एव जेगम-सगह-व्यवहाराण । कुदो ।
कज्जादो अभिण्णस्स कारणस्स पञ्चयभावव्युत्पन्नमादो उज्जुसुदस्स
कोहोदयं पट्टच्च जीवो कोहकसाओ । ज पट्टच्च कोहकसाओ तं पञ्च
यकसाएण कसाओ । बधसताण जीवादा अभिण्णाण वेयणसहावाण-
मुज्जुसुदा कोहादिपञ्चयभाव किण्ण इच्छये । ण बधसंतेहितो कोहा-
दिकसायणमुपपत्तीए अभावादो । ण च कज्जमणुकटाणं कारणववएसो,
अम्भस्थावत्तीदो । — इस प्रकार ऊपर चार सूत्रों द्वारा जो क्रोधादि
रूप द्रव्यको प्रत्यय कपाय कह आये हैं, वह नैगम संग्रह और
व्यवहार नयकी अपेक्षासे जानना चाहिए । प्रश्न—यह कैसे जाना
कि उक्त कथन नैगमादिकी अपेक्षासे किया है । उत्तर—चूँकि ऊपर
(इन सूत्रोंमें) कार्यसे अभिन्न (अविनाभावी) कारणको प्रत्ययरूपसे
स्वीकार किया है, अर्थात् जो 'कारण' कार्यसे अभिन्न है उसे ही
कपायका प्रत्यय बतलाया है । फलसूत्रकी दृष्टिमें क्रोधके उदयकी
अपेक्षा जीव क्रोध कपाय रूप होता है । प्रश्न—बन्ध और सत्त्व भी
जीवसे अभिन्न हैं, और वेदनास्वभाव हैं, इसलिए श्रुतसूत्रनय
क्रोधादि कर्मके बन्ध और सत्त्वको भी क्रोधादि प्रत्यय रूपसे क्यों
नहीं स्वीकार करता है । अर्थात् क्रोध कर्मके उदयको ही श्रुतसूत्र
प्रत्यय कपाय क्यों मानता है, उसके बन्ध और सत्त्व अवस्थाको
प्रत्ययकपाय क्यों नहीं मानता । उत्तर—नहीं क्योंकि क्रोधादि
कर्मके बन्ध और सत्त्वसे क्रोधादि कपायोंकी उत्पत्ति नहीं होती है
तथा जो कार्यको उत्पन्न नहीं करते हैं उन्हें कारण कहना ठीक भी
नहीं है, क्योंकि (इस नयसे) ऐसा मानने पर अव्यवस्था दोषकी
प्राप्ति होती है ।

क पा १/१.१३-१४/४२४९/२६७/१ ज मज्जुस्स पट्टच्च कोहो समुत्पण्णे सो
तत्तो पुथभूतो सत्तो कथं कोहो । होत ए एसो दोसो जदि सगहादि-
णया अबलपिदा । किंतु णइमणओ जयिवसहाइरिएण जेणाव-
लमिदो तेण ण एस दोसो । तस्य कथं ण दोसो । कारणम्म णिलीण-
कच्चव्युत्पन्नमादो । — प्रश्न—जिस मनुष्यके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न
हुआ है वह मनुष्य उस क्रोधसे अलग होता हुआ भी क्रोध कैसे

कहला सकता है । उत्तर—यदि यहाँ पर संग्रह आदि नयोंका अव-
लम्बन लिया होता तो ऐसा होता, किन्तु यतिव्यभाचार्यने चूँकि
यहाँ पर नैगमनयका अवलम्बन लिया है, इसलिए यह कोई दोष
नहीं है । प्रश्न—नैगम नयका अवलम्बन लेने पर दोष कैसे नहीं है ।
उत्तर—क्योंकि नैगमनयकी अपेक्षा कारणमें कार्यका सद्भाव स्वीकार
किया गया है, इसलिए दोष नहीं है ।

उपचार-अभेद—अभेदोपचार—दे अभेद ।

उपचार छल—दे छल ।

उपचार विनय—दे विनय ।

उपदेश—मोक्षमार्गका उपदेश परमार्थसे समझे मझा उपकार है,
परन्तु इसका विषय अरयन्त गुप्त होनेके कारण केवल पात्रको ही
दिया जाना योग्य है, अपात्रको नहीं । उपदेशकी पात्रता निरभि-
मानता विनय व विचारशीलतामें निहित है । कठोरतापूर्वक भी
दिया गया परमार्थोपदेश पात्रके हितके लिए ही होता है । अतः
उपदेश करना कर्तव्य है, परन्तु अपनी साधनामें भग न पड़े, इसकी
सीमा तक ही । उपदेश भी पहिले मुनिधर्मका और पीछे आचम
धर्मका दिया जाता है ऐसा क्रम है ।

१ उपदेश सामान्य निर्देश

१ धर्मोपदेशका लक्षण

२ मिथ्योपदेशका लक्षण

३ निश्चय व व्यवहार दोनों प्रकारके उपदेशोका निर्देश

* सल्लेखनाके समय देने योग्य उपदेश—दे सल्लेखना ५/११

* आदेश व उपदेशमें अन्तर—दे आदेशका लक्षण

* चारो अनुयोगोके उपदेशोकी पद्धतिमें अन्तर

—दे अनुयोग १

* आगम व अध्यात्म पद्धति परिचय —दे पद्धति

* उपदेशका रहस्य समझनेका उपाय —दे आगम ३

२ योग्यायोग्य उपदेश निर्देश

१ परमार्थ सत्यका उपदेश असम्भव है

२ पहिले मुनिधर्मका और पीछे श्रावकधर्मका उपदेश दिया जाता है

३ अयोग्य उपदेश देनेका निषेध

४ ल्याति लाभ आदिकी भावनाओसे निरपेक्ष ही उपदेश हितकारी होता है

३ वक्ता व श्रोता विचार

* वक्ता व श्रोताका स्वरूप —दे वह वह नाम

* गुरु शिष्य सम्बन्ध —दे गुरु २

* मिथ्यादृष्टिके लिए धर्मोपदेश देनेका अधिकार अनधिकार
सम्बन्धी —दे वक्ता

* सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टिके उपदेशका सम्यक्त्वोत्पत्तिमें
स्थान —दे लब्धि ३

* वक्ताको आगमार्थके विषयमें अपनी ओरसे कुछ नहीं
कहना चाहिए —दे आगम ५/६

- * केवलज्ञानके विना तीर्थंकर उपदेश नहीं देते—वे, वक्ता ३
- १ श्रोताकी रुचि-अरुचिसे निरपेक्ष सत्यका उपदेश देना कर्तव्य है
- * हित-अहित व मिष्ट-कटु सभाषण —वे सत्य २
- २ उपदेश श्रोताकी योग्यता व रुचिके अनुसार देना चाहिए
- * उपदेश ग्रहणमें विनयका महत्व —वे विनय २
- * ज्ञानके योग्य पात्र-अपात्र —वे श्रोता
- ३ ज्ञान अपात्रको नहीं देना चाहिए
- * कथंचित् अपात्रको भी उपदेश देनेकी आज्ञा —वे उपदेश १/१ में (स म)
- * अपात्रको उपदेशके निषेधका कारण—वे उपदेश ३/४
- ४ कैसे जीवको कैसा उपदेश देना चाहिए
- ५ किम अवसरपर कैसा उपदेश देना चाहिए
- * वाद-विवाद करना योग्य नहीं पर धर्महानिके अवसर पर विना बुलाये बोले —वे वाद
- * चारो अनुयोगिके उपदेशका क्रम —वे स्वाध्याय १
- ४ उपदेश प्रवृत्तिका माहात्म्य
- १ हितोपदेश सबसे बड़ा उपकार है
- २ उपदेशसे श्रोताका हित हो न हो पर वक्ताका हित तो होता ही है
- ३ अतः परोपकारार्थ हितोपदेश करना छूट है
- ४ उपदेशका फल
- ५ उपदेश प्राप्तिका प्रयोजन

१. उपदेश सामान्य निर्देश

१. धर्मोपदेशका लक्षण

स, सि ६/२६/४४३/४ धर्मकथाचतुष्टयानं धर्मोपदेशम् । —धर्मकथा आदिका अनुष्ठान करना धर्मोपदेश है । (रा बा ६/२६/४/६२४/१६), (वा सा / १५३/५), (त सा ७/१६), (अन ध ७/८०/७१६)

२. मिथ्योपदेशका लक्षण

स सि ७/२६/४६६/७ अभ्युदयनि त्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्य मयथाप्रवर्तनमसिन्ध्यापनं वा मिथ्योपदेशः । —अभ्युदय और मोक्षकी कारण भूत क्रियाओंमें किसी दूसरेको विपरीत मार्गसे लगा देना, या मिथ्या वचनों-द्वारा दूसरोंको ठगना मिथ्योपदेश है ।

३. निश्चय व व्यवहार दोनों प्रकारके उपदेशोंका निर्देश

मो पा /मू १६/६० परदम्बादो दुग्गई सद्धम्मादो हु सुग्गई हवइ । इय णाऊणसद्वने कुणहरई विरइ इयरम्मि । १६। धुषसिद्धो तित्थयरो षउणाणजुदो करेइ तवयरण । णाऊण धुषं दुज्जा तवयरण णाणजुसो वि । १६। —परदम्बसे दुर्गति होती है जैसे स्वप्नसे सुगति होती है, ऐसा जानकर हे भव्यजीवो ! तम स्वप्नव्ययमें रति करो और परदम्बसे विरक्त हो । १६। दखो जिसको नियमसे मोक्ष होना है और चार ज्ञानके जो घाटो हैं वेम तीर्थंकर भी तपश्चरण करते हैं ऐसा निश्चय करके तप करना योग्य है । १६।

प ध /उ ६/३ न निपिइ स आदेशा नोपदेशो निषेधित । नून सरपात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि । ६/३। —निश्चय करके सत्पात्रोंका दान देनेके विषयमें और अर्हत्त्वोंकी पूजाके विषयमें न छो वर आदेश निषिद्ध है तथा न वह उपदेश ही निषिद्ध है ।

२. योग्यायोग्य उपदेश निर्देश

१. परमार्थ सत्यका उपदेश असम्भव है

स ध १६/६६ यरररै प्रतिपाद्योऽष्ट यत्परात् प्रतिपाद्ये । उन्मत्तचेष्टितं सन्मे यदष्टं निमित्तकम् । १६। गद्व्यापयितुमिच्छामि सत्ताह तदह पुन । प्राज्ञ सदपि नाच्यस्य तत्किमन्यस्य वाचये । १६। —मै उप-ध्याया आदिकारि जो कुछ प्रतिपादित किया जाता है तथा शिष्या दिकोंका कुछ जो प्रतिपादन करता है वह शम मेरी पागलों जैसी चेष्टा है, क्योंकि, मैं वास्तवमें इन सभी वचनविकल्पासे अप्राप्त है । १६। जिस विकल्पाधिरुद्ध आत्मस्वरूपको अथवा वेहादिकको सम-काने छुकारनेमें मैं इच्छा करता हूँ, वह मैं नहीं हूँ, और जो ज्ञाना नन्दमय स्वयं अनुभूतमय आत्मस्वरूप मैं हूँ, वह भी दूसरे जीवोंके उपदेश-द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है, क्योंकि कषल स्वसंवेदगम्य है । इसलिये दूसरे जीवोंका मैं क्या समझऊँ । १६।

२. पहले मुनिधर्मका और पीछे गृहस्थधर्मका उपदेश दिया जाता है

पु सि /उ १७-१८ बहुश समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु, गृहाति । तस्यैव देशविरतिं कथनीयानेन कीजेन । १७। यो यतिधर्मकथयन्तु पदिशति गृहस्थधर्ममण्डपमिति । तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शित निग्रह-स्थानम् । १८। अक्रमकथनेन यत् प्रारब्धहमानाऽतिदूरमपि शिष्य । अपदेशं संप्रवृत्तं प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना । १८। —जो जीव गृहस्थार दिखलायी हुई समस्त पापरहित मुनिवृत्तिको कदाचिद ग्रहण न करे तो उसे एकदेश पाप क्रिया रहित गृहस्थाचार इस रेतुसे समझावे अर्थात् कथन करे । १७। जो कुछ बुद्धि उपदेशक, मुनि-धर्मको नहीं कह करके प्रायश्चित्त धर्मका उपदेश देता है उस उपदेशक-को भगवत्के सिद्धान्तमें दण्ड देनेका स्थान प्रदर्शित किया है । १८। जिस कारणसे उस दुर्बुद्धिके क्रमभंग कथनरूप उपदेश करनेसे अत्यन्त दूर तक उरसाहमान हुआ भी शिष्य तुच्छस्थानमें सन्तुष्ट होकर उगाया हुआ होता है । १८।

३. अयोग्य उपदेशका निषेध

प ध /उ ६/४ यद्वादेशपदेशो स्तो तो द्वौ निरयत्कर्मणि । यत्र सावध-लेशोऽस्ति तत्रादेशो न जातुचित् । ६/४। —वे आदेश और उपदेश दोनों ही निर्दोष क्रियाओंमें ही होते हैं, किन्तु जहाँपर पापकी थोड़ी-सी भी सम्भावना है वहाँपर कभी भी आदेशकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ।

४. ख्याति लाभ आदिकी भावनाओंसे निरपेक्ष ही उप-देश हितकारी होता है

रा बा ६/२६/६२४/१८ दृष्टप्रयोजनपरिग्रहादुन्मार्गनिवर्तनार्थं संदेह-व्यावर्तनापूर्वपथा प्रकाशनार्थं धर्मकथाचतुष्टयानं धर्मोपदेशः (इत्या-रम्यते) । —लौकिक स्वार्थसाधन आदि फलकी आकांक्षके बिना, उन्मार्गकी निवृत्तिके लिए तथा संदेहकी व्यावृत्ति और अपूर्व अर्थात् अपरिचित पदार्थके प्रकाशनके लिए धर्मकथा करना धर्मो-पदेश है । (वा सा ६/३३/४)

३. वक्ता व श्रोता विचार

१. श्रोताकी रुचिसे निरपेक्ष सत्यका उपदेश देना योग्य है

म वा /मू १८/३ आदृष्टमेव चित्तेषुमुहिता जे परदुमवि तोए । कट्टय फरुसेहि साहेति ते हु अविबुद्धा लोए । १८/३। —जो पुरुष आत्मरहित

करनेके लिए कटिबद्ध होकर आत्महितके साथ कटु व कठोर बचन बोलकर परहित भी साधते हैं, वे जगत्में अतिशय दुर्लभ समझने चाहिए।

स सि १/१३/१४ विरोध होता है तो होने दो। यहाँ तत्त्वकी भीमांसा की जा रही है। दवाई कुछ रोगीकी इच्छाका अनुकरण करनेवाली नहीं होती है। (दे आगम ३/४/३)

पु सि ७/१०० हेतु प्रमत्तयोगे निर्दिष्ट सकलविषयवचनानाम्। हेयानुष्ठानावेरनुबदन भवति नासत्यम्। १०० = समस्त ही अनृत वचनोंका प्रमादसहित योग हेतु निर्दिष्ट होनेसे हेय उपाधेयादि अनुष्ठानोंका कहना झूठ नहीं होता।

स म ३/१४/१६ ननु यदि च पारमेश्वरे वचसि तेषामविवेकातिरेकाद-
रोचकता, तत्किमर्थं तां प्रत्युपदेशवशेन इति। नैवम्। परोपकार-
सारप्रवृत्तीनां महारमनां प्रतिपाद्यगतां रुचिमरुचि वानपेक्ष्य हितो-
पदेशप्रवृत्तिदर्शनात्, तेषां हि परार्थस्यैव स्वार्थत्वेनाभिमतत्वात्, न
च हितोपदेशादपर पारमार्थिक परार्थ। तथा चार्पम्—“रूख उ बा
परो मा बा, बिस बा परियसऊ। भासियन्वा हिया भासा सपखगुण-
कारिया।” —प्रश्न—यदि अविवेककी प्रवृत्ततासे किसीको जिनेन्द्र
भवादि के वचनोंमें रुचि नहीं होती, तो आप उसे क्या उपदेश देने-
का परिश्रम उठाते हैं। उत्तर—यह बात नहीं है, परोपकार स्वभाव-
वाले महारामा पुरुष किसी पुरुषकी रुचि और अरुचिको न देखकर
हितका उपदेश करते हैं। क्योंकि महारामा लोग दूसरेके उपकारको ही
अपना उपकार समझते हैं। हितका उपदेश देनेके समान दूसरा कोई
पारमार्थिक उपकार नहीं है। श्रमियाने कहा है—“उपदेश दिया
जानेवाला पुरुष चाहे रोप करे, चाहे बह उपदेशको विपरूप समझे
परन्तु हितरूप वचन अवश्य कहने चाहिए।”

२ उपदेश श्रोताको योग्यता व रुचिके अनुसार देना चाहिए

घ १/१,१,६६/११/१ विरिस्ति शब्दोपादानमनर्थकमिति चेन्न, विस्तर-
रुचिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात्। सक्षेपरुचयो नानुग्रहीतरचेन्न, विस्तर-
रुचिसत्त्वानुग्रहस्य सक्षेपरुचिसत्त्वानुग्रहाविनाभावित्वात्। —प्रश्न
सूत्रमें दो बार ‘अस्ति’ शब्दका ग्रहण निरर्थक है। उत्तर—नहीं,
क्योंकि विस्तारसे समझनेकी रुचिवाले शिष्योंके अनुग्रहके लिए
सूत्रमें दो बार ‘अस्ति’ पदका ग्रहण किया है। प्रश्न—तो इस सूत्रमें
सक्षेपसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्य अनुग्रहीत नहीं किये गये।
उत्तर—नहीं, क्योंकि, सक्षेपसे समझनेकी रुचि रखनेवाले जीवोंका
अनुग्रह विस्तारसे समझनेकी रुचि रखनेवाले जीवोंके अनुग्रहका
अविनाभाव है। अर्थात् विस्तारसे कथन कर देनेपर सक्षेपरुचि
शिष्योंका काम चल ही जाता है। (घ १/१,१,६/१६/३ तथा अन्यत्र
भी अनेकों स्थलों पर)

म पु १/१३७ इति धर्मकथाङ्गत्वादर्थाक्षिप्तो चतुष्टयीम्। कथा यथाहं
श्रोतुम्य, कथक प्रतिपादयेत्। १३७ इस प्रकार धर्मकथाके अङ्गभूत
आसेपिणी विसेपिणी सवेदिनी और निर्वेदिनी रूप चार कथाओंको
विचारकर श्रोताको योग्यतानुसार वक्ताको कथन करना चाहिए।

न्या ही ३/३६६ वीतरागकथामां तु प्रतिपाद्यानुशयारोधेन प्रतिज्ञाहेतु
द्वावयवौ, प्रतिज्ञाहेतुदाहरणानि त्रय, प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयारच-
त्वार, प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमनानि वा पञ्चेति यथायोग-
प्रयोगपरिपाटी। तदुक्त कुमारनन्दिभट्टारके—“प्रयोगपरिपाटी
प्रतिपाद्यानुरोधतः। —वीतराग कथामें तो शिष्योंके आशयानुसार
प्रतिज्ञा और हेतु ये दो भी अवयव होते हैं, प्रतिज्ञा, हेतु और
उदाहरण ये तीन भी होते हैं प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण और उपनय ये
चार भी होते हैं, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच
भी होते हैं। इस तरह यथायोग्य रूपसे प्रयोगकी यह व्यवस्था है।
इसी बातको श्री कुमारनन्दि भट्टारकने बादस्याय” में कहा है—

प्रयोगोंके बोलनेकी यह व्यवस्था प्रतिपाद्यों (श्रोताओं) के
अभिप्रायानुसार करनी चाहिए। जो जितने अवयवोंसे समझ सके
उतने अवयवोंका प्रयोग करना चाहिए।

३ ज्ञान अपात्रको नहीं देना चाहिए

कुरल ७२/४,६,१० ज्ञानचर्चा तु कर्त्तव्या विदुषामेव ससदि। मौर्ये
च दृष्टिमाधाय वक्तव्यं मूर्खमण्डले। व्याख्यानेन यशोत्तिप्सो
श्रुत्वेद स्वावधार्यताम्। विस्मृत्याग्रे न वक्तव्य व्याख्यानं हतचेत-
साम्। १। विरुद्धानां प्रस्तावतु भाषणं विद्यते तथा। मालिन्यद्विषिते
शेषे यथा वीथ्युपपातनम्। १०१ —बुद्धिमान् और विद्वान् लोगोंकी
सभामें ही ज्ञान और विद्वत्ताकी चर्चा करो, वि-तु मूर्खोंको उनकी
मूर्खताका ध्यान रखकर ही उत्तर दो। १। वे वक्तृता से विद्वानोंको
प्रसन्न करनेकी इच्छावाले लोग। देखो कभी भूलकर भी मूर्खोंके
सामने व्याख्यान न देना। १। अपनेसे मतभेद रखनेवाले व्यक्तियोंके
समक्ष भाषण करना ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार अमृतको मलिन
स्थानपर डाल देना। १०।

स श ५८ अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा। ब्रूदामानस्तत-
स्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः। ५८ —स्वामानुभवमग्न अन्तरात्मा विचा-
रता है, कि जैसे ये मूर्ख अज्ञानी जीव बिना बताये हुए मेरे आत्म-
स्वरूपको नहीं जानते हैं, वैसे ही बतलाये जानेपर भी नहीं जानते हैं।
इस लिए उन मूर्ख पुरुषोंको मेरा बतलानेका परिश्रम व्यर्थ है—निष्फल
है। प्रायो मूर्खस्य कोषाय सन्मार्गस्योपदेशनम्। निर्लूननासिकस्यैव
विदुषादर्शदर्शनम्। —प्राय करके सन्मार्गका उपदेश मूर्खजनोंके
लिए कोषका कारण होता है। जिस प्रकार कि नकटे व्यक्तिको यदि
दर्पण दिखाया जाये तो उसे क्रोध आता है।

घ १/१,१,६२-६३/६८ सेलवण भगवद्ध-अहिचालणि महिसावि-
जाहय-सुएहि। मट्टिय-मसय समाण वक्खणइ जो सुद मोहा। ६२।
घद-गारवपठिबद्धो विसयामिस-विस-वसेण-धुम्मता। सो भट्टमोहि-
लाहो भमइ चिरं भव वणे मूढो। ६३। —शैलवन, भगवट, सर्प,
बालनी महिष, मेढ़ा, जोंक, शुक, माटी और मशक (मच्छर) के
समान श्रोताओंको (देखो ‘श्रोता’) जो मोहसे भ्रुतका व्याख्यान
करता है, वह मूढ़ रसगारवके आधीन होकर विषयोंकी लोलुपतारूपी
विषके वशसे मूर्च्छित हो, बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्तिसे भ्रष्ट
होकर भव वनमें चिरकाल तक परिभ्रमण करता है। ६२-६३।

घ १/१,१,१३,६६/४४४ बुद्धिबिहीने श्रोतरि वस्तुत्वमनर्थकं भवति
पुताम्। नेत्रबिहीने भर्त्तरि विलासलाभयवस्त्रोणाम्। ४। —जिस
प्रकार पतिते अन्धे होनेपर स्त्रियोंका विलास व सुन्दरता व्यर्थ
(निष्फल) है, उसी प्रकार श्रोताके मूर्ख होनेपर पुरुषोंका वक्तापना
भी व्यर्थ है। ४।

घ १/१,१,१७०/१ इदि वयणादी जहाछंदाईण विज्जादाण ससार-भय-
बद्धणमिदि चित्तिज्जण घरसेणमयवदा पुणरवि ठाण परिवत्ता
काउमादत्तां। —‘यथाच्छन्दः श्रोताओंको विद्या देना ससार और
भयका ही बढ़ानेवाला है’ ऐसा विचार कर ही घरसेन भट्टारकने उन
आये हुए दो साधुओंकी फिरसे परीक्षा लेनेका निश्चय किया।

क पा १/१,११-१२/१३८/१७१/४ ‘सुण’ यद (इदि) सिस्ससंभालणवयण
अपठिबद्धस्स सिस्सस्स वक्खणं गिरत्थयमिदि जाणावण्ठं भणिद।
—‘नासमक्ष शिष्योंको व्याख्यान करना निरर्थक है’ यह बात
बतलानेके लिए ही सूत्रमें ‘सुनो’ इस पदका ग्रहण किया गया है।

अ ग ५/२५ अयोग्यस्य वचो जैन जायतेऽनर्थहेतवे। यतस्तत्
प्रयत्नेन मृग्यो योग्यो मनोपिभि २५। —अयोग्य पुरुषके जितेन्द्रका
वचन अनर्थनिमित्त होता है, इसलिए पण्डितोंको योग्य पुरुषोंकी
खोज करनी चाहिए।

अन घ १/१३,१७,२० बहुशोऽप्युपदेशं स्यान्न मन्दस्यार्थसंविदे। भवति
ह्यव्यपापाण केनोपायेन कावचनम्। १३। अव्युत्पन्नमनुप्रविश्य

सदप्रियाय प्रलोभ्याप्यल कारुण्यप्रतिपादयन्ति मुधियो सदा शर्मदम् । सदिग्ध पुनरन्तमेव विनयारपृच्छन्तमिच्छावशान्न व्युरन्तविपर्ययाकुलमग्नौ व्युरन्तपरनधिरवत् । १७ यो यद्विजानाति स तत्र शिष्यो यो वा तद्वेष्टि स तत्र तभ्य । को दीपयेद्भामनिधिं हि दीपे क पूरयेद्भामुनिधिं पयामि । २० — मिथ्यावसे प्रस्त व्यक्तिको बार बार भी उपदेश दिया जाये पर उसे तत्त्वका समीचीन ज्ञान नहीं होता । क्या अन्धपापाण भी किसी उपायसे स्वर्ण हा सकता है । १३। अव्युरन्त श्रोताओंके अभिप्रायको जानकर आचार्य करुणा बुद्धिसे उन्हें धर्मके फलका तात्त्विक देकर भी कल्याणकारी धर्मका उपदेश दिया करते हैं । इसी प्रकार जो व्यक्ति सदिग्ध है वे यदि विनयपूर्वक आकर पूछें तो उन्हें भी धर्मका उपदेश विशेष रूपसे देते हैं । किन्तु जो व्यक्ति व्युरन्त है, परन्तु विपरीत व दृष्ट-बुद्धिके कारण विपरीत तत्त्वोंमें दुराग्रह करते हैं, उनको धर्मका उपदेश नहीं करते हैं । १७। जो जिस विषयको जानता है अथवा जो जिस वस्तुको नहीं चाहता है उसे उस विषय या वस्तुका प्रतिपादन नहीं करना चाहिए । क्योंकि कौन ऐसा है जो सूर्यको दीपकसे प्रकाशित करे अथवा समुद्रको जलसे भरे । २०।

४ कैसे जीवको कैसा उपदेश देना चाहिए

भ आ /धू ६५५, ६६६ आखेवणी य सवेगणी य निखेवणी य खवयस्स । पावोग्गा हौंति वहा ण कहा विखेवणी जोग्गा । ६६६। भत्तादोण भत्तो गोदथेहि विण तत्थ कायव्वा । ६६६। — आसेपणी, विसेपणी, सवेदनी और निवेदनी, ऐसे कथाके चार भेद हैं । इन कथाओंमें आसेपणी, सवेदनी और निवेदनी कथाएँ सपकको सुनाना योग्य हैं । उसे विसेपणी कथाका निरूपण करना हितकर न होगा । ६६५। आगमार्थको जाननेवाले मुनियोंको सपकके पास भोजन बर्गरह कथाओंका वर्णन करना योग्य नहीं । ६६६।

घ १/१, १, २, १०६/३ प्थ विखेवणी णाम कहा जिणवयणमयाण तस्स ण कहेयव्वा, अगाहिद ससमय सम्भावो पर-समय सकहाहि वाउल्लिद-चित्तो मा मिच्छत्तं गच्छेज्ज त्ति तेण तस्स विपत्तेवणीं मोचूण सेसाओ त्तिणि वि क्हाओ कहेयव्वाओ । तदो गहिदसमयस्स जिणवयणणि विविदिगिच्छस्स भोगरहिरदस्स तवसीणिमज्जुत्तस्स पच्छा विपत्तेवणी कहा कहेयव्वा । एसा अक्खा वि पणवयतस्स परवयतस्स तदा कहा होदि । तन्हा पुरिसत्तर पप्पसमणेण कहा कहेयव्वा । — इन कथाओंका प्रतिपादन करते समय जो जिन-वचनको नहीं जानता, ऐसे पुरुषको विसेपणी कथाका उपदेश नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिसने स्वसमयके रहस्यको नहीं जाना है, और पर-समयकी प्रतिपादन करनेवाली कथाओंके सुननेसे व्याकुलित चित्त होकर वह मिथ्यात्वको स्वीकार न कर लेवे, इसलिए उसे विसेपणीको छोड़कर शेष तीन कथाओंका उपदेश देना चाहिए । उक्त तीन कथाओं द्वारा जिसने स्वसमयको भली-भाँति समझ लिया है, जो जिन शासनमें अनुसूक्त है, जिन-वचनमें जिसको किसी प्रकारकी विधिकरिमा नहीं रही है, जो भोग और रतिसे विरक्त है, और जो तप, शील और नियमसे युक्त है, ऐसे पुरुषको ही पश्चात् विसेपणी कथाका उपदेश देना चाहिए । प्ररूपण करके उत्तम रूपसे ज्ञान करानेवालेके लिए यह अकथा भी तब कथारूप हो जाती है । इसलिए योग्य पुरुषोंको प्राप्त करके ही साधुओंको उपदेश देना चाहिए ।

मो मा प्र ८/४३६/१६ “आपके व्यवहारका आधियम होय तौ निश्चय पोषक उपदेशका ग्रहणकरि यथावत्, प्रवर्त्त, अर आपके निश्चयका आधियम होय तौ व्यवहारपोषक उपदेशका ग्रहणकरि यथावत् प्रवर्त्त ।”

५ किस अवसरपर कैसा उपदेश करना चाहिए

म पु १/१३६-१३६ आसेपणीं कथां कुर्यात्प्राज्ञ स्वमतसंग्रहे । विसेपणीं कथां तज्ज्ञा कुर्याद्विदुर्मतनिग्रहे । १३६। संवेदिनीं कथां पुण्यफलसप-

रूपवचने । निवेदिनीं कथां कुर्याद्विराम्यजननं प्रति । १३६। — बुद्धिमान वक्ताको चाहिए कि वह अपने मतकी स्थापना करते समय आसेपणी कथा करे, मिथ्यारामतका खण्डन करते समय विसेपणी कथा करे, पुण्यके फलस्वरूप विभूति आदि का वर्णन करते समय संवेदिनी कथा करे तथा वैराग्य उत्पादनके समय निवेदिनी कथा करे ।

४. उपदेश प्रवृत्तिका माहात्म्य

१ हितोपदेश सबसे बड़ा उपकार है

सम ३/१५/२२ न च हितोपदेशादपर पारमार्थिक परार्थ । — हितका उपदेश देनेके बराबर दूसरा कोई पारमार्थिक उपकार नहीं है ।

२. उपदेशसे श्रोताका हित हो न हो पर वक्ताका हित तो होता ही है

सम ३/१५/२३ में उद्धृत — “उवाच च वाचकमुखाय — “न भवति धर्म श्रोतु सर्वस्यैकान्तता हितप्रयणात् । मूढताऽनुग्रहबुद्धया वस्तुसर्वैकान्ततो भवति ।” — उमास्वामी वाचकमुख्यने भी कहा है — सभी उपदेश सुननेवालोंको पुण्य नहीं होता है परन्तु अनुग्रह बुद्धिसे हितका उपदेश करनेवालेको निश्चय ही पुण्य होता है ।

३. अतः परलोकार्थ हितोपदेश करना इष्ट है

भ आ वि १/११/२५/६ अथोधिना हि जिनशासनवत्सलेन कर्त्तव्य एव नियमेन हितोपदेश, इत्याह्वा सर्वविदां सा परिपालिता भवतीति शेषा । — जिनमतपर प्रोति रखनेवाले मोक्षेच्छु मुनियोंको नियमसे हितोपदेश करना चाहिए ऐसी श्री जिनेश्वरकी आज्ञा है । उसका पालन धर्मोपदेश देनेसे होता है । (और भी दे उपकार ६)

४ उपदेशका फल

भ आ /धू १११ आदपरममुद्रा आणा वच्छल्लदीवणा भत्ती । होदि परदेसगतं अवाच्छित्ति य तित्थस्स । १११। — स्वाध्याय भावनामें आसक्त मुनि परोपदेश देकर आगे लिखे हुए गुणगणोंको प्राप्त कर लेते हैं । — आरामपर समुद्रा, जिनेश्वरकी आज्ञाका पालन, वात्सल्य प्रभावना, जिन वचनमें भक्ति तथा तीर्थकी अव्युच्छित्ति ।

स सि १/८/३०/३ सर्वसत्त्वातुग्रहार्थो हि सत्ता प्रयास । — सज्जनोंका प्रयास सब जीवोंका उपकार करनेका है ।

घ १३/६, ६, १०/२८६/३ किमर्थं सर्वकाल व्याख्यायते । श्रोतुव्याख्यातुश्च असंयतगुणश्रेण्या कर्मनिर्जरणहेतुत्वात् । — १३१ — इसका (प्रश्न-चनोयका) सर्व काल किस लिए व्याख्यात करते हैं । उत्तर — क्योंकि वह व्याख्याता और श्रोताके असंयतगुणश्रेणी रूपसे होनेवाली कर्मनिर्जराका कारण है ।

५. उपदेशप्राप्तिका प्रयोजन

प्र सा /धू २८ जो मोह रागदोषे निहणदि जोहमुपदेश । सो सव्वपुक्ख-मोखत्तं पावदि अचिरेण कालेण । २८। — जो जिनेन्द्रके उपदेशको प्राप्त करके मोह रागदोषको हनता है वह अपकालमें सर्व दुःखोंसे मुक्त हो जाता है ।

भा पा /५ जयचन्द १६६/५ २७५/२२ बोत्तराग उपदेशकी प्राप्ति होय, अर ताका प्रदान रुचि प्रतीति आचरण करै, तब अपना अर परका भेद-ज्ञानकरि शुद्ध अशुद्ध भावका स्वरूप जाणि अपना हित अहितका अदान रुचि प्रतीति आचरण होय, तब शुद्ध दर्शन ज्ञानमयी शुद्ध चेतना परिणामक तौ हित जानै, ताका फल ससार निवृत्ति ताक जानै, अर अशुद्ध भावका फल ससार है ताक जानै, तब शुद्ध भावका अज्ञोकार अर अशुद्ध भावके त्यागका उपाय करै ।

उपधातु — औदारिक शरीरमें धातु-उपधातुका निर्देश व प्रमाण । — दे औदारिक १ ।

उपधान — मू आ २८२ आयविल निविज्यडो अण्णं वा होदि जस्स कादव्वं । त तस्स करेमाणो उपहाणजुदो हवदि एसो । २८२।

—आचाम्त आहार (कांजी) निर्विकृति आहार (नोरस), तथा और भी जिस शास्त्रके योग्य जो क्रिया कही हो उसका नियम करना, वह उपधान है। उससे भी शास्त्रका आदर हाता है।

भ आ/वि ११३/२६१/१ उपधाणे अवग्रह । यावद्विदमनुयोगद्वार निष्ठामुपैति तावदिदं मया न भोक्तव्य, इदं अनशन चतुर्थं पष्ठादिक करिष्यामीति संकल्प । स च कर्म व्यपनयतीति विनय ।—विशेष नियम धारण करना । जस तक अनुयोगका प्रकरण समाप्त होगा तब तक मैं उपवास करूँगा, अथवा दो उपवास करूँगा, यह पदार्थ नहीं खाऊँगा या भीखूँगा, इस तरहसे संकल्प करना उपधान है। यह विनय अष्टम कर्मको दूर करता है।

उपधि—१ परिग्रहके अर्थमें उपधिका लक्षण

रा बा ६/२६/२/६२४ योऽर्थोऽन्यस्य ब्रह्माधानार्थमुपधीयते स उपधिरित्युच्यते । —जो पदार्थ अन्यके ब्रह्माधानके लिए अर्थात् अन्यके निमित्त ग्रहण किये जाते हैं वे उपधि हैं।

घ १२/४, २, ८, १०/२८/६ उपरेय क्रोधाद्यो धीयन्ते अस्मिन्निति उपधि । क्रोधाद्युत्पत्तिनिवन्धनो बाह्यार्था उपधि । —आकरके क्रोधादि जहाँ पर पुष्ट होते हैं उसका नाम उपधि है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार क्रोधादि परिणामोंको उत्पत्तिमें निमित्तभूत बाह्यपदार्थको उपधि कहा गया है।

२ परिग्रह रूप उपधिके भेद व लक्षण

स सि १/२६/४४३/१०/ स द्विविध —बाह्योपधिर्यागोऽभ्यन्तरोपधिर्यागश्चेति । अनुपातं वास्तुधनधान्यादि बाह्योपधि । क्रोधादिरात्म-भाबोऽभ्यन्तरोपधि । कायस्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं बाध्यन्तरोपधिर्याग इत्युच्यते । —वह (व्युत्सर्ग या त्याग) दो प्रकारका है—बाह्योपधि त्याग और अभ्यन्तर उपधि त्याग । आत्मासे एकरव-को नहीं प्राप्त हुए ऐसे वास्तु, धन, धान्य आदि बाह्य उपधि हैं और क्रोधादिरूप आत्मभाव अभ्यन्तर उपधि है तथा नियत काल तक या यावज्जीवन तक कायका त्याग करना भी अभ्यन्तर उपधि त्याग कहा है। (रा बा ६/२६/१-४/६२४), (त सा ७/२६), (चा सा १५४/१), (अन घ ७/६८/७२२), (भा पा/दो ७८/२२५/१६)

३, अन्य सम्बन्धित विषय

* सायाका एक भेद है—दे माया २।

* परिग्रह सम्बन्धी विषय—दे परिग्रह १।

* साधु योग्य उपधि—दे, परिग्रह १।

* योग्यायोग्य उपधिका विधि निषेध—दे अपवाद ४।

उपधि वाक्—दे वचन ।

उपनय—न्या सू/सू १/१/३८ उदाहरणपेक्षस्तथेष्टयुसहारो न तथेति वा साध्यस्योपनय ॥३८॥—उदाहरणकी अपेक्षा करके 'तथा इति' अर्थात् जैसा उदाहरण है वैसा हो यह भी है, इस प्रकार उपसंहार करना उपनय है। अथवा यदि उदाहरण व्यतिरेकी है तो—जैसे इस उदाहरणमें नहीं है उसी प्रकार यह भी नहीं है, इस प्रकार उपसंहार करना उपनय है। सारार्थ यह कि जहाँ वैधर्म्यका दृष्टान्त होगा वहाँ 'न तथा' ऐसा उपनय होगा और जहाँ साधर्म्यका उदाहरण होगा वहाँ 'तथा' ऐसा उपनय होगा।

न्या सू/भा १/१/३८/३८ साधनभूतस्य धर्मस्य साध्येन धर्मेण सामानाधि कारण्योपपादनमुपनयार्थ । —साधनभूतका साध्यधर्मके साथ समान अधिकरण (एक आश्रयपना) होनेका प्रतिपादन करना उपनय है।

प मु ३/५० हेतोरुपसंहार उपनय ॥५०॥—व्याप्तिपूर्वक धर्ममें हेतुको निस्संशय मौजूदगी बतलाना उपनय है यथा (उसी प्रकार यह भी धूमवाक् है) ऐसा कहना।

न्या दी ३/३२, ७२ दृष्टान्तापेक्षया पक्षे हेतोरुपसंहारवचनमुपनय । तथा चायं धूमवानिति ॥३२॥ साधनवत्तया पक्षस्य दृष्टान्तसाध्यकथनमुप-नय । यथा चायं धूमवानिति ॥७२॥—दृष्टान्तकी अपेक्षा लेकर पक्षमें हेतुके दोहरानेको उपनय कहते हैं। जैसे—'इसलिए यह पर्वत भी धूमवाला है' ऐसा कहना—अथवा साधनवान रूपसे पक्षकी दृष्टान्तके साथ साम्यताका कथन करना उपनय है। जैसे इसीलिए यह धूम वाला है।

* उपनय नामक नय—दे नय V/४।

उपनयाभास—न्या दी ३/३७२ अनयोर्व्यत्ययेन कथनमनयोरा-भास । —इन दोनों उपनय व निगमनका अयथाक्रमसे कथन करना उपनयाभास और निगमन भास है। अर्थात् उपनयकी जगह निगमन और निगमनकी जगह उपनयका कथन करना इन दोनोंका आभास है।

उपनय ब्रह्मचारी—दे ब्रह्मचारी ।

उपनीति—संस्कार सम्बन्धी एक गर्भान्वय क्रिया—दे संस्कार २।

उपन्यास—न्या त्रि/शृ १/४४/२६२/२४ उपन्यासो दृष्टान्तो—उप-न्यास अर्थात् दृष्टान्त ।

उपपत्तिसमा—न्या सू/मू व भाष्य ४/१/२६ उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसम । २६५ यद्यनित्यरवकारणमुपपद्यते शब्दस्वरयनित्य शब्दो नित्यरवकारणमप्युपपद्यतेऽस्यास्पर्शत्वमिति नित्यरवमप्युपपद्यते । (उभयस्यानित्यत्वस्य नित्यरवस्य च) कारणोपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुप-पत्तिसम । —पक्ष व विपक्ष दोनों ही कारणोंकी, बादी और प्रति-बादियोंके यहाँ सिद्धि हो जानी उपपत्तिसमा जाति है। प्रतिवादी कह देता है कि जैसे तुम वादीके पक्षमें अनित्यरवपनेका प्रमाण विद्यमान है तिसी प्रकार मेरे पक्षमें भी नित्यरवपनेका अस्पष्टत्व प्रमाण विद्यमान है। बर्त जानेसे यदि शब्दमें अनित्यरवकी सिद्धि कर दोगे तो दूसरे प्रकार अस्पष्टत्व हेतुसे शब्द नित्य भी क्यों नहीं सिद्ध हो जायेगा? अर्थात् होवेगा ही। (श्लो वा ४/न्या ४०८/५२१)

उपपाद—स सि २/३१/१८७/६ उपरेय पथतेऽस्मिन्निति उपपाद । देवनारकोत्पत्तिस्थानविशेषसंज्ञा । —प्राप्त होकर जिसमें जीव हलन-चलन करता है उसे उपपाद कहते हैं। 'उपपाद' यह देव नारकियोंके उत्पत्तिस्थान विशेषको संज्ञा है। (रा बा २/३१/४/१४०/२६) गो जी/जी प्र ८३/२०५/१ उपपदनं सपुटशरयोऽष्टमुखकारादिषु लघु-नान्तर्मुहुर्तेनैव जीवस्य जननम् उपपाद । उपपदनं कश्चि सपुटशर्या वा उष्ट्रादि मुखकार योनि विषे लघु अन्तर्मुहुर्तं कालकरि ही जीव का उपजना सो उपपाद कहिए।

ति प २/८ विशेषार्थ "विवक्षित भवके प्रथम समयमें होनेवाली पर्याय-की प्राप्तिको उपपाद कहते हैं।"

२ उपपादके भेद

घ ७/२, ६, १/३००/३ उपवादी दुविहो—उज्जुगदिपुठ्वओ विग्गहगदि-पुठ्वओ चेदि । तस्य एकेषो दुविहो—मारणत्तियसमुग्गधादपुठ्वओ तत्त्विवरीदओ चेदि । —उपपाद दो प्रकार है—श्रुतुपतिपूर्वक और विग्रहगतिपूर्वक । इनमें प्रत्येक मारणान्तिकसमुद्गातपूर्वक और तद्वि-परीतके भेदसे दो-दो प्रकार है।

* उपपादज जन्म सम्बन्धी अन्य विषय—दे जन्म २।

उपपाद क्षेत्र—दे क्षेत्र १।

उपपाद गृह—त्रि सा/यू ५२३ पासे उपवादिगृह हरिस्स अठवास दोहरुदयजुद । दुगरयणसयणमज्जं वरजिणगेह च बहुहुद । —तिह मानस्तम्भके पास आठ योजन चौड़ा इतना ही सम्पा ऊँचा

उपपादगृह है। बहुविध उपपादग्रहविषय दोय रत्नमई ग्रहया पार्श्व है। इहा इन्द्रका जन्मस्थान है। बहुविध इस उपपादगृहके पासि बहुवृत्त शिखरनिकरि सयुक्त जिनमन्त्रि है।

उपपाद योगस्थान—दे योग ५।

उपबृहण—दे उपग्रहण।

उपभोग—दे भोग।

उपमान—न्या। मू। मू न भाष्य १/१/६ प्रसिद्धसाधन्यासाध्यसाधन सुपमानम्। ६। प्रज्ञातेन सामान्याप्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति। यथा गौरव गवय इति।—प्रसिद्ध पदार्थकी तुल्यतासे साध्यके साधनको उपमान कहते हैं। प्रज्ञातके द्वारा सामान्य होनेसे प्रज्ञापनीयका प्रज्ञापन करना उपमान है जैसे 'गौ की भाँति गवय होता है' ऐसे कहकर 'गवय' का रूप समझाना। (न्या वि। मू। ३/८६/३६१), (रा वा - १/२०/१४/७८/१७)

२ उपमान प्रमाणका श्रुतज्ञानमें अन्तर्भाव रा वा १/२०/१४/७८/१८ इत्युपमानमपि स्वपरप्रतिपत्तिविषयत्वादक्षरानक्षरश्रुते अन्तर्भावयति। = यर्थात् इसके द्वारा स्व व पत्नी प्रतिपत्ति हो जाती है। इसलिए इसका अक्षर व अनवक्षर श्रुतज्ञानमें अन्तर्भाव हो जाता है।

उपमा प्रमाण—दे प्रमाण ५।

उपमा मान—(ज प/प्र १०५) Similar Measure

उपमा सत्य—दे सत्य १।

उपमिति भवप्रपञ्च कथा—वि ६६२ में श्वेताम्बरार्चय सिद्धार्थि द्वारा रचित एक ग्रन्थ। (जै १/४३२)।

उपयुक्त—वसतिकका एक दोष—दे वसतिका।

उपयोग—चेतनाकी परिणति विशेषका नाम उपयोग है। चेतना सामान्य गुण है और ज्ञान दर्शन ये दो इसकी पर्याय या अवस्थाएँ हैं। इन्हींको उपयोग कहते हैं। तिनमें दर्शन तो अन्तर्चित्प्रकाशका सामान्य प्रतिभास है जो निर्विकल्प होनेके कारण वचनातीत व केवल अनुभवगम्य है। और ज्ञान बाह्य पदार्थोंके विशेष प्रतिभासको कहते हैं। सविकल्प होनेके कारण व्याप्य है। इन दोनों ही उपयोगोंके अनेका भेद प्रभेद हैं। यही उपयोग जन्म बाहरमें शुभ या अशुभ पदार्थोंका आश्रय करता है तो शुभ अशुभ विकल्पों रूप हो जाता है और जन्म केवल अन्तरात्माका आश्रय करता है तो निर्विकल्प होनेके कारण शुद्ध कहलाता है। शुभ अशुभ उपयोग ससारका कारण हैं अतः परमार्थसे हेय हैं और शुद्धोपयोग मोक्ष व आनन्दका कारण हैं, इसलिए उपादेय हैं।

I ज्ञानदर्शन उपयोग

१. भेद व लक्षण

१ उपयोग सामान्यका लक्षण

२ उपयोग भावनाका लक्षण

३ उपयोगके ज्ञानदर्शनादि भेद

४ उपयोगके वाचना पुच्छना आदि भेद

५ उपयोगके स्वभाव विभावरूप भेद व लक्षण

* ज्ञान व दर्शन उपयोग विशेष—दे वह वह नाम

* साकार अनाकार उपयोग—दे आकार

२ उपयोग व लब्धि निर्देश

* प्रत्येक उपयोगके माथ नये मनकी उत्पत्ति—दे मन ६

१ उपयोग व ज्ञानदर्शन मार्गणामें अन्तर

२ उपयोग व लब्धिमें अन्तर

३ लब्धि तो निर्विकल्प हाती है।

* एक समयमें एक ही उपयोग सम्भव है—दे उपयोग I ३/२

४ उपयोगके अस्तित्वमें भी लब्धिका अभाव नहीं हो जाता

* उपयोग व इन्द्रिय—दे इन्द्रिय

* केवली भगवान्में उपयोग सम्बन्धी—दे केवली ६

* ज्ञान दर्शनोपयोगके स्वामित्व सम्बन्धी गुण-स्थान, मार्गणास्थान, जीव समास आदि २० प्ररूपणाएँ—दे सप्त

II शुद्ध व अशुद्धादि उपयोग

१ शुद्धाशुद्ध उपयोग सामान्य निर्देश

१ उपयोगके शुद्ध अशुद्ध आदि भेद

२ ज्ञान दर्शनोपयोग व शुद्धाशुद्ध उपयोगमें अन्तर

* शुद्ध व अशुद्ध उपयोगोका स्वामित्व—दे उपयोग II/४/५

२ शुद्धोपयोग निर्देश

१ शुद्धोपयोगका लक्षण

२ शुद्धोपयोग व्यपदेश में हेतु

* शुद्धोपयोगका स्वामित्व—दे उपयोग II/४/५

३ शुद्धोपयोग साक्षात् मोक्षका कारण है

४ शुद्धोपयोग सहित ही शुभोपयोग कार्यकारी है

* धर्ममें शुद्धोपयोगकी प्रधानता—दे धर्म ३

* अल्प भूमिकाओंमें भी कथचित् शुद्धोपयोग—दे अनुभव ५

* लौकिक कार्य करते भी सम्यग्दृष्टिको ज्ञान चेतनाका सद्भाव—दे सम्यग्दृष्टि २

* एक शुद्धोपयोगमें ही सबरचनाकैसे है—दे संवर २

* शुद्धोपयोगके अपर नाम—दे मोक्षमार्ग २/५

३ मिश्रोपयोग निर्देश

१ मिश्रोपयोगका लक्षण

* मिश्रोपयोगके अस्तित्व सम्बन्धी शका

—दे अनुभव ५/८

२ जितना रागादि है उतना बन्ध है और जितना वीतरागादि है उतना सबर है

३ मिश्रोपयोग वतानेका प्रयोजन

४ शुभ व अशुभ उपयोग निर्देश

१ शुभोपयोगका लक्षण

२ अशुभोपयोगका लक्षण

३ शुभ व अशुभ दोनों अशुद्धोपयोगके भेद हैं

४ शुभोपयोग पुण्य है और अशुभोपयोग पाप

* शुभ व विशुद्धमें अन्तर—वे विशुद्धि

५ शुभ व अशुभ उपयोगोका स्वामित्व

६ व्यवहार धर्म अशुद्धोपयोग है

७ व्यवहार धर्म शुभोपयोग तथा पुण्यका नाम है

८ शुभोपयोगरूप व्यवहारको धर्म कहना रुढ़ि है

९ वास्तवमें धर्म शुभोपयोगसे अन्य है

* अशुद्धोपयोग हेय है—दे पुण्य २६

* अशुद्धोपयोगकी मुख्यता गौणता विषयक चर्चा

—दे धर्म ३-७

* शुभोपयोग साधुको गौण और गृहस्थको प्रधान होता है

—दे धर्म ६

* साधुके लिए शुभोपयोगकी सीमा—वे संयत ३

* ज्ञानोपयोगमें ही उत्कृष्ट सकलेश या विशुद्ध परिणाम सम्भव है, दर्शनोपयोगमें नहीं—वे विशुद्धि

I ज्ञान दर्शन उपयोग—

१ भेद व लक्षण

१ उपयोग सामान्यका लक्षण

पं स/प्रा १/१७८ वस्तुनिमित्तो भावो जादो जीवस्स होदि उअणा ।
१७८।—जीवका जो भाव वस्तुके ग्रहण करनेके लिए प्रवृत्त होता है, उसे उपयोग कहते हैं। (गो जी/मू ६७२), (प स/स १/३३२)

स सि २/८/१६३/३ उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोग ।—जो अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके निमित्तों से होता है और चैतन्यका अन्वयी है अर्थात् चैतन्यको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता वह परिणाम उपयोग कहलाता है। (प्र सा/त प्र १५६), (प का/त प्र १६) (स सा/ता वृ ६०) (नि सा/ता वृ १०)

रा वा २/१८/१-२/१३०/२४ यस्य निधानादारमा द्रव्येन्द्रियनिवृत्तिप्रतिव्याप्तिर्यते स ज्ञानावरणस्योपशमविशेषो लब्धिर्गतिरिति विज्ञायते । १। तदुक्तं निमित्तं प्रतीत्य उत्पद्यमान आत्मन परिणाम उपयोग इत्युपदिश्यते ।—जिसके सन्निधानसे आत्मा द्रव्येन्द्रियोंकी रचनाके प्रति व्यापार करता है ऐसे ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपम विशेषको लब्धि कहते हैं। उस पूर्वोक्त निमित्त (लब्धि) के अवलम्बनसे उत्पन्न होनेवाले आत्माके परिणामको उपयोग कहते हैं। (स सि २/१८/१७६/३), (प १/१.१ ३३/२३६/६), (त सा २/४५-४६), (गा जी/जी प्र १६६/१६६/४), (पं का/ता वृ ४३/८६)

रा वा १/१३/२२ प्रणिधानम् उपयोग परिणाम इत्यनर्थान्तरम् ।—प्रणिधान, उपयोग और परिणाम ये सब एकार्थवाची हैं ।

घ २/१.१/४११/६ स्वपरग्रहणपरिणाम उपयोग ।—स्व व परको ग्रहण करनेवाले परिणामको उपयोग कहते हैं ।

प का/ता वृ ४०/८०/१२ आत्मनश्चैतन्यानुविधायिपरिणाम उपयोग चैतन्यमनुविधारण्यरूपेण परिणमति अथवा पदार्थ परिच्छिन्नकाले घटोऽयं पटोऽयमिदमर्थग्रहणरूपेण व्यापारयति चैतन्यानुविधायि स्फुटं द्विविध ।—आत्माके चैतन्यानुविधायी परिणामका उपयोग कहते हैं जो चैतन्यकी आकांक्षे अनुसार चलता है यो-उसके अन्वयरूपसे परिणमन करता है उसे उपयोग कहते हैं। अथवा पदार्थ परिच्छिन्नकाले समय 'यह घट है' 'यह पट है' इस प्रकार अर्थ ग्रहण रूपसे व्यापार करता है वह चैतन्यका अनुविधायी

है। वह दो प्रकारका है। (द्र स/टी ६/१८/६), (पं का/ता वृ ४३/८६/२)

गा जी/जी प्र २/२१/११ मार्गणोपायो ज्ञानदर्शनसामान्यमुपयोग ।—मार्गणा जो अवलोकन ताका जो उपाय सो ज्ञानदर्शनका सामान्य भावरूप उपयोग है ।

२. उपयोग भावनाका लक्षण

पं का/ता वृ ४३/८६/२ मतिज्ञानावरणीयक्षयापमजनिताथग्रहणशक्तिरूपलब्धिर्गतिरित्येष पुन पुनरिचिन्तन भावना नीलमिदं, पीतमिदं इत्यादिरूपेणार्थग्रहणव्यापार उपयोग ।—मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमजनित अर्थग्रहणकी शक्तिरूप जो लब्धि उसके द्वारा जाने गये पदार्थमें पुन पुन चिन्तन करना भावना है। जैसे कि 'यह नील है', 'यह पीत है' इत्यादि रूप अर्थग्रहण करनेका व्यापार उपयोग है ।

३ उपयोगके ज्ञानदर्शन आदि भेद

स सि २/६/१६३/७ स उपयोगो द्विविध—ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेति । ज्ञानोपयोगोऽभेद—मतिज्ञान श्रुतज्ञानमवधिज्ञान मन-पर्ययज्ञान केवलज्ञान मर्यज्ञान श्रुता ज्ञान विभङ्गज्ञान चेति । दर्शनोपयोगश्चतुर्विध—चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शन केवलदर्शन चेति । तयो कथं भेद । साकारानाकारभेदात् । साकार ज्ञानमनाकार दर्शनमिति ।—वह उपयोग दो प्रकारका है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग । ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान, केशलज्ञान, मर्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभगज्ञान । दर्शनोपयोग चार प्रकारका है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन । प्रश्न—इन दोनों उपयोगोंमें किस कारण से भेद है । उत्तर—साकार और अनाकार भेदसे इन दोनों उपयोगोंमें भेद है । साकार ज्ञानोपयोग है और अनाकार दर्शनोपयोग । (नि सा/मू १०-१२), (प का/मू ४०), (त सू २/६), रा वा. २/६/१.३/१३३.१२४), (न च वृ १४, ११६), त सा २/४६), (द्र स/मू ४-६), (गो जी/मू ६७२-६७३)

४. उपयोगके वाचना पृच्छना आदि भेद

प ख ६/४.१/मू ५५/२६२ (उत्थानिका—सपधि एवेमु जो उवजोगो तस्स भेदपरुवणइमुत्तरमुत्तमागद ।) जा तथ वायणा वा पुच्छणा वा पठिच्छणा वा परियट्ठणा वा अपुपेक्खणा वा थय-धुदि धम्मकहा वा जे चामण्णे एवमादिया ।—इन आगम निसेवोंमें जो उपयोग हैं उसके भेदोंको प्ररूपणके लिए उत्तर सूत्र प्राप्त होता है—उन नी आगममें जो वाचना, पृच्छना प्रतीच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षणा, स्तव, स्तुति, धमकथा, तथा और भी इनको आदि लेकर जो अन्वय है वे उपयोग हैं । (प ख १३/५.७/मू १३/२०३)

५ उपयोगके स्वभाव विभाव रूप भेद व लक्षण

नि सा/मू १०-१४ जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदसणो होइ । णाणुवओगो दुविहो सहावणाण विभावणाण ति । १०। केवलमिदियरहिय असहाय तं सहावणाण ति । मण्णादिरियपदे विहावणाण हवे दुविह । ११। सण्णाणं षउमेय मदिमुदओहो तहेम मणपज्ज । अण्णाण तिबियप्पं मदियहि भेददो चेव । १२। तह दसणउवओगो सहावयेदरियपदो दुविहो । केवलमिदियरहिय असहाय तं सहावमिदि भणिदं । १३ । चक्खु-अचक्खु ओहो तिण्णि वि भणिद विभाव-दिच्छित्ति । १४।

नि सा/ता वृ १०.१३ स्वभावज्ञानम् कार्यकारणरूपेण द्विविध भवति । कार्य तावत् सकलविमलकेवलज्ञानम् । तस्य कारण परमपरिणामिक-भावस्थितत्रिकालरूपाधिरूप सहजज्ञान स्यात् । १०। स्वभावोऽपि-द्विविध, कारणस्वभाव कार्यस्वभावश्चेति । तत्र कारणं दृष्टि सदा पावनरूपस्य औदयिकादिचतुर्णां विभावस्वभावपरभावानामगोचरस्य सहजपरमपरिणामिकभावस्वभावस्य कारणसमयसारस्वरूपस्य तल्लु

स्वरूपप्रधानमात्रमेव । अग्न्या कार्यदृष्टि दर्शनज्ञानावरणीयप्रमुख-
घातिकर्मसमेधेन जातैव । ११३। —जोव उपयोगमयी है । उपयोग
ज्ञान और दर्शन है । ज्ञानोपयोग दो प्रकारका है स्वभावज्ञान और
विभावज्ञान । जो केवल हृन्दित्र्य रहित और असहाय है वह स्वभाव
ज्ञान है । तहाँ स्वभावज्ञान भी कार्य और कारण रूपसे दो प्रकार-
का है । कार्य स्वभावज्ञान तो सकल विमल केवलज्ञान है । और
उसका जो कारण परम पारिणामिक भावसे स्थित त्रिकाल निरुपा-
धिक सहजज्ञान है, वह कारण स्वभावज्ञान है । १२० १२१। सम्म्यग्ज्ञान
और मिथ्याज्ञान रूप भेद किये जाने पर विभाव ज्ञान दो प्रकारका
है । १२१। सम्म्यग्ज्ञान चार भेदवाला है — मति, श्रुत, अवधि तथा मन
पर्यय और अज्ञान मति आदि के भेदसे तीन भेदवाला है । १२२। उगी
प्रकार दर्शनोपयोग स्वभाव और विभायके भेदसे दो प्रकारका है ।
जो केवल हृन्दित्र्य रहित और असहाय है वह स्वभाव दर्शनोपयोग
कहा है । वह भी दो प्रकारका है — कारणस्वभाव और कार्यस्वभाव-
तहाँ कारण स्वभाव दृष्टि (दर्शन) तो सदा पावनरूप और औदयि-
कादि चार विभावस्वभाव परभावोंके अगोचर ऐसा सहज साहज परम
पारिणामिकरूप जिसका स्वभाव है, जो कारण समयसार स्वरूप है,
ऐसे आत्माके यथार्थ स्वरूप प्रधानमात्र ही है । दूसरी कार्यदृष्टि
दर्शनावरणीय ज्ञानावरणीयादि घातिकर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होती
है । १२३। चक्षु अक्षु और अवधि ये तीन विभाव दर्शन करते गये हैं ।।

२. उपयोग व लब्धि निर्देश

१ उपयोग व ज्ञानदर्शन मार्गणार्थे अन्तर

ध २/१, १/४१३/६ स्वपरग्रहणपरिणाम उपयोग । न स ज्ञानदर्शन-
मार्गणयोरन्तर्भवति, ज्ञानदृगावरणधर्मस्योपशमस्य तदुभयकारण-
स्योपयोगस्य विरोधात् । —स्व व परको ग्रहण करनेवाले परिणाम
विशेषको उपयोग कहते हैं । वह उपयोग ज्ञानमार्गणा और दर्शन-
मार्गणार्थे अन्तर्भूत नहीं होता है क्योंकि, ज्ञान और दर्शन इन
दोनोंके कारणरूप ज्ञानावरण और दर्शनावरणके क्षयपक्षको उप-
योग माननेमें विरोध आता है ।

ध २/१, १/४१६/१ साकारोपयोगो ज्ञानमार्गणायामनाकारोपयोगो दर्शन
मार्गणायो (अन्तर्भवति) तयोर्ज्ञानदर्शनरूपवात् । —साकार
उपयोग ज्ञानमार्गणार्थे और अनाकार उपयोग दर्शनमार्गणार्थे
अन्तर्भूत होते हैं, क्योंकि, वे दोनों ज्ञान और दर्शन रूप ही हैं ।
टिप्पणी — मार्गणाका अर्थ क्षयोपशम सामान्य या लब्धि है और
उपयोग उसका कार्य है । अतः इन दोनोंमें भेद है । परन्तु जब
इन दोनोंके स्वरूपको देखा गये तो दोनोंमें कोई भेद नहीं है,
क्योंकि उपयोग भी ज्ञानदर्शन स्वरूप है और मार्गणा भी ।

२. उपयोग व लब्धिसे अन्तर

उपयोग ११/१/३ ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमको लब्धि कहते हैं और
उसके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले परिणामको उपयोग कहते हैं ।

का अ/मू २६० एकके काले एक गणन जीवस्स होदि उबजुत्तं । गाणा
गाणाणि पुणे लद्धिसहायेण वुत्थंति । २६०। —जोवके एक समयमें
एक ही ज्ञानका उपयोग होता है । किन्तु लब्धिरूपसे एक समय
अनेक ज्ञान कहे हैं । (गो क/माया ७६४/६६६/३)

पं ध/उ ८४४ ८४५ नास्त्यत्र त्रिमय्यासिर्वाविलम्ब्युपयोगयो । लब्धिसते-
रवश्यं स्यादुपयोगक्षतिर्यत । ८४४। अभावात्तत्पयोगस्य क्षतिर्लब्धेश्च वा
न वा यत्तदावरणस्यामा दृशा व्याप्तिर्न चासुना । ८४५। —यहाँ सम्पूर्ण
लब्धि और उपयोगोंमें विषमव्याप्ति हो जाती है । क्योंकि लब्धिके
नाशसे अवश्य ही उपयोगका नाश हो जाता है, किन्तु उपयोगके
अभावसे लब्धि का नाश हो अथवा न भी हो ।

३. लब्धि तो निर्विकल्प होती है

पं ध/उ ५८८ सिद्धमेतावतोक्तेन लब्धिर्मा, प्रोक्तलक्षणा । निरुपयोग-
त्परत्वात्त्रिविकल्पा स्वताऽस्ति सा । ५८८। —इतना कहनेसे यह सिद्ध

होता है, कि जिसका लक्षण रहा जा चुका है ऐसी जो लब्धि है वह
स्वतः उपयोग रूप न होनेमें निर्विकल्प है ।

४. उपयोगके अस्तित्वमें भी लब्धिके अभाव नहीं हो जाता

पं ध/उ ८४३ यदाचित्कारित ज्ञानस्य चेतना म्योपयोगिनी ।
नान सन्धेर्विनाशाय समव्याप्तेर्गम्यभावात् । ८४३। —लब्धि और उप-
योगमें समव्याप्ति नहीं होनेसे यदा यदाचित् आत्मोपयोगमें (उप-
लक्षणसे अग्न्य उपयोगोंमें भी) तरवार रहनेवाली उपयोगारमक ज्ञान
चेतना लब्धिरूप ज्ञान चेतनाके नाश करनेके लिए समर्थ नहीं है ।

११ शुद्ध व अशुद्ध आदि उपयोग

१ शुद्धाशुद्धोपयोग सामान्य निर्देश

१. उपयोगके शुद्ध अशुद्धादि भेद

प्र सा/म १४४ अप्पा उवओग्गप्पा उवओगा पाणहमणं भण्हो । सा
वि सुहा असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि । १४४। —आत्मा उप-
योगारमक है । उपयोग ज्ञानदर्शन रहा गया है और आत्माका वह
उपयोग शुभ अथवा अशुभ होता है । (मू अ/मू २६८) ।

भा पा/मू ७६ भावं तिविहपयागं सुतासुहं सुदमेव नायव्यं । —जिनवर-
देवने भाव तीन प्रकारके परे है —शुभ अशुभ, और शुद्ध । (यह
गाथा अष्टपादुद्धमे है) ।

प्र सा/म १४४ अप्पा मुपयोगोमाहेपा विक्षिप्यते सुद्धाशुद्धत्वेन । उव
शुद्धो निरुपरागं अशुद्ध सोपरागं । न सु विदुद्धिमधनेशरूपत्वेन
हैविध्यादुपरागस्य द्विविधं शुभाऽशुभश्च । —इस (ज्ञानदर्शनारमक)
उपयोग के दो भेद हैं —शुद्ध और अशुद्ध । उनमेंसे शुद्ध निरुपराग है
और अशुद्ध सोपराग है । वह अशुद्धापयोग शुभ और अशुभ दो प्रकार
का है, क्योंकि उपराग विदुद्धि रूप व सन्देश रूप दो प्रकारका है ।

२ ज्ञानदर्शनोपयोग व शुद्धाशुद्ध उपयोगमें अन्तर

प्र सं/टो ६/१८/६ ज्ञानदर्शनोपयोगविषयमायामुपयोगद्वन्द्वेन विविक्षि-
तार्थपरिच्छिन्नसंज्ञोऽर्थग्रहणव्यापारो गृह्यते । शुभाशुभशुद्धो-
पयोगत्रयविषयायां पुनरुपयोगद्वन्द्वेन शुभाशुभशुद्धभावनेस्वरूपमनु-
ज्ञानं ज्ञातव्यमिति । —ज्ञानदर्शन रूप उपयोगकी विषयार्थमें उपयोग
शब्दसे विवक्षित पदार्थ के जाननेरूप वस्तुके ग्रहण रूप व्यापारका
ग्रहण किया जाता है । और शुभ, अशुभ तथा शुद्ध इन तीनों उप-
योगोंकी विषयार्थमें उपयोग शब्दसे शुभ अशुभ तथा शुद्ध भावना रूप
अनुज्ञान जानना चाहिए ।

२ शुद्धोपयोग निर्देश

१. शुद्धोपयोगका लक्षण

भा पा/मू ७७ (अष्टपादुद्ध) “सुद्धं सुद्धसाओ अप्पा अप्पम्मि त च
नायव्यं । ।” —शुद्धभाव है सो अपना शुद्धस्वभाव आपमें ही है,
ऐसा जानना चाहिए ।

प्र सा/मू १४ सुविदितपरयत्तुपो सजमतवसजुदो विगदशानो । समनो
समसुहदुक्खो भण्हि । सुदोयओगो त्ति । —जिन्होंने पदार्थों और
सूत्रोंको भली भाँति जान लिया है, जो समय और तत्पयुक्त हैं, जो
वीतराग हैं, और जिन्हें सुख दुःख समान हैं ऐसे श्रमणको शुद्धोप-
योगो कहा गया है ।

न ध/मू ३६६, ३४४ समदा तह मज्झमं सुद्धो भावो य वीरमारयत्त ।
तहा चरित धम्मो सहाय आराहणा भणिया । ३६६। सामन्ने नियमोधि
विकलितपरभाव परसम्भावे । सत्पाराहणजुत्तो भणिओ खलु सुद्ध-
चारित्ति । ३४४। —समता तथा माध्यस्थता शुद्धभाव तथा वीतरागता,
चारित्र्य तथा धर्म से सब स्वभावकी आराधना करते गये हैं । ३६६। पर
भावोंसे रहित परमभाव स्वरूप सामान्य निज बोधमें तथा तत्त्वोंकी
आराधनामें युक्त रहनेवाला ही शुद्ध चारित्र्यो कहा गया है । ३४४।

समुल्लसत्ययवशतो गरुर्कर्म बन्धाय तन्मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञान विमुक्तं स्वतः ॥१९०॥ — जम्ब तस्य ज्ञानकी कर्म विरति (साम्यता) भवती-भौति परिपूर्णताको प्राप्त नहीं होती तब तब कर्म और ज्ञानका (राग व बीतरागताका) एकत्रितपना दास्यों में कहा है । उसके एक-त्रित रहनेमें कोई भी क्षति या बिरोध नहीं है । किन्तु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि आराममें अवशपनेसे जो कर्म (राग) प्रगट होता है वह तो बन्धका कारण है और जो एक परम ज्ञान है वह एक ही मोक्षका कारण है—जो कि स्वतः विमुक्त है ।

प्र सा/ता प्र/२४६ परद्रव्यप्रवृत्तिर्गन्तव्यशुद्धारमयुचे शुभोपयोगि-चारित्र्यं स्यात् । अतः शुभोपयोगिग्रन्थमार्गां शुद्धारमापुराणयोगि-चारित्र्यमप्यम् । — परद्रव्य प्रवृत्तिके साथ शुद्धारमपरिणति मिलित होनेसे शुभोपयोगी चारित्र्य है । अतः शुद्धारमाके अनुराणयुक्त चारित्र्य शुभोपयोगी ग्रन्थगौका लक्षण है ।

का/त प्र १६६ “अर्थादिभक्तिस्सपन्नं कथं चिच्छुद्धस्तप्रयोगोऽपि सत्त्व जीवो जीवद्रागलवशाच्छुभोपयोगितामजहत् बहुधा पुण्यं वचनाति, न खलु सकलकर्मक्षयमारभते । — अर्थादिके प्रति भक्ति सम्पन्न जीव, कथंचिद् शुद्ध सम्प्रयोगवाला” होने पर भी रागलव जोमित होनेसे ‘शुभोपयोगीपने’ को नहीं छोड़ता हुआ, बहुत पुण्य बांधता है, परन्तु वास्तवमें सकल कर्मोंका क्षय नहीं करता ।

प्र सा/ता वृ २४६/२४८/२० यदा पूवपूवकभित्तम्यायेन सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोगो भवति तदा मुग्धवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परंपरया निर्वर्णं च । नो चैरण्यबन्धमात्रमेव । — जम्ब पूर्वगृथ कथित व्यापसे सम्यक्त्व पूर्वक शुभोपयोग होता है तब मुख्य वृत्तिमें तो पुण्यबन्ध हो जाता है परन्तु परम्परासे मोक्ष भी होता है । केवल पुण्यबन्ध मात्र नहीं होता ।

स सा/ता वृ ४१४ अत्राह शिष्य — केवलज्ञान शुद्ध छद्मस्थान पुनर-शुद्ध शुद्धस्य केवलज्ञानस्य कारण न भवति । बन्मात् । इति चेत् — ‘सुद्ध तु विद्यायतां मुद्धमेवपर्यं महदि जीवो’ इति वचनात् इति । नैव छद्मास्थानं कथं चिच्छुद्धाशुद्धम् । तथापि — यद्यपि केवलज्ञाना-पेयमा शुद्ध न भवति तथापि मिथ्यावरणादिरहितत्वेन बीतराग-सम्यक्त्वचारित्र्यसहितत्वेन च दाह । — प्रपन्न—केवलज्ञान शुद्ध है और छद्मस्थ ज्ञान अशुद्ध है । वह शुद्ध केवलज्ञानका कारण कैसे हो सकता है । क्योंकि ऐसा वचन है कि शुद्धका जाननेवाला ही शुद्धारमा को प्राप्त करता है । उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, छद्मस्थका ज्ञान भी कथंचिद् शुद्धाशुद्ध है । वह ऐसे कि—यद्यपि केवलज्ञानकी अपेक्षा तो अशुद्ध ही है तथापि मिथ्यावरणादिरहित तथा बीतराग सम्यक्त्व व चारित्र्य (शुद्धोपयोग) के सहित होनेके कारण शुद्ध है ।

प्र म/टी ४८/२०३/६ यद्यपि ध्याता पुरुष स्वशुद्धारममवेदनं विहाय बहिर्विस्तारो न करोति तथापि यावतांशेन स्वस्वस्थे स्थिरत्वं नास्ति तावतांशेनातीतिवृत्त्या विकल्पा स्फुरन्ति, तैर्न कारणेन पृथक्त्व-वितर्कबीचार ध्यानं भण्यते । — यद्यपि ध्यान करनेवाला पुरुष निज शुद्धारम संवेदनाको छोड़कर भाष्यपदार्थकी चिन्ता नहीं करता तथापि जितने अंशमें उस पुरुषके अपने आराममें स्थिरता नहीं है उतने अंशमें अनिच्छिद्रतवृत्तिसे विकल्प उत्पन्न होते हैं, इस कारण इस ध्यानको ‘पृथक्त्ववितर्कबीचार’ कहते हैं ।

२ जितना रागाश है उतना बन्ध है और जितना बीतरागाश है उतना सधर है

पु सि/उ २१२-२१६ येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेन बन्धन नास्ति । येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धन भवति ॥२१२॥ येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धन नास्ति । येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१३॥ येनांशेन चारित्र्यं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति । येनांशेन तु रागस्ते-नांशेनास्य बन्धन भवति ॥२१४॥ योगाग्रप्रवेशमव्य स्थितिबन्धो भवति तु कपायात् । दर्शनमोघचरित्र न योगरूप कपायरूप च ॥२१५॥

दर्शनमारमविनिश्चितिरामपरिज्ञातामिच्छते बाध । स्थितिरामनि चारित्र्यं नृत्त एतेभ्यो भवति बन्ध ॥२१६॥ — इस आराममें किग उच्छ-द्रारा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र्य है, उस अंशके द्वारा हमक बाध नहीं है, पर जिन अंशके द्वारा हमक राग है, उस अंशक बन्ध होता है ॥२१२-२१४॥ योगमें प्रवेशमव्य होता है और कपायसे स्थितिबन्ध होता है । ये दर्शना ज्ञान व चारित्र्य दोनों न तो योगरूप हैं और न कपायरूप ॥२१५॥ आरम निश्चिन्तकता नाम दर्शन है, आरमपरिज्ञानका नाम ज्ञान है और आरमविनिश्चितता नाम चारित्र्य है । तब इनसे बन्ध पैदा हो सकता है ॥२१६॥ (५ ध/उ ७७३),

प्र सा/ता वृ २४८/प्रक्षेपक गाथा २/२६२/२१ मूढमज्जन्तुधावेऽपि यावतां येन स्वस्वभावनचनरूपा रागादिपरितिलक्षणमायहिमा तावतांशेन बन्धो भवति, न च पादम घटमात्रेण । — मूढम जन्तुना घात होते हुए भी जितने अंशमें स्वभावभावसे चननरूप रागादि परिणति सन्ना-मानो भाव हिमा है, उतने ही अंशमें बन्ध होता है, पौनरे चरने मात्रमें नहीं ।

प्र सा/ता वृ २४८/२६२/१२ — यावत्तत्त्वानाम्भा सा मिथ्यावरणादि-रहितत्वेना शुद्धा यावतांशेन निगमनरगागादिरहितत्वेन शुद्धा व तावतांशेन माक्षकारण भवति । — जो अन्तरात्मरूप अग्रस्था है वह मिथ्यावरणादिमें रहित होनेके कारण शुद्ध है । जितने अंशमें निरा-परण रगादिरहित होनेके कारण शुद्ध है उतने अंशमें मोक्षका कारण होता है । (प्र सं/टी १६/१६३/६)

अन ध १/१०/११२ येनांशेन विशुद्धि रव्याज्जस्रोत्सेन न बन्धनम् । येनांशेना तु राग म्यात्तेन रगादेव बन्धनम् । — आरामके जितने अंशमें विशुद्धि होती है उन अंशोंकी अपेक्षा उसके कर्मबन्ध नहीं हुआ करता । किन्तु जिन अंशोंमें रागादिका आवेष्ट पाया जाता है, उनको अपेक्षामें अराम ही बन्ध हुआ करता है ।

प ध/उ ७७२ बन्धो मांशेष शतव्य समासात्तरनकोविद । रागां शैर्बन्ध एव स्यात्प्रााराशै कदाचन । ७२० प्रपन्न नरनमें चतु-रिज्ञासुत्रांशो गतेगमे बन्ध और मोक्ष हम प्रकार समझ लेना चाहिए कि जितने रागके अंश हैं उतने बन्ध ही होता है तथा जितने अराम-के अंश हैं उतने कभी भी बन्ध नहीं होता ७७२।

मो पा/प जयचन्द/२ प्रवृत्तिरूप क्रिया है सो शुभकर्मरूप बाध करे है और इन क्रियानिर्मि जेता अदा निवृत्ति है ताका फल बाध नाहीं है । ताका फल कर्मकी एकदश निर्जग है ।

३ मिश्रोपयोग वतानेका प्रयोजन

प्र स/टी १४/६६/११ जयमत्रार्थ — यद्यपि पूर्वोक्त शुद्धोपयोगन्यून क्षायोपशमिष गान मुक्तिकारण भवति तथापि १८। तूपुरेण सदेव निरावरणमल्लङ्घ्येक निमित्तकेवलज्ञानलक्षणं परमात्मस्वरूप तदेवा न च खण्डज्ञानरूपम् इति भावनीयम् । इति स वरतयव्याख्यानाविषये नयविभागे ज्ञातव्य इति । — यहाँ सारांश यह है कि यद्यपि पूर्वोक्त शुद्धोपयोग लक्षणका धारक क्षायोपशमिष ज्ञान मुक्तिका कारण है तथापि ध्याता पुरपको, ‘निरम सक्क आवरदरहित अवच्छेद एक सकलविमल—केवलज्ञानरूप परमात्माका स्वरूप ही मैं हूँ, खण्ड ज्ञानरूप नहीं हूँ, ऐसा ध्यान करना चाहिए । इस तरह संवर तत्वके व्याख्यानमें नयका विभाग जानना चाहिए ।

प्र स/टी १६/१४३/४ रागादिभेदविज्ञाने जातेऽपि यावतांशेन रागादिक-मनुभवति तावतांशेन सोऽपि बध्यत एव, तस्यापि रागादिभेद-विज्ञानफल नास्ति । यस्तु रागादिभेदविज्ञाने जाते सति रागादिक-रयजति तस्य भेदविज्ञानफलमस्तीति ज्ञातव्यम् । — रागादिमें भेद विज्ञानके होनेपर भी जितने अंशोंसे रागादिका अनुभव करता है उतने अंशोंसे वह भेद विज्ञानी बन्धता ही है, अतः उसके रागादिक-के भेद विज्ञानका फल नहीं है । और जो राग आदिकका भेदविज्ञान होनेपर राग आदिकका त्याग करता है उसके भेदविज्ञानका फल है, यह जानना चाहिए ।

४ शुभ व अशुभ उपयोग निर्देश

१ शुभोपयोगका लक्षण

मू आ २३६ पुण्यस्सासवभूदा अणुक्का सुद्ध ण उवओगो ।—जीवोंपर दया, शुद्ध मन, वचन, कायकी क्रिया, शुद्धदर्शन ज्ञान रूप उपयोग ये पुण्यकर्मके आस्रवके कारण हैं । (र मा ६६)

भा प/मू ७६ (अष्टपाहुड) शुभ धर्म्यं—धर्मध्यान शुभभाव है ।

प्र सा/मू ६६-१७ देवजदिगुरुपूजासु चैव दाणम्मि वा सुसीलेसु । उववासादिमु रत्तो सुहोवओगपपगो अप्पा ६६। जो जाणदि जिण्णिदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे । जीवेसु साणुकपो उवओगो सो सुहो तस्स ११७।—देव गुरु और यतिकी पूजामें तथा दानमें एव सुशीलोंमें और उपवासादिकमें लीन आरमा शुभोपयोगात्मक है ६६। जो जिनेन्द्रों (अर्हन्तों) को जानता है, सिद्धों तथा अनगारोंकी श्रद्धा करता है, (अथति पंच परमेष्ठिमें अनुरक्त है) और जीवोंके प्रति अनुकम्पा युक्त है, उसके वह शुभ उपयोग है । (न च वृ ३११)

प का/मू १३१, १३६ मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि । निजदि तस्स सुहो वा असुहो वा हादि परिणामो १३१। अरहत्त-सिद्धसाहुसु भत्तो धम्मम्मि जा य खलु चेद्धा । अणुगमणं पि गुरूणं पसरथागा त्ति वुच्चति १३६।

प का/त प्र १३१ दर्शनमोहनीयविपाक्कलुपपरिणामता मोह । विचित्र-चारित्रमोहनीयविपाक्कप्रत्यये प्रोत्थयती रागद्वेषो । तस्यैव मन्दोदये विशुद्धपरिणामता चित्तप्रसादपरिणाम । तत्र यत्र प्रशन्तरागाश्चित्त-प्रसादश्च तत्र शुभ परिणाम ।—दर्शनमोहनीयके विपाकसे होनेवाली कलुषपरिणामताका नाम मोह है । विचित्र चारित्र मोहनीयके आश्रयसे होनेवाली प्रीति अप्रीति राग द्वेष कहलाते हैं । उसी चारित्र-मोहके मन्द उदयसे होनेवाला विशुद्ध परिणाम चित्तप्रसाद है । ये तीनों भाव जिसके होते हैं उसके अशुभ अथवा शुभ परिणाम है । वहाँ प्रशस्त राग व चित्तप्रसाद जहाँ है वहाँ शुभ परिणाम है १३१। अर्हन्त सिद्ध साधुओंके प्रति भक्ति, धर्ममें यथार्थतया चेष्टा और गुरुओंका अनुगमन प्रशस्त राग कहलाता है १३६। (न च वृ ३०६)

झा २७३ यमप्रशमनिर्वेदतत्त्वचित्तावलम्बितम् । मैत्र्याविभावानरूढ मन सूते शुमास्वम् १३।—यम, प्रशम, निर्वेद तथा तत्त्वोंका चिन्तन इत्यादिका अवलम्बन हो एव मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्य-स्थता इन चार भावोंकी जिस मनमें भावना हो वही मन शुमास्व-को उत्पन्न करता है ।

प्र स/टी ३८/१४में उद्धृत—“उद्धम मिथ्यास्वविष भावय दृष्टि च कुरु परां भक्तिम् । भावनमस्काररतो ज्ञाने युक्तो भव सदापि ६। पञ्चमहाव्रतस्य कोपचतुष्कस्य निग्रहं परमम् । बुदान्तिन्द्रियविजय तप सिद्धिर्वाधौ कुरुष्यागम् १२।” इत्यादिद्वयकथितलक्षण शुभो-पयोगभावेन परिणामेन परिणता ।—(शुभभाव युक्त कैसे होता है) सो कहते हैं—मिथ्यास्वरूपी विषको वमन करो, सम्म्यग्दर्शनकी भावना करो, उत्कृष्ट भक्ति करो, और भाव नमस्कारमें तत्पर होकर सदा ज्ञानमें लगे रहो १६। पाँच महाव्रतोंका पालन करो क्रोधादि कषायोंका निग्रह करो, प्रबल इन्द्रिय शत्रुओंको विजय करो तथा बाह्य और अन्त्यन्तर तपको सिद्ध करनेमें उद्यम करो १२। इस प्रकार दोनों आर्य छन्दोंमें बड़े हुए लक्षण सहित शुभ उपयोगरूप परिणामसे युक्त या परिणत हुआ जो जीव है वह पुण्यको धारण करता है ।

प्र स/टी ४४/१६६/६ तत्त्वाचारागधनादिचरणक्षान्तिप्रकारेण पञ्चमहा वसपञ्चसमिति त्रिगुणस्वरूपमप्यहत्तसंयमाख्य शुभोपयोगलक्षण सारा-गचारित्राभिधान भवति ।—वह चारित्र—मूलाचार, भगवती, आरा-धना आदि चरणानुयागके शास्त्रोंमें कहे अनुसार पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप होता हुआ भी अपद्रवसयम नामक शुभोपयोग लक्षणवाले, सारागचारित्र नामवाला होता है ।

प्र सा/ता वृ २३०/११५/१० तत्रासमर्थ पुरुष शुद्धारमभावनासहकारि-भूत किमपि प्रासुकाहारज्ञानोपकरणादिक गृह्णातीत्यपवादो ‘व्यव-

हारनय’ एकदेशपरित्यागस्तथापहतसंयम सारागचारित्र शुभोपयोग इति यावदेकार्थ ।—उस शुद्धोपयोग परमोपेक्षा समयमें असमर्थ पुरुष शुद्धारमभावनाके सहकारीभूत जो कुछ भी प्रासुक आहार या ज्ञानोपकरणादिक ग्रहण करता है, सो अपवाद है । उसीको व्यवहार नय कहते हैं । वह तथा एकदेशपरित्याग तथा अपद्रव संयम या साराग चारित्र अथवा शुभोपयोग ये सब एकार्थवाची हैं ।

प्र सा/ता वृ ६/१० गृहस्थापेक्षया यथासंभवं सारागमम्यवपूर्वक-दानपूजादिशुभानुष्ठानेन, तपोधनापेक्षया मूलोत्तरगुणादिशुभानुष्ठानेन परिणत शुभो ज्ञातव्य ।—गृहस्थको अपेक्षा यथासंभव साराग सम्म-यवपूर्वक दान पूजादिरूप शुभ अनुष्ठानके द्वारा, तथा तपोधनकी या साधुकी अपेक्षा मूल व उत्तर गुणादिरूप शुभ अनुष्ठानके द्वारा परिणत हुआ आरमा शुभ कहलाता है ।

स सा/आ वृ ३०६ प्रतिक्रमणाद्यष्टविकल्परूप शुभोपयोग ।—प्रति-क्रमण आदिक अष्ट विकल्प (प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्द्या, गर्हा और शुद्धि) रूप शुभोपयोग है ।

प का/ता वृ १३१/१६६/१३ दानपूजाव्रतशीलादिरूप शुभरागश्चित्त-प्रसादपरिणामश्च शुभ इति सूत्राभिप्राय ।—दान, पूजा, व्रत, शील आदि रूप शुभ राग तथा चित्त प्रसादरूप परिणाम शुभ है । ऐसा सूत्रका अभिप्राय है । (और भी ये मनोयोग ५)

२. अशुभोपयोगका लक्षण

मू आ २३६ विपरीत पापस्य तु आस्रवहेतु विजानीहि ।—(जीवोंपर दया तथा सम्मग्दर्शनज्ञानरूपी उपयोग पुण्यकर्मके आस्रवके कारण है) तथा इनसे विपरीत निर्दयपना और मिथ्याज्ञानदर्शनरूप उप-योग पापकर्मके आस्रवके कारण जानने चाहिए ।

भा पा/मू ७६ । अष्टपाहुड—‘अशुभश्च आर्तरीदम् ।—आर्त—रीद-ध्यान अशुभ भाव है ।

प्र सा/मू १५८ विसयकसायजागादो वुत्सुदिवुच्चित्तदुहगाहिजुदो । उग्गा उम्मागपरो उवओगा जस्स सो अहो १५८।—जिसका उप-योग विषय कषायमें अवगाढ़ (मग्न), कुसृष्टि, कुविचार और कुस-नृत्तिमें लगा हुआ है, उग्र ह तथा उन्मागमें लगा हुआ है, उसके अशुभोपयोग है ।

प का/मू १३१ तथा इसकी त प्र टी (देखो पीछे) शुभोपयोगका लक्षण न ४) “यत्र तु मोहद्वेषावप्रशस्तगणश्च तत्राशुभ इति ।”—(शुभोप-योगके लक्षणमें प्रशस्त राग तथा चित्त प्रसादको शुभ बताया गया है) जहाँ मोह द्वेष व अप्रशस्त राग होता है, वहाँ अशुभ उपयोग है । (न च वृ ३०६)

झा २-७/४ कषायव्यकुलीकृतम् । सचिनोति मन कं जन्मसन्धसूचकम् ।—कषायरूप अग्निसे प्रज्वलित और इन्द्रियोंके विषयोंसे व्याकुल मन ससारके सूचक अशुभ कर्मोंका संचय करता है ।

प्र सा/ता वृ ६/११/११ मिथ्यास्वाविरतिप्रसादकषाययोगपञ्चप्रत्ययरूपा-शुभोपयोगेनाशुभो विज्ञेय ।—मिथ्यास्व, अविरति, प्रसाद, कषाय और योग, इन पाँच प्रत्ययरूप अशुभापयोगसे परिणत हुआ आत्मा अशुभ कहलाता है ।

स सा/ता वृ ३०६ यरपुनरज्ञानजननसमुत्थिमिथ्यास्वकषायपरिणति-रूपमप्रतिक्रमणं तत्ररकादिदुःखकारणमेव ।—जा अज्ञानी जनों सम्मन्धो मिथ्यास्व व कषायकी परिणति रूप अप्रतिक्रमण है वह नरक आदि दुःखोंका कारण ही है । (और भी ये मनोयोग ५)

३. शुभ व अशुभ दोनों अशुद्धोपयोगके भेद हैं

प्र सा/त प्र १६६ तत्र शुद्धा निरुपराग । अशुद्धो सोपराग । स तु विशुद्धि सबलेशरूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविध शुभोऽशुभश्च ।—शुद्ध निरुपराग है और अशुद्ध सोपराग है । वह अशुद्धोपयोग शुभ और अशुभ दो प्रकारका है, क्योंकि, उपराग विशुद्ध रूप और सबलेश रूप दो प्रकारका है ।

४ शुभोपयोग पुण्य है और अशुभोपयोग पाप है

मू आ २३४ पुण्यस्सासवमूदा अणुकपा सुद्ध एव उवओगो । विवरोद पावस्स दू आसवहेउ विद्याणाहि २३४ ।—अनुकम्पा व शुद्ध (शुभ) उपयोग तो पुण्यके आसवभूत है तथा इनसे विपरीत अशुभ भाव पापात्मके कारण है ।

प्र सा/मू १५६ उवओगो जदि हि सुहो पुण्यं जीवस्स सच्चयं जादि । असुहा वा तथा पाव तेसिमभावेण सच्चयमरिथ १५६ ।—उपयोग यदि शुभ हो तो जीवके पुण्य सचयको प्राप्त होता है और यदि अशुभ हो तो पाप संचय होता है । उन दोनोंके अभावमें संचय नहीं होता । (प प्र/मू २/७२)

पं का/मू १३२ सुहपरिणामो पुण्य असुहो पावं सि हवदि जीवस्स । इयो पुद्गलमात्रो भाव कर्मरत्नं प्राप् १३२ ।—जीवके शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभपरिणाम पाप है । उन दानके द्वारा पुद्गलमात्र भाव कर्मपनेको प्राप्त होते हैं ।

५ शुभ व अशुद्ध उपयोगका स्वात्मित्व

प्र स/टो ३४/६६/६ मिथ्यादृष्टिसादानमिश्रगुणस्थानेषूपर्युपरि मन्द-स्वेनाशुभोपयोगो वर्तते, ततोऽप्यस्य यतस्म्यदृष्टिश्रावकप्रमत्तसयतेषु पारम्पर्येण शुद्धापयोगसाधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते तदनन्तरप्रमत्तादिक्षीणकपायपर्यन्त जवन्मध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितं कदेशशुद्धनयलक्षणपुण्यो वर्तते ।—मिथ्यादृष्टि सासादन और मिश्र इन चीन गुणस्थानोंमें ऊपर ऊपर मन्दतासे अशुभ उपयोग-रहता है । उसके आगे असंयत सम्यग्दृष्टि श्रावक और प्रमत्त सयत नामक जो तीन गुणस्थान हैं, इनमें परम्परासे शुद्ध उपयोगका साधक ऊपर ऊपर तारतम्यसे शुभ उपयोग रहता है । तदनन्तर अप्रमत्त आदि क्षीणकपाय तक ६ गुणस्थानोंमें जवन्म, मध्यम, उत्कृष्ट भेदसे विवक्षित एकवैश शुद्ध नयलक्षण शुद्ध उपयोग वर्तता है । (प्र सा/टा व १८१/२४४/१८), (प्र सा ६/११/१६)

प घ/उ २०६ अस्सयशुद्धोपलब्धिश्च तथा मिथ्यादृष्टा परम् । सुहसां गौणरूपेण स्यान्न स्याद्वा कदाचन ।—उस प्रकारकी अशुद्धोपलब्धि भी मुख्यरूपसे मिथ्यादृष्टि जीवोंके होती है और सम्यग्दृष्टियोंके गौण रूपसे कभी कभी होती है, अथवा नहीं भी होती है । नोट—(और देखो 'मिथ्यादृष्टि ४' मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टिके तत्त्व-कर्तृत्वमें अन्तर) ।

६ व्यवहार धर्म अशुद्धोपयोग है

स सा/मू ३०६ पठिकमण पठिसरणं परिहारो धारणा णिवत्ती य । णिदा गरहा सोहो अशुद्धिहो होई विस्कुम्भो ३०६ । (यस्तु द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादि स तार्तीयकी भूमिमपश्यत स्वकार्यकारणासमर्थ-रवेन विपकुम्भ एव स्यात् । त प्र टोका ।)—प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि यह आठ प्रकारका विपकुम्भ है । क्योंकि द्रव्यरूप ये प्रतिक्रमणादि, तृतीय जो शुद्धोपयोगकी भूमिका, उसको न देखनेवाले पुरुषके लिए अपना कार्य (कर्म क्षय) करनेको असमर्थ है ।

प प्र/मू २/६६ वंदद णिदख पठिकमउ भाउ अशुद्धउ जासु । पर तसु संजमु अर्थि णवि जं मण सुद्धि ण तास ।—निःशक बन्दना करो, निन्दा करो, प्रतिक्रमणादि करो लेकिन जिसके जय तक अशुद्ध परिणाम है उसके नियमसे संयम नहीं हो सकता, क्योंकि उसके मनकी शुद्धता नहीं है ।

७ व्यवहार धर्म शुभोपयोग तथा पुण्यका नाम है

स सा/मू २०५ सहृदि य प्सेदि य रोचेदि य सह पुणो य फागदि । धम्म भोगणिमित्त ज दु सो बम्ममवयणिमित्तं ।—सह (अपमय जीव) भोगके निमित्तरूप धर्मकी ही श्रद्धा करता है, उसकी रुचि करता है और उसीका स्पर्श करता है, किन्तु कर्म क्षयके निमित्तरूप (निश्चय) धर्मका नहीं जानता ।

र सा ६४-६५ दव्वरयकायद्यप्यणतत्तत्तपरयेसु सत्तणयएसु । बंधणमुक्ते तत्कारणरूपे वारमणुवेसो ६४ । ग्यणत्तयस्स रूपे अजाकम्मो द्या-इसद्धम्मो । इच्छेवमाहगो जो बद्ध सो होइ सुहभावो ६५ ।—पचास्त-काय, छह द्रव्य, सात तत्त्व, नव पदार्थ, मन्धमोक्ष, बन्धमोक्षके कारण बाह्य भावनाएँ, रत्नत्रय, आर्जवभाव, क्षमाभाव, और सामा यिकादि चारित्र्यमय जिन भव्य जीवोंके भाव हैं, वे शुभ भाव हैं ।

प प्र/मू २/७२ सुहपरिणामे धम्मो पर असुहे होइ अहम्मो । दोहि मि एहि विवज्जिपउ सुद्धुण य धउ कम्म ।—शुभ परिणामोंसे पुण्यरूप व्यवहार धर्म मुरयतामे होता है, तथा अशुभ परिणामोंसे पाप होता है । और इन दोनोंसे रहित शुद्ध परिणाम युक्त पुरुष कर्मोंको नहीं पाँधता । (प्र सा/मू १५६)

न च वृ ३७६ मेदुवयारे जहया वट्टदि सो विय सुहासुहाधीणो । उहमा कत्ता भणिदा ससारी तेण सो आदो ३७६ ।—जय तक जीवको भेद व उपचार वर्तता है उस समय तक वह भी शुभ व अशुभके ही आधीन है और इसी लिए वह ससारी आरमा कर्ता कहा जाता है ।

प्र सा/त प्र ६६ यदा आरमा अशुभापयोगभूमिकामतिक्काम्य देव गुरुयतिपूजादानशीलोपवासप्रोत्तिलक्षण धर्मानुरागमङ्गीकरोति तदेन्द्रियसुखस्य साधनोभूतां शुभोपयोगभूमिकामधिरुद्धोभिलष्यते ।—जय यह आरमा अशुभापयोगकी भूमिकाका उत्प्लवन करके, देव गुरु यतिकी पूजा, दान, शीन और उपवासादिकके प्रीतिस्वरूप धर्मानुरागकी अङ्गीकार करता है तब वह इन्द्रिय-सुखके साधनोभूत शुभोपयोग भूमिकामें आरुद्ध कहलाता है ।

प्र स/मू ४६ असुहादो विणिवत्ती सुहे पवित्ती य जाण चारिस् । वद समिदिपुत्तिरूप यवहारणया वु जिणभणित ४६ ।—जो अशुभ कार्यसे निवृत्त होना और शुभ कार्यमें प्रवृत्त होना है, उसको चारित्र्य जानना चाहिए । जिनेन्द्रदेवने उस चारित्र्यको व्रत समिति और पुष्टिस्वरूप कहा है । (मा अनु. ५४)

स सा/ता वृ १२६/प्रसेवक गाथा ३ की टीका “य परमयोगीन्द्र स्वसंवेदनज्ञाने स्थिरत्वा शुभोपयोगपरिणामरूप धर्म पुण्यसङ्ग रयस्त्वा निजशुद्धाराम —जो परमयोगीन्द्र स्वसंवेदन ज्ञानमें स्थित होकर शुभोपयोग परिणामरूप धर्मको अर्पित पुण्यसङ्गको छोड़कर” ।

प का/ता वृ १३१/१६५/१२ दानपूजाव्रतशीलादिरूप शुभप्रागश्चित्त प्रसादपरिणामश्च शुभ इति सूत्राभिप्राय ।—दान, पूजा, व्रत, शील आदि शुभ राग तथा चित्तप्रसाद रूप परिणाम शुभ है, ऐसा सूत्रका अभिप्राय है ।

प का/ता वृ १३६/१६६/२३ वीतरागपरमात्मद्रव्याद्विलक्षण पक्षपरमे-ष्ठिनिभरगुणानुराग प्रशस्तधर्मानुराग अनुकम्पासंक्रितश्चपरिणाम-दयासहितो मनोवचनकायव्यापाररूप शुभपरिणामा चित्ते नास्ति-कालुष्यं यरयैते पूर्वोक्ता त्रय शुभपरिणामा सन्ति तस्य जीवस्य द्रव्यपुण्यासवकारणभूते भावपुण्यमात्रवत्तीति सूत्राभिप्राय ।—वीत-राग परमराम द्रव्यसे विलक्षण पक्षपरमेष्ठो निर्भर गुणानुराग प्रशस्त धर्मानुराग है । अनुकम्पायुक्त परिणाम व दया सहित मन वचन कायके व्यापाररूप परिणाम शुभ परिणाम हैं । तथा चित्तमें कालुष्य-का न होना, जिसके इतने पूर्वोक्त तीन शुभ परिणाम होते हैं उस जीवके द्रव्य पुण्यासवका कारणभूत भाव पुण्यका आस्रव होता है, ऐसा सूत्रका अभिप्राय है । (प का/ता वृ १०८/१७२/८)

प्र स/टो ३४/१४६/५ व्रतसमितिपुष्टि भावसवरकारणभूतानां यद् व्यापारान कृत तत्र निश्चयरत्नत्रयसाधकव्यवहाररत्नत्रयस्वरूपस्य शुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि तानि पापासवसवर-णानि ज्ञातव्यानि ।—व्रत, समिति, पुष्टि आदिक भावसवरके कारण-भूत जिन बातोंका व्याख्यान किया है उनमें निश्चय रत्नत्रयको साधने वाला व्यवहार रत्नत्रय रूप शुभोपयोग है उसका निरूपण करनेवाले जो वाक्य हैं वे पापासवके सवरमें कारण जानना (पुण्या-सवके संवरमें नहीं) ।

प प्र / टो २/३ धर्मशब्देनात्र पुण्यं कथ्यते ।—धर्म शब्दसे यहाँ पुण्य कहा गया है ।

८. शुभोपयोगी रूप व्यवहारको धर्म कहना रूढ़ि है

प घ / उ ७१८ रुढितोऽधिपूर्वाचां क्रिया धर्म शुभान्हा । तत्रानु-
कूलरूपा वा मनोवृत्ति सहानया ॥१८॥—रूढ़िसे शरीरकी, धनकी
अथवा उसके अनुकूल मनकी शुभ क्रिया धर्म कहलाती है ।

९ वास्तवमें धर्म शुभोपयोगसे अन्य है

भा पा / मू ८३ प्रयादिषु वयसहियं पुण्यं हि जिणेहि सासणे भणियं ।
मोहमलोहविहोणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥८३॥—जिन शासनमें
व्रत सहित पूजादिकको पुण्य कहा गया है और मोह तथा क्षोभ
विहीन आरामके परिणामको धर्म कहा है ।

उपरत वध—दे वध १ ।

उपरितन कृष्टि—दे कृष्टि ।

उपरितन स्थिति—दे स्थिति १ ।

उपरिम द्वीप—(ज प / प्र १०५) Outer island

उपलब्धि—१. ज्ञानके अर्थमें

सि बि / मू १/२/८/१४ उपलभ्यते अनया वस्तुतत्त्वमिति उपलब्धिः,
अर्थादापन्ना तदाकारा च बुद्धिः ।—जिसके द्वारा वस्तुतत्त्व उपलब्ध
किया जाता हो या ग्रहण किया जाता हो, वह उपलब्धि है । पदार्थ-
से उत्पन्न होनेवाली तदाकार परिणत बुद्धि उपलब्धि है ।

पं का / त प्र ३६ चेतयते अनुभवन्ति उपलभन्ते विन्दन्तीत्येकार्थश्चेत-
नानुभूत्युपलब्धिवेदनानामेकार्थतत्त्वात् ।—चेतना है, अनुभव करता
है, उपलब्ध करता है, और वेदता है, ये एकार्थ हैं, क्योंकि चेतना,
अनुभूति, उपलब्धि और वेदना एकार्थक हैं ।

प का / ता व ४३/८६/१ मतिज्ञानावरणीयक्षयोपशमजितार्थग्रहण-
शक्तिरुपलब्धिः ।—मतिज्ञानावरणीयके क्षयोपशमसे उत्पन्न अर्थ
ग्रहण करनेकी शक्ति को उपलब्धि कहते हैं ।

२ अनुरागके अर्थमें

घ / उ ४३४ अथानुरागशब्दस्य विधिर्वाच्यो यदार्थतः । प्राप्ति
स्यादुपलब्धिर्वाच्यं शब्दार्थचैकार्थवाचका ॥४३४॥—जिस समय अनुराग
शब्दका अर्थको अपेक्षासे विधिरूप अर्थ वक्तव्य होता है, उस समय
अनुराग शब्दका अर्थ प्राप्ति व उपलब्धि होता है; क्योंकि अनुराग,
प्राप्ति और उपलब्धि ये तीनों शब्द एकार्थवाचक हैं ।

३ सम्यक्त्व या ज्ञानचेतनाके अर्थमें

प घ / उ २००-२०८ ननुपलब्धिश्चदेन ज्ञानं प्रत्यक्षमर्थतः । तत् किं
ज्ञानावृत्तिं स्वीयकर्मणोऽन्यत्र तत्पक्षेति ॥२००॥ मरयाद्यावरणस्योच्चै-
कर्मणोऽनुदयाद्यथा । दृष्टमोहस्योदयाभावादारमशब्दोपलब्धिः स्यात् ॥२०३॥
किंचोपलब्धिश्चादौऽपि स्यादेतदेकार्थवाचकः । शुद्धोपलब्धि-
रित्युक्ता स्यादशुद्धत्वज्ञानये ॥२०४॥ बुद्धिमानत्र संवेद्यो यः स्वयं स्यात्स
वेदकः । स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानमुपलब्धिरेव यत् ॥२०८॥—प्रश्न—
वास्तवमें ज्ञान चेतनाको लक्षणभूत आरमोपलब्धिमें 'उपलब्धि' शब्द-
से 'प्रत्यक्षज्ञान' ऐसा अर्थ निकलता है । इसलिए ज्ञानावरणीयको
आरमोपलब्धिका घातक मानना चाहिए, मिथ्यात्व कर्मको नहीं ।
किन्तु ऊपरके पद (१९६) में मिथ्यात्वके उदयको उस आरमोपलब्धि-
का घातक माना है । तो क्या ज्ञानघातक ज्ञानावरणके सिवाय किसी
और कर्मसे भी उस आरमोपलब्धिका घात होता है ॥२००॥ उत्तर—
१ जैसे वास्तविक आरमोपलब्धि शब्दोपलब्धिस्वययोग्यमतिज्ञानावरण
कर्मके अभावसे होती है, वैसे ही दर्शनमोहनीय कर्मके उदयके अभाव-
से भी होती है ॥२०३॥ २ दूसरा उत्तर यह है कि उपलब्धि शब्द भी
अनेकार्थ वाचक है, इसलिए यहाँ पर प्रकरणवश अशुद्धताके अभाव-

को प्रगट करनेके लिए 'शुद्ध' उपलब्धि ऐसा कहा है ॥२०४॥ क्योंकि
शुद्धोपलब्धिमें जो चेतनावान जीव क्षेय होता है वही स्वयं ज्ञानी
माना जाता है, अर्थात् निश्चयसे ज्ञान और क्षेयमें कोई अन्तर नहीं
होता । इसलिए यह शुद्धोपलब्धि अतीन्द्रिय ज्ञानरूप पड़ती है ।
भावार्थ—'उपलब्धि' शब्दका अर्थ जिस प्रकार नेत्रादि इन्द्रियों
द्वारा बाह्य पदार्थोंका प्रत्यक्ष ग्रहण करनेमें आता है, उसी प्रकार
अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा अन्तरंग पदार्थ अर्थात् अन्तरारमाका प्रत्यक्ष
अनुभव करना भी उसी शब्दका वाच्य है । अन्तर केवल इतना है
कि इसके साथ 'शुद्ध' विशेषण लगा दिया गया है ।

* उपलब्धि व अनुपलब्धि रूप हेतु—दे हेतु ।

उपलब्धि समा—न्या सू / मू व भाष्य ॥११/२७ निर्दिष्टकारणा-
भावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसम ॥२८॥ निर्दिष्टस्य प्रयत्नान्तरीयकत्व-
स्यानित्यत्वकारणस्याभावेऽपि बाधुनोदनाद्वृक्षशाखाभङ्गजस्य शब्द-
स्यानित्यत्वमुपलभ्यते निर्दिष्टस्य साधनस्याभावेऽपि साध्यधर्मोप-
लब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसम ।—बादी द्वारा कहे जा चुके कारण
के अभाव होनेपर भी साध्य धर्मका उपलम्भ हो जानेसे, उपलब्धि
प्रतिषेध है । उसका उदाहरण इस प्रकार है कि बाधुके द्वारा वृक्षको
शाखा आदिके भगसे उत्पन्न हुए शब्दमें या घनगर्जन, समुद्र घोष
आदिमें प्रयत्नजन्यत्वका अभाव होने पर भी, उसमें साध्य धर्मरूप
अनित्यत्व वर्त रहा है । इसलिए शब्दको 'निरय' सिद्ध करनेमें दिया
गया प्रयत्नान्तरीयकत्व हेतु ठीक नहीं है । (रलो वा / पु ४/न्या
४१६/४२५/१३)

२ अनुपलब्धि समा जाति

न्या सू / मू व भाष्य ६-१/२६ तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ परी-
तोपपत्तेरनुपलब्धिसम ॥२६॥ तेषामावरणादीनामनुपलब्धिर्नोपलभ्यते
अनुपलम्भात्प्राप्तीत्यभावाऽस्या सिध्यति अभावसिद्धौ हेत्वभावात्त-
द्विपरीतमस्तिनावरणादीनामवधार्यते तद्विपरीतोपपत्तेर्यप्रतिज्ञात् न
प्रागुच्चारणाद्विद्यमानस्य शब्दस्यानुपलब्धिरित्येतन्न सिध्यति सोऽयं
हेतुरावरणाद्यनुपलब्धेरित्यावरणादिषु बाधराद्यनुपलब्धौ च समया-
नुपलब्ध्या प्रत्यवस्थितोऽनुपलब्धिसमो भवति ।—निषेध करने योग्य
शब्दको जो अनुपलब्धि है, उस 'अनुपलब्धि' को भी अनुपलब्धि
हो जानेसे अभावका साधन करने पर विषयसिद्धि उस अनपलब्धि
के अभावको उपपत्ति करना प्रतिबादीकी अनुपलब्धिसमाजाति बखानी
गयी है । इसका उदाहरण इस प्रकार है कि—'उच्चारणके प्रथम नहीं
विद्यमान हो रहे ही शब्दका अनुपलम्भ है । विद्यमान शब्दका
अदर्शन नहीं है', इस प्रकार स्वीकार करनेवाले बादीके लिए जिस
किसी भी प्रतिज्ञादीकी ओरसे यों प्रत्यवस्थान उठाया जाता है, कि
उस शब्दके आवरण, अन्तराल आदिकोंके अदर्शनका भी अदर्शन हो
रहा है । इसलिए वह आवरण आदिकोंको जो अनुपलब्धि कही जा
रही है उसका ही अभाव । तिस कारण उच्चारणसे पहिले विद्यमान
हो रहे ही शब्दका स्थाना आवरणवश नहीं हो सका है, यह बात सिद्ध
हो जाती है । क्योंकि अनादिकालसे सदा अप्रतिहत चला आ रहा
जो शब्द है, तिसके आवरण आदिकोंके अभावका भी अभाव सिद्ध हो
जानेसे उनका सद्भाव सिद्ध हो जाता है । (रलो वा ४/न्या ४२५/
६२८/१० तथा पृ ६३१/१४) ।

उपवन भूमि—समवशरणकी चौथी भूमि—दे समवशरण ।

उपवास—दे —प्रोषधोपवास ।

उपवेल्लन—द्रव्य निषेधका एक भेद—दे निषेध ६/६ ।

उपशम—कर्मोंके उदयको कुछ समयके लिए रोक देना उपशम
कहलाता है । कर्मोंके उदयके अभावके कारण उठने समयके लिए
जीवके परिणाम अत्यन्त शुद्ध हो जाते हैं, परन्तु अर्थात् पूरी हो

जाने पर नियमसे कर्म पुन उदयमें आ जाते हैं और जीवके परिणाम पुन गिर जाते हैं। उपशम-करणका सम्बन्ध केवल मोहकर्म व तज्जन्म परिणामोंसे ही है, क्षान्तादि अन्ध भावोंसे नहीं क्योंकि रागादि विकारोंमें क्षणिक उतार-चढ़ाव सम्भव है। यमोंके दमनेका उपशम और उससे उत्पन्न ज्ञानके शुद्ध परिणामोंका औपशमिक भाव कहते हैं।

१ उपशम निर्देश

१ उपशम सामान्यका लक्षण

२ सदवस्थारूप उपशमका लक्षण

३ प्रशस्त व अप्रशस्त उपशम

४ उपशमके निक्षेपोकी अपेक्षा भेद

* निक्षेपो रूप भेदोंके लक्षण —दे निक्षेप

५ नो आगम भाव उपशमका लक्षण

६ उपशम व विसयोजनामें अन्तर

* अनन्तानुबन्धी विसयोजना —दे विसयोजना

* त्रिकरण पञ्चय —दे करण ३

* अन्तरकरण विधान —दे अन्तरकरण

* स्थितिवन्वापमरण —दे अपवर्पण ३

* मोहोपशम व आत्माभिमुख परिणाममें केवल भाषा-का भेद है —दे उपशम ६/१

२ दर्शनमोहका उपशम विधान

१ प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी अपेक्षा स्वामित्व

२ प्रथमोपशममें दर्शनमोह उपशम विधि

* अनादि मिथ्यादृष्टि केवल एक मिथ्या वका ही और सादि मिथ्यादृष्टि १, २ या ३ प्रकृतियोंका उपशम करता है —दे सम्यग्दर्शन IV/२

३ मिथ्यात्वका त्रिधाकरण

४ द्वितीयोपशमकी अपेक्षा स्वामित्व

५ द्वितीयोपशमकी अपेक्षा दर्शनमोह उपशमविधि

* द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें आरोहक सम्बन्धी दो मत

—दे सम्यग्दर्शन IV/३

६ उपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीकी संयोजनाके विधि निषेध सम्बन्धी दो मत

* पुन पुन दर्शनमोह उपशमानेकी सीमा

—दे सम्यग्दर्शन IV/२

३ चारित्र्यमोहका उपशम विधान

१ चारित्र्यमोहकी उपशम विधि

* पुन पुन चारित्र्यमोह उपशमानेकी सीमा —दे संयम २

४ उपशम सम्बन्धी कुछ नियम व शर्काएँ

१ व तरायाममें प्रवेश करनेसे पहले मिथ्यात्व ही रहता है

२ उपशान्त-द्रव्यका अवस्थान अपूर्वकरण तक ही है,

३ अपर नहीं

३ नवकप्रवृद्धका एक आवर्ती पर्यन्त उपशम सम्भव नहीं

४ उपशमन काल सम्बन्धी शर्का

* दर्शन व चारित्र्यमोहके उपशामयकी मृत्यु नहीं होगी —दे मत १

* उपशम क्षेणीमें यदाचित् मृत्यु सम्भव —दे मत १

* मोहके मन्द उदयमें ही यथार्थ पुरुषार्थ सम्भव है —दे कारण III/६

५ उपशम विषयक प्ररूपणाएँ

१ मूलोत्तर प्रकृतियोंकी स्थिति आदिमें उपशम विषयक प्ररूपणाएँ

* दर्शन चारित्र्य मोहके उपशामकों सम्बन्धी सत्, मत्वा, क्षेत्र, स्पर्शन, गान्ध, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्वका आठ प्ररूपणाएँ —दे गह गह नाम

६ औपशमिक भाव निर्देश

१ औपशमिक भावका लक्षण

२ औपशमिक भावके भेद-प्रभेद

* धायोपशमिक भावमें कथयित् औपशमिकपनेका विवि निषेध —दे क्षयोपशम

* गुणस्थानो व मार्गणा स्थानोंमें यथारम्भव भावोंका निर्देश —दे गह गह नाम

* अपूर्वकरण गुणस्थानमें किमी भी धर्मका उपशम न होते हुए भी वहाँ औपशमिक भाव कैसे कहा गया —दे अर्चुकरा ४

* औपशमिक भाव व आत्माभिमुख परिणाममें केवल भाषाका भेद है —दे औपशमिक भावका लक्षण

* औपशमिक भाव जीवका निज तत्त्व है —दे भाव २

१ उपशम निर्देश

१ उपशम सामान्यका लक्षण

ध ६/४.१ ४४/६१/२३६ ४५९ गुरुम उदर चतुसु वि दातु कमेग गो माह । उयसंयं च पिधत्त लिगाचिद वायि जं पम्भं । —जो कर्म उदयमें नहीं दिया जा सके, वह उपशान्त कहलाता है। (ध १६/४/७९), (गो क ५/४४०/६६३)

स सि २/१/१४६/५ आरामाने कर्मण स्वशक्ते कारणवशादनुभूतिरुपशम । यथा कतकादिद्रव्यसम्बन्धादम्भसि पट्टस्य उपशम । —आराममें कर्म की निजशक्तिका कारणवशा प्रगट न होना उपशम है। जैसे पट्ट आदि द्रव्यके सम्बन्धसे जलमें कोष्ठका उपशम हो जाता है।

रा या २/१/१२००/१० यथा सत्त्वगुणाम्भस कतकादिद्रव्यसम्पर्कादि अध प्रापितमलद्रव्यस्य तरुतकासुध्याभावात् प्रसाद उपलभ्यते, तथा कर्मण कारणवशादनुभूतस्वरोमेधुचित्ता आरामनो विशुद्धिरुपशम । —जैसे कतकफल या निर्मलीके छालनेसे मैले पानीका मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है, उसी तरह परिणामोंकी विशुद्धिसे यमोंकी शक्तिका अनुभूत रहना अर्थात् प्रगट न होना उपशम है। (गो जो/जी प्र ८/२६/१२)

१. सववस्था रूप उपशमका लक्षण

रा वा २/४/१०७/१ तस्यैव सर्वधातिस्पर्धकस्यानुदयप्राप्तस्य सदवस्था उपशम इत्युच्यते अनुदयतत्त्ववीर्यवृत्तिरभावः । — अनुदय प्राप्त सर्व-धातो स्पर्धकोंको सत्तारूप अवस्थाको उपशम कहते हैं, क्योंकि इस अवस्थामें उसकी अपनी शक्ति प्रगट नहीं हो सकती ।

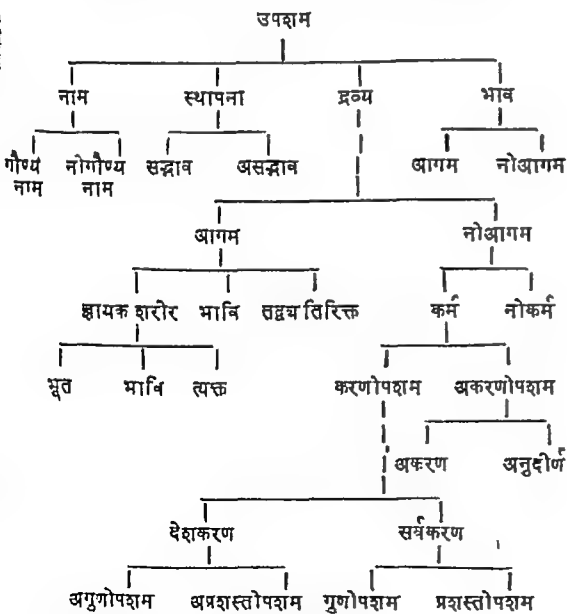
३. प्रशस्त व अप्रशस्त उपशम

ध १४/२७६/२ अप्सरस्थुवसामणाए जमुवसंत पवेसगं तमोकष्टिदु पि सवर्क उक्कडिदु पि सक्क, पयडोए सकामिदु पि सक्क उदयावलिय पवेसिदु ण उ सवर्क । — अप्रशस्त उपशमनाके द्वारा जो कर्म प्रवेश उपशान्त होता है वह अपकर्षणके लिए भी शक्य है, उत्कर्षणके लिए भी शक्य है, तथा अन्य प्रकृतिमें सक्रमण करानेके लिए भी शक्य है । वह केवल उदयावलीमें प्रविष्ट करनेके लिए शक्य नहीं है ।

ग जो / जो प्र ६४०/१०६६/१६ अनन्तानुबन्धिचतुष्कल दर्शनमोहव्यस्य च उदयाभावलक्षणाप्रशस्तोपशमने प्रसन्नमलपङ्क्तोयसमान यरपदार्थ-भ्रद्धानमुरप्यते तदिदमुपशमसम्यक्त्व नाम । — अनन्तानुबन्धीकी चौकड़ी और दर्शनमोहका त्रिक इन सात प्रकृतिका अभाव है लक्षण जाका ऐसा अपशस्त उपशम होनेमें जैसे कतक्कल आदिसे मल कर्मम नीचे बैठने करि जल प्रसन्न हो है तैसे जो तत्त्वार्थ भ्रद्धान उपजै सो यह उपशम नाम सम्यक्त्व है ।

प १/१,१,२७/२१२/६ उवसमो णाम किं । उदय-उदीरण ओकड्डुक्क-ड्डण-परपयडिसकम-द्विदि-अणुभाग कडधधादेहि विणा अच्छण-मुवसमो । — प्रश्न—उपशम किसे कहते हैं ? उत्तर—उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृति स क्रमण, स्थितिकाण्डकषात, अणुभाग-काण्डकषातके बिना ही कर्मोंके सत्तामें रहनेवा (प्रशस्त) उपशम कहते हैं । (यह उपशम चारित्रमोहका होता है) ।

४. उपशमके निक्षेपोकी अपेक्षा भेद—ध १४/२७४



५. नोआगम भाव उपशमका लक्षण

ध १४/२७४/६ नोआगमभावानुवसमणा उवसतो कलहो जुद्ध वा इच्छेव-मादि । — नो आगम भावोपशमना — जैसे कलह उपशान्त हो गया अथवा युद्ध उपशान्त हो गया इत्यादि ।

६. उपशम व विसंयोजनामे अन्तर

ध १/१ १,२७/२११/१ सत्तुर्व छट्ठियअण-पयडि सत्तुर्वचणमण ताणु-बंधीणमुवसमो, दसणतियस्स उदयाभावा उवसमो तेमिसुवसताण पि ओकड्डुक्कड्डण-परपयडि संक्रमणमत्थितादो । — अपने स्वरूपको छोड़कर अन्य प्रकृतिरूपसे रहना अनन्तानुबन्धीका उपशम है । और उदयमें नहीं आना ही दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका उपशम है, क्योंकि, उत्कर्षण अपकर्षण और परप्रकृतिरूपसे सक्रमणको प्राप्त और उपशान्त हुई उस तीन प्रकृतियांका अस्तित्व पाया जाता है । विशेषार्थ पृ २१४—अनन्तानुबन्धीके अन्य प्रकृतिरूपसे सक्रमण हानेको ग्रन्थान्तरोंमें विसंयोजना कहा है और यहाँपर उसे उपशम कहा है । यद्यपि यह केवल शब्द भेद है, और स्वयं वीरसेन स्वामी-को द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीका अभाव इष्ट है, फिर भी उसे विसंयोजना शब्दसे न कहकर उपशम शब्दके द्वारा कहनेसे उनका यह अभिप्राय रहा हो कि द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव वदा चित् मिथ्यात्व गुग्स्थानको प्राप्त होकर पुन अनन्तानुबन्धीका बन्ध करने लगता है और जिन कर्मप्रदेशोंका उसने अन्य प्रकृतिरूप सक्रमण किया था उनका फिरसे अनन्तानुबन्धी रूपसे सक्रमण हो सकता है । इस प्रकार यद्यपि द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीकी सत्ता नहीं रहती है, फिर भी उसका पुन सद्भाव होना सम्भव है । अतः द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना न कहकर उपशम शब्दका प्रयोग किया गया है ।

२ दर्शनमोहका उपशम विधान

१. प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी अपेक्षा स्वामित्व

प ख ६/१ ६-८/६/२३८ उवसामेतो कम्मि उवसामेदि, चटुसु वि गदीसु उवसामेदि । चटुसु वि गटुसु उवसामेतो पचिदिपसु उवसामेदि णा एहन्दिदयविगलिदिपसु । पचिदिपसु उवसामेतो सण्णीसु उवसामेदि, णो असण्णीसु । सण्णीसु उवसामेतो गम्भोवक्कत्तिपसु उवसामेदि, णो सम्मुच्छिमेषु । गम्भोवक्कत्तिपसु उवसामेतो पज्जत्तपसु उवसामेदि णो अपज्जत्तपसु । पज्जत्तपसु उवसामेतो सवेज्जवस्साउगेसु वि उवसामेदि, असवेज्जवस्साउगेसु वि । ६। — दर्शनमोहनीय कर्मको उपशमाता हुआ यह जीव कहाँ उपशमाता है । चारों ही गतियोंमें उपशमाता है । चारों ही गतियोंमें उपशमाता हुआ पचेन्द्रियोंमें उपशमाता है, एकेन्द्रियों व विस्तेन्द्रियोंमें नहीं उपशमाता है । पचेन्द्रियोंमें उपशमाता हुआ, संज्ञियोंमें उपशमाता है असंज्ञियोंमें नहीं । संज्ञियोंमें उपशमाता हुआ गर्भोपक्रान्तिकोंमें अर्थात् गर्भज जीवोंमें उपशमाता है, सम्मुच्छिर्मोंमें नहीं । गर्भोपक्रान्तिकोंमें उपशमाता हुआ पर्याप्तिकोंमें उपशमाता है अपर्याप्तिकोंमें नहीं । पर्याप्तिकोंमें उपशमाता हुआ सख्यात वर्षकी आयुवाले जीवोंमें भी उपशमाता है और अमरण्यात वर्षकी आयुवाले जीवोंमें भी उपशमाता है । ६।

क पा सुत्त ६८/६३२ सायारे पट्ठवओ णिट्ठवओ मच्चिमो य भय-णिज्जो । जीगे अणदरम्मि दुजहणणे तेउलेस्साए । ६८। — साकारो-पयोगमें वर्तमान जीव ही दर्शन मोहनीयकर्मके उपशमनका प्रस्थापक होता है । किन्तु निष्ठापक और मध्य अवस्थावर्ती जीव भजितव्य हैं । तीनोंमें से किसी एक योगमें वर्तमान और तेजोलेश्याके अधन्य अशको प्राप्त जीव दर्शनमोहका उपशमन करता है । विशेषार्थ—तेजो-लेश्याका यह नियम मनुष्यतियोंको अपेक्षा कहा जाना चाहिए । उक्त नियम देव और नारकियोंमें सम्भव इसलिए नहीं है कि देवोंके सदा काल शुभ लेश्या और नारकियोंके अशुभ लेश्या ही पायी जाती है ।

ध ६/१ ६-८/२०७/४ कोधक्साई माणक्साई मायक्साई लोभक्साई वा कित्तु हायमाणक्साओ । असजदो । छण्णं लेस्सामणमणदलेस्सो कित्तु हायमाणअसुहलेस्सो वड्डमाण सुहलेस्सो । भवो । आहारो । —

(चारी गतियों, तीनों वेदों व तीनों योगोंमेंसे किसी भी गति वेद वा योग वाला हो), क्लोषकपायी, मानकपायी, मायाकपायी अथवा लोभकपायी अर्थात् चारों कपायोंमें से किसी भी कपायवाला हो। किन्तु होयमान कपायवाला होना चाहिए। असयत हो। (साकारोपयोगी हो)। कृष्णादि छहों लेखा में से किसी एक लेखा वाला हो, किन्तु यदि अशुभ लेखा हो तो होयमान होनी चाहिए और यदि शुभ लेखा हो तो वर्धमान होनी चाहिए। भव्य तथा आहारक हो।

रा वा ६/१/१३/३६८/२३ अनादिमिथ्यादृष्टिर्भव्य पृष्ठविंशतिमोहप्रकृतिसरकर्मक मादिमिथ्यादृष्टिर्वा पृष्ठविंशतिमोहप्रकृतिसरकर्मक सप्तविंशतिमोहप्रकृतिसरकर्मको वा अष्टाविंशतिमोहप्रकृतिसरकर्मको वा प्रथमसम्यक्त्वग्रहीतुमारभमाण शुभपरिणामाभिमुख अन्तर्मुहूर्तमनन्तगुणवृद्धा वर्धमानविशुद्धि, चतुर्थ मनोयोगेयु अन्त्यतमेन मनोयोगेन, चतुर्थवाग्योगेयु अन्त्यतमेन वाग्योगेन औदारिकर्षै क्रियकवाययोग्योरन्त्यतरेण काययोगेन वा समाविष्ट होयमानान्यसम्यक्वाय, साकारोपयोगी, त्रिपु वेदेन्वन्त्यतमेन वेदेन संवत्सेशविरहित वर्धमानशुभपरिणामप्रसाप्तेन सर्वकर्मप्रकृतानां स्थिति रासयत्, अशुभप्रकृतीनामनुभागमन्धमपसारयत् शुभप्रकृतीनां रसमुद्धतयत् शीघ्रि करणानि कर्तुमुपक्रमते। —अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यके मोहकी छम्बोस प्रकृतियोंका सत्त्व होता है और सादिमिथ्यादृष्टिके २६, २७ या २८ प्रकृतियोंका सत्त्व होता है। ये जब प्रथम सम्यक्त्वको ग्रहण करनेके उन्मुख होते हैं तब निरन्तर अनन्तगुणी विशुद्धिको बढ़ाते हुए शुभपरिणामों से संयुक्त होते जाते हैं। उस समय ये चार मनोयोगांमों से किसी एक मनोयोग चार वचनयोगोंमेंसे किसी एक वचनयोग, औदारिक और वैक्रियकमेंसे किसी एक काययोगसे युक्त होते हैं। इनके कोई भी एक कपाय होती है जो अत्यन्त हीन हो जाती है। साकारोपयोग और तीनों वेदोंमेंसे किसी एक वेदसे युक्त होकर भी संवत्सेश रहित हो, प्रवर्धमान शुभ परिणामोंसे सभी कर्मप्रकृतियोंकी स्थितिको कम करते हुए, अशुभ कर्मप्रकृतियोंके अनुभागका खण्डन कर शुभ प्रकृतियोंके अनुभागरसको बढ़ाते हुए तीन करणोंको प्रारम्भ करते हैं। (ल सा १/२/४१) (और भी दे सम्यग्दर्शन १४/२)

२ प्रथमोपशमने दर्शनमोह उपशम विधि

प ल ६/१६-८/सू ३-८/२०३-२३८ एदेसि चैव सव्यकम्माणं जाधे अतोकोठाकोठिट्टिट्टि भधदि तावे पणमसम्मच लभदि । १। सो पुण पंचिदिअो सण्णी मिच्छादृष्टो पज्जअो सव्वविमुदो । २। एदेसि चैव सव्वकम्माणं जाधे अतोकोठाकोठिट्टिट्टि ठवेदि सखेज्जेहि सागरोवमसहस्सेहि ऊणियं ताधे पढमसम्मचमुप्पादेदि । ३। पढमसम्मचमुप्पादेतो अतोमुहुत्तमोहट्टेदि । ४। आहट्टेद्वण मिच्छत्त तिणि भागं करेदि सम्मत्त मिच्छत्त समागमिच्छत्त । ५। दसणमोहणीय कम्म उवसमेदि । ६। —इन हो सर्व कर्मोंकी जय अन्त-कोटाकोटी स्थितिको बाँधता है तब यह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होता है । ३। वह प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करनेवाला जीव पचेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्त और सर्व विशुद्ध होता है । ४। जिस समय सर्व कर्मोंकी सख्यात हजार सागरोंसे होन अन्त-कोठाकोठी सागरोपमप्रमाण स्थितिको स्थापित करता है, उस समय यह जीव प्रथम सम्यक्त्वका उपपन्न करता है । ५। प्रथमोपशम सम्यक्त्वको उपपन्न करता हुआ सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव अन्तर्मुहूर्त काल तक हटाता है, अर्थात् अन्तरकरण करता है । ६। अन्तरकरण करके मिथ्यात्व कर्मके तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व । ७। मिथ्यात्वके तीन भाग करनेके परचाव दर्शनमोहनीय कर्मको उपशमाता है । ८। भावार्थ—सम्यक्त्व-भिमुख जीव पंचलक्षिको क्रम से गण करता हुआ उपशम सम्यक्त्वको ग्रहण करता है । श्लोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रामोपगमन लब्धि व करण लब्धि-ये पाँच लक्ष्मियोंके नाम हैं ।

विचारनेकी शक्ति विशेषका उत्पन्न होना श्लोपशम लब्धि है । परिणामोंमें प्राति समय विशुद्धिकी वृद्धि होना विशुद्धि लब्धि है । सम्यक् उपदेशका सुनना व मनन करना देशना लब्धि है । उसके कारण हुई परिणामविशुद्धिके फलस्वरूप पूर्व कर्मोंकी स्थिति घटकर अन्त-कोठाकोठी सागराग्राह गृह जाती है और नवीन कर्म भी इससे अधिक स्थितिके नहीं बन्ध पाते, यह प्रामोपगम लब्धि है । अन्तमें उस सुने हुए उपदेशका भलीभाँति निदिध्यासन करना करण लब्धि है । करण लब्धिके भी तरतमसा लिये हुए तीन भाग होते हैं—अधकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण । तहाँ अधकरणमें परिणामोंकी विशुद्धिमें प्रतिक्षण अनन्त गुणी वृद्धि होती है । अशुभ प्रकृतियोंका अनुभाग अनन्तगुणहीन और शुभ प्रकृतियोंका अनुभाग अनन्तगुणाधिक बन्धघटा है । स्थिति भी उत्तरोत्तरपश्योपमके अमरत्यातभाग करि हीन हीन पाम्यती है । अपूर्वकरणमें विशुद्धि प्रतिक्षण बहुत अधिक वृद्धित होने लगती है । यहाँ पूर्व बद्ध स्थितिका काण्डक घात भी होने लगता है, और स्थिति बन्धापसारण भी । विशुद्धिमें अत्यन्त वृद्धि हो जानेपर यह अनिवृत्तिकरणमें प्रवेश करता है । यहाँ परतेसे भी अधिक वेगसे परिणाम वृद्धिमान होते हैं । यह तीनों ही करण जीवके उत्तरोत्तर वृद्धित विशुद्ध परिणामोंके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं । इनके प्राप्त करनेमें कोई अधिक समय भी नहीं लगता । तीनों ही प्रकारके परिणाम अन्तर्मुहूर्तमात्रमें पूरे हो जाते हैं । तब अनिवृत्तिकरण कालके शर्यातभाग जीवपर अन्तरकरण करता है । परिणामोंकी विशुद्धिके कारण सत्तामें स्थित कर्मप्रदेशोंमेंसे कुछ निषेकोंका अपना स्थान छोड़कर, उरकर्षण व अपकर्षण द्वाराऊपरनीचेके निषेकोंमें मिल जाना ही अन्तरकरण है । इस अन्तरकरणके द्वारा निषेकोंकी एक बट्ट पक्ति टूटकर दो भागोंमें विभाजित हो जाती है—एक पूर्व स्थिति और दूसरी उपरितन स्थिति । नीचेमें अन्तर्मुहूर्त प्रमाण निषेकोंका अन्तर पड़ जाता है । तत्परचाव उन्हीं परिणामोंके प्रभावसे अनादिका मिथ्यात्व नामा कर्म तीन भागोंमें विभाजित हो जाता है—मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व । ये तीनों ही कोई स्वतन्त्र प्रकृतियाँ नहीं हैं बल्कि उस एक प्रकृतिमें ही कुछ प्रदेशोंका अनुभाग तो पूर्ववत् ही रह जाता है उसे तो मिथ्यात्व कहते हैं । कुछ अनुभाग अनन्तगुणाहीन हो जाता है, उन्में सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं और कुछका अनुभाग घटकर उससे भी अनन्तगुणाहीन हो जाता है, उन्में सम्यक्प्रकृति कहते हैं । तब इन तीनों ही भागोंका अन्तर्मुहूर्तमात्रके लिए ऐसी मूर्च्छित-सो अवस्था हो जाती है कि वे न उदयावलीमें प्रवेश कर पाते हैं और न ही उनका उरकर्षण-अपकर्षण आदि हो सकता है । तब इतने कालमात्रके लिए उदयावलीमेंसे दर्शनमोहकी तीनों ही प्रकृतियोंका सर्वथा अभाव हो जाता है । इसे ही उपशमकरण कहते हैं । इसके होनेपर जीवको उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि विरोधी कर्मका अभाव हो गया है । परन्तु अन्तर्मुहूर्तमात्र अवधि पूरी हो जानेपर वे कर्म पुनः सचेष्ट हो उठते हैं और उदयावलीमें प्रवेश कर जाते हैं । तब वह जीव पुनः मिथ्यात्वको प्राप्त हो जाता है । अथवा यदि सम्यग्मिथ्यात्वका उदय हाता है तो मित्र गुणस्थानको प्राप्त हो जाता है या यदि सम्यक्प्रकृतिका उदय हो जाता है तो श्लोपशम समयमरवको प्राप्त हो जाता है । (रा वा ६/१/१३/६८/३१), (घ ६/१६-८/२०३-२३३), (ल सा १/२.१०८/४१-२४६), (ग जी/जो प ७०४/११४१/१०) (गो क/जी प ६६०/४२/१६)

३ मिथ्यात्वका त्रिधाकरण

घ ६/१६-८/२०३ तेण ओहट्ट दूणेत्ति उत्ते त्वहयघादेण विणा मिच्छाणाणाम् धादिय सम्मत्त सम्माभिच्छत्त अणुभागायारेण परिणामिय पढमसम्मत्तपण्डिबणपढमसमए चैव तिणिणकम्मसे उप्पादेदि । (आगे दे नीचे मापार्थ) —इसलिए 'अन्तरकरण करके' ऐसा

कहने पर काण्डक घातके बिना मिथ्यात्व कर्मके अनुभागको घातकर और उसे सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके अनुभाग-रूप आकारसे परिणामकर प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होनेके प्रथम समयमें ही मिथ्यात्व रूप एक कर्मके तीन कर्मांश अर्थात् भेद या खण्ड उपपन्न हो जाते हैं। भाषार्थ—प्रथम समयवर्ती उपशमसम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्वसे प्रवेशाग्रको लेकर (अर्थात् उनकी उदीरणा करके) उनका बहुभाग सम्यग्मिथ्यात्वमें देता है और उससे असख्यात गुणा हीन प्रवेशाग्र सम्यक्त्व प्रकृतिमें देता है प्रथम समयमें सम्यग्मिथ्यात्वमें दिये गये प्रवेशाग्रकी अपेक्षा द्वितीय समयमें सम्यक्त्वप्रकृति में असख्यात गुणित प्रवेशाग्रको देता है। और उसी ही समयमें (अर्थात् दूसरे ही समयमें) सम्यक्त्वप्रकृतिमें दिये गये प्रवेशाग्रकी अपेक्षा सम्यग्मिथ्यात्वमें असख्यात गुणित प्रवेशाग्रको देता है। (इसी प्रकार तीसरे समयमें सम्यक्त्व प्रकृतिका द्रव्य द्वितीय समयके सम्यग्मिथ्यात्वसे असख्यात गुणा और सम्यग्मिथ्यात्वका द्रव्य सम्यग्मिथ्यात्वसे असख्यात गुणा)। इस प्रकार (सर्पकी चालवत्) अन्तर्मुहूर्त काल तक गुणश्रेणीके द्वारा सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व कर्मको घूर्णित करता है, जब तक कि गुणसंक्रमण कालका अन्तिम समय प्राप्त होता है। (ल सा/पू व जी प्र/६०-६१/१२६-१२८)

प्र सा/पू/६०/१२६ मिच्छन्तमिस्ससम्मसरूपेण य तत्तिघा य द्वादादो । सत्तीदो य असत्ताणत्तेण य हौत्ति भजियकमा । —मिथ्यात्व कर्म मिथ्यात्व मिश्र सम्यक्त्वमोहनीरूपकरि तीन प्रकार हो है, सो क्रमतः द्रव्य अपेक्षा असख्यातवर्ती भागमात्र और अनुभाग अपेक्षा अनन्त भागमात्र जानने। सोई कहिए है—मिथ्यात्वका परमाणुरूप जो द्रव्य ताकी गुण संक्रम भागहारका भाग वैश्व एक अधिक असख्यात-करि गुणिये। इतना द्रव्य बिना (शेष) समस्त द्रव्य मिथ्यात्व रूप ही रहा। अं गुणसंक्रम भागाहारकरि भाजित मिथ्यात्व द्रव्यवै असख्यात करि गुणिये इतना द्रव्य मिश्र-मोह रूप परिणाम्या। अर गुणसंक्रम भागाहारकरि भाजित मिथ्यात्व द्रव्यवै एककरि गुणिए इतना द्रव्य सम्यक्त्व मोहरूप परिणाम। तातें द्रव्य अपेक्षा असख्यात-वर्ती भागका क्रम आया। बहुरि अनुभाग अपेक्षा सख्यात अनुभाग कांडकनिके घातकरि जो मिथ्यात्वका अनुभागके पूर्व अनुभागके अनन्तवर्ती भागमात्र अवशेष रहा ताके (भी) अनन्तवर्ती भाग मिश्र-मोहका अनुभाग है। बहुरि याके (भी) अनन्तवर्ती भाग सम्यक्त्व-मोहका अनुभाग है, ऐसे अनुभाग है, ऐसे अनुभाग अपेक्षा अनन्तवर्ती भागका क्रम आया। ६०।”

४ द्वितीयोपशमकी अपेक्षा स्वामित्व

प्र ६/१,६-८,१४/२८/६ स पधि ओवसमियचारित्तप्पडिबज्जणिवाहणं वुच्चदे । त जघा—जो वेदगसम्माद्विही जीवो सो ताव पुव्वमेव अण्ठाणुषधी विसजोएदि । —अय औपशमिक चारित्रकी प्राप्तिके विधानको कहते हैं। वह इस प्रकार है—जो वेदक सम्यग्दृष्टि (४-७ गुणस्थानवर्ती) जीव है वह पूर्वमें ही अनन्तानुबन्धी चतुष्टयका वेदन करता है।

प्र १/१,१,२७/२१०/१ हस्व ताव उवसामण-विहि वत्तस्सामो । अण ता-णुपधि कोध-माण-माया-लोभ सम्मत्त सम्मामिच्छत्त-मिच्छत्तमिदि एदाओ सत्तपयडोओ असजवसम्माद्विह्णुह्णुडि जाव अप्पमत्तसजदो ति ताव एवेसु जो वा सोवाउवसामेदि । —पहले उपशम विधिको कहते हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्मत्तप्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व, तथा मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियोंका असयत सम्यग्दृष्टिसे अप्रमत्तसयत गुणस्थान तक इन चार गुणस्थानोंमें रहने वाला कोई भी जीव उपशम करनेवाला होता है।

प्र सा/पू/२०६/२६१ उपसमचरियाहिमुहा वेदगसम्मो अण विजोयित्ता । —उपशम सम्यक्त्वके सन्मुख भया वेदक सम्यग्दृष्टि जीव सो पहिले पूर्वोक्त विधानतः अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करि

गो क/जी प्र/६६०/७४३/४ तद्वितीयोपशमसम्यक्त्व वेदक सम्यग्दृष्टि-प्रमत्त एव करणत्रयपरिणामैः सप्तप्रकृतितरुपशमस्य गृहाति । —बहुरि द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी वेदक सम्यग्दृष्टि अप्रमत्त ही तीन करणके परिणामनिकरि सातौ प्रकृतिकी उपशमाय प्रहण करे है। (गो जी/जी प्र ७०४/१४१/१७) और भी दे सम्यग्दर्शन IV/३/२) प्र १/१,१,२७/२१४ विषेयार्थ —“लब्धिसार आदि ग्रन्थोंमें द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति अप्रमत्त-सयत गुणस्थान तक ही बतलायी है, किन्तु यहाँपर उपशमन विधिके कथनमें उसकी उत्पत्ति असयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्त-सयत गुणस्थान तक किसी भी एक गुण-स्थानमें बतलायी गयी है। धवलामे प्रतिपादित इस मतका उल्लेख श्वेताम्बर सम्प्रदायमें प्रचलित कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंमें देखनेमें आता है।”

५. द्वितीयोपशमकी अपेक्षा दर्शनमोह उपशम विधि

ल सा/पू/२०६-२१८/२६६-२७२ उवसमचरियाहिमुहा वेदगसम्मो अण विजोयित्ता । त्रतोमुहुत्तकाल अधापवत्तोऽपमत्तो य १२०६। ततो त्तिररणविहिणा देसनमोह समं खु उवसमदि । सम्मत्तप्पत्तिवा अण्ण च गुणसेदिकरणविही १२०६। सम्मत्त असत्तेज्जा समयपमद्धानुदीरणा होदि । तत्तो मुहत्तअत्ते दसनमोहतरे कुणई १२०६। सम्मत्तप्पत्तीए गुणसक्कमपूरणस्स कालादो । सखेज्जगुण काल विसोहिवद्दीहि । बद्ददि हु १२१७। तेण पर हायदि वा बद्ददि तव्वद्ददि विसुद्धोहि । उवसत्तरसणत्तियो होदि पमत्तापमत्तेसु । २१८ । —उपशम चारित्रिके सन्मुख भया वेदक सम्यग्दृष्टि जीव सो पहिले पूर्वोक्त विधानतः अनन्तानुबन्धीका विसंयोजनकरि अन्तर्मुहूर्त काल पर्यंत अथ प्रवृत्त अप्रमत्त कहिये स्वस्थान अप्रमत्त हो है। तहाँ प्रमत्त अप्रमत्त विषेहजारों चार गमनागमन करि पीछे अप्रमत्त विषे विश्रामकरे है (अन्तर्मुहूर्त काल पर्यंत वैसे ही परिणामोंके साथ टिका रहै है)। २०६। स्वस्थान अप्रमत्त विषे अन्तर्मुहूर्त विश्रामकरि तहाँ पीछे तीन करण विधान करि युगपत् दर्शनमोहकी उपशमावै है। तहाँ अपूर्वकरणका प्रथम समयतै लगाय प्रथमोपशमवत् गुणसंक्रमण बिना अन्य स्थिति व अनु-भाग काण्डकघात व गुणश्रेणी निर्जरा सर्व विधान जानना। अनन्तानु-बन्धीका विसंयोजन याकै हो है, ता विषे भी सर्व स्थिति खण्डनादि पूर्वोक्तवत् जानना। २०६। अनिवृत्तिकरण कालका सख्यातवर्ती भाग अवशेष रहे सम्यक्त्वमोहनीयके द्रव्यकी अपकर्षणकरि (उपरितन स्थितिमें, गुणश्रेणी आयाममें, और उदयावली विषे दीजिये है)। सो यहाँ उदयावली विषे दिया जो उदीरणाद्रव्य असख्यात समयप्रमत्त प्रमाण आवै है। यातै परे अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत भये दर्शनमोहका अन्तर करे है। २०६। प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिविषे पूर्व गुणसंक्रमण पूरणकाल (दे उपशम २/३) अन्तर्मुहूर्त मात्र कहा था, तातें सख्यात गुणा काल पर्यंत यह द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि प्रथम समयतै लगाय समय समय प्रति अनन्तगुणी विशुद्धताकरि भये है। ऐसे इहाँ एकान्तानुबन्धताकी वृद्धिका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र जानना। २१७। तिस एकान्तानुबन्धताकी वृद्धिका काल पीछे विशुद्धता करि घटे वा भये वा हानि वृद्धि बिना जैसा वा तैसा रहै किछु नियम नाहीं। ऐसे उपशमाए हैं तीन दर्शनमोह जानै ऐसा जीव बहुत बार प्रमत्त अप्र-मत्तनिविषे उन्मत्ति करि प्राप्त हो है। १२१८। (प्र ६/१,६ ८,१४/२८ २६२), (प्र १/१,१,२७/२१०-२१४), (गो जी/जी प्र ७०४/१४१/१७) (गो क/जी प्र ६६०/७४३/४)।

६. उपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीको संयोजनाके विधि

निवेद्ये सम्बन्धी दो मत

क पा २/१-१६/४१७/१ उवसमसम्मादिद्विस्स अण ताणुमधिचउक्कं विसजोएत्तस्स अप्पदर होदि त्ति तत्थ अप्पदरकालपरुवणा कायव्वा त्ति । ण उवसमसम्मादिद्विस्स अण ताणुमधिचउक्कं अण्ठाण्णो ए अभा-वादो । तदभावां कुदो णव्वदे । उवसमसम्मादिद्विस्स अण्ठाण्णो एव च

परुषेमाण उच्चारणादिरियवयणादो जठ्वये । उपसमसम्मादिद्विम्भि
अणं ताणुम धिचउल्ल विसजोयणं भणत् आहरियवणेण विरुज्झमाणमेद
वयणमप्पमाणभावं किं ण दुल्लदि । सच्चमेदं जदि सं सुत्तं होदि । सुत्तेण
वक्खणं वाहिज्जदि ण वक्खलायेण वक्खलाण । एत्थ पुण दो वि उपवसा
परुषेयव्वा दोहमेहदरस्स सुत्ताणुसारित्तियगमाभावादो । किमट्टमुव-
समसम्मादिद्विम्भि अण ताणुम धिचउल्ल विसजोयणा गत्थि । उपसम-
सम्मतकालं पेत्थिय अण ताणुम धिचउल्लस्स बहुत्तादो अण ताणुम धि-
विसजोयणपरिणामाण सत्थाभावादो वा । एष पुण विसजोयणापयत्ता
चेव पहाणभावेणावलमियव्वो पयाइज्झमाणत्तादो चउयोससत्तयम्मि-
यस्स सादिरियवेध्वावट्टिसागरोयममेत्तकालपरुषय सुत्ताणुसारित्तादो
च । प्रश्न—जो उपशमसम्यग्दृष्टि चार अनन्तानुबन्धीयो विस-
योजना करता है उसके अवपत्तर विभक्तिस्थान पाया जाता है, इस-
लिए उपशम सम्यग्दृष्टिमें अवपत्तर विभक्तिस्थानके कालकी प्ररूपणा
करनी चाहिए । उत्तर—नहीं, क्योंकि उपशमसम्यग्दृष्टि जोवके
अनन्तानुबन्धी चारकी विसंयोजना नहीं पायी जाती है । प्रश्न—
'उपशमसम्यग्दृष्टि जोवके अनन्तानुबन्धी चारकी विसयाजना नहीं
होती है' यह किस प्रमाणसे जाना जाता है । उत्तर—'उपशम-
सम्यग्दृष्टिके एक अवस्थित पद ही होता है' इस प्रकार प्रतिपादन
करनेवाले उच्चारणाचार्यके वचनसे जाना जाता है । प्रश्न—'उपशम-
सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धी चारकी विसंयोजना होती है' इस प्रकार
कथन करनेवाले आचार्यवचनके साथ यह उक्त वचन विरोधकी प्राप्त
होता है इसलिए यह वचन अप्रमाण क्यों नहीं है । उत्तर—यदि
उपशमसम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धी चारकी विसयाजनाका कथन
करनेवाला वचन सूत्र वचन होता ता यह कहना सत्य होता, क्योंकि
सूत्रके द्वारा व्याख्यान (टीका) बाधित हो जाता है । परन्तु एक
व्याख्यानके द्वारा दूसरा व्याख्यान बाधित नहीं होता इसलिए 'उप-
शम सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना नहीं होती है' यह
वचन अप्रमाण नहीं है । फिर भी यहाँपर दोनों ही उपदेशाका प्ररूपण
करना चाहिए, क्योंकि दोनोंमें से अमुक उपदेश सूत्रानुसारी है
इस प्रकारके ज्ञान करनेका कोई साधन नहीं पाया जाता है । प्रश्न—
उपशमसम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धी चारकी विसयाजना क्यों नहीं
होती है । उत्तर—उपशम सम्यक्त्वके कालकी अपेक्षा अनन्तानुबन्धी-
चतुष्ककी विसंयोजनाका काल अधिक है, अथवा वहाँ अनन्ता-
नुबन्धीकी विसंयोजनाके कारणभूत परिणाम नहीं पाये जाते हैं ।
इससे प्रतीत होता है कि उपशमसम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धीकी
विमयाजना नहीं होती है । फिर भी यहाँ उपशमसम्यग्दृष्टिके
अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना होती है' यह पक्ष ही प्रधान रूपसे
स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि इस प्रकारका उपदेश परम्परासे है ।

३. चारित्र्यमोहका उपशम विधान

१. चारित्र्यमोहकी उपशम विधि

ल सा २१७-३०३/२६-२८४ एष पमत्तमियर परावत्तिसहस्सत्तु कादूण ।
इयवोसमोहणीयं उवसमदिण अण्णपयटोसु । २१६ । तिकरणमधोसरणी
क्रमकरण देशधादिकरण च । अत्तरकरणमुपशमकरणं उपशमामने
भवति । २२० । —पेसँ (द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति पश्चात्)
अप्रमत्तसँ प्रमत्तविषं प्रमत्तसँ अप्रमत्तविषं हजारों धार पलटनिकरि
अनताणुमधोचतुष्क विना अवशेष इकईस चारित्र्यमोहकी प्रकृतिके
उपशमावनेका उद्यम करे है । अन्य प्रकृतितनिका उपशम होता नहीं,
जाते तिनिके उपशम करना है । २१६ । अध करण, अपूर्वकरण,
अनिवृत्तिकरण ए तीन करण अर, स्थितिपन्थापसरण, क्रमकरण,
देशधातिरण अनन्तरकरण उपशमकरण ऐसे आठ अधिकार
चारित्र्यमोह उपशमविधान विषे पाए है । तहाँ अध करण
सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि करे है । साका लमण वा साका
कीया वाय जैसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी सन्मुख होते वर है सँसे

इहाँ भी जानना । विशेष इतना—इहाँसंयमोके सभवे ऐसी प्रकृतितनिका
कन्ध व उदय करना । अर अनन्तानुबन्धी चतुष्क, नरक, धियं च
आयु विना अन्य प्रकृतितनिका सत्य करना । २२१ ।

घ १/१, २२७/२११/३ अपुव्वकरणे ण एक्कं पि कम्ममुवसमदि । किं
अपुव्वकरणो पडिसमयमणं तुगुण-विसाहिए वल्लुत्तो अतोमुहुत्तेण तो-
मुहुत्तेण एक्केक्कं द्विदि-लख्यं धावेन्तो सखेज्जसहस्साणि टिट्ठिदिह
याणि धावेदि, तत्तियमेत्ताणि टिट्ठिदि मधोसरणाणि वरेदि । एवमेक
टिट्ठिदि लख्य-कालम्भत्तरे सखेज्ज सहस्साणि अणुभाग-लखयाणि
धावेदि । पडिसमयमस खेज्जगुणाए सटोए पधेम-णिउज्जरं वरेदि । जे
अप्पसरथ-कम्मसे ण थधि तेसि पधसगसखेज्ज गुणोए सेटोए अण्ण-
पयडीसु जज्झमाणियासु सकामेदि । पुणो अपुव्वकरणे कालेज्ज
अणियटि-गुणट्ठाणि पयिसिज्ज तासुमुहुत्तमणेणैव विहाणेणाच्चिय
भारस कसाय-णव-णाकसायाणमतर् अन्तामुहुत्तेण वरेदि । अतरे कदे
पढम समयो उवरि अतामुहुत्त गत्तुण असखेज्ज-गुणाए सेटिए
णउ सय-वेदमुवसामेदि । तदा अतोमुहुत्त गत्तुण गवु सयवेदमुवसा-
मिद विहाणेणिरथवेदमुवसामेदि । तदो अतामुहुत्त गत्तुण तेणैव विहाणा
छण्णोवसाए पुरिसवेद-चिराण-सत्त कम्मणे सह जुगवं उवसामेदि ।
तत्ता उवरि समज्ज-दाआवलिआओ गत्तुण पुरिसवेदणवक
मधुमुवसामेदि । तत्ता अतोमुहुत्तमुवसरिगत्तुण पडिसमयम-
सखेज्जाए गुणसेटिए अपचयखाण पचयखाणावरणसणिदे दोणि वि
कोधे-कोध-सज्जलण-चिराण संतकम्मणे सह जुगवमुवसामेदि । तत्तो
उवरि दो आवलिआओ समज्जाओ गत्तुण कोध-सज्जलण-णवक-मध-
मुवसामेदि । तदा अतोमुहुत्त गत्तुण तेसि चेव दुविह माणमसखेज्जाए
गुणसेटोए माणसज्जलण चिराण संत-कम्मणे सह जुगवं उवसामेदि ।
तदा समज्ज-दो-आवलिआओ गत्तुण माणसज्जलणमुवसामेदि । तदो
पडिसमयमसखेज्जगुणाए सेटोए उवसामेत्तो अतामुहुत्त गत्तुण दुविह
माय माया सज्जलण-चिराण सत्तकम्मणे सह जुगव उवसामेदि । तदो
दो आवलिआओ समज्जाओ गत्तुण माया सज्जलणमुवसामेदि । तदो
समयं पडि असखेज्जगुणाए सेटोए पधेसमुवसामेत्तो अतोमुहुत्त गत्तुण
लोभ-सज्जलण-चिराण-सत्त कम्मणे सह पचयखाणापचयखाणावरण-
दुविह लोभ लोभ-वेदगद्दाए विदिय-ति-भागे सुहमयिट्ठोओ करेत्तो
उवसामेदि । सुहमयिट्ठि मात्तुण अवस्सा मादरलोभा फइयं गदो
सव्वा णवकमधुच्छिद्रावलिअ वज्जो अणियटि चरिमसमए उवसत्तो
णवसयवेदप्पहुडि जाव बादरलाभसज्जलणो त्ति ताव एदासि पयडीण-
मणियट्ठो उवसामागो हादि । तदो णत्तर-समए सुहमयिट्ठि सरुव
लोभ वेदत्ता णट्ट अणियटि सण्णो सुहमसंपरादयो हादि । तदो सो
अपणो चरिम समए सोहसज्जलणं सुहमयिट्ठि-सरुव णिस्सेसमुव-
सामिय उवसत्त-कसाय वीदराण-छट्टमथा हादि । एसा मोहणीयस्स
उवसामण-विही । "—अपूर्वकरण गुणस्थानमें एक भी कमा उपशम
नहीं होता किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थानवाला जीव प्रत्येक समयमें
अनन्तगुणी विशुद्धिसे ऋता हुआ एक एक अन्तर्मुहूर्तमें एक एक
स्थिति लब्धका घात करता हुआ सत्प्राप्त हजार स्थिति लब्धोंका
घात करता है । और उतने ही स्थितिपन्थापसरणोंको करता है ।
तथा एक एक स्थिति लब्धके कालमें सत्प्राप्त हजार अनुभाग लब्धों-
का घात करता है और प्रतिमय असरयात्त गृणित-प्रेणीरूपसे
प्रदेशकी निर्जरा करता है, तथा जिन अश्रास प्रकृतियोंका कन्ध
नहीं होता है, उनकी कर्मवर्गणाओंको उस समय बधनेवाली अन्य
प्रकृतियोंमें असरयात्तगृणित प्रेणीरूपसे संक्रमण कर देता है । इस
सह अपूर्वकरण गुणस्थानको छल्लन करके और अनिवृत्तिकरण
गुणस्थानमें प्रवेश करके, एक अन्तर्मुहूर्त पूर्वोक्त विधिसे रहता है ।
सत्पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त कालक द्वारा बारह वषाय और नौ
नाकपाय इनका अन्तर (करण) करता है । (यहाँ क्रमकरण करता
है । अर्थात् विशेष क्रमसे स्थितियन्त्रको घटाता हुआ उन २१
प्रकृतियोंका पश्यमात्र स्थितिपन्ध करन लगता है । (ल/सा २२७-

२३८) अन्तरकरण विधिके हो जानेके पश्चात् क्रमकरण करता है अर्थात् क्रमपूर्वक इन २१ प्रकृतियोंका उपशम करता है। १) प्रथम समयसे लेकर ऊपर अन्तर्मुहूर्त जाकर असख्यातगुणश्रेणीके द्वारा 'नपु सकवेदका' उपशम करता है। तदनन्तर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर 'स्त्रीवेदका' उपशम करता है। फिर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर 'पुरुषवेद' के एक समय घाट दो आवलीमात्र नवक समयप्रबद्धोंको छोड़कर बाकी सम्पूर्ण प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मके साथ 'छह नोकपायोंका' (युगपत्) उपशम करता है। इसके आगे एक समय कम दो आवली काल धिताकर पुरुषवेदके नवक समय प्रबद्धका उपशम करता है। इसके पश्चात् (पुरुषवेदवद् ही) पहिले प्राचीन सत्ताका और फिर नवक समयप्रबद्धका उपशम करनेके क्रमपूर्वक असख्यातगुणश्रेणीके द्वारा सञ्चलन क्रोध के साथ 'अप्रत्यारयान और प्रत्याख्यान क्रोधोंका' फिर इसी प्रकार 'तीनों मानव मायाका' उपशम करता है। तत्पश्चात् प्रत्येक समयमें असख्यात गुणश्रेणीरूपसे कर्म प्रदेशोंका उपशम करता हुआ, लोभवेदकके दूसरे त्रिभागमें सूक्ष्मकृष्टिको करता हुआ 'सञ्चलन लोभ' के नवक समय प्रबद्धोंको छोड़कर प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मोंके साथ प्रत्याख्यान व अप्रत्यारयान इन दोनों लोभोंका एक अन्तर्मुहूर्तमें उपशम करता है। इस तरह सूक्ष्मकृष्टिगत लोभको छोड़कर और एक समय कम दो आवलीमात्र नवक समय प्रबद्ध तथा उच्छिष्टावली मात्र निपेकोंको छोड़कर शेष न्यर्घकगत सम्पूर्ण बादर लाभ अनिवृत्ति करके चरम समयमें उपशान्त हो जाता है। इस प्रकार नपुसकवेदसे लेकर जब तक बादर सञ्चलन लोभ रहता है तब तक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाला जीव इन पूर्वोक्त प्रकृतियोंका उपशम करनेवाला होता है। इसके अनन्तर समयमें जो सूक्ष्मकृष्टिगत लोभका अनुभव करता है और जिसने 'अनिवृत्ति' इस सज्ञाको नष्ट कर दिया है, ऐसा जीव सूक्ष्मासम्पराय गुणस्थानवर्ती होता है। तदनन्तर वह अपने कालके चरम समयमें सूक्ष्मकृष्टिगत सम्पूर्ण लाभ सञ्चलनका उपशम करके उपशान्तकथाय बौतराग क्षयस्थ होता है। इस प्रकार मोहनीयकी उपशम विधिका वर्णन समाप्त हुआ। (घ ६/१, ६-६, १४/२६२-३१६)

४ उपशम सम्बन्धी कुछ नियम व शर्काएँ

१ अन्तरायामसे प्रवेश करनेसे पहले मिथ्यात्व ही रहता है

घ ६/१, ६-६, ६/२४० मिच्छसत्वेदीयं कम्म उवसामगरस बोद्धव्व । उवसंते आसाणे तेण पर होइ भयणिज्ज । — उपशमकके जब तक अन्तर प्रवेश नहीं होता है तब तक मिथ्यात्ववेदनीय कर्मका उदय जानना चाहिए। दर्शनमोहनीयके उपशान्त होनेपर, अर्थात् उपशम सम्यक्त्वके कालमें, और सासादन कालमें मिथ्यात्व कर्मका उदय नहीं रहता है। किन्तु उपशम सम्यक्त्वका काल समाप्त होनेपर मिथ्यात्वका उदय भजनीय है, अर्थात् किसीके उसका उदय भी होता है और किसीको नहीं भी होता है (मिश्रप्रकृति या सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय हो जाता है)।

२. उपशान्त द्रव्यका अवस्थान अपूर्वकरण तक ही है ऊपर नहीं

गो क/जी प्र ४४०/४६६/४ यत् उपशान्तद्रव्यं उदयावश्यं निशेप्तु-मशक्यं तत् अपूर्वकरणगुणस्थानपर्यन्तमेव स्यात् । तदुपरि गुण-स्थानेषु यथासम्भवं शक्यमिरय्यर्थ । — उपशान्त द्रव्यका उदयावली-में प्राप्त करनेको समर्थ न होनेका नियम अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यन्त हो होता है। उसके ऊपरके गुणस्थानमें यथासम्भवं शक्य है।

३. नवक प्रबद्धका एक आवलीपर्यन्त उपशम सम्भव नहीं

घ १/१, २०/२६ विरोधार्थं/१३ जिन कर्मप्रकृतियोंको बन्ध, उदय और संश्व व्युच्छिष्टि एक साथ होती है, उनके बन्ध और उदय

व्युच्छिष्टिके कालमें एक समय कम दो आवली मात्र नवक समय प्रबद्ध रह जाते हैं। (दे उपशम ३) जिनकी सत्त्व व्युच्छिष्टि अनन्तर होती है वह इस प्रकार है कि विवक्षित (पुरुषवेद आदि) प्रकृतिके उपशम या क्षण होनेके दो आवली काल अवशिष्ट रह जानेपर द्विचरमावलीके प्रथम समयमें बन्धे हुए द्रव्यका, बन्धावलीको व्यतीत करके चरमावलीके प्रथम समयसे लेकर, प्रत्येक समयमें एक फालिका उपशम या क्षय होता हुआ चरमावलीके अन्त समयमें सम्पूर्ण रीतिसे उपशम या क्षय होता है। तथा द्विचरमावलीके द्वितीय समयमें जो द्रव्य बन्धता है उसका चरमावलीके द्वितीय समयसे लेकर अन्त समय तक उपशम या क्षय होता हुआ अन्तिम फालिका छाड़कर सबका उपशम या क्षय होता है। इसी प्रकार द्विचरमावलीके तृतीयादि समयमें बन्धे हुए द्रव्यका बन्धावलीका व्यतीत करके, चरमावलीके तृतीयादि समयसे लेकर एक-एक फालिका उपशम या क्षय होता हुआ क्रमसे दो आदि फालिरूप द्रव्यको छोड़कर शेष सत्त्वका उपशम या क्षय होता है। तथा चरमावलीके प्रथमादि समयोंमें बन्धे हुए द्रव्यका उपशम या क्षय नहीं होता है, क्योंकि, बन्ध हुए द्रव्यका एक आवली तक उपशम नहीं होता ऐसा नियम है। इस प्रकार चरमावलीका सम्पूर्ण द्रव्य और द्विचरमावलीका एक समय कम आवली मात्र द्रव्य उपशम या क्षय रहित रहता है, जिसका प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मके उपशम या क्षय हो जानेके पश्चात् ही उपशम या क्षय होता है।

४. उपशमन काल सम्बन्धी शर्का

प्रश्न—ल सा/जी प्र ८७ के अनुसार प्रथम स्थितिके प्रथम समयसे लेकर उसके अन्तिम समय तक प्रति समय द्वितीय स्थितिके द्रव्यको उपशमाता है। परन्तु ल सा/जी प्र ६४ के अनुसार प्रथम स्थितिके कालसे दशनमोहको उपशमाने काल समयकम दो आवली मात्र अधिक है। इन दोनों कथनामें विरोध प्रतीत होता है। उत्तर—पहिले कथनमें नवीन बन्धकी विवक्षा नहीं है और दूसरेमें नवीन बन्धकी विवक्षा है। जो बन्ध हुए पीछे एक आवली तक तो अचल रहता है और उसके आगे एक आवली उसको उपशमाने लगता है। (देखो इससे पहिला शीर्षक)।

५ उपशम विषयक रूपाणाएँ

- * मूलोत्तर प्रकृतियोंकी प्रशस्त व अप्रशस्त उमशमनाका नाना जीवापेक्षा भग विचय — दे घ १५/५ २७७-२८०
- * मूलोत्तर प्रकृतियोंकी स्थिति उपशमना सम्बन्धी समु-त्कीर्तना व भग विचय — दे घ १६/५ २८०-२८१
- * मूलोत्तर प्रकृतियोंकी अनुभाग उपशमना सम्बन्धी समु-त्कीर्तना व भग विचय — दे घ ११/५ २८२
- * मूलोत्तर प्रकृतियोंकी प्रदेश उपशमना सम्बन्धी समु-त्कीर्तना व भग विचय — दे घ १६/५ २८२

६ औपशमिक भाव निर्देश

१. औपशमिक भावका लक्षण

स सि २/१/१४६/६ "उपशम प्रयोजनमस्येयोपशमिक।" — जिस भावका प्रयोजन अर्थात् कारण उपशम है वह औपशमिक भाव है। (रा वा २/१/६/१००/२३)

घ १/१, २०/२६/१२ तेषामुपशमादीपशमिक । गुणसहचरित्वा-दास्मापि गुणरुक्षां प्रतिभते । — जो कर्मोंके उपशमसे उत्पन्न होता है उसे औपशमिक भाव कहते हैं। (शर्को) गुणोंके साहचर्यसे आरम्भ भी गुणसज्ञाको प्राप्त होता है। (घ ६/१, ७, १/६८१/१), (घ ६/

१, ७, ८/१ (गो क/मू ८१४/६८७), (गो जी/मी प्र ८१६/१३)
(व घ/उ ६६७)।

प का/त प्र ६६/१०६ उपशमेन युक्त औपशमिक । —उपशमसे युक्त
(भाव) औपशमिक है।

स सा/ता वृ ३२० आगमभाष्यौपशमिकक्षायोपशमिक-क्षणिकभावन-
प्रयं भण्यते । अद्यारमभाषया पुन शुद्धाभिमुखपरिणाम शुद्धोपयोग
इत्यादि पर्यायसज्ञा लभते । —आगम भाषामें जो औपशमिक
क्षायोपशमिक या क्षायिक ये तीन भाव कहे जाते हैं, वे ही अद्यारम
भाषामें शुद्धाभिमुख परिणाम या शुद्धोपयोग आदि संज्ञाओंको प्राप्त
होते हैं।

२ औपशमिक भावके भेद-प्रभेद

प ख १४/१, ६/सू १७/१४ जो सो ओवसमिओ अविवागपञ्चहओ जीव-
भावबंधो णाम तत्स इमो णिहोसो—से उवसतकोहे उवसतमाणे
उवसतमाए उवसतलोहे उवसतरागे उवसतदोसे उवसतमोहे उवसत-
कसायवीरयायछुमस्ये उवसमियं सम्मत्त, उवसमिय चारित्त, जे
चामण्णे एवमादिया उवसमिया भावा सा सब्बो उवसमियो अवि-
वागपञ्चहयो जीव भावबंधो णाम । १७ । —जो औपशमिक अविवाक-
प्रत्ययिक जीव भावबंध है उसका निर्देश इस प्रकार है—उपशान्त-
क्रोध, उपशान्त मान, उपशान्त माया, उपशान्त लोभ, उपशान्तराग,
उपशान्त दोष (द्वेष), उपशान्तमोह, उपशान्तकपाय बीतराग-
छद्मस्थ, औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र, तथा इनसे
लेकर जितने (अन्य भी) औपशमिक भाव हैं, वह सब औपशमिक
अविवाकप्रत्ययिक जीवभावबंध है । १७।

त सू २/३ “सम्यक्त्वचारित्रे । ३ ।” —औपशमिक भावके दो भेद हैं
औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र । (स सि २/१/१६२/
६), (न, च वृ ३७०), (त सा २/६), (गो क/मू ८१६/६८८)

घ ४/१, ७, १/७ व टीका/१६० “सम्मत्त चारित्त दो चैय दठाणा-
इमुवसमं होति । अट्ठ विषया य त्था कोहाइया मुणेदब्बा । ७।
ओवसमियस्स भावस्स सम्मत्त चारित्त चेदि दाणिं दठाणाणि ।
कुदो । उवसमसम्मत्त उवसमचारित्तमिदि बोधं चे उवलंभा ।
उवसमसम्मत्तमेयविह । ओवसमिय चारित्त सत्तविहं । त जहा—
णवु सयवेदुवसामणद, ए एय चारित्त, इरियवेदुवसामणदए विदिय
पुरिस-छण्णोक्सायउवससमासमणदए तदिअ, कोहुवसामणदए च-
उरयं, माधुवसामणदए पचम, मावोवसामणदए छट्ठं, लोहुवसाम-
णदए सत्तमोवसमिय चारित्त । मिण्णक्खणिगेण वारणभेददिट्ठोदो
उवसमिय चारित्त सत्तविह उत । अण्णहा पुण आणेयपरारं, समयं
पठि उवसमसेडिहि पुष पुष असखेज्जगुणसेडिणिज्जराणिमित्तपरिण-
मुवलंभा ।” —औपशमिक भावमें सम्यक्त्व और चारित्र ये दो ही
स्थान होते हैं । तथा औपशमिक भावके विक्षेप आठ होते हैं, जो-
कि क्रोधादि कपायोंके उपशमन रूप जानना चाहिए । ७। औप-
शमिक भावके सम्यक्त्व और चारित्र ये दो ही स्थान होते हैं, क्योंकि
औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ये दो ही भाव पाये जाते
हैं । इनमेंसे औपशमिक सम्यक्त्व एक प्रकारका है और औपशमिक
चारित्र सात प्रकारका है । जैसे—नपु सववेदके उपशमन कालमें एक
चारित्र, स्त्री वेदके उपशमन कालमें दूसरा चारित्र, पुरुषवेद और छ
नौकपायोंके उपशमन कालमें तीसरा चारित्र, क्रोधसज्जलनके उप-
शमनकालमें चौथा चारित्र, मानसज्जलनके उपशमनकालमें पाँचवाँ
चारित्र, मायासज्जलनके उपशमनकालमें छठा चारित्र और लोभ-
सज्जलनके उपशमनकालमें सातवाँ औपशमिक चारित्र होता है ।
भिन्न-भिन्न कार्योंके लिंगसे कारणोंमें भी भेदकी सिद्धि होती है, इस-
लिए औपशमिक चारित्र सात प्रकारका कहा है । अन्यथा अर्थात् उक्त
प्रकारकी विवक्षा न की जाय तो, वह अनेक प्रकार है, क्योंकि,
प्रति समय उपशम श्रेणीमें पृथक्-पृथक् असख्यात गुणश्रेणी निर्जराके
निमित्तभूत परिणाम पाये जाते हैं ।

उपशम चारित्र—२ चारित्र १ ।

उपशम श्रेणी—२ श्रेणी ३ ।

उपशम सत्त्व काल—२ काल १ ।

उपशम सम्यक्त्व—२ सम्यग्दर्शन IV/२

उपशात कर्म—घ १०/२, २, १०, २/३०२/६ द्वाभ्यामाभ्यां व्यति

रित्त कर्मपुद्गलस्कन्ध उपशान्त । —इन दोनों उदीरणा या उदय
तथा मग्नसे व्यतिरिक्त कर्म पुद्गलस्कन्ध उपशान्त है ।

गो क/जे प्र ४४०/४६३/३ “यत्कर्म उदयावसनी नित्येणुमशय तदुप-
शान्त नाम ।” —जो कर्म उदयावसनी विषे प्राप्त करनेकी समर्थ न
हूजे मो उपशान्त कहिये ।

उपशान्त कपाय—व स/प्रा १/२४ कनयाहलं जल वा सरए सर-
वाणिय ध मिम्मसयं । मयनोवसंतमोहो उपसंतकपाय होइ । २४।
—कतकफलसे सहित जल, अथवा शरद्वकानमें मग्नवरका पानी जिस
प्रकार निर्मल होता है, उसी प्रकार जिसका सम्पूर्ण मोहकर्म सर्वथा
उपशान्त हो गया है, ऐसा उपशान्तकपाय गुणस्थानवर्ती जीव अत्यन्त
निर्मल परिणामवाला होता है । २४। (घ १/१ १६/गा १२२/१८६)
(गो जी/मू ६१/१६१), (प स सं १/४७) ।

रा वा ६/१/२२/४८०/१६ सर्वस्योपशमात् उपशान्तकपाय । —समस्त
मोहका उपशम करनेवाला उपशान्त कपाय है । (प्र स/टी १३/३६/६)
घ १/१ १, १६/१८८/१ उपशान्त कपायो येपां ते उपशान्तकपाया ।
वीथो विनष्टो रागो येपां ते वीतरागा । छप्प ज्ञानद्वारावरो तत्र
सिद्धन्तीति छप्पस्था । वीतरागाश्च ते छप्पस्था वीतरागछप्पस्था ।
एतेन सरागछप्पस्थानिराकतिरवगन्तव्या । उपशान्तकपायाश्च ते वीत-
रागछप्पस्थाश्च उपशान्तकपायवीतरागछप्पस्था । —जिनकी कपाय
उपशान्त हो गयी है उन्हें उपशान्तकपाय कहते हैं । जिनका राग
नष्ट हो गया है उन्हें वीतराग कहते हैं । ‘छप्प ज्ञानावरण और
दर्शनावरणको बहते हैं उनमें जो रहते हैं उन्हें छप्पस्थ कहते हैं । जो
वीतराग होते हुए भी छप्पस्थ होते हैं उन्हें वीतराग छप्पस्थ कहते हैं ।
इसमें आये हुए वीतराग विद्वेषसे दृढ़ गुणस्थान स्वयं स्वराग-
छप्पस्थोंका निराकरण समझना चाहिए । जो उपशान्तकपाय होते
हुए भी वीतराग छप्पस्थ होते हैं उन्हें उपशान्तकपाय वीतराग छप्पस्थ
कहते हैं ।

२ इस गुणस्थानमें चारित्र औपशमिक होता है और
सम्यक्त्व औपशमिक या क्षायिक

घ १/१ १६/१८६/२ एतस्योपशमितामेषकपायवाऔपशमिक सम्य-
क्त्वपेक्षया क्षायिक औपशमिको वा गुण । —इस गुणस्थानमें सम्पूर्ण
कपाय उपशान्त हो जाती है इसलिए (चारित्र मोहकी अपेक्षा) इसमें
औपशमिक भाव है । तथा सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा औपशमिक और
क्षायिक दोनों भाव हैं ।

३ उपशान्त कपाय गुणस्थानकी स्थिति

ल सा/जी प्र ३७३/४६१ तत्त सुदभवग्रहण विशेषाधिकं । तत्त उपशान्त-
कपाय कानो द्विगुण ।” —नपु सववेद उपशमावनेके कालसे सुदभव-
का काल विशेष अधिक है, सो यह एक श्वासके अठारहवें भागमात्र
है । ३७३। तिस सुदभवसे उपशान्तकपायका काल दूना है ।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

* उपशम व क्षपक श्रेणी —दे श्रेणी ३, ४

* इस गुणस्थानकी पुन पुन प्रातिकी सीमा —दे समय २

* इस गुणस्थानसे गिरने सम्बन्धी —दे श्रेणी ४

* यहाँ मरण सम्भव है पर देवगतिमें ही उपज
—दे मरण ३

* इस गुणस्थानमें कर्म प्रकृतियोंके वन्ध उदय सत्त्वादि प्ररूपणाएँ —दे वह वह नाम

* सभी गुणस्थानोंमें आयके अनुसार ही व्यय होता है —दे मार्गणा

* इस गुणस्थानमें सम्भव मार्गणास्थान जीवसमास आदि २० प्ररूपणाएँ —दे सत्

* इस गुणस्थानकी सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पवहुत्व सम्बन्धी आठ प्ररूपणाएँ —दे वह वह नाम

उपशामक—स सि १/४४/४६१ एव स' क्षायिकसम्यग्दृष्टिपूर्वा श्रेण्यारोहणाभिमुखचारित्रमोहोपशम प्रति व्याप्रियमाणो विशुद्धि-प्रकर्षयोगादुपशमकव्यपदेशमनुभवन् पूर्वोक्तादसत्येयगुणनिर्जरो भवति ।—इस प्रकार वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर श्रेणीपर आरोहण करनेके समुत्पन्न होता हुआ तत्ता चारित्रमोहनीयके उपशम करनेके लिए प्रयत्न करता हुआ विशुद्धिके प्रकर्षवश 'उपशामक' सज्ञाको अनुभव करता हुआ पहले कही गयी निर्जरासे असत्येय गुण निर्जरा-वाला होता है ।

घ १/१२/२७/२२४/८ जे पुण तेसि चैव उवसामणम्हि वावदा ते उव-सामगा ।—जो जीव कर्मोंके उपशमन करनेमें व्यापार करते हैं उन्हें उपशामक कहते हैं ।

क पा १/१-१८/११६/२४७/८ उवसमसेहि चट्टमाणेण मोहणीयस्स अंतरकरणं कदे सो 'उवसामओ' त्ति भण्णदि ।—उपशमश्रेणीपर चढ़नेवाला जीव चारित्रमोहका अन्तरकरण कर लेनेपर उपशामक कहा जाता है । (घ ६/१६-८, ६/२३२/६) ।

२. उपशामकके भेद

उपशामक दो प्रकारका होता है—अपूर्वकरण उपशामक और अनिवृत्तिकरण उपशामक ।

उपसंपदा—म आ /वि ४०६-४१४ तियरणसव्वावासयपठिण्ण तस्स किरिय किरियम्म । विणएणमजलिकदो वाइयवसम इम भणदि । ४०६। पुण्णजादी सव्व काट्ठालोयण सुपरिमुद्ध । दसणणचारित्ते गिसण्लो विहरिदु इच्छे । ४११। अच्छाहि ताम सुविदिद बोसथो मा य होहि उव्वादो । पडिचरपहि समता इणमट्ठ सपहारोमो । ४१४। —मन वचन और शरीरके द्वारा सर्व सामायिक आदि छि आवश्यक कर्म जिसमें पूर्णताको प्राप्त हुए हैं ऐसा कृतिकर्म कर अर्थात् वन्दना करके विनयके साथ क्षपक हाथ जोड़कर श्रेष्ठ आचार्यको आगे खिखे हुए सूत्रके अनुसार विज्ञप्ति देता है । ४०६। दीक्षा ग्रहणकालसे आज तक जो जो व्रतादिकोंमें दोष उत्पन्न हुए हों उनकी मैं दक्ष दोषोंसे रहित आलोचना कर दर्शन ज्ञान और चारित्रमें नि शक्य होकर प्रवृत्ति करनेकी इच्छा करता हूँ । ४११। हे क्षपक, अय तुम नि शक होकर हमारे सधमें ठहरा, अपने मनमेंसे खिन्नताको दूर भगाओ । हम प्रति-चारकोंके साथ तुम्हारे विषयमें अवश्य विचार करेंगे । (ऐसा आचार्य उत्तर देते हैं) । इस प्रकार उपसंपाधिकार समाप्त हुआ ।

म आ /वि ४०६ की उत्थानिका ७२८ गुरुकुले आत्मनिसर्ग उपसंपा नाम समाचार ।

म आ /वि ६८/१६६/६ उपसपया आचार्यस्य औकनं —गुरुकुलमें अपना आत्मसमर्पण करना यह उपसंपा शब्दका अभिप्राय है । ४०६। आचार्यके चरणमूलमें गमन करना उपसंपदा है । ६८।

उपसयत—दे समाचार

उपसमुद्र—म पु २८/४६ बहि समुद्रमुद्रितं द्वैप्प निम्नोपणं जलम् । समुद्रत्येव निष्पदस् अन्धेराराद् व्यसोकयत् । ४६। —उन्होंने

(भारत चक्रवर्तीकी सेनाने) समुद्रके समीप ही समुद्रसे बाहर उछल-उछल कर गहरे स्थान में इकट्ठे हुए द्वीप सम्बन्धी उस जलको देखा जो कि समुद्रके निष्पदके समान माक्ष्म होता था । अर्थात् समुद्रका जो जल उछल उछल कर समुद्र के समीप ही किसी गहरे स्थानमें इकट्ठा हो जाता है वही उपसमुद्र कहलाता है ।

उपसर्ग—तीर्थकटोंपर भी कदाचित् उपसर्ग आते हैं—दे तीर्थकर १

उपस्थ—उपस्थ इन्द्रियकी प्रधानता—दे संयम २ ।

उपस्थापना—१ छेदोपस्थापना चारित्र—दे छेदोपस्थापना, २ उपस्थापना प्रायश्चित्त—दे प्रायश्चित्त ।

उपात्त—रा बा १/११/६/१२(२४) उपात्तानीन्द्रियाणि मनश्च, अनु-पात्त प्रकाशोपदेशादिपर तत्प्राधान्यादवगम परोक्ष । —उपात्त इन्द्रियाँ व मन तथा अनुपात्त प्रकाश उपदेशादि पर हैं । परकी प्रधानतासे होनेवाला ज्ञान परोक्ष है ।

रा बा ६/७/१/६००/७ आरमाना रागादिपरिणामास्मानाकर्मनोर्कर्मभावेन गृहीतानि उपात्तानि पुद्गलद्रव्याणि, अनुपात्तानि परमाणादीनि, तेषां सर्वेषां द्रव्यारमना निरयत्स पर्यायारमना सततमनुपरतभेदसंसर्ग वृत्तिरवादिनिरयत्सम् । —आरमाके रागादि परिणामोंसे कर्म और नो-कर्म रूपमें जिन पुद्गल द्रव्योंका ग्रहण किया जाता है वे उपात्त पुद्गलद्रव्य तथा परमाणु आदि अनुपात्त पुद्गल सभी द्रव्यदृष्टिसे निरय और भी पर्याय दृष्टिसे प्रतिक्षण पर्याय परिवर्तन होनेसे अनिरय हैं ।

उपादान—न्या वि /वृ १/१३३/४८६/४ विविक्षतं वस्तु उपादानम् उत्तरस्य कार्यस्य सजातीयं कारण प्रकल्पयेत् ।—विवक्षित उत्तर कार्यका सजातीय कारण कल्पित किया गया है ।

अष्टसहस्रो/पृ २१० रयत्कारयत्कारयरूप यस्त्वंपूर्वपूर्वेण वर्तते । कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् । यत् स्वरूपं रयजयेव यन्न रयजति सर्वथा । तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वत यथा ।—जो (द्रव्य) तीनों कालोंमें अपने रूपको छोड़ता हुआ और नहीं छोड़ता हुआ पूर्व रूपसे और अपूर्व रूपसे वर्त रहा है वह उपादान कारण है, ऐसा जानना चाहिए । जो अपने स्वरूपको छोड़ता ही है और जो उसे सर्वथा नहीं छोड़ता वह अर्थका उपादान नहीं होता जैसे क्षणिक और शाश्वत । भावार्थ—द्रव्यमें दो अंश हैं—एक शाश्वत और एक क्षणिक । गुण शाश्वत होनेके कारण अपने स्वरूपको त्रिकाल नहीं छोड़ते और पर्याय क्षणिक होनेके कारण अपने स्वरूपको प्रतिक्षण छोड़ते हैं । यह दोनों ही अंश उस द्रव्यसे पृथक् कोई अर्थान्तर रूप नहीं हैं । इन दोनोंसे समवेत द्रव्य ही कार्यका उपादान कारण है । अर्थान्तरभूत रूपसे स्वीकार किये गये शाश्वत-पदार्थ या क्षणिकपदार्थ कभी भी उपादान नहीं हो सकते हैं । क्योंकि सवथा शाश्वत पदार्थ में परिणमनका अभाव होनेके कारण कार्य ही नहीं तब कारण किसे कहें । और सर्वथा क्षणिक पदार्थ प्रतिक्षण विनष्ट ही हो जाता है तब उसे कारणपना कैसे बन सकता है । (ज्ञानदर्पण ४७-४८)

अष्टसहस्रो श्लो १८ की टीका—“परिणामक्षणिक उपादान है और गुण शाश्वत उपादान है ।”

निमित्त उपादान चिह्नी प बनारसीदास—“उपादान वस्तुकी सहन शक्ति है ।”

२ उपादानकी मुख्यता गौणता—दे कारण ११

उपाधि—स म १२/१४६/६ साधनाव्यापक साध्येन समव्याप्तिश्च खलु उपाधिर्धीयते । तत्पुत्रत्वादिना श्यामत्वे साध्ये शाकाद्याहार-परिणामवत् । —साधनके साथ अव्यापक और साध्यके साथ व्यापक हेतुको उपाधि कहा जाता है । जैसे 'गर्भमें स्थित मैत्रका पुत्र श्याम वर्णका है, क्योंकि यह मैत्रका पुत्र है, मैत्रके अन्य पुत्रोंकी तरह'

यह अनुमान सोपाधिक है। क्योंकि यह 'मैत्रतनगर' हेतु शाकपा-
कजरव उपाधिके ऊपर अवलम्बित है।

स म/रायचन्द्र ग्रन्थमाला/पृ १८२/११ विवक्षित किसी वस्तुमें स्वयं
रहकर उसको अनेकों वस्तुओंसे जुदा करने वाला जो धर्म होता
है, उसको उपाधि कहते हैं।

उपाध्याय—नि सा/पृ ७४ रयणसप्तम जुता जिगमहिमपरमदेगया

सूरा। निष्कलभावसहितया उवज्झाया एरिमा हति १७१। —ररा
त्रयसे संयुक्त जिनकथित पदार्थोंके शून्योत्तर उपदेशक और नि फल
भाव सहित, ऐसे उपाध्याय होते हैं। (द्व सा/पृ १३)।

मू आ/पृ १११ बारसण जिनकवाद सज्झाय कथित मुधे । उवदेसह
सज्झायं तेषूवज्झाय उच्चदि १११। —पारह अण चौदहपूर्व जो
जिनदेवने कहे हैं उनको पण्ठित जन स्वाध्याय कहते हैं। उस
स्वध्यायका उपदेश करता है, इसलिये यह उपाध्याय कहलाता है।

ध १/११ १/३२/२० चौहस पुण मलपणिमहम्म निवसियओ
सिक्खथोणं । सौत्थराण वत्ता होइ मुणोसो उपज्झायो १२।
—जो साधु चौदह पूर्वस्त्री समुद्रमें प्रवेश करके अर्घ्य परमागमना
अभ्यास करके मोक्षमार्गमें स्थित है, तथा मोक्षक इच्छुत शीलधरों
अर्घ्य मुनियोंको उपदेश देते हैं, उन मुनीस्वरोंको उपाध्याय परमही
कहते हैं।

रा बा ६/२४/४/६२३/१३ विनयेनोपेय गस्साह मत्तशोलभायनाधिष्ठा-
नादागमं श्रुताख्यमधीयते इत्युपध्याय । —जिन मत्तशोल भावना-
शाली महाभुभावके पास जाकर भव्य जन विनयपूर्ण श्रुतका अध्ययन
करते हैं वे उपाध्याय हैं। (स सि ६/२४/४४२/८), (म आ/वि ४६/
१४४/२०)।

ध १/११ १/६०/१ चतुर्दशविधास्थानठगारयासार उपाध्याया सावना-
लिकप्रवचनठगारयासारो वा आचार्यस्योत्तायेवमहासममिन्ता संप्र-
हानुपहादिपुणहीना । —चौदह विधा स्थानोंके ठगारयान करनेवाले
उपाध्याय होते हैं, अथवा तरकालीन परमागमके ठगारयान करनेवाले
उपाध्याय होते हैं। वे संप्रह अनुपह आदि मुणोंको दाहकर पहिने
कहे गये आचार्यके समस्त गुणोंसे युक्त होते हैं। (प प्र/टो ७)।

प ध/उ ६६६-६६२ उपाध्याय समाधोमात् पादो रगाद्वाइकोविद ।
वाग्मी वाग्मसर्वज्ञ सिद्धान्तागमप्राण ६६६। कथिर्म रघमसूत्राणां
शब्दायै सिद्धसाधनात् । गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वस्तुत्वपरमनाम् ।
६६६० उपाध्यायस्वरमिरयत्र श्रुताभ्यासोऽन्ति कारणम् । यदप्योति
स्वयं चापि शिष्यान्तध्यायवेदगुरु ६६६१। शेषरतप्र वतादीनां सर्व-
साधारणो विधि ६६६२। —उपाध्याय—शका समाधान करनेवाला
सुवक्ता, वाग्मस सर्वज्ञ अर्थात् सिद्धान्त शारत्र और गान्ध आगमों
का पारगामी, वास्तिक तथा सूत्रोंको शब्द और अर्थके द्वारा सिद्ध
करनेवाला होनेसे कवि, अर्थमें मधुरताका चोतक तथा वस्तुत्वके मार्ग
का अग्रणी होता है। ६६६-६६० उपाध्यायपनेमें शाराका विशेष अभ्यास
ही कारण है, क्योंकि जो स्वयं अध्ययन करता है और शिष्योंको
भी अध्ययन कराता है वही गुरु उपाध्याय है। ६६६१ उपाध्यायमें
मतादिकके पालन करनेको शेष विधि सर्व मुनियोंके समान है। ६६६२।

२ उपाध्यायके २५ विशेष गुण

११ अंग व १४ पूर्वका ज्ञान होनेसे उपाध्यायके २६ विशेष गुण कहे
जाते हैं। शेष २८ मूलगुण आदि समान रूपसे सभी साधुओंमें पाये
जानेके कारण सामान्य गुण हैं।

३ अन्य सन्वित्त विषय

* उपाध्यायमें कथचित् देवत्व—वे देव १/१

* आचार्य उपाध्याय साधुमें कथचित् भेदाभेद—दे. साधु ६

* श्रेणी आरोहणके समय उपाध्याय पदका त्याग—वे साधु ६

उपायविचय—धर्मध्याना एक भेद—दे धर्मध्या १

उपालम्भ—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उपासकाचार—दे उपा नामका भाषनाध्या १।

उपासकाध्ययन—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उपासना—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उपेक्ष—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उपेक्षा—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उपेक्षा—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उपेक्षा—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उपेक्षा—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उपेक्षा—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उपेक्षा समय—दे समय १।

उपोद्धात—दे उपजम् १।

उभय रूपण—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उभय रूपण—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उभय रूपण—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उभय रूपण—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उभय रूपण—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उभयशुद्धि—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उभयशुद्धि—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उभयशुद्धि—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उभयशुद्धि—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उभयशुद्धि—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उभयशुद्धि—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उभयशुद्धि—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उभयशुद्धि—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उभयशुद्धि—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

उभयशुद्धि—मू मा/मापा १-१/११ भाषना माधुर्यं प्रतिपेय उपा-
लम्भ । —भाषना प्रवृत्ति भाषन और प्रतिपेय अर्थात् उपालम्भ ।

आठ प्रकार सिद्ध नहीं होते हैं। उत्तर—यहाँ पुरुष भेदोंकी अपेक्षासे निरूपण किया है जैसे। कोई पुरुष सूत्रका अर्थ तो ठीक कहता है, परन्तु सूत्रको विपरीत पढ़ता है ठीक पढ़ता नहीं। दोषोच्चारके स्थानमें ह्रस्वोच्चार इत्यादि दोषयुक्त बोलता है। ऐसा दोषयुक्त पढ़ना नहीं चाहिए इस वास्ते व्यंजनशुद्धि कही है। दूसरा कोई पुरुष सूत्रको ठीक पढ़ लेता है। परन्तु सूत्रार्थका विपरीत निरूपण करता है। यह भी योग्य नहीं है। इसका निराकरण करनेके लिए अर्थशुद्धि कही है। तीसरा आदमी सूत्र भी विपरीत पढ़ता है और उसका अर्थ भी अटसट कहता है। इन दोनों दोषोंको दूर करने के लिए तदुभयशुद्धिको भिन्न मानना चाहिए।

उभयसारी ऋद्धि—दे ऋद्धि २/४।

उभयासख्यात—दे असरयात।

उमास्वामी—१ नन्दिस्संघ बलात्कार गणके अनुसार (दे इतिहास ४/१३) आप कुन्दकुन्दके शिष्य थे और (प ख २/प्र ३/H L Jain) के अनुसार 'बलाक पिच्छ' के गुरु थे। (त घ १/प्र ६७) में प महेश्वरकुमार 'प्र नाथुराम प्रेमी' का उद्धरण देकर कहते हैं कि आप यापनीय सच्चे आचार्य थे। (प ख १/प्र ६६/H I Jain) तथा तत्त्वार्थसूत्रको प्रशस्तिके अनुसार इनका अपर नाम गृद्धपृच्छ है। आप बड़े विद्वान व वाचक शिरोमणि हुए हैं। आपके सम्बन्धमें एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है—सौराष्ट्र देशमें द्वे पायन नामक एक श्रावक रहता था। उसने एक बार मोक्षमार्ग विषयक कोई शास्त्र बनानेका विचार किया और 'एक सूत्र रोज बनाकर ही भोजन करूँगा अन्यथा उपवास करूँगा' ऐसासंकल्प किया। उसी दिन उसने एक सूत्र बनाया 'दर्शनज्ञानाचारित्राणि मोक्षमार्गः'। विस्मरण होनेके भयसे उसने उसे घरके एक स्तम्भपर लिख लिया। अगले दिन किसी कार्यवश वह तो बाहर चला गया, और उसके पीछे एक मुनिराज आहारार्थ उसके घर पधारे। लौटते समय मुनिकी दृष्टि स्तम्भ पर लिखे सूत्रपर पड़ी। उन्होंने चुपचाप 'सम्यक' शब्द उस सूत्रसे पहिले और लिख दिया और बिना किसीसे कुछ कहे अपने स्थान को चले गये। श्रावकने लौटने पर सूत्रमें किये गये सुधारको देखा और अपनी भूल स्वीकार की। मुनिको खोज उनसे ही विनीत प्रार्थना की कि वह इस ग्रन्थकी रचना करें, क्योंकि उसमें स्वयं उसे पूरा करनेकी योग्यता नहीं थी। वस उसकी प्रेरणासे ही उन मुनिराजने 'तत्त्वार्थ सूत्र' (मोक्षशास्त्र) की १० अध्यायोंमें रचना की यह मुनिराज 'उमास्वामी' के अतिरिक्त अन्य कोई न थे। (स सि प्र ८०/पं फूनचन्द्र) आप बड़े सरलचित्त व निष्पक्ष थे और यही कारण है कि श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें आपकी कृतियाँ समान रूपसे पूज्य व प्रमाण मानी जाती हैं। आपकी निम्न कृतियाँ उपलब्ध हैं—तत्त्वार्थ सूत्र, सामान्य तत्त्वार्थाधिगम, ये दो तो उनकी सर्वसम्मत रचनाएँ हैं। और (ज प/प्र ११०/A N Up) के अनुसार 'जम्बू द्वीपसमास' नामकी भी आपकी एक रचना है। समय—पट्टावलीके अनुसार श स १०१-१२२ (वी नि ७०६-७४७)। परन्तु 'बिहज्जनमोघ'के अनुसार वह वो नि ७७० प्राप्त होता है। "वर्ष सप्तशते सप्तया च विस्मृताः" इसलिए विद्वानोंने उनकी उत्तरावधि ७४७ से ७७० कर दी है। (विशेष दे कोप १/परिशिष्ट ४,४) इसके अनुसार इनका समय ई १७६-२४३ (ई श ३) आता है। मूलमघमें आपका स्थान (दे इतिहास ७/१)

उमास्वामी न २—श्रावकाचार' और 'पंच नमस्कार स्तवन' नामके ग्रन्थ जिन उमास्वामीकी रचनाएँ हैं वे तत्त्वार्थ सूत्रके रचयिता उमास्वामी न १ से बहुत पीछे होनेके कारण लघु उमास्वामी कहे जाते हैं। (सामान्य तत्त्वार्थाधिगम। प्र ५ में प्रेमीजी की टिप्पणी)

उरुकुल गण—एक जैनाभासी संघ (दे इतिहास ६/७)।

उरुवित्त्व—(म घ/प्र ४६/पं पत्रालाल)—वर्तमान 'बुद्ध गया' नामका नगर। यह बिहार प्रान्तमें है।

उर्मिमालिनी—अपर विदेहस्थकी एक विभगा नदी—दे लोक ५/८

उर्वक—(घ १२/४,२,७,२१४/१७०/६) एतथ अणं तभागमडडोए उर्वकसण्णा।—यहाँ अनन्त भाग बुद्धिकी उर्वक अर्थात् 'उ' सज्ञा है। (पट स्थानपतित हानि-बुद्धि क्रमके छह स्थानोंकी सहननी क्रमशः ४,५,६,७ और 'उ' स्वीकार की गयी है)। (गो जी/मू ३२४/६८४), (ल स/जी प्र ७६/६)।

उशीनर—भरतक्षेत्रमें आर्यखण्डका एक देश—दे मनुष्य ४।

उष्ण परोषह—स सि ६/६/४२१/६ निबाते निर्जले ग्रीष्मरविकिरणपरिशुष्कपतितपर्णव्यपेतच्छायातरुण्यटव्यन्तरे यदृच्छयोपनिपतितस्यानशनाद्यम्यन्तरसाधनोत्पादितदाहरय दवाग्निदाहपुरुष-बातातपजनितगलतालुशोषस्य तत्प्रतीकारहेतुत् बहूननुभूतानिचितयत प्राणिपीडापरिहारावहितचेतसश्चाग्निरक्षणमुष्णसहनमित्युपवर्ण्यते।—निर्वात और निर्जल तथा ग्रीष्मकालीन सूर्यकी किरणोंसे सूखकर पत्तोंके गिर जानेसे छायारहित वृक्षोंसे युक्त ऐसे वनके मध्य जो अपनी इच्छानुसार प्राप्त हुआ है, अनशन अर्थात् अम्यन्तर साधन वश जिसे दाह उत्पन्न हुई है, दवाग्निजन्य दाह, अतिकठोर वायु और आतपके कारण जिसे गले और तालुमें शोष उत्पन्न हुआ है, जो उसके प्रतीकारके बहुत-से अनुभूत हेतुओंको जानता हुआ भी उनका चितवन नहीं करता है तथा जिसका प्राणियाकी पीडाके परिहारमें चित्त लगा हुआ है, उस साधुके चारित्रिके रक्षणरूप उष्णपरोषहजय कही जाती है। (रा वा ६/६/७/६०६/१२), (चा सा ११२/४)।

उष्ण योनि—दे योनि १।

उष्माहार—दे आहार १/१।

उष्ट्रकूट—दे कृष्टि।

उष्मगर्भ कूट—मानुषोत्तर पर्वतका एक कूट—दे लोक/७।

[ऊ]

ऊँच—दे उच्च।

ऊर्जयन्त—सौराष्ट्र देशके जूनागढ़ नगरमें स्थित गिरनारपर्वत।

ऊर्ध्वक्रम—दे क्रम।

ऊर्ध्वगच्छ—गुणहानि आयाम—दे गणित ११/६/२।

ऊर्ध्व गति—जीव व पुद्गलका ऊर्ध्व गमन—दे गति १।

ऊर्ध्व प्रचय—दे क्रम ऊर्ध्वक्रम।

ऊर्ध्व लोक—दे स्वर्ग ५।

ऊहा—प ख १३/६ ५/सू२८/२४२ ईहा ऊहा अपोहा मण्णा गवेसणा मोमांसा ३८।—ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेसणा और मीमांसा ये ईहाके पर्याय नाम हैं।

तत्त्वार्थाधिगम भाष्य १/१४ ईहाऊहासर्वपरीक्षाविचारणाजिज्ञासा इत्यनर्थान्तरम्।—ईहा, ऊहा, तर्क, परीक्षा, विचारणा जिज्ञासा ये सब शब्द एकार्थवाची हैं।

स सि ६/४३/४५५/६ तर्कणमूहन रिक्तं श्रुतज्ञानमित्यर्थः । —तर्कणा करना, अर्थात् ऊहा करना, वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान महामाता है ।
 घ १३/५५ ३८/२४२/८ अवगुहोदायस्य अनभिगतविशेष उद्यते तर्क्यते अनया इति ऊहा । —जिससे अवग्रहके द्वारा ग्रहण किये अर्थमें नहीं जाने गये विशेषकी 'ऊहाते' अर्थात् तर्कणा करते हैं वह ऊहा है ।
 प मु ३/११-१३/२ उपलम्भानुपसम्भनिमित्त म्यासिज्ञानमूह १११। ३६-मस्मिन्सत्येन भवरयसति न भवरयेवेति च १२। यथाग्न्यायेव घूमस्त-दभावे न भवरयेवेति च १३। —उपमग्नि और अनुपमग्नि की सहायतासे होनेवाले व्यासिज्ञानको तर्क कहते हैं । और उसका स्वरूप ऐसा है —'हमके होते हो यह होता है और इसके न होते होवा हो नहीं है' जैसे—अग्निके होते हो धुआँ होता है, अग्निके न होते होवा हो नहीं १११-१३। (स /म २८/३२१/२७)

[ऋ]

ऋक्षराज—(प /पु ८ श्लोक) रावणकी सहायतासे इन्द्रके नोकपात यमको जोतकर किष्कुपुरको प्राप्त किया (४६८) ।

ऋजुगति—दे विग्रहगति २ ।

ऋजुमति—दे मन पर्ययज्ञान २ ।

ऋजुसूत्रनय—दे नय III/५ ।

ऋण—Minus दे रिण ।

ऋतु—१ कालका प्रमाण विशेष—दे गणित I/१/४ ।

२ सौघर्मे स्वर्गका प्रथम पटल व इन्द्रक —दे स्वर्ग ५/३ ।

ऋद्धि—कायोरसर्गका एक दोष — व्युत्सर्ग १ ।

ऋद्धि—तत्परवरणके प्रभावसे कदाचित् किन्हीं योगीजनोंको कुछ चामरकारिक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं । उन्हें ऋद्धि कहते हैं । इसके अनेकों भेद-प्रभेद हैं । उन सबका परिचय इस अधिकारमें दिया गया है ।

१. ऋद्धिके भेद-निर्देश

१ ऋद्धियोंके वर्गीकरणका चित्र

२ उपरोक्त भेदों प्रभेदोंके प्रमाण

२ बुद्धि ऋद्धि निर्देश

* केवल, अवधि व मन पर्ययज्ञान ऋद्धिधर्मा

—दे यह यह नाम

१ बुद्धि ऋद्धि सामान्यका लक्षण

२ वीजबुद्धि निर्देश

१ बीजबुद्धि का लक्षण

२ बीजबुद्धिके लक्षण सम्बन्धी दृष्टिभेद

३ बीजबुद्धिकी अचिन्त्य शक्ति व शंका

३ कोष्ठ बुद्धिका लक्षण व शक्ति निर्देश

४ पादानुसारी ऋद्धि सामान्य व विशेष

(अनुसारिणी, प्रतिसारिणी व उभयसारिणी)

५ समिग्र श्रोतृत्व ऋद्धि निर्देश

६ दूरास्यादन आदि, पाँच ऋद्धि निर्देश

* श्रुतुर्दश पूर्वी व दश पूर्वी—दे श्रुतकेयनो

* अष्टांग निमित्तज्ञान—दे निमित्त २

७ प्रज्ञाश्रमणत्व ऋद्धि निर्देश

१ प्रज्ञाश्रमणत्व सामान्य व विशेषके महा (ओरवत्किन्ही, परिणामिकी, वैराग्यिकी, यर्मजा)

२ पाणिनामिकी व दीर्घवत्किन्हीमें अन्तर

३ प्रज्ञाश्रमण बुद्धि व ज्ञानसामान्यमें अन्तर

* प्रत्येक बुद्धि ऋद्धि—दे बुद्ध

८ वादित्व बुद्धि ऋद्धि

३ विक्रिया ऋद्धि निर्देश

१ विक्रिया ऋद्धिकी विविधता

२ अणिमा विक्रिया

३ महिमा, गरिमा व लघिमा विक्रिया

४ प्राप्ति व प्राकाम्य विक्रियाके लक्षण

५ ईशित्व व वशित्व विक्रिया निर्देश

१ ईशित्व व वशित्वके लक्षण

२ ईशित्व व वशित्वमें अन्तर

३ ईशित्व व वशित्वमें विक्रियापना कैसे है ।

६ अप्रतिघात, अतर्वात व काम रूपित्व

४ चारण व आकाशगामित्व ऋद्धि निर्देश

१ चारण ऋद्धि सामान्य निर्देश

२ चारण ऋद्धिकी विविधता

३ आकाशचारण व आकाशगामित्व

१ आकाशगामित्व ऋद्धि का लक्षण

२ आकाशचारण ऋद्धिका लक्षण

३ आकाशचारण व आकाशगामित्वमें अन्तर

४ जलचारण निर्देश

१ जलचारणका लक्षण

२ जलचारण व प्राकाम्य ऋद्धिमें अन्तर

५ जंघा चारण निर्देश

६ अग्नि, घूम, मेघ, तनु, वायु व ध्रेणी चारण ऋद्धियों का निर्देश

७ धारा व ज्योतिष चारण निर्देश

८ फल, पुष्प, बीज व पत्रचारण निर्देश

५ तपऋद्धि निर्देश

१ उग्रतप ऋद्धि निर्देश

१ उग्रतप तप व अवस्थित उग्रतपके लक्षण

* उग्रतप ऋद्धिमें अधिकसे अधिक उपवास करनेकी सीमा

तत्सम्बन्धी शंका —दे. प्रोपपोषवास २

२ घोरतप ऋद्धि निर्देश

३ घोर पराक्रमतप ऋद्धि निर्देश

४ घोर ब्रह्मचर्यतप ऋद्धि निर्देश

- १ घोर व अघोर गुण ब्रह्मचारीके लक्षण
- २ घोर गुण व घोर पराक्रम तपमें अन्तर

५ दीप्ततप व महातप ऋद्धि निर्देश

६ बल ऋद्धि निर्देश

- १ मनोबल, वचनबल व कालबल ऋद्धिके लक्षण

७ औषध ऋद्धि निर्देश

- १ औषध ऋद्धि सामान्य

- २ आमर्ष, क्ष्वेल, जल्ल, मल व विट औषध

१ उपरोक्त चारोंके लक्षण

२ आमर्षोपधि व अघोरगुण ब्रह्मचर्यमें अन्तर।

- ३ सर्वोषध ऋद्धि निर्देश

- ४ आस्थनिर्विष व दृष्टिनिर्विष औषध ऋद्धि निर्देश

८ रस ऋद्धि निर्देश

- १ आशीविष रस ऋद्धि

(शुभ व अशुभ आशीविषके लक्षण)

- २ दृष्टि विष व दृष्टि अमृत रस ऋद्धि निर्देश

१ दृष्टि विष रस ऋद्धिका लक्षण २ दृष्टि अमृत रस ऋद्धिका लक्षण

३ दृष्टि अमृत रस ऋद्धि व अघोर ब्रह्मचर्य तपमें अन्तर

- ३ क्षीर, मधु, सर्पि, व अमृतसावी रस ऋद्धियोंके लक्षण

- ४ रस ऋद्धि द्वारा पदार्थोंका क्षीरादि रूप परिणमन कैसे सम्भव है ?

९ क्षेत्र ऋद्धि निर्देश

- १ अक्षीण महानस व अक्षीण महालय ऋद्धिके लक्षण

१० ऋद्धि सामान्य निर्देश

- १ शुभ ऋद्धिकी प्रवृत्ति स्वतः भी होती है पर अशुभ ऋद्धियोंकी प्रयत्न पूर्वक ही

- २ एक व्यक्तिमें युगपत् अनेक ऋद्धियोंकी सम्भावना

- ३ परन्तु विरोधी ऋद्धियाँ युगपत् सम्भव नहीं

- * परिहार विशुद्धि, आहारक व मन पर्ययका परस्पर विरोध —दे परिहारविशुद्धि

- * आहारक व वैक्रियकमें विरोध—दे ऊपरबाला शीर्षक

- * तेजस व आहारक ऋद्धि निर्देश—दे वह वह नाम

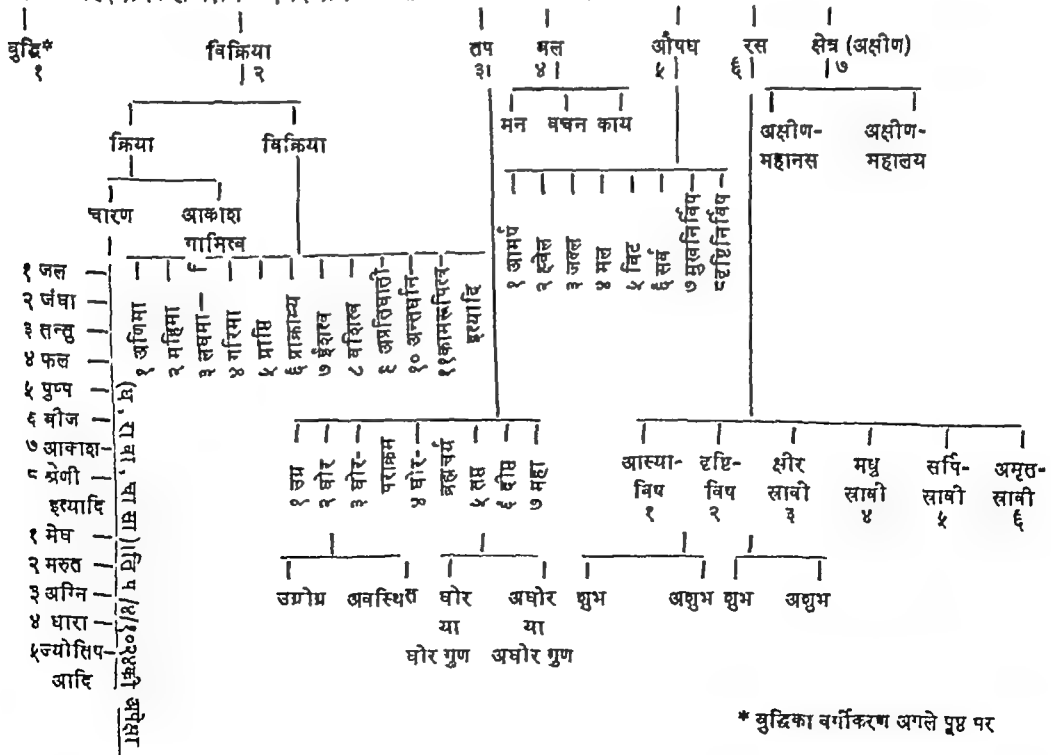
- * गणघरदेवमें युगपत् सर्वऋद्धियाँ—दे गणघर

- * साधुजन ऋद्धिका भोग नहीं करते—दे श्रुतकेवली १/२

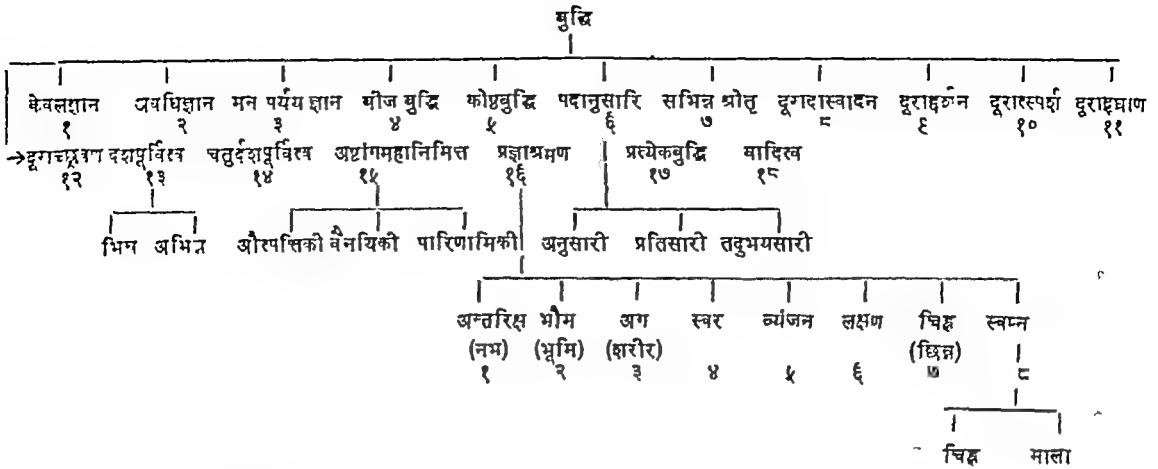
१. ऋद्धिके भेद निर्देश

१ ऋद्धियोंके वर्गीकरणका चित्र

(ति प ४/६६८), (व ६/४, ९, ७/गा १८/६८), (स सि ३/३६/२३०/२), (रा वा ३/३६/३/२०१/२१), (वा सा २११), (वसु आ ६१२)



* बुद्धिका वर्गीकरण अगले पृष्ठ पर



२ उपरोक्त भेद-प्रभेदोंके प्रमाण

बुद्धि सामान्य—(ति प ४/६६), (घ ६/४१, ७/१८/५८), (स सि ३/३६/२३०/२) (रा वा ३/३६/३/२०१/२१), (चा सा २११), (वसु आ ४२), (नि सा/ता ४/१, २) ।

बुद्धि बुद्धि सामान्य—(ति प ४/६६-६७) (रा वा ३/३६/३/२०१/२२), (चा सा २११/२) पञ्चानुसारी—(ति प ४/६८०) (रा वा ३/३६/३/२०२/३०), (घ ६/४, १८/६६/४) (चा सा २१२/४) दशमूर्तिवित्त—(घ ६/४, १८/६६/४) अष्टांग महानिमित्तज्ञान—(ति प ४/१००२), (रा वा ३/३६/३/२०२/१०) (घ ६/४ १४/१६/७२), (चा सा २१४/३) प्रज्ञाश्रमण—(ति प ४/१०१६), (घ ६/४, १८/८१/१), (चा सा २१७/१) ।

विक्रिया सामान्य—(दे ऊपर क्रिया व विक्रिया दोनोंके भेद) क्रिया—(ति प ४/१०३३) (रा वा ३/३६/३/२०२, २७), (चा सा २१८/१) । विक्रिया—(ति प ४/१०२१ १०२४), (रा वा ३/३६/३/२०२/३३) (घ ६/४, १४/६६/४) (चा सा २१६/१), (वसु आ ६१३) । चारण—(ति प ४/१०३४, १००८), (घ ६/४, १७/२१/७६), (रा वा ३/३६/३/२०२/२७), (घ ६/४, १८/७०, ८८) ।

तप सामान्य ति प ४/१०४६-१०५०), (रा वा ३/३६/३/२०३/७), (चा सा २००/१) । उग्रतप—(ति प ४/१०५०), (घ ६/४, १८/२३/५४) । (चा सा २२०/१) । योगमल्लचर्य—(प ख ६/४, १८/२६ ६३ ६४), (चा सा २२०/१) ।

मल—(ति प ४/१०६१), (रा वा ३/३६/३/२०३/१८), (चा सा २२४/१) । औषध (ति प ४/१०६७) (रा वा ३/३६/३/२०३/२४), (चा सा २२४/१) । रस सामान्य—(ति प ४/१०७७) (रा वा ३/३६/३/२०३/३३), (चा सा २०६/२) । आश विष—(घ ६/४ १२०/८६/४) दृष्टिविष—(घ ६/४ १२१/८७/२) ।

सैत्र—(ति प ४/१०८८), (रा वा ३/३६/३/२०४/६) (चा सा २२८/१)

२ बुद्धि ऋद्धि निर्देश

१ बुद्धि ऋद्धि सामान्यका लक्षण

रा वा ३/३६/३/२०१/२२ बुद्धिबगमो ज्ञान तद्विषया अष्टादशविधा ऋद्धयः । —बुद्धि नाम अवगम या ज्ञानका है । उसको विषय करनेवाली १८ ऋद्धियाँ हैं ।

२ बीजबुद्धि निर्देश

१ बीजबुद्धि लक्षण

ति प ४/१०५ १०७ गार्हपत्यमुद्राणावरणण गोरअवरायाण । तिवि-

हार्ण पगदीर्ण उवकस्सखउवसमविमुद्धस्म । ६७५ । सजेजस्सखार्ण सहाणं तरव लिंगसजुत्त । एवक विद्य बीजपद लङ्घूण परीपदेसेण । ६७६ । तम्मि पदे आधारे सयलमुद चित्तिज्जण गेहेवि । कस्स वि महेसिणा जा बुद्धि सा बीजबुद्धि त्ति । ६७७ । —नोड्डिमावरण, श्रुत-ज्ञानावरण, और बीजान्तराय, इन तीन प्रकारकी प्रकृतियोंके उरकृष्ट क्षयोपशमसे विबुद्ध हुए किसी भी महर्षिकी जो बुद्धि, संन्यासस्वरूप शब्दोंके बीचमें से लिंग सहित एक ही बीजभूत पदको परके उपदेशसे प्राप्त करके उस पदके आश्रयसे सम्पूर्ण श्रुतको विचारकर ग्रहण करती है वह बीजबुद्धि है । ६७५-६७७ । (रा वा ३/३६/३/२०१/२६) । (चा सा २१२/२) ।

घ ६/४, १७/५६ १, ६६-६ बीजमिव बीज । जहाबीज मूलकुर पत्त-पोर-सखद-पसव सुस कुसुम खीरत दुलानमाहार तथा दुवालसगथा-हारं जं पद त बीजतुलसादो बीज । बीजपदविसयमधिगार्णं पि बीजं, कज्जे कारणोवचारादो । एसा कुदो होदि । विसिद्धो गहा-वरणीयवखओवसमादो । (६६-६) —बीजके नामान बीज कहा जाता है । जिस प्रकार बीज मूल, अकुर, पत्र, पोर स्कन्ध, प्रसव, तुप, कुसुम, खीर और तदुल आदिकोंका आधार है, उसी प्रकार बारह जगोंके अर्थका आधारभूत जो पद है वह बीज तुल्य होनेसे बीज है । बीजपद विषयक मतिज्ञान भी कार्यमें कारणके उपचारसे बीज है । यह बीज बुद्धि कहसि होती है । वह विशिष्ट अवग्रहावरणीयके क्षयोपशमसे होती है ।

२ बीज बुद्धिके लक्षण सम्बन्धी दृष्टिभेद

घ ६/४, १७/५७/६ बीजपदद्विदरपदेसादो हेट्टिमसुदणाणुप्पत्तीए कारणं शोभूण पच्छा उवरिमसुदणाणुप्पत्तिणिमित्ता बीजबुद्धि त्ति के वि आरिया भणति । तण्ण घट्ठे, कोट्टबुद्धियादिचवुण्हं णाणाणमवक्कमे-णेक्कम्हि जीवे सव्वदा अणुप्पत्तिप्पसंगादो । ण च एक्कम्हि जीवे सव्वदा चवुण्हं बुद्धीण अवक्कमेण अणुप्पत्तो चेव । त्ति सुत्तगाहाए वमखाणम्मि गणहरवेवाण चहुरमल्लबुद्धीण दसणादो । किंच अस्थि गण हरवेवेषु चत्तारि बुद्धीओ अण्णहा दुवासगाणमणुप्पत्तिप्पसंगादो । —बीजपदसे अधिष्ठित प्रदेशसे अधस्तनभूतके ज्ञानकी उपपत्तिका कारण होकर पीछे उपरिम भूतके ज्ञानकी उपपत्तिमें निमित्त होनेवाली बीज बुद्धि है । (अर्थात् पहले बीजपदके अणुपमात्र अर्थको जानकर पीछे उसके आश्रय पर विषयका विस्तार करनेवाली बुद्धि बीजबुद्धि है, न कि केवल शब्द विस्तार ग्रहण करनेवाली) ऐसा कितने ही आचार्य यहते हैं । किन्तु यह घटित नहीं होता । क्योंकि, ऐसा माननेपर कोष्ठ बुद्धि आदि चार ज्ञानांकी (कोष्ठबुद्धि तथा अनुसारी, प्रतिसारी व

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

विदोदो माहि संपेज्जजोयणठिमाण । विविहरसाण माद जाणण
दूरसादि ॥८८८॥ २-पातिदिग सुदणानामरणान् पारियतरागाए ।
उक्कस्सवउवसमे उदिहगोमगणामकम्ममि ॥८८९॥ पापुवग्गमि
दोदो माहि संपेज्जजोयणठिमाणि । अट्ठनिहएवामाणि जं जाणण
दूरपासत्त ॥८९०॥ ३-पाणिदियसुदणानावरणान् पोरियतरागाए ।
उक्कस्सवउवसमे उदिहगोमगणामकम्ममि ॥८९१॥ पापुवग्गमि
दोदो माहिरसंपेज्जजोयणपएसे । जं बहुविधमंधाणि तं पामदि दूर-
घाणत्त ॥८९२॥ ४-गोदिदिगसुदणानावरणान् पोरियतरागाए ।
उक्कस्सवउवसमे उदिह गामगणामकम्ममि ॥८९३॥ गोपुवग्गमि-
दोदो माहिरसंपेज्जजोयणपएसे । पेदुठताण पापुसतिरिणत्तं बहु-
मियण्ण ॥८९४॥ अपवरअणत्तरमए बहुविहए विमग्गत्तं ।
उपण्णे आयणह ज भणिजं दूरसवणत्त ॥८९५॥ ५-रूपिदिगसुद-
णानावरणान् पोरियतरागाए । उक्कस्सवउवसमे उदिहगामगणाम-
कम्ममि ॥८९६॥ लउक्कम्मसिदोदो माहिरं पपेज्जजोयणठिमाए ।
जं बहुविहएवाह देवतहं दूरदरिणत्तं पाम ॥८९७॥ एह बहु
इन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और गीयन्तिगम इत तीरं पत्तमोक्क
उत्कृष्ट संयोपशम तथा अगावां नाममग्गं उदम होनेपर उम उत
इन्द्रियके उत्कृष्ट विषयक्षेत्रमे माहर मरणात्त योजनोमे मित्त उम उम
सम्मन्धी विषयका जान लेना उस उम नामकी ऋद्धि है । यथा—
जित्ता इन्द्रियावरणके संयोपशममे दूरास्वादिहं म्मर्दानं इन्द्रिया-
वरणके संयोपशममे 'दूरदरिणत्तं', 'गामेन्द्रियावरणके संयोपशममे 'दूर-
घाणत्तं', 'श्रोत्रेन्द्रियावरणके संयोपशममे 'दूरसवणत्तं' और 'पपु र-
न्द्रियावरणके संयोपशममे 'दूरदाहत्तं' ऋद्धि होती है ।

७ प्रज्ञाश्रमणत्व ऋद्धि निर्देश

१ प्रज्ञाश्रमणत्व सामान्य व विशेषके लक्षण

ति प ४/१०९७ १०२१ पमदोए सुदणानावरणान् वीर्यमत्तगामए । उक्कस्स-
वउवसमे उपपज्जहं पणमणद्धी ॥१०२०॥ पत्तासवद्विधमुदो
चोहस्सपुअंभीसु विमग्गसुमुत्तं । सत्ता हि सुए जाणदि अक्कज्ज-
अणो वि निगमेण ॥१०२१॥ भासति तस्स बुद्धो पण्णसमग्गधी मा
च उमेदा । अउपत्तिअ-परिणामिय-वण्हएव-पम्मजा वेगमा ॥१०२२॥
भवत्तर सुदविणएण समुत्तसिदभावा । निमणियजादिनिसेते उप्पत्ता ।
पारिणामिकी नामा ॥१०२०॥ नहएकी विणएण उपपज्जदि मारयग-
सुदजोगं । उववेसेण विणा तवविमेषत्ताहेण कम्मजा तुरिमा ॥१०२१॥
—श्रुतज्ञानावरण और योगान्तरागका उत्कृष्ट सामावशम होनेपर
'प्रज्ञाश्रमण' ऋद्धि उत्पन्न होती है । प्रज्ञाश्रमण ऋद्धिसे युक्त जो
महर्षि अध्ययनके बिना किये ही चौदहपूर्वार्ध विषयकी मूर्धमत्ताकी
लिए हुए सम्पूर्ण श्रुतको जानता है और उसको नियमपूर्वक निरूपण
करता है उसको बुद्धिधको प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि कहते हैं । वह औरपत्ति-
की, पारिणामिकी, वैनयिकी और कर्मजा, इन भेदोंस चार प्रकारकी
जानतो चाहिए ॥१०१७ १०१९॥ इनमें से पूर्व भयमें किये गये श्रुतके
विनयसे प्रवृत्त होनेवाली औरपत्तिकी (बुद्धिध है) ॥१०२०॥

घ ६/४, १, १८/२२/२२ विणएण सुदमधीहं विह वि पमायेण हादि विस्स-
रिद । तमुपदटादि परमये केवलणान् च आहवदि ॥२२॥—एसो
उपपत्तिपणमणो छम्मासोपवासगिलाणे वि तसुबुद्धिमहाएपजाणा-
वणट्ठं पुच्छावावदोद्धमपुविस्स विउत्तराहओ ।—विनयसे अधीत
श्रुतज्ञान यदि किसी प्रकार प्रमादसे विस्मृत हो जाता है तो उसे यह
परमवमें उपस्थित करती है और केवलज्ञानको मुलाती है ॥२२॥ यह
औरपत्तिकी प्रज्ञाश्रमण एह मासके उपवाससे कृश होता हुआ भी उस
बुद्धिधके माहात्म्यको प्रकट करनेके लिए पृथक् रूप क्रियामें प्रवृत्त हुए
चौदहपूर्वार्धकी भी उत्तर देता है । निज-निज जाति विशेषमें उत्पन्न
हुई बुद्धिध 'पारिणामिकी' है, द्वादशांग श्रुतके योग्य विनयसे उत्पन्न
होनेवाली 'वैनयिकी' और उपदेशके बिना ही विशेष संपत्ती प्राप्तिसे
आविर्भूत हुई चतुर्थ 'कर्मजा' प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि समझना चाहिए

॥१०२० १०२१॥ (पा मा १/३६/१/२०२/२०), (घ ६/४ १ १८/२२/२२),
(पा मा १/२६/४) ।

घ ६/४, १, १८/२२/२२ उगहयेतादोह-तिपयग्गमम-विणिमग्गमोत्तद्विप-
ह्वारयानं पण्णए कयं तसमामे । पारिणामिमा विमग्ग उपपत्ति
कम्मोहि विना उत्तमादा ।—परा-संयोगीय मुचये विमग्ग दूर
जोउपदिने अर्थका विषय करीबाने मुचये तादि गममग्गकी प्रज्ञा
वही उत्तमवि होता है । उत्तर-उपका पारिणामिक प्रज्ञासे
अन्तर्भाव होता है क्योंकि, वह विषय उत्पत्ति और कर्मके बिना
उत्पन्न नहीं है ।

२ पारिणामिकी व ओत्तमत्तामें अन्तर

घ ६/४ १ १८/२२/२२ पारिणामिमा उत्तमत्तामां का विमो । तदि
विमग्ग-द्विग्गममग्गजोवमुत्तमा पारिणामिमा उत्तमत्ताविमग्ग
जन्दिग्गमकारणमुत्तमा उत्तमत्तामा, तित्तं जयि विमो ।—प्रत्य-
पारिणामिकी और ओत्तमत्ता प्रत्येक का भेद है । उत्तर-प्राप्ति
विशेषमें उत्पन्न कर्म सामान्यतः प्राविर्भूत हुई वहा पारिणामिकी है
और अन्तर्गतमें विनयश्रित मरणात्त उत्पन्न प्रज्ञा ओत्तमत्ताकी
है महत्ता में विवेक है ।

३ प्रज्ञाश्रमण बुद्धि और ज्ञान सामा यमें अन्तर

घ ६/४ १ १८/२२/२२ उत्तमा उत्तम म के विमो ज्ञानेदुजोयमो
मुत्तमत्ताविमग्गमा पत्ता नाम, उत्तमत्तामा । एता उत्तम भेदे ।
—प्रत्य-प्रज्ञा और ज्ञानमे बोध का भेद है । उत्तर-दूरके उप-
देशक निरूपण मात्रा हेतु उत्तमत्ताको दाहत्ता नाम प्रज्ञा है और
उपका कार्य ज्ञान है, इस कारण दोनोंमें भेद है ।

८ यादित्वका लक्षण

ति प ४/१०२२ २४ " व वि पमयं बहुतादेहि निस्तर कुदि । पर
दवारा गममग्ग का पारिणामिद्धी मा ॥१०२३॥—जिम ऋद्धिके
द्वारा दाहादिग्गमकी भी बहुत बारमें निरुद्ध कर दिया जाता है
और पमये द्रष्टव्य, गवेय- (परिचय) करता है (जसाव दुग्गोके
दिग्ग मा दए द्दुत्ता है) यह यादित्व ऋद्धि कहलाती है । (पा मा
१/१६/२/२०२/२६), (पा मा २/१७/४)

३ विक्रिया ऋद्धि निर्देश

१ विक्रिया ऋद्धिपत्ती विविधता

ति प ४/१०२४ २६, १०३३ अजिमा मरिमा—विमिमा गरिमा पत्ती म
तह अ पामम । ईसत्तवत्तिताए अज्जटिपदवत्ताए ॥१०२४॥
मिदो हु नामग्गए एव रूपेहि विविधभेदोहि । रिदो विविदिया
नामा ममग्गए तवविमग्गे ॥१०२६॥ दुविहा किरियारिद्धी नहमत्त-
गामित्तपारत्तेहि ॥१०३३॥

घ ६/४ १ १६/२६/२६ अजिमा मरिमा लहिमा पत्ती गग्गमां ईसित्त वत्ति
गामत्तविमग्गि विउत्तमग्गमुत्तिह । पए एगमजोगादा विउत्त-
पंचय पासित्तउत्तमभेदा उप्पाएदवत्ता, तवत्ताएदवत्ता वट्ठचित्तमसादे
(पु ७६/६) ।—अजिमा, मरिमा, लहिमा गरिमा प्राप्ति, प्राकाम्य,
ईशिय, वशिय, अप्रतिघात, अन्तर्धान और कामरूप इस प्रकारके
और भेदोंसे युक्त विक्रिया नामक ऋद्धि तपोविरोधसे अमर्शकी
हुआ परती है । ति प / (पा मा २/३६/१/२०२/३३) (पा सा
२१६/१) (न सु मा ६१३) । नभस्तनगामित्त और चारणत्तके भेदसे
'क्रियाऋद्धि' दो प्रकार है । (पा मा ३/३६/३/२०२/२७) (पा सा
२१८/१) । अजिमा, मरिमा लहिमा प्राप्ति, प्राकाम्य ईशिय,
वशिय और कामरूपवत्त—इस प्रकार विक्रिया ऋद्धि आठ प्रकार
है । यहाँ एकसंयोग, द्विसंयोग आदिके द्वारा २६६ विक्रियाके भेद
उत्पन्न करना चाहिए, क्योंकि, उनके कारण विविध हैं । एकसंयोगी
—८, द्विसंयोगी—२८, त्रिसंयोगी—६६ चतु संयोगी—३००, पंच

सयोगी—४६, पदसयोगी—२८, सप्तसयोगी—८, और अष्टसयोगी—१। कुल भग—२५५ (विशेष देखो गणित II/४)।

२ अणिमा विक्रिया

ति प ४/१०२६ अणुत्पत्तिगण अणिमा अणुच्छिद्दे पविसिद्धं तत्त्वेव। विस्तरिदं ब्रह्मावरणिएसमवि चक्रवर्त्तिस् १०२६।—अणुके बराबर शरीरको करना अणिमा ऋद्धि है। इस ऋद्धि के प्रभावसे महर्षि अणुके बराबर छिद्रमें प्रविष्ट होकर वहाँ ही, चक्रवर्त्तिक कटक और निवेशकी विक्रिया द्वारा रचना करता है। (रा वा ३/३६/३/२०२/३४) (घ ६/४,१,१६/७६/६) (चा सा २१६/२)

३ महिमा गरिमा व लघिमा विक्रिया

ति प ४/१०२७ मेरुवमाणदेहा महिमा अणिताउ लघुशरी लहिमा। मन्त्राहिता गुरुवत्तन च गरिम ति भणति १०२७।—मेरुके बराबर शरीरके करनेको महिमा, बायुसे भी लघु (हलका) शरीर करनेको लघिमा और बज्रमें भी अधिक गुरुतायुक्त (भारी) शरीरके करनेको गरिमा ऋद्धि कहते हैं। (रा वा ३/३६/३/२०३/१), (घ ६/४,१,१६/७६/६), (चा सा २१६/२)

४ प्राप्ति व प्राकाम्य विक्रिया

ति प ४/१०२८ १०२६ भूमौ चेदुत्तं अणुलिअणेण सूरिसिपहुदि। मेरुसिहराणि अणु जं पावदि पत्तिरिद्धी सा १०२८। सलिले वि य भूमौ उन्मज्जनिमज्जणाणि ज कुणदि। भूमौ वि य सलिले गच्छदि पाकम्मरिद्धी सा १०२९।—भूमिपर स्थित रहकर अणुलिके अग्रभागसे सूर्य वन्त्रादिकको, मेरुशिखरोंको तथा अन्य वस्तुको प्राप्त करता यह प्राप्ति ऋद्धि है। १०२८। जिस ऋद्धिके प्रभावसे जलके समान पृथिवीपर उन्मज्जन-निमज्जन क्रियाको करता है और पृथिवीके समान जलपर भी गमन करता है वह प्राकाम्य ऋद्धि है। १०२९। (रा वा ३/२६/३/२०३/३) (चा सा २१६/३)

घ ६/४,१,१६/७६/७ भूमिद्विस्स करेण चदाइसद्विचिच्छवणसत्ती पत्ती गाम। कुनतेनमेरुमहीहर भूमौ बाहमकाऊण तासु गमणसत्ती तव-चरणवलेणुपणा पागम्मं गाम।—(प्राप्तिका लक्षण उपरोक्तवत् ही है)।—कुलाचल और मेरुपर्वतके पृथिवीकायिक जीवोंको घाघान पहुँचाकर उनमें, तपश्चरणके बलसे उत्पन्न हुई गमनशक्तिको प्राकाम्य ऋद्धि कहते हैं।

चा सा २१६/४ अनेकातिक्रियापुणद्वयधाधीन स्वाङ्गाद् भिन्नमभिन्नं च निर्माण प्राकाम्यं सैन्यादिरूपमिति केचित्।—कोई-कोई आचार्य, अनेक तरहकी क्रिया गुण वा द्रव्यके आधीन होनेवाले सेना आदि पदार्थोंको अपने शरीरसे भिन्न अथवा अभिन्न रूप बनानेकी शक्ति प्राप्त होनेको प्राकाम्य कहते हैं। (विशेष वे वै क्रियक १। पृथक् व अपृथक्विक्रिया)

५ ईशित्व व वशित्व विक्रिया

ति प ४/१०३० निस्तेसाण पहुत्त जगाण ईसत्तणामरिद्धी सा। वसमेंति तवयलेणं जं जोओहा वसित्तरिद्धी सा १०३०।—जिससे सब जगत् पर प्रभुत्व होता है, वह ईशित्वनामक ऋद्धि है और जिससे तपोबल द्वारा जीव समूह बशमें होते हैं वह वशित्व ऋद्धि कही जाती है। (रा वा ३/३६/३/२०३/४) (चा सा २१६/६)

घ ६/४,१,१६/७६/२ सर्वेसि जीवाण गामणयखेहादीण च भुंजणसत्ती समुपपणा ईसित्ता गाम। माणुस मायग हरि तुरयादीण सगिच्छाए विस्वणसत्ती वसित्ता गाम।—सब जीवों तथा ग्राम, नगर एव खेडे आदिकोंके भागनेकी जो शक्ति उत्पन्न होती है वह ईशित्व ऋद्धि कही जाती है। मनुष्य, हाथी, सिंह एवं घोड़े आदिक रूप अपनी इच्छासे निष्क्रिया करनेकी (अर्थात् उनका आकार बदल देनेकी) शक्तिका नाम वशित्व है।

२. ईशित्व व वशित्व विक्रियामें अन्तर

घ ६/४,१,१६/७६/३ ण च वसित्तस्स ईसित्तिम्म पवेसा, अवसाण पि हृदाकारेण ईसित्त्तरणुवलंभादो।—वशित्वका ईशित्व ऋद्धिमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि, अवशीकृतोंका भी उनका आकार नष्ट किये बिना ईशित्वकरण पाया जाता है।

३ ईशित्व व वशित्वमें विक्रियापना कैसे है ?

घ ६/४,१,१६/७६/४ ईसित्तवमित्ताण कथं वेउव्विवत्त। ण, विविहगुण-इच्छिजुत्त वेउव्वियमिदि तेसि वेउव्वियत्ताविरोहादो।—प्रश्न—ईशित्व और वशित्वके विक्रियापना कैसे सम्भव है। उत्तर—नहीं क्योंकि, नाना प्रकार गुण व ऋद्धि युक्त होनेका नाम विक्रिया है, अतएव उन दोनोंके विक्रियापनेमें कोई विरोध नहीं है।

६ अप्रतिघात अन्तर्धान व कामरूपित्व

ति प ४/१०३१-१०३२ सेलसिलातरुपमुहाणम्भतर होइदूण गमण व। ज वच्चदि सा श्रद्धयो अप्पटिवादेत्ति गुणणाम १०३१। ज हवदि अदि-सत्तं अतद्दधानाभिधानरिद्धी सा। जुगवें महुत्तवाणि ज विग्यदि कामरुवरिद्धी सा १०३२।—जिस ऋद्धिके बलसे शैल शिला और वृक्षादिके मध्यमें होकर आकाशके समान गमन किया जाता है वह सार्थक नामवाली अप्रतिघात ऋद्धि है। १०३१। जिस ऋद्धिके अदृश्यता प्राप्त होती है, वह अन्तर्धाननामक ऋद्धि है, और जिससे युगपत् बहुत से रूपोंको रचता है, वह कामरूप ऋद्धि है। १०३२। (रा वा ३/३६/३/२०३/५), (चा सा २१६/६)

घ ६/४,१,१६/७६/४ इच्छिदरुवरगगणसत्ती कामरुवित्ता गाम।—इच्छित रूपके ग्रहण करनेकी शक्तिका नाम कामरूपित्व है।

४ चारण व आकाशगामित्व ऋद्धि निर्देश

१ चारण ऋद्धि सामान्य निर्देश

घ ६/४,१,१६/८४/७ चरणं चारित्तं सज्जो पावकिरियाणिरोहो ण एयटो तस्सि कुसलो णिउणो चारणो।—चरण, चारित्र, सज्ज, पाप-क्रियानिरोध इनका एक ही अर्थ है। इसमें जो कुशल अर्थात् निपुण है वे चारण कहलाते हैं।

२. चारण ऋद्धिकी विविधता

ति प ४/१०३४-१०३६, १०४८ “चारणरिद्धी बहुविहवियप्पसदोह विर्यरिदा १०३४। जलजघाफलपुष्प पत्तगिसिहाण धूममेवाण। धारामकठतूजोदीमरुदाण चारणा कमसो १०३५। अण्णो विविहा भगा चारणरिद्धीए भाजिदा भेदा। तां सत्तुव कहणे उवएसो अम्ह उच्छिण्णो १०४८।—चारण ऋद्धि क्रमसे जलचारण, जंघाचारण, फलचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण, अग्निशिखाचारण, धूमचारण, मेघचारण, धाराचारण, मर्कटतन्तुवारण, ज्योतिषचारण और मरु-चारण इत्यादि अनेक प्रकारके विरूप समूहोंसे विस्तारको प्राप्त है। १०३४-१०३५। इस चारण ऋद्धिके विविध भगोंसे युक्त विभक्त किमे हुए और भी भेद होते हैं। परन्तु उनके स्वल्पका कथन करनेवाला उपदेश हमारे लिए नष्ट हो चुका है। १०४८।

घ ६/४,१,१६/७८/७ ७८/१० तथा पृ ८०/६ जल-व-त-तु-फल पुष्प-भोज-आयास सेठीमेएण अट्टविहा चारणा। उच्च च- (गा सं २१) ७८-१०। चारणाणमेथ एगसजोगादिकमेण विसदपचर्पचासभगा उप्पाएदव्वा। कथमेग चारित्तं विचित्तसत्तिमुप्पायय। ण परिणाममेएण गाणाभेद-भिण्णचारित्तादो चारणमवुत्तं पटि विराहाभावादो। कथ पुण चारणा अट्टविहा त्ति जुण्देण ए स दोसो, गियमाभावादो, विसदपचर्पचा-सचारणाण अट्टविहाचारणेहिता एयतेण पृथत्ताभावादा च।—जल, जघा, तन्तु फल, पुष्प, भोज, आकाश और श्रेणीके भेदसे चारण ऋद्धि धारक, आठ प्रकार है। कहा भी है। (गा न २१ में भी यही आठ भेद कहे हैं। (रा वा ३/३६/३/२०३/७), (चा सा २१८/१।

यहाँ चारण ऋषियोंके एक संयोग, दो संयोग आदिके क्रमसे २५५ मंग उत्पन्न करना चाहिए। एक मयोगी—८, द्विसयोगी—२८, त्रिसयोगी—६६, चतुसयोगी—७०, पंचसयोगी—६६, षट्सयोगी—२८, सप्तसयोगी—८, अष्टमयोगी—१। कुल भग—२५५। (विशेष दे गणित II/४) प्रश्न—एक ही चारित्र इन विचित्र शक्तियोंका उत्पादक कैसे हो सकता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि परिणामके भेदसे नाना प्रकार चारित्र होनेके कारण चारणोंकी अधिकतामें कोई विरोध नहीं है। प्रश्न—जब चारणोंके भेद २५५ हैं तो फिर उन्हें आठ प्रकार का बतलाना कैसे युक्त है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, उनके आठ होनेका कोई नियम नहीं है। तथा २५५ चारण आठ प्रकार चारणोंसे पृथक् भी नहीं हैं।

३ आकाशचारण व आकाशगामित्व

१ आकाशगामित्व ऋद्धिका लक्षण

ति प ४/१०३३ १०३४ । अट्ठोओ आसोणा काउसग्गेण ह्दरेण । १०३३। गच्छेदि जोए एसो रिद्धो गयणगामिणो नाम । १०३४। —जिस ऋद्धिके द्वारा कायोत्सर्ग अथवा अन्य प्रकारसे ऊर्ध्व स्थित होकर या बैठकर जाता है वह आकाशगामिनी नामक ऋद्धि है।

रा बा ३/३६/३/२०२/३१ पर्यङ्कावस्था निपण्णा वा कायात्सर्गशरीरा वा पादाद्विधारनित्थेपणविधिमन्तरेण आकाशगमनकुशला आकाशगामिनी । —पयङ्कासनसे बैठकर अथवा अन्य किसी आसनसे बैठकर या कायोत्सर्ग शरीरसे (पैरोंको उठाकर रखकर (धबसा)) तथा बिना पैरोंको उठाये रखे आकाशमें गमन करनेमें जो कुशल होती है, वे आकाशगामी हैं। (घ ६/४,१,१०/८०/४), (बा सा २१८/४)।

घ ६/४,१,१६/८०/४ आगासे जह्छेए गच्छेता इच्छिदपवेस माणु-उत्तर पवभावरुद्धं आगासगामिणो त्ति वेत्थो । देवविज्जाहरण गगगहणं जिणसद्गुणवत्तीदो । —आकाशमें इच्छानुसार मानुषोत्तर पर्वतसे विरे हुए इच्छित प्रदेशोंमें गमन करनेवाले आकाशगामी हैं, ऐसा प्रहण करना चाहिए। यहाँ देव व विद्याधरोंका प्रहण नहीं है, क्योंकि 'जिन' शब्दकी अनुवृत्ति है।

२ आकाशचारण ऋद्धिका लक्षण

घ ६/४,१,१०/८०/२ चउहि अगुलेहिंतो अहियपमाणेण भूमोदो उवरि आयासे गच्छेत्तो आगासचारणो नाम । —चार अगुलसे अधिक प्रमाणमें भूमिसे ऊपर आकाशमें गमन करनेवाले ऋषि आकाशचारण कह जाते हैं।

३ आकाशचारण व आकाशगामित्वमें अन्तर

घ ६/४,१,१६/८०/४ 'आगासचारणगमागासगामोणं च को विसेसो । उच्चदे—चरणं चारित्तं सज्जो पावकिरियाणिरोहा त्ति एयट्ठो, सत्ति कुसलो गिण्णो चारणो । तवविसेसेण जणिदआगासहियजोव (वध) परिहरणकुशलत्तणेण सहिदो आगासचारणो । आगासगमन-मेलजुसा आगासगामी । आगासगामित्तादो जीववधपरिहरणकुशलत्त-णेण विसेसिदआगासगामित्तस विसेसुपल भादो अरियि विसेसो । —प्रश्न—आकाशचारण और आकाशगामीके क्या भेद हैं। उत्तर—चरण, चारित्र, समय व पापक्रिया निरोध, इनका एक ही अर्थ है। इसमें जो कुशल अर्थात् निपुण है वह चारण कहलाता है। तप विशेषसे उत्पन्न हुई, आकाशस्थित जीवोंके (वधके) परिहारकी कुशलतासे जो सहित है वह आकाशचारण है। और आकाशमें गमन करने मात्रसे आकाशगामी कहलाता है। (अर्थात् आकाशगामीको जीववध परिहारकी अपेक्षा नहीं होती)। सामान्य आकाशगामिरवकी अपेक्षा जीवोंके वध परिहारकी कुशलतासे विशेषित आकाशगामिरवके विशेष-पता पायी जानेसे दोनोंमें भेद है।

४ जलचारण निर्देश

१ जलचारणका लक्षण

घ ६/४,१,१०/८०-३, ८१-७ तथ भूमोए ह्व जलवाहयजीवाणं पीठम काऊण जलमफुम्भता जह्छेए जलगमणसरथा रिखओ जलचारणा नाम । पउणिपत्त व जलपासेण विणा जलमज्जगामिणो जलचारणा त्ति किण्ण उच्चत्ति । ण एस दोसो, इच्छिज्जमज्जात्तादो । ७९-३। ओसकलासधूमराहिमादिचारणाणं जलचारणेसु अत्तम्भावो, आउक्का ह्यजीवपरिहरणकुशलत्त पठि माहम्मदसणादो । ८१-७। —जो ऋषि जलकायिक जीवोंकी भाषा न पहुँचाकर जलको न छूते हुए इच्छा अनुसार भूमिके समान जलमें गमन करनेमें समर्थ है, वे जलचारण कह लाते हैं। (जलपर भी पादनिसेपूर्वक गमन करते हैं)। प्रश्न—पश्चिमीपत्रके समान जलको न छूकर जलके मध्यमें गमन करनेवाले जलचारण क्यों नहीं कहलाते। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ऐसा अभीष्ट है। (ति. प ४/१०३६) (रा बा ३/३६/३/२०२/२८) (बा सा २१८/२)। ओम, ओला, कुहरा और बर्फ आदि पर गमन करने-वाले चारणोंका जलचारणोंमें अन्तर्भाव होता है। क्योंकि, इनमें जलकायिक जीवोंके परिहारकी कुशलता देखी जाती है।

२ जलचारण व प्राकाम्य ऋद्धिमें अन्तर

घ ६/४,१,१०/७९/४ जलचारण-पागम्मरिद्धीणं दोण्ह को विसेसो । घणपुट्ठवि-मरुसायारामन्तो सब्वसरारेण पवेससत्तो पागम्म नाम । तथ जीवपरिहरणकुशल चारणत्त । —प्रश्न—जलचारण और प्राकाम्य इन दोनों ऋद्धिधर्मोंमें क्या विशेषता है। उत्तर—सवन पृथिवी, मेरु और समुद्रके भीतर सब शरीरसे प्रवेश करनेकी शक्तिको प्राकाम्यऋद्धि कहते हैं, और यहाँ जीवोंके परिहारकी कुशलताका नाम चारण ऋद्धि है।

५ जघाचारण निर्देश

ति प १०३७ चउर गुलेमेत्तमहिं छहिय गयणम्मि कुटिलजाणु मिणा । ज बहुजोयणगमण सा जघाचारणा रिद्धो । १०३७। —चार अंगुल प्रमाण पृथिवीको छोड़कर आकाशमें घुटनोंको मोढ़े बिना (या जबदी जबदी जघाओंको उत्तरेप निसेप करते हुए—रा बा) जो बहुत योजनो तक गमन करना है, वह जघाचारण ऋद्धि है। (रा बा ३/३६/३/२०२/२६), (बा सा २१८/३)।

घ ६/४,१,१०/७९/७, ८१/४ भूमोए पुट्ठविहयजीवाण माहमकाऊण अणेजोयणसयगामिणो जघाचारणा नाम ७९ ७। चिक्खल्लधार-गोबर-भूसादिचारणाण जघाचारणेसु अत्तम्भावो, भूमोदो चिक्खला-दोण कधंवि भेदाभावादा । ८१-४। —भूमिमें पृथिवीकायिक जीवोंकी भाषा न करके अनेक सौ योजन गमन करनेवाले जघाचारण कहलाते हैं। कीचड़, भस्म, गोबर और भूसे आदि परसे गमन करनेवालोंका जघाचारणोंमें अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, भूमिसे कीचड़ आदिमें कथंचित् अभेद है।

६ अग्नि, धूम, मेघ, तन्तु, वायु व श्रेणी चारण

ति प ४/१०४१-१०४३, १०४४, १०४७ अविराह्द्विगु जीवे अग्निमहा-लंठिए विचित्ताणं । जं ताण उवरि गमण अग्निमहाचारणा रिद्धी । १०४१। अधउह्दुत्तरियपसर धूम अवलंविऊण ज देत्ति । पदखेवे अवलंलिया सा रिद्धी धूमचारणा नाम । १०४२। अविराह्द्विगुजीवे अगु काए बहुविहाण मेघाणं । ज उवरि गच्छिद्दमुणी सा रिद्धी मेघचारणा-नाम । १०४३। मल्लडयत्त तुपत्तीउवरि अदिलपुओ तुरदपदखेवे । गच्छेदि सुग्गिमेहेसी सा मल्लडयत्तुचारणा रिद्धी । १०४४। पाणाविह्द्विगुमल्ल-पवेसपत्तीसु देत्ति पदखेवे । ज अवलंलिया मुग्गिणो सा मारुदचारणा रिद्धी । १०४७। —अग्निशिवामें स्थित जीवोंकी विराघना न करके उन विचित्र अग्नि-शिवोंपरसे गमन करनेको 'अग्निशिव चारण' ऋद्धि कहते हैं । १०४१। जिस ऋद्धिके प्रभावसे मुनिजन तीचे ऊपर

५ तपश्चरिद्वि निर्देश

१. उग्रतपश्चरिद्वि निर्देश

घ ६/४.१.२२/८७-४, ८६ ई उग्रतपः दुविहा उग्रगुणतवा अवष्टिगुणतवा चेदि । तथ जो एकोनवास काऊण पारिय दो उववासी करेदि, पुनरवि पारिय तिण्णि उववासे करेदि । एवमेगुत्तरवट्टीए जाव जीवद त तिगुत्तिगुत्ता हाडुण उववासे करेत्तो उग्रगुणतवो णम । एदस्सु-ववास पारणाणयणे सुत्त—‘उत्तरगुणिते तु धने पुनरुपपत्तिपदेऽत्र गुणमादिस् । उत्तरविशेषित वर्गित च योज्यायेन्मूलम् । २३ । इत्यादि तथ दिक्वट्टेमेगोववास काऊण पारिय पुणा प्यवहत्तेरेण गच्छत्तस्स किञ्चिणमित्तेण छट्ठोववासी जादो । पुणा तेण छट्ठोव-वासणे विहरत्तस्स अट्ठमाववासी जादो । एव दममदुवालसादिद्वमेण हेट्ठा ण पदतो जाव जीवदत्तं जो विहरदि अवट्ठिगुणतवो णम । एद पि तवोविहाणं वीरियंतराह्यक्वओवसमेण हादि । —उग्रतपश्चरिद्विधके धारक दो प्रकार हैं—उग्रतपश्चरिद्विध धारक और अवस्थित-उग्रतपश्चरिद्विध धारक । उनमें जो एक उपवासको करके पारणा कर दो उपवास करता है, पश्चात् फिर पारणा कर तीन उपवास करता है । इस प्रकार एक अधिक चरिद्विधके साथ जीवन पर्यन्त तीन गुप्तियोंसे रक्षित होकर उपवास करनेवाला उग्रतपश्चरिद्विध धारक है । इसके उपवास और पारणाओंका प्रमाण लानेक लिए सूत्र—(यहाँ चार गाथाएँ दी हैं जिनका भावार्थ यह है कि १४ दिन में १० उपवास व ४ पारणाएँ आते हैं । इसी क्रमसे आगे भी जानना) (ति प ४/१०५०-१०५१) दोहाके लिए एक उपवास करके पारणा करे, पश्चात् एक दिनके अंतरसे ऐसा करते हुए किमी निमित्तस पछोपवास (वैला) हो गया । फिर (पूर्ववत्तवद् ही) उस पछोपवासमें विहार करनेवाले के (कदाचित्) अष्टमोपवास (वैला) हा गया । इस प्रकार दशम-द्वादशम आदि क्रमसे नीचे न गिरकर जा जीवन पर्यन्त विहार करता है, वह अवस्थित उग्रतपश्चरिद्विधका धारक कहा जाता है । यह भी तप-का अनुष्ठान वीर्यान्तरायके शयोपशमसे हाता है । (रा वा ३/३६/३ २०३/५), (चा सा २२०/१) ।

२. धोर तपश्चरिद्वि निर्देश

ति प ४/१०५४ जलमूलपुष्पहाणं रोगेणच्चतपीडिअगा पि । सार्हति दुद्धर्धं रतव जोए सा धोरतवरिद्विधो ॥१०५४॥
घ ६/४.१.२६/६२/२ उववासेसुखमासोववासे, अवमोदरियसु एकक्वलो उत्तिपरिसंखामु चत्तरे गोयराभिग्गहो, रसपि धाग्गसु उच्छजलजुदो-यणभोयणं, विवित्तसयणासणेसु वय-वग्ग तरच्छ छव्वल्लिदसावयसे-वियामुसज्जविज्जुडुडुस्सु णिवासी, कायकिलेसेसुत्तिव्वहिमवासादिण-वद तविसएस्सु अम्भाकासकवमूलादावणजाग्गहणं । एवमग्ग तरच्छेवु वि उल्लट्ठतवपरूवणा कायव्वा । एसो धारह विह वि तवो कायर-ज्जाणं उल्लसज्जणो त्ति धोरत्तवो । सो जेमि ते धोरत्तवो । धारसवि-हसवज्जट्ठवट्ठण वट्टमाणा धोरतवा त्ति भाणद होदि । एसो वि तवजणिअरिद्विधो चेव, अण्णहा एव विहावरणापुववत्तदो । —(ति प) जिस चरिद्विधके मूलसे उग्र और क्षुलादिव रोगस शरीरके अथ्य त पीडित हाने पर भी साधुजन दुद्धर्धर तपको सिद्ध करते हैं वह धार तपश्चरिद्विध है । १०५४ । उपवासमें छह मासका उपवास अवमोदर्य तपमें एक प्रास वृत्तिपरिसंख्याओंमें चौराहेमें भिक्षाको प्रतिज्ञा, रसपरिस्वागोंमें उण्ण जल युक्त ओदनका भोजन विवित्तशय्यासनोमें वृक, व्याघ्र, तरय, छव्वल्ल आदि शवापद अथवा हिं सजीवोंसे सेवित सद्ग, विन्ध्य आदि (पर्वतोंको) अटवियोंमें निवास, कायवलेशोंमें तीव्र हिमालय आदिके अन्तर्गत देशोंमें खुले आकाशके नीचे अथवा श्रममूलसे आतापन योग अथवा ध्यान ग्रहण करना । इसी प्रकार अभ्यन्तर तपोंमें भी उच्छृङ्खल तपकी प्ररूपणा करनी चाहिए । ये धारह प्रकार ही तप कायर जनोको भयोपपादक हैं, इसी कारण धोर तप

और तिरछे फैलनेवाले धूपका अवलम्बन करके अस्खलित पादमेप देते हुए गमन करते हैं वह ‘धूमचारण’ नामक चरिद्विध है । १०४२ । जिस चरिद्विधसे मुनि अष्कायिक जीवोंको पीडा न पहुँचाकर बहुत प्रकारके मेघोंपरसे गमन करता है वह ‘मेघचारण’ नामक चरिद्विध है । १०४३ । जिसके द्वारा मुनि महर्षि शोधतासे किये गये पद-विशेषमें अत्यन्त सधु होते हुए मकड़ीके तन्तुओंको पक्तिपरसे गमन करता है वह मकड़ातन्तुचारण’ चरिद्विध है । १०४४ । जिसके प्रभावसे मुनि नाना प्रकारकी गतिसे युक्त वायुके प्रदेशोंको पक्ति परसे अस्खलित होकर पदविशेष करते हैं, वह ‘मारुतचारण’ चरिद्विध है । (रा वा ३/३६/३/२०२ २७), (चा सा २१८/१) ।

घ ६/४.१.१०/८०-१ ८१—धूमग्गि-गिरि-तरु ततुसताणेसु उड्डारोहण-सत्तिंसजुत्ता सेहोचाग्गा णाम । ८०-१ । धूमग्गिवाद-मेहादिचारणाण ततु-सेहोचारणेसु अतम्भओ, अनुलोमविलोमगमणेसु जीवपीडा अकरणसत्तिंसजुत्तादो । —धूम, अग्नि पर्वत और वृक्षके तन्तु समूह परसे ऊपर चढ़नेकी शक्तिसंयुक्त ‘श्रेणी चारण’ है । धूम, अग्नि, वायु और मेघ आदिके आश्रयसे चलनेवाले चारणोंका तन्तु-श्रेणी’ चारणोंमें अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि, वे अनुलोम और प्रतिलोम गमन करनेमें जीवोंको पीडा न करनेकी शक्तिसंयुक्त हैं ।

७ धारा व ज्योतिष चारण निर्देश

ति प ४/१०४४.१०४६ अविराहिय तल्लोणे जीवे वणमुक्खवारिधाराण । उवरि जं जादि मुणी सा धाराचारणा चरिद्वि ॥१०४४॥ अघउद्धतिरिय-परसे किरणे अविलंबिदूण जोदीण । ज गच्छेदि तवस्सो सा रिद्धी जोदि चारणा णाम । १०४६ । —जिसके प्रभावसे मुनि मेघोंसे छोड़ी गयी जलधाराओंमें स्थित जीवोंको पीडा न पहुँचाकर उनके ऊपरसे जाते हैं वह धारा चारण चरिद्विध है । १०४४ । जिससे तपस्वी नीचे ऊपर और तिरछे फैलनेवाली ज्योतिषी वेवोंके धिमानोंकी किरणोंका अवलम्बन करके गमन करता है वह ज्योतिषचारण चरिद्विध है । १०४६ । इन दोनोंका भी पूर्व वाले शीर्षकमें दिये धवला ग्रन्थके अनुसार तन्तु श्रेणी चरिद्विधमें अन्तर्भाव हो जाता है ।

८ फल पुष्प वीज व पत्रचारण निर्देश

ति प ४/१०३८ १०४० अविराहिय जीवे तल्लोणे वणप्फणाण विविहाण । उवरिन्मि ज पधावदि स चिय फलचारणा रिद्धी । १०३८ । अविरा-हिदूण जीवे तल्लोणे बहुविहाण पुप्फणा । उवरिन्मि ज पसपदि सा रिद्धी पुप्फचारणा णाम । १०३९ । अविराहिदूण जीवे तल्लोणे बहुविहाण पत्तान । जा उवरि वच्चदि मुणी सा रिद्धी पत्तचारणा णामा । १०३९ । —जिस चरिद्विधका धारक मुनि वनफलोंमें, फूलोंमें, तथा पत्तोंमें रहने-वाले जीवोंकी विराधना न करके उनके ऊपरसे जाता है वह फल-चारण, पुष्पचारण तथा पत्रचारण नामक चरिद्विध है ।

घ ६/४.१.१७/७६ ७, ८१ ई ततुफनपुप्फयीजचारणाण पि जलचारणाणं व वत्तव्व । ७६-७ । कुयुद्धो-मुक्खण-पिपीलियादिचारणाण फलचारणेसु अतम्भावो, तस जीवपरिहरणकुमलत्त पठि भेदाभावादो । पत्तकुर-ण पवासादिचारणाण पुप्फचारणेसु अतम्भावो, हरिदकायपरिहरण-कुसन्तेण साहम्मादो । ८१/४ । —तन्तुचारण, फलचारण, पुष्पचारण और बीजचारणाका स्वरूप भी जलचारणोंके समान कहना चाहिए (अर्थात् उनमें रहने वाले जीवोंको पीडा न पहुँचाकर उनके ऊपर गमन करना) । ७६-७ । कुयुजव, सुक्खण, और पिपीलिका आदि परसे संचार करनेवालोंका फलचारणोंमें अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, इनमें असजीवोंके परिहारकी कुशलताकी अपेक्षा कोई भेद नहीं है । पत्र, अकुर, तृण और प्रवाल आदि परसे संचार करनेवालोंका पुष्पचारणोंमें अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, हरितकाय जीवोंके परिहारकी कुशलताकी अपेक्षा इनमें समानता है ।

कहलाते हैं। वह तप जिनके होता है वे घोरतप श्रद्धिधके धारक हैं। बारह प्रकारके तपोंकी उत्कृष्ट अवस्थामें वर्तमान साधु घोर तप कहलाते हैं, यह तपार्थ है। यह भी तप जनित (तपसे उत्पन्न होने वाली) श्रद्धि ही है, क्योंकि, भिना तपके इस प्रकारका आचरण बन नहीं सकता। (रा वा ३/३६/३/२०३/१२), (चा सा २२३/२)।

३ घोर पराक्रम तप श्रद्धि निर्देश

ति प ४/१०५६-१०५७ गिरुवमवद्वतसवा तिवृषणमहरणकरसत्तिजु-
चा। कंटयसिलगिपव्यधुमुष्णापगुदिवरिसणसमरथा। १०५६। सहस
त्ति सयलसायसरल्लिउपपोत्स सासणसमरथा। जायत्ति जीए मुणिणे
घोरपरकमतव त्ति सा रिद्धी। १०५७। —जिस श्रद्धिके प्रभावसे मुनि
जन अनुपम एवं वृद्धितप तपसे सहित, तोनों लोकोंके संहार करनेकी
शक्तिके युक्त, कंटक, शिना, अग्नि, पर्वत, धुआँ तथा उष्ण आदिके
भरसत्तेमें समर्थ, और सहसा सम्पूर्ण समुद्रके सलिलसमूहके सुवानेकी
शक्तिके भी सयुक्त होते हैं वह घोर-पराक्रम तप श्रद्धि है। १०५६-
१०५७। (रा वा ३/३६/३/२०३/१६), (घ ६/४,१,२७/६३/२), (चा
सा २२३/१)

४ घोर ब्रह्मवर्ष तप श्रद्धि निर्देश

ति प ४/१०५८-१०६० जीएण होंति मुणिणे खेत्तम्मि वि पोपहुदि-
बाधाओ। कालमहाजुद्धादो रिद्धी सघोरमहाचारिता। १०५८। उवात्स-
खउवसमे चारित्तावरणमोहकम्मस्स। जा दुस्सिमण नासइ रिद्धी सा
घोरमहाचारिता। १०५९। अथवा—सम्बन्धुणेहि अधोरं महेसिणो महा-
सहचारित। विष्णुरिदाए जीए रिद्धी साघोरमहाचारिता। (१०६०)।
—जिस श्रद्धिके मुनिके क्षेत्रमें भी चौरादिककी बाधाएँ और काल एवं
महायुद्धादि नहीं होते हैं, वह 'अधोरं महाचारित' श्रद्धि है। १०५८।
(घ ६/४,१,२६/६४/३), (चा सा २२३/४) चारित्रमोहनीयका
उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर जो श्रद्धि पु स्वप्नकी नष्ट करती है तथा
जिस श्रद्धिके आविर्भूत होनेपर महर्षिजन सम गूणोंके साथ अधोर
अर्थात् अविनश्वर ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं वह अधोर ब्रह्म-
चारित्व श्रद्धि है। १०५६-१०६०। (रा वा तथा चा सा में इस
लक्षणका निर्देश ही घोर गुण ब्रह्मचर्यके लिए किया गया है)। (रा
वा ३/३६/३/२०३/१६), (चा सा २२३/३)।

घ ६/४,१,२६/६३-६, ६४-२ घोरा रव्हा गुणा जेसि ते घोरगुणा।
कधं चरसादिलखलगुणां घोरत्त। घोरकज्जकारिसत्तिजणनाओ।
६४६। ब्रह्म चारित्र पचवत्त-समिति-त्रिगुण्यारमकम्, शान्तिवुट्टि-
हेतुत्वात्। अधोरा शान्ता गुणा यस्मिन् तदधोगुणं अधोरगुण, ब्रह्म-
चरन्तीति अधोरगुणब्रह्मचारिण। एतथ अकारो किण्ण मुणिज्जदे।
सधिणिग्गे सदा। १६-२। —घोर अर्थात् रौघ है गुण जिनके वे घोर गुण
कहे जाते हैं। प्ररन—चौरासी लाख गूणोंके घोरत्व कैसे सम्भव है।
उत्तर—घोर कार्यकारी शक्तिको उत्पन्न करनेके कारण उनके घोरत्व
सम्भव है। ब्रह्मका अर्थ पाँच व्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिस्वरूप
चारित्र है, क्योंकि वह शास्त्रिके पोषणका हेतु है। अधोर अर्थात्
शान्त है गुण जिसमें वह अधोर गुण है। अधोर गुण ब्रह्म (चारित्र)
का आचरण करनेवाले अधोर गुण ब्रह्मचारी कहलाते हैं। (भावार्थ—
अधोर शान्तको कहते हैं। जिनका ब्रह्म अर्थात् चारित्र शास्त्र है
उनका अधोर गुण ब्रह्मचारी कहते हैं। ऐसे मुनि शान्ति और पुष्टिके
कारण होते हैं, इसीलिए उनके तपचरणके माहारात्म्यसे उपरोक्त ईति,
भीति, युद्ध व बुभिक्षादि शास्त्र हो जाते हैं। (चा सा २२३/३)।
—प्ररन—'गमो घोरगुणबन्धुचारिणं' इस सूत्रमें अधोर शब्दका अकार
क्यों नहीं सुना जाता। उत्तर—सन्धिभुक्त निर्देश होनेसे।

२ घोर गुण और घोर पराक्रम तपमें अन्तर

घ ६/४,१,२८/६३/८ गुण परकमणमयेत्तं गुणजजि दससोए परकम-
वपरसादो। —गुण और पराक्रमके एकत्व नहीं हैं, क्योंकि गुणसे
उत्पन्न हुई शक्तिकी पराक्रम सहा है।

५. तप्त दीप्त व महातप श्रद्धि निर्देश

ति प ४/१०५२-१०५४ मरुपिहउवमसेहि रविममवद्वतसवायकिज्जा।
कायमणवयणमणिणा जीए सा दित्ततवरिद्धी। १०५२। उच्चो सोहकहा
पडिअधुक्कं म जीए भुत्तण। भिज्जहि धाऊहि सा गियक्काएहि
तत्तसवा। १०५३। मवरपं सिप्पमुहे महोपवास वरेदि सव्वे मि। १०५४
सण्णण वत्तेण जीए सा महातवा रिद्धी। १०५४।

घ ६/४,१,२३/६०/६ तेसि ण केवल दित्ति पेय वडुददि पित्तु बत्तो
वि वडुददि। तेण ण तेसि भुत्ति वि तेण कारणभावादो। ण
भुक्खानुक्खवसमणट्ठं भुजति, तदभावादो। तदभावो वृत्तोगम्यरे।
—जिस श्रद्धिके प्रभावसे मन, वचन और कायमें वलित शक्तिके बहूत
प्रकारके उपवासों द्वारा सूर्यके समान दीप्ति अर्थात् शरीरकी किरणों
का समूह बढ़ता हो वह 'दीप्त तप श्रद्धि' है। १०५२। (रा वा ३/३६/
३/२०३/६), (चा सा २२३/२)। (घवनामें उपरोक्तके अतिरिक्त
यह और भी कहा है कि उनके केवल दीप्ति ही नहीं बढ़ती है,
किन्तु बल भी बढ़ता है। इसीलिए उनके आहार भी नहीं होता,
क्योंकि उसके कारणोंका अभाव है। यदि कहा जाय कि भूतके
दुःखको शान्त करनेके लिए वे भोजन करते हैं सा भी ठीक नहीं है,
क्योंकि उनके भूतके दुःखका अभाव है।) तपो हुई नोहेकी कड़ाही-
में गिरे हुए जलकणके समान जिस श्रद्धिके स्वाया हुआ अत्र धातुओं
सहित क्षीण हो जाता है अर्थात् मत्त-मूत्रादि रूप परिणमन नहीं
करता है, वह निज ध्यानसे उत्पन्न हुई तप्त 'तप श्रद्धि' है। १०५३।
(रा वा ३/३६/३/२०३/१०), (घ ६/४,१,२४/६१/१), (चा सा
२२३/३)। जिस श्रद्धिके प्रभावसे मुनि चार सम्पत्तियों (मति, द्रष्ट, अवधि व मन पर्यय) के बलसे मन्दिर पत्थि प्रमुख सब ही महाद्
उपवासोंकी करता है वह 'महा तप श्रद्धि' है। (रा वा ३/३६/३/
२०३/११)।

घ ६/४,१,२६/६१/६ अणिमादिअट्ठगुणोवेदो जलचारणादिअट्ठविह
चारणगुणलकरियो पुरतसरीरप्पहो दुविहअवलीणारिद्धिजुत्तो
सम्बोसहो सल्लो पाणिपत्तणिविदिसव्वहारी अमियसादसल्लोप
पल्लट्ठावणसमथो सयल्लिदेहिदो वि अणत्तमत्तो आसी—दिट्ठ-
विसल्लिद्विधसमणिजो तत्ततथो सयल्लिज्जाहारा मदि सुद जोहि मण-
पज्जवणाणेहि मुणिद्विहवणवावारी मुणी महातवो णम। वरमात्।
महरवहेतुत्तपाविषोपो महानुच्यते उपचारण, स वेपं ते तपस'
इति सिद्धधवात्। अथवा महसां हेतु तप उपचारेण महा इति
भवति। —जो अणिमादि आठ गुणोंसे सहित हैं जलचारणादि
आठ प्रकारके चारण गुणोंसे अलंकृत हैं, प्रकाशमान शरीर प्रभासे
सयुक्त हैं, दो प्रकारकी अक्षीण श्रद्धिके युक्त हैं, सर्वोपय स्वरूप हैं,
पाणिपात्रमें गिरे हुए आहारको अमृत स्वरूपसे पलटानेमें समर्थ हैं,
समस्त इन्द्रियोंसे अनन्तगुणे पलके धारक हैं, आशीर्षि और दधि-
विष लम्घियोंसे समन्वित हैं तप्ततप श्रद्धिके सयुक्त हैं, समस्त
विद्याओंके धारक हैं, तथा मति, द्रष्ट, अवधि, मन पर्यय हानोंसे
तीनों लोकोंके व्यापारकी जाननेवाले हैं, वे मुनि 'महातप श्रद्धि'के
धारक हैं। कारण कि महस्वसे हेतुभूत तपविषोपको उपचारसे महाद्
कहा जाता है। वह जिनके होता है वे महातप श्रद्धि हैं, ऐसा सिद्ध
है। अथवा, महस्व अर्थात् तेजोका हेतुभूत जो तप है वह उपचारसे
महा हाता है। (तात्पर्य यह कि सातों श्रद्धियोंकी उत्कृष्टताको प्राप्त
होनेवाले श्रद्धि महातप युक्त समझे जाते हैं।)

६ बल श्रद्धि निर्देश

ति प ४/१०६१-१०६६ बलरिद्धिघी तिविहप्पा मणवयणसरीरयाणमे
एण। सुदणणावरणाए पगडीए वीरयत्तरायाए। १०६१। उवकसवखउव-
समे सुहृत्तमेत्ततरम्मि सयल्लसुद। चित्तइ जाणइ जीए सा रिद्धी मण-
पत्ता णामा। १०६२। जिम्मिदियणोइदिय—सुदणणावरणाविरयवि-
ग्घाणं। उक्कसखअवसमे सुहृत्तमेत्ततरम्मि मुणी। १०६३। सयल पि

सुत्र जागृ उच्चरद् जीए विष्णुत्तरीए । असयो अहिकठो सा रिद्धीउ
गेया वयणमलनामा । १०६४। उक्तास्त्रउममे पविसेसे विरियविग्ध-
पगदोए। मासचउमासपमुहे काउसगे वि समहोणा । १०६५। उच्चटिठय
तेष्तोर्क्क भक्ति कणिट्ठुलोए अण्णरथ । घविद जीए समरथा सा
रिद्धी कायमलनामा । १०६६। = मन वचन और कायके भेदसे बल
ऋद्धि तीन प्रकार है । इनमें-से जिस ऋद्धिधके द्वारा श्रुतज्ञानावरण
और बोधान्तराय इन दो प्रकृतियोंका उत्कृष्ट क्षयोपशम होनेपर
मुहूर्तमात्र कालके भीतर अर्थात् अन्तर्मुहूर्त कालमें सम्पूर्ण श्रुतका
चिन्तवन करता है वह जानता है, वह 'मनोबल' नामक ऋद्धि है
। १०६९ १०६९। जिम्मेन्द्रियावरण, नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और
बोधान्तरायका उत्कृष्ट क्षयोपशम होनेपर जिस ऋद्धिधके प्रगट होनेसे
मुनि प्रमरहित और अहीनकट होता हुआ मुहूर्तमात्र कालके भीतर
सम्पूर्ण श्रुतको जानता व उसका उच्चारण करता है उसे 'वचनबल'
नामक ऋद्धि जानना चाहिए । १०६३-१०६४। जिस ऋद्धिधके बलसे
बोधान्तराय प्रकृष्टिके उत्कृष्ट क्षयोपशमको विशेषता होनेपर मुनि,
मास व चतुर्मासदिरूप कायोत्सर्गको करते हुए भी प्रमसे रहित हाते
हैं, तथा शीघ्रतासे तीनों लोकोंको कनिष्ठ अंगुलीके ऊपर उठाकर
अन्यत्र स्थापित करनेके लिए समर्थ होते हैं, वह 'कायबल' नामक
ऋद्धि है । १०६५ १०६६। (रा वा ३/३६/३/२०३/१६) (घ ६/४, १,
३६-३७/६-६६), (चा सा २२४/१)।

७ औपध ऋद्धि निर्देश

१. औपध ऋद्धि सामान्य

रा वा ३/३६/३/२०३/२४ औपधऋद्धिघटविधा-असाध्यानामप्यामयानां
सर्वेषां विनिवृत्तिहेतुरामर्शस्वेलजलमलविट्सर्वौपधिप्राप्तास्याविप
दृष्टिविपक्वपाव । = असाध्य भी सर्व रोगोंको निवृत्तिकी हेतु-
भूत औपध-ऋद्धि आठ प्रकारकी है-आमर्ष, स्वेल, जल, मल,
विट्, सर्व, आस्याविप और दृष्टिविप । (चा सा २२४/१)।

२ आमर्ष स्वेल जल मल व विट् औपध ऋद्धि

ति प ४/१०६-१०७ रिसिकरचरणदीर्घां अश्लयमेत्तन्मि । जीए
पासमि । जोवा होंति गिरोगा सा अम्मरिखोसही रिद्धी । १०६८।
जीए लासासेमच्छीमलसिहाणआदिआसिग्घ । जीवाण रोगहरणा स
न्चिय खेत्तोसही रिद्धी । १०६९। सेयजलो अगय जल भण्णेत्ति
जीए तेणावि । जीवाण रोगहरणं रिद्धी जत्तोसही नामा । १०७०।
मोहीट्ठुद तणासासोत्तादिमल पि जीए सत्तीए । जीवाण रोगहरणं
मत्तोसही नाम सा रिद्धी । १०७१। = जिस ऋद्धिधके प्रभावसे जीव
पासमें आनेपर रूपिके हस्त व पादादिके स्पर्शमात्र से ही निरोग हो
जाते हैं, वह 'आमर्षोपध' ऋद्धि है । १०६८। जिस ऋद्धिधके प्रभावसे
सार, कफ, अक्षिमल और नासिकामल शोध ही जीवोंके रोगोंको नष्ट
करता है वह 'स्वेलोपध' ऋद्धि है । १०६९। पसोनेके आश्रित अगयज
जल कहा जाता है । जिस ऋद्धिधके प्रभावसे उस अगयजसे भी जीवों
के रोग नष्ट होते हैं, वह 'जलोपध' ऋद्धि कहलाती है । १०७०। जिस
शक्तिके जिह्वा ओठ, दाँत, नासिका और श्रोत्रादिकका मल भी
जीवोंके रोगोंको दूर करनेवाला होता है, वह 'मलोपध' नामक
ऋद्धि है । (रा वा ३/३६/३/२०३/२४), (घ ६/४, १, ३६-३७/६-६७),
(चा सा २२४/२)।

२. आमर्षोपध व अधोरगुण ब्रह्मचर्यमें अन्तर

प ६/४, १, ३०/६६/१ तवोमाहणेण जेसि फासो सयलोसहस्रवत्त पत्तो
तेसिमाम्मरिसो सहिपत्ता त्ति सण्णा । = न च एदेसिमधोरगुणवर्ग-
मारोण अतम्भावो, एदेसि वाहिविणासणे पेव सत्तिदसणादो । = तप
के प्रभावसे जिनका स्पर्श समस्त औपधियोंके स्वरूपको प्राप्त हो गया
है, उनको आमर्षोपधि प्राप्त ऐसी सझा है । इनका अधो-रगुणब्रह्मचारियों
में अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि, इनके अर्थात् अधोरगुण ब्रह्मचा-

रियोंके केवल व्याधिके नष्ट करनेमें ही शक्ति देखी जाती है ।
(पर उनका स्पर्श औपध रूप नहीं होता) ।

३. सर्वोपध ऋद्धि निर्देश

ति प ४/१०७३ जीए पस्सजलाणिलरोमणहादीणि वाहिहरणाणि ।
दुक्खरवजुत्ताणं रिद्धी सव्वोही नामा । १०७३। = जिस ऋद्धिधके बलसे
दुष्कर तपसे युक्त मुनियोंका स्पर्श किया हुआ जल व वायु तथा उन
के रोम और नखादिक व्याधिके हरनेवाले हो जाते हैं, वह सर्वोपधि
नामक ऋद्धि है । (रा वा ३/३६/३/२०३/२६), (चा सा २२४/५)
घ ६/४, १, ३४/६७/६ रस-रुधिर-मांस-मेदटिठ-मज्ज-सुक्क-पुप्फस-खरोस-
कालेज्ज मुत्त-पित्तुत्तरादयो सव्वे ओसाहत्त पत्ता जेसि ते सव्वो-
सहिपत्ता । = रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, श्लेष्मक, पुप्फस
खरोप, कालेय, सूत्र पित्त, अँतड़ो, उच्चार अर्थात् मल आदिक सब
जिनके औपधियेको प्राप्त हो गये हैं वे सर्वोपधिप्राप्त जिन हैं ।

४ आस्यनिर्विप व दुष्टिनिर्विप औपध ऋद्धि

ति प ४/१०७४ १०७६ तित्तादिविहम्मणं विस्सुज्जुत्त जीए वयणमे-
त्तेण । पावेदि णिन्विस्सत्ता सा रिद्धी वयणणिन्विस्सा नामा । १०७४।
अथवा बहुवाहाहि परिभूदा भक्ति होंति गीरोगा । सोदु वयणं जीए
सा रिद्धी वयणणिन्विस्सा नामा । १०७५। रोगाविसेहि पद्दा विट्ठीए
जीए भक्ति पावति । गीरोगणिन्विस्सत्ता सा भणिदा दिट्ठणिन्विस्सा
रिद्धी । १०७६।

रा वा ३, ३६, ३/२०३/३० उग्रविपसपृक्तोऽप्याहारो येपामास्यगतो
निर्विपीभवति यदीयास्यनिर्गतं वच प्रवणाहा महाविपपरीता अपि
निर्विपीभवन्ति ते आस्याविपा । = (ति प) — जिस ऋद्धिधसे तिका-
दिक रस व विपसे युक्त विविध प्रकारका अन्न वचनमात्रसे ही
निविपताको प्राप्त हो जाता है, वह 'वचननिर्विप' नामक ऋद्धि है
। १०७५। (रा वा) — उग्र विपसे मिला हुआ भी आहार जिनके मुखमें
जाकर निर्विप हो जाता है, अथवा जिनके मुखसे निकले हुए वचनके
सुनने मात्रसे महाविप व्याप्त भी कोई व्यक्ति निर्विप हो जाता है वे
'आस्याविप' हैं । (चा सा २२६/१) । (ति प) अथवा जिस ऋद्धिधके
प्रभावसे बहुत व्याधियोंसे युक्त जीव, अपिके वचनको सुनकर ही
क्रुटसे निरोग हो जाया करते हैं, वह वचन निर्विप नामक ऋद्धि है
। १०७६। रोग और विपसे युक्त जीवजिस ऋद्धिधके प्रभावसे क्रुट देखने
मात्रसे ही निरोगता और निविपताको प्राप्त कर लेते हैं, वह 'दृष्टि-
निर्विप' ऋद्धि है । १०७६। (रा वा ३/३६/३/२०३/३२), (चा सा २२६/२)

८ रस ऋद्धि निर्देश

१. आशीविप रस ऋद्धि

ति प ४/१०७-१०८ मर इदि भणिये जोओ मरेइ सहस त्ति जीए सत्तीए ।
दुक्खरतवजुदमुणिणा आसीविस नाम रिद्धी सा । = जिस शक्तिके
दुष्कर तपसे युक्त मुनिके द्वारा मर जाओ इस प्रकार कहने पर जीव
सहसा मर जाता है, वह आशीविप नामक ऋद्धि कही जाती है ।
(रा वा ३/३६/३/२०३/३४) (चा सा २२६/४)

घ ६/४, १, २०/६६/४ अवधिमानस्यार्थस्य आशसनमाशी, आशीविप
एपा ते आशीविषा । जेसि जं पडि मरिहि त्ति वयणं णिप्पट्ठिदं त
मारेदि, भिक्ख भमेत्तिवयण भिक्ख भमावेदि सोस छिज्जउ त्ति
वयण सोस छिददि, आसीविसा नाम समणा । कथं वयणस्स विस-
सण्णा । विसमिव विसमदि उवयारादो । आसी अविसममिय जेसि
ते आसीविसा । जेसि वयण थावर जगम-दिसपरिदजोवे पडुष्ण
'णिन्विस्सा होतु' त्ति णिस्सरिद ते जीवावेदि । वाहिधेयण-दालिहा-
दिविलय पडुष्ण णिप्पट्ठित्तं सत्तं त तं कज्जं करेदि ते वि आसीवि-
सात्ति उत्त होदि । = अविद्यमान अर्थको इच्छाका नाम आशीप है ।
आशीप है विप (वचन) जिनका वे आशीविप कहे जाते हैं । 'मर
जाओ' इस प्रकार जिनके प्रति निकला हुआ जिनका वचन उसे मारता

है, 'भिक्षाके लिए भ्रमण करो' ऐसा वचन भिक्षार्थ भ्रमण कराता है, 'शिरका छेद हो' ऐसा वचन शिरको छेदता है, (अशुभ) आशीर्विष नामक साधु हैं। प्रश्न—वचनके विष संज्ञा कैसे सम्भव है। उत्तर—विषके समान विष है। इस प्रकार उपचारसे वचनको विष संज्ञा प्राप्त है। आशिष है अविष अर्थात् अमृत जिनका वे (शुभ) आशीर्विष हैं। स्थावर अथवा जगम विषमे पूर्ण जीवोंके प्रति 'निषिद्ध हो' इस प्रकार निकला हुआ जिनका वचन उन्हें जिलाता है व्याधिवेदना और दारिद्र्य आदिके विनाश हेतु निकला हुआ जिनका वचन उस उस कार्यको करता है, वे भी आशीर्विष हैं, यह सूत्रका अभिप्राय है।

२. दृष्टिविष व दृष्टि अमृत रस ऋद्धि

१ दृष्टिविष रस ऋद्धिवका लक्षण

ति प ४/०७९ जीए जीबो दिट्ठो महासिणा रोसभरिदहिदण।
अहिदट्ठो व मरिज्जदि दिट्ठिविसा णाम सा रिद्धी ॥०७९॥—जिस ऋद्धिके बलसे रोपयुक्त द्वय वाले महर्षिसे देखा गया जीब सर्प द्वारा काटे गयेके समान मर जाता है, वह दृष्टिविष नामक ऋद्धि है (रा बा ३/३६/३/२०४/१), (पा सा २२७/१)

घ ६/४१,२१/८६/७ दृष्टिरिति चसुमनसोर्ग्रहण, तत्रोभयत्र दृष्टिशब्द-
प्रवृत्तिदर्शनात्। तत्साहचर्यार्कमणोऽपि। रुद्धो यदि जीएदि
चित्तिदि किरिय करेदि वा 'मारेमि' ति तो मारेदि, अण पि अमुह-
कम्म सरंभयुषावलोयणेण कुणमाणोदिट्ठविसो णाम।—दृष्टि
शब्दने यहाँ चसु और मन (दोनों) का ग्रहण है, क्योंकि उन दोनों-
में दृष्टि शब्दको प्रवृत्ति देखी जाती है। उसकी सहचरतासे क्रियाका
भी ग्रहण है। रुष्ट होकर वह यदि 'मारता हूँ' इस प्रकार देखता है
(या) सोचता है व क्रिया करता है तो मारता है, तथा क्रोधपूर्वक
अवलोकनसे अन्य भी अशुभ कार्यका करनेवाला (अशुभ) दृष्टिविष
कहलाता है।

२ दृष्टि अमृतरस ऋद्धिवका लक्षण

घ ६/४,१,२१/८६/१ एव दिट्ठअमियाणं पि जाणिदण लमखण वत्तव्वं।
—इसी प्रकार दृष्टि अमृतोंका भी लक्षण जानकर कहना चाहिए।
(अर्थात् प्रसन्न होकर वह यदि 'नोरोग करता हूँ' इस प्रकार देखता
है, (या) सोचता है व क्रिया करता है तो नोरोग करता है, तथा
प्रसन्नतापूर्वक अवलोकनसे अन्य भी शुभ कार्यको करनेवाला दृष्टि-
अमृत कहलाता है)।

३. दृष्टि अमृत रस ऋद्धि व अधोरग्रहाचार्य तपमें अन्तर

घ ६/४,१,२६ ६/४/६ दिट्ठअमियाणमधोरगुणवभयारीण व को विसो।
उबजोगसहेज्जदिट्ठीए दिट्ठलद्धिधुत्ता दिट्ठिविसा णाम। अधोर
गुणवभयारीणं पुण लद्धो अस खेज्जा सब्बगगया, एवसिमंगलग्गवादे
वि मयलोवहवविणासणसत्तिदं णादो तदो। अरिष भेदो। नवरि
अमुद्वनद्वधानं पउतो लखिमत्ताणमिच्छावसवट्ठो। सुहाणं पउत्तो
पुण दोहि वि पयारेहि सभवदि, तदिच्छाप विणा वि पउत्तिदस-
णादो।—प्रश्न—दृष्टि-अमृत और अधोरगुणग्रहाचार्यके क्या भेद हैं।
उत्तर—उपयोगकी सहायता युक्त दृष्टिमें स्थित लब्धिसे सयुक्त दृष्टि-
विष कहलाते हैं। किन्तु अधोरगुणग्रहाचार्योंको लब्धियाँ सर्वांगत
असंख्यात हैं। इनके शरीरसे स्पृष्ट वायुमें भी समस्त उपद्रवोंको नष्ट
करनेकी शक्ति देखी जाती है इस कारण दोनोंमें भेद है।

विशेष इतना है कि अशुभ लब्धियोंकी प्रवृत्ति लब्धियुक्त जीवों
की इच्छाके वशसे होता है। किन्तु शुभ लब्धियोंकी प्रवृत्ति दोनों ही
प्रकारोंसे सम्भव है, क्योंकि उनकी इच्छाके बिना भी उक्त लब्धियों-
की प्रवृत्ति देखी जाती है।

३. क्षीर-मधु-सर्पि व अमृतसावी रस ऋद्धि

ति प ४/१००-१००७ करयलणि मित्ताणि रुक्खाहारादियाणि तत्काल।
पार्वति खीरभाव जीए खीरोसवी रिद्धी ॥१००॥ अहवा दुक्खप्पहुदी

जीए मुणिसयणसवणमेत्तेणं। परामदि णरतिरियाणं स चिय खीरो-
सवी ऋद्धी ॥१००॥ मुणिकृद्गणितवताणि रुक्खाहारादियाणिर्हाति-
खणे। जीए मधुररसाह स चिय महुवासवी रिद्धी ॥१००२॥ अहवा
दुक्खप्पहुदी जीए मुणिसयणसवणमेत्तेणं। णासदि णरतिरियाणं
सचिय महुवासवी रिद्धी ॥१००३॥ मुणिपाणिसठियाणि रुक्खाहारा-
दियाणि जोय खणे। पार्वति अमियभाव एसा अमियासवी ऋद्धी
॥१०८४॥ अहवा दुक्खवादीणं महेसियणस्स सवणकालम्मि। णासंति
जीए सिग्घ रिद्धी अमियासवी णामा ॥१०८५॥ रिसिपाणितलणि-
भित्त रुक्खाहारादियं पि खणमेत्ते। पार्वेदि सत्पिरुक्ख जीए सा
सप्पियासवी रिद्धी ॥१०८६॥ अहवा दुक्खप्पमुद्ध सवणेण मुणिदव्वव-
यणस्स। उवसामदि जीवाणं एसा सप्पियासवी रिद्धी ॥१०८७॥—
जिससे हृत्तलपर रखे हुए रूखे आहारादिक तत्कालही दुग्धपरिणाम
को प्राप्त हो जाते हैं, वह 'क्षीरसावी' ऋद्धि वही जाती है ॥१०८०॥
अथवा जिस ऋद्धिसे मुनियोंके वचनके श्रवणमात्रसे ही मनुष्य
तिर्यचोंके दु खादि शान्त हो जाते हैं उसे क्षीरसावी ऋद्धि समझना
चाहिए ॥१०८१॥ जिस ऋद्धिसे मुनिके हाथमें रखे गये रूखे आहारा-
दिक क्षणभरमें मधुररससे युक्त हो जाते हैं वह 'मध्वासवी' ऋद्धि है,
॥१०८२॥ अथवा, जिस ऋद्धि-मुनिके वचनोंके श्रवणमात्रसे मनुष्यति-
र्यचके दु खादिक नष्ट हो जाते हैं वह मध्वासावी ऋद्धि है ॥१०८३॥
जिस ऋद्धिसे प्रभावसे मुनिके हाथमें स्थित रूखे आहारादिक
क्षणमात्रमें अमृतपनेको प्राप्त करते हैं वह अमृतसावी नामक ऋद्धि
है ॥१०८४॥ अथवा जिस ऋद्धिसे महर्षिके वचनोंके श्रवण कालमें
क्षीम ही दु खादि नष्ट हो जाते हैं, वह अमृतसावी नामक ऋद्धि
है ॥१०८५॥ जिस ऋद्धिसे ऋषिके हृत्तलमें निक्षिप्त रूखा आहारा-
दिक भी क्षणमात्रमें घृतरूपको प्राप्त करता है वह 'सर्पिरासावी' ऋद्धि
है ॥१०८६॥ अथवा जिस ऋद्धिसे प्रभावसे मुनोन्मदे दिव्य वचनोंके
सुननेसे ही जीवोंके दु खादि शान्त हो जाते हैं, वह सर्पिरासावी
ऋद्धि है ॥१०८७॥ (रा बा ३/६६/३/२०४/२), (घ ६/४ १,२८/४१/६१
१०१) (च सा २२७/२)—नाट-धवलामें हस्तपुटवाले लक्षण हैं। वचन
वाले नहीं। रा बा व चा सा में दोनों प्रकारके हैं।

४. रस ऋद्धि द्वारा पदार्थोंका क्षीरादि रूप परिणमन कैसे सम्भव है ?

घ ६/४,३,३८/१००/१ कथ रसत्तरेसु दिठ्यदव्वाण तवखणादेव खीरा-
सादसरूवेण परिणामो। ण, अमियससुद्धम्मि णिबदिदविसस्सेव
पंचमहव्वय समिह तिगुत्तिकलावघडिदंजलिउदणवदियाण तदवि-
रोहादो।—प्रश्न—अन्य रसोंमें स्थित द्रव्यका तत्काल ही क्षीर
स्वरूपसे परिणमन कैसे सम्भव है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिस
प्रकार अमृत समुद्रमें गिरे हुए विषका अमृत रूप परिणमन होनेमें
कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार पाँच महाव्रत, पाँच समिति और
तीन गुप्तियोंका समूह से घटित अजलिघटमें गिरे हुए सब आहारोंका
क्षीर स्वरूप परिणमन करनेमें कोई विरोध नहीं है।

९ क्षेत्र ऋद्धि निर्देश

१. अक्षीण महानस व अक्षीण महालय ऋद्धिके लक्षण

ति प ४/१०८६-१०८९ लाभतरायकम्मखउवससजुटए जीए फुडं।
मुणिश्रुत्तमसेसमणं धामरथ पिय ज क पि ॥१०८६॥ तद्विषसे खज्जर्ज
खधावारेण चक्खवट्ठस्स। किज्जह न लवेण वि सा अक्खीणमहाणसा
रिद्धो ॥१०८७॥ जीए चउधयुमाणे समचउरसालयम्मि णरतिरिया।
मंसियसलेज्जा सा अक्खीणमहालाया रिद्धो ॥१०८८॥—लाभान्तराय-
कर्मके सयुपशमसे सयुक्त जिस ऋद्धिके प्रभावसे मुनिके आहारसे शेष,
भोजनशालामें रखे हुए अन्नमेंसे जिस किसी भी प्रिय वस्तुको यदि
उस दिन चक्रवर्तीकासम्पूर्ण घटक भी खावे तो भी वह लेशमात्र क्षीण
नहीं होता है, वह 'अक्षीणमहानसिव' ऋद्धि है ॥१०८६-१०८६॥ जिस
ऋद्धिसे समचतुष्कोण चार धनुषप्रमाण क्षेत्रमें असरयात मनुष्य

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

ऋषि पंचमी व्रत—(व्रतविधान संग्रह १०६)—पुनः समय — ६ वर्ष ६ मास, उपवास सरया—६६, विधि—आषाढ़ शुक्ल ६ से प्रारम्भ करके प्रति मासकी दो दो पक्षियोंको उपवास करे, जाप्यमंत्र—नमस्कार मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे।

ऋषिपुत्र—निमित्त क्षारा तथा ऋषिपुत्र संहिताके रचयिता एक ज्योतिषाचार्य। समय—ई श ६-७ की सन्धि। (सी २/२६२ २६६)

ऋषि मडल यत्र—दे यत्र।

ऋषि मंत्र—दे मंत्र १/६।

ऋषिवंश—एक पौराणिक राज्य वंश—दे इतिहास १०/४।

[ए]

एकट्ठी—दो के अकको छ दफे वर्ग करनेसे जो संख्या आब यह होगी। (त्रि गा ६६)—दे वृ जै क्षरा द्वि खठ।

एद्रदत्त—विनयवादी।

एक—१ द्रव्यमें एक अनेक धर्म—दे अनेकांत ४ २ मतिज्ञानका एक भेद—दे मतिज्ञान ४, ३ एक मत्स्याकां नोकृति कहते हैं—दे कृति, एकको गणितमें रूप भी कहते हैं, ४ पट्टधर्मोंमें एक ओक विभाग—दे द्रव्य ३।

एकजटि—८८ ग्रहों में ७४वाँ ग्रह ज्योतिषी देन (त्रि गा ३६६)—दे वृ जै क्षरा द्वि खठ

एकत्व—आप्त भी ३४ सत्तामान्यात्तु सर्वव्यं पृथग्द्रव्यादिभेदतः। भेदाभेदव्यवस्थायामसाधारणहेतुवत् ॥३४॥ —भेदाभेदकी विवक्षामें असाधारण हेतुके तुल्य सत्तामान्यसे समकी प्रकृति है और पृथक्-पृथक् द्रव्य आदिभेद भेद से भेद भी है।

स सा/आ/परि/शक्ति नं ३१ अनेकपर्यायव्यापकैकद्रव्यमथरूप एकरव्यवस्था। अनेक पर्यायोंमें व्यापक ऐसी एक द्रव्यमयत्तारूप एकरव्यवस्था है।

प्र सा/त/प्र १०६ तद्भावो ह्येकरव्यवस्था लक्षणम् ।—तद्भाव एकत्वका लक्षण है।

आ प्र ६ स्वभावानामेकधारत्वादेकत्वभावः ।—अनेक स्वभावोंका एक आधार होनेपर 'एक स्वभाव' है।

वै द ७/२/१ रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकादर्थान्तरमेकरव्यवस्था ।—रूप, रस, गन्ध, स्पर्शके व्यतिरेकसे अर्थान्तरभूत एकरव्यवस्था है।

* परके साथ एकत्व कहनेका अभिप्राय—दे कारक २

* परमएकत्वके अपर नाम—दे मोक्षमार्ग २/६।

एकत्व प्रत्यभिज्ञान—दे प्रत्यभिज्ञान।

एकत्व भावना—दे अनुप्रेक्षा।

एकत्व विक्रिया—दे धैक्रियक।

एकत्वानुप्रेक्षा—दे अनुप्रेक्षा।

एकदिशात्मक—(ध ६/प्र २०) one directional

एकदेश—दे देश।

एकनासा—रघुवंश पर्वत विवाहिनी दम्पती—दे लोक ६/१३

एकपर्व—एक औषधि विद्या—ध. विद्या।

एकभक्त—एकनासा—२ प्रायश्चित्तवर्ग/१, २ नायिका पुन पुन —दे शापु।

यू.आ ३४ उदयपथमणे वास पात्रीतिम मत्तमममि मत्तममि। एकमि दुअ तिण मा मुहुत्तपानेयमर्त्त वृ १३५।—सूर्यके उदय और अस्तमान की तीनों पक्षों का उदय, या मध्यमानम एक मुहूर्त दो मुहूर्त, तीन मुहूर्त कालमें एक बार भोजन करता एकभक्त है। (यू आ ४६०), (विशेष ४ आहार ११/१)

एकरात्रि प्रतिमा—य आ/वि ४०२/४६६/० एकरात्रिभवा मिह-प्रतिमा निरूपयते। उपवाससमय कृत्वा चतुर्धा रात्रौ घामनगरादे-र्महिदेधे रगमाने या प्राट्मुर उदट्मुररत्तैरगात्रिभवा वा धूरा वा चतुर्गुणमात्रादागतो नागिकादृष्टिस्तमस्तमिह। सुष्ठु प्रजिहति चित्त चतुर्भिर्धोषमगमह न चान्य पदेष्ट गावत्सु, उदेति ।—तीन उपवास करनेक अनन्तर चौथी रात्रिमें घाम नगरादिभवा का प्रवेशमें अथवा रमजानमें पूषदिगा उत्तरदिशा अथवा चैरय (वसिमा)के सम्मुख मुग करके दोनों बगनोंमें चार अंगुल प्रमाणका अन्तर रखकर नासिकासे अग्रभागपर रह गति अगनी दृष्टि निरवध करता है। घोरपर या ममरय रोह देता है, अर्थात् कागोसर्ग करता हुआ मनको एकाग्र करता है। देख मनुष्य, तिमिर व अचेतन इन द्वारा किया हुआ चार प्रकार उपसर्ग रहन करता है। वह मुनि भगनी आगेगमन करता नहीं और नीचे गिरता भी नहीं। मूर्खोंका होने वषा ही स्थित रहता है। यह एकरात्रि प्रतिमा दुश्मन है।

एकलठाणा—व्रतविधान संग्रह २६) — मात्र एक बार परोसा हुआ भोजन मठाप पूर्वक करना।

एकल विहारी—यू आ १४६ तन्मनुष्यमत्तमगत्तमावर्त्तयङ्गादि समगगा य। पवित्रा आगमवनिजो एवविहारी अपुगादो ॥४६॥ —रूप, मूत्र शरीर व मनके बनने मुक्त हो, पछर भावनामें रह हो शुभ परिणाम, उत्तमगहनन तथा वृत्ति अर्थात् मनोबन्धसे मुक्त हो, दीप्ता व आगममें बननावत् हो तात्पर्य यह कि तपोबुद्ध, ज्ञानबुद्ध, आधारबुद्धान व आगम बुद्धान पुन विविध साधुओं ही जिनेपरने अरसे विहारके निर स सम्मति दी है। (और भी दे जिनरत्न)

* पंचमकालमें एकलविहारी साधुका नियम—दे विहार।

एकलव्य—भा पु/सर्ग (स्तोक) गुरुद्रोणाचार्यका शिष्य एक भीत था, स्तूपमें गुरुद्रोणाचार्यकी स्थापना करके उनसे शम्भार्थ बेधनी विद्या प्राप्तकी (१०/२२३), फिर गुरु द्रोणाचार्यक अर्जुन सहित साक्षात् दर्शन होनेपर गुरुको आशानुसार गुरुको अपने दाहिने हाथ का अंगुठा अर्पण करके उसने अपनी गुरुभक्तिका परिचय दिया। (१०/२६२)

एकविंशति गुणस्थान प्रकरण—रवेताम्बराचार्य सिद्धसेन दिवाकर (ई ६६०) द्वारा रचित संस्कृत भाषाबद्ध गुणस्थान-वस्तु एक ग्रन्थ।

एकविध—मतिज्ञानका एक भेद —दे मतिज्ञान ४।

एकशील—पूर्व विदेहका एक वंशज, उसका एक कूट तथा उसका रक्षक दय—दे लोक ६/३।

एकश्रेणी वर्गणा—दे वर्गणा।

एकसंस्था—एक संस्थायो नोकृति कहते हैं—दे कृति।

एक संस्थान—एक ग्रह—दे ग्रह।

एकसे एकको समति—(घ ४/प्र २७)—One to one correspondence

एकांत—वस्तुके जटिल स्वरूपको न समझनेके कारण, व्यक्ति उसके किसी एक या दो आदि अल्पमात्र अंगोंका जान लेने पर यह समझ बैठता है कि इतना मात्र ही उसका स्वरूप है, इससे अधिक कुछ नहीं। अतः उसमें अपने उस निश्चयका पक्ष उदित हो जाता है, जिसके कारण वह उसी वस्तुके अन्य सद्ब्रूत अंगोंको समझनेका प्रयत्न करनेकी बजाय उनका निषेध करने लगता है। उनके पीछे अन्य वादियोंके साथ विवाद करता है। यह बात इन्द्रिय प्रत्यक्ष विषयोंमें तो इतनी अधिक नहीं होती, परन्तु आत्मा, ईश्वर, परमाणु आदि परोक्ष विषयोंमें प्रायः करके होती है। दृष्टिको संकुचित कर देने वाला यह एकान्त-पक्षपात राग-द्वेषकी पुष्टता करनेके कारण तथा व्यक्तिके व्यापक स्वभावको कुण्ठित कर देनेके कारण मोक्षमार्गमें अत्यन्त अनिष्टकारी है। स्याद्वाद-सिद्धान्त इसके विषयको दूर करनेको एकमात्र औपधि है। क्योंकि उसमें किसी अपेक्षासे ही वस्तुको उस रूप माना जाता है, सर्व अपेक्षाओंसे नहीं। तहाँ पूर्व कथित एकान्त मिथ्या है और किसी एक अपेक्षासे एक धर्मात्मक वस्तुको मानना सम्यक् एकान्त है।

१ सम्यक् मिथ्या एकान्त निर्देश

१ एकान्तके सम्यक् व मिथ्या भेद निर्देश

२ सम्यक् व मिथ्या एकान्तके लक्षण

* नय सम्यक् एकान्त होती है —दे नय १/२

३ एकान्त शब्दका सम्यक् प्रयोग

* एकान्त शब्दका मिथ्या प्रयोग —दे एकान्त ४/५

४ सर्वथा शब्दका सम्यक् प्रयोग

* सर्वथा शब्दका मिथ्या प्रयोग —दे एकान्त ४/५

२ एवकारकी प्रयोग विधि

* एवकारके अयोग व्यवच्छेद आदि निर्देश —दे 'एव'

१ एवकारका सम्यक् प्रयोग

२ एवकारका मिथ्या प्रयोग

३ एवकार व चकार आदि निपातोकी सम्यक् प्रयोग विधि

४ विवक्षा स्पष्ट कह देनेपर एवकारकी आवश्यकता अवश्य पड़ती है

५ विना प्रयोगके भी एवकारका ग्रहण स्वतः ही होता है

६ एवकारका प्रयोजन इष्टार्थावधारण

७ एवकारका प्रयोजन अन्ययोगव्यवच्छेद

* स्यात्कार प्रयोग निर्देश —दे. स्याद्वाद ५

* एवकार व स्यात्कारका समन्वय —दे स्याद्वाद ५

३ सम्यगेकान्तकी इष्टता व इसका कारण

* वस्तुके अनेको विरोधी धर्मोंमें कथंचित् अवरोध
दे अनेकान्त ४/५

१ वस्तुके सर्व धर्म अपने पृथक्-पृथक् स्वभावमें स्थित हैं
२ किसी एक धर्मकी विवक्षा होनेपर उस समय वस्तु उत्तनी मात्र ही प्रतीत होती है

३ एक धर्म मात्र वस्तुको देखते हुए अन्य धर्म उस समय विवक्षित नहीं होते

* धर्मोंमें परस्पर मुख्य गौण व्यवस्था —दे स्याद्वाद ३

४ ऐसा साक्षेप एकान्त हमें इष्ट है

* वस्तु एक अपेक्षासे जैसी है अन्य अपेक्षासे वैसी नहीं है
—दे अनेकान्त ४/४

४ मिथ्या-एकान्त निराकरण

१ मिथ्या-एकान्त इष्ट नहीं है

२ एवकारका मिथ्याप्रयोग अज्ञान सूचक है

३ मिथ्या-एकान्तका कारण पक्षपात है

४ मिथ्या एकान्तका कारण सकीर्ण दृष्टि है

५ मिथ्या-एकान्तमें दूषण

६ मिथ्या-एकान्त निषेधका प्रयोजन

५ एकान्त मिथ्यात्व निर्देश

१ एकान्त मिथ्यात्वका लक्षण

२ ३६३ एकान्त मत निर्देश

* ३६३ वादोंके लक्षण —दे वह वह नाम

३ एकान्त मिथ्यात्वके अनेको भग

४ कुछ एकान्त दर्शनोका निर्देश

* पद दर्शनो व अन्य दर्शनोका स्वरूप —दे वह वह नाम

* जैनाभासी सध —दे इतिहास ६।

* एकान्तवादा जैन वास्तवमें जैन नहीं —दे जिन २

५ एकान्त मत सूची

* सब एकान्तवादियोंके मत किसी न किसी नयमें
गर्भित हैं —दे अनेकान्त २/६

१ सम्यक् मिथ्या एकान्त निर्देश

१. एकान्तके सम्यक् व मिथ्या भेद निर्देश

रा बा १/६/७/३१/३३ एकान्तो द्विविध —सम्यगेकान्तो मिथ्यैकान्त इति । —एकान्त दो प्रकारका है सम्यगेकान्त और मिथ्या एकान्त ।
(स भ त ७३/१०)।

२ सम्यक् व मिथ्या एकान्तके लक्षण

रा बा १/६/७/३५/२४ तत्र सम्यगेकान्तो हेतुविशेषसामर्थ्यापेक्ष प्रमाण-प्ररूपितार्थैकदेशादेश । एकात्म्यावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवण-प्रणिधिर्मिथ्यैकान्त । —हेतु विशेषकी सामर्थ्यसे अर्थात् सुष्ठुक्त्युक्त रूपसे, प्रमाण द्वारा प्ररूपित वस्तुके एकदेशको ग्रहण करनेवाला सम्यगेकान्त है और एक धर्मका सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मोंका निराकरण करनेवाला मिथ्या एकान्त है ।

स भ त ७३/११ तत्र सम्यगेकान्तस्तावत्प्रमाणविषयीभूतानेकधर्मात्मक-वस्तुनिष्ठैकधर्मगोचरो धर्मान्तराप्रतिषेधक । मिथ्यैकान्तस्त्वेकधर्म-

मन्त्राधारणेनान्यायेधर्मनिराकरणप्रयत्नः'।—सम्पयेकांत तो प्रमाण सिद्ध अनेक धर्मस्वरूप जो वस्तु है, उस वस्तुमें जो रहनेवाला धर्म है, उस धर्मको अन्य धर्मोंका निषेध न करके विषय करनेवाला है। और पदार्थोंके एक ही धर्मका निषेध करके अन्य सम्पूर्ण धर्मोंका निषेध करनेमें जो तत्पर है वह मिथ्या-एकान्त है। (विशेष देखे विकलावेश)।

३ 'एकान्त' शब्दका सम्यक् प्रयोग

प्र सा/सू ६६ जाद सयं समत्तं णामणत्तरथविषयं विमलं । रहियं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगतिथि भणियं ॥६६॥ —स्वजात, सर्वांगते जानता हुआ तथा अनन्त प्रदेशोंमें विस्तृत, विमल और अवग्रह आदिसे रहित ज्ञान एकान्तिक सुख है, ऐसा कहा है।

प्र सा/सू ६६ एगतेण हि वेहो सुहं ण वेहिस्स कृणदि सग्गे वा । विसय-वत्तेण दु सोयलं दुयल वा हवदि सयमादा ॥६६॥ —एकान्तसे अर्थात् नियमसे स्वर्गमें भी आत्माको शरीर सुख नहीं देता परन्तु विषयोंके वशसे सुख अथवा दुःख रूप स्वयं आत्मा होता है।

स श ७१ 'मुक्तेरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला घृति । तस्य नैकान्तिकी मुक्तियस्य नास्त्यचला घृति ॥' —जिस पुरुषके चित्तमें आत्मस्वरूपको निश्चल धारणा है, उसको एकान्तसे अर्थात् अवश्य मुक्ति होती है। तथा जिस पुरुषकी आत्मस्वरूपमें निश्चल धारणा नहीं है उसकी एकान्तसे मुक्ति नहीं होती है।

ध १/१, १, १४१/३६२/७ सव्ययस्यानन्तस्य न ह्योऽस्तीत्येकान्तोऽस्ति । —व्यय होते हुए भी अनन्तका क्षय नहीं होता है, यह एकान्त नियम है।

स सा/आ १४ संयुक्तरूप भूतार्थमप्येकान्ततत्त्व स्वयमोघमोजस्वभाव-सुपेर्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । —यद्यपि मोह संयुक्तता भूतार्थ है तो भी एकान्त रूपसे स्वयं मोघ मोजस्वरूप चैतन्य स्वभावको लेकर अनुभव करनेसे वह अशुद्धाथ है।

स सा/आ २७२ प्रतिपिद्य एवं चाय, आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात् पराश्रितव्यवहारनयस्यैकान्तैनामुच्यमानेनाभ्रव्ये नाप्याश्रयमाणत्वाच्च ।" —और इस प्रकार यह व्यवहार नय निषेध करने योग्य ही है, क्योंकि, आत्माश्रित निश्चयनयका आश्रय करने वाले ही मुक्त होते हैं और पराश्रित व्यवहार नयका आश्रय तो एकान्ततत्त्व मुक्त नहीं होनेवाला अभव्य ही करता है।

प्र सा/त प्र २१६ तस्य सर्वथा तदविनाभावविरूपप्रसिद्धयदैकान्तिका-अशुद्धोपयोगसंज्ञावस्यैकान्तिकमन्धरवेन छेदरवमेकान्तिकमेव । —ऐसा जो परिग्रहका सर्वथा अशुद्धोपयोगके साथ अविनाभावविरूप है उससे प्रसिद्ध होनेवाले एकान्तिक अशुद्धोपयोगके सन्नाशके कारण परिग्रह तो एकान्तिक बन्धरूप है।

४ सर्वथा शब्दका सम्यक् प्रयोग

मो पा/सू ३२ इदि जाणिज्जणोई बवहार चयह सव्वहा सव्व । भ्रायह परमम्पणं जह भणिय जिणवरिदेण ॥३२॥ —ऐसे पूर्वोक्त प्रकार जान-कार योगी ध्यानी मुनि हैं सो सर्व व्यवहारको सर्वथा छोड़े हैं और परमात्मको ध्यावै हैं। कैसे ध्यावै हैं—जैसे जिनवरदेन तीर्थंकर सर्वज्ञ देवने कहा है तैसे ध्यावै हैं।

इ उ २७ एकोऽहं निर्मम सुदधो ज्ञानी योगीन्द्रगोचर । बाह्या संयोगजा भावा मत्त सर्वेऽपि समथा ॥२७॥ —मैं एक हूँ, निर्मम हूँ, सुदध हूँ, ज्ञानी हूँ, योगीन्द्रोंके गोचर हूँ। इनके सिवाय जितने भी रागद्वेषादि संयोगी भाव हैं व सम सर्वथा मुक्तसे भिन्न हैं।

स सा/आ ३१ स्पष्टादीन्द्रियार्थाश्च सर्वथा स्वतः पृथक्करणेन विजित्योपरतममस्तज्ञेयज्ञायकसंकरदोषत्वेन परमार्थतोऽतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितेन्द्रियो जिन इत्येका निश्चयस्तुति । —इस प्रकार जो मुनि स्वर्थादि द्रव्येन्द्रियों के भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंको सर्वथा पृथक् करनेके द्वारा जीतकर ज्ञेयज्ञायक

संकरदोषके दूर होनेसे सर्व अन्यद्रव्योंसे परमार्थतः भिन्न ऐसे अपने आत्माका अनुभव करते हैं वे निश्चयसे जितेन्द्रिय जिन हैं। इस प्रकार एक निश्चय स्तुति हुई।

स सा/आ २६६/क १८४ एकश्चित्तश्चिन्मय एव भावो, भावा परे ये किल ते परेयाम् । ग्राह्यस्तत्तश्चिन्मय एव भावो, भावा परे सर्वत् एव हेया ॥१८४॥ —चैतन्य तो एक चिन्मय ही भाव है, और जो अन्य भाव हैं वे वास्तवमें दूसरोंके भाव हैं। इसलिए चिन्मय भाव ही ग्रहण करने योग्य है अन्य भाव सर्वथा रयाज्य हैं।

प्र सा/त प्र १६२ ममानेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपययिपरिणामस्याकर्तुरनेक-परमाणुद्रव्यैकपिण्डपययिपरिणामात्मकशरीरकर्तृत्वस्य सर्वथा विरोधात् । —में अनेक परमाणु द्रव्योंके एक पिण्डरूप परिणामका अकर्ता हूँ, (इसलिए) मेरे अनेक परमाणु द्रव्योंके एकपिण्ड पययिरूप परिणामात्मक शरीरका कर्ता होनेमें सर्वथा विरोध है।

प्र सा/त प्र २१६ तस्य सर्वथा तदविनाभावविरूपप्रसिद्धिः । —पणिग्रह-का सर्वथा अशुद्धोपयोगके साथ अविनाभावविरूप है।

यो मा/अ ६/३५ न ज्ञानज्ञानिनोर्भेदो विद्यते सर्वथा यतः । ज्ञाने ज्ञाते ततो ज्ञानी ज्ञातो भवति तत्त्वतः ॥३५॥ —ज्ञान और ज्ञानीका परस्पर में सर्वथा भेद नहीं है, इसलिए जिस समय निश्चय नयसे ज्ञान जान लिया जाता है उस समय ज्ञानी आत्माका भी ज्ञान हो जाता है।

२ एवकारकी प्रयोग विधि

१. एवकारका सम्यक् प्रयोग

प प्र/सू १/६७ अप्पा अप्पु जि परु जि परु अप्पा परु जिण होइ । परु जि कयाइ वि अप्प णविणियमे पमणाहि जोइ ॥ —निज वस्तु आत्मा ही है, देहादि पदार्थ पर ही हैं। आत्मा तो परद्रव्य नहीं होता और परद्रव्य भी कभी आत्मा नहीं होता। ऐसा निश्चय कर योगीश्वर कहते हैं।

रा वा १/७/१४/१६/१६ अधिकरणम् आरमन्वेवासाँ तत्र तरफलदर्शनात्, कर्मणि कर्मकृते च कार्यादावुपचारतः । —(आसवका) अधिकरण आत्मा ही होता है, क्योंकि कर्म-विपाक उसमें ही दिखाई देता है। कर्म निमित्तक शरीरादि उपचारसे ही आधार है।

स सा/आ १०६ पुद्गलकर्मण किल पुद्गलद्रव्यमेवैक कर्तुं अर्थते पुद्गलकर्मविपाकविकरपादरन्त्यन्तमचेतना सन्तत्योदशकृत्तर केवला एव यदि व्याप्यव्यापकभावेन किंचिनापि पुद्गलकर्म कुर्युस्तदा कुर्युरेव, किं जीवस्याप्राप्तितम् । —वास्तवमें पुद्गलकर्मका, पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है, । अब जो पुद्गलकर्मके विपाकके प्रकार होनेसे अत्यन्त अचेतन हैं ऐसे ये तेरह (गुणस्थान) कर्ता ही, मात्र व्याप्यव्यापक भावसे यदि कुछ भी पुद्गलका कर्म करे तो भले कर्म करे, इसमें जीवका क्या आया।

स सा/आ २६६ अध्यवसानमेव बन्धरेतुर्न तु बाह्यवस्तु, तस्य बन्ध-हेतोरध्यवसानस्य हेतुत्वेनैव चरितार्थत्वात् । —अध्यवसान ही बन्ध-का कारण है बाह्य वस्तु नहीं, क्योंकि बन्धका कारण जो अध्यवसान है उसके ही हेतुपणा चरितार्थ होता है। (स सा/आ १६६/क १०६-१०७)। (स सा/आ २७१/क १७३)।

स सा/आ ७१ ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोध सिद्ध्येत् । —ज्ञानमात्रसे ही बन्धका निरोध सिद्ध होता है।

स सा/आ २६७ यो हि नियतस्वलक्षणवलम्बिन्या प्रज्ञया प्रविभक्त-श्चेत्तपिता सोऽयमहं, ये स्वमी अवशिष्टा अन्यस्वलक्षणलक्ष्या व्यव-हियमाणा भावा, ते सर्वेऽपि चेत्यित्युक्तवस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमना-यान्तोऽप्यन्त मत्तो भिन्ना । ततोऽहमेव मयैव महमेव मत्त एव मध्येव मामेव गृह्णामि । —नियत स्वलक्षणका अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया गया जो यह चेतक है, सो यह मैं हूँ, और अन्य स्वलक्षणोंसे लक्ष्य जो यह शेष व्यवहाररूपभाव है, वे सभी

चेतक-स्वरूपी व्यापकके व्याप्य न होनेसे, भ्रुमसे अत्यन्त भिन्न हैं। इसलिए मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने लिए ही, अपनेमें-से ही, अपनेमें ही, अपनेको ग्रहण करता हूँ।

प्र सा/त प्र २३६ अत आत्मज्ञानशून्यमगममज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धाधान-संयतस्वयौगपद्यमप्यकिंचित्करमेव। —इसलिए आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धाधान और संयतस्वकी युगपत्ता भी अकिंचित्कर ही है।

प्र सा/त प्र २३७ स्वतत्त्वज्ञानानामेव श्रमणानामभ्युत्थानादिका प्रवृत्तयोऽप्रतिषिद्धा इतरेषां तु श्रमणाभामानां ता प्रतिषिद्धा एव। —जिनके स्वतत्त्वका ज्ञान प्रवर्तता है, उन श्रमणोंके प्रति ही अभ्युत्थानादिक प्रवृत्तियाँ अनिषिद्ध हैं, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य श्रमणाभ्यासोंके प्रति वे प्रवृत्तियाँ निषिद्ध ही हैं।

पं का/त प्र १० अविशेषाद्द्रव्यस्य सत्स्वरूपमेव लक्षणम्। —सत्तासे द्रव्य अभिन्न होनेके कारण 'सत्' स्वरूप ही द्रव्यका लक्षण है।

का आ/सू २२५ के वस्तु अणोर्यत् त चिच्च कज्ज करेदि णियमेण। बहुघनमज्जु अस्थ कज्जकरं दीसवे तोए। —जो वस्तु अनेकान्तरूप है वही नियमसे कायकारी है, क्योंकि, लोकमें बहुघनयुक्त पदार्थ ही कायकारी देखा जाता है।

२ एवकारका मिथ्या प्रयोग

रा वा ४/४२/१५/०५३/२७ तत्रास्तिस्वैकान्तवादिन 'जीव एव अस्ति' इत्यवधारणे अजीवनास्तित्वप्रसङ्गभयादिष्टतोऽवधारणविधि 'अस्त्येव जीव' इति नियच्छन्ति तथा चावधारणसारमर्यात् शब्दप्रापितादभिप्रायवशावति सर्वथा जीवस्यास्तित्व प्राप्नोति। —यदि अस्तित्व एकान्तवादी 'जीव ही है' ऐसा अवधारण करते हैं, तो अजीवके नास्तित्वका प्रसंग आता है। इस भयसे 'अस्त्येव' ऐसी प्रयोग विधि दृष्ट है। परन्तु इस प्रकार करनेसे भी शब्द प्राप्त अभिप्रायके वशसे सर्वथा ही जीवके अस्तित्व प्राप्त होता है। अर्थात् पुद्गलादिके अस्तित्वसे जीवका अस्तित्व व्याप्त हो जाता है, अतः जीव और पुद्गलमें एकत्वका प्रसंग आता है। (अतः 'स्यात् अस्त्येव' ऐसा प्रयोग ही युक्त है।)

प का/त प्र १० न चानेकान्तात्मकस्य द्रव्यस्य सन्मात्रमेव स्वरूप। —अनेकान्तरात्मक द्रव्यका सत् मात्र ही स्वरूप नहीं है।

३ एवकार व चकार आदि निपातोंकी सम्यक् प्रयोग विधि

श्लो वा २/१३/५३/४३२/१० तत्र हि ये शब्दा स्वार्थमात्रेऽनवधारिते संकेतितास्ते तत्त्वधारणविषयायामेवमपेक्षन्ते तत्समुच्चयादिविषयायां तु चकारादिशब्दम्। —तिन शब्दोंमें जो शब्द, नहीं—नियमित किये गये अपने सामान्य अर्थके प्रतिपादन करनेमें सकेत ग्रहण किये हुए हो चुके हैं, वे शब्द तो उस अर्थके नियम करनेकी विवक्षा होनेपर अवश्य 'एवकार' को चाहते हैं। जैसे जल शब्दका अर्थ सामान्य रूपसे जल है। और हमें जल ही अर्थ अभीष्ट हो रहा है तो 'जल ही है' ऐसा एवकार लगाना चाहिए। तथा जल कभी जल और अन्नके समुच्चय या समाहारकी विवक्षा हो रही है तब 'चकार' शब्द लगाना चाहिए, तथा विकल्प अर्थकी विवक्षा होनेपर 'वा' शब्द जोड़ना चाहिए (जैसे जल वा अन्न)।

४ विवक्षा स्पष्ट कर देनेपर एवकारकी आवश्यकता अवश्य पड़ती है।

रा वा ५/२५/१२/४६२/१७ इत्येव सति युक्तम्, हेतुविशेषामर्थार्थान्ने अवधारणाविरोधात् द्रव्यार्थतयावस्थानाच्च। —इस प्रकार विशेष विवक्षामें 'कारणमेव' यह एवकारका भी विरोध नहीं है।

रा वा १/१५/५/१ एवभूतनयकत्ववशात् ज्ञानदर्शनपर्यायपरिणत आत्मेव ज्ञान दर्शन च तत्त्वत्वान्वात्। —एवभूत नयकी दृष्टिसे

ज्ञानक्रियामें परिणत आत्मा ही ज्ञान है और दर्शन क्रियासे परिणत आत्मा ही दर्शन है, क्योंकि ऐसा ही उसका स्वरूप है।

श्लो वा २/१६/४६/४७३/२० तत्र प्रश्नवशात्किंचिद्विधौ शब्द प्रवर्तते। स्यात्स्वयैवाखिलं यद्वत्स्वरूपादिचतुष्टयात् ॥४६॥ —तिस सात प्रकारके (सप्त भग) वाचक शब्दोंमें कोई शब्द तो प्रश्नके वशसे विधान करने में प्रवृत्त हो रहा है, जैसे कि स्वद्रव्यादि चतुष्टयसे पदार्थ कथचित् अस्तिरूप ही है। (इसी प्रकार कोई शब्द निषेध करनेमें प्रवृत्त हो रहा है जैसे परद्रव्यादिकी अपेक्षा पदार्थ कथचित् नास्तिरूप है। इत्यादि)

श्लो वा २/१६/५६/४७४/२० येनात्मनानेकान्तस्तेनारमनानेकान्त एवेत्येकान्तानुपपत्त्योऽपि नानिष्ट। प्रमाणसाधनस्यैवानेकान्तत्वसिद्धे नयसाधन्येकान्तव्यवस्थिते। —जिस विपक्षित प्रमाण रूपसे अनेकान्त है, उस स्वरूपसे अनेकान्त ही है, ऐसा एकान्त होनेका प्रसंग भी अनिष्ट नहीं है। क्योंकि प्रमाण करके साधे गये विषयकी ही अनेकान्तपना सिद्ध है और नयके द्वारा साधन किये विषयकी एकान्तपना व्यवस्थित हो रहा है।

पं का/त प्र ११ द्रव्यार्थापिणायामनुपपन्नमनुच्छेद सत्स्वभावमेव द्रव्यम्। —द्रव्याधिक नयसे तो द्रव्य उत्पाद व्यय रहित केवल सत्स्वभाव ही है।

का आ/सू २६१ जं वस्तु अणोर्यत् एयत् त पि होदि सविषयत्वं। मृगणाणेण णएहि य णिरवेकत् दीसवे णेव। —जो वस्तु अनेकान्त रूप है वही सापेक्ष दृष्टिसे एकान्त रूप भी है। श्रुतज्ञानकी अपेक्षा अनेकान्त रूप है और नयोंकी अपेक्षा एकान्त रूप है। यिना अपेक्षाके वस्तुका स्वरूप नहीं हो देखा जा सकता है।

नि सा/ता वृ १६६ व्यवहारेण व्यवहारप्रधानत्वात् निरुपरागशुद्धात्मस्वरूप नैव जानाति यदि व्यवहारनयविवक्षया कोऽपि जिननाथ-तत्त्वविचारलब्ध वदाचिदेव वक्ति चेत् तस्य न त्वत्तु द्वयमिति। —व्यवहारमें व्यवहारकी प्रधानताके होनेके कारण 'निरुपराग शुद्धात्मस्वरूपको नहीं ही जानता है, ऐसा यदि व्यवहार नयकी विवक्षासे कोई जिननाथके तत्त्व विचारमें निपुण जीव वदाचिद् कहे तो उसको वास्तवमें द्वयन ही है।

प का/ता वृ ५६/१०६/१० क्षायिकस्तु केवलज्ञानादिरूपो यद्यपि वस्तु-वृत्त्या शुद्धशुद्धैकजोवस्वभाव तथापि कर्मयणोत्पन्नत्वादुपचारेण कर्मजनित एव। —केवलज्ञानादि रूप जो क्षायिक भाव वह यद्यपि वस्तुवृत्तिसे शुद्ध शुद्ध एक जोव स्वभाव है तथापि कर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेके कारण उपचारसे कर्मजनित ही है।

प्र सा/टी १६/५२/१० जीवसंयोगेनारूपत्वाद् व्यवहारेण जीवशब्दो भण्यते, निश्चयेन पुन पुद्गलस्वरूप एवेति। —जीवके संयोगसे उत्पन्न होनेके कारण व्यवहार नयकी अपेक्षा जीव शब्द कहा जाता है, किन्तु निश्चय नयसे तो वह शब्द पुद्गल रूप ही है।

न्याय ही ३/४५ स्यादेकमेव वस्तु द्रव्यात्मना न नाना। द्रव्य रूपसे अर्थात् सत्ता सामान्यकी अपेक्षा वस्तु कथचित् एक ही है, अनेक नहीं।

न्या ही ३/४८२/१२६/६ द्रव्याधिकनयाभिप्रायेण स्वर्णं स्यादेकमेव, पर्यायाधिकनयाभिप्रायेण स्यादेकमेव। —द्रव्याधिक नयके अभिप्रायसे स्वर्ण कथचित् एक ही है और पर्यायाधिक नयके अभिप्रायसे (कड़ा आदि रूप) कथचित् अनेक ही हैं।

५ विना प्रयोगके भी एवकारका ग्रहण स्वतः हो ही जाता है

श्लो वा १/६/श्लो ५६/२५७ सोऽनुपपत्त्योऽपि वा तज्जोऽस्वर्णार्थात्प्रती-यते। यथैवकाराऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजन। —स्याद्वादके जानने-वाले बुद्धिमान जन यदि अनेकान्त रूप अर्थके प्रकाशक सत्ताका प्रयोग न भी करें तो प्रमाणादि सिद्ध अनेकान्त वस्तुके स्वभावसे ही

सर्वत्र स्वयं ऐसे भासता है जैसे बिना प्रयोग भी अयोगादिके व्यवच्छेदका बोधक एवकार शब्द ।

क पा १/१, १३-१४/१लो १२३/३०७ अन्तर्भूतैवकारार्था गिर सर्वा स्वभावतः/१२३ = जितने भी शब्द हैं उनमें स्वभावसे ही एवकारका अर्थ छिपा हुआ रहता है ।

न्या दी ३/३८-९ उदाहृतवाक्येनापि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां मोक्षकारणरन्मेव न संसारकारणमिति विषयविभागेन कारणाकारणरन्मेव प्रतिपाद्यते । सर्व वाक्य सावधारणम् इति न्यायात् । —इस पूर्व (सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग) उद्धृत वाक्यके द्वारा भी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र इन तीनोंमें मोक्षकारणता ही है संसार कारणता नहीं, इस प्रकार विषय विभागपूर्वक कारणता और अकारणताका प्रतिपादन करनेसे वस्तु अनेकान्त स्वरूप कही जाती है । यद्यपि उक्त वाक्यमें अवधारण करनेवाला कोई एवकार जैसा शब्द नहीं है तथापि 'सभी वाक्य अवधारण सहित होते हैं' इस न्यायसे उसका ग्रहण स्वतः हो जाता है ।

६ एवकारका प्रयोजन दृष्टार्थावधारण

क पा १, १३-१४/१लो १२३/३०७ एवकारप्रयोगोऽयमिष्टतो नियमाय स । १२३। —जहाँ भी एवकारका प्रयोग किया जाता है वहाँ वह इष्टके अवधारणके लिए किया जाता है ।

श्लो वा २/१/६/४३/४४६/२५ अथास्त्येव सर्वमिरयादिवाक्ये विशेष्य-विशेषणसम्बन्धसामान्यावद्योतनार्थम् एवकारोऽन्यत्र पदप्रयोगे नियत-पदार्थावस्थ त्तार्थोऽपीति निजगुस्तदान दोष । —'अस्त्येव सर्व' सभी पदार्थ हैं ही इत्यादि वाक्योंमें तो सामान्य रूपसे विशेष्य विशेषण सम्बन्धको प्रगट करनेके लिए एवकार लगाना चाहिए । तथा दूसरे स्थलोंपर इस पदके प्रयोग करनेपर नियमित पदार्थोंको प्रगट करनेके लिए भी एवकार लगाना चाहिए । इस प्रकार कहेंगे तो कोई दोष नहीं है । यह स्याद्वाद सिद्धान्तके अनुकूल है ।

७ एवकारका प्रयोजन अन्ययोग व्यवच्छेद

घ ११/४, २, ६, १७७/१लो ७ ८/३१७/१० विशेष्याभ्यां क्रियया च सहो-दित । पार्थो घनुर्घरो नीलं सरोजमिति वा यथा । ७। अयोगम-पदयोगमरन्ताद्योगमेव च । व्यक्चिच्छन्ति घर्मस्य निपातो व्यति-रेचक । ८। —निपात अर्थात् एवकार व्यतिरेचक अर्थात् निवर्तक या नियामक होता है । विशेषण-विशेष्य और क्रियाके साथ कहा गया निपात क्रमसे अयोग, अपरयोग (अन्य योग) और अत्यन्तायोग व्यवच्छेद करता है । जैसे —'पार्थो घनुर्घर' और 'नील सरोजम्' इन वाक्योंके साथ प्रयुक्त एवकार (विशेष देखो 'एव')

क पा १/१, १३-१४/१लो १२४/३०७ निरस्यन्तो परस्परार्थं स्वार्थं कथयति श्रुति । तमो विधुन्वती भास्य यथा भासयति प्रभा । १२४। —जिस प्रकार प्रभा अन्यकारका नाश करती है, और प्रकाश पदार्थोंको प्रकाशित करती है उसी प्रकार शब्द दूसरे शब्दके अर्थका निराकरण करता है और अपने अर्थको कहता है ।

श्लो वा २/१, ६/१लो ६३/४३१ वाक्येऽवधारण तावदनिराशं निवृत्त्ये । कर्तव्यमन्यथानुक्तसमवाय तस्य कृत्रचित् । —किसी वाक्यमें 'एव' का प्रयोग अनिष्ट अभिप्रायके निराकरण करनेके लिए किया जाता है, अन्यथा अविवक्षित अर्थ स्वीकार करना पड़े ।

स म २२/२६७/२३ एवकार प्रकाशान्तरव्यवच्छेदार्थ । —एवकार प्रकाशान्तरके व्यवच्छेदके लिए है ।

प्र सा/ता घ ११४/१६२(२०) अत्र तु स्यात्पदस्येव यदेवकारग्रहण तत्रय-सप्तमद्वेष्टाप्रार्थामिति भावार्थ । —यहाँ जो स्यात् पदवत् ही एवकारका ग्रहण किया है वह नय सप्तमद्वेष्टाके शापनार्थ है, ऐसा भावार्थ जानना ।

३ सम्यगेकान्तकी इष्टता व इसका कारण

१ वस्तुके सर्वं घर्म अपने पृथक्-पृथक् स्वभावमें स्थित हैं प्र सा/त प्र १०७ एकस्मिन् द्रव्ये य सत्तागुणस्तत्र द्रव्यं नान्यो गुणो न पर्यायो, यश्च द्रव्यमन्यो गुण पर्यायो वा स न सत्तागुण इतीवरेतरस्य यस्तस्याभाव स तदभावलक्षणोऽसत्तागुणोऽन्यत्वाविषयभूत । —एक द्रव्यमें जो सत्ता गुण है वह द्रव्य नहीं है, अन्य गुण नहीं है, या पर्याय नहीं है । और जो द्रव्य, अन्यगुण या पर्याय है वह सत्ता गुण नहीं है, —इस प्रकार एक दूसरे में जो 'उसका अभाव' अर्थात् 'तद्रूप होनेका अभाव' है वह तत्-अभाव लक्षण 'अतद्भाव' है जो कि अन्यत्वका कारण है ।

२ किसी एक घर्मकी विवक्षा होनेपर उस समय वस्तु उतनी मात्र ही प्रतीत होती है

श्लो वा २/१, ६/४३/४४४/२० ज्ञान हि स्याद् ज्ञेय स्याद् ज्ञानम् । न च ज्ञान स्वस परतो वा, येन रूपेण ज्ञेय तेन ज्ञेयमेव येन तु ज्ञानं तेन ज्ञानमेवेत्यवधारणे स्याद्वादिविरोध सम्यगेकान्तस्य तथोपगमात् । —ज्ञान कथंचित् ज्ञेय है और कथंचित् ज्ञान है स्याद्वादियोंके यहाँ इस प्रकारका नियम करनेपर भी कोई विरोध नहीं है कि ज्ञान स्व अथवा परकी अपेक्षासे जाननेवाले होकर जिस स्वभावसे ज्ञेय है, उससे ज्ञेय ही है और जिस स्वरूपसे ज्ञान है उससे ज्ञान ही है । पं का/त प्र ८ येन स्वरूपेणोपादस्तत्तथोपादेकलक्षणमेव, येन स्वरूपेणोच्छेदस्तत्तथोच्छेदेकलक्षणमेव, येन स्वरूपेण धौव्य तत्तथा धौव्यैकलक्षणमेव तत् उत्पद्यमानोच्छेद्यमानावतिष्ठमानानां वस्तुन स्वरूपाणां प्रत्येक त्रैलक्षण्याभावाद्त्रिलक्षणव त्रिलक्षणाया । —जिस स्वरूपसे उत्पाद है उसका उस प्रकारसे 'उत्पाद' एक ही लक्षण है । जिस स्वरूपसे व्यय है उसका उस प्रकारसे व्यय एक ही लक्षण है और जिस स्वरूपसे धौव्य है उस प्रकारसे धौव्य एक ही लक्षण है । इसलिए वस्तुके उत्पन्न होनेवाले, नष्ट होनेवाले और ध्रुव रहनेवाले स्वरूपोंमेंसे प्रत्येकको त्रिलक्षणका अभाव होनेसे त्रिलक्षणा-सत्ताको अविलक्षणपना है ।

प्र, सा/त प्र ११४ सर्वस्य हि वस्तुन सामान्यविशेषात्मकत्वात्तरस्वरूप-मुरपर्ययोर्था यथाक्रम सामान्यविशेषो परिच्छन्ती द्वे किल चक्षुषौ द्रव्याधिकं पर्यायाधिकं चेति । तत्र पर्यायाधिकमेकान्तनिर्मोहित विधाय केवलान्मोहितेन द्रव्याधिकेन यदाबलोक्यते तदा 'तत्सर्वं जीवद्रव्यमिति प्रतिभाति । यदा तु द्रव्याधिकमेकान्तनिर्मोहितं विधाय केवलान्मोहितेन पर्यायाधिकेनावलोक्यते तदा विशेषान-नेकानवलोक्यतामनवलोकितसामान्यानामन्यदन्यत् प्रतिभाति । यदा तु ते उभे अपि द्रव्याधिकपर्यायाधिके तुल्यकालोन्मीलिते विधाय तत् इतरचावलोक्यते तदा जीवसामान्य जीवसामान्ये च व्यव-स्थिता विशेषाश्चतुल्यकालमेवावलोक्यन्ते । —वास्तवमें सभी वस्तु सामान्यविशेषात्मक होनेसे वस्तुका स्वरूप देखनेवालोंके क्रमशः सामान्य और विशेषको जाननेवालों दो आँखें हैं—द्रव्याधिक और पर्यायाधिक । इनमेंसे पर्यायाधिक चक्षुको सर्वथा बन्द करके जब मात्र खुले हुए द्रव्याधिक चक्षुके द्वारा देखा जाता है तब 'वह सब जीव द्रव्य है' ऐसा दिखाई देता है । और जब द्रव्याधिक चक्षुको सर्वथा बन्द करके मात्र खुले हुए पर्यायाधिक चक्षुके द्वारा देखा जाता है तब पर्यायस्वरूप अनेक विशेषोंको देखनेवाले और सामान्यको न देखने वाले जीवोंकी (वह जीव द्रव्य नारक मनुष्यादि रूप) अन्य अन्य भासित होता है । और जब इन द्रव्याधिक और पर्यायाधिक दोनों आँखोंको एक ही साथ खोलकर उनके द्वारा देखा जाता है तब जीव सामान्य तथा जीव सामान्यमें रहनेवाले पर्यायस्वरूप विशेष तुल्य-कालमें ही अर्थात् युगपत् ही दिखाई देते हैं । (और भी दे अगले शीर्षकमें पं ध के श्लोक)

३. एक धर्म मात्र वस्तुको देखते हुए अन्य धर्म उस समय विवक्षित नहीं होते

—वे स्याद्वाद ३ (गौण होते हैं पर निषिद्ध नहीं)

का आ/मू २६४ णाणा धम्म जुद पि य एयं धम्म पि बुध्वे अरथ । तस्सेय विवक्षत्वादी णरिथ विवक्षत्वा हु सेसाण । २६४। —नाना धर्मोंसे युक्त भी पदार्थों के एक धर्मको नय कहता है क्योंकि उस समय उसी धर्मकी विवक्षा है, शेष धर्मोंकी विवक्षा नहीं है ।

प घ/पू २६६, ३०२, ३३६, ३४०, ७५७ तत्र यत् सदिति स्यादद्वैतं द्वैतभाव-भागवि च । तत्र विधौ विधिमार्त्रं तदिह निषेधे निषेधमात्रस्यात् । २६६। अपि च निषिधत्वे सति नहि वस्तुत्वं भिधेरभावत्वात् । उभयारम्भकं यदि त्वत् प्रकृतं न कथं प्रतीयेत । ३०२। अयमर्थो वस्तु यदा केवलमिह दृश्यते न परिणाम । नित्यं तदव्ययादिह सर्वं स्यादन्वयार्थं नययोगात् । ३३६। अपि च यदा परिणाम केवलमिह दृश्यते न किं वस्तु । अभि-नवभावानभिनवभावाभावादतिरयमनयत्वात् । ३४०। नास्ति च तदिह विशेषे सामान्यस्य विवक्षितार्था वा । सामान्यैरतिरस्य च गौणत्वे सति भवति नास्ति नय । ७५७। —यद्यपि सत् द्वैतभावको धारण करनेवाला है तब भी अद्वैत है, क्योंकि, सर्वमें विधि विवक्षित होने-पर वह सत् केवल विधिरूप ही प्रतीत होता है । और निषेध विवक्षित होनेपर केवल निषेध ही । २६६। निषेधत्व विवक्षित होनेके समय अविवक्षित होनेके कारण विधिको वस्तुपना नहीं है । ३०२। सारांश यह है कि जिस समय केवल वस्तु दृष्टिगत होती है परिणाम दृष्टि-गत नहीं होता, उस समय यहाँपर द्रव्याधिक नयकी अपेक्षासे वस्तु-त्वका नाश नहीं होनेके कारणसे सभी वस्तु निरय हैं । ३३६। अथवा जिस समय यहाँपर केवल परिणाम दृष्टिगत होता है, वस्तु दृष्टिगत नहीं होती, उस समय पर्यायाधिक नयकी अपेक्षासे नवीन-पर्यायकी उत्पत्ति और पूर्व-पर्यायके अभाव होनेसे सब ही वस्तु अनिरय हैं । ३४०। और यहाँपर वस्तु, सामान्यकी विवक्षामें विशेष धर्मकी गौणता होनेपर विशेषधर्मोंके द्वारा नहीं है । अथवा इतरकी विवक्षामें अर्थात् विशेषकी विवक्षामें सामान्यधर्मकी गौणता होने पर, सामान्य धर्मोंके द्वारा नहीं है । इस प्रकार जो कथन है वह नास्तित्व नय है । ७५७। (विशेष दे स्याद्वाद ३)

४. ऐसा सापेक्ष एकान्त हमें इष्ट है

सं स्तो/मू ६२ यथैकश कारकमर्थसिद्धये, समीक्ष्य शेष स्वसहायकार-कम् । तथैव सामान्यविशेषमात्मा, नयास्तथैव गुणमुख्यकषपत । ६२। —जिस प्रकार एक एक कारक, शेष अन्यको अपना सहायकरूप कारक अपेक्षित करके अर्थकी सिद्धिके लिए समर्थ होता है, उसी प्रकार आपके मतमें सामान्य और विशेषसे उत्पन्न होनेवाले अथवा सामान्य और विशेषको विषय करनेवाले जो नय हैं वे मुख्य और गौणकी कल्पनासे इष्ट हैं ।

घ १/१, ६६, ३३६/४ नियमेऽभ्युपगम्यमाने एकान्तवाद प्रसज्यतीति चेन्न, अनेकान्तधर्मैकान्तस्य सत्त्वाविरोधात् । —प्रश्न—‘तोसरे गुण-स्थानमें पर्याप्त ही होते हैं इस प्रकार नियमके स्वीकार करनेपर तो एकान्तवादके सद्भाव माननेमें कोई विरोध नहीं आता ।

४ मिथ्या एकान्त निराकरण

१ मिथ्या एकान्त इष्ट नहीं है

स स्तो/मू ६८ अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सतो शून्यो विपर्यय । तत् सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघातत । ६८। —आपकी अनेकान्तदृष्टि सच्ची है और विरोध इसके जो एकान्त मत हैं वे शून्यरूप असत् हैं । अतः जो कथन अनेकान्तदृष्टिसे रहित है वह सब मिथ्या है, क्योंकि, वह अपना ही घातक है । अर्थात् अनेकान्तके बिना एकान्त की स्वरूप-प्रतिष्ठा बन ही नहीं सकती ।

स म/स्तो २६/२६७ य एव दोषा किल नित्यवादे विनाशवादेऽपि समस्त एव । परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु जयरथध्वंजिनशासनं तो २६। —जिस प्रकार वस्तुकी सर्वथा नित्य माननेमें दोष आते हैं वैसे ही उसे सर्वथा अनित्य माननेमें दोष आते हैं । जैसे एक कण्टक (पौधमें चुभे) दूसरे कण्टकको निकालता है या नाश करता है, वैसे ही नित्यवादी और अनित्यवादी परस्पर दूषणोंको दिखाकर एक दूसरे का निराकरण करते हैं । अतएव जिनेन्द्र भगवात्का शासन अर्थात् अनेकान्त, बिना परिश्रमके ही विजयी है ।

२ एवकारका मिथ्या प्रयोग अज्ञानसूचक है

स म २४/२६१/१३ उक्त प्रकारेण उपाधिभेदेन वास्तव विरोधाभावम-प्रवृत्त्यैवाज्ञात्वेव एवकारोऽवधारणे । स च तेषां सम्यग्ज्ञानस्याभाव एव न पुनर्लेशतोऽपि भाव इति व्यनक्ति । —इस प्रकार सप्तमगी-वादमें नाना अपेक्षाकृत विरोधाभावको न समझकर अस्तित्व और नास्तित्व धर्मोंमें स्थूल रूपसे दिखाई देनेवाले विरोधसे भयभीत होकर, अस्तित्व आदि धर्मोंमें नास्तित्व आदि धर्मोंका निषेध करने वाले एवकारका अवधारण करना, उन एकान्तवादियोंमें सम्यग्ज्ञानका अभाव सूचित करता है । उनका लेशमात्र भी सम्यग्ज्ञानका सद्भाव नहीं है ऐसा व्यक्त करता है ।

३ मिथ्या-एकान्तका कारण पक्षपात है

घ १/१, ३७/२२२/३ दोण्हं मज्जेके एक्कस्तेव सगहे कीरमाणे वज्जभीरुत्तं विण्णट्ठि । दोण्हं पि सगहं कर्त्तव्यामाइरियाणं वज्जभीरुत्ता-विणासादा । —दोनों प्रकारके बचनों या पक्षोंमें-से किसी एक ही बचनके संग्रह करनेपर पापभीरुता निकल जाती है, अर्थात् उच्छ्र-हलता आ जाती है । अतएव दोनों प्रकारके बचनोंका संग्रह करने-वाले आचार्यांकि पापभीरुता नष्ट नहीं होती, अर्थात् बनी रहती है ।

४ मिथ्या एकान्तका कारण सकीर्ण दृष्टि है

प मि ४/७ भूरिधर्ममिक तत्त्वं दृष्टुमेमन्दबुद्धय । जारयन्धहस्ति-रूपेण शारवा नश्यन्ति केचन । ७। —जिस प्रकार जन्मान्ध पुरुष हाथीके यथार्थ स्वरूपको नहीं ग्रहण कर पाता है, किन्तु उसके किसी एक ही अंगको पकड़ कर उसे ही हाथी मान लेता है, ठीक इसी प्रकारसे किन्तु ही मन्दबुद्धि मनुष्य एकान्तवादियोंके द्वारा प्ररूपित खोटे शास्त्रोंके अम्यासके पदार्थोंके सर्वथा एकरूप ही मानकर उसके अनेक धर्ममय स्वरूपका नहीं जानते हैं और इसीलिए वे विनाश-को प्राप्त होते हैं ।

५. मिथ्या एकान्तमें दूषण

सं स्तो २४, ४२ न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति, न च क्रियाकारकमत्र युक्तम् । नैवास्तो जन्म सतो न नाशा, दीपस्तम पुद्गलभावतोऽ-स्ति । २४। तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात्, तथाप्रतीतिस्तत्र तरक-थचित् । नारयन्तमन्यस्वमन्यता च, विधेनिषेधस्य च शून्यदोषात् । ४२। —यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो वह उदय अस्तको प्राप्त नहीं हो सकती, और न उसमें क्रिया कारककी ही योजना बन सकती है । जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता और जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता । दीपको भी बुझनेपर सर्वथा नाशको प्राप्त नहीं होता, किन्तु उस समय अन्धकाररूप पुद्गल-पर्यायको धारण किये हुए अपना अस्तित्व रखता है । २४। आपका वह तरक-कथचित् तद्बुद्ध है और कथचित् तद्बुद्ध नहीं है । क्योंकि, जैसे ही सत् असत् रूपकी प्रतीति होती है । स्वरूपादि चतुष्टयरूप विधि और पररूपादि चतुष्टयरूप निषेधके परस्परमें अत्यन्त भिन्नता तथा अभिन्नता नहीं है, क्योंकि वैसे माननेपर शून्य दोष आता है । न च नृ ६७ गिरिवेखे एयन्ते सकरादिहि ईसिया भावा । गो गिज-कज्जे अरिहा विवरीए ते वि त्वत् अरिहा । ६७। —निरपेक्ष-एकान्त

माननेपर, इच्छित भी भाव, संकर आदि दोषोंके द्वारा अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। तथा सापेक्ष माननेपर वे ही समर्थ हो जाते हैं।

प्र सा/त प्र २७ एकान्तेन ज्ञानमात्रमेति ज्ञानस्याभावोऽचेतनस्व-
मात्मनो विशेषगुणाभावादभावो वा स्यात् । सर्वधारमा ज्ञानमिति
निराश्रयत्वात् ज्ञानस्याभाव आत्मन शेषपर्यायाभावस्तद्विनाभावमि-
नस्तस्याप्यभाव स्यात् । —यदि यह माना जाये कि एकान्तसे
ज्ञान आत्मा है तो, (ज्ञान गुण ही आत्म प्रवृत्त हो जानेसे) ज्ञानका
अभाव हो जायेगा, और (ऐसा होनेसे) आत्मके अचेतनता आ
जायेगी, अथवा (सहभावी अन्य सुख बोर्य आदि) विशेषगुणोंका
अभाव होनेसे आत्माका अभाव हो जायेगा। यदि यह माना जाये
कि सर्वथा आत्मा ज्ञान है तो (आत्मद्रव्य एक ज्ञान गुण रूप हो
जायेगा, इसलिए ज्ञानका कोई आधारभूत द्रव्य नहीं रहेगा, अतः) ।
निराश्रयताके कारण ज्ञानका अभाव हो जायेगा अथवा आत्माकी शेष
पर्यायोंका अभाव हो जायेगा और उनके साथ ही अविनाभाव
सम्बन्धवाले आत्माका भी अभाव हो जायेगा।

स सा/आ ३४८/क २०८ आत्मान परित्युद्धमोऽनुभिरतिव्याप्ति
प्रधान्यके, कालोपाधिसत्तादुद्दिष्टमधिकी तत्रापि सत्त्वा परे ।
चैतन्य क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुके शुद्धजु सुतो रतेरारमा व्युत्क्रिप्त
एव हारवदहो नि सुत्रमुक्तेक्षिभि । २०८ । —आत्माको सर्वथा शुद्ध
चाहनेवाले अन्य किन्हीं अन्धबोद्धोंने कामकी उपाधिके कारण भी
आत्मामें अधिक अशुद्धि मानकर अतिव्याप्तिकी प्राप्त होकर, शुद्ध
शुद्धसूत्र नयमें रत होते हुए चैतन्यको क्षणिक कल्पित करके, हम
आत्माको छोड़ दिया, जैसे हारके सूत्र (हार) को न देखकर मात्र
मोतियोंको ही देखनेवाले हारको छोड़ दते हैं।

पं वि १/१३७ उपायो नैव शरीर एव यदसाधारमा स्फुरयन्वह, भूता-
नन्वयतो न भूतजनिता ज्ञानी प्रकृत्या यत् । निर्ये वा क्षणिकेऽथवा
न कथमप्यर्थ क्रिया युज्यते, तर्ककत्वमपि प्रमाणद्वया भेदप्रतीत्या-
हत् १/१३७ आत्मा क्याभी नहीं है, क्योंकि वह निरन्तर शरीरमें
ही प्रतिभासित होता है। वह भूतोंसे उत्पन्न भी नहीं है, क्योंकि,
उसके साथ भूतोंका अन्वय नहीं देखा जाता है, तथा यह स्वभावसे
ज्ञाता भी है। उसको सर्वथा नित्य अथवा क्षणिक स्वीकार करनेपर
उसमें किसी प्रकारसे अर्थ क्रिया नहीं बन सकती है। उसमें एकत्व
भी नहीं है, क्योंकि वह प्रमाणसे दृढ़ताको प्राप्त हुई भेदप्रतीति
द्वारा बाधित है।

६ मिथ्या एकान्त निषेधका प्रयोजन

रा बा/हि ८/१/१६८ तिनक् नोके समक मिथ्यात्वकी निवृत्ति होय,
ऐसा उपाय करना। यथार्थ जिनामक ज्ञान अयमत्तका प्रसंग
छोड़ना। अरु अनादिते पर्याय बुद्धि जो नैसर्गिक मिथ्यात्व ताकू
छोड़ अपना स्वरूपको यथार्थ जान मध्यम निवृत्त होना।

५. एकान्तमिथ्यात्व निर्वेद्य

१ एकान्त मिथ्यात्वका लक्षण

स सि ८/१/१७५/४ इदमेवेत्यनेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्त ।
“पुरुष एवेद सगम्” इति वा निरय एव वा अनिरय एवेति । —यहो
है, इसी प्रकार है, धर्म और धर्मोंमें एकान्तरूप अभिप्राय रखना
एकान्त मिथ्यादर्शन है। जैसे यह सग जग परमस्वरूप हो है। या
सग पदार्थ अनिरय हो है या निरय हो है। (रा बा ८/१/१८५/६४/
१८), (त सा ४/४)।

घ ८/१/६/२०/३ अतिथ चैव, गतिथ चैव, एगमेव, अणगेमेव सावयव
चैव, निरवयव चैव, निचचमेव, अणिचचमेव, इच्छाहो अयताहि-
णिवेसो अयतमिच्छत । —सब हो है, असब हो है एक ही है, अनेक
ही है, सावयव ही है, निरवयव ही है, नित्य ही है अनित्य ही है,
इत्यादिक एकान्त अभिनिवेशको एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं।

स स्तो/टी ४१ स्वरूपेणैव स्वरूपेणापि मन्त्रमिरयाद्ये वान्त । —स्वरूप
की भीति परस्वरूपे भी सब है, ऐसा मानना एसा है।

२ ३६३ एकान्त-मिथ्यामत निर्वेद्य

भा पा/मू १३४ असिमम मित्रिमार्द अक्रिमिगण च होह चुमसीदी ।
सत्तट्टी अण्णाणी वेणैया होति मत्तोसा १३४। —क्रियावादियोंके
१८०, अक्रियावादियोंके ८३, अज्ञानवादियोंके ६७, और औनयिक
वादियोंके ३२ भेद हैं। मम निनकर ३६३ होते हैं। (म नि ८/१/
३८४/१० पर उद्धृत उपरोक्त गाय) (रा बा ८/१/८६१/१०),
(शा ४/२२ में उद्धृत दो श्लोक) (ह पु १०/२७ ४८), (गो क/
मू ८६/१०६२), (गो जी/जी प्र ३६०/८००)

३ एकान्त मिथ्यात्वके अनेकों भंग

रा बा/हि ८/१/६६८ (आप्तमांसागाया राग) स्वाभो समन्तभद्राचार्यने
आप्तपरोक्षाके अर्थ देशान्त स्तोत्र (आप्त मीमांसा) रचया है। तर्क
सत्वाथ आप्तवा तौ स्थापन और असत्वाथका निराकरणके निमित्त
दस पद स्थाप्ये हैं—१ अस्ति-नास्ति, २ एष त्रीश ३ नित्य-
अनित्य; ४ भेद-अभेद, ५ अपेक्ष अनपेक्ष, ६ दैव पुरुषार्थ, ७
अन्तरंग बहिरंग ८ हेतु अहेतु, ९ अज्ञानमें बन्ध और स्वीकृतिमानसे
मोक्ष १० परके दुःख और आपत्त सुख पर तो पाप—परके सुख
अर आपत्त दुःख पर ता पुण्य। ऐसे १० पद बिपै मम भंग नगाय
७० भंग भये। तिनिका सारा एकान्त बिपै दूषण द्विरप्ये है।
जाने ए वहे सा तौ आप्तभास है उर अनेकान्त माथे है ते दूषण
रहित है। ते सर्वज्ञ वीतरागके भापे है।

४. कुछ एकान्त दर्शनोंका निर्वेद्य

स्वेताश्वरोपनिषद् १/२ कान स्वभाभो नियतिर्महत्ता इतानि मोनि
पुरुषचेति चित्तम् । मयाग एषा न श्वतममात्रादामाध्यमोक्ष सुख-
दुःखहेतो १२। —आत्माको सुख-दुःख स्वयं अपनेसे नहीं होते बल्कि
काल, स्वभाव, नियति, यद्वत्ता पृथिवी आदि चतुर्भूत, योनि,
पुरुष व चित्त इन ६ भासके संयोगसे होता है, क्योंकि आत्मा सुख
दुःख भोगनेमें स्वतन्त्र नहीं है।

घ ६/४ १/४४/७६/२०८ पदमो अवधमान विदियो तेरासियाग बोद्ध-
व्यो । तदिया य गिरादिपन्तो हवदि चउथो मसमगम्मि १७६।
—इनमें प्रथम अधिकार अवन्धकोंका, और द्वितीय त्रैशिक
अर्थात् आजोविकोंका जानना चाहिए। तृतीय अधिकार नियति
पक्षमें और चतुर्थ अधिकार स्वमयमें है।

रा बा ८/१/पा/पृ यज्ञाय पशव नृश स्वयमेव स्वयभुना (मनु ४/३६)
२२/६६३, अग्निरोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम (मैत्रा ६/३६)। २७/६६४,
पुरुष एवेद सर्वं यश्च भूत यश्च भव्यम् (ऋ वे १०/६०)। २७/६६४
पक्ति ६।—, एव परोपदेशनिमित्तमिथ्यादर्शनविकल्पा अन्ये च
संरयेया वाज्या, उक्षा, परिणामविकल्पात् असत्येयाश्च भवन्ति,
अनन्तराच अनुभागभेदात् १०७/६६४ पक्ति १४। —यज्ञार्थ ही पशुओं-
की सृष्टि स्वयं स्वयभू भगवातने को है (मनु ४/३६), स्वयंकी इच्छा
करनेवालोंको अनिहाय करना चाहिए (मैत्रा ६/३६); जो बुद्ध हो तो
चुका है या होनेवाला है यह सर्व पुरुष ही है (ऋ वे १०/६०) और
इस प्रकार परोपदेशनिमित्तमिथ्या-मिथ्यादर्शनके विकल्प अन्य भी
संख्यात रूपसे लगा लेने चाहिए। परिणामोंके भेदसे वे ही असत्प्राप्त
हैं और अनुभागके भेदसे वे ही अनन्त हैं।

घ ६/४, १/४४/पृ/प सूत्रे अष्टाशोशितसहस्रपदे ८००००० पूर्वोक्तसर्व-
दृष्टयो निरूप्यन्ते, अमध्यक अलेपक अमात्ता अयर्ता निर्गुण सर्व-
गत अद्वैत नास्ति जीव समुदयजनिता सर्वं नास्ति बाह्यार्थो नास्ति
सर्वं निरात्मक सर्वं क्षणिकं अक्षणिकमद्वैतमिरयाद्यो दर्शनभेदाश्च
निरूप्यन्ते। (२०७/४) त्रयीगतमिथ्यास्वर रूपाप्रतिपादिके २ (२८८/३)
—सूत्रअधिकारमें अठारसी लाख ८००००० पदों द्वारा पूर्वोक्त सम मत्तो-
का निरूपण किया जाता है। इसके अतिरिक्त—जीव अमध्यक है,

अलेपक है, अभीता है, अकर्ता है, निर्गुण है, व्यापक है, अद्वैत है, जीव नहीं है, जीव (पृथिवी आदि चार भूतोंके) समुदायसे उत्पन्न होता है, सब नहीं है अथवा ध्वन्य है, बाह्य पदार्थ नहीं हैं सब निरात्मक हैं, सब क्षणिक हैं, सब अस्थायिक अथवा निरर्थक है, अथवा अद्वैत है, इत्यादि दर्शनभेदोंका भी इसमें निरूपण किया जाता है। यह प्रयोगत मिथ्यात्वके भेदोंका प्रतिपादक है।

गो क ८७७, ८८७-८९३ ८९४/१०६३-१०७३, —१ काशवाद, २ ईश्वरवाद, ३ आत्मवाद, ४ नियतिवाद, ५ स्वभाववाद ८७७—६ अज्ञानवाद ८८७, ७ विनयवाद ८८८, ८ पौरुषवाद ८९०, ९ दैववाद ८९१, १० सयोगवाद ८९२, ११ लोकवाद ८९३।

गो क/मू ८९४/१०७३ जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णय-वादा। जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ८९४। —जितने वचनके मार्ग हैं तितने ही नयवाद हैं। जितने नयवाद हैं तितने ही परसमय हैं।

पहृदर्शन समुच्चय २, ३ दर्शनानि पठेवात्र मूलभेदव्यपेक्षया। देवता तत्त्व-भेदेन ज्ञातव्यानि मनोविधि १२। बौद्धं नैयायिक सौख्यं जैन वैशेषिकं तथा। जैमिनीयं च नामानि दर्शनानाममूल्याहो १३। —मूल भेदोंकी अपेक्षा दर्शन छह हैं—बौद्ध, नैयायिक, सौख्य, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनीय।

* जैनाभासी सध—दे इतिहास ६।

नीतिसार/सोमदैवसूरि १ गोपुच्छक श्वेतवासो ब्राविहो यापनीय। नि पिच्छकश्चेति पञ्चैते जैनाभासा प्रकीर्तिता। —गोपुच्छक, श्वेताम्बर ब्राविह यापनीय, निपिच्छ, ये पाँच जैनाभास कहे गये हैं (गो पा/टी ६/७५ पर उद्धृत) (द पा/टी ११/११ में उद्धृत) (द सा/पृ २४ पर उद्धृत), विशेष दे इतिहास ६।

द सा/पृ ४१ पर उद्धृत "कष्टासघो भुवि रम्यातो जानन्ति नृसुरासुरा। सत्र गच्छरच चरवारो राजन्ते विश्रुता क्षितौ ११। श्री नन्दितट-संज्ञश्च माधुरो बागडाभिध। लाङ्गमागड इत्येते विख्याता क्षिति-मण्डले १२।" (सुरेन्द्रकीर्ति)। —पृथिवीपर कष्टासंघ विख्यात है। उसे नर, सुर व असुर सब जानते हैं। उस संघमें चार गच्छ पृथिवी पर स्थित हैं—१ श्रीनन्दितट, २ माधुरगच्छ, ३ बागड-गच्छ, ४ लाङ्गमागड गच्छ।

५. एकांत मत सूची

इनका स्वरूप—वे वह वह नाम।

न	नाम	मत	न	नाम	मत
१	अक्रियावाद	एकस्वतंत्रवाद	१४	एतिकायन	अज्ञानवादी
२	अज्ञानवाद	"	१५	ऐन्द्रदत्त	विनयवादी
३	अद्वैतवाद	"	१६	औपमन्यु	"
४	अनिर्यवाद	"	१७	कणाद	असत्वादी
५	अभाववाद	"	१८	कण्व	अज्ञानवादी
६	अवच्छेदवाद	"	१९	कपिल	सौख्यदर्शन
७	अश्वत्थामन	क्रियावादी	२०	काणादिद	क्रियावादी
८	अस्थुण	विनयवादी	२१	कालवाद	एकस्वतंत्रवाद
९	आजोवक	त्रैराशिकवाद	२२	काष्ठासंघ	जैनाभास
		एकस्वतंत्रदर्शन	२३	कुपुमि	अज्ञानवादी
१०	आत्मवाद	"	२४	कौरिकल	क्रियावादी
११	ईश्वरवाद	"	२५	कौशिक	"
१२	उदयनाचार्य	वैशेषिक दर्शन	२६	गार्ग्य	अक्रियावादी
१३	उद्धममत	अक्रियावादी	२७	गोतम	असत्कार्यवाद

न	मत	नाम	न	नाम	मत
२८	चारित्रवाद	क्रियावाद	६४	मुण्ड	क्रियावादी
२९	चार्वाक मत	एक दर्शन	६५	मोद	अज्ञानवादी
३०	जतुकर्ण	विनयवादी	६६	मोहगलायन	अक्रियावा बौद्ध
३१	जैमिनी	मीमांसक	६७	याज्ञिक	एकमत
३२	तापस	विनयवादी	६८	यागनीय	जैनाभासी सध
३३	त्रिगुणतवाद	एकस्वतंत्रवाद	६९	योगमत	सार्य दर्शन
३४	त्रैराशिकवाद	"	७०	रोमश	क्रियावादी
३५	दर्शनवाद	श्रद्धानवाद	७१	रोमहर्षिणी	विनयवादी
३६	दैववाद	एकस्वतंत्रवाद	७२	लोकवाद	एकवाद
३७	ब्रह्मिष्ठसध	जैनाभास	७३	वक्कल	अज्ञानवादी
३८	ब्रह्मवाद	सौख्यदर्शन	७४	वशिष्ठ	विनयवादी
३९	नारायण	अज्ञानवादी	७५	वसु	अज्ञानवादी
४०	नास्तिक	चार्वाक	७६	वाग्मीकि	विनयवादी
४१	निरपवाद	एकस्वतंत्रवाद	७७	विज्ञानवाद	अद्वैतवाद
४२	निमिसवाद	परतंत्रवाद	७८	विनयवाद	एकवाद
४३	नियतिवाद	एकस्वतंत्रवाद	७९	विपरीतवाद	मिथ्यात्वका
४४	नैयायिक	एकदर्शन			एक भेद
४५	पाराशर	विनयवादी	८०	वेदान्त	एक दर्शन
४६	पुरुषवाद	माध्यमत	८१	वैयाकरणिय	वैशेषिक द
४७	पुरुषार्थवाद	एकवाद	८२	वैशेषिक	एक दर्शन
४८	पूरण	मस्करोमत	८३	व्याघ्रभूति	अक्रियावादी
४९	पैपलाद	अज्ञानवादी	८४	व्यास एलापुत्र	विनयवादी
५०	प्रकृतिवाद	सार्य द	८५	शब्दाद्वैत	अद्वैतवाद
५१	प्रधानवाद	"	८६	शिवमत	वैशेषिक
५२	बादरायण	अज्ञानवाद	८७	शून्यवाद	बौद्ध
५३	बौद्ध	एकदर्शन	८८	श्रद्धानवाद	एकवाद
५४	ब्रह्मवाद	अद्वैतवाद	८९	सयोगवाद	"
५५	भट्टप्रभाकर	मीमांसक	९०	सरयदत्त	विनयवादी
५६	भिल्लक	जैनाभासीसध	९१	सदाशिववाद	सौख्य
५७	मरीचि	क्रियावादी	९२	सम्यक्त्ववाद	श्रद्धानवाद
५८	मस्करी	अज्ञानवादी	९३	सार्य	एक दर्शन
५९	माठर	अक्रियावादी	९४	स्वतंत्रवाद	एक भाद
६०	माण्डलीक	क्रियावादी	९५	स्वभाववाद	"
६१	माधुर	जैनाभासी सध	९६	हरिमधु	क्रियावादी
६२	मध्यदिन	अज्ञानवादी	९७	हारित	"
६३	मीमांसा	एकदर्शन			

एकांतानुवृद्धि—१ एकांतानुवृद्धि योग-स्थान—दे योग ५, २ एकांतानुवृद्धि समय व संयमासंयम लब्धि स्थान—दे लब्धि ५।

एकातिक—प्र सा/ता वृ ५६/७७ एकातिकम् नियमेनेति। —एका त्तिक अर्थात् नियमसे।

एकाग्रचित्तानिरोध—म सि ६/२०/४४४/६ अग्र मुखम्। एकमग्र-मस्येयेकाग्र। नानाविबलम्यनेन चिन्ता परिस्पन्दवती, तस्या अन्यायेपमुलेभ्यो ग्यावर्य एकस्मिन्ने नियम एकाग्रचित्तानिरोध इत्युच्यते। —'अग्र' पदका अर्थ मुख है। जिसका एक अग्र होता है वह एकाग्र कहलाता है। नाना पदार्थोंका अवलम्बन लेनेसे चिन्ता परिस्पन्दवती होती है। उसे अन्य अर्थ मुखोंसे लौटाकर एक अग्र अर्थात् एक विषयमें नियमित करना एकाग्रचित्तानिरोध कहलाता है। (चा सा १६६/६), (प्र सा/त प्र १६१), (त अनु ५७)।

रा वा ६/२७/४-७/६२४/२४(१) अत्र अत्र गुर्वनित्यर्थ ॥३॥ अस्त वरुणस्य वृत्तिरर्थेषु चित्तेषुच्यते ॥४॥ गमनभाजनशमनाध्ययादिषु क्रिया-विशेषेषु अनियमेन वर्तमानस्य एकस्या क्रियाया कर्तृत्वेनावस्थानं निरोध इत्यवगम्यते । एकमर्थं मुख गम्य सोऽयमेकाग्र, चिन्ताया निरोध चिन्तानिरोध, एकाम् चिन्तानिरोध एकाग्रचिन्तानिरोध । कुत पुनरसौ एकाग्रत्वेन चिन्तानिरोध ॥५॥ यथा प्रदोषशिखा निरावाधे प्रज्वलिता न परिस्पन्दते तथा निराकूले देशे शीर्षविशेषाद-वरुध्यमाना चिन्ता विना व्यासेषेण एकाग्रत्वावस्थिते ॥६॥ (२) अथवा अष्टयते इत्यत्र अर्थ हरयर्थ, एकमर्थ एकाग्रम्, एकाम् चिन्ताया निरोध एकाग्रचिन्तानिरोध । योगविभागात्मन्यूरुग्यसकादित्याह वृत्ति । एकस्मिन् द्रव्यपरमाणौ भावपरमाणौ वाऽर्थे चिन्तानियम इत्यर्थ ॥७॥

रा वा ६/२७/२०-२१/६२७/१ (३) अथवा प्राधान्यवचने एकशब्द इह गृहाते प्रथमं पुन आभिमुख्येन चिन्तानिरोध इत्यर्थ, अस्मिन्पक्षेऽर्थो गृहीत ॥२०॥ (४) अथवा अष्टोत्थप्राप्तेर्यर्थ । द्रव्यान्त-तत्पैकस्मिन्प्राप्त्यर्थे चिन्तानिरोधो ध्यानम्, तत् स्ववृत्तिरवाप याग-ध्येयप्राधान्यापेक्षा निवृत्तिता भवति ॥२१॥ -१ अत्र अर्थात् मुख, लक्ष्य । चिन्ता-अस्त वरुण व्यापार । गमन, भोजन, दायन और अधगमन आदि विविध क्रियाओंमें भटवसेवाली चित्तवृत्तिका एक क्रियामें रोक देना निरोध है । जिस प्रकार बायुरहित प्रदेशमें दीप-शिखा अग्निरस्पन्द-स्थिर रहती है उसी तरह निराकुल देशमें एक लक्ष्यमें बुद्धि और शक्तिपूर्वक रोक गयी चित्तवृत्ति विना व्यासेप-के वहाँ स्थिर रहती है, अन्यत्र नहीं भटकती । (चा सा १६६/६) (प्र सा/त प १६६), (त अनु ६३ ६४); २ अथवा अत्र शब्द अर्थ (पदार्थ) वाची है, अर्थात् एक द्रव्यपरमाणु या भावपरमाणु या अन्य किसी अर्थमें चित्तवृत्तिको केन्द्रित करना ध्यान है । ३ अथवा, अत्र शब्द प्राधान्यवाची है, अर्थात् प्रधान आत्माको लक्ष्य बनाकर चिन्ताका निरोध करना । (त अनु ६४ ६८) । ४ अथवा, 'अष्टयति अग्रम् आत्मा' इस व्यवपत्तिमें द्रव्यरूपसे एक आत्माको लक्ष्य बनाना श्योक्त ही है । ध्यान स्ववृत्ति होता है इसमें बाह्य चिन्ताओंसे निवृत्ति हाती है । (अ आ/ति १६६६/१६२१/१६), (त अनु ६२-६४ (भा पा/टी ७८/२२६/१) ।

त अनु ६०-६१ प्रत्यहय यदा चिन्ता नानालम्बनवृत्तिनीम् । एका-लम्बन एवैतां निरुणद्धि विमुद्गधी ॥६०॥ तदास्य योगिनो योगक्षिन्तैकाग्रनिर्वाधनम् । प्रसम्यान समाधि स्यादध्यान स्वेष्ट-फलप्रदम् ॥६१॥ -जय विमुद्ग धुद्धिका धारक योगी नाना अल-म्बनोर्ध्वे वतनेवाली चिन्ताको खोचकर उसे एक आलम्बनमें ही स्थिर करता है -अन्यत्र जाने नहीं देता -तब उस योगीके 'चिन्ता-का एकाग्र निरोधन' नामका योग होता है, जिसे प्रसम्यान, समाधि और ध्यान भी कहते हैं और वह अपने इष्ट फलका प्रदान करनेवाला होता है । (प नि ४/६४) । -दे ध्यान १/२-अन्य विषयांकी अपेक्षा असत् है पर स्वविषयकी अपेक्षा सत् ।

* एकाग्र चिन्तानिरोधके अपर नाम—दे मोक्षमार्ग २/६ ।

एकान्त—(ज प/प्र १०६) Unidirectional finite

एकावली यष्टि—जो लड़ी केवल मोतियोंसे बनाई जाती है, उसे सूत्र भी कहते हैं । (आ पृ ६६३) —दे वृ जै शब्दा द्वि खंड ।

एकावली व्रत—

१ वृहद विधि

कुल समय—१ वर्ष, कुल उपवास—८४ । विधि—एक वर्ष तक ब्रा-ह्मर प्रतिमासकी शुक्ल १, ६, ८ १४ तथा कृष्ण ४, ८, १४ इन सात तिथियोंमें उपवास करे । इस प्रकार १२ महीनोंके ८४ उपवास करे । -जाप्य मन्त्र—नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे । (किशन सिंह क्रियाकोश), (व्रतविधान संग्रह पृ ७६)

२ लघु विधि

ह पु ३४/६७-कुल समय—४८ दिन कुल उपवास—२४ पुन पाण्डा—२४। विधि—किसी भी दिनसे प्रारम्भ करके १ उपवास १ पाण्डा क्रमसे २४ उपवास पूरे करे । जाप्य मन्त्र—नमस्कार मन्त्रका त्रिपाल जाप्य करे (व्रतविधान संग्रह ७७) ।

एकासत्यात—दे अंतर्यात ।

एकीभावस्तोत्र—आचार्य वादिराज मूरि (ई. १०००-१०६६) द्वारा २६ सप्तसुत छन्दसिमें रचित एक भक्तिपूर्ण आध्यात्मिक स्तोत्र, जिसमें रचिताने अपना पुत्रराग शास्त्र किया था । (ती ३/१०३)

एकेन्द्रिय—वे संसारी जीव जिनके एक रूपसे इन्द्रिय मात्र हो जैसे पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक वनस्पति कायिक इन पाँचोंमें जन्मलक जीव रहता है तमत्तव वे सच्चि, फिर जीव निरन जानेपर ये अचित्त कहनाते हैं । एकेन्द्रिय जीव सुख-के जानते हैं य इसीसे नाम करते हैं । इनके दृष्टिन्द्रिय, शरीरबल आयु श्रवणोद्धार ऐसे पांच प्राण होते हैं ।

—दे वृ जैन शब्दा द्वि खंड ।

एकेन्द्रियजाति—नामकर्मकी एक प्रकृति—दे जाति (नामकर्म) १

एकेन्द्रिय जीव—दे इन्द्रिय ४ ।

एकेन्द्रिय भेद—एकेन्द्रिय जीवोंके ४२ भेद हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, निरय, निगाद, साधारण मनस्पति, इतर निगाद, सा व । इन १४ में सूक्ष्म व बादरकी अपेक्षा १२ भेद हुए । प्रत्येक मनस्पति सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित भेदमें दो प्रकार । ऐसे १४ प्रकार हुए एक पर्याप्त, निर्वृत्त्यपर्याप्त व सत्पथ पर्याप्त इस तरह ४२ भेद हुए । (जै सि प ६४ ६७)

—दे वृ जैन शब्दा द्वि खंड ।

एतिकायन—एक अज्ञानवादी -दे अज्ञानवाद ।

एर—(प पु २६/६६) दशरथपुत्र रामचन्द्रजी आदिके बिद्या गुरु ।

एरगित्तर गण—एक जैनाभासो संघ (दे इतिहास ६/७)

एलाचार्य—१ उप आचार्य—दे आचार्य ३ । २ कुन्दकुन्दका अपर नाम (दे कुन्दकुन्द २) ३ तमिस्र वेद बुरलकावके रचयिता । समय—ई श २ (कुरलकाव्य प्र/प गोविन्दराम) । ४ घबलाकार बीरसेन स्वामी (ई ७७०-८२०) के समकालीन उनके शिक्षा गुरु । समय—ई श ८-९ की सन्धि । (जै १/२४२), (सी २/३२०)

एलापुत्र व्यास—एक विनयवादी—दे वैनयिक ।

एलेय—(ह पु १७/८५) न । हरिवंशी राजा दक्षका पुत्र था ॥१॥ अपनी पुत्रीके साथ व्यवभारकरनेवाले अपने पिताके कुचारित्रसे ११६६ दुःखी हो अन्यत्र जाकर इलावर्धन ताग्रलिति नाम नगर व माहिष्मती नामक नगरी बसायी । अन्तमें दोहा धारण कर ली ॥१६-२४॥

एवभूत नय—दे नय III/८ ।

एवकार—

१. एवकारके ३ भेद

घ ११/४ २, ६, १७७/रलो ७-८/३१७/१० विशेषणविशेषध्याम्यो क्रियया च सहोन्ति । पार्थी धनुर्धरो नील सरोजमिति वा यथा ॥८॥ अयोगम-परयोगमन्यतायोगमेव च । व्यवच्छिन्नलति धर्मस्य निपातो व्यति-रेचक । -निपात अर्थात् पञ्चका व्यतिरेचक अर्थात् निवर्तक या नियामक होता है । विशेषण, विशेषण और क्रियाके साथ कहा गया निपातक्रमसे अयोग, अपरयोग (अन्य योग) और अयन्यतायोगका व्यवच्छेद करता है । जैसे—'पार्थी धनुर्धर, और 'नील सरोजम्,

इन वाक्यों के साथ प्रयुक्त एवकार। (अर्थात् एवकार तीन प्रकारके होते हैं—अयोगव्यवच्छेदक, अन्ययोगव्यवच्छेदक और अत्यन्तायोगव्यवच्छेदक)। (स भ त २५-२६)

स भ त २५/१ अयं चैवकारस्त्रिविधः—अयोगव्यवच्छेदबोधक, अन्ययोगव्यवच्छेदबोधक, अत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधक इति ।—यह अवधारण वाचक एवकार तीन प्रकारका है—एक अयोगव्यवच्छेदबोधक, दूसरा अन्ययोगव्यवच्छेदबोधक, और तीसरा अत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधक।

२ अयोगव्यवच्छेद बोधक एवकार

वे 'एवकार' में घ १/१ विशेषणके साथ कहा गया एवकार अयोगका अर्थात् सम्बन्धके न होनेका व्यवच्छेद या व्यावृत्ति करता है।

स भ त २५/३ तत्र विशेषणसंगतैवकारोऽयोगव्यवच्छेदबोधकः, यथा शङ्ख पाण्डुर एवेति। अयोगव्यवच्छेदो नाम—उद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणभावाप्रतियोगित्वम्। प्रकृते चोद्देश्यतावच्छेदक शङ्खत्वं, शङ्खत्ववच्छिन्नपुद्गिरस्य पाण्डुरत्वस्य विधानात् तथा च शङ्खत्वसमानाधिकरणो योऽत्यन्ताभावः न तावत्पाण्डुरत्वाभावः, किन्त्ववस्थाभावः।—विशेषणके साथ अन्वित या प्रयुक्त एवकार तो अयोगकी निवृत्तिका बोध करानेवाला होता है, जैसे 'शङ्ख पाण्डुर एव' शङ्खत्वे ही होता है। इस वाक्यमें उद्देश्यतावच्छेदके समानाधिकरणमें रहनेवाला जो अभाव उसका जो अप्रतियोगी उसको अयोग व्यवच्छेद कहते हैं। जिस वस्तुका अभाव कहा जाता है वह वस्तु उस अभावका प्रतियोगी होता है और जिनका अभाव नहीं है वे उस अभावके अप्रतियोगी होते हैं। अयं यहाँ प्रकृत प्रसंगमें उद्देश्यताका व्यवच्छेदक धर्म शङ्खत्व है, क्योंकि शङ्खत्व धर्मसे अवच्छिन्न जो शङ्ख है उसको उद्देश्य करके पाण्डुरत्व धर्मका विधान करते हैं। तात्पर्य यह है कि उद्देश्यतावच्छेदक शङ्खत्व नामका धर्म शङ्खरूप अधिकरणमें रहता है, उसमें पाण्डुरत्वाका अभाव तो है नहीं क्योंकि वह तो पाण्डुरत्व ही है। इसलिए वह उस शङ्खमें रहने वाले अभावका अप्रतियोगी हुआ। उसके अयोग अर्थात् असम्बन्धकी निवृत्तिका बोध करनेवाला एवकार यहाँ लगाया गया है। क्रमशः—

स भ त २७/४ प्रकृतेऽयोगव्यवच्छेदकस्यैवकारस्य स्वीकृतत्वात्। क्रियासङ्गस्यैवकारस्यापि क्वचिदयोगव्यवच्छेदबोधकत्वदर्शनात्। यथा ज्ञानमर्थं गृह्णत्येवैवाद्यौ ज्ञानत्वसमानाधिकरणान्ताभावाप्रतियोगित्वस्यार्थप्राप्तकत्वे धार्यर्थे बोधः।—प्रकृत (स्यादस्त्येव घट) में यद्यपि एवकार क्रियाके साथ प्रयोग किया गया है, विशेषणके साथ नहीं, परन्तु यह अयोग व्यवच्छेदक ही स्वीकार किया गया है। कहीं-कहीं क्रियाके साथ संगत एवकार भी अयोगव्यवच्छेदबोधक अर्थमें देखा जाता है। जैसे—'ज्ञानमर्थं गृह्णत्येव ज्ञान किसी न किसी अर्थको ग्रहण करता ही है' इत्यादि उदाहरणमें उद्देश्यतावच्छेदक ज्ञानत्व धर्मके समानाधिकरणमें रहनेवाला जो अत्यन्ताभाव है उसका अप्रतियोगी जो अर्थप्राप्तकत्व धर्म है उसरूप धार्यर्थका बोध होता है। परन्तु सर्वथा क्रियाके साथ एवकारका प्रयोग अयोगव्यवच्छेद बोधक नहीं होता, जैसे—'ज्ञान रजतको ग्रहण करता ही है' इस उदाहरणमें, सभ ही ज्ञानोंके रजतप्राप्तकत्वका सद्भाव न पाया जानेसे और किसी-किसी ज्ञानमें उसका सद्भाव भी होनेसे यह प्रयोग अत्यन्ताभाव व्यवच्छेद बोधक है न कि अयोग-व्यवच्छेद बोधक। (न्यायकुमुद चन्द्र/भाग २/पृ ६६३)

३ अन्ययोगव्यवच्छेद बोधक एवकार

वे 'एवकार' में घ १/१ विशेष्यके साथ कहा गया एवकार अन्ययोगका व्यवच्छेद करता है, जैसे—'पार्थ ही धनुर्धर है', अर्थात् अन्य नहीं। स भ त २६/१ विशेष्यसङ्गतैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदबोधकः। यथा—

पार्थ एव धनुर्धर इति। अन्ययोगव्यवच्छेदो नाम विशेष्यभिन्नता-दारम्यादिव्यवच्छेदः। तत्रैवकारेण पार्थान्यतादात्म्याभावो धनुर्धरे बोध्यते। तथा च पार्थान्यतादात्म्याभाववदधनुर्धराभिन्न पार्थ इति बोधः।—विशेष्यके साथ संगत जो एवकार है वह अन्य योगव्यवच्छेदरूप अर्थका बोध कराता है जैसे—'पार्थ एव धनुर्धरः' धनुर्धर पार्थ ही है इस उदाहरणमें एवकार अन्ययोगके व्यवच्छेदका बोधक है। इस उदाहरणमें एवकार शब्दसे पार्थसे अन्य पुरुषमें रहनेवाला जो तादात्म्य वह धनुर्धरमें बोधित होता है। अर्थात् पार्थसे अन्य व्यक्तियोंमें धनुर्धरत्व नहीं है ऐसा अर्थ होता है। यहाँपर धनुर्धरत्वका पार्थसे अन्यमें सम्बन्धके व्यवच्छेदका बोधक पार्थ इस विशेष्य पदके आगे एव शब्द लगाया गया है। (न्यायकुमुदचन्द्र/भाग २/पृ. ६६३)

४. अत्यन्तायोग व्यवच्छेद बोधक एवकार

वे 'एवकार' में घ १/१ क्रियाके साथ कहा गया एवकार अत्यन्तायोगका व्यवच्छेद करता है। सरोज नील होता ही है।

स भ त २६/४ क्रियासङ्गतैवकारोऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधकः, यथा नीलं सरोजं भवत्येवेति। अत्यन्तायोगव्यवच्छेदो नाम—उद्देश्यताव्यवच्छेदकव्यापकाभावाप्रतियोगित्वम्। प्रकृते चोद्देश्यतावच्छेदक सरोजत्वम् तद्वर्तमानवच्छिन्नं नीलामेदरूपधार्थस्य विधानात्। सरोजत्वव्यापको योऽत्यन्ताभावः सा नीलामेदाभावः कस्मिंश्चि-त्सरोजे नीलामेदस्यापि सम्भावः, अपि त्ववस्थाभावः तदप्रतियोगित्वं नीलामेदे वर्तते इति सरोजत्वव्यापकात्यन्तभावाप्रतियोगिनीलामेद-वत्सरोजवन्मिथुक्तस्थले बोधः।—क्रियाके संगत जो एवकार है वह अत्यन्त अयोगके व्यवच्छेदका बोधक है जैसे—'नीलमरोजं भवत्येव' कमल नील होता ही है। उद्देश्यता-व्यवच्छेदक धर्मका व्यापक जो अभाव उस अभावका जो अप्रतियोगी उसको अत्यन्तायोगव्यवच्छेद कहते हैं। उपरोक्त उदाहरणमें उद्देश्यताव्यवच्छेदक धर्म सरोजत्व है, क्योंकि उसीसे अवच्छिन्न कमलको उद्देश्य करके नीलत्वका विधान है। सरोजत्वका व्यापक जो अभाव है वह नीलके अभेदका अभाव नहीं हो सकता क्योंकि किसी भी किसी सरोजमें नीलका अभेद भी है। अतः नीलके अभेदका अभाव सरोजत्वका व्यापक नहीं है, किन्तु अन्य घटादिक पदार्थोंका ज्ञान सरोजत्वका व्यापक है। उस अभावकी प्रतियोगिता घट आदिमें है और अप्रतियोगिता नीलके अभेदमें है। इस रीतिसे सरोजत्वका व्यापक जो अत्यन्ताभाव उस अभावका अप्रतियोगी जो नीलामेद उस अभेद सहित सरोज है ऐसा इस स्थानमें अर्थ होता है (भावार्थ यह है कि जहाँपर अभेद रहेगा वहाँपर अभेदका अभाव नहीं रह सकता। इसलिए सरोजत्व व्यापक अत्यन्ताभावका अप्रतियोगी नीलका अभेद हुआ और उस नीलके अभेदसे युक्त सरोज है, ऐसा अर्थ है। न्यायकुमुदचन्द्र/भाग २/पृ ६६३)

* एवकार पदको सम्यक् व विध्या प्रयोगविधि

—दे एकान्त २

एशान—१ कल्पवासी देवोंका एक भेद—दे स्वर्ग १। २ इन देवों का लोकमें अवस्थान—दे स्वर्ग ५। ३ विजयार्थकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे विधाधर।

एषणा—घ १/५.४ २६/५५/२ किमेसर्ज, असर्ज-पाण त्वाविय-सादिय।—प्रसर्ज-ऐषणा किसे कहते हैं। १ उत्तर—अशन, पान, स्वाद्य और स्वाद्य इनका नाम एषणा है। २ आहारका एष दोष—दे आहार II/४। ३ वस्तुका एकदोष—दे वस्तिका। ४ आहार सम्बन्धी विषय—दे आहार। ५ लाकेषणा—दे राग ४।

एषणा-शुद्धि—दे शुद्धि।

एषणा-समिति—दे समिति १।

एसोदस व्रत—कुल समय—६५० दिन, कुल उपवास—५५०, कुल पारणा—१००। विधि—पहले एक वृद्धि क्रमसे १ से लेकर १० उपवास तक करे। फिर एक हानि क्रमसे १० से लेकर १ उपवास तक करे बीचमें एक एक पारणा करे। मन्त्र—१ उपवास, १ पारणा, २ उपवास, एक पारणा, ३ उपवास, एक पारणा, इसी प्रकार ४-१, ५-१, ६-१, ७-१, ८-१, ९-१, १०-१, १०-१, ८-१, ७-१, ६-१, ५-१, ४-१, ३-१, २-१ १ यह सर्वविधि दस बार करनी (वर्धमान पु), (व्रतविधान स पृ १००)।

एसोदस—कुल समय—४८६ दिन कुल उपवास—४०६, कुल पारणा—८६, विधि—उपरोक्त एसोदसव्रत ही है। अन्तर इतना है कि वृद्धि व हानि क्रम १-६ व ६-१ तक जानना। तथा १० को मज्जाय ६ बार दुहराना। जाण्य मन्त्र—नमोऽकार मन्त्रका सोन बार जाण्य करना। (वर्धमान पुराण)। (व्रतविधान समष्टि/पृ ६६)

[ऐ]

ऐतिह्य—इतिहासका एकाध्यायी—दे इतिहास १।

ऐरावत—१ शिवरी पर्यंतका एक कूट व उसका स्वामी देव—दे लोक ६/४, २ पक्ष हृदके वनमें स्थित एक कूट—दे लोक ६/७ ३ उत्तर-कुरुके दस ब्रह्मोंमें—दे दो ब्रह्म—दे लोक ६/६।

ऐरावत क्षेत्र—रा बा ३/१०/२०/१८१/२६ रत्नारत्नोदयो बहुमध्य-देशमाविनो अयोध्या नाम नगरो। तस्यामुत्पन्न ऐरावतो नाम राजा। तत्परिपालनार्थमपदस्यैरावतोभिधानम्। —२ रक्ता तथा रक्तादा नदियोंके बीच अयोध्या नगरी है। इसमें एक ऐरावत नामका राजा हुआ है। उसके द्वारा परिपालित होनेके कारण इस क्षेत्रका नाम ऐरावत पड़ा है। ऐरावत क्षेत्रका लोकमें अवस्थानादि—दे लोक ३, ३।

* ऐरावत क्षेत्रमें काल परिवर्तन आदि—दे 'भरत क्षेत्र'।

ऐरावत हाथी—ति प ८/२७८-२८४ सप्तदुर्गम् य बाहणदेवा ऐरावदण म हस्ति कुम्भाति। विधिक्रियाओं लपर्व उच्छेद जोयणा दोहे २७८। एदाण वत्तोसं होंति मुहा दिव्यरयणदामजुवा। पुह रुणति किंकिणिकोलाहलसहकयसोहा २७९। एवकेवमुहै चचल-चदुज्जलवमरचारुवन्मि। चत्तारि होंति दत्ता धवला वररयणभर-वचिवा २८०। एवकेवन्मि विसाणे एवकेवसरोवरो निमलवारी। एवकेवसरोवरम् य एवकेव कमलवणसडा २८१। एवकेवकमलसडे वत्तीस विकत्सरा महापउमा। एवकेव महापउम एवकेव जायण पमाणे २८२। वरकचणकयसोहा वरपउमा सुरविकुठवणवलेण। एवकेव महापउमे णाहगसात्ता य एवकेवा २८३। एवकेवकाए सीए वत्तीस वरच्छरा पणस ति। एवा सत्तापीया पिहिद्धा वारसिदाण २८४। —सौधर्म और ईशान इन्द्रके बाहन देव निक्रियासे एक लाख उत्तरेध योजन प्रमाण दीर्घ ऐरावत नामक हाथीको करते हैं २७८। इनके दिव्य रत्नमालाओंसे युक्त वत्तीस मुख होते हैं जो घण्टिकाओंके कोलाहल शब्दसे शोभायमान होते हुए पृथक् पृथक् शब्द करते हैं २७९। वक्षस एवा चन्द्रके समान उज्ज्वल वमरोंसेसुन्दर रूपवाले एक एक मुखमें रत्नोंके समूहसे खचित धवल चार दाँत होते हैं २८०। एक एक हाथी दाँतपर निमल जलसे युक्त एक-एक उत्तम सरोवर होता है। एक एक सरोवरमें एक एक उत्तम कमल वनखण्ड होता है २८१।

एव एव वमनगण्डमें विगमित २२ महापत्र होते हैं। और एक एक महापत्र एक-एक गाजा प्रमाण होता है २८२। येनीक विक्रिया करने से उत्तम वमन उत्तम सुगन्धमें शोभायमाना होते हैं। एव-एक महा-पत्रपर एक एक नाट्यशाना होती है २८३। उग एक-एक नाट्य दातामें उत्तम वत्तीय-वत्तीय अष्टगण मृत्यु करती है २८४। (मयू १२/१२ ६६), (जय ४/२३२-२६१)

ऐलक—वस्तु आ ३०१, ३११ एगारमम्मि ठाणि उडिहटो सायओ हत मुगिहो। परयोवधरा पत्रमो वायोपपरिगहो विदिता ३०१। एदेर होइ विदिता पपरि विमेमा कुपिज विगमेम। लोचपपरि वि-भुजिज्या पापिपत्तम्मि ३११। —भारतमें प्रतिमा स्थानमें गया हुआ मधुचर उत्कृष्ट श्रावक गहनाता है। उगमे दा भेद है—प्रथम दस वसका रत्नोवाला और दूसरा कापीनमात्र परिग्रहवा ३१०। प्रथम उत्कृष्ट श्रावक (सुशक) के समान हो द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक होता है। केवल विशेष यह है कि उमे निगमने बड़ोका र्जव करना चाहिए, पीरो रखना चाहिए और पाणिनात्रमें खाना चाहिए ३११। (सा घ ७/४८-४९)

सा स ७/४६ ८२ उत्कृष्ट श्रावको ब्रेषा सुत्तनरहीनकरतया—एवात्त सत्तयो द्वो स्तो द्वो णिज र्का कमात् ४६। उत्तमरु स गूमाति वत्तं गोपीनमात्रकम्। माचं समुद्रशिखोस्मा विचित्रर्का च कम-इत्तम्। ४६। पुम्मापइत्तमपिउय मयमाधोग्ग यथा। मूर्त्तं चाणि न मूहो यादोपरमापयणम् ४७। गोपीनापधिमाम्मात्तु विना वावत्तमो क्रिया। विदो चैनकम्मास्य दुधर वपधाम्मम् ४८। तिष्ठेच्चै-रगाउये सधे वो वा मुनिमतिथो। निरवद्वये गमास्थाने तुम्हे दृश्य मठादिपु ४९। पूर्वोदितक्रमेण वृत्तकर्मनिधाननात्। ईपम्मापाहवति स भोजनार्थं मटेरपुरे ५०। ईयांसमितिगमुद पर्यटेदुग्धमरयमा। द्वाभ्यां पात्रस्थागाम्मा हस्ताभ्यां परमरमुवात् ५१। द्वाभ्यामो पदेशं च निगमाणि मुत्तिस्थापाम्। तपो द्वादशघा कुर्यात्तायस्मिन्-त्तादि वापरये ५२। —उत्कृष्ट श्रावक दा प्रकरका होता है—एक सुशक और दूसरा ऐनक। इन दोनोंके कम को निर्जरा उत्तरोत्तर अधिक अधिक होती रहती है ४६। ऐलक कवन गोपीनमात्र परका धारण करता है। दाढी, मूँद और मस्तकके मात्तिका नोच करता है और पीरो कमण्डु धारण करता है ४७। इनके विषय सग साधारण पुत्रक आदि धर्मोपकरणोंको भी धारण करता है। परन्तु ईपय मायचके भी वारणभूत पदार्थोंको नैसामात्र भी अपने पास नहीं रखता है ४७। गोपीन मात्र उपरिदेके अतिगुत्त उमकी समस्त क्रियाएँ मुनियोंके समान होती हैं तथा मुनियोंके समान ही वह अत्यन्त पठित-पठित ब्रह्मोंय। पालन करता है ४८। यह या ता किसी चैरपासगम रहता है, या मुनियोंके गयमें रहता है अथवा किसी मुनिराजके समीप वनमें रहता है अथवा किसी भी मूने मठमें वा अन्य किसी भी निर्दोष और सुदृढ़ स्थानमें रहता है ४९। पूर्वोक्त क्रमसे समस्त क्रियाएँ करता है तथा दोषहरसे कुल समय पहले साधना आकर नगममें जाता है ५०। ईयांसमितिसे जाता है तथा घरोकी सत्ताका नियम भी लेकर जाता है। पात्रस्थानीय अपने हाथोंमें ही आहार लेता है ५१। विना किसी छन-कपटके मोक्षका कारणभूत धर्मोपदेश देता है। तथा बारह प्रकारका तपश्चरण पालन करता है। कदाचित् ब्रतादिमें दोष लग जानेपर प्रायश्चित्त लेता है ५२।

२. ऐलक पद व शब्दका इतिहास

वस्तु आ/प्र ६२/१८/II L Jain इस 'ऐलक' पदके मूल रूपकी ओर गम्भीर दृष्टिपात करनेपर यह भ महावीरसे भी प्राचीन प्रतीत होता है। भगवती आराधना मूलाचार आदि सभी प्राचीन ग्रन्थोंमें दिगम्बर साधुओंके लिए अचेदक पदका व्यवहार हुआ है। पर भग-

वात् महावीरके समयसे अचेलक साधुओंके लिए नग्न, निर्ग्रन्थ और दिगम्बर-शब्दोंका प्रयोग बहुलतासे होने लगा। स्वयं बौद्ध ग्रन्थोंमें जन-साधुओंके लिए 'निगूठ' या 'गिगूठ' नामका प्रयोग किया गया है, जिसका कि अर्थ निर्ग्रन्थ है। अभीतक नव् समासका अर्थ प्रति-प्रेषपरक अर्थात् 'न+चेलक = अचेलक' अर्थ लिया जाता था। पर जय नग्न साधुओंको स्पष्ट रूपसे दिगम्बर व निर्ग्रन्थ आदि रूपसे व्यवहार होने लगा तब नव् समासके ईश्व अथवा आश्रय लेकर 'ईश्व+चेलक = अचेलक' का व्यवहार प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है। जिसका कि अर्थ नाममात्रका वस्त्र धारण करनेवाला होता है। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दीसे प्राकृतके स्थानपर अपभ्रंश भाषाका प्रचार प्रारम्भ हुआ और अनेक शब्द सर्वसाधारणके व्यवहारमें कुछ भ्रष्ट रूपसे प्रचलित हुए। इसी समयके मध्य 'अचेलक' का स्थान 'ऐलक' पदने ले लिया। जो कि प्राकृत व्याकरणके नियमसे भी सुसंग बैठ जाता है। क्योंकि, प्राकृतमें 'क, ग, च-ज त-द-प-य-वां प्रायो 'लृक्' (हैन प्रा १, १७७) इस नियमके अनुसार 'अचेलक' के चकार-का लोप हो जानेसे 'अ, ए, ल, क' पद अवशिष्ट रहता है। यही (अ+ए=ऐ) सन्धिके योगसे 'ऐलक' बन गया। उक्त विवेचनसे यह बात भलीभाँति सिद्ध हो जाती है कि 'ऐलक' पद भले ही अर्वाचीन हो, पर उसका मूल रूप 'अचेलक' शब्द बहुत प्राचीन है। इस प्रकार ऐलक शब्दका अर्थ नाममात्रका वस्त्रधारक अचेलक होता है और इसकी पुष्टि या समन्तभ्रमके द्वारा ग्यारहवीं प्रतिमाधारीके लिए दिये गये 'चैलखण्डधर' (वस्त्रका एक खण्ड धारण करनेवाला) पदसे भी होती है।

* क्षुल्लक व ऐलकमें अन्तर तथा इन दोनों भेदोका

इतिहास व समन्वय—दे क्षुल्लक २।

* उद्धिद त्याग सम्बन्धी—दे उद्धिद १।

ऐश्वर्य मद—दे मद १।

ऐहिक फलानपेक्षा—दातारका पहला गुण कि वह इस लोकके फलकी इच्छा न करे कि सुके धन, पुत्र व यश हो। (पु रलो १६६)
—दे वृ जै शब्दा द्वि खड

[ओ]

ओघ—गुणस्थान जो १४ होते हैं। (गो जी /गा ३)

—दे वृ जै शब्दा द्वि खड।

घ १/१,१,८/१६०/२ ओघेन सामान्येनामेदेन प्ररूपणमेक।—ओघ, सामान्य या अमेदसे निरूपण करना पहली ओघप्ररूपणा है।

घ ३/२,२/१६/२ ओघं वृन्द समूह सपात समुदय पिण्ड अविशेष अभिन्न सामान्यमिति पर्यायशब्द। गरयादि मार्गणस्थानैरविशेषितानां चतुर्दशगुणस्थानानां प्रमाणप्ररूपणमोघनिर्देश।—ओघ, वृन्द, समूह, सपात, समुदय, पिण्ड, अविशेष, अभिन्न और सामान्य ये सव पर्यायवाची शब्द हैं। इस ओघनिर्देशका प्रकृतमें स्पष्टीकरण इस प्रकार हुआ कि गरयादि मार्गणा स्थानोंसे विशेषताको नहीं प्राप्त हुए केवल चौदहों गुणस्थानोंके अर्थात् चौदहों गुणस्थानवर्ती जीवोंके प्रमाणका प्ररूपणा करना ओघनिर्देश है।

गो जी /मु ३/२३ संक्षेओ ओघोत्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा।
विस्थारावेत्तोत्ति य मगणसण्णा सकम्मभवा।३।—संक्षेप तथा ओघ

ऐसी गुणस्थानकी सज्ञा अनादिनिधनं भूतिप्रणीत मार्गसिद्धे रूढ़ है।
महुरि सो सज्ञा 'मोहजोगभवा' कहिए दर्शन व चारित्र मोह वा मन बचन काय योग तिनिकरि उपजी है। महुरि तैसे ही विस्तार आवेश ऐसी मार्गणास्थानकी सज्ञा है। सो अपने अपने कारणभूत कर्मके उदयतै हो है।

ओघालोचना—दे आलोचना १।

ओज—शरीरमें शुक्र नामकी धातुका नाम तथा औदारिक शरीरमें इसका प्रमाण—दे औदारिक १/७।

घ १०/४,२,४,३/२३/१ जो रासी चहुँहि अवहिरिज्जमाणो दोखवग्गो होदि सो बादरजुम्मं। जो एगगो सो कलियाजो। जो तिग्गो सो तेजोजो। उवत्तं च—चोदस बादरजुम्मं सोलस कदजुम्ममेरथ कलियाजो। तेरस तेजोजो खलु पण्णरसेव खु विण्णेया।३।—जिस राशि-को चारसे अवहृत (भाग) करनेपर दो रूप घेप रहते हैं वह बादर-युग्म करो जाती है। जिसको चारसे अवहृत करनेपर एक अश घेप रहता है वह कलिओज राशि है। और जिसको चारसे अवहृत करनेपर तीन अश घेप रहते हैं वह तेजोज-राशि है। कहा भी है—यहाँ चौदहको बादरयुग्म, सोलहको कृतयुग्म, तेरहको कलिओज और पन्द्रहको तेजोज राशि जानना चाहिए। (क्योंकि १४=(४×३)+२, १६=(४×४)+०, १३=(४×३)+१, १५=(४×३)+३)।

ओजाहार—दे आहार १/१।

ओद्दावण—घ १३/६,४,२२/४६/११ जीवस्य उपद्रवण ओद्दावण नाम—जीवका उपद्रवण करना ओद्दावण कहलाता है।

ओम्—

१ पञ्च परमेष्ठिके अर्थमें

ब्र स /टी ४६/२०७/११ 'ओं' एकाक्षर पञ्चपरमेष्ठिनामादिपदम्। तत्कथमिति चेत् "अरिहता असरीरा आयरिया तह उवज्जमया मुणिणा। पढमक्खरणिप्पणो उँकारो पञ्च परमेठ्ठो।६।" इति गांधा-कथितप्रथमाक्षराणां 'समान सर्वणं दीर्घाभवति' 'परश्च लोपम्' 'उवर्णे ओ' इति स्वरसन्धिकविधानेन ओं शब्दा निष्पद्यते।—ओं यह एक अक्षर पाँचों परमेष्ठियोंके आदि पदस्वरूप है। प्रश्न—ओं यह परमेष्ठियोंके आदि पदस्वरूप कैसे है। उत्तर—अरहतका प्रथम अक्षर 'अ', सिद्ध यानि अशरीरोका प्रथम अक्षर 'अ', आचार्यका प्रथम अक्षर 'आ', उपाध्यायका प्रथम अक्षर 'उ', साधु यानि मुनिका प्रथम अक्षर 'म्' इस प्रकार इन पाँचों परमेष्ठियोंके प्रथम अक्षरोंसे सिद्ध जो ओंकार है वही पञ्च परमेष्ठियोंके समान है। इस प्रकार गायामें कहे हुए जो प्रथम अक्षर (अ अ आ उ ष) हैं। इनमें पहले 'समान सर्वणं दीर्घा-भवति' इस सूत्रसे 'अ अ' मिलकर दीर्घ 'आ' बनाकर 'परश्च लोपम्' इससे अक्षर 'आ' का लोप करके अ अ आ इन तीनोंके स्थानमें एक 'आ' सिद्ध किया। फिर 'उवर्णे ओ' इस सूत्रसे 'आ उ' के स्थानमें 'आ' बनाया। ऐसे स्वरसन्धि करनेसे 'ओम्' यह शब्द सिद्ध होता है।

२. पर ब्रह्मके अर्थमें

वैदिक साहित्यमें अ+उ+ं इस प्रकार अट्टाई मात्रासे निष्पन्न यह पद सर्वोपरि व सर्वस्व माना गया है। सृष्टिका कारण शब्द है और शब्दोंकी जननी मातृकाओं (क ख आदि) का मूल होनेसे यह सर्व सृष्टिका मूल है। अतः परब्रह्मस्वरूप है।

३ भगवद्वाणीके अर्थमें

उपरोक्त कारणसे ही अर्हन्त वाणीको जो कि उँकार ध्वनि मात्र है, सर्व भाषामयी माना गया है (दे दिव्यध्वनि)।

प्रणवमत्र—पदस्थ ध्यानमें इस मंत्रको दो भाँहोंके बीचमें व अन्त्यत्र विरा-जमान करके ध्यान किया जाता है।—दे वृ जै शब्द, द्वि खण्ड।

४ तीन लोकके अर्थमें

अ=अधोमोक्ष, उ=उर्ध्वलोक और म=मध्यलोक। इस प्रकारकी व्याख्याके द्वारा वैदिक साहित्यमें इसे तीन लोकका प्रतीक माना गया है।

जैनाम्नायके अनुसार भी ओंकार त्रिलोकाकार घटित होता है। आगम-में तीन लोकका आकार चित्र जैसा है, अर्थात् तीन वातवलयसे वेष्टित पुरुषाकार, जिसके ललाटपर अर्द्धचन्द्राकारमें बिन्दुरूप सिद्धलोक शोभित होता है। योचोयोच हाथोंके सूक्ष्मत्व प्रसन्नाली है।



‘ॐ’

यदि उसी आकारको जण्दीसे लिखनेमें आवे ता ऐसा लिखा जाता है,। इसीको कलापूर्ण बना दिया जाये तो ‘ॐ’ ऐसा ओंकार त्रिलोकाका प्रतिनिधि स्वयं सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि भेदभावसे रहित भारत के सर्व ही धर्म इसको समान रूपसे अपनाकर मानते हैं।

५ प्रवेशापञ्चयके अर्थमें

घ १०/४.२.४.३/२३/६ सिया ओमा, कयाई पदेसाणमवचयवसणावो। = (ज्ञानावरणकर्मका द्रव्य) स्यात् ‘ओम्’ है, क्योंकि पदाचित्त प्रवेशिका अपचय देखा जाता है।

६ नो ओम् नो विशिष्ट

घ १०/४.२.४.३/२३/७ सिया नोमनोविसिद्धापादेयकं पदावयवे गिरुद्धे हाणीणमभावावो। = (ज्ञानावरणका द्रव्य) स्यात् नो ओम् नाविशिष्ट है क्योंकि, प्रत्येक पदभेदकी विवक्षा होनेपर बृद्धि-हानि नहीं देखी जाती है।

७ ओकार मुद्रा

अनामिका, कनिष्ठा और अग्रपुंजे नाक पकड़ना। (क्रियामंत्र पृ ८७ नोट) —दे वृ जै शब्द द्वि खड।

ओलिक—मध्य-आर्य-खण्डका एक देश —दे मनुष्य ४।

[ओ]

ओंङ्—मरुतलेख आर्य खण्डका एक देश—दे मनुष्य ४।

ओदधिक भाव—दे उदय ६।

ओदारिक—तिस्र व मनुष्योंके इस इन्द्रिय गोचर स्थूल शरीरको ओदारिक शरीर कहते हैं और इसके निमित्तमे होनेवाला आत्म-प्रवेशिका परिस्पन्दन ओदारिक-काययोग कहलाता है। शरीर धारण के प्रथम तीन समयोंमें जब तक इस शरीरकी पर्याप्त पूर्ण नहीं हो जाती तब तक इसके साथ कामार्णशरीरकी प्रधानता रहनेके कारण शरीर व योग दोनों मिश्र कहलाते हैं।

१ ओदारिक शरीर निर्देश

१ ओदारिक शरीरका लक्षण

२ ओदारिक शरीरके भेद

* पाँचों शरीरोंकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मता —दे शरीर १

* ओदारिक शरीरोंकी अवगाहना —दे अवगाहना

* महामत्स्यका विशाल शरीर —दे समुच्छ्रय

* प्रत्येक व साधारण शरीर —दे वनस्पति

३ ओदारिक शरीरका स्वामित्व

* पाँचों शरीरोंके स्वामित्वकी ओघ आदेश प्ररूपणा —दे शरीर २

* समुच्छ्रय जन्म व शरीर —दे समुच्छ्रय

* गर्भज जन्म व शरीरोंत्पत्तिका क्रम —दे जन्म २

४ ओदारिक शरीरके प्रदेशाग्रका स्वामित्व

५ पट्कायिक जीवोंके शरीरका आकार

* ओदारिक शरीरोंकी स्थिति —दे स्थिति

* ओदारिक शरीरमें कुछ चित्तविशेषोका निर्देश (व्यंजन व लक्षण निमित्त ज्ञान) —दे निमित्त २

६ ओदारिक शरीरमें धातुओ-उपधातुओंका उत्पत्ति क्रम

* योनिस्थानमें शरीरोंत्पत्तिका क्रम —दे पर्याप्त २

७ ओदारिक शरीरमें हृदियों आदिका प्रमाण

* पट्कालोंमें हृदियों आदिके प्रमाणमें हानि-वृद्धि-—दे काल ४

* ओदारिक शरीरके अंगोपांग —दे अंगोपांग

* तीर्थकरो व शलाकापुरुषोंके शरीरोंकी विशेषताएँ —दे तीर्थकर व शलाका

* ओदारिक-शरीर नामकर्मके वन्ध-उदय सत्त्व आदि की प्ररूपणाएँ —दे वह वह नाम

* ओदारिक शरीरकी सघातन परिघातन कृति —दे घ ६/४.१.७१/३६६-४६९

* ओदारिक-शरीरका धर्म साधनत्व —दे शरीर ३

* साधुओंके मृत शरीरकी क्षेपण विधि —दे सखेखना १९

* मुक्त जीवोंका चरम शरीर —दे मोक्ष ५

* द्विचरम शरीर। —दे चरम

२ ओदारिक काययोग निर्देश

१ ओदारिक काययोगका लक्षण

२ ओदारिक मिश्र काययोगका लक्षण

३ ओदारिक व मिश्र काययोग का स्वामित्व

* पर्याप्त व अपर्याप्त अवस्थाओंमें कामर्ण काययोगके सद्भावमें भी मिश्र काययोग क्यों नहीं कहते ? —दे काय ३

* सभी मार्गणाओंमें भावमार्गणा दृष्ट है —दे मार्गणा

* सभी मार्गणा व गुणस्थानोंमें आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम —दे मार्गणा

* ओदारिक व मिश्र काय-योग सम्बन्धी गुणस्थान, मार्गणास्थान, व जीवसमास आदि २० प्ररूपणाएँ —दे सद्

* औदारिक, व मिश्र काय-योगकी सत् सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पवहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ

—वे वह मह नाम

१. औदारिक शरीर निर्देश

१. औदारिक शरीरका लक्षण

प ख १४/५.६/ सूत्र २३७/३२२ णामानिरुत्तीए उरालमिदि ओरालिय १२३७।—नामनिरुत्तिकी अपेक्षा उराल है इसलिए औदारिक है।

स सि २/३६/१११/५ उदार स्थूलम्। उदारे भवं उदार प्रयोजनमस्येति वा औदारिकम्। —उदार और स्थूल ये प्रकारवाची शब्द हैं। उदार शब्दसे होने रूप अर्थ में या प्रयोजनरूप अर्थ में ठक प्रत्यय होकर औदारिक शब्द बनता है। (रा वा २/३६/५/१४६/५) (और भी दे आगे औदारिक २/१।

घ १/१.१.६/२६०/२ उदार पुरु महानित्यर्थ, तत्र भव शरीरमौदारिकम्। अथ स्यान्न महत्त्वमौदारिकशरीरस्य। कथमेतदवगम्यते। वर्णनासूत्रात्। किं तद्वर्णनासूत्रमिति चेदुच्यते 'सव्यत्थोवा ओरालिय-सरीर दब्ब वर्णनापवेसा, / न, अवगाहनापेक्षया औदारिकशरीरस्य महत्त्वोपपत्ते। यथा 'सव्यत्थोवा कम्मइय सरार-दब्बवर्णणाए ओगाहणा ओरालिय-दब्ब-वर्णणाए ओगाहणा असखेज्जगुणा त्ति। —उदार पुरु और महाद् ये एक ही अर्थके वाचक हैं। उनमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे औदारिक शरीर कहते हैं। प्रश्न—औदारिक शरीर महाद् है यह बात नहीं बनती है। प्रतिप्रश्न—यह कैसे जाना। उत्तर—वर्णनासूत्रमें यह बात माळूम पड़ती है। प्रतिप्रश्न—यह वर्णना सूत्र कौन सा है। उत्तर—वह वर्णना सूत्र इस प्रकार है, 'औदारिक शरीरद्रव्य सम्बन्धी वर्णनाओंके प्रवेश समते थोड़े हैं।' इत्यादि। उत्तर—प्रकृत में ऐसा नहीं है, क्योंकि अवगाहनाकी अपेक्षा औदारिक शरीरकी स्थूलता बन जाती है। जैसे कहा भी है—'कामणि शरीर सम्बन्धी द्रव्यवर्णनाकी अवगाहना समते सूक्ष्म है। (इसके पश्चात् अन्य शरीरों सम्बन्धी द्रव्य वर्णनाओंकी अवगाहनाएँ क्रमसे अनरयात असख्यात गुणों हैं। और अन्तर्में) औदारिक शरीर सम्बन्धी-द्रव्य वर्णनाकी अवगाहना इससे असख्यात गुणों है।

प १४/५.६ २३७/३२२/५ उराल थूलं वट्ट महत्त्वमिदि एग्हो। कुदो उरालत्त, ओगाहणाए। सेससरीराण ओगाहणाए एदस्स सरीरस्स ओगाहणा बहुआ त्ति ओरालियसरीरमुराले त्ति गहिदं। कुदो बहुत्त-मवगमन्दे। महामच्छोराणियसरीरस्स पच्चजोयणसदविकव भेण जोयणसहस्सयामदसणादो। अथवा सेससरीराण वर्णणोगाहणादो ओरालियसरीरस्स वर्णणओगाहणा बहुआ त्ति ओरालियवर्णणाण-मुरालमिदि सण्णा। —उराल, वृत्त स्थूल और महाद् ये प्रकारवाची शब्द हैं। प्रश्न—यह उराल क्यों है। उत्तर—अवगाहनाकी अपेक्षा उराल है। शेष शरीरोंकी अवगाहनासे इस शरीरकी अवगाहना बहुत है, इसलिए औदारिक शरीर उराल है। प्रश्न—इसकी अवगाहनाके महत्त्वका ज्ञान कैसे होता है। उत्तर—क्योंकि, महामत्त्वका औदारिक शरीर पाँच सौ योजन विस्तारवाला और एक हजार योजन आयामवाला देखा जाता है। अथवा शेष शरीरोंकी वर्णनाओंकी अवगाहनाकी अपेक्षा औदारिक शरीर की वर्णनाओंकी अवगाहना बहुत है, इसलिए औदारिक शरीरकी वर्णनाओंकी उराल ऐसी सझा है।

२ औदारिक शरीरके भेद

प १/१.१.६/२६६/१० औदारिक शरीर द्विविध विक्रियात्मक-विक्रियात्मकमिति। —औदारिक शरीर दो प्रकारका है—विक्रिया-त्मक और अविक्रियात्मक। (घ ६/४.१.६६/३२५/१)।

३. औदारिक शरीरका स्वामित्व

प सू २/४५ गर्भसमुच्छन्नजमायम् १४५। —पहला (औदारिक शरीर) गर्भ और समुच्छन्न जन्मसे पैदा होता है।

स सि २/४५/१६७/१ यद्द गर्भज यच्च समुच्छन्नज तत्सर्वमौदारिक द्रव्यम्। —जो शरीर गर्भ—जन्मसे और समुच्छन्न जन्मसे उत्पन्न होता है वह सब औदारिक शरीर है, यह इस सूत्रका तात्पर्य है। (रा वा २/४५/१६९/१८)

रा वा २/४६/८/१५३/२३ औदारिकं तिर्यट्मनुष्याणाम्। —तिर्यक् और मनुष्योंको औदारिक शरीर होता है।

४. औदारिक शरीरके प्रदेशाप्रका स्वामित्व

१. औदारिक शरीरके उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट प्रदेशाप्रोके

स्वामित्व सम्बन्धी प्ररूपणा—दे (प ख १४/५.६ सूत्र ४१७-४३०/३६७-४१९)

२ औदारिक शरीरके जघन्य व अजघन्य प्रदेशाप्रोके

स्वामित्व सम्बन्धी प्ररूपणा—दे (प ख १४ ५.६/सूत्र ४७६-४८२/४२३-४२४)

५. घट्कायिक जीवोंके शरीरका आकार

पू आ १०८६ मसुरिय कुसगबिदू सूक्ष्मत्वा पढाय सठाण। कायाण सठाण हग्गितससा गेगसठाणा। १०८६। —पृथिवीकायिके शरीरका आकार मसुरके आकारवत् अपेक्षायिका ठाभक अग्रभागमें स्थित जलाबिन्दुवत् तेजकायिकका सूक्ष्मसमुदायवत् अर्थात् ऊर्ध्व शृगुमुवा-जार, वायुकायिकका ध्वजावत् आयत, चतुरस्र आकार है। सब बनस्पति और दा इन्द्रिय आदि प्रम जीवोंका शरीर भेद रूप अनेक आकार वाला है। गो जी/पू २०१/४४६

६ औदारिक शरीरमें धातु-उपधातुका उत्पत्ति क्रम

घ ६/१ ६ १-२८/श्लो ११/६३ रसाद्रक्त ततो मांस मांसान्मेद प्रवर्तते। मेदसाऽस्थि ततो मज्जा मज्ज शुक्र तत प्रजा। ११।

घ ६/१, ६-१ २८/६३/११ पचवीसकलासमाई चउरसीदिकलाओ च तिहिसत्तभागेहि परिहीणणवक्काओ च रसो, रसरूवेण अच्छिय रुहिर होदि। तं रि तत्तिय चैव कालं तत्पच्छिय मांससरूवेण परिणमइ। एव सेस घाट्ठुण वि वत्तव्व। एव मासेन रसो सुक्खवेण परिणमइ। —रससे रक्त बनता है रक्तसे मांस उत्पन्न होता है, मांससे मेदा पैदा होती है, मेदासे हड्डी बनती है, हड्डीसे मज्जा पैदा होती है, मज्जासे शुक्र उत्पन्न होता है और शुक्रसे प्रजा उत्पन्न होती है। ११। २५८४ कला ८८८ काष्ठा काल तक रस रसस्वरूपसे रहकर रुधिररूप परिणत होता है। वह रुधिर भी उतने ही काल तक रुधिर रूपसे रह कर मांसस्वरूपसे परिणत होता है। इसी प्रकार शेष धातुओंकी भी परिणाम-काल कहना चाहिए। इस तरह एक मांसके द्वारा रस शुक्र रूपसे परिणत होता है। (गो क/जी प्र ३२/३० पर उद्धृत श्लोक न० १)

गो क/जी प्र ३३/३० पर उद्धृत श्लोक न० २ वात पित्त तथा रसेषा सिरा स्नायुश्च चर्म च। जटराग्निर्गति प्रादौ प्रत्ता सप्तोपधातव। —वात, पित्त, श्लेष्म, सिरा, स्नायु, चर्म, उदराग्नि ये सात उप धातु हैं।

७. औदारिक शरीरमें हड्डियों आदिका प्रमाण

भ आ/पू १०२७-१०३४/१०७२-१०७६ अट्ठीणि हुंति तिणिण हु सदाणि भरिदाणि कुणिममज्जाए। सत्त्वम्मि चैव देहे संधीणि हवति तावदिया १०२७। प्धारुण णवसदाइ सिरासदाणि य हवति सत्तेन। देहम्मि मसपेसाणि हुति पचैव य सदाणि १०२८। चचारि सिरा-

जालाणि हुँति सोलस य कंहराणि तहा । छच्चैव सिरावुसायेरे दो मंसरज्जू य । १०२६ । सत्त तयाओ कालेज्जयाणि सत्तेय हौति देहम्मि देहम्मि रामकोष्ठोण हौति सोदी सदसहस्सा । १०२७ । पक्कायासायसयाय अतणुजाओ सोलस हवति । कुणिमत्त आसया सत्त हौति देरे मणुस्स-स्स । १०२८ । धूणाओ तिण्णि देहम्मि हौति सत्तुत्तरं च मम्मसद । णव हौति वणमुहाई णिच्च कुणिम सवताई । १०२९ । देहम्मि मच्चुल्लिगं अजलिमिंतं सयप्पमाणेण । अजलिमिंतो मेवो उज्जोयि य तत्तिओ चेव । १०३० । तिण्णि य वसंजलीओ छच्चैव अजलीओ पिचारस । सिंभो पिच्चसमाणो लोहिदमद्दाढग होदि । १०३१ । सुत्त आढगमेत्त उच्चारस्स य ह्वंति छप्पच्छा । धीस पहाणि दंसा मत्तोसं हौति पगदीए । १०३२ । —हस मनुष्यके देहमें ३०० अरिप हैं, वे दुर्गन्ध मज्जा नामक धातुसे भरो हुई हैं । और ३०० ही सन्धि हैं । १०३३ । ६०० स्नायु हैं, ७०० सिरा हैं, ५०० मांसपेशियाँ हैं । १०३४ । ४ जाल हैं, १६ कहरा हैं, ६ सिराओंके मूल हैं, और २ मांस रज्जू हैं । १०३५ । ७ रवचा हैं, ७ कालेयक हैं, और ८०,०००,०० कोटि रोग हैं । १०३६ । पक्काशय और आमाशयमें १६ आँतें रहती हैं, दुर्गन्ध मलके ७ आशय हैं । १०३७ । ३ स्थूणा हैं, १०७ मर्मस्थान हैं, ६ मणमुत्त हैं, जिससे निरय दुर्गन्ध सवता है । १०३८ । मस्तिष्क, मेद, ओज, शुक्ल, ये चारों एक एक अजलि प्रमाण हैं । १०३९ । वसा नामक धातु ३ अंजलिप्रमाण, पित्त और श्लेष्म अर्थात् कफ छह-छह अंजलिप्रमाण और रुधिर १/२ आढक है । १०४० । मूत्र एक आढक, उच्चार अर्थात् विष्टा ६ प्रस्थ, नख २० और दाँत ३२ हैं । स्वभायत शरीरमें इन अवयवोंका प्रमाण कहा है ।

२ औदारिक काययोग निर्देश

१. औदारिक काययोगका लक्षण

प स / प्रा १/६३ पुरु महदुदारालं एयट्ठं त विषाण तस्मि भव । ओरलिय चि वुत्तं ओरालियकायजोगो सो । ६३१ —पुरु, महद, उदार और उराल ये शब्द एकार्थवाचक हैं । उदार या स्थूलमें जो उपपन्न हो उसे औदारिक जानना चाहिए । उदारमें होनेवाला जो काययोग है, वह औदारिक काययोग कहलाता है । (ध १/१,१,६६/१६०/२६१), (गो जी / मू २३०/४६२), (प स / रा १/१७३)

ध १/१,१,६६/२६१/१२ औदारिकशरीरजन्तव्योर्ज्जीयप्रदेशपरिस्पन्द-निमग्नप्रयत्न औदारिककाययोग । —औदारिक शरीर द्वारा उपपन्न हुअ शक्तिये जीवके प्रदेशोंमें परिस्पन्दका कारणभूत जो प्रयत्न होता है उसे औदारिक काययोग करते हैं ।

गो जी / जो प्र २३०/४६३/१ औदारिकायार्थं वा आरमप्रवेशानां कर्मनो-कर्मपकर्षणशक्तिं सैव औदारिककाययोग इत्युच्यते सदा औदारिक-वर्गणास्कन्धानां औदारिककायपरिणमनकारण आरमप्रवेशपरि-स्पन्दो वा औदारिककाययोग इति । अथवा औदारिककाय एव औदारिककाययोग इति कारणे कार्योपचारात् । —१ औदारिक शरीरके निमित्त आरमप्रवेशानिकी कर्म नोर्कर्म ग्रहणकी शक्ति सो औदारिककाययोग कहिए । २ अथवा औदारिकवर्गणारूप पुद्गल स्कन्धनिकी औदारिक शरीररूप परिणमावनेकी कारण जो आरम-प्रवेशानिका चंचलपना सो औदारिक काययोग है । ३ अथवा औदा-रिककाय सोई औदारिककाययोग है, यहाँ कार्य विषे कारणका उपचार जानना ।

२. औदारिक मिश्रकाययोगका लक्षण

प स / प्रा १/६४ अंतोमुहूत्तमज्जं विषाण मित्स च अवपरिपुण्णो प्ति । जो ऐण संपयोगो ओरालियमित्सकायजोगो सो । ६४१ —औदारिक शरीरकी उपपत्ति प्रारम्भ होनेके प्रथम समयसे लगाकर अन्तर्मुहूर्त तक मध्यवर्ती कालमें जो अपरिपूर्ण शरीर है, उसे औदारिकमिश्र जानना चाहिए । उसके द्वारा होनेवाला जो संप्रयोग है, वह औदारिक

मिश्रकाययोग कहलाता है । अर्थात् शरीरपर्याप्त पूर्ण होनेसे पूर्व कर्मणि शरीरकी सहायतासे उपपन्न होनेवाले औदारिककाययोगको औदारिक मिश्रकाययोग कहते हैं । ६४१ (ध १/१,१,६६/१६१/२६१) । (गो जी / मू २३१/४६२), (प स / रा १/१७३) ।

ध १/१,१,६६/२६०/१ तार्मणोदारिकवरन्धानां जित्तवोर्यात्तरपरि-स्पन्दाय प्रयत्न औदारिकमिश्रकाययोग । —यार्मण और औदारिक वर्गणाओंके द्वारा उपपन्न हुए वीर्यसे जीवक प्रदेशोंमें परिस्पन्दक लिए जा प्रयत्न होता है, उसे औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं ।

गो जी / जो प्र २३१/४६२/११ प्रागुत्तमज्जमौदारिकशरीरं तदेवान्तर्मु-हूर्तपर्यन्तमपूणं अपर्याप्तं ताम्बन्धमित्युच्यते अपर्याप्तानामप्यभि-समयप्रसक्तभित्तिवर्णनायमागोष्ठ्यार्मणमर्गणाद्युत्तरवेन परमाण-रूढया वा अपर्याप्तं अपर्याप्तशरीरमिष्टमिष्टमर्थ । तात कारनादौ-दारिककायमिश्रेण सह तदर्थं वर्तमाना य सप्रयोग आरमन कर्मनो-कर्मदादाशक्तिप्रदेशपरिस्पन्दमाग त शरीरपर्याप्तमिष्टपरिस्पन्दमाग औदारिकवर्गणास्कन्धानां परिपूर्णशरीरपरिणमनाद्यर्थ औदारिक-कायमिश्रयोग इति विज्ञानीहि । —औदारिक शरीर यावत्काल अन्तर्मुहूर्त पर्यन्तपूण न होइ अपर्याप्त होइ तावत् काल मिश्र कहिए । अपर्याप्तकाल सम्बन्धी तीन समयानि विषे जा कर्मणि योग ताको उपकृष्ट वर्मणवर्गणाकरि समुत्त है ताते मिश्र नाम है । —२ अपना परमाणम विषे ऐसे ही स्तुति है । जो अपर्याप्त शरीरको मिश्र कहिए सो तिस औदारिक मिश्रकरि सहित संप्रयोग कहिए ताके अर्थ प्रयत्न जो आरमायै कर्म नोर्कर्म ग्रहणकी शक्ति धरै प्रदेशानिका चंचलपना सो योग है, सो शरीर पर्याप्तकी पूर्णताके अभावसे औदा-रिक वर्गणा स्कन्धनिकी सम्पूर्ण शरीररूप परिणमावनेको असमर्थ है, ऐसा औदारिक मिश्रकाययोग तू जानि ।

३. औदारिक व मिश्र काययोगका स्वामित्व

प ख १/१,२/पू ६७ ७६/२६६, ३१६ ओरालियकायजोगा ओरालिय-मित्सकायजोगो तिरियत्तमपूरुसाण । ६७१ ओरालियकायजोगो पञ्जत्ताण ओरालियमित्सकायजोगो अपञ्जत्ताण । ७६१ —तिसच और मनुष्योंके औदारिक काययोग और मिश्रकाययोग होता है । ६७१ औदारिक काययोग पर्याप्तिकी और औदारिक मिश्रकाययोग अपर्याप्तिकी होता है । ७६१ ।

प स / प्रा ४/१२ ओरालमित्स-कम्मे सत्तापुण्णा य साण्णिपञ्जत्तो । ओरालकायजोग पञ्जत्ता सत्त नायव्वा । १२१ —औदारिक मिश्रकाय योग और कर्मणकाय योगमें सातों अपर्याप्त तथा संहियपर्याप्त ये जीव समाप्त हाते हैं । औदारिक काययोगमें सातों पर्याप्त जीव समाप्त जानने चाहिए । १२१ ।

गो जी / मू ६००/११२३ ओराल पञ्जत्ते थावरकायादि जाव जोगोत्ति । तम्मिस्समपञ्जत्ते चहुगुणठाणेत्तु णियमेण । ६०० मिच्छे सासण सम्मे पवेदये कयाहजोगिम्म । णरतिरियेयि य दोण्णिवि हौत्तिच जिणेहि णिहिट्ठं । ६०१ —औदारिक काययोग एकैन्द्रिय स्थान पर्याप्त मिथ्यादृष्टि लगाय सयोगी पर्यन्त तेरहगुणस्थाननिविष्ट है । बहुतरि औदारिक मिश्रकाययोग अपर्याप्त चार गुणस्थाननिविष्ट है । नियमकरि । ६०० मिथ्यादृष्टी सासादन पुरुषवेदना उदयकरि समुत्त, असंयत, कषाट समुद्घात सहित सदागो, इति अपर्याप्तरूप च्यारि गुणस्थाननिविष्टे सो औदारिक मिश्रयोग पाह्ये है । बहुतरि औदा-रिकविष्टे तो पर्याप्त सात जीवसमाप्त और औदारिकमिश्रविष्टे अपर्याप्त सात जीव समाप्त और सहयोगी एक पर्याप्त जीव समाप्त ऐसे आठ जीव समाप्त हैं । ६०१ ।

औदार्यचिन्तामणि—अष्टारक श्रुतसागर (वि १६४४-१६६६) द्वारा रचित ४६८ सूत्रप्रधान ब्राह्मण व्याकरण (ती ३/३६८) ।

औदेशिक—आहारका एक दोष—दे आहार II/४, (विशेष दे उद्दिष्ट)

औद्र—भरतसेत्र आर्यखण्डका एक देश—दे मनुष्य ४।

औपदेशिक—औपदेशिक आहार—दे उद्दिष्ट।

औपपादिक—जो उपपाद जन्म से पैदा हों वेन व नारकी।
—दे वृ जै शब्द द्वि खंड।

औपपादिक जन्म—दे जन्म २।

औपमन्यु—एक विनयवादी —दे वैनयिक।

औपशमिक भाव—दे उपशम ६।

औषधि—१ ला स २/१६ शब्दादि भेषज —सौंठ मिर्च पोपल आदि औषधियाँ कहलाती हैं। २ पूर्व विदेहस्थ पुष्कल क्षेत्रकी मुख्य नगरी—दे लोक ७।

औषधी—विदेहोंके मत्तीस देशोंमें मत्तीस राज्यधानी, उनमें हैं सातवीं राज्यधानी (त्रि गा ७१२)

औषधि ऋद्धि—दे ऋद्धि ७।

औषधि कल्प—आ इन्द्रनन्दि (ई श १०-११) द्वारा रचित एक वैद्यक शास्त्र।

औषधि दान—दे दान।

औषधिवाहिनी—अपर विदेहस्थ विभंगा नदी—दे लोक १/८

औस्तुभास—लवण समुद्रके बड़बामुख आदि दिशा सम्बन्धी पाता-लोकों दोनों तरफ एक-एक पर्वत है। पूर्वदिशाके पातानकी पश्चिम दिशामें पर्वतका नाम (त्रि गा ६०५-६०६) यहाँपर जो व्यंतर रहता है उसका भी नाम औस्तुभास है। —दे वृ जै शब्द द्वि खंड।

इति प्रथम खण्ड

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

भाग १

[परिशिष्ट]

[परिशिष्ट]

परिशिष्ट १—(संवत् विचार)

१. वीर संवत् विचार

पृष्ठ ३०६ पर भगवान् वीरके निर्वाणकी चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि विक्रम संवत्को लेकर इस विषयमें प्राचीन कालसे ही कुछ मतभेद चला आ रहा है। विक्रम संवत्का प्रारम्भ कुछ विद्वान् तो विक्रमके जन्मसे मानते हैं, कुछ उनकी मृत्युसे और कुछ उनके राज्याभिषेकसे। पहली दो मान्यताओंकी अपेक्षा तो महावीरकी निर्वाण तिथिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता परन्तु तीसरी मान्यतासे अवश्य उसे १८ वर्ष ऊपर उठाना अनिवार्य हो जाता है। इसका कारण यह है कि पहली दो मान्यताओंके अनुसार वीर निर्वाण संवत् तथा प्रचलित विक्रम संवत्के मध्य ४७० का जो लोकप्रसिद्ध अन्तर है वह ज्योंका त्यों बना रहता है क्योंकि विक्रम जन्मसे उसके संवत्का प्रारम्भ माननेवाले उसका जन्म वीर निर्वाणके ४७० वर्ष पश्चात् मानते हैं और मृत्युसे उसका प्रारम्भ माननेवाले उसकी मृत्युको वीर निर्वाणके ४७० वर्ष पश्चात् मानते हैं। विक्रमकी आयु ७८ वर्ष मानी गई है जिसमें से १८ वर्ष उनका बाल्यकाल है और ६० वर्ष राज्यकाल। बी. नि. ४७० में जन्म माननेवालोंकी अपेक्षा उनका राज्याभिषेक बी. नि. ४८८ में हुआ और ४७० में उनकी मृत्यु माननेवालोंकी अपेक्षा वह बी. नि. ४१० में हुआ। इस विषयमें एक तृतीय मान्यता भी है जिसके अनुसार बी. नि. ४१० में उनका जन्म हुआ और ४२८ में राज्याभिषेक।

आ इन्द्रनिन्द कृत 'श्रुतावतार' नामक ग्रन्थमें अत्यन्त प्रसिद्ध दो पद्यावलिमें प्राप्त होती हैं, एक गौतम गणधरसे प्रारम्भ होनेवाली श्रुतधर आम्नायकी अथवा मूल सषकी और दूसरी नन्दिसंघके वतारकार गणकी। दोनोंमें ही आचार्योंका प्रथक प्रथक काल निर्देश किया गया है। पहलीमें उसकी गणना वीर निर्वाणकी अपेक्षासे की गई है और दूसरीमें विक्रम राज्यकी अपेक्षा। परन्तु यहाँ विक्रमका राज्याभिषेक वीर निर्वाणके ४८८ वर्ष पश्चात् मानकर चला गया है। इसकी चर्चा तो आगे विक्रम संवत्के अन्तर्गतकी जायेगी, यहाँ केवल इतना बता देना इष्ट है कि उनकी इस मान्यताके आधारपर बी. नि. ४८८ में राज्याभिषेक माननेवाले विद्वान् बी. नि. और विक्रम संवत्के मध्य जो ४७० वर्षका अन्तर प्रसिद्ध चला आ रहा है, उसमें १८ वर्ष की वृद्धि करनेकी मांग करते हैं, अर्थात् उनके अनुसार वीरका निर्वाण प्रचलित मान्यतासे १८ वर्ष पहले होना चाहिए, और तदनुसार महावीरकी २५००वीं निर्वाण जयन्ती जो ई. १६७३ में मनाई गई वह ई. १६६५ में मनाई जानी चाहिये थी।

परन्तु जैसा कि आगे सिद्ध किया जानेवाला है आ इन्द्रनिन्दने इस विषयमें कुछ भूल हुई है और उसको आधार मानकर यह भ्रान्ति प्रचलित हो गई है। भगवान्का निर्वाण विक्रम संवत्के प्रचारसे ४७० वर्ष पूर्व ही होना निश्चित है, क्योंकि तिल्लोय पण्णसि, त्रिलोक सार व हरिवंशपुराण आदि अत्यन्त प्राचीन तथा मूल शास्त्रों में शक राजाकी उत्पत्ति वीर निर्वाणके ६०६ वर्ष पश्चात् होनेका स्पष्ट उल्लेख किया गया है और शक संवत् तथा विक्रम संवत्में १२६ वर्षका अन्तर प्रसिद्ध है। ऐसा माननेपर भगवान् बुद्धके साथ इनकी संगति बैठानेमें भी कोई बाधा नहीं आती है। जैसा कि आगे दर्शाया गया है। विक्रम राज्यकी बी. नि. ४८८ में हुआ माननेवाली दृष्टिके

अनुसार वीर निर्वाणकी तिथिको १८ वर्ष ऊपर उठा देनेपर इस संगतिकी कालावधि यद्यपि बढ़ जाती है अर्थात् बोधि लाभके पश्चात् दोनों महापुरुष ४४ वर्ष तक साथ साथ रह सकते हैं, तदपि ४७० वर्षवाली मान्यताके अनुसार भी इन दोनों महापुरुषोंकी १२-१३ वर्ष तक अपने घर्मोंके प्रतिस्पर्धी शास्ताओंके रूपमें साथ-साथ विचरण करनेका अवसर प्राप्त हो जाता है।

नाम	जन्म	आयु	वैराग्य		बोधि		निर्वाण	
	ई. पू.	वर्ष	ई. पू.	वि. पू.	ई. पू.	वि. पू.	ई. पू.	
महावीर—								
दृष्टि न १	६१७	७२	४८७	६१८	६०६	४८८	६४६	
दृष्टि न २	६६६	७२	६६६	६००	६६७	४७०	६२७	
बुद्ध—								
प्रसिद्धि	६१४	८०	६६६		६८८		६४४	

(जे. पी. ३०३)

२ विक्रम संवत् विचार

१ नाम विचार

भारतका यह सर्व प्रधान संवत् है। जैसा कि आगे शक संवत्के प्रकरणमें बताया जानेवाला है वहाँ वहाँ विक्रम, शक तथा शालिवाहन इन तीनों संवत्तोंको एक मानकर प्रवृत्तिकी जाती रही है, परन्तु वास्तवमें यह ठीक नहीं है। तीनों संवत् स्वतन्त्र हैं। शक संवत्का प्रारम्भ वीर-निर्वाणके ६०६ वर्ष पश्चात् होना निश्चित है, शालिवाहनका ७४१ वर्ष परचात और विक्रम संवत्का ४७० वर्ष पश्चात्।

२ मतभेद

इस विषयमें तीन मान्यतायें हैं—१ यह संवत् विक्रमसे प्रारम्भ हुआ, २ उसके राज्याभिषेकसे प्रारम्भ हुआ, ३ उसकी मृत्युसे प्रारम्भ हुआ। इन तीनों घटनाओंके कालोंमें भी मतभेद है। एकके अनुसार वीर निर्वाणके ४७० वर्ष पश्चात् उनका जन्म हुआ, दूसरेके अनुसार उस समय उनका राज्याभिषेक हुआ और तीसरेके अनुसार उस समय उनकी मृत्यु हुई। बी. नि. ४७० में जन्म माननेवालोंके अनुसार उनका राज्याभिषेक बी. नि. ४८८ में हुआ और बी. नि. ४७० में उनकी मृत्यु माननेवालोंके अनुसार उनका राज्याभिषेक बी. नि. ४१० में हुआ। क्योंकि ७८ वर्ष प्रमाण उनकी आयुमें से १८ वर्ष उनका बाल्यकाल माना गया है और ६० वर्ष राज्यकाल। इस विषयमें एक तीसरी मान्यता भी है जिसके अनुसार उनकी आयु ७६ वर्ष थी जिसमें से ८ वर्ष बाल्यकाल, १६ वर्ष वेशाटन, ६६ वर्ष राज्य। इसमें से १६ वर्ष मिथ्यामतावलम्बी और ४० वर्ष जिनधर्मावलम्बी। यथा—

इन्द्रनिन्द कृत श्रुतावतारमें निम्न श्रुत घटान्नाय/शत १८-१६ व (वी. ४/१४६ पर उद्धृत) सत्तर चत्त सत्त-युत्तो जिणकाला विहमो हवई जम्मो। अठथरस माललीला सोरसवासे हि भम्मिण् देसे। १८। पण-रसवासे रज्ज कुणन्ति मिच्छोवदेससुत्तो। चालीसवरस जिणवर-धम्मं पालीय सुरपय सहिय। १६। —महावीर निर्वाणके ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमका जन्म हुआ। आठ वर्षोत्तक उन्होंने पाललीलाकी,

१६ वर्षोत्तक देशाटन किया, १६ वर्ष मिथ्योपदेश संहिता राज्य किया और ४० वर्षोत्तक जिनवरका धर्म पालन करके उन्होंने वैषपद प्राप्त किया ।

इन्द्रनन्द श्रुतावतारों ही निबद्ध नन्दसदृश बलात्कारगणकी पट्टावली । सरस्वती गच्छके अनुसार—वीराट् ४६२, विक्रमजन्मान्तर वर्ष २२, राज्यान्तर वर्ष ४—वीर-निर्वाणके ४६२ वर्ष पश्चात् अथवा विक्रम जन्मके २२ वर्ष पश्चात् अथवा उसके राज्यारोहणसे ४ वर्ष पश्चात् भद्रबाहु (द्वि) मूलसमके पट्टपर बैठे । इनके शिष्य गुप्तिगुप्त हुए जिनके द्वारा नन्वि आदि चार सधोकी स्थापना हुई । (यहाँ भी नि ४७० में विक्रमका जन्म और ४८८ में उनका राज्याभिषेक माना गया है ।)

इन्द्रनन्द श्रुतावतारों ही निबद्ध नन्दसदृश बलात्कारगणकी पट्टावली । पारिजातगच्छकी अपेक्षा (ती ४/३४६)—भी वीर-निर्वाणके ४६२ वर्ष पश्चात्, सुभद्राचार्यके २४ वर्ष पश्चात्, विक्रम जन्मके २२ वर्ष पश्चात् अथवा विक्रम राज्यके ४ वर्ष पश्चात् द्वितीय भद्रबाहु हुए । (यहाँ भी पहले की भाँति बी नि ४७० में विक्रमका जन्म और बी नि ४८८ में उसका राज्याभिषेक माना गया है ।)

परन्तु श्वेताम्बरार्य मेरुतुग एक साथ दो मान्यताओंकी ओर संकेत करते हैं । एकके अनुसार बी नि ४७० में विक्रमका जन्म हुआ और दूसरीके अनुसार बी नि ४७० में उसका राज्याभिषेक हुआ । यथा—

मेरुतुग कृत 'विचारप्रेणी'—सत्तरि चतुसदंशुत्तो जिणकाला विक्रमो हवई जन्मो । विक्रमरज्जार भो परओ सिरिबीरणिबुई भणिया । सुन्न मुणिवैयुत्तो विक्रमकालाउ जिणकाले । = १ वीर निर्वाणके ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमका जन्म हुआ । २ वीर निर्वाणकी तिथिमें 'सुन्नमुणिवैय' (४७०) वर्ष जोड़ देनेपर अर्थात् वीर निर्वाणके ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमका राज्य आरम्भ हुआ ।

३ ऊहपोह

दिगम्बरार्य इन्द्रनन्दकी तथा श्वेताम्बरार्य मेरुतुगकी मान्यताओं का उल्लेख किया गया । जिनके अनुसार विक्रमका जन्म तो बी नि ४७० में ही हुआ परन्तु उसका राज्याभिषेक बी नि ४७० में, ४८८ में अथवा ४६४ में माना गया । अब प्राचीन ग्रन्थ तिल्लोयपणत्तिकी अपेक्षा विचार करते हैं, जिसे दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सभी बिहानों ने विक्रम संवत् विषयक खोजके लिए आधार स्वरूप माना है । इसका कारण यह है कि विक्रम संवत्का जितना सम्बन्ध वीर निर्वाणके साथ है उतना ही मगधदेशके इतिहासमें मौर्य वंशके साथ भी है । इस विषयमें दो मान्यतायें प्रसिद्ध हैं । एकके अनुसार वीर निर्वाणके पश्चात् ६० वर्ष पालकका राज्य रहा १५६ वर्ष नन्द वंशका और २५६ वर्ष मौर्य वंशका । इस प्रकार ४७० वर्षकी गणना पूरी करते उसके पश्चात् विक्रमका जन्म अथवा राज्यारोहण हुआ । दूसरी मान्यताके अनुसार वीर निर्वाणके पश्चात् १५६ वर्ष तक पालक तथा नन्दवंश दोनोंका राज्य रहा और उसके पश्चात् २५६ वर्ष तक मौर्य वंशका शासन चला । इस प्रकार ४१० वर्षके पश्चात् विक्रमका राज्य प्रारम्भ हुआ जो ६० वर्ष अर्थात् बी नि ४७० तक रहा । क्योंकि तिल्लोयपणत्तिमें मगधदेशके इन राज्यवर्षोंका सुनिश्चित काल दिया गया है इसलिये विक्रम संवत्की खोज करनेमें उसकी सहायता ली जा सकती है ।

ति प ४/१५०६-१५०६ ज्जाले बीरजिणे निस्सेयससपर्य समावण्णो । त्जाले अभिसित्तो पालयणामो अवटिसुदो । १५०६ । पालकरज्ज सद्धि णिसयपणवण विजयवस्रभमा । चाल मुरुदयवसा तीस सुपुस्स-मित्तम्म । १५०६ । —जिस कालमें भगवात् वीरने निर्वाण संवत्सकी प्राप्त किया था, उसी दिन पालक नामक अवन्तिसुत (अवन्तिक राजा) का राज्याभिषेक हुआ था । उसका राज्य ६० वर्ष तक रहा । तदुपरान्त १५६ वर्ष पर्यन्त विजयवर्षियोंका (नन्दवंशका) और ४०

वर्ष मुरुदवर्षियोंका (मौर्यवंशका) राज्य रहा । इसके पश्चात् ३० वर्ष पुष्पमित्रने राज्य किया ।

तिल्लोयपणत्तिकारने यद्यपि ४० वर्ष पूरे मौर्यवंशका राज्यकाल बताया है, परन्तु वास्तवमें यह काल उम वंशके प्रथम राजा चन्द्रगुप्तका है । आगे चलकर इसी वंशमें अशोक सम्प्रति आदि हुए । उन सबका समुदित काल दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों आम्नायोंमें २५६ वर्ष माना गया है । (दे इतिहास ३/४) ।

इस प्रकार जैन शास्त्रोंके अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्यका काल बी नि २१६-२५६ आता है और जैन इतिहासकारोंने उसे बी नि २०१-२२६ (ई० पू० ३२६-३०१) पर स्थापित किया है । दूसरी ओर भद्रबाहु प्र० का काल मूलसवत्की पट्टावलीमें बी नि १३३-१६२ (ई पू १६४-१६६) बताया गया है । (दे इतिहास ४/४) । चन्द्रगुप्तका काल शास्त्रके अनुसार बी नि २१६-२५६ माननेपर भद्रबाहु स्वामीके साथ उपरकी समकालीनता किमी प्रकार भी घटित नहीं होती । इतिहास-मान्य काल (बी नि २०१-२२६) स्वीकार करमेपर भी दोनोंकी उत्तराधियों लगभग ६० वर्षका अन्तर रह हो जाता है, जबकि द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षके समय चन्द्रगुप्तका जिनदोक्षा घोरण करके भद्रबाहु स्वामीके साथ दमिणकी ओर गमन करना शास्त्र तथा इतिहास दोनोंके द्वाारा सिद्ध है (दे परिशिष्ट २) ।

(१) इस आरातिसे बचनेके लिए श्वेताम्बरार्य श्री हेमचन्द्र सूरि वीर निर्वाणसे लेकर चन्द्रगुप्तके राज्यारम्भ तककी जो २५६ वर्ष काल गणना शास्त्रोंमें दी गई है उसमें ६० वर्षकी कमी कर देनेका सुझाव देते हैं । १५६ अपनी इस कल्पनाकी साकार बनानेके लिए वे नन्द वंशके कालकी १५६ वर्षकी बजाय ६६ वर्ष मानकर १३१। उसे बी नि २१६ में समाप्त करनेकी बजाय बी नि १५६ में समाप्त कर देते हैं । ६० वर्षकी इस कमीकी आप विक्रम संवत्की काल गणनामें हेर-फेर करके पूरा करते हैं अर्थात् उसका प्रारम्भ विक्रम की मृत्युकालसे न मानकर उसके राज्यारोहण से अर्थात् (४७०-६०) —बी नि ४१० से मान लेते हैं । (जै/पी/पृष्ठ संख्या) (घ १/प्र १० H I Jai)

(२) इस मसभेदेसे प्रेरित होकर प्रसिद्ध जैन इतिहासज्ञ डा० हेमन्त जेकोबीको वीर निर्वाण सवत्के विषयमें शका उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है । उसका समाधान करनेके लिए जार्ज चार्लेन्टियरने वीर निर्वाण तथा विक्रम संवत्के मध्यवर्ती अर्त्तरालकी ४७० वर्षसे घटाकर ४१० कर दिया अर्थात् वीर निर्वाणके ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमकी सृष्टि मानकर उसमेंसे उसका शासनकाल (६० वर्ष) घटा दिया और विक्रम संवत्का प्रारम्भ उसके राज्यारोहणसे मान लिया । (जै/पी २८४)

(३) स्व प काशीलाल जायसवालने इस मान्यतामें अनेकों आपत्तियें प्रस्तुत करके बी नि ४७० में विक्रमका जन्म होना सिद्ध किया, और इसमें उनके बाध्यकालवाले १८ वर्ष मिलाकर उन्हें बी नि ४८८ में राज्यास्तुत कर दिया, क्योंकि १८ वर्षकी आयुमें उनका राज्यास्तुत होना प्रसिद्ध है । इस प्रकार विक्रम संवत्का प्रारम्भ विक्रमके राज्यसे अर्थात् बी नि ४८८ में माननेका उन्होंने सुझाव दिया । (जै/पी २८७)

(४) परन्तु पं जुगलकिशोर जी मुस्ताफेने जायसवाल जी की इस मान्यतामें अनेकों आपत्तियें उठाकर वीर निर्वाण तथा विक्रम संवत्के मध्य जो ४७० वर्षका अन्तर प्रसिद्ध है उसे ज्योंका ज्यों बनाये रखना अधिक सगत समझा । परन्तु इस कालमें इन्होंने विक्रमका जन्म अथवा राज्याभिषेक न मानकर उसकी मृत्यु मानी । अर्थात् विक्रम संवत्का प्रारम्भ इन्होंने विक्रमकी मृत्युसे स्वीकार किया । १२६१। इस विषयमें उसके जन्म अथवा राज्याभिषेकसे संवत् का प्रारम्भ माननेवाली जो श इन्द्रनन्द तथा मेरुतुग सूरिकी मान्य-

ताओंका उल्लेख पहले किया गया है उन्हें आपने भ्रान्तिपूर्ण धोषित किया। १२६१ (जै/पी २६१ २६२)

(५) अन्य सवत्तों के साथ तुलना करनेपर इस मतकी समर्थन प्राप्त होता है, क्योंकि एकमात्र शक संवत्तों को छोड़कर ईसवी, शालिवाहन, हिजरी, वीर निर्वाण आदि जितने भी सवत्त व्यवहार भूमिपर प्रचलित हैं उन सबका प्रारम्भ उस उस पुरुषकी मृत्युसे ही हुआ है। इस विषयमें आ देवसेन (वि ६६०) से भी हमें समाधान प्राप्त होता है, क्योंकि अपने दर्शनसार ग्रन्थमें यापनीय, द्रविड, काष्ठा आदि जनाभाषी संघोंकी उत्पत्ति का काल उन्होंने विक्रमकी मृत्युसे ही गिनकर स्थापित किया है (दे इतिहास ६)।

घ १/प्र ३०/ H L Jain (ऐसा माननेपर सारी उलझनें सुलझ जाती हैं। यथा—) मेरुतुगाचार्यने अपनी 'विचारश्रेणी' के पृष्ठ ३ पर जो विक्रमस्य राज्यं ६० वर्षाणि' कहा है, उसके अनुसार उसका राज्या-रम्भ ४७०-६०=बी नि ४१० में घटित हो जाता है, और साथ-साथ हेमचन्द्र सूरिकी भाष्यशाका (वि स=बी नि ४७०) भी समर्थन हो जाता है किन्तु इसे विक्रम सवत्तका प्रारम्भ नहीं मानना चाहिए।

शक सवत्त के साथ भी इसकी सगति ठीक बैठ जाती है, क्योंकि जैसा कि अगले प्रकरणमें बताया जाने वाला है शक सवत्तका प्रचार जैन शास्त्रों के अनुसार वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष पश्चात् होना निश्चित है। प्रचलित विक्रम तथा शक संवत्त के मध्य १३५ वर्षका अन्तर सर्व-प्रसिद्ध है। इससे यह सिद्ध है कि विक्रम संवत्तका प्रारम्भ (६०५-१३५) वीर निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् हुआ।

३ शक सवत् विचार

१ नाम विचार

'शक' शब्दका प्रयोग सवत् सामान्य के अर्थमें होता है। यथा—ज्योतिर्मुख ११ 'युधिष्ठरो-विक्रमशालिवाहनौ, ततो नृप स्याद्विजया-भिनन्दन। ततस्तु नागाजुनभूपति क्लौ, कश्चो पठेते शककारका स्मृता।' = कलिद्युगमें युधिष्ठिर, विक्रम, शालिवाहन, विजयाभिनन्दन, नागाजुन और कश्चो ये छ राजा शककारक अर्थात् संवत् चलानेवाले कहे गए हैं।

संवत्तों के 'शक' नामसे कहा जानेकी भी प्रवृत्ति प्रचलित रही है, जैसे—श्री महावीर या वर्द्धमान शक, विक्रम शक, शालिवाहन शक इत्यादि। परन्तु यहाँ 'शक' नामके जिस सवत्तकी चर्चा की जानी पड़ती है वह एक स्वतन्त्र सवत्त है जिसका प्रचार वर्तमानमें यद्यपि छुप्त हो चुका है, तदपि किसी समय भारतमें इसका व्यवहार प्रचुर था। प्राचीन जैन ग्रन्थोंमें इसका प्रयोग प्रचुरतासे किया गया प्राप्त होता है। जैसा कि अगले उद्धरणोंसे पता चलता है कि विक्रम तथा शालिवाहन नामक सवत्तोंकी भी कभी कभी शक सवत्त कह दिया जाता था, तदपि वास्तवमें उनके साथ इसकी कोई एकार्थता नहीं है।

दे आगे शीर्षक न ४ — मेसूर मुम्तझि वाले शिलालेखमें शक संवत्तोंकी विक्रमांक लिखा है, और मेसूर डिस्ट्रिक्ट वाले शिलालेखोंमें शालिवाहनकी शक लिखा है।

त्रि सा ८५० माघवचन्द्र कृत टीका—श्री वीरनाथ निवृत्ते सकाशात् पञ्चोत्तरपद्धतवर्षाणि पंचमासयुतानि गत्वा पश्चात् विक्रमांक शक-राजो जायते। —वीर निर्वाण के ६०५ वर्ष और ५ मास बीत जाने पर विक्रमांक शक राजा उत्पन्न होगा।

अकलंक चारित्र — 'विक्रमांक शकाब्दीय शतसप्तश्राजुषि। कालेऽकलंक्यहिनो बौद्धादी महानभूत।' — विक्रमांक शकाब्द ७०० में अकलंक यतिका बौद्धों के साथ महान शास्त्रार्थ हुआ था।

र क श्रावकाचार—प कमलकृत सुखयोधिनी टीका—'शालिवाहन संज्ञ श्रीशकराज शब्दगणे'—शालिवाहन नामक श्रीशकराजके सवत्तरसे।

परन्तु जैसा कि ऊपर त्रिलोकसारकी टीकामें कहा गया है

और आगे पृथक् शीर्षकके अन्तर्गत बताया जानेवाला है शक नामक प्रसिद्ध सवत्त से तारपर्यन्त तो विक्रम सवत्तसे है और न शालिवाहन सवत्त से, यह एक स्वतन्त्र सवत्त है जिसकी प्रवृत्ति भारतमें वीर निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ मास पश्चात् प्रारम्भ हुई थी। ऊपर जो त्रिलोकसारके टीकाकार ने विक्रम तथा शक सवत्त की एकार्थता बताई है उसकी यद्यपि मेसूरके प्रसिद्ध विद्वान् प ए शान्तिराज शास्त्रीका समर्थन प्राप्त है तदपि डॉ के जी पाठक इसे टीकाकारकी भूल धोषित करते हैं (जै सा ४/पी २६७)।

इसी प्रकार 'शालिवाहन' सवत्तके विषयमें भी जानना। अर्थात् ऊपर जो रत्नकण्ठ श्रावकाचारके टीकाकारने शालिवाहन और शक सवत्तकी एकार्थता बताई है वह उनकी भूल है। ऐतिहासिक मान्यता के अनुसार भृत्यवंशी गौतमी पुत्र सातकर्ण शालिवाहनने ई सत् ७६ (बी नि ६०५) में शकराज नरवाहन (नहपान) को परास्त करके, शकोंके जीतनेके उपनक्ष्यमें शक सवत्त प्रचलित किया था (क पा १/प्र ५३/प महेन्द्र कुमार)। आगममें विशेष प्रकारसे शक संवत्तका उल्लेख किया जानेपर इसीसे तारपर्यन्त होता है। जैसा कि अगले शीर्षकके अन्तर्गत बताया जाने वाला है शालिवाहन नामसे प्रसिद्ध एक स्वतन्त्र सवत्त है जो वीर निर्वाणके ७३१ वर्ष पश्चात् प्रवृत्त हुआ था।

२ काल विचार

ति प ४/१४६६-१४६८-बी जिणेशिद्धिगदे षडसदृगसिद्धिवासपरिमाणे। कालम्मि अदिक्कत उप्पणो एत्थ सकराओ ११४६६। अथवा वीरे सिद्धे सहस्रगवक्कम्मि सगसयम्भहिप। पणसीदिम्मि यत्तीपे पणमासे सकण्णिओ जादो ११४६७। चौडसहस्रम्मसगसयतेणउदीवासकालविच्छेदे। वीरेसरसिद्धीदो उप्पणो सगण्णिओ अथवा ११४६८। निव्वाणे वीरजिणे छब्बाससदेसु पचवरिसेस। पणमासेसु गदेसु सजादो सग-णिओ अथवा ११४६९। —१ वीर जिनेन्द्रके मुक्त होनेके पश्चात् ४६१ वर्ष प्रमाण कालके व्यतीत होनेपर यहाँ शक राजा उत्पन्न हुआ ११४६६। अथवा—२ वीर भगवात्तके सिद्ध होनेके पश्चात् ६०५ वर्ष ५ मासके बीतनेपर शक नृप उत्पन्न हुआ ११४६७। अथवा—३ वीर भगवात्तकी मुक्तिके पश्चात् १४७६३ वर्ष व्यतीत होनेपर शकनृप उत्पन्न हुआ ११४६७। (घ ६/गा ४२ या ४६/१३२)। अथवा—४ वीर भगवात्तके निर्वाणके पश्चात् ६०५ वर्ष ५ मासके बीत जानेपर शक नृप उत्पन्न हुआ ११४६६।

घ ६/४,१,४४/गा ४३/१३२ सत्तसहससा णवसद पचाणउदी सपचमासा य। अक्कता वासाण जइया तइया रुग्गुप्पत्ती। = ७६६६ वर्ष ५ मास व्यतीत हो जाने पर शक नरेन्द्रकी उत्पत्ति हुई ४७०।

शास्त्रोंमें उद्धृत इन मूल गाथाओंमें शक राजाकी उत्पत्ति वीर निर्वाणके ४६१, ६७८, १४७६३, ६०५ और ७६६६ वर्ष पश्चात् बताई गई है। तथापि ६०५ वर्ष ५ मास वाली चतुर्थ मान्यता ही सर्वसम्मत है।

घ ६/४,१,४४/गा ४०/१३२-पच य मासा पंच य वासा छत्तवेव हौति वाससया। सगकालेण यमहिया थावेयव्वो तदो रासी = ६०५ वर्ष ५ मास प्रमाण शकका काल जोड़ देनेसे वीर जिनेन्द्रका निर्वाण काल प्राप्त होता है।

त्रि सा ८५० पणछत्तसयवस्स पणमासजुद गमिय वीरजिण्वुइदे। सग राजो तो कक्को चट्ठणवतियमहिय सगमासं। — श्री वर्द्धमान भगवात्त के निर्वाण जानेके ६०५ वर्ष ५ मास पश्चात् शक राजा हुआ, और तदन्तर ३६४ वर्ष ७ मास पश्चात् अर्थात् बी नि १००० में कश्चो राजा हुआ।

ह, पु ६०/४५१—वर्षाणि पट्शती रयवत्वा पञ्चाया मासपञ्चवम्। मुक्ति गते महावीरे शकराजस्ततो ऽभवत् ॥ — भगवात्त महावीरके मोक्ष चले जानेके ६०५ वर्ष ५ मास पश्चात् शक राजा हुआ।

तिरथोगाली पयसा ६२३—'पंच य मासा पंच य मासा छच्छेय होंति वाससया। परिनिबु अस्सरिहत्तो, तो उप्पत्तो (पठित्तो) सगो राया। —भगवात् महावीरके निर्वाण जानेके ६०६ वर्ष ६ मास परचाव शक राजा हुआ।

मेरुतुंग कृत 'विचारभेणो'—श्रीवीरनिर्वाणसर्वर्षे पठमि पद्यासरे शते शकसंवरसरस्यैषा प्रवृत्तिर्भरतेऽसमयत् । —वीर निर्वाणके ६०६ वर्ष ६ मास परचाव भारतमें शक संवत्की प्रवृत्ति हुई।

सारांश—इस प्रकार विगम्यर तथा श्वेताम्बर दोनों ही आम्नायों में वीर निर्वाणके ६०६ वर्ष ६ मास परचाव शक संवत्की प्रवृत्ति मान्य है। इसके अतिरिक्त त्रिलोकसारमें (दे ऊपर) जो शक राजाके साथ साथ उसके ३६४ वर्ष ७ मास परचाव अर्थात् पोर-निर्वाणके १००० वर्ष परचाव कहती राजाके होमेकी बात कही है, उससे भी इस मतकी पुष्टि होती है क्योंकि इतिहास भी लगभग इसी कालमें अरयन्त अरयाचारो हूणवंशके राज्यका उल्लेख करता है (दे इतिहास ३/२-२)

४ शालिवाहन संवत् विचार

शक संवत्की भौति इसका प्रचलन भी आज प्रायः लुप्त हो चुका है, परन्तु दक्षिण देशमें वहाँ वहाँ आज भी इका उल्लेख देला जाता है। शिलालेखोंमें इसका काल वीर निर्वाणसे ७४२ वर्ष परचाव इङ्कित किया गया है। वहाँ वहाँ शक संवत्की भी शालिवाहन कहनेकी प्रवृत्ति रही है परन्तु यह एक स्वतन्त्र संवत् है जिसका प्रारम्भ शक राजके ६४ वर्ष परचाव होता है।

मेसूरराज मुम्मड़ि कृष्णराज द्वारा ई १८३० में अथलधेलगोलके जैन मठकी दिया गया शिलालेख—'नानावेकपूजानमोनि स्तस्ति श्री-वर्द्धमानाख्ये जिने मुक्ति गते सह विष्णुरन्ध्याग्नि नेत्रैरचरसरेशु मितेषु वै (२४६३) विक्रमांकसमास्मिन्दुगजसमाजहस्तिभि (१८८८)। सतीपु गमनीयासु गणिह्यु धेस्तदा। शालिवाहन भद्रपु नेप्रमाणगे-न्दुभि (१७५२) प्रमितेषु विक्रमय्ये श्रावणे मासि मङ्गले। —यहाँ २४६३ महावीर शक, १८८८ विक्रम शक, और १७५२ शालिवाहन शक इन तीनोंका उल्लेख है। महावीर शक और विक्रम शकके मध्य २४६३-१८८८=६०६ वर्षका अन्तर बताया गया है इसपरसे यह सिद्ध होता है कि उस कालमें शक संवत्की विक्रम संवत् कहनेकी प्रथा रही होगी। इसी प्रकार महौर और शालिवाहन शकके मध्य २४६३-१७५२=७४१ वर्षका अन्तर दर्शाया गया है। इसपरसे सिद्ध होता है कि शालिवाहन संवत्का प्रारम्भ वीर निर्वाणके ७४१ वर्ष परचाव होना निश्चित है।

मेसूर हिस्त्रदत्त शासन पुस्तक/भाग २/पृ ५७ शिलालेख नं १५४—'श्री शक १७८० स्वस्ति श्री वर्द्धमानाब्दा २६०१।'—यहाँ शालिवाहनको शक कहा गया है क्योंकि वर्द्धमान तथा शकके मध्य यहाँ २६०१-१७८०=७४१ वर्षका अन्तर स्पष्ट है।

शिलालेख सग्रह/भाग १/शिलालेख नं ३६५, ४८१ और ४८२—इन तीनों अभिलेखोंमें शालिवाहन १७७८ और उसके साथ वर्द्धमान २६०१ लिखा गया है। दोनोंके मध्य २६०१-१७७८=७४१ वर्षका अन्तर है।

इसी प्रकार शिलालेख नं ३६६, ३६९ और ४८० में शालिवाहन १७८० और उसके साथ वर्द्धमान २६२१ दिया है। दोनोंके मध्य २६२१-१७८०=७४१ वर्षका अन्तर दृष्टव्य है। इसपरसे पता चलता है कि शालिवाहन संवत्का प्रचार वीर निर्वाणके ७४१ वर्ष परचाव प्रारम्भ हुआ।

परिशिष्ट २—(मूलसघ विचार)

१ सामान्य परिचय

पृष्ठ ३१८ पर इतिहास माने प्रकरणके अन्तर्गत भगवात् वीरके परचाव भूतधरोंके आम्नायका और उसके क्रमिक भाषण विवेचन करने हुए भूतधरोंकी आम्नाय माने मूलसघका निर्देशन किया गया है। इस विषयमें यहाँ इन्द्रनि द गृह भूतधरारा' से लेकर दो पद्याव-लिये उद्धृत की गई हैं। 'प्र ३१६ पर उद्धृत की गई वहनी पद्यावली भूतधरोंके आम्नायमाने भूत संघमें सम्मिलित रहती है और पृष्ठ ३२३ पर उद्धृत दूसरा पद्यावली मूल सघके विभाजनके परचाव होने बाने नन्दिमय बन्धारागम'की आचार्य परम्पराका उल्लेख करता है। दोनोंमें आचार्योंका पृथक् पृथक् काल निर्देश किया गया है, परन्तु उन कालोंमें अनेक प्रकारकी विभक्तिपक्षमें है। यथा—

(१) मूलसघ वाली प्रथम पद्यावलीमें प्रथम भूतमेधनी भद्रबाहु के नामका उल्लेख किया गया है और उनका काल यहाँ बी नि १३३-१६२ बताया गया है। परन्तु इनके विषयमें यह बात सर्वप्रसिद्ध है कि द्वादशवर्षीय दुर्मिगके समय इन्होंने १२००० माधुओंके विज्ञान संघको साथ लेकर उज्जैनमेंसे दक्षिणकी ओर प्रयाण किया था उस समय चन्द्रगुप्त मौर्य भी जिन दोहा धारण करने के बाद गांध गये थे और अथलधेलगोलमें इन दोनोंकी समाधि हुई थी। इस ज्ञात्मान पर से दोनोंकी समकालीनता सिद्ध है, परन्तु भद्रबाहु स्वामी के एक कालकी गति चन्द्रगुप्तके कालमें पाई नहीं बैठ रही है, क्योंकि जैसा कि पृष्ठ ३१३ पर मगध देशरा राज्य ब्रह्मचारीमें दिनाया गया है चन्द्रगुप्त मौर्यका काल सात्योंके अनुसार बी नि २१४-२५६ और जैन इतिहासकारों के अनुसार ई पू ३२६-३०२ (बी नि २०१-२२५) निर्धारित किया गया है।

(२) भद्रबाहु द्वि अर्द्धनि तथा माघनन्द इन तीन नामोंका उल्लेख उक्त दोनों पद्यावलीयों में किया गया है। एक ही आचार्यके द्वारा एकही ग्रन्थमें उल्लिखित होनेपर भी दोनों स्थानों पर निर्दिष्ट इनके कालोंमें भिन्नताकी प्रतीति हो रही है।

(३) भूतधरोंकी आम्नायका निर्देश करनेवाली मूलसघकी पद्यावलीमें मागनन्दके परचाव पदालण्डागमके रचयिता जा धरमेन पुत्रदन्त तथा भूतमलिके नाम दिये गये हैं, परन्तु इनका जो काल यहाँ निर्दिष्ट किया गया है उसकी गति बुन्दपुन्दके कालके साथ बैठती प्रतीत नहीं हो रही है जबकि बुन्दपुन्दके विषयमें यह बात प्रसिद्ध है कि उन्होंने पदालण्डागमके आद्य हीन खण्डोंपर 'परिचय' नामकी एक टीका लिखी थी।

(४) नन्दिसघवाली दूसरी पद्यावलीमें बुन्दपुन्दका काल बी स ४६-१०१ दिया गया है जबकि जैन इतिहासकार इन्हें बी नि ६६०-७०० वि (१८०-२३०) में स्थापित कर रहे हैं।

(५) पेजदोसपाहुड़ (कषाय पाहुड़) के रचयिता आ गुणधर, आर्यमधु, नागहस्ति, और यतिपुष्य जैसे अरयन्त प्रसिद्ध आचार्यों का नाममूलसंघकी पद्यावलीमें सर्वथा छोड़ दिया गया है जबकि आ धरमेनकी भौति वे भी भूतधरोंकी आम्नायमें समाविष्ट हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेकों अवा-तर बाधाये हैं जिनका संयुक्तियुक्त निवारण करनेके लिये उक्त दोनों पद्यावलीयोंके प्रकाशमें आचार्यों के कालका ठीक ठीक निर्धारण करना अरयन्त आवश्यक है। नन्दिसघकी पद्यावलीके सम्बन्ध में तो चर्चा आगे परिशिष्ट ३ में की जायेगी। यहाँ भूतधरोंकी आम्नाय वाली मूलसघकी, तरुसम्बन्धी पद्यावली और उसमें उल्लिखित प्रधान आचार्योंकी चर्चा की जायेगी।

२. मूलसंघ परिचय

भगवाद् महावीर की निर्वाण-प्राप्ति के पश्चात् उनके सघमें ६२ वर्ष तक इन्द्रमृत् (गीतम गणधर) आदि तीन केवली हुए। इनके पश्चात् केवलज्ञानका विच्छेद हो गया परन्तु १००-१५० वर्ष तक पूर्ण श्रुत-ज्ञान (११ अंग १४ पूर्व) के धारी पाँच श्रुतकेवलियोंकी परम्परा चलती रही। आ भद्रबाहु प्रथम इस परम्पराकी अन्तिम कड़ी थे। इनके पश्चात् पूर्ण श्रुतज्ञान भी विच्छिन्न हो गया। फिर श्रुतज्ञानके हानिक्रमसे ११, १०, ९ तथा ८ अंगधारी होते गये। भद्रबाहु द्वितीय तथा लोहाचार्य इस परम्परामें अन्तिम अष्टांगधारी थे। इनके पश्चात् अथवा इनके कालमें ही कुछ आचार्य एकांग अथवा आचारांगधारी भी होते रहे। फिर एक अंगवालीकी परम्परा भी समाप्त हो गई और किसी एक अंगके अश्वधारी होते रहे। अश्वधारियोंकी यह शृङ्खला वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् तक चलती रही। आ अर्हद्वली, माघनन्दि, गुणधर, धरसेन आदि आचार्य इसी परम्परामें हुए आगे चलनेपर अंगशका यह ज्ञान भी समाप्त हो गया।

पञ्चम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी प्रथम तक भगवाद् वीरका यह मूलसंघ अवलम्ब रूपसे चलता रहा। परन्तु इनके समयमें उज्जैनीमें बड़ा भयंकर द्वादशवर्षीय दुर्मिश्र पड़ा जिसके कारण उन्हें यह देश छोड़कर सप्तम दक्षिणकी ओर प्रयाण करना पड़ा। उस समय इनके सघमें १२००० साधु थे, जिनमें से कुछ इनके साथ न जाकर उज्जैनीमें अथवा मार्गमें ही रुक गए। पीछे परिस्थितिवश उनकी सिंहवृत्ति का रयाग करके अववाद मार्ग अपनाया पड़ा। इससे अर्ध फालक सघकी नींव पड़ी जो धीरे धीरे क्षीयन्तमें परिणत होता हुआ वि १३६ में सौराष्ट्र देशको प्राप्त होनेपर-सांगोपांग श्वेताम्बर सघमें परिणत हो गया। (विशेष दे श्वेताम्बर) इस प्रकार पञ्चम श्रुत केवली भद्रबाहु प्रथमके युगमें भगवाद्का अवलम्ब मूल सघ दिगम्बर तथा श्वेताम्बरके रूपमें द्विधा विभक्त हुआ गया। स्थूलमद्रकी आम्नाय श्वेताम्बर संघकी ओर चली गई और प्रोष्ठिल शाखा दिगम्बर बनी रही। दुर्मिश्र समाप्त हो जानेके पश्चात् यह सघ पुन दक्षिणसे मगध तथा उज्जैनीकी ओर लौट आया, और आचार्य अर्हद्वली तक अवधिन्न रूपसे चलता रहा।

जैसा कि आगे आ अर्हद्वलीकी चर्चा करते हुए बताया गया है, आ अर्हद्वलीने यत्र तत्र बिखरे हुए दिगम्बर सघको संगठित करनेके लिये दक्षिण देशस्थ महिमानगर जिला (सितारा) में एक महान यति सम्मेलन किया जिसमें १००-१०० योजन तकके यति आकर सम्मिलित हुए। इस यति-सम्मेलनकी योजना उन्होंने पञ्चवर्षीय युगप्रति-क्रमणके अवसरपर की थी। उस समय उन्होंने यह महसूस किया कि काल प्रभावसे वीतरागियोंमें अपने अपने सघ तथा शिष्योंके प्रति कुछ पक्षपात जाग्रत हो चुका है। यह पक्ष आगे जाकर संघकी क्षतिका कारण न बन जाये इस उद्देश्यसे उन्होंने अवलम्ब दिगम्बर सघकी नन्दिसंघ आदि अनेक अवान्तर सघोंमें विभाजित कर दिया। इसके पश्चात् ये सकल सघ अपने-अपने आचार्यकी अध्यक्षतामें स्वतन्त्र रूपसे विचरण करने लगे। यद्यपि सघका विभाजन बी नि ५७६ में कर दिया गया तदपि धरसेन आदि कुछ अंगश धारियों की वीतराग परम्परा यत्र तत्र बिखरी हुई बी नि ६८३ चलती रही।

वीर निर्वाणसे लेकर उसके ६८३ वर्ष पश्चात् तककी यह परम्परा मूलसंघमें गणनीय है, जिसका उल्लेख दो स्थानों पर प्राप्त होता है, एक तो सिद्धलोक पण्णति तथा धनवा आदि मूल ग्रन्थोंमें और दूसरे आ इन्द्रनन्दि कृत 'श्रुतागतार' नामक शास्त्रमें। मूल ग्रन्थोंमें ज्ञान हानिका क्रम दर्शानेके लिये आचार्योंका केवल समुदित काल दिया गया है और ६८३ वर्षकी यह श्रुतधर परम्परा भद्रबाहु द्वितीय तथा लोहाचार्य पर आकर समाप्त कर दी गयी है। परन्तु इन्द्रनन्दि कृत श्रुतागतारमें समुदित कालका निर्देश करनेके साथ

साथ प्रत्येक आचार्यका पृथक् पृथक् काल भी दिया गया है। यहाँ ६८३ वर्षकी काल गणना लोहाचार्य पर समाप्त न करके पट्टवण्डागमके रचयिता अंगशधारी आ धरसेन, पुष्पदन्त तथा भूतमलि तक ले जाई गई है, अर्थात् अर्हद्वली आदिको भी इसीमें समेट लेती है। इस-लिये यह पट्टवली सन्घाताओंके लिये बड़े महत्वकी है। (दे कोश पृ ३१६ इतिहास ४/२) ११ अंग १० पूर्व धारियोंकी परम्परा तक दोनों की दृष्टि समान है, परन्तु आगे चलनेपर ६८३ वर्षकी उक्त गणनाके कारण कुछ मतभेद हो गया है।

३ भद्रबाहु प्रथम

मूलसंघकी पट्टवलीमें (दे पृ ३१६) इस नामके दो आचार्य प्राप्त होते हैं, एक तो वे जिनकी गणना विष्णु आदि पाँच श्रुतकेवलियोंमें की गई है और दूसरे वे जिन्हें आचारांगधारी अथवा अष्टांगधारी कहा गया है। इन्होंने नन्दिसंघ बलात्कारगणकी पट्टवलीका प्रारंभ होता है। दोनोंके सम्बन्धमें प्रचलित उक्तियें परस्परमें कुछ इस प्रकार मिल गई हैं कि इन दोनोंका ही जीवन वृत्त प्राय धूमिल हो गया है। (जै/पी ३४६) यथा—

१. गुप्त शिष्य विचार

मूल सघकी पट्टवलीमें विशालाचार्यको भद्रबाहु प्रथमका शिष्य कहा गया है जबकि नन्दिसंघकी पट्टवलीमें भद्रबाहु द्वितीयके शिष्य 'गुप्तिगुप्तका' अपर नाम 'विशालाचार्य' है। हरिपेण कथाकोप तथा भद्रबाहु चरित्रके अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्यका दोषा नाम विशालाचार्य था और वे भद्रबाहु प्र के शिष्य थे जबकि श्वेताम्बरगम्नायमें इस नामके साथ-साथ उनका अपर नाम गुप्तिगुप्त भी था और वे 'भद्रबाहु द्वि' के शिष्य थे। मूलसंघकी पट्टवलीमें भद्रबाहु द्वि के शिष्य 'लोहाचार्य' और उनके शिष्य 'अर्हद्वली' हैं जबकि नन्दिसंघकी पट्टवलीमें यह भी गुप्तिगुप्तका अपर नाम है अर्थात् ये भद्रबाहुके प्रशिष्य न होकर शिष्य हैं। लोहाचार्यका नाम यहाँ भद्रबाहुकी सातवीं पीढ़ीमें (उमास्वामीके पक्षात्) दिया गया है।

२. ज्ञान विचार

मूल सघमें भद्रबाहु प्र को पञ्चम श्रुतकेवली कहा गया है और इस मतकी पुष्टि श्रवणवेलगोलसे प्राप्त शिलालेख न १७, १८, ४०, ४४ तथा १०८ से होती है, जबकि शिलालेख न १ तथा भावसंग्रह ४३ में (दे श्वेताम्बर) इन्हें निमित्तज्ञानी कहा गया है। दूसरी ओर भद्रबाहु द्वि को दिगम्बर आम्नायमें चरम निमित्तधर तथा आचारांगधारी माना गया है जबकि श्वेताम्बर आम्नायमें इन्हें श्रुतकेवली कहा गया है। (जै/पी ३४६, ३४७)

३ द्वादशवर्षीय दुर्मिश्र

युहू कथाकोप २३१, आराधना कथाकोप ६१, भावसंग्रह ४४-४५, भद्र-बाहु चरित्र ३-अपने निमित्तज्ञानसे उज्जैनीमें द्वादश वर्षीय दुर्मिश्र आनेवाला जानकर आप १२००० साधुओंके साथ दक्षिणापथकी ओर बिहार कर गये थे। मगध सत्राट चन्द्रगुप्त मौर्य जो कि इस समय अपनी उज्जैनीवाली राजधानीमें ही विद्यमान थे इस घटनासे प्रभावित होकर दीक्षित हो गये थे और इनके साथ ही दक्षिणापथकी ओर चले गये थे।

परन्तु श्वेताम्बर मुनि कश्यपाण विजय जी तथा डा० प्लाटो इस घटनाका सम्बन्ध भद्रबाहु द्वि के साथ जोड़ते हैं। इनकी इस मान्यताको विद्वानोंका समर्थन प्राप्त नहीं है क्योंकि भद्रबाहु द्वि के काल (बी नि ४६२-४१५ वि २२-४५) में न तो दुर्मिश्र विषयक कोई उल्लेख प्राप्त होता है और न ही उस समय चन्द्रगुप्त नामक किसी राजासे अस्तिरव की कोई सूचना मिलती है। अतः इस घटनाका सम्बन्ध भद्रबाहु प्र के साथ ही सिद्ध होता है। (जै/पी ३५१)

४ चन्द्रगुप्त मौर्यकी समकालीनता

उपयुक्त दिगम्बर ग्रन्थोंमें द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षके समय चन्द्रगुप्त मौर्य का भद्रबाहु प्र से दीक्षित होना लिखा है, और ति प ४/१४२ में चन्द्रगुप्तकी ही जिनदीक्षा धारण करनेवाला अन्तिम सुषुप्तमदध राजा कहा गया है। ऊपर इन्हीं का दीक्षाका नाम विशालाचार्य कहा गया है। यद्यपि नन्दि सघको पट्टावलीमें भद्रबाहु द्वि के शिष्य गुप्तिगुप्तका नाम विशालाचार्य कहा गया है और श्वेताम्बर मुनि कल्याण विजयजी तथा डा प्लाटो गुप्तिगुप्तकी ही चन्द्रगुप्त कल्पित करते हैं, परन्तु दिगम्बर विद्वानोंको प्रायः यह मत मान्य नहीं है। कुछ श्वेताम्बर विद्वान् अशोकके पौत्र सम्प्रति (ई पू २२०-२११) को चन्द्रगुप्त द्वि मानकर भद्रबाहु प्र (बी नि १३१-१६२ ई पू ३६४-३६५) के साथ उसको समकालीनता घटित करना चाहते हैं, परन्तु इनका यह मत भी मान्य नहीं है क्योंकि एक तो सम्प्रति बौद्ध थे और दूसरे उनके विषयमें दीक्षा धारण करनेका कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं होता। अतः चन्द्रगुप्त मौर्य (ई पू ३२६-३०२) का ही भद्रबाहु प्र के साथ दीक्षित होकर दक्षिणापथकी ओर जाना सिद्ध है। हम विषयमें एक यह ऐतिहासिक तथ्य भी है कि इतिहासमें इनके राज्याभिषेक आदिका तो उल्लेख मिलता है परन्तु इनकी मृत्यु नैते तथा कहाँ हुई इन विषयमें कोई उल्लेख नहीं प्राप्त नहीं होता है। (जे/वी ३४४)।

५ समाधिमरण

द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष वाली घटनामें तीन मान्यतायें प्रसिद्ध हैं। आराधना कथाकोप ६१ के अनुसार मुनिबंधका दक्षिणापथकी ओर भेजकर स्वयं अतिवृद्ध होनेके कारण उज्जैनीमें ही रह गये थे और चन्द्रगुप्त भी दीक्षा धारण करके इनकी सेवामें वहाँ ही रहे। बृहद् कथाकोप २३१ के अनुसार आप दोनों मार्गमें भाद्रपद वेशमें रुक गये थे। परन्तु अथनवेलगोलसे प्राप्त पूर्वोक्त शिनालेखोंके आधारपर डा स्मिथने भद्रबाहु स्वामीका और इनके १२ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्तका समाधिमरण अथनवेलगोलमें होना निश्चित किया है। (जे/वी ३४३-३४४)।

६ श्वेताम्बर दिगम्बर सधमेद

दुर्भिक्षके कालमें भद्रबाहु स्वामी (प्र) के आदेशसे दक्षिणापथकी ओर बिहार कर जाने वाले १२००० साधुओंमें से यद्यपि अधिकतर दक्षिण वेशमें चले गये थे, तदपि उनका कुछ भाग प्रमादवश उज्जैनीमें या मार्गमें ही रह गया। परिस्थितियोंसे माध्य होकर इन्हें मिहवृत्तिका रयाग करके अपवाद मार्गका आश्रय ले लेना पड़ा। यह अपवाद ही धीरे धीरे शिथिलाचारमें प्रवर्तित हो गया। फलस्वरूप अर्धफालक सघकी उपपत्ति हुई जो आगे जाकर वि ११६ (बी नि ६०६) में श्वेताम्बर सघके रूपमें परिवर्तित हो गया। उस समय इस सघके आचार्य जिनचन्द्र थे जिन्हें भद्रबाहु स्वामीके प्रशिष्य और शान्त्याचार्यका शिष्य माना गया है। (दे श्वेताम्बर २-३)

७. समय

चन्द्रगुप्त मौर्यके साथ इनकी समकालीनता सिद्ध कर दी गई, परन्तु यहाँ यह आपत्ति आती है कि चन्द्रगुप्त मौर्यका काल ई पू ३२६-३०२ (बी नि २०१-२२५) सिद्ध है, जबकि मूलसघकी पट्टावलीमें भद्रबाहु प्र का काल बी नि १३१-१६२ निर्दिष्ट किया गया है। दोनोंके कालोंमें लगभग ६० वर्षका अन्तर स्पष्ट है। इसे पाटनेके लिये दो ही मार्ग हैं। या तो चन्द्रगुप्तके कालको ६० वर्ष ऊपर ले जायें और या भद्रबाहुके कालको ६० वर्ष नीचे लाया जाये। श्वेताम्बर मुनि पहले मार्गका अवलम्बन लेते हैं और नन्दि बंधाके शास्त्रोक्त १४५ वर्ष कालमें से ६० वर्ष निकाल कर उसे ८५ वर्ष कर देते हैं। इस

प्रकार हम वशमें अनन्तर प्रारम्भ होनेवाले मौर्य वंशका काल भी नि २१४ की बजाय बी नि १४५ में प्रारम्भ हो जाता है (दे इतिहास ३/३-४ का टिप्पणी) परन्तु ऐसा माननेमें अन्य बहुत सारी आपत्तियाँ लड़ी हो जाती हैं।

इसलिये पं कैलाश चन्द्र दूसरे मार्गका अवलम्बन लेते हैं। मूल संधकी पट्टावलीमें इदित तृतीय एडिटे के अनुसार आप नक्षत्र आदि पाँच एकादशीगंधारियोंका २२० वर्ष कालमें से ६० वर्ष निकाल कर मिथ्यु आदि पाँच युक्तकेवलियोंके १०० वर्ष कालमें मिलातीका सुझाव देते हैं। जिससे दोनों स्थानोंपर पाँच पाँच आचार्योंका समुचित काल १६०-१६० वर्ष हो जाता है। ऐसा करनेसे यद्यपि एडिट न. २ में कथित आचार्योंका पृथक् पृथक् काल गड़बड़ा जाता है तदपि अन्य अनेकों आपत्तियोंका समाधान प्राप्त हो जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है भद्रबाहु रयामी भविष्यमें प्राचीन कालसे बहुत सी भूलें चली आ रही है, इसलिये बहुत सम्भव है कि श्रुतावधारके कर्ता आ इन्द्र नन्दिमें भी काल-निर्धारण करनेमें कुछ मूल हुई हो। पं कैलाश चन्द्रजी के द्वारा इस सम्भवमें अनुसार भद्रबाहु प्र का काल बी नि १८०-२२२ (ई पू ३४०-२८४) हो जाता है। दूसरी ओर चन्द्रगुप्त मौर्यका काल ई पू ३२६-३०२ सिद्ध किया जा चुका है, इसलिये ई पू ३०५ में दीक्षित होकर भद्रबाहु स्वामीके साथ इनका दक्षिणापथको चले जाना घटित हो जाता है। (जे/वी. ३४४)

इसे मान लेनेपर दूसरी आपत्ति श्वे दि सधमेदकी आरसे उत्पन्न होती है, क्योंकि यह बात सर्वा मान्य है कि गह भेद द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के कारण परिस्थितिबश उत्पन्न हुआ था और भद्रबाहु प्र के उपर्युक्त कालके अनुसार यह दुर्भिक्ष भी नि २२२ (वि पू २८५) में पड़ा था, जबकि सधमेद वि १३६में हुआ कहा गया है। दोनोंमें ३८ वर्षका अन्तर स्पष्ट है। इस आपत्तिका समाधान दर्शनसारकी प्रस्तावनामें प्रेमी जी ने किया है। इसके अनुसार वि पू २८८ में उस सधमें कुछ शैथिल्य ही आया था जो उस समय केवल अर्धफालक सघके रूपमें अभिव्यक्त हुआ था। दुर्भिक्ष समाप्त हो जाने पर भी संघने अपना स्थितिकरण नहीं किया और इसी रूपमें ३८० वर्ष तक "उज्जैनी (अवन्ती)" तथा मगध देशमें घूमता रहा। मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त कुछ मूर्तियाँ इस विषयमें प्रमाण हैं। पीछे वि १३६ के आसपास यह संघ जम सौगाष्ट देशमें आया तो वहाँके राजा के कहनेसे इसने वस्त्रों का ग्रहण कर लिया और आवश्यकताके अनुसार विधि विधान बनाकर तारकालिक आचार्य जिन चन्द्र ने इसे सर्गोपाग "श्वेताम्बर सघका" रूप दे दिया। (दे श्वेताम्बर ४)। ये जिन चन्द्र आचार्य कौन थे, इसकी चर्चा आगे जिनचन्द्रके नामसे की गई है। इस प्रकार भद्रबाहु प्र का काल बी नि १८०-२२२ (ई पू ३४०-३०५) सर्वथा निर्दोष है, और यही मूल सघकी एडिट नं ३ में दिया गया है।

४ भद्रबाहु द्वितीय

दूसरे भद्रबाहु वे हैं जिनकी गणना मूलसघकी पट्टावलीमें अर्धगंधारियों तथा आचार्यगंधारियों की गई है। दूसरी ओर आ देवसेनने अपने भाव सग्रहमें इनका नाम भद्रबाहु गणी कहा है और निमित्तज्ञानी कहकर इनका सम्बन्ध द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षके तथा दिगम्बर श्वेताम्बर सधमेदके साथ जोड़ा है। तदनुसार इनके शिष्य शान्त्याचार्य थे और उनके शिष्य जिनचन्द्र। द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष समाप्त हो जानेपर जब शान्त्याचार्यने अपने सघसे शैथिल्य छोड़कर गुह्याचारी हो जानेके लिये कहा तो उनके शिष्य जिनचन्द्र ने उन्हें जानसे मार डाला या मरवा दिया और संघका नायक बनकर अपने संघको श्वेताम्बर सघके रूपमें परिणत कर दिया। यह घटना वि ११६ में घटित हुई कही गई है (दे श्वेताम्बर)। दूसरी ओर मूलसंघ तथा नन्दि संघकी पट्टावलीके अनुसार इनकी शिष्य परम्परामें क्रमशः लोहाचार्य, अर्धवली, माधनन्दि, तथा जिनचन्द्र प्राप्त होते हैं।

यहाँ जिनचन्द्रका समय शक स ४०-४६ (वि १७५-१८४) स्थापित किया गया है और इन्हें कुन्दकुद का गुरु बताया गया है। यद्यपि दोनों स्थानों पर जिनचन्द्र भद्रबाहुकी शिष्य परम्परामें हैं और दोनोंके कालोंमें भी कोई विशेष अन्तर नहीं है, केवल ३६ वर्षका अन्तर है, तदपि दोनोंके जीवनवृत्तोंमें इतना बड़ा अन्तर है कि इन दोनोंको एक व्यक्ति स्वीकार करने को जो नहीं चाहता। तथापि यदि जिस किस प्रकार इन्हें एक व्यक्ति घटित कर दिया जाय (दे परिशिष्ट ४/जिनचन्द्र) तो दोनों भद्रबाहु एक व्यक्ति थे या दो यह सन्देह बना ही रहता है। यदि ये दोनों भिन्न व्यक्ति हैं तो कहा जा सकता है भद्रबाहु गणी का काल अपने प्रशिष्य रवेताम्बर सघाधीश जिनचन्द्र (वि १३६) की अपेक्षा ४० वर्ष पहले वि ६६ (वी नि ४६६) होना चाहिए।

श्रुतघटोंकी परम्पराका निर्देश करने वाली मूलसंघीय उक्त पद्यावलीमें भद्रबाहु द्वि का काल बी नि ४६२-४९६ बताया गया है। दूसरी ओर नन्दि सघ बतायाकार गणकी पद्यावलीमें (दे परिशिष्ट ४) इतिहास ७/२) वह विक्रम राज्यके पश्चात् ४-२६ वर्ष स्थापित किया गया है पद्यावलीके कर्ता आ इन्द्रनन्दिके अनुसार विक्रम राज्यका प्रारम्भ बी नि ४८८ में कल्पित किया गया है यथा—“वीरात् ४६२ विक्रमजन्मान्तर वर्ष २२, राज्यान्तर वर्ष ४” (विशेष दे परिशिष्ट १/२) इसलिये तदनुसार इनका समय पद्यावली में बी नि ४६२-४९६ बन जाता है। इस प्रकार दोनों पद्यावलीयोंमें इनकी पूर्वावधि तो समान आ जाती है परन्तु उत्तरावधिमें एक वर्ष का अन्तर रह जाता है जिसे स्मृतिकी भूल कहकर हटाया जा सकता है। विद्वानोंने इनका यही समय स्वीकार किया है। (प स/प्र H L Jain), (म सि प्र/७८/५ मूलचन्द्र), (विशेष दे परिशिष्ट ४ में नन्दिसघ)।

५. लोहाचार्य

मूल संघकी पद्यावलीमें (दे पृ ३१६) इस नामके दो आचार्य प्राप्त होते हैं। एक तो द्वि केवली सुधर्मा स्वामीका अपर नाम है और दूसरा भद्रबाहु द्वि के पश्चात् अष्टांगधारियोंकी अथवा आचार्य धारियोंकी परम्परामें माने गए हैं। नन्दिसंघकी पद्यावलीमें यद्यपि भद्रबाहु द्वि के पश्चात् इनका नामोश्लेष नहीं किया गया है तदपि जैसा कि परिशिष्ट ३ में बताया जानेवाला है, वहाँ इनका ग्रहण अनुत्तरूपसे स्वयं हो जाता है। मूलसंघकी पद्यावलीमें प्रथम दृष्टिसे इनका काल भगवात् धीरके निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्ष तककी काल गणना पर जाकर समाप्त हो जाता है परन्तु अज्ञातवारकी द्वितीय दृष्टिसे वह बी नि ४९६-५६५ प्राप्त होता है। अर्द्धलि माघ-नन्दि तथा धरमेन आदिको ६८३ वर्षकी अवधिमें समेटनेके लिये यह पहले की अपेक्षा अधिक संगत है। श्रुतावतारमें ही निम्न नन्दिसंघकी पद्यावलीमें भी सुक्तिपूर्वक इनका यही काल प्राप्त होता है (दे परिशिष्ट ४)। (ध १/प्र २६/H L Jain), (स सि प्र ७८/५ मूलचन्द्र), (ह पु प्र ३ प. पञ्चा लाल)।

एक तीसरे लोहाचार्य भी हैं जिनका उल्लेख नन्दिसंघकी पद्यावलीमें उमास्वामी के पश्चात् किया गया है ये लोहाचार्य उपर्युक्त लोहाचार्य द्वि से भिन्न ही कोई व्यक्ति हैं, क्योंकि पद्यावलीमें इन्हें बी नि ७४७-७५८ में स्थापित किया गया है। इस प्रकार दोनोंके कालोंमें २ शताब्दीका अन्तर है (दे परिशिष्ट ४)

६. विनयदत्तावि चार आचार्य

मूलसंघकी पद्यावलीमें (दे पृ ३१६) लोहाचार्यके पश्चात् विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्द्धदत्त इन चारों आचार्योंका नामोश्लेष किया गया है। यद्यपि इनका उल्लेख न तो तिष्ठलोग्य पण्डित आदि मूल ग्रन्थोंमें

कहीं पाया जाता है और न ही आ इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतारमें दो गई मूल संघकी पद्यावलीमें कहीं इनका पता चलता है (ध १/प्र २४/H L Jain)। परन्तु आ इन्द्रनन्दिने वहाँ ऐसा उल्लेख अवश्य किया है कि आ गुणधर तथा धरसेनके अन्वयका ज्ञान काल दोषसे इस समय हमें प्राप्त नहीं है (दे परिशिष्ट ३) इसके आधारपर तथा अन्य किन्हीं साक्ष्योंके आधारपर पं जुगल किशोर जी मुरतारने इन्हें लोहाचार्य तथा अर्द्धदलिके मध्य स्थापित किया है। पुनराट संघकी पद्यावलीमें लोहाचार्य तथा अर्द्धदलीके मध्य विनयधर, गुप्तिश्रुति, गुप्तिर्द्धि और शिवगुप्त ये चार नाम दिये हैं। (दे इतिहास ७/८/५ ३२७) सम्भवत ये उपर्युक्त विनयदत्त आदिके ही अपर नाम हैं। इससे पता चलता है कि इनका गुरु परम्परामें कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि इनका नाम एक साथ आता है इसलिये इन्हें समकालीन अनुमान किया जा सकता है। पं जुगल किशोर जी इन चारोंका समुचित काल २० वर्ष अनुमान करते हैं।

७. अर्द्धवली

मूलसंघकी पद्यावली (दे पृ ३१६) में कथित द्वितीय दृष्टिमें इनके नामका उल्लेख इस बातका सूचक है कि लोहाचार्यके पश्चात् मूलसंघका पद आपकी अवश्य प्राप्त हुआ था, परन्तु प्रथम दृष्टिमें इनका उल्लेख प्राप्त न होनेसे यह कहा जा सकता है कि इनके कालमें मूलसंघ विघटित हो गया था। यथा—

इन्द्रनन्दिकृत नीतिसार—अर्द्धदली गुरुधर्मे संघसंघटन परम्। सिंह-सघो नन्दिसंघ सेनसंघस्तथापर। देवसंघ इति स्पष्ट स्थान-स्थितिविशेषतः /—आ अर्द्धदलिके कालमें मूलसंघ—सिंह, नन्दि, सेन तथा देव नामक चार सघोंमें विभाजित हो गया।

नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोप/कथा न —यहाँ यह बात प्रसिद्ध है कि पञ्चवर्षीय युगप्रतिक्रमणके समय आपने दक्षिण देशस्थ महिमानगर (जिला सतारा) में एक महान यति सम्मेलन किया था, जिसमें १००-१०० योजन तकके यति आकर सम्मिलित हुए थे। उस अवसर पर उनमें अपने अपने शिष्योंके प्रति कुछ पक्षपातकी गन्ध देखकर आपने मूलसंघको नन्दिसंघ आदिके नामसे अनेक शाखाओंमें विभक्त कर दिया था। १४ आ धरसेनका पत्र पाकर इस सम्मेलनमें-से ही आपने पुष्पदत्त तथा भूतबलि नामके दो नवदीक्षित परन्तु सुयोग्य साधुओंको उनकी सेवामें भेजा था। २८। घ १/प्र १४, २८ (H L Jain), (विशेष दे अगला शीर्षक)

नन्दिसंघकी पद्यावलीमें (दे आपे परिशिष्ट ४) आपके दो अपर नाम बताये गए हैं, गुप्तिगुप्त तथा विशाखाचार्य। इसपरसे आपके चन्द्रगुप्त होनेका सन्देह होता है, क्योंकि एक तो आपके नामके साथ 'गुप्त' शब्द पाया जाता है और दूसरे चन्द्रगुप्त मौर्यका दीक्षाका जो नाम विशाखाचार्य बताया गया है उसका भी आपके नामके साथ सम्बन्ध देखा जाता है। तीसरे आप भद्रबाहुके शिष्य नहीं तो प्रशिष्य अवश्य हैं। इस हेतुसे रवेताम्बर विद्वान् आपको चन्द्रगुप्त कल्पित करके द्वादशवर्षी दुर्भिक्षका सन्ध्य भद्रबाहु द्वि के साथ जोड़ते हैं परन्तु इसका निराकरण पहले किया जा चुका है (दे शीर्षक २ पर भद्रबाहु प्रथम)

पृ ३१६ पर दो गई मूल संघकी पद्यावलीमें आपका काल बी नि ६६५-६६९ कहा गया है जब कि परिशिष्ट ३ में कथित नन्दिसंघकी पद्यावलीमें द्वितीय दृष्टिके अनुसार लोहाचार्यके १० वर्ष जोड़ देनेपर वह बी नि ६६६-६७५ प्राप्त होता है। दोनोंमें इनकी पूर्वावधि समान है परन्तु उत्तरावधिमें १० वर्षका अन्तर है। इसपर से यह अनुमान होता है कि नन्दिसंघकी पद्यावलिमें कहा गया काल आपके आचार्य पदकी अपेक्षासे है और मूलसंघकी पद्यावलीमें जीवन कालकी अपेक्षासे अर्थात् इनका आचार्य पद सघ विघटनके समय समाप्त हो जाता है और बी नि ६६३ में इनकी समाधि होती है।

(विशेष दे अगता शीर्षक)। परन्तु अन्य कोई साक्ष्य उपलब्ध न होनेसे भी स्वयं इस विषयमें अपनी जिज्ञा हिलानेके लिए समर्थ नहीं हैं। हो सकता है कि नन्दी सघकी पट्टावलीमें कही गई इनकी उत्तरावधि वास्तवमें इनके अनन्तरवर्ती माघनन्दीकी पूर्वावधि है, जो कि उत्तरावधिके रूपमें इन्हें प्राप्त हो गई है। इस विषयमें यह हेतु भी है कि नन्दी सघकी पट्टावली वास्तवमें वा माघनन्दिसे प्रारम्भ होती है। उनसे पहले जो भद्रबाहु स्वामी तथा अर्द्धबलीका नाम लिया गया है वह केवल परम्परा गुरुके रूपमें उन्हें नमस्कार करनेके लिए है। (दे परिशिष्ट ४।१)। इसलिए मूलसघकी पट्टावलीमें कथित भी नि ५६५-५६३ ही इनका काल मानना उचित है।

आपके द्वारा आयोजित यति सम्मेलनकी संगति आ धरसेनकी उत्तरावधि (वी नि ६३३) के साथ बैठानेके लिए हम आपके आचार्यकालकी उत्तरावधि ५६३ से आगे बढ़ाकर ६३० तक ला सकते हैं और ऐसा करनेमें कोई विशेष आपत्ति भी नहीं आती है, क्योंकि आ धरसेनको आपके पञ्चाद्वर्ती न मानकर आपके समकालीन माना गया है। तदपि कोई साक्ष्य उपलब्ध न होनेसे इस विषयमें मैं स्वयं अपनी जिज्ञा हिलानेके लिए समर्थ नहीं हूँ। (विशेष दे अगता शीर्षक)।

८ यति सम्मेलन

यहाँ यह प्रश्न होता है (दे इससे पूर्ववर्ती शीर्षकमें आ अर्द्धबली) कि यह सम्मेलन किस कालमें हुआ। (१) इस अवसर पर अनेकों राधोंमें विभाजित होकर मूलसघकी सत्ता समाप्त हो गई थी और साथ साथ आ 'अर्द्धबली'का आचार्यत्व भी। इसलिए यह अनुमान होता है कि नन्दिसघकी पट्टावलीमें कथित (दे परिशिष्ट ४) आ अर्द्धबलीके कालकी उत्तरावधि (वी नि ५७५) ही इस सम्मेलनकी योजनाका काल है। सम्मेलन 'पञ्चवर्षीय युगप्रतिक्रमणके अवसरपर हुआ था। क्योंकि ५ के अकसे ५७५ पूरा-पूरा विभाजित हो जाता है इसलिए यह भी अनुमान होना सम्भव है कि भगवात् 'महावीरके' पश्चात् यह ११५वीं युग प्रतिक्रमण हुआ होगा। परन्तु इतने मात्र परसे इस विषयमें निश्चित रूपसे कुछ कहना इतिहास होगा।

(२) क्योंकि दूसरी ओर आ धरसेन स्वामीका सम्बन्ध भी इस घटनाके साथ सिद्ध है। उनका पत्र पाकर आ अर्द्धबलीने इसी सम्मेलनमें से दो नवन्दीक्षित साधु उनकी सेवामें भेजे थे और जैसा कि आगे आ धरसेनके प्रकरणमें बताया जाने वाला है उन्होंने इन साधुओंकी बहुत शोध भी 'महाकर्म प्रकृति' विषयक अध्ययन कराके अपना समाधि मरण निकट जान इन्हें अपने पाससे विदा कर दिया था। इस परसे दो सूचनायें प्राप्त होती हैं। एक तो यह कि अत्यन्त घीत राग तथा तपस्वी होनेके कारण उन्होंने भक्तप्रशारत्यानकी मजाय इन्निनी मरण स्वीकार किया था। दूसरी यह कि अपने शारीरिक स्थितिसे आशंकित रहनेके कारण उनका यह अध्ययन बहुत शीघ्र समाप्त किया था। यही कारण है कि अध्ययन प्रारम्भ करानेसे पहले उन्होंने इन शिष्योंके शिष्यत्वकी तथा प्रतिभाकी परीक्षा ली थी। इसलिये इस विषयमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि इन दोनोंने गुरुदत्त ज्ञानकी अवधारण कर लिया हो। इस परसे हम यह कह सकते हैं कि इन दोनों सुयोग्य साधुओंकी प्राप्ति उन्हें अपने समाधि कालसे अधिकसे अधिक दो चार वर्ष पूर्व हुई थी और उसी समय यति सम्मेलन घटित हुआ था। आ धरसेनके कालकी उत्तरावधि क्योंकि वी नि ६३३ निर्धारित की गई है (दे आगे शीर्षक १०) इसलिये यति सम्मेलनका काल वी नि ६३० के आस पास होनेकी सम्भावना प्रतीत होती है।

(३) परन्तु ऐसा माननेपर आ अर्द्धबलीकी उत्तरावधि (वी नि ५६३)के साथ तथा आ माघनन्दीकी पूर्वावधि (वी नि ५७५) के साथ संगति नहीं बैठती। इसलिए या तो अर्द्धबलीकी उत्तरावधिकी ५६३ से

नीचे उतारकर ६३० पर लाना चाहिये अथवा आ धरसेनकी उत्तरावधिकी ६३३से ऊपर उठाकर ५६५ या ५६३ पर लाना चाहिये। परन्तु ऐसा करनेसे उनमें द्वारा 'जोनिपाट्ट' ग्रन्थकी रचना सम्भव नहीं हो सकेगी, क्योंकि उसका रचनाकाल वी नि ६०० माना गया है। इसलिये आ, अर्द्धबलीकी उत्तरावधि वी नि ६३० मानो जा सकती है। यह बात सर्वमान्य भी है कि अर्द्धबलि माघनन्दि तथा धरसेन इन तीनोंके नाम भले ही मूलसंघकी पट्टावलीमें आगे पीछे दिखे गये हों परन्तु वास्तवमें वे समकालीन थे।

(४) दूसरी भाषा माघनन्दि स्वामीकी पूर्वावधिके साथ आती है। यदि अर्द्धबलीकी उत्तरावधिके अनुसार सम्मेलनकी योजनाका काल वी नि ५६३ या ६३० माना जाता है तो माघनन्दि के कालकी पूर्वावधि भी यहाँ घटित होती है जबकि नन्दिसंघकी पट्टावलीमें वह वी नि ५७५ पर स्थापितकी गई है। परन्तु इमका समाधान यह किया जा सकता है कि भले ही सम्मेलनके अवसर पर अनेकों संघोंकी स्थापना की गई हो परन्तु सभी संघोंकी स्थापना उसी दिन हुई हो यह नहीं कहा जा सकता। सिंहसघ, नन्दिसघ, सेन या नृपमसघ और देवसंघ ये जो चार प्रधान संघ हैं इनकी उत्पत्तिके विषयमें अनेकों धारणायें हैं। एकके अनुसार ये मूलसंघमें-से उत्पन्न हुए एक के अनुसार ये मूलसंघमें हुए अर्थात् इन चारोंसे समुत्पन्न हो मूलसंघ माना जा रहा। एकके अनुसार इनके संस्थापक अर्द्धबली थे और एकके अनुसार अकलक देव थे। एकके अनुसार इनकी स्थापना अर्द्धबलिने स्वच्छासे की थी और एकके अनुसार उनके जीवनकालमें स्थिति तथा स्थान की विशेषताका कारण यह स्वतः हो गई थी। (दे इतिहास ५/१ पृ ३१८)। इस अन्तिम धारणाके अनुसार नन्दिसंघकी उत्पत्ति उस समय हुई थी जबकि आ अर्द्धबलीके मठातपस्वी माघनन्दिने नन्दि संघके नीचे वर्षायोग धारण किया था। (दे इतिहास ५/१ पृ ३१८)। हो सकता है कि यह घटना सम्मेलन वाली घटनासे बहुत पहले वी नि ५७५ में घट चुकी हो और उसी समय माघनन्दि स्वामी नन्दि संघका आद्य पट प्राप्त हो गया हो।

९ माघनन्दि

पृ ३१६ पर दी गई मूल सघकी पट्टावलीमें तथा आगे परिशिष्ट ३ में निर्दिष्ट नन्दिसंघकी पट्टावलीमें दोनों में ही आपका नाम अर्द्धबली अथवा गुप्तिगुप्तके पश्चात् आता है परन्तु, दोनों स्थानोंपर दिया गया आपका काल भिन्न है। मूलसंघकी श्रुतधर परम्परामें आपकी गणना पूर्वविदायों की गई है और काल वी नि ५६३-६१४ स्थापित किया गया है जबकि नन्दिसंघमें निर्दिष्ट द्वितीय दृष्टिके अनुसार वह वी नि ५७५ ५७६ बताया गया है (दे परिशिष्ट ४) इससे सिद्ध होता है कि ५६३ आपके आचार्यपदकी पूर्वावधि नहीं थी। आ अर्द्धबलीकी उत्तरावधि ही यहाँ नाम क्रमके कारणसे आपके पूर्वावधिके रूपमें प्राप्त हो गई है। वस्तुतः अर्द्धबलिके शिष्य हो कर भी आप उनके पश्चाद्वर्ती न होकर समकालीन थे। इससे पहले जो यति सम्मेलनके विषयमें वर्णन की गई है उसके अनुसार नन्दिसंघकी स्थापना आ अर्द्धबलिके कालमें उस समय हुई थी जबकि श्री माघनन्दिजीके तपकी परीक्षा करनेके लिये उन्होंने इनको नन्दी ब्रह्म, जिसकी कुछ भी छाया नहीं होती है उसके नीचे वर्षायोग धारण करनेका आदेश दिया था, और उनके आदेशको पालनमें सफल हो जानेपर आप को नन्दिकी उपाधि प्राप्त हुई थी। आपकी इस योग्यताको देखकर उस समय जिस संघका आद्य पट आपको सौंपा गया था वही आपको इज उपाधिके कारण नन्दि सन्नाको प्राप्त हुआ था। आपके कालकी पूर्वावधि इस बातको सूचित करती है कि यह घटना वी नि ५७५ में घटी थी।

यहाँ यह धाँका होता है कि नन्दिसंघकी पट्टावलीमें आपका आचार्यकाल केवल ४ वर्षके पश्चात् वी नि ५७६ में क्यों समाप्त

कर दिया गया जबकि मूलसधकी पट्टावलीमें आपकी सत्ता बी नि ६१४ तक पायी जाती है। यद्यपि इसका उत्तर खोजनेकी आवश्यकता विद्वानोंको आज तक प्रतीत नहीं हुई है तदपि इस विषयमें अपनी ओरसे मैं एक मिलष्ट कल्पना प्रस्तुत करता हूँ। इस शाकाका निवारण करनेके लिये मुझे इनके विषयमें प्रसिद्ध वह कथा याद आती है जिसके अनुसार एक कुम्हारकी कन्यापर आसक्त होकर आप चित्र-भट्ट हो गए थे। हो सकता है कि यह घटना आचार्यपद प्राप्ति से ४ वर्ष पश्चात् बी नि ६७६ में घटित हुई हो और उसके कारण आपका आचार्यत्व अकस्मात् समाप्त हो गया हो।

यहाँ पुन यह शंका होती है कि ऐसा होनेपर जब इनका साधुपद ही समाप्त हो गया तो नन्दिसधकी पट्टावलीके कर्ता आ इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें बी नि ६१४ तक आपका स्मरण कैसे किया। इसके उत्तरमें मैं आपका ध्यान उक्त कथानकके द्वितीय भागकी ओर ले जाता हूँ, जिसके अनुसार कुछ ही दिनोंके पश्चात् किसी एक सैद्धान्तिक शाकाका समाधान पानेके लिये सकल सधका अनुमतिसे एक साधु स्वयं इनसे मिलनेके लिये कुम्हारके घरपर गए थे और उन्हें इस प्रकार अपने पास आया देखकर आपके हृदयमें आत्मालानि जागृत हो गई थी। प्रतीत होता है कि यह घटना उनकी पदच्युतिके कुछ ही दिनोंके पश्चात् घटित हुई थी, अन्यथा सधके हृदयमें उनके प्रति इतना बहुमान रोप न रह गया होता। प्रायश्चित्त पूर्वक पुन दीक्षा धारण कर लेनेपर जब आपने अपना स्थितिकरण कर लिया तो बहुत सम्भव है कि आपकी ज्ञान गरिमाके कारण सकल संघने पुन आपको अपना आचार्य स्वीकार कर लिया हो, और उसके पश्चात् समाधि मरण होने तक आप सधके आग्रहसे उसी पदपर आसीन रहे हों। ऐसा मान लेनेपर नन्दिसधके पदपर आप का पूरा काल ४ वर्षकी यज्ञाय २६ वर्ष हो जाता है। इसमेंसे बी नि ७७६ से ७७६ तकके ४ वर्ष तो भट्ट होनेसे पहलेके हैं और ७७६ से ६१४ तकके ३६ वर्ष पुन दीक्षा लेनेके पश्चात् के हैं। नन्दिसधकी पट्टावलीमें इनके पूर्ववर्ती ४ वर्गोंका हो उल्लेख किया गया है जबकि मूलसधकी पट्टावलीमें इनका पूरा जीवनकाल दिशा गया है। यदि नन्दि सधवाली पट्टावलीमें उनका ३६ वर्ष प्रमाण यह दूसरा काल भी जोड़ लिया जाय तो इनके तथा इनके पश्चात्ती जिनचन्द्रके मध्य जो ६७ वर्षका अन्तर है वह घटकर केवल ३१ वर्ष रह जाता है। (दे आगे परिशिष्ट ४ में नन्दिसधकी पट्टावली)।

१० धरसेन

मूलसधकी पट्टावली (दे पृ ३१६) में आपकी स्थापना अर्द्धाशधारियों अथवा पूर्वविर्द्धोंको आमन्त्रयमें को गयी है। विद्याभ्यासी होनेके कारण सोराष्ट्र देशके गिरनार गिर्रीकी चन्द्रगुफामें अकेले रहते थे। भगवाद् महावीरसे आगत 'महा कर्मप्रकृति' का ज्ञान आपको आचार्य परम्परासे प्राप्त था। उसका अवच्छेद न हो जाये इस आशासे आपने दो युवा तथा योग्य साधु भेजनेके लिए दक्षिणपथके आचार्यों के उस महापति सम्मेलनको पत्र भेजा था, जो कि उस समय आ अर्द्धलिने महिमानगर (जिला सतारा) में पञ्चवर्षीय युगप्रतिक्रमणके अवसर पर एकत्रित किया था। आ अर्द्धलि द्वारा वहाँसे भेजे गए पुष्पदन्त तथा भूतबलि नामसे प्रसिद्ध दो नव दोक्षित साधुओंको उस विषयका अध्ययन करानेके पश्चात् अपनी मृत्यु निकट जान आपाढ़ शु ११ को आपने उन्हें अपने पाससे बिदा कर दिया। कुछ समय पश्चात् ही वहाँ आपकी इक्ष्मीमरण समाधि हो गई। (ध ६/४.१.४४/१३३), (न नैमिषत्त कृत आराधना कथाकोषमें आ धरसेनकी कथा) (ध १/१ १८/H L Jain), (सिद्धान्तसारादि संग्रह/श्रुतावतार/ग्रन्थोंक २१/पृ ३१६)। उन दोनों साधुओंने इनके पाससे बिदा होकर अङ्गलेखमें चातुर्मास किया और पीछे पट्खण्डागम नामक ग्रन्थमें गुरुदत्त ज्ञानको नियम कर दिया (दे आगे पुष्पदन्त, भूतबलि)।

मूलसधकी पट्टावलीके अनुसार

लोहाचार्य तक अगधारियोंकी परम्परा चलती रही। उनके पश्चात् विनयदत्त आदि चार अर्द्धाशधारी हुए और उनके पश्चात् क्रमशः अर्द्धलि, माघनन्दि तथा धरसेनका नामोल्लेख किया गया। ये तीनों आचार्य अर्द्धाशमेंसे भी छूट पुट किसी एक आध प्राभृत्की जानने-वाले थे। इनकी परम्परामें क्याकि धरसेनका नाम माघनन्दिके पश्चात् आया है इसलिए यह सन्देह हो जाना स्वाभाविक है कि माघनन्दि धरसेनके गुरु थे, परन्तु ऐसा कोई निश्चित साक्ष्य उपलब्ध नहीं है उक्त क्रमका तात्पर्य यह हो सकता है कि ये तीनों समकालीन थे, अन्यथा अर्द्धलि द्वारा आयोजित यदि सम्मेलनको धरसेनके द्वारा पत्र देना सम्भव न होता। दूसरी बात यह भी है कि उस समय वे अति वृद्ध हो चुके थे और इसीलिए स्वयं यदि सम्मेलनमें सम्मिलित नहीं हुए। यही कारण है कि नन्दो सङ्घका नायकत्व माघनन्दिको सौंपा गया। दूसरी ओर पट्खण्डागमकी रचनाके निमित्तसे प्राप्त पुष्पदन्त तथा भूतबलिके द्वारा एक स्वतन्त्र परम्पराकी स्थापना हुई जिसका उल्लेख उन सङ्घोंकी सूचीमें नहीं हो सका जिनकी स्थापना अर्द्धलिने की थी। माघनन्दिके पश्चात् नन्दिसङ्घका नायकत्व उनके शिष्य जिनचन्द्रके हाथमें गया। यही कारण है कि नन्दिसधकी पट्टावलीमें माघनन्दिकी मज्जा जिनचन्द्रका नाम आता है। (ध १/१ १६-१६/H L Jain), (तो २/४४-४४) (जे १/४३-४४)।

इन्द्र नन्दि कृत श्रुतावतारमें (दे पृ ३१७) इनका काल बी नि ६१४-६३३ बताया गया है। इसपरसे इनकी पूर्वाविधि बी नि ६१४ जाननेमें आती है। परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। पट्टावलीमें दिये गए क्रमके अनुसार माघनन्दिकी उत्तराविधि ही इन्हें पूर्वाविधिके रूपमें प्राप्त हो गई है। जो अर्द्धलिनेके समकालीन होनेके कारण बी नि ६६६ होने चाहिए था। दूसरी बात यह है कि धरसेनाचार्यको महा-निमित्तज्ञानी माना गया है। इसी बातको लक्ष्य करके उनके शिष्य भूतबलिने पट्खण्डागममें 'प्रज्ञाप्रमर्ष'को नमस्कार किया है (पृ ४/१/१८)। इस प्रज्ञाप्रमर्षक द्वारा रचित मन्त्र तन्त्र विषयक 'जोगि-पाहुण' नामक एक ग्रन्थ उपलब्ध है जिसका काल बी नि ६०० के आसपास निर्धारित किया गया है। मुस्तार साहब इस सर्व कथनको ज्यों का त्यों मानकर भी इनका काल बी नि ६१४-६३३ निर्धारित करते हैं (जे १/४४)। परन्तु क्योंकि यह काल माननेपर उनके द्वारा 'जोगिपाहुण' की रचना सम्भव नहीं हो सकती। इसलिए इनकी पूर्वाविधिकी ६१४ से ठीक कर अर्द्धलिनेके समकक्ष ६६६ पर जाना चाहिए। अर्थात् इनका काल बी नि ६६६-६३३ (जे ३-१०६) होना चाहिए। प्राय सभी विद्वद् इस विषयमें एकमत हैं। (ध १/१ २६/H L Jain) (तो २/४४); (जे २/४३-४४)। स्वयं इनके निवास-स्थल गिरनारगिरिकी चन्द्रगुफासे प्राप्त शक स ७२ (ई १६०) के एक शिलालेखके आधारपर डा ज्योति प्रसादने इन्हें ई श १ में स्थापित किया है, जिसपरसे उपर्युक्त मान्यताकी समर्थन प्राप्त होता है। (तो २/४७)।

११. पुष्पदन्त भूतबली—

विबुध श्रीधरके श्रुतावतारमें भविष्यवाणीके रूपमें जो कथा दी गई है उसमें इन दोनोंके जीवनपर प्रकाश पड़ता है। उदनुसार वसुधरा नगरीके राजा नरबाहन सुबुद्धि नामक सेटके साथ दीक्षा धारण करेंगे। उस समय वहाँ एक लेखबाहक आयेगा। वे मुनि उससे लेख लेकर बाँचेंगे कि गिरनारके समीप गुफावासी धरसेन मुनीवर कुछ दिनोंमें नरबाहन और सुबुद्धि नामक मुनियोंको पठन श्रवण और चिन्तन कराकर आपाढ़ शु ११ को शास्त्र समाप्त करेंगे। भूत-जन रात्रिको उनमेंसे एककी बलिबिधि (पूजा) करेंगे और दूसरेके चार दान्तोंका सुन्दर बना देंगे। अतएव भूत-बलिके प्रभावसे नर-बाहन मुनिका नाम भूतबलि और चार दान्त समान हो जानेसे

सुमुद्रि मुनिका नाम पुण्यदन्त होगा। (ती २/१० पर उद्धृत सिद्धान्त सारादि समग्र ग्रन्थांक २१ पृ ३१६-३१७) इस कथानकपर से यह सिद्ध होता है कि धरसेमाचार्य इनके शिक्षागुरु थे। दीक्षा गुरु नहीं। इनके दीक्षागुरु वास्तवमें अर्हद्वलित थे। भ्रवणवेलगोलके शिलालेख नं १०५ में इन्हें स्पष्ट रूपसे अर्हद्वलित्वा शिष्य कहा गया है। (घ १/प्र १८/ H L Jain)।

जिनका नाम नरबाहन कहा गया है वे राजा जिनपालितके समकालीन तथा उनके मामा थे। इस परसे यह अनुमान किया जाता है कि राजा जिनपालितकी राजधानी 'वनवास' ही आपका जन्म-स्थान था। आप कल्याणकी कामनासे वहाँसे चलकर आ अर्हद्वलितकी शरणके लिये पुण्ड्रवर्धन आये और उनसे दीक्षा लेकर तुरत उनके साथ महिमा नगर (जिला सतारा) चले गए जहाँ कि गुरु अर्हद्वलित ने बृहत् यति सम्मेलनकी योजना की थी। उसी सम्मेलनमें आकर सुमुद्रि श्रेष्ठिने दीक्षा ली थी। इन्हींका नाम आगे आकर भूतमलित पड़ा। इस सम्मेलनसे गुरु अर्हद्वलितके द्वारा भेजे गए ही वे दोनों अध्ययन करनेके लिये गिरनारगिर आचार्य धरसेनस्वामी को प्राप्त हुए थे। आपाढ़ शु ११ को अध्ययन पूरा हो जानेपर धरसेन गुरुसे विदा ले ये दोनों गिरनारके निकट अक्षेश्वर आ गए और वहाँ चातुर्मास धारण कर लिया।

इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार १३२-१३४ (ती २/११,४४) जन्मतुरय करहाटे तयो स य पुण्यदन्त नाम मुनि। जिनपालिताभिधानं दृष्ट्वाऽस्मी भगिनेय स्व। दरवा दीक्षां तस्मै तेन सम वैशमेरय वनवासम्। तस्यौ भूतमलिरपि मधुरायां द्रविडदेशेऽस्थात्। १३२-१३३। अथ पुण्यदन्त मुनिरप्यध्यापयितु स्वभागिनेयं तम्। कर्मप्रकृतिप्रभाभूतमुपसंहार्यैन गडभिरिह खण्डे १३३। —वर्षावास पूरा करके पुण्यदन्त और भूतमलित दोनोंने दक्षिणकी ओर बिहार किया और दोनों 'करहाटक' (कोरहापुर) पहुँचे। वहाँ उनमें से पुण्यदन्त मुनिने अपने भानजे राजा जिनपालितसे भेंट की और उसे दीक्षा देकर अपने साथ ले 'वनवास' देशका चले गए। तथा भूतमलित द्रविड देशकी मधुरा नगरीमें ठहर गए। उधर वनवासमें अपने भानजे जिनपालितका पढ़ानेके लिये पुण्यदन्त मुनिने 'कर्म प्रकृति प्रामृत' का छ खण्डोंमें उपसंहार किया और 'वीसदि सूत्र' की नाम से जीवस्थान नामक प्रथम अधिकारकी रचनाकी। उसे जिनपालितको पढ़ाकर भूतमलितका अभिप्राय अवगत करनेके लिये उसीके हाथ उसे उनके पास भेज दिया। इसपरसे भूतमलितने पुण्यदन्त गुरुका पदखण्डागम रचनेका अभिप्राय जान लिया। उनकी आयु अल्प हो शेष रह गई है यह जान कर उन्होंने धरसेन गुरुसे प्राप्त सकल ज्ञानको 'पदखण्डागम' के नामसे निम्न कर दिया। (घ १/प्र २०/H L Jain), (जे १/४५)

इस परसे यह अनुमान करना सहज है कि आयुमें पुण्यदन्त भूतमलिकी अपेक्षा बृद्ध थे और उनके स्वर्गारोहणके परचाव भी भूतमलित २०-२५ वर्ष जीवित रहते रहे। अत इन दोनोंके साधु जीवनका प्रारम्भ आ अर्हद्वलितके अन्तिम पादमें होता है। और अन्त भूतमलिकी अपेक्षा पुण्यदन्तका पहले हो जाता है। मूलसूत्रकी पट्टावलीमें अर्हद्वलितके कालकी अन्तिम अवधि बी नि ५६३, पुण्यदन्तकी ६३३ और भूतमलिकी ६८३ बताई गई है (वे पृ ३१६ पर इतिहास ४/७) इनकी पूर्वविधिमें पूर्वार्पण केवल उनके नाम क्रमके कारणसे है। उसका प्रारम्भ वास्तवमें यति सम्मेलनके कालसे होता है। यदि वह सम्मेलन बी नि ६३० में घटित किया जाय (दे शोर्पक ७ पर अर्हद्वलित) तो इनकी पूर्वविधि बी नि ५३० सिद्ध हो जाती है। परन्तु विद्वानोंने यति सम्मेलनके कालका निर्धारण न करके अर्हद्वलित की उत्तरावधि को ही इनकी पूर्वविधि मान लिया है। तदनुसार आ पुण्यदन्तका काल बी नि ५६३-६३३ (ई ६६-१०६) और भूतमलितका बी नि ५६३-६८३ (ई ६६-१५६)

प्राप्त होता है। डॉ ज्योति प्रसादने पुण्यदन्तकी ई ५० ८० में और भूतमलिकी ई ६६-६० में स्थापित किया है। डॉ नेम चन्द ने सामान्य रूपसे इन दोनोंकी ई का १२ में निर्धारित किया है। (ती २/१३,७),

परिशिष्ट ३—(गुणधर आम्नाय)

१ सामान्य परिचय

आ इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतारमें मूलसूत्रके प्रधान प्रधान आचार्योंका विचार कर लिया गया। उसके अनुसार (दे पृ ३१६) श्रुतधर्म की अविच्छिन्न बी नि ३४५ पर आकर समाप्त हो जाती है। तत्पश्चात् २२० वर्षतक अंगधारियोंकी परम्परा चलती रही और तदुपरान्त ११८ वर्षतक किसी किसी एक पूर्व का अथवा पूर्वाशिक्षा ज्ञान हो शेष रह गया। इन पूर्वाशिक्षाको सुरक्षित रखनेके लिए उन्हें लिपिबद्ध करने या कारनेकी की परम्परा बी नि ६१४ ६८३ के आसपास प्रारम्भ हुई। मूलसूत्रकी पट्टावलीके अन्तमें कथित आ धरसेन, पुण्यदन्त तथा भूतमलिकी गणना इसी परम्परामें की जाती है। इसी परम्परामें आ गुणधरकी भी एक आम्नाय है जिसका उल्लेख उक्त श्रुतावतारमें उपलब्ध नहीं होता है। इसका कारण यह है कि श्रुतावतारके कर्ता आ इन्द्रनन्दिने यद्यपि इस आम्नायका नाम तो सुन रखा था परन्तु इसकी गुरु परम्पराका ज्ञान उन्हें नहीं था। 'गुणधरसेनान्वयगुर्वो पूर्वापरक्रमेऽस्माभि न ज्ञायते, तदन्वयकथ-कागममुनिजनाभावात्'। (इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार १५१) (ती २/३०)। जिस प्रकार धरसेनकी आम्नायमें आ पुण्यदन्त तथा भूतमलित प्राप्त होते हैं उसी प्रकार इस आम्नायमें आर्यमसु, नागहस्ति तथा यतिवृषभ प्राप्त होते हैं। दोनों आम्नायें प्राय समकालीन तथा समकक्ष होते हुए भी परस्परमें एक दूसरेसे पृथक् तथा स्वतन्त्र थीं। धरसेनकी आम्नायने जिस प्रकार भगवात् बीरसे आगत 'महाकर्म प्रकृति प्रामृत' के ज्ञानको पदखण्डागमके रूपमें लिपिबद्ध किया, इसी प्रकार आ गुणधरकी इस आम्नायने भगवात् बीरसे आगत 'पेज्जदोसपाहुड' के ज्ञानको 'कसायपाहुड' के नामसे लिपिबद्ध किया।

२. गुणधर

ज घ १/मगलाचरण ६—जेणिह कसायपाहुडमगेयणयमुज्ज्वलं अणतरथं। गाहाहि विधिरयं त गुणहरभहारय।

ज घ ६ की व्याख्या—ज्ञानप्रवादेके निर्मल इसमें नस्तु अधिकारके तृतीयकसायपाहुडरूपी समुद्रके जलसे प्रक्षालित मतिज्ञानरूपी नेत्र-धारी एवं त्रिभवन प्रत्यक्ष-ज्ञानकर्ता गुणधर भट्टारक हैं, और उनके द्वारा उपदिष्ट गाथाओंमें सम्पूर्ण कसायपाहुडका अर्थ समाविष्ट है।

तृतीय कथाय प्राप्त महासमुद्रके तृण्य है और आचार्य गुणधर उसके पारगामी हैं।

आचार्य बीरसेनके उक्त कथनसे यह ध्वनित होता है कि आचार्य गुणधर पूर्वविश्वकी परम्परामें सम्मिलित थे किन्तु धरसेनाचार्य पूर्वविद होते हुये भी पूर्वविदाकी परम्परामें नहीं थे। (ती २/२६)।

पञ्चम पूर्वगत 'पेज्जदोसपाहुड' का जो ज्ञान आपको पूर्वाशिक्षारियों की परम्परासे प्राप्त हुआ था उसे सुरक्षित करनेकी भावनामें आपने यद्यपि उसे १८० गाथाओंमें उपसहृत कर दिया था तदपि आपने इन गाथाओंको लिपिबद्ध नहीं किया था। आचार्य परम्परासे वे गाथायें नागहस्तिकी और उनके पादमूलसे यतिवृषभकी प्राप्त हुई। ७००० चूर्णिसूत्रोंकी रचना द्वारा निरतुत करके उन्होंने ही इन १८० गाथाओंको 'कसायपाहुड' के नामसे लिपिबद्ध किया। (दे कसायपाहुड अथवा कोश २/परिशिष्ट १)।

इस सर्व कर्मधरसे यह अनुमान सहज हो जाता है कि आप धरसेन स्वामीसे अधिक नहीं हो २-३ पीढ़ी पूर्व अवश्य होने चाहिए। हमारे इस अनुमानकी पुष्टि इस तथ्यसे भी होती है कि

आचार्य गुणधर द्वारा कथित १८० गाथा प्रमाण 'पेज्जदोस पाहुड' की भाषा धरसेन द्वारा कथित पट्टखण्डागमको अपेक्षा प्राचीन प्रतीत होती है, और पट्टखण्डागममें 'पेज्जदोसपाहुड' का तथा उसकी मान्यताओंका उल्लेख स्थल-स्थलपर पाया जाता है। इनके इस परि-
नतिरिक्तकी अवधिकी और अधिक स्पष्ट करनेके लिये हम आ अर्द्धद्व-
लिके द्वारा महिमा नगरमें आयोजित उस यति सम्मेलनकी और अपना लक्ष्य ले जा सकते हैं, जिसमें कि उन्होंने मूल सचकी अनेक सधोंमें विभाजित किया था। इन सधोंकी सूचीमें 'गुणधर संघ' का नाम आता है (दे इतिहास ४/६)। इस प्रकार से यह प्रतीत होता है कि अर्द्धद्वलिके समयमें मूलसधने पृथक् आ गुणधरका भी एक स्व-
तंत्र संघ अवश्य विद्यमान था, जो कि उस समय तक अपनी ज्ञान ग-
रिषाके कारण इतनी रयाति प्राप्त कर चुका था कि आ अर्द्धद्वलि-
को उनके व्यक्तिगत नामसे एक सचकी सत्ता स्वीकार करनी पड़ी।
इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतारमें अथवा मूलसचकी पट्टावलीमें उनके नामका उल्लेख न होनेका भी कारण सम्भवतः यही हो कि आचार्य
अर्द्धद्वलिकी भांति आ गुणधर भी उस समय एक स्वतन्त्र सचके
अधिपति थे। इस हेतुसे इन्हें अर्द्धद्वलिकीसे भी कम से कम एक पीढ़ी
पूर्व अर्थात् लोहाचार्यके समकालीन अवश्य होना चाहिए। मूलसच
की पट्टावलीके अनुसार लोहाचार्यका काल बर्षोंकि बी नि ११५-
१६६ है इसलिए आपको भी हम बी नि शताब्दि ६ के पूर्वार्धमें
अर्थात् वि पू प्रथम शताब्दिमें प्रतिष्ठित कर सकते हैं। लगभग यही
समय डा नेमिचन्द्रने भी निर्धारित किया है (ती २/३०)।

इनकी गुरुपरम्परा विषयक ज्ञान बर्षोंकि विस्मृतिके गर्भमें लीन
हो चुका है, इसलिये इसके कालका निर्धारण करनेमें इसने अधिक
लोज की जानी सम्भव नहीं है। 'गुणधरधरसेनाम्नयगुर्वी पूर्वपर-
क्रमोऽस्माभि। न ज्ञायते तदन्वयकथागममुनिजनाभावात् ॥११॥'
(इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार १६१, ती २/३० पर उद्धृत)।

१ आर्यमक्षु और नागहस्ती

इन दोनों महाश्रमणोंका नाम दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों
आम्नायोंमें अति सम्मानसे लिया जाता है। दिगम्बर आम्नायमें
इनका स्थान आ पुण्यदन्त तथा भूतबलिके समकक्ष पूर्वशिवद्विकी
उस अन्तिम परम्परामें है जो कि भगवान्से आगत उत्तरोत्तर हीय-
मान श्रुतकी लिपिबद्ध करने अथवा करानेमें अग्रगण्य रही है। इनके
कालका निर्णय करनेके लिए विद्वान्नि दिगम्बर तथा श्वेताम्बर
दोनों ही आम्नायोंसे साक्ष्य ग्रहण क्रिये हैं।

(१) दिगम्बर आम्नायके अनुसार इन दोनोंको आ गुणधर कथित
'पेज्जदोसपाहुड' की १८० गाथायें आचार्य परम्परासे प्राप्त हुई थीं।
'पुणो ताओ सुत्तगाहाओ आइरिय परपराए आगच्छमाणाओ
मखुणागहरधीण पत्ताओ।' (ज/घ १५ ८८)। आ गुणधरके मुख-
कमलसे विनिर्गत इन गाथाओंके अर्थको इन दोनों आचार्योंके पाद-
मूलमें सुनकर आ यति वृषभने (ई १५०-१८०) में ६००० चूर्ण सूत्रों
की रचना की थी। 'पुणो तेसि दोन्हं पि पादमूले असीदिसवगाहाण
गुणहरमुहकमल निगिगयाणमत्थं सम्म सोऊण जयिवसह भट्टारएण
गवमयवच्छेलेण चुण्णसुत्त कर्म।' (ज घ १/६८/८८)। ये यति
वृषभाचार्य आर्यमक्षुके शिष्य और नागहस्तिके अन्तेवासी थे। जो
अजमखुसीसो अतेवासी बि नागहरियस्स। विचिसुत्तकत्ता जइवसहो
मे वर देऊ। ८। (ज घ १०/पु ४)। इन साक्ष्योंपरसे यद्यपि इनके
कालका सुनिश्चित ग्रहण नहीं होता है तदपि इतना अनुमान अवश्य
हो जाता है कि ये दोनों आचार्य गुणधर देवकी चौथी पीढ़ीमें कहीं
हुए हैं। आर्यमक्षु नागहस्तिके ज्येष्ठ गुरुभ्राता हैं। यति वृषभाचार्यको
दोमा देनेके कुछ ही काल परचात इनकी समाधि हो गई। तदुपरान्त
२०-२५ वर्ष तक नागहस्तिकी सेवामें उपस्थित रहते हुए यतिवृषभा-
चार्यने कपायपाहुडकी लिपिबद्ध किया। अत आर्यमक्षुको पुण्यदन्त

(बी नि ६३३-६६३) का और नागहस्तिको भूतमती (बी नि ६६३-
६८३) का समकालीन होना चाहिए।

(२) श्वेताम्बर आम्नायोंमें आ धर्मघोष (वि स १३२७) इत्
सिरिदुसमकाल समणसंघ थय' नामक एक पट्टावली प्रसिद्ध है। तद-
नुसार राजा पुष्यमित्रका स्वर्णवास बी नि ६१८ में हुआ। उनके
परचात इस संघमें पाँच आचार्य हुए। इन पाँचोंमें 'वायरसेन का
काल तीन वर्ष, नागहस्तीका ६६ वर्ष, रेवतीमित्रका ५६ वर्ष, धर्मदेव-
सूरिका ७८ वर्ष और नागार्जुनका ७८ वर्ष माना गया है। इसपर से
नागहस्तिकाल बी नि ६२०-६८६ निश्चित हो जाता है। (ती
२/७५)। दूसरी आर नन्द सूत्रकी मलयगिरि टीकामें आर्यमक्षुको
आर्यनन्दिका और नन्दिका नागहस्तिका गुरु मतलगा गया है।
साथ ही आर्यमक्षुको श्रुतसागरके पारगामो और नागहस्तिको 'कर्म-
प्रकृति' ज्ञानमें प्रधान कहा गया है। इसपरसे यह कहा जा सकता है
कि ये नागहस्ति सम्भवतः वही हैं जिनकी चर्चा कि यहाँ की जा
रही है। (जै १/१२)। यदि यह ठीक है और पूर्वोक्त समणसंघ वाले
नागहस्ति भी वही हैं तो निर्धारण करनेमें कुछ भी कठिनाई नहीं
रह जाती कि नागहस्तिकाल बी नि ६२०-६८६ है और आर्य-
मक्षुका लगभग बी नि ६००-६५०। ऐसा माननेसे दिगम्बर
आम्नायकी उपर्युक्त धारणाओंके साथ भी विरोध नहीं आता है।
विपरीत इसके उसकी परिपुष्टि होती है। यद्यपि आ वज्रयशके
नामवाली एक तीसरी पट्टावलीके अनुसार आर्यमक्षुका काल बी नि
४६७ आता है। (दे आगे शीर्षक ४)। परन्तु उपर्युक्त साक्ष्योंके साथ
मेल न बैठनेके कारण इस साम्यताका ग्रहण दाय नहीं है। हो सकता
है कि प्रकृत आर्यमक्षुस पूर्ववर्ती ये कोई अन्य ही आर्यमक्षु हों, और
पट्टावली न होनेके कारण प्रकृत आर्यमक्षुका उस पट्टावलीमें उल्लेख
न किया गया हो।

यहाँ यह बात विशेष रूपसे विचारणीय है कि जयधवलकाकर
वीरसेन स्वामीने यतिवृषभको आर्यमक्षुका शिष्य मतलाया है न कि
नागहस्तिका। तथापि यतिवृषभने अपने किसी भी ग्रन्थमें उनका
स्मरण नहीं किया है। इसके समाधानार्थ हम अपना लक्ष्य श्वेता-
म्बर आम्नायमें प्रसिद्ध उस कथाकी ओर ले जाते हैं जिसके अनुसार
चारित्रसे भ्रष्ट हो जानेके कारण आर्यमक्षु मरकर यज्ञ हो गए थे।
(जै १/१५) गुरु होते हुए भी चारित्र भ्रष्ट हो जानेके कारण वे स्मरण
किये जाने योग्य नहीं रह गये हों ऐसा होना सम्भव है। इसका
दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि सम्भवतः वे श्वेताम्बर हों।
श्वेताम्बर पट्टावलीमें उनका नामोउल्लेख नाना और दिगम्बर
पट्टावलीमें न हाना इस सन्देहका समर्थक है। इसलिए बहुत सम्भव
है कि वे आ यतिवृषभके केवल शिष्या गुरु हों, दीक्षा गुरु नहीं।
परन्तु निश्चित रूपसे इस विषयमें कुछ नहीं कहा जा सकता है,
बर्षोंकि इसका दूसरा हेतु यह भी हो सकता है कि गुणधर स्वामीकी
आम्नायमें होनेके कारण दिगम्बर होते हुए भी ये मूलसंघमें आहर
हैं। (दे इससे पहला शीर्षक)।

४ वज्रयश

जैसा कि इससे पहले आर्यमक्षु वाले प्रकरणमें संकेत किया है श्वेताम्बर
आम्नायमें वज्रयशकी एक पट्टावली प्राप्त है, जिसके अनुसार आर्यमक्षुका
काल बी नि ४६७ आता है परन्तु अन्य साक्ष्योंके आधारपर उनका
काल बी नि ६००-६५० निर्धारित किया गया है। इसलिये इन
वज्रयशके विषयमें भी एक संक्षिप्त सी जानकारी प्राप्त कर लेनी
उचित है।

तिष्ठोयपण्णसिमें इन्हें अन्तिम प्रज्ञाश्रमण कहा गया है। 'पणसमणेसु
चरिमो वइरजसो नाम ओहिणाणीसु' (ति प ४/१८८०)। श्वेताम्बर-
राचार्य श्रीधर्मघोष (वि स १३२७) द्वारा संगृहीत जिस 'सिरि-
दुसमकाल समणसंघ-थय' नामक पट्टावलीका इससे पहले आर्यमक्षुकी

चर्चा करते हुए उल्लेख किया गया है, उसमें इनका नाम 'आयरसेन' के रूपमें नागहस्तिसे पहले आता है और तदनुसार इनका समय भी वी नि ६१७-६२० निश्चित किया गया है। परन्तु कषपसूत्रकी स्थ-विरावलीमें 'अज्जवहर' नामके दो आचार्योंका उल्लेख प्राप्त होता है। दोनों परम्परामें गुरु शिष्य कहे गए हैं। 'अज्जवहर प्र०' का काल वी नि ४६६-४८४ और 'अज्जवहर द्वि' का वी नि ६१७-६२० बताया गया है। इन दोनोंके पहले आर्यमंशु का नाम आता है और उनके अनन्तर नागहस्तिष्ठा (वी २/७५ ७६)। उपर्युक्त आयरसेन तथा इस अज्जवहर द्वि का काल समान खेलकर यह अनुमान होता है कि ये दोनों एक ही व्यक्ति थे। परन्तु पहली पट्टावलीमें आयरसेनसे पहले नागहस्तिष्ठा नाम आता है और द्वि में दोनों अज्जवहरसे पहले आर्यमंशुका नाम है। पहलीमें आर्यमंशुका नाम नहीं है और दूसरीमें नागहस्तिष्ठा। दूसरी और तिष्ठोय पण्णत्तिमें जिन्हें अन्तिम प्रज्ञा-श्रमण कहा गया है वे यतिवृषभके दादा गुरु अर्थात् नागहस्तिष्ठाके गुरु थे 'अज्जवहर' द्वि ही प्रतीत होते हैं। इसलिये यहाँ इन दोनोंसे पहले जो आर्यमंशुका नाम दिया गया है यह विचारणीय हो जाता है, क्योंकि उपर्युक्त कालोंके अनुसार उनका काल वी नि ४६७ प्राप्त होता है (वी २/७६) जबकि इनका काल वी नि ६००-६६० निर्धारित किया जा चुका है। इस विप्रतिपत्तिका समाधान प्राप्त करनेके लिये हम कह सकते हैं कि अज्जवहर की भाँति आर्यमंशु नाम के व्यक्ति भी दो हुए हों यह बात असम्भव नहीं है। यहाँ जिनका उल्लेख किया गया वे आर्यमंशु प्रथम हों और वहाँ जिनका उल्लेख किया गया वे द्वितीय हों।

५. यतिवृषभआचार्य

आप आर्यमंशुके शिष्य तथा नागहस्तिष्ठाके अन्तेवासी कहे गए हैं। इनके द्वारा प्राप्त आ० गुणधरदेव के 'पेज्जदोसपाहुङ्ग' विषयक ज्ञानको इन्होंने ही ६००० वर्षीय सूत्र रचकर 'कपाय पाहुङ्ग' के रूपमें लिपिबद्ध किया था। (दे शीर्षक न० ३)। इसके अतिरिक्त 'तिष्ठोयपण्णत्ति' भी आपका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। निम्न साह्याँकी समस्त रत्नकर विद्वानोंने आपके काल का सुनिश्चित अवधारण किया है—

(१) वी नि ६८६ में विद्यमान आ नागहस्तिष्ठा के आप अन्तेवासी थे। (२)—वी नि ६६३-६८३ में विद्यमान आ भूतवत्तिक पट-खण्डागममें कषायप्राभूतके अनेकों ऐसे अभिमताँका उल्लेख है जिन्हें धवलाकार श्री बीरसेन स्वामीने तन्त्रान्तर कहा है। (३)—सर्वार्थसिद्धि (वि श ६, वी नि श १०) और विशेषावश्यक भाष्य (वि ६६६, वी नि ११३६) में आपके अभिमताँका उल्लेख प्राप्त होता है। (४) वि ६१६ (वी नि ६८७) में रचित आ० सर्वनन्दिके 'लोक विभागका उल्लेख तिष्ठोयपण्णत्तिमें पाया जाता है। (५) तिष्ठोयपण्णत्तिमें धर्मव्युत्तिष्ठिका काल २०३९७ वर्ष पश्चात् होना कहा गया है। (ति प ४/१४६३) जिसका अर्थ यह होता है कि २१००० वर्ष प्रमाण पञ्चम कालमें से ६८३ वर्ष बीत जानेके समय आप विद्यमान थे। (६) तिष्ठोय पण्णत्तिमें बीर निर्वाण के १००० वर्ष पश्चात् तकके राजाओंका सुनिश्चित काल दिया गया है। (ति प ४/१४६६-१६०६)।

इन सब साह्योपर से दो परिणाम प्राप्त होते हैं। आद्यतीनके आधारपर आपका काल आ नागहस्तिष्ठा (वी नि ६२०) से लेकर भूतवत्तिक (वी नि ६८३) तक कहीं होना चाहिये। अतः हम आपको वी नि श ७ अथवा वि श ३ के पूर्वार्धमें स्थापित कर सकते हैं। परन्तु उपान्त तीन साह्योपरसे कुछ विद्वांस आपकी वि श ६ ६ में कथित करते हैं। इन दोनों कालोंके मध्य इतना बड़ा अन्तराल है कि किसी एकका रयाग करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। तहाँ आप तीन साह्य इतने प्रमत्त हैं कि उनका रयाग किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। इस

लिये उपान्त तीनके रयागके लिये समुचित समाधानका अन्वेषण करना चाहिये।

हा ज्योतिप्रसादजीने ऐतिहासिक साह्यके आधारपर राजाओंके कालकी चर्चा करनेवाली गाथाओंको किसी अन्य व्यक्तिके द्वारा प्रक्षिप्त मान कर छोड़ दिया। (वी २/८६)। इसी प्रकार चतुर्थ प्रमाणके रयागमें भी यह हेतु दिया जा सकता है कि तिष्ठोयपण्णत्तिमें यतिवृषभने जिस लोक विभागकी चर्चा की है वह वास्तवमें सर्वनन्दिक वृषभ ग्रन्थ नहीं है, प्रत्युत 'लोक विभाग' विषयक वह ज्ञान है जो कि आचार्य परम्परा द्वारा नागहस्तिष्ठा और उनके पाससे इनको प्राप्त हुआ था। इस प्रकार यतिवृषभआचार्यका काल वी नि श ७, वि श ३ वी पूर्वार्ध, और ई श २ का उत्तरार्ध ही समुचित प्रतीत होता है। (तदनुसार इन्होंने वी नि ६७०-७००, वि २००-२२०, ई १४३-१७३ में स्थापित किया जा सकता है।

अपने तिष्ठोयपण्णत्ति ग्रन्थमें आचार्य यतिवृषभने स्वयं धर्मकी व्युत्तिष्ठिका काल २०३९७ वर्ष पश्चात् होना कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि २१००० वर्ष प्रमाण पञ्चम कालके (२१०००-२०३९७—६८३ वर्ष) बीत जानेके समय आप विद्यमान थे। भगवाद् बीरका निर्वाण पञ्चम काल प्रारम्भ होनेके ३ वर्ष = मास पहले बताया गया है (दे महावीर)। इस प्रकार भी आपका काल (६८३-३ वर्ष = मास)—६८६ वर्ष = मास अर्थात् वी नि ६७०-७०० प्राप्त होता है।

परिशिष्ट ४—(नन्दिसंघ विचार)

१. चार सघोंकी स्थापना

अब तकके कथनपर से यह अवधारण हो गया कि भगवाद् बीरके निर्वाणके पश्चात् गौतम गणधरसे लेकर अर्हहस्ति तक उनका मूल संघ अविच्छिन्न रूपसे चलता रहा। आ अर्हहस्तिके युगमें आकर यह संघ ज्ञानका अत्यन्त हास हो जानेके कारण धीरे-धीरे विघटित होना प्रारम्भ हो गया और इसका स्थान अनेकों अवान्तर सघोंने ले लिया। आचार्य अर्हहस्तिके विषयमें यह बात सर्वप्रसिद्ध है कि पचवर्षीय युग प्रतिक्रमणके समय उन्होंने दक्षिण वैश्वस्थ महिमा नगर (जिला सतारा) में एक महाद्वयति सम्मेलन किया था, जिसमें १००-१०० याजनके यति आकर सम्मिलित हुये थे। उनमें अपने शिष्योंके प्रति कुछ पक्षपातकी दृष्टि देखकर आ अर्हहस्तिने अनेक संघों में विभाजित करके मूलसंघकी सत्ता समाप्त कर दी। यद्यपि आचार्य वरके द्वारा स्थापित सघोंमें नन्दिसंघ आदिका नामोल्लेख भी किया गया है, तथापि सामान्य कथन होनेसे इस बातकी सिद्धि नहीं होती कि इन सारे सघोंकी स्थापना उन्होंने उसी समय की थी। हो सकता है कि इससे पहले भी अत्यन्त योग्य अपने शिष्योंकी अध्यक्षतामें वे अनेक सघोंकी नींव डाल चुके हों। इससे पहले हम यति सम्मेलनकी चर्चा करते हुये यह बात सिद्ध कर चुके हैं कि सिद्धवृषभ, नन्दिसंघ, सेन या वृषभ सघ और देवसंघ इन चार सघों की स्थापना यति सम्मेलन बाली घटनासे बहुत पहले वी नि ६७५ में उस समय हुई थी जबकि अपने चार अत्यन्त योग्य तथा समर्थ शिष्योंकी परीक्षा करनेके लिये उन्होंने उनको पृथक् पृथक् विवट स्थानोंमें वर्णयोग धारण करनेका आदेश दिया था। वर्णयोग समाप्त हो जानेपर उनकी सामर्थ्यसे सन्तुष्ट होकर उन्होंने उन चारोंकी अध्यक्षतामें पृथक् पृथक् चार चार सघोंकी स्थापना की थी। तहाँ नन्दिवृषभ जिसकी छाया कुछ भी नहीं हाती है उसके नीचे वर्णयोग धारण करनेवाले शिष्यको नन्दिकी उपाधि प्राप्त हुई और उसकी अध्यक्षतामें जिस संघकी स्थापना की गई उसका नाम नन्दिसंघ पड़ा। तृणतलमें वर्णयोग धारण करनेवाले शिष्यको वृषभकी उपाधि प्राप्त हुई और उसका संघ वृषभ संघ कहलाया। इसी प्रकार सिद्धकी गुफामें जिसने वर्णयोग धारण किया उसके संघका नाम सिद्धसंघ

और देवदत्ता नामक वेश्याके नगरमें वर्षायाग धारण करनेवालेके सघका नाम देवमघ पड़ा। (दे परिशिष्ट २/८)

२. नन्दिसघ बलात्कार गण

नन्दिवृक्षके नीचे वर्षायाग धारण करनेवाले से तपस्वी हमारे प्रसिद्ध माधनन्दि आचार्यके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हैं, जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है (दे परिशिष्ट २/६)। इनके नामके साथ लगी हुई नन्दि उपाधिके कारण ही उनके इस सघका नाम नन्दिसघ पड़ गया है। इस सघकी एक पट्टावली प्रसिद्ध है जिसमें आचार्योंका पृथक्-पृथक् काल निर्देश किया गया है और इसलिये वह इतिहासज्ञोंके लिये बड़े महत्वकी वस्तु है। यद्यपि इस पट्टावलीके कर्ता भी वही इन्द्रनन्दि हैं जिन्होंने कि मूलसघकी पट्टावलीका सक्लन किया है और इन दोनों पट्टावलियोंका अपने श्रुतावतारमें एक साथ निम्न किया है। परन्तु गौतम गणधरसे लेकर भूतबलि तकके ६८३ वर्षोंकी गणना जिस प्रकार उन्होंने वीर निर्वाणकी अपेक्षासे की है, उस प्रकार इस पट्टावलीमें नहीं की है। 'वीरात् ४६२ विक्रमजन्मान्तर वर्ष २२, राज्यान्तर वर्ष ४' अर्थात् वीर निर्वाणके ४६२ वर्ष पश्चात् अथवा विक्रम जन्मके २२ वर्ष पश्चात् अथवा उसके राज्याभिषेकसे ४ वर्ष पश्चात् श्री भद्रबाहु स्वामी (द्वितीय) हुए। इतना कहकर उनकी काल २२ वर्ष, गुप्तिगुप्तका १० वर्ष, माधनन्दिका ४ वर्ष इत्यादि—इस प्रकार आचार्योंका काल निर्देश कर दिया गया है। इस परसे यह स्पष्ट है इन्द्रनन्दिने आचार्योंके काल गणना यहाँ विक्रमके राज्याभिषेकको बी नि ४८८ में घटित मानकर उसकी अपेक्षा की है। इसलिये एक आचार्यके द्वारा रचित होते हुये भी दोनों पट्टावलियोंमें दिये गये काल परस्परमें मेल खाते प्रतीत नहीं होते। इस सगतिको बैठानेके लिए यहाँ दोनों पट्टावलियोंका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

१ पट्टावलीमें आचार्योंका जो काल दिया गया है। उसकी गणना विक्रम राज्यको बी नि ४८८ में मानकर की गई है, जबकि विद्वानों ने इस मान्यताको भ्रान्ति पूर्ण सिद्ध किया (दे परिशिष्ट १)। २ इसमें भद्रबाहु द्वितीय तथा अर्धद्वलि (गुप्तिगुप्त) के नाम सम्मिलित कर दिये गये हैं, जबकि संघके साथ परम्परा गुरुके अतिरिक्त इनका अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है। इन्हें नमस्कार करके पट्टावली वास्तवमें माधनन्दिसे प्रारम्भ की गई है। ३ इन दोनोंके मध्य लोहाचार्यका नाम छोड़ दिया है जिनका काल मूलसंघकी पट्टावलीमें ५० वर्ष दिया गया है। इसका कारण सम्भवतः यह रहा हो कि आगे-पीछे वालेको नमस्कार हो जाने पर मध्यवर्तीको वह स्वयं प्राप्त हो जाती है। ४ अर्धद्वलि (गुप्तिगुप्त) का काल यहाँ बी नि ६६५ से ५७६ तक केवल १० वर्ष दिया गया है जबकि उक्त पट्टावलीमें वह ६६५ से ६६३ तक २८ वर्ष दिया गया है। इसका हेतु यह हो सकता है कि यहाँ उनका आचार्यत्व काल दिया गया है और वहाँ जीवन काल। बी नि ५७५ में मूलसंघका विघटन होनेके साथ आपका आचार्यत्व समाप्त हो जाता है परन्तु जीवन समाप्त नहीं होता है। वह बी नि ६६३ तक चलता रहा है। ५ माधनन्दिका काल यहाँ बी नि ५७५ से ५७६ तक केवल चार वर्ष दिया गया है, जबकि वहाँ ६६३ से ६१४ तक २१ वर्ष दिया गया है। इसका कारण सम्भवतः यह रहा हो कि इनके जीवनकी एक प्रसिद्ध घटनाके अनुसार पट्टावलीके कुछ काल पश्चात् वे चारित्रसे ग्रह हो गये थे और कुछ दिनोंके या १-२ महीनेके पश्चात् दीक्षित होकर अपनी ज्ञान गरिमाके कारण पुनः आचार्य पदपर प्रतिष्ठित हो गए थे (दे परिशिष्ट २/६) यहाँ केवल ग्रह होनेसे पहलेवाला काल दिया गया है, पुनः प्राप्त आचार्यत्वका द्वितीय काल नहीं। दूसरी ओर बी नि ५६३ इनकी पूर्वविधि नहीं है। वह वास्तवमें बी नि ५७५ में नन्दि संघकी स्थापनासे प्रारम्भ होती है। सारणीमें दो गई यह पूर्वविधि वास्तवमें इनके पूर्ववर्ती अर्धद्वलिकी उत्तरावधि है जो इन्हें पूर्वविधिके रूपमें प्राप्त हो गई है। (विशेष दे

परिशिष्ट २/६)। ६ इस सब धार्योंको ध्यानमें रखकर यदि इन तीन-के कालका निर्णय किया जाये तो विक्रम राज्यको बी नि ४८८ में माननेवाली या इन्द्रनन्दिकी उत्तिके अनुसार भी इनका काल मूलसंघके साथ सर्वथा मिल जाता है। १ वर्षका अन्तर रहता है जिसे दूर करनेके लिये भद्रबाहुके कालमें १ वर्षकी वृद्धि की जा सकती है।

इस प्रकार तीन आचार्योंके कालकी सगति बैठ जानेपर भी कुन्दकुन्द तथा उमास्वामीके कालके साथ इसकी संगति नहीं बैठती है। इस आपत्तिको दूर करनेके लिये पं फूलचन्दजी यहाँ निर्दिष्ट कालको विक्रमके राज्याभिषेकसे न मानकर शक संवत् माननेका सुझाव देते हैं (स स/प्र ७८)। ऐसा करनेसे यद्यपि कुन्दकुन्द तथा उमास्वामीके साथ ही सगति बैठ जाती है, परन्तु प्रथम तीनका काल गड़बड़ा जाता है जिसके समाधानमें पण्डितजी श्रुतावतारमें दिये गए इस शताब्दीका याद दिलाते हैं—गुणधरघरसेतान्दय सुर्वो पूर्वा परक्रमोऽस्माभिः। न ज्ञायते तदन्वयकथनगममुनिजनाभावात्। १६१। इसके अनुसार मूलसंघकी पट्टावली (दे इतिहास ४/४) में आप यशो-बाहु तथा भद्रबाहु द्वि के मध्य ३-४ नाम और जोड़ देनेका सुझाव देते हैं, परन्तु ऐसा करने से या घरसे आदिका काल गड़बड़ा जाता है, इसलिये इसका कोई अन्य ही उपाय सोचना चाहिये। पट्टावलीमें कुन्दकुन्दका काल १३ राज्य संवत् ४६-१०१ दिया गया है जो बी नि ४८८ वाली उक्त मान्यताके अनुसार बी नि ६३७-५८६ आता है जबकि शक संवत्की अपेक्षा वह बी नि ६४४-७०६ प्राप्त होता है। दोनोंमें ११७ वर्षका अन्तर है। इसमें से लोहाचार्य वाले ५० वर्ष घटा देनेपर ६७ वर्ष रहते हैं। माधनन्दिका ५७६ से ६१४ तकका ३८ वर्ष प्रमाण द्वितीय आचार्यत्व काल जोड़ लिया जाये तो यह अन्तर सन्तुष्टि होकर केवल ३१ वर्ष रह जाता है। इसे यदि जिनचन्द्रके १ वर्ष प्रमाण कालमें जोड़कर उनका आचार्यत्व काल ४० वर्ष बना दें तो यह अन्तर पट जाता है और इन्द्रनन्दिकी मान्यता शक संवत् वाली मान्यताके तुल्य हो जाती है। नीचेवाली सारणीमें इन दोनों दृष्टियोंका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

संकेत — प्र दृष्टि — विक्रम राज्यको शक संवत् मानकर। द्वि दृष्टि — विक्रम राज्यको बी नि ४८८ में मानकर १ वर्षकी यथोक्त वृद्धिके साथ भद्रबाहुके कालकी सगति बैठानेके उपरान्त, उसमें क्रमशः अगले अगलेका आचार्यत्व काल जोड़ते जाना और साथ साथ उस आचार्यत्व कालमें यथोक्त वृद्धि भी करते जाना।

नाम	प्र दृष्टि		द्वि दृष्टि		
	वि रा	बी नि	काल	बी. नि	विशेषता
भद्रबाहु २	४-२६	६०६-६३१	२२	४६२-५१४	
लोहाचार्य			१	५१४-५१५	मूलसंघके समान
गुप्तिगुप्त	२६-३६	६३१-६४१	१०	५१५-६६५	"
(अर्धद्वलि)			१०	६६५-५७५	नन्दिसंघोत्पत्ति तक
माधनन्दि			१८	५७५-५६३	यति सम्मेलन तक
प्र आचार्यत्व	३६-४०	६४१-६४५	४	५७६-५७६	ग्रह होनेसे पहले
द्वि "			३५	५७६-६१४	पुनः दीक्षाके बाद
जिनचन्द्र	४०-४६	६४५-६५४	९	६१४-६२३	
			३१	६२३-६५४	काल वृद्धि
पञ्च नन्दि					
(कुन्दकुन्द)	४६-१०१	६५४-७०६	५२	६५४-७०६	
उमास्वामी	१०१-१४२	७०६-७४७	४१	७०६-७४७	
			२३	७४७-७७०	जैन इतिहासानुसार
लोहाचार्य	३१४२-१६३	७४७-७५८	आगे द्वि दृष्टिका प्रयोजन समाप्त		

३ जिनचन्द्र

नन्दिसधकी पट्टावलीमें उल्लिखित आचार्योंमें से भद्रबाहु द्वि तथा माघनन्दि विषयक विचार परिशिष्ट २ में कर लिया गया। माघनन्दिके पश्चात् कुन्दकुन्दके गुरु आ जिनचन्द्रका नाम आता है। विद्वद्ममज्जा में भी आप कुन्दकुन्दके गुरु स्वीकार किये गए हैं। (दे कुन्दकुन्द) पट्टावलीके अनुसार आपका काल बी नि ६१४-६२३ आता है परन्तु कुन्दकुन्दके कालके साथ सगति बैठानेके लिये पट्टा-कालमें ३१ वर्ष जोड़कर इनकी उत्तरावधि ६२३ की बजाय ६५४ कल्पित कर ली गई है। इसलिये भले ही इनकी उत्तरावधिके विषय में हमें सन्देह वर्तता हो तदपि इनकी पूर्वावधि बी नि ६१४के विषयमें हमें अब अधिक सन्देह नहीं रह गया है।

यहाँ एक विप्रतिपत्ति उत्पन्न होती है। श्वेताम्बर सधके आदि प्रवर्तकका नाम भी जिनचन्द्र कहा गया है और उनका काल भी लग-भग यही बताया गया है क्योंकि उनके द्वारा श्वेताम्बर सधकी यह स्थापना वि सं १३६ (बी नि ६०६) में बताई गई है। इनके दादा गुरु भद्रबाहु गंगे बताये जाते हैं और गुरुशान्त्याचार्य जिनकी हत्या करके कि ये श्वेताम्बर सधके गणी मने थे। (दे श्वेताम्बर)। दूसरी ओर कुन्दकुन्दके गुरु जिनचन्द्रका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है उनके भी दादा गुरु नहीं तो पड़दादा गुरु अवश्य भद्रबाहु ही थे। इस परसे यह सन्देह होता है कि ये दोनों एक ही व्यक्ति थे। परन्तु कुन्द-कुन्द जैसे महान आचार्यके गुरु ऐसे घोर कर्मि हों ये बात गले नहीं उतरती। दोनोंके गुरु भी भिन्न हैं। तथापि इस विषयमें निश्चित रूपसे कुछ कहा नहीं जा सकता क्योंकि कुन्दकुन्दके विषयमें यह बात प्रसिद्ध है कि इनका श्वेताम्बरोंके साथ बहुत बड़ा शास्त्रार्थ हुआ था। जिसमें उन्होंने सरस्वतीकी मूर्तिये यह बात कहला दी थी कि दिगम्बर मत प्राचीन है (दे कुन्दकुन्द)। इससे यह अनुमान होता है कि अवश्य ही इनके गुरुने इनसे श्वेताम्बर सधके जन्म तथा शैथिल्यकी चर्चा की होगी और उस सधकी ओरसे इनके गुरुके प्रति कुछ दुर्व्यवहार हुआ होगा।

यद्यपि इस विषयमें विद्वानोंने चर्चा करना आवश्यक नहीं समझा है तदपि इस स्थलपर उसकी चर्चा करना मुझे आवश्यक प्रतीत होता है। इस विषयमें यहाँ विचारकोंके समक्ष एक विलुप्त कल्पना प्रस्तुत करता हूँ जिसकी युक्तता अथवा अनुयुक्तता के विषयमें मुझे कुछ भी आग्रह नहीं है। बहुत सम्भव है कि ये दोनों एक ही व्यक्ति हों। भद्रबाहु प्र के कालमें मूलसंघका जो भाग दक्षिणकी ओर न जाकर उज्जैनीमें रुक गया था उसने परिस्थितिये बाध्य होकर अर्धकालक सधका रूप धारण कर लिया था जो वि सं १३६ तक उसी रूपमें विचरण करता रहा (दे श्वेताम्बर) हो सकता है कि वि सं १३६ में इस सधके आचार्य शान्त्याचार्य हों और उनके शिष्य जिनचन्द्र हों। शान्त्याचार्यने जब संघसे प्रायश्चित्त पूर्वक अपना स्थितिकरण करने की बात कही तो इन्होंने कुछ पशुयन्त्र करके उन्हें मरवा दिया और वेष्टक होकर अपना शैथिल्य पोषण करनेके लिये सांगीपांग श्वेताम्बर सधकी नींव डाल दी। यद्यपि उस समय वासनासे प्रेरित होकर इन्होंने यह घोर अनर्थ कर डाला तदपि ग्रन्थहरयाका यह महापातक इनके अन्तःकरणकी भीतर ही भीतर जलाने लगा। बहुत प्रयत्न करने पर भी जब यह शान्त नहीं हुआ तो ये दिगम्बर सधकी शरणमें लये क्योंकि अपनी ज्ञान गरिमा तथा तपश्चरणके कारण उम समय आ माघनन्दिका तेज दिशाओं विदा-शाओंमें व्याप्त हो रहा था। गुरुके शरणमें लौटकर आरम्भलानिये मेरित हो आपने अपने दुष्कृत्यकी घोर भरहना की और खुले हृदये आलोचना करके उनसे प्रायश्चित्त देनेके लिये प्रार्थना की। मित्र दायुमें समर्पित परमोपकारी गुरु ने उनके हृदयको शुद्ध हुआ देखकर उन्हें समुचित प्रायश्चित्त दिया और उन्हें पुन दीक्षा देकर अपने

सधमें सम्मिलित कर लिया। ६-६ वर्ष पर्यन्त उग्र तपश्चरण करके जिनचन्द्रने अपनी समस्त कालिमायें धो डालीं और जिनचन्द्रके समीचीन शासनमें चन्द्रकी भाँति उद्योत फैलाने लगे। सकल सधके साथ अपने गुरुके भी ये विश्वासपात्र बन गए, भिन्नकुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि ब्राह्मण इन्द्रभूति भगवान् महावीरके। गुरु प्रवर माघ-नन्दिने स्वयं अपने हाथोंसे भी नि ६१४ में उन्हें सधके पट्टपर आसीन कर दिया और उनकी छत्रछायायें सकल संघ ज्ञान तथा चारित्र्यमें उन्नत होने लगा। इस घटनाके ८-९ वर्ष पश्चात् बी नि ६२३ में कुन्दकुन्दने उनसे दीक्षा धारण की।

दिगम्बर सधके आचार्य बन जानेके कारण अवश्य ही इनके ऊपर श्वेताम्बर सधकी ओरसे कुछ आपत्तियें आई होंगी जिन्हें इन्होंने समझते सहन किया। परन्तु शिष्य होनेके नाते कुन्दकुन्द उसे सहन न कर सके और आचार्य पदपर प्रतिष्ठित होते ही श्वेताम्बर संघके इस अनीति पूर्ण दुर्व्यवहारको रोकने तथा अपने सधकी रक्षा करनेके लिये उन्होंने उसके साथ मुहुर मुहुर होकर शास्त्रार्थ किया। कुन्दकुन्द के तप तथा तेजके समक्ष वह संघ टिक न सका और लज्जा तथा भय वश उसे अपनी प्रवृत्तियें रोक लेनी पड़ी।

४. उमास्वामी (गृध्रपिच्छ)

पट्टावलीमें जिनचन्द्रके पश्चात् कुन्दकुन्दका और उनके पश्चात् गृध्रपिच्छका नाम आता है। कुन्दकुन्दके विषयमें विस्तृत चर्चा द्वितीय खण्डमें यथा स्थान निबद्ध है, पुन उसका उल्लेख यहाँ करना न्याय विरुद्ध है। इनके शिष्य गृध्रपिच्छके विषयमें कुछ जानकारी देना अवश्य यहाँ प्रयोजनीय है। इनका नामोर्ल्लेख नन्दिसधके बलात्कारण तथा देशीयगण दोनों ही गणोंमें प्राप्त होता है। बला-त्कार गणवाली पूर्वोक्त पट्टावलीमें इनके शिष्य लोहाचार्य तृ बताये गए हैं और देशीयगणमें बलाकपिच्छ। इससे यह जाना जाता है कि आपके दो शिष्य थे। उनमेंसे लोहाचार्य तृ बलात्कार गणके आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित हुए और बलाकपिच्छकी अध्यक्षात्तामें इस संघका देशीयगण उत्पन्न हुआ जो आगे जानेपर पुन दो शाखाओंमें विभा-जित हो गया—गुणनन्दि शाखा और गोलाचार्य शाखा।

(दे इतिहास ७/१,६)

१ नाम

निम्न उद्धरणोंसे पता चलता है कि आपका असली नाम उमास्वामी था और किसी एक विशेष घटनाके कारण गृध्रपिच्छकी उपाधि आपको प्राप्त हो गई थी। आप ही दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों आन्त्यायोंमें मान्य तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता हैं।

घ ४/१,६,२/३१६ तह गिद्विषाहिरियप्पयासिदत्तचत्तुसे वि 'वर्तना-परिणामक्रिया परत्वापरे च कालस्य' इदि दम्बकालोपरुविदो—गृध्र पिच्छाचार्यके द्वारा प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्रमें 'वर्तनापरिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य' कह कर द्रव्यकालकी प्ररूपणा की गई है।

श्ल बा/मू/पृ ६ एतेन गृध्रपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता ।— इसपरसे गृध्रपिच्छाचार्य पर्यन्त मुनिसूत्रके द्वारा व्यभि-चार निरस्त कर दिया गया।

तत्त्वार्थसूत्रकी अनेक प्रतियोंमें उपलब्ध अन्तिम पद्य—तत्त्वार्थसूक्तार्थ' गृध्रपिच्छोपलसितम् । बन्धे गणीन्द्रसजातमुमास्वामीमुनीधरम् ।— गोतम गणधरकी परम्परामें प्राप्त तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता उमास्वामीकी में प्रणाम करता हूँ, जो गृध्रपिच्छके नामसे उपलक्षित किये जाते हैं।

पार्थ नाथ चरित (बादिराज कृत) १/१६ असुच्छगुणसम्पात 'गृध्रपिच्छ' नतोऽस्मि तम् । पक्षीकुर्वन्ति यं भव्या निर्वाणायोत्पत्तिष्णव ।— आकाशमें उड़नेकी इच्छावाले पक्षी जिस प्रकार अपने पंखोंका सहारा लेते हैं, उसीप्रकार मोक्षरूपी नगरको जानेके लिए भव्यलोग जिस मुनीधरका सहारा लेते हैं उस महामाना आणित गुणोंके भण्डारस्वरूप गृध्रपिच्छ नामक मुनिराजके लिये मेरा सविनय नमस्कार है।

इनके अतिरिक्त श्रवणबेलगोलसे प्राप्त शिलालेख सं ४०, ४२, ४३, ४७, ५०, १०५, १०८ में उमास्वामीका अपर नाम गृद्धपिच्छ पाया जाता है और एक अभिलेखमें इस उपाधिके सार्थक्य की भी चर्चा की गई है। (दे शिलालेख संग्रह / भाग १)

शिलालेख सं १०८/पृ २१०-२११ अभूदुमास्वातिमुनि पवित्रे वशे तदीये सकलार्थवेदी। सुत्रोक्त येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजात मुनिपुद्गवेन। स प्राणिसरक्षणसावधानो भभार योगी किल गृद्धपक्षात्। तदा प्रभूयेव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छम्।

शिलालेख सं ४३/पृ ४३ अभूदुमास्वातिमुनिधराऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छ। तन्वये तत्सद्वशोऽस्ति नान्यस्ताकालिकाशेषपदार्थवेदी।—आचार्य कुन्दकुन्दके पवित्र वशमें सकलार्थके ज्ञाता उमास्वाति मुनीश्वर हुए, जिन्होंने जिनप्रणीत द्वादशाङ्गवाणीको सूत्रोंमें निबद्ध किया। इन आचार्यने प्राणिरक्षाके हेतु गृद्धपिच्छोंको धारण किया। इसी कारण वे गृद्धपिच्छाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए।

शिलालेख सं १०५/पृ ११८ श्रीमानुमास्वातिरयं यतोऽस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार। यन्मुक्तिमार्गचरणोद्यतानां पाथेयमाध्यं भवति प्रजानां। तस्यैव शिष्योऽजनि गृद्धपिच्छ द्वितीयसङ्गस्य मलाकपिच्छ। यत्सुचिरद्भानि भवन्ति लोके मुक्तयद्भनामोहनमण्डनानि।—यतिर्यो-के अधिपति श्रीमात् उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रको प्रगट किया, जो मोक्षमार्गके आचरणमें उद्यत सुमुमुक्षुजनके लिये उत्कृष्ट पाथेय है। उन्हींका गृद्धपिच्छ दूसरा नाम है। इनके एक शिष्य मलाकपिच्छ थे। जिनके सुचिररन मुक्ति अगनाके मोहन करनेके लिये आभूषणोंका काम देते हैं।

२. तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता

उक्त प्रकार दिगम्बर साहित्य तथा अभिलेखोंका अध्ययन करनेसे यह ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता गृद्धपिच्छाचार्य, अपर नाम उमास्वामी या उमास्वाति हैं। इस परसे श्वेताम्बर विद्वात् ५ मुखलाल जी अपनी तत्त्वार्थसूत्र (विवेचन) की प्रस्तावनामें तत्त्वार्थ-सूत्रके कर्ता गृद्धपिच्छ उमास्वामीको न मानकर बाचक उमास्वातिको मानते हैं। परन्तु उनका यह कहना घटित नहीं होता क्योंकि बाचक उमास्वातिके द्वारा रचित श्वेताम्बरमान्य तत्त्वार्थाधिगम नामक शास्त्र वास्तवमें तत्त्वार्थसूत्र न होकर उसका भाष्य है। इसलिये वे इन उमास्वातिसे भिन्न हैं। (ती २/१४८, १५१), (जै २/२२८, २४४)

कुछ विद्वात् तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता कुन्दकुन्दको मानते हैं, परन्तु विस्तृत समीक्षा करके पं० जुगल विश्वर जी मुल्तारने इस मतका निराकरण किया है। (दे जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश। पृ १०२-१०५), (ती २/१४७)

३ अन्य परिचय

प्रेमी जी आपको यापनीय सघका कश्चित् करते हैं (घ १/प्र ५६। H L, Jam), परन्तु पं० कैलाश चन्द जी को यह मत मान्य नहीं है। (जै २/२३४), आप कुन्दकुन्दके शिष्य थे और इनके शिष्य मलाक पिच्छ थे। (दे इतिहास ७/१, ५) (उपर्युक्त शिलालेख सं १०५)। इसलिये तत्त्वार्थसूत्रमें आपने कुन्दकुन्द के 'वास्तिकाय' नियमसार आदि ग्रन्थोंका अनुसरण किया है (जै २/२६१-२६४), (ती २/१५६)। आपकी आयु ८४ वर्ष और आचार्यकाल ४० वर्ष ८ मास है। (ती २/१५२)।

४ समय

नन्दिसघकी पट्टावलीमें इनका समय विक्रम राज्याभिषेक की बीर निर्वाण ४८८ में मानकर उसके १०१ वर्ष पश्चात् प्रारम्भ किया है। जिसके अनुसार वह बी नि ५८६-६१० प्राष्ठ होता है। परन्तु विद्वज्जनमोक्षके निम्न पदपरसे वह निश्चित रूपसे बी नि ७७० (वि, ३००) बताया गया है।

विद्वज्जनमोक्ष-वर्षसप्तशते चैव सप्तस्या च विस्मृतौ। उमास्वामिमुनि-जति कुन्दकुन्दस्तथैव च।—बीर निर्वाण सवत् ७७० (वि ३००) में उमास्वामी मुनि हुए और उसी समय (इससे कुछ पूर्व) कुन्दकुन्दाचार्य भी हुए। (स सि/प्र ७८। प फूलचन्द) (ती २/१५२), (जै २/२७०) (तत्त्वार्थाधिगम/प्र ५/प्रेमी जी)।

डा उपाध्येयने कुन्दकुन्दका काल ई श १ सिद्ध किया है। उमास्वामीको इससे कुछ पक्षाव होना चाहिये। इसलिये इन्हें हम ई श १ के अन्तिम चरण और ई श २ के प्रथम चरणमें प्रतिष्ठित कर सकते हैं। (ती २/१५१)। पं० कैलाशचन्द जी ने विद्वज्जनमोक्षके अनुसार इनकी उत्तरावधि बी नि ७७० और पूर्वावधि बी नि ७०६ (कुन्दकुन्दकी पूर्वावधि) मानकर इन्हें बी नि ७०६ ७७० अथवा वि श १ के अन्त (ई श १ २ में स्थापित किया है।) (जै २/२७२)। तत्त्वार्थ-सूत्रके रचना कालपरसे भी इसकी पुष्टि होती है। (दे तत्त्वार्थसूत्र)

समाप्त

BHARATIYA JNANPITH

Indological Publications

The Bharatiya Jnanpith, is an Academy of Letters for the advancement of Indological Learning. In pursuance of one of its objects to bring out the forgotten, rare unpublished works of knowledge, the following works are critically or authentically edited by learned scholars who have, in most of the cases, equipped them with learned introductions etc. and published by the Jnanpith.

Doctrines and Metaphysics

COSMOLOGY OLD AND NEW Prof Ghasi Ram Jain (The English commentary with scientific explanations of the fifth chapter of *Tattvārtha-sūtra* of Umā-svāti, dealing with the non-soul substances including matter and energy, from the Jain point of view), demy 16+10+204 Rs 18 50

JAINA DHARMĀMRITA Various authors (The nectar of Jain religion, an anthology in Sanskrit), compiled and translated into Hindi by Pt Hira Lal Shastri §

JAINA SIDDHĀNTA (Lucid exposition of Jain doctrines, in Hindi) Pt Kailash Chandra Siddhantacharya, demy 82+20 Rs 20 00

JAINA-VĀNĪ Various authors (The preachings of the Jina, an anthology in Prakrit), compiled and translated into Hindi by Dr Hira Lal Jain, demy 10+200 Rs 12 00

KUNDAKUNDĀCHĀRYA KE TĪNA RATNA (Three jewels, e g *Samaya-sūtra*, *Pravacana-sūtra* and *Pañcāstikāya-sūtra*, of Āchārya Kundakunda) a study in Gujarati by G J Patel, translated into Hindi by Pt Shobha Chandra Bharilla

LĀṬĪ-SAMHITĀ* Paṇḍita Rājamalla (Jaina doctrines, discussed in detail in Sanskrit), edited by Pt Darbari Lal, crown 24+136 Rs 0 81

PADĀRTHA-VIJÑĀNA (Jaina physics, studies in Hindi), Kshullaka Jinendra Varni

PAÑCĀSTI-KĀYA-SĀRA Āchārya Kundakunda, late first century B C (a Prakrit text explaining the five extensive substances of Jain cosmology, with the Sanskrit commentary, *Ātma-lhyātī* of Āmṛita-chandra Sūri, tenth century), edited and translated from Prakrit and Sanskrit into English by Prof A Chakravarti and re edited by Dr A N Upadhye, double demy 12+48+210 Rs 30 00

SAMAYA-SĀRA Āchārya Kundakunda, translated from Prakrit into English and edited by Prof A Chakravarti

SARVĀRTHA-SIDDHI : Āchārya Puṇyapāda (being a commentary on *Tattvārtha-sūtra* of Āchārya Umāsvāti, both in Sanskrit), translated into Hindi and edited by Pt Phool Chandra Siddhanta Shastri

SIDDHĀNTA-SĀRĀDI-SAMGRAHA* (A collection of twenty-five works in Sanskrit and Prakrit, on various subjects, by different writers, some with Sanskrit commentaries), edited by Pt Panna Lal Soni

§ Books with price not mentioned are presently out of stock

* Books asterisked are published under the Manikchandra Granthamala & the rest under Murtidevi Granthamala

TATTVĀRTHA-VĀRTIKA Bhaṭṭa Akalanka-deva (a commentary with illustrative notes, called *Alaṅkāra*, both by the same author, on the first-century A D Āchārya Umāsvāli's *Tattvārtha-sūtra* describing the seven fundamental principles of Jaina cosmology, all the three in Sanskrit), summary in Hindi and edited by Pt Mahendra Kumar Nyayacharya, volume 2 out of stock, volume 1, second edition, double crown 16+432 Rs 50 00

YOGA-SĀRA-PRĀBHARITA Amitagati Sūri, edited and translated from Sanskrit into Hindi by Pt Jugāl Kishor Mukhtyar

The Structure of Soul

GOMMATA SĀRA Nemichandra Siddhānta-chakravartin of tenth century A D. (First part, *Jīva-kāṇḍa* and second part, *Karma-kāṇḍa*, each in two volumes, describing in detail the seven fundamental principles of Jaina cosmology with special reference to the soul, Hindi translation from Prakrit by Pt Kailash Chandra Siddhantacharya, editor Dr A.N. Upadhye, respectively, double crown 14+48+504, 16+592, 44+646, 16+808

Rs 30 00, 35 00, 45 00, 55 00

KARMA-PRAKRITI Abhaya-chandra, Siddhānta-chakravartin (detailing the *Kārmān* philosophy of the Jainas), edited and translated from Prakrit into Hindi by Dr Gokul Chandra Jain, crown 16+76 Rs. 2 00

KARMA-PRAKRITI Āchārya Nemi-Chandra, translated from Prakrit and Sanskrit into Hindi by Pt Hira Lal Shastri

MAHĀBANDHA Bhagavad-Bhūtabalin (being the sixth part of the first century A D Prakrit work, *Saṅghandāgama* that describes in great detail the seven fundamental principles of Jaina cosmology, with the ninth century Āchārya Vīrasen's Sanskrit commentary, *Mahā ahavala*, in seven volumes, first four out of stock), edited and translated into Hindi by Pt Sumer Chandra Diwakar (vol 1) and Pt Phool Chandra Siddhanta Shastri, double crown 6+416, 22+370, 8+320 each vol, Rs 20 00

PAÑCHA SANGRAHA* Amitagati Sūri (a Sanskrit treatise detailing the five substances of Jaina cosmology), edited by Pt Darbārī Lal

PAÑCHA SANGRAHA different authors (being collective name of five treatises in Prakrit, with a Sanskrit commentary of Śrīpāla), edited with Hindi translation by Pt Hira Lal Shastri

THE STRUCTURE AND FUNCTIONS OF SOUL IN JAINISM Dr S C Jain, demy 16+240 Rs 20 00

Logic and Philosophy

JAINA-NYĀYA (A handy compendium on Jaina logic, in Hindi), Pt Kailash Chandra Siddhantacharya, demy 6+8+368 Rs. 16 00

NAYA-CHAKRA (the wheel of view-point, a treatise on logic) Mailla Dhavala, translated from Prakrit into Hindi by Pt Kailash Chandra Siddhantacharya

NYĀYA-KUMUDA-CHANDRA* Āchārya Prabhāchandra (a voluminous and very important Sanskrit work on Jaina logic), edited by Pt Mahendra Kumar Nyayacharya, in two volumes

NYĀYA-VINIŚCHAYA-VIVARANA Vādirāja Sūri (a commentary on the *Nyāya-Viniśchaya*, of Bhaṭṭa Akalanka deva, both in Sanskrit), critically edited by Pt Mahendra Kumar Nyayacharya, in two volumes

PRAMĀNA PRAMEYA-KALIKĀ* Narendra-sena Sūri (Sanskrit treatise on Jaina logic), edited by Dr, Darbārī Lal Kothia, crown 36+68+54 Rs. 1.50

ṢAD DARŚANA SAMUCHCHAYA Haribhadra Sūri, eighth century (a compendium of the six systems of Indian philosophy with the commentaries *Tarka-rahasya-dīpikā* of Guṇaratna Sūri, *Laghu-vṛtti* of Somatilaka Sūri, and an *Avachārpī*, all the four in Sanskrit), translated into Hindi and edited by Pt Mahendra Kumar Nyayacharya, double crown 22+544 Rs 75 00

SATYA-ŚĀSANA-PARIKSHĀ (testing the consistency of Jainism) Āchārya Vidyānandin, edited with Hindi summary of the Sanskrit text by Dr Gokul Chandra Jain, double crown 48+34+62 Rs 10.00

SIDDHI-VINIŚCHAYA-TĪKĀ Āchārya Anantavīrya (senior), tenth century, (a commentary on the Siddhiviniśchaya of Bhaṭṭa Akalaṅka-deva, both in Sanskrit), critically edited by Pt Mahendra Kumar Nyayacharya, in two volumes

SYĀDVĀDA-SIDDHI* Vādrība-simha Sūri (an eminent Sanskrit treatise establishing the genuinness of Syādvāda, the doctrine of non-absolutism), edited with Hindi summary by Pt Darbari Lal

Ethics and Rituals

ANAGĀRA-DHARMĀMRITA Āchārya-kalpa Āśādhara (the second part of *Dharmāmṛta*, prescribing the ethical code for the Jain ascetics, with the *Jñānadīpikā* commentary by the author himself), edited and translated from Sanskrit into Hindi by Pt Kailash Chandra Siddhantacharya, double crown 56+734 Rs 30 00

JÑĀNAPĪTHA-PŪJĀNĀLI Various authors in Prakrit, Sanskrit and Hindi (an anthology of devotional recitations of the Jainas, with the non-Hindi ones also translated into Hindi), compiled and edited by Dr A N Upadhye and Pt Phool Chandra Siddhanta Shastri, crown 30+566 Rs 18 00

MAṄGALA-MANTRA NAMOKĀRA EKA ANUCHINTANA (critical study in Hindi, of the most auspicious hymn of the Jainas, called *Namokāra mantra*) Dr Nemi Chandra Shastri, sixth edition, crown 22+222 Rs 10.00

NĪTI-VĀKYĀMRITA* (*śeṣhāṃśa*, the supplement) Somadeva Sūri (a very important Sanskrit work on Jain polity), edited by Pt Panna Lal Soni

RATNA KARANḌA-ŚRĀVAKĀCHĀRA* Āchārya Samanta bhadra (Sanskrit treatise dealing with the ethics for Jain householders, with a Sanskrit commentary of Āchārya Prabhāchandra), edited with the introduction of over 300 pages by Pt Jugāl Kishor Mukhtyar

SĀGĀRA-DHARMĀMRITA Āchārya-kalpa Āśādhara, twelfth century (the first part of *Dharmāmṛta*, prescribing the ethical code for the Jain householders, with the *Jñānadīpikā* commentary by the author himself), edited and translated from Sanskrit into Hindi by Pt Kailash Chandra Siddhantacharya

SOLAHA KĀRANA-BHĀVANĀ Mahatma Bhagwandin (Hindi verses presenting the sixteen archaic ways of introspection leading to Tīrthanakra-hood)

ŚRĀVAKA-PRAJÑĀPTI *alias Sāvaya paññatti* Haribhadra Sūri (a Prakrit work prescribing the ethical code for the Jain householders, with a Sanskrit commentary), edited with introduction and translated from Sanskrit into Hindi by Pt Bal Chandra Siddhanta Shastri, double crown Rs. 35.00

UPĀSAKĀDHYAYANA Somadeva Sūri (a part of his *Yasastilaka-champū*, prescription of Jain ethical code), edited and translated from Sanskrit into Hindi by Pt. Kailash Chandra Siddhantacharya

VASUNANDI-ŚRAVĀKĀCHĀRA Āchārya Vasunandin (prescription of ethical code for the Jaina householders, named after the author), edited and translated from Prakrit into Hindi by Pt Hira Lal Shastri

VRATA-TITHI-NIRNAYA Āchārya Simhanandin (deciding the dates of vows, or a critical study of the Jaina rituals), edited and translated from Sanskrit into Hindi by Dr Nemi Chandra Shastri

Sanskrit Literature

ĀDI-PURĀNA Āchārya Jinasena (being the first part of Jaina Sanskrit epic called *Mahā purāṇa* narrating the story of the first Tīrthānkara Ādinātha), edited and translated into Hindi by Pt Panna Lal Sahityacharya, in two volumes, second edition

AÑJANĀ-PAVANĀÑJAYA AND SUBHADRĀ-NĀṬIKĀ Hastimalla (Sanskrit dramas depicting the life of Hanumat and Subhadra), edited by Vasudeva Patvardhan, crown 68+120+108 Rs. 3 00

BHOJA CHARITA Rajavallabha (biography of the tenth eleventh century Paramāra king Bhoja), edited by Dr B Ch Chhabra

DHARM-ŚARMĀBHYUDAYA Hari-chandra (biography of the fifteenth Tīrthānkara Dharmanātha), translated into Hindi and edited by Pt Panna Lal Sahityacharya

DVI-SANDHĀNA-MAHĀKĀVYA great poet Dhanañjaya (an epic narrating throughout in two stories, of the Rāghavas and the Pāṇḍavas, called therefore also *Rāghavā Pāṇḍavīya mahākāvya*), translated into Hindi and edited by Prof Khushal Chandra Goravala

GADYA CHINTĀMANI Vāḍibha sīmha Sūri (biography of Jivandhara-svāmin, a contemporary of Mahāvīra, a lucid prose work comparable to that of Bāṇa's *Kādambarī*), translated from Sanskrit into Hindi and edited by Pt Panna Lal Sahityacharya

HARI-VAMŚAPURĀNA* Āchārya Jinasena (the Jaina Sanskrit epic narrating the life history of the twenty second Tīrthānkara Neminātha and his contemporary Nārāyaṇa Śrīkrishṇa after whose clan, Hari-vamśa, this book is named, edited by Pt Darbāri Lal, 2 volumes, crown, first volume 400, second volume 16+408 Rs 2 00, 1 50

HARI-VAMŚA-PURĀNA Āchārya Jinasena (the Jaina Sanskrit epic narrating the life history of the twenty second Tīrthānkara Neminātha and his contemporary Nārāyaṇa Śrīkrishṇa after whose clan, Hari-vamśa, this epic is named, edited and translated into Hindi by Pt Panna Lal Sahityacharya

JAMBŪ-SVĀMI-CHARITA* Pandita Rājamalla (life of Jambū svāmin, the last emancipated soul of the present era and a contemporary of Mahāvīra, in Sanskrit), edited by Jagadish Chandra Shastri

JIVANDHARA-CHAMPŪ Hari chandra (biography of Jivandhara-svāmin, a contemporary of Mahāvīra), Sanskrit commentary, translation from Sanskrit into Hindi and edited by Pt Panna Lal Sahityacharya

KATHĀ-KOŚA* Prabhāchārya (ancient anecdotes in Sanskrit), critically edited by Dr A N Upadhye, crown 38+176 Rs 7 00

MADANA-PARĀJAYA* Nāga deva (an allegorical poem dealing with the defeat of the god of desire by Jina), edited and translated into Hindi by Dr Raj Kumar Jain

PADMA CHARITAM Ravi sheṇa Sūri (the Jaina Sanskrit epic, based on the life of the twentieth Tīrthānkara Muni suvratānātha and his contemporary Dāśarathī Rāma after whose epithet *Padma*, as popular in Jaina literature, this epic is named, edited by Pt Darbāri Lal, 3 volumes, respectively crown 8+512, 8+434, 8+444 Rs 2 00, 2 00, 2 50

PADMA-PURĀNA Ravishēṇa Sūri (the Jaina Sanskrit epic narrating the story of the twentieth Tīrthaṅkara Muni-suvratanaṭha and his contemporary Dāśarathī Rāma after whose epithet *Padma*, this epic is named), edited and translated into Hindi by Pt Panna Lal Sahityacharya, in three volumes, second edition, respectively, double crown 48+522, 12+462, 16+472 Rs.20 00, 16 00, 24 00

PRADYUMNA-CHARITA* Mahāṣena (Sanskrit poetry illustrating the life of Pradyumna, a hero in Jaina mythology), edited by Pt. Manohar Lal Padham and Pt Ram Prasad Shastri Jatua

PURĀNA-SĀRA SANGRAHA Dāma nandin Sūri (poetical anthology dealing with the life-history of the Tīrthaṅkaras etc. as churned out of the Jaina *Purāṇa* literature), edited & translated from Sanskrit into Hindi by Dr Gulab Chandra Chaudhari, in 2 volumes

PURU-DEVA-CHAMPŪ* Arhad-dāsa, a great poet (life of Purudeva or the first Tīrthaṅkara Rishabhanātha, in Sanskrit), edited by Jinadas Shastri, crown 4+206 Rs 0 75

PURU DEVA-CHAMPŪ Arhad-dāsa, a great poet (life of Puru-deva, this being an epithet of the first Tīrthaṅkara Rishabhanātha), translated from Sanskrit into Hindi by Pt Panna Lal Sahityacharya, double crown 36+436 Rs. 30.00

SUDARSANA-CHARITAM* Muni Vidyānandin, A D 1456 (story of Sudarśana Śreṣṭhīn who was a hero in Jaina mythology, in Sanskrit), edited by Dr Hira Lal Jain, crown 24+154 Rs 3 00

TRI-SHASṬI-ŚMRITI-SĀRA* Āchārya-kalpa Āśādhara (a great Sanskrit epic presenting the lives of the sixty three *Śalaka-purushas* or the remarkable personalities), edited and translated into Marathi by Pt Moti Lal Hira Chand Gandhi

UTTARA-PURĀNA • Āchārya Guṇa-bhadra (being the second part of the Jaina Sanskrit epic called *Mahāpurāṇa*, narrating the story of all the twenty-four Tīrthaṅkaras except that of the first), translated into Hindi and edited by Pt. Panna Lal Sahityacharya; second edition

VARĀṄGA-CHARITA* Jaṭā-simha-nandin (the anecdote of Varāṅga, a character in Jaina mythology, in Sanskrit), edited by Dr A. N Upadhye

VĪRA-VARDHAMĀNA-CHARITA Bhaṭṭāraka Sakalakīrti (biography of the last Tīrthan-kara Mahāvīra), edited and translated into Hindi by Pt. Hira Lal Shastri, double crown 24+264 Rs. 19.00

Apabhramsa Literature

JAMBŪ SĀMI CHARIU Vira-kavi (biography of Jambū-svāmin, a contemporary of Mahāvīra and the last emancipated one of this era), edited and translated into Hindi by Dr. Vimal Prakash Jain, double crown 16+152+410 Rs 25 00

JASAHARA-CHARIU Pushpadanta (biography of Yaśodhara, a hero in Jaina tradition), edited and translated into Hindi by Dr Hira Lal Jain, double crown 64+256 Rs 18 00

KARAKANḌA-CHARIU Kanakāmara-muni (biography of Karakaṇḍu, a hero in Jain tradition), edited and translated into Hindi by Dr Hira Lal Jain, double crown 64+306 Rs 20.00

MAHĀ-PURĀNA* Pushpadanta, the great poet (the Jaina Apabhramsa epic narrating the story of the twenty four Tīrthaṅkaras), edited by Dr. P L Vaidya, 3 volumes

MAHĀ-PURĀNA Pushpadanta (the Jaina Apabhramsa epic narrating the life story of the first Tīrthaṅkara in the first and second volumes, second to the nineteenth Tīrthaṅkaras

- in the third volume, twentieth and twenty first Tirthankaras and Dāśarathī Rāma in the fourth volume and the rest in the volumes that have to be brought out), edited by Dr P L Vaidya and translated into Hindi by Dr Devendra Kumar Jain, respectively, double crown 10+72+472, 32+460, 42+526, 40+262 Rs 38 00, 40 00, 55 00, 50 00
- MAYANA PARĀJAYA-CHARIU** Harideva-kavi (an allegorical poem narrating the defeat of the god of desire by the Jina) edited and translated into Hindi by Dr Hira Lal Jain
- NĀGA KUMĀRA-CHARIU** Pushpadanta (biography of Nāga-kumāra, a hero in Jaina tradition), translated into Hindi and edited by Dr Hira Lal Jain, double crown 32+48+284 Rs 18 00
- PAUMA-CHARIU** Kavirāja Svayambhū (the earliest of Apabhramsa epics, narrating the story of Dāśarathī Rāma, after whose epithet, *Padma*, this book is named), text edited by Dr H C Bhayani and translated into Hindi by Dr Devendra Kumar Jain, five volumes, respectively crown 32+340, 12+380, 8+256, 12+342, 18+354 Rs 10 00, 18 00, 5 00, 5 00, 5 00
- SIRI-VĀLA CHARIU** Narasena-deva (biography of Śrī-pāla a character in Jaina mythology), edited and translated into Hindi by Dr Devendra Kumar Jain, double crown 10+46+120 Rs 12 00
- VADĀHAMĀNA CHARIU** Vibudha Śrīdhara (biography of the last Tirthankara Mahāvīra), edited & translated into Hindi by Dr Raja Ram Jain, double crown 84+358 Rs 27 00
- VĪRA-JININDA-CHARIU** Pushpadanta, (biography of Mahāvīra), edited and translated into Hindi by Dr Hira Lal Jain, crown 88+144 Rs 10 00

Literature in Kannada & other languages

- DHARMA-ŚARMABHYUDAYA** (Hindi only) Harichandra, a great poet (biography of the fifteenth Tirthankara Dharmānatha), translated from Sanskrit by Pt Panna Lal Sahityacharya Rs. 7 00
- JATAKATĪTHA-KATHĀ** Edited by Bhikshu Dharma Rakshita (the Pali text of the *jātaka* stories), double crown 16+384 Rs 15 00
- RAMA-CHANDRA-CHARITĀ-PURANA** • Poet Nāgachandra (biography of Rāma), edited by Dr R C Hirematha
- RAMA-VIJAYA-KAVYĀ** Devappa-kavi (a poetry on Rāma's conquest on Rāvaṇa), translated from Kannada into Hindi and edited by Prof T Kesavan Bhatta, double crown 26+438 Rs 40 00
- SUGANDHA-DAŚAMĪ-KATHĀ** Different authors (the story showing the importance of the vow of Sugandha-daśamī, five *treatises* in Apabhramsa, Sanskrit, Gujarati, Marathi and Hindi), edited by Dr Hira Lal Jain, double crown 26+10+16+50 (71 photographs including 4 in colour) Rs 20 00
- THIRUKKURAL** (*Kural kavya*) . Thevar (an ancient Tamil poem preaching the principles of truth and non-violence with the Tamil text and commentary of Kavirāja-panḍita), edited with a learned introduction in English by Prof A Chakravarti
- VARDHAMĀNA CHARITĀ** Padma-kavi (biography of Mahāvīra alias Vardhamāna, a Kannada poetry), edited by B S Sannaiah
- VARDHAMĀNA-PURĀNA** Achanna-kavi (biography of Mahāvīra alias Vardhamāna), edited and translated from Kannada into Hindi by T, S. Sama Rao and Pt Nagarajaiya, double crown 48+450 Rs 45 00

Devotional Literature

- ĀRĀDHANĀ-SAMUCHCHAYO YOGASĀRA-SANGRAHAS CHA* : Munī-Ravīchandra and Gurudāsa, respectively (a couple of Sanskrit books of devotional poetry), critically edited by Dr. A. N. Upadhye, crown 10 + 71 Rs. 1.00
- DHYĀNA-STAVA* Bhāskara nandin (a hymn of meditation or *dhyāna*, in Sanskrit), edited with English translation by Madam Suzuko Ohira, crown 44 + 98 Rs. 3.00
- GĪTA-VĪTARĀGA-PRABANDHA Paṇḍitāchārya (devotional lyrics in Sanskrit, comparable with the *Gita-Govinda* of Jayadeva), edited by Dr. A. N. Upadhye, an awarded book, crown 40 + 78 Rs. 3.00
- JINA-SAHASRA-NĀMA Āchārya-kalpa Āśādhara (one thousand and eight epithets of the Jina, a Sanskrit treatise with ten chapters), edited and translated into Hindi by Pt. Hira Lal Shastri
- KALYĀNA-KALPA-DRUMA Vādrāja Sūri (popularly known as *Ektibhāna stotra*, a devotional eulogy or *stotra* in Sanskrit), edited and translated into Hindi by Pt. Jugal Kishor Mukhtyar
- TĪRTHANKARA-PĀRŚVANĀTHA BHAKTI-GANGĀ Dr. Prem Sagar Jain (a devotional anthology dedicated to Pārśvanātha, the twenty-third Tīrthāṅkara), demy 26 + 66 Rs. 5.00

Astrology

- BHADRABĀHU-SAMHITĀ Bhadrabāhu Sūri (a voluminous work on astrology and prognostication), edited and translated from Sanskrit into Hindi by Dr. Nemi Chandra Shastri
- KARṢ-ĠAKKHANA Author unknown (a text on palmistry), edited with Sanskrit rendering and translation from Prakrit into Hindi by Dr. P. K. Modi
- KEVALA-JÑĀNA-PRAŚNA-CHUDĀ-MANĪ Author unknown (a very important work on astrologic prognostication), translated from Sanskrit into Hindi and edited by Dr. Nemi Chandra Shastri Rs. 25.00

History & Culture

- DAKSHINA BHĀRAT-MEM JAINA DHARMA Pt. Karīsh Chandra Siddhanta-chārya (History of Jainism in south India, in Hindi), Demy 8 + 210 Rs. 7.00
- JAINA LITERATURE IN TAMIL Prof. Chakravartī, revised with introduction etc. by Dr. K. V. Ramesh, demy 22 + 232 Rs. 20.00
- RELIGION AND CULTURE OF THE JAINS Dr. Jyoti Prasad Jain, third edition, demy 12 + 196 + 11 (photographs) Rs. 35.00
- SANSKRIT KĀVYA KE VIKĀSA MEM JAINA KAVIYOM KĀ YOGA-DĀNA Dr. Nemi Chandra Shastri (contribution of Jain poets to the development of Sanskrit poetry), an awarded book, demy 32 + 684 Rs. 30.00
- THE SACRED ŚHRAVANABELGOLA Dr. Vilas A. Sangave, demy 14 + 140 (8 photographs) Rs. 25.00
- VARNA JĀTĪ AURA DHARMA Pt. Phool Chandra Siddhanta Shastri (a retrospect upon race or *varna*, caste or *jāti* and religion, in the light of Jainism, in Hindi)

Art and Architecture

- DEOGARH KĪ JAINA KALĀ Dr. Bhag Chandra Jain Bhagendu (a critical study of Jain art and architecture at Deogarh, in Hindi, a Gyanodaya Granthamala publication), double crown 16 + 184 + 32 (122 photographs) Rs. 35.00
- JAINA ART AND ARCHITECTURE Editor A. Ghosh (a monumental work on the subject with contribution from eminent scholars, in three volumes), double demy

22 + 330 with 170 photographs, 20 + 340 with 205 photographs including 22 in colour, 20 + 414 with 229 photographs including 28 in colour, Rs. 550 00
Concessional price for libraries and scholars Rs 300 00

JAINA KALĀ AURA STHĀPATYA · Editor A Ghosh (Hindi translation of the monumental work *Jaina Art and Architecture* aforesaid, in three volumes), Hindi translation by G L Amar and edited by L C. Jain, double demy 26 + 344 with 170 photographs, 20 + 322 with 205 photographs including 22 in colour, 20 + 372 with 221 photographs including 28 in colour, Rs. 550.00
Concessional price for libraries and scholars Rs 300 00

JAINA ŚILĀ-LEKHA SAṄGRAHA* Three scholars (epigraphs mostly from south India, with Hindi rendering, in five volumes), first volume out of stock, completed by Dr Hira Lal Jain, second and third by Pt Vijaya Murti, fourth and fifth by Dr Vidyadhar Johrapurkar, respectively crown 2 + 520, 178 + 592 + 42, 12 + 34 + 520, 36 + 154 Rs 8 00, 10.00, 7 00, 3 00

PANORAMA OF JAIN ART C Sivaramamurti (a Times of India publication, a superb volume adequately singing the glory of Jain art of peninsular India through an introduction that rapidly surveys the historical background, and over 500 full colour and monochrome plates, more volumes are to follow) Rs 650 00

Lexicons and Catalogues

DILLĪ JINA GRANTHA RATNĀVALĪ (a scientific catalogue of the manuscripts in the Digambar Jain Naya Mandir, Dharampura, Delhi), Principal Kundan Lal Jain, royal demy 16 + 190 + 108 + 20 Rs 70 00

JAINENDRA SIDDHĀNTA KOŚA Kshullaka Jinendra Varni (an encyclopaedia of Jaina doctrines and cosmology), in five volumes 1st vol in stock, remaining in print

KANNADA-PRĀNTĪYA-TĀḌA-PATRĪYA-GRANTHA-SŪCHĪ · Pt K. Bhujabala Shastri (a descriptive catalogue of the palm-leaf manuscripts, many of them illustrated, available throughout the Kannad-speaking region)

NĀMA-MĀLA SABHĀSHYA · Great Poet Dhananjaya (a lexicographical treatise of Sanskrit, with the Sanskrit commentary of Amarakīrti Sūri), edited by Pt Shambhu Nath Tripathi

Miscellaneous

ALANKĀRA-CHINTĀMNI . Ajitasena Sūri (a Sanskrit treatise on rhetoric), edited and translated into Hindi by Dr Nemi Chandra Shastri

JAINENDRA MAHĀVRITTI Abhayanandin Sūri (a commentary on Pūjyapāda Devanandin's *Jainendra vyākaraṇa*, a work on Jaina system of Sanskrit grammar, edited by Pt Shambhu Nath Tripathi

SABHĀSHYA-RATNA-MANJŪSHĀ author unknown (a work on Sanskrit prosody with a Sanskrit commentary), edited by H D Velankar, double crown 8 + 4 + 70 Rs 5.00

ŚAKATĀYANA-VYĀKARAṆA . Āchārya Śakaṭāyana (Sanskrit grammar named after the author who is referred to by Pāṇini), edited by Pt Shambhu Nath Tripathi

SRINGĀRĀRNAVA-CHANDRIKĀ* Vijaya-Varṇin, (also known as *Alankāra-saṅgraha*, a treatise on rhetoric, in Sanskrit), edited by Dr V M Kulkarni, crown 16 + 190 Rs 3 00

For copies please write to ·

Bharatiya Jnanpith, 18 Institutional Area, Lodi road, New Delhi-110003

